THE

VIDYABHAWAN AYURVEDA GRANTHAMALA

41

❀❀❀❀

KĀYA-CHIKITSĀ

(MEDICAL-TREATMENT)

With award of Mangala Prasad Paritoṣik
and Sahitya Academy First Price

By

GANGASAHAYA PANDEYA

Bhūtpūrva Prādhyāpak Dept. of Ayurveda, College of Medical Sceiences, and Chikitsak : Sur Sunder Lal Hospital, B. H. U., Varanasi

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN

Publishers and Book-Sellers

P. O. Chaukhambha, Post Box No. 139

Jadau Bhawan, K. 37/116, Gopal Mandir Lane

VARANASI (INDIA)

पुनर्मुद्रण का निवेदन

काय-चिकित्सा का चिकित्सा-जगत् के अध्येताओं ने जिस उत्साह एवं हार्दिकता से स्वागत किया है, वह लेखक के लिये परम प्रसन्नता की वस्तु है ! इसके संस्कारित एवं परिवर्द्धित प्रकाशन की योजना बीच में रोक कर चिकित्सा-संस्थान के विद्यार्थियों के गुरु-आग्रह के कारण प्रथम संस्करण का पुनर्मुद्रित रूप आपके सम्मुख उपस्थित है ।

आशुतोष भगवान् विश्वनाथ की अनुकम्पा से निकट भविष्य में नवीन संस्करण भी आपकी सेवा में प्रस्तुत किया जा सकेगा ।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ने इस रचना पर मङ्गला प्रसाद पारितोषिक तथा साहित्य अकादमी ने प्रथम श्रेणी की रचना के रूप में सम्मानित कर गौरव दिया है । यह सुधीजनों की सम्मान देने की शैली है । कृपालु पाठकों के स्नेहोत्साह मिश्रित असंख्य पत्र लेखक की प्रकाशित एवं अप्रकाशित कृतियों के सम्बन्ध में जिज्ञासार्थ आते रहे, आभार प्रदर्शन पूर्वक में उनकी रसग्राहकता का अभिनन्दन करता हूँ । विश्वास है, आगामी वसन्त तक इतर कृतियाँ भी आपकी सेवा में प्रस्तुत की जा सकेंगी ।

अन्त में कृपालु पाठकों से, जिनको पिछले वर्ष पुस्तक के न प्राप्त होने के कारण असुविधा हुई, क्षमाप्रार्थी हूँ ।

महाशिवरात्रि
संवत् २०३२

गङ्गासहाय पाण्डेय

निवेदन

चिकित्सा-विज्ञान की शिक्षा प्राप्त करने के बाद भी प्रत्यक्ष कर्माभ्यास के समय, नवीन चिकित्सकों को अप्रत्याशित कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। चिकित्सा-शास्त्र में वर्णित व्याधियों के स्वरूप या उनमें निर्दिष्ट प्रतिकर्म-व्यवस्था से अभिज्ञ चिकित्सक भी आतुरोपक्रम में उपलब्ध विचित्र परिस्थितियों से किंकर्त्तव्य-विमूढ़-सा हो जाता है। इसी परिस्थिति को स्पष्ट करने के लिए प्राचीन आचार्यों ने 'उत्पद्यते तु साऽवस्था देशकालबलं प्रति। यस्यां कार्यमकार्यं स्यात्…' इस सूत्र का निर्देश किया है। प्रस्तुत काय-चिकित्सा में चिकित्सा के सैद्धान्तिक पक्ष का स्पष्टीकरण एवं चिकित्सा के विभिन्न उपक्रमों का व्यावहारिक स्वरूप देने के अतिरिक्त व्याधि की विभिन्न अवस्थाओं के उपचार-क्रम का विशद विवेचन किया गया है। रोगविनिश्चय के प्राच्य एवं पाश्चात्त्य सिद्धान्त समन्वित-रूप में संगृहीत किये गये हैं। पाश्चात्त्य चिकित्सा-विज्ञान में, पिछले कुछ दशकों में, अनेक विशाल-क्षेत्रक औषध-द्रव्यों का समावेश हुआ है। प्रायः उन समस्त व्यापकप्रभाववाली विशिष्ट ओषधियों का गुण-धर्म एवं उनके प्रयोगक्रम का आवश्यक स्पष्टीकरण किया गया है।

इस पुस्तक में प्राच्य एवं पाश्चात्त्य चिकित्सा का समन्वयात्मक निर्देश किया गया है। प्रत्यक्षकर्माभ्यास के समय जिस क्षेत्र की उपयोगिता का परिचय लेखक को मिला है, ईमानदारी के साथ उन आशु-फलप्रद व्यवस्थाओं का संग्रह इसमें किया गया है। आयुर्वेदीय या प्राच्य चिकित्सा-

शास्त्र की उपयोगिता, नवीन चिकित्सा-विज्ञान के अनेक चमत्कारिक आविष्कारों के बावजूद, घटी नहीं है। प्राच्यचिकित्सा का सुकर निदान एवं व्यक्तिगत-विविधाओं के आधार पर निर्दिष्ट उपचार-क्रम, पथ्य तथा अनुपान आदि की व्यवस्था की विशिष्ट उपादेयता, सभी चिकित्सक अन्तर्मन से अवश्य स्वीकार करते हैं। विश्वास है प्रगतिशील वर्त्तमान काल में, शनैः शनैः समस्त 'तथाकथित' विरोध तिरोहित हो जायँगे और आर्तमानव की सेवा में समन्वित शक्ति का श्रद्धा एवं विश्वास के साथ प्रयोग किया जा सकेगा, तभी क्रान्तदर्शी महाकवि का यह वाक्य 'पुराण-मित्येव न साधु सर्वं, न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्। सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते······' वास्तविक रूप में चरितार्थ होगा।

कायचिकित्सा के प्रस्तुत संस्करण में विशिष्ट संक्रामक व्याधियों का विस्तृत क्रिया-क्रम दिया गया है। अविशिष्ट वर्ग की तथा लाक्षणिक प्रधानतावाली शेष व्याधियों का अन्तर्भाव **'लाक्षणिक चिकित्सा'** नामक ग्रन्थ में किया गया है, जो शीघ्र ही प्रकाशित होगा। **'आपत्कालीन-चिकित्सा'** (*Emergency Medicine*) नामक एक तीसरा ग्रन्थ भी छपने जा रहा है, जिसमें आकस्मिकरूप में उत्पन्न होनेवाली गंभीर अवस्थाओं एवं व्यापत्तियों का चिकित्सा-विधान विस्तारपूर्वक क्रियात्मक कठिनाइयों के समाधान के साथ वर्णित किया गया है। विश्वास है, भगवान् विश्वनाथ की कृपा से उक्त ग्रंथों को भी क्रमशः प्रस्तुत कर सकने का सौभाग्य प्राप्त होगा।

वैज्ञानिक-विषयों पर हिन्दी भाषा में पुस्तकों का प्रणयन करते समय उपलब्ध होनेवाली कठिनाइयों का ज्ञान तद्विद्य लेखक ही कर सकते हैं। विषय के स्पष्टीकरण में शैली की समस्या के अतिरिक्त पारिभाषिक शब्दों की जटिलता एवं बहुविधता भी लेखक की एक महती बाधा होती है। इस क्षेत्र में श्रद्धेय गुरुवर डा० भास्कर गोविन्द घाणेकर एवं श्रद्धेय डा० मुकुन्दस्वरूप जी वर्मा के कार्य से प्रस्तुत लेखक को पर्याप्त मार्ग-दर्शन मिला। लेखक इन गुरुजनों तथा इतर विद्वानों के प्रति, जिनकी

रचनाओं का अध्ययन कर इस चिकित्सा-ग्रन्थ को प्रस्तुत कर सका है, हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता है।

पूज्य गुरुवर्य चरक-चतुरानन आयुर्वेदावतार श्रद्धेय श्री पं० सत्यनारायण जी शास्त्री 'पद्मभूषण' एवं आदरणीय गुरुवर चिकित्सक-सम्राट् श्री पं० राजेश्वरदत्त जी शास्त्री की महती अनुकम्पा से लेखक ने रोग-निदान एवं चिकित्सा का परिज्ञान प्राप्त किया है। यह उन्हीं की कृपा-दृष्टि का प्रसाद है। मैं साभार इन महानुभावों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

इस पुस्तक का कुछ अंश सन् १९५० में लिपि-बद्ध हो चुका था तथा लगभग २०० पृष्ठों का मुद्रण भी सन् १९५४ में हो गया था। किन्तु लेखक की अध्यापन एवं चिकित्सा-कार्य की व्यस्तताओं के कारण इसके प्रकाशन में अत्यधिक विलम्ब होते रहने पर भी प्रकाशक ने अपना धैर्य नहीं छोड़ा, एतदर्थ समस्त 'चौखम्बा' परिवार के प्रति तथा विशेषकर परम स्नेही श्री बाबू कृष्णदास जी के प्रति लेखक हार्दिक आभार प्रकट करता है। चौखम्बा विद्याभवन को 'पवनसुत की दीर्घ लांगूल' में लपेटकर दसों दिशाओं में व्याप्त करने की चेष्टावाले श्री देवनारायण झा जी का स्नेह लेखन में सदा सहायक रहा है। पुस्तक के शीघ्र प्रकाशन एवं उसके परिष्कार कर्म में कुशल आत्मीय बंधु पं० रामचन्द्र जी झा धन्यवाद के पात्र हैं, जिनकी सहायता के बिना लेखक को यह अवसर मिलना असंभव था।

इस पुस्तक की आद्यन्त पाण्डुलिपि तैयार करने में मेरे चिरन्तन सहायक प्रिय शिष्य डा० श्रीधर जी पाण्डेय की लगन एवं निष्ठा की सराहना करना, उनकी सेवा का अवमूल्यन होगा। भगवान् विश्वनाथ की कृपा से वह उत्तरोत्तर यशस्वी एवं कारुणिक सफल चिकित्सक बनें, यही कामना है। विषय-सूची, अनुक्रमणिका एवं पारिभाषिक शब्दकोष का संग्रह करके मेरे भार को हल्का करने में प्रियवर डा० वीरेन्द्रकुमार सिंह जी, ए० बी० एम० एस० ने बड़ी सहायता दी है। चिकित्सा कार्य

के गुरुभार को पूर्णरूप से अपने ऊपर लेकर, लेखक को उस दायित्व से मुक्त रख, लेखन में सहायक अपने मित्र एवं सहयोगी डा० रामजी जेतली के प्रति भी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

अन्त में अपने कृपालु पाठकों एवं स्नेही चिकित्सकों से क्षमा प्रार्थना करता हूँ, जिनके असंख्य पत्रों का मैं उत्तर न दे सका और उन्होंने इतने दीर्घकाल तक धैर्यपूर्वक पुस्तक के प्रकाशित होने का विश्वास न टूटने दिया।

पारिभाषिक शब्दों की जटिलता तथा अपनी व्यस्तता एवं असावधानता के कारण मुद्रण में अनेक त्रुटियाँ हो गई हैं। विश्वास है, अगले संस्करण में उनके परिष्कार का अवसर मिलेगा।

आरोग्य निकेतन
अस्सी, वाराणसी ५
गुरुपूर्णिमा, सं० २०२० वि.

विनयावनत
गङ्गासहाय पाण्डेय

विषय-प्रवेश

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पञ्चम अध्याय

षष्ठ अध्याय

सप्तम अध्याय

अष्टम अध्याय

-o-o-o-

काय-चिकित्सा

प्रथम अध्याय

रोगी परीक्षा

प्रतिकर्म विज्ञान का प्रारम्भ रोगविज्ञान या रोगविनिश्चय से होता है। चिकित्सक जिस व्याधि का प्रतिकार करना चाहता है, जब तक भली प्रकार उस व्याधि की जानकारी प्राप्त न कर लेगा, चिकित्सा में सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। इसी दृष्टि से महर्षि पुनर्वसु आत्रेय ने महर्षि अग्निवेश को 'प्रारम्भ में रोग की सम्यक् परीक्षा करने के बाद ही औषध एवं प्रतिकर्म का विनियोजन करना चाहिए' इस आशय का उपदेश दिया। रोग का ज्ञान किए विना चिकित्सा प्रारम्भ करने से, औषधिवेत्ता चिकित्सकों को भी सफलता कदाचित् ही मिलती है। अतः सफल चिकित्सक के लिए रोगविशेषज्ञ, सर्वभैषज्यकोविद तथा देश-काल प्रमाणादि का सम्यक् ज्ञाता होना आवश्यक है[1]।

रोगविनिश्चय वास्तव में एक साधना है—योगाभ्यास है। जब तक चिकित्सक एकाग्र-चित्त एवं शान्तबुद्धि से आपाद-मस्तक परीक्षा नहीं करता, ज्ञान, अनुभव एवं तर्क के प्रकाश में रोगी के अन्तर्तम तक नहीं प्रविष्ट हो जाता, तब तक तत्त्वज्ञान-रोगविज्ञान-नहीं हो सकता[2]। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए रोगी का पूर्ण विश्वास चिकित्सक को प्राप्त होना आवश्यक है, अन्यथा वह निर्भयतापूर्वक अपनी सारी कथा, चिकित्सक के सामने, उसके प्रति एक नवागन्तुक सदृश संकोच का भाव होने के कारण, स्पष्ट रूप में न कह सकेगा। रोगी के साथ आत्मीयता अभिव्यक्त करना, बन्धुसदृश उसका विश्वास प्राप्त करना आवश्यक है। इसी दृष्टि से महर्षि अग्निवेश ने चिकित्सक के बहुत से गुणों में 'सर्वप्राणिषु बन्धुभूतः' इस गुण को विशेष महत्त्व देते हुए निर्दिष्ट किया है।

व्याधिविज्ञान में आप्तोपदेश का मौलिक स्थान है। चिकित्सक को प्रतिकर्म विज्ञान की सफलता में जिस प्रकार रोगविनिश्चय सहायता देता है, उसी प्रकार रोगविनिश्चय में आप्तोपदेश सहायक होता है। जब तक रोग का सर्वतोभावेन ज्ञान चिकित्सक को न होगा, वह रोग-निर्णय कर ही कैसे सकता है? प्रत्येक विषय में प्रारम्भिक ज्ञान आप्तोपदेश के द्वारा ही हुआ करता है। आप्तोपदेश (आप्त पुरुषों द्वारा रचित ग्रन्थ तथा आप्त गुरुजनों

---

१. 'रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम्। ततः कर्म भिषक् पश्चाज्ज्ञानपूर्वं समाचरेत् ॥'
'यस्तु रोगमविज्ञाय कर्माण्यारभते भिषक्। अप्यौषधिविधानज्ञस्तस्य सिद्धिर्यदृच्छया ॥'
'यस्तु रोगविशेषज्ञः सर्वभैषज्यकोविदः। देशकालप्रमाणज्ञस्तस्य सिद्धिरसंशयम् ।'
(च. सू. अ. २०)
'ज्ञानपूर्वकं हि कर्मणां समारम्भं प्रशंसन्ति कुशलाः ।' (च. वि. अ. ८)

२. 'सर्वथा सर्वमालोच्य यथासम्भवमर्थवित्। अथाध्यवस्येत्तत्वे च कार्ये च तदनन्तरम् ।'
'ज्ञानबुद्धिप्रदीपेन यो नाविशति तत्त्ववित्। आतुरस्यान्त रात्मानं न स रोगांश्चिकित्सति ॥'
(च. वि. अ. ४)

का उपदेश) से प्रत्येक रोग के विषय में, प्रकोपक कारण, दोष-दूष्यों की विषमता की अवस्था, रोग का स्वरूप, रोग का शरीर या मन में अधिष्ठान, रोगजन्य विशिष्ट वेदनाएँ एवं लक्षण, उपद्रव तथा रोग के घटने-बढ़ने-निवृत्त होने का समय और चिकित्साविषयक समग्र ज्ञान प्राप्त होता है[1]। अतः आप्तपुरुषों के ग्रन्थों का सम्यक् अनुशीलन, आप्त गुरुजनों के निकट पर्याप्त समय तक रहकर रोगि-परीक्षण एवं प्रतिकर्मसम्बन्धी विषयों का व्यावहारिक ज्ञान चिकित्सक के लिए बहुत आवश्यक है। शास्त्रों के अध्ययन तथा प्रत्यक्ष कर्माभ्यास के द्वारा ज्ञान प्रौढ़ होता है, इसीलिए उभयविधज्ञान की महत्ता बताई गई है[2]।

आप्तोपदेश के अतिरिक्त आतुरपरीक्षण में प्रश्नों द्वारा रोग का ज्ञान करना, इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष रोगी की परीक्षा करना तथा प्रत्यक्ष न हो सकने योग्य विषयों का ज्ञान अनुमान से प्राप्त करना आवश्यक है[3]। आगे इनका पृथक्-पृथक् निर्देश किया जाता है।

प्रश्न—प्रश्न दो प्रकार के होते हैं—सामान्य तथा विशेष।

सामान्य प्रश्न—इसके अन्तर्गत रोगी का नाम, पता (निवास स्थान, देश), आयु, व्यवसाय, विवाहित-अविवाहित, प्रधान कष्ट, वर्त्तमान रोग की अवस्था तथा उसका समय, उपशय एवं अनुपशय, रोग की वृद्धि का क्रम, चिकित्सा यदि इसके पूर्व की गई हो तो उसका परिणाम, रोगी का सामान्य स्वास्थ्य, कौटुम्बिक इतिवृत्त, रोगी की वैयक्तिक अवस्था, आहार-विहार एवं मादक द्रव्यों का अभ्यास आदि विषय समाविष्ट किए जाते हैं। रोगी का जन्मस्थान, प्रवास एवं व्याधि से पीडित होने वाला स्थान, रोगी का वय, रोग उत्पन्न होने का समय (ऋतु एवं काल), रोगी की जाति तथा व्यवसाय, रोगी को क्या अनुकूल एवं प्रतिकूल होता है, रोगी के अनुमान से किस मिथ्या आहार-विहार के कारण रोग प्रारम्भ हुआ है, वेदना के घटने-बढ़ने का समय, कोष्ठ—मृदु-मध्य अथवा क्रूर, अधोवात-मल-मूत्र एवं उद्गार आदि की प्रवृत्ति-अप्रवृत्ति, निद्रा, स्वप्न आदि सभी सर्वसामान्य

---

१. 'तत्रेदमुपदिशन्ति बुद्धिमन्तः—रोगमेकैकमेवं प्रकोपणम्, एवं योनिम्, एवमुत्थानम्, एवमात्मानम्, एवमधिष्ठानम्, एवं वेदनम्, एवं संस्थानम्, एवं शब्द–स्पर्श–रूप–रस–गन्धम्, एवमुपद्रवम्, एवं वृद्धि–स्थान–क्षयान्वितम्, एवमुदर्कम्, एवं नामानं विद्यात्, तस्मिन्नियं प्रतीकारार्थं प्रवृत्तिः, अथवा निवृत्तिः, इत्युपदेशाज्ज्ञायते'। (च. वि. अ. ४)

२. क. 'प्रत्यक्षतो हि यद्दृष्टं शास्त्रदृष्टं च यद्भवेत्। समासतस्तदुभयं भूयो ज्ञानविवर्द्धनम्।'

ख. 'त्रिविधं खलु रोग विशेष विज्ञानं भवति—आप्तोपदेशः, प्रत्यक्षम्, अनुमानश्चेति। × × × त्रिविधेन खल्वनेन ज्ञानसमुदायेन पूर्वं रोगं परीक्ष्य सर्वथा सर्वमेवोत्तरकालमध्यवसानमदोषं भवति। न हि ज्ञानावयवेन कृत्स्ने ज्ञेये ज्ञानमुत्पद्यते। त्रिविधे त्वस्मिन् ज्ञानसमुदाये पूर्वमाप्तोपदेशाज्ज्ञानम्। ततः प्रत्यक्षानुमानाभ्यां परीक्षोपपद्यते। किं ह्यनुपदिष्टं पूर्वं यत्तत् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां परीक्षमाणो विद्यात्।' (च. वि. अ. ४)

३. 'षड्विधो हि रोगाणां विज्ञानोपायः, तद्यथा—पञ्चभिः श्रोत्रादिभिः प्रश्नेन चेति।' (सु. सू. अ. १०)

'पुरुषसंश्रयाणि परीक्ष्याणि परीक्षेत प्रकृतितः, विकृतितश्च'। (च. वि. अ. ४)

का उपदेश) से प्रत्येक रोग के विषय में, प्रकोपक कारण, दोष-दूष्यों की विषमता की अवस्था, रोग का स्वरूप, रोग का शरीर या मन में अधिष्ठान, रोगजन्य विशिष्ट वेदनाएँ एवं लक्षण, उपद्रव तथा रोग के घटने-बढ़ने-निवृत्त होने का समय और चिकित्साविषयक सारा ज्ञान प्राप्त होता है[1]। अतः आप्तपुरुषों के ग्रन्थों का सम्यक् अनुशीलन, आप्त गुरुजनों के निकट पर्याप्त समय तक रहकर रोगि-परीक्षण एवं प्रतिकर्मसम्बन्धी विषयों का व्यावहारिक ज्ञान चिकित्सक के लिए बहुत आवश्यक है। शास्त्रों के अध्ययन तथा प्रत्यक्ष कर्माभ्यास के द्वारा ज्ञान प्रौढ़ होता है, इसीलिए उभयविधज्ञान की महत्ता बतायी गई है[2]।

आप्तोपदेश के अतिरिक्त आतुरपरीक्षण में प्रश्नों द्वारा रोग का ज्ञान करना, इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष रोगी की परीक्षा करना तथा प्रत्यक्ष न हो सकने योग्य विषयों का ज्ञान अनुमान से प्राप्त करना आवश्यक है[3]। आगे इनका पृथक्-पृथक् निर्देश किया जाता है।

प्रश्न—प्रश्न दो प्रकार के होते हैं—सामान्य तथा विशेष।

सामान्य प्रश्न—इसके अन्तर्गत रोगी का नाम, पता (निवास स्थान, देश), आयु, व्यवसाय, विवाहित-अविवाहित, प्रधान कष्ट, वर्त्तमान रोग की अवस्था तथा उसका समय, उपशय एवं अनुपशय, रोग की वृद्धि का क्रम, चिकित्सा यदि इसके पूर्व की गई हो तो उसका परिणाम, रोगी का सामान्य स्वास्थ्य, कौटुम्बिक इतिवृत्त, रोगी की वैयक्तिक अवस्था, आहार-विहार एवं मादक द्रव्यों का अभ्यास आदि विषय समाविष्ट किए जाते हैं। रोगी का जन्मस्थान, प्रवास एवं व्याधि से पीडित होने वाला स्थान, रोगी का वय, रोग उत्पन्न होने का समय (ऋतु एवं काल), रोगी की जाति तथा व्यवसाय, रोगी को क्या अनुकूल एवं प्रतिकूल होता है, रोगी के अनुमान से किस मिथ्या आहार-विहार के कारण रोग प्रारम्भ हुआ है, वेदना के घटने-बढ़ने का समय, कोष्ठ—मृदु-मध्य अथवा क्रूर, अधोवात-मल-मूत्र एवं उद्गार आदि की प्रवृत्ति-अप्रवृत्ति, निद्रा, स्वप्न आदि सभी सर्वसामान्य

---

१. 'तत्रेदमुपदिशन्ति बुद्धिमन्तः—रोगमेकैकमेवं प्रकोपणम्, एवं योनिम्, एवमुत्थानम्, एवमात्मानम्, एवमधिष्ठानम्, एवं वेदनम्, एवं संस्थानम्, एवं शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धम्, एवमुपद्रवम्, एवं वृद्धि-स्थान-क्षयान्वितम्, एवमुदर्कम्, एवं नामानं विद्यात्, तस्मिन्नियं प्रतीकारार्था प्रवृत्तिः, अथवा निवृत्तिः, इत्युपदेशाज्ज्ञायते'। (च. वि. अ. ४)

२. क. 'प्रत्यक्षतो हि यद्दृष्टं शास्त्रदृष्टं च यद्भवेत्। समासतस्तदुभयं भूयो ज्ञानविवर्द्धनम्।'

ख. 'त्रिविधं खलु रोग विशेष विज्ञानं भवति—आप्तोपदेशः, प्रत्यक्षम्, अनुमानश्चेति। × × × त्रिविधेन खल्वनेन ज्ञानसमुदायेन पूर्वं रोगं परीक्ष्य सर्वथा सर्वमेवोत्तरकालमध्यवसानमदोषं भवति। न हि ज्ञानावयवेन कृत्स्ने ज्ञेये ज्ञानमुत्पद्यते। त्रिविधे त्वस्मिन् ज्ञानसमुदाये पूर्वमाप्तोपदेशाज्ज्ञानम्। ततः प्रत्यक्षानुमानाभ्यां परीक्षोपपद्यते। किं ह्यनुपदिष्टं पूर्वं यत्तत् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां परीक्षमाणो विद्यात्।' (च. वि. अ. ४)

३. 'षड्विधो हि रोगाणां विज्ञानोपायः, तद्यथा—पञ्चभिः श्रोत्रादिभिः प्रश्नेन चेति।'

(सु. सू. अ. १०)

'[illegible] परीक्ष्याणि परीक्षेत प्रकृतितः, विकृतितश्च'। (च. वि. अ. ४)

इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष परीक्षण में स्वाभाविक तथा अस्वाभाविक दोनों प्रकार के परिणामों का समान महत्व होता है—भाव एवं अभाव मूलक चिह्नों का समान महत्व होता है। अतः परीक्षण के समय प्रकृति-विकृतिभाव, स्वस्थावस्था में उपलब्ध किन्तु रुग्णावस्था में अनुपलब्ध और इसके विपरीत रुग्णावस्था में उपलब्ध और स्वस्थावस्था में अनुपलब्ध विषयों का भली प्रकार अनुसंधान करना चाहिए। प्रकृति-विकृतिभाव की यथेष्ट जानकारी के लिए अभ्यास की परम आवश्यकता होती है। जिस प्रकार रत्नों-मणियों आदि के असली-नकली होने की पहचान विना प्रत्यक्ष अभ्यास के नहीं आती, उसी प्रकार शरीर एवं अंग-प्रत्यंग के स्वस्थ एवं रुग्ण होने का यथातथ्य ज्ञान प्रत्यक्ष कर्माभ्यास के विना संभव नहीं[1]। इसी कारण आतुरपरीक्षण के पूर्व-चिकित्सक वनने के पूर्व-स्वस्थ शरीर की स्वाभाविक अवस्थाओं की सहस्राधिक वार जानकारी करके, अपनी इन्द्रियों को प्राकृतिक विविधताओं से परिचित एवं अभ्यस्त कराना आवश्यक है। रोगी की प्राकृतिक या स्वाभाविक स्थिति की जानकारी विकृतिनिर्णय के पूर्व आवश्यक मानी जाती है। क्योंकि जो लक्षण या चिह्न एक रोगी में रोगनिदर्शक माने जाते हैं, वही दूसरे व्यक्ति में सामान्य स्वास्थ्य के साथ उपस्थित रह सकते हैं।

स्पर्शज्ञेय विषय—स्वाभाविक स्वस्थ हाथ से रोगी के सर्वांग की परीक्षा मृदु स्पर्श, गम्भीर स्पर्श या परिमर्श तथा प्रपीडन या ताडन के द्वारा करनी चाहिए। एक अङ्गुली, तर्जनी का पृष्ठभाग या सम्पूर्ण पाणितल से स्पर्श किया जाता है। मृदु स्पर्श के द्वारा त्वचा का शैत्य या उष्णता, मृदुता, काठिन्य, स्निग्धता, रुक्षता स्वाभाविक अवस्था में निरन्तर होने वाले स्पन्दनों की उपस्थिति या अनुपस्थिति अथवा व्याधि के प्रभाव से स्पन्दनों की उत्पत्ति, घनता-द्रवता, स्थिरता-अस्थिरता, पृथुता-अक्षिप्तता, स्पर्शज्ञान या स्पर्शासह्यता आदि का ज्ञान किया जाता है। परिमर्श से अङ्ग-प्रत्यङ्ग का आकार, शिथिलता-कठोरता, ग्रन्थियाँ तथा उनका विशिष्ट स्पर्श (छर्रे के समान गोल तथा कठोर, रवर के समान लचीली, सम्पृक्त या असम्पृक्त आदि) वात नाड़ियों की स्पर्शलभ्यता, धमनी की कठोरता, यकृत्, प्लीहा, वृक्क, पित्ताशय, अवटुका ग्रन्थि एवं लसग्रन्थियों का स्पर्श, पीडनाक्षमता आदि जाने जाते हैं। ताडन के द्वारा अन्तरंगों की घनता, कठोरता, वायुपूर्णता, रिक्तता आदि का बोध होता है। प्रत्येक अङ्ग की ताडनध्वनि प्राकृतिक अवस्था में कुछ निश्चित स्वरूप की होती है। इसमें परिवर्तन होने पर विकृति का स्वरूप अनुमान के द्वारा निश्चित किया जाता है।

दर्शन या नेत्र द्वारा ज्ञेय विषय—नेत्रों के द्वारा सुप्रकाशित स्थान पर भली प्रकार आपादमस्तकपरीक्षण करना चाहिए। शरीर का उपचय या अपचय, वर्ण,

---

परीक्षेत, अन्यत्र रसज्ञानात्। × × × रसं तु खल्वातुरशरीरगतमिन्द्रियवैषयिकमप्यनुमानादेवाव गच्छेत्। न ह्यस्य प्रत्यक्षेण ग्रहणमुपपद्यते'। (च. वि. अ. ४)

[1] 'अभ्यासात्प्राप्यते दृष्टिः कर्मसिद्धिप्रकाशिनी। रत्नादिसदसज्ज्ञानं न शास्त्रादेव जायते'

([illegible] १२)

प्रमाण, आकृति, रुक्षता, स्निग्धता, छाया, प्रभा, कान्ति, तेज, आसन एवं गति की विशेषताएँ आदि विषयों का ज्ञान दर्शन से ही होता है।

रसज्ञान—ऊपर रसना के द्वारा रसज्ञान का निषेध बताया गया है। रोगी के मुख का स्वाद उससे पूछकर जानना चाहिए। शरीर में चींटी या मक्खियों के अधिक आकृष्ट होने से मधुरता का अनुमान और इनके अपसर्पण से कटु, तिक्त आदि रसों का अनुमान किया जाता है। वमनादि में जीव रक्त होने पर काक-श्वान आदि आमिषभक्षी जीव उसे खा लेते हैं, उनके न खाने पर अशुद्ध रक्त या रक्तपित्त का निर्णय किया जाता है। क्षारीयता, अम्लता एवं मधुरता का असंदिग्ध ज्ञान विशिष्ट रासायनिक परीक्षाओं से भी किया जाता है।

गन्धज्ञान या घ्राण के द्वारा परीक्ष्य विषय—रुग्ण-शरीर की सभी प्रकार की गंधों की परीक्षा-स्वेद, मूत्र, मल, कफ, रक्त एवं वमन में निकले द्रव्य; व्रण के स्राव आदि की परीक्षा घ्राणेन्द्रिय की सहायता से की जाती है। प्रमेहपिडिकोपद्रुत मधुमेह में मधुर-गंधि श्वास; मूत्रविषमयता में मूत्रगंधि श्वास; फुप्फुसकोथ में पूतिगंधि आदि विशिष्ट गन्धों का ज्ञान व्याधिनिर्णय में पर्याप्त सहायक होता है।

आधुनिक काल में अनेक यन्त्रोपयन्त्र-उपकरणादिक आविष्कृत हो चुके हैं, जो सामान्यतया इन्द्रियों से प्रत्यक्ष न हो सकने योग्य विषयों को भी प्रत्यक्षवत परिलक्षित कराते हैं। इनका यथावश्यक प्रयोग इन्द्रियों की सहायता के लिए किया जा सकता है। रोगीपरीक्षा में चिकित्सक को ऐन्द्रियक परीक्षण और बुद्धि के द्वारा ही काम लेने का अधिक अभ्यास रखना चाहिए, उपकरणों की सहायता अत्यन्त आवश्यक होने पर ही लेना चाहिए—अन्यथा इन्द्रियों की सूक्ष्मवेदनशक्ति कुण्ठित हो जाती है, व्यक्ति पराश्रयी हो जाता है।

अनुमान—प्रत्यक्ष हो सकने योग्य विषय अल्प तथा अप्रत्यक्ष किन्तु अनुमान के द्वारा ज्ञेय विषय असंख्य और असीम होते हैं। यद्यपि प्रत्यक्ष की तुलना में अनुमान-प्रमाण बहुत महत्व का नहीं होता, किन्तु उसके अभाव में अनुमान का ही सहारा लेना पड़ता है। गूढ़ लिंग व्याधि की परीक्षा उपशय या अनुपशय के द्वारा की जाती है, यह अनुमान ही है। आतुर की पाचकाग्नि का अनुमान आहार के जारण करने की शक्ति पर, बल का अनुमान व्यायामसामर्थ्य पर और श्रोत्रादि इन्द्रियों की कार्यक्षमता का अनुमान विषयग्रहण शक्ति से किया जाता है। प्रातःकाल रोग बढ़ने पर कफ का, मध्याह्न में प्रकोप होने पर पित्त का तथा सायंकाल बढ़ने पर वायु के दोष का अनुमान किया जाता है। पूर्वरूपावस्था से रोग का आभास तथा उपद्रव एवं अरिष्ट उपस्थित होने पर असाध्यता का ज्ञान अनुमान के द्वारा ही होता है। अनुमान के मुख्यतया २ आधार होते हैं—१ तर्क २ युक्ति। अनुमानज्ञेय विषयों का आगे यथास्थल उल्लेख

रोगीपरीक्षण का क्रम

१. **प्रकृतिविज्ञान या बलप्रमाण विज्ञान**—प्रारम्भ में सामान्य प्रश्नों के द्वारा रोगी का नाम, निवास स्थान, मुख्य व्यथा तथा उसका अनुबन्धकाल, व्यक्तिगत विशेषताएँ और पूर्वरोगवृत्त आदि का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। सामान्य प्रश्नों के द्वारा इन विषयों का ज्ञान हो जाता है। आतुरप्रकृति, सार-संहनन-प्रमाण-आहारशक्ति-सत्व-व्यायामशक्ति-आयु एवं कोष्ठ आदि का ज्ञान भी इसी सीमा में आता है। इन सबसे रोगी की स्वाभाविक स्थिति, बलाबल, सहनशक्ति आदि का ज्ञान होता है। रोगी रोगग्रस्त होने के बाद से कितना क्षीण या दुर्बल हो गया है, इसका ज्ञान प्राकृतिक या स्वस्थावस्था का परिचय प्राप्त किए बिना नहीं हो सकता। रोग की गम्भीरता, रोगी की जीवनक्षमता तथा सात्म्य-असात्म्यता का ज्ञान निदान एवं चिकित्सा, दोनों में आवश्यक है।

२. **विकृतिविज्ञान**—विशिष्ट प्रश्न, प्रत्यक्ष एवं अनुमान के द्वारा व्याधि के कारण उत्पन्न वेदनाओं एवं विकृतियों का, अङ्ग-प्रत्यङ्ग परीक्षण करके, विधिवत् व्यवस्थित ज्ञान किया जाता है। निदान-दोष-दूष्य-व्याधि आदि का भली प्रकार निरीक्षण करके विकृति का यथातथ्य लेखा-जोखा संग्रहीत किया जाता है।

३. **व्याधिविज्ञान, रोगविनिश्चय या रोगनिदान**—प्रथम खण्ड के अन्तर्गत रोगी के बलाबल का तथा दूसरे से व्याधि के बलाबल और तज्जन्य विकृति का ज्ञान हो जाने के बाद रोगविनिश्चय सुकर होता है। उक्त परीक्षणों से प्राप्त तथ्यों को निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय एवं सम्प्राप्ति के शीर्षकों में विभक्त करके, आप्तोपदेश से प्राप्त ज्ञान एवं अनुभव के आधार पर सम्भाव्य व्याधि से समीकरण किया जाता है। भाव एवं अभाव मूलक लक्षणों के आधार पर सदृश व्याधियों से पार्थक्य करते हुए, दोषों की क्षय-वृद्धि-स्थानान्तरगति आदि का विश्लेषण करके, क्वचित् संदेह रह जाने पर उपशय के द्वारा विनिश्चय करना चाहिए। रोगों के उत्तरकालीन उपद्रव और व्याधि की गंभीरता के निदर्शक अरिष्ट आदि का पर्यालोचन करके साध्यासाध्यता का निर्णय किया जाता है।

आप्तोपदेश या शास्त्रों में व्याधियों का समष्टि में वर्णन मिलता है। रोगी में विशिष्ट व्याधि के सभी लक्षण सदा नहीं मिल सकते तथा आतुर प्रकृति, देश, काल एवं परिस्थितियों के आधार पर रोग के लक्षणों में पर्याप्त भिन्नता भी मिल सकती है। अर्थात् व्याधित एवं व्याधि में एकरूपता न मिलने पर तारतम्य क्रम से रोग निर्णय करना पड़ता है। अनेक बार व्याधि का नामकरण सम्भव नहीं होता, केवल दोषांश कल्पना करके ही चिकित्सा प्रारम्भ करने की राय आचार्यों ने इस परिस्थिति में दी है[1]। दोष, दोषावस्था,

---

१. 'विकारनामाकुशलो न जिह्रीयात् कदाचन। न हि सर्वविकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवा स्थितिः॥ स एव कुपितो दोषः समुत्थान विशेषतः। स्थानान्तरगतश्चैव जनयत्यामयान् बहून्॥ तस्माद्विकारप्रकृतीरधिष्ठानान्तराणि च। समुत्थानविशेषांश्च बुद्ध्वा कर्म समाचरेत्॥'

व्याधि तथा उसका अधिष्ठान आदि एवं उल्वणता अनुल्वणता का विश्लेषण करने के बाद चिकित्सा-प्रयोग से अधिक सटीक लाभ होता है।

४. **प्रतिकर्म विज्ञान**—वास्तव में रोगी की दृष्टि से अब तक का सारा घटाटोप हितावह नहीं होता, उसे कोई लाभ नहीं होता। क्वचित् निदान में अधिक समय लगने पर रोगी घबड़ाने सा लगता है। अतः उसे प्रारंभ से ही भली प्रकार आश्वस्त करना चाहिए।

अब रोगी के विकार का चित्र हस्तामलकवत् चिकित्सक के सामने रहता है। उसकी सभी अवस्थाओं-लक्षणों आदि पर विचार करते हुए प्रतिकर्म विज्ञान के सिद्धान्त स्थिर किए जाते हैं। उसी आधार पर सामान्य उपक्रम, पथ्य, आहार-विहार-शयनासन आदि और हेतु-व्याधि विपरीतकारी ओषधियों की व्यवस्था की जाती है। यदि रोगी को कोई विशिष्ट लक्षण अधिक कष्ट देता हो तो लाक्षणिक या संशामक ओषधियों की योजना भी आवश्यक हो जाती है। रोगी की दैनिक प्रगति के आधार पर आवश्यकतानुसार उचित सहपान-अनुपान या इतर ओषधियों का प्रयोग करना पड़ता है। रोग की सामता नष्ट हो जाने पर बृहण औषधान्न-विहार तथा दूसरे पोषण योगों का सेवन कराया जाता है। रोगमुक्ति के बाद बलसंजनन तथा पुनरावर्त्तननिरोध के लिए उपचार आवश्यक होता है। इसी के साथ संक्रामक व्याधि होने पर दूसरे स्वस्थ व्यक्तियों में व्याधि का संक्रमण न हो जाय, इसकी देखभाल भी करनी पड़ती है।

रोगीपरीक्षण एवं प्रतिकर्मविज्ञान का प्रारूप

(अ) प्रकृति विज्ञान या आतुरबलप्रमाण विज्ञानः—

१. सामान्य प्रश्न—

आतुर नाम······ लिङ्ग······ जाति······
आयु······ जन्मस्थान······ ग्राम/जनपद······
प्रवास स्थान या वर्त्तमान पता······ व्यवसाय······

२. मुख्य व्यथा तथा कालप्रकर्ष—

३. **प्रकृति—**

(क) गर्भशरीरप्रकृति—

(१) दोषज—वातल पित्तल, श्लेष्मल वात-पित्तल, वात-श्लेष्मल पित्त-श्लेष्मल } विषम प्रकृति

वात-पित्त-कफज } सम प्रकृति

(२) पांचभौतिक—पार्थिव, आप्य, तैजस, वायव्य, नाभस।

(३) मानस प्रकृति—सात्विक—ब्राह्म, ऐन्द्र, वारुण, कौबेर, गांधर्व, याम्य, आर्षसत्वप्रकृति।

राजस—आसुर, सार्प, शाकुन, राक्षस, पिशाच, प्रेत सत्व।

(ख) जातशरीरप्रकृति—

सामान्य (१) कुलज—मातृज तथा मातृकुलज। पितृज तथा पितृकुलज।

(२) जाति प्रसक्ता।

(३) देशानुपातिनी—आनूप-जाङ्गल-सम।

(४) कालानुपातिनी—ऋतु-अयन-मास।

विशेष—प्रत्यात्मनियता या वैयक्तिक प्रकृति।

४. सार—त्वक्सार रक्तसार मांससार
मेदसार अस्थिसार मज्जसार
शुक्रसार सत्वसार
} सर्वसारसमन्वित या प्रवर-मध्य-हीनसार

५. संहनन या शरीरसंगठन—सुसंगठित-मध्यम संगठित तथा हीन संगठित।

६. प्रमाण या शरीरावयवों का मान—सम प्रमाण-अति प्रमाण या हीन प्रमाण।

७. देह—स्थूल-मध्य-कृश देह।

८. सात्म्य—स्निग्ध सात्म्य
मिश्र सात्म्य
रूक्ष सात्म्य
} सात्म्य
अभ्यास सात्म्य या ओकसात्म्य
व्याधिसात्म्य

९. आहारशक्ति—(१) अभ्यहरणशक्ति
(२) जारणशक्ति
} अधिक-मध्यम-अल्प

१०. व्यायामशक्ति या शारिरिक बल—प्रवर-मध्य-अल्प बल।

सहज बल
कालज बल
युक्तिकृत बल

११. सत्वबल—प्रवरसत्व-मध्यसत्व-हीनसत्व।

१२. वय या आवस्थिक बल:—

बाल्यावस्था (जन्म से १६ वर्ष तक) { क्षीरपायी (१ वर्ष) | क्षीरान्नाद (२ वर्ष) | अन्नाद (कैशोर) (१६ वर्ष)

मध्यमावस्था (१६ के बाद ६० वर्ष तक) { वर्द्धमानावस्था (२०) | युवावस्था (३०) | प्रौढ़ावस्था (४०) | परिहाणि (६०)

जीर्णावस्था (६० के बाद १०० वर्ष तक)

(आ) **विकृतविज्ञान:—**

सामान्य परीक्षण—रोगोत्पत्ति का अद्यावधि पूर्ण इतिहास, अनुक्रम से उत्पन्न

तथा आसन, गति, त्वचा, श्वासोच्छ्वास, शरीरभार आदि एवं नाड़ी, मूत्र, मल, जिह्वा, शब्द, स्पर्श, दृक् और आकृति का परीक्षण।

विशेष परीक्षण—१. षडंग परीक्षण :—परिप्रश्न-प्रत्यक्ष-अनुमान द्वारा।

शिरो-ग्रीवा—शिर—केश, तालु, ललाट, शंख, हनु, भ्रू, पक्ष्म, नेत्र, नासाकोटर, नासिका, कर्णपाली, कर्ण, कपोल, ओष्ठ, दन्त, दन्तवेष्ठ, जिह्वा, तालु, गलविवर, गलशुण्डी, तुण्डिकेरी, स्वरयन्त्र, ग्रसनिका।

ग्रीवा—लालाग्रंथियाँ, लसग्रंथियाँ, श्वासप्रणाली, अवटुकाग्रंथि, मन्याधमनी तथा नीलीसिरा, ग्रीवापार्श्व तथा पृष्ठ।

मध्य शरीर:—

वक्षकोष्ठ—वक्ष का सामान्य परीक्षण, पर्शुकाएं, पर्शुकान्तराल, उरःफलक, हृदय और फुफ्फुस।

उदर—उदर का सामान्य परीक्षण, यकृत्, प्लीहा, आमाशय, पक्वाशय, ग्रहणी, वाताशय, मलाशय, वृक्क तथा वस्ति, शुक्राशय, गर्भाशय, वृषण, प्रजननेन्द्रिय।

पृष्ठ—ग्रीवामूल, पृष्ठवंश, त्रिकप्रदेश, कटि तथा नितम्ब।

शाखा (चार शाखाएँ):—

शाखा	पक्ष	अवयव	
ऊर्ध्वशाखा	दक्षिण, वाम	अंस या बहुमूल एवं स्कन्ध, बाहु, कूर्पर, प्रकोष्ठ, मणिबंध, हस्त, हस्ततल, अङ्गुलीपर्व तथा नख	शाखाओं की सम सुविभक्तता, त्वचा, पेशी, शिरा, धमनी, स्नायु, कण्डरा, सन्धि, अस्थि का परीक्षण।
अधोशाखा	दक्षिण, वाम	वंक्षण, उरु, जानु, जंघा, गुल्फ, पाद, पादतल, पादांगुलियाँ तथा नख।	

२. रोगोत्पादक निदान की विशेष परीक्षा—लक्षणात्मक एवं स्थूल तथा सूक्ष्म परीक्षण।

३. रोगजनक दोष की विशेष परीक्षा—

वात—प्राण, उदान, समान, अपान तथा व्यान।

पित्त—पाचक, रंजक, साधक, आलोचक तथा भ्राजक।

श्लेष्मा—बोधक, तर्पक, क्लेदक, अवलम्बक तथा श्लेषक।

४. दूष्य की विशेष परीक्षा—दूष्यावयव, दूष्यधातु एवं मल आदि का लाक्षणिक, स्थूल तथा सूक्ष्म परीक्षण।

दूष्याधिष्ठान—कोष्ठ या मध्य शरीर, शाखा, सर्वांग, मर्म, आशय, स्रोत, अर्धांग, एकांग, अवयव, त्वचा।

दूष्यधातु—रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र।

दूष्य उपधातु—स्तन्य, रज, वसा, स्वेद, दन्त, रोम, ओज।

५. विकृति संग्रह—

(इ) व्याधिविज्ञान या रोगविनिश्चयः—

१. निदान—सामान्य निदान, विशिष्ट निदान } आसात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, प्रज्ञापराध तथा परिणाम।

२. पूर्वरूप—सामान्य पूर्वरूप तथा विशिष्ट पूर्वरूप।

३. रूप—वातकृत्, पित्तकृत्, कफकृत्, द्विदोषकृत्, त्रिदोषकृत् तथा विशिष्ट रूप।

४. सम्प्राप्ति—संख्या, प्राधान्य या अप्राधान्य, विकल्प, बल तथा काल, दोषों की अंशांश कल्पना, संचय तथा प्रकोप की मीमांसा और विकृत शरीर का वर्णन।

५. उपशय या अनुपशय—हेतुविपरीत औषधान्नविहार, व्याधिविपरीत औषधान्न विहार, हेतु-व्याधिविपरीत औषधान्नविहार तथा इसी क्रम से विपरीतार्थकारी औषधान्नविहार।

६. सदृश व्याधियों से सापेक्ष निदान।

७. रोगविनिश्चय—विशिष्ट दोष एवं व्याधि का निर्देश, व्याधि के भेद।

८. उपद्रव तथा अरिष्ट।

९. साध्यासाध्यता—सुखसाध्य, कृच्छ्रसाध्य,

असाध्य { याप्य, प्रत्याख्येय।

(ई) प्रतिकर्म विज्ञानः—

१. चिकित्सासूत्र—दोषपाचन, दोषसंशोधन या दोष-व्याधिशमन एवं विशिष्ट उपक्रमों का निर्देश।

२. पथ्यापथ्य एवं आहार-विहार सम्बन्धी सामान्य निर्देश।

३. औषधयोजना—मुख्य व्याधि तथा प्रधान व्यथाकारक लक्षणों को ध्यान में रखते हुए विशिष्ट एवं सहायक औषधों की योजना, मात्रा, सहपान-अनुपान, सेवन-काल आदि।

४. सम्भाव्य उपद्रवों का प्रतिबन्धन एवं परिचारकों को निर्देश।

५. दैनिक प्रगति तथा तदनुरूप व्यवस्था और आवश्यकतानुसार बृंहण या कर्षण औषधान्नविहारों की योजना।

६. रोगमुक्ति या परिणाम।

७. व्याधि का प्रसार एवं पुनरावर्त्तन निरोध तथा बलसंजनन की दृष्टि से रोगी को औषधान्न-विहार सम्बन्धी स्पष्ट निर्देश। पुनः परीक्षण की आवश्यकता होने पर

८. विमर्श—निदान एवं चिकित्साविषयक विशेषताओं, कठिनाइयों एवं विशिष्ट मान्यताओं का सम्यक् विमर्श तथा संक्षिप्त निर्देश के साथ प्राप्ततथ्यों का संग्रह।

ऊपर रोगीपरीक्षण तथा प्रतिकर्मविषयक सामान्य निर्देश सूत्ररूप में किया गया है। आवश्यक स्थलों का स्पष्टीकरण आगे किया जाता है।

(अ) **प्रकृतिविज्ञान** के अन्तर्गत सामान्य प्रश्नों द्वारा आतुरनाम-लिङ्ग जाति आदि की जानकारी करने के बाद रोगी की मुख्य व्यथा पूंछना चाहिए। यहाँ व्याधि का वर्णन समझने की आवश्यकता नहीं, यथाशक्ति रोगी के अपने शब्दों में उसका वर्त्तमान में कष्टदायक विशिष्ट लक्षण तथा उसके अनुबन्ध की अवधि समझ लेना चाहिए। कभी २ एक नहीं अनेक लक्षण समानतया कष्टकारक होते हैं, ऐसी स्थिति में उनकी उत्पत्ति का काल-निर्देश करते हुए पृथक्-पृथक् उल्लेख करना होगा।

प्रकृतिविज्ञान का सूक्ष्म विवेचन प्राचीन आचार्यों ने किया है। यद्यपि कालक्रम से उसका रोगिपरीक्षण में व्यावहारिक उपयोग बहुत कम हो गया है, किन्तु रोग एवं रोगी, दोनों का सही ज्ञान करने के लिए उसकी वास्तविक उपयोगिता इस यांत्रिक युग में भी असन्दिग्ध है। इस कारण प्रकृति का विस्तृत वर्णन किया जायगा।

गर्भ शरीर प्रकृति—शुक्र व रज की शुद्धता-अशुद्धता एवं तत्सम्बन्धी व्याधियाँ मूल प्रकृति-निर्माण में प्रमुख भाग लेती हैं। गर्भ-धारण के समय शुक्र-शोणित की दोषोत्कटता के अतिरिक्त काल की विशेषताओं का प्रभाव भी गर्भस्थ शिशु की प्रकृति का निर्माण करने में सहायक होता है। गर्भ-धारणा के बाद गर्भाशय का स्वास्थ्य और माता का आहार-विहार प्रकृति-निर्माण में अन्तिम सहायता देता है। संक्षेप में शुक्र-शोणित-संयोग के समय जिस दोष की प्रबलता होती है, गर्भाशय का स्वास्थ्य, काल का प्रभाव और माता का आहर-विहार उस दोष को अनुकूल होने पर प्रवर तथा प्रतिकूल होने पर निर्बल बना सकते हैं।

माता-पिता के आहार-विहार, मानसिक स्वास्थ्य और आकांक्षा के आधार पर बच्चे की प्रकृति में परिवर्तन होता है। आज के वैज्ञानिक भी माता-पिता की इच्छाओं, विशिष्ट रुचियों और गुण-दोषों का सन्तति में संवहन संवाहक सूत्रों (chromosomes) के द्वारा मानते हैं। जिस प्रकार उत्कट अभिलाषाओं और इच्छा शक्तियों का संवहन होता है, उसी प्रकार सुस्वास्थ्य, सुगठित शरीर, दीर्घ-जीवन आदि मानव-सम्पत्तियों का भी संवहन होता है।

माता-पिता की जीर्ण व्याधियाँ, विशेषकर कुष्ठ, मधुमेह, क्षय, उन्माद, अर्श, उपदंश, रक्तस्रावी व्याधियाँ, पक्षाघात आदि एवं सतत रोगशीलता, मानसिक असहिष्णुता, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष आदि वृत्तियों का भी सन्तति में संक्रमण होता है। शुक्र-शोणित के संयोग के समय माता-पिता के सम्पर्क से जायमान गर्भ में जिस दोष की प्रधानता होती है, उसी

मानसिक भावों की प्रधानता के आधार पर शरीर की सभी क्रियाओं का नियमन, संचालन, जीवनसंधारण आदि दोषों के द्वारा होता है। इसी लिये प्रकृतिगत विषमताओं का वर्गीकरण भी दोष-प्राधान्य आधार पर ही किया गया है। कुछ व्यक्ति सौभाग्य से सम प्रकृतिक होते हैं। वे निर्दुष्ट माने जाते हैं। विषम प्रकृति के व्यक्तियों में जिस दोष की प्रधानता होती है, उसी के आधार पर उनकी प्रकृति का नामकरण किया जाता है। प्रकृतिगत विषमता के कारण उनमें, समदोष की तुलना में स्वास्थ्य की पूर्णता नहीं होती। कुछ न कुछ रोग का अनुबन्ध बना रहता है। जिस दोष की प्रधानता होती है, उस दोष को वढ़ाने वाले आहार विहार का सेवन करने से, विषमप्रकृति होने के कारण पहले से वर्तमान विषमता बढ़कर रोग का रूप आसानी से ग्रहण कर लेती है। इसी लिये कहा जाता है 'वातलाद्याः सदातुराः' अर्थात् वात प्रकृतिक आदि विषम दोष प्रकृतिक व्यक्ति सदा रोगी रहते हैं। इसी प्रकार वातप्रकृति वालों को वर्षा में, पित्त वालों को शरद में और श्लेष्मा वालों को वसन्त में कालकृत रोग अधिक आसानी से होते हैं। क्योंकि उनका प्रकृतिगत दोषाधिक्य, ऋतुकालजन्य दोष प्रकोप से वहुत आसानी से, 'वृद्धिसमानैः सर्वेषाम्' इस सिद्धान्त के आधार पर, बढ़ कर व्याधि रूपता प्राप्त करता है। इसी प्रकार स्व प्रकृति समगुण आहार विहार भी शीघ्र दोष प्रकोपक होकर विकारोत्पत्ति करता है। इसी लिए वहुत से व्यक्तियों को, साधारण मनुष्यों के दैनिक आहार विहार के द्रव्य भी, अनुपशयकारक हो जाते हैं।

संक्षेप में इन विषमप्रकृतिक पुरुषों में ऋतु-कालज, आहार-विहारज एवं समान जातीय दोष प्रधान व्याधियों का आक्रमण आसानी से हो जाता है।

द्वन्द्वज प्रकृति—एक साथ दो दोषों का संसर्ग होने पर प्रकृति में भी दोनों का समान या हीनाधिक्य प्रभाव होता है। इन द्वन्द्वज प्रकृतियों का ज्ञान पृथक्-पृथक् दो श्रेणी के दोषों के उपस्थित होने पर जाना जाता है।

पाञ्चभौतिक एवं सात्विकादि प्रकृति के भेद[1]—वास्तव में इन सबका अन्तर्भाव उक्त दोष मूलक प्रकृतियों में ही हो जाता है। केवल पार्थिव (शारीरिक) विशेषताओं को प्रधान मानकर पाँचभौतिक भेद और सत्व, रज एवं तमोगुण की प्रधानता के आधार पर मानसिक भावों की विशेषताओं का संग्रह ब्राह्म, ऐन्द्र, वारुण आदि भेदों में किया गया है। स्थूल परिपुष्ट शरीर वाले पार्थिव, चंचल तथा सूक्ष्म शरीर वाले वातल होते हैं। केवल शरीर की भौतिक विशेषताओं को समझने के लिए यह वर्णन अपेक्षित है। स्वाभाविक स्थिति में अमुक व्यक्ति का शरीर एवं मन किस श्रेणी का है तथा विकृति से उसमें क्या परिवर्त्तन हुए हैं, यह सतुलन करने के लिए इस प्रकार का वर्णन आवश्यक है।

---

१. इस विषय का विस्तृत वर्णन सुश्रुत शारीर ४ अध्याय और चरक शारीर ४ अध्याय में

वात-प्रकृति[1]

शारीरिक चिह्न—कृष्ण-श्याम वर्ण, कृश, रूक्ष, दुर्बल तथा असन्तुलित परिमाण वाला शरीर तथा सम्पूर्ण शरीर में नीले वर्ण की शिराओं का जाल व्याप्त दिखाई पड़ता है। मांसपेशियाँ कठोर व रज्जु के समान ऐंठी हुई होती हैं। आकृति स्थाणुवत् आरोह अवरोह से शून्य होती है अर्थात् पुरुषों में वक्ष की पुष्टता, स्त्रियों में नितम्बों की स्थूलता का अभाव होता है। शरीर ऊपर से नीचे की ओर दो सरल समानान्तर रेखाओं के बीच नापा जा सकता है। त्वचा रूक्ष, स्वेदहीन, स्पर्श में शीतल होती है। केश व रोम संख्या में अल्प, स्पर्श में कठोर व रूक्ष होते हैं। अंगुलियाँ असम्पृक्त, पैर लम्बे व फटे हुये, उदर अपुष्ट या धँसा हुआ होता है। दन्त छोटे व विरल, तथा नख धूसर वर्ण के छोटे और कम बढ़ने वाले होते हैं। अंगों की गति चपल तथा सन्धियाँ गतियुक्त होने पर शब्द करती हैं। शरीर का भार अल्प तथा तापक्रम भी कम होता है। नेत्र चंचल, छोटे, रूक्ष और सोने पर कुछ उन्मीलित रहते हैं। स्वर रूक्ष और अगम्भीर होता है। आहार की मात्रा अल्प, किन्तु अनेक बार खाने की अभिरुचि वातल प्रकृति वाले व्यक्तियों में होती है।

मानसिक लक्षण—मन अस्थिर एवं कल्पनाशील होता है। अधिक ऊहापोह के बिना किसी कार्य को त्वरा से प्रारम्भ करना और शीघ्र ही असन्तुष्ट होकर उसको छोड़ देना यह वात प्रकृति वालों की विशेषता होती है। बुद्धि तीव्र, किसी विषय को सुनने मात्र से हृदयङ्गम करने की शक्ति, किन्तु मेधा अल्प होती है। मन में अनेक भावों की व्याप्ति या द्वन्द्व बना रहता है। किसी कार्य को प्रारम्भ से समाप्ति पर्यन्त लगन के साथ पूरा करने की शक्ति का अभाव होता है। अल्प कारणों से ही क्षुब्ध-अनुरक्त-विरक्त-त्रस्त और असहिष्णु होने की प्रवृत्ति होती है। मन में क्षुद्र भावों का प्राधान्य होता है। चौर्य-व्यभिचार-कलह-कृतघ्नता-हत्या-आत्महत्या इत्यादि अविवेक के भाव अधिक होते हैं। गम्भीर निद्रा का अभाव और स्वप्निल निद्रा की प्रधानता होती है। स्वप्न असम्बद्ध होते हैं। आकाश में उड़ना, अज्ञात देशों की यात्रा, भयानक स्वप्न प्रधानतया दिखाई पड़ते हैं। हास्य-विनोद-गान में रुचि, वासना की प्रबलता किन्तु व्यवाय शक्ति की कमी, संयम का अभाव, अल्प मित्र एवं अल्प वित्त होने के कारण ऐसा व्यक्ति जीवन भर सुखी नहीं रहता। वायु रूक्ष, लघु, चंचल, शीत, विशद, परुष और खर तथा आशुकारी गुण वाला होता है। वायु की रूक्षता के कारण वातल मनुष्य रूक्ष, कृश तथा अल्प शरीर वाले; रूक्ष, क्षीण, भग्न, अवरुद्ध और जर्जर स्वर वाले तथा अल्प निद्रा

---

१. महर्षि अग्निवेश ने वात प्रकृति, पित्त प्रकृति तथा कफ प्रकृति शब्दों को समीचीन न मानकर उनके स्थान में वातल, पित्तल और श्लेष्मल शब्द प्रकृति के लिए उपयुक्त बतलाया है। आयुर्वेद की परिभाषा में प्रकृति आरोग्य को कहते हैं। वातादि एक या दो दोषों की प्रधानता (विषमता) के कारण मनुष्य स्फुरित करचरणादि-विकारों से जीवन भर आक्रान्त रहते हैं—अर्थात् रुग्ण रहते हैं। इसलिए स्वस्थ अवस्था का परिचायक प्रकृति शब्द उनके लिए अनुपयुक्त है। (च. वि. अ. ६)

वाले होते हैं। वायुकी लघुता के कारण त्वरित, चपल या अस्थिर गतियुक्त और बकवादी होते हैं। चलत्व गुण के कारण वातल मनुष्य अस्थिर संधि-नेत्र-भ्रू-ओष्ठ-जिह्वा-सिर-स्कन्ध-हाथ और पैर वाले होते हैं। वायु के आशुकारी होने के कारण वातल व्यक्ति श्रुतग्राही किन्तु अल्प स्मरण शक्ति वाले और शीघ्र समारम्भ-क्षोभ-त्रास-राग-विराग वाले होते हैं। शैत्य गुण के कारण ठण्ढ को न सहन कर सकने वाले तथा अल्प शैत्य से ही काँपने या स्तब्ध हो जाने वाले होते हैं। वायुकी परुषता के कारण वातल पुरुषों के केश, श्मश्रु, नख, दांत, मुख, हाथ और पैर खुरदरे होते हैं। वायु के विशद होने से वातल मनुष्यों के पैर और हाथ आदि अवयव फटे हुये तथा चलते समय उनकी सन्धियों में स्फोटन होते हैं।

अन्य विशेषताएँ—अव्यवस्थित कार्य व्यापार, निश्चित उद्देश्य, विधान एवं परम्परा के अनुकूल कार्य न करने की प्रवृत्ति, निरर्थक मिथ्या बकवाद करने की प्रवृत्ति और किसी एक स्थान पर स्थिर होकर कार्य करने का अभाव होने के कारण भ्रमणशीलता आदि विशेषतायें वातल पुरुषों में होती हैं। वातल व्यक्तियों के एक ही समय अनेक अंग कार्य करते रहते हैं। बात करते हुये कलम तोड़ते रहना, अंगूठे से जमीन कुरेदना अथवा जो कुछ हाथों को उपलब्ध हो सके—कमीज का कोना, कागज़ का टुकड़ा, घड़ी या फाउन्टेनपेन—इनका सदुपयोग या दुरुपयोग करना और कुछ न मिलने पर बात करते हुये हिलना-डुलना, वाणी के अतिरिक्त अनेक शरीर—मुद्राओं और अङ्गप्रत्यङ्ग की क्रियाओं के द्वारा मनोभावों को व्यक्त करना आदि इनमें बहुत होता है। उनकी सारी इन्द्रियाँ एक साथ काम करती हुई ज्ञात होती हैं। ऐसे व्यक्ति स्वयं बोलने में इतने प्रवीण होते हैं कि उनके श्रोताओं को भी कुछ कहने की इच्छा हो सकती है, इसका उन्हें ध्यान ही नहीं रहता। इनका सम्भाषण विस्तृत, असम्बद्ध और ऐकान्तिक होता है। एक ही भाव अनेक रूपों में अनेक बार कहने की प्रवृत्ति होती है। उन्हें प्रायः अपने सम्भाषण का उद्देश्य भूल जाता है और श्रोता से पूछना पड़ता है कि 'हम क्या कह रहे थे।' जीवन भर किसी न किसी व्याधि से पीडित रहते हैं और एक रोग से शारीरिक दृष्ट्या मुक्त होने के बाद भी मन से रुग्ण ही बने रहते हैं। वातल मनुष्य प्रायः अल्प बल-आयुष्य-सन्तान-साधन और धर्म वाले होते हैं।

उपशय—मधुर-अम्ल-लवण रस प्रधान तथा स्निग्ध-उष्ण गुण प्रधान आहार से लाभ होता है। इसके अतिरिक्त आगे दोष—प्रकोपक-शामक द्रव्यों का वर्णन किया गया है। उससे यथादोष उपशय एवं अनुपशय का विस्तृत ज्ञान किया जा सकता है।

पित्त-प्रकृति

शारीरिक चिह्न—वर्ण गौर, पीत या पिंगल तथा शरीर मृदु और मध्य बल वाला होता है। शरीररचना शिथिल व अयथोपचित होती है। हाथ-पैर व नख ताम्र या रक्त वर्ण के होते हैं। त्वचा में तिल, व्यंग, मशक, पिडिकाओं एवं स्वेद की अधिकता होती है। स्वेद प्रायः दुर्गन्धित होता है। नेत्र तेजस्वी, ताम्र वर्ण के, लाल, रक्तवर्णी धमनी

तन्तुओं से व्याप्त, तारा कृष्ण वर्ण का, कपोल-ओष्ठ रक्ताभ शुष्क, मुख सुकुमार, दन्तवेष्ठ रक्तवर्ण के, दांत स्वच्छ और चमकीले, जिह्वा रक्तवर्ण की, प्रायः विस्फोट युक्त होती है। लोम-केश श्मश्रु अल्प, कोमल और कपिल वर्ण के होते हैं। अकाल में ही खालित्य-पालित्य का कष्ट होता है। मूत्र मात्रा में कम और तृष्णा-क्षुधा शारीरिक ऊष्मा तथा पुरीष की अधिकता रहती है। शरीर के स्रावों में विशेष प्रकार की दुर्गन्ध रहती है। निःश्वास, मुख और त्वचा उष्ण स्पर्श युक्त होती है। पित्तल व्यक्ति भी क्लेश सहिष्णु नहीं होता है।

मानसिक लक्षण—अल्प कारणों से ही शीघ्र क्रोधित हो जाना, अनुनय-विनय करने पर शीघ्र प्रसन्न हो जाना, अपने अनुचरों की रक्षा करने में प्रवृत्त, आत्माभिमानी व्यक्ति पित्त प्रकृति का होता है। बुद्धि तीव्र, ज्ञान साधारण, शौर्य-वीरता-दर्प-क्रोध इत्यादि भावों से युक्त होता है। पित्त प्रकृति का व्यक्ति वैभव, उद्दामसाहस, शुद्ध आचरण, पवित्र व्यवहार वाला और स्त्रियों का प्रिय होता है। पित्तल व्यक्तियों का स्वभाव क्रूर किन्तु अनुव- र्तियों के लिये दयालुता युक्त, तेजस्वी, सभा-समितियों में प्रचण्ड वीर्य वाला, सम्भाषण में प्रवीण-तार्किक और निपुणमति होता है; निद्रा साधारण, स्वप्न में सुवर्ण या सुवर्ण वर्ण के पुष्प-अग्नि-विद्युत्-उल्कापात एवं अस्त्र-शस्त्र-युद्ध इत्यादि के दृश्य देखता है। पित्त उष्ण-तीक्ष्ण-द्रव-विस्रगन्धी-अम्ल और कटु होता है। पित्त की उष्णता के कारण पित्तल मनुष्य गरमी न सहन करने वाले; शुष्क व पीत आकृति वाले; झाईं, तिल मशक और फुन्सियों वाले; अधिक क्षुधा-पिपासा युक्त; अकाल में ही वली-पलित युक्त; खालित्य दोष वाले; मृदु-अल्प और ताम्र वर्ण के श्मश्रु-लोम-केश वाले होते हैं। पित्त की तीक्ष्णता से पित्तल मनुष्य बड़े पराक्रमी, तीक्ष्णाग्नियुक्त, खूब खाने पीने वाले होते हैं। द्रवता के कारण पित्तल मनुष्य शिथिल और मृदु सन्धि बन्धन तथा मृदु मांस वाले और स्वेद मूत्र पुरीष की मात्राधिक्यतायुक्त होते हैं। पित्त की विस्रगन्धि के कारण कक्षा-मुख-सिर आदि अङ्गों में विशेष प्रकार की दुर्गन्धि होती है। पित्त के कटु और अम्ल होने से मनुष्य अल्प वीर्य, अल्प मैथुन शक्ति व अल्प सन्तान वाले होते हैं।

अन्य लक्षण—पित्तप्रकृतिक पुरुषों में सामान्यतया विवेक पूर्वककार्य करने की प्रवृत्ति, किन्तु रुष्ट या तुष्ट हो जाने पर अविवेक पूर्ण व्यवहार की भी सम्भावना रहती है। साथ ही पित्तल व्यक्ति दृढ़, परिश्रमी एवं अपने आश्रितों के पालन में दत्त चित्त रहने वाला होता है। दूसरे व्यक्तियों की उन्नति से ईर्ष्या, अननुगत व्यक्तियों के प्रति क्रोध तथा अभिमान और दर्प के कारण आत्मप्रशंसा सुनने की प्रवृत्ति और पर निन्दा में रस लेने वाला भी होता है। सामाजिक आचार-विचार अपने सन्मान के अनुरूप करने की अभिलाषा रखता है। पाण्डित्य, बुद्धि और श्रम की विशेष शक्ति के कारण जीवन की सफलता-सम्पन्नता आदि विशेषतायें होती हैं। पित्तल व्यक्ति मध्यम बल, मध्यम आयु तथा मध्यम ज्ञान-विज्ञान एवं साधनवाला होता है।

उपशय—गन्ध-माल्य-शीत प्रलेप और मधुर-तिक्त-शीत प्रधान द्रव्यों के प्रयोग से सात्म्यता का अनुभव करता है।

कफ-प्रकृति

शारीरिक चिह्न—त्वचा स्निग्ध, स्वेदसिक्त, शीत स्पर्श युक्त; गात्र मृदु, परिपुष्ट सुन्दर शरीर; मांसल, सुविभक्त, उज्वल गौर वर्ण एवं प्रवल सारवान् व्यक्ति कफ प्रकृति का होता है। मृदु-स्निग्ध-श्लक्ष्ण-नील वर्ण के कुञ्चित घनकेश तथा लोम मृदु एवं दीर्घ होते हैं। नेत्र विशाल, श्वेत वर्ण के; अपाङ्ग रक्त वर्ण का; दीर्घ-घन-पक्ष्म युक्त वर्त्म; दृष्टि स्निग्ध, उन्मेष-निमेष अल्प एवं मन्द होते हैं। दन्त श्वेत वर्ण के, लम्बे घने; नख मृदु, स्निग्ध व दीर्घ होते हैं। वाणी प्रसन्न, गम्भीर निर्घोष वाली और दृढ़ होती है। दीर्घ बाहु, दीर्घ ललाट एवं उरु वाला व्यक्ति उत्तम बली, क्लेशसहिष्णु एवं प्रचुर धन सम्पत्ति वाला होता है।

मानसिक लक्षण—श्लेष्मल व्यक्ति धैर्य, कृतज्ञता, निर्लोभ, सहिष्णुता, क्लेश-क्षमता और शान्त विचार, स्थिर मित्रता एवं दृढ़ वैर वाला होता है। विवेक पूर्वक क्रिया करने वाला; परिस्थितियों के अनुरूप अपनी प्रकृति में व्यावहारिक परिवर्तन करने वाला; किसी विषय पर बहुत विलम्ब से निर्णायक भाव पर पहुंच कर अनुष्ठान करने वाला श्लेष्मल पुरुष सत्त्व गुण प्रधान होता है। निद्रा-तन्द्रा का आधिक्य, स्वप्न में आकाश में उड़ते हुए पक्षी, हंस, कमल, जलाशय तथा मेघों के दृश्य दिखाई पड़ते हैं।

अन्य विशेषताएँ:—श्लेष्मल व्यक्ति दूरदर्शी, श्रद्धावान्, दीर्घसूत्री, आस्तिक भावना युक्त, मितभाषी, मधुरभाषी, सत्यवादी एवं विनीत होता है। स्वभाव में सिंह-गज-गरुड़ का अनुकरण करते हुये दृढ़ निश्चयी होता है। दानशील स्वभाव वाला और सर्वदा प्रसन्न रहने वाला होता है। कठिन से कठिन विपत्तियों में भी न घबड़ाना, बड़ी हानि हो जाने पर भी शोक न करना एवं मन्द-गम्भीर-स्वर वाला व्यक्ति श्लेष्म प्रधान होता है तथा अधिक निद्रा; अल्प क्षुधा-पिपासा, अल्प क्रोध-ईर्ष्या-द्वेष वाला; दीर्घायुष्मान् व परिपुष्ट निरोग शरीर वाला; स्त्रियों का प्रिय एवं बहु संतति युक्त एवं निश्चिन्त प्रकृति का होता है।

श्लेष्मा स्निग्ध-चिक्कण-मृदु-मधुर-स्थिर-सान्द्र-मन्द-आर्द्र-गुरु-शीत-पिच्छिल और अच्छ गुण वाला होता है। श्लेष्मल मनुष्य कफ की स्निग्धता के कारण स्निग्ध अङ्ग वाले; श्लक्ष्णता के कारण चिकने शरीर वाले; मृदु गुण के कारण सुकुमार, प्रियदर्शी और गौर वर्ण के; मधुर गुण के कारण बहुशुक्र और बहु सन्तति वाले तथा प्रकृष्ट मैथुन शक्ति सम्पन्न होते हैं। स्थिरता के कारण सुसंहत एवं दृढ़ शरीर वाले; सान्द्र गुण के कारण परिपूर्ण सर्वांग वाले; मन्द गुण के कारण मन्द चेष्टा-आहार-विहार-सम्भाषण वाले; आर्द्र गुण के कारण दीर्घसूत्री तथा शीघ्र क्षुब्ध न होने वाले; गुरुता के कारण हाथी के समान मन्द गति वाले; शीत गुण के कारण अल्प क्षुधा-पिपासा-सन्ताप व स्वेद वाले; पिच्छिल गुण के कारण सुसम्बद्ध और दृढ़ सन्धि बन्धन वाले तथा अच्छ गुण के कारण प्रसन्न मुख और नेत्रवाले तथा प्रसन्न और स्निग्ध वर्ण एवं स्वर वाले होते हैं। श्लेष्मल मनुष्य बलवान्, धनवान्, विद्यावान्, ओजस्वी, शान्त और दीर्घायु होते हैं।

उपशय—कटु तिक्त कषाय एवं रूक्ष आहार प्रधान रूप से अनुकूल होता है।

विशेष—दो दोषों की प्रधानता के लक्षणों का संतुलन करके द्वंद्वज तथा तीनों दोषों की समस्थिति होने पर समदोषज प्रकृति का ज्ञान किया जाता है। वास्तव में शुद्ध वात, पित्त या कफ प्रधान व्यक्ति मिलना कठिन है। मिश्रित रूप के ही उदाहरण अधिक मिलते हैं। एक ही दोष का अधिक प्रभाव लक्षित होने पर एक दोषज तथा दो दोषों का समबल प्रभाव होने पर द्वंद्वज भेद किया जा सकता है। प्रकृति की विशेषताओं के कारण व्याधियों के रूप परिवर्तित हो जाते हैं, औषध-निर्धारण में भी इसकी उपयोगिता होती है, इसीलिए मूल प्रकृति की जानकारी रोगी परीक्षा प्रारंभ करते ही की जाती है।

विषम लक्षणों का अभाव तथा स्वास्थ्य का अनुबन्ध होने पर सम प्रकृति का अनुमान किया जाता है। इस प्रकार के रोगियों में चिकित्सा सुकर होती है, क्योंकि इन्हें बहुत से रस-गुण-द्रव्य आदि सात्म्य होते हैं।

रुग्णावस्था में इस प्रकार का प्रकृतिज्ञान आसानी से नहीं हो पाता। पुराना इतिहास पूछकर तथा परिजनों से तत्सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। अभ्यास होने पर इसमें अधिक समय नहीं लगता।

कुलज प्रकृति—माता, पिता तथा उनके पूर्वजों के शारीरिक, मानसिक, नैतिक गुणों, विशिष्ट रोगों तथा अन्य विशेषताओं का उनके वंशजों में जो संचार होता है, उसे कुलज प्रकृति कहते हैं।

बहुत से कुटुम्बों में आहार विहार की एक निश्चित परिपाटी होती है, जिसमें देश-काल के अनुरूप अधिक परिवर्तन नहीं होता। गरिष्ठ भोजन, नियमित मांसाहार, मद्य या दूसरे मादक द्रव्यों का प्रयोग बाल्यावस्था से अभ्यस्त होने के कारण जीवनभर वह सात्म्य बना रहता है और रोगावस्था में भी उसके त्याग में असुविधा होती है, तथा देशकाल के अनुरूप आहार-विहार में परिवर्तन न होने के कारण कभी-कभी केवल परम्पराप्राप्त इस आहार के सतत अभ्यास से ही रोगोत्पत्ति होती है। मेदोरोग, मधुमेह, ग्रहणी, आमवात, वातरक्त, प्रमेह, अर्श एवं श्वास से पीडित माता की सन्ततियों में, इन व्याधियों के संक्रमित होने में, इस प्रकार का आहार-विहार भी प्रमुख कारण होता है। जब कुटुम्बी गुरु-अभिष्यन्दि-मधुररसप्रधान आहार, दिवास्वप्न-अव्यायाम आदि के कारण मेदोवृद्धि व प्रमेह से पीड़ित हों, तो उसी आहार-विहार का सेवन करने वाला शिशु भी आगे चल कर इन्हीं रोगों से क्यों न पीड़ित होगा. कुछ कुलज व्याधियाँ हैं, जो घनिष्ठ सम्पर्क-जनित उपसर्ग एवं शुक्र-रज की दुष्टि से सन्ततियों में संक्रमित होती हैं। इसलिये इस प्रकार की प्रमुख कुलज व्याधियों के बारे में रोगी से प्रश्न पूछना चाहिये-उन्माद, अपस्मार, वात-व्याधि, वातरक्त, उपदंश, कुष्ठ, मधुमेह, अर्श, श्वास, रक्तस्रावी व्याधियाँ, हृद्रोग, राजयक्ष्मा आदि कौटुम्बिक व्याधियाँ मानी जाती हैं। कुछ कुटुम्ब प्रकृत्या दीर्घजीवी, निरोगी एवं सबल तथा कुछ इसके बिल्कुल विपरीत होते हैं। अनूर्जताजनित व्याधियों के लिये कौटुम्बिक अनुबन्ध बहुत महत्वपूर्ण होता है। प्रौढ़ रोगी से उसकी स्त्री-बच्चों के बारे में पूछना चाहिए। गर्भस्राव, गर्भपात का अकारण उपद्रव, वंध्यात्व आदि में माता-
पिता का आतंक पीड़ित होना अनेक बार कारण होता है। स्त्री एवं बच्चों के स्वास्थ्य रोग—

जीवनीशक्ति आदि से कभी-कभी पिता के रोग का अनुमान किया जाता है। कुछ व्याधियाँ (हीमोफिलिया-एक प्रकार का रक्तपित्त) माता के द्वारा सम्वाहित होकर केवल पुरुष-संतति में व्यक्त होती हैं, स्त्रीसंतति केवल वाहक का कार्य करती है, रोगाक्रान्त नहीं होती। इसलिए मातृ एवं पितृकुल तथा भाई-बहिन आदि रक्तसम्बंधियों के बारे में इस शीर्षक के अन्तर्गत जानना चाहिए।

कुछ व्याधियों में कुलज प्रवृत्ति देखी जाती है। सम्पन्नता-दरिद्रता के आधार पर भी रोगों का क्रम परिवर्तित होता रहता है। इस प्रकार कुलज प्रकृति के द्वारा शारीरिक स्वास्थ्य, अहार-विहार, प्रमुख व्याधियाँ एवं सम्पन्नता विपन्नता का ज्ञान होता है। पितृ कुल एवं मातृकुल की २,३ पीढ़ियों का इतिहास जानना चाहिए।

जाति प्रसक्ता प्रकृति—शारीरिक एवं मानसिक सबलता-निर्बलता की दृष्टि से जातिगत विशेषताओं का ज्ञान आवश्यक है। आहार-विहार में भी जातिगत भेद होता है। कुछ व्याधियाँ एक जाति में होती हैं, दूसरे में नहीं। जाति का प्रकृति पर प्रभाव, दीर्घकाल से देश-काल आहार-विहार का शरीर पर होने वाला प्रभाव है। एक देश के निवासी या विशिष्ट जाति के व्यक्ति विरुद्ध देश काल में रहने पर भी पर्याप्त समय तक अपनी जातिगत विशेषता अक्षुण्ण रखते हैं।

देशानुपातिनी प्रकृति—मानव प्रकृति पर देश का प्रभाव बहुत व्यापक पड़ता है। सामान्यतया जलवायु की दृष्टि से देश के तीन विभाग किये जाते हैं। पहला **आनूप देश** जिसके जलवायु में वायु व कफ की प्रधानता होती है, वहां के निवासी मृदु, सुकुमार और स्थूल शरीर के होते हैं। वर्षा का आधिक्य, छोटी-बड़ी अनेक नदियों, स्वल्प वनस्पतियों, घने जंगलों, बडे बड़े वृक्षों, पर्वतों से प्रान्त आच्छादित रहता है। आनूप देश के निवासी अम्लपित्त, प्लीहावृद्धि, गलगण्ड तथा श्लीपदादि रोगों से आक्रान्त रहा करते हैं। दूसरा **जांगल देश**-जिसमें वर्षा की अल्पता, वायु की तीव्रता व उष्णता के कारण वहां के जलवायु में वात और पित्त की प्रधानता होती है। पीने के लिये तालाब, सरोवर, निर्झर आदि का जल व्यवहार में लाने से वात-पित्तबहुल व्याधियाँ पैदा होती हैं। जांगल देश के निवासी स्थिर-कठोर शरीर वाले, परिश्रमी होते हैं। वनस्पतियाँ अल्प, कंटक युक्त, कूपों में जल की कमी, भूमि आकाश के समान समतल एवं रूक्ष होती है। देश का तीसरा भेद **साधारण है**—जिसमें पुरुष सामान्य दोष वाले, स्थिर, सुकुमार, बलवान सुसंगठित और निरोगी होते हैं। आरोग्य के लिए साधारण देश उत्तम, जांगल मध्यम, तथा आनूप निकृष्ट माना गया है। चरक ने जांगल देश की मरुभूमिको आरोग्य भूमि बताया है। 'मरुरारोग्यभूमीनाम्' (च. सू. अ. २५)

देशसम्बन्धी इतिवृत्त पूछते समय निम्नलिखित बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिये।

१. देश के साथ रोगी का सम्बन्ध, २. देशगत विशेषतायें।

१. पहले के अन्तर्गत रोगी का जन्म, परिपालन तथा व्याधि की उत्पत्ति किस देश में हुई है, यह जानना चाहिये। रोगी की सहनशीलता पर उसकी मातृभूमि का प्रभाव

होतीं। यदि रोगी प्रवास कर रहा हो तो व्याधि के आक्रमण का स्थान जान लेने से निदान में संभाव्य व्याधियों की उपेक्षा न हो सकेगी। संक्रामक व्याधियों में यह ज्ञान बहुत आवश्यक होता है।

२. देशगत विशेषताओं में आहार, विहार, आचार, बलाबल, शील, सात्म्यासात्म्य, प्रमुख व्याधियाँ, हिताहित आदि सभी जानपदीय विशेषताओं की जानकारी करनी चाहिये। पूर्वीय भारत में कटु तैल का, महाराष्ट्र में मूगफली के तैल का और सौराष्ट्र में तिल तैल का प्रयोग एवं दक्षिण में इमली का प्रयोग, गुजरात में गुड़ का प्रयोग और राजस्थान में लालमिर्च और घी का प्रयोग अधिक मात्रा में किया जाता है। आनूप देश में पित्त की मन्दता तथा वात श्लेष्म की प्रधानता और अल्प शारीरिक श्रम के कारण अग्निमांद्य सम्बन्धी विकार अधिक होते हैं। जांगल देशों में, जहाँ जीविकोपार्जन में अधिक श्रम करना पड़ता है, व्यक्ति सुदृढ, बलवान और अल्प रोगी होते हैं।

कुछ व्याधियाँ एक जनपद में, कुछ दूसरे में प्रधानतया होती हैं। आनूप देश में संग्रहणी, विषम ज्वर, वात बलासक, प्रमेह और उदर रोग का आधिक्य होता है। जांगल प्रदेश में रक्तदुष्टि, त्वक् रोग तथा दूसरे वात पित्त प्रधान रोग अधिक होते हैं। स्थानान्तर या जल-वायु-देश परिवर्त्तन का महत्व देशज रोगों में बहुत होता है। विशिष्ट जलवायु वाले देश में उत्पन्न रोग भिन्न देश-काल में प्रवास करने से प्रकृत्या शान्त हो जाते हैं।[1]

सहज प्रकृति के ऊपर देशगत विशेषताओं का प्रभाव आवरण के रूप में रहता है। पित्तल व्यक्ति आनूप देश का हो तो उसकी प्रकृति में कुछ परिष्कार अवश्य हो जायगा। संक्षेप में देशगत आहार-विहार, जल-वायु और स्थानीय प्रधान व्याधियों की जानकारी इस शीर्षक के अन्तर्गत करनी चाहिये।

कालानुपातिनी प्रकृति—शीत, उष्ण तथा वर्षा के आधार पर वर्ष के प्रमुख ३ भाग किए जाते हैं। दोषों के संचय-प्रकोप-प्रशम की दृष्टि से ६ ऋतुएं एक वर्ष में मानी गई हैं। नित्यग एवंआवस्थिक काल के अनुरूप रोगी का जीवन व्यापार किस रूप का रहता है, यह जानने से काल की अनुनूलता-प्रतिकूलता का ज्ञान हो जाता है। काल के अन्तर्गत सभी ऋतुओं में रोगी के बलाबल का ज्ञान, दोषों का संचय-प्रकोप, व्याधियों का अनुबन्ध और आहार-विहार सम्बन्धी सारी जानकारी रोगी को अनुकूलता और अननुकूलता पर विचार करते हुए करनी चाहिये। कुछ रोगी ऋतु परिवर्तन के समय अकस्मात् रोगाक्रान्त हो जाते हैं। कुछ को प्रतिश्याय, ज्वर, अतिसार आदि व्याधियों का कष्ट हो जाता है। इस प्रकार ऋतुओं के साथ रोगी का सन्तुलन, स्वभावतः उत्पन्न होने वाली व्याधियों का उस पर प्रभाव, ऋतुओं के अनुरूप आहार-विहार में परिवर्तन करने का उसका इतिहास जान कर रोगी के बलाबल का, प्रतिकारक शक्ति और अनूर्जता आदि का निर्णय किया जा सकता है।

---

१. 'न तथा बलवन्तः स्युः जलजा वा स्थला हृताः।

षड्ऋतुओं में बल-अग्नि रस एवं दोषावस्था आदि का निदर्शक कोष्ठक

ऋतु	शरीर बल	अग्नि	प्रधान रस	दोषावस्था	प्रमुख व्याधियाँ	विशिष्ट उपक्रम
सन्त -वैशाख)	मध्यम	साधारण	कषाय	श्लेष्मा का प्रकोप वात एवं पित्त का अनुबंध।	प्रतिश्याय, फुफ्फुसपाक, श्लेष्मक ज्वर, रोमान्तिका, मसूरिका, कुकास एवं श्लेष्मोल्वण वातमध्य पित्तन्यून ज्वर तथा इतर व्याधियाँ	वमन द्वारा श्लेष्मा का चैत्र मास में शोधन। व्यायाम, भ्रमण, आसवारिष्टों के प्रयोग से श्लेष्मा का पाचन। दही माष आदि गुरुपाकी अभिष्यन्दि पदार्थों का त्याग।
ग्रीष्म -आषाढ़)	अल्प	मन्द	कटुक	श्लेष्मा का उपशम तथा वायु का संचय।	दौर्बल्य, धातुनाश, रूक्षदेह के कारण अंशुघात, अग्निमांद्य के कारण अतिसार-विसूचिका आदि का प्रकोप।	वायु का संचय अधिक न होने देने के लिए मधुर-तर्पक-लघुपाकी आहार तथा व्यायाम, भ्रमण आदि का परित्याग, श्रीखण्ड मधुर एवं शीत पेयों का उपयोग।

वर्षा (श्रावण-भाद्रपद)	अल्प	मन्द	अम्ल	वायु का प्रकोप। प्रायः सामता का अनुवंध। पित्त का संचय। श्लेष्मा का अनुवंध।	प्रवाहिका, आमातिसार, श्वास, श्लीपद, आमवात, सामज्वर, वातवलासक एवं वातव्याधि की प्रधानता। पित्त का संचय होने के कारण त्वचा के विकार तथा दूसरी पित्तज व्याधियाँ।	वात शमन के लिए स्निग्धोष्ण द्रव्यों का प्रयोग, वस्ति का मुख्य प्रयोग। पित्त का संचय रोकने के लिए मधुर स्रंसक या विरेचक योग
शरद (आश्विन-कार्तिक)	मध्य	साधारण	लवण रस	वायु का उपशम और श्लेष्मानुबंधित पित्त का प्रकोप।	पैत्तिक ज्वर, सभी प्रकार के ज्वर, कामला, रक्तपित्त, दाह, छर्दि, मूर्च्छा।	मधुर रस वाले विरेचक योगों से पित्त का शोधन, मधुरस्निग्ध पदार्थों का उपयोग।
हेमन्त (मार्गशीर्ष-पौष)	श्रेष्ठबल	तीव्र	मधुर रस	पित्त का उपशम तथा श्लेष्मा का संचय।	श्लेष्मोल्वण व्याधियाँ, श्लैष्मिक एवं सान्निपातिक ज्वर, शोफ, मेदोवृद्धि।	अग्नि तीव्र होने के कारण मधुर-स्निग्ध एवं गुरुपाकी द्रव्यों का प्रयोग। श्लेष्मा का संचय न होने देने के लिए व्यायाम, आयासकर दूसरे कार्य तथा धूप एवं अग्नि का सेवन।
शिशिर (माघ-फाल्गुन)	श्रेष्ठबल	तीव्र	तिक्त रस	श्लेष्मा का संचय।	हेमन्त के समान।	हेमन्त के समान।

नोट—ग्रीष्म के पूर्व प्रावृट् ऋतु की मान्यता दोषों के संचय प्रकोप की दृष्टि से विशेष उपयोगी है। उसका क्रम वर्षा के समान जानना चाहिए। ऐसी अवस्था में हेमन्त तथा शिशिर के स्थान पर केवल एक ऋतु मानी जाती है।

वैयक्तिक प्रकृति या प्रत्यात्मनियता प्रकृति—इसके अन्तर्गत वैयक्तिक विविधताओं, शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक, व्यावसायिक, सामाजिक एवं बौद्धिक व्यक्तिनिष्ठ भावों का विवेचन करना होता है। शयनोत्थान का समय, आहारमात्रा, उसकी रोचकता-पोषकता-सुपाच्यता, विश्राम, श्रम-शक्ति के साथ श्रम का संतुलन, श्रम का स्वरूप, श्रम एवं आहार का संतुलन, कार्य व्यापार के प्रति संतोष, कौटुम्बिक सुख-शान्ति-कलह-द्वेष, सामाजिक सम्मान इत्यादि का प्रभाव व्यक्ति की प्रकृति पर महत्वपूर्ण होता है। कौटुम्बिक कलह एवं दैनिक विषमताओं के कारण व्यक्ति का स्वभाव चिड़चिड़ा, चित्त अस्थिर और मन में निराशा का भाव रहता है। बहुत सी व्याधियाँ हीन-पोषण और अधिक श्रम तथा अनियमित भोजन एवं कुछ विरुद्ध भोजन और गुरु भोजन से पैदा होती हैं। मद्य, विजया, अहिफेन, धूम्रपान एवं नस्य इत्यादिक मादक द्रव्यों का उपयोग कुछ विशिष्ट व्याधियों की उत्पत्ति में सहायक होता है। बहुत से रोग रोगी की शारीरिक शक्ति को इतना क्षीण कर देते हैं, जिससे उनकी निवृत्ति के बाद भी शरीर अनेक रोगों के लिये उर्वरक्षेत्र बन जाता है। जीर्ण प्रतिश्याय होने पर श्वास-कास व क्षय का अनुबन्ध, विबन्ध तथा अतिसार आदि कष्ट होने पर संग्रहणी एवं अर्श की सम्भावना और यकृत-प्लीहा तथा गुल्म के उपरान्त उदररोग की सम्भावना अधिक होती है। बहुत सी व्याधियाँ प्रारम्भिक स्थलों में शान्त होकर स्थायी विघातक परिणाम शरीर के दूसरे अङ्गों पर छोड़ जाती हैं यथा स्थूल रूप में व्याधि का उपशम हो जाने पर आमवात, उपदंश, आमातिसार के द्वारा हृदय, रक्तवाहिनी एवं यकृत की विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं। इसलिये रोगी के वैयक्तिक इतिहास को निम्न वर्गों में विभाजित कर संग्रहीत करना चाहिये।

(क) आहार—मात्रा, पोषकत्व, सुपाच्यता, सात्म्यता, नियमित प्रयोग, अभ्यास सात्म्यता, मादक द्रव्योपयोग, आहार की मात्रा, काल, देशकालानुरूपिता।

(ख) विहार—दिनचर्या, निद्रा, व्यायाम, कार्यव्यापार, आजीविका, बल एवं आहार के अनुपात में श्रम का संतुलन। कुछ व्याधियाँ विशेषप्रकार के कार्य करने से उत्पन्न होती हैं, जैसे—शीशे, कांच, स्वर्ण, कोयला की खान में काम करने वाले विशिष्ट व्याधि से पीडित होते हैं।

(ग) बल—सहज, ऋतुजन्य और युक्ति कृत बल।

सहजबल—शरीर और मन का जो स्वाभाविक-प्राकृत-बल होता है, वह सहज है। ऋतु विभाग से—यथा हेमन्त और वसन्त में प्रकृष्ट बल—और आयु के कारण यथा-युवावस्था में विशेष बल—जो बलवत्ता होती है, वह **कालज** है। सम्यक् आहार व्यायाम एवं इतर बलवर्धक उपायों से अर्जित बल **युक्ति कृत** कहा जाता है।

(घ) अग्नि—सम, विषम, तीक्ष्ण, मंद।

समाग्नि—जो जाठराग्नि योग्यकाल और उचित मात्रा में भुक्त अन्न का यथा काल सम्यक् पचन करती है, वह समाग्नि है।

विषमाग्नि—जो पाचकाग्नि कदाचित अन्न का सम्यक पाचन करती है और कदाचित आध्मान, शूल, अलसक, विबंध, अतिसार या गुड़गुड़ाहट और प्रवाहण आदि लक्षण उत्पन्न करके समुचित पाचन नहीं करती, वह विषमाग्नि है।

तीक्ष्णाग्नि—अति मात्रा में भी खाए हुए अन्न का शीघ्र पाचन कर देने वाली अग्नि तीक्ष्ण कही जाती है।

मन्दाग्नि—यथा विधि, यथा काल, अल्प मात्रा में खाए हुए अन्न को भी, आध्मान, शिर का गौरव, कास, श्वास, हृल्लास, अम्लोद्‌गार, वमन एवं क्लान्ति आदि लक्षण उत्पन्न करके विलम्ब से पचाती है, वह मंद अग्नि कही जाती है।

(ङ) **कोष्ठ**—मृदु, मध्यम और क्रूर।

मृदुकोष्ठ—जिसके कोष्ठ में पित्त की अधिकता होती है, उसे दूध या मृदु स्रंसक ओषधियों से भी विरेचन हो जाता है।

मध्यकोष्ठ—कफ की प्रधानता या तीनों दोषों की समानता के कारण मध्यम कोष्ठ होता है। इनमें विरेचन योगों का सामान्य मात्रा में समुचित परिणाम होता है।

क्रूर कोष्ठ—वायु की अधिकता से कोष्ठ क्रूर होता है। विरेचन द्रव्यों की पर्याप्त मात्रा से भी कठिनाई से दस्त होता है—प्रायः विबंध का कष्ट बना ही रहता है।

(च) **मानसिक स्थिति**—स्मृति, मेधा, आचार, सुख-शान्ति, शील, ज्ञानेन्द्रियों के कर्म, निद्रा, स्वप्न

(छ) **मलप्रवृत्ति**—मूत्र, पुरीष, स्वेद, अपानवायु, उद्गार, कफ और नासामल का नियमित एवं मात्रावत् उत्सर्ग।

(ज) **विवाहित या अविवाहित**—वैयक्तिक जीवन की सुख-शान्ति तथा वैवाहिक जीवन, पुत्रादिकों की संख्या, स्वास्थ्य एवं विशिष्टरोग—राजयक्ष्मा, प्रतिश्याय, कास, वृक्करोग, रक्तनिपीड, हृद्रोग, पूयमेह, प्रमेह, मधुमेह, इनफ्लुएञ्जा, अभिघात, मानसिक रोग, वातव्याधि आदि का इतिवृत्त।

(झ) **पूर्व रोगानुबंध**—उपदंश, आमवात, उरस्तोय, शोफ, वातरक्त, रोमान्तिका, तुण्डिकेरी शोथ, शूल, कामला, विषमज्वर, आन्त्रिकज्वर एवं अनूर्जता जनित व्याधियाँ-शीतपित्त, तमकश्वास, विचर्चिका इत्यादि। वर्तमान् व्याधि से पीड़ित होने के पूर्व ऊपर निर्दिष्ट व्याधियों से पीड़ित होने का इतिवृत्त सावधानी से पूछना चाहिये।

२. सार—शरीर के बल एवं आयुष्य की विशेष जानकारी के लिये त्वक्-रक्तादि धातुओं की शरीर में प्रधानता समझना आवश्यक होता है। सर्व सार विशेषताओं से युक्त पुरुष अधिक बलवाले, क्लेश-सहिष्णु, चिरजीवी, निरोगी और स्थिर बल वाले होते हैं। हीन-सार वाले व्यक्ति इन सब विशेषताओं से रहित और मध्यसार वाले व्यक्तियों में मध्य-

स्थिति होती है। केवल विशाल शरीर देखने मात्र से, यह व्यक्ति अधिक बलवान होगा और क्षीण काय व्यक्ति निर्बल होगा, यह अयथार्थ ज्ञान न होने पावे, इसीलिये सार परीक्षण करना आवश्यक है। पहाड़ी मनुष्य और महाराष्ट्र प्रदेशी शरीर से महाबल न दिखायी पड़ने पर भी कार्य व्यापार में दूसरे सुपुष्ट व्यक्तियों से अधिक प्रबल होते हैं। शारीरिक-धातुओं और मन को आधार मान कर सार के आठ भेद किये जाते हैं। किसी एक ही व्यक्ति में सभी सार उत्तम रूप में हो सकते हैं। कुछ उत्तम रूप में, कुछ मध्य स्थिति में तथा कुछ हीन भी हो सकते हैं या सभी की न्यूनता हो सकती है। इसलिये सार परीक्षा करते समय प्रत्येक सार का निर्णय प्रवर-मध्य-हीन शब्दों के द्वारा करना चाहिये।

त्वक् सार—मृदु-स्निग्ध-कान्तिमान्, मृदु-अल्प रोम युक्त त्वचा, त्वक् सार की विशेषता होती है। इस प्रकार की त्वचा से ऐश्वर्य, आरामतलब जीवन, सुख, सौभाग्य, उपभोग, बुद्धि, विद्या, आरोग्य, हर्ष तथा आयुष्य की अभिव्यक्ति होती है। ऐसे व्यक्ति क्लेशसहिष्णु नहीं होते।

रक्त सार—नेत्र, कर्णपाली, ओष्ठ, कपोल, जिह्वा, ललाट, हस्त-पाद तल और नख का वर्ण स्निग्ध एवं रक्तिम; तथा शरीर के शोभा-कान्ति-दीप्तिमत् होने पर रक्त सारता का निर्णय किया जाता है। इस विशेषता से सम्पन्न व्यक्ति सुखी, सुकुमार, मनस्वी, उद्धत स्वभाव वाले, अल्प बल, अपरिश्रमी और उष्णद्वेषी होते हैं।

मांस सार—शंख, ललाट, कृकाटिका, कपोल, स्कन्ध, उदर, कक्षा, वक्ष और हस्त-पाद की सन्धियों में मांस का भली प्रकार उपचय, मांस की प्रधानता को द्योतित करता है। मांस सार व्यक्ति क्षमा, धैर्य, निर्लोभ, विद्या, धन, सुख, सरलता, आरोग्य एवं बल से युक्त होने के साथ ही दीर्घायु और उत्तम श्रमशक्ति का भी अधिकारी होता है।

मेद सार—वर्ण, स्वर और नेत्रों की स्निग्धता, केश–लोम–दन्त–ओष्ठ–नख–मूत्र और पुरीष इनकी चिक्कणता, मेदस्वी शरीर, मेद के प्राधान्य को बताता है। मेदस्वी व्यक्ति दृढ़, अल्प परिश्रमी, सुखी, तथा इच्छित उपभोगवान् होते हैं।

अस्थिसार—जिन व्यक्तियों के नख, दन्त और अस्थियाँ स्थूल हों और सन्धियाँ भी, विशेषकर गुल्फ, जानु, मणिबन्ध की मोटी हों, वे व्यक्ति अस्थिसार कहे जाते हैं। क्रियाक्षमता, क्लेशसहिष्णुता, दीर्घायुत्व, कार्य के प्रति उत्साह, इनकी विशेषतायें हैं।

मज्ज सार—स्थूल–दीर्घ और गोल सन्धियों वाले व्यक्ति मृदु गात्र होने पर भी मज्जसार होने के कारण बलवान् होते हैं। उनका स्वर गम्भीर-स्निग्ध और नेत्र विशाल होते हैं। मज्जसार व्यक्ति स्वस्थ, दीर्घायु, बलवान्, बुद्धिमान् और पुत्रवान्

शुक्र सार—स्निग्ध दृष्टि, सौम्य आकृति, कान्तिमान् मुख और प्रतिभाशाली, निरोगी व्यक्ति शुक्र सार कहे जाते हैं। स्निग्ध, गोल, दृढ़, सम, संहत और उन्नताग्र दन्त, प्रसन्न एवं स्निग्ध वर्ण तथा स्वर; कान्तिमान्, सुगठित, श्वेतवर्ण के नख, अस्थि तथा दांत; बड़े-बड़े नितम्ब वाले व्यक्ति बलवान्, प्रबल मैथुन शक्ति वाले, स्त्रियों के प्रिय, सुखी, ऐश्वर्य-आरोग्य-वान् और बहु सन्तति वाले होते हैं।

सत्व सार—श्रद्धा-कृतज्ञता-उत्साह-धैर्य-मेधा-प्रतिभा इत्यादि शुद्ध सात्विक विशेषताओं से युक्त व्यक्ति सत्त्वसार कहे जाते हैं। विवेकपूर्ण कार्य व्यापार, गम्भीर बुद्धि, सुव्यवस्थित योजना, इनकी विशेषता होती है।

३. **संहनन**—अस्थि-संधि-मांस इत्यादि धातुओं का आनुपातिक, सुविभक्त संघात या संयोजन उत्तम बल का निदर्शक माना जाता है। इसलिये शरीर की गठन के आधार पर इसे सुसंगठित, असंगठित और मध्यसंगठित इन तीन शीर्षकों में बांटना चाहिये। हाथ-पैर क्षीण, उदर स्थूल अथवा पैर मोटे, वक्ष पतला, सिर बहुत बड़ा, ग्रीवा पतली इत्यादि विषम संगठन के प्रकार शरीर की दुर्बलता का तथा परिपुष्ट सुगठित शरीर उत्तम बल का आधार होता है। जिस मनुष्य की अस्थियाँ समप्रमाण में अच्छी तरह सुविभक्त हों, सन्धियाँ सुबद्ध हों, मांसपेशियाँ सुनिहित तथा रक्ताभिसरण सभी अंगों में समप्रमाण में हो, उसे सुसंहत कहते हैं। सुसंहत व्यक्ति उत्तम बलवाला, मध्यसंगठन का का मध्यम बलवाला तथा हीनगठन का हीन बल वाला होता है।

४. **प्रमाण परीक्षा**—शरीर के प्रत्येक अंग-उपांग का आयाम-विस्तार-उत्सेध औसत मानदण्ड के अनुरूप होने पर, शरीर उत्तम प्रमाण वाला माना जाता हैं। आयु-बल-ओज-सुख-ऐश्वर्य और वित्त प्रमाणयुक्त शरीर की विशेष सम्पत्ति माने जाते हैं। शरीर का यह प्रमाण आयु-देश-काल और आहार पर निर्भर करता है। प्रमाण परि-मापन के लिये प्राचीन आचार्यों ने व्यक्तिनिष्ठ अंगों को आधार माना है। प्रत्येक अंग के आयाम, विस्तार, उत्सेध आदि का परिमापन स्वकीय अंगुल, हस्त, व्याम आदि के द्वारा करने का निर्देश किया है। यदि रोगी अपने अंगुलों से नापने पर आदर्श मान से कम या अधिक होता है, तभी उसे विकार निदर्शक मानेंगे। शरीर की लम्बाई-चौड़ाई कम होने पर अंगुलादि की लम्बाई चौड़ाई भी उसी अनुपात में कम हो जाती है। यदि कोई व्यक्ति नाटा और मोटा हो तो मोटाई के अनुरूप अंगुलों की मोटाई होगी तथा ऊंचाई-लम्बाई हस्त या व्याम से होगी, जो स्वभावतः छोटे होंगे। परीक्षण-सुविधा की दृष्टि से प्रत्येक अंग का पृथक् पृथक् औसत परिमाण अङ्गुल मान के आधार पर साथ के कोष्ठक में दिया गया है।

पच्चीस वर्ष की अवस्था में पुरुष और १६ वर्ष की अवस्था में स्त्री परिपूर्ण सर्व धातु वाली मानी जाती हैं। मान परिमाण स्वस्थ शरीर वाले स्त्री पुरुषों का ही लिखा गया है। जिस पुरुष के शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों का माप लेना हो, उसकी अङ्गुलियों के मान से ऊंचाई, विस्तार या परिणाह तथा लम्बाई-चौडाई जाननी चाहिए।

प्रमाण-परीक्षा : कोष्ठक संख्या-२

अंग-प्रत्यंग	ल. या अन्त.	चौड़ाई	परि. या घेरा
पुरुष की लम्बाई या ऊँचाई	१२० अं०	—	—
पादांगुष्ठ तथा प्रदेशिनी अंगुली	२ अं०	—	—
मध्यमा, अनामिका, कनिष्ठिका	८/५, ६/५, ४/५ क्रमसे	—	—
प्रपाद (अङ्गुलियों के नीचे का पाँव का अग्रभाग)	४ अं०	५ अंगुल	—
पादतल	४ अं०	५ अं०	—
पार्ष्णि (एड़ी)	५ अं०	४ अं०	—
पार्ष्णि से अङ्गुष्ठ पर्यन्त पैर	१४ अं०	—	—
पादमध्य, गुल्फमध्य, जंघामध्य तथा जानुमध्य	—	—	१४ अंगुल
जंघा	१८ अं०	—	—
कटि संधि से जानुसंधि तक अन्तर	३२ अं०	—	—
कटि संधि से जंघा पर्यन्त	५० अं०	—	—
वृषण, हनु, दन्त, वाह्यनासापुट, कर्णमूल तथा दोनों नेत्रों के बीच का अन्तर	२ अं०	—	—
उच्छ्रायरहित शिश्न, खुला हुआ मुख, नासा वंश, कर्ण, ललाट, ग्रीवा तथा दोनों दृष्टि मण्डलों के बीच का अन्तर	४ अं०	—	—
योनि का विस्तार, शिश्न और नाभि का अन्तर, नाभि और हृदय का अन्तर हृदय और ग्रीवामूल का अन्तर, दोनों स्तनों का बीच, चिवुक से ललाट पर्यन्त लम्बाई	१२ अं०	—	—
मणिवंध तथा प्रकोष्ठ	—	—	१२ अं०
उरु	—	—	३२ अं०
जंघा	—	—	१६ अं०
स्कंध से कूर्पर संधि तथा कूर्पर से मणि वंध का अन्तर	१६ अं०	—	—
कूर्पर से मध्यमांगुलि पर्यन्त	२४ अं०	—	—
कक्षा से मध्यमांगुलि तक भुजा	३२ अं०	—	—
हस्ततल	६ अं०	४ अं०	—
अङ्गुष्ठ मूल से तर्जनी का अन्तर, मध्यमांगुलिकी लम्बाई, नेत्र के वाह्य कोण से कान तक का अन्तर	५ अं०	—	—

अंग-प्रत्यंग	ल. या अन्त.	चौड़ाई	परि. या घेरा.
प्रदेशिनी तथा अनामिका	४ अं०	—	—
अङ्गुष्ठ तथा कनिष्ठिका	३ अं०	—	—
ग्रीवा परिधि	—	—	२० अं०
नासापुट का विस्तार	$१\frac{१}{२}$ अं०	—	—
कृष्णमण्डल	नेत्रका $\frac{१}{३}$ भाग	—	—
दृष्टि मण्डल	कृष्णमण्डल का $\frac{१}{९}$ भाग	—	—
केशान्त (शंख प्रदेश में केशों की अन्तिम सीमा) से मध्य सिर	११ अं०	—	—
ग्रीवा के पश्चिम केशान्त से मध्यासिर	१० अं०	—	—
पीछे से दोनों कानों के बीच का अन्तर	१४ अं०	—	—
पुरुषों का वक्ष तथा स्त्रियों की श्रोणि	—	२४ अं०	—
स्त्रियों का वक्ष तथा पुरुषों की श्रोणि	—	१८ अं०	—

बाल्यावस्था में आयु एवं ऊँचाई आदि का संतुलन : कोष्ठक संख्या-३

आयु	भार	ऊँचाई	वक्ष	शिर
जन्म के समय	६–७ पौ०	२० इञ्च	१३–१४ इञ्च	१४ इञ्च
२ सप्ताह	८ पौं०	२१"	१४"	१४"
४ सप्ताह	९ पौं०	२३"	१५"	१५"
२ मास	११–१२ पौ०	२४"	१५"	१५"
६ मास	१५–१७ पौ०	२७"	१६–१७"	१६–१७"
१ वर्ष	२०–२२ पौ०	२९"	१८"	"
२	२६–२७ पौ०	$३२\frac{१}{२}$"	१९"	१८"
३	३०–३२ पौ०	३५"	२०"	१९"
४	३४–३५ पौ०	३८"	२०–२१"	१९–२०"
५	४० पौ०	४१–४२"	२१–२२"	१९–२०"
६	४४–४५ पौ०	४४"	२३–२४"	२० "
७	४८–५० पौ०	४६"	२३–२४"	२०–२१"
८	५४–५५ पौ०	४८"	२४–२५"	"
९	६० पौ०	५०"	२५"	"
१०	६६–६८ पौ५	५२"	२६"	२२"
१२	७०–७२ पौ०	५४–५५"	२७"	"
१६	७८–८४	६०–६२"	२९–३०"	२२"

युवावस्था (२०-३० वर्ष) में शरीर की ऊँचाई, अंग-प्रत्यंगों का परिणाह एवं भार का संतुलन : कोष्ठक संख्या-४

ऊँचाई	भार	वक्ष	ग्रीवा	वाहु	मणिवन्ध	उरु	जंघा	कटि
५ फुट	११६ पौं०	३१-३४″	१२ १/२″	११ ३/४″	११″	१८″	१२″	२५″
५-१	१२०	३१-३५″	१२ ३/४	१२	११ १/४	१८ १/२	१२ १/४	२५ ३/४
५-२	१२६	३२-३६″	१३	१२ १/४	११ १/२	१९	१२ १/२	२६ १/२
५-३	१३३	३३-३७″	१३ १/४	१२ १/२	११ ३/४	१९ १/२	१२ ३/४	२७ १/४
५-४	१३६	३४-३८″	१३ १/२	१२ ३/४	१२	२०	१३	२८
५-५	१४२	३४ १/२-३८ १/२″	१३ ३/४	१३	१२	२० १/२	१३ १/४	२८ ३/४
५-६	१४३	३५-३९″	१४	१३ १/२	१२ १/४	२१	१३ १/२	२९ १/४
५-७	१४६	३५ १/२-३९ १/२″	१४ १/४	१३ १/२	१२ १/४	२१ १/२	१३ ३/४	३० १/२
५-८	१५५	३६-४०″	१४ १/२	१३ ३/४	१२ १/२	२२	१४	३० ३/४
५-९	१६१	३६ १/२-४० १/२″	१४ ३/४	१४	१२ ३/४	२२ १/२	१४ १/४	३१ १/२
५-१०	१६९	३७-४१″	१५	१४ १/४	१२ ३/४	२३	१४ १/२	३२ १/४
५-११	१७४	३७ १/२-४१ १/२″	१५ १/४	१४ १/२	१३	२३ १/२	१४ ३/४	३२ ३/४
६-०	१७८	३८-४२″	१५ १/२	१४ ३/४	१३	२४	१५	३३ ३/४

स्वस्थ पुरुषों का अवस्था एवं ऊँचाई के अनुपात में शरीरभार : कोष्ठक संख्या–५

ऊँचाई / आयु	५'–२"	५'–३"	५'–४"	५'–५"	५'–६"	५'–७"	५'–८"	५'–९"	५'–१०"	५'–११"	६'	६'–१"	६'–२"
१६	११४	११७	१२०	१२४	१२८	१३२	१३६	१४०	१४४	१४९	१५४	१५९	१६४
१८	११८	१२१	१२४	१२८	१३२	१३६	१४०	१४४	१४८	१५३	१५८	१६३	१६८
२०	१२२	१२५	१२८	१३२	१३६	१४०	१४४	१४८	१५२	१५६	१६१	१६५	१७१
२२	१२४	१२७	१३१	१३५	१३९	१४२	१४६	१५०	१५४	१५८	१६३	१६८	१७३
२४	१२६	१२९	१३३	१३७	१४१	१४४	१४८	१५२	१५६	१६०	१६५	१७१	१७७
२६	१२७	१३०	१३४	१३८	१४२	१४६	१५०	१५४	१५८	१६३	१६८	१७४	१८०
२८	१२९	१३२	१३५	१३९	१४३	१४७	१५१	१५५	१५९	१६४	१७०	१७६	१८२
३०	१३०	१३३	१३६	१४०	१४४	१४८	१५२	१५६	१६१	१६६	१७२	१७८	१८४
३२	१३१	१३४	१३७	१४१	१४५	१४९	१५३	१५८	१६३	१६८	१७४	१८०	१८६
३४	१३२	१३५	१३८	१४२	१४६	१५०	१५४	१६०	१६५	१७०	१७६	१८२	१८८
३६	१३३	१३६	१३९	१४३	१४७	१५१	१५६	१६१	१६६	१७१	१७७	१८३	१९०
३८	१३४	१३७	१४०	१४४	१४८	१५२	१५७	१६२	१६७	१७३	१७९	१८५	१९२
४०	१३५	१३९	१४०	१४५	१४९	१५३	१५८	१६३	१६८	१७४	१८०	१८६	१९३
४२	१३६	१३९	१४२	१४६	१५०	१५४	१५९	१६४	१६९	१७५	१८१	१८७	१९४
४४	१३७	१४०	१४३	१४७	१५१	१५५	१६०	१६५	१७०	१७६	१८२	१८८	१९५
४६	१३८	१४१	१४४	१४८	१५२	१५६	१६१	१६६	१७१	१७७	१८३	१८९	१९६
४८	१३८	१४१	१४४	१४८	१५२	१५६	१६१	१६६	१७१	१७७	१८३	१९०	१९६
५०	१३८	१४१	१४४	१४८	१५२	१५६	१६१	१६६	१७१	१७७	१८३	१९०	१९७

स्वस्थ स्त्रियों का अवस्था एवं ऊँचाई के अनुपात में शरीर भार : कोष्ठक संख्या–६

ऊँचाई / आयु	४′–९″	४′–१०″	४′–११″	५′–०″	५′–१″	५′–२″	५′–३″	५′–४″	५′–५″	५′–६″	५′–७″	५′–८″
१६	१०४	१०६	१०८	१०९	१११	११४	११७	१२०	१२४	१२८	१३२	१३६
१८	१०६	१०८	११०	११२	११४	११७	१२०	१२३	१२६	१३०	१३४	१३८
२०	१०८	११०	११२	११४	११६	११९	१२२	१२५	१२८	१३२	१३६	१४०
२२	१०९	१११	११३	११५	११७	१२०	१२३	१२६	१२९	१३३	१३७	१४१
२४	१११	११३	११५	११७	११९	१२१	१२४	१२७	१३०	१३४	१३८	१४२
२६	११२	११४	११६	११८	१२०	१२२	१२५	१२८	१३१	१३५	१३९	१४३
२८	११३	११५	११७	११९	१२१	१२३	१२६	१३०	१३३	१३७	१४१	१४५
३०	११४	११६	११८	१२०	१२२	१२४	१२७	१३१	१३४	१३८	१४२	१४६
३२	११५	११७	११९	१२१	१२३	१२५	१२८	१३२	१३३	१४०	१४४	१४८
३४	११७	११९	१२१	१२३	१२५	१२७	१३०	१३४	१३८	१४२	१४६	१५०
३६	११८	१२०	१२२	१२४	१२६	१२८	१३१	१३५	१३९	१४३	१४७	१५१
३८	११९	१२१	१२३	१२५	१२७	१३०	१३३	१३७	१४१	१४५	१४९	१५३
४०	१२१	१२३	१२५	११७	१२९	१३२	१३५	१३८	१४२	१४६	१५०	१५४
४२	१२२	१२४	१२६	१२८	१३०	१३३	१३६	१३९	१४३	१४७	१५१	१५५
४४	१२४	१२६	१२८	१३०	१३२	१३५	१३८	१४१	१४५	१४९	१५१	१५७
४६	१२५	१२७	१२९	१३१	१३३	१३६	१३९	१४२	१४६	१५०	१५४	१५८
४८	१२६	१२८	१३०	१३२	१३४	१३७	१४०	१४३	१४७	१५२	१५६	१६०
५०	१२७	१२९	१३१	१३३	१३५	१३८	१४१	१४४	१४८	१५३	१५६	१६२

प्रमाण ज्ञान की उपयोगिता रोग निर्णय की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण होती है। किसी पार्श्व या अवयव के शोथयुक्त या क्षीण हो जाने पर, संधि विच्युति या अस्थि भग्न आदि के कारण अङ्गों की लम्बाई–चौड़ाई–परिणाह आदि में जो अन्तर मिलता है, उसी के आधार पर मुख्यतया रोग निर्णय किया जाता है। इस विषय का विशेष वर्णन सुश्रुत सूत्रस्थान ३५ वें अध्याय तथा चरक विमान स्थान के आठवें अध्याय में आया है।

यह औसत प्रमाण है, थोड़ा बहुत इसमें परिवर्तन होने पर स्वास्थ्य में कोई अन्तर नहीं माना जाता है। यदि शरीर अधिक लम्बा हो, भार कम हो, नाटा हो और स्थूल हो, बहुत लम्बा और बहुत स्थूल हो तो इस प्रकार के पुरुष रोगप्रतिकारक शक्ति की दृष्टि से हीन बल वाले माने जाते हैं और सम परिमाण युक्त शरीर वाले व्यक्ति आयुष्मान् और बलवान् होते हैं।

५. **देह परीक्षा**—स्थूल-मध्य तथा कृश, इन भेदों से देह ३ प्रकार का माना जाता है। स्थूल तथा कृश दोनों प्रकार के शरीर स्वास्थ्य की दृष्टि से निन्दित हैं, परन्तु स्थूल की तुलना में कृश शरीर कुछ अच्छा माना जाता है। मध्यम शरीर वाला व्यक्ति श्रेष्ठ माना जाता है[1]।

स्थूल देह—अधिक भोजन, गुरु-मधुर-स्निग्ध-शीत एवं कफ कारक पदार्थों का अधिक सेवन, अध्यशन, अव्यायाम, दिवा शयन, सुख एवं हर्ष का आधिक्य तथा चिन्ता का अभाव और मेदस्वी एवं स्थूल माता-पिता से जात पुरुष प्रायः स्थूल होते हैं। मेद और मांस की अतिवृद्धि होने के कारण स्थूल व्यक्तियों के नितम्ब, उर—विशेषकर स्तन प्रदेश–तथा उदर चलने-फिरने में हिलते रहते हैं ('मेदोमांसातिवृद्धत्वाच्चलस्फिगुदरस्तनः' च० सू० अ० २१)। शरीर के समप्रमाण एवं सुसंगठित न होने के कारण बलवत्ता नहीं होती। इस प्रकार के व्यक्तियों में आलस्य, मन्दगति, मैथुन में अशक्ति, दुर्बलता, थोड़े से श्रम से ही श्वासकृच्छ्र एवं अत्यधिक थकान, निद्राधिक्य, दुर्गन्धयुक्त स्वेद की अधिकता, क्षुधा तथा पिपासा का आधिक्य, अकाल में ही वार्धक्य का आगमन तथा आयुष्य का ह्रास आदि कष्ट यावज्जीवन रहते हैं। प्रमेह, मधुमेह, फोड़ा-फुंसियाँ, भगन्दर, विद्रधि, ज्वर तथा वातविकारों की संभावना स्थूलदेही पुरुषों को अधिक रहती है। स्थूल मनुष्यों को जो भी विकार होते हैं, दूसरों की तुलना में अधिक गंभीर होते हैं।

मध्य देह:—जो व्यक्ति उभय साधारण (स्थौल्य-कार्श्यकर आहार-विहारों के बीच का) आहार-विहार का सेवन करता है, उसके धातुओं की समवृद्धि होती है। इस प्रकार का व्यक्ति मध्य शरीर वाला, सम मांस प्रमाण युक्त, सुसंगठित, दृढ़ इन्द्रियों वाला, सभी कार्यों के करने में समर्थ, समाग्नियुक्त, क्षुधा-पिपासा-शीत-उष्ण-वर्षा-धूप एवं व्यायाम को सहन करने वाला तथा बलवान होता है। ऐसे व्यक्ति सहसा रोगग्रस्त नहीं होते।

---

१ 'देहः स्थूलः, कृशो, मध्य इति प्रागुपदिष्टः' (सु० सू० अ० ३५)
'अत्यंत गर्हितावेतौ सदा स्थूल-कृशौ नरौ।
श्रेष्ठो मध्यशरीरस्तु, कृशः स्थूलात्तु पूजितः॥' (म० म० अ० १५)

कृश देह :—रूक्ष अन्न, अल्प आहार, लङ्घन-वमन-विरेचन-कर्षण का अतियोग, अधिक स्नान, मल-मूत्र के वेगों का अवरोध, जीर्ण रोगों से आक्रान्त, व्यायाम-मैथुन-अध्ययन-भय-चिन्ता-शोक-जागरण आदि वातकर आहार-विहार का अधिक सेवन तथा कृश माता-पिता से जात व्यक्ति प्रायः कृश शरीर वाले होते हैं। ऐसे व्यक्ति क्षुधा-पिपासा-शीत-उष्ण-वायु-वर्षा-व्यायाम-मैथुन कर्म-अधिक भोजन तथा बलवान औषध आदि को सह नहीं सकते और अल्पबल होते हैं। कृश देह वाले व्यक्तियों को वात व्याधि, श्वास, कास, राजयक्ष्मा, प्लीहा वृद्धि, उदर रोग, अग्निमान्द्य, गुल्म, रक्तपित्त, अर्श और ग्रहणी रोग होने की अधिक संभावना होती है।

कृश व्यक्ति के नितम्ब-उदर तथा ग्रीवा शुष्क एवं क्षीण, संधियाँ स्थूल, शरीर में नीले वर्ण की सिराओं की स्पष्टता और शरीर अस्थि-चर्मावशेष सा ज्ञात होता है।

६. **सात्म्य परीक्षा**—शरीर के लिए अनुकूल आहार-विहार-औषध साधारणतः सात्म्य कहे जाते हैं। जिन लोगों को सभी रस, आहार-विहारादिक सात्म्य होते हैं **वे** बलवान्, चिरंजीवी और क्लेश सहिष्णु होते हैं। जो लोग केवल एक ही प्रकार का आहार, केवल एक ही प्रकार का रस सहन कर सकते हैं वे अल्प बल और अल्पायुष होते हैं। आहार-विहार में पर्याप्त समय तक बहुत परहेज करने से शरीर की सहनशक्ति क्षीण हो जाती है। यदि कोई विशेष व्याधि न हो तो सभी प्रकार के आहार-द्रव्यों का उपयोग करना चाहिये।

सात्म्यता का ज्ञान निम्न क्रम से करना चाहिये:—

अभ्यास सात्म्य—जो आहार-विहार-देश-काल-रोग-ऋतुजन्य दोषावस्था, और व्यायाम आदि जब शरीर के लिए, सतत अभ्यास के कारण, अनुकूल या प्रतिकूल अथवा प्रकृतिविरुद्ध होने पर भी, बाधा कर नहीं रह जाते तब उसे सात्म्य कहते हैं। सात्म्य के ३ वर्ग किये जा सकते हैं:—

(क) निरन्तर अभ्यास के द्वारा सात्म्य—प्रतिकूल या हानिकर द्रव्य भी सतत अभ्यास के कारण सात्म्य हो जाते हैं, यथा—दिवाशयन, व्यायाम, रात्रिजागरण, गुरुभोजन आदि।

(ख) अवस्था सात्म्य—देश एवं काल की अवस्था के अनुरूप सात्म्यता में परिवर्त्तन होते रहते हैं। शिशिर एवं हेमन्त में तथा जाङ्गल एवं साधारण देश में गुरु-मधुर-उष्ण-स्निग्ध द्रव्य सात्म्य होते हैं, वही ग्रीष्म या वर्षा में असात्म्य हो जाते हैं। इसी प्रकार बहुत से द्रव्य बाल्यावस्था में असात्म्य होते हैं किन्तु युवावस्था में सात्म्य हो जाते हैं। सात्म्यासात्म्य निर्णय करते समय इन सभी पर ध्यान देना चाहिये। अहिफेन के योग शिशुओं के लिए विषाक्त होते हैं, किन्तु रसपुष्प की पूर्ण मात्रा से भी उन्हें कोई हानि नहीं होती, अतः औषधियोजना करते समय अवस्थासात्म्य का विचार

(ग) व्यायाम सात्म्य—व्यायाम करने से विरुद्धाहार-विहार भी सात्म्य हो जाता है। नित्य व्यायाम करने वाले व्यक्ति को देश-काल जन्य व्याधियों से पीडा नहीं होती।

घृत-क्षीर-तैल-मांसरस और कटु-तिक्त-कषाय-मधुराम्ल-लवण आदि सभी रसों का उपयोग करने वाले सर्वरससात्म्य और रूक्ष पदार्थ तथा एक ही रस का सेवन करने वाले व्यक्ति एकरससात्म्य तथा शेष व्यामिश्र सात्म्य होते हैं। सर्वरससात्म्य बलवान् एकरससात्म्य हीन बल और व्यामिश्र सात्म्य मध्यबल होते हैं। सर्वरस सात्म्य व्यक्तियों की प्रतिकारक शक्ति दृढ़, आयु दीर्घ और उत्साह-बलश्रेष्ठ होता है तथा अनूर्जता का नाश होकर ओजवृद्धि होती है।

७. **सत्त्वपरीक्षा**—सत्त्वपरीक्षा से तात्पर्य मानसिक सहिष्णुता या मनोबल से है। बहुत से व्यक्ति थोड़े कष्ट और अल्प रोग में ही बहुत घबड़ा कर गम्भीर व्याधि द्वारा पीड़ित हुये से दिखाई पड़ते हैं। दूसरी तरफ गम्भीर व्याधियों से आक्रान्त होने पर भी दृढ़ सहन शक्ति के कारण रोगी बाहर से बहुत साधारण व्याधि द्वारा ग्रसित मालूम पड़ते हैं। रोगियों के बाहरी लक्षण, उनकी घबड़ाहट और बेचैनी के आधार पर ही यदि गम्भीर व्याधि का निर्णय कर दिया जाय और औषधि का अधिक उपयोग हो जाय तो कदाचित् हानि भी हो सकती है। उसी प्रकार सहनशील रोगी में बाहरी लक्षणों के अल्प व्यक्त होने के कारण गम्भीर व्याधि भी उपेक्षित न हो जाय, इसलिये सत्व परीक्षा के द्वारा स्वाभाविक अवस्था में रोगी की स्थिति का ज्ञान कुटुम्बियों से पूछ कर करना चाहिये। व्यावहारिक दृष्टि से सत्त्व की प्रबलता के आधार पर तीन भेद किये जाते हैं १. **प्रवर सत्त्व**-सत्वगुण की विशेषता के कारण महान् व्याधियों में भी शान्त स्थिर से दिखाई पड़ते हैं। २. **मध्यसत्त्व**—मनोबल की मध्यस्थिति के कारण व्याधियों के अनुरूप लक्षण पैदा होते हैं। आश्वस्त करने पर सन्तुष्ट होकर मानसिक दुर्बलता का नियमन कर सकते हैं। ३. **हीनसत्त्व** वाले व्यक्ति अल्प व्याधि से ग्रसित होने पर भी बहुत घबड़ाते हैं और दूसरों के समाश्वासन का उनके ऊपर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता।

८. **आहार शक्ति की परीक्षा**—आहार शक्ति की जानकारी के लिये भोजन और पाचन के बारे में पृथक् पृथक् प्रश्न पूछने चाहिये। भोजन की मात्रा-गुरुता-लघुता-के आधार पर अधिक-मध्य-अल्प वर्गों में आहरण शक्ति को विभाजित किया जा सकता है। उसी प्रकार गुरु पदार्थ तथा अधिक मात्रा वाले भोजन को सुपचित करने के आधार पर उत्तम-मध्यम और अल्प पाचनशक्ति कही जायगी। उत्तम आहरण शक्ति, उत्तम पाचन-शक्ति तथा प्रवर व्यायाम शक्ति का आनुपातिक सम्बन्ध होता है। यदि उत्तम आहार के सेवन तथा उसके परिपाक के बाद भी शारीरिक शक्ति की वृद्धि नहीं होती तो विकार ही समझना चाहिए। आहार एवं पाचन की सामर्थ्य देश-काल-अवस्था-श्रम एवं अभ्यास आदि पर निर्भर करती है। शारीरिक तथा मानसिक श्रम करने वाले व्यक्तियों के आहार की मात्रा तथा उसकी गुरुता-लघुता आदि समान नहीं हो सकती। भस्मक

होती तथा मल भी सूखा हुआ निःसत्व होता है। मधुमेह, संग्रहणी में रोगी की आहार की रुचि एवं मात्रा बहुत बढ़ जाती है, किन्तु बल वृद्धि नहीं होती। प्रथम में मूत्र द्वारा ओजक्षय होते रहने से तथा द्वितीय में रस का प्रचूषण न होने से ऐसा होता है। अतः अभ्यवहरण शक्ति एवं जारण शक्ति का पृथक् २ ज्ञान करके ऊपर निर्दिष्ट क्रम से मूल्यांकन करना चाहिए।

९. **व्यायाम शक्ति**—कार्य करने की सामर्थ्य के आधार पर व्यायाम शक्ति का ज्ञान किया जाता है। वास्तव में व्यायाम–शक्ति का निर्णय करते समय अवस्था–आहार शक्ति-शरीर का संगठन, इन सब पर भी ध्यान रखना चाहिये। शरीर से पुष्ट, प्रौढ आयु वाला, उत्तम भोजन-पाचनशक्ति का व्यक्ति यदि अपने शरीर के अनुरूप पूरा परिश्रम न कर सके तो हीन व्यायाम शक्ति वाला माना जायगा। उसी प्रकार अपने शरीर की तुलना में अधिक श्रम करने वाला क्षीण व्यक्ति उत्तम व्यायाम शक्ति का माना जायगा। प्रवर मध्य और हीन भेद से व्यायाम शक्ति के तीन वर्ग बनाये जा सकते हैं।

निम्न कारणों से शरीर के बल की वृद्धि होती है :—

बलवान देश में जन्म लेने से—यथा पश्चिमोत्तर प्रान्त, अफगानिस्तान के निवासी प्रकृत्या बलवान होते हैं—बलवान माता-पिता से जन्म होने पर, उचित पोषक तत्त्वों से युक्त आहार का सेवन करने से, बलवान पुरुषों के अनुरूप शरीर का संगठन होने से, युवावस्था, उचित व्यायाम का विधिवत प्रयोग और मनोबल के द्वारा शरीर बल की वृद्धि होती है। अभ्यास के द्वारा शक्ति वृद्धि होना सर्वविदित है। शक्ति होने पर भी अभ्यास न होने के कारण व्यक्ति व्यवहार में दुर्बल सा दीखता है। अतः व्यायाम शक्ति का निर्णय रोगी के पूर्व जीवन की शक्ति से तुलना द्वारा करना चाहिए। पहले रोगी को जिस कार्य में-सीढ़ी चढ़ना, दौड़ना, चलना, खेलना आदि–श्रम का अनुभव नहीं होता था, उसमें थकावट या श्वासकृच्छ्र आदि होने पर हीन व्यायाम शक्ति कह सकते हैं। इसका परिज्ञान रोग निदान तथा चिकित्सा में लंघन–बृंहण आदि के उद्देश्य से आवश्यक होता है।

१०. **वय परीक्षा**—अवस्था के अनुसार शरीर बल तथा दोषों की प्रधानता, व्याधियों की सम्भवनीयता और धातुओं की वृद्धि या अपकर्ष, सभी में परिवर्तन होता है। वय परीक्षा में रोगी की शारीरिक अवस्था के साथ उसकी आयु का समीकरण करना चाहिये। यदि तीस वर्ष की आयु की दृष्टि से युवा कहा जाने वाला पुरुष खालित्य–पालित्य–दाँतों की दुर्बलता–झुर्रियोंदारचमड़ा–कान्तिहीन मुख और निस्तेज वाणी तथा झुकी हुई कमर का हो तो दोषों की दृष्टि से उसे वृद्ध समझ कर ही व्यवस्था करनी चाहिये। उसी प्रकार चौदह वर्ष की आयु में अस्थियों की दृढ़ता, मांस–मेद आदि का उपचय, शरीर के श्मश्रु और लोम से आच्छादित होने पर उस किशोर को भी पूर्ण युवा समझ कर ही निदान करना चाहिये। इस प्रकार वय

पर आनुमानिक आयु का ज्ञान करने के बाद दोनों का संतुलन करके निर्णय करना चाहिए। कुछ व्याधियाँ बाल्यावस्था में, कुछ युवावस्था में तथा कुछ वृद्धावस्था में मुख्यतया होती हैं। इसी प्रकार बाल्यावस्था में कफ की, युवावस्था में पित्त की और जीर्णावस्था में वायु की वृद्धि होती है। अवस्थानुरूप दोष एवं व्याधियों का प्रथम परिज्ञान करने के बाद इतर व्याधियों के सम्बन्ध का ज्ञान करना चाहिए। ओषधियोजना, मात्रा निर्धारण तथा पथ्या-पथ्य व्यवस्था में वय परीक्षा का महत्व होता है।

वय के अनुसार ३ वर्ग किए जाते हैं:—

बाल्यावस्था—सामान्यतया १६ वर्ष तक बाल्यावस्था मानी जाती है। इसमें धातु अंग-प्रत्यंग अपरिपक्व होते हैं, मानसिक विकास पूर्ण नहीं होता। इनमें १ वर्ष तक क्षीर पायी, २ वर्ष की अवस्था तक क्षीरान्नाद तथा उसके बाद १२ वर्ष तक अन्नाद होते हैं। १२ से १६ तक की अवस्था वयःसंधि या किशोरावस्था मानी जाती है।

मध्यम वय—इसमें धातुओं की पूर्णता और बल की वृद्धि होती है। २० वर्ष तक वर्द्धमानावस्था, ३० तक यौवनावस्था, ४० तक प्रौढ या स्थिरता की अवस्था तथा बाद में ६० तक कुछ ह्रास का प्रारंभ हो जाता है।

जीर्णावस्था—शनैः-शनैः धातुएं क्षीण होने लगती हैं और अंग-प्रत्यंग ढीले पड़ने लगते हैं। ६० से १०० वर्ष तक इसकी मर्यादा है।

विकृति परीक्षा

रोग का इतिहास—प्रश्न के द्वारा रोगी से रोग का अद्यावधि इतिहास, प्रकृति-विकृति भाव आदि की जानकारी करनी चाहिये। विकृति के लक्षणों का वर्णन उत्पत्ति के अनुक्रम से लिखना चाहिये। रोग के प्रारम्भ का समय, आनुषंगी लक्षण यथाः—ज्वर में शीत-वेदना-तृष्णा-हृल्लास एवं वमन पूर्वकता, कास में ज्वर-ष्ठीवन-पार्श्वशूल-श्वास आदि का अनुबध, प्रातः-सायं-मध्याह्न में व्याधि के बलाबल की स्थिति, शीतोष्ण का उपशय इत्यादि सभी विशेषताओं की जानकारी विवेकपूर्वक करनी चाहिये। सभी व्याधियों में तृष्णा-क्षुधा, निद्रा, अरुचि, आध्मान, शूल, मधुर-कटु-तिक्तास्यता, विबन्ध, प्रवाहिका इत्यादि लक्षण, चिकित्सार्थ प्रयुक्त ओषधियाँ, व्याधि प्रशम और पुनरावर्तन में कारणभूत आहार-विहार का ज्ञान करना चाहिये। अन्त में परिप्रश्न के द्वारा विकृतिसम्बन्धी जितना ज्ञान उपलब्ध हुआ हो उसका सूत्ररूप में संग्रह करना चाहिये।

सामान्य प्रत्यक्ष परीक्षा—सभी व्याधियों में शरीर का आपाद मस्तक परीक्षण करना चाहिये। केवल नाडी देख कर या प्रश्न पूछ कर रोग का पूरा ज्ञान नहीं किया जा सकता। बहुत अनुभव होने के बाद चिकित्सक में संश्लिष्ट ज्ञान का जो प्रकाश होता है उससे वह रोगी की अल्प परीक्षा करके ही व्याधि का निदान कर सकता है। फिर भी

नीचे लिखे हुए अंगों की परीक्षा सामान्यतया सभी व्याधियों में उपयोगी होती है:—

शरीर—स्थूल, मध्य, कृश, समसुविभक्तगात्रता, दक्षिण एवं वामांग का पृथक् परीक्षण एवं तुलना।

त्वचा—दाह, कण्डू, विस्फोट, शोफ, उत्सेध, ताप, प्रस्वेद, रूक्षता, स्निग्धता शिराभिनद्धता, त्वचा का वर्ण–नील-श्याम-ताम्र-हरित-पाण्डुर-गौर या शुक्ल, लोमों की स्थिति, शून्यता, हर्ष, शीतोष्ण-स्पर्शज्ञान, शिरा-धमनी स्पन्दन, पीडनाक्षमता, व्रण, विदार, ग्रंथियाँ अधःस्त्वचीय रक्तस्राव, किलास, सिध्म, कुष्ठ।

मांस पेशियाँ—आँकुञ्चन, प्रसारण आक्षेपक, अन्तरायाम, वाह्यायाम, शिथिलता, स्तब्धता, पुष्टता, क्षीणता, रज्जुवत स्थिति।

सन्ध्यस्थि-शिरा-स्नायु—प्रत्येक के बारे में रचना-पुष्टता-क्षीणता और स्वाभाविक क्रियाक्षमता की जानकारी करना चाहिये।

नख-दन्त—वर्ण-आकृति आदि की स्वाभाविक या वैकृतिक स्थिति।

आसन—कफज विकारों में शान्त, निश्चेष्ट, अल्पभाषी, निद्रालु; पैत्तिक में अरति, तृष्णा, एवं दाह के कारण अस्थिर, बेचैन एवं निद्रा नाश से पीड़ित; वातिक में अस्थिर–चित्तता, अनिद्रता, आसन परिवर्तन की बार-बार रुचि, रोगी की अनियमित, असम्बद्ध गति होती है।

औदरिक व्याधियों में पैर मोड़कर उत्तान शयन की प्रवृत्ति, यकृत् विद्रधि में विपरीत पार्श्व–शयन, फुफ्फुसावरण शोथ की प्रारम्भिक स्थिति में रुग्ण पार्श्वशयन, उरस्तोय होने पर विकृत पार्श्वशयन, श्वास-उदर रोग-हृद्रोग में उत्कटुकासन, अभिन्यास में शिरोविलोठन-शिरोग्रीवा का स्तम्भ या पश्चात् आयाम, धनुर्वात में धनुर्वत वाह्यायाम, पक्षवध में आक्रान्त पार्श्व शयन इत्यादि आसन की विशेषताएँ होती हैं। ज्वरा क्रमण से क्षीण होने पर रोगी तकिया से नीचे फिसला सा बिल्कुल शिथिल तथा निश्चेष्ट सा पड़ा रहता है।

गति—पक्षवध में चलते समय रोगी को विकृत पैर का अंगूठा भूमि में रगड़ता हुआ तथा विकृत हाथ लटका हुआ होता है। जीर्ण पक्षवध में विकृत हाथ गति के साथ असम्बद्ध; सन्धिवात, अस्थिभग्न, अस्थिशूल इत्यादि में विकृत पार्श्व की ओर झुककर चलने की प्रवृत्ति और पादशून्यता तथा लिङ्गनाश में पैर को ऊँचे उठाकर चलने की प्रवृत्ति होती है।

नाडी परीक्षा

नाडी परीक्षा की उपयोगिताः—यद्यपि प्राचीन चिकित्सा ग्रन्थों में नाडीविज्ञान-विषयक विस्तृत वर्णन नहीं मिलता; जिसके आधार पर मध्यवर्त्ती नाडीविज्ञान सम्बन्धी उपलब्ध साहित्य के साथ परम्परा का पालन हो सके, किन्तु कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थों में—रावणकृत 'नाडीपरीक्षा' तथा कणादकृत 'नाडीविज्ञान' एवं कुछ संहिता ग्रन्थों में—भाव प्रकाश, शार्ङ्गधरसंहिता, योगरत्नाकर आदि में, नाडीविषयक वर्णन पर्याप्त विस्तार से किया गया है, जिससे इसकी महत्ता स्पष्ट है। प्राचीन संहिताओं में भी धमनीस्पन्दन को जीवन का साक्षी

जाता है[1]। महायान सम्प्रदाय एवं सिद्ध सम्प्रदाय का चिकित्सा में बहुत प्रभाव पड़ा है। संभवतः रसौषधियों का चिकित्सा में अधिक प्रयोग एवं नाडीपरीक्षण का व्याधिविज्ञान में विशेष महत्व इन्हीं मध्ययुगीन समृद्धियों का प्रभाव हो।

नाडी-विज्ञानविषयक अनेक किम्बदन्तियाँ प्रचलित हैं। संभव है, उनमें अतिशयोक्ति हो, किन्तु आज भी अनुभवी वृद्ध वैद्यों के द्वारा नाडीपरीक्षण से, रोग एव दोष विनिश्चय में प्रभावोत्पादक परिणाम देखने में आते हैं। अतः इसका विशेष अध्ययन एवं दृढ़ लगन युक्त कर्माभ्यास अपेक्षित है।

नाडीपरीक्षण में प्रत्यक्ष कर्माभ्यास का महत्व:—भाषा एवं वाणी के द्वारा भावों की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। एक शब्द, ध्वनिभेद से अनेक भावों को व्यक्त करता है। किन्तु उन सभी भावों को आश्चर्यसूचक, प्रश्नसूचक या क्रोधसूचक केवल २-४ संकेतों से ही व्यक्त किया जा सकता है। वीणा के द्वारा निष्पन्न स्वर-प्रभाव को समझा जा सकता है, उससे सुख-दुःखमूलक आनन्द की अनुभूति कर श्रोता सिर हिला सकता है, किन्तु अपनी अनुभूति को सही रूप में दूसरे तक नहीं पहुँचा सकता। इसी प्रकार सृष्टि में वर्ण-विविधता के जो उदाहरण उपलब्ध हैं, उनका स्पष्ट परिचयात्मक वर्णन दर्शक नहीं कर सकता। अशोकपत्र का हरापन, शुक पक्ष का हरापन, लहलहाते हुए धान के खेत का हरापन तथा कमल-पत्र का हरापन—सभी का वर्ण हरा होते हुए भी केवल हरा नहीं है। निर्णायक यही कह सकता है कि अमुक अधिक गहरा है, अमुक चमकीला हरा है और तीसरा हल्का हरा है। क्या इस वर्णन से, विना वस्तुस्थिति का प्रत्यक्ष ज्ञान किए, कोई अध्येता वस्तु स्थिति का परिचय प्राप्त कर सकता है? यह तो बहुत स्थूल उदाहरण हैं, तितलियों का वर्ण, प्रातः-सायं सूर्यरश्मियों के प्रतिफलन से बर्फीली पहाड़ियों का रंग और निरन्तर परिवर्तित हो रहे क्षितिज के रंग को विना देखे कौन समझ सकता है? अन्त में लाचार होकर आचार्य को भाव व्यक्त करने के लिए धानी, प्याजी, करंजई, बैंगनी आदि शब्दों को प्रकृति से उधार लेकर वर्ण की अभिव्यक्ति करनी पड़ती है। किन्तु इन शब्दों का आशय हृदयङ्गम करने के पहले प्रकृति से धान-प्याज-करंज आदि के वर्ण को समझना होता है, तभी तुलना कर वस्तुस्थिति का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

यही स्थिति गति के बारे में है। त्वरित, शीघ्र, तीव्र, मंद, गुरु इत्यादि गति की विशेषताएँ सापेक्ष होती हैं। इनमें कहने में तो बहुत अन्तर ज्ञात होता है, किन्तु अनुभव करने पर निर्णय करना कठिन हो जाता है कि यह मन्द है या गुरु। इसलिए गति को समझाने के लिए प्रकृति से गति के उदाहरण संतुलन के लिए दिए जाते हैं। अमुक नाडी की गति सर्प के समान, हंस, मयूर एवं बत्तख के समान, केचुआ के समान, मेंढक के समान उछलती हुई या कपोत के समान गति वाली है। किन्तु इस वर्णन से

---

१. 'तस्य चेन्मन्ये परिमृश्यमाने न स्पन्देयाताम्, परासुरिति विद्यात्।' (च. इ. अ. ३)

ज्ञान तब तक नहीं हो सकता जब तक सर्प की गति का अनुभव हाथ से न हुआ हो, केंचुए का रेंगना न देखा हो और मयूर-तित्तिर-कबूतर को मस्ती से चलते हुए—छाती निकाल कर और हिलडुल कर—तथा मेंढक को उछलते हुए न देखा हो। प्राचीनों के वर्णन से पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रकृति के साथ समरसता तथा प्रकृतिपर्य्यवेक्षण की अपेक्षा है, केवल ग्रन्थाध्ययन एवं संभाषण से कर्णतृप्तिद्वारा विषयोपलब्धि नहीं हो सकती। रत्नों की परख विना उनकी प्रत्यक्ष परीक्षा के नहीं आती, उसकी आब तथा खोट का ज्ञान पुस्तक से नहीं होता, उसी प्रकार नाडीपरीक्षण भी प्रत्यक्ष कर्माभ्यास से ही सार्थक होता है। जिस व्यक्ति ने जितने अधिक स्वस्थ व्यक्तियों की परीक्षा की होगी, उतने ही कौशल से वह रोगी के नाडीज्ञान का उपयोग निदान में कर सकता है। क्योंकि नाडी के प्राकृतिक स्पन्द एवं गति की कोई निश्चित मर्यादा नहीं होती। नाडी की जो गति एक व्यक्ति में स्वस्थावस्था की परिचायिका होती है, वही दूसरे व्यक्ति में रोगनिदर्शक हो जाती है। यही सिद्धान्त हृदयध्वनि, श्वसनध्वनि एवं स्पर्शपरीक्षा के साथ भी लागू होता है। इसलिए इन सब का परिज्ञान करने के लिए अधिक से अधिक स्वस्थ व्यक्तियों का परीक्षण करने के उपरान्त ही रोगीपरिक्षण में प्रवृत्त होना चाहिए।

नाडी परीक्षा विधिः—नाडीपरीक्षण करते समय चिकित्सक तथा रोगी दोनों को पूर्ण निश्चिन्त, शान्त तथा सुखासन पर बैठना आवश्यक है। खड़े-खड़े मार्ग में या अन्यमनस्क स्थिति में नाडीपरीक्षण से कोई लाभ नहीं होता। चिकित्सक को अपने वाएं हाथ से रोगी का दाहिना हाथ पकड़ कर, कूर्पर संधि के पास हाथ को आधा मोड़कर, कूर्पर मध्यमा धमनी को थोड़ा दबा कर, रोगी का हाथ अपने वाएं हाथ के सहारे अन्तर्जानु स्थिति में रख कर दाहिने हाथ से अंगुष्ठमूल के एक अंगुल नीचे, मणिबन्ध संधि के पास, मणिबन्ध को उत्तान कर परीक्षा करनी चाहिए। चिकित्सक की तीन अंगुलियाँ, तर्जनी, मध्यमा तथा अनामिका क्रम से अंगुष्ठमूल से मणिबन्ध तक रहती हैं। तीनों अंगुलियाँ आपस में बहुत चिपकी हुई न हों और बहुत पृथक् भी न हों। अंगुलियों से पहले सामान्यतया नाडी की गति का अनुभव कर, थोड़ा आगे पीछे स्पर्श कर, ठीक नाडी के ऊपर रखना चाहिए। कभी-कभी प्रकृत्या नाडी का स्थान कुछ बाहर या भीतर की तरफ हट कर होता है। अतः परीक्षण प्रारम्भ करने के पूर्व साधारण स्पर्श से स्थान निर्णय कर लेना चाहिए। पुरुषों के दक्षिण हस्त तथा स्त्रियों के वाम हस्त के परीक्षण को मुख्य मानने का विधान है। किन्तु दोनों हाथों की नाडी की परीक्षा करके तब निर्णय करने से त्रुटियों की संभावना कम हो जाती है।

प्रत्येक अंगुलि से अपने-अपने स्थलों पर मृदु स्पर्श, गम्भीर स्पर्श तथा वेणुवादनवत् गुली को उठा-उठा कर परीक्षण करना चाहिए। अनामिका से बलपूर्वक दबा कर तर्जनी से स्पन्दनानुभव, इसी प्रकार मध्यमा से अनुभव एवं मध्यमा से दबाकर तर्जनी तथा अनामिका से अनुभव करना चाहिए। प्रत्येक अंगुलि से नाडी के स्पन्द का रूप मृदु-कठिन, लघु-गुरु, नियमित-त्रुटित, त्वरित-मंद आदि तथा गति, पूर्णता या रिक्तता और तीव्रता

आदि विशेषताओं का अनुभव करना चाहिए। एक बार छोड़ कर पुनः पूर्व परीक्षण की पुष्टि करनी चाहिए।

समयः—प्रातः-सायं मल-मूत्र त्याग के बाद, थोड़ा विश्राम करने के उपरान्त, नाड़ी देशकाल के प्रभाव से मुक्त और स्वाभाविक रहती है। उसी समय का परीक्षण उत्तम माना जाता है।

नाडी में स्वाभाविक परिवर्त्तनः—

१. स्वभावतः प्रातःकाल नाडी स्निग्ध, मध्याह्न में उष्ण तथा सायंकाल वेगवती होती है। मध्याह्न में तीव्रता की अधिकता, वेग की न्यूनता तथा अपराह्न में आहार का पाचन होने पर वेग की वृद्धि तथा रात्रि में पुनः वेग में कमी हो जाती है।

२. सुखी एवं निश्चिन्त व्यक्ति में तथा विश्राम के बाद नाडी स्थिर तथा सबल, दीप्ताग्नि पुरुष की नाडी मृदु तथा तेजयुक्त, क्षुधातुर की नाडी चंचल एवं भोजन के बाद स्थिर हो जाती है।

३. दुर्बल व्यक्तियों में देश—काल—आहार—विहार के अनुरूप नाडी में परिवर्त्तन अधिक हो जाता है। जो उनकी असहनशीलता का द्योतन करता है।

४. सोते समय या सोने के तुरन्त बाद, तृषा-क्षुधा से आक्रान्त होने पर, भोजन के तुरन्त बाद, शारीरिक या मानसिक श्रम, व्यायाम, तैलाभ्यंग, स्नान, धूप तथा ताप के निकट रहने के बाद, ग्राम्य धर्म के बाद, मादक द्रव्यों का सेवन करने के बाद तथा मानसिक क्षोभ, भय, शोक एवं मूर्छा के बाद नाडी का क्रम परिवर्त्तित हो जाता है। अतः परीक्षण करते समय इन बातों पर ध्यान रखना चाहिए।

५. बालक की नाडी त्वरित-स्निग्ध तथा मृदु, युवा की तीव्र-तेजयुक्त तथा पूर्ण एवं वृद्ध की नाडी मन्द-स्थिर-रूक्ष-त्रुटित-शीत तथा गुरु होती है। श्वास-प्रश्वास के साथ स्वाभाविक रूप में कभी-कभी बच्चों की नाडी का वेग घटता या बढ़ता रहता है।

६. गर्भिणी स्त्री की नाडी गुरु, मन्द तथा ऊर्ध्वमुखी होती है।

नाडी के द्वारा दोषों का ज्ञानः—

१. वायु का मुख्य प्रभाव गति पर, पित्त का नाडीस्पन्द की तीव्रता पर तथा कफ का नाडी की पूर्णता एवं गुरुता पर पड़ता है। अतः गति की तीव्रता, चपलता, वक्रता से वायु की वृद्धि; स्पन्द की तीव्रता, ऊष्मा तथा वेग से पित्तवृद्धि तथा नाडी की पूर्णता, मन्दता, गुरुता से कफ की वृद्धि का अनुमान किया जाता है।

२. तर्जनी के नीचे नाडी का जो स्पन्दन होता है, वह वातनिदर्शक; मध्यमा से अनुभूत होने वाला पित्त एवं अनामिका के नीचे का स्पन्दन कफनिदर्शक होता है। वात प्रधान स्पन्द थोड़े दबाव से लुप्त हो जाता है, पित्त प्रधान बहुत दबाव से और श्लेष्म-प्रधान लुप्त होने पर भी हाथ के नीचे कुछ सरकता सा प्रतीत होता है। यदि तीनों अंगलियों से समान दबाव नाडी पर दिया जाय तो तर्जनी से दबाव की तीव्रता स्वभावतः

सबसे कम तथा मध्यमा के द्वारा दबाव सर्वाधिक और अनामिका के द्वारा मध्यम श्रेणी का होगा। अतः परीक्षा करते समय समान बल से दबाने पर भी स्पन्दों की तीव्रता-मृदुता या मन्दता का ठीक ज्ञान हो जाता है।

३. वायु की अधिकता से नाडी की गति वक्र तथा पित्त से चपला सदृश और श्लेष्मा से स्थिर तथा स्तब्ध होती है।

४. वायु की विशेषता से नाडी की गति सर्प की गति के समान टेढ़ी-मेढ़ी, पित्त की विशेषता से मेढक की उछाल के समान तीव्र स्पन्दन युक्त तथा श्लेष्मा की अधिकता होने पर नाडी की गति बतख तथा हंस के समान मन्द-स्थिर गतिक होती है।

५. तर्जनी तथा मध्यमा के मध्य में वात-पित्त का आधिक्य होने पर, तर्जनी और अनामिका के मध्य में वात-कफ का आधिक्य होने पर, मध्यमा तथा अनामिका के मध्य में पित्त-कफ का आधिक्य होने पर नाडी अधिक स्पष्ट होती है। त्रिदोष की अधिकता होने पर तीनों अंगुलियों के नीचे सम-विषम अनुभव होता है और नाडी की गति तित्तिर के समान टिक्-टिक् चलने की सी होती है।

नाडी की स्वाभाविक गति—

स्वस्थ व्यक्ति की नाडी केंचुए की गति के समान मृदु-प्रबल स्पन्द युक्त तथा सम-भाव से अंगूठे के ऊपर की ओर गतियुक्त रहती है। आरोह-अवरोध, ताल तथा प्रवाह एक सा रहता है।

नाडीपरीक्षण के स्थान—सामान्यतया मणिबन्ध की नाडी का ही परीक्षण किया जाता है। यदि किसी कारण से वहाँ की नाडी का स्पर्श न किया जा सके, वहाँ स्पर्शलभ्य न हो, या वहाँ के परीक्षण से सन्देह हो रहा हो तो कण्ठ के दोनों तरफ मातृका धमनी, पैर में मध्य की ओर गुल्फ के निकट पादानुगा धमनी तथा शंख प्रदेश में शंखानुगा धमनी की परीक्षा पूर्वोक्त बताई हुई विधि से करनी चाहिए।

विशिष्ट व्याधियों में नाड़ी की स्थिति—१. धातुक्षय, अग्निमांद्य, मानसिक उद्वेग, चिन्ता, भय तथाबेचैनी होने पर नाडी क्षीण और मृदु होती है।

२. गुरुभोजन, अतिमात्र भोजन तथा ग्राम्यधर्म के उपरान्त नाडी मन्द तथा उष्ण होती है।

३. राजयक्ष्मा, जीर्णकास, हिक्का तथा उरस्तोय में नाडी क्षीण, तन्तुसम, अस्थिर तथा त्वरित होती है।

४. विबन्ध में नाडी में गुरुता तथा गति में वक्रता और अजीर्ण में स्पर्श में कठोरता तथा गति में मन्दता होती है।

५. श्वास में नाडी त्वरित और जोंक के समान गति वाली और संग्रहणी में उछलती हुई मण्डूक गति के समान होती है।

६. उन्माद में नाडी प्रबल, वेगयुक्त तथा वक्रगतिक होती है।

७. आमवात में नाडी गुरु, मृदु तथा तीव्र गति वाली होती है।

८. पाण्डु में नाडी मन्द, मृदु तथा क्षीण और रक्तक्षय में चंचल, तीव्र तथा सूत्रवत् होती है।

९. मन्थर ज्वर, अभिन्यास ज्वर, कोथ (gangren^) में नाडी मन्द तथा गुरु होती है।

१०. ज्वर में प्रवेगयुक्त, स्पर्श में उष्ण, वातज्वर में त्वरित एवं कठिन, पित्तज्वर में तीक्ष्णता तथा वेग का आधिक्य, श्लेष्मज्वर में वेग तथा ऊष्मा की मन्दता, वातपित्त-ज्वर में चञ्चल, स्थूल एवं कठिन, वातकफज्वर में मन्द एवं उष्ण, कफपित्तज्वर में मृदु, मंद तथा शैत्ययुक्त रहती है।

११. व्याधियों की सामावस्था में नाडी मन्दगुरु तथा कठोर, निरामावस्था में लघु, तीव्र तथा चंचल होती है।

१२. सान्निपातिक ज्वर में नाडी की गति अनियमित, मन्द, तीव्र, शिथिल, त्रुटित एवं विलुप्त होती है। कभी प्रबल, कभी क्षीण, कभी गुरु, कभी मन्द इत्यादि विषमताओं से युक्त, शरीर में उष्णता तथा नाडी में शैत्य और नाडी में उष्णता तथा शरीर में शैत्य, इस प्रकार की विषम स्थितियाँ सन्निपात की गम्भीर स्थिति का निर्देश करती हैं।

१३. शरीर में कफ का क्षय होने पर नाडी में वायु की गति के लक्षण और वायु का क्षय होने पर कफ-वृद्धि के लक्षण मिल सकते हैं। ऐसी स्थिति में कफस्थान में वात-निदर्शक नाडी तथा वातस्थान में कफवत् होने से निर्णय करना चाहिये।

१४. त्रुटित, अनियमित, सूत्रवत्, क्षीण नाडी जीवशक्ति का क्षय होने पर होती है।

१५. शरीर के ताप की वृद्धि होने पर प्रति अंश ८ से १० संख्या में प्रति मिनट नाडी की गति-वृद्धि होती है। बलवान् रोगियों एवं मन्द ज्वर में प्रायः कम परिवर्तन होता है। किसी भी स्थिति में नाडी की गति संख्या १४० से अधिक होने पर गम्भीर स्थिति समझी जाती है।

नाडी के द्वारा साध्यासाध्यता का ज्ञान—

१. सन्निपात ज्वर में यदि नाडी कभी शीत, उष्ण, सूक्ष्म, वेगवती और रुक-रुक कर चलने वाली तथा अत्यन्त तीक्ष्ण तथा शीतस्पर्श हो तो मारक होती है।

२. सद्यः प्रलाप शान्त होने पर नाडी की गति बहुत बढ़ जाय तो रोगी का जीवन केवल १ दिन शेष माना जाता है।

३. सन्निपात ज्वर में अकस्मात् रोगी के चेहरे में बहुत कान्ति उत्पन्न हो जाय, अंगुष्ठमूल में स्थिर, चलने वाली नाडी बीच-बीच में विद्युत् के समान स्पन्दित होने लगे तो रोगी दूसरे दिन शान्त हो जाता है।

४. सन्निपात ज्वर में नाडी-स्पन्द का क्रम परिवर्तित हो जाय—पहले तीव्र, मध्य में वक्र और अन्त में मन्द-गुरु नाडी चले, बीच-बीच में इस क्रम में विषमता होती रहे,

कभी-कभी अंगुष्ठ मूल से खिसक कर कूर्पर की तरफ नाडी की गति का अनुभव हो तो शीघ्र ही मृत्यु की सम्भावना समझी जाती है।

५. स्पर्श में तन्तु सदृश, कम्पयुक्त और बीच-बीच में लुप्त होकर पुनः स्पन्दित होने वाली नाडी मृत्युसूचक होती है।

६. तर्जनी के नीचे तीव्रगति नाडी और शैत्य का अनुभव तथा शरीर के पिच्छिल स्वेद से आच्छादित होने पर सप्ताह के भीतर रोगी की मृत्यु होती है।

७. नाडी में वेग और पूर्णता का बिलकुल अभाव हो, सूत्र के समान स्पन्दन का अनुभव हो, थोड़ा दबा कर देखने पर नाडी लुप्त हो जाय तो रोगी चौबीस घण्टे में मर जाता है।

८. यदि रोगी की नाडी नियमित रूप से कम से कम ३० स्पन्दन तक चले और एक मिनट में कम से कम ५० और अधिक से अधिक १६० स्पन्दन हों तो भी रोगी की प्राण-रक्षा का उद्योग करना चाहिये।

मूत्र-परीक्षा

प्रश्न—मूत्राल्पता, मूत्राघात, मूत्रावरोध, मूत्रकृच्छ, मूत्रातिसार, मूत्र की घनता, द्रवता इत्यादि के बारे में रोगी से पूछ कर ज्ञान करना चाहिये।

प्रत्यक्ष—मूत्र का वर्ण, अवक्षेप, फेन-पूय-रक्त-शर्करा की उपस्थिति, मात्रा, सान्द्रता, पिच्छिलता, द्रवता, आपेक्षिक गुरुत्व।

स्पर्श—शीत, उष्ण और दाहयुक्त, स्निग्ध, रूक्ष या क्षोभकारक।

गन्ध—साधारण मूत्रगन्ध, दुर्गन्ध, पूतिगन्ध, मत्स्यगन्ध, रक्तगन्ध, मधुर गन्धयुक्त।

रस—मधुरता अम्लता के ज्ञान के लिये चींटी-मक्खी के अपसर्पण या अधिसर्पण से ज्ञानप्राप्त करना चाहिये।

मूत्र से दोषों का ज्ञान—वातप्रधान व्याधियों में मूत्र का रंग धुंआसा मटमैला और हल्का पीला होता है। बार-बार मूत्र की प्रवृत्ति, मूत्र स्पर्श में शीत व रूक्ष होता है। मूत्रत्याग के समय रोमाञ्च, फेन तथा द्रवता की विशेषता होती है।

पित्ताधिक्य में मूत्र का वर्ण लाल अथवा गहरा पीला, दुर्गन्ध युक्त, स्पर्श में बहुत उष्ण और मात्रा में अल्प होता है।

कफप्रधान रोगों में मूत्र पानी के रंग का, चावल के मांड के समान बहुत फेन वाला, मात्रा में अधिक, स्पर्श में शीत, पिच्छिल और मधुराम्ल गन्ध वाला होता है।

वातकफ प्रधान व्याधियों में मूत्र कांजी के समान, वातपित्तज में गंदला-पीला और कफपित्तज में थोड़ा पीला और चिपचिपा होता है।

सान्निपातिक रोगों में मूत्र का वर्ण रक्तिम, कृष्ण या नीला होता है।

मूत्र की विशेष परीक्षा—रात्रि के अन्तिम प्रहर में रोगी को जगाकर मूत्रत्याग कराना चाहिये। मूत्र की प्रारंभिक धारा को छोड़कर केवल मध्यधारा का संग्रह साफ कांच की शीशी में परीक्षण के लिये करना चाहिये।

तैलबिन्दु परीक्षा-विधि—पतली तृण शलाका में एक बूंद तिलतैल लगाकर धीरे से मूत्र के ऊपर डालना चाहिये। यदि तैल मूत्र के ऊपर फैल जाय तो रोग साध्य, एक ही स्थान पर स्थिर रहे तो कष्टसाध्य और नीचे बैठ जाय तो असाध्य माना जाता है। यदि तैलबिन्दु के अनेक टुकड़े होकर फैल जायें, और देखने पर श्याम या रक्तवर्ण के दिखाई पड़ें तो वायु की विशेषता और यदि तैलबिन्दु पानी के बुलबुले के समान हो जाय तो पित्त का प्रकोप और बिना फैले हुए कुछ और गाढ़ा सा दिखाई दे तो कफ का प्रकोप समझना चाहिये।

त्रिपात्र परीक्षा—शोणितमेह में मूत्र किस अंग से आता है, इसका अनुमान करने के लिए यह परीक्षा की जाती है। मूत्र की राशि कांच के साफ शंक्वाकार ३ पात्रों में रखी जाती है। प्रारंभिक मूत्र पहले पात्र में, मध्य की धार दूसरे पात्र में तथा शेष तीसरे पात्र में रखते हैं। मूत्र में रक्त की राशि अधिक होने पर उसका रंग क्रम से लाल, गहरा लाल या आलक्तक वर्ण का होता है। मूत्र में रक्त की साधारण राशि होने पर उसका वर्ण धुंआ के समान या अगुरु के सदृश होता है। अत्यल्प राशि होने पर रक्त की उपस्थिति से प्रायः मूत्र के वर्ण में कोई परिवर्त्तन नहीं होता, सूक्ष्मदर्शक या रासायनिक परीक्षाओं से ही उसकी उपस्थिति का ज्ञान किया जा सकता है।

त्रिपात्र परीक्षा के द्वारा, रक्त की अधिक मात्रा मूत्र के साथ मिले रहने पर, वर्ण परिवर्त्तन के आधार पर शोणित मेह के उद्भवस्थल का निर्णय किया जाता है। जब प्रथम पात्र में मूत्र के वर्ण से शोणित मेह का अनुमान हो रहा हो और दूसरे तथा तीसरे पात्रों का मूत्र स्वच्छवर्ण का हो तो मूत्रस्रोत से रक्त निर्गमन समझा जाता है।

प्रथम तथा तृतीय पात्र में शोणित मेह का अनुमान हो और दूसरे पात्र का मूत्र अपेक्षाकृत स्वच्छ हो तो अष्ठीला विकृतिजन्य रक्त निर्गमन समझना चाहिए। जब रक्त तीसरे पात्र में अधिक हो और प्रथम दो पात्रों में मूत्र बहुत कुछ स्वाभाविक वर्ण का हो तो बस्तिविकारजन्य विकृति का अनुमान करना चाहिए।

तीनों पात्रों में शोणित मेहजन्य मूत्र का वर्ण-परिवर्त्तन एक समान होने पर रक्त-स्राव वृक्क से हुआ है, ऐसा समझना चाहिए।

विशिष्ट व्याधियों में मूत्रगत परिवर्तन—सन्निपात ज्वर में मूत्र धूम्रवर्ण, रक्तवर्ण, कृष्णवर्ण का और फेनिल तथा कभी-कभी चित्र-विचित्र वर्ण का हो जाता है।

वातपित्त ज्वर में मूत्र का वर्ण श्वेत या रक्तिम, वातकफ ज्वर में मूत्र पिच्छिल, घन तथा श्वेत वर्ण का और पित्तकफ ज्वर में मूत्र कटु तैल के समान होता है।

पाण्डु-कामला और पैत्तिक व्याधियों में मूत्र हरा, पीला तथा हरिद्रा के वर्ण का

क्षयरोग में मूत्र के वर्ण का श्याम या कदाचित् दूध के समान सफेद हो जाना असाध्य अवस्था का द्योतन करता है।

बस्तिविकार, वृक्कविकार तथा हृदय के विकारों में मूत्र मांस के धोवन के समान रूप-रस-गन्ध वाला होता है।

मूत्र में रक्त होने पर इसका वर्ण धुंआ के समान, पित्त होने पर गहरा पीला और रक्त में अम्लता बढ़ने पर पीला लाल, तैलाक्त सा होता है।

सूतिका रोग में मूत्र का निचला अंश काला और ऊपर का बुद-बुदयुक्त पीला होता है।

सामज्वर में मूत्र अम्ल गन्धवाला, चिकना, मात्रा में अधिक और निराम ज्वर में ईख के रस के समान गाढ़ा तथा जीर्णज्वर में बकरी के मूत्र के समान तीव्र गन्ध वाला होता है।

पूयमयता की जीर्णावस्था में मूत्र में पतले सूत्र से दिखाई पड़ते हैं। शुक्रमेह में शौच के उपरान्त मूत्र मार्ग से पिच्छिल स्राव होता है। आम रस का अधिक निर्माण होने पर अथवा श्लीपद रोग की कुछ अवस्थाओं में मूत्र का रंग दूध के समान होता है। अश्मरी, अष्ठीला और बस्तिदाह में मूत्र कष्ट के साथ, बूंद-बूंद, प्रायः रक्तमिश्रित होता है।

अजीर्ण में मूत्र अल्पमात्रा में दुर्गंधियुक्त, पीले रंग का होता है। आहार में घृत का अधिक उपयोग करने के कारण अजीर्ण उत्पन्न होने पर मूत्र तैल के समान चिकना-गाढ़ा तथा दुर्गंधयुक्त और नीला होता है।

मूत्राशय शोथ या वृक्कशोथ, गवीनी मुखशोथ आदि विकृतियों के कारण मूत्र में पूय की उपस्थिति होने पर मूत्र दुर्गंधित होगा तथा उसमें तागे के समान सूत्र से विकीर्ण रहेंगे। मूत्राशय या मलाशय में अन्तर्विद्रधि होकर नाडीव्रण बन गया हो या आघात आदि के कारण बस्ति और मलाशय के भीतर आरपार छेद हो गया हो तो मूत्र में मल की गंध तथा क्वचित् मल का कुछ अंश भी मूत्र के साथ घुलकर निकल सकता है। मूत्रातिसार से मूत्र पानी के समान स्वच्छ तथा विशेष परिमाण में बार-बार होता है।

मूत्रनिदान में सावधानी—ग्रीष्म में मूत्राल्पता, हेमन्त में मूत्रराशि और वर्षा में मूत्र की द्रवता बढ़ जाती है। इसलिये मूत्र परीक्षण करते समय ऋतु-देश-काल का ध्यान रखना चाहिये। प्रातःकाल मूत्र का वर्ण सफेद, मध्याह्न में पीत, सायंकाल धूमिल या मटमैला स्वभावतः होता है।

मांसाहार, गुरु, लवण और मसालेदार भोजन करने से मूत्र में दाह, मात्रा में कमी आदि लक्षण हो सकते हैं। कुछ औषधियों का उत्सर्ग मूत्र के द्वारा होने के कारण मूत्र में उनका वर्ण या गन्ध उपस्थित होने पर व्याधि का सन्देह न करना चाहिये।

विशिष्ट रासायनिक परीक्षाओं द्वारा मूत्र में शुक्ति (albumin) भास्वीय रक्त पित्त तथा उसके लवण (bile pigments & bile salts).

शर्करा, पूय, प्रथम शुक्त (acetone), अम्ल, लवण, क्षार तथा स्वास्थ्य एवं व्याधि की अवस्था में प्राप्य सभी धातुविषों का परीक्षण करना चाहिए। सूक्ष्मदर्शक यंत्र की सहायता से मूत्रशर्करा, सूक्ष्मकण, धातुकोष एवं जीवाणुओं आदि का परीक्षण किया जाता है। आवश्यकता एवं साधन होने पर जीवाणुओं की विशेष परीक्षा के लिए सम्बर्द्धन एवं प्राणिक्षेपण (culture & animal inoculation) आदि किया जा सकता है।

मल परीक्षा

प्रश्न—मलोत्सर्जन का समय, संख्या, मात्रा, कुंथन, प्रवाहण या वेदनायुक्त उत्सर्ग, अपानवायु का निकलना, मलत्याग के समय फट-फट की आवाज, थोड़ा निकल कर पुनः रुक जाने का कष्ट, मलोत्सर्जन की इच्छा होने के बाद शौच जाने पर गुदा की स्तब्धता, कण्डू, जलन, विदार इत्यादि मलोत्सर्जन सम्बन्धी प्रश्नों को रोगी से पूछ कर जानना चाहिये।

दर्शन—वायु की विशेषता होने पर मल का वर्ण काला और रूक्ष होता है। पित्ताधिक्य होने पर गहरा पीला और पित्त का अभाव होने पर धूसर वर्ण का होता है। कफाधिक्य में मल पिच्छिल और वर्ण कफ के सदृश होता है।

मल का वर्ण पित्त की मात्रा पर निर्भर करता है। यकृत् की दुर्बलता या पित्तवाहिनी के अवरोध के कारण पित्त का स्राव महास्रोत में कम परिमाण में पहुँचने पर मल का वर्ण हल्का पीला, पित्त का अभाव होने पर मिट्टी के रंग का पाण्डुर तथा पित्त की मात्रा अधिक होने पर मल का वर्ण गहरा पीला होता है। आहार के अनुसार भी मल का वर्ण बदलता रहता है। दुग्धाहार में मल का वर्ण हल्का पीला, मटमैला या सफेद सा होता है। मांसाहार से मल गहरा पीला या लाल रंग का तथा आहार में पत्ती-शाक आदि की मात्रा अधिक होने पर हरा-काला होता है। ओषधि रूप में लौह-मण्डूर आदि का सेवन करते रहने पर मल काले रंग का तथा रस पुष्प लेने पर हरे रंग का होता है।

स्वरूप—गांठदार, बंधा हुआ, पतला, आमयुक्त, श्लेष्मायुक्त, रक्तयुक्त, क्रिमियुक्त, पूययुक्त, पानी के समान द्रव, फटे दूध के समान और चावल के पानी के समान आदि अनेक रूपों का मल हो सकता है। इनका प्रत्यक्ष परीक्षा द्वारा निर्णय करना चाहिये।

गन्ध—मल की साधारण गन्ध, दुर्गन्ध, पूतिगन्ध आदि का ज्ञान रोगी से पूछ कर करना चाहिये। अजीर्ण, मांसाहार और पित्त की न्यूनता के कारण मल में दुर्गन्ध होती है। अतिसार, श्लेष्म प्रवाहिका और उदर में अपानवायु का संचय होने पर मल में दुर्गन्ध बढ़ जाती है।

साम-निराम मल की परीक्षा—मल में आमदोष की अधिकता होने पर पानी में डालने पर मल डूब जाता है। निराम मल पानी के ऊपर तैरता रहता है। कभी-कभी मल अधिक मात्रा में होने के कारण, निराम होने पर भी, पानी में डूब सकता है। अतिद्रव होने पर आम मल भी जल में तैरता है, शीत एवं श्लेष्म दूषित होने पर

मल के द्वारा दोषों का ज्ञान—वातप्रकोप के कारण मल श्याम-अरुण वर्ण का, रूक्ष, झागदार, सूखा, गांठदार और धुंये के रंग का होता है।

पित्ताधिक्य से हरा-पीला, पतला और उष्ण तथा दुर्गन्धित होता है।

कफाधिक्य से मल सफेद रंग का ढीला-चिकना और मात्रा में अधिक होता है।

सान्निपातिक स्थिति में मल अतिदुर्गन्धयुक्त और मयूरचन्द्रिका के समान कृष्ण वर्ण का चमकदार हो तो आंत्रगत रक्तस्राव समझना चाहिये।

विशेष व्याधियों में मल की स्थिति—आमातिसार में मल आमांशयुक्त, पिच्छिल बदबूदार, किञ्चित् रक्त से युक्त तथा थोड़ा-थोड़ा बार-बार प्रवाहण एवं कुन्थन के साथ।

अतिसार में मल पतला, प्रायः रक्त मिश्रित अथवा पीले रंग का बदबूदार।

ग्रहणी में मल अपक्व, मात्रा में अधिक, विशिष्ट वातिक-पैत्तिक एवं कफज लक्षणों से युक्त, प्रायः पिच्छिल, फेनिल और स्निग्ध होता है। अर्श में मल पतला, त्रिधारा स्नुही के समान तीन धारियों वाला या अर्शांकुरों की संख्या के अनुपात में पतला या धारीदार होता है। रक्तार्श के कारण रक्त मल के ऊपर चिपका हुआ या मल के अन्त में आता है। पित्तावरोधजन्य कामला में मल तिल की खली के समान सफेद रंग का होता है।

अजीर्ण में मल दुर्गन्धयुक्त, झागदार, पतला तथा आहार के अनुरूप हरा-पीला या मांस के धोवन के समान होता है।

आंतों में व्रण हो जाने के बाद कोथ हो जाने पर मल में सड़े हुए मांस की सी दुर्गन्ध होती है।

प्रदीप्त अग्नि वालों का मल पीले रंग का बँधा हुआ, मन्दाग्नि वालों का पतला-चिकना तथा बदबूदार और मलावरोध होने पर शुष्क-गांठदार तथा काले रंग का होता है।

जिह्वा परीक्षा

प्रत्यक्ष—जिह्वा की आकृति और पृथुलता, क्षीणता, वर्ण, व्रण, शुष्कता, आर्द्रता, मललिप्तता, क्षत, विस्फोट इत्यादि की परीक्षा करने के लिए जिह्वा को मुख से बाहर जितना निकल सकती है, निकलवा कर सुप्रकाशित स्थान में देखना चाहिये।

वायु के दोष से जिह्वा रूक्ष, फटी-फटी सी और हरिताभ होती है।

पित्ताधिक्य से रक्तवर्ण की, विस्फोटयुक्त या विदारयुक्त होती है।

कफाधिक्य से जिह्वा आर्द्र, श्वेतवर्ण की, मललिप्त और पिच्छिल स्राव से आच्छादित होती है।

त्रिदोष दुष्टि में जिह्वा खुरदरी, जली हुई सी काली और गाय की जिह्वा के समान अङ्कुरयुक्त होती है।

शुष्क जिह्वा—विषमज्वर, मंथरज्वर, वातज्वर, सान्निपातिक ज्वर तथा दूसरे औपसर्गिक ज्वरों की विषमावस्था में जिह्वा शुष्क हो जाती है। परम ज्वर अथवा किसी दूसरे कारण से शरीर में जलीयांश की कमी होने के कारण जिह्वा शुष्क और

और गम्भीर उदर व्याधियों में जिह्वा बहुत सूखी होती है। मद्य-पान और धतूरे का सेवन करने के बाद जिह्वा की शुष्कता-रूक्षता बहुत बढ़ जाती है। संक्षेप में जिह्वा की शुष्कता एक गम्भीर लक्षण है जो शरीर में दूषी विषों का या औपसर्गिक विषों का अधिक मात्रा में संचय होने पर, जीवनीय शक्ति का ह्रास होने पर और रक्त में अम्लता की वृद्धि तथा जलीयांश कम होने पर होता है। कभी-कभी गम्भीर व्याधि के विना भी नासावरोध या अन्य किसी कारण से नाक से सांस न ले सकने के कारण मुंह से श्वास-प्रश्वास लेने पर जिह्वा शुष्क हो जाती है।

मल-लिप्तता—कोष्ठबद्धता, आमाशय-प्रदाह, कामला, श्लेष्मोल्वण सन्निपात, मंथर ज्वर, विषम ज्वर तथा अजीर्णमूलक व्याधियों में जिह्वा का ऊपरी पर्त मल से आवृत्त रहता है। मंथर ज्वर में जिह्वा का प्रान्त भाग रक्तवर्ण का दानेदार होता है। बहुत दिन लङ्घन करने पर भी, जब तक आमदोष का पाचन नहीं होता, जिह्वा मललिप्त रहती है। दुग्धाहार में भी जिह्वा के ऊपर मल की तह जमी रहती है। धूम्रपान व मद्यपान के बाद भी जिह्वा मलावृत हो सकती है। कुछ लोगों की जिह्वा स्वभावतः मललिप्त तथा कुछ में ऊपर लिखित व्याधियों में भी निर्मल रहती है।

विवर्णता—रक्ताल्पता में जिह्वा का वर्ण श्वेत और अंकुश कृमिजन्य पाण्डुता में वर्ण मटमैला और काले धव्वों से युक्त होता है। कामला में जिह्वा का वर्ण हल्के पीले रंग का तथा आमाशयप्रदाह, प्रशीताद व मुखपाक में जिह्वा रक्तवर्ण की व्रणयुक्त होती है। सन्निपात ज्वर, राजयक्ष्मा, मंथर ज्वर व श्लेष्मोल्वण सन्निपात की गम्भीर स्थिति में, दुष्ट कामला और रक्तस्रावी व्याधियों में, जिह्वा नीली-काली इत्यादि अस्वाभाविक वर्णों की हो जाती है। विषैले द्रव्यों का सेवन करने के बाद भी जिह्वा का वर्ण नीला या काला हो जाता है।

जिह्वा-कम्प—तीव्र ज्वर, अन्तर्क्षत व कम्पवात तथा शरीर का बल क्षय करने वाली जीर्ण व्याधियों में जिह्वा का कम्प होने लगता है। पुराने मद्यपी रोगियों में भी जिह्वा-कम्प मिलता है।

क्षत, विस्फोट एवं विदार—अपस्मार में जिह्वा में क्षत के चिह्न मिल सकते हैं। मुखपाक, प्रशीताद, आमाशय प्रदाह, कामला तथा यकृत्दुष्टि, अम्लपित्त, उपदंश, मदात्यय, मधुमेह, शुष्ककास इत्यादि व्याधियों में जिह्वा में व्रण और विस्फोट हो जाते हैं। संग्रहणी में जिह्वा के ऊपर बहुत सी आडी-तिरछी रेखायें बनकर जिह्वा में विदार पैदा करती हैं। जीर्ण यकृत् विकृतियों में भी यह स्थिति देखी जाती है। घातक पाण्डु, संग्रहणी या पित्तक्षयजन्य व्याधियों में जिह्वा चिकनी, मांसाकुरहीन तथा पतली हो जाती है।

जिह्वा की आकृति—पक्षवध में जिह्वा वाहर निकालने पर विकृत पार्श्व की ओर तिरछी रहती है। अंगवात की कुछ व्याधियों में रोगी जिह्वा ओष्ठ के बाहर नहीं

शब्द-परीक्षा

रोगी के स्वाभाविक शब्द के बारे में कुटुम्बियों से पूछकर ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। वाताधिक्य में शब्द क्षीण, अस्पष्ट, असम्बद्ध तथा त्रुटित या निरन्तर होता रहता है अथवा अधिक बोलने की प्रवृत्ति होती है। पित्ताधिक्य में शब्द स्पष्ट, तीव्र तथा कटु होते हैं। कफाधिक्य में शब्द स्तब्ध तथा घर्घराहट युक्त होता है। तालु-निपात तथा नासा एवं गले में ग्रन्थियुक्त विकृति हो जाने पर और उपदंश में तालु विदार हो जाने पर मिन-मिन स्वर होता है। उरस्तोय, श्लेष्मोल्वण सन्निपात, पार्श्वशूल, श्वास और औदरिक तीव्र व्याधियों में रोगी व्यथापूर्वक या कराहते हुए बोलता है। कण्ठशोथ, स्वरयन्त्रशोथ, प्रतिश्याय, क्षय, उपदंश आदि के द्वारा स्वरयन्त्र की विकृति होने पर शब्द जकड़ा हुआ सा निकलता है। पक्षवध और अर्दित में शब्द-विकृति होती है अथवा उसका निनाद बहुत क्षीण हो जाता है। जिह्वागत अंगघात में स्पष्ट शब्दोच्चारण नहीं होता। जीर्ण व्याधियों के कारण अथवा अधिक रक्तस्राव हो जाने पर स्वर बहुत क्षीण हो जाता है। रोहिणी और तुण्डिकेरीशोथ में शब्द कठिनाई से निकलता है। अभिन्यास, तन्द्रिक ज्वर और सन्निपात ज्वरों की विषम स्थिति में रोगी अस्पष्ट और अपूर्ण ध्वनि करता है। औपदंशिक वातिक विकृति में ध्वनि भारी तथा जिह्वामूलीय व तालव्य ध्वनियों से रहित होती है।

बहुत बेचैनी होने पर रोगी का स्वर आर्त्त-दीन-क्षीण और ग्रस्त या जकड़ा हुआ होता है। स्वरों में सहसा परिवर्तन होना अशुभ लक्षण माना जाता है।

स्पर्श-परीक्षा

स्पर्श के द्वारा मृदुता, कठोरता, रुक्षता, स्निग्धता, खरता, श्लक्ष्णता, स्पन्दता, शीतोष्णभाव इत्यादि की परीक्षा की जाती है।

वाताधिक्य होने पर शरीर शुष्क-रुक्ष और शीतल, पैत्तिक में खर स्पर्श और उष्ण, कफाधिक्य में स्निग्ध-शीतल और श्लक्ष्ण ज्ञात होता है। शरीर में कहीं शैत्य, कहीं उष्णता, कहीं रुक्षता, कहीं स्निग्धता इत्यादि विषम स्पर्श होने पर त्रिदोषज व्याधि का अनुमान करना चाहिये।

विधि—स्पर्श करने के पूर्व चिकित्सक को अपने हाथ का परीक्षण करके स्पर्श-ग्रहणशक्ति, दाह, शैत्य इत्यादि का ज्ञान कर लेना चाहिये अर्थात् चिकित्सक का स्पर्श-ज्ञान निर्दुष्ट और हस्तादिक अंग दाह से रहित होने चाहिये। रोगी के शरीर का परीक्षण मस्तक से लेकर पादतल तक क्रम से करना चाहिये। स्पर्श करते समय आगे निर्दिष्ट परिवर्तनों पर ध्यान देना चाहिये:—वक्ष-निःश्वास-जिह्वा और दूसरे हमेशा उष्ण रहने वाले अंगों की शीतता, स्पन्दनयुक्त अंगों की अस्पन्दता, मृदु अंगों की कठोरता, श्लक्ष्ण अंगों की खरता, स्वाभाविक प्रत्यङ्गों की उपस्थिति-विकृति या वृद्धि, संधिभग्न, संधिभ्रंश,

और दूसरे प्राकृतिक भाव जिनमें कुछ भी विकृति हो गई हो, उनका सूक्ष्म निरीक्षण करते हुये, रोगी के सारे शरीर की स्पर्शग्रहण शक्ति की परीक्षा करनी चाहिये।

रूक्षता वर्धक व्याधियाँ—पाण्डु, कामला, वातिक ज्वर, श्लीपद, अवटुका की हीन क्रिया से उत्पन्न श्लैष्मिक शोफ (myxoedema), जीवतिक्ति ए की कमी तथा ग्रहणी।

त्वचा के रोग—यथा गजचर्म, विचर्चिका, कण्डू, कुष्ठ इत्यादि।

स्निग्धता—मेदोवृद्धि, मधुमेह, पौष्टिक भोजन, आमवात, कफज शोफ, वृक्करोग।

शैत्य—स्वेदाधिक्य, शीताङ्ग सन्निपात, अन्तर्वेगज्वर, वातबलासक, वृक्कजन्य शोफ, पाण्डुता, रक्तक्षय और निपात, मद्यसेवन के बाद, पित्तक्षयजन्य व्याधियाँ, ग्रहणी, कृमिरोग, मेदोवृद्धि।

उष्णस्पर्श—ज्वर, दाह, कामला, यकृत् की व्याधियाँ, राजयक्ष्मा, गुरु भोजन, व्यायाम, उष्णाभिताप।

कठोरता—ग्रंथि, अर्बुद, वातिक शोथ, धनुर्वात, अभिन्यास, आक्षेपक, स्तब्धतायुक्त अंगघात (spastic paralysis)।

शिथिलता—मूर्च्छा, निपात, पक्षवध, क्षीणता, सर्वाङ्गशोफ, मेदोवृद्धि, तन्द्रा।

नेत्र-परीक्षा

यहाँ पर नेत्र के स्वतंत्र रोगों एवं उनकी परीक्षा-प्रणालियों का वर्णन नहीं होगा। केवल सार्वदेहीय व्याधियों का नेत्र पर प्रभाव और तद्विषयक नेत्रपरीक्षण ही बताया जायगा।

दोषानुसार नेत्रगत विशेषताएँ—वाताधिक्य से नेत्र धूम्रवर्ण, अरुणवर्ण, रूक्ष, शुष्क और कण्डू एवं वेदनायुक्त, जलस्रावी, भीतर धँसे हुए और स्तब्ध से ज्ञात होते हैं।

पित्ताधिक्य से रक्त-हरित या हारिद्र वर्ण के, दाह युक्त, उष्ण नेत्रस्राव युक्त तथा प्रकाशद्वेषी होते हैं।

कफाधिक्य से नेत्रों का वर्ण धवल, उनमें अश्रुओं की अधिकता तथा स्निग्ध, तेजहीन, कण्डूयुक्त और शोफयुक्त होते हैं।

त्रिदोषज विकृति में नेत्र प्रायः नेत्रकोटर में धँसे हुए, तीनों दोषों की विशेषता से युक्त-स्राव वाले और कनीनक प्रान्त से निरन्तर अश्रुस्राव होता रहे, इस प्रकार की स्थिति वाले होते हैं। इसके अतिरिक्त नेत्रों का वर्ण प्रायः काला या आरक्त तथा पलकें भारी और तन्द्रिल सी रहती हैं।

सामान्यतया नेत्रों की निम्नलिखित विकृति गम्भीरता निदर्शक मानी जाती है:—

बहुत बाहर की ओर निकले हुए, भीतर की तरफ धँसे हुए, अतिकुटिल, अति-विषम, निरन्तर अव्यवस्थित गति युक्त, अत्यधिक स्राव युक्त, निरन्तर बन्द या खुले हुए अथवा उन्मेष-निमेष युक्त, विभ्रान्त दृष्टि युक्त, मिथ्या दृष्टि युक्त, अकस्मात् दृष्टि-क्षय युक्त, केवल शुक्ल या कृष्ण वर्ण ही देखने वाले सार्वदेहीय गम्भीर व्याधियों में ही होते हैं। सारे नेत्रमण्डल में कृष्ण, पीत, नील, श्याव, ताम्र, हरित, हारिद्र और शुक्ल वर्णों की अतिव्याप्ति सद्यःघाती व्याधियों में ही होती है।

नेत्रपक्ष्म जटाबद्ध हों, यह स्थिति भी अरिष्ट संज्ञक मानी जाती है।

सार्वदैहिक व्याधियों के द्वारा नेत्र में व्यक्त होने वाले प्रमुख लक्षण निम्न कोष्ठक में व्याधिनिर्देश के साथ संग्रहीत हैं:—

लक्षण	स्वरूप	सम्भाव्य व्याधियाँ
वर्त्मघात	नेत्रवर्त्म पूरी तरह बन्द नहीं होता, नेत्र से निरन्तर अश्रुस्राव होता रहता है। अथवा नेत्र बन्द रहता है, वर्त्मोन्मीलन नहीं होता।	अर्दित, पक्षवध, रोहिणीजन्य अंगघात।
नेत्रगोलक:— गति या नेत्रचलन	एकाग्र होकर किसी वस्तु को देखने पर नेत्रगोलक चंचल या आन्दोलित बना रहता है।	१. धमिल्लकीय, तुम्बिकाधारीय, उष्णीषकीय तथा सुषुम्ना एवं सुषुम्नाशीर्ष के रोग। २. नेत्रचालक नाडी का अंगघात।
नेत्रगोलक का बाह्योत्कर्ष:—	नेत्रगोलक बाहर उभड़े हुए होते हैं, नेत्रवर्त्म नेत्र बन्द रहने पर भी आपस में नहीं मिलते।	१. अनन्तवात, सर्वांगशोफ, करोट्यन्तरीय द्रवनिपीड की अधिकता। २. परमावटुकग्रन्थिकता।
नेत्रगोलक कोटरान्तर प्रविष्ट	नेत्रगोलक नेत्रकोटर में भीतर धँसे और निस्तेज हो जाते हैं।	शरीर में जलीयांश की कमी, धातुक्षय, रक्तस्राव, तीव्र विषमयता।
द्वितय-दृष्टि	रोगी को एक ही वस्तु दो पृथक् पृथक् दिखाई पड़ती है।	नेत्रचालक नाड़ी का अंगघात होने पर अन्तर्तिर्यग् दृष्टि तथा द्वितय दृष्टि होते हैं।
कनीनक:— १. कनीनकाभिस्तीर्णता	कनीनक अस्वाभाविक रूप में विस्फारित हो जाता है।	तारामण्डल के अभिलाग, अत्यधिक चिन्ता, परमावटुक ग्रंथिकता, एट्रोपीन का नेत्र में स्थानीय प्रयोग।
२. कनीनकसंकोच	कनीनक का आकार संकुचित।	मस्तिष्क सुषुम्ना फिरंग, अहिफेनी विषाक्तता, धमनी जरठता, इसेरीन (esserine) का नेत्र में स्थानीय प्रयोग।
३. विषमकनीनक	दोनों ओर की कनीनिका के आकार में विषमता।	फिरंग, वातनाड़ी विकृति, तारामण्डल शोथ, मस्तिष्कगत अर्बुद, सुषुम्ना कुल्याभिस्तीर्णता।
४. अनियन्त्रित कनीनक	कनीनक का आकार प्रकाश अंधकार में अनियन्त्रित रहता है।	तारामण्डल अभिलाग, फिरंग, मस्तिष्क शोथ।

दृष्टिविभ्रम के उदाहरण—आकाश को पृथ्वी के समान ठोस और पृथ्वी को आकाश के समान शून्यवत् देखने वाला, रूपहीन वायु के प्रवाह का क्षिजित में दर्शन करने वाला, प्रज्वलित अग्नि को न देख सकने वाला व्यक्ति शीघ्र मृत हो जाता है। जो रोगी प्रकृतिस्थ अग्निशिखा को निष्प्रभ, कृष्ण या श्वेतवर्ण की देखे अथवा रात्रि में सूर्य, दिन में चन्द्रमा या बिना अग्नि के धूमोत्पत्ति देखे या रात्रि में उसे अग्नि की ज्वाला निष्प्रभ दिखाई पड़े, वह व्यक्ति शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त होता है।

नेत्रदृष्टि जिस व्यक्ति की अकस्मात् नष्ट हो गई हो वह भी प्रेतवत् माना जाता है।

जो व्यक्ति तीव्र दृष्टि से केवल एक ही ओर निर्निमेष निरीक्षण करे, वह तीन दिन में मर जाता है।

आकृति—धनुर्वात में आकृति विकट हास्ययुक्त, अभिन्यास, मन्थर एवं तन्द्रिक ज्वर में आकृति से वेदना, क्लान्ति, अरति और क्षीणता की अभिव्यक्ति; पाण्डु में पाण्डुर गौरवर्ण किञ्चित स्वास्थ्यकर आकृति; उच्च रक्त निपीड में कपोल एवं कर्णपाली की रक्तिमा; मदात्यय में गुलाबी कपोल; सन्निपात में नेत्र भुग्न, उन्मीलित या निमीलित, अधरोष्ठ लटके हुये; पक्षवध व अर्दित में विकृत पार्श्व का ओंठ निःश्वास के साथ दूर तक खिंच जाता है तथा पुनः भीतर की ओर मिंच जाता है, एक तरफ के नेत्र उन्मीलित दूसरी ओर के निमीलित रहते हैं। श्लेष्मोल्वण सन्निपात में नेत्र कान्तिमान, कपोल अरुणाभ तथा ओष्ठ पर विसर्प के से विस्फोट होते हैं। विसूचिका, अतिसार एवं प्रवाहिका में जलीयांश का अधिक नाश हो जाने पर नेत्र अन्दर की ओर धँसे हुए, निमीलित अवस्था में भी नेत्रवर्त्म असम्पृक्त, दृष्टि तेजहीन, शंखप्रदेश गर्तयुक्त, अधरोष्ठ खुल तथा लटका हुआ होता है।

अनुमान-परीक्षा

अग्नि का परीक्षण जारण शक्ति के आधार पर, बल का व्यायाम शक्ति के आधार पर, सात्म्यासात्म्य-प्रकोप-प्रशम के द्वारा दोष-दूष्य का अनुमान, विषयोपलब्धि के द्वारा इन्द्रियों का परीक्षण, सद्-असत् विवेक, क्रोध, शोक, हर्ष, प्रीति, भय, धैर्य, श्रद्धा, मेधा, स्मृति, लज्जा, शील, द्वेष इत्यादि मनोभावों के द्वारा मन की स्वस्थावस्था का अनुमान करना चाहिये। पूर्ण आहार लेने पर भी शरीर का उपचय न हो रहा हो तो धात्वग्नि की दुर्बलता का, अल्प आहार लेने पर अधिक मलप्रवृत्ति हो तो आमदोष के संचय का, क्षुधा–तृष्णा–बहुमूत्रता और बलक्षय के द्वारा मधुमेह एवं ओजक्षय का अनुमान करना चाहिये।

षडंग-परीक्षा

शिरोग्रीवा

शिर—

प्रश्न—शिरोवेदना, भ्रम, स्वप्न, निद्रा, तन्द्रा, भ्रम, आवर्त्त, स्मृति, बुद्धि, मनोव्यथा, मिथ्याज्ञान, प्रलाप, मूर्च्छा, तेज, कान्ति, हर्ष, विषाद इत्यादि भावों की अभिव्यक्ति, अपस्मार, उन्माद, गदोद्वेग तथा ज्ञानेन्द्रियों के विषयों की सामान्य उपलब्धि।

प्रत्यङ्ग—दर्शन—मस्तक, केश, ललाट, नासा, कर्ण, नेत्र, मुख आदि सभी प्रत्यङ्गों की परीक्षा बहुत सावधानी से करते हुए निम्न विषयों का निरीक्षण करना चाहियेः—

अभिघात के चिह्न, विवर्णता, ग्रन्थि, अर्बुद, शिर की आकृति, केशों की स्निग्धता-रूक्षता-निबद्धता, खालित्य, पालित्य, ललाट का उभाड़-निम्नता, शिराधमनीविस्फार आदि ।

नासा—दुर्गन्ध, क्षवथु एवं गन्धग्रहण शक्ति की जानकारी प्रश्न और मृदु गन्ध वाले पदार्थों को सुंघा कर करनी चाहिये । प्रतिश्याम, नासार्श, नासार्बुद, नासाभ्रंश, अपीनस आदि प्रमुख नासागत व्याधियों की विशेष परीक्षा करनी चाहिये । निःश्वास-प्रश्वास के समय नासापुटक विस्तार श्वासकृच्छ्रता का द्योतन करता है ।

कर्ण—कर्णनाद, कर्णशूल, श्रवण शक्ति की परीक्षा—दूर, निकट तथा अतिसानिध्य से ध्वनि उत्पन्न कर रोगी की श्रवणशक्ति की परीक्षा करनी चाहिये ।

कर्णश्राव, कर्णमूलिक शोथ तथा कर्णविद्रधि आदि विकृतियों की परीक्षा, कर्णपाली की विकृतियों और कर्ण की आकृति की परीक्षा करनी चाहिये ।

नेत्र—नेत्रवेदना, दृष्टि-शक्ति, तिमिर, लिङ्गनाश, अनन्तवात, श्लेष्मविदग्ध-दृष्टि, पित्तविदग्ध-दृष्टि, वातहतवर्त्म, अलजी, वर्त्मशोफ, कामला, कण्डू आदि के कारण नेत्रों में परिवर्त्तन तथा नेत्रों का बाहर निकलना, भीतर धसना, मललिप्तता, उन्मीलन-निमीलन की शक्ति, नेत्रगत रक्तस्राव का परिज्ञान ।

मुख—विदार, व्रण, विस्फोट, वर्णविपर्यय और विकृत भावों की अभिव्यक्ति ।

ओष्ठ—परिसर्प, शुष्कता, विदार, व्रण, श्यावता, पाण्डुता, शोथ और पृथुलता, खण्डौष्ठ तथा विस्फोट आदि ।

दन्त तथा दन्तवेष्ठ—दन्तशूल, कृमिदन्त, पूयदन्त, प्रशीताद, रक्तस्राव, विद्रधि, दन्तक्षय, स्थायी-अस्थायी दन्त तथा उनकी संख्या, दन्तशर्करा, विवर्णता, दन्तरचना ।

जिह्वा—स्वादग्रहण शक्ति, स्वाद, रूक्षता, खरता, शुष्कता, आर्द्रता, वर्ण, व्रण, विदार, जिह्वा की गति और पुष्टता आदि ।

तालु—वर्ण, व्रण, छिद्र, विस्फोट, शोथ, पूयस्राव ।

गल-विवर—स्वरभंग, निगलने की क्रिया, खराश का अनुभव, विस्फोट, शोथ, विद्रधि का परिज्ञान तथा ग्रसनिका, तोरणिका, गलशुण्डिका, कण्ठशालूक, स्वरयंत्र इत्यादि गल-विवरगत अंगों की विशेष परीक्षा, आकार, शोथ, पूयोत्पत्ति इत्यादि दृष्टियों से करनी चाहिये ।

ग्रीवा—निगलने की क्रिया के समय ग्रीवा की स्थिति, विवर्णता, ग्रीवा पार्श्वगत स्पन्दन (मन्या और मातृकागत स्पन्दन), उत्सेध, पुष्टता, ग्रीवा की चारों तरफ घूमने की गति, लालाग्रंथियों की वृद्धि, लसग्रंथियों की वृद्धि, गण्डमाला, अपची, गलगण्ड औरकर्णमूल शोथ, अवटुका ग्रंथि, कृकाटिका, श्वासनलिका आदि की विशेष परीक्षा करनी चाहिए ।

कोष्ठ-परीक्षा

वक्ष—

प्रश्न—कास—शुष्क, ष्ठीवनयुक्त, रक्तयुक्त, पूतियुक्त, पूययुक्त, वेगयुक्त, ज्वरानुबन्धित, [illegible] और विशिष्ट ध्वनियुक्त या उसके घटने-बढ़ने का समय आदि ।

श्वास—संख्या, नियमन, उत्तान-गम्भीर या साधारण श्वास, श्वास-कृच्छ्र, श्रम और आसन के साथ सम्बन्ध, गुरु भोजन, वातल भोजन, अम्ल भोजन, आध्मान, उद्गार आदि के साथ कृच्छ्रश्वास का सम्बन्ध, श्वास के भेद, शीतोष्ण सम्बन्ध से श्वास में परिवर्तन।

पार्श्व-शूल—श्वास, कास, जृम्भा, हिक्का के साथ वेदना का सम्बन्ध, वेदना का स्वरूप, मन्द-तीक्ष्ण-भेदनवत्, दाहयुक्त, स्तब्धतायुक्त; वेदना स्थानसंश्रित-चल या व्यापक, वेदनावृद्धि एवं उपशम के कारण।

हृत्स्पन्द और हृच्छूल का अनुभव—समय, स्थान, कारण, तीव्रता, स्वरूप, स्थायित्व, चलत्व इत्यादि विशेषताओं का ज्ञान।

प्रत्यक्ष—दर्शन-आकृति, अवनत या उन्नत वक्ष, ग्रंथियाँ, उत्सेध-निम्नता, समता-विषमता, चय-अपचय, पर्शुकायें तथा पर्शुकान्तरीय स्थान, शिराविस्तृति, वर्णविपर्यय, प्रमाण, श्वासोच्छ्वास के समय दोनों पार्श्वों का समान संकोच-विकास आदि।

स्पर्श—स्निग्धता, रूक्षता, उत्ताप, मृदुता, कठोरता, स्पन्दन, पीडन-ताडन वा स्फालन के द्वारा अन्तर्घनता और वातपूर्णता या द्रव का ज्ञान करना। स्पर्शासह्यता, वेदना का स्थानीय अनुभव भी स्पर्श से ही प्रमाणित होता है।

श्रवण—श्वसनध्वनि, घर्घरयुक्त कूजन और वंशीरवयुक्त ध्वनि तथा उरःश्रवण यंत्र के द्वारा सूक्ष्म विविध ध्वनियों का ज्ञान।

गन्ध—निश्वास एवं वक्ष के निकट दुर्गन्ध, पूतिगन्ध इत्यादि का ज्ञान।

उदर

परिप्रश्न—

रुचि—विशिष्ट रस एवं स्वादयुक्त पदार्थों के प्रति रुचि या अरुचि का ज्ञान, मुख का स्वाद, मुख की मललिप्यता आदि।

क्षुधा-तृष्णा—खाद्यपेयों के द्वारा क्षुधा-तृष्णा की शान्ति, ऋतु और बल-काल के अनुरूप क्षुधा व तृष्णा की स्थिति।

उदर शूल—स्थान, समय-निरन्तर या कदाचित्, दिवा या रात्रि में; आहार के साथ सम्बन्ध-प्रारम्भ में, मध्य में, पाचन के समय या पाचन के उपरान्त; मधुराम्ल-लवण-कटु-तिक्त-कषाय में से किस प्रकार के आहार से शूल की वृद्धि या उपशय; वेदना के साथ वमन, हृल्लास, प्रवाहिका, उद्गार व वातानुलोमन का सम्बन्ध; उपशय-उष्ण, शीत, मधुर, स्निग्ध इत्यादि के प्रयोग से शान्ति मिलती है या नहीं?

उद्गार—साम्ल, धूमायित या विदाहयुक्त, भोजन के सद्यः बाद या परिपाचन के बाद, उपशय या अनुपशय।

हिक्का—समय, यमला या क्षुद्रा आदि और उपशय।

अधिजठरदाह—समय, तीव्रता और निवृत्ति—शीतल जल, क्षारीय जल या दीपन-पाचन औषधि प्रयोग से।

वमन—समय प्रातः-सायं, दिवा-रात्रि, संख्या, तीव्रता, वमन काल में मुख का

भोजन से वमन का सम्बन्ध, हृल्लास–अधिजठर दाह एवं वेदना के साथ वमन का सम्बन्ध, वमन उत्क्लेश युक्त या साधारण।

वमित द्रव्य की साधारण परीक्षा—मात्रा, स्वरूप–पिच्छिल, आहारयुक्त, पित्तयुक्त, द्रवभूयिष्ठ; वर्ण–हरित, पीत, कृष्ण, रक्तिम; वमित द्रव्य में भुक्तान्न की स्थिति–अर्धपाचित–अमाचित, वमन में कितने समय पूर्व का भुक्तांश निकला; वमित द्रव्य का संगठन–रक्त, पित्त; कृमि की उपस्थिति की विशेष जानकारी, मासांकुरों की उपस्थिति आदि।

आध्मान—समय–शौच या भोजन के उपरान्त अथवा पहले, उपशय–उष्णोदक पान, उष्णसेक या वातानुलोमक द्रव्यों का प्रयोग और विशेष आहार-विहार के साथ आध्मान का सम्बन्ध।

आन्त्रध्वनि—स्थान, समय और वेदना, आन्त्र की गड़गड़ाहट के बाद वायु या मल का अनुलोमन, आसन के साथ ध्वनि का सम्बन्ध।

वायु या मल का अनुलोमन—स्वाभाविक या कठिनाई से, संख्या, समय, आहार के साथ सम्बन्ध, अनुलोमन से सुख या दुःख का अनुबन्ध, प्रवाहण कुंथन, वेदनायुक्त मल की प्रवृत्ति, मलपरीक्षा (मलपरीक्षा का व्यावहारिक वर्णन पहले पृष्ठ ४५ में किया गया है)।

विबन्ध—पुराण या आकस्मिक, देश–काल–जल–वायु–आहार के साथ सम्बन्ध, मल की स्थिति–गांठदार, बंधा हुआ या साधारण।

अर्श—वातार्श या रक्तार्श का अनुबन्ध, आहार-विहार के साथ सम्बन्ध, कुलजवृत्त।

मूत्र—संख्या, मात्रा, समय, वेदना, दाह इत्यादि का सम्बन्ध तथा मूत्र की स्थूल एवं सूक्ष्म परीक्षा।

प्रत्यक्ष—

दर्शन—उदर का वर्ण, शिराजाल, नाभि की स्थिति–स्वाभाविक, उन्नत या सम, अधिजठर स्पन्द, मेदोवृद्धि, उदर की आकृति–बस्तिवत्, तुम्बीवत्, मशकवत्, नौकाकृतिक, श्वासोच्छ्वास में उदर की गति–केन्द्र या पार्श्व का विस्फार, पार्श्व एवं उत्तान शयन-आसन की स्थिति में उदर का स्वरूप, आध्मान, अलसक एवं उदर की निस्तब्धता, स्वाभाविक या अस्वाभाविक आंत्रगति।

स्पर्श—रूक्षता, स्निग्धता, उत्ताप, वेदनासह्यता, कठोरता, मृदुता, ताडन के द्वारा मंदता, वायुपूर्णता या घनता का ज्ञान, जलोदर में स्फालन तरंगों का अनुभव, उदर के प्रत्यंगों का विधिवत् स्पर्श के द्वारा अनुभव, आध्मान तथा उदर और गुल्म की विशेष परीक्षा के लिये भी अंगुलिताडन व स्फालन से निर्णय करना चाहिये।

श्रवण—आन्त्रकूजन–समय, स्थान, तीव्रता; ग्रंथि, अर्बुद और स्पन्दन का अनुभव उत्तान एवं गंभीर स्पर्श से करना चाहिए।

औदरिक अवयवों की परीक्षा

यकृत्परीक्षा—स्पर्शलभ्यता तथा स्पर्श, स्थिति, आकार, वृद्धि, मृदुता, कठोरता, ग्रंथियुक्तता, वेदना, श्वासोच्छ्वास के समय निर्बाध गति, यकृत्कार्यशक्ति की विशेष परीक्षा।

प्लीहा—वृद्धि, परिमाण, कठोरता, मृदुता, वेदना।

आमाशय, पक्वाशय, ग्रहणी, उण्डुक, मूत्राशय, वृक्क, मलाशय, शुक्राशय या गर्भाशय का परीक्षण—रिक्तता, पूर्णता, मृदुता, कठोरता, विशिष्ट वेदना तथा यंत्रोपयंत्रों द्वारा परीक्षा, क्षकिरण परीक्षा, कार्यशक्ति की प्रायोगिक एवं रासायनिक परीक्षा।

मलद्वार की परीक्षा—भगन्दर, गुदद्वार में विदार, व्रण तथा ग्रंथियाँ, गुदा की तीन वलियाँ, बाह्य अर्श, आभ्यन्तरिक अर्श, रक्तार्श, अर्बुद, पौरुष ग्रंथि आदि तथा मलाशय की विशेष परीक्षा अंगुलि या विशिष्ट यंत्रोपयंत्रों द्वारा करनी चाहिए।

पुरुषप्रजननेन्द्रिय तथा मूत्रमार्ग—निरुद्ध प्रकश, शिश्न तथा मूत्र मार्ग की परीक्षा, व्रण, विस्फोट या विवर्णता, आकार, चयापचय, शिराओं की स्पष्टता, शिश्नोत्थान तथा पौरुषशक्ति आदि का ज्ञान।

वृषणपरीक्षा—त्वचागत विकार, मृदु तथा गंभीर स्पर्श में विशेष प्रकार की पीडा का अनुभव, वृषण ग्रंथि का आकार तथा पीडा, वृषणशीर्ष और वृषणरज्जु की परीक्षा, श्लीपद, अंत्रविकार (hernia), जलवृषण या वृषणवृद्धि के इतर कारणों की सम्यक् समीक्षा।

स्त्रीप्रजननेन्द्रिय की परीक्षा—पूय, व्रण या विदार के चिह्न, योनिमार्ग में प्रदाह या प्रदर के लक्षण, गर्भाशय ग्रीवा में व्रण, स्राव या मांसाकुरों की उपस्थिति, गर्भाशय का अवस्थान, आकार एवं विकृतिनिदर्शक दूसरे लक्षण।

पृष्ठ की परीक्षा—ग्रीवामूल से कटिपर्यन्त सम्यक परीक्षण—वर्णविपर्यय, उत्सेध एवं स्थानीय वेदना आदि का ज्ञान, पृष्ठवंश के कशेरुकों का क्रमिक परीक्षण, अन्तरायाम, बाह्यायाम, कुब्जता, पार्श्वस्तब्धता, त्रिक तथा कटिप्रदेश का परीक्षण—वेदना, पीडनाक्षमता, मांस का चयापचय, दोनों पार्श्वों की आकृति की समानता, गृध्रसी नाडी के परीक्षण के लिए गुदास्थि के निकट गंभीर स्पर्शन।

शाखाओं की परीक्षा

ऊर्ध्व-अधः शाखाओं के परीक्षण में प्रायः समान सिद्धान्तों का उपयोग होता है।

परिप्रश्न—शक्ति, कार्यक्षमता, दैनिककार्य, स्पर्शज्ञान—मृदु, गम्भीर या शीतोष्ण स्पर्श, स्पर्शासह्यता, दाह, कण्डू, शून्यता, पीडा, शाखाओं की मुक्त गति, शब्द युक्त गति, गुरुगात्रता, चेष्टा—स्वाभाविक, अस्वाभाविक, अनायास, श्रमयुक्त, सन्तुलित, या कम्पयुक्त।

दर्शन—शाखाओं की समरूपता, वर्ण, शिराविस्तृति, शोथ, उत्सेध, समोपचित-गात्रता, रूक्षता, उत्ताप, प्रस्वेद, विस्फोट, व्रण, लसग्रंथि, शिरा-धमनीस्पन्द, पेशी समूहों की पृथक्-पृथक् कार्यक्षमता, चयापचय, आक्षेप, कम्प, हर्ष, आकुञ्चन, प्रसारण, स्तब्धता, जड़ता, शिथिलता, कठोरता, गति, आसन एवं भ्रमण के समय विशिष्ट आकृति।

नखस्वरूप—धारीयुक्त, अवनत, शुक्तियुक्त, श्यामवर्णता, पाण्डुता, रक्तिमा।

अंगुलिपर्व—पुष्टता, क्षीणता, मुद्गरवत् रचना, शोफयुक्त, व्रण या विदार युक्त, ग्रंथियुक्त और विकलाङ्गता तथा गति।

स्पर्श—शीतोष्ण वेदनात्मक स्थान, स्पर्शनाक्षमता, रूक्षता, स्निग्धता, ग्रंथि-स्नायु-अस्थि-संधि इनका स्पर्शज्ञान, नाडीस्पन्दन, सिरा, धमनी, स्नायु, कण्डरा, संधियाँ, अस्थियाँ तथा हस्त-पादतल की विशिष्ट परीक्षा।

प्रत्यावर्त्तन क्रियाएँ—जानु-पार्ष्णि तथा पादतल-प्रत्यावर्त्तन; पेशी समूहों की स्तब्धता-उत्तेजनशीलता आदि के ज्ञान के लिए विशिष्ट परीक्षाएँ।

श्रवण—अंगुलिपर्व और संधियों का स्फोटन, अस्थिभंग तथा संधिविच्युति में घर्षण शब्द (crapitus) या निस्तब्धता। शाखाओं की परीक्षा में दक्षिण व वाम की पृथक्-पृथक् परीक्षा करके सन्तुलित निर्णय करना चाहिये।

निदान की विशेष परीक्षा

असात्म्येन्द्रियार्थ, प्रज्ञापराध आदि के कारण तथा मिथ्या (अहित एवं अनुचित) आहार-विहार आदि बाह्य निमित्त कारण से धातुओं, उपधातुओं, मलों एवं मानस धातुओं—रज और तम का वैषम्य होकर रोगोत्पत्ति हो अथवा विष-शस्त्र-अग्नि-अभिघात आदि प्रधान कारणों से आरम्भ में धातुवैषम्य किए बिना ही साक्षात् रोगोत्पत्ति हो, यह सब निदान या रोगोत्पादक कारण कहे जाते हैं।

उपयोगिता—चिकित्सा की दृष्टि से रोगोत्पादक मूलकारणों की भली प्रकार जानकारी करना बहुत आवश्यक माना जाता है। इससे रोग की उचित चिकित्सा व्यवस्था, रोग प्रतिषेध के लिए रोगोत्पादक निदान से बचाव की विशेष व्यवस्था और औपसर्गिक या जानपदिक रोग होने पर उसके प्रसार के रोकने की व्यवस्था हो सकती है। सामान्यतया निदान परीक्षण में दो प्रश्न महत्वपूर्ण होते हैं। १. **रोग का बाह्य निदान अर्थात्** बाह्य निदान से दूषित हुए दोष के द्वारा व्याधि उत्पन्न हुई है अथवा २. असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग एवं प्रज्ञापराध के कारण **आन्तरिक दोषों में** विकृति होने से रोगोत्पत्ति हुई है। इसी विषय को अधिक विस्तार से स्पष्ट किया जाता है।

निदान
- रोगोत्पादक
  - उत्पादक या विप्रकृष्ट
    - बाह्य
      - आगन्तुक
      - औपसर्गिक
  - व्यञ्जक या सन्निकृष्ट
    - आभ्यन्तरिक
      - अनौपसर्गिक
- उभय प्रकोपक
- दोष प्रकोपक
  - उत्पादक
    - बाह्य
      - औपसर्गिक
  - व्यञ्जक
    - आभ्यन्तरिक
      - अनौपसर्गिक

(औपसर्गिक, अनौपसर्गिक →) असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग — प्रज्ञापराध — परिणाम
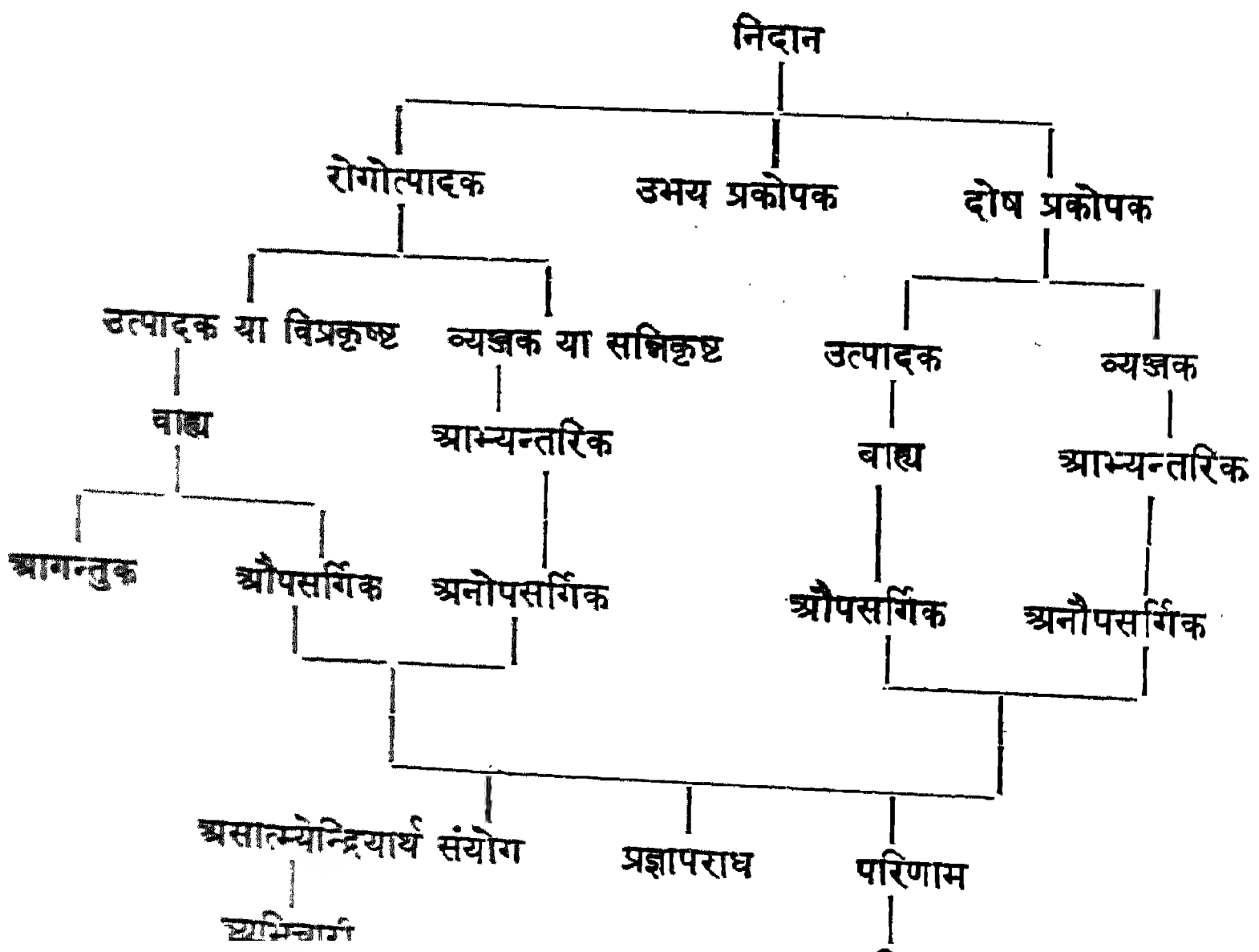
बाह्य निदान—आहार-विहार सम्बंधी नियमों का पालन देश-काल के अनुरूप न करने से, अभिघात लगने या विषैले जन्तुओं का दंश होने से, अग्नि-विद्युत् आदि के द्वारा दाह होने से और विषैले द्रव्यों का सेवन करने से रोगोत्पत्ति हो सकती है। इस वर्ग में रोगोत्पत्ति के कारणों का प्राधान्य है। कारणों का सटीक निर्णय हो जाने पर उसका प्रतिकार सद्यः लाभदायक होता है। विषप्रयोग—विषदंष्ट्र में कारण विज्ञान का महत्व और बढ़ जाता है। यद्यपि इन बाह्य कारणों के द्वारा रोगोत्पत्ति प्रायः दोषदुष्टि के द्वारा ही होती है, कदाचित् अभिघात एवं विषप्रयोग आदि सद्योघातक स्थितियों में दोषानुबंध कुछ काल उपरान्त होता हो, फिर भी सामान्यतया दोषोत्पत्तिपूर्वक रोगोत्पत्ति के साथ इनका सम्बंध होने के कारण नीचे संग्रह किया जाता है।

वातादिप्रकोपक कारणों का वर्णन साथ के कोष्ठक में किया गया है। उससे रोगों में दोषप्रकोपक कारणों को समझने में सुविधा होगी।

दोषप्रकोपक कारण

दोष	प्रकोपक आहार	प्रकोपक विहार	प्रकोपक रस-गुण तथा मानसिक भाव	प्रकोपक देश-काल
वात	हीन-अल्प-शुष्क-रूक्ष भोजन, अति भोजन, तृषातुर होने पर आहार तथा क्षुधातुर होने पर जल का प्रयोग, लंघन, अपतर्पण, विषम समय में भोजन, द्विदल द्रव्यों का आहार में विशेष प्रयोग—विशेषकर नीवार, मुद्ग, मसूर, चना और कलाय (खेसारी), तृण-धान्य—श्यामाक, कोद्रव, कूद्द आदि का प्रयोग, शुष्क शाक तथा वातल शाकों का प्रयोग, करीर बेर तथा कटु-तिक्त-कषाय रसप्रधान फलों का विशेष प्रयोग।	शरीर के बल की तुलना में अधिक श्रम, दुःसाहस, प्रबल व्यक्ति के साथ युद्ध, अति व्यायाम, भ्रमण, तीव्र-यान की सवारी—हाथी, घोड़ा, ऊँट, रथ, मोटर आदि पर लम्बी यात्रा, भारी वस्तु को फेंकना, अधिक बोलना, उछलना-कूदना, जल में तैरना, मल-मूत्र-हिक्का-वमन-जृम्भा आदि वेगों का अवरोध, मल-मूत्र-स्वेद आदि मलों का अतिशोधन, रक्त का अतिस्राव, धातुक्षय, अत्यधिक अध्ययन, कठोर शय्या में शयन और रात्रि	कटु-तिक्त-कषाय, रूक्ष-लघु-शीत-विष्टंभी-द्रव्य, कटु-लघु विपाक, चिंता, शोक, क्रोध, भय, उत्कण्ठा का आधिक्य।	आनूप देश, ग्रीष्म तथा वर्षा ऋतु, सायंकाल, ऊषःकाल तथा आहार के परिपाक के बाद और वृद्धावस्था में।

दोष	प्रकोपक आहार	प्रकोपक विहार	प्रकोपक रस गुण तथा मानसिक भाव	प्रकोपक देश-काल
पित्त	विदाही, अम्ल, लवण-रसप्रधान उष्ण भोजन, तैल से बने पदार्थों का अधिक प्रयोग, हरी शाक-सब्जी, इमली, आम्रातक, कांजी, शुक्त तथा अम्ल रसप्रधान फल एवं शाक, मद्यसेवन, दही, तक्र तथा गोमूत्रादि का अधिक सेवन, मछली, बकरा तथा भेड़ का मांस, कुलथी तथा माष की दाल का विशेष प्रयोग।	श्रम, उपवास, क्षुधा एवं तृषा का अवरोध, धूम-धूम्र-अग्नि तथा धूल में अधिक रहना, विदग्धाजीर्ण में ग्राम्य धर्म का प्रयोग।	कटु-अम्ल-कषाय रस, तीक्ष्ण, उष्ण, विदाही, क्षारीय, उष्ण एवं लघु द्रव्य, अम्लविपाक, क्रोध-शोक भय–ईर्ष्या।	जांगल देश, शरद-वर्षा, ऋतु, मध्याह्न-अर्द्धरात्र तथा भोजन की पच्यमाना-वस्था और युवावस्था
कफ	गेहूँ, माष, तिल के पदार्थ, पिष्टमय पदार्थ, दही-दूध-छेना-खोआ, लड्डू-जलेबी-हलुआ आदि मिष्ठान्न, श्रीखण्ड, ईख का रस-गुड़-मिश्री-चीनी, गुरु भोजन, आहार में घी का अधिक प्रयोग, अधिक संतर्पक एवं पोषक भोजन, आनूप-जीवों तथा जलचरों का मांस, नया अन्न, केला-खजूर, नारियर आदि मधुर फल, जल के शाक तथा फल, लताओं के फल, अधिक जलपान, पर्युषित जल का अधिक सेवन।	भोजन के बाद दिवा-शयन, अति निद्रा-आलस्य-तन्द्रा, शारीरिक-मानसिक तथा वाचिक सभी कार्यों से निवृत्ति, अधिक आराम, वमन-विरेचन का अनुपयोग, अजीर्ण-मंदाग्नि आदि पित्तन्यूनता वाली स्थितियों का अनुबंध।	मधुर, अम्ल, लवण, शीत, स्निग्ध, गुरु, पिच्छिल, अभिष्यन्दी रस-गुण प्रधान द्रव्यों का प्रयोग, मधुर–गुरु विपाक, हर्ष, शान्ति, संतोष आलस्य तथा निश्चिन्त जीवन	आनूप देश, हेमन्त-वसन्त ऋतु, प्रातः-काल, प्रदोष के समय और भोजन के तुरन्त बाद तथा बाल्या-वस्था में।

आन्तरिक रोगोत्पादक निदान में दोष-दूष्य और मलों का परिगणन किया जाता है

रोगोत्पादक निदान—दोषविशेषता निरपेक्ष व्याधि के उत्पादक कारणों का संग्रह इस शीर्षक के अन्तर्गत किया जाता है। दोषों की विशिष्टता, रोगी की प्रकृति एवं देशकाल के प्रभाव से व्याधि के लक्षणों में परिवर्त्तन हो सकता है। किन्तु विशिष्ट रोगोत्पादक निदान से नियमपूर्वक एक ही श्रेणी की व्याधि की उत्पत्ति होने से इस वर्ग का स्वतंत्र महत्त्व है। मृत्तिका भक्षणरूप निदान से पाण्डु की उत्पत्ति, कुष्ठी–क्षयी आदि रोगियों की सेवा सुश्रूषाजनित घनिष्ट सम्पर्क से कुष्ठ एवं क्षय की उत्पत्ति, रोमान्तिका, मसूरिका, कुकास, रोहिणी तथा दूसरी औपसर्गिक व्याधियों से पीडित व्यक्तियों के सम्पर्क से तत्तद् व्याधियों की उत्पत्ति, प्रधान रूप से औपसर्गिक व्याधियों के संक्रमण एवं प्रसार में सहायक कीटाणु–मशक-मूषक-शृगाल–कुत्ता एवं शुक आदि के साथ सम्पर्क से सर्वदा समान जातीय व्याधियों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार के कारणों का महत्व साक्षात् रोगोत्पत्ति से होता है, इसी लिए इसे रोगोत्पादक निदान कहते हैं।

दोषमूलक हेतु—दोषोत्पादक तथा दोषप्रकोपक हेतु ही दोष हेतु माने जाते हैं। इनमें से प्रायः सभी का संग्रह उक्त कोष्ठक में किया गया है। शिशिर तथा हेमन्त में स्वभावतः मधुर रस की वृद्धि होती है, जिससे शरीर में श्लेष्मा का संचय होता है। वही श्लेष्मा वसन्त में सूर्यकिरणों की ऊष्मा से प्रकुपित होकर रोगोत्पत्ति करता है। इसी को क्रम से विप्रकृष्ट निदान या उत्पादक निदान तथा व्यंजक निदान भी कहते हैं। पूर्व परीक्षण के द्वारा रोगी में रोग निदानविषयक जो ज्ञान हुआ हो, उसे इन वर्गों के अन्तर्गत विभाजित करना चाहिए।

उभयहेतु—विशिष्ट दोष को प्रकुपित करते हुए नियमित रूप से एक ही व्याधि को उत्पन्न करने वाला हेतु इस श्रेणी में आता है। हाथी–ऊँट–घोड़ा आदि की अधिक सवारी, विदाही अन्नसेवन आदि कारणों से वायु-पित्त तथा रक्त की दुष्टि होती है। आरोहण में अंगों के लटके रहने के कारण दूषित वायु-पित्त-रक्त नियमतः वातरक्त को ही उत्पन्न करते हैं। इसीलिए उभयहेतु प्रकोप से उत्पन्न व्याधियों में दोनों प्रकार की औषधों—दोषशामक और रोगशामक—के प्रयोग की आवश्यकता होती है। इस प्रकार के निदान का महत्व चिकित्सासिद्धान्त स्थिर करने में है। सभी व्याधियां त्रिदोषजन्य होती हैं किन्तु सबके उपक्रम एवं औषधियाँ एकसी नहीं होतीं।

सन्निकृष्ट कारण—स्वाभाविक रूप से दोषों में क्षयवृद्धि होती रहती है। ऋतु एवं दिन-रात में बढ़ने वाले दोषों का संग्रह कोष्ठक में है। इस दोषप्रकोप के लिए दोष-संचय आदि अवस्थाओं की आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार के कारण व्याधि की तीव्रता को प्रभावित कर साधारण न्यूनाधिक्य कर सकते हैं और विप्रकृष्ट निदान से शरीर में रोग का वीज वर्त्तमान रहने पर रोगोपत्ति भी कर सकते हैं।

प्रधान कारण—अपने उग्र प्रभाव के कारण शीघ्र ही दोष को प्रकुपित करके या विना दोष प्रकोप के ही रोगोत्पत्ति करने वाले कारण इस वर्ग में आते हैं। तीव्र विष तथा प्रबल आगन्तुक कारणों द्वारा त्वरित विकारोत्पत्ति होती है। इनमें प्रधान कारण का निर्णय किए बिना चिकित्सा करने से सफलता नहीं मिलती।

परिणाम—देश-काल-ऋतु में जो स्वाभाविक गुण होना चाहिए, उसमें विपरीतता हो जाने से शरीर पर कुप्रभाव होकर विकारोत्पत्ति होती है। शिशिर में शैत्य का अभाव या बहुत आधिक्य और कदाचित् शीत कदाचित् उष्ण होना, इसी प्रकार ग्रीष्म और वर्षा का विपर्यय होना दोषप्रकोपक होता है। इस प्रकार के रोग कालपरिणामज माने जाते हैं। इनकी चिकित्सा भी साधारण निज दोषदुष्टिजन्य व्याधियों से पृथक् होती है।

असात्म्यसंयोग—नेत्र-श्रोत्र-नासा-रसना एवं स्पर्शनेन्द्रिय-मन-वाणी आदि का हीनयोग या अयोग, अतियोग और मिथ्यायोग सामान्यतया सभी व्याधियों का कारण माना जाता है। पुरुष अपने अनुभव एवं आप्तोपदेश से हितकर तथा अहितकर भावों को जानता है, किन्तु संकोच, लौल्य, बुद्धिनाश एवं अयथार्थ ज्ञान से प्रेरित होकर उन्हीं कार्यों को करता है। असात्म्यसंयोग में प्रज्ञापराध या बुद्धिनाश का भी व्यावहारिक रूप में अन्तर्भाव कर लिया जाता है।

इस विषय को संलग्न कोष्ठक में सोदाहरण स्पष्ट किया जायगा:—

इन्द्रियार्थ	१. अयोग	२. अतियोग	३. मिथ्यायोग	परिणामज विकार
ध्वनि	ध्वनि से दूर रहते हुए श्रवण न करना।	तीव्र ध्वनि वाले, गर्जन-तर्जन युक्त विस्फोट तथा भयंकर ध्वनियों का श्रवण।	कठोर शब्द, अप्रिय शब्द, इष्ट विनाश के सूचक शब्द, तिरस्कार एवं भीषण शब्दों का श्रवण।	१. कर्ण-पटह-विघात, बाधिर्य। २. उन्माद, अपस्मार, निपात। ३. गदोद्वेग, मूर्च्छा, अतिसार आदि।
स्पर्श	स्पर्शनेन्द्रिय का स्पर्श ज्ञानोपार्जन में प्रयोग न करना।	अतिशीत, अति उष्ण आदि स्पर्श विशेषताओं का अत्यधिक अनुभव।	अतिशीत एवं अति उष्ण का विषम प्रयोग, शीत में उष्ण एवं उष्ण में शीत का अतियोग, अशुद्ध एवं दूषित स्पर्श।	१. स्पर्शनघात। २. व्रण, विस्फोट, ज्वर। ३. निपात, अभिघात।
रूपदर्शन	सर्वशः अयोग, नेत्र बंद रखना।	चमकदार, अति प्रकाशित, तेजःपिण्ड-सूर्य—दीपशिखा—संतप्त भट्ठी को देखना।	अतिसूक्ष्म, बहुत विशाल, नेत्र के बहुत निकट, बहुत दूर की वस्तु को बलपूर्वक देखना, रौद्र, बीभत्स, भया-	१. दृष्टिविघात, प्रकाश संत्रास। २. दृष्टिनाडी का अंगघात, मूर्च्छा। ३. तिमिर, लिंगनाश, अपस्मार, उ-

इन्द्रियार्थ	१. अयोग	२. अतियोग	३. मिथ्यायोग	परिणामज विकार
रसस्वाद	रसहीन या रस के स्वाद का ग्रहण न करते हुए द्रव्यों का सेवन।	तीक्ष्ण, मधुर, कटु आदि द्रव्यों का अतिमात्र प्रयोग।	अव्यवस्थित, विषम, परस्पर विरुद्ध रसों का सेवन, देश-कालादि विरुद्ध द्रव्यों का सेवन।	१. स्वादविघात, अरुचि, अग्निमांद्य २. मुखपाक, लालास्राव। ३. अग्निमांद्य, अजीर्ण आदि।
गंध	गंधग्रहण न करना।	अति तीक्ष्ण, अति उष्ण, अभिष्यंदी, असात्म्य गन्धों का आघ्राण।	दुर्गंध, पूति-पूय-रक्तगंध, शवगंध, विषयुक्त गंध एवं विषम गधों का आघ्राण।	१. घ्राणशक्ति का नाश। २. प्रतिश्याय, नेत्राभिष्यन्द, श्वास, ज्वर। ३. मूर्च्छा, उन्माद, निपात।
वाणी	मौन रहना।	बहुत बोलना, चिल्लाना, निरन्तर बोलना।	वाग्युद्ध, असत्य भाषण, अप्रिय एवं विषम संभाषण।	१. वाक्शक्ति का नाश २. स्वरभंग, उरःक्षत ३. राजयक्ष्मा, श्वास, कास।
शरीर	कुछ कार्य न करना, विश्राम की अति।	अत्यधिक श्रम, निरन्तर श्रम।	वेगावरोध, विना वेग के वेग प्रवृत्ति की चेष्टा, विषम क्रिया करना।	१. मेदोवृद्धि, प्रमेह। २. क्षय, अर्श। ३. भग्न, विश्लेषादि।
मन	मानसिक कार्य न करना।	चिन्ता, विचार, ऊहापोह, कल्पना अधिक करना।	भय, शोक, क्रोध, मोह, लोभ, मान, ईर्ष्या, मिथ्याज्ञान।	१. मूढता, अतत्वाभिनिवेश। २, ३. उन्माद, मूर्च्छा आदि।
काल	ऋतु के अनुरूप शीत-उष्ण-वर्षा न होना।	अत्यधिक गर्मी, वर्षा तथा शीत।	कभी गर्मी, कभी वर्षा, कभी अतिशीत, विषम परिणाम।	जानपदिक व्याधियाँ।

उक्त निदान के विशेष वर्णन से उसके अवान्तर भेद स्पष्ट होगये होंगे। परीक्ष्य श्रेणी में यथाशक्ति रोगोत्पादक कारणों की भली प्रकार जानकारी की चेष्टा करनी चाहिए। जीर्ण रोगियों तथा रोग के प्रति विशेष ध्यान न रखने वाले और अपढ़ व्यक्तियों में असात्म्य निदान का विस्तृत परीक्षण बहुत कठिन होता है। क्योंकि इसका अधिकांश प्रश्न एवं पुरातन इतिवृत्त से ही ज्ञात होता है। रोगविनिश्चय में भ्रान्ति उपस्थित होने पर इसकी विशेष आवश्यकता पड़ती है।

दोषविशेष-परीक्षा

दोष की परीक्षा करते समय दोषदुष्टि का ज्ञान रोग के लक्षणों और उपशय-अनुपशय के द्वारा किया जाता है। अलग कोष्ठकों में दोषों के भेद, उनके स्थान एवं स्वाभाविक कर्म और प्रकुपित-वृद्ध-क्षीण-साम-निराम दोषों के लक्षण संगृहीत है जिनसे उक्त अवस्थाओं का परिचय मिलेगा।

दोष का प्रकोप-क्षय-वृद्धि इत्यादि का निर्णय करते समय दोषों की अवस्थाओं का विधिवत् विचार अवश्य कर लेना चाहिये। नीचे कुछ प्रमुख दोष की गतियों का उल्लेख किया जाता है।

क्षय-स्थान एवं वृद्धि—दोष का क्षय हुआ है, साधारण स्थिति है या उसकी वृद्धि हुई है अथवा विपरीत दोष की वृद्धि-क्षय के कारण कहीं क्षय-वृद्धि का मिथ्याभास तो नहीं हो रहा है? क्योंकि वायु की वृद्धि और कफ का क्षय होने पर प्रायः भ्रमोत्पादक समान लक्षण उत्पन्न होते हैं। किन्तु कफक्षय में वातशामक चिकित्सा और वातवृद्धि में कफवर्धक चिकित्सा पूरी तरह से उपकारक नहीं होती, अतः क्षय-वृद्धि का उचित निर्णय अपेक्षित है।

उर्ध्व-अधः-तिर्यक् गति—दोषों की वृद्धि होने पर अपने अधिष्ठान से सारे शरीर में उनका प्रसार होता है। कभी उनकी गति ऊपर की तरफ, कभी नीचे की तरफ, कभी तिरछी होती है। दोष की गति जिस अंग में होती है, वहां दोषाधिक्य के लक्षण अधिक स्पष्ट होते हैं। दूसरे अंगों में प्रायः दोषदुष्टि का प्रसार अल्प होने के कारण निर्दुष्ट या अल्पदुष्टस्थिति रहती है। पित्त का उर्ध्वगमन होने पर शिरःशूल, मस्तक-नेत्रदाह, तृष्णा, वमन इत्यादि लक्षण होते हैं, साथ ही नीचे के अंगों में 'शैत्य आदि स्वाभाविक स्थिति के लक्षण रहते हैं। यह विषमता कभी-कभी भ्रामक होती है, अतः दोष की गति का स्मरण रखना चाहिये।

कोष्ठ-शाखा-मर्मगति—दोषों में विकृति या वृद्धि होने पर उनका अधिष्ठान कोष्ठ (महास्रोत, आमाशय, पक्वाशय), शाखा अथवा हृदय-बस्ति-सिर इत्यादि मर्म एवं अस्थि संधियों में होता है। इसमें शाखागत व्याधियाँ मृदु, कोष्ठगत व्याधियाँ मध्य और मर्मास्थि-संधि की व्याधियाँ प्रकृत्या तीव्र होती हैं। तीनों ही विशिष्ट अधिष्ठानों में दोषों की दुष्टि समान है। किन्तु व्याधि की तीव्रता में बहुत अन्तर होता है। इस गति का ज्ञान न रहने से मर्मस्थ व्याधियों में तीव्र दोषशामक ओषधियों का प्रयोग और शाखास्थ व्याधियों में मृदु दोषशामक ओषधियों का प्रयोग करने से भी पूर्ण सफलता नहीं मिलती।

प्राकृती और वैकृती गति—पित्त स्वाभाविक रूप में आहार पाचन, रस शोषण रञ्जन आदि कार्य करता है। उसी प्रकार प्राकृतिक श्लेष्मा शरीर का बल माना जाता है। यह इनकी प्राकृतिक गति या स्वाभाविक क्रिया है। इसमें विकृति होने पर पित्त कफादि के द्वारा अनेक विकृतियां पैदा होती हैं। इसका मुख्य तात्पर्य यह है कि—**किस दोष का, कौन अंश, कितनी मात्रा में, स्वाभाविक स्थिति में है और कौनसा अंश विकारोत्पादक है। ऋतु-देश-काल के अनुरूप दोषों में स्वतः संचय-प्रकोप और प्रशम होता है।**

कफजन्य, वर्षा में वातजन्य और शरद में पित्तजन्य प्राकृतिक व्याधियाँ; इसके विपरीत वसन्त में पित्त या वायु का, वर्षा में श्लेष्मा एवं पित्त का तथा शरद में वायु और श्लेष्मा का प्रकोप और तज्जनित व्याधियाँ वैकृतिक मानी जाती हैं। अनेक विद्वान् इनको व्याधि न मान कर स्वास्थ्य की ही देशकालानुरूप परिवर्तित अवस्था मानते हैं। रोगोत्पत्ति होने पर प्राकृती और वैकृती गति का निर्णय ऋतुओं के अनुरूप स्वाभाविक संचय-प्रकोप-प्रशम के आधार पर करना चाहिये।

दोष की स्थानाकृष्टि एवं वृद्धि—अनेक व्याधियों में दोष की वृद्धि न होकर स्थानाकृष्टि होने पर भी दोषवृद्धि के से लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। पक्वाशय, हृदय अथवा यकृत्-प्लीहा में स्थित पित्त को, यदि वायु खींचकर त्वचा-हस्त-पादादि अंगों में ले जाय, तो एक विचित्र स्वरूप पैदा होता है। जिन स्थलों से पित्त का अपकर्षण हुआ है उनमें पित्तक्षय के लक्षण और जहां आकृष्ट पित्त का संचय हुआ है, वहां पहले से विद्यमान पित्त में इस आकृष्ट पित्त का योग हो जाने के कारण, पित्तवृद्धि के लक्षण पैदा हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में केवल पैत्तिक कष्ट को व्यक्त करने वाले हस्त-पादादि अंगों की परीक्षा करके, यहां पर पित्तवृद्धि है, ऐसा निदान कर पित्तशामक औषधियों के प्रयोग से चिकित्सक को सफलता नहीं मिल सकती। यहां स्थानाकृष्ट दोषों का स्वस्थाननयन और प्रेरक दोष की शान्ति की चेष्टा से ही लाभ होता है। इसलिये स्थानाकृष्टि और वृद्धि का सम्यक् निर्णयपूर्वक पूर्ण परीक्षण करके उचित व्यवस्था की जानी चाहिये।

आवरक और आवृत—एक दोष या धातु से दूसरे दोष या धातु का आच्छादन हो जाने पर, बाहर से अच्छादक या आवरक दोष के लक्षण और मूल में आच्छादित या केन्द्रित दोष के लक्षण ज्ञात होते हैं। इसप्रकार पित्तावृत वात, कफावृत वात या रक्तमांसादि आवृत वात के पृथक्-पृथक् लक्षण होते हैं। आमवात में वेदनाकारक मुख्य दोष वात है, किन्तु आवरण और सामता-गुरुता आदि बाह्य लक्षणों को व्यक्त करने वाला आवरक श्लेष्मा होता है। श्लेष्मा के द्वारा श्लेष्मस्थानों में वायु का अवरोध हो जाने के कारण श्लेष्मस्थानों में ही आमवात की प्रधानता होती है। उसीप्रकार वातरक्त में रक्त और वात के विशिष्ट कारणों से स्वतन्त्र रूप में दूषित होने पर भी, रक्त के द्वारा वायु आवृत किया जाता है, अतः व्याधि में अधिक चञ्चलता नहीं रहती। स्पर्श द्वेष-निस्तोद आदि मुख्य लक्षणों के साथ ही रक्त-विस्फोट, रक्तवर्ण का शोथ इत्यादि रक्तावरण के लक्षण अधिक व्यक्त होते हैं। इस विवेचन का चिकित्सा में महत्व है। जबतक आवरक दोष का भेदन न हो, आवृत दोष के शोधन या संशमन से व्याधि का उपशम नहीं हो सकता। इसीलिये आमवात में लङ्घन, पाचन, रूक्ष-उष्ण प्रयोगों के द्वारा श्लेष्मा का विलयन करने के उपरान्त ही वातशमन का उद्योग किया जाता है और वातरक्त में गुडूच्यादि पित्तशामक, रक्त-संशोधक द्रव्यों के प्रयोग से रक्त-शुद्धि होने के

प्रधान-अप्रधान दोष—बहुत से रोग सामान्यदृष्टि से एक दोषज ज्ञात होने पर भी सूक्ष्म विवेचन करने पर दो दोषों से उत्पन्न ज्ञात होते हैं। एक दोष प्रधान और दूसरा अप्रधान होने के कारण सामान्य दृष्टि से केवल प्रधान के लक्षणों का ही ज्ञान होता है। शरद ऋतु में पैत्तिक प्रकोप से होने वाले ज्वर में अल्प मात्रा में कफ का अनुबन्ध रहता है (कुर्यात् पित्तं च शरदि तस्य चानुगतः कफः) और वसन्त ऋतु में मुख्य रोगोत्पादक दोष श्लेष्मा होने पर भी वात-पित्त का अनुगमन विकारोत्पत्ति में रहता ही है। चिकित्सा के सिद्धान्त स्थिर करते समय दोषों का यह क्रम ध्यान में रहने से, व्याधि-निर्मूलन में कठिनाई नहीं होती। शारदीय ज्वर में पित्तशामक प्रयोगों के साथ ही श्लेष्मा की वृद्धि न हो जाय; इसके लिये भी व्यवस्था करनी पड़ती है।

एकदोषज-संसर्गज एवं सन्निपातज आदि भेद—कुछ व्याधियाँ एकदोषज, कुछ द्वंदज या संसर्गज तथा कुछ त्रिदोषज होती हैं। उनमें भी समबल-विषमबल अथवा हीनबल-मध्यबलारब्ध भेद से अनेक भेद होते हैं। लक्षण एवं सम्प्राप्ति के द्वारा इनका निर्णय होता है। कुछ व्याधियाँ प्रकृत्या सन्निपातज होती हैं यथा क्षय, कुष्ठ, प्रमेह आदि। कुछ एकदोषज या संसर्गज होती हैं, बाद में दूसरे दोषों का अनुबन्ध होता है। अंशांशविकल्पन के द्वारा होने वाले भेदों की कोई सीमा नहीं। इसप्रकार का विवेचन प्रत्येक रोगों में करना चाहिए, यह कोई रोग का भेद नहीं—रोगी का भेद माना जाता है, यहां दिग्दर्शनमात्र किया गया है। सभी व्याधियों में यह स्थिति संभव है। आगे सम्प्राप्ति के प्रकरण में इस विषय का कुछ विवेचन किया जायगा।

दोष की विभिन्न अवस्थाएँ—दोष के द्वारा शारीरिक द्रव्यों की दुष्टि एवं उससे व्याधि की उत्पत्ति तक दोष की अनेक अवस्थाएँ होती हैं। ऋतुओं के अनुरूप दोषों के संचय-प्रकोप-प्रशम का वर्णन पहले किया जा चुका है। यहां विकृति समारब्ध दोष की अवस्थाओं का वर्णन किया जायगा।

१. संचयः—दोषों का स्वस्थानों में अतिमात्र संचय रोगारंभ की पहली अवस्था है। वातादि दोषों की अपने समान गुण-कर्म वाले आहार-विहार के सेवन से अपने-अपने स्थानों में जो वृद्धि होती है तथा शरीर में बाहर से प्रविष्ट विष-जीवाणु आदि की शरीर में अनुकूल अवस्था आने पर जो वृद्धि होती है, उसे संचय कहते हैं। जिन कारणों से वातादि दोषों का संचय हुआ हो उनके प्रति द्वेष तथा उनके विपरीत गुण-धर्म वाले आहार-विहार के सेवन की इच्छा होना, यह सभी दोषों की संचयावस्था का सामान्य लक्षण है। संचयकाल में ही दोषों का निर्हरण करने पर प्रकोपादि उत्तर अवस्थाएँ नहीं उत्पन्न होने पातीं। वायु का संचय होने पर पेट वायु से भरा हुआ, जकड़ा सा तथा पित्त का संचय होने पर शरीर में कुछ पीलापन तथा उष्णता और श्लेष्मा का संचय होने पर शरीर में भारीपन तथा आलस्य का अनुभव होता है।

२. प्रकोप :—अपने मूल स्थानों से दोषाधिक्य के कारण दोष में विविध गतियों से उन्मार्ग गामिता होना प्रकोप है। प्रकोपावस्था में मुख्यतया कोष्ठ में वेदना, अम्लता, तृष्णा, दाह, अन्नद्वेष तथा हृदयोत्क्लेश के लक्षण होते हैं। प्रकोप के कारणों का वर्णन आगे कोष्ठक में विस्तार से किया गया है।

३. प्रसार :—प्रकोप के उपरान्त दोष सारे शरीर में फैल जाते हैं। किन्तु इस स्थिति में भी रोगी को रोग का अनुभव नहीं होता। थोड़ी बेचैनी, अरुचि, कण्ठ में धूम्राम्ल दाह, अंगमर्द, उदर में आध्मान, गुड़गुड़ाहट तथा छर्दि आदि साधारण अस्वास्थ्यकर लक्षण पैदा होते हैं—विशिष्ट व्याधि की स्थिति का ज्ञान नहीं हो सकता।

४. स्थानसंश्रय :—प्रसरावस्था में यदि दोषों की चिकित्सा न की जाय तो प्रकुपित दोष रसवाहिनियों के द्वारा सारे शरीर में फैलते हुए, स्रोतो वैगुण्य के कारण शरीर के किसी अवयव में जहां रुकते हैं, वहां एक या एक से अधिक दूष्यों को दूषित कर तथा उनके साथ मिलकर स्थानानुरूप विकार उत्पन्न करते हैं। शरीर की जो धातु या अंग अक्षम या दुर्बल हो, दोष-निदान की प्रकृति से जिस धातु या अंग की समता हो, वहीं दोष केन्द्री भूत हो जाता है—उसी को दोष का स्थानसंश्रय कहते हैं। इस अवस्था में व्याधि की पूर्वरूपावस्था के लक्षण पैदा होते हैं। दोष-दूष्य एकता होने पर भी गति-अवस्था आदि में भिन्नता तथा दोषों के स्थानसंश्रय में भिन्नावयवता होने के कारण व्याधियों में भेद होते हैं।

५. अभिव्यक्ति :—इस अवस्था में रोग के सारे लक्षण व्यक्त होते हैं। दोषों का बलाबल तथा व्याधि की तीव्रता आदि का ज्ञान होता है। संचय-प्रकोप एवं प्रसार में दोषविनिश्चय करके हेतुविपरीत चिकित्सा की जाती है। स्थानसंश्रय के उपरान्त व्याधि को प्रकृति के अनुरूप हेतु-व्याधि उभय विपरीत व्यवस्था करनी होती है।

निम्न कोष्ठक में वातादि की संचय-प्रकोप-प्रसरस्थिति के लक्षण संग्रहीत हैं।

अवस्था	वात	पित्त	कफ
संचय	कोष्ठ की स्तब्धता या पूर्णता।	मन्दोष्मता, पीताव-भासता।	आलस्य, अङ्ग-गौरव।
प्रकोप	कोष्ठ में वेदना तथा वायु की विषम गति।	अम्लोद्गार, पिपासा एवं दाह।	अन्नद्वेष, हृल्लास।
प्रसार	आटोप, विरुद्ध गति।	ओष-चोषादि वेदना, दाह, धूमायन।	अरोचक, अवि-पाक, अंगसाद,

दोषाधिष्ठान-भेद-कर्म निदर्शक कोष्ठक : कोष्ठक संख्या—७ क.

मुख्य स्थान	सामान्य कर्म	दोषों के भेद	उनके अधिष्ठान	विशिष्ट कर्म
कटिप्रदेश, बस्ति, पक्वाशय, पुरीषाधान या मलाशय, अस्थियाँ-विशेषकर ऊरु एवं जङ्घास्थि, श्रोत्र तथा त्वचा । सामान्य स्थान—नाभि के नीचे का शरीर ।	उत्साह, उच्छ्वास, निःश्वास, शरीर, मन एवं इन्द्रियों को प्रवृत्त करना, शरीर तंत्र-यंत्रों का धारण और सभी प्रकार की चेष्टाओं का प्रवर्त्तन, स्रोतोन्मुख गतिमान् मलों को सम्यक् निकालना, मन को प्रेरित या नियमित या नियोजित करना, रस-रक्तादि धातुओं की सारे शरीर में समान गति करना, हर्षोत्साहजनन, अग्निसंधुक्षण, क्लेदसंशोषण, सर्वशरीर धातुव्यूहन, गर्भाकृति-निर्माण, प्रस्पन्दन, उद्वहन, पूरण, विवेक ।	१. प्राण	१. मूर्धा, उरोदेश, कण्ठ, जिह्वा, मुख, हृदय, नासिका ।	१. ष्ठीवन-क्षवथु-उद्गारसामर्थ्य, श्वासोच्छ्वास कर्म का निरन्तर संचालन, प्राण, बुद्धि, इन्द्रिय और मन का धारण करना, अन्न का आहरण या निगलना ।
		२. उदान	२. नाभि, उर, कण्ठ, वक्त्र, नासिका ।	२. वाणी के कार्यों-बोलना-हँसना-गाना आदि का संचालन, धी, धृति, स्मृति, प्रयत्न, ऊर्जा, बल एवं वर्ण का नियंत्रण ।
		३. व्यान	३. सर्वशरीर । हृदय से लेकर सारे शरीर में प्रसार करना ।	३. निमेष-उन्मेष तथा सारे शरीर की समस्त गतियों-चेष्टाओं का संचालन, स्वेद तथा रक्त का स्रावण, आक्षेप, आकुंचन, प्रसारण, जृम्भण, रससंवहन, स्रोतोविशोधन आदि क्रियाओं का सम्पादन ।

दोषाधिष्ठान-भेद-कर्म निदर्शक कोष्ठक : कोष्ठक संख्या—ख.

।	मुख्य स्थान	सामान्य कर्म	दोषों के भेद	उनके अधिष्ठान	विशिष्ट कर्म
			४. समान	४. आमाशय, पक्काशय, नाभिप्रदेश, स्वेद-दोष-अम्बु-मल-शुक्र-आर्त्तववह स्रोत।	४. अग्नि के बल की वृद्धि, अन्नपाचन एवं रस-मलादि का विवेचन, अन्न धारण तथा किट्ट की अधोप्रवृत्ति करना।
			५. अपान	५. वस्ति, नाभि, वृषण, मेढ़ या योनि, ऊरु, वंक्षण, पक्काशय, मलाशय तथा श्रोणि।	५. मूत्र-पुरीष-शुक्र-आर्त्तव एवं गर्भ का उत्सर्ग करना।
त	आमाशय, यकृत्, प्लीहा, हृदय, दृष्टि, पक्काशय और आमाशय के मध्य में पित्तधरा कला की आश्रयभूत अंत्र, त्वचा, रस, रक्त, स्वेद, लसीका।	अन्नादि का पाचन, दर्शन, ऊष्मा-क्षुधा-तृष्णा-प्रभा-शौर्य-हर्ष-प्रसाद-तेज-रुचि-देहमार्दव आदि का कर्त्ता, मेधाजनक, प्राकृत वर्ण व्यञ्जक, ऊष्मा की मात्रा का नियंत्रक, शरीर-धातूपधातुओं का रंजक, ओजस्कर आदि गुणों से युक्त।	१. पाचक	१. पक्काशय और आमाशय के मध्य में, पित्तधराकलाधिष्ठित।	१. अन्नपान का पाचन, आहार से दोष-रस-मूत्र-पुरीष आदि का पृथक्करण, शेष पित्तस्थानों में रहने वाले पित्त का पोषण।
			२. रंजक	२. यकृत्, प्लीहा तथा आमाशय।	२. यकृत्-प्लीहा एवं आमाशय की सहायता से रस को रंजित करके रक्त निर्माण करना।
			३. साधक	३. हृदय।	३. अभीष्ट मनोरथों की सिद्धि के लिए साधन, बुद्धि-मेधा-अभिमान एवं उत्साहपूर्वक अभिप्रेतार्थ सिद्धि करना।

दोषाधिष्ठान-भेद-कर्म निदर्शक कोष्ठक : कोष्ठक संख्या—ग.

	मुख्य स्थान	सामान्य कर्म	दोषों के भेद	उनके अधिष्ठान	विशिष्ट कर्म
			४. आलोचक	४. दृष्टि ।	४. रूप ग्रहण करना ।
			५. भ्राजक	५. त्वचा ।	५. शरीर की छाया को स्पष्ट करना, त्वचा में लगाए हुए लेप-अभ्यङ्ग-परिषेक आदि का पाचन एवं शोषण करना ।
क	उरःकोष्ठ, शिर, कण्ठ, जिह्वामूल, घ्राण, रसना, हृदय, आमाशय, ग्रीवा, क्लोम, सन्धियाँ, तथा मेद ।	स्नेह, स्थिरत्व गुणयुक्त, संध्यस्थि-शिरा-स्नायुओं का दृढ़बंधक; गौरव, सम्यक् उपचय, पौरुष शक्ति तथा बलकारक, धैर्य, अलोभ, क्षमा, उत्साह, ज्ञान, बुद्धि आदि भावों से युक्त; संधिश्लेष, व्रणरोपण एवं धातुपूरण गुणों से युक्त ।	१. अवलम्बक	१. उर ।	१. हृदय-त्रिक एवं शरीर के सभी कफ-स्थानों का अवलम्बन करना ।
			२. क्लेदक	२. आमाशय ।	२. अन्न को क्लिन्न करके भिन्नसंघात बनाना तथा शेष कफस्थानों में जलीयांश की पूर्ति करना ।
			३. बोधक	३. जिह्वामूल, रसना या जिह्वा, कण्ठ ।	३. रसबोध कराना ।
			४. तर्पक	४. शिर ।	४. इन्द्रियों को पुष्ट एवं तृप्त रखना ।
			५. श्लेषक	५. संधियाँ ।	५. अस्थियों एवं संधियों को स्निग्ध एवं संश्लिष्ट रखना ।

दोष वृद्धि-क्षयादि निदर्शक कोष्ठक : कोष्ठक संख्या—८ क.

दोष	प्रकुपित या अत्य० वृद्ध	वृद्ध	क्षीण	साम	निराम	उपशय
वात	शूल, आक्षेप, पर्व संकोच, पाणि-पृष्ठ-कटि-शिरोग्रह, खञ्ज-पंगु-कुब्जत्व, स्रंस-भ्रंश, कंप, भेद, क्षोभ-भ्रम-शोक-दैन्य-हर्ष-मोह-निद्रानाश आदि भाव, कषाय स्वाद या मुख की विरसता, अरुण-श्याम वर्ण की त्वचा, पारुष्य-खरता-रूक्षता, रोमहर्ष, बल-वर्णोपघात, कृशता, धातुक्षय, कण्ठध्वंस, कर्णनाद, स्तब्धता, प्रलाप, अंगचलन, उद्वेष्टन, आध्मान, स्पन्दन, विबंध, अंगमर्द, जृम्भा।	स्वाभाविक गुणों की वृद्धि के लक्षण, विपरीत द्रव्यों की आकांक्षा, त्वचा की रूक्षता एवं कृशता, विष्ठा-मूत्र-नख-नेत्र-त्वचा की श्यावता, गात्रकम्प, स्फुरण, हीन-बलत्व, इन्द्रियोपघात, मोह-दैन्य-भय-शोक-प्रलाप-निद्रानाश-संज्ञा-नाश आदि का अनुबंध, उष्णकाम्यता, मलबद्धता, आध्मान, आटोप, अस्थिवेदना, वाणी की परुषता।	अरुचि, हृल्लास, लाला-प्रसेक, अंगमर्द तथा अंगशैथिल्य, विष-मामि, अप्रहर्ष, मूढ़ता तथा मन्द चेष्टता, अल्प भाषणशक्ति, वायु के स्वाभाविक गुण-कर्मों का ह्रास, कफ वृद्धि-जन्य व्याधियों की सम्भावना।	मल-मूत्र-अधोवायु की सम्यक् प्रवृत्ति न होना, अरोचक, अग्निमांद्य, आध्मान, विबंध, तन्द्रा, गौरव, आलस्य, स्निग्धता, शैत्य-शोथ-तोद-जड़ता का सर्वांग में अनुभव, आंतों में गुड़गुड़ाहट, सभी स्रोतों में अवरोध का अनुभव, कटु एवं रूक्ष पदार्थों की अभिलाषा, प्रातःकाल, रात्रि एवं मेघोदय से कष्ट की वृद्धि, स्नेह का अनुपशय।	रूक्षता, लघुता, कोष्ठशुद्धि, वेदना की अल्पता और स्निग्ध द्रव्यों का उपशय।	मधुर-अम्ल-लवण रस, स्निग्ध-उष्ण रस-वीर्य वाले द्रव्य, गुरु विपाक, स्नेह-उष्ण-मधुर-लवण-अम्लयुक्त मृदु संशोधन एवं आहार, बस्ति-अभ्यङ्ग-स्वेद-उपनाह-उद्वेष्टन-संवाहन-परिषेक-पीडन एवं त्रासन की अनुकूलता।

दोषवृद्धि क्षयादि निदर्शक कोष्ठक : कोष्ठक संख्या—ख.

दोष	प्रकुपित या अत्य० वृद्ध	वृद्ध	क्षीण	साम	निराम	उपशय
पित्त	सारे शरीर में दाह-ऊष्मा-पाक-क्लेद-कण्डू-विस्फोट-दौर्गन्ध्य का अनुभव, मुख का स्वाद कटु, अम्ल या तिक्त, अम्लोद्गार, हरित-पीत-हारिद्र वर्ण की त्वचा, भ्रम-अतृप्ति-अरति-मद-मूर्च्छा आदि एवं तृष्णा।	स्वाभाविक गुणों की वृद्धि और विपरीत द्रव्यों की आकांक्षा, संताप, पीतावभासता, नख-नेत्र-स्वेद-मूत्र का वर्ण पीला, शीतल पदार्थों की आकांक्षा, निद्राल्पता, मूर्च्छा, इन्द्रियदौर्बल्य, निर्बलता, हृदयदौर्बल्य, ग्लानि, क्रोध, तिक्तास्यता, तृष्णा।	अग्निमांद्य, अजीर्ण, अरोचक, दाह-ऊष्मा एवं व्यथा (तोद) की अनियमितता या मन्दता, प्रभाहीनता, कम्प, गौरव तथा अंगों में परुषता, स्तब्धता, नख-नेत्र-मूत्र एवं त्वचा की शुक्लता, स्वाभाविक लक्षणों का ह्रास।	स्रोतोरोध, गुरुता, अरुचि, कटुकास्यता, अम्लोद्गार, कण्ठ एवं हृदयप्रदेश में दाह, सारे शरीर एवं सभी स्रावों में दुर्गन्ध, मल की अधिक प्रवृत्ति, बलक्षय के लक्षण, स्थिरता या अवसाद, हरित-पीत-श्याव वर्ण की त्वचा।	ईषत् ताम्र-पीत या मेचक (मयूरपिच्छ) वर्ण, शरीर शुद्धि का अनुभव, सभी स्रावों में उष्णता एवं दुर्गन्धि का अनुभव, रुचि एवं अग्नि की वृद्धि, मुख का स्वाद कटु एवं चित्त की अस्थिरता।	क्षीर-घृत पान, मधुर-तिक्त-कषायरस, गुरु विपाक, शीत-मृदु-पिच्छिल रस-वीर्य वाले द्रव्य, विरेचन, शीतल-मधुर-सुगन्धित-रम्य जल-वायु-आवासस्थल एवं पुष्पों के उपयोग से अनुकूलता।

दोषवृद्धि-क्षयादि निदर्शक कोष्ठक : कोष्ठक संख्या—ग.

दोष	प्रकुपित या अत्य० वृद्ध	वृद्ध	क्षीण	साम	निराम	उपशय
कफ	सारे शरीर में शैत्य-क्लेद-उपदेह-कण्डू-गौरव का अनुभव, आलस्य-तन्द्रा-निद्रा, तृप्ति-अरुचि-लालास्राव-अग्निमान्द्य, मधुर-अम्ल लवणास्यता और मलाधिक्य, शरीर का वर्ण अपेक्षाकृत शुक्लतर, अवयवों में शोथ-उत्सेध-स्थिरता-स्निग्धता एवं काठिन्य, क्रियाओं में दीर्घसूत्रिता तथा व्याधियों का चिर-कालानुबन्ध।	प्राकृतिक गुणों की वृद्धि, विपरीत द्रव्यों की आकांक्षा, गुरुता, अवसाद-तन्द्रा-निद्रा-आलस्य-मूर्च्छा,हृल्लास-लालाप्रसेक, स्थूलता या मेदोवृद्धि, संधियों की स्थूलता, स्रोतसों में अवरोध या जकड़ाहट का अनुभव, कास-श्वास-अग्निमांद्य का अनुबन्ध, शैत्य, विष्ठा-मूत्र-नख-नेत्र की शुक्लता।	दाह, अन्तर्दाह, शून्यता, रूक्षता, दौर्बल्य, संधिशैथिल्य, अंगमर्द-उद्वेष्टन-कम्पन-गात्रस्फोटन, निद्रानाश, हृद्द्रवता, तृष्णा तथा सर्वांग व्यथा, स्वाभाविक लक्षणों का ह्रास, वातवृद्धिजन्य व्याधियों की सम्भावना।	स्रोतोरोध, गौरव, आलस्य, अरुचि, क्षुधानाश, अग्निमांद्य, उद्गार का अभाव, त्वचा में पिच्छिलता-प्रलेप-आविलता का अनुभव, आहार का कण्ठ में अवस्थान (ऐसा अनुभव होना कि भुक्तआहार कण्ठ में ही रुका हुआ हो), शरीर के सभी स्रावों में दुर्गन्ध।	शुद्धता-लघुता एवं मधुरता का अनुभव, त्वचा की शुक्लता या पाण्डुता, क्षीणता का अनुभव, मल फेनयुक्त किन्तु बँधा हुआ, सभी स्रावों में फेनिलता।	कटु-तिक्त-कषाय रस, लघुविपाक, तीक्ष्ण-रूक्ष-विशद-उष्ण वीर्य वाले द्रव्य, तीक्ष्ण-उष्ण संशोधन, रूक्ष आहार, उपवास, जागरण, वमन, मर्दन, दौड़ना, तैरना तथा मधु एवं यूष का प्रयोग सुखकर होता है।

दूष्य विशेषपरीक्षा

धातु (रस-रक्त-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र), उपधातु (स्तन्य-रज-वसा-स्वेद-दन्त-रोम तथा ओज), धातुमल (लाला-अश्रु-रंजकपित्त-कर्णमल-जिह्वा-दन्त-कक्षा तथा शिश्न का मल-नख-लोम-नेत्र का कीचड़-मुख का स्नेह-युवा पिडिका तथा श्मश्रु) और मल तथा मूत्र को दूष्य कहा जाता है। दोषों के द्वारा दूषित होकर विकृत होना—व्याधि का रूप धारण कर लेना, इस कार्य की धातुएँ समवायिकारण होती हैं। दोष-दूष्य सम्मूर्छना के बाद ही व्याधि का जन्म होता है। त्वचा-मेद-अस्थि आदि की सामान्यदुष्टि का वर्णन पहले सामान्य परीक्षण शीर्षक के अन्तर्गत किया जा चुका है। धातुओं में वातादि के द्वारा दुष्टि होने या उनकी वृद्धि-क्षय होने पर जो विशिष्ट लक्षण उत्पन्न होते हैं, उनका संग्रह साथ के कोष्ठक (कोष्ठक संख्या ८) में किया गया है। दोषों के द्वारा अथवा औपसर्गिक जीवाणुओं के द्वारा दूष्यों में होने वाले विशिष्ट परिवर्त्तनों तथा स्वाभाविक अवस्था की उनकी मर्यादाओं आदि का आगे यथास्थल उल्लेख किया जायगा। धातुओं की दुष्टि का प्रभाव उपधातुओं तथा धातुओं के मलों पर भी पड़ता है। इसलिए दूष्यपरीक्षण में धातुओं की दुष्टि का अनुसंधान करते समय उपधातुओं तथा धातुमलों की विकृतियों का भी परीक्षण और उल्लेख करना चाहिए। बहुत बार दुष्टि का अनुमान धातुओं के कार्यों के द्वारा लगाया जाता है—स्वाभाविक अवस्था में धातूपधातुओं के द्वारा सम्पादित होने वाले कार्यों का अभाव या अस्वाभाविक अथवा विपरीत कार्य-लक्षणों की उत्पत्ति आदि के द्वारा दूष्यता का परिमापन किया जाता है। दोषों के समान धातुओं की दुष्टि का अनुमान भी उनके अधिष्ठानों या केन्द्रों में अधिक स्पष्ट होने वाली विकृति से किया जाता है (अधिष्ठानगत विकृतियों के परीक्षण की विशेष पद्धतियाँ आगे परिशिष्ट में संग्रहीत हैं)। रस दुष्टि के कारण आमाशय, हृदय तथा त्वचा में विकृति के लक्षण उत्पन्न होते हैं तथा लालाप्रसेक के द्वारा रस-मल (लाला-स्राव तथा अश्रु) की दुष्टि भी अभिव्यक्त होती है। रक्तदुष्टि के कारण रक्तवाहिनियों के माध्यम से सर्वशरीरव्यापी लक्षण उत्पन्न होने के अतिरिक्त, रक्त के मुख्य अधिष्ठान-यकृत और प्लीहा में प्रधान विकृति होती है। इसी कारण रक्तदुष्टि जन्य सभी जीर्ण व्याधियों में यकृत् तथा प्लीहा की वृद्धि-क्षय-कार्यनाश आदि अनेक विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इसी क्रम से मांस-मेदादि की दूष्यता का भी परिज्ञान करना चाहिए। शनिदेव की गति के समान एक धातुगत दुष्टि का प्रभाव अनुलोम तथा प्रतिलोम गति के द्वारा पूर्वापर धातु पर पड़ता है। रक्तदुष्टि का प्रभाव मांस तथा रस दोनों पर पड़ता है। इसी कारण जीर्ण व्याधियों में प्रायः सभी धातुएँ विकृत हो जाती हैं। दूषित धातु के द्वारा सम्बर्धित होने वाली धातु दूषित हुए विना कैसे रह सकती है! किसी एक धातु की उग्र दुष्टि या अत्यधिक क्षय-वृद्धि का प्रभाव साहचर्य सिद्धान्त के अनुसार समीपवर्त्ती धातु पर भी पड़ने लगता है। फलस्वरूप कुछ समय बाद वह धातु भी विकृत हो जाती है। इसी क्रम से सभी धातुएँ आक्रान्त होती हैं। अत्यधिक शुक्रक्षय के कारण मज्जा का क्षय होता है और धीरे-धीरे मज्जा का क्षय हो जाने पर अस्थि का नम्बर आता है।

इसी क्रम से अन्त में रक्त-रसक्षय के लक्षण उत्पन्न होते हैं। यह प्रतिलोम क्षय है। इस श्रेणी की विकृति में सभी धातुओं का संतर्पण करने के अतिरिक्त शुक्रक्षय का विशेष उपचार किया जाता है, क्योंकि जब तक व्याधि के मूल का नाश न होगा—स्थायी निवृत्ति न होगी। धातु का क्षय होने पर उपधातु तथा धातुमल का भी क्षय हो जाता है। इन्हीं कारणों से दूष्यपरीक्षा का मूल्यांकन समष्टि में ही किया जाता है। किसी एक धातु या एक अंग के मुख्यरूप में विकृत होने पर दूसरे धातु तथा अंग भी विकार ग्रस्त हो जाते हैं। इसी कारण प्राचीन चिकित्साविज्ञान में अंग-प्रत्यंगों या अवयवों की विकृति का वर्णन कम है, अवयवी की—सर्वशरीर की—विकृतियों का वर्णन अधिक है। प्रतिकर्म की दृष्टि से अवयवों की विकृति का स्वतंत्र महत्व होने पर ही हृदयरोग, वस्तिरोग, ग्रहणी, उदर आदि का पृथक वर्णन किया गया है। आमाशय-प्रदाह, बृहदंत्रशोथ, अग्न्याशय विकार आदि का स्वतंत्र क्रियाक्रम न होने के कारण पृथक् उल्लेख न करके अम्लपित्त एवं अतिसार-प्रवाहिका आदि में अन्तर्भाव किया गया है।

ऊपर अनुलोम तथा प्रतिलोम दोनों प्रकार की विकृतियों में कुछ काल बाद सारी धातूपधातुओं को विकृति का उल्लेख किया जा चुका है। किन्तु शरीर में व्याधियों का सर्वाधिक प्रभाव रक्त तथा मूत्र पर पड़ता है। रक्त दोष-धातु तथा मलों का वाहक है, अतः चाहे रक्तगत विकृति हो या न हो, विकृति का कुछ न कुछ परिणाम रक्त पर अवश्य पड़ता है। विकृति के कारण उत्पन्न विजातीय द्रव्यों को शरीर से निकालने के लिए सर्वसाधारण मार्ग मूत्र है, अतः सार्वदेही व्याधियों के परिज्ञान का रक्त के बाद दूसरा साधन मूत्र होता है। स्थानीय विकारों का शोधन स्थानीय मलों से होता रहता है—यथा श्वसनसंस्थान की विकृतियों का शोधन ष्ठीवन के द्वारा, महास्रोत या पचन-संस्थान की विकृतियों का मल के द्वारा तथा त्वचागत विकृतियों का शोधन स्वेद आदि के माध्यम से होता रहता है। ष्ठीवन-मल-नासास्राव-कीचड़ आदि की परीक्षा से केवल स्थानगत विकृतियों का परिज्ञान होता है, किन्तु रक्त तथा मूत्र के परीक्षण से सभी व्याधियों के बारे में कुछ न कुछ जानकारी अवश्य प्राप्त होती है। अतः रक्त और मूत्र को परीक्षा से प्राप्त तथ्यों का आगे विस्तृत वर्णन किया जारहा है।

यहाँ पर रक्त एवं मूत्र की स्वाभाविक मर्यादाओं के उल्लेख के साथ, उनमें होने वाले परिवर्त्तनों के आधार पर व्याधि निर्देश भी बताया गया है। विशिष्ट व्याधियों के परिणाम स्वरूप होने वाले परिवर्त्तनों एवं विशिष्ट परीक्षाओं का उल्लेख उनके प्रकरण में स्वतंत्र रूप से किया जायगा, यहाँ केवल प्राकृतिक मर्यादागत सामान्य परिवर्त्तनों का निर्देश किया गया है, क्योंकि अविशिष्ट स्वरूप के इस परीक्षण से भी कभी कभी विशिष्ट रोगों के निर्णय एवं दूष्यता का सही निर्धारण करने में पर्याप्त सहायता मिलती है।

रक्त परीक्षा : कोष्ठक संख्या–९

रक्त तथा उसके प्रमुख घटक	स्वाभाविक मर्यादा	परिवर्त्तन	परिवर्त्तन के प्रमुख कारण
१. राशि क. सम्पूर्ण रक्त	१. स्व अञ्जलि प्रमाण से आठ अञ्जलि (१ अञ्जलि लगभग १ पौण्ड के) २. शरीरभार के अनुपात में ८५ (७०–१००) सी. सी. प्रति किलोग्राम शरीरभार या शरीरभार का ८·८ प्रतिशत ३. शरीर के आयतन के अनुपात में ३२०० (२८००–३८००) सी. सी. प्रतिघन मीटर	न्यूनता या अल्परक्तमयता (Oligemia) आधिक्य या परमरक्तमयता (Hypervolemia or plethora)	विश्राम के समय, उत्थितासन तथा शीत ऋतु में स्वभावतः राशि में कुछ न्यूनता। वमन, प्रवाहिका, अतिसार, विसूचिका, जीर्णज्वर, राजयक्ष्मा, निपात, स्वेदाधिक्य और बहुमूत्रता के कारण रक्तराशि न्यून होती है। रक्तस्राव, रक्तार्श, असृग्दर, वृक्कशोफ तथा विषम ज्वर में रक्तकणों की अपेक्षाकृत अधिकता होने पर भी रक्तराशि की न्यूनता रहती है। पुरुषों, सगर्भा स्त्रियों तथा नवजात बालकों में, व्यायाम के समय, ग्रीष्म ऋतु में, पर्वतीय प्रदेशों के प्रवास में तथा पृष्ठासन में लेटे रहने पर स्वाभाविक रूप में रक्त का कुछ आधिक्य रहता है। इनके अतिरिक्त सहज हृद्रोग, अपवृक्कता, परमावटुकता और रक्तकणों की संख्या कम होने पर यथा–स्रैहिक रक्तक्षय, यकृद्दाल्युदर, अंकुशमुखकृमिजन्य पाण्डुता तथा श्वेतमयता (Leukaemia) में राशि अधिक होती है।
ख. रक्तरस	५० (४२–५६) सी. सी. प्रति किलोग्राम शरीरभार के अनुपात में या शरीरभार का ५ प्रतिशत		
ग. रक्तकण	३८ (३६–४१) सी. सी. प्रति किलोग्राम शरीर भार।		

२. सापेक्ष गुरुता (Sp. gra.)	क. रक्त १०५५–१०६०	न्यूनता	रक्तक्षय, सर्वांगशोफ, विषमज्वर, जीर्णज्वर, राजयक्ष्मा, आंत्रिक ज्वर, वृक्कशोथ, परमावटुकता तथा लसाभश्वेतमयता (Lymphoid leukaemia)।
	ख. लसीका १०२६–१०३२ ग. रक्तकण १०९०	वृद्धि	विसूचिका, अतिसार, प्रवाहिका, वमन, प्रस्वेद, श्लैष्मिक शोथ (Myxoedema), श्वसनक ज्वर (Influenza), फुफ्फुसपाक, मस्तिष्क सुषुम्ना ज्वर आदि तीव्र उपसर्ग तथा मधुमेह, कामला, बहुकायाणुमयता वाले विकार, श्यावतायुक्त विकार तथा हृदय के दक्षिण अंश की हीन क्रिया से जनित हृदयातिपात।
३. रक्तस्रवणकाल (Bleeding time)	ड्यूक (Duke) ३ मिनट नेलसन तथा वुचर (Nelson & Butcher) २–३ मिनट।	विलम्बित: ७–१० मिनट या उससे अधिक	तीव्र रक्तक्षय, नीलोहा (Purpura), अचयिक (Aplastic) रक्तक्षय, रक्तस्रावीश्वेतमयता, रक्तस्रावी घनास्र कायाणुमयता (Thrombocytheamia), अवरोधज कामला, नवजात की कामला, यकृतनाशक विकृतियाँ, जीवतिक्ति C तथा K की कमी, क्लोरोफार्म तथा फास्फोरस की विषाक्तता।
		अल्पकाल: १ मिनट या कम	पूर्वघनाल्कि, चूर्णातु, तन्त्विजन तथा जीवतिक्ति C तथा K की रक्त में अधिकता, रक्त की सापेक्ष गुरुता बढ़ाने वाले विकार, हीनरक्त निपीड, हृदय की शिथिलता आदि।
४. रक्तसंहतिकाल- (Coagulation time)	गिब्स (Gibbs) ३ (१-५) मिनट ली तथा ह्वाइट (Lee & White) ७ (५–१५) मिनट	अल्पता	तन्द्राभ तथा तन्द्रिक ज्वर (Typhoid & Typhus fevers), अन्तर्हृच्छोथ, औपदंशिक धमनिकाविकृति, प्लीहोच्छेदन के बाद, आरियोमायसिन, पेनिसिलिन, स्ट्रेप्टोमायसिन, कार्टिसोन तथा डिजिटैलिस के प्रयोगकाल में।

रक्त के घटक	स्वाभाविक मर्यादा	परिवर्त्तन	परिवर्त्तन के प्रमुख कारण
	राइट (Wright) १२ (१०–१५) मिनट हॉवेल (Howell) १६ (१५–२०) मिनट	विलम्बन	हीमोफिलिया जीवतिक्ति K तथा पूर्वघनास्रि की न्यूनता, यकृद्दाल्युदर तथा यकृत के दूसरे तीव्ररोग, अवरोधज कामला, नवजात की कामला, रक्तक्षय, श्वेत मयताएँ, फुफ्फुसपाक।
५. पूर्वघनास्रिकाल (Prothrombin time)	क्विक (Quick) १२–३० सेकेण्ड	रक्तसंहतिकाल के समान	
६. रक्त की प्रतिक्रिया	pH ७.४	क्षारोत्कर्ष (Alkalosis) pH ७.४–७.८ तक या अधिक	जठरव्रण (Peptic ulcer), परिणामशूल आदि व्याधियाँ, अधिक मात्रा में पर्याप्त समय तक क्षार द्रव्यों का प्रयोग, वमन या पित्तातिसार में शरीर से अम्ल का अधिक उत्सर्ग, ज्वर–व्यायाम–मस्तिष्कशोथ–अपतंत्रक–वायुमण्डल का उच्चताप तथा प्रवीजन बढ़ाने वाली अवस्था के कारण प्राङ्गार द्विजारेय की रक्त में न्यूनता।
		अम्लोत्कर्ष (Acidosis) pH ७.० या कम	प्राङ्गार द्विजारेय (Co_2) की अधिकता वाले वातावरण में निवास, वायुकोष विस्फार (Emphysema), हृदय की अकार्यक्षमता, तमकश्वास और वमन–प्रवाहिका–अतिसार आदि में शरीर से क्षारद्रव्यों का अधिक उत्सर्ग हो जाने के कारण; अधिक लंघन या क्षारयुक्त द्रव्यों का उपयोग न करना अथवा स्निग्ध आहार का अधिक प्रयोग, मधुमेह और वृक्क के विकारग्रस्त होने पर अम्लद्रव्यों का उत्सर्ग न होने से

			तथा चिकित्सा या दूसरे कारणों से अम्ल द्रव्यों का अतियोग। मधुमेह, विसूचिका, तीव्र तथा चिरकालीन वृक्कशोथ, मूत्र-विषमयता तथा शैशवीय प्रवाहिका में अम्लोत्कर्ष का अधिक महत्व तथा आमवातज्वर एवं तीव्र रक्तनाश में सामान्य अम्लोत्कर्ष।
॰. प्राङ्गार द्विजारेय-योग शक्ति (Co_2)	५५–७५%	७५% से अधिक ५५% से कम	क्षारोत्कर्ष। अम्लोत्कर्ष।
ः. जारक धारिता Oxygen capacity)	१७·५–२१·५%	अजारकता (Anoxia)	शोणवर्त्तुलि की कमी तथा रुधिर कायाणुओं की संख्याल्पता वाले विकार।
॰. शोणवर्त्तुलि Heamoglobin)	क. सम्पूर्ण (Absolute):— नवजात–२० ग्राम% क्षीरप-क्षीरान्नाद–१५·५ ग्राम% वर्धमानावस्था–१२·५–१३·८% युवावस्था–१३·८–२०% वृद्धावस्था–१३·२–१४·३% पुरुष–१५·६ (१४·७–२०) स्त्री–१३·७ (१२·५–१६·५)	अल्पवर्णता (Hypochromia)	आहार में लौह घटकों की न्यूनता, लौहपाचन एवं सात्म्यीकरण के लिए आवश्यक जठर रस की अल्पता और यकृद्दाल्युदर तथा यकृत के दूसरे जीर्णविकार, संग्रहणी-अतिसार-प्रवाहिका आदि के कारण लौहप्रचूषण में बाधा, अंकुशमुखकृमिरोग, रक्तार्श-रक्तातिसार-रक्तपित्त आदि रक्तक्षयकारक व्याधियाँ, विषमज्वर, राजयक्ष्मा, गर्भिणी-रक्ताल्पता, असृग्दर, कर्कटार्बुद (Cancer), जीर्णवृक्कविकार, हारिद्र रोग (Chlorosis)।
	ख. साहली (Sahli):— पुरुष–९५–११० यूनिट% स्त्री–९०–१०५ ” ”	शोणवर्त्तुलिमयता (Heamoglobi-neamia)	गम्भीर स्वरूप के तीव्र उपसर्ग, शोणांशिक माला गोलाणु-जन्य दोषमयता, शोणांशिक रक्तक्षय, घातक विषमज्वर, अग्निदग्ध, हिमदग्ध (Frost bite) आदि में शोणवर्तुलि के स्वतंत्र होने के कारण।

घटक	स्वाभाविक मर्यादा	परिवर्त्तन	परिवर्त्तन के प्रमुख कारण
कामलादेशना (…terus index)	२–५ यूनिट (२–५ मि. ग्रा. रक्तपित्त प्रति १०० सी. सी. रक्तरस)	देशनावृद्धि	सामान्यतया यकृत की कोषाओं के विकार, पित्तप्रवाह में वाधा तथा शोणांशुन वाली व्याधियों में कामलादेशना बढ़ती है।
		कामलादेशना ६–१५ यूनिट	वैनाशिक तथा शोणांशिक रक्तक्षय, विषमज्वर, आन्तरिक रक्तस्राव तथा पैत्तिक प्रवाह में आंशिक अवरोध।
		,, १५–३० यूनिट	सामान्य पित्तवाहिनी में अवरोध, अग्न्याशयशीर्ष का कर्कटार्बुद, यकृद्दाल्युदर, बैंटी का रोग (Banti's disease), गर्भापस्मार (Eclampsia), गर्भिणी का वैनाशिक वमन, नवजात की कामला तथा फास्फेट आदि से यकृत की विषाक्तता।
		,, ३० से अधिक	तीव्रप्रसेकी कामला, तीव्र पीत यकृच्छोथ (Acute yellow atrophy of liver), पैत्तिक अवरोधकर-यकृद्दाल्युदर।
. अवसादनगति (E. S. R.)	वेस्टरग्रेन (Westergren)— पुरुष–१–७ मि. मि. १ घंटे में स्त्री–३–१० ,, ,, ,, विण्ट्रॉब (Wintrobe)— पुरुष–०–९ मि. मि. १ घंटे में स्त्री–०–२० ,, ,, ,,	अवसादनवृद्धि— अल्प–१५–४० मि. मि.	वैनाशिक रक्तक्षय, अष्ठीलावृद्धि (Senile hypertrophy), शस्त्रकर्म-अस्थिभङ्ग एवं मसूरीप्रयोग आदि के द्वारा विजातीय प्रोभूजिनों का रक्त में प्रवेश होने पर, रुधिर-कायाणुओं की न्यूनता वाले विकार—तीव्र रक्तक्षय-रक्तस्राव-श्वेतमयता आदि, श्लेष्मक तथा आंत्रिक ज्वर, श्वसनी शोथ-तुण्डिका शोथ तथा तीव्र प्रतिश्याय आदि।

		मध्यम-४०-७५ " "	रोमान्तिका, लोहितज्वर, आमवातज्वर, राजयक्ष्मा, फुफ्फुसपाक, मस्तिष्कावरण शोथ, श्वसनिकाभिस्तीर्णता, फुफ्फुस विद्रधि तथा अन्तःपूययुक्त विकार, अस्थिक्षय, सक्रिय फिरंग, हृच्छोथ, उदरावरण शोथ, तीव्र अस्थिमज्जा शोथ, आमवाताभ सन्धिशोथ (Rheumatoid arthritis), वृक्कशोथ, अपवृक्कता, विविध प्रकार के घातक अर्बुद, हृद्धमनी घनास्रता (Coronary thrombosis), सोमल-शीश आदि धातुओं की विषाक्तता, अत्यधिक रक्तक्षय, तीव्र पाण्डुता आदि।
		अतितीव्र-७५ से अधिक	फौफ्फुसिक राजयक्ष्मा की तीव्रावस्था, उपसर्गी अन्तर्हृच्छोथ (Infective endocarditis) घातक अर्बुदों की समस्थाय (Metastasis) अवस्था और औपसर्गिक व्याधियों—रोमान्तिका आदि का गम्भीर वेग।
२. सकल प्रोभूजिन (Total Protein)	६·५–८·५ ग्राम प्रति १०० सी.सी. रक्त	परमप्रोभूजिनमयता (Hyperproteinaemia)	अतिसार-प्रवाहिका-विसूचिका आदि द्रवापहरण के द्वारा रक्तसंकेन्द्रणकारक व्याधियाँ, तीव्र विस्तृतदग्ध-वातकर्दम दण्डाणुमयता तथा असंयोज्य रक्तसंक्रम के कारण शोणांशन होने पर शोणवर्त्तुलि के स्वतन्त्र होने से, कालज्वर तथा कर्कटार्बुदोत्कर्ष (Carcinomatosis) में आवर्त्तुलि एवं तन्त्विजन का अधिक निर्माण होने से।
क. शुक्लि- (Albumin)	४·५ (३·७–६·७) ग्राम प्रति १०० सी. सी. रक्त रस।		
ख. वर्त्तुलि (Globulin)	२·७ (१·५–३) ग्राम प्रति १०० सी. सी. रक्त रस।	अल्पप्रोभूजिनमयता (Hypoproteinaemia)	सगर्भावस्था, जलोदर, वृक्कशोथ तथा अपवृक्कता आदि के कारण शुक्लि का अधिक उत्सर्ग, क्षत-शस्त्रकर्म या अग्निदग्ध के कारण रक्त या रक्तरस का अधिक क्षय, यकृद्दाल्युदर

रक्त के घटक	स्वाभाविक मर्यादा	परिवर्त्तन	परिवर्त्तन के प्रमुख कारण
[illegible]ुक्ति-आवर्त्तुलि-[illegible]नुपात—	१·५ : १ से ३·५ : १ तक प्राणिज प्रोभूजिनों से शुक्ति तथा वानस्पतिक प्रोभूजिनों से आवर्त्तुलि की उत्पत्ति तथा वृद्धि ।		तथा यकृत के दूसरे विकारों के कारण हीन प्रचूषण, आहार में प्रोभूजिन द्रव्यों की न्यूनता, पचनसंस्थान के विकार-अतिसार-संग्रहणी आदि, जीर्ण रक्तक्षय तथा हीन पोषण ।
ग. तन्त्विजन (Fibrinogen)	२५० (२००-४००) मि. ग्राम प्रति १०० सी. सी. रक्त रस ।	मात्रावृद्धि	आंत्रिक ज्वर के अतिरिक्त समस्त औपसर्गी ज्वर, सगर्भावस्था तथा रक्तस्राव के तुरन्त बाद और अवसादन गति बढ़ाने वाले विकारों में तन्त्विजन की प्रायः वृद्धि होती है ।
		मात्रा न्यूनता	आंत्रिक ज्वर, यकृद्दाल्युदर तथा यकृत के दूसरे समस्त जीर्ण विकारों में इसकी मात्रा घटती है ।
घ. पूर्व घनास्त्रि (?rothrombin)	०·४ मि. ग्रा. प्रति १००सी.सी. रक्तरस	न्यूनता	जीवतिक्ति K का आहार में अभाव या अल्पता, K का प्रचूषण होने के लिए आवश्यक पित्त का ह्रास, संग्रहणी-अतिसार आदि महास्रोत के जीर्ण विकार तथा यकृद्दाल्युदर, फिरंग, घातक अर्बुद तथा श्वेतमयता एवं सोमल आदि के कारण यकृत कोशाओं का अपजनन, तीव्र पीतयकृच्छोष ।

१३. अप्रोभूजिन भूयाति (Non protein Nitrogen)	२०–४० मि. ग्रा. प्रति १०० सी.सी. रक्तरस । (मिह की मात्रा प्रायः अप्रोभूजिन भूयाति की ५०% होती है)	मात्रावृद्धि	तीव्र वृक्कशोथ, जीर्ण वृक्कशोथ की अन्तिम अवस्था, वृक्कजरठता (Nephrosclerosis), मूत्रविषमयता तथा हृदयातिपात के कारण इनका उत्सर्ग न होने से रक्तरस में अधिक संचय, प्रोभूजिनों का अधिक सेवन, औपसर्गिक विकार, परमावटुकता, आन्तरिक्त रक्तस्राव, हृदय धमनी घनास्रता आदि में प्रोभूजिनों का अधिक नाश होकर इनकी वृद्धि, प्रवाहिका-अतिसार-वमन-रक्तस्राव-शोफ आदि के कारण रक्त से द्रवापहरण होने पर वृक्कद्वारा इनको पूर्णमात्रा में उत्सर्गित न कर सकने तथा अष्ठीलाभिवृद्धि से रक्त में अधिक संचय होने से।
क. मिह (Urea) तथा मिहभूयाति	१५–३५ (४० केवल वृद्धों में) मि. ग्रा. %	मात्रावृद्धि	वृक्कविकार, मूत्रविषमयता, उच्च रक्तनिपीड (घातक) तथा अप्रोभूजिन भूयातिवर्द्धक दूसरे विकार ।
(Urea Nitrogen)	१२–१८ ,, ,, ,,	मात्राल्पता	गर्भापस्मार, तीव्र पीत यकृच्छोष, अनशन तथा यकृत् की अकार्यक्षमता ।
ख. मिहिक अम्ल (Uric Acid)	१–३ ,, ,, ,,	मात्रावृद्धि	वातरक्त, गर्भापस्मार, हृदय का असंतुलन (Irregulariteis), फुफ्फुसपाक तथा श्वेतकणमयता में श्वेत कणों के विघटन से और शीशविषता के कारण इसकी वृद्धि।
ग. क्रिव्यियी (Creatinine)	१–२ ,, ,, ,,	मात्रावृद्धि	घातक वृक्क जरठता, अष्ठीला वृद्धिजन्य मूत्रावरोध, तीव्र वृक्कशोथ तथा मूत्र विषमयता ।
		मात्राल्पता	मांसशोष तथा मांसक्षयकारक व्याधियाँ ।

रक्त के घटक	स्वाभाविक मर्यादा	परिवर्त्तन	परिवर्त्तन के प्रमुख कारण
१४. रक्तशर्करा (Blood suger)	१०० (८०-१२०) मि. ग्रा. प्रति १०० सी. सी. रक्त रस	परम मधुमयता (Hyperglycemia) १२० मि. ग्राम प्रतिशत से अधिक अनाहार कालीन रक्त शर्करा	मधुमेह, यकृत-अग्न्याशय-पित्ताशय के विकारों से पीडित होने पर भी मिष्ठान्न का अतियोग, अवटुका (Thyroid), पोषणिका (Pituitary), अधिवृक्क (Adrenals) आदि अन्तःस्रावी ग्रंथियों की कार्याधिक्यता, धमनी जरठतायुक्त उच्च रक्तनिपीड, वैनाशिक रक्तक्षय, फिरंग की कुछ अवस्थाओं में, जीर्ण तमकश्वास तथा प्रांगारद्विजारेय का रक्त में आधिक्य, मस्तिष्कगत रक्तस्राव-करोटीभंग-काम-क्रोध-मानसिकक्षोभ आदि के कारण अन्तःशीर्षण्य निपीड की वृद्धि होने से परममधुमयता की उत्पत्ति।
		अल्प मधुमयता (Hypoglycemia) ८० मि. ग्राम प्रतिशत से कम।	इंसुलिन का अतियोग, अग्न्याशय के अर्बुद, अवटुका-पोषणिका-अधिवृक्क आदि की अल्पकार्यता, यकृत के विकार, अत्यन्त श्रम, दीर्घकालीन अनशन तथा स्तन्यकाल में अल्प मात्रा में मधुमयता की उत्पत्ति।
१५. विमेद (Total lipids)	५००-७०० ,, ,, ,,		
क. पैत्तव (Cholesterol)	१६० (१४०-२००) ,, ,, ,,	परम पैत्तवमयता (Hypercholest-rolemia) ३०० मि. ग्रा. या अधिक प्रतिशत होने पर।	आहारमें स्निग्ध द्रव्यों-अण्डा, मक्खन, मलाई, शूकरमांस आदि का अधिक प्रयोग, पित्ताश्मरी तथा अवरोधक कामला, अवटुकाग्रंथि की कार्यहीनता, मधुमेह, अपवृक्कता, जीर्ण वृक्कशोथ से पीडित होने पर और तीव्रऔसर्गिक रोगोंसे निवृत्त होने के बाद तथा गर्भधारणा के तीसरे मास से प्रसवोत्तर २ मास तक इसकी राशि अधिक होती है।

ख. वसाम्ल (Fatty Acids)	२५० (२००–४००) ,, ,, ,,	अल्प पैत्तवमयता (Hypocholesterolemia)	वैनाशिक, शोणांशिक आदि सभी प्रकार के रक्तक्षय, परमावटुकता, यकृत के तीव्र विकार, राजयक्ष्मा की गंभीर अवस्था, औसर्गिक ज्वरों की तीव्रावस्था आदि।
१६. पित्तरक्ति (Bilirubin)	०·२५ (०·१–०·५) ,, ,, ,,	पित्तरक्तिमयता (Bilirubinaemia)	सर्पविष-शोणांशिकविष-वैनाशिक रक्तक्षय-घातक विषम ज्वर-विरोधी रक्त संक्रम तथा सहज एवं जन्मोत्तर कामला में रुधिरकायाणुओं के विनाश द्वारा इसकी अधिक उत्पत्ति होने से, पित्तकेशिकाओं तथा पित्तवाहिनी में प्रसेक-शोथ या अर्बुद आदि अन्य कारणों से अवरोध होने पर पित्तरक्ति का प्रचूषण होने से, तीव्र रासायनिक तथा औपसर्गिक विषों के प्रभाव से यकृत कोशाओं का शोष और पित्तमयता होने (Cholaemia) से इसकी रक्त में वृद्धि।
१७. रक्तचूर्णातु Bloodcalcium)	बच्चों में ९ (९–११) ,, ,, ,, वयस्कों में १० ,, ,, ,,	परमचूर्णमयता (Hypercalcemia) १२ मि. ग्राम से अधिक	परावटुक (Parathyroid) ग्रंथि की कार्याधिक्यता, जीवतिक्ति D का अतियोग, रक्तस्राव के बाद, श्वासावरोध, क्षारोत्कर्ष, परमप्रोभूजिनमयता, रुधिरमयता से आक्रान्त व्यक्तियों और स्तन्यकाल तथा गर्भधारणा के बाद स्त्रियों में।
		अल्पचूर्णमयता (Hypocalcemia) ८ मि. ग्राम से कम	परावटुक ग्रंथि की कार्यहीनता एवं अपतानिका (Tetany), अस्थिवक्रता (Rickets), अस्थिमृदुता (Osteomalacia) तथा जीवतिक्ति D की अल्पता, संग्रहणी आदि जीर्ण पचनविकारों के कारण चूर्णातु का प्रचूषण न होना, तीव्र वृक्कशोथ-अपवृक्कता आदि अल्पप्रोभूजिनमयताकारक विकार, कामला तथा अनूर्जताजनित व्याधियाँ।

रक्त के घटक	स्वाभाविक मर्यादा	परिवर्त्तन	परिवर्त्तन के प्रमुख कारण
८. रक्तभास्वर (Blood phosphorus)	बाल्यावस्था—४–६ मि. ग्रा. प्रति १०० सी. सी. रक्त रस युवावस्था—२–५ मि. ग्रा. प्रति १०० सी. सी. रक्त रस	मात्रा वृद्धि	जीर्ण वृक्कशोथ एवं अपवृक्कता आदि के कारण भास्वर का उत्सर्ग न होना, मूत्र विषमयता, परावटुक ग्रंथि की कार्यहीनता, अवरोधज कामला, अस्थिभङ्ग तथा दूध-छेना-अण्डा-मांस-मछली आदि भास्वरप्रधान द्रव्यों का आहार में अधिक उपयोग।
		मात्राल्पता	अस्थिवक्रता, अस्थिमृदुता आदि जीवतिक्ति D की न्यूनता वाले विकार, परावटुक ग्रंथि की कार्यवृद्धि के कारण चूर्णातु की अधिकता होकर भास्वर की अल्पता तथा आहार में भास्वर-जातीय द्रव्यों का अभाव अथवा पचन-विकारों के कारण उनका अल्प प्रचूषण।
९. रक्तनीरेय (Blood chlorides)	सम्पूर्ण रक्त—४५०–५०० मि. ग्रा. प्रति १०० सी. सी. रक्त रस ५५०–६५० मि. ग्रा. प्रति १०० सी. सी. रुधिरकायाणु ३०० मि. ग्रा. प्रति १०० सी. सी.	मात्रा वृद्धि	तीव्र या अनुतीव्र वृक्कशोथ और अपवृक्कता आदि के कारण उत्पन्न अल्प प्रोभूजिनमयता, जलोदर, सर्वांगशोफ, हृद्रोग, गर्भापस्मार, अष्ठीलावृद्धिजन्यमूत्रावरोध, रक्तक्षय, आहार में लवण का अधिक प्रयोग तथा अधिवृक्क एवं पोषणिका ग्रंथि के कार्याधिक्य से वृक्कद्वारा नीरेयों का अपर्याप्त उत्सर्ग होने से।
		मात्राल्पता	उदकमेह-मधुमेह-बहुमूत्रता तथा मूत्रल ओषधियों के अधिक प्रयोग से वृक्कद्वारा अधिक उत्सर्ग हो जाने पर, विस्तृत दग्ध या अन्य कारणों से लसीका का अधिक मात्रा में

			नाश, अत्यधिक वमन एवं अतिसार आदि के कारण नीरेयों का प्रचूषण न होने से, तप्त स्थानों में अधिक समय तक रहने पर स्वेद के द्वारा नीरेयों का क्षय होने और अत्यधिक रक्तस्राव, फुफ्फुसपाक तथा एडिसनरोग (Addison's disease) से पीडित व्यक्तियों में।
२०. लौह (Iron)	पुरुष—०·१२५ मि. ग्रा. प्रति १०० सी. सी. रक्त रस स्त्री—०·०९ मि. ग्रा. प्रति १०० सी. सी. रक्त रस	मात्राल्पता	आहार में लौहप्रधान वानस्पतिक द्रव्यों की न्यूनता, जाठर पित्त की कमी, संग्रहणी, अतिसार आदि प्रवाहिका सदृश जीर्णविकार, यकृत के विकार ग्रस्त होने से लौह का अल्प प्रचूषण, रक्तस्राव, हारिद्र रोग, अल्प वर्णिक रक्तक्षय (Hypochromic aneamia), अंकुशमुख कृमिरोग, गर्भिणी का रक्तक्षय, शैशवीय रक्तक्षय आदि।
२१. लोहक (Magnesium)	१·५—३·५ मि. ग्रा. प्रति १०० सी. सी. रक्त रस	लौह के समान	
२२. क्षारातु (Sodium)	३००—३६० मि. ग्रा. प्रति १०० सी. सी. रक्त रस	रक्त नीरेयों के समान	
२३. दहातु (Potassium)	१८—२२ मि. ग्रा. प्रति १०० सी. सी. रक्त रस	रक्त नीरेयों के समान	
२४. जल	सम्पूर्ण रक्त—७८—८२ प्रतिशत	मात्राल्पता	अतिसार-वमन-विसूचिका-बहुमूत्रता-प्रस्वेद आदि के कारण जलीयांश का अधिक उत्सर्ग होने, परमज्वर-अंशुघात में जल का नाश होने तथा अधिक श्रम एवं संतप्त स्थानों में निवास आदि कारणों से मात्राल्पता।

रक्त के घटक	स्वाभाविक मर्यादा	परिवर्त्तन	परिवर्त्तन के प्रमुख कारण
	रक्त रस—९० प्रतिशत	मात्राधिक्य	प्रोभूजिनों का अधिक नाश या वृक्कद्वारा उत्सर्ग होने पर तथा सर्वांग शोफ एवं जलोदर आदि व्याधियों से पीडित होने पर।
रक्तकण २५. घनास्त्रकायाणु (Thrombocytes) या रक्तचक्रिकाएँ (Blood platelets)	२–५ लक्ष प्रति घन मि. मि.	घनास्त्रकायाणूत्कर्ष (Thromocytosis)	प्रसव एवं रक्तस्राव के उपरान्त कुछ काल तक, फुफ्फुसपाक तथा अन्य पूयजनक उपसर्गों से पीडित होने पर तथा निवृत्ति काल में, अस्थिभग्न-धातुनाश-शास्त्रकर्म आदि शारीरिक धातुओं का नाश करने वाली परिस्थितियों में, जीर्ण राजयक्ष्मा, हाजकिन के रोग (Hodgkin's), तीव्र आमवातज्वर, रक्तसंक्रम के उपरान्त तथा अत्यधिक श्रम करने के बाद इनकी अधिक उत्पत्ति होने से वृद्धि तथा प्लीहोच्छेदन के बाद इनका नाश न होने के कारण वृद्धि होती है।
		घनास्त्रकायाण्वपकर्ष (Thromocytopenia)	बैण्टी रोग (Banti's disease) आदि में प्लीहा के द्वारा इनका अधिक विनाश होने से अपकर्ष, अन्तर्हृच्छोथ-नीलोहा (Purpura) आदि में केशिकाओं की प्राचीर का रोपण करने में अधिक व्यय होने के कारण इनकी कमी, तीव्र उपसर्ग, वैनाशिक रक्तक्षय, यकृद्दाल्युदर आदि में मज्जा के विषाक्त होने से उत्पादन कम होने के कारण हीनता और अचयिक (Aplastic) रक्तक्षय में मज्जा शोष होने के कारण इनका अपकर्ष होता है।

		अल्पताजनित व्याधियाँ	केशिका प्राचीरों की भङ्गुरता, व्रण का रोपण न होना, घनास्र तथा रक्तसंहति (Thrombus & coagulation) में विलम्ब, रक्तस्राव की प्रवृत्ति आदि ।
२६. रुधिरकायाणु (R. B. C)	पुरुष-५२ (४८-६०) लक्ष प्रतिघनमि.मि. स्त्री-४५ (४२-५२) " " "	बहुकायाणुमयता (Polycythemia) ५५ लक्ष से अधिक स्त्रियों में ६० लक्ष से अधिक पुरुषों में	अतिसार-प्रवाहिका-विसूचिका-अतिस्वेद आदि के द्वारा द्रवापहरण हो जाने पर प्रति घन मि० मि० रुधिरकायाणुओं की वृद्धि होती है । वास्तव में उनकी संख्या बढ़ती नहीं, जलीयांश कम होने से बढ़ी हुई ज्ञात होती है । ऊँचे पर्वतीय स्थानों में प्रवास-हृद्रोग-वायुकोष विस्फार (Emphysema)-श्वास-स्वरयंत्र संनिरोध-कृत्रिम वातोरस (A. P.) तथा फौपफुसिक तन्तूत्कर्ष (Fibrosis of lungs) आदि विकारों में प्राणवायु की अधिक आवश्यकता होने के कारण रुधिरकायाणु संख्या में बढ़ते हैं । निद्रालसी मस्तिष्क शोथ (Encephalitis lethargica), लासक (Chorea), जलशीर्ष (Hydrocephalus), मस्तिष्क अर्बुद, अधिवृक्क-बीजग्रंथि-पोषणिका ग्रंथि के विकार तथा शोणवर्त्तुलि-को निष्क्रिय बनाने वाले द्रव्य-शुल्वौषधियों आदि का अधिक प्रयोग होने पर भी इनकी वृद्धि होती है ।
		अल्प कायाणुमयता (Oligocythemia) स्त्रियों में ४० लक्ष तथा पुरुषों में ४५ लक्ष से कम संख्या ।	सभी प्रकार के रक्तक्षय, विशेषकर वैनाशिक तथा अचयिक रक्तक्षय, गर्भिणी रक्तक्षय आदि ।

रक्त के घटक	स्वाभाविक मर्यादा	परिवर्त्तन	परिवर्त्तन के प्रमुख कारण
२७. श्वेत कायाणु (W. B. C.)	७५००(५ से ११) सहस्र तक प्रति घन मि. मि.		स्वाभाविक रूप में भोजनोत्तर ६ घंटे तक, गर्भ धारणा तथा प्रसव के बाद तथा नवजात में श्वेत कायाणुओं की वृद्धि होती है।
क. बह्वाकारी (Polymorphs)	६०–७० प्रतिशत या २०००–६००० प्रति घन मि. मि.	श्वेत कायाणूत्कर्ष या बह्वाकारी श्वेत कायाणूत्कर्ष (Leucocytosis) बह्वाकारियों की संख्या १० सहस्र से अधिक होने पर	पूयजनक तृणाणुओं—विशेष कर माला-स्तवक-फुफ्फुस-मस्तिष्क-गुह्यगोलाणु, प्लेगदण्डाणु, स्थूलांत्रदण्डाणु (B. coli) और नीलपूयदण्डाणु (B pyocyaneus) जनित उपसर्गों में इनकी पर्याप्त वृद्धि होती है। तीव्र उपसर्ग, उत्तम प्रतिकारक शक्ति तथा पूय का गम्भीर अंगों में अवस्थान या पूय का भीतरी निपीड होने पर श्वेत कणों की वृद्धि अपेक्षाकृत अधिक होती है। मुख्यतया दोषमयता-पूयमयता-पूययुक्त विद्रधि-व्रण या शोफ-अन्तःपूयता-तुण्डिकाशोथ-पित्ताशय शोथ-पर्युदर शोथ (Peritonitis)-आंत्रपुच्छ शोथ (Appendicitis)-अस्थिमज्जा शोथ-विसर्प-हृदन्तः शोथ आदि शोथ युक्त पूयजीवाणुजन्य औपसर्गिक रोगों में, फुफ्फुसपाक-श्वसनीफुफ्फुसपाक-मस्तिष्कावरणशोथ-प्लेग-आमवातज्वर-तीव्रराजयक्ष्मा-विसूचिका-रोहिणी-मसूरिका आदि औपसर्गिक ज्वरों में अधिक वृद्धि और आन्तरिक रक्तस्राव होने पर, अभिघात एवं दग्ध के उपरान्त तथा घातक अर्बुद, तीव्र-वातरक्त, अस्थि वक्रता, यकृद्दाल्युदर, आंत्रावरोध (Intestinal obstruction), पीतयकृच्छोष, गर्भापस्मार, मूत्र-विषमयता, मधुमेहज संन्यास, हृद्धमनीघनाद्यता आदि व्याधियों में श्वेत कणों की मध्यम वृद्धि होती है।

		श्वेतापकर्ष या क्लीबापकर्ष (Leucopenia or neutropenia) संख्या ३ सहस्र से कम होने पर	आंत्रिक-उपांत्रिक ज्वर, माल्टा ज्वर, विषम ज्वर, काल ज्वर, रोमान्तिका, पाषाणगर्दभ, इन्फ्लुएंजा, तन्द्रिक ज्वर, दण्डक ज्वर, परिवर्त्तित ज्वर, जीर्ण अनुपद्रुत क्षय और तीव्र विषमयताओं में तथा रोगी की प्रतिकारक शक्ति के दुर्बल होने पर, दुःस्वास्थ्य हीनपोषण तथा अनवधानता की अवस्थाएँ, जीवतिक्ति A की न्यूनता, हारिद्र रोग, वैनाशिक रक्तक्षय, अचयिक रक्तक्षय, वैंटो तथा हाजकिन के रोग और सोमल-अंजन-पारद-शीशा इत्यादि की विषाक्तता ।
ख. लसकायाणु (Lymphocytes)	२५–३०% या १०००–३००० ”	लसकायाणूत्कर्ष ४०% या ४ सहस्र से अधिक (Lymphocytosis)	कुकास (Whooping cough), प्लेग, अनुपद्रुत राजयक्ष्मा, लसाभ श्वेतमयता, अकणिककायाणूत्कर्ष (Agranuloleucocytosis), आंत्रिक-उपांत्रिक ज्वर, वैनाशिक-अचयिक रक्तक्षय, हारिद्र रोग, वैंटी तथा हाजकिनका रोग, सहज फिरंग, इन्फ्लुएञ्जा, रोमान्तिका, मसूरिका, पाषाणगर्दभ, शैशवीय अंगघात, दण्डक ज्वर, माल्टाज्वर, तन्द्रिक ज्वर, विषम ज्वर तथा अस्थिवक्रता, प्रशीताद, मेदोवृद्धि, मधुमेह आदि विकारों में ।
		लसापकर्ष (Lymphopenia) १५% या १ सहस्र से कम	अवसाद—क्लान्ति की अवस्थाएँ, औदरिक दुर्घटनाएँ (Catastrophies), दग्ध, हृदयातिपात, जीवतिक्तियों का हीन योग, मूत्रविषमयता की अन्तिम अवस्था, अति-तीव्र उपसर्गों में और बहाकारियों की वृद्धि होने पर ।

रक्त के घटक	स्वाभाविक मर्यादा	परिवर्त्तन	परिवर्त्तन के प्रमुख कारण
ग. उषसिप्रिय (Eosinophil)	१-४% या ५०-४०० प्रतिघन मि.मि.	उषसिप्रियता (Eosinophilia) ७% या ४०० से अधिक	कृमिरोग-अंकुश मुख १५%, श्लीपद कृमि २०-६०%, पेशीगत स्फीत कृमि २०-५०%, गण्डूपद १०-२५%, अनूर्जताजन्य रोग—श्वास के आवेग काल में ३०%, तृणपुष्पाल्य ज्वर १५%, शीतपित्त ८०%, पामा ५-१५%, विजातीय प्रोभूजिन, पेनिसिलिन तथा प्रति जीवी औषधों के प्रयोग से; विसूचिका-आमवात-सक्रिय क्षय-औपसर्गिक पूयमेह तथा लोहित ज्वर के प्रकोप काल में तथा सामान्यतया सभी औपसर्गिक रोगों के सन्निवृत्त काल में; हाजकिनका रोग तथा श्वेतमयता, त्वक्रोग, अस्थिमज्जा के विकार-अस्थिमृदुता-वक्रता एवं अर्बुद आदि; उष्ण कटिबंधज उषसि प्रियता तथा प्लीहोच्छेदन के बाद और कुछ व्यक्तियों में कुलज रूप में।
घ. एक कायाणु (Monocytes)	२-६% या १००-६०० ,, ,,	एक कायाणूत्कर्ष (Monocytosis) ५ प्रतिशत या ५०० से अधिक	विषमज्वर, काल ज्वर, जीर्ण आमातिसार, निद्रारोग (Trypanosomiasis), दण्डक ज्वर, तन्द्रिक ज्वर, आंत्रिक ज्वर, हाजकिनका रोग, फिरंग तथा अनुतीव्र तृणाण्विय अन्तर्हृच्छोथ (Suba cute bacterial endocarditis), एक कायाण्विक श्वेतमयता (Monocytic leukaemia)।
ङ. क्षारप्रिय (Basophil)	०-५% या ०-५० ,, ,,	क्षारप्रियता (Basophilia)	मज्जाभ श्वेतमयता (Myloid leukaemia), रुधिरमयता, यकृद्दाल्युदर, नासाकोटर का जीर्ण शोथ (Ch. Rhinitis), मसूरिका एवं लघुमसूरिका।

मूत्र परीक्षा : कोष्ठक संख्या—१०

भौतिक परीक्षा	स्वाभाविक मर्यादा	परिवर्त्तन	सम्भाव्य व्याधियाँ
१. राशि (Total quantity)	१५०० सी. सी. या २५ छटाक २४ घण्टे में	मात्रा में परिवर्त्तन	स्वाभाविक स्थिति में ऋतु-देश-काल-आहार-व्यायाम-आयु तथा शरीर भार के अनुपात में मूत्र की राशि घटती या बढ़ती रहती है। मधुमेह, उदकमेह, वहुमूत्रमेह, जीर्णवृक्क शोथ, भय, अपतंत्रक आदि विकारों में भी राशि बढ़ती है। वमन-विरेचन-विसूचिकादि के द्वारा द्रवापहरण होने पर तथा हृदय की दुर्बलता, वृक्कशोथ आदि विकारों में मूत्र की राशि कम होती है।
२. रंग (Colour)	सामान्यतया हल्का पीला। मूत्र की राशि-विशिष्टगुरुता-संकेन्द्रण-प्रतिक्रिया आदि तथा आहार द्रव्य-व्यायाम आदि के अनुपात में मूत्र के रंग में स्वाभाविक रूप से परिवर्त्तन होता है।	१. जल के समान वर्णहीन या ईषत् पीत	उदकमेह, बहुमूत्रमेह, मधुमेह, चिरकालीन वृक्कशोथ, अपतंत्रक, अपस्मार।
		२. पीतवर्ण	व्यायाम-प्रस्वेद आदि कारणों से मूत्र का संकेन्द्रण, आहार-औषध के रूप में गाजर, रेवचीनी, सनाय की पत्ती या पित्तयोगों का प्रयोग। रक्तपित्ति की मात्रा वृद्धि।
		३. हरितवर्ण	स्वाभाविक रागकों की अधिकता या मूत्र के गाढ़ा होने पर और पित्ताधिक्य या कालमेह से।
		४. लालवर्ण	रक्तकण, शोण वर्त्तुलि की उपस्थिति या स्वाभाविक मूत्र रुधिरि (Uroerythrin) की मात्रा अधिक होने अथवा विशेष आहार या औषधियों के प्रयोग से।

भौतिक परीक्षा	स्वाभाविक मर्यादा	परिवर्त्तन	सम्भाव्य व्याधियाँ
		५. कृष्णवर्ण	मूत्र के स्वाभाविक रागकों या इण्डिकान (Indican) की अधिकता, रक्त या मलिमसि (Melanin) की उपस्थिति।
		६. दुग्धवर्ण	भास्वीय की अधिकता, पूय (Pus), पयोलस (Chyle) या शुक्र की उपस्थिति।
३. प्रतिक्रिया (Reaction)	ईषत् अम्ल pH ६ (४.७–७.५)	अम्लता वृद्धि	आहार में मांस जातीय द्रव्यों की प्रधानता तथा अल्पाम्लता (Hypoacidity) की अवस्थाएँ, मधुमेह, सभी प्रकार के ज्वर, जीर्ण अन्तरालीय (Interstitial) वृक्कशोथ और अनशन काल में।
		क्षारीयता	आहार में फल-वानस्पतिक अम्ल-लवण आदि का अधिक प्रयोग, पाण्डुरोग, फुफ्फुसपाक तथा ज्वर का दारुण मोक्ष (Crisis) होने पर या अत्यधिक वमन होने पर।
४. विशिष्ट गुरुता (Sp. gravity)	१०१२–१०२५ तक	अल्प विशिष्टगुरुता १०१० से कम	उदकमेह (Diabetes Insipidus), जीर्ण अन्तरालीय वृक्कशोथ, मूत्र विषमयता की पूर्व स्थिति, तीव्र वृक्कशोथ तथा ज्वर निवृत्ति काल, अपतंत्रक के आवेग के बाद तथा मद्य सेवन के बाद।
		अधिक विशिष्टगुरुता १०२५ से अधिक	मधुमेह, तीव्र ज्वरों का दारुण मोक्ष होने पर, प्रवाहिका-वमन-प्रस्वेदादि के द्वारा जलीयांश का क्षय हो जाने पर, वृक्कशोथ की कुछ अवस्थाओं में तथा गरिष्ठ-पौष्टिक आहार का सेवन करने पर अथवा मूत्र में नमक और मिह (Urea) की राशि अधिक होने पर।

रासायनिक परीक्षा				
५. जल	१४४० सी. सी. या	९६%	मिह की मात्रा वृद्धि ४० ग्राम से अधिक (Azoturia)	जल या बीयरमद्य (Beer) का अधिक सेवन, भोजन में प्रोभूजिनों का आधिक्य, धातुक्षय कारक ज्वर, मधुमेह, गर्भ धारणा के बाद तथा प्रसूतावस्था में, सर्वांग शोथ, श्वेतमयता तथा फुफ्फुसपाक से पीड़ित रोगियों में।
ठोस द्रव्य—.	६० ग्राम या	४%	मिह मात्राल्पता २० ग्राम से कम	आहार में प्रोभूजिनों की अल्पता-यकृद्दाल्युदर-पीत यकृच्छोष-अम्लोत्कर्ष-फुफ्फुसक्षय तथा पाण्डुरोग में मिह की अल्पोत्पत्ति के कारण, तीव्र व कालिक वृक्कशोथ-अमूत्रता (Anuria) तथा अष्ठीला वृद्धिजन्य मूत्रावरोध आदि व्याधियों में मिह का रक्त में विधारण होने से।
६. मिह (Urea)	३५ ,, ,,	२–३३%		
			क्रव्यियी वृद्धि	आंत्रिक (Typhoid), तन्द्रिक (Typhus), अपतानक (Tetany), फुफ्फुसपाक, अन्तर्विद्रधि आदि।
७. क्रव्यियी (Creatinine)	१ ,, ,,	०.०७%	,, अल्पता	पाण्डुरोग, हारिद्ररोग, अंगघात, पेशीक्षय, वृक्कशोथ तथा यकृत के विकार।
८. मिहिक अम्ल (Uric acid)	०.७५ ,, ,,	०.०५%	मिहिक अम्ल की अधिकता	वातरक्त के आक्रमण के कुछ काल उपरान्त, तीव्र संधिस्थ आमवात, सभी प्रकार के तीव्र ज्वर, अत्यधिक श्रम, श्वेतकण तथा यकृत-वृक्क आदि अंगों का अपजनन होने पर और आहार में यकृत-वृक्क मस्तिष्क आदि प्राणिज द्रव्यों की अधिकता होने पर।

रासायनिक परीक्षा	स्वाभाविक मर्यादा	परिवर्त्तन	सम्भाव्य व्याधियाँ
		मिहिक अम्ल की अल्पता	वृक्कशोथ, हारिद्र रोग तथा शीश विष से पीडित रोगियों और शाकाहारी व्यक्तियों में।
९. अश्वमेहिक अम्ल (Hippuric)	०·७० ग्राम या ०·०५%	मात्रा की अल्पता	अङ्गघात, पक्षवध, परिसरीय नाडी शोथ आदि नाडी विकारों में।
१०. गंघश्यामिक (Thiocyanic)	०·१५ " " ०·०१%	विशेष महत्पूर्ण परिवर्त्तन नहीं	
११. सुरभि जाराम्ल (Oxyacids)	०·०६ " " ०·००४%		
१२. तिग्मिकि अम्ल (Oxalic acid)	०·०१५ " " ०·००१%	मात्रा वृद्धि	टमाटर-गोभी-गाजर-पालक-प्याज-सेव आदि तिग्मिक अम्लयुक्त पदार्थों का आहार में अधिक प्रयोग, अति भोजन, व्यायाम का अभाव, अग्निमांद्य, दौर्बल्य, वातरक्त, वातिक अवसन्नता (Neurasthenia) तथा यकृत की हीन कार्यता के कारण उत्पन्न पचन विकारों में।

१३. निनीलिन्य (Indican)	०·०१ ,, ,, ०·००१%	मात्रा वृद्धि	शरीर के आन्तरिक अंगों में प्रोभूजिनों का पूतिभवन करने वाले अन्तःपूयता युक्त विकार, यक्ष्मज फुफ्फुस विवर (Cavity), श्वसनिकाभिस्तीर्णता, कोथ (Gangrene) आदि विकार तथा प्रोभूजिनों का ठीक समवर्त्त न होने पर, आंत्रावरोध (Intestinal obstruction), विसूचिका, आंत्रिक ज्वर, उदरावरण शोथ, जाठराम्ल की अल्पता और तज्जनित अग्निमांद्यादि विकार।
१४. क्षारातुनीरेय (Nacl)	१६·५ ग्राम या १·१%	नीरेयों (Chlorides) की अधिकता (क्षारातु तथा दहातु नीरेयों के रूप में) स्वाभाविक मात्रा १०–१५ ग्राम	जल तथा नमक का अधिक सेवन, शोथ या शरीर में संचित द्रव का अपहरण या शोषण करते समय, उदकमेह, अस्थिवक्रता तथा यकृद्दाल्युदर पीडित रोगियों में, फुफ्फुसपाक तथा विसर्गी ज्वरों के मोक्ष तथा अपस्मार के आवेग के पश्चात्।
१५. क्षारातु (Na_2O)	५·० ,, ०·३%	नीरेयों की न्यूनता	फुफ्फुसपाक के प्रारंभिक दिनों में, जलोदर-सद्रव फुफ्फुसावरणशोथ तथा शोफ में, जीर्ण अन्तरालीय वृक्कशोथ (Ch. Interstitial), विषमज्वर के अतिरिक्त ज्वरों के वेग के समय, विसूचिका, प्रवाहिका, जठर कर्कटार्बुद, तीव्र पाण्डुरोग, तीव्र यकृत क्षय आदि विकार तथा अनशन एवं अत्यधिक शारीरिक श्रम के बाद।
१६. भास्विक अम्ल (Phosphoric acid)	२·५ ,, ०·१५%		

रासायनिक परीक्षा	स्वाभाविक मर्यादा	परिवर्त्तन	सम्भाव्य व्याधियाँ
१७. शुल्वारिक अम्ल (Sulphuric)	२·५ ग्राम या ०·१५%	शुल्बीयों (Sulphates) की मात्रा वृद्धि क्षारातु-दहातु-चूर्णातु तथा भ्राजातु का शुल्वीय लवणों के रूप में उत्सर्ग	तीव्र ज्वरितावस्था, तीव्र मज्जाशोथ, मस्तिष्कावरणशोथ, वर्धनशील पेशी क्षय (Muscular atrophy), मधुमेह, उदकमेह, मूत्र विषमयता, जठराम्ल की अल्पता, मलावरोध तथा आंत्रस्थ पूतिभवन, अपरस (Eczema) तथा मज्जाभ श्वेतमयता (Myeloid leukaemia)।
१८. दहातु (K_2O)	२·५ „ ०·१५%	दैनिक मात्रा २–३ ग्राम शुल्वीयों की अल्पता	शरीर समवर्त्त (Metabolism) की न्यूनता, रोग निवृत्तावस्था तथा शाकाहार एवं अनशन या अल्पाशन की अवस्थाएँ।
१९. सैकतिक अम्ल (Silicic acid)	०·४५ „ ०·०३%		
२०. भ्राजातु (Mgo)	०·३० „ ०·०२%		
२१. चूर्णातु (Cao)	०·२५ „ ०·०१५%		
२२. तिक्ताति (Ammonia)	०·६५ „ ०·०४%	तिक्ताति का अधिक उत्सर्ग	मधुमेह में रक्तगत अम्लोत्कर्ष के अनुपात में, गर्भवती स्त्रियों में वैनाशिक रूप के वमन में और यकृद्दाल्युदर तथा यकृत की हीनक्रियता के दूसरे विकारों में।
२३. लौह (Iron)	०·००५ „ ०·०००४%		

मूत्र के अस्वाभाविक घटक : कोष्ठक संख्या–११ क.

. प्रोभूजिन— क. शुक्लि (Albumin)	स्वाभाविक	कुछ वर्धमानावस्था के व्यक्तियों में, आहार में अत्यधिक प्रोभूजिनद्रव्य-अण्डा-मांस आदि का सेवन करने पर, अनभ्यस्त व्यक्तियों को कठिन श्रम के बाद तथा क्वचित अधिक समय तक खड़े रहने पर अल्पमात्रा में मूत्र में शुक्लि की उपस्थिति कुछ समय के लिए संभव है। इसके अतिरिक्त शीत लगने, पानी में भींगने, शीत में प्रवास करने में तथा गर्भिणी स्त्रियों, पाण्डु, अस्थिर रक्त निपीड तथा दौर्बल्ययुक्त व्यक्तियों में और स्वप्नदोष के बाद कभी कभी शुक्लिमेह होता है। यह वास्तव में वैकारिक नहीं है।
	आंगिक या वैकारिक— वृक्क पूर्व (Prerenal)	हृद्रोग, तीव्र रक्तक्षय, प्रवृद्ध जलोदर, औदरिक अर्बुद, अपस्मार आदि से वृक्कीय रक्तप्रवाह में बाधा उत्पन्न होने के कारण; रोहिणी, लोहित ज्वर, फुफ्फुसपाक, आंत्रिक ज्वर, श्लीपद, पूयमयता, दोषमयता आदि तीव्र औपसर्गिक रोगों से पीडित व्यक्तियों में उपसर्गजन्य विष से वृक्कों में क्षोभ उत्पन्न होने के कारण; गर्भिणी विषमयता तथा कामला में शारीरिक विष का वृक्कों पर प्रभाव होने के कारण; पारद, सोमल, वंग आदि रासायनिक विषों के प्रभाव से वृक्कों में क्षोभ उत्पन्न होने के कारण शुक्लिमेह होता है।
	वृक्कय (Renal)	तीव्र, अनुतीव्र, जीर्ण सभी प्रकार के वृक्कशोथ (Nephritis), अपवृक्कता (Nephrosis), वसाकुल (Lardaccous) और मण्डाभ (Amyloid) वृक्क विकार में तथा राजयक्ष्मा, फिरंग, अन्तःशल्यता (Embolism), घनास्रोत्कर्ष (Thrombosis), कर्कटार्बुद (Cancer) आदि का वृक्कों पर प्रभाव होने पर मूत्र में शुक्लि पर्याप्त मात्रा में मिलती है।

	वृक्कोत्तर (Postrenal)	वृक्कालिन्दशोथ (Pyelitis, Pyelonephritis), मूत्राशय शोथ (Cystitis), पूयापवृक्कता (Pyonephrosis), मूत्रमार्गशोथ (Urethritis) इत्यादि कारणों से मूत्र में शुक्लि की अल्पराशि होती है।
.. बेन्स-जोन्स प्रोभूजिन (…ence-jones protein)		प्रभूतमज्जार्बुद (Multiple myelomata) के ८०% रोगियों में, अर्बुदों के अस्थिगत समस्थाय (Metastasis in the bones), अस्थिमृदुता (Osteomalacia), श्वेतमयताएँ, हाजकिन का रोग, लसमांसार्बुद (Lymphosarcoma) तथा उच्च रक्तनिपीड वाले व्यक्तियों के मूत्र में यह प्रोभूजिन मिलती है।
मधु शर्करा	अस्थायी रूप में मूत्र में शर्करा की उपलब्धि	चिन्ता-भय-क्रोधादि मानसिक विकार, आहार में शर्कराजातीय द्रव्यों का अधिक प्रयोग, आंत्रिक ज्वर, लोहित ज्वर, रोमान्तिका, फुफ्फुसपाक, मस्तिष्कावरण शोथ आदि तीव्र औपसर्गिक ज्वरों से निवृत्ति होने पर, अवटुका, पोषणिका, अधिवृक्क ग्रंथियों की कार्यवृद्धि की कुछ अवस्थाओं में, स्थूल या मेदोरोगग्रस्त व्यक्तियों में, मस्तिष्काघात, कपालान्तर्य रक्तस्राव तथा प्रवृद्ध निपीड (Intracranial pressure), स्तब्धता (Shock), कपाल भंग तथा मस्तिष्क के अर्बुद, अनभ्यस्त व्यक्तियों में अधिक शारीरिक श्रम करने के बाद तथा कचित सगर्भा स्त्रियों में मूत्र में शर्करा साधारण मात्रा में प्राप्त होती है।
	स्थायी रूप में मूत्र में शर्करा की उपस्थिति	मधुमेह (Diabetes mellitus), वृक्क्य शर्करामेह (Renal glycosurea), मस्तिष्क की प्राण गुहाभूमि (Floor of the 4th ventricle) के अपाय (injury) तथा कभी कभी अवटुका ग्रंथि की कार्यवृद्धि के कारण उत्पन्न ग्रेव के रोग (Grave's disease) या पोषणिका की कार्य वृद्धि के कारण उत्पन्न शाखाबृहती (Acromegaly) में भी स्थायी रूप से मधुशर्करा मूत्र में मिलती है।

३. शुक्ता (Acetone)		मधुमेह, अनशन, अत्यधिक वमन, संघट्टन (Concussion), मस्तिष्कार्बुद, मस्तिष्क सुषुम्नावरण शोथ, निद्रालसी मस्तिष्क शोथ (Encephalitis Lethargica), श्वास-तमकश्वास आदि प्राणवायु की कमी वाले विकार तथा अम्लोत्कर्ष कारक इतर व्याधियाँ।
४. पित्त		शोणांशिक कामला (Heamolytic Jaundice), यकृज्जन्य तथा अवरोधजन्य कामला, तीव्र यकृच्छोथ, तीव्र पीत यकृतक्षय या शोष तथा रक्त विनाश कारक व्याधियों आदि में मूत्र में पित्त (Choluria) मिला करता है।
५. मूत्रपित्ति (Urobilin)	मात्रा वृद्धि	शोणांशिक रक्तक्षय, शोणांशिक कामला, वैनाशिक रक्तक्षय, विषमज्वर इत्यादि रक्तनाशक विकार, यकृच्छोथ, यकृदाल्युदर, हृद्रोगज अधिरक्तता (Congestion) इत्यादि से यकृत की कार्यक्षमता घटने और आन्तरिक रक्तस्राव, फुफ्फुसपाक तथा लोहितज्वर पीडित व्यक्तियों में।
	अल्पता या अभाव	पूर्ण अवरोधजन्य कामला, तीव्र वृक्कशोथ तथा अनशन।
६. रक्त	वृक्क पूर्व (Prerenal)	नीलोहा (Purpura) शोणितप्रियता (Heamophilia), प्रशीताद (Scurvy), श्वेत मयताएँ, प्लेग, मसूरिका, पीतज्वर, विषमज्वर तथा धमनी जरठता (Arteriosclerosis)।
	वृक्कय (Renal)	सभी प्रकार के तीव्र वृक्कशोथ, वृक्क के अर्बुद, वृक्काश्मरी, वृक्कयक्ष्मा, वृक्काभिघात (Trauma), वृक्कगत अन्तःशल्यता तथा घनास्रोत्कर्ष (Embolism & Thrombosis)।
	वृक्कोत्तर (Postrenal)	गवीनी, मूत्राशय, अष्ठीला तथा मूत्र मार्ग के शोथ, अभिघात तथा अश्मरियाँ और कृमि रोग (Bilhargia hematobia)।

मूत्र के अस्वाभाविक घटक : कोष्ठक– ग.

[शो]णवर्तुलि [(H]eamoglobin)		विषम ज्वर, नागविष, लूताविष (Spider poisons) आदि शोणांशन करने वाले विषों के प्रभाव से, विस्तृत दग्ध, शोणांशिक रक्तक्षय तथा अत्यधिक शीत से।
[पू]य (Pus)		वृक्कालिन्द शोथ (Pyelitis), वृक्कविद्रधि, पूयापवृक्कता (Pyonephrosis), वृक्काश्मरी, वृक्कयक्ष्मा, घातक वृक्कार्बुद, गवीनीगत अश्मरी, मूत्राशयशोथ तथा मूत्राशयगत अश्मरी, मूत्राशय यक्ष्मा, मूत्राशय व्रण तथा अर्बुद, अष्ठीला तथा मूत्र मार्ग के विकार और औपसर्गिक पूयमेह।
पयोलस (Chyle)		श्लीपद कृमि के द्वारा रसवाहिनियों या रसप्रपा में अवरोध, रसवाहिनियों पर गर्भ, औदरिक अर्बुद एवं अभिवृद्ध ग्रंथियों आदि का दबाव तथा रसवाहिनियों का शोथ या उनका आघात आदि से विदीर्ण होना।

मूत्र की सूक्ष्मपरीक्षा तथा अन्य विशिष्ट परीक्षाओं से प्राप्त तथ्यों का आकलन आगे मूत्रण संस्थान के विकारों के वर्णन के प्रसंग में किया जायगा।

रक्त तथा मूत्र की परीक्षाओं के अतिरिक्त स्थान संश्रित दोषों तथा विशिष्ट दूष्याधिष्ठानों की परीक्षा रोगविनिश्चय के लिए वहुत ही आवश्यक [हो]ती है। आंत्रिक–उपांत्रिक ज्वर, उपदंश तथा कालज्वर आदि के लिए लसीका परीक्षा; उरस्तोय, मस्तिष्क सुषुम्नाज्वर आदि में फुफ्फुसावरणगुहा [मे]ं मस्तिष्क सुषुम्नाद्रव की परीक्षा; मज्जा में दोष का संचय अनुमित होने पर मज्जा की परीक्षा; आमाशयस्थ रोगविनिश्चय के लिए आमाशय रस की [परी]क्षा आदि असंख्य परीक्षाएँ की जाती हैं। विशिष्ट यंत्रोपयंत्रों के द्वारा आन्तरिक अंगों का प्रत्यक्ष दर्शन करके रोगनिर्णय किया जाता है तथा [श]रीरके अनेक भागों की कार्यशक्ति की परीक्षा—यकृत कार्यक्षमता, वृक्क कार्यक्षमता आदि असंख्य प्रकार के गूढ व्याधि के विनिश्चय के साधन [रो]ग निर्णयार्थ प्रयुक्त होते हैं। इन विशिष्ट स्वरूप के सहायक निदानों का उल्लेख आगे यथास्थल किया जायगा।

वात-पित्त-कफ के द्वारा धातुओं एवं मलों (दूष्यों) में विकृति होने तथा उनमें वृद्धि-क्षय मूलक परिवर्त्तन होने पर जो विशिष्ट लक्षण उत्पन्न होते हैं, [उन]का संग्रह अगले कोष्ठक में किया जा रहा है। रक्त तथा मूत्र गत विकृतियों से विशिष्ट व्याधियों का निर्देश तथा इन लक्षणों से विशिष्ट दोष या विशिष्ट [रो]गावस्था का निर्देश होता है।

दूष्य विकृति निदर्शक कोष्ठक : कोष्ठक संख्या—12 क.

दोष	त्वचा (रस)	रक्त
वात	कृष्णारुण वर्ण या विवर्णतायुक्त रूक्ष, स्फुटित, सुप्त, कृश, शीर्ण, स्फुरण, तोद तथा चुमचुमायन-युक्त त्वच ॥	संतापयुक्त तीव्र वेदना, विवर्णता, व्रण, सुप्ति एवं रक्त वर्णता, अरुचि, भुक्तान्न का स्तंभ, भ्रम, कृशता ।
पित्त	विस्फोटक, मसूरिका ।	विसर्प, दाह ।
कफ	स्तब्धता, श्वेतांगता ।	पाण्डुरोग ।
क्षय	रस क्षय होने पर हृदय प्रदेश में पीडा, कम्प, शून्यता, तीव्र तृष्णा, ऊँचे शब्द न सहन होना, हृदय के स्पन्दनों का बढ़ना तथा हृदय में शूल, शरीर में रूक्षता तथा ग्लानि और अल्पश्रम से ही अधिक थकावट का अनुभव ।	त्वचा की परुषता, कर्कशता, रूक्षता एवं विदार, अम्ल-शीत पदार्थों की अभिलाषा, सिराओं की शिथिलता ।
वृद्धि	लाला प्रसेक, हृदयोत्क्लेद तथा श्लेष्मवृद्धि के लक्षण ।	सिराओं की पूर्णता तथा नेत्रों एवं शरीर की आरक्तता, विसर्प, कुष्ठ, विद्रधि, वातरक्त, रक्तपित्त, रक्तगुल्म, प्लीहा की व्याधियाँ, कामला, व्यंग, अग्निमांद्य, मूर्च्छा त्वचा-नेत्र तथा मूत्र में ललाई आदि विकार ।

दूष्य विकृति निदर्शक कोष्ठक : कोष्ठक—ख.

दोष	मांस	मेद	अस्थि
वात	अंग गौरव-स्तब्धता-तीव्र पीडा-क्लान्ति, शूल एवं वेदना युक्त कर्कश ग्रंथियाँ, भ्रम।	अंग गौरव, तीव्रतोद-भेदनवत पीडा, श्रम एवं भ्रम, मन्द वेदना युक्त व्रणहीन ग्रंथियाँ तथा तोदयुक्त कर्कश ग्रंथियाँ।	अस्थिपर्व भेदनवतपीडा, अस्थिशूल-शोष एवं भेद, बल-मांसक्षय, संधि-सक्थि शूल, अनिद्रता एवं सतत वेदना।
पित्त	मांसगत पाक, मांसकोथ।	दाहयुक्त ग्रंथि, तृषा एवं स्वेद की अधिक प्रवृत्ति।	अत्यधिक दाह।
कफ	अर्बुद, अपची, गुरुता एवं आर्द्रचर्मावनद्धता का अनुभव।	प्रमेह, मेदोरोग।	अस्थि स्तब्धता।
क्षय	मांसल स्थलों की शुष्कता, रूक्षता, तोद, अंगमर्द, धमनी-शिथिलता, संधियों में वेदना।	प्लीहाभिवृद्धि, संधिशून्यता, रूक्षता, स्निग्ध मांसाहार की आकांक्षा। नेत्रों में थकावट, उदर का अपचय, शरीर की कृशता, संधियों में फूटन, कटि में स्पर्श-शून्यता।	रूक्षता, श्मश्रु-केश-रोम-दन्त-नख-अस्थि का भग्न, संधियों तथा अस्थियों में शूल, शिथिलता तथा रूक्षता का अनुभव।
वृद्धि	मांसल स्थलों—नितम्ब कपोल-वक्ष-जंघा आदि में मांसोपचय, गुरु गात्रता तथा गलगण्ड, अर्बुद, ग्रंथि, कण्ठ-जिह्वा-तालु में मांस की वृद्धि आदि विकारों की उत्पत्ति।	अति स्निग्धता, उदर-पार्श्व की वृद्धि, कास-छिन्नश्वासोत्पत्ति, शरीर में दुर्गंधि, स्थूलता, थोड़ा चलने से थकावट, स्तन एवं नितम्बों का लटकना (चलत् स्फिग् गुदरस्तनः)।	अध्यस्थि तथा अधिदन्तों की उत्पत्ति, दांतों तथा अस्थियों की वृद्धि।

दूष्य विकृति निदर्शक कोष्ठक : कोष्ठक–ग.

दोष	मज्जा	शुक्र
वात	अस्थि सुषिरता तथा स्तब्धता शेष लक्षण अस्थिगत वातवत ।	शीघ्र स्खलन, वासनाधिक्य, गर्भपात तथा शीघ्र गर्भ धारणा, शुक्र क्षीणता–तारल्य–अप्रवृत्ति–फेनिल रूक्ष और अवसादि दोषयुक्त तथा श्याव-अरुण वर्ण का ।
पित्त	नख और नेत्र हारिद्र वर्ण के ।	विवर्ण या पीत वर्ण का पूति युक्त, रक्त मिश्रित, उष्ण तथा निकलते समय शिश्न में दाह पैदा करने वाला, दुर्गन्धि-पिच्छिलता रहित, निकलते समय मूत्र-मार्ग में रुकने वाला, क्वचित अतिपिच्छिल ।
कफ	शुक्ल नेत्रता	शुक्र का शुक्राशय में अति संचय तथा जल में डालने पर कुछ नीचे डूबने की प्रवृत्ति ।
क्षय	अल्प शुक्रता, पर्व भेद, अस्थियों में निस्तोद-क्षीणता-शून्यता-दुर्बलता-लघुता का अनुभव, शुक्र की अल्पता, वात रोग का बार-बार आक्रमण, चक्कर आना तथा आंखों के सामने अंधेरा होना ।	शिश्न एवं वृषण में वेदना, मैथुन में अशक्ति, शुक्र का अल्प प्रसेक अथवा शुक्र रक्त युक्त, दुर्बलता, मुख का सूखना, पाण्डुता, थकावट काम करने में अशक्ति, नपुंसकता, प्रजनन-अशक्ति ।
वृद्धि	नेत्र गौरव, सर्वांग गौरव तथा तथा अस्थि-संन्धियों में स्थूल मूल वाली कष्टसाध्य पिडिकाओं की उत्पत्ति ।	शुक्रातिवृद्धि, अतिमात्र प्रसेक, शुक्राश्मरी, मैथुन की अधिक इच्छा ।

दूष्य विकृति निदर्शक कोष्ठक : कोष्ठक–घ.

दोष	मूत्र	पुरीष
वात	मटमैला या धुयें का रंग, बार-बार अल्प मात्रा में मूत्र प्रवृत्ति, मूत्र स्पर्श में शीत एवं रूक्ष, मूत्रत्याग के समय रोमाञ्च का अनुभव।	मल श्याव-अरुण वर्ण का रूक्ष-शुष्क, गांठदार, अल्प मात्रा में।
पित्त	मूत्र लाल, गहरा पीला या हारिद्र वर्ण का, दुर्गन्ध युक्त, स्पर्श में उष्ण और मात्रा में अल्प।	हरे-पीले रंग का पतला, अधिक मात्रा में मल, प्रायः उष्ण एवं दुर्गन्धित।
कफ	जल के समान निर्मल एवं पतला मूत्र, चावल के धोवन के समान तथा फेन युक्त, मात्रा में अधिक, स्पर्श में शीत-पिच्छिल और मधुर-अम्ल गन्ध वाला।	मल सफेद रंग का गीला, चिकना और मात्रा में अधिक।
क्षय	मूत्र अल्प, मूत्रत्याग के समय कष्ट, मूत्र की विवर्णता, वस्तिस्थान में पीडा, मूत्रके साथ रक्तस्राव, मुख सूखना तथा तृष्णा।	पेट में रूक्षता तथा वायु के प्रकोप से आंतों में ऐंठन, हृदय और पार्श्व में पीडा, गुड़गुड़ाहट के साथ वायु का ऊपर कुक्षि में संचार, हृदयावरोध।
वृद्धि	मूत्रराशि का बढ़ना, मूत्रत्याग की बारम्बार इच्छा, वस्तिदेश (पेडू) पर भारीपन या वेदना, मूत्राशय में सूची चुभने की सी पीडा, मूत्रत्याग के बाद भी मूत्र नहीं हुआ है, इस प्रकार की भावना बनी रहना।	आटोप, कुक्षिशूल, गुड़गुड़ाहट, उदर में भारीपन।

विकृतिसंग्रह

पूर्वोक्त विधि से विस्तार पूर्वक रोगी का परीक्षण करने के उपरान्त प्राप्त लक्षणों का संग्रह करना चाहिये। यहां पर प्रकृत-विकृत भाव अर्थात् रोगी के स्वाभाविक क्रम में क्या परिवर्तन हुआ, यह विवेक पूर्वक सन्तुलित निर्णय करना होता है। इस शीर्षक के अन्तर्गत रोगी में व्याधि के कारण उत्पन्न नवीन लक्षण तथा स्वाभाविक क्रम में विपर्यय होने के कारण उत्पन्न लक्षण और हेतु-दोष-दूष्य परीक्षण में बताये गए विशेष परीक्षणों से प्राप्त परिणाम, इन तीनों का वर्गीकृत संग्रह करना चाहिये।

रोगविनिश्चय

ऊपर विकृतिनिदर्शक संग्रहीत लक्षणों को आगे लिखे हुए वर्गों में विभाजित कर सभाव्य व्याधि से तुलना करते हुए रोग का निर्णय किया जाता है। बहुत से रोगियों में रोग का पूरा इतिवृत्त जान सकना कठिन होता है। यह कठिनाई जीर्ण रोगियों, स्त्रियों, वालकों, ग्रामीण एवं अशिक्षित व्यक्तियों में अधिक सामने आती है। इसलिये चिकित्सक को परीक्षण के द्वारा प्राप्त सामग्री पर ही अवलम्बित होकर निर्णय करना पड़ता है। उक्त परीक्षण से दोष-दूष्य की विशेषता और व्याधि का कुछ न कुछ अनुमान अवश्य हो जाता है। चिकित्साग्रन्थों में वर्णित व्याधिलक्षणों से प्राप्तलक्षणों की तुलना कर दोष और व्याधि का निर्णय किया जा सकता है। कदाचित् उस विशेष व्याधि के लक्षण रोगी में उपलब्ध न हों तो उनके बारे में पुनः रोगी या कुटुम्बियों से भली प्रकार पूछ कर संशय मिटाया जा सकता है। इन सब प्रयत्नों के बाद भी बहुत से रोगों का निर्णय नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में निगूढ़ व्याधि का निर्णय उपशय-अनुपशय के द्वारा करना पड़ता है। आगे इस विषय का अनुक्रम से वर्णन किया जा रहा है।

१. **रोगोत्पादक कारण**—रोगोत्पत्ति में दूसरे कार्यों की उत्पत्ति के समान ही तीन कारण—समवायी, असमवायी तथा निमित्तकारण होते हैं। व्याधि की उत्पत्ति में दोष समवायी कारण और निदानों से दूषित एवं स्थानसंश्रित दोष का दूष्य के साथ संयोग, जिससे रोगोत्पत्ति होती है—असमवायी कारण है। असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, मिथ्या आहार-विहार आदि निमित्त कारण माने जाते हैं। रोगोत्पादक कारणों के परीक्षण के समय इन सबका अलग-अलग परीक्षण और उल्लेख करना चाहिए।

बुद्धिमान् तथा शंकाशील रोगियों में रोगोत्पादक कारण को जान सकना कठिन नहीं है। किन्तु जीर्ण व्याधियों से पीडित और अशिक्षित एवं ग्रामीण व्यक्तियों में निदान-पूर्वरूप तो दूर, 'रूप' के रूप का ही पता प्रश्नों के द्वारा नहीं चलता। निदान विशेष परीक्षा से प्राप्त तथ्यों का संग्रह इस शीर्षक के अन्तर्गत किया जा सकता है। औपसर्गिक व्याधियों के निदान में उपसृष्ट व्यक्तियों के सम्पर्क में रहने या आने का इतिहास बहुत महत्व रखता है। विरुद्ध आहार-विहार जन्य व्याधियों की संख्या भी कम नहीं होती। इस प्रकार का

होने के बाद, उनसे मुक्त होकर भी, दौर्बल्य और हीन प्रतिकारशक्ति के कारण, पुनः नवीन व्याधि से आक्रान्त होने के उदाहरण भी पर्याप्त मिलते हैं। इनमें पूर्व व्याधिजन्य दुर्बलता रोगोत्पादक कारण होती है। अब तक के परीक्षण से संभाव्य व्याधि का कुछ अनुमान हो जाता है। उसके विशिष्ट कारणों को रोगी से पुनः पूछ कर संदेह निवृत्त किया जा सकता है

२. **पूर्वरूप**—रोगोत्पादक कारणों का शरीर में प्रवेश या तज्जन्य दोषप्रकोप के तुरन्त बाद ही व्याधि नहीं उत्पन्न हो जाती (केवल आधानिक कारण—विष प्रयोग, अंशुघात और आगन्तुक कारणों में तुरन्त व्याधि उत्पन्न होती है), कुछ समय तक शरीर में उनका संचय-सवर्द्धन होता है, इसके बाद संचित और प्रकुपित वातादि दोष शरीर में प्रसरण करते हुए शरीर के किसी स्थान विशेष में आश्रय ग्रहण करते हैं, तब मुख्य व्याधि-निदर्शक लक्षणों की उत्पत्ति के पूर्व ही—भविष्य में उत्पन्न होने वाले रोग के सूचक—जो लक्षण उत्पन्न होते हैं, उन्हें पूर्वरूप कहते हैं। व्याधि के पूर्व उत्पन्न होने वाले यह अस्वास्थ्यकर लक्षण रोगनिर्णय में बहुत सहायता करते हैं। पैत्तिक ज्वर में हारिद्र वर्ण आदि मूत्र में पित्त की उपस्थिति के लक्षण व्याधिजन्म के बाद होते हैं, किन्तु कामला में व्याधि जन्म के बहुत पहले से हारिद्र-पीत या तैल वर्ण का मूत्र होता है। आंत्रिक ज्वर में ज्वराक्रमण के पूर्व ४-६ दिन तक अवसाद-अग्निमांद्य-अरुचि आदि का अनुबन्ध सापेक्ष्य निदान में बहुत सहायक होता है। प्रायः सभी व्याधियों में पूर्वरूपावस्था के लक्षण नियत होते हैं। कभी-कभी पूर्वरूपों से ही भावीव्याधि के दोष का ज्ञान भी हो जाता है। ज्वराक्रमण के पूर्व जंभाई अधिक आने पर वातिक दोष का, नेत्रों में जलन होने पर पित्तज्वर का तथा अरुचि होने पर कफज्वर का अनुमान पूर्वरूपावस्था में ही हो जाता है। इस प्रकार **सामान्य** तथा **विशिष्ट** पूर्वरूपों का अन्वेषण करके इस शीर्षक के अन्तर्गत उल्लेख करना चाहिए।

३. **लक्षण या लिङ्ग**—दोषों का स्थानसंश्रय होने के बाद व्याधि के मुख्य लक्षण उत्पन्न होते हैं। व्याधि का बोधक जो एक विशिष्ट लक्षण होता है, उसको प्रत्यात्मलक्षण, अव्यभिचारि लक्षण या रोगप्रतिनियत लक्षण कहते हैं। प्रायः इसी लक्षण के आधार पर व्याधि का नामकरण किया जाता है। ज्वर का संताप, अतिसार का अतिसरण या पतले दस्त होना, कास का कसन तथा प्रमेह का प्रभूत और आविल मूत्रता रोगप्रति-नियत लक्षण होता है। अतः व्याधिप्रत्यात्म लक्षण या **रोग के विशिष्ट लक्षणों** को सर्वप्रथम संग्रहीत करना चाहिए। उसके बाद शेष लक्षणों का **वातिक-पैत्तिक-कफज** या **सान्निपातक** वर्गों में संग्रह करना चाहिए। लक्षणों का पृथक्-पृथक् निर्देश होने से रोगविनिश्चय तथा प्रतिकर्म में अनवधानता नहीं होनेप येगी।

४. **सम्प्राप्ति**—रोग का सम्यक् निर्णय हो जाने के उपरान्त उसकी उत्पत्ति के क्रम प्र पूर्ण विवेचन अर्थात् कौन दोष, किस निदान के सेवन से, कितने अंशो में और प्रकार प्रकुपित होकर शरीर में घूमता हुआ, किन धातुओं और अवयवों को दूषित

करता हुआ, स्थान संश्रय करके, रोग को उत्पन्न कर रहा है। अर्थात दोष और व्याधि के द्वारा शरीर के अंग-प्रत्यंग-धातु-मल की जो विकृति हुई है, उसकी अंशांश कल्पना करते हुये सूक्ष्म निर्णय करना चाहिये। इस प्रकार का निर्णय रोग प्रतिषेध तथा उसके समूलोच्छेद एवं सुनियोजित आशुगुणकारी चिकित्सा के लिये उपयोगी होता है।

सामान्यतया व्याधि में समवेत एवं परस्पर सम्बद्ध दोषों* की अंशांश कल्पना—अर्थात् दूषित वायु का रुक्ष, शीत, लघु, सूक्ष्म, चल, विशद, खर अंश में से कौन सा अंश दूषित है, इसका निर्णय करने के बाद कौन प्रधान दोष है, कौन अप्रधान है, मूलतः कौन दोष विकृत है और परिणाम में कौन विकृत हुआ है, केन्द्रीय दोष, आवरक दोष इत्यादि सूक्ष्म विविधताओं को जानने से रोग सम्बन्धी पूर्ण जानकारी हो सकती है। सान्निपातिक दोषों में प्रधान, मध्य और अवर, दो प्रधान और एक अवर और तीनों प्रधान दोषों का ज्ञान इसी अंशांश विकल्पन से होता है।

दोषों के संचय से लेकर प्रकोप-प्रसर-स्थानसंश्रय (दोष-दूष्य संमूर्च्छन) और अभिव्यक्ति या व्याधिजन्म पर्यन्त रोगोत्पत्तिक्रम को सम्प्राप्ति कहा जाता है। संचय-प्रकोपादि का वर्णन पहले दोष-विशेष परीक्षा के प्रकरण में किया जा चुका है। सम्प्राप्ति के अवान्तर शीर्षकों का वर्णन यहां किया जाता है।

संख्या और विधि—किसी व्याधि का विवेचन करते समय वातिक-पैत्तिक-कफज आदि दोष भेदों का प्रमुख सहारा लिया जाता है। इसे **दोषभेद संख्या** का उदाहरण

दोष*

- शारीरिक
  - वात
  - पित्त
  - कफ
    - प्राकृत-वैकृत
    - अनुबंध्य या अनुबंध
    - आवृत और आवरक
    - प्रकृतिसम या प्रकृति-विकृतिजन्य
    - प्रकोप या आशयापकर्ष
    - गति
      - क्षय-स्थान-वृद्धि
      - ऊर्ध्व-अधः तिर्यक
      - कोष्ठ-शाखा-मर्म
    - साम-निराम
    - दोषावस्था
      - संचय-प्रकोप-प्रसर-स्थान संश्रय-व्यक्ति-भेद
- मानसिक
  - रज
  - तम
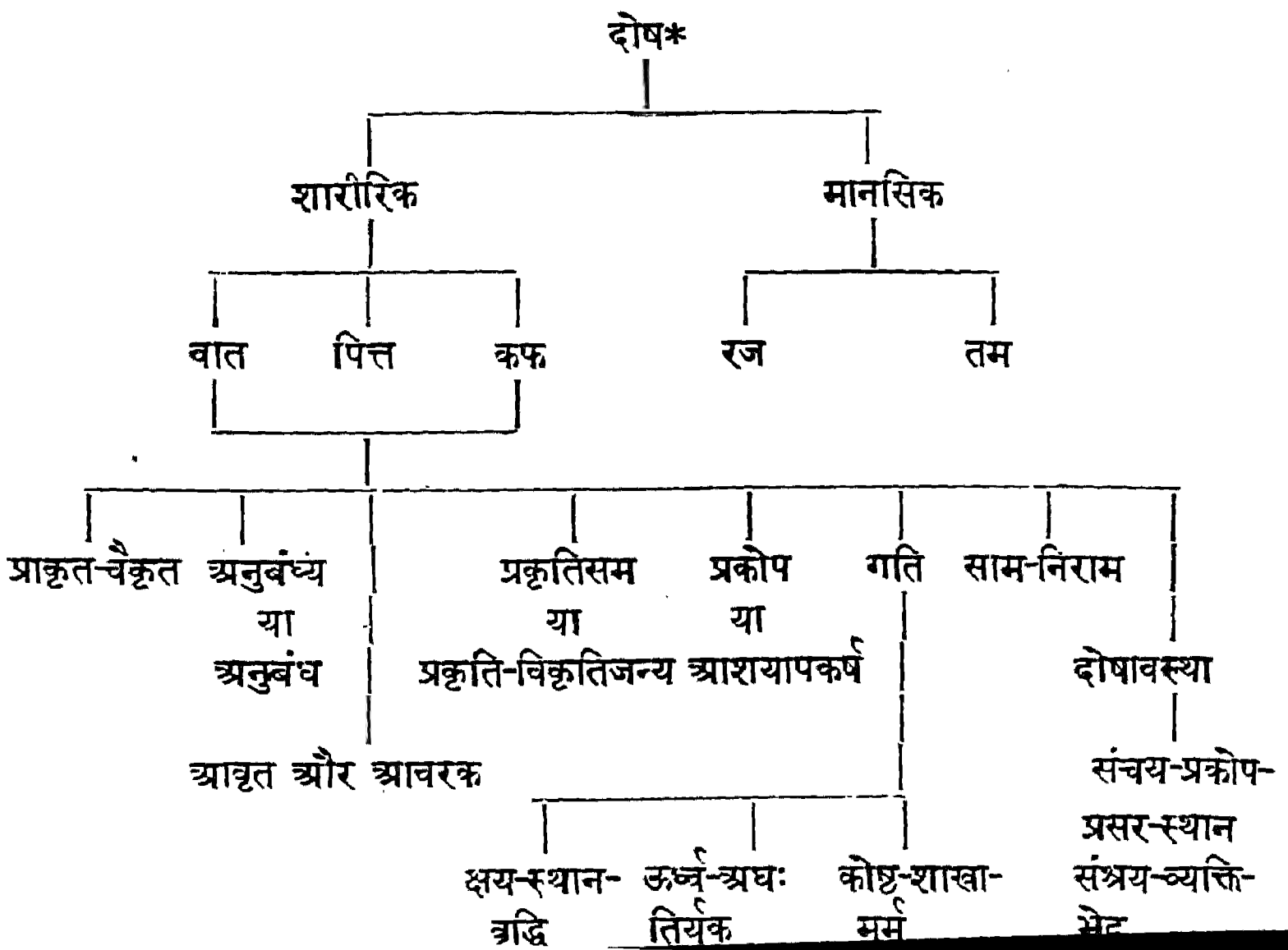
कह सकते हैं यथा—आठ ज्वर, पांच गुल्म, वीस प्रमेह आदि। दोष के अतिरिक्त व्याधि के स्वरूप-जाति में भिन्नता होने पर **जातिभेद संख्या** के अन्तर्गत निवेश किया जाता है यथा—महा-ऊर्ध्व-छिन्न-तमक-क्षुद्र भेद से ५ श्वास; शराविका, कच्छपिका आदि भेद से आठ प्रमेहपिडिकाएँ आदि। **विधि** का तात्पर्य एक ही व्याधि के धर्मान्तरकृत भेद से है। निज और आगन्तुक, वात-पित्त-कफज, साध्य-असाध्य-मृदु और दारुण, उर्ध्व तथा अधोग रक्त-पित्त और औपसर्गिक-अनौपसर्गिक आदि व्याधियों का अनेक विधि भेदों के अन्तर्गत विश्लेषण किया जाता है।

विकल्प—एकदोषज-द्विदोषज-त्रिदोषज व्याधि में, दोषों के अंशांश बल की जो विशेष कल्पना की जाती है, वह विकल्प सम्प्राप्ति का उदाहरण है। जो दोष थोड़े अंशों से कुपित हो वह निर्बल तथा जो सभी या अधिक अंशों से कुपित हो वह प्रबल होता है। अंशांश विकल्पना का महत्व चिकित्सा की दृष्टि से बहुत होता है। यदि वायु अपने रूक्षगुण से प्रकुपित हुआ हो तो स्निग्धगुण वाले द्रव्यों से, यदि शीतगुण से कुपित हुआ है तो उष्णगुण वाले द्रव्यों से, यदि लघुगुण से कुपित हुआ है तो गुरुगुण वाले द्रव्यों से, विशद गुणज दोष पिच्छिल गुणयुक्त द्रव्यों से, रूक्ष एवं शीत दो गुणों से प्रकुपित होने पर स्निग्ध और उष्ण द्रव्यों से, रूक्ष-शीत और लघु इन तीन गुणों से प्रकुपित होने पर स्निग्ध-उष्ण और गुरु गुण वाले द्रव्यों से यदि रूक्ष-शीत-लघु-विशद इन चार गुणों से वायु प्रकुपित हुआ है तो स्निग्ध-उष्ण-गुरु और पिच्छिल गुण वाले द्रव्यों से उसकी चिकित्सा करनी चाहिए। इसी क्रम से पित्त एवं श्लेष्मा के प्रकोपक गुणों का ध्यान रखकर तद्विपरीत गुण-धर्म वाले द्रव्यों का उपयोग करना चाहिए।

प्रधान—जो व्याधि स्वतंत्र दोष से उत्पन्न, स्पष्ट लक्षणों से युक्त, स्वप्रकोपक कारणों से प्रादुर्भूत एवं अपनी विशिष्ट चिकित्सा से शान्त हो, उसको **अनुबन्ध्य या प्रधान** व्याधि कहा जाता है। इससे विपरीत जो रोग परतंत्र, अस्पष्ट लक्षण वाला, अन्य रोग के निदान से उत्पन्न तथा अन्य रोग की चिकित्सा से शान्त होने वाला हो, उसे **अनुबन्ध या अप्रधान** कहते हैं। द्वंद्वज एवं त्रिदोषज व्याधियों में भी एक दोष के प्रबल तथा दूसरों के अल्पबल होने पर प्रधान-अप्रधान का विवेचन किया जाता है। इसी प्रकार एक दोष का क्षय होने पर भी दूसरों की तुलना से सापेक्ष्य विवेचन करके क्षीण-क्षीणतर-क्षीणतम आदि शब्दों में दोषस्थिति स्पष्ट की जाती है।

बल-काल—व्याधि की उत्पत्ति या उत्पन्न व्याधि की वृद्धि का काल, बल-काल रूप सम्प्राप्ति का उदाहरण है। अहोरात्र-ऋतु-देश-वय तथा आहार की भुक्तमात्रावस्था-पच्यमानावस्था और जीर्णावस्था आदि में किस-किस दोष का प्रकोप-प्रशम होता है, यह नियत है। व्याधि की उत्पत्ति या वृद्धि का काल समझ कर, उसके दोष का अनुमान आसानी से किया जा सकता है। प्रावृट् ऋतु, दिन एवं रात्रि का अन्तिम भाग, आहार की जीर्णावस्था एवं वार्धक्य में वायु की वृद्धि होती है। इन कालों मे रोग की उत्पत्ति या उत्पन्न रोग की बिना विशेष कारण के वृद्धि हो तो वायु की वृद्धि या व्याधि है

वातज होने का ज्ञान होता है। इसी प्रकार शरदऋतु, मध्य दिन, मध्य रात्रि आहार की पच्यमानावस्था एवं मध्यवय या युवावस्था में पित्त की वृद्धि और वसन्त ऋतु, पूर्वाह्न, प्रदोष या पूर्व रात्रि, भुक्तमात्रावस्था एवं बाल्यकाल में श्लेष्मा की प्रकृत्या वृद्धि होने के कारण, इन कालों से व्याधि की उत्पत्ति एवं वृद्धि का सम्बन्ध होने पर पित्तज या कफज निर्णय किया जाता है।

यदि शास्त्रों में वर्णित रोगोत्पादक कारण समन्वित रूप से किसी व्याधित के निदान में मिलें या प्रबल निदान से रोगोत्पत्ति हुई हो तो व्याधि प्रबल या बलवान होती है। इसी प्रकार पूर्वरूप एवं रूपावस्था के सभी या अधिक लक्षणों का युगपत मिलना भी व्याधि के बलवान होने का द्योतक है। इसके विपरीत कम या अल्पबल निदान से उत्पन्न, अल्प पूर्वरूप रूप वाली व्याधि अल्पबल या दुर्बल कही जाती है। बलवान व्याधि कष्टसाध्य और अल्पबल सुखसाध्य होती है।

संचय-प्रकोपादिरूप सम्प्राप्ति—सम्प्राप्ति के संचय-प्रकोप-प्रसर-स्थानसंश्रय-व्यक्ति तथा भेद रूपों का उल्लेख पहले (पृष्ठ ६४) दोष विशेष परीक्षण में किया जा चुका है। यहां पर उक्त परीक्षण से प्राप्त तथ्यों का संकलन कर लेना चाहिए, जिससे व्याधि का एक स्पष्ट चित्र चिकित्सा प्रारम्भ करने के पूर्व उपस्थित हो जाय।

५. **उपशय**—बहुत सी व्याधियों में व्याधि के मूल कारण नष्ट कर देने से अपने आप रोग में लाभ हो जाता है। यथा पूय दन्त (Pyorrhoea), अस्थिकोटरशोथ (Sinusitis), आंत्रपुच्छविद्रधि (Appendicular abscess) इत्यादि स्थान-संश्रित पूययुक्त व्याधियों में पूय का निर्हरण कर देने मात्र से ज्वर, वेदना और विषमयता के सभी लक्षण स्वतः शान्त हो जाते हैं। अतः इस प्रकार की स्थानसंश्रित किन्तु सार्वदेही प्रभावकारी व्याधियों का अनुमान होने पर, हेतुविपरीत चिकित्सा करने से लाभ हो जाने के बाद व्याधि का निर्णय हो जाता है। कुछ औषधियाँ अपने प्रभाव से विना रोग निदान पर प्रभाव किए ही व्याधि का उपशम करती हैं। मूत्राघात होने पर मूत्र विरेचनीय औषधियाँ, अतिसार में स्तम्भनार्थ पाठा और कुटज, कुष्ठ में खदिर तथा प्रमेह में हरिद्रा का प्रयोग व्याधियों की लाक्षणिक शान्ति करते हुए अपने विशेष प्रभाव से रोग का भी उपशम करता है। बहुत सी औषधियाँ व्याधि के दोष और लक्षणों का एक साथ शमन करके शीघ्र प्रभाव दिखाती हैं, उनके प्रयोग से लाभ होने पर दोष और व्याधि दोनों का निर्णय हो जाता है। कभी-कभी व्याधि शमन करने वाले योगों का प्रयोग करने से शरीर में दोषों का अतिमात्र संचय होने के कारण लाभ नहीं होता। आम मल की अधिकता से उत्पन्न हुये अतिसार में स्तम्भनार्थ प्रयुक्त औषधियाँ निष्फल हो जाती हैं और दोषाधिक्य से उत्पन्न छर्दि में भी वमनशामक योग उपकारक नहीं होते। अतः अतिसार में एरण्ड तैल के द्वारा विरेचन करा कर अर्थात् व्याधि के मूल लक्षण को और बढ़ाकर तथा वमन में मदनफल के द्वारा

कुछ समय के लिये व्याधि की लाक्षणिक वृद्धि हो जाती है। किन्तु परिणाम में व्याधि का उपशम होने के कारण इन्हें विपरीतार्थकारी उपशय कहते हैं। उपशय के भेदों का सोदाहरण संग्रह साथ के कोष्ठक में किया गया है। उपशय के द्वारा पहले दोष का निश्चय और उसके बाद व्याधि का निश्चय करना चाहिये।

उपशय-भेद निदर्शक कोष्ठक

उपशय का स्वरूप	औषध	अन्न	विहार
हेतु-विपरीत	१. शीत-कफज्वर में शुण्ठी आदि उष्ण रस-वीर्य वाली औषध।	१. श्रमजन्य तथा वातज ज्वर में पोषक स्निग्ध एवं वातशामक मांसरस तथा शाल्योदन का प्रयोग।	दिवास्वाप से उत्पन्न कफ में रात्रि-जागरण, चंक्रमण या व्यायाम।
	२. औपसर्गिक व्याधियों में विशिष्ट उपसर्ग-नाशक रामवाण औषध। २. श्रम से उत्पन्न व्याधि में श्रमहर द्राक्षादि दशक महाकषाय।	२ सभी संतर्पक आहार।	
व्याधि-विपरीत	व्याधि की लाक्षणिक शान्ति करने वाली औषधें—अतिसार में पाठा-कुटज, कुष्ठ में खदिर, प्रमेह में हरिद्रा, विष-शमन के लिए शिरीष, तमक श्वास में सोम।	अतिसार में स्तंभ-नार्थ मसूर का यूष, केला-गूलर का शाक तथा बेल का फल के रूप में प्रयोग, रौक्ष्यगुण से उत्पन्न वातविकृति में घृत आदि स्निग्ध द्रव्य।	१. उदावर्त में प्रवाहण। २. आमवात में रूक्ष स्वेद। ३. व्याधिविपरीत युक्ति व्यपाश्रय चिकित्सा होम-पाठ आदि।
हेतु-व्याधि उभय-विपरीत	१. वातिक शोथ में वातशामक एवं शोथ-शामक दशमूल क्वाथ का प्रयोग।	वात-कफज ग्रहणी में तक्र, पित्तज में दुग्ध तथा शीत-वातज्वर में उष्ण एवं ज्वरशामक	स्निग्ध पदार्थों के अतियोग से या दिवास्वप्न से उत्पन्न तन्द्रा में रूक्षताकारक रात्रिजागरण।

उपशय का स्वरूप	औषध	अन्न	विहार
हेतु-विपरीतार्थकारी	१. पित्तप्रधान विद्रधि में उष्ण उपनाह । २. कटु रस के अधिक उपयोग से उत्पन्न शुक्रक्षय में पिप्पली, शुण्ठी आदि वृष्य कटु द्रव्य ।	१. पैत्तिक विद्रधि में विदाही अन्न । २. कृमिरोग में मधुर द्रव्यों के साथ क्षीर-भक्त का प्रयोग। ३. रूक्ष आहार के अधिक सेवन से उत्पन्न शुक्रक्षय में रूक्ष-वृष्य पुराना जौ व गेहूँ ।	१. वातजोन्माद में वातप्रकोपक त्रासन २. कामजज्वर में क्रोध या शोककर उपचार ।
व्याधि-विपरीतार्थ-कारी	१. अग्निदग्ध में अगुरु सदृश उष्ण द्रव्यों का लेप, विषजन्य रोग में प्रति विष का शमनार्थ प्रयोग । २. वमनसाध्य छर्दि में वामक द्रव्य-मदन फल आदि का प्रयोग।	१. अतिसार में विरेचनार्थ क्षीर का प्रयोग । २. कफज प्रमेहों में पुराण अन्न-जौ-गेहूँ आदि तथा मधु।	छर्दि में वमन कराने के लिए प्रवाहण अथवा आमाशय प्रच्छालन ।
हेतु-व्याधिउभय विपरीतार्थकारी	कटु-अम्ल एवं उष्ण आहार से उत्पन्न पित्त-वृद्धि में, पित्तहर, अम्ल रस वाले आमलों का प्रयोग ।	मद्यपानजन्य मदात्यय में उत्पादक मद्य का सेवन ।	व्यायामजन्य वात-प्रधान उरुस्तंभ में जलसंतरण। शीतल जल तथा व्यायाम दोनों ही वातवर्धक हैं, किन्तु उरुस्तंभ में जलसंतरण से हेतु-व्याधि दोनों की शान्ति होती है।

६. **सदृश व्याधियों से रोग का सापेक्ष्य निदान**—प्राचीन चिकित्सा साहित्य में व्याधियों के विशिष्ट स्वरूपों की संख्या अधिक नहीं है । प्रायः प्रधान लक्षण के आधार पर ज्वर, अतिसार, रक्तपित्त, कास, श्वासादि व्याधियों के नाम बताए गए हैं । पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान में व्याधियाँ असंख्य हैं, इस कारण

व्याधियों से पार्थक्य कर लेना सदा हितकर होता है। प्रत्येक रोगी में एक ही व्याधि के सभी लक्षण न मिलकर, अनेक बार बहुत से रोगों का मिश्रित रूप प्राप्त होता है। ऐसी अवस्था में सापेक्ष्य निदान बहुत आवश्यक हो जाता है। आमवात, संधिवात, वातरक्त एवंक्रोष्टुक शीर्ष तथा उरुस्तंभ में दूष्याधिष्ठान जानुसंधि होने पर रोगविनिश्चय करने में कठिनाई होती है। इसी प्रकार स्पष्ट ज्वर के अभाव में रक्तष्ठीवन होने पर राजयक्ष्मा एवं रक्तपित्त में भ्रम हो सकता है। इसलिए उपलब्ध विशिष्ट लक्षणों का शीर्षक बनाकर वह लक्षण किन-किन व्याधियों में मिल सकता है, यह निर्देश करना चाहिए। इसके बाद उक्त निर्दिष्ट व्याधियों के कौन-कौन लक्षण प्रस्तुत रोगी में मिलते हैं तथा कौन विशिष्ट लक्षण नहीं मिलते और कौन-कौन उस व्याधि के विरोधी लक्षण मिलते हैं, इनका स्पष्ट पृथक् पृथक् उल्लेख करना चाहिए। इससे मिथ्या निदान की संभावना नहीं रहती। जिस व्याधि के लक्षण अधिक संख्या में या प्रमुख रूप से कष्टकारक हों, प्रायः उसी को प्रधान तथा शेष को अनुबंध या अप्रधान कहा जायगा।

व्याधियों का व्याधित्वेन स्पष्ट निदान न हो सकने पर केवल रोगोत्पादक दोष या दोषों का विनिश्चय करके चिकित्सा प्रारम्भ की जा सकती है, क्योंकि सभी व्याधियों का—दूष्य-देश-कालादि भेद से एक ही व्याधि की भिन्न सी दिखाई पड़ने वाली अवस्थाओं का—नामकरण संभव नहीं[1]। व्याधि का नामकरण कर सकने या न कर सकने, दोनों ही अवस्थाओं में दोषसापेक्ष्य रोगविनिश्चय उपयोगी है। विशिष्ट व्याधि के निदान से व्याधिशामक विशिष्ट रामबाण औषध का प्रयोग किया जा सकता है, किन्तु दोषविनिश्चय के विना चिकित्सा करने से समुचित परिणाम नहीं होगा। इसलिए लक्षणों की प्रवरावर-मध्यता के आधार पर त्रिदोष होने पर वृद्ध—वृद्धतर—वृद्धतम या क्षीण—क्षीणतर या क्षीणतम दोष का और द्विदोषज या एकदोषज होने पर प्रवरावर दोष का ज्ञान अवश्य करना चाहिए। यह सारा विवेचन व्याधि की संम्प्राप्ति का विश्लेषण करते समय किया जाता है। सापेक्ष्य निदान करते समय केवल दोषभेद से उन तथ्यों का प्राक्कलन कर लेना आवश्यक है।

रोगविनिश्चय—सदृश व्याधियों की संभावना का विवेचन करने के बाद असंदिग्ध रूप में व्याधि का निर्णय हो जाता है। रोग का नामकरण करते हुए दोष—दूष्य—अधिष्ठान—वल—अवस्था आदि का उल्लेख करना आवश्यक है। व्याधि की सभी विशेषताओं को स्पष्ट करने के लिए कारणादि के अनुरूप इसके भेदों—स्वरूपों का आगे वर्णन किया जाता है।

साम—निराम तथा जीर्ण—चिकित्सा की दृष्टि से यह भेदकथन बहुत आवश्यक है। क्योंकि रोग की सामता में दोषों का पाचन ही मुख्य प्रतिकर्म किया जाता है। निरामावस्था

---

१. 'विकारनामाकुशलो न जिह्लीयात् कदाचन

में व्याधि का शमन करने के लिए संशामक चिकित्सा की योजना की जाती है और जीर्णावस्था में, जब कि दोष शरीर की भीतरी धातुओं में अड्डा जमा लेता है, अनुकूल परिस्थिति आने पर घटता-बढ़ता रहता है, ऐसी अवस्था में विना दोषों का शोधन किए रोगोन्मूलन नहीं होता। अतः रोगविनिश्चय करते समय व्याधि सामदोषयुक्त है, निराम है या जीर्ण हो चुकी है, यह परिज्ञान अवश्य कर लेना चाहिए।

आगे स्वास्थ्य तथा रोगप्रकरण में वर्णित व्याधियों के वर्ग रोगविनिश्चय तथा प्रतिकर्म में हमेशा सहायक नहीं होते। किन्तु जटिल व्याधियों का विश्लेषण करते समय यथावश्यक उन शीर्षकों के अन्तर्गत भी विचार किया जा सकता है।

उपद्रव—मूल व्याधि के उत्पन्न होने के उपरान्त, मिथ्या आहार-विहार, अव्यवस्थित चिकित्साक्रम और ऋतुकाल के प्रभाव से कुछ दूसरी व्याधियां उपद्रव स्वरूप पैदा हो जाती हैं। यथा मंथर ज्वर में श्लेष्मोल्वण सन्निपात, अतिसार, अन्त्रभेद; विषम ज्वर में मूर्च्छा, प्रलाप, रक्तमेह; मधुमेह में प्रमेह-पिडिकायें और ग्रहणी तथा पाण्डु में शोफ आदि। उपद्रवों की उपस्थिति रोगी की प्रतिकारक शक्ति की दुर्बलता और रोग की गम्भीरता को व्यक्त करती है। मूल व्याधि की चिकित्सा करते हुए उपद्रवों की चिकित्सा विशेष त्वरा से करनी पड़ती है, अन्यथा व्याधि की गम्भीरता बढ़ जाती है। प्रत्येक व्याधि के साथ सम्भाव्य उपद्रवों का उल्लेख आगे यथास्थल किया जायगा।

अरिष्ट—जिन लक्षणों की उपस्थिति से निकट भविष्य में रोगी के मरने की संभावना का ज्ञान होता है अर्थात् जो लक्षण रोगी के भावी मरण को सूचित करते हैं, उन्हें **रिष्ट** या **अरिष्ट** कहते हैं। आतुर के मन व शरीर की स्वाभाविक प्रकृति में अकस्मात् अनिमित्त उत्पन्न होने वाली विकृति को अरिष्ट कहा जाता है। जिस प्रकार पुष्पोद्गम से फलोत्पत्ति की पूर्व सूचना मिलती है, उसी प्रकार अरिष्ट से मृत्यु की पूर्व सूचना मिलती है[1]।

आगे व्याधियों के वर्णन के प्रसंग में प्रत्येक व्याधि की असाध्यता के निदर्शक लक्षणों का निर्देश किया जायगा। यहां पर किसी भी रोग में मिल सकने वाले प्रधान-प्रधान अरिष्टों का संक्षिप्त उल्लेख किया जायगा।

श्रवणेन्द्रिय विप्रतिपत्ति—विकृत स्वरों का अकस्मात् उत्पन्न होना या एक स्वर का अनेक एवं अनेक स्वरों का एकसा श्रवण होना; सिद्ध-किन्नर-गन्धर्व आदि के दिव्य

---

१. 'रोगिणो मरणं यस्मादवश्यम्भावि लक्ष्यते, तल्लक्षणमरिष्टं स्याद्रिष्टं चापि तदुच्यते।' (भा. प्र. पूर्वखण्ड)

'शरीरशीलयोर्यस्य प्रकृतिर्विकृतिर्भवेद्, तत्त्वरिष्टं समासेन।' (सु. सू. अ. ३०)

'रूपेन्द्रिय-स्वरच्छाया-प्रतिच्छाया-क्रियादिषु, अन्येष्वपि च भावेषु प्राकृतेष्वनिमित्ततः' विकृतिर्या समासेन रिष्टं तदिति लक्षयेत्।' (अ. हृ. शा. अ. ५)

'पुष्पं यथा पूर्वरूपं फलस्येह भविष्यतः, तथा लिङ्गमरिष्टाख्यं पूर्वरूपं मरिष्यतः।'

शब्द, समुद्र एवं मेघ के शब्द विद्यमान न होने पर भी सुनाई पड़ना या विद्यमान होने पर न सुनाई पड़ना अथवा समुद्रगर्जना को मेघध्वनि या मेघगर्जना को समुद्र-गर्जना इस प्रकार विपरीत सुनाई पड़ना; ग्राम्य गौ-महिषी आदि पशुओं के शब्दों को जंगली व्याघ्रादि पशुओं का शब्द और जंगली पशुओं के शब्दों को ग्राम्य पशुओं का सा शब्द सुनाई पड़ना एवं श्रवणशक्ति का अकस्मात् नष्ट हो जाना शीघ्र ही दिवंगत होने का लक्षण है।

स्पर्शनेन्द्रिय विप्रतिपत्ति—शीतल पदार्थ को उष्ण और उष्ण पदार्थ को शीतल समझना, शरीर के स्पर्श में बहुत उष्ण होने पर भी शीत से कांपना, शरीर में कफज शीत पिडिका होने पर भी तीव्र दाह का अनुभव होना, अभिघात या छेदन करने पर भी चोट एवं वेदना का अनुभव न होना गतायु का लक्षण माना जाता है। हमेशा स्पन्दित रहने वाले नाडी आदि अङ्गों का अस्पन्दन, नित्य उष्ण रहने वाले अंगों का शीती भाव, मृदु अंगों का दारुण होना, श्लक्ष्ण (चिकने) अंगों का खरस्पर्श हो जाना, निरन्तर स्वेद का आते रहना और स्पर्शज्ञेय दूसरी विकृतियाँ अधिक मात्रा में अनिमित्त उत्पन्न हों तो अरिष्ट ही समझना चाहिए।

रूपेन्द्रिय विप्रतिपत्ति—जिस रोगी का अकस्मात् वर्ण परिवर्त्तन हो जाय या जिसके शरीर पर नील-रक्त वर्ण की रेखाएँ उत्पन्न हो जाएँ या जो मनुष्य अपने शरीर को धूलि-रेत आदि से विना लिप्त ही लिप्त हुआ सा समझे, उसको गतायु ही समझना चाहिए। शरीर का वर्ण पूरा या आधा अनिमित्त ही नील-श्याव-ताम्र वर्ण का हो, आधे मुख में स्नेह तथा आधे में रौक्ष्य की अभिव्यक्ति, उदर में श्याव-ताम्र-नील-हारिद्र या शुक्ल वर्ण की शिराएँ शीघ्र उत्पन्न हों और नख रक्त-मांस रहित से, पके हुए जामुन के रंग के हो जाएँ, तो ऐसे व्यक्ति की मृत्यु बहुत शीघ्र हो जाती है। आकाश में पृथ्वी का तथा पृथ्वी में आकाश का भ्रम होना, गतिमान रूपरहित वायु का दृष्टि-पथ में आना, तथा प्रज्वलित अग्नि का न दिखाई पड़ना अथवा अग्नि के प्रकृतिस्थ वर्ण को कृष्ण या शुक्ल वर्ण का देखना, रात्रि में सूर्य तथा दिन में चन्द्रमा को देखना, विना अमावास्या-पूर्णिमा के सूर्य-चन्द्र का ग्रहण दिखाई पड़ना और जागृतावस्था में ही प्रेत-राक्षस आदि के अद्भुत दृश्यों को देखना आदि अनेक प्रकार का विपरीत या अन्यथा ज्ञान होना शीघ्र मृत्यु का सूचक माना जाता है। नेत्रों का प्राकृतिक स्वरूप नष्ट हो जाय, उनका आकार बहुत उभड़ा या धँसा हुआ हो, उनमें विषमता या कुटिलता आकस्मात् हो, नेत्रप्रचालन सीमा से अधिक हो रहा हो, उन्मेष-निमेष का अभाव-आधिक्य हो, नेत्रों से निरन्तर स्राव हो रहा हो तथा दृष्टि में विपर्यय हो और नेत्र का वर्ण कृष्ण-पीत-नील-ताम्र-हारिद्र आदि अस्वाभाविक रूप का हो जाय तो यह भी गम्भीर अरिष्ट का सूचक माना जाता है।

रसनेन्द्रिय विप्रतिपत्ति—रसों का विपरीत ज्ञान यथा—मधुर को अम्ल तथा अम्ल को मधुर आदि, रसज्ञान का पूर्णतया अभाव, रसों का शरीर पर विपरीत या अन्यथा प्रभाव अथवा मांसरस एवं दूसरे पोषक रसों का विधिवत् उपयोग करने पर भी शरीर-

हो जायगा, ऐसा समझना चाहिए। रोगी का शारीररस अत्यन्त मधुर या कटु आदि होने का ज्ञान मक्षिका-पिपीलिका आदि के द्वारा किया जाता है। यह परिवर्त्तन भी अरिष्टसूचक ही माना जाता है।

घ्राणेन्द्रिय विप्रतिपत्ति—सुगन्ध में दुर्गन्ध का तथा दुर्गन्ध में सुगन्ध का अनुभव होना तथा एक स्पष्ट नियत गन्ध वाले द्रव्य में दूसरे की गन्ध का अनुभव होना आदि गन्धसम्बन्धी अन्यथा ज्ञान पीनस आदि रोगों के विना ही हो रहा हो तो उस व्यक्ति की शीघ्र मृत्यु हो जाती है। जिस व्यक्ति के शरीर से अनेक प्रकार के सुगन्धियुक्त पुष्पों की गन्ध निरन्तर आती रहे, उसकी १ वर्ष के भीतर मृत्यु हो जाती है।

अरिष्ट के दूसरे उदाहरण—

(१) चाँदनी, दर्पण तथा धूप में प्रतिबिम्बित छाया को जो नहीं देखता या एक अंग से हीन, विकृतांग या दूसरे प्राणियों के समान देखता है, वह रोगी शीघ्र मर जाता है।

(२) जिसका ऊपर का ओष्ठ नीचे लटका हुआ, नीचे का ओष्ठ ऊपर चढ़ा हुआ, दोनों ओष्ठ पके हुए जामुन के रंग के हों, दाँत अकस्मात् लाल या काले हो जावें, उसे गतायु ही समझना चाहिए।

(३) जिसकी जिह्वा काली, रूक्ष, अत्यधिक मललिप्त, कर्कश, शोथयुक्त या स्तब्ध हो और उसका वर्ण सफेद या नीला हो गया हो, वह शीघ्र ही दिवङ्गत होता है।

(४) जिसकी नासिका अतिशुष्क, फटी हुई या टेढ़ी हो जाय, निरन्तर नाक से शब्द होता हो अथवा नासिका बैठ जाय, वह व्यक्ति शीघ्र गतायु होता है।

(५) जो मनुष्य मुख में डाले हुए खाद्य-पेय को नहीं निगल पाता, सिर एवं ग्रीवा को भी एक आसन में धारण नहीं कर सकता—ग्रीवा एक ओर को लटक जाती हो—या एक ही ओर दृष्टि बांध कर मूढ़ के समान देखता रहे, वह शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त करता है।

(६) जो व्यक्ति उठाते ही मूर्च्छित हो जाय, जो पैरों को हमेशा मोड़ कर रक्खे, फैला न सके अथवा हमेशा फैले रहने वाले पैरों को मोड़ न सके तथा जिसके हाथ-पैर और उच्छ्वास शीत हों, वह शीघ्र ही देह त्याग करता है।

(७) शरीर के सभी छिद्रों, नासा-मुख-कर्ण-नेत्र आदि तथा रोमकूप-से विषपान के विना ही रक्त आता हो, जिसकी जिह्वा काली हो जाय तथा वाम नेत्र भीतर धँस जाय तथा मुह से सड़ी हुई दुर्गन्ध आती रहे तो उसके शीघ्र ही मरने की प्रतीक्षा करनी चाहिए।

(८) जिस क्षीण मनुष्य की क्षुधा तथा तृष्णा हृद्य-मधुर तथा हितकर अन्नपान से भी न शान्त हो, उसकी शीघ्र मृत्यु हो जाती है।

(९) शरीर के भ्रू-वर्त्म-ओष्ठ आदि अवयवों का अकस्मात् अपने स्थान से नीचे या ऊपर होना, नेत्र-नासिका-मुख आदि का टेढ़ा हो जाना, शिर-ग्रीवा आदि की धारणशक्ति का नष्ट हो जाना, नेत्र-जिह्वा का बाहर निकल आना या भीतर धँस जाना, शरीर में प्रवाल वर्ण के अरुण विस्फोट या व्यङ्ग निकल आना, ललाट प्रदेश पर शिरा-जाल स्पष्ट होना, प्रातःकाल ललाट पर पसीना आना, सिर की बहुत सफाई करने पर

क्षय होना या विना भोजन किए ही मल-मूत्र की वृद्धि होना, स्तनमूल तथा वक्ष के मध्य में निरन्तर शूल होना, शरीर के मध्य भाग में शोथ तथा हाथ-पैर में कृशता तथा हाथ-पैर में शोथ और मध्य भाग में कृशता होना, दन्त-मुखमण्डल तथा नखों पर विकृत वर्ण के फल के समान चिह्न उत्पन्न होना आदि परिवर्त्तन अवश्यम्भावी मृत्यु के सूचक हैं।

(१०) मूत्र-पुरीष-स्वेद-ष्ठीवन-निःश्वास आदि का रुकना, अकारण शरीर के अवयवों का ठण्ढा हो जाना, गरम-स्निग्ध-रूक्ष हो जाना या वर्ण परिवर्त्तन होना और शक्ति का नष्ट होना अरिष्ट का सूचक है।[1]

साध्यासाध्यता—चिकित्सा प्रारम्भ करने के पूर्व रोग साध्य, असाध्य या दुश्चिकित्स्य है, इस प्रकार का ज्ञान अपेक्षित है। सामान्यतया साध्यासाध्य विनिश्चय करते समय दो प्रश्न विचारणीय होते हैं—

१. रोग साध्य है तो सामान्य दृष्टि से कितने समय में ठीक होगा। कुछ रोग काल मर्यादित होते हैं। रोगी एवं परिवार के व्यक्तियों को भी सबसे अधिक जिज्ञासा इसी बात की रहती है, अतः इसका निर्णय बहुत सावधानीपूर्वक करना चाहिए। संभव है, उस रोग में कुछ उपद्रवों की संभावना हो, अतः संभाव्य उपद्रव तथा रोगों के स्थायी परिणाम की संभावना का निर्देश, आवश्यक होने पर किया जा सकता है। इस प्रकार से ठीक निर्देश न मिलने के कारण रोगी आमवात में पूर्ण विश्राम नहीं करता और परिणाम स्वरूप हृत्कपाट विकृति से यावज्जीवन कष्ट पाता रहता है। शैशवीय अंगघात में ज्वरावस्था में प्रायः अंगघात के लक्षण नहीं होते। यदि कुटुम्बियों से अंगघात की संभावना का पहले से उल्लेख न रहेगा तो वे उत्तरकाल में होने वाले इस स्थायी परिणाम को चिकित्सक की ही असावधानी समझेंगे। इसी प्रकार दूसरी व्याधियों में भी निर्णय करना चाहिए।

२. यदि रोग असाध्य है तो रोगी अनुमानतः कितने दिन जीवित रहेगा, क्या उसके कष्ट की निवृत्ति के लिए कोई शक्तिदायक लाक्षणिक उपचार हो सकता है?

साध्यासाध्यता की दृष्टि से रोगों के निम्नलिखित भेदोपभेद किए जाते हैं।

१. **साध्य**—(१) सुखसाध्य (२) कष्टसाध्य।

२. **असाध्य**—(१) याप्य अर्थात् रोग का पूर्ण निर्मूलन न हो सकने पर भी चिकित्सा से उसका उपशम हो सकता है। उचित पथ्यपालन एवं औषध प्रयोग से रोगी रोग मुक्त न होने पर भी पर्याप्त समय तक साधारण स्वास्थ्य के साथ जीवन बिता सकता है।

(२) प्रत्याख्येय—कुछ रोग किसी प्रकार की भी चिकित्सा से साध्य नहीं होते। इनकी चिकित्सा का स्पष्ट शब्दों में प्रत्याख्यान कर देना चाहिए। प्रत्ययाख्यानपूर्वक

---

१. इस विषय का विस्तृत वर्णन सुश्रुत के सूत्रस्थान २८ से ३२ अध्याय तक तथा चरक के

चिकित्सा करने से लाभ न होने पर चिकित्सक का अपयश नहीं होता और परिवार वाले भी किसी अप्रत्याशित घटना से पीडित नहीं होते।

साध्यासाध्यता निदर्शक सामान्य सिद्धान्त—

१. रोगोत्पादक कारण अल्प बल एवं व्याधि के लक्षण अल्प होने तथा उपद्रवों के न होने पर सामान्यतया व्याधि साध्य होती है।

२. वात प्रकृति के व्यक्ति को वातप्रधान रोग वर्षा ऋतु में और आनूप देश में हो तो सुखसाध्य व्याधि भी कष्टसाध्य या असाध्य हो जाती है, क्योंकि रोग-रोगी-देश-काल सभी में वाताधिक्य होने के कारण दोष की प्रबलता बढ़ जाने से रोग बद्धमूल हो जाता है।

३. बाह्य रोग मार्ग की अपेक्षा आन्तरिक रोग मार्गजन्य व्याधियाँ कष्टसाध्य होती हैं।

४. दोषों का अधिष्ठान (स्थान संश्रय) गम्भीर धातुओं-मज्जा-शुक्र; मर्मांगों-हृदय, बस्ति और शिर में होने पर व्याधि की असाध्यता बढ़ जाती है।

५. कुछ व्याधियाँ प्रकृत्या असाध्य होती हैं यथा—कुष्ठ, मधुमेह, गुल्म, अर्श, भगन्दर, उदर, राजयक्ष्मा।

६. संयमी, उपदिष्ट आहार विहार का पालन करने वाला, स्थिरचित्त रोगी; स्वामिभक्त, सुशिक्षित, तत्पर परिचारक और उपयुक्त औषध एव अनुभवी चिकित्सक की उपलब्धि होने पर गम्भीर व्याधि भी साध्य हो सकती है।

७. बलवान् रोगी में सभी व्याधियाँ हीनबल हो जाती हैं। तेजस्वी, निश्चिन्त मन, प्रदीप्त अग्नि, शीतल मस्तक तथा सम नाडी वाला व्यक्ति शीघ्र रोगमुक्त होता है। साध्यासाध्यता सम्बन्धी विशिष्टताओं का निर्देशन साथ के कोष्ठक में किया गया है।

साध्यासाध्यता

- रोग
  - प्रकृति
    - सुखसाध्य
    - कृच्छ्रसाध्य
    - असाध्य
      - याप्य
      - प्रत्याख्येय
  - प्रबल निदानारब्ध
  - त्रिदोष समुत्थ
  - प्रकृति-दोष-दूष्य-काल-देशादि की समता-विषमता
  - मर्म विकृति
  - उपद्रव
- रोगी
  - वय
  - आतुर संपत
  - शरीरबल या प्रतिकारक शक्ति
  - सत्वबल
- चिकित्सा
  - चिकित्सा सम्पत
  - कालारब्ध
  - पथ्य
  - विहार
- परिचर्या
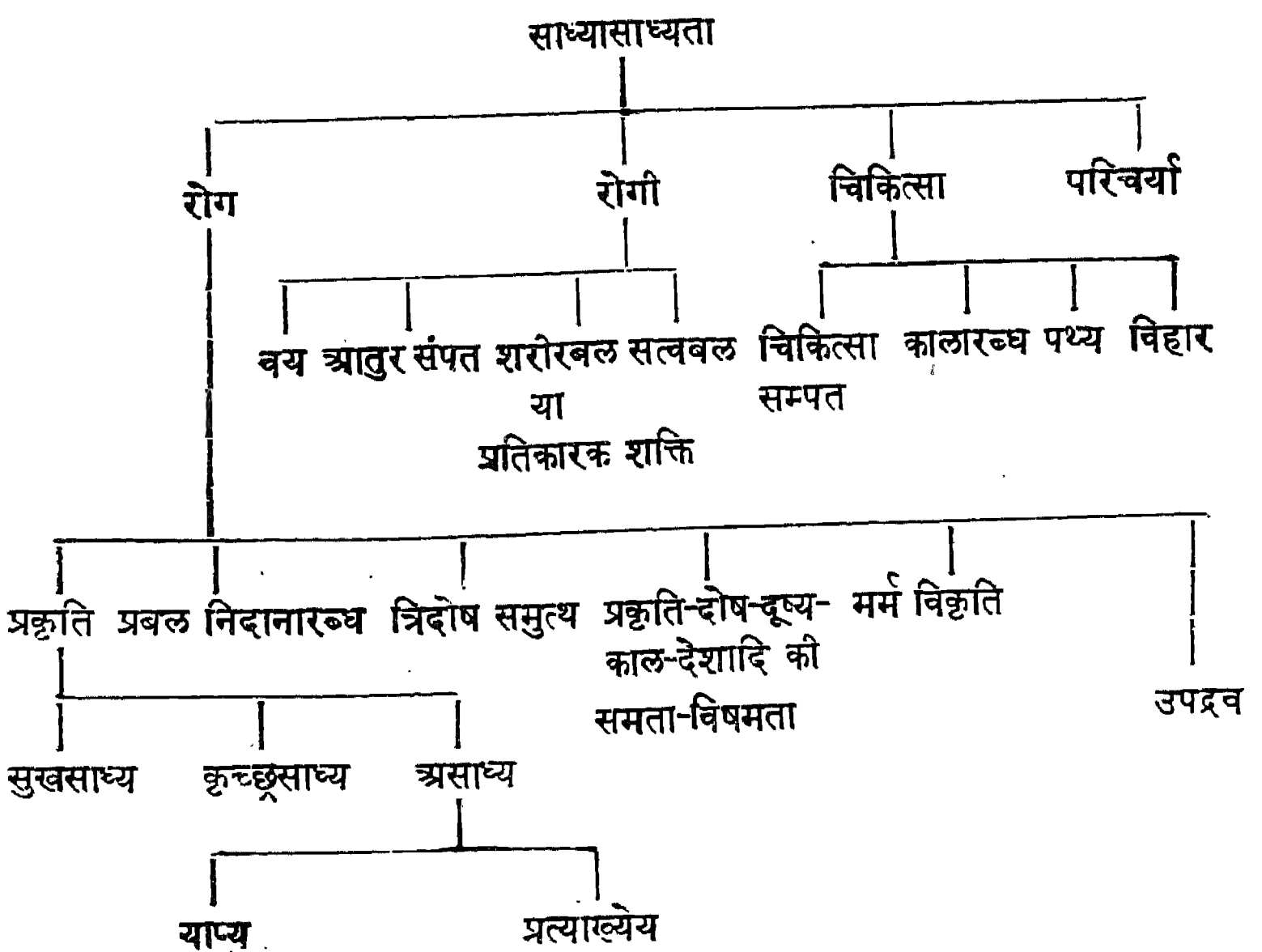
साध्यासाध्यता-निदर्शक कोष्ठक

आधार	सुखसाध्य	कृच्छ्रसाध्य	याप्य	प्रत्याख्येय
१. निदानः—हेतु, पूर्वरूप तथा रूपावस्था की स्थिति।	अल्प।	मध्यम।		सभी हेतुओं से उत्पन्न, पूर्व-रूप-रूपावस्था के सभी लक्षणों से युक्त व्याधि।
२. दोषः—दोष, गति।	एकदोषज, एक गति एवं अल्पांश से कुपित दोष।	द्विदोषज, एक या द्विगति-युक्त, पुराण व्याधिगत दोष।	द्विदोषज, मर्म-संधि आदि में स्थितदोष।	त्रिदोषज, सभी अंशों से कुपित, अनेक गतियुक्त मर्माधिष्ठित।
३. रोगः—कुछ रोग स्वभावतः अल्पबल, कुछ मध्यबल कुछ प्रबल होते हैं।	१. साधारण रोग। २. संचय-प्रकोप-प्रसारकालारब्ध चिकित्सा।	१. साधारण किन्तु अपथ्यादि से उपद्रुत रोग। २. स्थान-संश्रय एवं उसके बाद आरंभ चिकित्सा।	गंभीर, बहु-धातुस्थ एवं नित्यानुपशयी रोगी।	क्रियापथ की सीमा से अतिक्रान्त, अनेक उपद्रवों से युक्त, अरिष्टयुक्त।
४. रोगी की अवस्थाः—प्रतिकारक शक्ति, मनोबल, पथ्यपालन की प्रवृत्ति, पर्याप्त साधनों की उपस्थिति, योग्य परिचारक, औषधक्षम शरीर।	युवावस्था, प्रबल मनोबल, चतुष्पादसंपत् आदि सेपूर्ण।	मध्य साधनादिसंपन्न, बाल्य-वृद्धावस्था।	क्षीणावस्था, जीर्णावस्था, साधनहीनता, औषधि के प्रयोग के लिए अक्षम शरीर।	
५. प्रकृति-दोष-दूष्य-देश-काल के दोषों की समता-विषमता।	असमानता।	अन्यतम समानता।	सर्वसामान्यत्व।	

प्रतिकर्म विज्ञान

चिकित्सा के सिद्धान्तस्थिर करते समय दूष्य–देश–काल–बल–अग्नि–प्रकृति–दोषावस्था–सत्वबल–सात्म्य–आहारसात्म्यता और व्याधि की अवस्थाओं का [illegible]

विवेचन सामने रखते हुए दोषों की अंशांश कल्पना करके, दोष के जिस अंश के दूषित होने से रोगोत्पत्ति हुई हो, उसके उपशय के लिये विशेष उपचार करते हुए ओषधियों की योजना करनी चाहिये। आप्त ग्रंथों एवं चिकित्सा शास्त्रों में रोगों की जो चिकित्सा वर्णित है, वह विशिष्ट रोग में व्यवहृत होने वाली सभी ओषधियाँ और उपक्रमों का संग्रह मात्र है। उससे, उस विशिष्ट व्याधि में प्रयुक्त हो सकने वाली सभी ओषधियों का समष्टि में परिचय मिल जाता है। आतुर में रोग का स्वरूप शास्त्रोक्त स्वरूप से प्रायः कुछ भिन्न सा ही मिला करता है। एक प्रकार से रोग और रोगी में आदर्श और यथार्थ के समान अन्तर मिलता है। क्वचित् रोगी में ऐसी अवस्थायें भी उत्पन्न हो सकती हैं, अप्रत्याशित उपद्रव या विरुद्धोपक्रम के दूसरे लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं, जिसमें शास्त्रोक्त व्यवस्था अनुपयोगी, अव्यवहार्य या निषिद्ध सी हो जाती है।[1] अतः ओषधि-प्रयोग के पहले प्रतिकर्मसम्बन्धी सिद्धान्तों का निश्चय कर लेने से ओषधियोजना में सुविधा होती है।

प्रतिकर्म विज्ञान के विषय को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित कर व्यवस्था करनी चाहिये।

१. **चिकित्सा सूत्र**—सामान्यतया चिकित्सा के तीन अंग माने जाते हैं–**लंघन, शमन तथा शोधन**। दोष एवं व्याधि की आमावस्था में विकार कारक अंशों का पाचन करने के लिये लंघन, उष्णोदक पान या **पाचन औषधियों** का प्रयोग चिकित्सा का प्रारम्भिक तथा सर्वोत्तम उपक्रम माना जाता है।

कुछ रोगियों में रोग के कुछ लक्षण बहुत उग्ररूप के हो जाते हैं, जिनसे रोगी को असह्य कष्ट होने लगता है, ऐसी अवस्था के अतिरिक्त रोग की निरामावस्था में भी कष्ट-कारक लक्षणों का अनुबन्ध होने पर व्याधि का शमन करने वाली लाक्षणिक ओषधियों की योजना करनी पड़ती है। इस प्रकार विकारोत्पादक कारणों का शमन या पाचन किये बिना ही केवल लाक्षणिक रूप में व्याधि का शमन करने वाली ओषधियाँ या उपक्रम **संशामक चिकित्सा** में अन्तर्भूत किये जाते हैं। संशामक चिकित्सा वास्तव में आत्ययिक या लाक्षणिक चिकित्सा है, जिससे रोगी को तत्काल लाभ मालूम पड़ता है, किन्तु रोग निर्मूलन में इस प्रकार की ओषधियाँ विशेष उपकारक नहीं होतीं। अतः इस श्रेणी की ओषधियों का व्यवहार अत्यावश्यक होने पर ही सावधानी पूर्वक करना चाहिये।

जीर्ण व्याधियों में विकारकारक दोषों का संचय शरीर की गंभीर धातुओं में होता है, इसी कारण लीन दोष बार-बार घटता बढ़ता रहता है, ऋतु-अहोरात्र आदि में स्वभावतः संचित होने वाले दोषों से उपबृंहित होकर यदा कदा रोग का तीव्र स्वरूप भी प्रकट हो जाता है। ऐसी अवस्था में पाचन-व्यवस्था के द्वारा लाभ नहीं होता, क्योंकि पाचन के द्वारा मुख्यतया आमाशयस्थ दोष, रसदुष्टि या महास्रोत के विकारों में लाभ होता है। शरीर की गंभीर धातुओं में भी दोष का संचय होने पर पाचन के द्वारा विशेष उपकार नहीं होता। व्याधि की जीर्णावस्था में देखने में तो रोग के लक्षण हीनबल से दिखाई पड़ते हैं, पर वास्तव में वे तीव्रावस्था की अपेक्षा अधिक बद्धमूल होते हैं। शरीर की प्रति-कारक शक्ति के दुर्बल होने पर ही रोग का दीर्घकाल तक अनुबंध होता है, जीर्णावस्था

१. 'उत्पद्यते तु सावस्था देश-काल-बलं प्रति। यस्यां कार्यमकार्यं स्यात् कर्म कार्यं च गर्हितम्॥'

उत्पन्न होती है। इसी कारण प्रतिकारक शक्ति के माध्यम से कार्यशील पाचन योगों के द्वारा इसमें दोषों का पाचन होकर व्याधि का निर्मूलन सम्भव नहीं होता। ऐसी अवस्था में संचित दोषों का शोधन करने के बाद ही रोग का शमन या निर्मूलन हो सकता है। इसके अतिरिक्त विकारकारक दोषों का अत्यधिक मात्रा में संचय होने पर भी संशोधन चिकित्सा का आश्रय लेना पड़ता है, क्योंकि पाचन के द्वारा दोषों के निर्विषीकरण की सीमा होती है। पाचन के द्वारा अतिमात्र दोषों का शमन बहुत देर में होगा तथा शोधन के द्वारा संचित दोष अल्पकाल में ही शरीर के बाहर निकल जायगा और कदाचित् थोड़ा बहुत दोष शरीर-धातुओं में कहीं रह भी गया तो बाद में पाचनयोगों के प्रयोग से उसका त्वरित निर्मूलन हो जायगा। शोधन चिकित्सा के अनेक अंग होते हैं, जिनका विवेचन आगे स्वतंत्र रूप से विस्तारपूर्वक किया जायगा।

चिकित्सासूत्र का निर्णय करने के बाद विशिष्ट उपक्रमों के बारे में विवेचन करना चाहिए। जिस रोग का निदान किया गया है, आप्त ग्रन्थों में उसकी चिकित्सा में जिन उपक्रमों का निर्देश आया है, उनका प्रस्तुत रोगी में प्रयोग किस सीमा तक उचित होगा? अर्श, अतिसार एवं ग्रहणी में तक्र का प्रयोग; आमवात, प्रमेह, मेदोवृद्धि आदि में रूक्ष अन्न एवं व्यायामादि की व्यवस्था और उन्माद में त्रासन-स्नेहन या उच्चाटन आदि का प्रयोग विशेष उपक्रमों के उदाहरण हैं। अनेक व्याधियों की विशेष-विशेष अवस्थाओं में इन उपक्रमों का उल्लेख किया गया है, चिकित्सासूत्र निश्चित करते समय इनका पर्यालोचन कर लेना आवश्यक है।

पथ्यापथ्य—भारतीय चिकित्सा पद्धति की प्रमुख आधारशिला पथ्यापथ्य है। पथ्य-पालन मात्र से, औषध सेवन के बिना ही, रोगी रोग मुक्त हो सकता है और पथ्यपालन न करने वाले यदि उत्तम से उत्तम सहस्रों औषधियों का सेवन करें, तो भी उनके आरोग्य-लाभ की संभावना संदिग्ध ही रहेगी। यहाँ तक कहा जाता है कि पथ्यपालन न करने पर औषधि से लाभ न होगा, अतः चिकित्सा करना व्यर्थ है और पथ्य पालन करने से स्वतः रोग का उपशम हो जायगा, चिकित्सा की कोई आवश्यकता नहीं है।[1] इस ऐकान्तिक कथन से रोग तथा स्वास्थ्य के प्रतिबन्ध-अनुबन्ध के लिए पथ्य का महत्व स्पष्ट हो गया होगा।

पथ्य के बारे में रोगी को स्पष्ट निर्देश करना चाहिए। किस समय, कितनी मात्रा में, कब तक, कौन पथ्य दिया जाय—यह परिचारकों को भली प्रकार समझा देना चाहिए। रोग, साम-निराम-जीर्ण आदि रोगावस्था, देश, काल, दोषों का बलाबल, रोगी की पाचनशक्ति, वैयक्तिक प्रकृति आदि का ध्यान रखते हुए पथ्य-निर्देश करना चाहिए। अभी तक पाश्चात्य चिकित्सा में व्यापक रूप से पथ्य का विश्लेषण नहीं किया गया; केवल हृद्रोग, वृक्कविकार, मधुमेह, सर्वाङ्गशोफ आदि कुछ विशिष्ट व्याधियों में विशिष्ट आहार-विहार की महत्ता स्वीकार की गई है; किन्तु व्यवहार में पथ्यापथ्य का परिपालन

१. 'विनापि भेषजैर्व्याधिः पथ्यादेव निवर्त्तते। न तु पथ्यविहीनानां भेषजानाम् शतैरपि॥'
'पथ्येसति गतार्त्तस्य किमौषधिनिषेवणैः। पथ्येऽसति गतार्त्तस्य [illegible]

निश्चयपूर्वक रोग के पाचन या उद्दीपन में सहायक होता है; अतः पथ्य पालन में अनवधानता न होनी चाहिए। आमवात, श्लीपद, आमातिसार एवं श्वास में गुरुपाकी-विष्टम्भी-पिच्छिल आहार, शीताभिषेक, विबन्ध और वर्षा ऋतु निश्चय ही कष्टकारक होती हैं। पुराने चिकित्सक पथ्यपालन में जितना जोर देते थे, आजकल उसकी तुलना में तो पथ्य की उपेक्षा ही की जाती है। किन्तु सम्यक् विवेचन करते हुए यथावश्यक पथ्यपालन कराने में ढिलाई न कराना रोगी के लिए बहुत उपकारक होता है। प्रतिकर्म विज्ञान में पथ्यापथ्य का स्वतन्त्ररूप में महत्व होने के कारण आगे इस विषय का पृथक अध्याय में वर्णन करने के अतिरिक्त, प्रत्येक रोग के प्रकरण में भी स्पष्ट निर्देश किया जायगा। पथ्य के अतिरिक्त विहार या शयनासन के बारे में भी भली प्रकार समझा कर रोगी तथा परिचारकों को बताना चाहिए। रोगी को पूर्ण विश्राम या अर्धविश्राम करना अथवा साधारण कर्म करते रहना; स्नान-जल-वायु-सोने-जागने आदि के बारे में भी पथ्य के समान ही स्पष्ट निर्देश होना चाहिए। मिथ्याहार-विहार को ही सभी रोगों का मूल कारण माना जाता है, अतः इस क्षेत्र में उपेक्षा न करना चाहिए। संक्रामक रोगों में मल-मूत्र-ष्ठीवन आदि का संशोधन तथा संक्रमण प्रतिषेध का उपाय भी इसी शीर्षक के अन्तर्गत बताना चाहिए।

औषध योजना—चिकित्सा सूत्र एवं विशिष्ट उपक्रमों का भली प्रकार ध्यान रखते हुए सर्वतोभावेन रोगी के वर्तमान कष्ट में हितकर औषधि का प्रयोग किया जाता है। रोगी के लिये उपकारक औषधि का चुनाव करते समय व्यथाकारक प्रमुख लक्षणों का ध्यान रखते हुये मूल व्याधि प्रशामक औषधियों की योजना की जाती है। कफ का अधिक संचय होने पर कफनिःस्सारक औषधियों का उपयोग, पित्ताधिक्य होने पर पित्तशामक व पित्तविरेचक औषधियों का उपयोग, वाताधिक्य होने पर वातशामक औषधें, उष्णानुपान और वस्ति का प्रयोग उपकारक होता है। अच्छे-अच्छे औषधियों के योग चिकित्सा ग्रन्थों में संग्रहीत हैं; उनके घटक द्रव्य, भावना, संस्कार आदि का स्मरण रखते हुये यथावश्यक उपयोग किया जा सकता है। किन्तु योग रोगी की अवस्था के अनुरूप बहुत बार उतने उपयोगी नहीं सिद्ध होते हैं। अवस्था, बल और शरीरगत विचित्रताओं के कारण केवल योगों के द्वारा चिकित्सा करने से पूरा लाभ नहीं होता[1]। अतः रोगी की प्रकृति, दोष, दूष्य आदि का विवेचन करते हुए लक्षणों का पूर्ण शमन करने वाली औषधियों का स्वतंत्र योग बनाकर यथावश्यक प्रयोग किया जाता है।

रोगावस्था के अनुरूप औषधियों का योग बनाते समय सर्वप्रथम रोगनाशक औषध की योजना करनी चाहिए। रोग के दूसरे लक्षण या उपद्रवों का प्रतिकार करने के लिए, सहायक या मुख्य औषध का गुणवर्धन करने के लिए, योगवाही द्रव्यों का

---

१. 'योगैरेव चिकित्सन् हि देशाद्यज्ञोऽपराध्यति। वयोबलशरीरादिभेदा हि बहवः मता॥'
च. चि. ३०.

अन्तर्भाव करना चाहिए। इनकी मात्रा, सेवन का समय तथा उचित सहपान-अनुपान का उल्लेख भी विधिवत् करना चाहिए। जिस प्रकार उपसर्गों के प्रयोग से धातुओं का अर्थ बदल जाता है, उसी प्रकार सहपान एवं अनुपान के अन्तर से औषध का, विशेषकर रसौषधियों का गुण भी बदल सकता है, अतः सहपान-अनुपान में प्रयुक्त द्रव्य के रस-गुण-विपाक-प्रभाव आदि का असंदिग्ध ज्ञान रहना आवश्यक है।

हेतु-व्याधिविपरीत रामबाण औषध या योगवाही रसौषधियों के प्रयोग के अतिरिक्त प्रधानतया कष्टदायक लक्षणों एवं उपद्रवों का स्वतन्त्र रूप में उपचार भी कभी-कभी आवश्यक हो जाता है। लक्षणों का शमन करने वाली ओषधियाँ कहीं मूल व्याधि में किसी प्रकार अनुपकारक तो न होंगी, इस बात का विवेचन लाक्षणिक ओषधियों के प्रयोग के पूर्व अवश्य कर लेना चाहिए। अहोरात्र में दोषों के प्रकोप-प्रशम का ध्यान रखते हुए तदनुरूप प्रातः, मध्याह्न एवं सायंकाल के अनुपान में परिवर्त्तन भी करना चाहिए।

सामान्यतया भली प्रकार निदान करके और चिकित्सा सूत्रों एवं भैषज्य प्रयोग सम्बन्धी विषयों का विवेचन करके ओषधियोजना करने से रोगी को अवश्य लाभ होना चाहिए, किन्तु कुछ रोगों में शीघ्र और कुछ में विलम्ब से दोष-व्याधि का शमन होता है, अतः शीघ्र लाभ स्पष्ट न होने पर जल्दबाजी में दवा बदलते रहना श्रेयस्कर नहीं। अनुकूल परिणाम के लिए कुछ काल तक प्रतीक्षा करनी चाहिए। रोगी की प्रतिदिन या तीव्रावस्था में दिन में कई बार परीक्षा करके चिकित्सक को अन्वीक्षण करते हुए आवश्यक होने पर चिकित्साक्रम में आमूल परिवर्त्तन या सम्वर्द्धन अथवा किसी ओषधि का परित्याग विश्वासपूर्वक करना चाहिए।

उपद्रव तथा उसका प्रतिकार—प्रत्येक व्याधि में कुछ विशिष्ट उपद्रवों के अनुबंध की सम्भावना उचित व्यवस्था न करने के कारण होती है। अतः सम्भाव्य उपद्रवों के प्रतिबन्धन के लिए पहले से ही आवश्यक व्यवस्था कर देनी चाहिए और उनके सम्भाव्य स्थलों का बार-बार परीक्षण करते रहना तथा परिचारकों को उनके विशिष्ट लक्षण बता कर उपद्रवों की उत्पत्ति के साथ ही सूचना देने के लिए सावधान कर देना आवश्यक है। आत्ययिक स्थिति में आवश्यक होने पर उपयोगी सभी उपकरण रोगी के निकट या चिकित्सक के पास तैयार रखना चाहिए अन्यथा उपद्रव की तीव्रावस्था में चिकित्साकाल व्यर्थ की दौड़-भाग में ही बीत जाता है।

दैनिक प्रगति—प्रतिदिन या यथाशक्ति शीघ्र से शीघ्र रोगी की पूर्ण परीक्षा करते हुए नवीन परिवर्त्तनों तथा ओषधि के प्रभाव का अध्ययन करके दैनिक प्रगति का लेखा-जोखा तैयार करना चाहिए और उसके अनुरूप व्यवस्था में उचित संशोधन करते रहना चाहिये।

पोषक तथा प्रतिषेधक चिकित्सा—जीर्ण व्याधियों में, विशेषतया अधिक दिन लङ्घन करने से शरीर बहुत क्षीण हो जाता है और प्रतिकारक शक्ति बहुत निर्बल हो जाती है;

जिससे शय्याव्रण, धातुक्षय आदि अनेक उपद्रव हो सकते हैं। इसलिये आमावस्था का पाचन होने के उपरान्त रोगी के बल संरक्षण के लिये सुपाच्य-पोषक और निरुपद्रुत पथ्य की व्यवस्था करनी चाहिये। अनेक बार व्याधि की विशेष स्थिति के कारण अथवा रोगी की क्षीणता के कारण पथ्यप्रयोग से रोगी को अनुकूलता नहीं होती। ऐसी अवस्था में कुछ धातुपोषक तथा बलवर्धक ओषधियों की योजना मूल व्यवस्था के साथ में ही करनी चाहिये।

अनेक व्याधियों में पुनरावर्तन की प्रवृत्ति होती है और पूर्व व्याधि से कर्षित होने के कारण नवीन व्याधियों के लिये रोगी का शरीर उर्वर हो जाता है। अतः व्याधि का पुनरावर्तन या नवीन व्याधियों का आक्रमण न हो, इसके लिये पर्याप्त व्यवस्था करके ही रोगी को मुक्त करना चाहिये।

सामान्य निर्देश—रोगी रोगमुक्ति के बाद भी पर्याप्त समय तक पूर्ण स्वास्थ्य लाभ नहीं कर पाता। इसलिये पूर्ण स्वस्थ होने तक पथ्यापथ्य-आहार-विहार और आवश्यक ओषधियों की पूरी व्यवस्था, रोगी को उसकी उपयोगिता समझाते हुये, करना चाहिये। बहुत से रोगों में उनके समूल नाश और तत्सम्बन्धी विशेष जानकारी के लिये रोगी को बीच-बीच में चिकित्सक का परामर्श लेते रहना आवश्यक होता है। यदि पुनः परामर्श की आवश्यकता हो तो उसका स्पष्ट निर्देश व्यवस्थापत्र में तिथि, समय और उद्देश्य के साथ कर देना चाहिये।

द्वितीय अध्याय

स्वास्थ्य तथा रोग

सामान्यतया शारीरिक-मानसिक किसी भी वेदना का अनुभव न होना, शरीर व मन का प्रसन्न व प्रफुल्लित रहना, स्वास्थ्य का मूल लक्षण माना जाता है। सुस्वास्थ्य शरीर के दृढ़ संगठन, पुष्ट अंग, उत्तम बल या प्रवर आहार शक्ति पर नहीं निर्भर करता। व्यक्ति दुर्बल होते हुये भी स्वस्थ हो सकता है। आज भी स्वास्थ्य का कोई निरपेक्ष मानदण्ड नहीं है। बहुसंख्य स्वस्थ व्यक्तियों की शारीरिक रचना, शरीर भार, पुष्टता, स्थूलता आदि का मध्यबिन्दु स्वास्थ्य परीक्षा का आधार माना जाता है। प्राचीन आचार्यों ने स्वस्थ व्यक्ति के शरीर एवं प्रत्येक अंग का परिमाण, विस्तार, भार आदि के परिमापन का निर्देश किया है और अंगों के पृथक्-पृथक् माप का उल्लेख भी किया है, किन्तु उनका मानदण्ड व्यक्तिनिष्ठ है। पुरुष को अपने अंग का परिमाण स्वकीय अंगुल-मुष्टि-व्याम इत्यादि मापों से करना होता है। इसीलिये शरीर की लम्बाई-चौड़ाई या मोटाई को प्राचीनों ने स्वास्थ्य का आधार नहीं माना है। क्योंकि अपने-अपने परिमाण से सभी की लम्बाई-चौड़ाई प्रायः एक सी होती है। कभी-कभी इसमें अधिक विषमता हो जाने पर भार, ऊँचाई, परिमाण आदि भी विकृति के निदर्शक माने जाते हैं और व्यक्ति अधिक लम्बा और अधिक कृश, छोटा व स्थूल, लम्बे पैर, छोटे वक्ष, बड़ा सिर और पतली गर्दन इत्यादि विषमताओं से युक्त होने पर हीन आयु या अन्य अस्वास्थ्यकर भावों वाला माना जाता है। जिस व्यक्ति के शारीरिक दोष—वात-पित्त-कफ, मानसिक दोष—रज व तम, सम हों, जाठराग्नि अशित-पीत-खादित-लीढ आदि चतुर्विध आहार का सम्यक् रूप से पाचन-शोषण का कार्य कर रही हो और शोषित आहार रस से रस-रक्तादि धातुओं का यथेष्ट निर्माण हो रहा हो, शरीर के सभी अंग-प्रत्यंग देशकाल अवस्था के अनुरूप निर्बाधरूप से अपने कार्य कर रहे हों, शारीर-दृष्टया वह व्यक्ति स्वस्थ माना जाता है। शारीरिक सुख सम्पत्ति के साथ जिस व्यक्ति का मन प्रसन्न हो और ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा उपलब्ध ज्ञान को मन विवेक पूर्वक आत्मा तक संवाहित करता रहे; संक्षेप में आन्तरिक और बाह्य वृत्तियों से जिस व्यक्ति को पूरी प्रसन्नता हो, वही पूर्ण स्वस्थ कहा जाता है।[1]

स्वस्थ रहने के नियम—यदि एक वाक्य में स्वस्थ रहने के नियम बताने हों तो कहना होगा 'दिनचर्या, रात्रिचर्या और ऋतुचर्या का विधिवत् पालन करते रहने से व्यक्ति स्वस्थ रहता है।'[2]

दिनचर्या—प्रातःकाल सूर्योदय के कम से कम १ घण्टा पूर्व बिस्तर से उठ कर, ताजे पानी से खूब कुल्ला कर, अंगुली से दांतों तथा मसूड़ों को भली प्रकार रगड़ कर, मुख को साफ कर लेना चाहिए। इसके बाद उषःपान करना चाहिए। उषःपान के लिए

---

१. 'समदोषः समाग्निश्च समधातु-मल-क्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते॥' (सु. सू. अ. १५)
'सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारं दुःखमेव हि।'

२. 'दिनचर्या-निशाचर्या-मृतुचर्यां यथोदिताम्।
[illegible] पुरुषः स्वस्थस्सदा तिष्ठति नान्यथा॥' (भा. प्र. पू.)

दुर्बल, पित्तप्रकृति वाले व्यक्तियों को सायंकाल का रखा हुआ पर्युषित जल और साधारणतया ताजा जल हितकर होता है। इसके बाद कुछ समय तक टहलते हुए मान्यता के अनुरूप कुछ सुख स्मरण या ध्यान करना चाहिए। शौच की आवश्यकता होने पर निवृत्त हो लेना चाहिए। यदि संभव हो तो खुली वायु में कुछ दूर तक बाहर खेत आदि में जाकर शौचक्रिया करनी चाहिए। शौचालय की सफाई का पूरा ध्यान रखना चाहिए। वास्तव में स्वास्थ्य के लिए रसोईघर तथा शौचालय की सफाई सर्वाधिक महत्व रखती है। शौच के उपरान्त नीम या बबूल की ताजी दातौन की मुलायम कूंची बना कर शनैः शनैः दाँतों की सफाई करनी चाहिए। इन नैत्तिक क्रियाओं में हड़बड़ा कर जल्दी-जल्दी करने की प्रवृत्ति होती है। वास्तव में नींद से कुछ समय कम कर और व्यर्थ की गप्प का कोटा घटा कर इन कार्यों के लिए निश्चिन्त समय निकाल लेना चाहिए। इस प्रकार मुख, नासिका, नेत्र आदि की भली प्रकार सफाई कर लेने के उपरान्त कुछ व्यायाम करना चाहिए। दण्ड-बैठक तथा बिना साधनों का साधारण व्यायाम ही नियमित रूप से चल सकता है। जो भी नियमित रूप से चल सके, उसी का अनुष्ठान करना चाहिए। यदि निकट में नदी हो तो तैरना भी अच्छा है। बालक तथा वृद्धों के लिए प्रातःकाल १, २ मील घूम-टहल लेना पर्याप्त होता है। व्यायाम के उपरान्त खुली हुई वायु का सेवन सभी के लिए उत्तम है। इनसे निवृत्त होकर नख-केश का कर्त्तन, तैलाभ्यङ्ग आदि की यथावश्यक व्यवस्था करनी चाहिए। अभ्यङ्ग के उपरान्त ताजे जल से शरीर को खूब मल कर स्नान करना चाहिए। इस प्रकार शरीर का अन्तःपरिमार्जन और बहिःपरिमार्जन कर चुकने पर देश-काल के अनुरूप लघु आहार या धारोष्ण अथवा उबाला हुआ गाय का दूध लेना चाहिए। ये सारी प्रक्रियाएं सूर्योदय के बाद एक घण्टा के भीतर पूर्ण हो जानी चाहिए। बाद में अपने दैनिक कार्य व्यापार में संलग्न हो जाना चाहिए।

मध्याह्न में अर्थात् ११ बजे के आसपास ऋतु के अनुकूल भोजन करना चाहिए। यदि किसी कारण भोजन की रुचि न हो तो लंघन करना सर्वोत्तम रोग प्रतिषेध का आधार माना जाता है। भोजन सुपाच्य, पोषक, मात्रावत और यथाशक्ति मिर्च-मसाले आदि तीक्ष्ण-विदाही द्रव्यों से रहित होना चाहिए। आहार-रसों का चुनाव करते समय अपनी प्रकृति, ऋतु की विशेषता तथा शारीरिक श्रम पर ध्यान रखना चाहिए। भोजन नियमित रूप से, समय पर और सादा हो तथा भोजन को खूब चबाकर खाया जाय। भोजन करते समय पानी थोड़ा-थोड़ा कई बार लिया जाय तथा उस समय मन प्रसन्न और निश्चिन्त होना चाहिए। भोजन के बाद खूब कुल्ला कर, मुख तथा दन्तों की सफाई कर, कुछ समय तक विश्राम करना और मनोविनोदकारक कार्यों को करना चाहिए। सायंकाल अपराह्न में कुछ ऋतु अनुकूल फल या लघु द्रव्य जलपान के लिए लेना चाहिए। पुनः सायंकाल शौच-निवृत्ति, मुखशुद्धि और भोजन का क्रम पूर्ववत् होना चाहिए।

वस्त्र सफेद वर्ण के या हेमन्त-शिशिर में रंगीन और साफ सुथरे होने चाहिए। ढीले-

रात्रिचर्या—आहार आदि का क्रम रात्रि के प्रथम प्रहर के अन्तर्गत ही पूरा हो जाना चाहिए। आहार के बाद साधारण कार्य, कथा-वार्त्ता या दैनिक कार्य का लेखा-जोखा किया जा सकता है। सोने के पूर्व १-२ वार जल पीकर, मूत्र त्याग कर, सुखशय्या पर शयन करना चाहिए। शयन का स्थान हवादार और ऋतु के अनुकूल होना चाहिए। सोने के पूर्व निश्चिन्त हो, सुखकर भावों का ध्यान करते हुए सोना चाहिए। सुखशय्या, पेट का हल्कापन तथा निश्चिन्त मन होने पर नींद खूब गहरी तथा स्वप्न रहित होती है। सामान्यतया ६ से ८ घंटा तक सोना पर्याप्त होता है।

ऋतुचर्या—ऋतुओं के अनुरूप दोषों का संचय-प्रकोप पहले बताया जा चुका है। आहार-विहार में उचित परिवर्त्तन करते हुए दोषों का संचय न हो, अथवा होने की संभावना में उनके निर्हरण की व्यवस्था करके व्यक्ति स्वस्थ रह सकता है। संक्षेप में स्वास्थ्य के निम्न त्रिपाद माने जाते हैं।

१. आहार, २. युक्तनिद्रा, व्यायाम आदि तथा ३. ब्रह्मचर्य। इनका युक्ति युक्त पालन करते रहने पर व्यक्ति चिरकाल तक स्वस्थ रह सकता है।

व्याधि का स्वरूप—जिस कारण से या जिसके संयोग से या मन में जिसके उत्पन्न होने या रहने से पुरुष को दुःख का अनुभव होता है, उसे व्याधि कहते हैं। व्याधि का यह लक्षण बहुत व्यापक है। देश, काल एवं सामाजिक मान्यताओं के आधार पर जो लक्षण एक समय व्याधि के रूप में माना जाता है, वही कदाचित् मान्यता बदल जाने पर कष्टकारक न होने के कारण व्याधि न माना जाय। तिल, मशक, व्यंग्य आदि कुछ व्याधियाँ शरीर को प्रत्यक्ष रूप में दुःख देने वाली नहीं होतीं, किन्तु इनकी उपस्थिति से शारीरिक कुरूपता जन्य मानसिक दुःख अवश्य होता है अतः इनको भी व्याधि ही कहा जाता है। कर्णवेध, नासावेध, एवं दूसरे सौन्दर्य प्रसाधनों में स्थूल दृष्टया शरीर को कष्ट होता है, किन्तु परिणाम में इनसे व्यक्ति को सुखानुबन्ध होता है। संक्षेप में प्राणिमात्रको जिनकी उपस्थिति से कष्ट होता है, उन्हें व्याधि कहते हैं। व्याधि का मुख्य परिचायक लक्षण दुःख है।

व्याधि के भेद—व्याधियों की उत्पत्ति एवं उनके आश्रय की प्रधानता के आधार पर ४ भेद किये जाते हैं:—

१. आगन्तुक २. शारीर ३. मानस ४. स्वाभाविक।

१. आगन्तुक व्याधियाँ—वाह्य आगन्तुक कारणों से उत्पन्न होने वाली व्याधियाँ इस श्रेणी के अन्तरगत आती हैं। देव, यक्ष, राक्षस, पिशाच आदि अतिमानव योनियों एवं नाना प्रकार के रोगोत्पादक जीवाणुओं,विष, दूषित वायु, अग्नि, विद्युत, अभिघात, नख एवं दंशजन्य अभिघात, मारण आदि के निमित्त किया गया तान्त्रिक अभिचार, गुरु, वृद्ध एवं सिद्ध पुरुषों का अभिशाप, औपसर्गिक या संक्रामक व्यक्तियों के साथ सम्पर्क रज्जु से बाँधना, सूचिवेध आदि बाह्य कारणों से, शरीर के आन्तरिक घटकों की विषमता के बिना ही तत्काल रोगोत्पत्ति होती है या उक्त कारणों के द्वारा शरीर को कष्ट होता है।

गया है। शारीरिक दृष्टि से आगन्तुक कारणों तथा अयोग-अतियोग-मिथ्यायोग आदि की अनुपस्थिति और दोषवैषम्य का अभाव होने पर भी रोगोत्पादक कारणों की प्रबलता के कारण व्याधियों का प्रादुर्भाव होता है। चिकित्सा की दृष्टि से इस प्रकार की व्याधियों का प्रतिकार मुख्यतया निदान परिवर्जन से होने के कारण इनका स्वतंत्र रूप से परिगणन आवश्यक है।

२. शारीरिक रोग—हीनयोग, अतियोग व मिथ्यायोग से प्रयुक्त आहार-विहार, काल इन्द्रियार्थ एवं मानसिक कर्म के कारण शारीरिक त्रिधातु (वात-पित्त-कफ) में वृद्धि-क्षयरूप विकृति के कारण उत्पन्न रोग को शारीरिक रोग कहा जाता है।

व्याधियों की उत्पत्ति मुख्यतया असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध के कारण होती है तथा व्याधियों की उत्पत्ति में वात-पित्त-कफ में विषमता अनिवार्य पूर्वस्थिति होती है। इस प्रकार रोगोत्पत्ति के कारण एवं परिणाम की दृष्टि से शरीर का विशेष महत्त्व होने के कारण इस श्रेणी की व्याधियों को शारीर या निज व्याधि कहते हैं। निज व्याधियों में पहले वातादि दोषों की विकृति होती है तथा विकृत वातादि दोषों के प्रभाव से शरीर में दोषानुरूप पीड़ा होती है। आगन्तुक रोगों में विष, दूषित वायु, अभिघात आदि के कारण तत्काल पीड़ा होती है और वाद में दोषों का वैषम्य होकर ये पीड़ायें अधिक समय तक स्थायी होती हैं या बढ़ती हैं। इस प्रकार निज और आगन्तुक विकारों में परिणाम की दृष्टि से विशेष अन्तर नहीं होता। निज रोगों में प्रथम दोषवैषम्य होता है और बाद में रोगोत्पत्ति होती है तथा आगन्तुक में प्रधान कारण के अनुरूप तत्काल वेदनामूलक रोग की उत्पत्ति होती है और कुछ काल बाद दोषवैषम्य का अनुबंध होता है।

३. मानस रोग—मन जब तक शुद्ध, सत्वगुणविशिष्ट रहता है तब तक मानसिक अधिष्ठान को केन्द्र मान कर रोगों की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु रज एवं तम, इन दो मनोदोषों के प्रभाव से मानसिक क्षोभ या विषमता होकर रोगों की उत्पत्ति हुआ करती है। वास्तव में शारीरिक दोषों का प्रभाव मनपर और मानसिक दोषों का प्रभाव शरीर पर अवश्यमेव पड़ने के कारण इस प्रकार के विभाजन की विशेष आवश्यकता नहीं है, किन्तु जब तक रोग का सही निदान होकर रोगोत्पादक कारण का भली प्रकार निराकरण नहीं हो जाता, तब तक रोग का निर्मूलन नहीं हो सकता। क्रोध-शोक-मद-हर्ष-विषाद-ईर्ष्या-असूया (दूसरे के गुण को अवगुण समझना)-दैन्य-मात्सर्य (दूसरे के उत्कर्ष के प्रति असहिष्णुता)-काम-लोभ-मोह-मान-चिन्ता-उद्वेग एवं इच्छित की अप्राप्ति तथा अनिच्छित की प्राप्ति से सत्व विकृति उत्पन्न होती है। मानसिक वैषम्यकारक सभी भावों का अन्तर्भाव मानस रोगोत्पादक कारणों के अन्तर्गत किया जाता है। बहुत से शारीरिक रोग भी मानसिक कारणों के द्वारा ही उत्पन्न होते हैं तथा चिकित्सा की दृष्टि से भी रोगी की मानसिक अवस्था का परिज्ञान एवं तदनुरूप व्यवस्था बहुत महत्व की होती है। वास्तव में अनेक दैनिक विभीषिकाओं से त्रस्त प्राणियों में, वर्तमान समय में मानसिक विषमता

विशिष्ट अधिष्ठान या आश्रय के द्वारा ही होता है। मुख्य रूप से शरीर का आश्रयण करके ज्वर, अतिसार, अर्श आदि व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं, इनको शारीर व्याधि और काम, क्रोध, शोक, भय, हर्ष, विषाद आदि के कारण मानसिक वैषम्य होकर जो व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं उनको मानसरोग कहते हैं। अपस्मार, अपतन्त्रक, मूर्छा आदि कुछ व्याधियाँ शरीर एवं मन दोनों का आश्रयण करके रोगोत्पत्ति करती हैं, इसलिये इनको उभयाश्रित व्याधियाँ कहते हैं।

४. स्वाभाविक रोग—शरीर के दैनिक कार्यव्यापार के कारण कुछ न कुछ विषमता स्वभावतः उत्पन्न होती रहती है। यथासमय इस विषमता के शमन का उपचार न होने पर रोगी को कष्ट होता है और कष्ट ही रोग माना जाता है, इस सिद्धान्त के आधार पर क्षुधा, पिपासा, निद्रा, जरावस्था आदि को भी स्वाभाविक या प्राकृत रोग कहा जासकता है।

व्याधियों के अन्य भेद:—

आधिदैविक, आध्यात्मिक और **आधिभौतिक** व्याधियाँ—अदृष्ट एवं कालचक्र के प्रभाव से होने वाली व्याधियाँ आधिदैविक, मुख्य रूप से आत्मा व मन को अधिष्ठान मान कर उत्पन्न होने वाली व्याधियाँ आध्यात्मिक तथा भौतिक कारणों के प्रभाव से उत्पन्न शारीरिक व्याधियाँ आधिभौतिक मानी जाती हैं। इन तीन भेदों की भी सात मुख्य विशेषताएँ होती हैं।

१. आदिबल प्रवृत्त—कुष्ठ, अर्श, राजयक्ष्मा आदि व्याधियों से दूषित शुक्र या दूषित आर्तव द्वारा सन्तान में भी इन व्याधियों के लिए अनुकूलता का संक्रमण होता है, अतः इनको आनुवंशिक, कुलज या क्षेत्रीय व्याधि कहते हैं। मातृज एवं पितृज व्याधियों की प्रबलता के आधार पर सन्तान में उत्पन्न रोगों का नामकरण मातृज-पितृज रूपों में किया जाता है।

२. जन्मबल प्रवृत्त—गर्भाधान होने के बाद माता के अहित आहार-विहार आदि के कारण बालकों में जिन व्याधियों की उत्पत्ति होती है, उनको जन्मबल **प्रवृत्त व्याधि** कहते हैं। जन्मबल प्रवृत्त व्याधियों के भी रसकृत अर्थात् गर्भपोषक रस-रक्त के दूषित होने के कारण उत्पन्न व्याधियाँ और दौहृदोपचार कृत अर्थात् गर्भिणी की नाना प्रकार के आहार-विहार की इच्छा की पूर्ति न होने से उत्पन्न व्याधियाँ, इस प्रकार दो मुख्य भेद होते हैं। जन्म से ही पङ्गुता, बाधिर्य, मूकता, मिनमिनत्व, वामनता (बौनापन) आदि जन्मबल प्रवृत्त व्याधियों के प्रमुख उदाहरण हैं।

३. दोषबल प्रवृत्त—रोगाक्रान्त होने पर, आहार-विहार का भली प्रकार पालन न करने पर, एक व्याधि से जो दूसरी व्याधि उत्पन्न होती है; जैसे प्रतिश्याय से कास, ज्वर के अधिक संताप से रक्तपित्त, अतिसार से परिकर्तिका; उनको दोषबल प्रवृत्त व्याधियाँ कहते हैं। यह व्याधियाँ भी मुख्यतया दो प्रकार की होती हैं। **आमाशय-समुत्थ** अर्थात् नाभि के ऊपर के अवयवों में होने वाले कफ-पित्त जन्य विकार तथा **पक्वाशय समुत्थ**—नाभि के नीचे के अवयवों में होने वाले वातजन्य विकार। इनके अतिरिक्त दोषबल प्रवृत्त व्याधियों के भी वात, पित्त, कफ या रज और तम दोषों से उत्पन्न होने पर

आदिबल प्रवृत्त, जन्मबल प्रवृत्त और दोषबल प्रवृत्त, तीनों प्रकार की व्याधियों को आध्यात्मिक व्याधि कहते हैं, क्योंकि इनमें व्याधियों का प्रमुख प्रभाव समनस्क शरीर पर पड़ता है।

४. **संघातबल प्रवृत्त**—दुर्बल पुरुष बलवान् प्रतिद्वन्द्वी के साथ विग्रह करने से रोग ग्रस्त होता है। संघातबल प्रवृत्त व्याधियाँ मुख्यतया आगन्तुक एवं आधिभौतिक मानी जाती हैं। शस्त्रकृत अर्थात् अस्त्र-शस्त्र द्वारा उत्पन्न और कालकृत या हिंसक प्राणियों के आक्रमण से उत्पन्न, इस प्रकार इनके दो भेद होते हैं।

५. **कालबल प्रवृत्त**—अत्यधिक शीत, अत्यधिक उष्ण, वर्षा एवं धूप आदि के प्रभाव से जो व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं, उनको कालबल प्रवृत्त कहते हैं; क्योंकि काल में विषमता उत्पन्न होने के कारण एक समय अनेक व्यक्ति समान व्याधियों से पीड़ित हुआ करते हैं। व्यापन्न ऋतुकृत या ऋतुओं में विषमता होने के कारण उत्पन्न हुई व्याधियाँ और अव्यापन्न ऋतुकृत या ऋतुओं के स्वाभाविक संचय-प्रकोप आदि के कारण उत्पन्न होने वाली व्याधियाँ; इस प्रकार कालबल प्रवृत्त के भी दो भेद किये जाते हैं।

६. **दैवबल प्रवृत्त**—देवादि ग्रहों का द्रोह, अभिचार, अभिशाप और जनपदोध्वंसकर रोगों से आक्रान्त व्यक्ति से उपसृष्ट होना, इन कारणों से उत्पन्न रोगों को दैवबल प्रवृत्त कहते हैं। इनके भी संसर्गज एवं आकस्मिक दो भेद होते हैं। देव, भूत या औप-सर्गिक रोगाक्रान्त रोगी के संसर्ग से होने वाले संसर्गज और देवादि के दृश्य सम्पर्क के बिना अकस्मात् होने वाले आकस्मिक कहलाते हैं।

७. **स्वभावबल प्रवृत्त**—क्षुधा, तृष्णा, वृद्धावस्था आदि देहस्वभाव से उत्पन्न होने वाले परिणाम स्वभावबल प्रवृत्त व्याधियों के उदाहरण हैं। कालज और अकालज इनके दो भेद होते हैं। स्वस्थवृत्त के नियमों का पालन करते हुये शरीर का संरक्षण करने पर भी स्वाभाविक रूप में क्षुधा और तृष्णाजन्य कष्टों का नियत काल पर अनुभव होता है, उन्हें कालज कहते हैं। स्वस्थवृत्त का विधिवत् अनुष्ठान न करने पर असमय में ही भूख प्यास का उत्पन्न होना या वली, पलित, जरा आदि से ग्रस्त होना अकालज कहा जाता है। कालबल प्रवृत्त, दैवबल प्रवृत्त और स्वभाववल प्रवृत्त तीनों प्रकार के रोग आधिदैविक अर्थात् अदृश्य कारण से जायमान या दैव(प्राक्तन कर्म)जन्य कहलाते हैं।

औपसर्गिक, प्राक्केवल और अन्य लक्षण भेद से व्याधियों के ३ प्रकार—

१. **औपसर्गिक**—इसे औपद्रविक व्याधि भी कहते हैं। प्रथम उत्पन्न व्याधि के अनन्तर उस रोग के मूल कारण से ही जो व्याधि पीछे उत्पन्न होती है और प्रथम रोग की चिकित्सा से ही जिसका उपशम होता है, वह व्याधि औपसर्गिक या औपद्रविक कही जाती है। जैसे अतिसार में उपद्रवस्वरूप परिकर्तिका और ज्वर में सन्ताप जनित तृष्णा। यहां औपसर्गिक शब्द संक्रामक व्याधियों के लिए नहीं प्रयुक्त हुआ है।

२. **प्राक्केवल**—जो व्याधि प्रारम्भ से ही मूल रूप में उत्पन्न हो, किसी दूसरी व्याधि का पूर्वरूप या उपद्रव रूप न हो, उसको प्राक्केवल कहते हैं।

से उत्पन्न हो, उसे दूसरी व्याधि का लक्षण या अन्य लक्षण कहते हैं—जैसे वातज्वर के आक्रमण के पूर्व जृम्भा या पैत्तिक ज्वर के पहले नेत्रदाह।

स्वतन्त्र और परतन्त्र भेद से व्याधियों के २ प्रकार—

१. **स्वतन्त्र**—जो व्याधि शास्त्र में कहे हुये कारणों से उत्पन्न तथा शास्त्रवर्णित स्पष्ट लक्षणों से युक्त और तदनुरूप निर्दिष्ट चिकित्सा से अच्छी होने वाली हो, उसे स्वतन्त्र व्याधि कहते हैं। इसी को अनुबन्ध्य भी कहते हैं।

२. **परतन्त्र**—जो रोग दूसरे रोग के कारणों से उत्पन्न हों तथा रोग के लक्षण भी भली प्रकार स्पष्ट न हों और मूल रोग की चिकित्सा से ही जिसका उपशम हो जावे उसे परतन्त्र या अनुबन्ध व्याधि कहते हैं। परतन्त्र व्याधि भी दो प्रकार की होती है। पूर्वरूप और उपद्रव। जो मूल व्याधि के उत्पन्न होने के पहले लक्षण उत्पन्न हों उनको पूर्वरूप और जो मूलरोग के अनन्तर उपद्रव स्वरूप विशिष्ट लक्षण उत्पन्न हों, उन्हें उपद्रव कहते हैं।

दोषज, कर्मज और दोष-कर्मजभेद से व्याधियों के ३ प्रकार—

१. **दोषज**—मिथ्या आहार-विहार के कारण उत्पन्न हुये रोग दुष्टापचारजन्य या दृष्टकर्मज अथवा दोषज कहे जाते हैं।

२. **कर्मज**—जो रोग पूर्वजन्म में किये हुये शुभाशुभ कर्मों के कारण उत्पन्न हुये हों तथा जिस व्याधि का सही कारण आहार-विहार जन्य न ज्ञात हो रहा हो, उनको पूर्वापचारज, कर्मज या अदृष्ट जन्य कहते हैं—यथा कुष्ठ।

३. **दोषकर्मज**—कुछ व्याधियाँ पूर्वजन्म के अशुभ कर्म तथा इस जन्म के अपथ्य सेवन से उत्पन्न होती हैं। उन्हें दोषकर्मज कहते हैं—यथा वातरक्त।

साध्यासाध्यता की दृष्टि से व्याधियों की परीक्षा का आगे यथास्थल उल्लेख किया जायगा।

रोगोत्पत्ति के सामान्य कारण—रोगोत्पत्ति के कारणों का विवेचन पहले किया जा चुका है। काल, इन्द्रियार्थ तथा मन आदि का अयोग-अतियोग और मिथ्यायोग सामान्यतया सभी रोगों का कारण माना जाता है। जो वस्तु शरीर को सात्म्य नहीं—अनुकूल एवं उपकारी नहीं, उसका इन्द्रियों या शरीर के किसी अंग से सम्पर्क होना विकारोत्पादक माना जाता है। कौन सी वस्तु किसको असात्म्य है, इसका निर्णय बुद्धिमान व्यक्ति आसानी से कर सकता है।

रोगोत्पत्ति में दोषों एवं संक्रामक जीवाणुओं का महत्व—

दोषों की विषमता को ही प्राचीन आचार्यों ने रोग संज्ञा दी है। आज के युग में दोषों की विषमता का वैज्ञानिक समीकरण सही रूपों में सामने न होने के कारण रोगोत्पत्ति के साथ दोषों का सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा प्राचीन मान्यता मानी जाती है। जिस तरह पुराने प्रासादों के अवशेष पुरातत्व की सीमा में जाकर पहले से अधिक महत्वपूर्ण हो गये हैं, उसी प्रकार विद्वान् वैज्ञानिक त्रिदोष सिद्धान्त को ऐतिहासिक महत्व की वस्तु

व्यक्तिनिष्ठ महत्व को अर्थात् चिकित्सा विज्ञान में निर्णय का मानदण्ड प्रकृति-विकृति भाव को माना गया है, यह स्पष्ट किया जा चुका है। उसी प्रकार का सम्बन्ध शारीरिक दोषों के द्वारा रोगोत्पत्ति में भी होता है।

दोष रोगोत्पत्ति में निमित्त तथा उपादान दोनों रूपों में कारण होते हैं। शरीर में अस्वास्थ्यकर स्थिति उत्पन्न कर, धातुओं को दूषित करके रोगों के प्रति दोषों की निमित्त कारणता और स्वयं स्वतन्त्र रूप में दूषित होकर व्याधि रूप में परिवर्तित हो जाने के कारण उपादान कारणता, दोनों ही विशेषताएँ उनमें हैं। व्याधि के निमित्त कारण असंख्य हैं; उसमें दोषों, उपसर्गों, अभिघात और दोषप्रकोपक पूर्व वर्णित कारणों आदि का समावेश होता है। अतः दोषों-उपसर्गों आदि सभी कारणों को रोगोत्पत्ति में महत्वपूर्ण मानने से प्राच्य पाश्चात्य-पद्धतियों का विरोध शान्त हो जाना चाहिये। किन्तु औपसर्गिक व्याधियों का विश्लेषण या उपसर्ग का 'उपसर्ग' विस्तृत हो गया है और प्रतिदिन नवीन-नवीन अनुसन्धानों के द्वारा अभिनव औपसर्गिक रोगों के प्रकाश में आते जाने के कारण चिकित्सा का सिद्धान्त ही परिवर्तित होता जा रहा है। संक्रामक रोगों की संख्या-वृद्धि एवं मिथ्याहार विहार जन्य शरीर-दोषज व्याधियों की सीमा की न्यूनता और जीवाणु नाशक द्रव्यों का चिकित्सा में विशेष उपयोग, इन सबका चिकित्सा पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है। संक्रामक व्याधियों में रोगोत्पादक कारण का संक्रमण बाहर से होने के कारण शरीर की प्रतिकारक शक्ति का चिकित्सा में महत्व कम होता जा रहा है। औपसर्गिक कारणों का नाश करने वाली औषधियों से व्यवहार में तात्कालिक लाभ होने के कारण सभी के लिये आकर्षक हो गया है। इनसे रोगोत्पादक औपसर्गिक जीवाणुओं की वृद्धि रुककर अथवा विनाश होकर व्याधि के लक्षणों की शीघ्र निवृत्ति हो जाती है। किन्तु इस श्रेणी की अधिकांश औषधियों से शारीरशक्ति की वृद्धि न होने के कारण व्याधि के पुनरावर्तन या नवीन व्याधियों के आक्रमण की सम्भावना बनी रहती है। यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से सभी चिकित्सा पद्धतियों में शरीर के स्वास्थ्य को व्याधि-प्रतिकार का सर्वोत्तम साधन माना है, किन्तु औपसर्गिक व्याधियों की संख्या वृद्धि के बाद व्यावहारिक रूप में शरीर की निज विषमताओं का महत्व कम हो गया है।

जब तक औपसर्गिक जीवाणुओं की वृद्धि के लिये शरीर उपयुक्त या दुर्बल न हो तब तक उनकी वृद्धि नहीं हो सकती। औपसर्गिक जीवाणुओं का शरीर में प्रवेश, अनुकूल परिस्थिति होने पर उचित वृद्धि तथा शरीर की असहनशीलता संक्रामक व्याधियों की उत्पत्ति में समान महत्व के कारण माने जाते हैं। पिछले कुछ वर्षों में प्रतिजीवी वर्ग की अनेक महत्वपूर्ण औषधियाँ आविष्कृत हुई हैं। उनका व्यवहार चिकित्सा में अधिक किया जाता है। इन प्रतिजीवी औषधियों के प्रयोग के लिये संक्रामक जीवाणु का असंदिग्ध निर्णय आवश्यक होता है। निदान की जटिलता, व्ययसाध्यता और दुर्लभता के कारण अनेक बार इनका प्रयोग अनिर्णीत व्याधियों में प्रायोगिक रूप में होता है, जिससे इनकी विशिष्ट शक्ति का क्षय होता जा रहा है और उपसर्ग कारक जीवाणुओं में इनके विपरीत सहनशीलता

अधिक मात्रा में, लम्बे समय तक व्यवहार करने पर भी सन्तोष जनक लाभ नहीं होता; साथ ही अनेक व्याधियों के व्यावहारिक रूप भी बहुत बदल गये हैं। क्षय, मंथरज्वर, विषमज्वर, श्लेष्मोल्वण सन्निपात, पूयमेह आदि का उत्पत्तिक्रम, व्याधिस्वरूप, विकृति निदर्शक लक्षण और रोग के उपशय में बहुत परिवर्तन हो गया है। चिकित्सक अपने अनुभव से उनका निदान करता है और प्रायः निर्णय न कर सकने के कारण अनेक संभाव्य व्याधियों के प्रतिकार के लिये बहुमुखी औषधि का प्रयोग करता है। इस चिकित्सा संकरता से रोगी का पर्याप्त अर्थव्यय होने के साथ ही शरीर की प्रतिकारक शक्ति के निष्क्रिय हो जाने के कारण किसी न किसी व्याधि का अनुबन्ध बना ही रहता है तथा हीन प्रतिक्रिया जन्य व्याधियाँ—क्षय, स्नायुदौर्बल्य और अनूर्जता जनित व्याधियाँ बढ़ती ही जाती हैं। जहाँ किसी रोगी को दस पन्द्रह दिन ज्वर-प्रतिश्याय-कास इत्यादि का अनुबन्ध हुआ परीक्षण करने पर क्षय की उपस्थिति का आभास मिलने लग जाता है। इन सब परिवर्तनों का कारण क्या है, यह आज के चिकित्सक के सामने प्रमुख विचारणीय प्रश्न है।

प्रायः सभी औपसर्गिक रोगों में जीवाणुओं का संक्रमण होने के बाद तुरन्त रोगोत्पत्ति नहीं होती, कुछ अवकाश रहता है। इसे व्याधि का संचयकाल कहते हैं। इस समय में जीवाणु की वृद्धि तथा उनके साथ शरीर का प्रतिकारक युद्ध होता है। यदि शरीर प्रबल हुआ तो बिना रोगोत्पत्ति के ही जीवाणुओं का पूर्ण विनाश हो जाता है। रोगी को साधारण अवसाद के अतिरिक्त आन्तरिक विकार का कुछ अनुभव नहीं होता। प्रत्येक रोग में जीवाणुओं का संचयकाल मर्यादित रहता है। साथ के कोष्ठक में प्रधान-प्रधान औपसर्गिक रोगों का संचयकाल दिया गया है। जीवाणुओं की संख्या तथा घातकता और मनुष्य की प्रतिकारक शक्ति के क्षीण होने पर संचयकाल कम तथा इसके विपरीत स्थिति होने पर संचयकाल अधिक होता है।

व्यक्त या अव्यक्त सभी प्रकार के औपसर्गिक विकारों से मुक्त होने के बाद शरीर भविष्य के लिये सामान्यतया सभी संक्रामक व्याधियों के और विशेषतया उस विशिष्ट व्याधि के प्रतिकार के लिये पूर्वापेक्षा अधिक सबल हो जाता है। यदि उपसर्ग बहुत गम्भीर रहा, विकारकारी जीवाणु प्रबल शक्ति वाले हुये और देश-काल-जल-वायु की प्रतिकूलता तथा असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग के कारण शरीर हीनबल हुआ तो रोगोत्पत्ति हो जाती है। फिर भी शरीर अपना प्रतिकारक युद्ध करता रहता है। यदि व्याधि की इस तीव्रावस्था में प्रतिजीवी द्रव्यों का प्रयोग कर अथवा ज्वरशामक लाक्षाणिक औषधियों का प्रयोग कर व्याधि शमन की चेष्टा की जाती है, तो इससे तात्कालिकरूप में व्याधि की निवृत्ति हो जाने पर भी प्रतिकारक शक्ति की दृष्टि से कोई उपकार नहीं होता। इसी अवस्था को व्याधि की आमावस्था प्राचीनों ने कहा है, जिसमें तीव्र औषधियों के प्रयोग का निषेध किया है। इस अवस्था में मल, मूत्र, स्वेद आदि संशोधक मार्गों से शरीर-व्याधि संघर्ष में उत्पन्न हुये दोष-मलों का शोधन तथा उपद्रवों की संभाल एवं बल संरक्षण किया जाय तो शरीर की प्रतिकारक शक्ति स्वयं व्याधि का संशमन कर देती है।

जीवाणुओं के संचय काल तथा अधिष्ठान आदि का निदर्शक कोष्ठक : कोष्ठक संख्या—१३

औपसर्गी जीवाणु	संचय काल	उत्पन्न व्याधि	मुख्य अधिष्ठान	प्रधान लक्षण तथा चिह्न	प्रायोगिक निदान
१. मसूरिका विषाणु	१०-१६ दिन	मसूरिका	त्वचा, श्लेष्मल कला, सर्वांग।	तीव्र स्वरूप का संतत ज्वर, विशेष प्रकार के विस्फोटों की उत्पत्ति, पूयजनक जीवाणुओं का द्वितीय उपसर्ग।	विषाणु का ज्ञान अभी तक नही हो सका।
२. त्वङ्मसू-रिका विषाणु	१०-१२ दिन	त्वङ्मसूरिका	श्लेष्मल कला तथा त्वचा	सन्तत स्वरूप का मध्यवेगी ज्वर, अनेक अवस्था वाले विस्फोट।	"
३. रोमांतिका विषाणु	८-१५ दिन	रोमान्तिका	"	नेत्राभिष्यन्द, सन्तत स्वरूप का तीव्र ज्वर, सर्वांग में विस्फोटोद्गम के बाद ज्वर का शमन, क्वचित द्वितीय उपसर्गों के कारण ज्वर का पुनः प्रकोप।	"
४. श्लेष्मक विषाणु	१-५ दिन	इन्फ्लुएञ्जा	नासिका की श्लेष्मल कला, श्वसन मार्ग, मस्तिष्कावरण।	तीव्र शिरःशूल-सर्वांगवेदना-प्रतिश्याय के लक्षणों के साथ तीव्र ज्वर का आक्रमण।	"
५. पाषाणगर्दभ विषाणु	१२-२२ दिन	पाषाण गर्दभ या कर्णफेर	कर्णमूलीय लाला ग्रंथि।	कर्णमूलशोथ, तीव्र ज्वर, प्रायः वृषण या बीजग्रंथि का शोथ।	"
६. पलित-मज्जा विषाणु	७-१० दिन	पलित मज्जा शोथ या शैशवीय अंगघात	केन्द्रीय मस्तिष्क संस्थान, विशेष कर सुषुम्नागत अग्रकूट।	पेशी स्तब्धता, वाह्यायाम, ज्वर तथा परिसरीय अंगघात।	"

जीवाणु	संचय काल	उत्पन्न व्याधि	मुख्य अधिष्ठान	प्रधान लक्षण तथा चिह्न	प्रायोगिक निदान
७. मस्तिष्क विषाणु	५-११ दिन	मस्तिष्क शोथ	केन्द्रीय मस्तिष्क संस्थान	संज्ञानाश, मूर्च्छा, पेशी समूहों की स्तब्धता, अंगघात तथा ज्वर ।	मस्तिष्क सुषुम्ना द्रव में लसकायाणुओं की वृद्धि ।
८. दण्डक विषाणु	४-७ दिन	दण्डक ज्वर	त्वचा तथा सर्वांग ।	शीतपूर्वक शिर-कटि तथा सर्वांग में तीव्र वेदना युक्त ज्वर, अत्यधिक दौर्बल्य तथा पेशियों में वेदना, अरुचि, विस्फोटोत्पत्ति ।	श्वेत कायाण्वपकर्ष ।
९. जलसंत्रास विषाणु	२-८ सप्ताह क्वचित १ वर्ष तक	जलसंत्रास	केन्द्रीय मस्तिष्क संस्थान, विशेषकर प्रसनिका केन्द्र	दंष्ट्र स्थान पर वेदना तथा शून्यता, अवसाद, उत्तेजन शीलता, स्वर भंग, स्पर्शासह्यता, पेशियों में उद्वेष्टन तथा प्रसनिका में अवरोध ।	काटने वाले कुत्ते या शृगाल की परीक्षा ।
०. पीतज्वर विषाणु	३-५ दिन	पीतज्वर	रक्त, मस्तिष्क तथा त्वचा	शीतपूर्वक शिरःशूल तथा कटिशूल युक्त ज्वर का आक्रमण, मंद हृदयता, रक्तस्राव की प्रवृत्ति, कामला का अनुबंध ।	मूत्र में शुक्लि, मल एवं वमन में रक्त, रक्त में पित्त का आधिक्य, श्वेतकणापकर्ष ।
। रिकेट्सिया	६-१५ दिन	तन्द्रिक ज्वर	मस्तिष्क संस्थान तथा रक्त ।	तीव्र स्वरूप का संतत ज्वर, तन्द्रा, बेचैनी, शिरःशूल, उद्वर्णिक स्वरूप के रक्तस्रावी विस्फोट, मूर्च्छा, प्रलाप ।	श्वेत कणापकर्ष तथा लसीका की विशेष परीक्षा ।
.शोणांशिक लागोलाणु	२-७ दिन	लोहित ज्वर, प्रसूति ज्वर, आमवात, विसर्प, तुण्डिका शोथ, दोषमयता पूयमयता, विद्रधियाँ	रक्त तथा ग्रहणशील दूसरे अंग ।	स्थानीय लक्षण, प्रायः शीतपूर्वक तीव्र ज्वर	श्वेत कायाणुओं की वृद्धि, संवर्धन के द्वारा जीवाणु की प्रत्यक्ष उपलब्धि

३. रोहिणी दण्डाणु	२-७ दिन	रोहिणी	श्वसन संस्थान, विशेष कर गलविवर में तोरणिका के आस-पास, हृदय।	ग्रैवेयक ग्रंथियों की वृद्धि, गले में खराश, स्वरभंग, नासास्राव, बेचैनी तथा मंद ज्वर, तोरणिका के आसपास झिल्ली की उत्पत्ति, हृच्छोथ तथा अंगघात की संभावना।	गले के स्राव की परीक्षा, संवर्धन के द्वारारोहिणी दण्डाणु की उपलब्धि तथा मध्यम स्वरूप का श्वेत कायाणूत्कर्ष।
४. कुकास दण्डाणु	७-१४ दिन	कुकास या कूकुर खांसी।	श्वसन संस्थान।	प्रतिश्याय सदृश आक्रमण, 'हूप' ध्वनियुक्त शुष्क कास के आवेग, रात्रि में आवेगों की अधिकता।	१. गले तथा नासा स्राव का संवर्धन। २. लसकायाणुओं की आपेक्षिक वृद्धि।
५. आंत्रिक दण्डाणु	५-१४ दिन	आंत्रिक ज्वर	क्षुद्रांत्र के पेयर के चकत्ते तथा एकाकी गुच्छ, रक्त।	संततज्वर, शिरःशूल, मंद हृदयता, प्लीहावृद्धि, आध्मान-अतिसार तथा प्रलाप की प्रवृत्ति, गुलाबी रंग के विस्फोटों की उत्पत्ति।	१. रक्त, मूत्र या पुरीष में उपस्थित जीवाणुओं का संवर्धन करके निर्णय। २. श्वेत कायाण्वपकर्ष तथा लसकायाणुओं की आपेक्षिक वृद्धि। ३. विडाल की कसौटी।
६. प्लेग दण्डाणु	३-१० दिन	प्लेग या ग्रंथिक ज्वर	लस ग्रंथियाँ, फुफ्फुस तथा मस्तिष्क।	तीव्रज्वर, प्रलाप, मद्यप की सी आकृति, लसग्रंथियों की वृद्धि, दोषमयता तथा फुफ्फुसपाक के लक्षण।	१. लसग्रंथियों के स्राव, क्वचित ष्ठीवन और मस्तिष्क सुषुम्ना द्रव में प्लेग दण्डाणुओं की उपलब्धि २. श्वेतकायाणूत्कर्ष तथा श्वेत कणों में वैषिक कण।

औपसर्गी जीवाणु	संचय काल	उत्पन्न व्याधि	मुख्य अधिष्ठान	प्रधान लक्षण तथा चिह्न	प्रायोगिक निदान
‍. विसूचिका वकाणु	१-४ दिन	विसूचिका	क्षुद्रांत्र	मल में पित्त का अभाव, चावल के मांड के समान वर्णहीन, पीडारहित अतिसार, वमन, मूत्राघात, पेशियों में उद्वेष्टन, निपात तथा शरीर में लवण एवं जलीयांश की कमी।	मल या वमन में उपस्थित जीवाणुओं का प्रत्यक्ष या संवर्धन के उपरान्त परीक्षण।
. प्रवाहिका ाणु (शिगा, लेक्सनर सोने दण्डाणु)	१-७ दिन	दण्डाण्वीय प्रवाहिका या ज्वरातिसार	क्षुद्रांत्र	रक्त-आम मिश्रित पतला मल, पीडायुक्त मलप्रवृत्ति, क्षुधानाश, उदरशूल, वमन, ज्वर, शुष्क-मलावृत्त जिह्वा, उदर के वाम भाग पर स्पर्शासह्यता, जलाल्पता।	१. मल की प्रतिक्रिया क्षारीय, मल में रुधिर कणों की प्रधानता, भक्षक कायाणु की उपलब्धि। २. मल संवर्धन के द्वारा जीवाणु की उपलब्धि।
कुष्ठ-दण्डाणु	१-५ वर्ष	कुष्ठ	त्वचा, श्लेष्मल कला, नाडीतन्तु तथा सर्वशरीर	त्वचा में व्रण तथा संवेदना और प्रस्वेद में कमी, विवर्णता, चकत्ते, विस्फोट और स्पर्शासह्यता या शून्यता, वात नाडी मोटी तथा वेदनायुक्त, विशिष्ट आकृति, नासाभग्न।	१. नासास्राव तथा ग्रंथिस्राव की परीक्षा में कुष्ठ दण्डाणुओं की उपलब्धि।
धनुर्वात दण्डाणु	२-१४ दिन	धनुर्वात	नाडी तन्तु।	सारे शरीर की पेशियों में स्तब्धता, उद्वेष्टन तथा आक्षेप, निगलने-खाने-पीने में कठिनाई, प्रकाश-शब्द-वायु संत्रास, बाह्यायाम, मंदज्वर, विकट हास्ययुक्त आकृति।	संदिग्ध क्षत स्थान के स्राव का संवर्धन।

१. राजयक्ष्मा दण्डाणु	१-३ मास	राजयक्ष्मा या क्षय	सर्व शरीर, विशेषकर लसग्रंथियाँ, फुफ्फुस, अस्थियाँ तथा मस्तिष्कावरण ।	लसग्रंथियों की वृद्धि, ज्वर, क्षीण-त्वरित नाडी, अंस एवं पार्श्व में पीडा, कास, बल-मांसक्षय, रक्तष्ठीवन तथा स्थानीय लक्षण ।	१. लसकायाणुओं की वृद्धि । २. क्षय कसौटी । ३. ष्ठीवन-ग्रंथिस्राव आदि में राजयक्ष्मा दण्डाणुओं की उपस्थिति, 'क्ष' किरण परीक्षा ।
२. फुफ्फुस गोलाणु	१-७ दिन	फुफ्फुस पाक, मस्तिष्कावरण शोथ, मध्यकर्ण शोथ	श्वसन संस्थान ।	शीत-कम्प पूर्वक तीव्र ज्वर, श्वास-कृच्छ्र, कास, मलावृत जिह्वा, कोष्ठबद्धता, पार्श्वशूल, चिपचिपा ष्ठीवन प्रायः मण्डूर वर्ण का, विकृत पार्श्व में मंदध्वनि या संघनन ।	१. ष्ठीवन में जीवाणु की उपस्थिति या संवर्ध के द्वारा उपलब्धि । २. बहु केन्द्रीय श्वेत कायाणु वृद्धि ।
३. मस्तिष्क गोलाणु	५-१० दिन	मस्तिष्कावरण शोथ	नासामार्ग तथा मस्तिष्क	शिरःशूल, कटिशूल, वमन आदि के साथ तीव्रज्वर, ग्रीवा की अनम्यता, कर्निग का चिह्न, बेचैनी, प्रलाप तथा मूर्च्छा ।	१. बहुकेन्द्रीय श्वेत कायाणु वृद्धि । २. मस्तिष्क सुषुम्नाद्रव-निपीड वृद्धि तथा उसमें मस्तिष्क गोलाणु की उपस्थिति ।
४. गुह्य-गोलाणु	२-७ दिन	औपसर्गिक पूय मेह, संधिशोथ, वृषणशोथ	मूत्र प्रणाली तथा स्त्रियों में अपत्यपथ, गर्भाशय आदि ।	इन्द्रिय से पूययुक्त स्राव, शिश्न में शोथ, स्थानीय लसग्रंथियों की वृद्धि, मूत्रत्याग के समय दाह तथा पीडा ।	पूय या मूत्रमार्ग के स्राव में गुह्य गोलाणु की उपस्थिति ।
५. अमीबिक जीवाणु या अन्तः काम रूपीय धातु-[illegible] जीवाणु	३-१२ सप्ताह	अमीबिक अतिसार तथा यकृत विद्रधि	बृहदंत्र तथा उण्डुक और यकृत ।	आंव तथा श्लेष्मा मिश्रित थोड़ी मात्रा में बार बार कुंथन के साथ मलप्रवृत्ति, मन्दज्वर, पुनरावर्त्तन की अधिक प्रवृत्ति ।	मल में विशष्ट जीवाणु या उसकी कोष्ठावस्था की उपस्थिति ।

औपसर्गी जीवाणु	संचय काल	उत्पन्न व्याधि	मुख्य अधिष्ठान	प्रधान लक्षण तथा चिह्न	प्रायोगिक निदान
६. विषमज्वर जीवाणु	१५-२४ दिन	विषम ज्वर	रक्त, यकृत-प्लीहा, रक्त केशिकाएँ।	शीत पूर्वक ज्वर का आक्रमण, शिरःशूल. हृल्लास, कटिशूल, कोष्ठबद्धता तथा संतत ज्वर या नियतकाल में ज्वर का आक्रमण, प्लीहावृद्धि।	१. रक्तकणों के भीतर विषम ज्वर कीटाणु की उपलब्धि। २. श्वेत कायाणुओं की संख्या में कमी और एक न्यष्ठीलियों की अधिकता।
७. कालज्वर जीवाणु	१४-मास	कालज्वर	यकृत, प्लीहा, रक्त तथा त्वचा।	संतत या विषम स्वरूप का ज्वर, द्विआरोही; यकृत तथा प्लीहा की वृद्धि, शरीर की कृशता तथा कृष्णवर्ण की त्वचा।	१. अंजन तथा सुव्युद लसीका कसौटी। २. अस्थिमज्जा में जीवाणु की उपस्थिति।
८. फिरंग चक्राणु	१०-९० दिन	फिरंग	शिश्नमुण्ड, रक्त, त्वचा तथा सर्व शरीर।	शिश्नमुण्ड पर कठिन व्रण, लसग्रंथियों की वृद्धि, त्वचा में विस्फोट, नाडीसंस्थान के उपद्रव।	१. व्रणस्राव का संवर्धन। २. कान तथा वासरमैन कसौटी।
. आवर्त्तक ज्वर चक्राणु	५-१० दिन	आवर्त्तक ज्वर	रक्त।	ज्वर का अनेक बार पुनराक्रमण, विस्फोट, कामला, अतिसार, प्लीहावृद्धि, सर्वांग वेदना	१. रक्त में चक्राणु की उपस्थिति २. वासरमैन कसौटी। ३. श्वेतकायाणूत्कर्ष।
मूषिक काणु या र चक्राणु	७-२१ दिन	मूषिक दंश ज्वर	लसग्रंथियाँ तथा रक्त।	शीतपूर्वक ज्वर का अनेक बार आक्रमण स्थानीय लसग्रंथियों की पीडा कर वृद्धि, विस्फोट।	१. श्वेतकायाणूत्कर्ष। २. रक्त तथा दंश स्थान के स्राव में चक्राणुओं की उपस्थिति।

इस प्रकरण के आरम्भ में दोषों की विषमता को ही व्याधि कहा गया था। इसका तात्पर्य इतना ही है कि दोषों में विषम परिवर्तन होना शरीरस्थ व्याधियों का निदर्शक माना जाता है। दोषों में भिन्नता होने के कारण संक्रामक रोगों में समान विकारकारी जीवाणुओं का उपसर्ग होने पर भी रोगियों में व्याधि के लक्षण समान नहीं होते। विषमज्वर, आन्त्रिकज्वर तथा श्लेष्मोल्वण ज्वरों में सिद्धान्त रूप में कोई समता नहीं होनी चाहिये। किन्तु व्यवहार में अनेक वार चिकित्सक इन रोगों का सापेक्ष्य विनिश्चय करने में अपने को असमर्थ पाता है। यदि इनके कारण पृथक्-पृथक् हैं, तो 'कार्य कारण के ही अनुरूप होता है, इस सिद्धान्त के आधार पर व्याधि के लक्षणों में भी स्पष्टतया पर्याप्त पार्थक्य होना चाहिये। ऐसा न होने के कारण संक्रामक रोगों में केवल विकारकारी जीवाणुओं का ही महत्व नहीं है, शरीर की प्रकृति, देश, काल आदि का भी उतना ही महत्व है, यह अनुमान होता है। श्लेष्म प्रधान वर्ग में आने वाली व्याधियाँ—रोमान्तिका, मसूरिका, रोहिणी, कुकास, श्लेष्मोल्वणसन्निपात, वातश्लैष्मिक ज्वर, अनूर्जता-जनित व्याधियाँ, राजयक्ष्मा आदि का प्राधान्य वसन्त ऋतु में ही क्यों होता है? आमातिसार, आमवात, श्वास तथा त्वचा के रोगों का, जिनमें श्लेष्मा—वायु और स्वल्प मात्रा में पित्त का अनुबन्ध रहता है, प्रकोप वर्षा में अधिक क्यों होता है? व्याधियों की एक रूपता का यह समदोषत्व देश—काल के प्रभाव को स्पष्ट करता है। यदि विषमज्वर वसन्त ऋतु में हो, मन्थर ज्वर हेमन्त में हो, श्लेष्मोल्वण व्याधियाँ ग्रीष्म में हों, तो इनके लक्षणों में पर्याप्त अन्तर दिखाई पड़ता है। इससे यही स्पष्ट होता है कि विपरीत देश—काल में संक्रामक रोगों का रूप भी कुछ बदल जाता है।

एक कमरे में समान आहार-विहार वाले चार व्यक्ति रहने पर सभी समान रूप से मशकदंश के शिकार हो सकते हैं। विषम ज्वरोत्पादक जीवाणु से मच्छरों के दूषित होने के कारण चारों व्यक्तियों में मशकदंश से समान रूप में जीवाणुओं का संक्रमण होता है। किन्तु सभी व्यक्ति विषमज्वर से नहीं पीड़ित होते और जो पीड़ित होते हैं वे भी समान लक्षणों से नहीं आक्रान्त होते। किसी को अतितीव्रज्वर, शिरःशूल और अंगमर्द के साथ तथा किसी को हृल्लास—वेचैनी के साथ शीतपूर्वक ज्वर होता है। कभी विषमज्वर में ही तीव्र प्रवाहिका, आक्षेपक, रक्तमेह या मूर्च्छा के भी लक्षण व्यक्त हो जाते हैं। इतनी अधिक विविधताओं का कारण रोगी का निजी प्रभाव ही माना जायगा अर्थात् व्याधि के संचय काल में रोगी की प्रकृति के अनुरूप जीवाणुओं की वृद्धि अधिक या कम हुई तथा व्याधि का अधिष्ठान मस्तिष्क, यकृत्, वृक्क, अन्त्र इत्यादि अङ्गों में कोई अंग हो तभी इतनी विविधता हो सकती है।

उक्त वर्णन से औपसर्गिक व्याधियों में भी लक्षणों की विविधताओं का कारण शरीर की भिन्नता है, यह स्पष्ट हो गया होगा। इसीलिए देश-काल और शरीर की भिन्नता के कारण व्यवहार में औपसर्गिक व्याधियों के अनेक रूप मिलते हैं। इस वर्णन से व्याधि के वीजारोपण में उपसर्ग का और रोगोत्पत्ति में शरीरगत विशेषता—दोष—का प्रभाव स्पष्ट होता है। अनेक स्थलों में संक्रामक जीवाणु निमित्त कारण के रूप में और इनके

स्थलों में प्रकोपक कारण के रूप में तथा कहीं-कहीं परिणामों के रूप में सामने आते हैं।

बहुत से प्राच्य विद्वान् जीवाणु विज्ञान को आप्त ग्रन्थों की देन नहीं स्वीकार करते। इस दृष्टि से आयुर्वेदीय चिकित्सा में संक्रामक व्याधियों का कोई महत्व नहीं—केवल दोषों के अनुरूप चिकित्सा व्यवस्था करनी चाहिए—यही उनकी मान्यता है। किन्तु अनेक रोगों में रक्त, ष्ठीवन, मल, मूत्र एवं अन्य धातुओं एवं मलों की सूक्ष्म परीक्षा विशेष यन्त्रों एवं संवर्द्धन आदि के द्वारा करने पर विशिष्ट जीवाणुओं की उपस्थिति मिलती है। यदि इन जीवाणुओं को परीक्षार्थ अन्य प्राणियों में प्रवेश कराया जाय तो प्रायः एक निश्चित व्याधि की—तत्तत् रोगों की—उत्पत्ति होती है। जहाँ-जहाँ संक्रामक रोग होते हैं, वहाँ-वहाँ ये संक्रामक विशिष्ट जीवाणु पाये जाते हैं और जहाँ यह जीवाणु नहीं होते, प्रायः वहाँ वे संक्रामक रोग भी नहीं पाये जाते। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक से संक्रामक जीवाणुओं की औपसर्गिक व्याधियों के प्रति विशिष्ट कारणता सिद्ध होती है। कुछ महानुभाव उन जीवाणुओं को शरीर के भीतर बाहर से प्रविष्ट हुआ न मानकर दोष-दूष्य विकृति से, विशेष प्रकार की अनुकूल अवस्थाओं में, शरीर के भीतर ही उत्पन्न हुआ मानते हैं। इस प्रकार इन जीवाणुओं को रोगों का निमित्त कारण न मानकर, उपादान कारण का अंश या व्याधि का अवयव ही मानते हैं। वास्तव में इस विषय में दुराग्रह श्रेयस्कर नहीं। यद्यपि प्राचीन आचार्यों ने 'उपसर्गजा ज्वरादिरोगपीडितजनसम्पर्काद्भवन्ति (डल्हण), 'प्रसंगाद् गात्रसंस्पर्शात् निःश्वासात् सहभोजनात्, सहशय्यासनाच्चापि वस्त्र-माल्यानुलेपनात्। औपसर्गिकरोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम्' (सुश्रुत) इत्यादि वाक्यों में औपसर्गिक रोगों की, आगन्तुक रोगों की सीमा में, स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की है; किन्तु संक्रामक व्याधियों का विस्तृत वर्णन उपलब्ध प्राचीन चिकित्सा ग्रन्थों में नहीं मिलता। इसमें कोई संदेह नहीं कि आधुनिक विज्ञान की इस दिशा में बहुत बड़ी देन है। इस क्षेत्र में असंख्य अनुसन्धान हुए हैं और बहुसंख्यक रोगों के कारणभूत विशिष्ट जीवाणुओं का प्रत्यक्षीकरण किया जा चुका है। किन्तु रोगोत्पत्ति की दृष्टि से प्राचीनों का क्षेत्र प्राधान्य सिद्धान्त त्याज्य नहीं—जीवाणुओं की कारणता होने पर भी रोगक्रम में शरीर की प्रमुखता होती है। उसी के अनुरूप लक्षणों की अभिव्यक्ति होती है। रोगोत्पादक निदान की दृष्टि से जीवाणुओं को प्रधान कारण के अन्तर्गत लिया जा सकता है।

उपरोक्त वर्णन से औपसर्गिक रोगों के सम्बन्ध में प्राचीन समय की संतुलित जानकारी का उदाहरण सामने आता है। किन्तु जितना अधिक वर्णन औपसर्गिक रोगों, उपसर्गकारक विभिन्न जीवाणुओं, उनकी परीक्षा के असंख्य साधनों और प्रतिजीवी चिकित्सा द्रव्यों का आज उपलब्ध है, उस श्रेणी का या उससे बहुत कम भी वर्णन प्राचीन साहित्य में नहीं मिलता। सम्भव है साधनहीनताकारण के साथ ही क्षेत्र प्राधान्य सिद्धान्त भी औपसर्गिक रोगों के विस्तृत वर्णन न करने में सहायक रहा हो। क्षेत्र प्राधान्य सिद्धान्त का तात्पर्य रोगोत्पत्ति में शरीर के महत्व का प्रतिपादन है। मनुष्य के चारों तरफ असंख्य सूक्ष्म जीव व्याप्त रहते हैं, उनमें बहुत कम दृश्य, अधिकांश [illegible] होते हैं। इनमें कुछ अपकारक, कुछ [illegible]

कारक होते हैं। वातावरण में व्याप्त इस सृष्टि के संहार का और सच्चे अर्थों में औपसर्गिक रोगों के प्रतिकार का साधन अब तक ज्ञात नहीं हो सका। सम्भव है, इन्हीं व्यावहारिक बाधाओं के कारण शरीर को ही ज्ञान का मुख्य आधार मानकर निर्णय करने वाले प्राचीन विद्वानों ने जीवाणु विज्ञान की उपेक्षा की हो। क्षेत्र प्रधान भारतीय सिद्धान्त का अनुकरण समकालीन विदेशी विद्वानों-धर्माचार्यों आदि ने भी किया है। एक धर्मग्रन्थ में इस विषय का स्पष्टीकरण करने वाला बहुत सुन्दर कथोपकथन आया है। शिष्य ने आचार्य से निवेदन किया कि मनुष्य रोगी क्यों होता है? इसका सोदाहरण समाधान आचार्य ने इस प्रकार किया। एक खेत से अन्न की बाल लेकर कुछ पक्षी उड़े। कुछ दूर उड़ने के बाद उनकी चोंच से छिटककर थोड़े से दाने रेगिस्तान में, कुछ पहाड़ी उबड़-खाबड़ जमीन में, कुछ समुद्र में तथा कुछ उपजाऊ जमीन में गिरे। रेगिस्तान में गिरे हुये बीज वहाँ की भयङ्कर गर्मी तथा उर्वरा शक्ति की कमी से अङ्कुरित न हो सके, वहीं जल-भुन गये। पहाड़ी प्रदेश में गिरे हुये बीज अङ्कुरित हुये, परन्तु चारों तरफ कटीली झाड़ियों के पौधों ने अङ्कुरों को अधिक बढ़ने न दिया। पौधा मुर्झाकर नष्ट हो गया। समुद्र में पड़े बीजों को मछलियाँ खा गईं और मैदान में गिरे बीज खूब उगे और फूले-फले। इसी प्रकार यदि शरीर पूर्ण स्वस्थ हो तो व्याधि के लिये अनुकूल क्षेत्र न होने के कारण तथा रोग प्रतिकारक शक्ति की गरमी से रोगोत्पादक कीटाणु रूपी बीजों का नाश हो जायगा। अर्थात् जीवाणुओं से आक्रान्त होने पर भी रोगोत्पत्ति नहीं होगी। कदाचित् शरीर में जीवाणुओं की कुछ वृद्धि भी हो तो संयम-नियम-व्यायाम आदि के प्रभाव से उसकी वृद्धि रोगोत्पन्न कर सकने की स्थिति तक न पहुँचेगी और जिस प्रकार पहाड़ी क्षेत्र में अङ्कुरित बीज कटीली झाड़ियों के कारण नष्ट हो गया उसी प्रकार जीवाणुओं का भी विनाश हो जायगा। ज्वर में वमन, अतिसार, तृष्णा और प्रस्वेद के द्वारा शरीर स्वयं व्याधियों का शोधन-पाचन करने की तथा भक्षकायाणु उत्पन्न कर विकारकारी उपसर्ग को आत्मसात् एवं नष्ट करने की चेष्टा करता है। जैसा समुद्र में गिरे हुये बीजों को मछलियों के द्वारा विनष्ट हो जाने के कारण अंकुरित होने का अवसर न मिल सका। किन्तु क्षेत्र के उर्वर होने और परिस्थितियों के अनुकूल होने पर बीज का बहुत प्रसार अर्थात् व्याधि की उत्पत्ति होती है। उदाहरण, उदाहरण ही है, वह सर्वांश में व्यापक नहीं होता, किन्तु इससे क्षेत्र प्राधान्य सिद्धान्त की प्रधानता तो स्पष्ट हो ही जाती है।

औपसर्गिक कारणों के द्वारा उत्पन्न व्याधियों में लाक्षणिक विविधता होने पर भी नियमित रूप से विकारकारी जीवाणुओं की उपस्थिति से उपसर्ग की विशेष महत्ता प्रकट होती है। विकारकारी जीवाणुओं का शरीर में प्रवेश, धातु में संक्रमण, संचय, वृद्धि विषोत्पत्ति के द्वारा शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग धातूपधातुओं में जो परिणाम होते हैं अथवा उपसर्गजन्य विजातीय द्रव्य के साथ शरीर की जो प्रतिक्रिया होती है, वही उपसर्गज व्याधि मानी जाती है। इसकी सर्वाधिक विशेषता समाज की दृष्टि से एक व्यक्ति के दोष

योजनापूर्वक करनी पड़ती है, जिससे व्याधित व्यक्ति रोग मुक्त हो सके और दूसरे स्वस्थ व्यक्ति संक्रमित न होने पाएँ।

उपसर्ग की परिभाषा—रोगोत्पादक संक्रामक जीवाणुओं का शरीर में नियत मार्ग से प्रवेश, संख्यावृद्धि और ग्रहणशील अंगों या धातुओं में अवस्थान होने के बाद विषोत्पत्ति, धातुनाश या मार्गावरोध के द्वारा रोगोत्पत्ति होना, औपसर्गिक व्याधियों का मूल स्वरूप माना जाता है। विकारी जीवाणुओं का शरीर में प्रवेश या उपस्थिति उपसर्ग के लिए पर्याप्त नहीं होती। उपसर्ग के कारण रोग उत्पन्न होने में जीवाणुओं की संख्या, घातकता या तीव्रता, प्रवेश मार्ग, निवासस्थान, ऋतु-देश-काल-आहार-विहार तथा क्षेत्र (शरीर) की अनुकूलता, आक्रान्त व्यक्ति की आयु-प्रकृति-शारीरिक तथा मानसिक स्थिति इत्यादि अनेक अवस्थाओं का सम्बन्ध होता है।

रोगोत्पत्ति में अन्वय-व्यतिरेक से विशिष्ट जीवाणुओं की कारणता होने के कारण उपसर्ग का तात्पर्य विकारकारी जीवाणुओं का शरीर में प्रवेश माना जाता है।

औपसर्गिक रोगों का प्रसार—औपसर्गिक व्याधियों में सभी व्याधियों के विकारकारी जीवाणु पृथक्-पृथक् होते हैं। इनका प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष या वाहक कीटों के द्वारा एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में संक्रमण होता है। संक्रामक व्याधि के लिये मुख्य औपसर्गिक जीवाणुओं का शरीर में प्रवेश रोगोत्पत्ति के लिये अनिवार्य कारण माना जाता है।

सहायक कारण—

१. **कुलज प्रवृत्ति**—अनेक औपसर्गिक रोगों में कुलज प्रवृत्ति दिखाई देती है। फिरंग, कुष्ठ, राजयक्ष्मा, आमवात आदि व्याधियाँ इस श्रेणी में आती हैं।

२. **अवस्था**—अनेक औपसर्गिक व्याधियाँ बाल्यावस्था में, कुछ युवावस्था तथा कुछ वृद्धावस्था में विशेषकर उत्पन्न होती हैं। मसूरिका, लघुमसूरिका, रोमान्तिका, रोहणी, कास, कुकास, शैशवीय अङ्गघात, गण्डमाला तथा कृमिरोग बाल्यावस्था में अधिक होते हैं। युवावस्था में क्षय, कुष्ठ, फिरंग, पूयमेह, विसूचिका और ग्रंथिक सन्निपात अधिक हुआ करते हैं। वृद्धावस्था में श्लेष्मोल्वण सन्निपात, संधिवात आदि होते हैं, किन्तु विशिष्ट औपसर्गिक रोगों की संख्या वृद्धावस्था में कम हो जाती है।

३. **आहार**—नियमित सन्तुलित भोजन, आहार में जीवतिक्ति-खनिजलवण तथा प्रोभूजिनों का सम्यक् प्रयोग रोग प्रतिकारकता बनाये रखने के लिये आवश्यक होता है। विषम आहार, अनियमित आहार तथा हीन आहार से शरीर की प्रतिकारक शक्ति का ह्रास होकर औपसर्गिक जीवाणुओं की संख्या वृद्धि के लिये शरीर उर्वर क्षेत्र बन जाता है।

४. **अभिघात**—आघात और शीतोष्णजन्य स्थानीय दुर्बलता के द्वारा शरीर का सर्वाधिक रक्षक आवरण-त्वचा-छिन्न हो जाता है। जिससे विकारी जीवाणुओं का शरीर में प्रवेश सम्भव हो जाता है। विसर्प, धनुर्वात, पूययुक्त व्याधियाँ और स्थानीय शोथयुक्त

५. **विहार**—गन्दे जलवायु वाले कारखाने में कम करना, गन्दी बस्ती में रहना, अप्रकाशित, वात प्रविचारहीन स्थान में रहना, शरीर तथा वस्त्रों की अस्वच्छता, व्यायाम का अनुपयोग तथा अत्यधिक मानसिक एवं कायिक श्रम के द्वारा शरीर के दुर्बल हो जाने से औपसर्गिक रोगों की उत्पत्ति आसानी से होती है।

६. **बलहानिकर शरीर व्याधियाँ**—कुछ व्याधियाँ शरीर की सहनशक्ति का क्षय करके शरीर को निर्बल बनाती हैं। मधुमेह, वृक्कजन्य व्याधियाँ, रक्तक्षय, जीर्ण अग्निमांद्य सम्बन्धी व्याधियाँ और जीर्ण कास इत्यादि से क्षीण होने के कारण राजयक्ष्मा, श्लेष्मोल्वण सन्निपात, पूयमूलक व्याधियाँ तथा विद्रधि इत्यादि औपसर्गिक रोग अधिक होते हैं।

७. **देश-काल-जल-वायु**—विषमज्वर, कालज्वर, श्लीपद, दण्डकज्वर, मन्थरज्वर, अतिसार और कृमिरोग आनूप देश तथा उष्ण एवं क्लेदयुक्त जलवायु वाले प्रदेशों में अधिक होते हैं। शीतप्रदेश, हेमन्त ऋतु और अधिक वर्षा वाले प्रदेशों में प्रतिश्याय, श्लेष्मोल्वण सन्निपात, रोहणी, आमवात, इन्फ्लुएञ्जा इत्यादि श्वसन संस्थान के रोग अधिक होते हैं।

८. **औपसर्गिक रोग**—कुछ औपसर्गिक रोग शरीर को इतना दुर्बल बना देते हैं जिससे उनसे सन्निवृत्त हुये रोगी दूसरे औपसर्गिक रोगों से आसानी से पीड़ित होते हैं रोमान्तिका, श्लेष्मज्वर, कुकास आदि से पीड़ित होने के बाद राजयक्ष्मा, कर्णविद्रधि नेत्रस्राव तथा श्वसनप्रणाली की अनेक व्याधियाँ प्रायः पैदा होती हैं।

संक्रमण के मार्ग—

१. **प्रत्यक्ष**—उपसर्गज व्याधि से पीड़ित व्यक्ति के प्रत्यक्ष संसर्ग से फिरंग, उपदंश, पूयमेह, विसर्प, कुष्ठ, मसूरिका आदि का प्रसार होता है। रोगी के खांसने-छींकने-बोलने आदि से ष्ठीवन-विन्दुओं के साथ निकट बैठे हुये व्यक्तियों के शरीर में श्वास मार्ग से जीवाणुओं का संक्रमण हो जाता है। प्रायः श्वासप्रणाली की सभी व्याधियों में इसी प्रकार से उपसर्ग होता है। जलसंत्रास और मूषिक दंश ज्वर में कुत्ते-शृगाल-चूहे का काटना भी इसी श्रेणी में आता है।

२. **अप्रत्यक्ष**—औपसर्गिक व्याधि से पीड़ित व्यक्ति से उपश्लिष्ट खाद्य, पेय, पात्र एवं दूषित वायु के द्वारा प्रसार होने पर, रोगी के साथ साक्षात् सम्बन्ध न होने के कारण अप्रत्यक्ष प्रसार माना जाता है।

३. **कीटकों द्वारा**—कीटक, पिस्सू, मक्खी, जूँ, किलनी, मच्छर व भुनगा के द्वारा बहुत से संक्रामक रोगों का प्रसार होता है। इनमें कुछ कीटक केवल विकारी जीवाणुओं का संवहन, कुछ अपने शरीर में सम्वर्धन तथा कुछ अपनी सन्ततियों में भी जीवाणुओं का संक्रमण कर रोग का प्रसार करते रहते हैं।

४. **संवाहक मनुष्य**—कुछ व्यक्ति व्याधि निर्मुक्त हो जाने के उपरान्त तथा कुछ गुप्त रूप से व्याधि से संक्रमित होने पर, स्वयं विना पीड़ित हुये ही, जीवाणुओं का संवहन करते हैं। इन्हें स्वस्थ तथा व्याधित वाहक कहते हैं। इनके मल-मूत्र-थूक

औपसर्गिक जीवाणुओं का शरीर में प्रवेश—

प्रायः सभी औपसर्गिक रोगों में जीवाणुओं के शरीर में प्रवेश का मार्ग नियत-सा होता है। दूसरे मार्ग से उनका प्रवेश होने पर विकारोत्पत्ति नहीं भी हो सकती। खाद्य-पेय द्वारा प्रविष्ट होकर रोगोत्पत्ति करने वाले जीवाणु विन्दूत्क्षेप के रूप में अन्तःश्वसन के द्वारा या त्वचा में क्षत होने पर उसके द्वारा शरीर में प्रविष्ट हो जाने पर भी सर्वत्र रोगोत्पत्ति नहीं कर सकते। उसी प्रकार धनुर्वातदण्डाणु का प्रवेश त्वचा के द्वारा न होकर खाद्य-पेयों के साथ मुखद्वारा होनेपर धनुर्वात नहीं हो सकता।

मुख, अन्तःश्वसन, त्वचा और श्लेष्मल कला के द्वारा जीवाणुओं का शरीर में प्रवेश होता है।[1] कुछ जीवाणु गर्भावस्था में अपरा के द्वारा गर्भ को भी आक्रान्त करते हैं। फिरंग, रोमान्तिका, मसूरिका से पीडित माता के गर्भस्थ शिशुको भी ये व्याधियाँ हो जाती हैं।

जीवाणुओं के द्वारा रोगोत्पत्ति का कारण—

१. **विष**—सभी औपसर्गिक जीवाणु मनुष्यों के शरीर में विविध प्रकार का विष निर्माण करते हैं। जब विषोत्पादक जीवाणुओं की जीवितावस्था में विष उनके शरीर से बाहर निकल कर फैलता रहता है तो इन्हें **वहिर्विष** कहते हैं। इसमें जीवाणुओं के एक स्थान पर मर्यादित रहने पर भी विष का प्रसार सारे शरीर में हो जाने के कारण सार्वदेहीय लक्षण पैदा होते हैं। धनुर्वात तथा रोहणी इसके प्रमुख उदाहरण हैं। जो विष जीवाणुओं की जीवितावस्था में इनके शरीर के भीतर ही सीमित रहता है और उनके शरीर का नाश होने पर चारों ओर फैलता है, वह **अन्तर्विष** कहा जाता है। जीवाणुओं की आयु बहुत अल्प होती है। बराबर लाखों-करोड़ों की संख्या में शरीर के भीतर उनका नाश होता रहता है। जिससे अन्तर्विष नियमित रूप से शरीर की कोषाओं को विषाक्त बनाकर रोगोत्पत्ति करता रहता है। यह विष शरीर की कोषाओं में शोथ, अपजनन, भक्षकायाणु नाश, रक्तकणद्रावण और श्वेतकायाणु का नाश इत्यादि अनेक रूपों में विकार पैदा करता है। औपसर्गिक रोगों में विकारोत्पत्ति का यही प्रमुख कारण है।

२. **मार्गनिरोध**—शरीर के सूक्ष्म स्रोतसों में विकारकारी जीवाणु-कृमि आदि का अधिक संचय हो जाने के कारण मार्गावरोध होकर विशेष कष्ट होता है। श्लीपद के द्वारा लसवाहिनियों का अवरोध, विषमज्वर के द्वारा मस्तिष्क केशिकाओं के रक्तप्रवाह का अवरोध इसके उदाहरण हैं।

कायाणूपवृत्ति—(Cytotropism) कुछ जीवाणु शरीर की कोषाओं के भीतर प्रविष्ट होकर उनका भक्षण कर शरीर की धातूपधातुओं का नाश कर विकारोत्पत्ति करते हैं। विषमज्वर के जीवाणुओं के द्वारा रक्तकणों का नाश इसी श्रेणी में आता है।

---

१. 'नासारंध्रानुगतेन वायुना श्वास-कास-प्रतिश्यायाः, त्वगिन्द्रियगतेन ज्वरमसूरिकादयः'।

उपसर्गज शारीरिक विकार—

स्थानिक—शरीर के जिस स्थान से उपसर्ग का प्रवेश होता है, वहाँ पर शोथजन्य प्रतिक्रिया प्रारम्भ होती है। जिससे वहाँ पर छोटे-छोटे दाने या विस्फोट निकलते हैं अथवा विष का आधिक्य होने पर धातुकोषाओं का अपजनन होकर पूयोत्पत्ति होती है। दोष का शरीर में प्रसार होने पर उस स्थान से सम्बन्धित लसग्रन्थियों में विकृति का अवरोध होता है। अतः विकृति के मुख, तालु या गले से प्रारम्भ होने पर ग्रीवा की लसग्रन्थियाँ और हस्त-पाद से प्रारम्भ होने पर कक्षा या वंक्षण की लसग्रन्थियाँ विकृत होती हैं। कुछ जीवाणुओं का शरीर की विशेष धातु की ओर आकर्षण होने के कारण व्याधि का सर्वाधिक परिणाम उन्हीं स्थलों पर दिखाई पड़ता है। मस्तिष्क गोलाणुओं के द्वारा मस्तिष्कावरण शोथ, गुह्य गोलाणुओं के द्वारा पूयमेह, क्षय दण्डाणुओं के द्वारा राजयक्ष्मा, धनुर्वात दण्डाणु के द्वारा वातनाड़ियों और आमवात के जीवाणुओं के द्वारा सन्धियों की श्लेष्मलकला का मुख्यरूप से विकृत होना जीवाणुओं के विशिष्ट स्थान संश्रय का उदाहरण है।

सार्वदेही विकार—जीवाणुओं के विष का प्रसार सारे शरीर में होने के कारण ज्वर, अतिसार, अङ्गमर्द इत्यादि सार्वदेहीय लक्षण पैदा होते हैं। किन्तु कुछ अङ्गों के ऊपर इन विषों का परिणाम अधिक या प्रथम होने के कारण उनमें कार्य वैषम्य प्रथम उत्पन्न होता है। मस्तिष्क, रक्तवह संस्थान, वृक्क तथा श्वसन के अङ्गों पर विशेष परिणाम होने पर अधिक व्यापक एवं गम्भीर लक्षण पैदा होते हैं। पर्याप्त समय तक जीवाणुओं के विषों का शरीर में प्रभाव होने पर रक्तक्षय, यकृत्-प्लीहा की विकृति आदि तथा श्वेत-कायाणुओं की संख्या वृद्धि और प्रतियोगी पदार्थों को अधिक उत्पत्ति अथवा रक्षाङ्गों की विकृति आदि परिणाम होते हैं।

औपसर्गिक रोगों के प्रकार—

१. **सौम्य**—रोग के सौम्य होने, उपसर्ग की पूर्ण वृद्धि के पहले ही प्रतिकार की व्यवस्था होने और व्याधि के अनुपद्रुत होने पर औपसर्गिक रोग बहुत आसानी से ठीक हो जाते हैं। कभी-कभी उपसर्ग सौम्य होता है, जिससे रोगी अपना दैनिक कार्य करता रहता है। किन्तु श्रम एवं अनियमितता के कारण सौम्य प्रकार में भी अन्त में उपद्रव होकर गम्भीर लक्षण पैदा हो सकते हैं। यदि इस वर्ग के रोगियों में पथ्य-आहार-विहार के पालन पर प्रारम्भ से ध्यान दिया जाय तो औषध प्रयोग की आवश्यकता नहीं पड़ती।

२. **सामान्य**—व्याधि की गम्भीरता-मृदुता के अनुरूप उसके स्वाभाविक लक्षण तीव्र या सौम्य रूप में रोगी में दिखलाई पड़ें तो इसे सामान्य या स्वाभाविक रूप कहेंगे। इसमें पथ्यपालन तथा सामान्य औषधोपचार से रोग की अवधि बीतने पर स्वाभाविक क्रम से उपशम होता है।

३. **गम्भीर या घातक**—इसमें प्रारम्भ से ही लक्षणों की तीव्रता रहती है और उपद्रवों की भी अधिक सम्भावना होती है। व्याधि के इस रूप का अनुमान होने पर प्रारम्भ

रक्तस्रावी वर्ग आता है, जिसमें त्वचा-श्लेष्मलकला-अन्त्र-वृक्क इत्यादि अंगों, से रक्त-स्राव होकर रोगी की मृत्यु होती है। रक्तक्षयजन्य दुर्बलता से अल्पोपद्रुत रोग में भी हृदय-निपात होने के कारण रोग असाध्य होजाता है। प्रारम्भ से ही सर्वोपकरण युक्त उपचार होने पर कदाचित् अनुकूल परिणाम की सम्भावना हो सकती है।

४. **जीर्ण**—यह दो प्रकार से होता है। कुछ औपसर्गिक रोग स्वभाव से ही मन्दगति से प्रारम्भ तथा मन्दगति से ही प्रसार कहते हैं। राजयक्ष्मा, कुष्ठ, फिरंग इत्यादि जीर्ण रोग इसी श्रेणी में आते हैं। अनेक बार प्रारम्भ में व्याधि तीव्र स्वरूप की होती है, किन्तु कुछ काल के बाद उसके लक्षणों में सौम्यता होकर जीर्ण रूप उत्पन्न हो जाता है। जीर्ण विषम ज्वर, कालज्वर, पुराण आमातिसार, जीर्ण पूयमेह आदि प्रारम्भ में तीव्र होकर अन्त में जीर्ण रूप में परिणत होते हैं।

अनेक बार औपसर्गिक जीवाणुओं के स्थानसंश्रय के आधार पर रोगों का वर्गीकरण ग्रंथिक, आन्त्रिक, फुफ्फुसगत इत्यादि स्थानिक नामों से भी किया जाता है।

औपसर्गिक रोगों के निदान की विशेषताएँ—

निज रोगों के समान ही औपसर्गिक रोगों में भी रोगी का इतिवृत्त रोगविनिश्चय में बहुत महत्वपूर्ण योग देता है। सामान्य रोगों के अतिरिक्त इन रोगों में कुछ विशेष-विशेष प्रश्न पूछे जाते हैं, अतः औपसर्गिक रोगों के निदान की विशिष्ट पद्धति जान लेना अच्छा होगा।

१. **कुल-वृत्त**—रोगी के संक्रामक रोग से पीडित होने के पहले कुल एवं परिवार में उत्पन्न हुए रोगों के बारे में विवेचन किया जाता है। कुछ रोग आनुवंशिक होते हैं अर्थात् कुछ रोगों का संक्रमण मातृ-पितृ दोष से संततियों में होता है अथवा उनमें उक्त रोगों के प्रति सहज असहनशीलता या प्रवृत्ति (Diathesis) देखी जाती है, यथा—राजयक्ष्मा, कुष्ठ, उपदंश, फिरंग, विसर्प, आमवात आदि। पूर्वजों में इनमें से किसी रोग से कोई पीडित हुआ हो तो उनकी सन्ततियों में इन रोगों के होने की संभावना अधिक होती है। किन्तु कुछ रोग जीवित कुटुम्ब में एक ही समय अनेक व्यक्तियों को समान रूप से आक्रान्त करते हैं। मसूरिका, रोमान्तिका, लघु मसूरिका, आन्त्रिक ज्वर, कालज्वर, कुकास (Whooping cough), वातश्लैष्मिक ज्वर (Influenza), ग्रंथिक सन्निपात (Plague), विसूचिका (Cholera) आदि संक्रामक व्याधियाँ एक समय में कुटुम्ब के अनेक व्यक्तियों को पीडित करती हैं।

२. **आत्मवृत्त**—रोगी का आत्मवृत्त पूछते समय निम्न बातों पर ध्यान देना चाहिए।

आयु—अनेक औपसर्गिक रोग विशेष अवस्था में अधिक उत्पन्न होते देखे जाते हैं। बाल्यावस्था में मसूरिका, लघु मसूरिका, रोमान्तिका, रोहिणी, शैशवीय अंगघात, कुकास, कण्ठमाला, तुण्डिकेरी शोथ तथा आमवात, श्वसनीफुफ्फुस पाक (Broncho-pneumonia) आदि का प्रकोप अधिक होता है। युवावस्था में राजयक्ष्मा, कुष्ठ, उरस्तोय, विसूचिका, ग्रंथिक सन्निपात, फिरंग, औपसर्गिक पूयमेह तथा मस्तिष्क सुषुम्ना

हैं। फुफ्फुसपाक तथा श्वसनी फुफ्फुसपाक का आक्रमण वृद्धों में पर्याप्त होता है।

पूर्वरोग—कुछ संक्रामक रोगों से एक बार पीडित होने के बाद व्यक्ति प्रायः जीवन भर उस रोग से दुबारा पीडित नहीं होता। मसूरिका, रोमान्तिका, कर्णमूलिक शोथ, पीतज्वर, त्वचागत कालज्वर, शैशवीय अंगघात आदि जीवन में अधिक से अधिक एक बार ही होते हैं। किन्तु वातश्लैष्मिक ज्वर (Influenza), आमवात, श्वसनी-शोथ, फुफ्फुस पाक, विषमज्वर, अतिसार आदि व्याधियों से एक बार पीडित होने के बाद पुनः पुनः आक्रान्त होने की संभावना बनी रहती है। इस दृष्टि से कभी कभी पूर्व-रोगों का ज्ञान वर्तमान रोग का निदान करने में बहुत सहायक होता है।

मसूरी का प्रयोग (Vaccination & Inoculation):—आजकल अनेक रोगों के प्रतिबंधन के लिए मसूरी का प्रयोग सफलता पूर्वक किया जाता है। विशिष्ट रोग की मसूरी का प्रयोग करने का इतिहास मिलने पर उस रोग के आक्रमण की संभावना कम हो जाती है।

जानवरों के काटने का इतिवृत्त—कुछ रोग विशिष्ट जानवरों के काटने से फैलते हैं। चूहे के काटने से मूषिक दंशक ज्वर और कुत्ता एवं शृगाल के काटने से जलसंत्रास का उपसर्ग होता है।

सम्पर्क या संसर्ग—औपसर्गिक रोगियों से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्बन्ध रखने वाले स्वस्थ व्यक्ति उक्त रोगों से पीडित हो सकते हैं। वातश्लैष्मिक ज्वर एवं ग्रंथिक सन्निपात तथा विसूचिका आदि कुछ रोग अल्प समय में ही स्वस्थ व्यक्तियों को आक्रान्त कर सकते हैं, अतः निकट भूतकाल में रोगी किसी संक्रामक रोग से पीडित व्यक्ति के सम्पर्क में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में आया है या नहीं, इसकी जानकारी करनी चाहिए। बालकों में रोहिणी, कुकास, रोमान्तिका तथा मसूरिका आदि का संक्रमण विद्यालयों से तथा खेल-कूद के समय निकट सम्पर्क होने के कारण बहुत आसानी से व्यापक रूप में हो सकता है। अतः इस श्रेणी की व्याधियों का प्रकोप होने पर बालकों की सामूहिक रूप से स्वास्थ्य-परीक्षा रोग के निदान तथा प्रतिबंधन, दोनों दृष्टियों से आवश्यक होती है।

प्रवास—कुछ औपसर्गिक रोग विशिष्ट प्रान्तों एवं जनपदों में ही मर्यादित रहते हैं, दूसरे प्रान्तों में नहीं होते। कालज्वर, श्लीपद, अंकुश मुख कृमि का प्रकोप उत्तर प्रदेश, बिहार तथा बंगाल एवं आसाम में ही अधिक होता है; राजस्थान, पंजाब और महाराष्ट्र आदि में प्रायः नहीं होता। उसी प्रकार स्नायुक रोग (नहरुआ) बम्बई तथा राजस्थान में और माल्टाज्वर प्रायः पंजाब और पेप्सू में होता है, दूसरे पूर्वी प्रान्तों में नहीं होता। इन स्थानों में प्रवास करने या कुछ काल तक निवास करने के बाद अपने देश में जाने के बाद इन देशों में होने वाले रोगों से पीडित होने पर, प्रवास का इतिहास जाने बिना निदान आसानी से नहीं हो सकेगा।

३. **लक्षण**—लक्षणों तथा भौतिक चिह्नों के द्वारा आभ्यन्तरीय विकृति का पर्याप्त ज्ञान होता है। संक्रामक रोगों का स्थान-संश्रयत्व प्रायः निश्चित ही रहता है। निम्नलिखित

दण्डाणु का क्षुद्रान्त्र की श्लेष्मलकला, विषमज्वर का रुधिरकायाणु, फुफ्फुस गोलाणु का फुफ्फुस, रोहिणी का ग्रसनिका तथा तुण्डिकेरी के निकट का गले का अंश और शैशवीय अंगघात का सुषुम्नागत धूसर केन्द्र मुख्य अधिष्ठान होता है। विशेष अंग में जीवाणुओं का स्थानसंश्रय तथा उनके विष से उत्पन्न समष्टिमूलक लक्षणों एवं भौतिक चिह्नों से औपसर्गिक रोग के निदान में प्रमुख सहायता मिलती है। प्रत्येक रोग के कुछ लक्षण दूसरे रोगों में मिल सकते हैं, किन्तु एक ही व्याधि के अनेक लक्षण तथा चिह्न समष्टि रूप में एक रोगी में मिलने पर निश्चित रूप से उसी व्याधि के निदर्शक होते हैं।

४. **प्रायोगिक परीक्षा**—रक्त, मूत्र, पुरीष, ष्ठीवन, शुक्र तथा दूसरे धातु एवं मलों का प्रयोगशाला में रासायनिक विधियों एवं सूक्ष्मदर्शक, सम्वर्धन तथा प्राणिरोपण आदि के द्वारा परीक्षण करने से विकारकारी जीवाणुओं का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष परिचय मिलता है, जिससे औपसर्गिक व्याधि का असंदिग्ध निर्णय किया जाता है।

क. जीवाणुओं का प्रत्यक्ष दर्शन:—

सूक्ष्मदर्शक यंत्र द्वारा—औपसर्गिक रोग से पीडित रोगियों के रक्त-मल-मूत्र-ष्ठीवन-मस्तिष्कसुषुम्नाद्रव एवं शरीर के दूसरे स्रावों में रोगों के कारणभूत जीवाणु उपस्थित रहते हैं। रक्त-मूत्रादि को काँच की पटरी पर फैलाकर, विशेष-विशेष पद्धतियों से रंजित करके या बिना रंजन के ही सूक्ष्मदर्शक यंत्र (Microscope) के द्वारा परीक्षा करने पर जीवाणुओं का प्रत्यक्ष दर्शन हो जाने पर रोग का सटीक निर्णय हो जाता है। कदाचित् जीवाणुओं की संख्या शरीर में कम हुई या वे गंभीर धातुओं में छिपे हुए हों, तो इस पद्धति से उनकी उपलब्धि न होने पर भी व्याधि का नास्त्यात्मक निदान नहीं किया जा सकता। कभी-कभी गंभीर धातुओं से जीवाणुओं को निकालने के लिए प्रोद्दीपक (Provocative) द्रव्यों का व्यवहार किया जाता है, यथा—विषमज्वर एवं कालज्वर में प्लीहा में छिपे हुए जीवाणुओं को एड्रेनेलीन का अधस्त्वचीय सूचीवेध करके रक्त में आने को बाध्य किया जाता है, उसके बाद पुनः रक्त की सूक्ष्मदर्शक से परीक्षा की जाती है। जहाँ पहले रक्त में जीवाणु नहीं मिले थे, वहाँ इन प्रोद्दीपक ओषधियों के प्रयोग के बाद प्रायः मिल जाते हैं। औपसर्गिक व्याधियों में निदान की दृष्टि से सूक्ष्मदर्शक यंत्र से प्रत्यक्ष परीक्षण बहुत आवश्यक तथा महत्वपूर्ण माना जाता है।

सम्वर्द्धन—सूक्ष्मदर्शक द्वारा जीवाणुओं का निर्णय न हो सकने पर परीक्ष्य द्रव्य को सामान्य या विशेष वर्धनकों (Culture media) में रोपित किया जाता है। उसमें जीवाणुओं की सम्यक् वृद्धि होने के बाद पुनः सूक्ष्मदर्शक से पूर्ववत् परीक्षा की जाती है।

प्राणिरोपण—ग्रहणशील प्राणियों—मूषक, खरगोश आदि में परीक्ष्य द्रव्य प्रविष्ट किए जाते हैं, जिससे उस प्राणी में विशिष्ट रोग के लक्षण उत्पन्न होते हैं। गुप्त

क्षय तथा जलसंत्रास आदि गूढ़-लिंग व्याधियों में कभी-कभी इस परीक्षा की आवश्यकता पड़ती है।

ख. लसिका परीक्षा:—

उपसर्ग होने के कुछ काल बाद उपसृष्ट व्यक्ति के रक्त में प्रतियोगी (जीवाणुओं का प्रतिकार करने वाले शरीर के रक्षक तत्व) पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं। यह प्रतियोगी द्रव्य रक्त या लसिका में घुले-मिले हुए रहते हैं। अनेक औपसर्गी रोगों में प्रतियोगी पदार्थ नियत स्वरूप तथा नियत प्रतिक्रिया वाले होते हैं। इस कारण रोगी की लसिका की विशेष परीक्षा कुछ संक्रामक रोगों में संदेह निवृत्ति के लिए की जाती है। आंत्रिक ज्वर में विडाल कसौटी (Widal test), फिरंग में कान तथा वासरमान की कसौटी (Kahn's & Wassermann's tests) इस श्रेणी की लसिका परीक्षाएं हैं।

ग. उपसर्ग जन्य सामान्य परिवर्त्तन:—

ऊपर जीवाणुओं के उपसर्ग से होने वाले विशिष्ट स्वरूप के परिवर्त्तनों का उल्लेख किया गया है, किन्तु रक्त-रक्तरस-मूत्र-मल एवं ष्ठीवन आदि में उपसर्ग के कारण कुछ सामान्य परिवर्तन भी होते हैं। इन सामान्य परिवर्त्तनों की उपस्थिति से किसी एक उपसर्ग का निर्णय नहीं हो सकता किन्तु भौतिक चिह्नों, लक्षणों आदि के साथ में इन परिवर्त्तनों को संतुलित करने से कभी-कभी निदान में सहायता मिलती है। रक्त के श्वेतकायाणुओं का सकल तथा सापेक्ष परिगणन (Total & Differential count of W. B. C.), शोण वर्तुलि (Haemoglobin), रक्तकणिकाएं (Platlets) आदि के परीक्षण से यही अविशिष्ट स्वरूप का ज्ञान होता है। इस विषय का स्पष्टीकरण दूष्य परीक्षा के प्रकरण में पहले किया जा चुका है।

इस प्रकार औपसर्गिक रोगों के निर्णय में सूक्ष्मदर्शन, सम्वर्धन तथा प्राणिरोपण से प्राप्त ज्ञान अचूक या निश्चित होता है। लसिका परीक्षा के द्वारा प्राप्त ज्ञान पर्याप्त रूप में विश्वसनीय होता है, किन्तु उसे सभी अवस्थाओं में अचूक नहीं कह सकते। इन परीक्षाओं के द्वारा जीवाणु की उपस्थिति का अनुमान या अप्रत्यक्ष ज्ञान होना, रोगनिदान में निर्णायक होता है; किन्तु नास्त्यात्मक ज्ञान रोग का निषेधक नहीं होता। जीवाणुओं की संख्याल्पता, सावधानीपूर्वक पर्याप्त समय तक सूक्ष्मदर्शक आदि के द्वारा पूर्ण परीक्षा न करना तथा कभी-कभी संयोगवश जीवाणु नहीं मिलते। औपसर्गिक रोग का संदेह होने पर जब तक निर्णायक ज्ञान न हो जाय, थोड़े समय के अन्तर से बार बार परीक्षा करते रहना चाहिए।

आगे औपसर्गिक रोगों के प्रकरण में इस विषय का आवश्यक स्पष्टीकरण यथास्थल किया जायगा।

रोग क्षमता

रोग प्रतिरोधकारक शारीरिक शक्ति या औपसर्गिक रोगों का प्रतिकार करने वाली विशिष्ट शक्ति को रोग क्षमता कहते हैं[१]।

१. 'व्याधिक्षमत्वं व्याधिबलविरोधित्वं व्याध्युत्पादप्रतिबन्धकत्वमिति यावत्'। (चक्रपाणि)

रोग क्षमता जनित शक्ति के कारण ही व्यक्ति रोगों के आक्रमण से बचा रहता है या रोगाक्रान्त होने पर उनसे मुक्त हो पाता है। अभी तक इसके बारे में ठीक ठीक निर्णय नहीं हो सका कि व्याधिक्षमता का स्वरूप क्या है और औपसर्गिक कारणजन्य व्याधियों के प्रतिकार में इसके द्वारा शरीर की सुरक्षा किस प्रकार होती है? शारीरिक दृष्टि से परिपुष्ट, सुसंगठित और सबल व्यक्ति भी व्याधियों से आक्रान्त हो जाते हैं तथा असात्म्य आहार-विहार का सेवन करने वाले और दुर्बल व्यक्ति इन व्याधियों से बचे रह जाते हैं। इसलिए रोग क्षमता केवल शारीरिक स्वास्थ्य-बल-पौरुष-मनस्विता-पुष्टता आदि पर ही निर्भर नहीं करती।

क्षमता-उत्पादक साधनों के आधार पर इसके निम्नलिखित भेद किये जाते हैं—

- रोगक्षमता
  - सहज
    - जातिगत
    - वंशगत
    - व्यक्तिगत
  - जन्मोत्तर या अर्जित
    - सक्रिय
      - नैसर्गिक
        - स्वाभाविक मृदु उपसर्ग लब्ध
        - प्रत्यक्षरोगाक्रमण लब्ध
      - कृत्रिम या मसूरी लब्ध
        - संस्कारित जीवित जीवाणु लब्ध
        - मृत जीवाणु लब्ध
        - जीवाणु विष या विषाभलब्ध
    - निष्क्रिय
      - सहज
        - माता से प्राप्त
      - जन्मोत्तर कालज
        - कृत्रिम या लसिका लब्ध
          - प्रतिविष लसिका
          - प्रतितृणाण्वीय लसिका
          - सन्निवृत्त लसिका
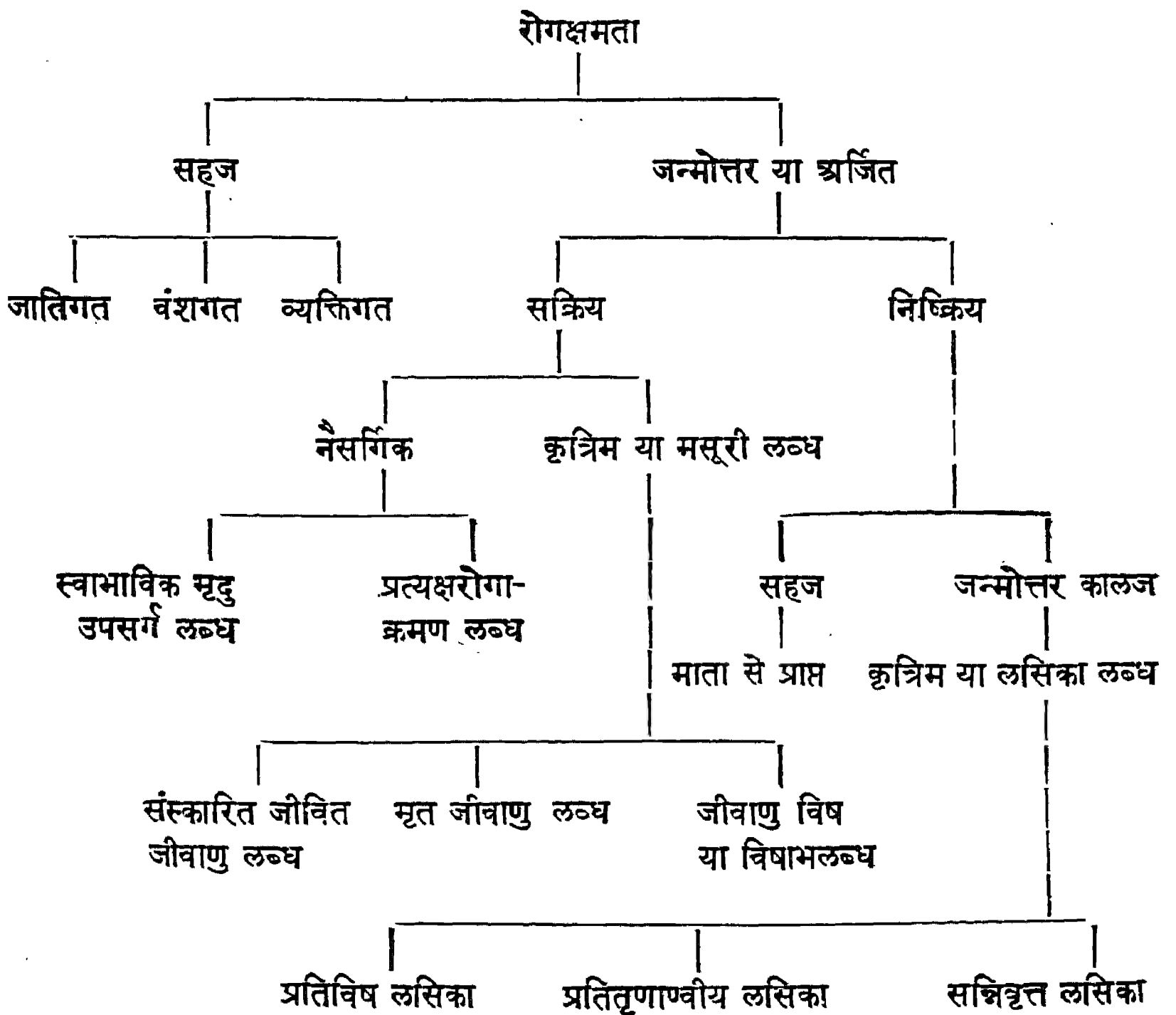
क. **सहज क्षमता**—गर्भावस्था में अपरा के द्वारा माता के शरीर की रोग प्रतिकारक शक्ति बच्चे में संवाहित होती है। बहुत सी जातियों में एक प्रकार का रोग नहीं होता, शेष में दूसरे प्रकार का नहीं होता। इस सहज क्षमता के जाति-वंश एवं व्यक्तिगत भेद से ३ विभाग किये जाते हैं।

१. जातिगत—फिरंग-कुष्ठ-विसूचिका-रोहिणी आदि औपसर्गिक व्याधियों का आक्रमण केवल मानव जाति पर होता है। पशु-पक्षियों में होने वाले बहुसंख्यक

संत्रास और रिकेट्सिया आदि थोड़ी सी ही व्याधियों का पशु-पक्षियों एवं मानवों पर समान रूप से आक्रमण होता है। पक्षियों में धनुर्वात और बकरी में राजयक्ष्मा कभी नहीं होता। सम्भव है, इस प्रतिकार के मूल में भिन्न परिस्थितियाँ एवं शरीर का भिन्न तापक्रम होना सहायक होता हो; क्योंकि औपसर्गिक जीवाणुओं का संवर्धन एक निश्चित तापक्रम पर ही होता है; अतः जिन जातियों में शरीर का ताप इससे भिन्न रहता है, उनमें जीवाणुओं की वृद्धि न हो सकने के कारण रोगोत्पत्ति न हो सकती हो। सहज रोग क्षमता जीवन भर स्थायी रहती है। प्रायः उत्तरकालीन संतति में भी इसका संचरण होता है।

२. **वंशगत**—मानव जाति की बहुत सी उपजातियाँ समान रूप से औपसर्गिक व्याधियों से नहीं पीड़ित होतीं। यहूदी क्षय से बहुत कम तथा नेपाली बहुत अधिक पीड़ित होते हैं। उसी प्रकार पीत ज्वर अफ्रीका के हब्शियों में बहुत कम किन्तु राज-यक्ष्मा अधिक, पर वहीं रहने वाले गौरवर्णियों में राजयक्ष्मा कम तथा पीतज्वर अधिक होता है।

३. **व्यक्तिगत**—माता-पिता का उत्तम स्वास्थ्य सन्तति में प्रतिकारक शक्ति बढ़ाने में सहायक होता है। शरीर रचना का भी रोगोत्पत्ति से सम्बन्ध होता है। लम्बे तथा चपटे वक्ष वाले (Flat chest) व्यक्ति राजयक्ष्मा से अधिक पीड़ित होते हैं। पोषक तथा संतुलित आहार-विहार-देश-काल-जल-वायु की अनुकूलता-सात्म्यता तथा शारीरिक बल पर भी कुछ अंशों में रोग-प्रतिरोध का भार रहता है। कुछ व्याधियाँ एक अवस्था में अधिक और दूसरी अवस्था में बहुत कम होती हैं। इससे आवस्थिक रोग क्षमता का अनुमान होता है। निरन्तर अभ्यास और व्यायाम के द्वारा अक्षम व्यक्ति भी रोग क्षमता उत्पन्न कर सकता है। व्यवसाय रोगक्षमता को बढ़ा या घटा सकता है। शरीर में प्राकृतिक रूप से अनेक रक्षा के साधन विद्यमान हैं। बाहर से त्वचा का दृढ़ आवरण औपसर्गिक रोगों के प्रतिरोध के लिये किले की दीवार का काम करता है। श्लेष्मल कला दूसरा मार्ग है, जिससे जीवाणुओं का प्रवेश शारीरिक धातुओं में हो सकता है, किन्तु श्लेमल स्राव के द्वारा निरन्तर संलग्न दोषों को शोधित करते रहने के कारण यह मार्ग भी सुरक्षित माना जाता है। जबतक किसी जीर्ण व्याधि के प्रभाव से इन आवरणों की शक्ति क्षीण न हो जाय, रोगोत्पत्ति नहीं हो पाती; अन्यथा मानव के चारों तरफ से असंख्य रोगोत्पादक जीवाणुओं से आक्रान्त रहने के कारण जीवन-धारण ही असंभव हो जाता। त्वचा, मुख, नासिका, श्वास-प्रश्वास के साथ निरन्तर शरीर से इन जीवाणुओं का सम्बन्ध होता रहता है। फिर भी रोगोत्पत्ति विशिष्ट स्थितियों में ही होती है, हमेशा नहीं। पाचक रस की अम्लता एवं मूत्र की अम्लता बहुत से जीवाणुओं का विनाश करती रहती है। इसी प्रकार शरीर की सभी कोषाएँ किसी न किसी रूप में रोग प्रतिरोध करती हैं। संक्षेप में व्यक्तिगत क्षमता को सहज एवं व्यक्तिगत प्रकृति का प्रतिरूप कह सकते हैं।

सहज क्षमता में ह्रास के कारण—

अति शीत या अति उष्ण जलवायु में रहने से शरीर कोषाओं का स्वाभाविक

संतुलन बिगड़ जाता है, अतः अकस्मात शीतोष्ण विपर्यय से संक्रमण की सम्भावना बढ़ सकती है। अनियमित समय में, विषम या हीन मात्रा में अथवा दूषित भोजन करने से भी सहज प्रतिकारक शक्ति अव्यवस्थित हो जाती है। दूषित वायु में निवास करने से, मद्यपान, रक्तक्षय और मधुमेह सरीखी जीर्ण व्याधियों से पीड़ित होने पर भी स्वाभाविक शक्ति में ह्रास हो जाता है। यदि सहज प्रतिकारक शक्ति अल्पमात्रा में हो और औपसर्गिक जीवाणुओं का विष अधिक मात्रा में हो तो स्वाभाविक रोगक्षमता के दब जाने से रोगोत्पत्ति हो जाती है।

ख. जन्मोत्तर या अर्जित रोग क्षमता—औपसर्गिक रोगों का आक्रमण तथा कृत्रिम क्षमतोत्पादक द्रव्यों के प्रयोग से शरीर में प्रतिकारक शक्ति का उद्भव होता है। जिस प्रकार व्यक्ति दैनिक व्यायाम करके शारीरिक शक्ति को बढ़ा सकता है, मादक द्रव्यों का अभ्यास करते हुए अन्त में उनकी घातक मात्रा से भी आनन्द उठा सकता है, उसी प्रकार सौम्य रूप के उपसर्गों से आक्रान्त होने पर अथवा कृत्रिम रूप से मृत औपसर्गिक जीवाणु या उनके विष का शरीर में शनैः शनैः वर्द्धमान मात्रा में प्रवेश होने पर भी सहन कर लेता है और भविष्य के लिये इस प्रकार सक्षम हो जाता है, जिससे अधिक मात्रा में उपसर्ग होने पर भी रोगाक्रान्त नहीं होता। यही अर्जित क्षमता का मूल आधार है।

जन्मोत्तर क्षमता निम्न लिखित वर्गों में बांटी जाती है—

१. सक्रिय क्षमता—जब स्वयं शरीर कोषाओं में रोग प्रतिकारक क्षमता का निर्माण होता है अर्थात् शरीर सक्रिय रूप में क्षमतोत्पत्ति में भाग लेता है तो इसे सक्रिय क्षमता कहते हैं। यह स्थायी तथा अस्थायी, दोनों प्रकार की हो सकती है।

(क) सौम्य उपसर्ग जन्य—बाल्यावस्था से हीन मात्रा में औपसर्गिक जीवाणुओं का शरीर में प्रवेश होता रहता है। यद्यपि बाह्य दृष्टि से शिशु व्याधि से पीड़ित नहीं होता अर्थात् व्याधि लुप्त या अव्यक्त रहती है, किन्तु शरीर में उक्त लुप्त उपसर्ग जन्य व्याधि प्रतिकार के लिये क्षमता उत्पन्न हो जाती है। कुछ व्याधियाँ बाल्यावस्था में अधिक और युवावस्था में बहुत कम क्यों होती हैं, इसका कारण यही है कि सभी शिशु समान रूप से इन व्याधियों से पीड़ित होते हैं, किन्तु उपसर्ग की सौम्यता और सहज क्षमता के कारण कुछ रोगाक्रान्त होते हैं और शेष रोग ग्रसित न होकर भविष्य के लिये रोग-क्षम हो जाते हैं। इन सभी बालकों में (रोग ग्रसित तथा सौम्य उपसर्ग जन्य क्षमता वाले) भविष्य के लिये पर्याप्तमात्रा में रोगक्षमता उत्पन्न हो जाती है, अतः युवावस्था में इन व्याधियों से पुनः वे नहीं पीड़ित होते। इसीलिये बाल्यावस्था में रोहिणी, क्षय, तुंडिकेरी शोथ, कुक्कास, कर्णमूल शोथ, रोमान्तिका इत्यादि का प्रकोप अधिक होता है और युवावस्था में नहीं होता।

(ख) प्रत्यक्ष रोगाक्रमणजन्य—बाल्यावस्था में कुछ व्याधियों का आक्रमण हो जाने

रोग-पीड़ित होने के बाद लम्बे समय तक शरीर में क्षमता उपस्थित रहती है और कुछ में बहुत थोड़े समय तक। मसूरिका, रोमान्तिका, कर्णमूलशोथ, रोहिणी, कुकास आदि से आक्रान्त एवं मुक्त होने के बाद प्रायः जीवन भर या कम से कम दस-बारह साल तक पुनः पीडित होने का अवसर नहीं आता। आन्त्रिक ज्वर, श्लेष्मोल्वण सन्निपात और प्लेग में क्षमता जीवन भर स्थायी नहीं रहती, केवल १-२ वर्ष रहती है। इसलिए बाल्यावस्था में इनसे पीडित होने के बाद भी आगे व्यक्ति पुनः पीडित हो सकता है।

(ग) **सक्रिय कृत्रिम क्षमता**—विकारकारी जीवाणुओं का संस्कारित रूप में शरीर में प्रवेश कराने पर रोगोत्पत्ति के बिना क्षमता उत्पन्न हो जाती है। उपयोग की दृष्टि से इसके निम्नलिखित विभाग किये जाते हैं—

१. संस्कारित जीवित जीवाणुजन्य (atenuated living bacteria)—जीवाणुओं की तीव्रता मर्यादित कर या विपरीत परिस्थितियों में उनका सम्वर्धन कर तथा दूसरे संस्कारों के द्वारा उनकी रोगोत्पादक शक्ति नष्ट कर दी जाती है, जिससे शरीर में उनका अन्तर्रोपण होने पर रोगोत्पत्ति तो नहीं होती, किन्तु रोग क्षमता पैदा हो जाती है। जलसंत्रास, मसूरिका तथा तन्द्रिक ज्वर की मसूरी (Vaccine) का प्रयोग इस रूप में होता है।

२. **मृतजीवाणुजन्य**—सम्वर्धित जीवाणुओं को ५५ से ६० सेन्टीग्रेड तापक्रम पर ३० मिनट तक गरम करते हैं। बाद में इनको फार्मेलीन, फेनाल आदि के घोल में सुरक्षित कर प्रयुक्त किया जाता है। प्लेग, विसूचिका, आन्त्रिक ज्वर और कुकास के जीवाणुओं का इस रूप में उपयोग होता है। जिन जीवाणुओं का विष उनके शरीर में केन्द्रित रहता है, उन्हीं की मसूरी इस रूप में उपयोगी होती है।

३. **जीवाणु विष**—विकारकारी कुछ जीवाणुओं का विष उनके शरीर में मर्यादित नहीं रहता। ऐसे जीवाणुओं के प्रतिरोध के लिये क्षमता उत्पन्न करने में जीवाणुओं का प्रयोग न होकर उनके विषों का प्रयोग होता है। धनुर्वात तथा रोहिणी इस श्रेणी की प्रमुख व्याधियाँ हैं, जिनके प्रतिकारार्थ रोगक्षमता उत्पन्न करने के लिये जीवाणुविषों या उनके विषाभ द्रव्यों का (Toxins or Toxoids) प्रयोग होता है। इनके प्रयोग से शरीर में प्रतिविष का निर्माण होता है, जिससे विषजन्य औपसर्गिक व्याधियों की लाक्षणिक निवृत्ति होती है। इसी क्रम से घोड़े में जीवाणु-विषों का शनैः शनैः प्रयोग कराकर प्रतिविष उत्पन्न किया जाता है और प्रतिविष युक्त घोड़े की लसिका का धनुर्वात तथा रोहिणी की चिकित्सा में प्रयोग होता है।

२. **निष्क्रिय क्षमता**—शरीर के रोगाक्रान्त होने पर सक्रिय क्षमतोत्पादक द्रव्यों के प्रयोग से लाभ नहीं होता। क्योंकि सक्रिय क्षमता में मसूरी के अन्तर्रोपण के बाद कुछ समय तक शरीर में सामान्य अस्वास्थ्य कर लक्षण उत्पन्न होते हैं तथा शरीर की क्षमता स्वाभाविक से भी कुछ कम हो जाती है, जिसके कारण संक्रान्तावस्था में सक्रिय क्षमता के प्रयोग से व्याधि के बढ़ जाने की सम्भावना होती है। ऐसी स्थिति में व्याधि का शमन करने के लिये बनी-बनाई क्षमता का प्रयोग किया जाता है। शरीर की कोषाएँ

इसकी उत्पत्ति में सक्रिय भाग नहीं लेतीं, इसीलिये इसे निष्क्रिय क्षमता कहते हैं। इसके भी पूर्ववत् सहज व जन्मोत्तरकालजन्य दो वर्ग किये जाते हैं—

(१) **सहज**—माता के शरीर में रोमान्तिका, रोहिणी और लोहित ज्वर के लिये जो सहज क्षमता विद्यमान रहती है, उसका संचरण गर्भस्थ शिशु में भी हो जाता है। इसलिये प्रसव के बाद भी कुछ समय तक शिशु के रक्त में सक्षम लसिका होती है। किन्तु इस प्रकार की क्षमता अल्पकालस्थायी होती है। ६ मास के बाद शनैः शनैः इसका ह्रास हो जाता है।

(२) **जन्मोत्तर कालज**—प्राणियों के शरीर में प्रविष्ट हुए जीवाणुओं के विष के विनाश के लिए क्षमलसिका प्रविष्ट कराकर तात्कालिक क्षमता उत्पन्न की जाती है। इसके निम्नलिखित ३ प्रकार चिकित्सा में प्रयुक्त होते हैं—

१. प्रतिविष लसिका—इस प्रकार की लसिका में वहिर्विष द्वारा उत्पन्न हुआ प्रतिविष विद्यमान होता है। बहिर्विष उत्पन्न करने वाले तृणाणुओं से आक्रान्त होने पर रोग शमन के लिये प्रतिविष लसिका का व्यवहार होता है। धनुर्वात तथा रोहिणी में इसका प्रमुख उपयोग होता है।

२. प्रतितृणाण्वीय (Anti bacterial)—अन्तर्विष तृणाणुओं से उपसृष्ट रोगों के शमनार्थ इस प्रकार की लसिका का प्रयोग होता है। यह लसिकायें विषनाशक नहीं, तृणाणुनाशक होती हैं। मस्तिष्क सुषुम्ना ज्वर, श्लेष्मोल्वण सन्निपात, आन्त्रिक ज्वर, प्लेग इत्यादि अन्तर्विष उत्पादक जीवाणुओं के उपसर्ग से उत्पन्न व्याधियों में इनका प्रयोग होता है।

३. सन्निवृत्त लसिका—रोगी के शरीर में क्षम-लसिका उत्पन्न होने के कारण ही वह संक्रामक रोगों से मुक्त हो पाता है। विषाणु (Virus) जनित रोगों में रोग-सन्निवृत्तों की लसिका में क्षमताजनक गुण अधिक रहता है। रोमान्तिका तथा शैशवीय अंगघात से मुक्त रोगियों की लसिका इन्हीं रोगों से पीडित बालकों में उपकारक होती है।

सक्रिय और निष्क्रिय क्षमता में चिकित्सा की दृष्टि से भेद—

१. सक्रिय क्षमता में प्रतियोगी उत्पन्न होने की क्रिया उसी व्यक्ति के शरीर में होती है। किन्तु निष्क्रिय क्षमता में प्रतियोगी दूसरे के शरीर से, रोग शान्ति के लिये व्याधित व्यक्ति में, प्रयुक्त किये जाते हैं। अतः सक्रिय क्षमता अधिक समय तक स्थायी और निष्क्रिय क्षमता अल्पकाल स्थायी होती है।

२. सक्रिय क्षमता में मसूरी प्रयोग के बाद शरीर में स्थानिक एवं सार्वदैहिक प्रतिक्रिया जन्य प्रत्यक्ष रोग के समान सौम्य स्वरूप के लक्षण पैदा होते हैं। निष्क्रिय क्षमता में प्रतियोगी बने-बनाये प्रविष्ट होते हैं और शरीर में कोई प्रतिक्रियाजन्य कष्ट नहीं होता।

३. सक्रिय क्षमता की उत्पत्ति मसूरी प्रयोग के ८–१० दिन बाद धीरे धीरे होती है। इस बीच में शरीर की पहले की क्षमता भी नष्ट हो जाती है [illegible]

की अपेक्षा अधिक ग्रहणशील हो जाता है। यदि रोगी इस बीच में उपसर्गाक्रान्त हो जाय तो तीव्र स्वरूप के लक्षण उत्पन्न होते हैं। निष्क्रिय क्षमता में क्षम लसिका का शरीर में प्रवेश करने पर, प्रयुक्त मात्रा के अनुरूप, तुरन्त क्षमता उत्पन्न हो जाती है।

४. सक्रिय क्षमता दीर्घकाल तक शरीर की रक्षा करती रहती है। निष्क्रिय क्षमता की अवधि बहुत कम होती है। प्रवेश कराने के बाद निष्क्रिय क्षमता की मात्रा शरीर में पर्याप्त होती है। शनैः शनैः प्रतियोगियों की मात्रा घटने लगती है और ३ सप्ताह से ६ सप्ताह के भीतर पूर्णतया नष्ट हो जाती हैं। इसलिये सक्रिय क्षमता का प्रयोग मुख्यतया प्रतिबन्धन या जीर्ण दीर्घकालानुबन्धी मृदु स्वरूप के रोगों की चिकित्सा में किया जाता है और निष्क्रिय क्षमता का प्रयोग उग्र व्याधि के संशमन के लिये होता है। कदाचित् किसी व्यक्ति के बारे में औपसर्गिक व्याधियों से आक्रान्त होने की सम्भवनीयता का अनुमान हो तो क्षम लसिका के प्रयोग से लाभ हो सकता है। रोमान्तिका से पीडित व्यक्ति के सम्पर्क में आए हुए बालक में सन्निवृत या सक्षम लसिका का प्रयोग करने पर, उसके उपसृष्ट होने पर भी, रोमान्तिका की उत्पत्ति न होगी तथा दुर्घटनाजनित व्रणों में धनुर्वात के जीवाणु का संक्रमण अनुमानित होने पर, धनुर्वात लसिका का प्रयोग करने से रोगोत्पत्ति नहीं होती।

प्रतिजन तथा प्रतियोगी

जो द्रव्य शरीर की कोषाओं में प्रतियोगी पदार्थ उत्पन्न करने में प्रेरक होते हैं, उन्हें **प्रतिजन** कहते हैं। विजातीय द्रव्य और विजातीय प्रोभूजिन आदि के प्रयोग से शरीर में व्यापक प्रतियोगी द्रव्यों की उत्पत्ति होती है। 'यदि प्रतिजन विशिष्ट श्रेणी के होते हैं अर्थात् किसी एक व्याधि के ही प्रेरक होते हैं, तो उनसे विशिष्ट प्रतियोगी द्रव्यों की उत्पत्ति होती है, अन्यथा सामान्यरूप से शरीर की प्रतिकारक शक्ति बढ़ती है।

प्रतियोगी द्रव्य—प्रतिजनों की क्रिया के फलस्वरूप आक्रान्त व्यक्ति के शरीर में कोषाओं के द्वारा जो रक्षक द्रव्य उत्पन्न होते हैं तथा जो प्रतिजनों के साथ संयुक्त होकर उनके विषैले परिणाम को नष्ट कर देते हैं, उन्हें प्रतियोगी द्रव्य कहते हैं।

पहले विजातीय द्रव्यों के प्रयोग से व्यापक रूप से प्रतियोगी निर्माण का उल्लेख किया जा चुका है। इनका चिकित्सा में पर्याप्त प्रयोग होने के कारण आवश्यक वर्णन दिया जा रहा है।

व्यापक क्षमतोत्पादक द्रव्य—

(१) प्रोभूजिन वर्ग—

१. दुग्ध प्रोभूजिन—(Milk proteins), पेप्टोन (Peptone), लसिका-प्रोभूजिन (Serum proteins), मसूरी (Vaccines), रक्त (Blood)।

२. धातु तथा उपधातु (Heavy metals)—मंगनीज (Mangnese), रजत (Silver), स्वर्ण (Gold), आयोडीन (Iodine), कैल्सियम (Calcium)।

३. **तैलजातीय द्रव्य**–क्षोभक तैल (Oils with tissue irritant properties) यथा तारपीन का तेल, कपूर, जैतून के तेल में मिला क्रियोजोट, तुवरक तेल इत्यादि।

वास्तव में इस श्रेणी की औषधियों में विजातीय प्रोभूजिनों का ही प्राधान्य होता है। सुवर्ण, रजत आदि धातु तथा तैल द्रव्यों का प्रयोग किये जाने पर शरीर की प्रतिकारक शक्ति सामान्यतया पूर्वापेक्षा प्रबल हो जाती है, इसीलिये इनका उल्लेख यहाँ पर किया गया है।

प्रयोगजन्य परिणाम—इनके प्रयोग से साधारण ज्वर, स्थानीयत था सर्वांग वेदना और अवसाद के लक्षण पैदा होते हैं। धीरे-धीरे अनुकूलता (Tolerence) उत्पन्न होने के कारण मात्रा बढ़ाने पर भी उत्तरोत्तर लक्षणों की तीव्रता कम होती जाती है। क्रम से अधिक मात्रा में प्रयोग करने पर भी प्रतिकूलता नहीं होती। अनेक बार इस श्रेणी की औषधियों का प्रयोग शारीर ताप की वृद्धि के लिये किया जाता है। बढ़ा हुआ सन्ताप जीवाणुओं का नाश करके रोग को शान्त करता है। उपदंश और पूयमेह में इससे अधिक लाभ होता है।

इनकी मात्रा प्रारम्भ में कम और बाद में शनैः शनैः बढ़ानी चाहिये। प्रायः दस से बीस सूचिकाभरण पर्याप्त होते हैं। इनका प्रयोग त्वचा के विकारों में अन्तस्त्वचीय (Intradermal) तथा अधस्त्वचीय (Subcutaneous) मार्ग से किया जाता है। सर्वाङ्ग व्याधियों की निवृत्ति के लिये पेशी (Intramuscular) मार्ग से इनका प्रयोग किया जाता है। कभी कभी तीव्र स्वरूप की प्रतिक्रिया उत्पन्न करने के लिये अत्यल्प मात्रा में प्रोभूजिनों का प्रयोग शिरा द्वारा भी होता है—यथा टी॰ ए॰ बी॰ (T. A. B.) मसूरी का श्लीपद या पूयमेह में।

निम्नलिखित प्रमुख व्याधियों में इस उपचार से लाभ होता है—

१. जीर्ण स्वरूप का अज्ञात कारणजन्य मन्द ज्वर, जीर्ण शोथयुक्त व्याधियाँ यथा—सन्धिशोथ, मांसपेशी शोथ, गर्भाशय शोथ तथा जीर्ण स्वरूप के पूतिकेन्द्र (Septic focus)।

२. त्वचा के रोग—गजचर्म, अपरस, पामा, विस्फोट, विवर्णता आदि त्वचा के जीर्ण विकार।

३. श्लीपद तथा पूयमेह।

निम्नलिखित व्याधियों से पीडित व्यक्तियों में इनके प्रयोग का निषेध है—

क्षीणता, हीन रक्तभार, हृदय के रोग, वृक्क के रोग, राजयक्ष्मा, मधुमेह, अनूर्जता जनित व्याधियाँ तथा सगर्भावस्था।

मसूरी-चिकित्सा

उपयोग—मसूरी का प्रयोग व्याधिनिर्मूलन तथा प्रतिषेध दोनों कार्यों के लिये होता है। आन्त्रिक ज्वर, विसूचिका, प्लेग, ज्वरातिसार इत्यादि के प्रतिषेध के लिये इनका प्रयोग होता है। कुकास तथा जीर्ण प्रतिश्याय और अपरस की चिकित्सा में इनसे पर्याप्त सफलता मिलती है। उद्गम केन्द्र की दृष्टि से मसूरी दो प्रकार की होती है।

१. आत्मजनित मसूरी (Autogenous Vaccine):—इनका प्रयोग विशिष्ट रोगक्षमता उत्पन्न करने के लिये किया जाता है। रोगी के दूषित केन्द्र से जीवाणुओं को ग्रहण कर, संवर्धन में संवर्धित कर, विजातीय दोषों को पृथक कर, मात्रा, संख्या इत्यादि का परिमापन किया जाता है। जीर्ण प्रतिश्याय, तुण्डिकेरी शोथ, पूयदन्त, पूयमेह इत्यादि व्याधियों में इसका वर्धमान क्रम से प्रयोग होता है।

२. संग्रह मसूरी—इसमें अनेक जीवाणुओं का एक साथ प्रयोग होता है। इनसे विशिष्ट क्षमता नहीं उत्पन्न होती, किन्तु मिश्र उपसर्ग जनित व्याधियों में, जहाँ विकारकारी जीवाणुओं का निर्णय न हो सका हो, इसका प्रयोग किया जाता है और रोग के प्रतिकार के लिये भी इनका प्रयोग होता है।

प्रयोग मार्ग—सामान्यतया मसूरी का अधस्त्वचीय मार्ग से सप्ताह में दो बार प्रयोग होता है। तीव्र प्रतिक्रिया के लिये श्लीपद और औपसर्गिक पूयमेह में सिरा द्वारा भी प्रयोग किया जाता है।

मात्रा—आत्मजनित मसूरी की मात्रा कम तथा संग्रह मसूरी की मात्रा अधिक होती है। प्रारम्भ में ५० लाख से २ करोड़ तक जीवाणुओं का आत्मजनित मसूरी में प्रयोग होता है। उत्तर मात्राओं में क्रम से द्विगुण करते जाते हैं। मात्रा का यह निर्णय स्थिर नहीं है, व्याधि की तीव्रता-जीर्णता, परिणाम के स्थानिक या सार्वदेहिक अभिप्राय या तीव्र प्रतिक्रिया इत्यादि की दृष्टि से इसकी मात्रा स्थिर की जाती है। तीव्रावस्था में अल्पतम प्रतिक्रिया हो, इतनी ही मात्रा देनी चाहिये। बच्चों में ६ वर्ष के नीचे साधारण मात्रा का $\frac{1}{4}$, १० वर्ष के नीचे $\frac{1}{2}$, १६ वर्ष तक $\frac{3}{4}$ देना चाहिये।

वृद्ध और दुर्बल व्यक्तियों में बच्चों के समान मात्रा का निर्णय करना चाहिये।

स्थानीय परिणाम—सूचीवेध स्थान में शोथजन्य प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, इससे पूयोत्पत्ति की सम्भावना नहीं करनी चाहिये। यह शोथ एक-दो दिन में स्वतः या साधारण सेंक आदि से ठीक हो जाता है।

विकेन्द्रीय परिणाम—शरीर के विकृत केन्द्रों में विशिष्ट मसूरी के प्रयोग से साधारण शोथजन्य प्रतिक्रिया होती है, जिससे व्याधि के लक्षणों में वृद्धि का अनुभव होता है। सार्वदेहिक ज्वर, शिरःशूल, बेचैनी, सर्वाङ्गवेदना, अरुचि तथा अवसाद आदि लक्षण पैदा होते हैं।

मसूरी का चिकित्सा में प्रयोग करते समय निम्नलिखित सिद्धान्तों पर ध्यान रखना चाहिये :—

१. रोग तथा कारणभूत जीवाणु का निर्णय करके ही मसूरी का प्रयोग करने से सफलता मिलती है।

२. आत्मजनित मसूरी संग्रह-मसूरी से अधिक हितकर होती है। मसूरी के निर्माण में बहुत शुद्धता अपेक्षित है।

३. ६ मास से अधिक समय की बनी मसूरी हीनगुण होने लगती है। अतः निर्माणतिथि देखकर ही प्रयोग करना चाहिये।

४. मसूरी तीव्र प्रकाश, उच्च ताप आदि से भी हीनवीर्य हो जाती है, अतः ठण्ढे एवं अंधेरे स्थान में सुरक्षित मसूरी का ही व्यवहार करना चाहिये।

५. शरीर में आगन्तुक उपद्रव होने पर, यात्रा की स्थिति में, स्त्रियों में मासिक के समय, अधिक परिश्रम करने के बाद, क्लान्त व्यक्ति में, मसूरी का प्रयोग न करना चाहिये।

६. प्रारम्भ में अल्पतम मात्रा दी जाय और क्रम से इस प्रकार बढ़ाया जाय जिससे अधिक प्रतिक्रिया न उत्पन्न हो। जीर्ण रोगों में सप्ताह में दो बार से अधिक न देना चाहिये।

७. मसूरी चिकित्सा के द्वारा अनुकूल परिणाम धीरे-धीरे होता है अतः शीघ्रता में मात्रा को बढ़ाना या औषध परिवर्तन करना अनुपयुक्त होता है।

८. मसूरी के द्वारा शरीर में सक्रिय क्षमता उत्पन्न होती है। अतः क्षमता वृद्धि में सहायक सन्तुलित पोषक आहार-विहार के उपयोग के लिए रोगी को भली प्रकार समझा देना चाहिए।

९. मसूरी-चिकित्सा प्रधान चिकित्सा नहीं है। इसका विशिष्ट उपयोग जीर्ण व्याधियों में होता है। रोग के अनुरूप दूसरी औषधों का प्रयोग तथा आवश्यक होने पर शल्य चिकित्सा का प्रयोग करने में विलम्ब न होना चाहिये।

लसिका

रोगक्षमता के वर्णन में लसिका का व्याधिशामक उपयोग बताया जा चुका है। उत्पन्न व्याधि के विनाश तथा सम्भाव्य व्याधि-प्रतिषेध के लिये सक्षम लसिका का प्रयोग होता है। निम्नलिखित व्याधियों में सक्षमलसिका का प्रयोग होता है। रोहिणी, धनुर्वात और वातकर्दम (Gas gangrene) में प्रतिविष लसिका का प्रयोग; मलाशयी दण्डाणुजन्य उपसर्ग (B. coli infections) में प्रतितृणाण्वीय लसिका; विसर्प, विसूचिका, मस्तिष्क-सुषुम्ना-ज्वर और श्लेमोल्वण सन्निपात तथा दण्डाण्वीय अतिसार इत्यादि में मिश्रित लसिका का प्रयोग; रोमान्तिका एवं शैशवीय अंगघात में सन्निवृत्त लसिका का प्रयोग और रक्तस्रावी व्याधियों में रक्तस्तम्भक लसिका का प्रयोग किया जाता है। सर्पदंश में भी प्रतिविष (Antivenum) लसिका का व्यवहार किया जाता है।

प्रयोग मार्ग—लसिका का प्रयोग पेशी के द्वारा अधिक होता है। आवश्यक होने पर सिरा द्वारा भी देते हैं।

मात्रा—व्याधि की तीव्रता पर इसकी मात्रा निर्भर करती है। सामान्यतया अत्यल्प मात्रा देकर सहनशीलता की परीक्षा करके प्रारम्भ से ही उच्च मात्रा का प्रयोग अधिक

लाभदायक होता है। धनुर्वात एवं रोहिणी में प्रारम्भिक मात्रा २० हजार से १ लाख तक दी जाती है।

परिणाम—लसिका के प्रयोग से रोगी को तुरन्त रोगक्षमता की उपलब्धि होती है, जिससे शरीर में संचित विषों का विनाश होकर रोग की तत्काल लाक्षणिक निवृत्ति होती है। इसलिये लसिका की उपयोगिता अनुमानित होने पर रोग को अधिक बढ़ने न देना चाहिये। तुरन्त पर्याप्त मात्रा में लसिका का प्रयोग प्रारम्भ कर देना चाहिये। रोग के बढ़ जाने पर लसिका के प्रयोग से जीवाणु-विषों का नाश होने पर भी, उनके द्वारा उत्पन्न शारीरिक विकृति का परिष्कार नहीं हो पाता। रोहिणी में अंगघात, हृदयनिपात तथा धनुर्वात में स्तब्धताजनित व्रण मूलव्याधि के ठीक होने पर भी बहुत समय तक कष्ट देते रहते हैं।

लसिकाप्रयोग से अनेक बार गम्भीर असहनशीलता के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। अतः प्रयोग के पहले अधोनिर्दिष्ट आधार पर सावधानी रखनी चाहिये।

१. अनूर्जताजनित व्याधियाँ, यथा—श्वास, शीतपित्त, तृणाणुज्वर, नासापरिस्राव तथा अपरस आदि के बारे में भली प्रकार पूछकर निर्णयात्मक ज्ञान करना चाहिये, क्योंकि इन अनूर्जताजनित व्याधियों स पीड़ित रोगियों में सूक्ष्म वेदनता होती है, अतः इनमें लसिका प्रयोग यथाशक्ति न करना चाहिये।

२. जिन रोगियों को किसी व्याधि की शान्ति के लिये पहले लसिका प्रयोग कराया गया हो उनमें पुनः लसिका देने पर सूक्ष्म वेदनता के लक्षण पैदा हो सकते हैं, अतः पहले कभी लसिका प्रयोग हुआ है, इसका ज्ञान अथवा लसिकासाध्य व्याधियों से पीड़ित होने का इतिवृत्त जानना चाहिए।

३. अधस्त्वचीय एवं पेशी की अपेक्षा सिरान्तर मार्ग से प्रतिक्रिया होने की सम्भावना अधिक होती है।

४. जिन रोगों में बार-बार लसिका देने की आवश्यकता हो, यथा रोहिणी या धनुर्वात, उनमें प्रारम्भ करने के पूर्व नेत्र एवं त्वचा कसौटियों के द्वारा सूक्ष्म वेदनता का निर्णय कर लेना चाहिये।

नेत्र कसौटी—रोगी के नेत्र में १ बूँद लसिका डालने पर ३० मिनट के भीतर कण्डू, अश्रुस्राव और रक्तिमा उत्पन्न होकर सूक्ष्म वेदनता की पुष्टि होती है। यदि एक घण्टे तक कोई नेत्रकष्ट न पैदा हो तो सूचीवेध किया जा सकता है।

त्वक् कसौटी—१ बूँद लसिका अधस्त्वचीय मार्ग से देने पर ५ से २० मिनट के भीतर सूचीवेध के स्थान पर शीतपित्त सदृश चकत्ता उत्पन्न हो जाता है। यदि चकत्ता न उत्पन्न हो तो पूर्ण मात्रा में केवल ऋजु लवण जल (Hypotonic saline) में मिलाकर प्रविष्ट करना चाहिये। सूक्ष्म वेदनता होने पर भी तथा लसिका रोग के प्रतिषेध के लिए आवश्यक होने पर निम्नलिखित क्रम से लसिका का प्रयोग करना चाहिए—

१. रोगी को अल्पतम मात्रा—१ बूद लसिका, १० बूद लवणजल में मिलाकर, अधस्त्वचीय मार्ग से देकर धीरे-धीरे प्रतिक्रिया शान्त होने पर क्रम से १ घण्टे बाद १-१ बूँद बढ़ाना चाहिये। अमिश्र लसिका के प्रयोग से प्रतिक्रिया न उत्पन्न होने पर भी मात्रा बहुत सावधानी से ही बढ़ानी चाहिये।

२. यदि सम्भव हो तो प्रतियोगी संकेन्द्रित लसिका (Globulin antibody concentrate) काम में लाई जाय, इसमें अल्पलसिका में ही अधिक शक्ति होती है तथा इससे लसिका रोग अपेक्षाकृत कम होता है।

३. लसिका रोग में प्रारम्भिक प्रयोग के ७-१० दिन बाद प्रतिक्रिया होती है। अतः जिन रोगों में केवल एकमात्रा प्रयोग से ही चिकित्सा पूर्ण हो जाती हो उनमें भी, आवश्यकता के बिना ही, सात दिन के पूर्व एक बार और लसिका का प्रयोग करना चाहिये। इससे अनवधानता की स्थिति नहीं उत्पन्न होगी।

४. लसिका प्रयोग के पहले २-३ दिन तक निम्नलिखित योग देते रहने से प्रतिक्रिया की सम्भावना कम हो जाती है।

R/

Cal lactate	grs. 10
Ephedrin hydrochlor	gr. $\frac{1}{4}$
Potas citrate	grs. 20
Potas bromipe	grs. 10
Tr. belladonna	ms. 5
Tr. hyoscymus	ms. 10
Syrup calcii hypophos	ms. 60
Aque dest	Oz. 1

मिश्र १ मात्रा। दिन में ३ बार

इसके अतिरिक्त कामदुग्धा रसायन १॥ माशा की मात्रा में दिन में ३ बार अथवा हरिद्रा खण्ड का १ तोला की मात्रा में दिन में २-३ बार प्रयोग ५-७ दिन पूर्व से करने पर भी लसिका रोग का प्रतिबंधन होता है।

५. सूक्ष्म संवेदनशीलता होने पर भी लसिका अनिवार्य हो तो $\frac{1}{2}$ सी. सी. से १ सी. सी. तक एड्रिनेलिन (Adrenaline) लसिका में मिलाकर देने से विकारोत्पत्ति नहीं होती।

लसिका रोग:—

लसिका का चिकित्सा में उपयोग करते समय विजातीय प्रोभूजिनों की प्रतिक्रिया के समान असात्म्यता या असहनशीलता के लक्षण उत्पन्न होते हैं, इसे लसिका रोग कहते हैं।

सूक्ष्म संवेदनशील व्यक्तियों में ऊपर बताये हुये नियमों का पालन न करते हुये लसिकाप्रयोग होने पर निम्नलिखित दुष्परिणाम होते हैं—

(क) तात्कालिक (Immediate)—जिनमें पहले लसिका का व्यवहार हो चुका है या अनूर्जताजनित व्याधियों से जो पीड़ित हैं उनमें पहले से ही असहनशीलता वर्तमान रहती है। ऐसे रोगियों में औषधप्रयोग के २-४ मिनट बाद से आधे घण्टे के भीतर तक निम्न स्वरूप के भयानक लक्षण होते हैं—

श्वासकृच्छ्र, प्राणावरोध, श्यावाङ्गता, श्लेष्मकलाओं का शोथ, प्रचुर शीतपित्तज विस्फोट, आक्षेप, निपात तथा मूर्च्छा की उत्पत्ति होती है। यद्यपि इस प्रकार के लक्षण बहुत कम होते हैं, किन्तु उत्पन्न हो जाने पर घातक परिणाम (२०% मृत्यु तक) हो सकते हैं।

(ख) त्वरित (Accelerated)—यदि प्रतिक्रिया तत्काल न उत्पन्न होकर २४ घण्टे से ७२ घण्टे के बीच उत्पन्न हो और लक्षण पूर्ववत् मिलें तो उसे भी लसिकाजनित प्रतिक्रिया ही माना जाता है। अतः लसिकाप्रयोग के बाद रोगी को त्वरित प्रतिक्रिया प्रतिषेध के लिये कुछ औषधियाँ पहले से दे देनी चाहिये।

(ग) विलम्बित या सामान्य लसिका रोग (Serum sickness)—लसिकाप्रयोग सिरा द्वारा करने के ६-१४ दिन के भीतर होता है। पहले लसिका प्रयुक्त व्यक्तियों में पुनः प्रयुक्त होने पर, जिस प्रकार प्रतिक्रिया होती है, उसी प्रकार सहज सूक्ष्मवेदी व्यक्तियों में भी एक सप्ताह बाद स्वतः तीव्र प्रतिक्रिया हो सकती है।

लक्षण—हृल्लास, वमन, सन्धिपीडा, सन्धिशोथ, शीतपित्त, ज्वर, लसग्रन्थिशोथ, मूत्राल्पता, शिरःशूल, प्रारम्भ में श्वेतकायाणुओं की वृद्धि किन्तु अन्त में अपकर्ष, मस्तिष्कक्षोभ के लक्षण तथा हृदय की अतालबद्धता और रक्तस्कन्दन की शिथिलता--जिससे रक्तस्रावी प्रवृत्ति बढ़ती है—इत्यादि लक्षण पैदा होते हैं।

चिकित्सा—१. एट्रोपीन (Atropine) $\frac{1}{100}$ ग्रे., एड्रिनेलिन (Adrenaline) $\frac{1}{2}$-१ सी. सी. या एपीनेफ्रिन (Epinephrin) $\frac{1}{2}$-१ सी.सी. मिलाकर तुरन्त पेशीगत सूचीवेध के रूप में।

२. अनूर्जतानाशक (Antihistaminics-Antistin, benadryl. etc.) योग तथा जीवतिक्ति सी के साथ कैलसियम के योगों का पेशीमार्ग से उपयोग प्रथम प्रयोग के आधा घण्टा बाद करना चाहिये।

३. कैल्सियम ग्लूकोनेट (Cal. gluconate c vit C) १०% १० सीसी का सिरा द्वारा प्रयोग नम्बर एक के चार घण्टे बाद करना चाहिए।

४. निपात में बताई हुई व्यवस्था के अनुरूप हृदयोत्तेजक व्यवस्था करनी चाहिये।

परमसूक्ष्मवेदनता (Hypersensitiveness)

बहुत से व्यक्तियों में आहार-विहारगत कुछ विशिष्ट विजातीय प्रोभूजिन द्रव्य सेवन करने पर प्रतिक्रियाजन्य प्रतिकूल परिणाम होते हैं। अण्डे की सफेदी, शंख का कीड़ा, मांस-मछली खाने वाले असंख्य प्राणी हैं। उनको कोई कष्ट नहीं होता। किन्तु कुछ लोगों

को विशिष्ट वस्तु का सेवन करते ही प्रतिक्रिया उत्पन्न हो जाती है। इसे ही परम-सूक्ष्मवेदनता कह सकते हैं। यह प्राणियोंकी वह अवस्था है जो समजाति के सर्वसाधारण व्यक्तियों में कुछ भी प्रतिक्रिया न करने वाले द्रव्यों का सेवन करने से होती है।

लक्षणों की तीव्रता-मृदुता की दृष्टि से असहनशीलता कई वर्गों में विभक्त की जाती है।

१. **वैयक्तिक असहनशीलता** (Idiosyncrasy)—कुछ व्यक्ति प्रकृत्या अनेक द्रव्यों के लिये असहनशील होते हैं। कौन व्यक्ति किस द्रव्य के प्रति असहनशील होगा यह बिना प्रयोग के नहीं जाना जा सकता है। एक ग्रेन क्विनीन का सेवन करने से ही कान में भनभनाहट, बेचैनी, वमन आदि विषैले लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं। किसी भी आहार या औषध के लिये व्यक्ति असहिष्णु हो सकता है, अतः नवीन औषध का प्रयोग करते समय प्रारम्भ अल्प मात्रा से ही करना चाहिये।

२. **अनवधानता** (Anaphylaxis)—रोगक्षमता के समान ही कृत्रिम रूप में कुछ प्रोभूजिन-प्रतिजन द्रव्यों का प्रयोग होने पर शरीर में सूक्ष्म वेदनता उत्पन्न होती है। यदि कुछ समय बाद पुनः उसी द्रव्य का प्रयोग अधिक मात्रा में किया जाय तो लसिका रोग के तात्कालिक लक्षणों के समान तीव्र प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। एक बार अनवधानता उत्पन्न हो जाने पर प्राणी के शरीर में प्रायः जीवन भर यह अनवधानता स्थायी रहती है। यदि उसके शरीर से लसिका लेकर स्वस्थ व्यक्ति के शरीर में प्रविष्ट करायीजाय तो उस स्वस्थ व्यक्ति को भी विशिष्ट द्रव्य के प्रति अनवधानता उत्पन्न होजायगी। किन्तु क्षम लसिका के समान इसका प्रभाव अल्पकाल स्थायी होगा। रक्तरस या रक्त का सिरा द्वारा प्रवेश कराते समय इन बातों पर भी ध्यान रक्खा जाता है। संक्षेप में प्राथमिक मात्रा से असहिष्णु व्यक्ति के शरीर में सूक्ष्मवेदनता और पूर्वापेक्षया अधिक मात्रा के सेवन से अनवधानता के लक्षण उत्पन्न होते हैं। हीनरक्तनिपीड, मांसपेशियों में उद्वेष्टन, रक्तस्राव की प्रवृत्ति, श्वेतकणापकर्ष, उद्दीप्यता (Irritability) श्वासकृच्छ्र तथा निपात सदृश लक्षण अनवधानता होने पर औषध-सेवन के कुछ सेकण्ड बाद ३० मिनट तक हो सकते हैं। कभी-कभी चौबीस घण्टे बाद भी इस प्रकार के लक्षण होते देखे गये हैं। वैयक्तिक असहिष्णुता में असात्म्य वस्तु के अल्प मात्र सेवन से ही विषैले लक्षण उत्पन्न होते हैं। अनवधानता में असात्म्य वस्तु का सेवन करने से सूक्ष्म संवेदनता पैदा होती है किन्तु जब तक पुनः अधिक मात्रा में उसी वस्तु का सेवन न किया जाय तब तक प्रतिक्रिया नहीं उत्पन्न होगी।

चिकित्सा—औषध के रूप में प्रोभूजिन द्रव्यों का प्रयोग करते समय निम्नलिखित बातों का ध्यान रखने से अनवधानता का प्रतिबन्ध हो सकता है।

१. यथाशक्ति प्रोभूजिन द्रव्यों के प्रयोग के पूर्व नेत्र या त्वक् कसौटी द्वारा सहिष्णुता की परीक्षा कर लेनी चाहिये।

२. प्रारम्भिक मात्रा अल्प देकर उत्तरकालीन मात्रा धीरे-धीरे बढ़ानी चाहिये ।

३. लसिका, रक्त या रक्तरस का चिकित्सा में प्रयोग आवश्यक होने पर एक बार प्रयोग करने के बाद एक सप्ताह के भीतर दुबारा लगा देना चाहिये ।

४. अनवधानता के लक्षण उत्पन्न होने पर पूर्ववत् एड्रिनेलिन, एट्रोपीन आदि (पूर्ववर्णित लसिका रोग के समान) का सूचीवेध देना चाहिये ।

अनूर्जता (Allergy)

खाद्य-पेय आदि द्रव्यों से असहिष्णुता होने पर अनूर्जता की अवस्था उत्पन्न होती है। अर्थात् अनूर्जता भी व्यक्तिगत असहनशीलता का ही परिणाम है। अनूर्जता के सम्बन्ध में निम्नलिखित विशेषतायें ध्यान देने योग्य हैं—

१. अनूर्जता में कुलज प्रवृत्ति होती है। इसे सहज प्रकृतिनिष्ठ दुर्बलता कह सकते हैं। यह कुलज प्रवृत्ति अनूर्जता के उत्पन्न करने में सहायक होती है। सन्तति में उसकी अभिव्यक्ति भिन्न-भिन्न अनेक लक्षणों में हो सकती है। यदि माता-पिता नासापरिस्राव या अपरस से पीडित थे तो उनकी सन्तति श्वास से पीडित हो सकती है अर्थात् दोनों की व्याधि में भिन्नता भी हो सकती है ।

२. व्यक्ति के शरीर में रोगक्षमता के समान सक्रिय तथा निष्क्रिय रूप में अनूर्जता की उत्पत्ति की जा सकती है। विषम मात्रा में असात्म्य द्रव्यों का सेवन करने से अनूर्जता उत्पन्न हो सकती है तथा क्रमवृद्धि से असात्म्य द्रव्यों का सेवन करने से सक्रिय क्षमता के समान सात्म्यता बढ़ सकती है ।

३. सभी अनूर्ज व्यक्तियों में अनूर्जता के लक्षण समान नहीं होते। अधिकांश में विकार एक स्थान में ही केन्द्रित रहता है। जैसे अनवधानता में व्यापक परिणाम होते हैं, वैसे अनूर्जता में नहीं होते। एक ही व्यक्ति में समय-समय पर अनूर्जता के लक्षण भिन्न रूपों में भी मिल सकते हैं।

४. प्रतिक्रिया होने पर त्वचा-श्लेष्मलकला में साधारण क्षोभ या शोथ के लक्षण उत्पन्न होते हैं ।

५. त्वचा, श्वसनमार्ग, महास्रोत मार्ग से या सूचीवेध के द्वारा असात्म्य द्रव्यों का शरीर में प्रवेश होने पर प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। वसन्त तथा शरद् ऋतु में इसका प्रकोप अधिक होता है ।

अनूर्जतामूलक व्याधियाँ—

सम्पर्कजन्य त्वक्शोथ, शीतपित्त, अपरस, नासापरिस्राव या क्षवथु, तृणगन्धज्वर, श्वास और लसिका-औषध तथा आहार द्वारा उत्पन्न अनूर्जता इस श्रेणी की प्रमुख व्याधियाँ हैं। इस श्रेणी के व्यक्ति में समय-समय पर अनूर्जता जन्य व्याधियों का आवर्तन

होता रहता है। जो व्यक्ति अपरस से पीड़ित हो वह उससे निवृत्त होने पर श्वास से पीड़ित होते देखा जाता है।

अनूर्जता-वर्धन—

१. जान्तव वस्त्रों का–गिलहरी की रोयेंदार खाल रेयन, रबर आदि के विभिन्न उपयोग; पक्षियों के पंखों का गद्दा–तकिया; ऊन आदि का प्रयोग; जन्तुओं—यथा बिल्ली–कुत्ता–गिलहरी–घोड़ा के साथ सम्पर्क—इन सबसे अनूर्जता की वृद्धि होती है।

२. कुलज प्रवृत्ति—अनूर्जतारूपी असहिष्णुता की कुलज प्रवृत्ति का पहले उल्लेख किया जा चुका है।

३. शीतोष्ण विपर्यय, प्रस्वेदन, धूल तथा धूम्रयुक्त वातावरण में निवास और कुकास–रोमान्तिका–इन्फ्लुएञ्जा इत्यादि से आक्रान्त होने के बाद भी अनूर्जता की वृद्धि होती है।

४. आहार में जीवतिक्तियों की कमी होने पर इसकी वृद्धि होती है।

अनूर्जता की चिकित्सा—

त्वक् कसौटी के द्वारा असात्म्य वस्तु के निर्णय के उपरान्त, अल्पमात्रा में उसका सेवन प्रारम्भ कराना। धीरे-धीरे सात्म्यता उत्पन्न करने से विशिष्ट द्रव्यों के प्रति सहिष्णुता उत्पन्न हो जाती है।

तृतीय अध्याय

चिकित्सा के सिद्धान्त

चिकित्सा का स्वरूप :—प्रतिकर्म द्वारा दोषों एवं दूषित धातुओं की समता चिकित्सा का प्रथम एवं अन्तिम उद्देश्य माना जाता है।[1] दूषित हुए दोषों के प्रभाव से शरीर की विशिष्ट धातुओं की दुष्टि तथा दोषों का स्थान-संश्रय होकर व्याध्युत्पत्ति होने का उल्लेख प्रथम अध्याय में किया जा चुका है। जिस प्रक्रिया के द्वारा उत्पन्न व्याधि का शमन तथा विषम दोषों का प्रकृत्यनुवर्त्तन होता है, वही आदर्श चिकित्सा मानी जाती है। आदर्श चिकित्सा के प्रयोग से व्याधि एवं दोष का शमन होने के अतिरिक्त उसे शारीर-धातुओं के लिए हिततम होना और व्याधि के प्रभाव से उत्पन्न धातुक्षय एवं दौर्बल्य का प्रतिकार करते हुए स्वास्थ्य-अनुवर्त्तक होना भी आवश्यक है। ऐसा न हो कि एक व्याधि का शमन होने के बाद दूसरी व्याधि की उत्पत्ति हो जाय अथवा शरीर सामान्यतया इतर विकारों के लिए उर्वर क्षेत्र बन जाय।[2]

इस प्रकार आदर्श चिकित्सा में निम्नलिखित गुण होना आवश्यक है—

१. विकृत दोष का शमन करते हुए व्याधि का उन्मूलन करना।

२. उत्पन्न व्याधि का शमन करने के अतिरिक्त शारीरिक धातुओं के लिए हिततम होना और किसी विकार को न उत्पन्न करना।

३. दोष एवं व्याधि के प्रभाव से कर्षित शारीर धातुओं का प्रकृत्यनुवर्त्तन करना।

प्रतिकर्म के उल्लिखित उद्देश्यों की सिद्धि के लिए व्यापक चिकित्सा के दो प्रमुख वर्ग किए जाते हैं—दोषप्रत्यनीक तथा व्याधिप्रत्यनीक। दोनों का चरम लक्ष्य एक होने पर भी प्रक्रिया एवं विधान में अन्तर होने के कारण पृथक्-पृथक् वर्गीकरण किया गया है।

दोषप्रत्यनीक चिकित्सा :—व्याधि के बाह्य लक्षणों पर विशेष लक्ष्य न करते हुए, जिस दोष का प्रकोप होने के कारण व्याधि एवं उसके लक्षण उत्पन्न हुए हों उस मूल हेतु का शमन करते हुए दूषित धातुओं को सम स्थिति में लाना, दोषप्रत्यनीक या दोष-विरुद्ध चिकित्सा का मूल आधार है। जिस प्रकार शरीर की किसी शाखा या अङ्ग का छेदन रूप शल्य कर्म करते समय रक्तप्रवाह के अवरोध के लिए सम्बद्ध मूल रक्त-वाहिनी का अवरोध आवश्यक होता है, उसी प्रकार रोगों के शमन के लिए रोगोत्पादक

---

१. 'याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः।
सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तद् भिषजां मतम्॥' (चरक)

२. 'प्रयोगः शमयेद् व्याधिमेकं योऽन्यमुदीरयेत्।
नाऽसौ विशुद्धः शुद्धस्तु शमयेद्यो न कोपयेत्॥' (वा. सू. १३)

मूल दोषों का शमन आवश्यक है। मूल स्रोत के नष्ट हो जाने पर व्याधि के अनुबन्ध के लिए आवश्यक दोष-प्रवाह न मिलने पर कुछ काल बाद व्याधि का स्वतः पूर्ण शमन हो जाता है।

सिद्धान्त की दृष्टि से दोषप्रत्यनीक चिकित्सा सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इसमें कुछ जटिलता होती है। यदि प्रारम्भ से ही मनोयोगपूर्वक इसका अभ्यास किया जाय तो अवश्य सुकर हो जाती है। दोष-विरुद्ध चिकित्सा की पूर्ण सफलता के लिए दोषप्रकोपक कारणों का सम्यक् ज्ञान अनिवार्य है। कौन दोष अपने किस अंश से दूषित हुआ है? दोष का सञ्चय-प्रकोप-स्थान-संश्रय आदि का स्वरूप क्या है? इसके उपरान्त प्रयोज्य भेषज द्रव्य के बारे में भी इसी प्रकार का ज्ञान होना चाहिए। अमुक औषध के रस-गुण आदि का क्या स्वरूप है? ऋतु-देश-काल आदि के प्रभाव से व्याधि एवं औषध दोनों की प्रकृति में कुछ अभिसंस्कार हो सकते हैं, इसका भी ध्यान रखना आवश्यक है। रोग-लक्षणों तथा भेषज द्रव्यों का अनुशीलन-परिशीलन करते रहने पर इस प्रकार का असन्दिग्ध ज्ञान हो सकता है। शीत अंश के प्रकोप से उत्पन्न वातिक विकार में उष्ण गुण युक्त आर्द्रक का प्रयोग हितकर है, किन्तु लघु-सूक्ष्म-चल-विशद-खर आदि अंशों में अन्यतम के प्रकोप से उत्पन्न वातिक विकार में आर्द्रक से लाभ न होगा। कहीं एरण्ड, कहीं गुग्गुल या रसोन का प्रयोग करना होगा और कहीं पर केवल स्नेह से खरता-परुषता का शमन हो जायगा। रूक्ष-शीत, चल-शीत, शीत-रूक्ष या रूक्ष-शीत-चल आदि वायु के एकाधिक अवांशों का युगपत् प्रकोप होने पर भेषज-योजना में अधिक कुशलता की अपेक्षा होती है और स्थूल दृष्टि से परस्पर विरुद्धोपक्रम दोषों (यथा—वायु और श्लेष्मा) का प्रकोप होने पर अथवा त्रिदोषज विकारों में दोषप्रत्यनीक चिकित्सा का सिद्धान्त चिकित्सक के सामने बीजगणित के जटिल प्रश्न के समान आता है। आगे इस विषय का यथास्थल सोदाहरण विवेचन किया जायगा।

इस श्रेणी की चिकित्सा से व्याधियों की तीव्रावस्था में त्वरित लाभ नहीं होता। स्रोत न रहने पर भी पहले का दोषसञ्चय कुछ काल तक रोग का अनुबन्ध रखने में कारण होता है। इसी कारण दोषप्रत्यनीक चिकित्सा की मुख्य उपयोगिता मन्द प्रकोपी चिरकालानुबन्धी एवं जीर्ण विकारों में होती है, व्याधि की तीव्रावस्था में व्याधिप्रत्यनीक चिकित्सा ही अधिक हितावह होती है।

व्याधिप्रत्यनीक चिकित्सा—प्रत्येक व्याधि का प्रधान लक्षण उसका आत्मलिङ्ग होता है। जैसे अतिसार में धातु एवं मलों का अतिसरण, ज्वर में संताप, कास में कसन और प्रमेह में मेहन आदि। इन लक्षणों या औपद्रविक लक्षणों का उग्र स्वरूप होने पर व्याधि के शमनार्थ तत्काल उपचार करना पड़ता है। इसे लाक्षणिक या औपद्रविक चिकित्सा भी कह सकते हैं। परम ज्वर होने पर संताप का शमन करने

के लिए शीतोपचार किया जाता है और विसूचिका या अतिसार में अत्यधिक विरेचन हो जाने पर गंभीर स्थिति के प्रतिकार के लिए सद्यः स्तम्भक व्यवस्था आवश्यक होती है तथा मूर्च्छित रोगी में दोष-दूष्यों का बिना विवेचन किए ही संज्ञास्थापक उपचार किए जाते हैं। इस प्रकार लाक्षणिक रूप में व्याधि का शमन करने वाले प्रतिकर्मों को व्याधिप्रत्यनीक चिकित्सा कहा जाता है। यदि आत्ययिक अवस्था के निवृत्त होने के बाद दोषप्रत्यनीक व्यवस्था का सम्प्रयोग किया जाय तो कोई दोष शेष नहीं रहेगा, अन्यथा दोष का पूरा पाचन एवं शोधन न हो सकने से कालान्तर में पुनः उसी व्याधि का पुनरावर्त्तन या दोष का संचय होने के कारण किसी दूसरी व्याधि का उसके अनुकूल अवसर आने पर प्रकोप हो सकता है।

उक्त विवेचन से दोषप्रत्यनीक व्यवस्था की श्रेष्ठता स्पष्ट हो गई होगी। इस प्रकार के उपचार के लिए रोगाभिधान, संख्या-सम्प्राप्ति तथा दूसरे विशिष्ट लक्षणों या परीक्षणों का विशेष महत्व नहीं है; केवल दोष-दूष्य एवं दूष्यावस्था और अधिष्ठान का परिज्ञान ही आवश्यक होता है।

प्रतिकर्म में पूर्ण सफलता प्राप्त करने के लिए आचार्य वाग्भट्ट ने दूष्य, देश, बल, काल, अनल, प्रकृति, वय, सत्व, सात्म्य तथा आहार एवं रोग की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का सूक्ष्म विवेचन करने क आवश्यकता, दोष तथा औषध-विनिश्चय करते समय, प्रतिपादित की है[1]। इनका संक्षेप में स्पष्टीकरण किया जाता है।

दूष्य—रस-रक्त-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा तथा शुक्र रूप धातुए मुख्यतया तथा धातु-मल, उपधातुयें और मल-मूत्र-पुरीष गौण रूप से दूष्य होते हैं। रस-रक्त एवं मांस की दुष्टि होने पर प्रारम्भिक धातु होने के कारण लंघन-पाचन आदि क्रियाओं से शीघ्र दोष निवृत्ति हो सकती है। किन्तु शुक्र-मज्जा-अस्थि एवं मेद आदि गंभीर धातुओं के दूषित होने पर दूष्य का निराकरण सुकर नहीं होता। अतः दूष्य की भिन्नता होने पर समान मिथ्या आहार-विहारजन्य एवं तुल्यदोषोत्पन्न होने पर भी व्याधि के स्वरूप एवं साध्यासाध्यता में पर्याप्त अन्तर होता है।

देश—देश-विभेद से व्याधियों का स्वरूप तथा ओषधियों का गुणधर्म बहुत बदल जाता है। आनूपदेश कफप्रधान तथा जाङ्गलदेश वातप्रधान होता है। ताप की न्यूनाधिकता के आधार पर उष्ण तथा शीतदेश का एक दूसरा वर्ग होता है। एक देश या जनपद में जो व्याधियाँ प्रधान रूप में उत्पन्न होती हैं, वे इतर देशों में कम या नहीं होतीं; व्याधियों की तीव्रता तथा लक्षणों में भी पर्याप्त भिन्नता मिलती है। स्थानीय व्यक्तियों को उस विशिष्ट जलवायु की अनुकूलता रहने के कारण आगन्तुकों को

---

१. दूष्यं देशं बलं कालमनलं प्रकृतिं वयः।
सत्त्वं सात्म्यं तथाऽऽहारमवस्थाश्च पृथग्विधाः॥
सूक्ष्म-सूक्ष्माः समीक्ष्यैषां दोषौषधनिरूपणे।
यो वर्त्तते चिकित्सायां न स स्खलति जातुचित्॥ (अ. हृ. सू. १२)

कष्ट अधिक होता है। राजस्थान में घी तथा लाल मिर्च का और दक्षिण में इमली का आहार में अधिक प्रयोग किया जाता है। यदि इन जनपदों के निवासी दूसरे प्रान्तों या देशों में जाकर तदनुकूल आहार-विहार-क्रम में परिवर्त्तन नहीं करते तो संग्रहणी, अतिसार, शोफ एवं त्वग्विकार आदि की उत्पत्ति हो सकती है।

काल—अवस्था, ऋतु एवं अहोरात्रादि भेद से दोषों की प्रधानता या स्वाभाविक क्षय-वृद्धि का उल्लेख किया जा चुका है। दोष तथा व्याधि के निरूपण में इसका भली प्रकार विश्लेषण करना चाहिए। देश-काल भेद से ओषधियों का गुण भी बहुत परिवर्तित हो जाता है। बागी तथा जंगली भेद से कैंवाच, मुद्गपर्णी-माषपर्णी आदि का गुण और स्थान भेद से ब्राह्मी-शतावरी-अश्वगंधा आदि का गुण कितना बदल जाता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। जब पंजाब का चना-मटर तथा ईख का रूप दूसरे प्रान्तों में जाकर स्थिर नहीं रह पाता तो रस-गुण-विपाक उससे सूक्ष्म होते हैं, इनमें तो अल्पतम परिवर्त्तन का प्रभाव पड़ता होगा।

बल—दोष-व्याधि तथा रोगी का पृथक्-पृथक् बलाबल निर्णय करने के अनन्तर औषध के बलाबल का अनुसंधान करते हुए उपयुक्त योजना करनी चाहिए।

अग्नि—जाठराग्नि, पञ्चमहाभूताग्नि तथा धात्वग्नि की प्रवरता-हीनता का निर्णय करके भेषज द्रव्य की सुपाच्यता-सुसात्म्यता आदि का पर्यालोचन करना आवश्यक है। रोगी के अत्यधिक क्षीण होने पर भी जाठराग्नि की मंदता के कारण पोषक आहार उपकारक नहीं होता। धात्वग्नि की क्रिया समुचित न होने पर रक्त-मांस-मेदादि विशिष्ट धातुओं के पोषणार्थ प्रयुक्त आहार सुपाचित होने पर भी धातुओं की पुष्टि या वृद्धि नहीं कर पाता। प्रकृति-वय-सत्त्व एवं सात्म्य तथा आहार आदि की व्याधि एवं औषधि निरूपण की विशिष्टता का आवश्यक स्पष्टीकरण किया जा चुका है।

दोष-दूष्य सम्मूर्च्छना से उत्पन्न सूक्ष्म-सूक्ष्म अवस्थाओं का निरन्तर अन्वीक्षण करते रहना आवश्यक है। सहसा इस प्रकार की अवस्था उत्पन्न हो सकती है, जिसमें निर्दिष्ट क्रिया हानिकर हो सकती है और उस व्याधि में हानिकारक उपचार लाभकारक हो सकते हैं।[1] इसलिये सतत पर्यवेक्षण करते रहना आवश्यक है।

सैद्धान्तिक दृष्टि से दोष प्रत्यनीक तथा व्याधि प्रत्यनीक चिकित्सा की विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। उपयोगक्रम के आधार पर कुछ क्रिया भिन्नता होती है—जिसका आगे स्पष्टीकरण किया जा रहा है।

पहले अध्याय में व्यावहारिक सुगमता के लिए साम-निराम तथा जीर्ण भेद से चिकित्सोपयोगी व्याधि की तीन अवस्थाओं का उल्लेख किया गया है। दार्शनिक क्षेत्र में मुख्यतः त्रिवर्गीय भेद पद्धति प्रचलित है। प्रायः सर्वत्र त्रित्व का साम्राज्य दीखता है।

१. उत्पद्यते तु सावस्था देश-काल-बलं प्रति
यस्यां कार्यमकार्यं स्यात् कर्म कार्यं च वर्जितम्। (च. सि. २)

सत्व-रज-तम, उत्पत्ति-स्थिति-विनाश, बाल-युवा तथा वृद्ध आदि। सर्वत्र समान वर्गीकरण होने के कारण बड़ी सुगमता होती है। आयुर्वेद में तो जीवन एवं स्वास्थ्य का आधार तक त्रिपाद (आहार-निद्रा-ब्रह्मचर्य) माना है। अतः व्याधियों के विविध भेद होने पर भी साम-निराम एवं जीर्ण की विशिष्ट महत्ता होती है। वास्तव में यह कोई व्याधि के भेद नहीं हैं, केवल क्रिया-क्रम की दृष्टि से भिन्न परिलक्षित होने वाली अवस्थाएं हैं। जिस प्रकार बाल्य, युवा एवं वृद्धावस्था में व्यक्ति नहीं बदलता किन्तु उसकी आकृति, प्रकृति-बल-पौरुष आदि में पर्याप्त भिन्नता हो जाती है, उसी प्रकार साम, निराम एवं जीर्ण रोग में भी चिकित्सा की दृष्टि से भिन्नता होती है।

दोष-दूष्य सम्मूर्च्छना के समय कुछ काल तक शरीर की सम्पूर्ण क्रियायें अस्त-व्यस्त हो जाती हैं। इस अवस्था में रोग के निराकरण की चेष्टा न करके इस अव्यवस्था का संस्कार आवश्यक होता है। जिस प्रकार सिर या किसी मर्म पर आघात लगने पर सर्वप्रथम रोगी कुछ समय के लिए मूर्च्छित हो जाता है। कुछ काल बाद सचेतन होने पर आघात के स्थानीय परिणामों (वेदना-व्रण-अस्थिभङ्ग आदि) का अनुभव होता है। उसी प्रकार रोग के आरम्भ में शारीर-क्रियाओं में अव्यवस्था या शिथिलता होने से आमावस्था के लक्षण उत्पन्न होते हैं। शरीर की प्रतिकारक शक्ति एवं बल मुख्य रूप से पित्त एव पित्तजन्य रक्त में निहित होता है। रोगाक्रमण के बाद पित्त का प्रमुख कार्य दोष-पाचन एव व्याधि का प्रतिकार होता है। इसीलिए व्याधि के प्रतिकारार्थ अपनी उग्रता व्यक्त करने के लिए अपनी सारी सञ्चित शक्ति को व्याधि-संघर्ष में प्रयुक्त करने के लिए सन्ताप एवं ज्वर के रूप में पित्त प्रकट होता है। मर्यादित रहने पर ज्वर के शमन का उपचार आवश्यक नहीं होता। वह दोष का पाचन-शमन होने पर स्वतः शान्त हो जाता है।

पित्त के ऊष्म रूप में परिवर्तित होने पर जाठराग्नि के अल्पबल होने के कारण आहार का सम्यक् परिपाक नहीं होता। आमाशयगत अपरिपक्व आहाररस की ही आम संज्ञा है। आम रस से युक्त अवस्था को साम कहा जाता है। यह सामता व्याधि एवं दोष के लिए कवच का कार्य करती है। समता की वृद्धि का परिणाम पित्त तथा शारीरिक प्रतिकारक शक्ति के ह्रास और दोष-व्याधिबल एवं उनकी सुरक्षा की वृद्धि के रूप में होता है। जब तक सामता का यह आवरण नष्ट न कर दिया जाय, व्याधिजनक दोष का शमन या शोधन सभव न होगा।

औषधि का मुख्यतया मुख द्वारा प्रयोग होता है। आमाशय में आमांश का संचय होने के कारण औषधि का उपयुक्त विपाक न होने से कोई विशेष प्रभाव नहीं होता। इसी कारण आरंभिक २-४ दिनों तक व्याधिशामक या शोधक किसी प्रकार की औषध के प्रयोग का निषेध किया जाता है।

दोषों की प्रकृति के अनुरूप सामता की यह मर्यादा न्यूनाधिक होती है। अग्नि, वायु

एवं आकाश तत्व की प्रधानता वाले वायु एवं पित्त की सामता क्रम से ३ तथा ५ दिन में शान्त होती हैं। पिच्छिल, गुरु, मधुर आदि स्थूलताकर गुणों की विशेषता तथा पृथ्वी एवं जल तत्व की प्रधानता वाले श्लेष्मा की सामता का पाचन ७-८ दिन के पहले नहीं हो पाता। आमदोष तथा श्लेष्मा की सजातीयता होने के कारण 'वृद्धिः समानैः सर्वेषाम्' इस सिद्धान्त के अनुसार कुछ अधिक समय लग सकता है। यह मर्यादा व्याधि की प्रकृति तथा रोगी की प्रकृति, देश-काल, आयु, अग्नि, आहार आदि के आधार पर घटती-बढ़ती रहती है।

उक्त वर्णन से व्याधि की आमावस्था में आहार के निषेध का औचित्य स्पष्ट हो गया होगा। जब तक व्याधित पूर्ण रूप से रोगमुक्त न हो जाय, तबतक पोषक आहार का प्रयोग नहीं किया जाता। रोगमुक्ति के बाद पोषक आहार-विहार-औषध की व्यवस्था की जाती है। इस प्रकार चिकित्सा के दो वर्ग सामने आते हैं—

(१) लंघन या अपतर्पण चिकित्सा।

(२) बृंहण या संतर्पण चिकित्सा।

प्रथम का सम्बन्ध रोग के निराकरण तथा रुग्णावस्था में संचित शारीर दोषों का निर्हरण करने से है। दूसरे का प्रमुख गुण शरीर को स्वस्थ रखने तथा रुग्ण होने पर व्याधि से मुक्ति मिलने के बाद, व्याधि तथा दोष के संघर्ष के कारण उत्पन्न शारीरिक दुर्बलता के निराकरण, बल-संजनन एवं शरीर की सर्वांग-भाव से पुष्टि है। बहुत सी व्याधियाँ केवल हीन पोषण तथा अपर्याप्त आहार के कारण उत्पन्न होती हैं। इस श्रेणी की व्याधियों में प्रारंभ से ही संतर्पण कराना आवश्यक होता है—इनकी चिकित्सा ही पोषण है।

यहाँ पर संतर्पण या बृंहण का संक्षिप्त वर्णन किया जाता है। बृंहण क्रिया में औषध की अपेक्षा आहार-विहार तथा मानसिक तुष्टिकारक भावों का बहुत महत्त्व होता है। बृंहण की योजना प्रायः लंघन के उपरान्त की जाती है।

बृंहण के अधिकारी—

जीर्ण व्याधियों से कर्षित, सुलंघित, तीव्रवीर्य वाली ओषधियों का सेवन करने के उपरान्त, मद्यपान, ग्राम्यधर्म, चिन्ता, श्रम एवं प्रवास के कारण रूक्ष-अशक्त एवं निर्बल शरीर वाले व्यक्ति, क्षय एवं वात व्याधि से पीड़ित व्यक्ति, सगर्भा और प्रसूता स्त्री, बालक तथा वृद्ध बृंहण चिकित्सा के विशिष्ट अधिकारी माने जाते हैं। इस प्रकार के व्यक्तियों को लंघनसाध्य ज्वर-आमवात इत्यादि विकार होने पर भी अल्पमात्रा में संतर्पणप्रधान ओषधियों की योजना करनी चाहिये। ग्रीष्मऋतु में लंघन कराने से वातप्रकोप अधिक होता है, अतः अधिक लंघन न कराकर संतर्पण का क्रमिक प्रयोग करना चाहिये।

सुबृंहित के लक्षण—शरीर की सर्वतोभावेन पुष्टि, बलवृद्धि, उत्साह, कान्ति इत्यादि की प्रबलता, संक्षेप में साधारण स्थिति से रोगी का स्वास्थ्य बहुत उत्तम हो जाता है।

क्षय, क्षत-क्षीण, व्यायाम-शोषी इत्यादि के लिये बृंहण चिकित्सा अमृत है। इसका उचित प्रयोग होने पर शरीर पूर्वापेक्षा बल-वीर्य-ओज से अधिक परिपूर्ण हो जाता है।

बृंहण के द्रव्य—गुरु, शीत, मृदु, घन, स्निग्ध, मन्द, स्थिर, श्लक्ष्ण, मधुर, अम्ल, स्थूल, पिच्छिल इत्यादि कफवर्धक पोषक द्रव्य शरीर का बृंहण करते हैं। घृत-मिष्टान्न, मांसरस, दुग्ध, विश्राम, निद्रा, सुखी-शान्त एवं संतुष्ट जीवन के द्वारा धातुओं की पुष्टि होती है। गेहूँ, उड़द तथा जीवनीय गणोक्त ओषधियाँ संतर्पणकारक होती हैं। वातप्रधान तथा वात-पित्त-प्रधान व्याधियों में बृंहण का विशेष फल दिखाई पड़ता है।

अत्यधिक सन्तर्पण के परिणाम—स्थूलता, मेदोवृद्धि, प्रमेह, उदर, भगन्दर, अपची, आमवात, कुष्ठ,ज्वर, कास, श्वास इत्यादि कफप्रधान व्याधियाँ अत्यधिक बृंहण से पैदा होती हैं। शरीर में दैनिक उपयोग से अधिक पोषक आहार की मात्रा हो जाने पर उदर, त्वचा, यकृत आदि अंगों में संचय होता है। अत्यधिक संतर्पण होने पर सभी धातुओं की मात्रा स्वाभाविक सीमा से अधिक हो जाती है, जिससे अंग-प्रत्यंग की गति में शिथिलता आ जाती है, शरीर स्थूल हो जाता है। परिणामस्वरूप शरीर में अग्निमांद्य होकर आमांश का संचय होता है। अतः संतर्पण कराते समय अतियोग न हो जाय ऐसा ध्यान रखना चाहिये। संतर्पण का मुख्य सिद्धान्त है 'वृद्धिः समानैः सर्वेषाम्' अर्थात् समानजातीय द्रव्यों के उपयोग से धातुओं की वृद्धि होती है। शरीर में रक्त का क्षय होने पर रक्तसजातीय द्रव्य, मांस का क्षय होने पर मांसजातीय एवं अस्थि का क्षय होने पर अस्थिजातीय या अस्थि के मूलघटकों से युक्त द्रव्यों का उपयोग करने से क्षय की पूर्ति होती है। एक धातु का क्षय होने पर दूसरी धातु पर भी उसका प्रभाव होता है। उसी प्रकार एक धातु की वृद्धि होने पर दूसरी धातु का भी कुछ पोषण होता है। किन्तु धातुओं का नवनिर्माण सजातीय द्रव्यों के व्यवहार से ही होता है। शरीर में रस एवं मांस का क्षय हो जाने पर स्नेहभूयिष्ठ मेदवर्धक द्रव्यों के सेवन से अधिक लाभ नहीं होता। शरीर बाहर से स्निग्ध एवं पुष्ट परिलक्षित होनेपर भी रक्त एवं मांस की दृष्टि से हीनबल ही होता है। इसलिए विशेष धातु या अंग का क्षय होने या उसकी पुष्टि या वृद्धि की विशेष अपेक्षा होने पर समान वर्ग के द्रव्य या औषध का अभ्यास करना चाहिए।

लंघन चिकित्सा—

जिन उपक्रमों से शरीर में लघुता, स्वच्छता एवं प्रसन्नता का अनुभव होता है, उन्हें लंघन कहते हैं।[1] रोग की सामावस्था में गुरुता, अवसाद, क्लान्ति, शैथिल्य, अरुचि, लालाप्रसेक, स्तब्धता आदि लक्षणों की प्रधानता रहती है। इस अवस्था में गुरुता-अवसादादि लक्षणों का निराकरण अर्थात् लघुता की उत्पत्ति करने वाले आमांश-पाचन-कारक औषध तथा विहार की योजना की जाती है। लाघवकर उपक्रमों में अग्नि, वायु

---

१. 'यत्किंचिल्लाघवकरं देहे तल्लंघनं स्मृतम्'। चरक

तथा आकाशीय तत्वों की प्रधानता होती है। अतः इसके प्रयोग से शरीर में लघुता, क्षीणता, प्रसन्नता एवं दुर्बलता की उत्पत्ति होती है। इसी कारण लंघन या अपतर्पण कराने के बाद संतर्पण आवश्यक होता है।

लंघनकारक औषधान्न विहार—सूक्ष्म, रूक्ष, लघु, उष्ण, विशद, तीक्ष्ण, खर, सर, चल तथा कठिन गुणों से युक्त द्रव्य लंघनकारक होते हैं। कुलत्थ, बाजरा, चना, जौ, साँवा, कोदो, सत्तू, मूँग आदि रूक्ष अन्न; परवर, करेला, खेखसा आदि कटु-तिक्त-रस-प्रधान तरकारियाँ; गोमूत्र, मधु, छाछ, आदि अपतर्पक पदार्थ; बृहत् पंचमूल, त्रिफला, त्रिकटु, पंचकोल, गुग्गुलु, शिलाजतु, गुडूची आदि कफ तथा मेद का शोषण करने वाली ओषधियाँ; प्रजागरण, चिन्ता, व्यायाम, अनशन, तृषा-निग्रह, आतप-सेवन, वायु-सेवन आदि विहार लंघनकारक माने जाते हैं। लंघन की उपयोगिता निर्दिष्ट होने पर व्याधित के दूष्य-देश-काल-प्रकृत्यादि का परीक्षण करके यथोचित योजना करनी चाहिए।

लंघन-चिकित्सा के अधिकारी—मेदोवृद्धि, प्रमेह, आमवात, अतिसार, प्रवाहिका, ग्रहणी, अतिस्निग्धता, शोफ, कुष्ठ, विसर्प, विद्रधि, श्लीपद, ऊरुस्तम्भ, तरुण ज्वर, प्रतिश्याय, प्लीहोदर तथा कण्ठ-नेत्र और मस्तिष्क के विकारों से पीड़ित व्यक्ति को लंघन-चिकित्सा लाभप्रद होती है। स्थूल शरीर वाले रोगियों को सामान्यतया लंघन हिततम होता है। हेमन्त तथा शिशिर ऋतु के अतिरिक्त सभी ऋतुओं में आवश्यकतानुसार लंघन कराना चाहिये।

लंघन का निषेध—निराम वातज्वर, क्षयानुबंधी ज्वर, श्रम तथा मुखशोष-पीड़ित जीर्ण ज्वर तथा आगन्तुक ज्वराक्रान्त रोगियों में लंघन न कराना चाहिये। बाल-वृद्ध-गर्भिणी तथा सुकुमार प्रकृति वाले दुर्बल रोगियों में भी लंघन का निषेध किया जाता है। काम-क्रोध-श्रम-यात्रा जनित तथा शोकज विकारों में लंघन लाभ नहीं करता।

लंघन का परिणाम—गुरुता-तन्द्रा तथा अवसाद का नाश, दोष तथा व्याधि का शमन, असह्य क्षुधा तथा पिपासा की प्रवृत्ति, इन्द्रियों के बल तथा उत्साह की वृद्धि, प्रस्वेद-ऊर्ध्व-अधोवायु और मल-मूत्र की शुद्धि, गात्रलघुता, अन्तरात्मा की निर्व्यथता, स्वच्छता एवं प्रसन्नता तथा क्षीणता का अनुभव उचित मात्रा में लंघन कराने से होता है।

अतियोगजन्य परिणाम—तृष्णा, चक्कर तथा कृशता की अत्यधिक वृद्धि, शुष्क कास, अरुचि, अत्यधिक दौर्बल्य का अनुभव, निद्रानाश, इन्द्रियों की दुर्बलता, शारीरिक स्निग्धता-शुक्र-ओज तथा क्षुधा का नाश या हीनता, हृदय-मस्तक-बस्तिप्रदेश-पार्श्व-जंघा-ऊरु और कटि में ऐंठन या पीडा; उदर में अपान वायु का अवरोध; ज्वर तथा प्रलाप की वृद्धि; ग्लानि-हृल्लास तथा वमन, मल-मूत्रावरोध, संधियों-अस्थियों तथा विशेषतया शाखाओं में उद्वेष्टन या दण्डाहत की सी वेदना आदि वातिक विकार लंघन का अतियोग होने पर उत्पन्न होते हैं।

इन परिणामों के शमन के लिये संतर्पक आहार-विहार एवं औषधियों का प्रयोग व्याध्यवस्था का विचार करके करना चाहिये।

अतियोग-प्रतिकार के सामान्य नियम—

१. वात-पित्त प्रकृति वाले दुर्बल शरीर के रोगियों में लंघन बहुत सावधानीपूर्वक कराना चाहिए। बालक, वृद्ध तथा गर्भिणी स्त्री लंघनार्ह नहीं होतीं। इनकी चिकित्सा मृदु लंघनोपचार तथा सुपाच्य लघु दीपक आहार की व्यवस्था करके करनी चाहिये।

२. स्थूल एवं मेदस्वी व्यक्ति तथा कफ एवं आमांशप्रधान व्याधियों में प्रौढ लंघनयोजना करनी चाहिए।

३. मध्य शरीर वाले रोगियों में, विशेषकर ज्वराक्रान्त अवस्था में, प्रारंभ में दीपन-पाचन कराकर आवश्यक होने पर अन्त में संशोधन कराना चाहिए।

४. हीन बल वाले रोगियों तथा अल्प श्लेष्म-पित्तयुक्त व्याधियों में केवल तृषा-क्षुधा-निग्रहरूप लंघन कराना चाहिए।

५. त्वक्-रक्तसार एवं कोमल शरीर वाले व्यक्ति लंघनसह नहीं होते।

६. लंघन चिकित्सा के समय सावधानीपूर्वक आमांश के पाचन के चिह्न परिलक्षित करना तथा लघुता का अनुभव होने पर मृदु संतर्पक आहार-विहार की योजना करनी चाहिए।

लंघन के भेद—लंघन चिकित्सा के शोधन तथा शमन दो प्रमुख भेद होते हैं। शोधन चिकित्सा को दोषप्रत्यनीक तथा शमन चिकित्सा को व्याधिप्रत्यनीक चिकित्सा के अर्थ में कुछ अंशों तक लिया जा सकता है।

शोधन चिकित्सा—शारीरिक दोषों की विषमता से उत्पन्न, दोष-दूष्य-संमूर्च्छना से उत्पन्न तथा औपसर्गिक विकारों में उपसर्गजनित विजातीय विषाक्त द्रव्यों को शरीर से बाहर निकाल कर शरीरकोषाओं—धातुसमूहों को स्वच्छ तथा परिशोधित करने वाले उपक्रमों को संशोधन चिकित्सा कहा जाता है। शमन चिकित्सा में केवल विषम दोषों एवं उग्र लक्षणों को शान्त किया जाता है। विकृतिजन्य मलों का निराकरण न हो सकने के कारण संशामक चिकित्सा से पूर्ण लाभ नहीं होता। व्याधि का निर्मूलन करने के कारण शोधन चिकित्सा सर्वोत्तम मानी जाती है।[1] जिन रोगियों में शोधन संभव नहीं होता, उन्हीं में संशमन का आश्रय लिया जाता है। संशोधन चिकित्सा का विस्तृत वर्णन आगे किया जायगा।

शमन चिकित्सा—शारीरिक धातुओं की समता में बिना बाधा पहुँचाये, केवल विषम दोषों का शमन करते हुये व्याधि की निवृत्ति करना शमन चिकित्सा का मुख्य गुण माना जाता है। रोगों की प्रारम्भिक अवस्था में जब आमदोष सारे शरीर में प्रसरित

---

१. 'दोषाः कदाचित् कुप्यन्ति जिता लंघनपाचनैः।
ये तु संशोधनैः शुद्धा न तेषां पुनरुद्भवः॥' चरक

होकर रस-रक्तादि धातुओं में लीन रहता है, तब शोधन चिकित्सा द्वारा बलपूर्वक उसे बाहर नहीं निकाला जा सकता। आमाशय या पक्वाशय आदि वमन-विरेचन-वस्तिसाध्य अंगों में सञ्चित स्थानीय दोष ही शोधन द्वारा निकल सकता है। पाकोन्मुख विद्रधि में जब तक पाचन प्रयोगों से सामावस्था का पाचन होकर पूय केंद्रित न हो जाय, तब तक शोधनार्थ शस्त्रकर्म करने से पूय न निकल कर उलटे कष्ट बढ़ जायगा। ठीक यही स्थिति शमन तथा शोधन की है। सैद्धान्तिक दृष्टि से संशोधन श्रेष्ठ होने पर भी आमयुक्त विकारों की तीव्रावस्था में शमन का ही सहारा लेना पड़ता है। इस प्रकार चिकित्सकों को तीव्र व्याधियों में संशामकोपचार ही यश देते हैं, रोग का निर्मूलन करने के लिए संशोधक चिकित्सा का महत्त्व तो है ही।

संशमन के भेद—

पाचन, दीपन, क्षुधानिग्रह, तृषानिग्रह, व्यायाम, आतप-सेवन तथा वायु का सेवन—शमन के यह ७ अंग होते हैं। पाचन-दीपन आदि सभी संशामक कर्म लंघन के अंग हैं, किन्तु सर्वत्र सभी का उपयोग नहीं किया जाता। व्यायाम तथा वातातप-सेवन ऊरुस्तम्भ या तत्सदृश दूसरी व्याधियों में हितकर होगा, किन्तु आमज्वरों में पाचन दीपन क्षुधा-तृषानिग्रह से ही लाभ होगा—व्यायामादिक से हानि होगी।

पाचन—आमाशय में स्थित आम दोष तथा रोगोत्पादक दोष का निर्विषीकरण पाचन है। पाचन के प्रभाव से दोष की उग्रता का शमन होता है तथा शोधन साध्य रूप में उसका अवस्थान्तर हो जाता है। अल्पमात्रा में उष्णोदक बार-बार पीते रहने से पाचन में बहुत सहायता मिलती है। अनशन भी पाचन का ही एक अंग है। उष्णोदक पान तथा अनशन से पित्त की वृद्धि होकर आमांश का पाचन होता है और स्वेदप्रवृत्ति तथा मल-मूत्र का शोधन होकर दोषों का बिलयन तथा निर्हरण भी कुछ मात्रा में हो जाता है। पाचन क्रिया का प्रमुख केन्द्र पक्वाशय होता है। विशिष्ट व्याधियों तथा दोषों के पाचन में सहायता देने वाली ओषधियों का उल्लेख यथास्थल किया जायगा।

दीपन—अग्नि को प्रदीप्त करने वाले उपक्रमों को दीपन कहते हैं। जाठराग्नि के बढ़ जाने से सञ्चित आमांश का पाचन तथा नूतन आमांश का निरोध हो जाने पर व्याधि एवं दोषों का स्वतः शमन होने लगता है। दीपन ओषधियों का कार्यक्षेत्र मुख्यतया आमाशय होता है।

क्षुधा-तृषा-निग्रह—जाठराग्नि की मन्दता के कारण अनशन की आवश्यकता का उल्लेख किया जा चुका है। अधिक जल पीने से भी आमाशयस्थ पित्त की तरलता बढ़कर कार्यशक्ति का ह्रास होता है। अतः तृष्णा के शमन के लिए शीतल जल का सेवन न करना चाहिए। कदुष्ण जल थोड़ी-थोड़ी मात्रा में लेते रहने पर यद्यपि तृष्णा का शमन नहीं होता किन्तु दीपन-पाचन में सहायता मिलती है।

व्यायाम—प्रमेह, मेदोवृद्धि एवं अतिस्निग्धता आदि विकारों में शाखाओं तथा सन्ध्यस्थियों आदि गम्भीर अंगों में आमांश एवं दोष का सञ्चय होने के कारण केवल दीपन-पाचन क्षुधा-तृषानिग्रह से लाभ नहीं होता। जीर्ण आमांश वाले रोगों में रोगी की सह्य मर्यादा के अनुकूल व्यायाम की योजना करनी चाहिए। आमवात एवं पुराण आमातिसार के रोगियों में व्यायाम से बहुत लाभ होता है। व्यायाम का स्वरूप तथा मात्रा आदि का निर्धारण रोग की प्रकृति तथा व्याधित की सामर्थ्य के अनुपात में नियत किया जाना चाहिए।

वातातप सेवन—खुली वायु तथा आतप का सेवन शरीर में सञ्चित आमांश का द्रावण करने में सहायक होता है। रस-रक्त-मांस-मेदादि का पूर्ण परिपक्व शुद्ध (Saturated) रूप वातातप सेवन से उत्पन्न होता है। मेदोवृद्धि, प्रमेह एवं अग्निमांद्यादि विकारों में इस लाघवकारक उपक्रम से विशेष लाभ होता है।

यहाँ पर संशमन चिकित्सा के मूल सिद्धान्तों का आधार बताया गया है। व्यवहार में शमनार्थ औषध-प्रयोग करते समय इनका ध्यान रखना चाहिए। आगे शोधन-चिकित्सा का व्यावहारिक रूप स्पष्ट किया जा रहा है।

शोधन-चिकित्सा

इसके पूर्व रोगों में संशमन-चिकित्सा की उपयोगिता का निर्देश किया जा चुका है। शरीर में दोषों का अधिक सञ्चय होने पर पाचन या संशामक चिकित्सा के प्रयोग से दोषों की पूर्ण शान्ति और रोग का समूलोन्मूलन नहीं होता है। लंघन-पाचन के द्वारा शान्त हुये दोष निर्मूल न होने के कारण मिथ्याहार-विहारजन्य अनुकूल परिस्थिति आने पर पुनः रोगोत्पत्ति कर सकते हैं। किन्तु संशोधन-व्यवस्था के द्वारा दोषों का पूर्ण निर्हरण हो जाने पर व्याधि के पुनरुद्भव की सम्भावना नहीं रहती है। यहाँ पर संशोधन चिकित्सा का प्रयोग-क्रम स्पष्ट किया जायगा।

वमन, विरेचन और वस्ति को मुख्य संशोधन तथा रक्तावसेचन, नस्य, धूम्रपान, शिरोविरेचन आदि को गौण कर्म माना जाता है। स्नेहन और स्वेदन शोधन चिकित्सा में अनिवार्य पूर्वकर्म हैं। बिना इनके प्रयोग के संशोधन चिकित्सा के द्वारा पूर्ण लाभ नहीं होता। स्नेहन-स्वेदन का विना प्रयोग किये संशोधन करने पर शरीर की धातुओं का क्षय होकर उपचार की व्यर्थता हो जाती है। जिस प्रकार किसी लकड़ी को इच्छित रूप देने के लिये स्नेहम-स्वेदन के द्वारा मुलायम कर मोड़ना होता है, अथवा किसी औषध का विष निकालते समय स्वेदन अनिवार्य होता है, उसी प्रकार शरीर के दोषों को निकालने के लिये स्नेहन-स्वेदन अपेक्षित हैं।

स्नेहन

स्नेहन द्रव्य—शास्त्रों में स्नेहन के लिये स्थावर-जंगम भेद से घृत, वसा, मज्जा और तैल के प्रयोग का विधान है। किन्तु व्यवहार में औषधसिद्ध घृतों का प्रयोग

स्नेहन कार्य के लिये सर्वाधिक होता है। कुछ वातप्रधान व्याधियों में तैल का प्रयोग भी किया जाता है। घृतों में गोघृत, तैलों में तिलतैल और स्निग्ध विरेचन के लिये एरण्डतैल उत्तम माना जाता है। गोघृत में अनेक गुणों के साथ संस्कारानुवर्तन एक महत्त्व का गुण है अर्थात् जिन द्रव्यों का संस्कार घी के साथ किया जाय उन सबका गुण उसमें आ जायगा। घृत अपने स्नेह गुण से वायु को, माधुर्य और शैत्य से पित्त को तथा कफघ्न औषधों से संस्कारित होने पर श्लेष्मा का संशमन करता है। रस, शुक्र और ओज के लिये पोषक होने के कारण घृत वृष्य माना जाता है। तैल वातशामक, कफवर्धक, बलकारक, त्वचा के लिये उपयोगी तथा शरीर को दृढ़ बनाने वाला है।[1]

किसी अङ्ग में गहराई तक पहुँचने के लिये स्नेहन का मार्ग सर्वोत्तम माध्यम होता है। घृत में अपने गुण के साथ ही संस्कारक ओषधियों के गुण पूर्ण रूप में विद्यमान रहते हैं, जो शरीर के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयवों में घृत के साथ व्याप्त हो जाते हैं। संस्कारक द्रव्यों के मौलिक गुणों को स्वाभाविक रूप में संवाहित करने के कारण घृत का स्नेहपान के रूप में प्रमुख उपयोग होता है। चित्रक, शुण्ठी इत्यादि उष्ण-रूक्ष गुण विशिष्ट द्रव्यों के साथ संस्कारित होने पर भी घृत अपने शैत्य-स्निग्धता इत्यादि गुणों से संयोजित द्रव्यों के उष्ण-रूक्षादि गुणों को न तो नष्ट करता है और न अपने ही गुणों को छोड़ता है। इसीलिये विरुद्ध रस-गुण-वीर्यादि की विविध ओषधियों का गुणाधान अपने स्वाभाविक रूप में घृतयोगों में सुरक्षित रहता है जो शरीर की प्रत्येक कोषा में—निगूढ़ अङ्गों में—स्नेहन के माध्यम से पहुँच कर सञ्चित दोषों के निर्लेखन और शोधन में उपकारक होता है। तैलों में संस्कारानुवर्तित्व गुण घृत की तुलना में न्यून होने के कारण ओषधियों के माध्यम रूप में वह कम प्रयुक्त होता है।

स्नेहन की उपयोगिता—जीर्ण व्याधियों में शरीर की प्रत्येक कोषा में विकारकारक दोषों का सञ्चय होता है। इन पर किसी भी औषध का व्यापक रूप में प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं हो पाता। गम्भीर अङ्गों में अत्यन्त सूक्ष्म स्रोतसों के भीतर दृढ़ता के साथ चिपककर बैठे हुये इन दूषित मलों एवं दोषों या विषों को निकालने के पहले मृदु करना, जिससे क्लिन्न होकर दोष उस स्थान से सुविधापूर्वक निकल सकें, यही स्नेहन का मुख्य उपयोग है। किसी यन्त्र में सञ्चित हुये मलांश को निकालने के लिये स्नेहन प्रयोग के द्वारा पहले उसे मृदु कर लिया जाता है तभी शोधन द्रव्यों के प्रयोग से सञ्चित मल यन्त्र के भीतरी भागों से बाहर निकल सकता है।[2] इसीलिये प्रत्येक शोधन कर्म के पूर्व स्नेहन विधि प्रयुक्त की जाती है। स्नेह में दूषित द्रव्यों को मृदु करने तथा अपने में मिला लेने की

---

१. 'रूक्षक्षतविषार्त्तानां वातपित्तविकारिणाम्। हीनमेधास्मृतीनाञ्च सर्पिष्पानं प्रशस्यते॥
क्रिमिकोष्ठानिलाविष्टाः प्रवृद्धकफमेदसः। पिबेयुः तैलसात्म्याश्च तैलं दार्ढ्यार्थिनश्च ये॥'
(यो० र० स०)

२. 'स्नेहक्लिन्नाः कोष्ठगा धातुगा वा स्रोतोलीना ये च शाखास्थिसंस्थाः।
दोषाः स्वेदैस्तैः द्रवीकृत्य कोष्ठं नीताः सम्यक् शुद्धिभिर्निह्रियन्ते॥' (चिकित्सातिलक)

सामर्थ्य होती है। जो द्रव्य जल में घुलनशील न हों, वे स्नेह में विना घुले हुये भी स्निग्धता के कारण चिपके रहते हैं, अतः शरीर की गम्भीर धातुओं-सूक्ष्म स्रोतसों-कोषाओं आदि में अपनी प्रवेश्य सामर्थ्य तथा दोषों को आत्मसात् या आवृत करने की शक्ति के कारण स्नेहन शोधन चिकित्सा की पहली सीढ़ी माना जाता है। स्नेहन के साथ सम्पृक्त दोष स्वेदन प्रक्रिया से पिघलकर सूक्ष्म स्रोतसों से महास्रोत में आ जाते हैं, जहाँ से वमन-विरेचन आदि के द्वारा उनका निराकरण सुकर हो जाता है।

स्नेहन के अधिकारी—

घृतप्रयोग—रूक्ष क्षीण शरीर वाले वातपित्त प्रकृति के व्यक्ति, दूषी विषों से पीड़ित, दाह, नेत्ररोग और क्षय से पीड़ित, मन्द स्मृति वाले रोगियों में स्नेहन के लिये घृत का प्रयोग कराया जाता है।

तैलप्रयोग—कृमिरोग, उदररोग, कफ-मेदोवृद्धिजन्य रोग, वात व्याधि तथा क्रूर कोष्ठ और कफप्रकृति वाले रोगियों में स्नेहन के लिये तिलतैल का प्रयोग करना चाहिये। व्यायाम, मद्य, ग्राम्यधर्म इत्यादि के अतियोग से रूक्षता उत्पन्न होकर जिन रोगियों में वायु की वृद्धि हो गई हो, उनमें शोधन के पूर्व पर्याप्त समय तक स्नेहपान कराना चाहिये।

वसा प्रयोग—व्यायामकर्षित एवं शुष्क शरीर के व्यक्तियों में, अत्यधिक शुक्र-क्षय होने पर, वातविकार से पीड़ित तीव्राग्नि वाले रोगियों में स्नेहन के लिये वसा के प्रयोग का विधान है। इससे अभिघात, अस्थिभग्न, विद्धव्रण, योनिभ्रंश, कर्ण तथा नेत्ररोगों में विशेष लाभ होता है।

मज्जा प्रयोग—क्रूरकोष्ठ के दीप्ताग्नि एवं क्लेशक्षम रोगियों में वातविकार होने पर मज्जापान कराया जाता है।

स्नेहन से अस्थियों की सबलता, शुक्र-श्लेष्मा-मेद और मज्जा की पुष्टि होती है। नस्य, अभ्यङ्ग, गण्डूष, मूर्धा-कर्ण-अक्षि तर्पण के लिये स्नेहन के रूप में केवल घृत या तैल का ही प्रयोग दोष बलाबल को दृष्टि में रखते हुये किया जाता है।

प्रयोगविधि—**संशोधन**, संशमन और बृंहण के भेद से स्नेहन तीन प्रकार का होता है। **शोधन** कार्य के लिये स्नेह का प्रयोग उत्तम मात्रा में रात्रि का भोजन जीर्ण हो जाने पर प्रातःकाल कराना चाहिए। **संशमन** के लिये मध्यम मात्रा में क्षुधा लगने पर मध्याह्न के समय स्नेहन का प्रयोग करने से अग्नि की तीव्रता के कारण वह सारे शरीर में फैलकर कुपित दोषों का शमन करता है। यदि आहारपरिपाक और रसनिर्माण के बाद पित्त के मंद हो जाने पर स्नेहपान कराया जायगा तो स्रोतसों में श्लेष्मा का सञ्चय होने के कारण स्नेह का अवरोध हो जायगा, सारे शरीर में उसका प्रसार न हो सकने से संशमन सम्भव न होगा। **बृंहण कार्य** के लिये स्नेहपान की अपेक्षा होने

पर घृत का प्रयोग मांसरस, मद्य तथा चावल के माँड़ या भात के साथ लघु मात्रा में पर्याप्त समय तक कराना चाहिये।

मात्रानिर्देश—मात्रा की दृष्टि से उत्तम मात्रा ८ तोला तक, मध्यम मात्रा ६ तोला और हीन मात्रा ४ तोला की होती है। इसी प्रकार स्नेह की जो मात्रा दिन-रात यानी २४ घण्टे में जीर्ण हो वह उत्तम, बारह घण्टे में जीर्ण हो सकने वाली मध्यम और ६ घण्टे में जीर्ण होने वाली मात्रा हीन मानी जाती है। गुण की दृष्टि से हीन मात्रा जाठराग्नि को प्रदीप्त करने वाली, मध्यम मात्रा वृष्य और बृंहण तथा उत्तम मात्रा दोष शामक मानी जाती है। उत्तम मात्रा में स्नेह का प्रयोग ग्लानि, मूर्च्छा, मदात्यय की शान्ति के लिये और मध्य मात्रा का प्रयोग उन्माद, अपस्मार, कुष्ठ और विष रोग का शोधन करने के लिये किया जाता है। वास्तव में स्नेह की मात्रा का निर्णय रोगी की सहन शक्ति, जाठराग्नि की स्थिति और संशमन, बृंहण या शोधन उद्देश्य के आधार पर किया जाता है। प्रथम दिन हीन मात्रा से प्रारम्भ कर क्रम से मध्य-उत्तम मात्रा का व्यवहार करने से उत्तरोत्तर अनुकूलता होती है। सामान्यतया ३ से ७ दिन तक स्नेहपान का विधान है। यदि सात दिन तक पूर्ण स्नेहन के लक्षण व्यक्त न हो जाँय तो एक दो दिन अधिक भी स्नेहन कराया जा सकता है। शीतकाल में स्नेहन का प्रयोग दिन में तथा उष्णकाल में रात्रि में करने से उसका परिपाक अच्छा होता है। इसी प्रकार वात-कफ प्रधान रोगों में दिन में तथा वात-पित्तप्रधान रोगों में रात्रि में स्नेहपान विशेष उपकारक होता है। शरीर की स्निग्धता एवं पुष्टता के उद्देश्य से घृतपान तथा शरीर की दृढ़ता एवं बल वृद्धि के लिए तैलपान उपयोगी होता है।

पैत्तिक व्याधि एवं पित्तल व्यक्ति में शुद्ध गोघृत का तथा वात विकार एवं वातल व्यक्ति में गोघृत के साथ सेंधा नमक मिलाकर तथा कफ प्रकृति एवं कफप्रधान रोग में त्रिकटु और यवक्षार मिलाकर घृतपान कराना चाहिये।

स्नेहपान का समय—हेमन्त शिशिर में स्नेह का प्रयोग दिन में, ग्रीष्म में सायंकाल, वात-पित्ताधिक्य होनें पर रात्रि में, वात-कफ के आधिक्य में प्रातःकाल, वात-पित्तप्रधान व्यक्तियों को शीत ऋतु में और वात-कफप्रधान व्यक्तियों को ग्रीष्म ऋतु में स्नेहपान कराना चाहिये। प्रावृट् ऋतु में स्नेहन के लिए तैल, शरद् में घृत और वसन्त ऋतु में वसा तथा मज्जा के प्रयोग का विधान है।

सहपान तथा अनुपान—घृत को उष्णोदक के साथ और तैल को यूष के साथ पिलाना चाहिये। पैत्तिक रोगों में केवल गोघृत को गुनगुने पानी में मिलाकर, वातिक रोगों में २ माशा से ८ माशा तक पिसा हुआ सेंधानमक घी में मिलाकर तथा कफज रोगों में शुण्ठी, मिर्च, पिप्पली का चूर्ण ६ माशा तथा यवक्षार १-२ माशा मिलाकर पिलाना चाहिए। ऊपर से अनुपान के रूप में उष्णोदक देना चाहिए। वसा एवं मज्जा का स्नेहन के लिए प्रयोग करने पर अनुपान रूप में साठी चावल का मंड पिलाया

जाता है। सामान्यतया सभी स्नेहों को उष्णोदक के साथ पिलाया जा सकता है। बीच-बीच में भी रुचि होने से अल्प मात्रा में उष्णोदक पीना चाहिये। स्नेह का पाचन होते समय तृष्णा, दाह, भ्रम, अरुचि, बेचैनी और आलस्य उत्पन्न होता है। इनसे चिन्तित होने का कोई कारण नहीं, स्नेहपाचन हो जाने के उपरान्त इनकी स्वतः शान्ति हो जाती है। उष्णोदकपान से शुद्ध उद्गार प्रवर्तित होने पर स्नेह के परिपाचन का निर्णय कर गुनगुने जल से स्नान कराकर रुचि के अनुकूल चावलों की यवागू पिलानी चाहिये। वृद्ध, बालक, कर्शित, कोमल प्रकृति वाले व्यक्तियों तथा ग्रीष्म ऋतु में, तृष्णा से अत्यधिक पीड़ित रहने वाले रोगियों को भात में मिला कर स्नेहपान कराना चाहिये। अथवा इस प्रकार का स्नेह मिला भात भी रुचिकर न होने पर दूध में घी-मिश्री को भली प्रकार मिलाकर पिलाने से भी सद्यः स्नेहन होता है। श्वास तथा श्वसनयन्त्र की जीर्ण व्याधियों से पीड़ित तथा शरीर में श्लेष्मा का अतिमात्र सञ्चय होने पर स्नेह का प्रयोग अत्यल्प मात्रा में १ तोला घी में ११ दाना काली मिर्च मिलाकर अधिक समय तक (४० दिन) पिलाना चाहिये। इससे दूषित कफ का क्लेदन-शोधन होकर पाचन शक्ति तथा शरीर के बल की वृद्धि होती है।

सम्यक् स्नेहन के गुण—शरीर कोमल, हलका, पुष्ट और स्निग्ध तथा मुख प्रियदर्शन हो जाता है। मल की स्निग्धता और मृदुता, अग्नि की दीप्ति, वायु का अनुलोमन तथा स्नेहपान की अनिच्छा होने पर स्नेहन का प्रयोग पूरा समझकर बन्द कर देना चाहिये।

अतिस्नेहन के लक्षण—भक्तद्वेष, लालास्राव, बेचैनी, प्रवाहिका, गुदा में दाह और शरीर में आलस्य आदि लक्षण पैदा होते हैं। ऐसी स्थिति में वमन कराने के पश्चात् लघु कोष्ठ हो जाने पर पुनः स्वेदन या संशोधन क्रम प्रारम्भ करना चाहिये, यदि अति स्नेहन के कारण स्वेदनादि का प्रयोग करने में असुविधा हो तो चना, जौ, बाजरा आदि रूक्ष अन्न तथा व्यायाम, जागरण आदि रूक्ष विहार की व्यवस्था करने के अनन्तर स्वेदन-शोधन का प्रारम्भ किया जा सकता है।

हीन स्नेहन के लक्षण—हीन मात्रा में अपर्याप्त स्नेहपान होने पर मल की शुष्कता, मलोत्सर्जन और आहार पाचन में कष्ट का अनुभव, वायु का प्रतिलोमन, हृद्दाह, हीन कान्ति और शरीर की अशक्ति के लक्षण पैदा हो जायँगे।

स्नेहन प्रतिषेध—कफ एवं मेदाधिक्य के रोग, ऊरुस्तम्भ, अतिसार, अजीर्ण, उदर, तरुण ज्वर, प्रमेह, मूर्च्छा, अति क्षीण रोगी, विरेचन एवं वस्तिप्रयोग के उपरान्त, तृष्णा-वमन एवं कृत्रिम विष से पीड़ित व्यक्ति को स्नेहपान नहीं कराना चाहिये।

स्नेहपान करने वाले व्यक्तियों को व्यायाम, शीतल प्रयोग, वेगविधारण, दिवाशयन, रात्रि जागरण, रूक्ष और गुरु द्रव्यों का त्याग करना चाहिये।

साम पित्तदोष या केवल पित्त में घृतपान दोष का संशोधन नहीं कर सकता, किन्तु

संशमन के लिए सभी पैत्तिक रोगों में केवल घृत का प्रयोग किया जा सकता है। शोधन के उद्देश्य से स्नेहपान कराना हो तो पित्तघ्न एवं संशोधक द्रव्यों से संस्कारित घृत का ही प्रयोग कराना चाहिए। अन्यथा केवल घृत का प्रयोग कराने पर पित्ताशय में सञ्चित पित्त घृत के साथ मिलकर सारे शरीर में व्याप्त होकर कामला की उत्पत्ति भी कर सकता है। आज भी पित्ताशयशोथ आदि विकृतियों में घृतप्रयोग निषिद्ध माना जाता है, किन्तु संस्कारित होने पर यह दोष नहीं होता।

स्नेहपान के नियमों का पालन न करने से, जिस स्नेहन का प्रयोग जिस ऋतु, काल-दोष में निर्दिष्ट है, उसमें न करने से, रोगी के बलाबल कोष्ठ तथा सहन शक्ति हिताहित आदि का बिना विचार किए अधिक या अल्प मात्रा में सेवन करने या उचित समय से कम या अधिक काल तक स्नेहप्रयोग करने से अनेक उपद्रव उत्पन्न होते हैं।

स्नेह का विधिपूर्वक सेवन न करने से तन्द्रा, उत्क्लेश, आनाह, ज्वर, स्तब्धता, मूर्च्छा, कुष्ठ-कण्डु आदि त्वचा के रोग, पाण्डुता, शोथ, अर्श, अरुचि, तृष्णा, उदररोग, संग्रहणी-अलसक-विसूचिका, शूल एवं मूकता आदि विकार उत्पन्न हो सकते हैं।

इन उपद्रवों की सम्भावना होने पर वमन कराकर स्नेहन का शोधन कराना, यदि स्नेहपान के बाद अधिक समय बीत गया हो तो स्वेदन तथा मृदु विरेचक द्रव्यों के द्वारा स्नेहपान के ३ दिन बाद विरेचन कराना चाहिए। रूक्ष अन्नपान तथा तक्रारिष्ट का प्रयोग भी इन उपद्रवों की शान्ति करता है। सुकुमार, कृश, वृद्ध, शिशु एवं घृतपान में अरुचि वाले व्यक्तियों में स्नेहन कराने के लिए युक्तिपूर्वक विचारणा करनी चाहिए। ऐसे रोगियों को स्नेहन प्रयोग रुचिकारक बनाकर ही करना चाहिए, अन्यथा वमनादि होकर अनुकूलता नहीं होती।

शर्करा तथा घृत मिलाकर दुहने के पात्र में रखकर दूध दुहना चाहिए। दूध की धार से शर्करा तथा घृत सारे दूध में मिल जायगा, इसे धारोष्ण ही पीने से बहुत थोड़े दिनों में ही स्नेहन हो जाता है। भोजन के पूर्व तिल-राब तथा घी मिलाकर तिलकूट बनाकर खाने से भी शीघ्र स्नेहन हो जाता है। लवण के साथ स्नेह का प्रयोग करने से उसका शीघ्र पाचन तथा सारे शरीर में प्रसार होकर अति शीघ्र स्नेहन होता है, अतः स्नेहन में लवण का उचित प्रयोग करना चाहिए[1]।

सामान्यतया स्नेहार्थ प्रयुक्त होने वाले द्रव्यों का उल्लेख यहाँ किया गया है। वातशामक औषधियों से संस्कारित घृत, साधारण घृत की अपेक्षा अधिक लाभकारी होता है। उसी प्रकार पित्त एवं कफ के लिये भी योजना की जा सकती है। स्नेहपान रुचिकारक तथा मनोनुकूल हो, इसके लिए इलायची-केशर-कालीमिर्च-नमक आदि का प्रयोग यथावश्यक किया जा सकता है। जिन रोगों में स्नेहन की उपयोगिता होती है, उनके

१. 'लवणोपहिताः स्नेहाः स्नेहयन्त्यचिरान्नरम्' (यो० र० स०)

प्रकरण में घृत तथा तैल के बहुत से योग शास्त्रों में वर्णित हैं, स्नेहनार्थ उनका व्यवहार अधिक गुणकारी होता है।

स्नेहनकाल के कर्त्तव्य—पान, स्नान, हस्त-पादप्रक्षालन आदि सभी कार्यों में केवल कदुष्ण जल का प्रयोग करे। ब्रह्मचर्य का पूर्ण परिपालन करते हुए केवल रात्रि में सोना चाहिये। दिन में न सोना चाहिये। मल-मूत्रादि के वेगों को थोड़े काल के लिये भी न रोके। व्यायाम, क्रोध, शोक, शीत तथा धूप से बचाव रखे। पैदल या सवारी से यात्रा, वायु का सेवन, अधिक बोलना, देर तक बैठे या खड़े रहना, सिर को अधिक काल तक ऊँचे या नीचे रखना आदि का त्याग करते हुए धूम तथा धूल के सम्पर्क से बचाव रखना चाहिये। जितने दिन स्नेहपान कराया गया है कम से कम उतने दिन तक इन नियमों का अवश्य पालन करे।

स्वेदन

स्नेहन प्रक्रिया के उपरान्त शरीर के आभ्यन्तर और बाह्य दोनों भागों से स्निग्ध हो जाने पर स्वेदन कराना चाहिये।

जिस क्रिया से शरीर के अन्दर गर्मी पहुँचा कर प्रस्वेद के द्वारा आभ्यन्तरिक दोषों का प्रविलायन एवं शोधन किया जाय वह क्रिया स्वेदन कहलाती है। स्नेहन प्रक्रिया से क्लिन्न हुये दोष स्वेदन द्वारा द्रवित होने पर दूषित स्थानों से पृथक् होकर दोष के प्रधान अधिष्ठानों में सञ्चित हो जाते हैं, जहाँ से वमन-विरेचन-अनुवासन के द्वारा सुखपूर्वक निकाले जा सकते हैं।

स्वेदन के भेद—अग्नि की ऊष्मा के द्वारा तथा बिना अग्नि की सहायता से वस्त्रों आदि से शरीर को ढककर भी स्वेदन किया जाता है। इस प्रकार इसके अग्निस्वेद और अनग्निस्वेद दो भेद होते हैं। वात प्रकृति वाले को स्निग्ध, कफ प्रकृति वाले को रूक्ष तथा वातपित्त प्रकृति वाले को रूक्ष-स्निग्धमिश्रित स्वेदन कराया जाता है। यदि वातस्थान में कफ का सञ्चय हो या कफस्थान में वायु का अर्थात् श्लेष्मा के स्थान आमाशय में वायु का सञ्चय हो या वातस्थान पक्वाशय में श्लेष्मा का सञ्चय हो तो स्थानस्थ दोष के अनुरूप शोधन पहले करके तब सञ्चित दोष का शोधन करना चाहिये। आमाशयगत वात में पहले रूक्ष स्वेदन करके स्थानीय दोष श्लेष्मा का विलयन हो जाने पर वायु की शान्ति के लिये स्निग्ध स्वेदन का प्रयोग किया जायगा।

अग्निस्वेदन—इसके ४ भेद हैं। तापस्वेद, ऊष्मस्वेद, उपनाहस्वेद और द्रवस्वेद।

तापस्वेद—हाथ, कांस्य-पात्र अथवा किसी धातु का पात्र, मिट्टी के बरतन का टुकड़ा, ईंट, उत्तप्त बालुका या निर्धूम खदिराङ्गार से शरीर को सेकते हुए उत्ताप देना तापस्वेद कहलाता है। इसमें रोगी का शरीर उत्तप्त वस्तु—धातु-मिट्टी आदि के निकट रहता है, जिससे विकिरण प्रक्रिया से निकटस्थ द्रव्यों का ताप शरीर में स्वेदोत्पत्ति करता है।

ऊष्मस्वेद—ईंट, पत्थर, खर्पर, लौहपिण्ड इत्यादि को अग्नि में खूब उत्तप्त कर

अम्लद्रव, गोमूत्र या जल के छींटे डालकर अथवा इन द्रव्यों में बुझाकर या गीले कपड़ों में लपेट कर इनकी उत्तप्त वाष्प से शरीर का जो स्वेदन किया जाता है, वह ऊष्मस्वेद कहलाता है। शरीर को कम्बल से ढककर, नीचे गरम कड़ाही में काँजी, मांसरस या वातहर द्रव्यों का क्वाथ भरकर उसकी वाष्प से शरीर को स्वेदित करने से भी प्रस्वेद होता है। ऊष्मस्वेद के शंकर-प्रस्तर-अश्मघन-नाड़ी-कुम्भी-जेन्ताक-कूप-कुटी-कर्षू-होलाक और भूस्वेद आदि भेद होते हैं।

चरकसंहिता में ऊष्मस्वेद के उक्त ११ प्रकार बताए गए हैं। कोमल प्रकृति के व्यक्तियों के लिए कुटीस्वेद उत्तम है। चारों तरफ से बन्द कमरे में आग जलाकर तप्त हो जाने पर निर्धूम अग्नि को साफ करके या कमरे में ही रखकर रोगी को उसमें कुछ समय तक रखते हैं, इससे उसके सारे शरीर का स्वेदन हो जाता है। इसी प्रकार की अनेक कल्पनायें ऊष्मस्वेद की हैं, यहाँ पर उनका संक्षिप्त निर्देश किया जाता है।

१. शंकर स्वेद—तिल, उड़द, कुलथी, भात आदि को मांसरस एवं कांजी में भली प्रकार सिद्ध करके पिण्ड सा बना लेना चाहिये। विशिष्ट व्याधि-दोषहर ओषधियों का क्वाथ बनाकर या पकाते समय ओषधियाँ चूर्ण करके पिण्ड स्वेद के द्रव्यों में मिलाकर प्रयुक्त किया जा सकता है। उस पिण्ड को वस्त्र में लपेट कर अथवा बिना लपेटे हुए ही उसकी ऊष्मा से रुग्ण स्थान का स्वेदन करना चाहिए। यह स्निग्ध स्वेदन है, इसका प्रयोग वातप्रधान विकारों में किया जाता है। बालू, मिट्टी, राख, भूसी, गोबर आदि रूक्ष द्रव्यों को कांजी में उबालकर पोट्टली में बाँधकर अथवा ईंट-पत्थर का टुकड़ा, कच्ची मिट्टी का ढोका, लोहे का गोला आदि को अंगारों पर उत्तप्त करके, चिमटे से पकड़ कर बाहर निकालने के बाद कांजी, अम्लद्रव, गोमूत्र या व्याधिहर क्वाथ में बुझाकर गीले ऊनी या जूट के वस्त्र से लपेट कर कफ-मेदः प्रधान वेदनायुक्त अंग का स्वेदन करना चाहिए। यह रूक्ष गुण वाला शंकरस्वेद है। शंकरस्वेद को पिण्डस्वेद भी कहते हैं।

२. प्रस्तर या संस्तर स्वेद—सन के बीज, उड़द, कुलथी, जौ, चावल, तिल आदि द्रव्यों को कांजी आदि अम्ल द्रव्यों के साथ मिलाकर हांडी में पकाकर भली प्रकार सिद्ध कर लेना चाहिए। निर्वात स्थान में तखत या चारपाई पर पतला पुआल या चटाई बिछाकर, ऊपर से उबाले हुए द्रव्य २ अंगुल मोटाई में रोगी की लम्बाई-चौड़ाई के अनुरूप परिमाण में फैला देना चाहिए। इसके ऊपर एरण्ड के पत्ते या ऊनी वस्त्र बिछाकर रोगी को स्निग्ध तैलादि का मर्दन करने के बाद लिटा देना तथा ऊपर से मोटा कम्बल अच्छी तरह से ओढ़ा देना चाहिए। इससे मेदोवृद्धिजन्य ग्रंथियाँ आदि वात-श्लैष्मिक व्याधियाँ ठीक हो जाती हैं।

३. नाडी स्वेद—रोगी को बिस्तर-रहित चारपाई पर लिटाकर या कुर्सी पर बैठाकर ऊपर से गल पर्यन्त मोटे कम्बल से ढक देना चाहिए। कम्बल खाट या कुर्सी के नीचे भूमि तक लटकता हुआ होना चाहिए। नाडीयंत्र में ओषधियों का क्वाथ,

कांजी, दूध, गोमूत्र, मांसरस आदि स्वेद्यद्रव्य डालकर अँगीठी पर गरम करना चाहिए। नाडी के द्वारा वाष्प कम्बल के नीचे रोगी के सारे शरीर में पहुँचाना चाहिए। यह नाडीस्वेद है।

४. जेन्ताक स्वेद—जलाशय के निकट कूटागार (गर्भगृह) के भीतर दीवाल में चारों ओर तल से कुछ ऊंचे भित्ति बना देना चाहिए। कूटागार के बीच में तन्दूर के समान अनेक छिद्र युक्त भट्ठी बनानी चाहिए। उस भट्ठी में खदिर-पलास की लकड़ी को जलाकर निर्धूम अंगार रहने पर स्निग्ध दृढ़ एवं सहनशील रोगी को गर्भगृह में प्रवेश कराकर स्वेदन कराना चाहिए। यह भी एक प्रकार से कुटीस्वेद का ही रूप है।

५. अश्मघन स्वेद—रोगी की लम्बाई-चौड़ाई के अनुरूप एक पत्थर की शिला पर वातनाशक खदिर, देवदारु, निर्गुण्डी आदि को जलाकर, पत्थर के उत्तप्त हो जाने पर राख तथा अंगारे आदि साफ कर देने चाहिए। गरम पानी या वातघ्न द्रव्यों के क्वाथ को शिला पर अच्छी तरह छिड़क कर कम्बल बिछा देना चाहिए। तैल-स्निग्ध रोगी को उस पर लिटाकर ऊपर से मोटी चद्दर या कम्बल से ढक देना चाहिए। इससे सुखपूर्वक स्वेदन हो जाता है।

६. भूस्वेद—अश्मघन के समान ही निर्वात स्थान की समतल भूमि पर अग्नि जलाकर पूर्वोक्त क्रम से स्वेदन किया जाता है। इसमें पाषाणशिला न होगी, शेष पूर्ववत् है। पत्थर शीघ्र उष्ण तथा शीघ्र ही शीत हो जाता है, भूमि बहुत अधिक उत्तप्त न होगी किन्तु पर्याप्त समय तक गरम बनी रहेगी।

७. कर्षू स्वेद—रोगी की शय्या के नीचे निर्वातस्थल में एक गड्ढा खुदवा कर, उसमें निर्धूम अंगारे भर देने चाहिये। गड्ढे की चौड़ाई भीतर अधिक किन्तु ऊपर की तरफ कम (चौडे मुँह के घड़े के समान) होगी। शय्या पर एरण्डपत्र बिछाकर स्निग्ध शरीर वाले रोगी को लिटा कर ऊपर से कम्बल से ढक देना चाहिए।

८. कुटी स्वेद—रोगी की लम्बाई-चौड़ाई-ऊँचाई के अनुरूप मोटी दीवाल की गोलाकार कुटी बनानी चाहिए। कुटी में खिड़की, रोशनदान न होने चाहिए। चारों ओर वायु निकलने के लिए सूक्ष्म छिद्र छत के पास छोड़ देने चाहिए। कुटी के भीतर बीच में रोगी की शय्या बिछाकर, कुटी की भीतरी दीवाल में उष्णवीर्य एवं सुगंधियुक्त कूठ आदि द्रव्यों का लेप कर लेना चाहिए। शय्या पर मृगचर्म या कम्बल बिछाकर चारों ओर निर्धूम अग्नि से युक्त अंगीठियाँ रखनी चाहिए। रोगी को शय्या पर लिटाकर पूर्ववत् कम्बल आदि से ढकने की आवश्यकता नहीं। सुखपूर्वक रोगी बैठ या लेट सकता है। कुटी के चारों ओर दरवाजे रहने पर बाहर से अंगीठी जलाकर या यों ही अंगारे रख कर कुटी को तप्त कर देने के बाद, अंगारे हटा कर, गरम पानी छिड़कने से भी पर्याप्त उत्तप्त वाष्प पैदा होती है, जिससे कुटी के भीतर लेटा हुआ रोगी भली प्रकार स्वेदित हो जाता है। इस विधि से भी कुटीस्वेद का विधान है।

९. कुम्भी स्वेद—वातघ्न ओषधियों के क्वाथ से कुम्भी या बड़ी हाँड़ी को आधा भर कर आधा भाग भूमि में गाड़ देना चाहिए। ऊपर से चारपाई रख कर रोगी को बैठा या लिटा देना चाहिए। गरम किए हुए लोहे के गोले तथा ईंट-मिट्टी-पत्थर के टुकड़े धीरे-धीरे कुम्भी में डालने से पर्याप्त ऊष्मा उत्पन्न होती है, जिससे रोगी का सुखपूर्वक स्वेदन हो जाता है। गरम-गरम क्वाथ-मांसरसादि कुम्भी में भर कर, उसके चारों ओर वस्त्र से लपेट कर, सहता-सहता सारे शरीर में कुम्भी को स्पर्श कराते हुए स्वेदन करना भी कुम्भीस्वेद का ही एक प्रकार है।

१०. कूप स्वेद—चारपाई की लम्बाई-चौड़ाई के बराबर लम्बा-चौड़ा तथा द्विगुण गहरा अण्डाकृतिक गड्ढा (कूप) खोद कर, हाथी-घोड़ा-गाय-बैल आदि के शुष्क गोबर को उसमें भर कर आग लगा दे। ज्वालारहित तथा निर्धूम हो जाने पर कूप के ऊपर खाट बिछा कर उस पर मोटा कम्बल डाल कर रोगी को सुलाकर ऊपर से भी कम्बल से ढंक देना चाहिए। कर्षूस्वेद में गड्ढे की गहराई कम तथा उसे अंगारों से भरने का विधान है और इसमें अधिक समय तक सम मात्रा में ऊष्मा पहुँचाने के लिए गहरा-चौड़ा गर्त्त तथा उसमें गोबर आदि भरने का निर्देश किया गया है। वास्तव में दोनों में विशेष अन्तर नहीं।

११. होलाक स्वेद—चारपाई के अन्दर के प्रमाण के अनुरूप हाथी-घोड़े आदि की सूखी लीद चारपाई के नीचे (बिना चारपाई रक्खे हुए केवल अन्दाज से) रख कर जला दें। निर्धूम एवं ज्वालारहित होने के उपरान्त चारपाई उसके ऊपर रख कर कम्बल बिछाकर स्निग्ध रोगी को लिटाकर ऊपर से कम्बल से ढक कर स्वेदन कराने से सुखपूर्वक स्वेदन होता है।

इन विविध ऊष्मस्वेदन के प्रकारों का यहाँ निर्देश किया गया है, अधिकांश—कर्षू-कुम्भी-कूप-होलाक प्रस्तर-भू आदि प्रकारों में आपस में विशेष अन्तर नहीं हैं। रोगी की सहनशक्ति तथा विशेषतया स्वेद्य अंग को ध्यान में रखते हुए, इनमें से किसी का उचित प्रयोग किया जा सकता है।

१२. उपनाह स्वेद—वातनाशक ओषधियों को काँजी, गोमूत्र आदि में पीस कर नमक मिलाकर तेल वा घी में गरम करके पुल्टिस की तरह बनाकर शरीर पर मोटा प्रलेप लगाना या किसी विशेष अंग में विकृति होने पर उसे बाँधना (कपड़े में रख कर या बिना कपड़े में रक्खे हुए) उपनाहस्वेद कहलाता है। स्वेद के अन्तर्गत वर्णित शंकरस्वेद का उपयोग उपनाहस्वेद के रूप में भी किया जा सकता है।

१३. द्रव स्वेद—द्रव स्वेद २ प्रकार का होता है—परिषेक तथा अवगाह।

परिषेक—पित्तानुबंधी वातव्याधियों में परिषेक विशेष गुणकारी होता है। सहजन, वरुण, आमड़ा, शिरीष, बाँस, एरण्डपत्र, दशमूल आदि द्रव्यों का या चिकित्स्य व्याधि में वर्णित क्वाथ को काँजी, सिरका, पानी, दूध आदि किसी द्रव में यथानिर्देश

पका कर, छान कर हजारा (सहस्रधारा, जिससे माली फूल के पौधे सींचता है) या कमण्डलु, गेडुआ आदि में भर कर रोगी को स्निग्धाभ्यक्त करके कम्बल से ढक कर परिषेक कराना चाहिए। क्वाथ स्पर्श में सुखोष्ण होना चाहिए। रोगी यथावश्यक बैठा या लेटा हुआ रहेगा।

अवगाह—वातघ्न कषाय, तैल, घृत, मांसरस या गरम जल को कटाह या द्रोणी (टब Tub) में भर कर अवगाहन कराना चाहिए। कटाह या द्रोणी में द्रव इतना होना चाहिए कि पलथी मार कर सुखासन पर बैठा हुआ रोगी कण्ठ तक डूबा रहे और लेटने पर ग्रीवा के ऊपर का भाग ऊपर निकला रहे अर्थात् नाभि के ऊपर ३-४ अंगुल द्रव की मात्रा होनी चाहिए। आजकल उष्णकटिस्नान (Hot hip bath) के ढंग पर भी अवगाहन कराया जा सकता है। तापस्वेद और ऊष्मस्वेद विशेषतः कफनाशक तथा उपनाहस्वेद वातनाशक एवं द्रवस्वेद पित्त-कफप्रधान व्याधियों में उपयोगी होता है।

अग्निस्वेदन के साधारण नियम

१. आभ्यन्तरिक स्नेहन के अतिरिक्त स्वेदन कराने के पूर्व तैल इत्यादि का मर्दन कर शरीर की बाह्य स्निग्धता कराना आवश्यक होता है।

२. स्वेदन रोगी की ग्रीवा के नीचे सारे शरीर में जितना सह्य हो उतनी मात्रा में कराना चाहिए।

३. रोगी के सिर पर पानी में भिगो कर निचोड़ा हुआ कपड़ा रखना चाहिये।

४. स्वेदन का स्थान निर्वात, शान्त तथा ऋतु के अनुकूल होना चाहिये।

५. स्वेदन करने के पूर्व प्रवर-मध्य-हीन क्रम से रोगी की सहनशक्ति का निर्णय कर स्वेदनकाल का निश्चय कर लेना चाहिये।

६. वृषण, हृदय और नेत्र पर बहुत मृदु स्वेदन होना चाहिये अथवा स्वेदन करते समय इन अंगों पर कमल की पत्ती या मुलायम कपड़ा रखना चाहिये।

७. स्वेदन के समय कोमल प्रकृति वाले रोगियों को बेचैनी होने पर कमलपुष्प अथवा मोतियों की माला पहनानी चाहिये।

८. स्वेदन के समय मुलायम साफ कपड़े से प्रस्वेद को बार-बार पोंछना चाहिये। स्वेदन समाप्त होने के बाद कुछ समय तक निर्वात स्थान में बैठ कर उष्णोदक से हस्त-पाद-नेत्र-प्रक्षालन कर शरीर को वस्त्रों से ढक कर बाहर निकलना चाहिये।

९. वाष्पस्वेदन के लिये रोगी को मूँज या बेंत की खाट पर, यथावश्यक एरण्डपत्र बिछा कर, लिटा कर ऊपर से मोटे कम्बल से गलपर्यन्त ढक देना चाहिये, मस्तक दूसरे कपड़े से ढका रहेगा। खाट के नीचे कम्बल के भीतर से धीरे-धीरे रोगी सहन कर सके, इस तरह वाष्प देना चाहिये।

१०. एक ही दिन में अधिक मात्रा में स्वेदन न कर, क्रमवृद्धि से ३–५ दिन तक स्वेदन करना चाहिए।

अनग्निस्वेदन

मृदु-सुकुमार-असहनशील व्यक्तियों में, मधुमेह आदि व्याधियों में, श्लेष्मा की प्रधानता एवं मेदोवृद्धि की स्थिति में शरीर को बिना अग्नि की सहायता के स्वेदित किया जाता है। नीचे इस प्रकार की क्रियाओं का वर्णन है—

निर्वात स्थान—रोगी को बन्द कमरे में कुछ समय तक बैठाने से स्वतः स्वेदन होता है।

वस्त्राच्छादन—मोटा कम्बल या कोई दूसरा भारी वस्त्र शरीर के ऊपर डालने से भीतर-भीतर प्रस्वेद होता है, जिससे संचित श्लेष्मा और मेद का द्रावण-शोधन हो जाता है।

आतप या धूप स्वेदन—कुछ समय तक रोगी को धूप में बैठाने से अग्निस्वेदन के समान ही लाभ होता है। यदि शरीर में हलका कपड़ा डाल कर धूप में बैठाया जाय तो अधिक लाभ होता है।

व्यायाम—शारीरिक श्रम से स्वतः ऊष्मा की उत्पत्ति होकर संचित दोषों का विलयन एवं स्वेद की प्रवृत्ति होती है।

भ्रमण या यात्रा—मेदस्वी व्यक्तियों को काफी दूर चलाने से स्वेदनजन्य पूर्ण लाभ होता है।

मद्यपान—शरीर में संचित आवश्यकता से अधिक खाद्यांश के प्रज्वलन में मात्रावत् मद्यपान बहुत सहायक होता है।

इसके अतिरिक्त भारवहन कराना, क्रोधित करना, भयभीत करना और क्षुधित या लंघित स्थिति में भी शरीर के भीतर ताप की वृद्धि होती है। परिणाम में स्वेदनवत् लाभ होता है। यह स्वेदन के दस प्रकार बिना अग्नि की सहायता के ही स्वेदन का कार्य करते हैं किन्तु इनके द्वारा अनुकूल परिणाम की प्राप्ति कुछ समय के बाद ही होती है। सामान्यतया पंचकर्म के पूर्व अग्निस्वेदन—विशेषकर वाष्प, उपनाह और द्रव स्वेदन—का ही प्रयोग किया जाता है। तापस्वेद एवं अनग्निस्वेद को विशिष्ट व्याधियों में सहायक उपकर्म के रूप में निर्दिष्ट किया जाता है।

स्वेदन द्रव्य—दूध, मांस-रस, तैल, काँजी, घृत, गोमूत्र, वातघ्न द्रव्यों का क्वाथ, वातघ्न द्रव्यों का कल्क तथा ऊपर तेरह विधियों में वर्णित प्रस्तर इत्यादिक स्वेदन में आवश्यक होते हैं।

मात्रा—स्नेहन के समान स्वेदन की मात्रा शरीर की दृष्टि से प्रवर, मध्य और हीन शक्ति के आधार पर एक प्रहर, दो घड़ी या एक घड़ी होती है। सामान्यतया स्वेदन तीन दिन कराया जाता है।

पश्चात् कर्म—स्वेदन के बाद व्याधि-शामक वातघ्न लघुपाकी पथ्य का सेवन तथा पूर्ण विश्राम कराना चाहिए।

सम्यक् स्वेदित के लक्षण—स्वेद की प्रवृत्ति, शरीर की लघुता, वेदना की शान्ति, शीतोपचार की इच्छा, जड़ता एवं शूल का प्रशम होकर शरीर मृदु हो जाता है। पाचकाग्नि की तीव्रता, मन की प्रसन्नता, त्वचा की स्निग्धता एवं मृदुता, स्रोतसों के अवरोध का अभाव, तन्द्रानाश, उचित निद्रा तथा जकड़े हुए सन्धिस्थलों की लघुता पूर्ण स्वेदन के मुख्य लक्षण होते हैं।

अतिस्वेदन के लक्षण—स्वेदन का आधिक्य हो जाने पर रक्तदुष्टि, पित्तप्रकोप, विस्फोट, तृष्णा, उन्माद, मूर्च्छा, श्रम, दाह, क्लान्ति एवं सन्धिस्थलों में वेदना होती है। इनकी शान्ति के लिए पित्तशामक शीतल उपचार तथा अग्निदग्धवत् चिकित्सा करनी चाहिये।

हीन स्वेदन के लक्षण—शरीर की जड़ता, गुरुता, निन्द्रा, तन्द्रा, स्वेद की अप्रवृत्ति एवं आलस्य इत्यादि लक्षण पैदा होते हैं। मूल व्याधि के लक्षण शान्त नहीं होते, शरीर लघु एवं शुद्ध नहीं होता।

स्वेद्य व्याधियाँ—प्रतिश्याय, कास, हिक्का, श्वास, कर्णशूल, शिरःशूल, मन्यास्तम्भ, स्वरभेद, गलग्रह, अर्दित, एकाङ्गवात, सर्वाङ्गवात, पक्षाघात, अन्तरायाम, बाह्यायाम, आनाह, विबन्ध, शुक्राघात, गृध्रसी, पार्श्व-पृष्ठ-कटिग्रह, मूत्रकृच्छ्र, मुष्कवृद्धि, अङ्गमर्द, पाद-जंघा वेदना, श्वयथु, खल्ली, वातकण्टक, प्रकम्प, पर्वसंकोच, शूल, स्तम्भ, सुप्तता इत्यादि वातप्रधान व्याधियों में स्वेदन प्रमुख रूप से कराया जाता है।

अस्वेद्य व्याधियाँ—गर्भिणी, रक्तपित्ती, मद्यपी, अतिसारपीड़ित, रूक्ष शरीर वाले, मधुमेही, विष एवं मद्य के विकारों से पीड़ित, शान्त-मूर्च्छित, स्थूल, तृषित, क्षुधित, क्रोधित, शोकपीड़ित, कामला, उदररोग, क्षत, पित्तप्रमेह से पीड़ित, ऊरुस्तम्भग्रस्त एवं दुर्बल-क्षीण, तिमिर से पीड़ित व्यक्तियों को स्वेदन नहीं कराना चाहिये।

सामान्यतया स्वेदन का विधिवत् प्रयोग संशोधन चिकित्सा के पूर्व किया जाता है। किन्तु शोधन के अतिरिक्त वात-श्लेष्मप्रधान स्थानसंश्रित सभी व्याधियों में स्वेदन गुणकारी होता है, दोषों के अनुकूल रूक्ष या स्निग्ध स्वेदन की कल्पना करके उचित व्यवस्था करनी चाहिये। स्वेदन से त्वचा के नीचे संचित दोष का शोधन होता है, तथा स्थानीय रक्तप्रवाह की वृद्धि हो जाने के कारण दोष का विनाश एवं आन्तरिक संशोधन भी रक्त के द्वारा होता है। शोथयुक्त एवं पूयानुबंधी सभी व्याधियों में स्वेदन परम हितकारी माना जाता है। जीर्ण रोगियों में सर्वाङ्गस्वेदन तथा तीव्र रोगों में विकृति-स्थान का स्वेदन प्रमुख रूप में किया जाता है।

वमन

साधारणतया वमन, विरेचन, निरूहवस्ति, अनुवासनवस्थि तथा नस्यकर्म संशोधन के पाँच अंग होते हैं। पूर्व वर्णित स्नेहन और स्वेदन प्रत्येक क्रिया के पूर्व में कराये जाते हैं। अतः इनको पूर्वकर्म या सहायक कर्म भी कहते हैं। ऊपर लिखे पंचकर्मों में कफप्रधान दोषों के लिये वमन, पित्तप्रधान के लिये विरेचन, वातप्रधान रोगों के लिये वस्ति की उपयुक्तता होने के कारण इन्हीं तीन कर्मों की प्रधानता है। कफ का स्थान वक्ष एवं आमाशय होने के कारण वमन के द्वारा वहाँ के दोषों का शोधन, पित्त का स्थान नाभिप्रदेश या लघु अन्त्र होने से वहाँ के दोषों का शोधन विरेचन के द्वारा तथा वात का स्थान पक्वाशय होने से वातजन्य विकारों में वस्तिकर्म हितकारी होता है। किन्तु कोई भी जीर्ण रोग केवल एक दोष की दुष्टि से नहीं होता, अतः वमन-विरेचनादि सभी कर्म क्रम से स्नेहन-स्वेदन से सम्पुटित किए जाते हैं।

पूर्व कर्म—स्नेहन-स्वेदन के उपरान्त माष, दूध, गुड़, मछली, मांसरस, यवागू इत्यादि कफवर्धक भोजन कराकर संचित दोष को क्षुब्ध करना चाहिये, जिससे वामक द्रव्यों के द्वारा बिना उत्क्लेश के शोधन हो जाता है। वामक ओषधियों के प्रयोग के पहले रोगी को भली प्रकार शारीरिक और मानसिक दृष्ट्या आश्वस्त कर निश्चिन्त कर देना चाहिये अन्यथा भय के कारण जल्दी घबड़ा कर रोगी आधे ही में प्रयोग छोड़ देता है। यदि रोगी को क्षुधा हो तो चावल के माँड़ में घी मिला कर पिला देना चाहिये।

वमन की विधि—रोगी को अनुकूल चारपाई या कुर्सी आदि पर बैठाकर वामक औषध का पान कराना चाहिये और अग्नि पर हाथों को गरम कर थोड़ा थोड़ा उदर पर सेंक करना चाहिये। उत्क्लेश होने पर पैरों के बल उत्कटुकासन में बैठाकर वमन करने के लिये कहना चाहिये। यदि वमन-प्रवृत्ति न हो रही हो तो गले में अगुली या कमलनाल या मुलायम पंख के सहलाने से आसानी से वमन होने लगता है। पेट और पीठ में गरम पोटलियों के द्वारा सेंक करते रहने से वमन की प्रवृत्ति सुखपूर्वक होती है तथा आमाशयस्थ दोष द्रवित होकर आसानी से निकल जाता है। वमन के आरम्भ के पूर्व रोगी को मस्तक पर या कभी-कभी सर्वाङ्ग में पसीना आता है, उसे स्वच्छ कपड़े से पोंछ देना चाहिये। आमाशयस्थ दोष वामक ओषधि के साथ जब ऊर्ध्वगामी होता है, तब पार्श्व कुछ फूल जाते हैं, रोगी को रोमाञ्च का अनुभव होता है, हृत्प्रदेश पर भार-सा मालूम पड़ता है और मुख से पानी निकलने लगता है। ऐसी स्थिति में मुख को जाँघ से नीचे कर उत्क्लेश के विना ही वमन की चेष्टा करनी चाहिये। रोगी को वमन के लिये श्रम, वमन के वेग का अवरोध या वमन-प्रवृत्ति की चेष्टा नहीं करनी चाहिये। परिचारकों को पीठ और पेट की ओर नीचे से ऊपर की ओर धीरे-धीरे सहलाते हुए मर्दन करना चाहिये।

वामक द्रव्यों में मधु और सेंधानमक का प्रयोग सदैव होना चाहिये। कफप्रधान विकारों में पीपल, काली मिर्च, राई, इन्द्रयव इत्यादि तिक्त एवं तीक्ष्ण गुण विशिष्ट तथा कफयुक्त पित्तविकारों में ईख का रस, मिश्री, दुग्ध आदि मधुर द्रव्यों का प्रयोग और कफयुक्त वातविकारों में तक्र, कांजी, नीबू का रस आदि अम्ल पदार्थ तैल से स्निग्ध करके देना चाहिये।

वामक औषध—मदनफल, देवदाली, कटुतुम्बी, कुटजत्वक्, नीम, इन्द्रायण, मूर्वा, करञ्ज, सेंधानमक, सरसों आदि ओषधियों का प्रयोग वमन के लिए किया जाता है। कफाधिक्य होने पर मदनफल, पीपल, सेंधानमक गरम जल के साथ तथा पित्तशोधन के लिए परवल के पत्ते, नीम की छाल और अडूसे का चूर्ण ठण्डे पानी के साथ देना चाहिये। नीचे वामक ओषधियों के तीन योग लिखे जा रहे हैं—

१. मदनफल, कटु तुम्बी के बीज, कूठ, मुलहठी, सेंधानमक सम भाग में मिलाकर ३ माशा से १ तोला तक पर्याप्त मधु के साथ चाटकर ऊपर से २ तोला नीम के पत्तों का क्वाथ पीना चाहिये।

२. इन्द्रयव, वच, सेंधानमक, अडूसा इनके सम भाग का ६ माशा चूर्ण लेकर मुलेठी के क्वाथ में मिलाकर मधु के साथ पिलाना चाहिये।

३. कटु तुम्बी की छाल १ तोला चूर्ण कर, कुटजकषाय में सेंधा नमक, मधु, काली मिर्च मिलाकर पिलाना चाहिये।

सम्यक् वमन के लक्षण—यदि उक्त प्रक्रिया से पर्याप्त मात्रा में दोषों का शोधन हुआ हो तो वमन में ओषधि के साथ प्रारम्भ में पतला कफ गिरता है। उसके उपरान्त अम्ल, कटु तथा पीले रंग का पित्त निकलता है। अन्त में वमन में केवल डकार आती है, कुछ निकलता नहीं। इस प्रकार रोगी को क्रम से कफ-पित्त एवं वात विकृत दोषों के निकल जाने पर वमन की स्वतः शान्ति होने पर सुख का अनुभव होता है। उत्तम प्रक्रिया जन्य वमन में सामान्यतया आठ वेग होते हैं अर्थात् आठ बार वेगपूर्वक वमन की प्रवृत्ति होती है। मध्यम परिणाम होने पर छः वेग तथा हीन प्रभाव होने पर केवल चार ही वेग आते हैं। मात्रा की दृष्टि से भी उत्तम वमन में वमित मल लगभग दो सेर के बराबर, मध्यम में एक सेर तथा हीन प्रभाव में आधा सेर के परिमाण में निकलता है।

वमन के अधिकारी—मन्दाग्नि, श्लीपद, कुष्ठ, विसर्प, प्रमेह, अजीर्ण, भ्रम, अपची, कास, श्वास, पीनस, अपस्मार, उन्माद, कफप्रधान जीर्णज्वर, रक्तातिसार, गलशुण्डी, मेदोरोग, विषदोष, अर्बुद इत्यादि कफ-मेद प्रधान रोगों में वमन कराना चाहिये। वमन की समऋतु अर्थात् वसन्त प्रावृट् और शरद् में व्यवस्था करनी चाहिये।

वमन के अनधिकारी—तिमिर, गुल्म, उदर, उदावर्त, उरःक्षत, ऊर्ध्वग रक्तपित्त, अर्दित, आक्षेपक, मूत्ररोग, प्रमेह, अर्श, पाण्डु, कृमिरोग एवं मदात्यय से पीड़ित

व्यक्तियों को वमन नहीं कराना चाहिये। गर्भिणी स्त्री, बालक, वृद्ध, क्षीण, दुर्बल, रूक्ष शरीर वाले व्यक्तियों को भी वमन नहीं कराना चाहिये। अजीर्ण एवं विष से पीड़ित सभी रोगियों को प्रकृति एवं सहनशीलता के अनुसार मृदु या तीव्र वमन हितकारक होता है।

अतियोग के लक्षण—तृष्णा, हिक्का, जिह्वा का बहिर्निर्गमन, हनुसंधि-विच्युति, मस्तक की स्तब्धता, कम्प, पार्श्वशूल, हृदयदाह, पित्तप्रकोप, मूर्च्छा, हृत्कण्ठ-पीडा आदि लक्षणों की वृद्धि होकर वमन का अतिरेक या रक्तवमन होता है। ऐसी स्थिति में शरीर में धीमा मर्दन कर ठण्ढे जल से ऊर्ध्वांग का परिसेचन करना, धान के लावा मधु व मिश्री मिलाकर खिलाना, आँवला-खस-चन्दन-सुगन्धवाला आदि पित्तशामक द्रव्यों को जल में पीस कर घी-मिश्री-मधु मिलाकर चटाना चाहिये अथवा जामुन और अनार का रस देना चाहिये। यदि प्रारंभ में स्निग्ध-पिच्छिल आहार खिलाया जाय तो इस प्रकार के अतियोग की संभावना बहुत कम हो जाती है। मधुर स्वाद वाले मृदु रेचनों के प्रयोग से भी वमन का शमन हो जाता है। आलूबुखारा या दूसरे ईषदम्ल रस वाले फलों को चूसना, मिश्री का टुकड़ा मुख में रख कर एवं सुगंधित पान, इलायची आदि को मुख में रखकर चूसना वमनातियोग में लाभकर होता है। जिह्वा के अधिक बाहर निकल आने पर द्राक्षा-कल्क का जिह्वा पर लेप करके जिह्वा को धीरे से मुख के भीतर बैठा देना तथा स्निग्धाम्ल लवण-रस-युक्त घृत, दूध या यूष का कवलग्रह करना चाहिए। हनुमोक्ष की शान्ति के लिए हनुसंधि पर स्नेहन एवं स्वेदन करके संधिस्थापन करना चाहिए। वमन न होकर खाली उद्गार (डकार) की अत्यधिक प्रवृत्ति होने पर मूर्वा, धनियाँ, नागरमोथा एवं मुलहठी के चूर्ण को मधु में मिलाकर चटाने से लाभ होता है।

हीनयोग के लक्षण—अपर्याप्त मात्रा में औषध का प्रयोग करने पर वमन के वेगों की अल्पता, दोषों की अपर्याप्त प्रवृत्ति, कफ-पित्त-वायु इत्यादि का क्रम से शोधन न होना; आध्मान, शूल, प्रतिश्याय, रोमाञ्च, अरोचक, शरीर की गुरुता, आलस्य, लालास्राव, पामा एवं ज्वर आदि का कष्ट उत्पन्न होता है। ऐसी स्थिति में पीपल ३ भाग, आँवला २ भाग और राई १ भाग गरम पानी के साथ पीसकर पिलाने से लाभ होता है। गरम पानी में सेंधानमक मिलाकर बीच-बीच में पिलाते रहने से वमन पर्याप्त मात्रा में हो जाता है। कदाचित् इन प्रयोगों से भी वमन की प्रवृत्ति न हो तो मक्खी के पंख ८-१० संख्या में लेकर तक्र मण्ड में मिलाकर पिलाने से सद्यः वमन होने लगता है।

पश्चात् कर्म—भली प्रकार से वमन हो जाने के दो प्रहर बाद गरम जल से स्नान कराकर कुलथी, मूंग या अरहर की पतली दाल, पुराने चावल का भात अथवा खूब गली खिचड़ी एवं मांस-रस का सेवन कराना चाहिये। इस प्रकार तीन दिन तक

लघु भोजन करते हुये शीतल जल सेवन, व्यायाम, अजीर्णकारक द्रव्यों का सेवन, ग्राम्य-धर्म, तैल-मर्दन, क्रोध, श्रम, यात्रा, रात्रि-जागरण, वेगविधारण, उच्च भाषण, वायु-सेवन आदि का परित्याग करना चाहिये।

वमन सम्बन्धी सामान्य निर्देश—

१. वमन में बहुत कष्ट होता है, ऐसा मिथ्या प्रचार समाज में व्याप्त है। विरेचन में कष्ट नहीं होता, यह समझ कर बहुत से रोगी नियमित रूप से विरेचक औषध लेते रहते हैं। बिना वमन एवं विधियुक्त पूर्व-कर्म के विरेचन लेने से धीरे-धीरे जाठराग्नि दुर्बल हो जाती है, शरीर भी क्षीण हो जाता है। यदि स्नेहन-स्वेदन का यथेष्ट पूर्व-प्रयोग किया जाय तो वामक द्रव्यों से सुखपूर्वक वमन हो जाता है।

२. वमन के समय रोगी का सिर उदर की तुलना में नीचे रहना चाहिए, यदि रोगी कुर्सी या शय्या पर बैठा हो तो सिर जानु के नीचे झुका रहना चाहिए। इस आसन से बैठने पर बिना श्रम के पर्याप्त मात्रा में दूषित मल निकल जाता है।

३. प्रत्येक वमन के बाद दोषों का निर्लेख तथा द्रावण करने के लिए गरम पानी में सेंधानमक आदि मिलाकर थोड़ा-थोड़ा पिलाना चाहिए।

४. दुर्बल-हीनसत्त्व रोगियों को आमाशय-नलिका से वमन कराया जा सकता है। विष आदि दूषित आहारजन्य व्याधियों में या अत्यधिक मद्यपान से मूर्च्छित होने पर यही विधि व्यवहार्य होती है। जिस प्रकार विरेचन की अपेक्षा बस्ति उत्तम मानी जाती है, उसी प्रकार वमन की तुलना में आमाशय-नलिका से आमाशय-प्रक्षालन अधिक सुकर एवं परिणाम में हितावह माना जाता है। श्लेष्मा की पिच्छिलता से कभी-कभी नलिका का मुख अवरुद्ध हो जाता है, अतः इस विधि से वमनजन्य शोधन कराने के लिए क्षार एवं लवण के प्रयोग से श्लेष्मा का प्रविलयन कर लेना आवश्यक होता है। किन्तु इस विधि से आंशिक रूप से दोषों का शोधन होता है। वमन के समय उत्क्लेश होकर दोषों का पर्याप्त मात्रा में निर्लेख होता है, वह उद्देश्य इस क्रिया से पूर्ण नहीं होगा।

५. वमन के समय नाक तथा नेत्रों से पानी, नेत्रों के सामने अंधेरी या स्फुलिंग के समान दृश्य दिखाई पड़ते हैं, इनसे घबड़ाने की कोई आवश्यकता नहीं, यह वमन शान्त होने पर स्वतः शान्त हो जाते हैं।

६. वमन के बाद गुनगुने पानी से कुल्ला करना, हाथ-मुँह धोना तथा कुछ समय शान्तचित्त लेटना चाहिए। वामक कल्क-चूर्ण तथा अवलेह की उत्तम मात्रा तीन पल, मध्यम मात्रा दो पल तथा हीन मात्रा एक पल की होती है।

७. वामक-क्वाथ की उत्तम मात्रा नव प्रस्थ[1] (एक प्रस्थ = लगभग ५४ तोला), मध्यम मात्रा ६ प्रस्थ तथा हीन मात्रा तीन प्रस्थ की होती है। कम मात्रा में क्वाथ पीने

१. वमने च विरेके च तथा शोणितमोक्षणे। अर्धत्रयोदश पलं प्रस्थमाहुर्मनीषिणः॥ (त्रिमल्लभट्ट)

से वमन में कष्ट भी अधिक होता है तथा दोष का शोधन भी सम्यक् नहीं हो पाता। यदि क्वाथ के पीने में असुविधा हो तो आमाशय नलिका (Stomach tube or Ryles tube) से क्वाथ की पर्याप्त मात्रा पेट में पहुँचा कर थोड़ी मात्रा बाद में पी लेनी चाहिए। रोगी का आहार, शरीर-गठन एवं बलाबल देखकर मात्रा का निर्धारण करना चाहिए।

८. सुकुमार, कृश, बालक एवं वृद्धों में वमन कराने की अपेक्षा होने पर दूध, दही, तक्र, यवागू या इक्षु-रस आकण्ठ पिलाकर वामक द्रव्यों को अल्प-मात्रा में बाद में पिलाना चाहिए।

९. वमन का प्रयोग साधारण काल में, पूर्व दिन के आहार का परिपाक हो जाने पर, प्रातःकाल के प्रथम प्रहर में किया जाता है।

१०. वामक द्रव्य सामान्यतया अरुचिकर, असात्म्य, अप्रिय गन्धयुक्त तथा बीभत्स स्वरूप के होने चाहिए।

११. वमन के बाद कम से कम २४ घण्टे तक शीतल जल, व्यायाम, ग्राम्य-धर्म, स्नेहन, अभ्यंग, प्रदेह एवं गुरुपाकी आहार का अवश्य परित्याग करना चाहिए अन्यथा वायु का प्रकोप हो जाता है।

१२. कभी-कभी वामक द्रव्यों के प्रयोग से वमन न होकर विरेचन होने लगता है। ऐसी अवस्था में २-३ दिन के बाद पुनः स्नेहन-स्वेदन करके अपेक्षाकृत मृदु द्रव्यों का प्रयोग करके वमन कराना चाहिए।

१३. वमन के वेगों के बीच में मधुयष्टी का अर्द्धावशिष्ट क्वाथ बार-बार पिलाते रहने से आमाशय-क्षोभ नहीं होता।

विरेचन

पित्त का मुख्य अधिष्ठान पित्तधरा कला का आधार अंग ग्रहणी माना जाता है। इस स्थल में सञ्चित हुआ दोष वमन या बस्ति-प्रयोग से नहीं दूर हो सकता। स्नेहन एवं स्वेदन के द्वारा क्लिन्न एवं स्विन्न होकर आया हुआ दोष विरेचन क्रिया के प्रभाव से शरीर के बाहर निकाल दिया जाता है। यदि वमन बिना कराए ही विरेचन का प्रयोग किया जाय तो पूर्व क्रियाओं से आमाशय में सञ्चित हुआ कफ नीचे की ओर विरेचक ओषधियों का पूर्वगामी बनकर ग्रहणी में फैल जायगा, जिससे विरेचक औषधों का पूर्ण प्रभाव लघ्वंत्र पर न हो सकेगा और विषम स्थिति होकर विरेचन एवं वमन दोनों की अल्प प्रवृत्ति होगी या उत्क्लेश आदि के आधिक्य से औषध का प्रयोग ही सम्भव न होगा। कफ का विपरीत मार्ग से निर्हरण होने से ग्रहणी के शोषक स्रोतसों के मुखों का आच्छादन कफ से होकर अग्निमान्द्य, ग्रहणी, प्रवाहिका आदि विकारों की उत्पत्ति हो सकती है। किसी कारण वमन न कराया जा सके तो ३-४ दिन तक पाचन ओषधियों के प्रयोग से आम एवं श्लेष्मा का पाचन करके विरेचन कराया जा सकता है।

वमन के १५ दिन बाद विरेचन-प्रयोग का विधान है। वमन कर्म के ७ दिन पश्चात्, वमनजन्य शारीरिक श्रान्ति मिट जाने पर, पूर्वोक्त विधि से पुनः स्नेहन-स्वेदन कराना चाहिए अन्यथा यदि दोष कुछ शेष रह गये होंगे तो उनका संशोधन न हो सकेगा। स्नेहन-स्वेदन से स्रोतसों में अवरुद्ध दोष प्रचलित होकर कोष्ठ में आ जाता है, जिससे विरेचक ओषधियों का पूर्ण प्रभाव होकर मल-शुद्धि होती है।

विरेचन के अधिकारी—अग्निमांद्य, अरुचि, स्थूलता, पाण्डुता, गुरुता, क्लान्ति, त्वचा में पिडिकाओं की अधिकता एवं दुर्गन्धि, कोठ, कण्डू आदि का पुनः पुनः प्रकोप, बेचैनी, आलस्य, श्रम, दुर्बलता, क्लैब्य, तन्द्रा, अवसाद, मंद-बुद्धि, अप्रिय स्वप्न-दर्शन तथा बृंहण प्रयोग से भी तृष्णा की वृद्धि होने पर, शरीर में अति मात्रा में दूषित दोषों का सञ्चय हुआ है ऐसा निर्णय कर विरेचन प्रयोग करना चाहिए। जीर्ण-ज्वर, पित्त-वातव्याधि, भगन्दर, अर्श, पाण्डु, उदर, शिर-नेत्र तथा कर्ण आदि के रोग, कुष्ठ, वातास्र, हृद्रोग, गुल्म, प्लीहा, विद्रधि, नाडीव्रण, वृषणवृद्धि, तिमिर, उन्माद, अपस्मार, ऊर्ध्वग रक्तपित्त, श्लीपद, कास और श्वास तथा विष-पीडित व्यक्तियों में विरेचन प्रयोग से बहुत लाभ होता है।

विरेचन का निषेध—वमन तथा स्नेहन-स्वेदन के बिना विरेचन देने से लाभ नहीं होता। गर्भिणी, बालक, वृद्ध, क्षत-क्षीण, अति स्निग्ध, अति स्थूल, तृष्णा पीड़ित, श्रमित, तरुणज्वरी, प्रसूता स्त्री, अधोगामी रक्तपित्त से पीड़ित, अतिसार, शोथ, क्षय, शोक एवं मदात्यय से पीड़ित रूक्ष शरीर वाले व्यक्तियों को विरेचन न देना चाहिए।

पूर्व-कर्म—विरेचक औषधों के प्रयोग के पूर्व १ से ३ दिन तक मधुर, अम्ल, लवण एवं स्निग्ध रस प्रधान आहार का सेवन कराना चाहिए। रात्रि में लघु भोजन दाडिमाम्ल के साथ दें। इन्हीं तीन दिनों में तिक्तकघृत (पटोलनिम्बकटुकादार्वी पाठादुरालभाः। पर्पटं त्रायमाणां च पलांशं पाचयेत्……॥ वा. चि. १९) का सेवन कराने से विरेचक ओषधियों से पित्त की विशेष शुद्धि होती है और धात्वंश का लेखन कम होता है। अन्तिम दिन—अर्थात् विरेचन देने के एक दिन पूर्व—शीघ्रपाकी, लघु उष्ण गुण प्रधान एवं स्निग्ध आहार का सेवन तथा उष्णोदक पान कराना चाहिए। रोगी की व्यवस्था इस प्रकार होनी चाहिए, जिससे विरेचन का भास न हो, रात्रि में भली प्रकार निश्चिन्त नींद आ जावे अन्यथा बेचैनी एवं घबड़ाहट के कारण वात-प्रकोप की सम्भावना रहती है, जिससे विरेचन का प्रभाव पूर्ण नहीं होता।

विरेचन विधि—प्रातःकाल शौचादि से निवृत्त हो जाने के उपरान्त प्रथम प्रहर—श्लेष्मा की दैनिक वृद्धि का काल—व्यतीत हो जाने एवं नित्यकर्म—प्रक्षालन-मार्जन से मुक्त हो जाने पर विरेचक औषध का सेवन कराना चाहिए। औषध के स्वाद-गन्ध एवं स्वरूप आदि में रुचिकर होने पर उसका पाचन होता है अन्यथा अरुचि होने पर उत्क्लेश की सम्भावना होकर वमन से औषध बाहर निकल आती है और इच्छित मात्रा

में विरेचन नहीं हो पाता। उत्क्लेश की सम्भावना होने पर मुख में शीतल जल के छींटे मारना, इलायची-लौंग आदि को मुख में रखना तथा मन को दूसरी तरफ लगाना चाहिए। चित्त में स्थिरता आने पर उष्णोदक से कुल्ला कराकर निर्वात-स्थान में मृदु शय्या पर शयन कराना चाहिए। एक बाल्टी उष्णोदक तथा शौच-त्याग की व्यवस्था इसी निर्वात स्थान में होनी चाहिए। औषध प्रयोग के २ घण्टे बाद प्रायः विरेचन का वेग प्रारम्भ होता है। थोड़ा भी वेग आने पर, अधिक वेग आने की प्रतीक्षा में आलस्य से रोकना उचित नहीं, बिना वेग के प्रवाहण करना, शौच में अधिक समय लगाना, कुंथन करना, सम्भव है अभी और मल आवे—इस आशा में अधिक देर तक बैठना आदि का पूर्ण निषेध कर देना चाहिए। एक बार में वेग के साथ शौच हो जाने पर तुरन्त थोड़े पानी (उष्ण) से शुद्धि कर शय्या पर आ जाना चाहिए। पैर-हाथ आदि के प्रक्षालन में कम से कम जल का व्यवहार कराना चाहिए। शौच के उपरान्त बीच-बीच में उष्णोदक-पान से वेग-प्रवृत्ति सुखपूर्वक होती है, वातघ्न द्रव्यों की उपनाहवत् पोटली बनाकर उदर में ऊपर से नीचे की ओर सेकने या रबर की थैली में गरम पानी भरकर सेकने से वेग प्रवृत्ति में सुविधा होती है। प्रायः २-३ घण्टे में विरेचन का समय पूरा हो जाता है। कदाचित् इच्छित मात्रा में रेचन न हुआ हो तो बलवान् एवं दीप्ताग्नि पुरुष को उसी दिन पुनः विरेचक औषध दी जा सकती है, किन्तु पुनः प्रयोग के पूर्व प्रथम प्रयुक्त औषध की जीर्णता का निर्णय कर लेना आवश्यक होता है, अनेक रोगियों में विरेचन विलम्ब से प्रारम्भ होता है—अन्यथा द्विगुण मात्रा हो जाने का भय हो सकता है। यदि संतोषजनक शुद्धि न हुई हो तो सायंकाल लघु भोजन कराकर पुनः दूसरे दिन प्रातःकाल योग्य प्रमाण में विरेचक औषध दे सकते हैं।

अपर्याप्त विरेचन के कारण—वातप्रधान व्यक्ति क्रूरकोष्ठ (जिन्हें तीव्र औषध प्रयोग पर साधारण विरेचन होता है), पित्त प्रकृति वाले मृदु कोष्ठ के (जिन्हें साधारण विरेचक द्रव्यों से सरलतापूर्वक मलप्रवृत्ति हो जाती है) और शेष मध्य-कोष्ठ के होते हैं। जाठराग्नि तीव्र होने पर भी औषध का कुछ अंश नष्ट हो जाता है। अनुशासन में रहने वाले व्यक्ति को—पर्दानशीन स्त्रियाँ, भृत्य एवं परमुखापेक्षी व्यवसायी आदि, अकाल या अनियमित समय में भोजन करने वाले व्यक्तियों को प्रकृत्या वेगधारण का अभ्यास हो जाता है। इन सभी स्थितियों में योग्य प्रमाण में प्रयुक्त औषध भी व्यर्थ हो जाती है। ऐसी स्थिति में कोष्ठ को स्नेहन प्रकरण में बताए हुए क्रम से पुनः स्निग्ध कर द्विगुण मात्रा में विरेचन प्रयोग करना चाहिए। यदि उक्त कोष्ठ एवं प्रकृति-व्यवसाय आदि का पहले से विचार कर लिया जाय तो औषध योजना तथा विरेचन क्रिया में समरसता हो सकती है। व्याधियों के प्रभाव से क्रूर कोष्ठ वाले मृदु तथा मृदु कोष्ठ वाले क्रूरकोष्ठवत् हो जाते हैं, इसका ध्यान रखना चाहिए।

पित्तल व्यक्तियों को कषाय-मधुर रस प्रधान, कफप्रधान को तिक्त-कटु एवं चरपरे

पदार्थ तथा वातप्रधान व्यक्तियों को स्निग्ध-उष्ण-लवण रस प्रधान द्रव्यों से विरेचन देना चाहिए। रूक्ष शरीर एव आहार वाले व्यक्ति को स्निग्ध तथा स्निग्ध को रूक्ष गुण विशिष्ट औषध देना उचित होता है।

विरेचक औषधें—निशोथ, अमलतास का गूदा, स्वर्णक्षीरी, स्नुहीक्षीर, त्रिफला, जयपालबीज, मुनक्का तथा इन्द्रायण की जड़, कुटकी, स्वर्णपत्री प्रमुख विरेचक औषधें हैं। वामक औषधों में मदनफल तथा विरेचक में निशोथ सर्वोत्तम माना जाता है। अतः सामान्य रूप में इसी का अधिक प्रयोग होता है। उदर बस्तिविकार एवं गुल्म में स्नुहीक्षीर; आमवात एवं इतर आमदोषज व्याधियों में अमलतास का गूदा; कृमिरोग एवं उत्क्लेश के आधिक्य में स्वर्णक्षीरी-पंचांग कषाय, इन्द्रायण की जड़ एवं श्लेष्मल व्यक्तियों में जयपाल का प्रयोग अधिक लाभकर होता है। क्रूर कोष्ठ वाले व्यक्ति को जयपाल, स्वर्णक्षीरी, स्नुहीक्षीर तथा मध्यकोष्ठ को निशोथ, कुटकी, अमलतास, सनाय की पत्ती एवं मृदुकोष्ठ को त्रिफला, निशोथ, मुनक्का, स्वर्णपत्री का योग देना चाहिए। पित्तप्रधान मृदुकोष्ठ रोगियों को मुनक्का के क्वाथ में निशोथ का चूर्ण ६ माशा डाल कर या पित्तोल्बणता होने पर अमलतास के गूदे को पानी में भिंगो कर दूध में मिलाकर पिलाना चाहिए। कफप्रधान में त्रिकटु चूर्ण के साथ जयपालबीज मिलाकर गोमूत्र या त्रिफला-क्वाथ से मधु के साथ देना चाहिए। वाताधिक्य होने पर स्वर्णक्षीरी, इन्द्रायण की जड़, मुनक्का का क्वाथ बनाकर निशोथ का प्रक्षेप डाल यथावश्यक एरण्ड तैल मिला कर दिया जाता है। नीचे विरेचन के मृदु-मध्य तथा तीव्र गुण वाले ३ योग मार्ग दर्शनार्थ संगृहीत हैं, किन्तु रोगी की प्रकृति, सहनशक्ति, दोष का संचय तथा बलाबल, कोष्ठ की स्थिति, व्याधियों का अनुबन्ध एवं औषधों का रस-गुण-वीर्य आदि का पूरा विचार कर अनेक योग कल्पित किए जा सकते हैं।

१. **मृदुयोग**—अमलतास का गूदा १ तोला, सनाय की पत्ती (स्वर्णपत्री) १ तोला, मुनक्का २ तोला को ऽ। पानी में पकाकर ८ तोला शेष रहने पर मसल एवं छान कर २-३ तोला मिश्री मिला कर सबेरे पिलाना चाहिए। इसे स्वादिष्ट बनाने के लिए शतपुष्पार्क, पुदीनार्क या इलायची आदि यथोचित मिला सकते हैं।

२. **मध्यम योग**—(१) निशोथ चूर्ण १ तोला में ३ माशा स्नुहीक्षीर मिलाकर पुदीना के रस में घोट कर २ माशा से ३ माशा की मात्रा में देने से संतोषजनक लाभ होता है।

(२) निशोथ की छाल (भीतर का डण्ठल निकाल कर) १ तोला, बादाम (कड़ुए न हों) का तेल १ तोला, छोटी इलायची ३ माशा तथा मिश्री १ तोला मिलाकर एकदिल कर ले, इसे १ तोला सनाय की पत्ती के शीतकषाय या फाण्ट से दे।

३. **तीव्रयोग**—इच्छाभेदी रस, नाराच रस, विन्दुघृत आदि शास्त्रीय योग अच्छे हैं। जयपालयुक्त इच्छाभेदी रस, नाराच रस प्रयोग करने पर अनुपान में शीतल

जल या मिश्री का शर्बत देना चाहिए। अभीष्ट मात्रा में विरेचन हो चुकने पर उष्णोदक पिलाने से मल प्रवृत्ति बन्द होती है।

सम्यग् विरिक्त के लक्षण—विरेचन के अन्त में मल निकल जाने पर कफ का उत्सर्ग होता है। शरीर की लघुता, मानसिक प्रसन्नता, शुद्ध उद्गार एवं वातानुलोमन तथा शक्ति की क्षीणता होती है। इससे थोड़े समय में ही रोगी की जाठराग्नि की प्रदीप्ति, धातुओं की स्थिरता, इन्द्रियों की बल-वृद्धि, बुद्धि की प्रखरता तथा पैत्तिक विकारों का पूर्ण प्रशम होता है। क्षुधा-तृष्णा का रुचिपूर्वक अनुभव, पूर्व व्याधियों का ह्रास तथा हृदय एवं शारीरिक वर्ण की निर्मलता सम्यग् विरेचन होने पर होती है।

विरेचन का अतियोग—आमाशय प्रदेश में दाह, अरुचि, उत्क्लेश, वमन, भ्रम, मूर्च्छा, तृष्णा, दाह, शूल, गुदभ्रंश तथा मल अत्यधिक मेदयुक्त और मांस के धोवन के समान रक्तवत् या कृष्णवर्ण का पतला होता है तथा ऊर्ध्वगामी वाग्ग्रहादिक व्याधियाँ बढ़ जाती हैं। रोगी बहुत बेचैन हो जाता है। इसकी शान्ति के लिए आम की गुठली या आम की छाल कांजी में पीस कर नाभि के चारों ओर लेप करें। नेत्रबाला, नागकेशर, लालचन्दन, मोचरस, आमला का क्वाथ बना कर मिश्री के साथ थोड़ा-थोड़ा पिलायें तथा इसी से परिषेक करें। अनार का रस तथा फिटकिरी से फाड़े दूध का पानी पिलाने से भी शीघ्र शान्ति मिलती है।

हीन योग—ष्ठीवनयुक्त श्लेष्मा एवं पित्त का उत्क्लेश, आध्मान, उदरशूल, हृदय की स्तब्धता, अरुचि, जंघा-ऊरु आदि में पीड़ा, तन्द्रा तथा आलस्य की उत्पत्ति, शरीर की गुरुता, दुर्बलता का अभाव और पीनस के समान नाक से स्राव, वायु का उदर में अवरोध होता है। ऐसी स्थिति में पहले वर्णित मध्यम योग अथवा आरग्वधादि क्वाथ को मिश्री के साथ मिलाकर पिलावें। यदि इससे कोष्ठशुद्धि हो जाय तो ठीक है अन्यथा उस दिन उष्णोदक पान एवं लघु भोजन कराकर बाद में (प्रायः ५–७ दिन बाद) पुनः स्नेहन कराकर विरेचन दें।

विरेचन के सामान्य नियम—

१. विष-पीडित, क्षत-क्षीण, पाण्डु, विसर्प, कुष्ठ, प्रमेह एवं पिडिका पीडित व्यक्ति को अल्प स्नेहन के बाद ही विरेचन देना चाहिए।

२. शीतल वायु-जल का प्रयोग, स्नान, हस्त-पाद प्रक्षालन, शीतल जलपान, निद्रा, अजीर्णकारक गुरुभोजन, व्यायाम, ग्राम्यधर्म तथा तैलाभ्यंग का विरेचन प्रयोग के बाद कम से कम ३ दिन तक निषेध करना चाहिये।

३. यदि विरेचक औषध देने के बाद अकस्मात् दुर्दिन (बादल) हो जाय तो उदर पर गरम रूई या गर्म पानी की थैली बाँध लेना चाहिए।

४. विरेचन के उपरान्त यदि जाठराग्नि प्रदीप्त हुई हो तो उस दिन पथ्य न देना चाहिए। सायंकाल दीपन-पाचन द्रव्यों से साधित पेया देकर दूसरे दिन लघु भोजन

दिया जाता है। वात-पित्त प्रधान व्यक्तियों में दोष का पूर्ण शोधन न होने पर सायंकाल चावल का सत्तू, फिर पुराना शालि चावल और अन्त में यूष एवं साधारण गला हुआ भात देना चाहिए।

बस्तिकर्म

वमन और विरेचन के द्वारा क्रम से आमाशय-पित्ताशयगत दोषों का शोधन होता है, किन्तु पक्वाशय-मलाशय-मूत्राशय इत्यादि नाभि के नीचे के अंगों की शुद्धि के लिये बस्ति का प्रयोग करना पड़ता है। नाभि के नीचे वायु का विशिष्ट अधिष्ठान होने के कारण वातसंशोधन के लिये बस्तिप्रयोग अनिवार्य होता है। अधिकांश व्याधियाँ वायु की दुष्टि से ही पैदा होती हैं। दूसरे दोषों में वायु की अपेक्षा गतिशीलता कम होने के कारण वातसाहचर्य के बिना सर्वाङ्गव्यापी व्याधियाँ कम होती हैं। इसीलिये सभी जीर्ण रोगों में वायु प्रधान होती है। सभी वातरोगों में बस्तिप्रयोग दोष के मूलोच्छेदन में परमोपयोगी होता है। इसीलिये कुछ आचार्यों ने बस्तिविज्ञान को चिकित्सा का अर्धांश कहा है—'बस्तिं चिकित्सार्धमिति वदन्ति' (चरक)। जब शारीरिक दुर्बलता के कारण दूसरे शोधनकर्म अव्यवहार्य हो जाते हैं तब दोषों के संशोधनार्थ बस्ति का ही प्रयोग होता है। कोमल बच्चे, गर्भिणी स्त्री, अति वृद्ध, अति स्थूल एवं कृश इत्यादि सभी रोगियों में बस्ति का प्रयोग निर्बाध रूप में किया जा सकता है।

प्राचीनकाल में बस्तिकर्म में बकरा या भेंड़ के मूत्राशय का संग्राहक और उत्क्षेपक यन्त्र के रूप में प्रयोग होता था। इसीलिये इस प्रक्रिया का नाम बस्ति पड़ा। मूत्राशय का संशोधन, मलाशय के शोधन के द्वारा मूत्राशय का शोधन इत्यादि कर्मों में मूत्राशय शोधन की प्रधानता के कारण भी बस्ति नामकरण हुआ होगा।

बस्ति की उपयोगिता—वातिक दोषजनित व्याधियों के शमन के लिये मुख्य रूप से बस्तिप्रयोग हितकर होता है। पित्त एवं कफ में कर्तृत्व शक्ति वायु की अपेक्षा कम होती है। वायु की प्रेरणा से ही उनका प्रचलन होता है।[1] इस प्रकार सामान्यतया समस्त व्याधियों में वायु की सहकारिता होती है। बस्ति के प्रयोग से अपान वायु का अनुलोमन होकर संचित मल, आमांश एवं दूषित पित्त का शोधन होकर सम्पूर्ण मलाशय, पक्वाशय, मूत्राशय, गर्भाशय आदि अङ्गों का सम्यक परिमार्जन हो जाता है। शरीर के दैनिक समवर्त (Metabolism) मे अनेक प्रकार के दूषित विष उत्पन्न हुआ करते हैं। इन त्याज्य विषों का अत्यधिक अंश मल एवं मूत्र के माध्यम से उत्सृष्ट किया जाता है। बस्ति के प्रयोग से इन मलों का शोधन होने के कारण एक प्रकार से सम्पूर्ण शरीर का ही शोधन हो जाता है। मल-मूत्र की सम्यक् शुद्धि होने पर चित्त में प्रसन्नता एवं शरीर में लघुता और इन्द्रियों में निर्मलता का जो अनुभव होता है, वह मल-मूत्रावरोध

---

१. 'पित्तं पङ्गु कफः पङ्गुः पङ्गवो मलधातवः। वायुना यत्र नीयन्ते तत्र वर्षन्ति मेघवत् ॥'

से पीड़ित व्यक्ति ही वास्तव में अनुभव करता है। जीर्ण व्याधियों में धातुमलों की अधिक उत्पत्ति होती है, किन्तु उत्पत्ति के अनुपात में उनका शोधन नहीं हो पाता। इसीलिये समान्यतया सभी जीर्ण व्याधियों में शोधन चिकित्सा का और विशेष रूप में बस्ति का महत्त्व होता है। बस्ति के इन व्यापक प्रभावों की ओर रुचि आकृष्ट करने के लिए महर्षि अग्निवेश ने बस्ति का चिकित्सार्ध (तस्माच्चिकित्सार्धमिति ब्रुवन्ति सर्वां चिकित्सामपि बस्तिमेके) के रूप में उल्लेख किया है। एकीय मत के उल्लेख से उस काल में बस्ति को ही सम्पूर्ण चिकित्सा मानने वाले वर्ग की सत्ता स्पष्ट हो जाती है। आजकल 'प्राकृतिक चिकित्सक' बस्ति-प्रयोग को अपनी चिकित्सा का मूलाधार मानते हैं। धान्वन्तरि संप्रदाय के प्रमुख आचार्य राजर्षि सुश्रुत ने भी बस्ति की महत्ता को मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है।[1] किसी वय के रोगी को कभी भी बस्तिप्रयोग कराया जा सकता है, मात्राबस्ति का प्रयोग निरन्तर करने से दीर्घ जीवन एवं शारीरिक सुस्वास्थ्य का अनुवर्त्तन होता है।

इन सर्वांगीण विशेषताओं के होते हुए भी पता नहीं किन कारणों से बस्ति का प्रयोग वैद्य समाज से पृथक् हो गया। बहुत कम चिकित्सक इसके प्रयोग-विज्ञान का अध्ययन करते हैं। उससे कम संख्या उन चिकित्सकों की है, जिन्होंने जीवन में एक बार भी बस्ति का प्रयोग अपने हाथ से किया है। वास्तव में इस अनवधानता का कारण आलस्य एवं प्रमाद ही कहा जा सकता है। रोग विनिश्चय के लिए नाड़ी-स्पर्श (?) और चिकित्सा में कुछ रस-चूर्ण-क्वाथ-अवलेह-अरिष्ट- तैल का व्यवहार ही कायचिकित्सा की मर्यादा रह गई है। औषध रूप में प्रयुक्त होने वाली वनस्पतियों का ज्ञान भी पंसारियों या औषध बेचने वालों के द्वारा ही प्राप्त होता है—स्वयं श्रम करके 'वनेचरों' या जानपदीय वनस्पति-वेत्ताओं से ज्ञान प्राप्त करने की चरक की परिपाटी का लोप हो गया है।

वैद्य समाज से उपेक्षित होने के कारण बस्ति का जनता ने तिरस्कार सा कर रखा है। यदि किसी रोगी को बस्तिप्रयोग का निर्देश किया जाता है, तो उसको शल्य चिकित्सा के तुल्य तैयारी करनी पड़ती है। प्रचलन न होने के कारण इतना भय व्याप्त हो गया है। चिकित्सक जब तक बस्ति-फलवर्त्ति-प्रायोगिक धूमवर्त्ति आदि का व्यापक रूप में यथानिर्देश व्यवहार नहीं करेंगे, इनके विशिष्ट गुणों से जन-समाज अपरिचित ही रहेगा।

बस्ति यन्त्र—प्राचीन काल में बस्ति यन्त्र का मूलाधार बकरा-भेड़ आदि प्राणियों के मूत्राशय से बनता था। बस्ति का मुख्य उपकरण के रूप में प्रयोग होने के कारण इस पद्धति का नामकरण 'बस्ति चिकित्सा' हो गया। बस्तिनेत्र धातु निर्मित होता था। बस्ति यन्त्र के निर्माण की विस्तृत पद्धति प्राचीन संहिताओं में स्पष्ट रूप से वर्णित की गई है। व्यावहारिक उपयोगिता की दृष्टि से आज पाश्चात्य चिकित्सा में

---

१. 'तत्र स्नेहादीनां कर्मणां बस्तिकर्म प्रधानतममाहुराचार्याः। तस्मादनेककर्मत्वाद्बस्तेरिह बस्तिर्नानाविधद्रव्यसंयोगाद् दोषाणां संशोधन-संशमन-संग्रहणानि करोति…।' (सु० सं०)

इस कार्य के लिए जिन उपकरणों का प्रयोग होता है, उनका बस्ति कर्म में प्रयोग सुविधापूर्वक किया जा सकता है। आस्थापन, अनुवासन एवं उत्तरबस्ति आदि सभी क्रियाओं का सम्यक् प्रतिपादन इन उपकरणों से होता है। ये उपकरण सर्वत्र सुलभ तथा क्रिया की दृष्टि से भी सुकर हैं, अतः इनका उपयोग बिना किसी संकोच के करना चाहिए।

पाश्चात्य चिकित्सा में तीन प्रकार के बस्ति-यन्त्रों का प्रमुख रूप में प्रयोग किया जाता है—

१. बस्ति पात्र (Pot enema)—काँच या एनामेल किए हुए लोहे का १ से ४ पाइन्ट के परिमाण का पात्र होता है, जिसमें नीचे की ओर एक नली रहती है। नली में रबर का ६ फुट लम्बा ट्यूब लगा रहता है। ट्यूब के अगले भाग में मिश्रित धातु, शृङ्ग या प्लास्टिक आदि का बस्तिनेत्र लगा रहता है। उत्तर बस्ति के लिए बस्ति नेत्र में कई छिद्रों वाला किंचित् वक्र कुण्ठिताग्र लम्बा नेत्राग्र होता है। मूत्राशय-शोधन के लिए इसी में आगे रबर या धातु की मूत्रनलिका (Rubber or metal catheter) लगायी जा सकती है। प्रयोग करने के पूर्व पानी में उबाल कर या यथावश्यक जीवाणुनाशक द्रव्यों से प्रक्षालित कर काम में लेना चाहिए। अल्प मात्रा में द्रव प्रवेश कराना हो तो रबर के ट्यूब में काँच का विन्दु यन्त्र (murphy's drip) लगाया जा सकता है।

२. कंदुक बस्ति (Ball enema)—इसमें रबर का एक गेंद सा होता है, पूर्व के सिरे में एक नली रहती है जिसके बीच में नियन्त्रण के लिए चने के बराबर का छर्रा रहता है और आगे के सिरे में जिसकी लम्बाई १-२ फीट होती है. बस्ति नेत्र लगा रहता है। इसके बीच में भी नियन्त्रक रहता है। प्रयोग करते समय इसके पूर्व का सिरा प्रवेश्य द्रव में डुबो दिया जाया है तथा कंदुक को दबा कर वायु बाहर निकाल कर प्रयोग किया जाता है।

३. पिचकारी बस्ति (Glycerine syringe)—एक औंस से ८ औंस तक परिमाण की पिचकारी होती है, जिसके आगे बस्ति नेत्र लगा रहता है। प्रायः स्नेहार्थ या मलाशय शोधनार्थ अल्प मात्रा में प्रवेश्य द्रव का उपयोग अपेक्षित होने पर इसको काम में लेते हैं। बहुत ही निरापद प्रयोग माना जाता है। क्षीण-दुर्बल-बालक-वृद्ध आदि सभी अवस्था के रोगियों में आवश्यक होने पर इसका प्रयोग निरुपद्रव होता है।

बस्ति प्रयोग की सामान्य विधि—रोगी को बाईं करवट तख्त पर लिटाकर बायाँ पैर फैला हुआ और दाहिना पैर आगे की ओर झुका कर मुड़ा हुआ होना चाहिये। बस्ति यन्त्र २ से ४ फीट की ऊँचाई पर दीवाल में मजबूत कील गाड़ कर टाँग देना चाहिये। प्रयोग के पहले यन्त्र को गरम पानी से भली प्रकार साफ कर काम में लेना चाहिये। क्वाथ या जिन तरल द्रव्यों का प्रयोग करना हो उनको सुखोष्ण ही बस्ति यन्त्र में डालना चाहिये। फिर बस्तिनेत्र खोलकर पानी की धार निकाल देने से नलिका में

रहने वाली वायु निकल जाती है। इसके बाद एरण्ड तैल से बस्तिनेत्र को स्निग्ध कर रोगी के दक्षिण नितम्ब को उठाकर गुद द्वार को एरण्ड तैल से स्निग्ध कर बस्तिनेत्र धीरे-धीरे प्रविष्ट करना चाहिये। बस्तिनेत्र प्रवेश के समय द्रव का प्रवाह अवरुद्ध रहना चाहिये। कभी-कभी रोगी जोर से गुदा संकुचित कर लेता है, जिससे चढ़ाने में बाधा पड़ती है, अतः जोर-जोर से श्वास-प्रश्वास करने के लिये कहना चाहिये। यदि केवल मलाशय शुद्ध करना हो तो नलिका का मुख खोल देने से द्रव मलाशय में प्रविष्ट हो जाता है। यदि वाताशय तक पहुँचाना हो तो नलिका के अग्र में मूत्र शोधक नली (१० वा १२ नम्बर रबर कैथेटर) संयुक्त कर पूर्ववत् स्निग्ध कर भीतर प्रविष्ट कराते हैं। अष्ठीलाग्रन्थि-वृद्धि (Hypertrophy of the prostate), वातार्श और गुदविदार (Fissures) में नलिकाप्रवेश कष्टपूर्वक होता है। कभी-कभी नलिका के मुख पर मल का अवरोध हो जाने के कारण द्रव प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है। ऐसी स्थिति में नलिका को थोड़ा आगे पीछे करके या बस्ति यन्त्र की ऊँचाई घटा-बढ़ा देने से द्रव सञ्चार ठीक हो जाता है। अधिक वेग से द्रव के भीतर पहुँचने पर रोगी को कुछ बेचैनी का अनुभव होता है और मलोत्सर्जन की इच्छा तुरन्त हो जाती है। यदि बस्ति यन्त्र अधिक ऊँचा न रक्खा जाय और शनैः शनैः द्रव प्रवेश हो तो कष्ट का अनुभव रोगी नहीं करेगा। यन्त्र में स्वल्प द्रव शेष रहने पर प्रवाह बन्द कर देना चाहिये अन्यथा वायु के प्रवेश का भय रहता है। एक बार में एक पाइण्ट से २ पाइण्ट तक द्रव मलाशय में प्रविष्ट कराया जा सकता है।

उक्त प्रकार से द्रव को प्रविष्ट कराने के बाद रोगी को सीधे लिटा देना चाहिये। धीरे-धीरे हाथ से वाम उदर पार्श्व दक्षिण कुक्षि की ओर वृत्त में सहलाना चाहिये। यदि रोगी दस-पन्द्रह मिनट तक मल के वेग का अवरोध कर सके तो शोधन पूर्ण होता है। शौच जाने के पहले दो-तीन मिनट टहल लेने से अनुलोमन ठीक होता है। शौच के समय कुंथन करना या प्रवाहण करना उचित नहीं। इससे अपान वायु विगुणित हो जाती है तथा प्रविष्ट जल या द्रव सुखपूर्वक नहीं निकलता। शौच के समय चढ़ाया हुआ जल, मल की जमी हुई कठोर गाँठों के बदबूदार हरे-काले टुकडे निकलते हैं। प्रायः सभी द्रव बाहर निकल आता है। कभी-कभी रूक्ष प्रकृति वाले व्यक्तियों में द्रव का अधिकांश मलाशय में ही अवरुद्ध होकर शोषित हो जाता है। ऐसी स्थिति में चिन्तित नहीं होना चाहिये। कुछ समय बाद स्वतः मल का शोधन हो जाता है। जीर्ण कोष्ठबद्धता के रोगियों में द्रव की अधिक मात्रा चढ़ानी पड़ती है। अल्प मात्रा से प्रारम्भ कर धीरे-धीरे २-३ सेर तक द्रव चढ़ाया जा सकता है, प्रारम्भ में ही अधिक नहीं। बस्ति प्रयोग से एक-दो दिन में पूरा लाभ नहीं होता। बीच-बीच में अन्तर देकर या आवश्यकतानुसार निरूहण कराते हुए अनुवासन कराते रहने से पूर्ण लाभ होता है।

बस्ति के भेद—गुण-कर्म की दृष्टि से बस्ति के ३ भेद किए जाते हैं। १. अनुवासन बस्ति, २. आस्थापन बस्ति, ३. उत्तर बस्ति।

अनुवासन बस्ति—इसे स्निग्ध बस्ति भी कहते हैं। अनुवासन का अर्थ—अनुवसन्नपि न दूषयति अर्थात् स्निग्ध द्रवांश के भीतर रुक जाने पर भी कोई विकारोत्पत्ति नहीं होती और स्नेहयुक्त बस्ति का घृत-तैलांश कोष्ठ में रह जाने पर भी दोष नहीं उत्पन्न करता एवं बिना किसी कष्ट के बहुत समय तक इसका सेवन किया जा सकता है। इन्हीं कारणों से इसे अनुवासन बस्ति या स्नेह के आधिक्य के कारण स्निग्ध बस्ति और पोषक होने के कारण बृंहण बस्ति भी कहते हैं।

अनुवासन बस्ति के अधिकारी—रूक्ष शरीर वाले, वातप्रधान व्याधियों से आक्रान्त तथा तीव्राग्नियुक्त व्यक्ति मुख्य रूप से अनुवासन के अधिकारी माने जाते हैं। गुल्म, तीव्र रूप के यकृत्-प्लीहविकार, आध्मान, उदरशूल, जीर्ण अतिसार, जीर्ण ज्वर, जीर्ण प्रतिश्याय, हृत्स्तम्भ, पार्श्वशूल, सुप्ति, शोष, अंगशोष, कम्पवात, जडता, आन्त्र-कूजन, वातानुलोमन, अश्मरी, शर्करा, अण्डवृद्धि, शुक्राल्पता, उन्माद, कृमिरोग, विषमाग्नि, पूतिगन्धयुक्त अपान वायु का अनुलोमन, पक्षवध, अर्दित, हनुस्तम्भ, अपस्मार, आमवात, मूत्रकृच्छ्र आदि वातप्रधान व्याधियों में इसका प्रयोग अधिक किया जाता है। यों इसकी व्यापकता बताते हुए सुश्रुतसंहिता में वातज-पित्तज-कफज-रक्तज-द्वन्द्वज एवं सान्निपातिक सभी विकारों में प्रयोग का विधान बताया गया है।[1]

अनुवासन के अनधिकारी—ऊरुस्तम्भ (आढ्यवात), पाण्डु, कामला, वातरक्त, प्लीह विकार, आमातिसार, स्थौल्य, सभी प्रकार के प्रमेह, पीनस, अभिष्यन्द, गरविकार, अपची, श्लीपद, गलगण्ड, गण्डमाला और लंघन करने वाले व्यक्तियों को अनुवासन का प्रयोग नहीं कराना चाहिए। पाण्डु-कफोदर-प्लीहोदर आदि रोगों में अनुवासन प्रयोग से उत्क्लेश होकर जलोदर होने की सम्भावना होती है। आस्थापन के लिए अयोग्य व्यक्तियों को सामान्य रूप से अनुवासन के लिए भी अनधिकारी माना जाता है। किन्तु उदरविकार, मधुमेह, उदावर्त्त, कुष्ठ तथा स्थूलता से पीडित व्यक्तियों को अनुवासन कदापि नहीं कराना चाहिए। आवश्यकता होने पर आस्थापन का प्रयोग कराया जा सकता है। आगे वर्णित रोगियों में आस्थापन का प्रतिषेध किया गया है। अधिक स्नेहन गुणयुक्त व्यक्तियों में अनुवासन प्रयोग से भी कफ की अधिक वृद्धि होकर गुरुता, जड़ता, स्थौल्य आदि विकार उत्पन्न होते हैं। उरःक्षत से पीडित तथा अत्यधिक कृश रोगियों में भी स्निग्ध बस्ति प्रयोग हितकर नहीं माना जाता। वमन से पीडित एवं नस्यकर्म आदि अन्य प्रकार के संशोधनोपचारों के तुरन्त बाद एवं मन्दाग्नि पीडित व्यक्तियों में भी अनुवासन बस्ति के प्रयोग से हानि होती है। श्वास, कास, तीव्र प्रतिश्याय, हिक्का, आमयुक्त

---

१. वस्तिर्वाते च पित्ते च कफे रक्ते च शस्यते। संसर्गे सन्निपाते च बस्तिरेव हितः सदा॥

आध्मान, शोफ, श्लीपद, कुष्ठ, कफोदर एवं बद्ध-छिद्र-जलोदर से आक्रान्त रोगियों तथा स्थूल शरीर वाले व्यक्तियों में अनुवासन का प्रतिषेध किया जाता है। गर्भिणी के सप्तम मास में स्निग्धवस्ति का प्रयोग नहीं कराया जाता।

अनुवासन की विशिष्ट उपयोगिता—अनुवासन का महत्वपूर्ण प्रभाव अपान वायु को अनुलोमित करना है। विगुणित अपान वायु के शमन से मल-मूत्र-शुक्र-आर्त्तव एवं गर्भ सम्बन्धी सभी विकारों में लाभ होता है। स्नेहन गुण के कारण शरीर का बृंहण भी अनुवासन से होता है। कष्टार्त्तव एवं गर्भाशय के दूसरे वातिक विकारों में उत्तर-बस्ति के रूप में भी अनुवासन द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है। जीर्ण मलावरोध होने से मलाशय में मल की गाँठें सी पड़ जाती हैं और कई बार शौच की प्रवृत्ति होने पर भी उदर में लघुता का अनुभव नहीं होता अथवा आंतों की दुर्बलता के कारण मल जहाँ का तहाँ रुका रहता है, समय से मलाशय में नहीं आ पाता। इन सभी अवस्थाओं में अनुवासन बस्ति का प्रयोग कुछ काल तक नियमपूर्वक करने से लाभ होता है। अर्दित, पक्षवध, गृध्रसी, अष्ठीला एवं रूक्ष-लघु-सूक्ष्म-चल-खरत्व गुणप्रधान सार्वदैहिक वातिक व्याधियों में इस बस्ति के दीर्घकालानुबन्धी प्रयोग से आश्चर्यजनक लाभ होता है।

अनुवासन काल—विरेचन कराने के १५ दिन बाद शरीर में स्वाभाविक स्थिति आ जाने पर अनुवासन कराया जा सकता है। अन्तिम विरेचन देने के एक सप्ताह बाद से सामान्य रूप से पुनः स्नेहन-स्वेदन प्रक्रियाओं के द्वारा आंतरिक अंगों में लीन मल को प्रचलित करा देना चाहिए, जिससे बस्ति प्रयोग से दोष-मलों का सम्यक् शोधन हो सके। सामान्यतया स्नेहन कराने के बाद निरूहण या आस्थापन कराने की अपेक्षा होती है। यदि बस्ति-प्रयोग के पहले स्वेदन के द्वारा शरीर पर्याप्त मात्रा में स्निग्ध हो चुका हो या उदर में आमांश का अधिक मात्रा में संचय या मेदोवृद्धि के लक्षण उपस्थित हों तो अनुवासन या स्निग्ध बस्ति का प्रयोग न कराकर निरूहण ही कराना चाहिये।[1]

बस्ति का प्रयोग किसी भी ऋतु में किया जा सकता है, किन्तु पंचकर्म के रूप में विधिवत् प्रयोग करने की दृष्टि से समऋतु अर्थात् वसन्त, प्रावृट् और शरद् में ही करना चाहिये। हेमन्त ऋतु और वसन्त ऋतु में अनुवासन बस्ति का प्रयोग पूर्वाह्न में तथा दूसरी ऋतुओं में मध्याह्नोत्तर क्वचित् अपराह्न में भी इसका प्रयोग कराया जा सकता है। सुश्रुत संहिता में रात्रि में बस्तिप्रयोग का निषेध किया गया है क्योंकि रात्रि में तम, क्लेद तथा शीत की प्रधानता के कारण स्निग्ध बस्ति के प्रयोग से

१. 'पक्षात् विरेको वमिते ततः पक्षान्निरूहणम्। सद्यो निरूढश्चान्वास्यः सप्तरात्राद्विरेचितः ॥'
(योगसमुच्चय में उल्लिखित आचार्य वाहट की उक्ति)
'अनुवास्य स्निग्धतनुं तृतीयेऽह्नि निरूहयेत्।
मध्याह्ने किञ्चिदावृते'—चक्रदत्त

आध्मान, गौरव, स्तब्धता इत्यादि विकार बढ़ जाते हैं और दिन में विशेष कर मध्याह्न में आहार का पाचन होते समय शरीर में आभ्यन्तरिक स्रोतों के मुख अन्नरस का प्रचूषण करने के लिए उन्मुक्त हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में बस्ति द्वारा प्रयुक्त स्नेह अनवरुद्धमुख-स्रोतसों के मार्ग से सारे शरीर में प्रसरित हो जाता है। इस प्रकार अनुवासन बस्ति का प्रयोग-काल मध्याह्न के भोजन के २-३ घण्टे बाद लगभग २-३ बजे का सर्वोत्तम माना जाता है। किन्तु जिन रोगियों के शरीर में श्लेष्मा और पित्त का अपेक्षाकृत अधिक ह्रास हो, शरीर में रूक्षता की अधिकता हो और वात-प्रधान वेदनाओं की प्रधानता हो, उन रोगियों में सायंकाल का भोजन सम्यक् जीर्ण हो जाने के उपरान्त रात्रि के प्रथम प्रहर के अंत या दूसरे प्रहर के प्रारम्भ में अनुवासन का प्रयोग कराया जा सकता है। विशुद्ध वातिक वेदनाओं से पीड़ित व्यक्तियों में बलाबल की विवेचना तथा वमन विरेचन आदि कर्मों का प्रयोग किये बिना ही अनुवासन का प्रयोग हितकर होने के कारण सद्यः कराया जा सकता है।

अनुवासन विधि—प्रातःकाल शौचादि कर्म से स्वाभाविक रूप से निवृत्त होने पर ९ बजे रोगी को स्वल्प लघुपाकी अनतिस्निग्ध आहार देकर निर्वात स्थान के क्षुद्र गवाक्ष युक्त कमरे में मृदु प्रस्तरण युक्त शय्या पर लिटा दे। शय्या के पायताने को लगभग ३ इञ्च ऊँचा उठा देना चाहिये। उस दिन रोगी को स्थानातिरोहण या दूसरे श्रम व्यायाम करने का निषेध कर देना चाहिये। सारे शरीर को गरम पानी में कपड़ा भिगो कर भली प्रकार पोछ लेने के उपरांत किसी वातघ्न तैल को हलका गरम कर सारे शरीर में मालिश करनी चाहिये। आहार में स्नेहन की मात्रा कम रखने का अभिप्राय अनुवासन के द्वारा स्नेहन पहुँचने पर आहार तथा अनुवासन का स्नेह मिलकर अति स्नेहन का दुष्परिणाम न पैदा करने से है। रोगी को शय्या पर बायीं करवट दाहिनी ओर थोड़ा झुकते हुये लिटाकर, बायाँ पैर सीधे फैलाये हुये तथा दाहिना पैर जानुसंधि के पास थोड़ा सा मोड़कर शय्या के दूसरे पार्श्व में झुका कर रखना चाहिये। अनुवास्य द्रव्यों को भली प्रकार मिश्रित कर पिचकारी यन्त्र (ग्लिसरीन सिरिञ्ज) में भर कर यथावश्यक परिमाण में रबर की मूत्रशलाका (कैथेटर) लगाकर प्रवेश कराना चाहिये। मलद्वार में प्रवेश करने के पहले मलद्वार के आस-पास एरण्ड तैल से भली प्रकार स्नेहन कर देना तथा पिचकारी के प्रविष्ट होने वाले अंश को भी पूर्ववर्णित विधि से स्वच्छ स्निग्ध एवं उसके भीतर की वायु निकाल कर प्रविष्ट करना चाहिये। मलाशयगत पेशियों में संकोच के कारण कभी-कभी द्रव बड़ी कठिनाई से प्रविष्ट होता है। रोगी से लम्बे-लम्बे श्वास लेने के लिये कहना अथवा उसके मन को बँटाने के लिये मुंह खोल कर सानुनासिक शब्दों के उच्चारण के लिये कहना या हलके हाथ से उदर को दबाना और क्वचित् मलद्वार को संकुचित करने के लिये कहने पर मलाशयगत संकोच दूर होता है। मलाशय में अधिक मात्रा में ग्रंथियुक्त मल का संचय

होने पर अनुवास्य द्रव्य पीछे लौटने लगता है अथवा मल की गाँठ में बस्तिनेत्राग्र के फँस जाने के कारण अनुवासन हो ही नहीं पाता। रोगी को शौच की आकांक्षा होने पर मल शोधन हो जाने के उपरान्त पुनः अनुवासन कराया जा सकता है अथवा आस्थापन बस्ति के प्रयोग से मलाशय एवं पक्वाशय का उचित संशोधन कर देने के उपरान्त अनुवासन का प्रयोग किया जा सकता है।

पिचकारी यन्त्र के अतिरिक्त कन्दुक बस्ति यन्त्र के द्वारा भी अनुवासन कराया जा सकता है। बस्ति क्रिया के समय छींकना, खाँसना-जम्हाई लेना, हँसना या अधिक हिलना-डुलना, जोर से बोलना, श्वासावरोध करना इत्यादि उदर में स्तब्धता उत्पन्न करने वाली क्रियाओं का परित्याग कराने का निर्देश करना चाहिये। प्रयोग कराते समय मल-मूत्र या अपान वायु के वेग का अनुभव हो जाने पर बस्तिनेत्र को बाहर निकाल कर दोनों का उपशम हो जाने के बाद पुनः प्रयोग करना चाहिये। अनुवास्य द्रव्य का उचित मात्रा में बस्तिद्वारा प्रवेश हो जाने के उपरान्त रोगी के कटि को कई बार हाथ से थपथपाना, त्रिक के निकट स्निग्ध पाणितल से नीचे से ऊपर की ओर मर्दन करना तथा रोगी से दोनों पैरों को लेटे-लेटे ही एक-दो बार फैलाने या मोड़ने को कहना चाहिये। शय्या का पायताना एक फुट दो मिनट तक ऊपर उठाये रखने तथा फिर धीरे से पूर्वावस्था में लाने से भी प्रविष्ट स्नेह तुरन्त बाहर नहीं निकलता। यह क्रिया ३ बार होनी चाहिये। लगभग ५ मिनट वामपार्श्व में लेटने के उपरान्त रोगी से उत्तान (सीधे) स्थिर रूप से लेटने को कहना चाहिये। उत्तानावस्था में परिचारक को स्निग्ध पाणितल से वाम पार्श्व से दक्षिण कुक्षि की तरफ अर्ध चन्द्राकार रूप में सहलाना चाहिये। लगभग सात से दस मिनट उत्तानावस्था में रहने के उपरान्त दक्षिण पार्श्व में रोगी को शान्तचित्त से रहने को कहना चाहिये। यथाशक्ति मन को दूसरे विषयों की ओर लगाने से अनुवासन को पर्याप्त समय तक रोकने में सहायता मिलती है। कम से कम २-३ घन्टे तक स्निग्ध बस्ति को रोकने से स्नेहन के पूर्ण गुण होते हैं। कदाचित् मल या वायु के वेग के कारण बहुत थोड़े समय में द्रव प्रत्यावर्तित हो जाय तो एक घण्टे के अन्तर से उसी दिन अथवा दूसरे दिन पुनः अनुवासन कराना चाहिये।

पश्चात् कर्म—अनुवासन प्रयोग के उपरान्त रोगी को ६–७ घण्टे तक पूर्ण विश्राम करना चाहिए। बीच-बीच में रुचि होने पर उष्णोदक पीते रहना चाहिए।[1] स्नेह के लौटने का उत्तम समय तीन प्रहर होता है। प्रायः इतने समय तक अनुलोमन होकर मल तथा स्नेह का उत्सर्ग हो जाता है। कदाचित् रूक्षता जनित वायु-प्रकोप के कारण

---

१. **उष्णोदक के गुण**—स्नेहाजीर्णं जरयति श्लेष्माणं तद्भिनत्ति च।
मारुतस्यानुलोम्यं च कुर्यादुष्णोदकं नृणाम्॥
वमने च विरेके च निरूहे सानुवासने।
तस्मादुष्णोदकं देयं वात-श्लेष्मोपशान्तये॥ (च. सि. ४.)

स्नेह प्रत्यावर्त्तित न हो और स्नेह के रुक जाने के कारण उत्क्लेद, गुरुता आदि कोई लक्षण न हों तो इस अप्रत्यागत स्नेह के निर्हरण की चेष्टा न करनी चाहिए।

अहोरात्र (२४ घण्टे) तक स्नेह प्रत्यावर्त्तन की प्रतीक्षा करनी चाहिए। इतनी अवधि तक स्नेह के न लौटने से यदि कुछ उपद्रव उत्पन्न हो रहे हों तो तीक्ष्ण फलवर्त्ति या निरूहण बस्ति का प्रयोग कराकर संशोधन करना चाहिए। दूसरे दिन तक स्नेह न निकलने पर प्रातःकाल शुण्ठी तथा धनियाँ का फाण्ट बना कर कदुष्ण रूप में पिलाना चाहिये। अनुवासन कर्म स्नेह द्रव्यागमन के साथ पूर्ण हो जाता है। उसके बाद कफ प्रधानता में यूष, पित्त में पञ्चकोलशृत गोदुग्ध और वायु में मांसरस का पथ्य प्रारम्भ में देना चाहिये।

स्नेह निर्गम के बाद प्रदीप्ताग्नि होने पर रोगी को अपराह्न में या दूसरे दिन प्रातः-काल लघु भोजन देना चाहिए। आहार पचकोल आदि दीपक पाचक द्रव्यों से संस्कारित तथा स्नेहरहित होना चाहिए। जब तक पर्याप्त क्षुधा न लगे, अन्न न लेकर धान्य-शुण्ठी पानीय या षडंग पानीय का व्यवहार करना चाहिए।

सम्यक् अनुवासन के लक्षण—अनुवासन प्रयोग के ३ से ७ घण्टे बाद स्नेह मल के साथ बिना किसी बाधा के सुखपूर्वक प्रत्यावर्तित हो जाता है—प्रायः सम्पूर्ण मात्रा में ही लौट आता है। रक्त-मांस-मेदादि सप्तधातुयें, हृदय, मन तथा बुद्धीन्द्रियों की सम्प्रसन्नता-पुष्टता, गात्रलघुता एवं बलोत्साह की वृद्धि, रात्रि में सुखपूर्वक प्रगाढ़ निद्रा का अनुबन्ध तथा वात-मूत्र-पुरीषादि के वेगों में किसी प्रकार की बाधा का न होना आदि लक्षण अनुवासन के सुखकर परिणाम माने जाते हैं।[1]

अनुवासन का पुनः प्रयोग—सामान्य स्नेहन के लिए ३ या ४ दिन का व्यवधान देकर ४-५ अनुवासन बस्तियाँ दी जाती हैं। बीच में लघुपाकी साधारण आहार-विहार कराया जाता है। वायु की प्रधानता वाले रोगियों तथा क्रूरकोष्ठी व्यक्तियों में जब तक वायु का शमन न हो जाय, अनुवासन कराते रहना चाहिये। एक साथ अधिक दिनों तक न तो आस्थापन का और न अनुवासन का प्रयोग कराया जाता है।

श्लैष्मिक प्रधानता में तीन अनुवासनबस्ति, पैत्तिक व्याधियों में ५–७ अनुवासन और वायु के विकारों में ९–११ स्नेह बस्ति कराना चाहिए। यदि इसके बाद भी पूर्ण लाभ नहीं हो रहा तो लाभ होने तक अनुवासन एवं निरूहण का अन्तरित प्रयोग करते हुए आखिर में आस्थापन बस्ति देना चाहिए।

विशिष्ट क्रम या योजना के रूप में कर्म-बस्ति, काल-बस्ति तथा योग-बस्ति का वर्णन प्राचीन शास्त्रकारों ने किया है।

कर्मबस्ति—इसमें कुल ३० बस्ति प्रयोग कराए जाते हैं। प्रथम स्नेह बस्ति, सबसे

---

१. 'प्रत्येत्यसक्तं सशकृच्च तैलं रक्तादिबुद्धीन्द्रियसम्प्रसादः।
स्वप्नानुवृत्तिर्लघुता बलं च सृष्टाश्च वेगाः स्वनुवासिते स्युः॥' (च० सि० १)

अन्त में ५ स्नेह बस्तियाँ और मध्य में बारह निरूह बस्तियाँ, बारह अनुवासन बस्तियों के साथ। यह विशिष्ट क्रम पञ्चकर्म एवं पक्वाशय-त्रिकगत जीर्णवातविकार तथा पक्षवध आदि में बहुत गुणकारी होता है।

कालबस्ति—कालबस्तियों की संख्या १५ है। सर्वप्रथम १ स्नेह-बस्ति तथा अन्त में ३ स्नेह-बस्ति तथा मध्य में ६ अनुवासन बस्ति और ५ निरूह बस्ति देना चाहिए। इस क्रम से बस्ति का अभ्यास वयःस्थापक तथा जरा-व्याधिविध्वंसी माना जाता है।

योगबस्ति—इस क्रम में कुल ८ बस्ति दी जाती हैं। प्रथम तथा अन्त में एक-एक अनुवासनबस्ति और मध्य में तीन निरूहण तथा तीन अनुवासनबस्ति का प्रयोग किया जाता है।

अनुवासन में स्नेह की मात्रा—उत्तम मात्रा २४ तोला, मध्यम मात्रा १२ तोला तथा हीन मात्रा ६ तोला की होती है। यह एक बार में न देकर अल्पमात्रा से प्रारम्भ करके अन्त में प्रौढ़ मात्रा में, पहले-दूसरे दिन ८-८ तोला, तीसरे-चौथे दिन १०-१० तोला, पाँचवें दिन १२ तोला इस प्रकार प्रति तीसरे दिन २-२ तोला स्नेह की मात्रा बढ़ाते हुए अन्त में १७ वें दिन २४ तोला की पूर्ण मात्रा प्रविष्ट करनी चाहिये। मध्यम मात्रा में प्रथम-द्वितीय दिन ४ तोला से प्रारम्भ करके प्रति तीसरे दिन १-१ तोला बढ़ाते हुए १८ वें दिन १२ तोला की पूर्ण मात्रा पहुँचेगी। हीन मात्रा का प्रयोग प्रथम दिन १ तोला, बाद में प्रति तीसरे दिन ३/४ तोला मात्रा बढ़ाते हुए १७ वें दिन ६ तोला की पूर्ण मात्रा दी जाती है।

अवस्थानुसार मात्रा का नियम—प्रथम वर्ष १ तोला, द्वितीय से ५ वें वर्ष तक २ तोला, छठे वर्ष में ६ तोला, सातवें वर्ष में ७ तोला, आठवें से ११ वें वर्ष तक ८ तोला, बारहवें वर्ष १२ तोला, १३ वें वर्ष में १४ तोला, १४ वें वर्ष में १६ तोला, १५ वें वर्ष में १८ तोला, १६ वें वर्ष में २० तोला, १७ वें वर्ष में २२ तोला तथा १८ वें से ७० वर्ष पर्यन्त २४ तोला स्नेह की पूर्ण मात्रा दी जाती है। सर्वत्र पूर्ण मात्रा से प्रारम्भ न करके प्रथम मात्रा तृतीयांश से प्रारम्भ करके धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिए। मात्रा निर्धारण करते समय अवस्था, शारीरिक भार तथा दोषों की प्रधानता आदि का विचार कर लेना आवश्यक है।[1] बस्ति का सुप्रभाव उपयुक्त मात्रा के प्रयोग से होता है। अल्प मात्रा में प्रयुक्त स्नेह अपान वायु, मल तथा मूत्र की स्तब्धता और अधिक मात्रा में प्रयुक्त स्नेह दाह, ज्वर, तृष्णा तथा शारीरिक वेदना को उत्पन्न करता है।

अनुवासन तथा आस्थापन के सान्तर प्रयोग का विधान—अनुवासन के द्वारा स्नेहन एवं बृंहण होता है। इसका अधिक प्रयोग होने से गुरुता, मेदोवृद्धि, प्रमेह, उदर, अरुचि एवं अग्निमांद्य आदि विकार उत्पन्न होते हैं। इसलिए तीन-चार स्नेह बस्ति देने

---

१. 'समीक्ष्य दोषौषधदेशकालसात्म्याग्निसत्त्वौकवयोबलानि।
बस्तिः प्रयुक्तो नियतं गुणाय स्यात् सर्वकर्माणि च सिद्धिमन्ति ॥' (च. सि. ३)

के उपरान्त निरूहण कराना आवश्यक है। केवल निरूहण कराने से मल एवं अपान वायु आदि का शोधन और इन्द्रियों का तर्पण होता है, किन्तु बिना स्नेहन कराए निरूहण कराने से वायु का शमन नहीं होता, कुछ कर्षण हो सकता है। इसी कारण प्रारम्भ में अनुवासन कराने के बाद आस्थपित कराकर पुनः अन्त में अनुवासन कराया जाता है जिससे वायु का पूर्ण प्रशम तथा शरीर का तर्पण होता है।

अनुवासन प्रयोग की मर्यादा—सामान्यतया तीन दिन से सात दिन तक अनुवासन का प्रयोग बिना अन्तर के किया जा सकता है। मृदु कोष्ठ में ३ दिन, मध्यमकोष्ठ में ५ दिन तथा क्रूर कोष्ठ में स्नेहन कार्य ७ दिन में पूर्ण होता है। इससे अधिक काल तक, स्नेह के सात्म्य हो जाने के भय से, प्रयोग न कराना चाहिए। कदाचित् हीन मात्रा में प्रयोग किया हो, तो स्नेहनगुण पर्यन्त अनुवासन का निर्देश कुछ ग्रन्थकारों ने किया है। सप्त रात्रि में भी स्नेहन के लक्षण न उत्पन्न हुए हों तो कुछ काल तक विश्राम देकर आस्थापन कराने के बाद पुनः स्नेहन बस्ति का प्रयोग कराया जा सकता है।

अनुवासन बस्ति के विशिष्ट प्रयोग—मुख्यतया घृत, तैल तथा वसा के अनुवासनार्थ प्रयोग का उल्लेख किया जा चुका है। विशिष्ट व्याधियों की शान्ति के लिए अनुकूल रोग-शामक औषधियों से संस्कारित घृत एवं तैलयोगों का प्रयोग किया जाता है। अनुवासन बस्ति के लिए प्रयुक्त स्नेह के संस्कारार्थ रास्ना, देवदारु, विल्वत्वक्, मदनफल, शतपुष्पा, पुनर्नवा, गोक्षुरु, अरणी तथा स्योनाक का उपयोग गुणकर माना जाता है।

चरकसंहिता, सिद्धिस्थान के चतुर्थ अध्याय में स्नेहबस्ति के अनेक प्रयोग वर्णित हैं। विस्तार भय से यहाँ पर केवल नामोल्लेख मात्र किया जाता है। घटक-द्रव्य तथा निर्माण ज्ञान के लिए वहीं अवलोकन करना चाहिए।

दशमूलादि तैल—इस तैल का बस्ति के रूप में प्रयोग करने से गृध्रसी, तूनी-प्रतितूनी, मूत्रोत्संग, अष्ठीला, पक्षवध आदि सभी प्रकार के वातिक विकारों में लाभ होता है।

वचादि तैल—गुल्म, आध्मान- अग्निमांद्य, अर्श, ग्रहणी तथा मूत्रोत्संग में विशेष हितकर है।

चित्रकादि तैल—गृध्रसी, खञ्ज-कुब्जवात, ऊरुस्तम्भ, मूत्रोत्संग, उदावर्त्त तथा अग्निमांद्य में लाभप्रद है।

शट्यादि तैल—विगुणित वायु का अनुलोमन करने के लिए विशेष उपयोगी है। अर्श, ग्रहणी, आनाह, विषमज्वर, तथा कटि-पृष्ठ-ऊरु एवं कोष्ठ के सर्व प्रकार के वात-विकारों में भी हितावह होता है।

मृणालादि तैल तथा मधुकादि घृत—दोनों योग पैत्तिक विकारों में बहुत लाभप्रद हैं। इनकी अनुवासन बस्ति का दाह, तृष्णा, विसर्प, रक्तप्रदर, रक्तपित्त, विद्रधि, वातरक्त तथा पैत्तिक ज्वरों में प्रयोग किया जाता है।

त्रिफलादि तैल—मेदोवृद्धि, प्रमेह, कुष्ठ, त्वग्विकार—पामा-विचर्चिका आदि तथा आलस्य और सभी प्रकार के कफज विकारों में लाभ करता है।

पाठादि तैल—समस्त कफ विकारों में अनुवासनार्थ प्रयुक्त होता है।

सैंधवादि तैल—ब्रध्न, उदावर्त्त, गुल्म, अर्श, प्लीहोदर, आढयवात, प्रमेह, आनाह, अश्मरी तथा दूसरे सभी कफ विकारों में इसका अनुवासन हितकर होता है।

विडंगादि तैल—कुष्ठ, क्रिमिरोग, प्रमेह, अर्श, ग्रहणी, नपुंसकत्व, विषमाग्नित्व तथा समस्त त्रिदोषज विकारों में लाभ करता है।

मात्रा बस्ति—जिस बस्ति में स्नेह की कनिष्ठ मात्रा (६ तोला) नियत मात्रा में ही दी जावे, उसे मात्रा बस्ति कहते हैं। इसमें कोई पूर्व स्नेहन-स्वेदन या संयम-नियम का बंधन नहीं है। इससे कोई व्यापत्ति भी नहीं होती। सामान्य रूप में दुर्बल रोगियों में मल शुद्धि के लिए इसका प्रयोग कराया जाता है। संस्कारित वातघ्न तैल, एरण्ड तैल, वसा या घृत में से किसी का यथावश्यक प्रयोग कराया जा सकता है। स्नेह के साथ समान मात्रा में गरम जल भी भली प्रकार मिलाकर प्रयुक्त किया जा सकता है। बालक, वृद्ध, सुकुमार पुरुष तथा गर्भिणी स्त्री, अग्निमांद्य पीड़ित एवं ज्वराक्रान्त तथा अशक्त रोगियों में इसके प्रयोग से मल का सुखपूर्वक अनुलोमन होता है। अधिक श्रम करने वाले, घोड़ा या दूसरी सवारी का कार्य अधिक करने वाले तथा मानसिक एवं शारीरिक श्रम अधिक करने वाले व्यक्तियों में वायु की वृद्धि होकर मल सूखकर गाँठें बन जाती हैं। ऐसी अवस्था में मात्राबस्ति का दैनिक प्रयोग यथावश्यक काल पर्यन्त किया जा सकता है।

पिच्छाबस्ति—पिच्छिल रस वाले द्रव्यों का स्वरस या क्वाथ बनाकर घी तथा तैल मिलाकर प्रयुक्त किया जाता है। अतिसार, प्रवाहिका, आमातिसार आदि व्याधियों में इसके प्रयोग से बहुत लाभ होता है। इसके व्रणरोपक तथा पिच्छिल तत्वों के कारण बृहदंत्र की क्षुब्ध अवस्था में या जब आन्त्रों में आमातिसार आदि के कारण व्रण हो गए हों, तो मलरोधक तथा व्रणरोपक परिणाम होता है। इसके द्रव्या का व्रणों पर उपलेपन सा हो जाने के कारण मल-प्रवृत्ति के समय होने वाली वेदना तथा कुंथन आदि में सद्यः लाभ होता है। आवश्यकतानुसार कुटज कषाय का भी इसमें अन्तर्भाव किया जा सकता है। सामान्यतया श्लेष्मान्तक, शाल्मली पुष्प या निर्यास को चतुर्गुण अजाक्षीर में सिद्ध करके मधु तथा घृत एवं तैल, क्षीर से द्विगुण मात्रा में मिलाकर १ तोला मधुयष्टी का चूर्ण प्रक्षेप रूप में डालकर प्रयुक्त किया जाता है।

अनुवासन की व्यापत्तियाँ तथा उनका प्रतिकार—

समुचित अनुवासन क्रिया न होने के कारण तीन प्रकार की व्यापत्तियाँ अयोग-अतियोग तथा मिथ्यायोग जन्य उत्पन्न होती हैं।

१. अयोग—न्यून मात्रा में स्नेह का प्रयोग करने से कटि के नीचे के अङ्गों तथा

उदर-बाहु-पृष्ठ-पार्श्व में पीड़ा, शरीर में रूक्षता तथा खरता का अनुभव तथा वात-मूत्र-पुरीष के वेगों में अवरोध की उत्पत्ति होती है।[1]

प्रतिकार—प्रत्यावर्तन की प्रतीक्षा किए बिना पूर्ण मात्रा में पुनः अनुवासन कराने से लाभ होता है।

२. **अतियोग**—हृल्लास, मोह और मूर्च्छा, क्लम, सर्वांग वेदना और तीव्र स्वरूप का उदर-शूल अनुवासन में स्नेह-राशि के अधिक होने से उत्पन्न होता है।[2]

प्रतिकार—तीक्ष्ण गुण वाली फलवर्त्ति या शोधनार्थ निरूहण बस्ति का प्रयोग और आहार में धान्य-शुण्ठीशृत उष्ण जल पीना हितकर है।

३. **मिथ्यायोग**—वातावृत, पित्तावृत, कफावृत, अन्नावृत, पुरीषावृत तथा अभुक्त-प्रणीत यह ५ व्यापत्तियाँ मिथ्यायोग जन्य होती हैं।[3]

वातावृत व्यापत्ति—प्रवृद्ध वायु के कारण अन्तःप्रविष्ट स्नेह पक्वाशय में अभिभूत होकर अवरुद्ध हो जाता है, जिससे उसका प्रत्यावर्तन नहीं होता। ऐसी अवस्था में अङ्गमर्द, ज्वर, आध्मान, शैत्य, स्तब्धता ऊरु में पीडा, पार्श्व में पीडा तथा कोष्ठ में जकड़ाहट का अनुभव होता है।

प्रतिकार—स्निग्ध-अम्ल-लवण रस युक्त उष्ण गुण वाले द्रव्यों से संस्कारित, गोमूत्र-पंचमूल साधित, रास्नातैलयुक्त निरूह बस्ति देने से लाभ होता है। ऐसे रोगियों में अनुवासन सायंकाल भोजन के उपरान्त वातघ्न द्रव्योंसे संस्कारित स्नेह से करना चाहिए।

पित्तावृत—पित्त के आधिक्य के कारण स्नेह ग्रहणी में अवरुद्ध हो जाता है, जिससें शरीर में दाह, रक्तिम विस्फोट—उदर्द आदि, तृष्णा, मोह, तमक श्वास, ज्वर आदि उपद्रव होते हैं।

प्रतिकार—मधुर तथा तिक्त रस प्रधान कषाययुक्त निरूह बस्ति के प्रयोग से इसका शमन होता है।

कफावृत—श्लेष्मा से आवृत होने पर तन्द्रा, शैत्य, ज्वर, आलस्य, प्रतिश्याय, अरुचि, गुरुगात्रता, मूर्च्छा तथा ग्लानि की उत्पत्ति होती है।

प्रतिकार—कषाय-कटु-तीक्ष्ण तथा उष्ण गुण वाले द्रव्यों से सिद्ध क्वाथ में सुरा-गोमूत्र-कांजी तथा फलतैल को उचित अनुपात में मिला कर निरूहण कराने से लाभ होता है।

अन्नावृत या अशनावृत—भुक्त अन्न का सम्यक् परिपाक हुए बिना ही अनुवासन कराने से आमांश की अधिकता के कारण स्नेह का अवरोध हो जाता है। इस अवस्था

---

१. 'अधःशरीरोदरबाहुपृष्ठपार्श्वेषु रुग्रूक्षखरं च गात्रम्।
ग्रहश्च विण्मूत्रसमीरणानामसम्यगेतान्यनुवासिते स्युः॥' (च. सि. १)

२. 'हृल्लासमोहक्लमसादमूर्च्छाविकर्त्तिका चात्यनुवासिते स्यु।'

३. 'वातपित्तकफात्यन्नपुरीषैरावृतस्य च।
अभुक्ते च प्रणीतस्य स्नेहबस्तेः षडापदः॥' (च. सि. ४)

में वमन, मूर्च्छा, अरुचि, ग्लानि, शूल, निद्राधिक्य, अंगमर्द तथा दाह एवं आम-दोष के लक्षणों से युक्त विकार उत्पन्न होते हैं।

प्रतिकार—कटु तथा लवण प्रधान द्रव्यों के क्वाथ तथा चूर्णों के प्रयोग से पाचन करना तथा आम पाचन के दूसरे उपक्रम करना हितकर होता है। पाचन के लक्षण ज्ञात होने पर मृदु रेचक द्रव्यों का प्रयोग कर मल का शोधन करना चाहिए। आमांश के आधिक्य के कारण निरूहण से पूरा शोधन नहीं हो पाता।

मलावृत—स्नेहन के पूर्व विरेचन या निरूहण न कराने से मल का अधिक संचय रहता है। ऐसी स्थिति में अनुवासन कराने पर स्नेह मल से आवृत हो कर अवरुद्ध हो जाता है। तब मल-मूत्र तथा वायु का अवरोध, उदरशूल, गुरुता, आध्मान तथा हृदय की जकड़ाहट आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

प्रतिकार—स्नेह-पान तथा स्वेदन करा कर फलवर्ति का प्रयोग करने तथा निरूहण पूर्वक अनुवासन करने और उदावर्त्त की चिकित्सा करने से लाभ होता है।

अभुक्त प्रणीत—पूर्व दिन लंघन करने या बिना स्नेहन-स्वेदन कराए हुए अनुवासन करने पर अथवा बहुत बलपूर्वक स्नेह का प्रयोग करने से स्नेह कण्ठ तक पहुँच कर ऊर्ध्वगामी हो कर वायु की प्रतिलोमगतिक अवस्था उत्पन्न हो जाती है।

प्रतिकार—वमन-विरेचन तथा त्रिवृत सिद्ध, कांजीयुक्त क्वाथ में गोमूत्र तथा वातघ्न तैल मिला कर निरूहण कराने से इसका प्रतिकार होता है।

अनुवासन विषयक ज्ञातव्यविषय—

१. रूक्ष शरीर, वातप्रधान लक्षणों से युक्त और तीक्ष्णाग्नि वाले रोगियों में प्रतिदिन अनुवासन कराया जा सकता है। किन्तु वात की हीनता या अग्नि की मन्दता होने पर १-२ दिन का अन्तर देकर अनुवासन कराना उचित होगा।

२. वात की तीव्रता से आक्रान्त रोगियों में—पक्षवध, उन्माद आदि में—बिना वमनविरेचन किए ही प्रतिदिन या एक दिन का अन्तर देकर कुछ काल तक अनुवासन कराया जा सकता है।

३. अनुवासन कराने के १ घण्टे के भीतर स्नेह प्रत्यावर्तित हो जाय तो पुनः [illegible] परिमाण में स्नेह का प्रवेश कराना चाहिए।

४. अनुवासन का प्रयोग एक काल में बिना व्यवधान के ७ दिन से अधिक नहीं करना चाहिए।

५. केवल अनुवासन का अधिक प्रयोग करने से बस्ति का वास्तविक उद्देश्य नहीं सिद्ध होता, अनुवासन-आस्थापन का सान्तर प्रयोग श्रेष्ठ होता है।

६. सामान्यतया रात्रि में बस्ति का प्रयोग नहीं किया जाता। कदाचित् क्षीण कफ तथा प्रवृद्ध पित्त-वातविकारों में तथा उष्णकाल में रात्रि में भी अनुवासन कराया जा सकता है।

आस्थापन बस्ति

शरीर में संचित दोषों का शोधन करके सर्वांग निर्मल बना कर आयु का स्थापन करती है, इसीलिए इसकी आस्थापन संज्ञा है। इसमें क्वाथ, तैल, दूध एवं उष्णोदक आदि का प्रयोग किया जाता है। मल एवं दोषों का शोधन करने के कारण इसे निरूह बस्ति भी कहते हैं। यह संशोधक तथा लेखनगुण-प्रधान होती है।

आस्थापन का समुचित प्रयोग होने पर प्रविष्ट द्रव सम्पूर्ण पक्काशय में व्याप्त हो कर नाभि-चक्र तथा त्रिक-मण्डल में स्थित होता है। जैसे वृक्ष के मूल में सिंचित जल सारे वृक्ष में व्याप्त हो जाता है, उसी प्रकार पक्काशय के सूक्ष्म स्रोतसों में प्रविष्ट हो कर सर्वांग में इसका व्यापक प्रभाव होता है। जिस प्रकार आकाश में स्थित सूर्य पृथ्वी के समस्त रसों को आकृष्ट कर लेता है, उसी प्रकार आस्थापन-द्रव्य पक्काशय में स्थित रह कर आपाद-मस्तक सारे दोषों को खींच लेते हैं। सम्यक् प्रकार से प्रयुक्त बस्ति पक्काशय, मलाशय, कोष्ठ, कटि-प्रदेश तथा पृष्ठ भाग के निकट संचित दोषों का मंथन करके अपने में मिला कर अपान वायु का अनुलोमन करती हुई प्रत्यावर्तित होती है।[1]

आस्थापन के अधिकारी—

वातव्याधि, अपस्मार, वातरक्त, मूर्च्छा, पार्श्वशूल, शून्यवात, मांसशोष, कम्पवात, अंगों की जडता, आध्मान, उदावर्त, विषम ज्वर, तृष्णा, आंत्र कूजन, उदर-रोग, अग्निमांद्य, अम्लपित्त, हृद्रोग, अपानवायु-मल-मूत्र का अन्यथा विसर्जन, मूत्रकृच्छ्र, भगन्दर, अश्मरी, उदरशूल, अण्डवृद्धि, शुक्रक्षय, रजःक्षय, स्तन्यनाश, प्रमेह तथा मेदस्वी शरीर वाले व्यक्तियों को आस्थापन के प्रयोग से पर्याप्त लाभ होता है।

सभी प्रकार के जीर्ण विकारों में शरीर में दूषित मलांश का संचय होता है। पक्काशय एवं महास्रोत में सभी विकारों के दूषित मल का संचय अधिक मात्रा में होता है। आस्थापन बस्ति का मुख्य गुण संचित शारीरिक मलों का शोधन माना जाता है। इस दृष्टि से जीर्ण आमातिसार, यकृत, प्लीहा-वृक्क-मूत्राशय आदि अंगों के सभी प्रकार के जीर्णविकार, रक्तदुष्टि के कारण उत्पन्न होने वाले त्वक् रोग, क्रिमि रोग, कोष्ठबद्धता, पुराण श्वास, जीर्ण प्रतिश्याय, क्षयातिरिक्त सभी प्रकार के जीर्ण ज्वर और आमवात आदि व्याधियों में निरूहण क्रिया के द्वारा स्थायी लाभ होता है।

आस्थापन के अनधिकारी—

आस्थापन बस्ति शरीर के दोषों को परिमार्जित करती है। इस परिमार्जन क्रिया में शारीरिक धातुओं का कुछ न कुछ ह्रास अवश्य होता है। इस कारण अत्यधिक दुर्बल रोगियों में विशेषकर उरःक्षत, राजयक्ष्मा, वमन, तीव्र श्वास, प्रतिश्याय, हिक्का,

---

१. नाभिप्रदेशं कटिपार्श्वकुक्षिं गत्वा शकृद्दोषचयं विलोड्य।
संस्नेह्य कायं सपुरीषदोषः सम्यक् सुखेनैति च यः स बस्तिः॥ (च. सि. १)

अलसक, विसूचिका, अतिसार, छिद्रोदर, महाकुष्ठ, अत्यधिक मन्दाग्नि, अर्श एवं गुदा के रोग, शोथ एवं सगर्भा स्त्री में निरूहण क्रिया का निषेध किया जाता है। यानक्लान्त, क्षुधा-तृषा-श्रमपीडित, भयत्रस्त, उन्मादग्रस्त, मूर्च्छित, अरुचि एवं अजीर्ण से त्रस्त रोगियों में भी आस्थापन से लाभ नहीं होता। प्रमेह, मेदोवृद्धि, तथा उदर विकारों में आवश्यकता होने पर आस्थापन सावधानी पूर्वक कराया जा सकता है। सभी प्रकार के जीर्ण कास प्रायः क्षयानुबन्धी होते हैं, इसलिये कासपीड़ित रोगियों में आस्थापन बस्ति का प्रयोग न करना ही हितकर है। वमन-विरेचन किये हुए रोगियों में भी निरूह हानिकर होता है। भयत्रस्त, क्रुद्ध, चावल का पूर्ण भोजन करने तथा पर्याप्त जल पीने के तुरन्त बाद और मत्त-मूर्च्छित व्यक्तियों में आस्थापन से हानि होती है।

आस्थापन-प्रयोग के पूर्व ३-४ अनुवासन बस्तियों द्वारा कोष्ठ के स्निग्ध हो जाने पर संचित मल का शोधन करने के लिए निरूह कराया जाता है। बाद में पुनः एक बार स्निग्ध बस्ति का प्रयोग किया जाता है। इसके बाद तीसरे या पाँचवें दिन विधिवत् आस्थापन बस्ति का प्रयोग कराया जाता है। प्रातः शौच-शुद्धि के अनन्तर रुचि होने पर लघुपाकी आहार मध्यम मात्रा में देना चाहिए। यदि मलशुद्धि न हुई हो तो मृदु संशोधकों का प्रयोग करके साधारण कोष्ठशुद्धि कर लेनी चाहिए। द्वितीय प्रहर में सारे शरीर में वातघ्न तैल का हल्के हाथ से मर्दन करके मृदु स्वरूप का वाष्प स्वेदन कराना चाहिए[1]। फिर निर्वात स्थान में मध्याह्नोत्तर २-३ बजे के लगभग आस्थापन का प्रयोग कराना चाहिए।

अनुवासन के समान निरूहण का प्रयोग वसन्त, प्रावृट् या शरद् में, समऋतु वाले शुभ दिन कराया जाता है। आस्थापन के प्रयोग का विधान पूर्व वर्णित अनुवासन के समान ही होता है। केवल द्रव की मात्रा अधिक होने के कारण पिचकारी से प्रयोग न करके बस्तिपात्र का व्यवहार किया जाता है। आस्थापन काल में वाम पार्श्व में शयन, शय्या का पायताना ८-१० इञ्च उठा हुआ, रोगी शान्तचित्त मन्द-मन्द श्वास लेते हुए दक्षिण पाद को संकुचित तथा वाम पाद को प्रसारित करके लेटा हुआ रहता है। इस समय खाँसना-छींकना-जम्भाई लेना-उच्च भाषण आदि का परित्याग करना चाहिए।[2]

आस्थापन द्रव—

आस्थापन बस्ति में सामान्यतया वाताक्रान्त व्यक्तियों के लिए स्नेह २४ तोला, मधु १२ तोला तथा प्रक्षेप १२ तोला की मात्रा में; पित्तप्रधान व्यक्तियों में स्नेह-मधु

---

१. तैलाक्तगात्रं कृतमूत्रविट्कं नातिक्षुधार्त्तं शयने मनुष्यम्।
समेऽथवेषन्नतशीर्षके वा नात्युच्छ्रिते स्वास्तरणोपपन्ने॥
सव्येन पार्श्वेन सुखं शयानं कृत्वर्जुदेहं स्वभुजोपधानम्।
सङ्कोच्य सव्येतरदस्य सक्थि वामं प्रसार्य प्रणयेत्ततस्तम्॥ (च. सि. ३)

२. 'नात्युच्छ्रितं नाप्यतिनीचपादं सपादपीठं शयनं प्रशस्तम्।
प्रधानमृद्वास्तरणोपपन्नं प्राक्शीर्षकं शुक्लपटोत्तरीयम्॥' (च. सि. ३)

तथा प्रक्षेप—तीनों ही १६ तोला की मात्रा में और श्लेष्मप्रधान व्याधितों में स्नेह १२ तोला, मधु २४ तोला तथा प्रक्षेप १२ तोला की मात्रा में मिलाकर प्रयुक्त करना चाहिए। इन सभी में औषधक्काथ ४० तोला, कल्क ८ तोला, गुड़ ४ तोला तथा सेंधानमक १ तोला की मात्रा में मिलाया जाता है। प्रक्षेप के रूप में कांजी, गोमूत्र, मट्ठा, दुग्ध, मांसरस आदि का यथायोगनिर्दिष्ट मिश्रण आस्थापन कराते समय किया जाता है। मिश्रण तैयार करने के लिए पहले सेंधानमक को महीन पीसकर मधु में मिलाना चाहिए। बाद में स्नेह को मिलाकर मथानी से लस्सी बनाने के समान खूब मथना चाहिए। इसके उपरान्त ओषधियों का कल्क, गुड़ तथा क्काथ-जल को उसी में डालकर पुनः मंथन करना चाहिए और अन्त में यथावश्यक कांजी, गोमूत्र, दूध, मट्ठा या मांसरस का प्रक्षेप मिलाकर मिश्रण तैयार करना चाहिए।

आस्थापन मिश्रण निदर्शक कोष्ठक

दोष	स्नेह	मधु	प्रक्षेप	कल्क	क्काथ	गुड	सेंधानमक	योग
वात	२४	१२	१२	८	४०	४	१	१०१ तो०
पित्त	१६	१६	१६	८	४०	४	१	१०१ तो०
कफ	१२	२४	१२	८	४०	४	१	१०१ तो०

इस कोष्ठक में आस्थापन द्रव की पूर्ण मात्रा १०१ तोला बतायी गयी है। शास्त्रों में पूर्णमात्रा ९६ तोला निर्दिष्ट की है। योग मात्रा ९६ तोला रखने के लिए क्काथ या प्रक्षेप आवश्यकतानुसार घटाया जा सकता है अथवा बस्ति पात्र में कुछ अंश अवशिष्ट रखने के लिए ५ तोला की मात्रा पृथक् रखी जा सकती है।

कल्क एवं गुड़ आदि मिलाने पर मिश्रण बहुत गाढ़ा न होना चाहिए अन्यथा वह मलाशय से आगे भली प्रकार प्रसारित नहीं हो पाता। अधिक पतला होने से बस्ति का उचित गुण न होगा। सामान्यतया उचित परिमाण में द्रव्य मिलाने पर यह दोष नहीं होते। फिर भी ऋतु-कालादि के प्रभाव से कुछ परिवर्त्तन कदाचित् हो जाय, अतः मिश्रण का अन्तिम रूप निर्मित होने पर गाढ़े-पतले का विचार कर लेना आवश्यक है। इसका निर्णय कुछ काल के अनुभव के पश्चात् ही आता है। इसीलिए आचार्य वाग्भट ने 'बस्तिं प्रकल्पयेद् वैद्यस्तद्विद्यैर्बहुभिः सह' (तद्विद्यैः बस्तिकुशलैः वैद्यकशास्त्रज्ञैः) इस उक्ति के द्वारा बस्ति प्रयोग का कुशल चिकित्सकों से भली प्रकार परामर्श करके प्रयोग-विधान का निर्देश किया है। आस्थापन द्रव सुखोष्ण होना चाहिए। अधिक उष्ण होने पर भ्रम-दाह-मूर्च्छा आदि विकार तथा अधिक शीत होने पर स्तब्धता-गुरुता एवं आध्मान का कष्ट होता है। सुखोष्णता ऋतु सापेक्ष्य होती है। शीत ऋतुओं में किंचित् उष्ण तथा ग्रीष्म प्रधान ऋतुओं में अपेक्षाकृत कम उष्ण होना चाहिए।

स्नेह की मात्रा अधिक होने पर आमप्रकोप होकर गुरुता-जड़ता-आध्मान आदि और कम मात्रा में रहने रूक्षता होकर वायु का प्रकोप होता है। प्रक्षेप एवं नमक आदि द्रव्य अल्पाधिक मात्रा में होने पर बस्ति का समुचित प्रभाव नहीं होता। इसी प्रकार क्षार-गोमूत्र-अम्ल आदि की मात्रा के बारे में भी रोगी की प्रकृति, व्याधि के दोष की उल्वणता, ऋतु, देश, काल आदि पर पर्याप्त ध्यान देते हुए उचित योजना करनी चाहिएं। चिकित्सक को सभी वस्तुओं पर पहले से ही भली प्रकार विचार करके सारा क्रम लिपिबद्ध कर लेना चाहिए, जिससे आस्थापन के दिन किसी बात की अनवधानता न होने पावे।

आस्थापन बस्ति के लिए क्वाथ तैयार करने के लिए क्वाथ्य द्रव्य ४० तोला की मात्रा में लेकर चतुर्गुण जल में मंदी आँच पर पकाकर चतुर्थांश क्वाथ अवशेष रहने पर उतार कर छानकर मिलाना चाहिए। कल्क द्रव्यों को नियत मात्रा में लेकर पानी के साथ या उसी क्वाथ को थोड़ी मात्रा में मिलाकर पत्थर पर महीन पीस लेना चाहिए। सभी द्रव्य नियत मात्रा में अलग-अलग पात्रों में तैयार रखकर ऊपर निर्दिष्ट क्रम से सब को भली प्रकार मथकर मिलाना आवश्यक है। फिर सारा मिश्रण बस्ति-पात्र में भरकर, गरम जल में मिश्रणयुक्त बस्ति-पात्र को कुछ काल तक रखकर सुखोष्ण करके, बस्तिनेत्र का पिधान हटाकर (नॉजिल खोलकर) नलिकागत वायु को निकालकर बस्तिनेत्र को स्निग्ध करके रोगी को उचित शयनासन देकर पूर्व-वर्णित क्रम से शनैः शनैः द्रव का अन्तःप्रवेश कराना चाहिए।

यथेष्ट मात्रा में औषध के अन्दर प्रविष्ट हो जाने पर रोगी को वाम पार्श्व में उत्तान लिटा देना चाहिए। पैरों को समेट कर किंचित् उन्नतशीर्ष होकर कुछ काल तक रोगी शान्त चित्त से लेटा रहे। कुछ काल बाद मन में शौच की भावना जाग्रत करते हुए मल के वेग की प्रतीक्षा करनी चाहिए। जब मल का वेग आता हुआ प्रतीत हो तो शौच के आसन में स्वाभाविक रूप से बैठ कर मलोत्सर्ग करना चाहिए। उदर में दक्षिण पार्श्व से वाम पार्श्व की ओर अर्धव्यास की परिधि पर हल्के हाथ से सहलाने से वायु का सुखपूर्वक अनुलोमन होता है। सामान्यतया १५ मिनट में मल के साथ द्रव बाहर निकल आता है। इससे अधिक समय तक अवरोध होने पर कुछ व्यापत्तियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। इसलिए अवरोध के प्रतिकारार्थ तीक्ष्ण फलवर्त्ति को पहले से ही प्रस्तुत रखना चाहिए। अम्ल, क्षार एवं गोमूत्र मिश्रित तीक्ष्ण तथा उष्ण गुण वाली ओषधियों से आनुलोमिक बस्ति का प्रयोग भी अवरुद्ध निरुद्धबस्ति के संशोधनार्थ किया जा सकता है। सुखोष्ण वातघ्न तैल की उदर पर हल्के हाथ से मालिश करने तथा तीक्ष्ण विरेचक ओषधियों का सूक्ष्म चूर्ण फलवर्त्तियों के ऊपर लगा कर गुदा में रखने से अनुलोमन में सहायता मिलती है।

निरूहण की मात्रा—प्रथम वर्ष निरूह की मात्रा ४ तोला तथा उसके बाद प्रति वर्ष ४-४ तोला की मात्रा-वृद्धि करते हुए १२ वर्ष की आयु वालों को ४८ तोला

निरूह मिश्रण प्रविष्ट कराया जाता है। १३वें वर्ष से १८वें वर्ष तक प्रति वर्ष ८ तोला की मात्रा-वृद्धि करनी चाहिए। १८ वें वर्ष निरूहण की पूर्ण मात्रा ९६ तोला पहुँचेगी। ७० वर्ष की अवस्था तक यही मात्रा प्रयुक्त होती है। उसके बाद बल-मांस का परिक्षय होने के कारण अल्प मात्रा देनी चाहिए। वृद्धों में सामान्यतया ८० तोला से अधिक नहीं देना चाहिए।

यह मात्रा निर्धारण का आदर्श क्रम है। उल्लिखित अनुपात में मिश्रण को तैयार करके ९६ तोला तक की मात्रा का प्रयोग करना चाहिए। दुर्बल एवं अल्पकाय रोगियों तथा प्रबल और दीर्घकाय व्यक्तियों के लिए समान मात्रा न होगी। सर्वप्रथम निरूहण कराने के लिए अल्प मात्रा से प्रारम्भ करना श्रेयस्कर है। मृदुकोष्ठ वाले व्यक्तियों को अल्प मात्रा तथा क्रूरकोष्ठियों के लिए प्रौढ़ मात्रा की योजना करनी चाहिए। आदर्श को व्यावहारिक रूप देने के लिए स्थित्यनुसार कुछ परिवर्तन अनुचित नहीं। शारीरिक बल सम्पत् का उत्तरोत्तर ह्रास होता जा रहा है, ऐसा अनुमान होने पर पूर्वापेक्षा मात्रा की कुछ न्यूनता रखना अधिक तर्कसंगत है। आधुनिक काल के रोगियों में न्यून मात्रा ४० तोला; मध्यम मात्रा ६० तोला तथा प्रौढ़ मात्रा ८० तोला यदि प्रयुक्त की जाय तो अधिक निरापद होगा। इन्हीं तथ्यों की ओर इङ्गित करते हुए आचार्य दृढबल ने कहा है— 'शास्त्रोक्त निर्देशों को आँख मूँद कर नहीं स्वीकार करना चाहिए। बुद्धिमान वैद्य को स्वयं सभी अवस्थाओं की तर्कपूर्ण समीक्षा करके निर्णय करना चाहिए।'[1] शास्त्रोक्त मात्रा प्रौढ़ मात्रा है। महर्षि सुश्रुत ने 'अपि हीनक्रमं कुर्यान्न तु कुर्यादतिक्रमम्' कह कर शास्त्र-निर्देश से न्यून मात्रा-प्रयोग रोगी के बलाबलादि को देख कर करने का निर्देश किया है, अधिक मात्रा में प्रयोग कदापि न करना चाहिए।

बस्ति मर्यादा—प्रविष्ट द्रव्य स्वयमेव बिना कष्ट के मलांश को लेकर वापस आ जाय तो पुनः दूसरी बार बस्ति का प्रयोग पूर्व क्रम से करना चाहिए। यदि बस्ति के सम-प्रयोग के लक्षण दूसरी बस्ति के बाद भी न स्पष्ट हों तो आवश्यकतानुसार तीसरी एवं चौथी बस्ति का प्रयोग भी कराया जा सकता है।[2] प्रथम बार बस्ति प्रयोग करने पर कदाचित् कुछ बाधा उत्पन्न हुई हो तो उसका प्रतिकार करके कुछ दिनों का अन्तर देकर पुनः पूर्ण सावधानी के साथ प्रयोग कराया जा सकता है।

वातप्रधान व्यक्तियों में स्नेहयुक्त, उष्ण एवं मांसरसयुक्त १ निरूहबस्ति; पित्त वृद्धि वाले रोगियों में मधुर-शीतल द्रव्यों से युक्त दूध के साथ निरूहबस्ति और कफदुष्टि

---

१. 'न चैकान्तेन निर्दिष्टेऽप्यर्थेऽभिनिविशेद् बुधः।
स्वयमप्यत्र वैद्येन तर्क्यं बुद्धिमता भवेत्॥' (च. सि. २)

२. 'स्वयमेव निवृत्तं तु द्वितीयो बस्तिरिष्यते।
तृतीयोऽपि चतुर्थोऽपि यावद्वा सुनिरूढता॥' (वा. सू. १९)

वाले रोगियों में तीक्ष्ण, उष्ण, रूक्ष पदार्थों के साथ गोमूत्र मिला कर ३ बस्ति प्रयोग करना चाहिए।[1]

इस क्रम से निरूहण की मर्यादा सम्यग् योग के लक्षणों की उपस्थिति पर्यन्त, अधिक से अधिक ३ या क्वचित् ४ बस्ति देने तक की है—इससे अधिक एक काल में, बिना अनुवासन का प्रयोग किए, न करना चाहिए।

सम्यग् निरूहण के लक्षण—

अपानवायु का अनुलोमन होने पर क्रम से क्राथ मल पित्त आम और अन्त में वायु का उत्सर्ग हो, मूत्र की स्वाभाविक रूप की शुद्धि हो, रुचि तथा पाचकाग्नि की उद्दीप्ति प्रतीत हो तथा आमाशय-पक्वाशय-मूत्राशय-पित्ताशय-मलाशय-शुक्राशय आदि में स्वच्छता तथा लघुता की प्रतीति हो, रोग के उपशम का सद्यः अनुभव हो, शारीरिक बुद्धि कर्मेन्द्रियों-अवयवों में प्रकृतिस्थता का अनुभव तथा पूर्वापेक्षा शरीर के निर्मल हो जाने के कारण अवसाद-ग्लानि-गौरव आदि की निवृत्ति होकर बल की वृद्धि होने पर निरूहण बस्ति के श्रेष्ठ परिणामों को परिलक्षित किया जाता है।[2]

अयोग लक्षण—

शिर, हृदय, बस्तिप्रदेश, गुद भाग तथा जननेन्द्रिय में वेदना का अनुभव, शरीर में शोफ की वृद्धि, प्रतिश्याय एवं विकर्त्तिका की उत्पत्ति, हृल्लास एवं वायु-मल तथा मूत्र का अवरोध आदि लक्षण निरूहण द्वारा पर्याप्त शोधन न होने की अवस्था में होते हैं।[3] क्राथ-मल तथा वायु अल्प मात्रा में कई बार में निकलने पर सम्यग् शुद्धि नहीं होती एवं मूर्च्छा-सर्वाङ्गवेदना-स्तब्धता तथा अरुचि की उत्पत्ति होती है। इसके प्रतिकार के लिए फलवर्ति का प्रयोग, अनुलोमक क्राथ-चूर्णादि का प्रयोग या क्षाराम्लादियुक्त तीक्ष्ण अनुलोमन सामर्थ्य वाली निरूहबस्ति का प्रयोग आवश्यकतानुसार करना चाहिए।

अतियोग—निरूहण के अतियोग के लक्षण तथा उपचार विरेचन के अतियोग के समान होते हैं (पृष्ठ १९६)।

आस्थापनोत्तर कर्म—

आस्थापन के प्रयोग से शरीर के मल की पूर्णरूप से शुद्धि हो जाने के कारण, शरीर के अवयव—विशेषकर महास्रोत—रिक्त हो जाते हैं। रिक्त स्थलों में वायु के

---

१. 'स्निग्धोष्ण एकः पवने समांसो द्वौ स्वादुशीतौ पयसा च पित्ते।
त्रयः समूत्राः कटुकोष्णतीक्ष्णाः कफे निरूहा न परं विधेयाः॥' (च. सि. ४)

२. 'प्रसृष्टविण्मूत्रसमीरणत्वं रुच्यग्निवृद्ध्याशयलाघवानि।
रोगोपशान्तिः प्रकृतिस्थता च बलं च तत्स्यात् सुनिरूढलिङ्गम्॥' (च. सि. १)

३. स्याद्रुक्छिरोहृद्गुदबस्तिलिङ्गे शोफः प्रतिश्यायविकर्त्तिके च।
हृल्लासिका मारुतमूत्रसंगः श्वासो न सम्यक् च निरूहिते स्युः॥' (च. सि. १)

प्रकोप का भय रहता है। अतः वायु के प्रकोप के प्रतिकारार्थ गरम जल से रोगी को स्नान कराकर स्नेह एवं उष्ण द्रव्यों से संस्कारित लघुपाकी आहार देना चाहिए। वात-प्रकृतिक पुरुषों को मांसरस तथा शालि का भात, पित्तप्रधान व्यक्तियों को मधुयष्टीशृत गोदुग्ध तथा शालि का भात और श्लेष्मप्रधान रोगियों को परवर या मूँग की दाल का यूष भात के साथ देना चाहिए। रोगी को निर्वात स्थान में सफेद कपड़ों से प्रावरित करके मृदु शैया पर लिटा देना तथा उदर पर गरम किए हुए वातहर तैल (दशमूल-नारायण आदि) का दाहिने पार्श्व से बायें पार्श्व की ओर वृत्तार्द्ध में हल्के हाथ से सहलाते हुए मर्दन करना चाहिए। सायंकाल या रात्रि के प्रथम प्रहर में अनुवासन का प्रयोग कराना चाहिए। निरूहण के द्वारा शरीर के सभी स्रोतस् खुल जाते हैं। ऐसी अवस्था में अनुवासन बस्ति के द्वारा प्रयुक्त स्नेह अनवरुद्ध स्रोतसों के माध्यम से सारे शरीर में व्याप्त होकर बल एवं वर्ण की अभिवृद्धि और वायु का पूर्ण रूप से शमन करता है।[1]

अनुवासनोत्तर पथ्य कर्म—बस्तिकर्म की पूर्णता के बाद रोगी को कम से कम १-१॥ मास तक पथ्यपूर्वक रहना चाहिए। सामान्यतया बस्तिकर्म में जितना काल लगा हो, कम से कम उससे द्विगुण काल पर्यन्त पथ्य पालन की अनिवार्यता होती है।[2] प्रातःकाल उषःकाल में उठ कर वातातप का बचाव करते हुए, उष्ण जल से दैनिक कृत्य स्नानादिक करने चाहिए। नियत समय पर लघुपाकी पोषक आहार—विदाही, गुरुपाकी, पिच्छिल पदार्थों का त्याग करते हुए—का सेवन करना, दिवाशयन का निषेध, वेगों का अनवरोध, रात्रि में युक्त निद्रा का अभ्यास और ब्रह्मचर्य का मनसा-वाचा-कर्मणा पालन करना चाहिए।

अधिक समय तक बैठना, खड़े रहना या बोलना, यानारोहण (साइकल-मोटर-रथ-अश्व आदि), दिवाशयन, ग्राम्य धर्म, वेगों का अवरोध, शीतोपचार, आतप सेवन, शोक तथा क्रोध के भावों का पूर्ण प्रतिषेध करते हुए हितकर आहार का यथाकाल सेवन करने का निर्देश करना चाहिए।

आस्थापन के विशिष्ट प्रयोग—

अनुवासन के प्रकरण में कर्म बस्ति, काल बस्ति तथा योग बस्ति का उल्लेख किया जा चुका है। अनुवासन तथा आस्थापन के व्यवस्थित सान्तर प्रयोग के यह श्रेष्ठ उदाहरण हैं। जब साधारण बस्ति का प्रयोग तक आजकल इतिहास की वस्तु होता जा रहा है,

---

१. 'देहे निरूहेण विशुद्धमार्गे संस्नेहनं वर्णबलप्रदं च।' (च. सि १)

२. 'कालस्तु बस्त्यादिषु याति यावांस्तावान् भवेद्द्विः परिहारकालः।'
'अत्यासनस्थानवचांसि यानं स्वप्नं दिवामैथुनवेगरोधान्॥
शीतोप ।रातपोशकरोषांस्त्यजेदकालाहितभोजनं च॥' (च. सि. १)

ऐसी अवस्था में कर्म-काल तथा योग बस्ति आदि के प्रयोग का निर्देश तो 'हवाई फायर' के समान केवल शंखध्वनि मात्र होगा।

यहाँ पर आस्थापन के कुछ विशिष्ट प्रयोग—जो विशिष्ट दोषों एवं व्याधियों में हितकर होते हैं, दिए जा रहे हैं। प्राचीन संहिता ग्रंथों में असंख्य योगों का वर्णन मिलता है। बस्ति चिकित्सा किसी समय कितने व्यापक रूप में प्रचलित रही होगी—इससे कुछ संकेत मिलता है। विशेष ज्ञानार्थियों को इस विषय का विस्तृत वर्णन संहिताओं में देखना चाहिए।

आस्थापन द्रव निर्माण के विशिष्ट अनुपात का पहले उल्लेख किया गया है। वह मात्रा एवं क्रम निर्देश सामान्य बस्तियों के लिए है। विशिष्ट बस्तियों का स्वतन्त्र क्रम जहाँ पर निर्दिष्ट है, वहाँ सामान्य नियम न लागू होगा। नियम का उल्लेख न रहने पर सामान्य विधान से व्यवस्था करनी चाहिए।

१. **माधुतैलिक बस्ति**—मधु तथा तिल तैल—प्रत्येक १६ तोला, एरण्ड मूल का क्वाथ ३२ तोला और सौंफ २ तोला, सेंधानमक १ तोला तथा मदनफल ३ माशा का कल्क बनाकर सबको मिश्रित करके निरूहण क्रम से प्रवेश कराया जाता है।

यह दोषघ्न बस्ति है। मृदु-सुकुमार-स्त्री-बालक एवं वृद्ध पुरुषों में निरापद रूप में अधिक काल तक व्यवहृत की जा सकती है। इसमें पूर्वकर्म-पश्चात्कर्म एवं पथ्य-पालन की कोई जटिलता नहीं है। प्रमेह, अर्श, कृमि, गुल्म, प्लीहावृद्धि, उदावर्त्त एवं आंत्रवृद्धि में विशेष हितकर होती है।

इसमें मधु एवं तैल की प्रधानता होने के कारण इसकी माधुतैलिक संज्ञा है। मधु-तैल की प्रधानता वाली तीन बस्तियाँ और प्रचलित हैं।

(क) **यापन बस्ति**—मधु-घृत-तिलतैल तथा गोदुग्ध—प्रत्येक ८-८ तोला लेकर हाऊबेर तथा सेंधानमक को १-१ तोला की मात्रा में पीसकर, भली प्रकार मिश्रित करके बस्ति दी जाती है। यह दोषों का पाचन तथा शोधन करने में श्रेष्ठ है।

(ख) **सिद्ध बस्ति**—मधु, तिल तैल एवं पंचमूल का क्वाथ, पिप्पली, सेंधानमक तथा मुलहठी को यथोचित अनुपात में मिश्रित करके बस्ति प्रयोग किया जाता है। इससे बल-वीर्य-कान्ति की वृद्धि होकर शरीर की पुष्टि होती है।

(ग) **युक्त रथ बस्ति**—एरण्डमूल के क्वाथ में वच-पीपल-मदनफल तथा सेंधानमक का कल्क तथा मधु एवं तिल तैल उचित परिमाण में मिलाकर बस्ति दी जाती है। रथ में अश्व जोतने जितना ही समय इसके द्वारा मल शोधन में लगने के कारण इसे युक्त-रथ संज्ञा दी गई है। यह परम वातशामक, दीपन-पाचनगुणयुक्त तथा इन्द्रियों को पुष्ट करने वाली है।

२. **मृदु बस्ति**—गोदुग्ध १६ तोला, मधु-घृत एवं तिल तैल १२-१२ तोला की

मात्रा में भली प्रकार मिलाकर बस्ति देनी चाहिए। यह कोमल प्रकृति वाले व्यक्तियों के लिए, अल्पमात्रा में प्रयुक्त होने वाली तर्पक एवं शोधक गुणप्रधान निरूह बस्ति है।

३. **वातहर बस्ति**—वातोल्वण विकारों में विशेष लाभकर है। इसमें बिल्वमूल, गंभारी, एरण्डमूल, पाठामूल, रास्ना, गोखुरू, शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी तथा बड़ी कटेरी का क्वाथ बनाकर, तक्र, बकरे का मांसरस, अजवायन, बिल्वमज्जा, मदनफल, कूट, वच, शतपुष्पा, नागरमोथा, छोटी पीपल का कल्क तथा घृत-तैल-वसा का समुचित परिमाण में मिश्रण बनाकर केवल १ बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

४. **पित्तहर बस्ति**—मुलहठी, लोध्र, खस, चन्दन, कमल, नीलोत्पल के कल्क को गोदुग्ध में क्षीरपाक विधि से पकाकर शर्करा, घी तथा मधु को यथावश्यक मिलाकर जीवनीय द्रव्यों का प्रक्षेप मिलाकर यथाविधि बिना गरम किए ही प्रयोग करना चाहिए। सभी प्रकार के पैत्तिक विकारों पर इससे आश्चर्यजनक लाभ होता है।

५. **श्लेष्महर बस्ति**—कड़ुई तरोई (कोशातकी), अमलतास का गूदा, देवदारु, मूर्वा, गोखुरू, कुटज, कार्पासमूल, पाठा, कुलथी, तथा कटेरी का क्वाथ बनाकर ८० तोला की मात्रा में लेकर, उसमें पीली सरसों, बड़ी इलायची, मदनफल तथा कूठ – प्रत्येक १-१ तोला; गोमूत्र, सरसों का तेल, तिल तैल तथा मधु—प्रत्येक ८-८ तोला की मात्रा में मिलाकर निरूहण बस्ति देने से समस्त कफ-विकारों में लाभ होता है। इसका अधिक से अधिक तीन बार तक प्रयोग कराया जा सकता है।

६. **उत्क्लेशन बस्ति**—एरण्डबीजमज्जा, मुलहठी, पीपर, सेंधानमक, वच तथा हाऊबेर का कल्क मिलाकर उचित मात्रा में स्नेह एवं दूध आदि मिश्रित करके दोषों के उत्क्लेशन कार्य के लिए प्रयोग किया जाता है।

७. **दोषघ्न बस्ति**—सोया, मुलहठी, बेल की छाल और इन्द्रजौ के कल्क को काँजी और गोमूत्र के साथ मिलाकर बस्तिप्रयोग करने से दोषों का क्षय-वृद्धिदोष दूर होकर वायु का अनुलोमन होता है।

८. **शोधन बस्ति**—दन्तीमूल, त्रिफला, स्नुहीक्षीर आदि विरेचक ओषधियों का कल्क निशोथ के साथ घी तथा सेंधानमक उचित परिमाण में मिलाकर बिना रेचन कराए ही दोषों का शोधन करने के लिए इस बस्ति का प्रयोग किया जाता है।

९. **संशमन बस्ति**—प्रियंगु, मुलहठी, रसौंत और नागरमोथा के कल्क को दूध में मिलाकर बस्ति देने से दोषों का शमन होता है।

उपर्युक्त उत्क्लेशन, दोषहर, शोधन तथा संशमन बस्तियों का क्रमिक प्रयोग कराया जाता है। उत्क्लेशन बस्ति के प्रयोग से दोषों का उत्क्लेश होने के बाद दोषहर बस्ति से दोषों का अनुलोमन तथा शोधन बस्ति से अवशिष्ट मलों का शोधन होता है। आन्तरिक अंगों में लीन शेष दोषों का संशमन बस्ति के प्रयोग से शमन होने से सर्वतोभावेन लाभ हो जाता है।

१०. **क्षारबस्ति**—सेंधानमक तथा सौंफ—प्रत्येक १-१ तोला, गोमूत्र ३२ तोला तथा गुड़ ८ तोला मिलाकर भली प्रकार मसल-छानकर गुनगुना करके निरूहण कराने से शूल, मलावरोध, आध्मान, उदावर्त्त, मूत्रकृच्छ्र, कृमिरोग तथा गुल्मरोग में सद्यः लाभ होता है।

आस्थापन विषयक सामान्य निर्देश—

१. आस्थापन प्रयोग के बाद १५-२० मिनट के भीतर मल-वायु तथा क्वाथादि निकल जाता है। कदाचित् क्वाथ का कुछ अंश रुक जाय और रोगी को कोई कष्ट न हो तो उपेक्षा करनी चाहिए। अवशिष्ट अंश का पाचन होकर मूत्र द्वारा शोधन हो जायगा।

२. विशिष्ट रोगनाशक क्वाथों को उचित विधि द्वारा बनाकर तत्तद्रोगनाशक द्रव्यों का योग करके निरूहणार्थ प्रयोग किया जा सकता है।

३. आस्थापन से अग्निमांद्य नहीं होता। अतः पथ्य के अनुवर्त्तन में मण्ड-पेया-विलेपी-कृताकृत यूष की योजना आवश्यक नहीं, साधारण वातशामक हल्का भोजन दिया जा सकता है।

४. धातुक्षयमूलक व्याधियों तथा वमन-विरेचन से कृश रोगियों में आस्थापन के प्रयोग से हानि होती है।

५. भोजन के तुरन्त बाद निरूहण कराने से वमन की प्रवृत्ति होकर वातादि की दुष्टि होती है। अतः सामान्यतया भोजन परिपाक होने तक निरूहण नहीं कराते। किन्तु अन्नविष, तीव्र आध्मान और भयंकर शूल की उपस्थिति में भोजन के बाद भी फलवर्ति का प्रयोग कराने के अनन्तर शोधन-गुणप्रधान आस्थापन कराया जा सकता है।

आस्थापन की व्यापत्तियाँ—

सामान्यतया हीनयोग और अतियोग दो प्रकार की व्यापत्तियाँ आस्थापन बस्ति में हो सकती हैं। हीनयोग होने पर विबन्ध, गौरव, आध्मान, शिरोवेदना, प्रवाहण और ऊर्ध्वगति तथा अतियोग होने पर कुक्षिशूल, सर्वांगवेदना, हिक्का, हृत्पीडा, परिकर्तिका और परिश्राव ये सब १२ व्यापत्तियाँ होती हैं।

हीन योग जनित व्यापत्तियाँ:—

१. **विबन्ध**—आस्थापन बस्ति के प्रयोग के पहले भली प्रकार स्नेहन-स्वेदन न कराने से, बस्ति द्रव के शीत हो जाने से, स्नेह एवं लवण का अल्प मिश्रण करने से अथवा जलीयांश की कमी के कारण द्रव के गाढ़े हो जाने से निरूहण से पूरा शोधन नहीं होता, विबन्ध हो जाता है। जिससे कोष्ठ में संगृहीत दोष बाहर नहीं निकल पाते फलतः अपानवायु का निःसरण नहीं होता तथा मल और मूत्र का भी अवरोध होता है। मूत्राशय और नाभिप्रदेश में शूल, तनाव, उदराध्मान, हृदय की जड़ता, मल द्वार में शोथ, शरीर में खुजली, अग्निमांद्य, वर्ण विपर्यय और बेचैनी के लक्षण पैदा होते हैं।

ऐसी स्थिति में संचित दोषों का पाचन या शोधन किया जाता है। पाचन करने के लिये पीपल, सोंठ, वच, धनियाँ और बड़ी हरड़ का क्वाथ पिलाया जाता है। शोधन के लिये बिल्वमूल, निशोथ, देवदारु, छोटे बेर, कुलथी, और यव का क्वाथ बना कर मद्य और गोमूत्र मिला कर पुनः बस्ति प्रयोग कराया जाता है। इसके अतिरिक्त गुदा में फलवर्ति का संधारण, उदर का स्वेदन तथा विरेचक ओषधियों का प्रयोग भी लाभकर होता है।

२. **गौरव**—उदर में आम दोष का आधिक्य होने पर मृदु ओषधियों से सिद्ध निरूह बस्ति प्रयोग से वायु दूषित हो कर अपानवायु मल-मूत्र तथा सभी स्रोतसों के मार्गों में अवरोध कर देती है, जिससे अग्निमांद्य हो कर शरीर में गुरुता की वृद्धि होती है। हृदय प्रदेश में वेदना, सर्वांग दाह, विना श्रम के थकावट, बुद्धि का ह्रास तथा अंगों की क्षीणता मुख्य लक्षण होते हैं। इसकी शान्ति के लिये स्वेदन, पाचन तथा रूक्षण करने वाली ओषधियों का प्रयोग किया जाता है। छोटी पीपल, तृण, खस, दारुहल्दी, मूर्वा का क्वाथ बना कर सौवर्चल नमक के साथ पिलाने से जाठराग्नि प्रदीप्त हो कर गुरुता दूर होती है। देवदारु, सोंठ, पीपल, हरड़, पलाशबीज, चित्रक, कचूर और कूट का चूर्ण ६ मा० की मात्रा में गोमूत्र के साथ देने से लाभ होता है। दशमूल-क्वाथ गोमूत्र के साथ बस्ति के रूप में देने से भी लाभ करता है। जब तक आम दोष का पूरी तरह से पाचन न हो जाय तब तक रेचन न देना चाहिये अन्यथा अधोगामी आमांश के प्रभाव से वायु का स्तम्भन पक्वाशय में हो जायगा। ऊपर के योगों के अतिरिक्त अजीर्ण-अग्निमांद्यनाशक अन्य योगों—चित्रकादि वटी, हिंग्वष्टक, कुमार्यासव आदि—का व्यवहार किया जा सकता है।

३. **आध्मान**—कोष्ठ की अधिक रूक्षता तथा हीन शक्ति बस्ति के प्रयोग से दोष आकृष्ट हो कर मलाशय में संचित हो जाते हैं, किन्तु बस्ति की हीन शक्ति के कारण वे दोष मलाशय से बाहर निकल नहीं पाते और दोषों के साथ ही बस्ति-प्रविष्ट द्रव्यों का भी अवरोध हो जाता है, जिससे वायु के संचरण में अवरोध हो कर प्रतिलोम गति हो जाती है और आध्मान के साथ ही उदर में वायु की गति से गुड़गुड़ाहट होती है। हृदय पर ऊर्ध्वगामी वायु का दबाव पड़ने से पीड़ा होती है। उदर एवं गुदद्वार में दाह का अनुभव, उदर-अण्डकोष तथा वंक्षण में असह्य वेदना के कारण रोगी बहुत बेचैन हो जाता है। इसकी शान्ति के लिये सर्वांग में तैल मर्दन कर स्वेदन कराना चाहिये। बाद में बस्ति के द्वारा रेचक औषधों का प्रयोग कर दोषों का निर्हरण करना चाहिये।

४. **शिरोवेदना**—शरीर में दोषों की अधिकता, कोष्ठ की जड़ता, अपेक्षाकृत मृदु औषधों का प्रयोग या हीन प्रभाव और अनुष्ण द्रव्य का प्रयोग करने से प्रविष्ट द्रव्य का उचित प्रमाण में प्रत्यावर्तन नहीं होता और वायु के प्रकोप से दोष ऊपर की ओर मस्तक में पहुँच कर शिर में शूल पैदा करता है। इससे ग्रीवा की स्तब्धता, प्रतिश्याय, बाधिर्य और दृष्टिमान्द्य आदि विकार पैदा होते हैं। इसकी शान्ति के लिये उष्ण द्रव्यों से

संस्कारित तैल का सारे शरीर में मर्दन, तीक्ष्ण धूम्रपान, नस्य तथा लालास्रावी औषधों का चूर्ण या कल्क मुख के अन्दर जीभ या तालु पर मलना चाहिये। विरेचन अथवा बस्ति के प्रयोग के द्वारा ऊर्ध्वगामी दोषों का अनुलोमन भी आवश्यक होता है।

५. **प्रवाहण**—दोषों के आधिक्य से तथा अपर्याप्त मात्रा में स्नेहन-स्वेदन कराने के बाद हीनवीर्य एवं अल्प मात्रा में बस्ति का प्रयोग करने से दोषों का पूर्ण शोधन समय से नहीं हो पाता। थोड़ा-थोड़ा दोष बाहर निकलता रहता है। उदर में अधिक समय तक दोषों के संचित रहने के कारण मलाशय-मूत्राशय एवं गुदद्वार में शोथ पैदा हो कर मल प्रवृत्ति के समय प्रवाहण या कुन्थन का कष्ट हो जाता है। रोगी प्रवाहिका के समान काँख कर मल बाहर निकालता है। इसकी शान्ति के लिये प्रारम्भ में लंघन कराना, बाद में शरीर में तेल की मालिश कर स्वेदन कराना चाहिये। शोधन और अनुलोमन औषधों की आस्थापन बस्ति भी लाभ करती है।

६. **ऊर्ध्वगति**—बस्तिप्रयोग के बाद मल-मूत्र एवं अपान वायु के वेग में अवरोध हो जाने पर वायु ऊर्ध्वगतिक हो जाती है। कभी-कभी अधिक वेग से बस्ति का प्रयोग करने से द्रव की तीव्र गति के कारण मलाशय में संचित वायु धक्का लगकर ऊर्ध्वगामी हो जाती है। इससे रोगी के मुख और नासिका से दोषों का उत्सर्ग, सर्वांगदाह, तृष्णा, उत्क्लेश और तीव्र ऊर्ध्वगतिक हो जाने पर मूर्च्छा तथा बस्तिद्वारा प्रयुक्त औषधों का मुखद्वारा वमन के रूप में निकलना इत्यादि गम्भीर लक्षण पैदा होते हैं। बस्ति में स्नेहांश एवं लवण की कमी होने पर इसी प्रकार के लक्षण अल्प मात्रा में उत्पन्न हो सकते हैं। इसकी शान्ति के लिये मुख पर शीतल जल का परिषेक और पंखे से वायु करना चाहिये। रोगी के पार्श्व-पृष्ठ तथा उदर में स्निग्ध और तप्त हाथों से ऊपर से नीचे की ओर मर्दन करना, सिर के बालों को पकड़ कर धीरे-धीरे हिलाना और गले को बाहर से पकड़कर थोड़ा-थोड़ा दबाना चाहिए। इनसे ऊर्ध्वगतिक वायु अधोगामी हो जाती है। भयजनक तथा विस्मयकारक दृश्यों के देखने, समाचार सुनने इत्यादि से वायु सद्यः अनुलोमित हो जाती है। अकस्मात् कमरे में बन्दूक की झूठी गोली छोड़ना, हिंसक पशु का भय दिखाना आदि की योजना की जा सकती है।

निशोथ तथा छोटी हरड़ को पीसकर गोमूत्र के साथ पिलाना या गुडूची, बाँस के पत्ते, करंज, कचूर, देवदारु और कुलथी का क्वाथ बनाकर गोमूत्र में पकाकर बस्ति से देना अथवा पहले बताए हुए वातशामक द्रव्यों से सिद्ध शोधन बस्ति का प्रयोग करना, नस्य प्रयोग के द्वारा छींक की उत्पत्ति करना और धूम्रपान करना इन सभी उपायों से इसकी शान्ति हो जाती है।

अतियोगजनित व्याधियाँ—

७. **कुक्षिशूल**—मृदु कोष्ठ के रोगी में अल्प दोषों के होने पर अधिक स्वेदन कराकर उष्ण-तीक्ष्ण गुणप्रधान अम्लरस युक्त औषधों की बस्ति अनेक बार देने से मलाशय

में दाह हो जाता है और कुक्षि में तीव्र शूल होता है। इसकी शान्ति के लिए पृश्निपर्णी, काश्मरी, शालिपर्णी, कमल, मुलेठी, मुनक्का, महुआ—इनको चावल के पानी और गोदुग्ध में पीसकर मुलेठी का शीत कषाय मिलाकर तक्र और घृत के योग से पित्तदाहशामक बस्ति का प्रयोग करना चाहिए। इससे सद्यः लाभ होता है।

८. **सर्वांग वेदना**—निरूहबस्ति का प्रयोग करने के पहले उचित मात्रा में स्नेहन-स्वेदन न करने पर, बस्ति में औषध द्रव्यों का प्रमाण अधिक होने पर, उनमें गुरु और तीक्ष्ण गुणों का आधिक्य होने पर, बस्तिप्रयोग के समय रोगी के उचित आसन में न लेटने पर बस्ति भीतर तीव्र क्षोभ उत्पन्न कर देती है, जिससे अतिसार के समान मल प्रवृत्ति होकर वायु का प्रकोप हो जाता है और सारे शरीर में वेदना, स्तब्धता तथा जृम्भा का आधिक्य हो जाता है। इसकी शान्ति के लिये तिलतैल में महीन पीसा हुआ सेंधानमक मिलाकर मर्दन या स्वेदन करना चाहिए। वातघ्न औषधों से सिद्ध किये तैल का अनुवासन भी लाभकारी होता है।

९. **हिक्का**—रोगी के दुर्बल और मृदु कोष्ठ होने पर तीक्ष्ण औषधों के प्रयोग से दोषों का अधिक स्राव होता है, जिससे वातप्रकोप होकर हिक्का की उत्पत्ति होती है। इसकी शान्ति के लिये हिक्काशामक औषधों का प्रयोग, धूम्रपान आदि कराना चाहिये। स्निग्ध बस्ति का प्रयोग भी लाभकारक होता है।

१०. **हृत्पीड़ा**—बस्तिद्रव्य में तीक्ष्ण औषधें अधिक प्रमाण में मिल जाने पर, बस्ति-नलिका के द्वारा मलाशय में वायु प्रवेश हो जाने पर अथवा बस्तिपुट को उचित रूप में न दबाने से उदरगत वायु का प्रकोप होकर रोगी के हृत्प्रदेश में तीव्र वेदना प्रारम्भ होती है। इसकी शान्ति के लिए अम्ल द्रव्यों से स्निग्ध वातघ्न अनुवासनबस्ति देनी चाहिये।

११. **परिकर्तिका**—पूर्ववत् मृदुकोष्ठ-अल्पदोष के रोगी में रूक्ष तथा तीक्ष्ण औषधों से सिद्ध बस्ति का अधिक प्रमाण में प्रयोग होने से मल का अत्यधिक निःसरण होता है। इससे वायु और पित्त का प्रकोप होकर नाभिप्रदेश और गुद-प्रदेश में काटने के समान पीड़ा होती है। आमयुक्त या आमरहित मल बार-बार निकलता है। इसकी शान्ति के लिये मधुर एवं शीतवीर्य औषधों से सिद्ध गोदुग्ध की सुखोष्ण बस्ति देनी चाहिये। पिच्छा बस्ति के प्रयोग से भी लाभ होता है। ईख के रस में मुलेठी और तिल का कल्क मिला कर ६ गुने दूध में पका कर आधा शेष रहने पर बस्ति देने से भी परिकर्तिका की शान्ति हो जाती है।

१२ **परिस्राव**—पित्तप्रकृति के रोगी में क्षार-अम्ल-लवण एवं तीक्ष्ण गुणप्रधान बस्ति का प्रयोग करने से मलद्वार में दाह होता है। मलाशय तथा मलद्वार में विदार एवं व्रण होकर पतला और चिप-चिपा स्राव निकलता रहता है। विदार एवं व्रणों के गम्भीर हो जाने पर रक्तस्राव या दाहयुक्त पित्त का स्राव होता है। अतिसार के समान द्रवभूयिष्ठ मलप्रवृत्ति होकर रोगी मूर्छित हो जाता है। इसकी शान्ति के लिये गुदद्वार

पर शीतल और मधुर पदार्थों का लेप, वट और गूलर की छाल को पकाकर दूध में मिलाकर परिषेचन करने या बस्ति देने से लाभ होता है। शेष रक्तातिसारवत् चिकित्सा करनी चाहिये।

ऊपर बस्ति प्रयोग में असावधानी के कारण हीनयोग और अतियोग से उत्पन्न होने वाली बारह व्यापत्तियों का चिकित्सानिर्देश के सहित वर्णन किया गया है। वास्तव में इन सभी में वायु की प्रतिलोमगति या मलाशय और गुदा में क्षोभ मुख्य विकार होता है। ऊर्ध्वगतिक वायु के लिए अनुलोमन—विशेषकर अल्पमात्रा में निशोथ आदि विरेचक-औषधों का प्रयोग तथा मलाशयक्षोभ की शान्ति के लिये मधुर-स्निग्ध-पित्तशामक द्रव्यों से संस्कारित अनुवासन बस्ति का प्रयोग लाभकारी होता है।

बस्ति के पाश्चात्त्य प्रयोग

पाश्चात्य चिकित्सा में भी बस्ति का पर्याप्त प्रयोग होता है। बस्तियन्त्र, बस्ति-पिचकारी (Glycerins syringe) तथा कंदुक बस्ति (Boll enema) का प्रयोग बस्तियन्त्र के रूप में किया जाता है। प्रयोगविधि का वर्णन पहले किया जा चुका है। यहाँ केवल गुण-कर्म की दृष्टि से थोड़ा सा वर्णन किया जायगा। पाश्चात्त्य चिकित्सा में, किसी तरल को मलाशय में या मलाशय के द्वारा पक्वाशय आदि भीतरी अंगों में यन्त्रविशेष से प्रविष्ट कराने को एनीमा (Enema) कहते हैं। बस्ति शब्द अधिक व्यापक है, किन्तु एनीमा का अभिप्राय तो बस्ति से स्पष्ट हो ही जाता है।

चिकित्सा में मुख्य रूप से आठ प्रकार से बस्तिप्रयोग कराया जाता है—

१. मलशोधक बस्ति (Purgative enemata).

२. ग्राही या अवरोधक बस्ति (Astringent enemata).

३. पोषक बस्ति (Nutrient enemata).

४. कृमिनाशक बस्ति (Anthelmentic enemata).

५. वेदनाशामक बस्ति (Sedative enemata).

६. वातानुलोमक बस्ति (Antispasmodic enemata).

७. पिच्छिल बस्ति (Emollient enemata).

८. विशिष्ट औषधयुक्त बस्ति (Medicated enemata)

इनमें मलशोधक बस्ति आस्थापन बस्ति के रूप में तथा शेष भेद अनुवासन बस्ति के रूप में प्रयुक्त होते हैं। क्रम से इनका संक्षिप्त वर्णन किया जाता है।

१. मलशोधक बस्ति—प्रायः बृहदंत्र में सञ्चित मल के शोधन के लिये इसका प्रयोग किया जाता है।

(क) **फेनिलजलबस्ति**—मुलायम साबुन (Soft soap) आवश्यकतानुसार १-२ पाइण्ट जल में अल्प मात्रा में घुलाकर फेनिल बनाते हैं, जिससे आँतों से आसानी से जल वापस आ जाय। साबुन की मात्रा बहुत कम रहनी चाहिए, क्योंकि साबुन

आँतों के लिए क्षोभक होता है। कदाचित् कुछ अंश आँतों में रुक गया तो पेट में जलन होती है। पानी का ताप ९८ फा० अर्थात् गुनगुना होना चाहिए। शीतजल होने से आँतों में तनाव पैदा हो जाने के कारण अनुलोमन में बाधा होती है। वयस्कों में १ से २ पाइण्ट तथा बालकों में ४-६ औंस और १ साल के कम की आयु वाले बच्चे में १ औंस के लगभग जल पर्याप्त होता है। प्रविष्ट जल को यदि व्यक्ति कुछ समय तक रोक सके तो मल की शुद्धि भली प्रकार होती है।

(ख) **अम्लजल बस्ति**—गुनगुने जल में नींबू का रस (१ सेर जल में १ तोला) मिलाकर शोधनार्थ देते हैं। पुरानी कोष्ठबद्धता, जीर्ण आमातिसार शिरःशूल एवं पैत्तिक विकारों में साबुन के पानी की अपेक्षा इससे अधिक लाभ होता है।

(ग) **लवण जल बस्ति**—गुनगुने पानी में सेंधानमक (१ सेर में १ तोला) या इप्सम साल्ट (Mag sulph १ सेर में २॥ तोला) की मात्रा में मिलाकर प्रयुक्त करते हैं। जीर्ण पक्वाशयशोथ (Chronic colitis) तथा सूत्र कृमि-विकार (Thread worm) और चिकने-चिपचिपे तथा दुर्गन्धित मल वाली इतर व्याधियों में इसके प्रयोग से सन्तोषजनक लाभ होता है।

(घ) **उत्तेजक लवणबस्ति**—विसूचिका, अतिछर्दि, तृष्णा तथा बच्चों के प्रवाहिका विकार में अवसाद की स्थिति होने लगती है। ऐसी अवस्था में उत्तेजक लवण-बस्ति का प्रयोग किया जाता है। इसमें १ पाइण्ट १०४ अंश फा० तक गरम जल में १ औंस सेंधानमक मिलाकर रबर की मूत्र-नलिका के माध्यम से धीरे-धीरे गुदा में चढ़ाते हैं। गुदा के नीचे तकिया लगाकर ऊँचा कर देना आवश्यक है। रबर ट्यूब में काँच की कीप लगाकर देने से सुविधा होती है। बीच-बीच में कुछ काल के लिए विराम देकर १-१॥ घण्टे के भीतर सारा द्रव्य चढ़ा दिया जाता है। इससे शरीर का ताप बढ़कर अवसाद का उपशम होता है। इसी घोल में ½-१ औंस ब्राण्डी भी मिलायी जा सकती है। लवण-जल में ग्लूकोज का मिश्र। (१ पाइण्ट में आधा औंस) या रक्त में अम्लोत्कर्ष के लक्षण मिलने पर इसी घोल में २ चम्मच (१२० ग्रेन) सोडा बाई कार्ब मिलाकर देना चाहिए।

(ङ) **स्निग्ध बस्ति**—½ पाइण्ट गुनगुने जल में ४ औंस जैतून का तेल भली प्रकार मिलाकर बस्ति दी जाती है। बस्ति-पात्र में तेल पहले डाल देना अच्छा है, जिससे तेल नली में पहले चला जायगा—अन्यथा तेल पात्र के अवशिष्ट जल में ही उतराया हुआ रह जाता है। अधिक हिलाने से वायु के बुद्बुद पानी में मिल सकते हैं। इसका प्रवेश कराते समय नितम्बों के नीचे तकिया रखकर थोड़ा ऊँचा कर देना चाहिए।

मल अधिक कड़ा तथा गाँठदार होने या वातार्श एवं गुद-विदार, व्रणयुक्त बृहदंत्र-प्रदाह (Ulcerative colitis आदि विकार होने के कारण मलोत्सर्ग बड़ी कठिनाई

से होता है। ऐसी अवस्था में स्निग्ध बस्ति से अपेक्षाकृत अधिक लाभ होता है। जैतून के तेल के स्थान पर गरी का तेल (१ पाइण्ट में ४ औंस) या एरण्ड तैल (१ पाइण्ट में २ औंस) भी मिलाया जा सकता है।

छोटे बच्चों या दुर्बल रोगियों में विबंध होने पर मल की गाँठें मलाशय में अटक जाती हैं। किन्तु दुर्बलता तथा अशक्ति के कारण अधिक मात्रा वाली बस्ति का प्रयोग नहीं कराया जा सकता है। ऐसी स्थिति में २ चम्मच से ४ चम्मच (२-४ ड्राम) ग्लीसिरीन १ औंस गुनगुने पानी में मिलाकर पिचकारी के द्वारा सुविधा पूर्वक दी जा सकती है। इससे मलाशय में सञ्चित मल की सूखी गाँठें चिकनी होकर निकल जाती हैं। १ औंस जैतून या गरी का तेल तथा १ औंस गुनगुना पानी भी इसी प्रकार दे सकते हैं।

उक्त मृदु-बस्ति की प्रयोग-संभावना न होने पर ग्लीसिरीन की वर्त्ति (Glycerine suppository) को मल द्वार के भीतर धीरे से पहुँचा देने से मलाशय का संकोच होकर मलोत्सर्ग हो जाता है। इन वर्त्तियों के अभाव में साबुन की वर्त्ती बनाकर एरण्ड तैल से थोड़ा स्निग्ध करके मल द्वार के भीतर पहुँचाने से प्रायः मल प्रवृत्ति हो जाती है।

(च) हिमजल बस्ति—ऊपर निर्दिष्ट सभी बस्तिप्रयोगों में जल का ताप ९८° या शरीर के ताप के समानान्तर होता है। किन्तु अंशुघात (Sun stroke), ऊष्मघात (Heat stroke) एवं दूसरी परम ज्वर (Hyper pyrexia) वाली अवस्थाओं में, जब ताप क्रम १०६ फा० से ऊपर पहुँचने लगे और तापशामक दूसरे उपचारों से लाभ न हो तथा मलाशय गत रक्तस्राव को रोकने के लिए पानी को बरफ से पर्याप्त ठंढा (४५ से ६० अंश फा० तक) करके मलाशय तथा पक्वाशय का प्रक्षालन (रक्तस्राव में केवल मलाशय में जल पहुँचाते हैं) करते हैं। बस्ति नेत्र में १०-१२ नम्बर की रबर की मूत्र-नलिका सम्बद्ध कर ५-६ इञ्च मलद्वार के भीतर प्रविष्ट कराकर थोड़ी-थोड़ी मात्रा में जल पहुँचाते हुए प्रक्षालन करते हैं। कदाचित् कुछ काल के लिए जल आँतों में रुक जाय तो कोई हानि न होगी।

२. ग्राही या अवरोधक बस्ति—मलाशयगत रक्तस्राव, प्रवाहिका या अतिसार के कारण अधिक पतले दस्त होने पर, जब मुख द्वारा प्रयुक्त औषध से लाभ न हो या किसी कारण से मुख द्वारा औषध न दी जा सके और मल में आमांश की अधिकता न हो, तब इस बस्ति से लाभ होता है। अहिफेन, स्टार्च एवं दूसरे अवरोधक औषधयोगों का उपयोग ग्राही बस्ति में किया जाता है।

३. पोषक बस्ति (Rectal drip)—(क) मूर्च्छा, हृल्लास या वमन के कारण मुख द्वारा आहार प्रयोग संभव न होने पर बस्ति द्वारा ६½ प्रतिशत ग्लूकोज का घोल सम लवणजल (Normal saline) में मिलाकर प्रयुक्त किया जाता है। इसके प्रयोग के पूर्व गुनगुने पानी से मलाशय का शोधन कर लेना आवश्यक है। इसकी मात्रा एक बार में ४ औंस से अधिक न होनी चाहिए। आवश्यक होने पर ३-४ घण्टे के

अन्तर से पुनः प्रयोग कराया जा सकता है। रोगी के नितम्ब के नीचे ६-८ इञ्च ऊंचा तकिया रखकर, सीधे लिटाकर, बस्तिनेत्र में ६-७ नम्बर की रबर की मूत्र-नलिका लगाकर—५-६ इंच भीतर नलिका प्रविष्ट रहेगी—द्रव फ्लास्क या काँच की कीप में भरकर देना चाहिए। मर्फी का ड्रिप (Murphy's drip) रबर की नली में लगा देने से द्रव का वेग नियंत्रित रहता है। १ मिनट में औसतन ३०-४० बूंद जाने से प्रचूषण आसानी से होता है।

(ख) अधिक पोषण के लिए अर्द्धपाचित दूध की पोषक बस्ति निम्न पद्धति से तैयार करके पूर्वोक्त विधि से दी जाती है—

४ औंस दूध में १ मुर्गी के अण्डा की जर्दी डालकर, खूब फेंटकर, १४० अंश फा. पर ८-१० मिनट तक गरम करके, १ औंस पेंक्रिएटिस (Liqur Pencreatis) तथा सेंधानमक और सोडाबाईकार्ब १०-१० रत्ती मिलाकर, १ घण्टे तक मन्द आँच पर गरम रखना चाहिए। बाद में प्रयोग के समय उष्ण करके अनुवासन बस्ति के रूप में देना चाहिए।

४. **कृमिनाशक बस्ति**—सूत्रकृमियों के शोधन के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। ४-६ औंस गुनगुने जल में १ ड्राम सेंधानमक या २-३ ड्राम मैग सल्फ मिलाकर अनुवासन बस्ति के क्रम से धीरे-धीरे देना चाहिए। इसके पहले साधारण शोधक बस्ति से मलाशय की शुद्धि कर लेना आवश्यक है। क्वासिया के (Infusion of Quassia) ३-४ औंस क्वाथ में १ ड्राम नमक मिलाकर प्रयोग करने से अधिक लाभ होता है। पलाशबीज तथा इन्द्रजौ के क्वाथ का भी इसी क्रम से प्रयोग किया जा सकता है।

५. **वेदनाशामक बस्ति**—(क) इसमें अहिफेन का प्रयोग होने के कारण ग्राही तथा वेदनाशामक दोनों परिणाम होते हैं। आम विरहित अतिसार, दण्डाण्वीय प्रवाहिका (Bacillary Dysentry), सव्रण बृहदंत्रप्रदाह आदि में इसके प्रयोग से लाभ होता है।

२ ड्राम स्टार्च को ५ औंस ठण्डे जल में भली प्रकार मिलाकर कुछ समय तक उबाल कर उष्ण कर लेना चाहिए। बाद में ३० बूंद टिंक्चर ओपीआई (Tr. Opii) मिलाकर अनुवासन के रूप में देना चाहिए।

(ख) २० ग्रेन क्लोरेटोन (Chloretone) को २ औंस जैतून के तेल में मिलाकर देने से वेदना का शमन होता है।

६. **वातानुलोमक बस्ति**—उदर में वायु का अत्यधिक संचय होने के कारण आध्मान की अवस्था में अथवा पेट में अत्यधिक ऐंठन हो, तो इसका प्रयोग किया जाता है।

(क) वेदनाशामक बस्ति के क्रम से स्टार्च का ५ औंस मिश्रण तैयार करके ½ औंस शुद्ध तारपीन का तेल मिलाकर अनुवासन करना चाहिए।

(ख) स्टार्च के घोल में टिंक्चर एसाफिटीडा (हींग Tr. Asafetida) ६० बूंद तथा टिं० वेलाडोना (Tr. Belladonna) ३० बूंद मिलाकर देना चाहिए।

(ग) पोटास ब्रोमाइड (Potas bromide) ३० ग्रन, एस्प्रीन (Acetyl salicylic acid) १५ ग्रेन तथा म्यूसिलेज ट्रैगेकान्थ (Mucilege Tragacanth) को सम लवण जल में मिलाकर प्रयुक्त करना चाहिए।

७. **पिच्छिल बस्ति**—(घ) मलाशय एवं बृहदंत्र के प्रदाह, व्रण तथा क्षोभ की अवस्था में इसका प्रयोग करने से शान्ति मिलती है। पतली यवपेया (Barley), स्टार्च या अलसी को उबाल कर १-२ औंस की मात्रा में मलाशय में अनुवासन के रूप में प्रविष्ट कराना चाहिए।

८. **औषधयुक्त बस्ति**—पहले की बस्तियों में भी अनेक औषधों का मिश्रण बताया गया है। यहाँ विशिष्ट रासायनिक औषधों का प्रयोग होने से पृथक् उल्लेख किया गया है। औषधयुक्त द्रव को प्रविष्ट कराने के पूर्व समबल लवण जल से मल का भली प्रकार शोधन कर लेना आवश्यक है। औषधयुक्त बस्ति अनुवासन बस्ति सदृश है—अर्थात् इसे रोकने से ही गुण होता है। एक बार में ४ औंस से अधिक मात्रा प्रविष्ट कराने से लाभ नहीं होता। रबर की नली में काँच की कीप तथा दूसरे सिरे पर ७-८ नम्बर की रबर की मूत्र-नलिका लगाकर ५-६ इंच भीतर प्रवेश कराना चाहिए। प्रारंभ में रोगी वाम पार्श्व में नितम्बप्रदेश को तकिया लगाकर ऊंचा रखकर लेटा रहेगा। १५-२० मिनट में औषध का प्रवेश हो जाने के बाद रोगी सीधे लेटकर, पैरों को मोड़कर बायें पार्श्व से दाहिने पार्श्व की तरफ गोलाई में प्रतिलोमक विधि से उदर को सहलाते हुए मर्दन करेगा। ५-७ मिनट सीधे (उत्तान) लेटे रहने के बाद दाहिनी तरफ करवट बदलेगा। इससे औषध उण्डुक (Ceacum) तक भली प्रकार पहुँच सकेगी। ८-१० मिनट दाहिने पार्श्व में लेटे रहने के बाद उठ-बैठ सकेगा।

औषध का घोल सम लवणजल या परिस्रुत जल में बनाकर ९८ अंश फा० ताप तक गरम रखकर देना चाहिए।

पोटास की बस्ति—पोटास का हल्के गुलाबी रंग का घोल ४ औंस की मात्रा में दिया जाता है। जीर्ण आमातिसार तथा दुर्गंधित मलोत्सर्ग वाली व्याधियों में इससे लाभ होता है।

मैगनेसियम सल्फेट की बस्ति—१ औंस मैग सल्फ को ४ औंस पानी में घुलाकर प्रयुक्त करते हैं। मस्तिष्कावरणशोथ एवं सिर के आघात में उच्च शीर्षण्यनिपीड (Intracranial tansion) को कम करने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। दिन में प्राय २ बार देते हैं।

चिनियोफोन, याट्रेन, क्विनाक्सिल तथा कार्बार्सोन की बस्ति (Chiniofon,

Yatren, Quinoxyl, Carbarsone)—२ से ४ प्रतिशत का विलयन बना कर ४ औंस जल को अनुवासन के रूप में प्रविष्ट किया जाता है। कार्बार्सोन के २ कैप्सूल खोलकर २ औंस पानी में मिलाकर देना चाहिए। प्रायः १० दिन तक यह क्रिया करनी चाहिए। आमातिसार में लाभप्रद है।

शुल्वौषधों की बस्ति (Sulpha drugs)—२ ग्राम सल्फाडायाजीन या सल्फामेजाथीन एवं ६ ग्राम सल्फागुआनाडीन या थैलाजोल को ४-५ औंस परिस्रुत जल में सम्यक् मिलाकर अनुवासन कराया जाता है। सव्रण बृहदंत्रशोथ में इसका मुख्यतया प्रयोग किया जाता है। प्रथम ७ दिन तक दैनिक रूप में, बाद में १० दिन तक प्रति तीसरे दिन और बाद में आवश्यकतानुसार १५ दिन तक सप्ताह में २ बार के क्रम से देना चाहिए।

स्ट्रेप्टोमायसीन की बस्ति (Streptomycin)—१ ग्राम स्ट्रेप्टोमायसीन को ४ औंस सम लवण जल में घुलाकर अनुवासन देना चाहिए। क्षयज आंत्रिक व्रण—विशेषकर क्षयज उण्डुकविकार (Tubercular Ceacum) तथा सव्रण बृहदंत्रशोथ में इससे पर्याप्त लाभ होता है।

पैरेलडिहाइड एवं एवर्टिन (Paraldehyde & Avertin)—की बस्ति पैरेलडिहाइड की १ ड्राम प्रति १४ पौण्ड शरीर भार के अनुपात की (सामान्यतया ४ से ८ ड्राम) मात्रा ४ औंस जल में मिलाकर देना चाहिए। जल के स्थान पर जैतून का तेल भी मिलाया जा सकता है। एवर्टीन के २½ प्रतिशत का विलयन २ औंस की मात्रा में पूर्वोक्त क्रम से देते हैं।

इनका मुख्यप्रभाव निद्रा संजनक तथा आक्षेपनाशक है। धनुर्वात, गर्भाक्षेपक (Eclampsia), मस्तिष्कावरणशोथ, मस्तिष्कगत रक्तस्राव आदि व्याधियों में आक्षेप एवं बेचैनी के शमनार्थ इनका प्रयोग किया जाता है।

एमिनोफायलीन की गुदवर्त्ति (Aminophylline suppository)—इसकी गुदवर्त्ति का सार्वदेशिक प्रभाव संतोषजनक होता है। हृदय एवं वृक्क के विकारों मे लाभप्रद है। हृदयजन्य श्वास, हृदयधमनी जरठता तथा जीर्ण वृक्कविकारों में इसके प्रयोग से लाभ होता है। मुख या सूचीवेध द्वारा औषध-प्रयोग संभव या अनुकूल न रहने पर इसका प्रयोग किया जाता है।

उत्तर बस्ति

रोगी को उत्तान लिटाकर जिस बस्ति का प्रयोग किया जाता है, उसको उत्तर बस्ति संज्ञा दी गई है। इसके प्रयोग से पुरुषों में मूत्रप्रणाली एवं बस्ति के विकारों में लाभ होता है। स्त्रियों में योनिमार्ग, गर्भाशयग्रीवा एवं गर्भाशय के विकार तथा मूत्र-प्रणाली और मूत्राशय के विकारों में इसका उपयोग होता है।

उत्तर बस्ति के द्वारा मुख्यतया स्थानीय विकृतियों में लाभ होता है। अतः इसका वर्णन विशिष्ट रोगों के प्रकरण में किया जायगा।

नस्यकर्म

वमन-विरेचन-अनुवासन एवं आस्थापन के प्रयोग से सार्वदैहिक विकारों में लाभ होता है। शिर एक प्रधान अंग है, इन क्रियाओं के द्वारा समस्त शिरोरोगों में सन्तोषजनक लाभ नहीं होता। नस्यकर्म के द्वारा ऊर्ध्व-जत्रु या ऊर्ध्वाङ्ग के विकारों में बहुत लाभ होता है। इसकी विशिष्ट महत्ता के कारण इसे पंचकर्म में अन्तर्भूत किया है।

नासिका के द्वारा औषधों का प्रवेश होने के कारण इसे नस्यकर्म कहा जाता है। इसका प्रधान गुण शिरस्थ मल का शोधन होता है, अतः व्यापक अर्थ में शिरोविरेचन से भी नस्यकर्म का उल्लेख शास्त्रों में आया है। नासा-मार्ग से मूर्द्धा-शंख-तालुमूल-कर्ण-पटह-मस्तिष्कतल आदि गुप्त स्रोतसों तक औषध का प्रयोग बहुत आसानी से होता है, इसी कारण शिरोविरेचनार्थ यही मार्ग सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किया गया है।[1]

नस्यकर्म को पंचकर्म का ही अंग अनेक आचार्यों ने स्वीकार किया है। अतः इसमें भी वमन-विरेचनादि के समान सावधानी रखनी आवश्यक है। नस्यकर्म कराने के पूर्व स्निग्धोष्ण पाणि से ग्रीवा-कर्णमूल-शंख-कपोलादि अवयवों का स्पर्श एवं मृदु अभ्यंग करना श्रेयस्कर है। निर्वातस्थान में शान्तचित्त होकर सुखशय्या पर लेटे हुए शिरोविरेचन कराया जाता है। शयन का स्वरूप इस प्रकार का हो कि रोगी का सिर शरीर के दूसरे अंगों से ४–६ अंगुल नीचा तथा पीछे की तरफ थोड़ा झुका हुआ होना चाहिए।

नस्यभेद—नस्यकर्म ५ प्रकार का होता है। बृंहण, शिरोविरेचन, प्रतिमर्श, अवपीडन तथा प्रधमन नस्य।

१. **बृंहणनस्य**—मस्तिष्क के बल की वृद्धि तथा कर्ण-नेत्र-नासादि इन्द्रियों की तृप्ति इसका प्रधान गुण है। इसे नावन नस्य भी कहते हैं। बृंहणनस्य २ प्रकार का होता है—स्नेहन तथा शोधन। स्नेहन एवं शोधन गुणवाली औषधों से संस्कारित घृत एवं तैलों का प्रयोग इस विधि से किया जाता है। नारायण तैल, चन्दनादि एवं लाक्षादि तैल, जीवन्त्यादि घृत एवं कूष्माण्ड घृत आदि का प्रयोग स्नेहन के उद्देश्य से तथा षड्बिंदु तैल, क्षार तैल, अणु तैल का प्रयोग शोधन के रूप में किया जाता है। जांगल-मांसरस तथा मधुर-वृष्य वनस्पतियों का रस घृत मिलाकर प्रयुक्त होता है।

बृंहणनस्य के अधिकारी—वातिक तथा पैत्तिक शिरोविकार, शिरःशूल, सूर्यावर्त्त, अर्धावभेदक, कृमिज शिरोरोग, तिमिर, शिरःकम्प, अर्दित, नेत्रों का संकोच, नेत्रप्रचलन (Nystagmus), कर्णशूल, दन्तशूल, कर्णनाद, नासाशोष, मुखशोष एवं मस्तिष्कशोष

१. नस्तः कर्म च कुर्वीत शिरोरोगेषु शास्त्रवित्।
द्वारं हि शिरसो नासा तेन तद् व्याप्य हन्ति तान्॥ (च. सि. ९)

(मस्तिष्क वृद्धि न होना), सभी प्रकार के मुखरोग, अकालपलित केश, स्वर-भेद एवं स्वरोपघात, मन्याविकार, अपतानक, अवबाहुक एवं निद्रानाश आदि वात-पित्त प्रधान व्याधियों में बृंहणनस्य का प्रयोग कराया जाता है।

घृत-तैल या मांसरस ४–८ बूंद की मात्रा में प्रातःकाल क्रम से दोनों नासा छिद्रों में डालते हैं। प्रारम्भ में २–३ दिन शोधन नस्य का प्रयोग करने के अनन्तर स्नेहन का प्रयोग करना अधिक लाभप्रद होता है।

२. **शिरोविरेचन**—मस्तिष्कस्थ दोष को संशोधित करने के लिए विरेचन नस्य का प्रयोग कराया जाता है।

शिरोविरेचन के अधिकारी—जत्रूर्ध्व अङ्गों के गौरव, शोफ, उपदेह, कण्डु, स्तम्भ, अभिष्यन्द, पाक, प्रसेक आदि श्लैष्मिक विकारों में; अरोचक, नासा कृमि, प्रतिश्याय, अपस्मार, गंधग्रहण असामर्थ्य, नासार्श, गलशुण्डी विकार, गलग्रह, हनुग्रह, पीनस, कण्ठशालूक, शिर-दन्त-मन्यास्तम्भ, तिमिर, नेत्र-वर्त्मविकार, उपजिह्विका, अर्धावभेदक, अर्दित, अपतन्त्रक, अपतानक, गलगण्ड, दन्तशूल, चलदन्त, रक्तान्तनेत्र, मूक-मिनमिन-गद्गदत्व एवं स्वरभेद आदि सभी विकारों में शिरोविरेचन से लाभ होता है।

शिरोविरेचन का निषेध—तरुण ज्वर, तरुण प्रतिश्याय, अभिघातज विकार, मद-मूर्च्छापीडित, मद्यपान श्रम-ग्राम्यधर्म तथा व्यायाम से क्लान्त, विरेचित या अनुवासित, क्षुधा-तृष्णा से पीडित, सद्यःभुक्त तथा अजीर्णपीडित व्यक्तियों में सामान्यतया सभी नस्य-कर्म और विशेषतया शिरोविरेचन का निषेध किया जाता है।

शिरोविरेचन की विधि—स्नेहन एवं स्वेदन क्रिया करने के बाद—मल-मूत्र की सम्यक् शुद्धि करने के अनन्तर भोजन के पूर्व स्वच्छ शुभ दिन में शिरोविरेचन करना चाहिये। पहले नासिका से कफ निकाल कर अच्छी तरह सफाई कर लेना आवश्यक है। चिकित्सक को भी अपने हाथों की भली प्रकार शुद्धि कर लेनी चाहिये। निर्वात स्थान में रोगी को उत्तान लिटाकर सिर को कुछ पीछे की ओर मोड़कर, शेष शरीर से कुछ नीचा रखना चाहिए। स्निग्धोष्ण पाणितल से शंख-मन्या-कपोल एवं कपालादि अङ्गों को थोड़ा स्वेदित कर लेना उचित है। इससे उन स्थानों के दोष कुछ चलायमान हो जाते हैं। नेत्रों में दवा न चली जाय, इस भय से या रोगी देख-देख कर त्रस्त न हो इसके बचाव के लिये नेत्रों को मुलायम वस्त्रों से ढक देना चाहिए। इसके बाद बाए हाथ की तर्जनी तथा अँगूठे से नासाग्र को थोड़ा मोड़कर एक पार्श्व का छिद्र बन्द करके नस्यं (घृत-तैल-मांसरस) देना चाहिए। काँच के ड्रापर से तेल डालने में सहूलियत होती है। एकबार थोड़ी मात्रा में तेल डालकर अल्पकाल के लिए रुककर पुनः देना चाहिए। रोगी को मुख से साँस लेने के लिए कहना तथा नस्य-स्नेह शनैः-शनैः डालना चाहिए। कफ-विरेचनार्थ नस्य भोजन के पूर्व प्रातःकाल ९ बजे, पित्तशमनार्थ मध्याह्न (११ बजे से १ बजे के बीच, बिना भोजन किए हुए, प्रातःकाल पूर्वाहार लेना आवश्यक है) में तथा वायु के लिये अपराह्न में ३–४ बजे देना चाहिए। शरद एवं वसन्त ऋतु में पूर्वाह्णकाल,

हेमन्त एवं शिशिर में मध्याह्नकाल तथा ग्रीष्म में सायंकाल स्वच्छ-शुभ दिन में नस्य प्रयोग कराया जाता है। मुख से रात्रि में लार गिरना, निद्रितावस्था में प्रलाप या दाँत कट[illegible], [illegible] [illegible]कावट, मुख में दुर्गन्धि, शिरःशूल, कास, निद्रानाश, कर्णनाद, तृष्णा तथा अर्दित रोग से पीड़ि[illegible] [illegible]क्तियों में रात्रि में नस्य कर्म करना चाहिए।

नस्य प्रयो[illegible] के बाद शंख-[illegible]-तालु-ग्रीवामूल-कटि एवं हस्त-पादतल की हल्के-हल्के हाँथों से [illegible]ात[illegible] तैल से [illegible] तथा १-१॥ मिनट बाद रोगी को बैठाकर कण्ठ शुद्धि [illegible] गरम पानी [illegible] करावे। यदि औषध नासामार्ग से मुख में आ गई हो तो चिन्त[illegible] [illegible] करनी चाहिए। धीरे से खाँसकर थूक देना चाहिए। एक बार प्रयुक्त किया हुआ नस्य जब दोषों के साथ बाहर निकल आवे तो आवश्यकतानुसार १ या २ बार और इसी क्रम से पुनः प्रयोग करना चाहिए। एक दिन में २ बार से अधिक नस्यकर्म न करना चाहिए। १ दिन का अन्तर देकर ७ बार नस्यक्रिया करायी जा सकती है। नस्यकर्म के बाद उत्क्लिष्ट दोष कुछ नस्यमार्गों में अवरुद्ध रह जाते हैं। उनके शोधन के लिए धूम्रपान का प्रयोग कराना आवश्यक है। धूम्रपान से दोषों का निर्लेख होकर पूर्ण शुद्धि होती है।

इन क्रियाओं के बाद अनभिष्यंदी सुपाच्य पथ्य देकर उष्णोदक पान कराना चाहिए। कम से कम १० दिन तक गरम जल का सेवन करना आवश्यक हैं।

अपथ्य—नस्यसेवन करने के बाद धूलि, धूम, धूप, मद्य, तैल, शिरस्कस्नान आदि का बचाव रखना, क्रोध-भय-ग्लानि-ग्राम्यधर्म का परित्याग तथा तरल पदार्थों का सीमित मात्रा में सेवन करना चाहिए।

सम्यक् प्रयुक्त नस्य के परिणाम—मस्तक शुद्धि, इन्द्रियों का हल्कापन, मन की प्रसन्नता तथा शान्त-प्रगाढ़ निद्रा आदि शुभ लक्षण तथा विकारों का शमन होता है।

३. प्रतिमर्शनस्य—यह बृंहण नस्य का ही एक भेद है। नासामल की शुद्धि तथा मस्तिष्क की पुष्टि के लिए अल्प मात्रा में सिद्ध तैलों का नस्य दिया जाता है। यह प्रतिदिन सेवन करने लायक बृंहण नस्य का रूप है।

समय—प्रातःकाल सोकर उठने के बाद, दन्तधावन करने के बाद, यात्रा के लिए घर से निकलते समय, रात्रि में सोने के पूर्व, मल-मूत्रोत्सर्ग-व्यायाम-रतिकर्म-आहारोपरान्त या वमनोपरान्त—सामान्यतया सभी अवस्थाओं में सभी ऋतुओं में इसका प्रयोग होता है।

प्रत्येक नासारन्ध्र में २-३ बूंद तैल श्लेष्मलकला के सहारे डाल देते हैं। धीरे-धीरे वह तेल बहकर नासाविवर में फैलते हुए, श्वास खींचते समय किंचिन्मात्रा में मुख तक पहुँच सकता है।

यह नस्य बैठकर या खड़े-खड़े भी लिया जा सकता है। कफ तथा कफ-वात विकारों में तैल का नस्य, वातविकार में वसा, पित्तविकार में घी और वात-पित्त-विकार में मज्जा के प्रयोग का विधान है।

प्रतिमर्श नस्य का नियमित रूप पर सेवन करने से नाक के मल निकल जाते हैं। नासा शुद्धि के परिणामस्वरूप गले तथा मूर्द्ध-विकारों का प्रतिषेध हो जाता है। ऊर्ध्व जत्रु के समस्त विकार दूर होकर इन्द्रियों की शुद्धि, मन की प्रसन्नता तथा [illegible] गला और हृदय का बल बढ़ता है। मुख की दुर्गन्धि दूर होती [illegible]

प्रतिमर्श नस्य के रूप में अणु तेल का प्रयोग [illegible] माना जाता है।

४. **अवपीडन नस्य**—मूर्च्छा, अवसाद तथा शी[illegible]दि को [illegible] करने के लिये तीक्ष्ण या दोषशामक औषधों से सिद्ध क्वाथ या [illegible] अवपीडन नस्य [illegible] रूप में प्रयोग किया जाता है। विषप्रयोग, संन्यास, मूर्च्छा, मोह, [illegible], अपस्मार, उन्माद, मानसिक विकार, विषम ज्वर, सन्निपात ज्वर तथा चिन्ता, क्रोध, शोक, भ्रम, व्याकुलता आदि मानसिक विकारों की शान्ति के लिये अवपीडन नस्य का प्रयोग किया जाता है। बलपूर्वक दोषों के निर्लेख तथा शोधन सामर्थ्य के कारण तीव्रावस्थाओं में इसका विशेष महत्त्व होता है।

कायफर, छिक्का (नकछिंकनी), काली मिर्च, पीपर, विडंग, देवदाली, कटु तुम्बी आदि का स्वरस या मृदु क्वाथ नस्यार्थ दिया जाता है। दोषशामक अवपीडननस्य का प्रयोग नासागत रक्तस्राव, रक्तपित्त एवं दूसरे पित्तविकारों में किया जाता है। दूर्वा, मधुयष्टी, मांसरस एवं स्तन्य आदि का इस कार्य के लिये प्रयोग होता है।

५. **प्रधमन नस्य**—तीक्ष्ण उग्रवीर्य औषधों के सूक्ष्म चूर्ण को प्रधमन यन्त्र (Insufflator) या नलिका द्वारा नासा के भीतर प्रविष्ट करना प्रधमन नस्य कहा जाता है।

अपस्मार, योषापस्मार, सर्पदंश, विषप्रयोग एवं नासास्थ कृमिरोग में इस तीक्ष्ण नस्य का प्रयोग कराया जाता है।

सेंधानमक, सफेद मिर्च, राई तथा कूट के महीन चूर्ण में बकरे के मूत्र की ७ भावनाएँ देकर चूर्ण बनाकर रखें। ½-१ रत्ती की मात्रा में नस्य दें।

पीपर, सफेद मिर्च, सहजन के बीज, वायविडङ्ग, देवदाली के जाले का चूर्ण तथा कटु तुम्बी को महीन पीस-छानकर उपयोग करना चाहिए।

कायफर का महीन चूर्ण भी पर्याप्त लाभ करता है।

सेंहुड़ की राख को गोमूत्र एवं खरमूत्र में ३-३ बार भावित कर प्रधमन नस्य के रूप में प्रयोग उन्माद में बड़ा लाभकर माना जाता है।

मुख-शुद्धि

अनेक जीर्ण व्याधियों में रोगी के अशक्त हो जाने या मुख-तालु एवं गले के रोगों के प्रतिकार के लिए मुख की सफाई आवश्यक हो जाती है। मुख तथा नासा-मार्ग से अधिकांश औपसर्गिक जीवाणुओं का शरीर के भीतर प्रवेश होता है। बाह्य वातावरण से मुख का निरन्तर सम्पर्क रहने के कारण, उसके विकारग्रस्त होने की पूरी सम्भावना रहती है। शरीर के भीतरी दोषों का मुख द्वारा उत्सर्ग भी जीर्ण विकारों में होता है। दैनिक रूप में मुख-दन्तादि की शुद्धता का उल्लेख द्वितीय

अध्याय में किया जा चुका है। यहाँ पर मुख-शुद्धिकारक विशिष्ट उपक्रमों का उल्लेख किया जायगा।

कवलग्रह—यथावश्यक औषधों को पीसकर कल्क बनाकर मुख के भीतर कुछ काल तक रखने को कवलग्रह कहते हैं। कवलग्रह के पूर्व रोगी के कंठ, कपोल एवं कपाल को स्निग्ध सुखोष्ण हस्ततल से स्वेदित कर लेना अच्छा है। इससे मुख की शुद्धि, दन्तवेष्ट-दन्त-मुख एवं तालु के विकारों में लाभ होता है। चेहरे के दाग एवं तिमिर का उपशम भी इससे होता है। औषधों की योजना दोषों के अनुसार करनी चाहिए। कफज दोष की शान्ति के लिए त्रिकटु, वच, सरसों तथा हरीतकी को पानी में पीसकर मधु मिलाकर कवलग्रह करना, पित्तज विकारों में मुलहठी, शिरीष, दारु-हरिद्रा, छोटी इलायची, क्षीरी वृक्षों की छाल, मौलसिरी आदि को दूध में पीसकर कवल धारण कराना तथा वातिक रूक्षता-शुष्कता की शान्ति के लिए तैल युक्त कल्क का कवलग्रह लाभ करता है। कवलग्रह के विशिष्ट योग यथास्थल बताए जायँगे।

प्रतिसारण—प्रतिसारण या क्षोभक द्रव्यों से दन्त, जिह्वा तथा मुख के भीतर चारों तरफ रगड़ कर शोधन कराया जाता है। कवलग्रह में केवल औषध-कल्क को मुख के भीतर रक्खा जाता है। किन्तु प्रतिसारण में रगड़ कर साफ किया जाता है। प्रतिसारण प्रयोग से मुख की दुर्गन्धता, विरसता, मुखशोष, अरुचि तथा दन्त-पीड़ा में लाभ होता है। कण्ठ तक के कफ एवं मलों का निर्लेखन हो जाता है।

प्रलेप (Paints)—जिह्वा, मुख, कण्ठशालूक आदि पर व्रण, विदार या छाले आदि होने पर विशिष्ट शामक औषधों के प्रयोग से लाभ होता है।

स्नेहन प्रलेप—मुख की रूक्षता, जिह्वा का कट जाना आदि वातिक विकारों में उबाल कर ठण्ढा किया हुआ एरण्ड तैल, ग्लीसिरीन, गरी या बादाम का तेल लगाया जाता है। ग्लीसिरीन में अल्प मात्रा में लौंग का तेल (२० : १) मिलाकर लगाने से बहुत लाभ होता है।

शमन प्रलेप—मुखपाक, दाह, व्रण तथा वेदना आदि होने पर इसका प्रयोग करते हैं। पित्त के दोष के कारण जिह्वा पर छोटे-छोटे लाल दाने निकल आते हैं या सारा मुख जला सा हो जाता है, तब भी इसके प्रयोग से बहुत लाभ होता है। छोटी इलायची के दाने, सफेद कत्था, चिकनी सुपाड़ी, शीतल मिर्च सब सम भाग में कूट छानकर सबके बराबर मिश्री तथा मिश्री से दूना मक्खन मिलाकर अत्यल्प मात्रा में कपूर मिलाकर मुख के भीतर लेप करना अथवा फेरी ग्लीसिरीन (Tr. Ferri perchlor in Glycerine 1 : 8) कोलार्गल (Collargol 1%), मेन्डल्स पेन्ट (Mendals paint) आदि का प्रयोग किया जाता है।

शोधक प्रलेप—आर्द्रक-स्वरस में मधु मिलाकर जिह्वा एवं मुख में लगाने से मुख की शुद्धि होती है। इसी प्रकार कुलंजन, वच तथा लौंग एवं पान के पत्ते का स्वरस

या महीन पीसा चूर्ण मधु में मिलाकर लगाने से कफ एवं मल का शोधन हो जाता है। सोडाबाई कार्ब ३० ग्रेन, पिपरमिंट १ ग्रेन, १ औंस ग्लीसिरीन में मिलाकर लगाने से भी लाभ होता है।

रोपण प्रलेप—गूलर, मौलसिरी, शिरीष, मुलहठी का क्वाथ बनाकर छानकर रसक्रिया की विधि से क्वाथ को कुछ गाढ़ा कर ले। बाद में थोड़ा भुना सुहागा मिलाकर लगावे।

जेन्सियन वायोलेट (Gensian violate 1%), आर्सफेनामीन (Arsa phenamine or N A. B. etc.) का परिस्रुत जल एवं ग्लीसिरीन मिलाकर बनाया घोल मुखपाक एवं जिह्वा के व्रणों पर लगाने से बहुत लाभ करता है।

पेनिसिलिन एवं इतर प्रतिजीवक वर्ग की औषधों का स्थानीय प्रलेप के रूप में प्रयोग लाभ करता है।

गण्डूष (Gargles)—मुख-जिह्वा-गल-तालु आदि अंगों के अनेक विकार तथा कण्ठशालूक में गण्डूष से बहुत लाभ होता है। वात-पित्त-कफ दोष की शान्ति के लिए दोष शामक औषधों का प्रयोग होता है। तैल तथा घी का यथावश्यक प्रयोग करने से वात एवं पित्तविकारों में लाभ होता है।

गूलर, मौलसिरी, वट आदि क्षीरी वृक्षों की छाल का क्वाथ बनाकर गण्डूष करने से मुखपाक तथा व्रण आदि में लाभ होता है।

कूठ, शिरीष की छाल, मुलहठी, आर्द्रक तथा जावित्री का क्वाथ बनाकर गण्डूष करने से मुख की विरसता दूर होकर कण्ठशालूक में लाभ होगा। हाइड्रोजेन पेराक्साइड (Hydrogen Peroxide), पोटास (Pot permangnate), लिस्टरीन (Listerin), डटोल (Dettol), पोटासियम क्लोरेट (Potas. chlorate), फिटकरी (Allum), लवणजल (Saline water) आदि को अल्प मात्रा में गरम करके ठण्डे या कुनकुने पानी में मिलाकर गण्डूष करने से लाभ होता है।

गण्डूष के कुछ विशिष्ट योग नीचे दिए जाते हैं।

१. **तीक्ष्ण गण्डूष** (Stimulant gargles)—लालाग्रन्थियों तथा श्लेष्मल कला को उत्तेजित कर मुखशुद्धि करने के अभिप्राय से इनका प्रयोग किया जाता है। गल विवरस्थ कर्णरंध्र (Eustaschian tube) के अवरोध के कारण उत्पन्न बाधिर्य में इनसे अच्छा लाभ होता है। टिं० कैपसिकम (Tr. capsicum) १ चम्मच ४ औंस पानी में तथा गोंद और युकेलिप्टस तेल (Gum myrrh 120 grs. oil Eucalyptus sol.) का विलयन गरम पानी में मिलाकर गण्डूष के लिए प्रयुक्त होता है।

२. **कषाय गण्डूष** (Astringent gargles)—इसमें फिटकरी, टैनिक एसिड तथा लौह के योगों का प्रयोग किया जाता है। इनका पहले उल्लेख हो चुका है।

३. **जीवाणुनाशक गण्डूष** (Antiseptic)—पोटास, डेटाल आदि का निर्देश पहले किया गया है।

कर्ण-तर्पण—नियमित रूप से कान की सफाई करके तेल डालते रहने से कर्ण, कण्ठ तथा मस्तिष्क का तर्पण होता है।

कर्ण-शोधन के लिए गीले मल को विशिष्ट यंत्र से आसानी से निकाला जा सकता है। किन्तु कड़ा मल होने पर पहले क्षार द्रव्यों के प्रयोग से ढीला करके पिचकारी से धोकर साफ करना चाहिए। क्षार बिंदु—सोडावाइकार्व १५ ग्रेन, कपूर २ ग्रेन, रेक्टिफाइड स्प्रिट १ ड्राम, ग्लीसरीन २ ड्राम तथा परिस्रुत जल १ औंस मिलाकर बनाया जाता है। ४–४ बूंद दिन में ४–५ बार २ दिन डालने के बाद शोधन करने से लाभ होता है। गोमूत्र डालने से भी कर्ण-मल की मृदुता होती है।

शोधन-विधि—काँच की कान धोने की पिचकारी होती है। उसके अभाव में ग्लीसिरीन पिचकारी से काम लिया जा सकता है। पिचकारी को उबाल कर साफ करके प्रयुक्त करना चाहिए। पानी को उबाल कर छान कर शरीरताप के अनुपात में उष्ण रक्खें। इसमें थोड़ा सोडावाइकार्व, डेटाल, एक्रीफ्लाविन, सेंधानमक या बोरिक एसिड डाल दें। पिचकारी में जल भर कर उसकी वायु अच्छी तरह निकाल दें। कान के पर्दे पर सीधे जल की धार न पड़े, इस बात का ध्यान रक्खें। ३–४ बार धोने से कान साफ हो जाता है। बाद में रूई से कान पोंछकर सूखा करके २–३ बूंद ग्लीसिरीन डाल दें।

कर्ण-तर्पण के लिए कान में तेल या वनस्पतियों का कुनकुना रस अथवा गाय या बकरे का मूत्र भरकर ½ मिनट के लगभग रखकर निकाल दिया जाता है। कण्ठ के रोगों में कर्ण-तर्पणार्थ २॥ मिनट तथा मस्तिष्क रोगों के शमनार्थ ५ मिनट तक औषध भर कर रखना चाहिए।

कान में डालने के लिए बादाम का तेल सर्वोत्तम है। उसके अभाव में तिल तैल या सार्षप तैल का उपयोग किया जा सकता है।

नेत्रशोधन—नेत्रशोधन तथा नेत्रों के समस्त विकारों के प्रशम और नेत्रेन्द्रिय की बलवृद्धि के लिए निम्न उपक्रम किए जाते हैं—

१. सेक—धारासेक—स्नेहन, रोपण तथा लेखन भेद से धारासेक क्रम से वात-पित्त-श्लेष्मव्याधियों में प्रयुक्त होता है। आँख बंद करके रोगी को उत्तान लिटाकर आँख के ऊपर औषधों का क्वाथ ३–४ इञ्च की दूरी से धारा के रूप में डालते हैं। १॥ मिनट से ३ मिनट का समय धारासेक में लगाना चाहिए। इससे नेत्र की लाली, वेदना एवं शूल का प्रशम होता है। धारा का जल ९८ अंश फा. गरम रहेगा।

उपनाहसेक—औषधों का कल्क गरम कर उष्ण रूप में मुलायम कपड़े से बाँधकर आँख के ऊपर हल्के हाथ से १०–१५ मिनट बाँधने से लाभ होता है।

२. **आश्च्योतन**—नेत्ररोगों में प्रयुक्त होने वाली औषधों को आँख के भीतर बूंद-बूंद मात्रा में डालना आश्च्योतन कहा जाता है। सामान्यतया सभी नेत्रविकारों में प्रयोग किया जाता है।

३. **पिण्डी विधि**—औषधों के कल्क को पिण्डी या पुल्टिस के रूप में बनाकर नेत्र के ऊपर रख कर ऊपर से मुलायम वस्त्र की पट्टी बाँधना पिण्डी-प्रयोग कहा जाता है। नेत्रपीडा शमन के लिए इसका विशेष प्रयोग होता है।

४. **विडालक विधि**—नेत्र के वर्त्म (पलकों) पर—बरौनियों को छोड़कर—औषध को गरम करके लेप करना विडालक कहा जाता है। वर्त्म-शोथ, नेत्र की वेदना तथा लाली वाले विकारों पर इससे अच्छा लाभ होता है।

५. **तर्पण विधि**—नस्य कर्म के समान स्नेहन-स्वेदनादि कराने के बाद रोगी को उत्तान लिटाकर, उड़द के आटे को सान कर, दोनों आँखों के चारों ओर १-१ अंगुल ऊँची बाड़ (मेंड़) बनाकर, ताजे निकले हुए गोघृत को हल्का पिघला कर, शरीर-ताप के अनुपात में गरम करके, नेत्र बंद करके बाड़ के भीतर भर दे। इसके बाद रोगी को धीरे-धीरे आँख खोलने के लिए कहे। स्वस्थ मनुष्य को २-३ मिनट तक रखना चाहिए। इसके बाद बाड़ में नीचे की तरफ छेद करके घी निकाल कर भुने हुए जौ के आटे का उबटन बनाकर शेष चिकनाहट को दूर करे।

इससे नेत्रों की रूक्षता, पक्ष्मनाश, दाह, तिमिर, वेदना, अभिष्यंद, नेत्रपाक आदि रोगों में लाभ होता है, नेत्र की शक्ति बढ़ती है तथा शीतोष्ण विपर्यय का जल्दी आँख पर कोई असर नहीं होता।

६. **पुटपाक**—इसकी विधि तर्पण के समान है। केवल घी के स्थान पर पुटपाक विधि से मांस एवं वनस्पतियों का स्वरस निकाल कर प्रयुक्त होता है।

७. **अंजन**—नेत्र के पक्व रोगों में इसका प्रयोग होता है—आमावस्था में नहीं। चूर्ण-वर्त्ति या गुटिका तथा रस क्रिया के रूप में निर्मित अंजनों का व्यवहार किया जाता है। लेखन-रोपण तथा प्रसादन भेद से इसके ३ वर्ग होते हैं। नेत्र-चिकित्सा प्रकरण में इनके विशिष्ट योगों का उल्लेख किया जायगा। आजकल सेक, आश्च्योतन तथा अंजन का अधिक प्रयोग किया जाता है। धारासेक के लिए एक साधारण सी काच-कुप्पी (Undyne) होती है। जिसमें एक तरफ पिधान युक्त बड़ा छेद तरल भरने के लिए तथा दूसरी ओर चंच्वाकृतिक छेद होता है, जिससे द्रव की पतली धार निकलती है। रोगी को लिटाकर क्रम से दोनों नेत्रों का प्रक्षालन धाराविधि से सुखपूर्वक हो जाता है।

अभ्यङ्ग या मालिश

शरीर के समस्त अंग-प्रत्यंगों का नियमवद्ध उद्घर्षण रूप परिमर्दन करना अभ्यंग कहा जाता है। सामान्यतया अभ्यंग का माध्यम तैल होता है।

मालिश करने से रक्ताभिसरण की वृद्धि होती है। इसका प्रमुख प्रभाव त्वचा, मांसपेशी, संधि, रक्तवाही परिसरीय अवयव तथा नाडीसंस्थान पर विशेष रूप से पड़ता है। इससे शरीर की दृढ़ता, तेजस्विता, मन की प्रसन्नता, त्वचा की स्निग्धता तथा कान्तिमत्ता, पेशीसमूहों की पुष्टि तथा वातनाडियों की शक्तिवृद्धि होती है। अभ्यंग एक प्रकार का व्यायाम है, जिसमें व्यायाम का फल बिना श्रम किए मिलता है।

अभ्यंग साध्य व्याधियाँ—

रक्तक्षय में सार्वदेहिक तथा औदरिक स्थलों का अभ्यंग लाभकर होता है। इससे रुधिर कायाणुओं की संख्या तथा रक्त प्रोभूजिनों की मात्रा बढ़ती है। **परिसरीय रक्त वाहिनियों** का संकोच होने के कारण उत्पन्न वेदना, शैत्य, मांसक्षयादि में अभ्यंग से पर्याप्त लाभ होता है। **हृदयावसाद** का शमन होकर वातिक शोथ तथा शिरा शैथिल्य में लाभ होता है। **पचन संस्थान** के विकारों में अभ्यंग से बहुत लाभ होता है। श्लैष्मिक बृहदन्त्र शोथ (Mucous colitis), शल्य कर्मोत्तरकालीन उदर पेशी शैथिल्य, प्रसवानन्तर उदरशैथिल्य में मालिश लाभकर होती है। **वायुकोष विस्फार** (Emphysema), **श्वास** तथा **जीर्ण श्वसनी शोथ** (Ch. Bronchitis) में विशिष्ट विधि से मालिश करना हितकर सिद्ध हुआ है। वातिक विकारों में तो मालिश से सर्वाधिक लाभ होता है। **पक्षवध, शैशवीय अंगघात, परिसरीय नाडी शोथ** आदि वातिक विकार; **संधिशोथ, सौत्रिकशोथ** (Fibrositis), **अस्थिभंग** या **संधि-विच्युति** की सन्धानोत्तर दुर्बलता एवं वेदना आदि में अभ्यंग का विधिसम्मत प्रयोग करने से सन्तोषजनक लाभ होता है।

अभ्यंग का निषेध—आमदोष युक्त व्याधियाँ, श्लेष्मोल्वण व्याधियाँ, तरुण ज्वर तथा अजीर्ण पीड़ितों में और वमन-विरेचन-निरूहण कराने के बाद एवं सन्तर्पणजनित विकारों में इसका निषेध किया जाता है। तीव्र शोथयुक्त अवस्थायें, तीव्रावस्था के क्षयज विकार, त्वचा के औपसर्गिक रोग, तीव्र सिरा शोथ (Phlebitis), लसवाहिनीशोथ (Lymphangitis), अस्थिमज्जा शोथ, आमाशय-पक्वाशय व्रण, वृक्कशोथ, अन्त्र-वृद्धि एवं रक्त स्कंदनयुक्त व्याधियों में भी अभ्यङ्ग के प्रयोग से हानि होती है।

अभ्यङ्ग विधि—प्राचीन काल में मुख्यतया तैलाभ्यङ्ग ही प्रयुक्त होता रहा। उसकी व्यावहारिक विधि नापित समाज को परम्परा-प्राप्त थी। विस्तृत अभिलेख नहीं मिलते। आजकल अभ्यङ्गक की सूक्ष्म वैज्ञानिक विचारणा करके प्रत्येक व्याधि की निश्चित पद्धति तथा क्रम का निर्देश किया जाता है। प्रत्यक्ष कर्माभ्यास के बिना इसका क्रियात्मक ज्ञान नहीं हो सकता। अभ्यङ्ग के प्रसिद्ध उपक्रमों का उल्लेखमात्र यहाँ किया जाता है।

१. थपेड़ी या मुक्की लगाना (Effleurage)—हथेलियों से नियमपूर्वक रोगी

की त्वचा पर थपथपाने की क्रिया को मुक्की लगाना कहते हैं। एक मिनट में लगभग १५-२० बार थपथपाहट होनी चाहिए।

२. पेश्युत्सादन (Petrissage)—पेशी या पेशीसमूहों को अस्थियों से खींचकर दबाना, ऐंठना तथा फैलाना आदि विशिष्ट क्रम से पेशियों का अभ्यङ्ग किया जाता है।

३. उद्घर्षण (Friction)—त्वचा पर हथेली को स्थिरतापूर्वक रखकर त्वचा को छोटे-छोटे वृत्तों में अधस्त्वचीय अङ्गों पर नियम पूर्वक परिचालित करते हैं। इसमें अंगुलियाँ स्थिर रहती हैं, अंगुलियों के सहारे त्वचा गोलाई में घुमाई जाती है।

४. ताडन (Percussion) इसके अन्तर्गत थपथपाना (Clapping), ताडन (Tapping), दबोचना (Cupping), आघात देना (Hactking) आदि हैं। केवल मणिबन्ध सन्धि के सहारे हथेली या अंगुलियों से शीघ्रतापूर्वक प्रताडित किया जाता है।

५. प्रकम्प या आवेप (Vibration)—कंधे से हाथ में कम्प पैदा करके हथेली एवं अंगुलियों के सहारे रोगी के शरीर के विशिष्ट अङ्ग को तरंगित सा करना होता है। इसके लिये बिजली के यन्त्र (Vibrators) आते हैं, उनका उपयोग किया जा सकता है।

अभ्यङ्ग के सामान्य नियम—

१. मालिश सामान्यतया केन्द्रापसारित तथा मुक्की आदि को केन्द्रोन्मुख प्रयुक्त किया जाता है।

२. रोगी के पूर्ण सुखासन एवं विश्राम की अवस्था में अभ्यङ्ग करना चाहिए।

३. चिकित्सक तथा रोगी दोनों की मांसपेशियाँ अभ्यङ्ग काल में शिथिल रहनी चाहिए।

४. अभ्यङ्ग प्रयुक्त अङ्ग को नीचे सहारा देकर रखना चाहिए।

५. अभ्यंग काल तथा पुनः प्रयोग क्रम से बढ़ाना और बंद करते समय क्रम से घटाना चाहिए। सद्यः बढ़ाने या छोड़ देने से रोगी को कष्ट होता है।

रुग्ण-व्यायाम

व्यायाम की उपयोगिता एवं उसके स्वस्थावस्था के स्वरूप का द्वितीय अध्याय में उल्लेख हो चुका है। बहुत सी दीर्घकालीन व्याधियों में नियंत्रित विशिष्ट व्यायाम की आवश्यकता होती है। यहाँ रुग्णावस्था में प्रयुक्त व्यायाय विधियों का उल्लेख किया जायगा।

व्यायाम से शरीर में रक्ताभिसरण की वृद्धि, दूषित सेन्द्रिय द्रव्यों का शोधन तथा आंतरिक यंत्रांगों को उत्तेजना प्राप्त होती है। इससे शरीर की सुदृढ़ता, लघुता

तथा पुष्टि होती है। देह दृढ़ तथा सुडौल बनती है। अग्नि दीप्त होती है। यह सब परिणाम बिना रोगी से अधिक श्रम कराए निम्नलिखित पद्धतियों से प्राप्त होते हैं।

१. **निश्चेष्ट व्यायाम** (Passive exercise)—इसमें रोगी शान्त, निश्चेष्ट तथा शिथिल अवस्था में रहता है। रोगी के अंग-प्रत्यंगों का पूर्ण शिथिल रहना आवश्यक है। शाखाओं में मुख्य रूप से इसका प्रयोग होता है। रोगी का अंग एक हाथ से सँभाल कर, दूसरे हाथ से धीरे-धीरे प्रसारित एवं संकुचित करना चाहिए। प्रसारण तथा संकोच की मर्यादा क्रमपूर्वक बढ़ानी चाहिए। रोगी को अधिक कष्ट न हो, उतनी सीमा तक व्यायाम कराना चाहिए। यदि इन क्रियाओं के पूर्व तैलाभ्यंग करा दिया जाय तो व्यायाम में असुविधा कम होती है और लाभ भी अपेक्षाकृत अधिक होता है।

२. **सहायतायुक्त सचेष्ट व्यायाम** (Active assistive exercise)—इस विधि के अन्तर्गत कुछ श्रम रोगी करता है तथा चिकित्सक, सहायक या किसी यंत्र एवं उपक्रम के माध्यम से रोगी को सहायता दी जाती है। यह निश्चेष्ट व्यायाम की अगली सीढ़ी है। इसके पूर्व स्नेहन एवं स्वेदन कर लेने से अधिक लाभ होता है।

३. **सचेष्ट या मुक्त व्यायाम** (Active or free exercise)—पेशियों, पेशीसमूहों या विभिन्न उपांगों को बिना किसी सहायता के रोगी लेटे या बैठे हुए नियमबद्ध संकुचित या प्रसारित करता है। किसी एक अंग की विकृति में इस श्रेणी के व्यायाम अधिक हितकर होते हैं। इसमें रोगी को अधिक श्रम नहीं पड़ता, क्योंकि एक समय में केवल एक अंग ही कार्य करता है।

४. **अवरोधयुक्त सचेष्ट व्यायाम** (Active resistive exercise)—रोगी अपने किसी अंग या पेशीसमूह को संचालित करना चाहता है तथा चिकित्सक या सहायक उसकी इस क्रिया में अवरोध उत्पन्न करता है। सहायक अपना अवरोध उत्तरोत्तर बढ़ाता जाता है। अवरोध उतना ही किया जाता है, जिसमें क्रिया तो हो किन्तु रोगी जितनी रुकावट सहन कर सके उतनी रुकावट पहुँचती रहे। स्वयं रोगी अपने दूसरे हाथ से अवरोध उत्पन्न कर सकता है। प्रत्येक शाखा में प्रतियोगी पेशीसमूह होते हैं। बुद्धिमान रोगी आकुंचक-प्रसारक, विस्फारक-संलग्नकारक आदि पेशीसमूहों की विपरीत क्रियाओं को एक साथ करने की चेष्टा करके भी अवरोधक व्यायाम कर सकता है।

व्यायाम साध्य व्याधियाँ—

वातिक विकार यथा पक्षाघात, शैशवीय अंगघात, मस्तिष्क शोथजन्य अंगघात, संयुक्त काठिन्य (Combined sclerosis), अर्दित, संधिवात, गृध्रसी तथा दूसरे वातप्रधान वेदनायुक्त विकारों में नियमित व्यायाय का प्रयोग व्याधि की तीव्रता के शान्त

होने पर किया जाता है। खंज-पंगु तथा तत्सदृश आकृति दोष (Postural defects), श्वास, संधिशोथ, श्लेष्मविकार, संतर्पणजन्य व्याधियाँ, परिसरीय वातनाडियों के विकार (Peripheral nerve lesions) आदि व्याधियों में व्यायाम की विशिष्ट उपयोगिता होती है। इनके अतिरिक्त सभी जीर्ण विकारों में रोगमुक्ति होने के बाद क्रमिक वर्धमान विधि से व्यायाम का अनुष्ठान कराने से शीघ्र बल-संजनन होता है।

व्यायाम का निषेध—राजयक्ष्मा, रक्तपित्त, धातुक्षय, उदीर्ण श्वास, जीर्ण शुष्ककास, उरःक्षत एवं श्रमपीडित रोगियों में व्यायाम का निषेध है। भोजन के तुरन्त बाद तथा सहवास आदि क्लान्तिकारक अवस्थाओं के बाद भी व्यायाम का प्रयोग अच्छा नहीं होता। यह प्रतिषेध श्रममूलक व्यायाम के लिए है। निःश्चेष्टादि श्रमरहित या अल्प श्रमयुक्त व्यायाम तो आवश्यकतानुसार सर्वत्र किए जा सकते हैं।

स्नान

यथावश्यक शीत या उष्ण जल से शरीर का परिमार्जन करते हुए शिरस्क स्नान से मानसिक स्वच्छता-प्रसन्नता, अग्नि की प्रदीप्ति, आयु-उत्साह एवं बल की वृद्धि, श्रम-आलस्य-तृष्णा तथा दाह का प्रशम, प्रस्वेद एवं त्वचा के मल का शोधन और कण्डु तथा त्वचा के समस्त विकारों में स्नान से बहुत लाभ होता है।

शीतल जल स्नान—ठण्डे जल के स्नान से शरीर में स्फूर्ति उत्पन्न होती है, क्लान्ति एवं श्रम का मोक्ष होकर शरीर बलवान होता है। अग्नि दीप्त होती है और रक्तपित्त जन्य विकारों में लाभ होता है।

उष्ण जल स्नान—वात-कफ विकारों में गरम (गुनगुना) पानी से स्नान करना अधिक हितकर होता है। कास-श्वास-प्रतिश्याय, जीर्णज्वर, वातिक विकार तथा स्त्रियों के आर्त्तव विकारों में गरम पानी के स्नान से लाभ होता है। गरम पानी से स्नान करने पर भी मस्तक तथा नेत्र यथा शक्ति शीतल या अनुष्णाशीत जल से ही धोना चाहिए। गरम जल उत्तमांगों के लिए उपयुक्त नहीं होता। पित्ताशय-आन्त्र तथा वृक्क-शूल, स्वर यंत्रवेदना एवं आक्षेप आदि में भी उष्णस्नान से बड़ा लाभ होता है।

यहाँ पर शीतोष्ण स्नान के रूप में प्रयुक्त होने वाले जल चिकित्सा के भेदों का उल्लेख किया जायगा।

क. शीतस्नान—ताप ३५–७५° फा०, सामान्यतया ५०–६०° फा.।

१. शीतल सिंचन (Cold affusion)—मध्यम मात्रा का शीतल जल रोगी के शरीर के ऊपर २ फीट की ऊँचाई से डाला जाता है। इसके प्रयोग से अवसादज मूर्च्छा, अवसादक एवं निद्राकर विषों की विषाक्तता, आक्षेप, योषापस्मार एवं अंशुघात में पर्याप्त लाभ होता है। इसका मुख्य प्रभाव उत्तेजक होता है। नाडीशोथ तथा संधिशोथ में भी इससे लाभ होता है।

२. सरिता-स्नान (River bath)—प्रवाहयुक्त नदी के शीतल जल में स्नान टब या तालाब के स्नान से कई गुना बलशाली होता है। इससे पाचन शक्ति की वृद्धि, बल वृद्धि तथा मांसपेशियों की पुष्टि होती है। नदी के प्रवाह के विपरीत तैरना या नदी की तेज धार में केवल खड़े रहना, अनेक वातविकारों में बड़ा हितकर होता है।

३. शीतल शीकरस्नान (Cold Shower bath)—गमले में पानी देने वाले हजारा में ठण्डा जल भर कर शरीर के किसी अंग या सर्वशरीर पर शीकर के रूप में छोड़ा जाता है। उन्माद, अपस्मार, अपतंत्रक तथा अंशुघात में इससे लाभ होता है।

४. शीतल कटिस्नान (Cold sitz bath or cold hip-bath)—एक टब या नाँद में ठण्डा पानी भर दिया जाता है। रोगी सारे कपड़े निकाल कर टब में लेटता है। पानी उसकी नाभि तक रहता है। जननेन्द्रियाँ, नितम्ब तथा श्रोणिप्रदेश जल में डूबा रहता है। जंघा के आगे पैर तथा नाभि के ऊपर का अंश बाहर निकला रहता है। लेटे-लेटे नाभि के नीचे तौलिया या मोटे कपड़े से पेड़ू पर रगड़ना होता है। जल का ताप ५०° से ७०° तक रहता है। पहले ७ मिनट तक तथा सहन हो जाने पर १५ मिनट तक रोगी टब में रहता है। इससे प्रजननाङ्गों तथा औदरीय अंगों में कुछ काल के लिए पर्याप्त रक्ताधिक्य (Congestion) हो जाता है। आमाशय एवं अंत्र की शिथिलता (Atony), अनार्त्तव (Amenorrhia), पौरुष ग्रन्थिस्राव (Prostatorrhea), शुक्रमेह (Spermetorrhia), मूत्राशय की शिथिलता एवं कोष्ठबद्धता तथा नपुंसकता में इस प्रयोग से पर्याप्त लाभ होता है।

५. शीत पाद स्नान (Cold foot bath)—५०-७०° फा० के ताप का जल बाल्टी में भरकर रखें। रोगी कुर्सी पर बैठकर या बिस्तर पर लेटकर, पैर बाहर लटका कर जल में पिंडलियों पर्यन्त डुबोकर रखता है। इससे पैरों की शक्तिवृद्धि होती है तथा पैरों की वेदना और क्लान्ति में लाभ होता है। इसी प्रकार लेटे हुए रोगी हाथ को भी पानी में कूर्पर संधिपर्यन्त डुबोकर हस्त एवं बाहु स्नान (hand & arm bath) कर सकता है। अधस्त्वक्शोथ दग्ध (Burns), मोच (Sprains), पिच्चित आघात (Contusions) तथा संधिशोथ में लाभ होता है।

६. शीतल धारा स्नान (Cold douche)—बस्ति पात्र या किसी दूसरे पात्र से शरीर के किसी अंग पर ठण्डे जल की वेगयुक्त धारा डाली जाती है। इसका गुण धारा के आकार, वेग तथा उसके ताप पर निर्भर करता है। शीतल धारा को मूर्च्छा तथा विषों के प्रभाव को दूर करने के लिए सिर पर डालते हैं। रीढ़ (Spinal cord) पर धारा का प्रयोग उन्माद तथा वातिक नाड़ियों की दुर्बलता पर तथा संधियों पर जीर्ण शोथ तथा संधियों की दुर्बलता के शमन के लिए तथा गुदा, भग एवं मलाशय के स्थानीय विकार-अर्श, कण्डु, श्वेतप्रदर आदि की शान्ति के लिए किया जाता है।

७. **शीतल प्रोञ्छण** (Cold sponging)—रोगी को निर्वस्त्र शय्या या टब में लिटाने के बाद हाथों से आरंभ कर पैरों तक एक-एक अंग को शीतल जल में कपड़ा भिगोकर पोंछते हैं। जल को शीतल करने लिए बर्फ मिला सकते हैं। एक अंग को अधिक से अधिक ५ मिनट पोंछना चाहिए। शीतल जल से पोंछने के तुरन्त बाद सूखे तौलिए से अच्छी तरह पोंछकर कम्बल से ढँक देना चाहिए। पोंछने के समय ठण्डा तौलिया रखा जा सकता है। अन्त में सूखे कपड़े पहना कर कम्बल से ढँककर लिटा देना चाहिए। यदि शरीर का ताप ९६ से कम होने लगे तो गरम पानी की बोतलें कपड़े से ढँक कर कम्बल के भीतर रोगी के बगल में तथा पैरों के पास रख सकते हैं।

८. **शीतल परिवेष्टन** (Cold packing)—शय्या पर रबर की चद्दर बिछाकर ऊपर से एक कम्बल बिछा देना चाहिए। ६०°–७०° फा० पानी में चद्दर भिगोकर, उसका अधिक जल निचोड़कर कम्बल के ऊपर फैलाकर रोगी को निर्वस्त्र करके लिटाकर पहले चद्दर चारों तरफ लपेटते हैं। चद्दर के ऊपर से कम्बल को अच्छी तरह लपेटते हैं। गले के ऊपर का अंश छोड़ कर शेष सब अवयव चद्दर तथा कम्बल से ढक जाने चाहिए। ऊपर से १-२ कम्बल आवश्यकतानुसार और उढ़ा देते हैं। सिर पर ठण्डा तौलिया या बर्फ की थैली रखी जाती है। ४–५ मिनट बाद परिसरीय रक्तवाहिनियों के संकोच के कारण रोगी गर्मी एवं उत्तेजना का अनुभव करता है। उसके बाद पर्याप्त प्रस्वेद होकर ज्वर शान्त होने लगता है। १५ मिनट से १ घण्टा तक परिवेष्टन में रोगी को रखा जा सकता है। उसके बाद गरम पानी में तौलिया भिगोकर सारा शरीर पोंछ कर सूखे तौलिया से सुखा कर वस्त्र धारण करना चाहिए। रोगी को उष्ण पेय पिलाकर कम्बल से ढक कर लिटा देना चाहिए। यदि ताप अधिक कम हो जाय तो गरम पानी की बोतलें रखकर शरीर गरम रखना तथा चाय-ब्राण्डी आदि उत्तेजक पेय देने चाहिए। औपसर्गी ज्वरों की परम ज्वरावस्था में इसके प्रयोग से बहुत लाभ होता है। मसूरिका, लघुमसूरिका, रोमान्तिका, लोहितज्वर (Scarlet fever) आदि में इसके प्रयोग से विस्फोट आसानी से निकलते हैं तथा आन्तरिक विषों का शोधन होकर प्रलाप, मूर्च्छा एवं उन्माद आदि उपद्रवों का प्रशम होता है। दूसरे विकारों में भी अनिद्रा, प्रलाप, उन्माद एवं परम ज्वरादि के उपद्रवों के शमन के लिए यह प्रयोग उत्तम एवं निरापद माना जाता है। उत्तेजनशीलता (Hyperirritabilty), मानसिक विकार तथा दूसरे वातिक विकारों में भी इससे लाभ होता है।

९. **स्थानीय शीत पट्टियाँ** (Local Packs and compresses)—

सिर की पट्टी—ठण्डे जल में मुलायम कपड़ा भिगोकर, उसको कई तहों में मोड़कर मस्तक पर रखते हैं। जल को ठण्डा करने के लिए बर्फ़, नमक, सिरका, कल्मी

शोरा, ईथर एवं यूडीकोलन आदि मिला सकते हैं। ज्वर में ताप तथा शिरोवेदना को कम करने के लिए इसका प्रयोग किया जा सकता है।

गले की पट्टी—तीन चार इञ्च चौड़ा मुलायम मलमल का कपड़ा लेकर ४-५ तहों में लपेटकर ठण्ढे पानी में भिगोकर गले के चारों ओर ढकते हुए लपेट दें। ऊपर से फलालेन की एक तह की पट्टी लगाकर, उसके भी ऊपर सादी पट्टी लपेटकर १०-१५ मिनट तक रहने दें। बाद में पुनः बदल कर नई पट्टी लगा दें। इसे कई बार बदल देना चाहिए। स्वरयंत्र शोथ (Laryngitis) तथा कण्ठशालूक या तुण्डिकेरी शोथ (Tonsillitis) में इसका प्रयोग करने से शीघ्र लाभ होता है।

इसी क्रम से वक्ष पट्टियाँ (Chest compress), मध्य काय पट्टियाँ (Trunk compress), हाथ-पैर की पट्टियाँ (Arm & foot compress) आदि का प्रयोग स्थानीय विकारों के शमन के लिए होता है। जितना अंश पट्टी से ढकना हो उसी परिमाण की पट्टी बनाकर ६०°-७०° फा० जल में भिगोकर बाँधकर ऊपर से फलालेन या मोटा कोई मुलायम कपड़ा या केले का पत्ता लपेट कर बाहरी वायु से सुरक्षा करना होता है। अग्निदग्ध, विसर्प, स्थानीय वेदना एवं शोफ आदि पर इस प्रकार के प्रयोग से सद्यः लाभ होता है। आवश्यकतानुसार जल में औषधें भी मिला सकते हैं। अग्निदग्ध में सोडाबाईकार्ब; विसर्प में मैंगसल्फ तथा फोड़ा-फुंसी में बोरिक एसिड को जल में अल्प मात्रा में मिलाने से अपेक्षाकृत अधिक लाभ होता है।

१०. बर्फ की थैली (Ice bag)—रबर की थैलियों में बरफ भर कर परम ज्वर, मस्तिष्कगत रक्तस्राव, अंशुघात एवं अनेक औपसर्गी ज्वरों में प्रयुक्त होता है। इससे मस्तिष्क में रक्त का तनाव कम होता है और सन्ताप का भी शमन होता है। रबर की थैली के अभाव में बरफ के टुकड़े कर मोटे तौलिया में लपेट कर मस्तक पर रख सकते हैं। रोगी का गला तथा तकिया आदि को भींगने से बचाने के लिए अलग से ढक देना या रबर बिछा देना चाहिए।

उष्ण स्नान—उष्ण जलस्नान के बाद शरीर सुखाकर तुरन्त कपड़ों से ढक देना चाहिए। जहाँ विरुद्धोपक्रम (Contrast) की अपेक्षा न हो, उष्ण प्रयोग के बाद यदि बाहर की ठण्ढक लग जावे, स्नान का पूर्ण गुण नहीं होता। गरम जल के स्नान से मांसपेशियाँ शिथिल तथा रक्तवाहिनियाँ विस्फारित हो जाती हैं। आक्षेपक, वेदना, संधियों के विकार, आमवात, मांसपेशीशूल आदि विकारों में उष्ण स्नान बहुत लाभप्रद होता है।

१. सामान्य जल (Tepid bath)—जल का ताप ८५° फा० से ९५° फा० तक रहता है। शीतल जल स्नान की विधियों से शीतल जल के स्थान पर इसका प्रयोग किया जा सकता है। इसका गुण शामक, ज्वरहर तथा शोधक होता है। सामान्य-

तथा ज्वरों में सामान्य अनुष्णाशीत जल से ही प्रोञ्छन, अवगाहन, परिवेष्टन आदि कराते हैं।

२. **सुखोष्ण जल स्नान** (Warm bath)—जल का ताप ९५° फा० से १००° फा० तक रहता है। ज्वरों में विशेष उपयोगी है।

३. **उष्ण स्नान** (Hot bath)—जल का ताप १००° फा० से १६०° फा० तक रहता है। संधिशोथ, आमवात, परिसरीय वातनाडीशोथ आदि वातिक विकारों में विशेष उपयोगी है। बलवान् रोगियों पर ही इसका प्रयोग करना चाहिए। उच्च रक्त-निपीड तथा हृदय की दुर्बलता से पीडित व्यक्तियों में इससे हानि हो सकती है। उष्ण स्नान में जल की उष्णता को शनैः शनैः बढ़ाना चाहिए।

४. **उष्ण पाद स्नान** (Hot foot bath)—इसके प्रयोग से मस्तिष्कगत रक्त का तनाव कम होता है। प्रतिश्याय को रोकने के लिए अच्छा प्रयोग है। स्त्रियों में इसके प्रयोग से आर्त्तव की प्रवृत्ति होती है। रोगी को कुर्सी या स्टूल पर बैठा कर उसके मस्तक पर ठण्ढा तौलिया रखकर शरीर कम्बल से ढक दें। उसका पैर गरम पानी से भरी हुई बाल्टी में पिण्डलियों पर्यन्त डुबोकर रखें। ऊपर से और गरम पानी सहता-सहता डालें। सामान्यतया १०–१५ मिनट इस प्रक्रिया को करके रोगी को गरम कपड़ों से ढक कर लिटा दिया जाता है। इस क्रम से हस्तस्नान भी यथावश्यक किया जा सकता है।

५. **उष्ण कटि स्नान** (Hot sitz bath)—विधि शीत कटिस्नान के समान होती है। कष्टार्त्तव, अनार्त्तव, नष्टार्त्तव आदि आर्त्तव विकारों; मूत्राशयशोथ, अष्ठीलावृद्धि, मूत्रप्रणालीशूल (Ureteric colic), श्रोणीप्रदाह (Pelvic inflammation) आदि व्याधियों में उष्ण कटि स्नान से बहुत लाभ होता है। गर्भावस्था तथा मासिक काल में इसका प्रयोग न करना चाहिए।

६. **उष्ण प्रोञ्छन** (Hot water sponging)—उष्ण जल से ग्रीवामूल, शंखप्रदेश तथा मस्तक को पोंछने से प्रतिश्याय, इन्फ्लुएंजा तथा दूसरी वात-श्लैष्मिक व्याधियों एवं शिरःशूल आदि लक्षणों का शमन होता है। आमवात, इन्फ्लुएंजा, संधिशोथ, पूयविषमयता आदि विकारों में उष्ण जल से सारा शरीर पोंछने से लाभ होता है।

७. **उष्ण परिवेष्टन तथा पट्टियाँ** (Hot packing & Compresses)—इसकी विधि भी शीतल परिवेष्टन के समान है। वृक्क विकार तथा मेदोवृद्धि में लाभकर है। शीत पट्टियों के समान गरम पानी में तर करके गरम पट्टियाँ बाँधी जाती हैं।

औषधयुक्त स्नान (Medicated bath)—

१. **क्षारीय स्नान** (Alkaline bath)—औषध मिश्रित जल के लिए

सामान्यतया सुखोष्ण या उष्ण जल काम में लिया जाता है। सोडियम या पोटासियम कार्बोनेट १ चम्मच १ गैलन पानी में मिलाकर स्नानार्थ प्रयुक्त होता है। औषधयुक्त जल को टब में भर कर स्नान कराना अधिक सुविधाजनक होता है। क्षारीय स्नान से त्वचा की जलन, कण्डु तथा उपदेहयुक्त अवस्थाओं में लाभ होता है। रोमान्तिका, मसूरिका तथा लघु मसूरिका आदि में खुरण्ड सूखने पर प्रायः खुजली होती है। अवरोधज कामला (Obstructive jaundice) में भी काफी खुजली होती है। इन अवस्थाओं में क्षारीय स्नान या क्षारीय जल से शरीर पोंछने से पर्याप्त शान्ति मिलती है। त्वचा का चिपचिपापन दूर होकर खुरण्ड आदि साफ हो जाते हैं।

२. **अम्लीय स्नान** (Acid bath)—८ औंस हीनबल नाइट्रोम्यूरिक एसिड (Dilute Nitromuric acid) २ गैलन १००° फा० जल में मिलाकर टब में भरकर रोगी को कटिस्नान की विधि से १५ मिनट तक बैठावें। अथवा ४ औंस अम्ल १ गैलन पानी में डालकर, १ फुट चौड़ी फलालेन की पट्टी, कमर को दो बार लपेटने भर को लम्बी, अम्ल के गरम जल में भिगोकर हल्का सा निचोड़ दें। इसको कटि के चारों तरफ लपेट कर ऊपर से सिल्क या आयलक्लाथ लपेट दें। लगभग १५–२० मिनट प्रतिदिन करने से यकृत् तथा प्लीहा के जीर्ण विकारों में पर्याप्त लाभ होगा।

३. **कार्बोनिक अम्ल स्नान** (Carbonic acid bath)—यह उत्तेजक लवण प्रधान स्नान है, जिससे हृदय के समस्त रोगों—क्रिया एवं रचना विकृतियुक्त-पर अच्छा लाभ होता है। गुनगुने जल में सेंधानमक ३% (Sodium chloride), कैल्सियम क्लोराइड १% तथा कार्बोनिक एसिड गैस (Carbonic acid gas) १ लिटर जल में ३ ग्राम तक मिलाकर उष्ण कटि स्नान की विधि से प्रयोग करते हैं।

४. **सार्षप स्नान** (Mustard bath)—१ चम्मच सरसों को पीसकर कपड़े में ढीली पोटली बनाकर १ गैलन गरम पानी में भली प्रकार मसल कर छान दें। उसी पानी में रोगी को ५–१० मिनट तक गले पर्यन्त डुबाकर लिटावें। यह बहुत उत्तेजक स्नान है। विस्फोटक ज्वरों में विस्फोट को आसानी से निकालने के लिए विस्फोट निकलने के संभावित दिन प्रयोग करना चाहिए। बच्चों में इसकी मात्रा कम रखनी आवश्यक है। त्वचा लाल होने के पूर्व रोगी को निकाल कर शरीर भली प्रकार पोंछकर कम्बल से ढक कर लिटा देना चाहिए। जब ज्वर अधिक कम हो रहा हो तो शीतांग दूर करने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। पैर की शीतता को शान्त करने के लिए इसका पादस्नान कराया जाता है।

५. **नीम स्नान**—नीम की पत्तियों को उबाल कर सुखोष्ण जल में मिलाकर स्नान करने से अभोरी, बरसाती फोड़ा-फुंसी तथा फुंसीयुक्त खाज में लाभ होता है।

६. **गंधक स्नान** (Sulpher bath) २ ड्राम सल्फोरेटेड पोटास (Sulphorated potas) को १ गैलन जल में मिलाकर स्नान करने से खुजली में स्थायी

लाभ होता है। २-३ स्नान पर्याप्त होते हैं। १ तोला गंधक तथा ४ तोला चूना को ४ सेर पानी में उबाल कर बने द्रव को स्नान के जल में मिलाकर स्नान करने से खुजली में पूर्ववत् लाभ होता है।

७. **समुद्र स्नान** (Sea bath)—अनेक लवण-क्षारों का सम्मिश्रण होने के कारण समुद्र स्नान त्वचा के विकारों में लाभ करता है। इससे उत्तेजना मिलती है।

८. **खनिज लवण मिश्र झरना स्नान** (Mineral water bath)—अनेक पहाड़ी स्थलों पर झरनों से जल निकलता है। उनमें गंधक, पोटास आदि अनेक खनिज मिश्रण मिले रहते हैं। राजगीर (पटना), भुवनेश्वर आदि स्थलों पर इस प्रकार के कई झरने हैं। वहाँ तप्त जल निकलता है। इस प्रकार का जल पीने तथा स्नान के काम आता है। आमवात, गठिया, त्वचा के रोग एवं क्षुद्रकुष्ठ आदि में इससे बहुत लाभ होता है। यकृत् तथा पक्काशय के विकारों में भी बहुत गुणप्रद सिद्ध हुआ है।

९. **शामक स्नान** (Bland bath)—१ गैलन जल में ५ औंस स्टार्च (Starch) या ३ पौण्ड गेहूँ के चोकर का क्वाथ मिलाकर ९५°-९८° फा० ताप वाले जल में २०-३० मिनट तक स्नान करने से कण्डु, अपरस तथा गजचर्म एवं त्वचाशोथ आदि विकारों में लाभ होता है।

१०. **लवण जलीय स्नान** (Brine bath)—मिट्टी की नाँद या लकड़ी के टब में गलपर्यन्त अवगाहन कराया जाता है। ३० गैलन जल में ७ पौण्ड नमक (Sodium chloride), १ पौण्ड मैगनेसियम क्लोराइड (Magnesium chloride) तथा ½ पौण्ड मैगनेशियम सल्फेट (Mag sulph) ९४°-९८° फा० ताप पर मिलाकर स्नानार्थ प्रयुक्त होता है। स्नान की अवधि १५-३० मिनट तक होती है। इसका मुख्य प्रयोग अस्थि मज्जाशोथ (Osteomyelitis), अस्थिभग्न, संधिविश्लेषण, मांसशोथ, सौत्रिकशोथ, संधिशोथ, वातरक्त, गृद्ध्रसी, रेनॉड् रोग (Raynaud's disease) आदि में होता है। उच्च रक्तनिपीड, धमनी जरठता, त्वचा के शोथ तथा हृदय के विकारों से पीडित व्यक्तियों में इसका प्रयोग न करना चाहिए।

भौतिक चिकित्सा

काय-चिकित्सा में भौतिक चिकित्सा का पर्याप्त उपयोग किया जाता है। शीत-उष्ण-जल, मिट्टी आदि भौतिक द्रव्यों के चिकित्सा का माध्यम होने के कारण इसे भौतिक चिकित्सा कहा जाता है।

शीत चिकित्सा—तीव्र संताप, मस्तिष्कगत रक्तस्राव (Cerebral heamorrhage), पिच्चित अभिघात (Contusions), मोच (Sprain), तीव्र स्वरूप का शोथ या दाह एवं स्थानीय रक्तवाहिनियों में संकीर्णता (Vasoconstriction) उत्पन्न करने के लिए शीतल उपचार का उपयोग किया जाता है। सिर के ऊपर

आघात लगने से उत्पन्न मूर्च्छा में पर्याप्त समय तक मस्तक पर शीतल प्रयोग किया जाता है। इससे स्थानीय रक्त प्रवाह में कुछ अवरोध उत्पन्न होकर रक्त का संचय नहीं होने पाता। प्रायः इस उपचार का प्रयोग स्वल्प काल के लिए किया जाता है।

शीत चिकित्सा में हिमपुटक (बर्फ की थैली), शीतल जल से स्नान या परिषेक, शीतल वात का प्रयोग तथा प्रशीतक प्रकोष्ठ (Refrigerated room) आदि का उपयोग किया जाता है। इसका प्रयोग करते समय स्थानीय कोषाओं की सुरक्षा पर ध्यान रखना चाहिए—जिस प्रकार ताप से जलने की संभावना रहती है, उसी प्रकार अधिक शीत से भी दाह या स्थानीय कोषाओं का विनाश हो सकता है।

ताप चिकित्सा—शीत की अपेक्षा ताप का चिकित्साकार्य में व्यापक प्रयोग होता है। सार्वदेहिक तथा स्थानीय ताप चिकित्सा के अनेक साधन प्रयुक्त होते हैं। यहाँ पर उनकी विशिष्ट उपयोगिता के आधार पर संक्षेप में पृथक्-पृथक् वर्णन किया जाता है।

सर्व शरीर में ताप की वृद्धि—कृत्रिम ज्वर या संताप के द्वारा अनेक जीर्ण व्याधियों में पर्याप्त लाभ होता है।

संताप साध्य व्याधियाँ—

फिरंग—फिरंग की वातनाडीसंस्थानगत विकृति में संताप के द्वारा बहुत लाभ होता है। फिरंगनाशक अन्य औषधों के साथ संताप चिकित्सा का प्रयोग प्रारम्भिक अवस्थाओं में भी प्रभावकारी होता है। सप्ताह में २ या ३ बार ५–६ घण्टे तक शरीर का ताप १०५° फा० के निकट स्थिर रखा जाता है। औसतन १०–१२ बार इस प्रकार के सन्ताप की व्यवस्था करनी पड़ती है।

२. **पूयमेह**—जीर्ण स्वरूप के पूयमेह (Gonorrhea) में १०६° फा० के निकट शारीरिक ताप १० घण्टे तक रखने से प्रायः एक बार के प्रयोग से ही बहुत लाभ होता है। प्रजननेन्द्रियाङ्गों एवं श्रोणिगुहा के अवयवों (Pelvic organs) में स्थानीय रूप से उष्ण कटि स्नान (Hot hip bath) एवं मल या योनि मार्ग से डायथर्मी (Diathermy electrodes) के प्रयोग से ऊष्मा उत्पन्न की जाती है, किन्तु स्थानीय उत्ताप से सर्व शरीर-संताप अधिक व्यापक परिणाम वाला होता है।

३. **लासक या कोरिया** (Chorea)—इस व्याधि के लिए कोई विशिष्ट औषध नहीं है। संताप से पर्याप्त लाभ होता है। हृदयपेशी शोथ (Carditis) का उपद्रव रहने पर भी इसे प्रयुक्त किया जा सकता है। प्रतिदिन ३ घण्टे तक ज्वर १०४-१०५° फा० के निकट नियंत्रित किया जाता है। प्रायः १०-१२ दिन के प्रयोग से लाभ हो जाता है।

४. **आमवातिक ज्वर** (Rheumatic fever)—सामान्य चिकित्सा से लाभ न होने पर १०५° फा० का ताप ५-६ घण्टे तक स्थिर रखते हुए, सहन शक्ति के अनुसार दैनिक या तीसरे दिन के क्रम से १०-१२ बार प्रयोग किया जाता है।

५. **जीर्ण संधिशोथ** (Chronic arthritis)—विशेषकर पूयोपसर्ग से उत्पन्न संधिशोथ में इससे लाभ होता है। अनेक संधियों में विकृति होने पर सर्व शरीर संताप का उपयोग किया जाता है अन्यथा स्थानीय तापवृद्धि से लाभ हो जाता है।

इन व्याधियों के अतिरिक्त तमक श्वास (Bronchial asthma), जीर्ण परिसरीय वातनाडी शोथ (Chr. periferal neuritis), फंगस के उपसर्ग से उत्पन्न विकार तथा अण्डुलेण्ट ज्वर (Undulant fever) में भी संताप चिकित्सा से लाभ होता है।

संताप चिकित्सा के भौतिक साधन—साधन सम्पन्न देशों में इस उपचार के अनेक केन्द्र होते हैं, जहाँ पर विशिष्ट उपकरणों के द्वारा सुविधापूर्वक इसकी व्यवस्था हो जाती है। स्वेदन के प्रकरण में निर्दिष्ट विधान से भी यही कार्य होता है। किन्तु जब तक ताप का नियन्त्रण तथा उन विधियों का व्यापक प्रयोग न किया जाय, इनका प्रचलन न हो सकेगा और प्राचीन विधि होने पर भी चिकित्सकों के लिए विदेशी साधनों के समान यह विधि दुरूह बनी रहेगी।

राजगीर, भुवनेश्वर एवं हिमालय के कई स्थानों पर उष्ण जल के झरने एवं कुण्ड हैं। उनमें आकण्ठ अवगाहन से पर्याप्त लाभ होता है। आमवात, फिरंग, पूयमेह एवं संधियों के विकारों में पर्याप्त सुधार होते देखा गया है।

उष्ण वाष्प प्रकोष्ठ (Hot humid air chambers)—एसबेस्टस या काठ का कमरा या बक्स सा होता है, जिसके भीतर रोगी को कंठ तक बैठाया जा सके। रोगी का सिर बाहर रहता है तथा उस पर ठण्डाऽगीला कपड़ा रखा जाता है। नीचे के अनेक छिद्रों से ११०-१२०° फा० तक की ऊष्मा वाली वाष्प प्रविष्ट की जाती है। कमरे या बक्स के भीतर का तापमान मापक से नियन्त्रित रखना चाहिए। पूरे कमरे के उत्तप्त होने की विशेष व्यवस्था तथा उपकरण होते हैं। रोगी की सहनशक्ति के अनुसार धीरे-धीरे संताप बढ़ाया जाता है।

इसी प्रकार उष्ण स्थान में निवास, उष्ण संवेष्टन (Hot packs), तप्त प्रकोष्ठ (चरकोक्त जेन्ताक स्वेदन पृष्ठ १८३), उष्ण टब स्नान (Hot tub baths), उष्ण शीकर स्नान एवं उष्ण जल की थैलियाँ या बोतलें चारों तरफ रख कर शरीर की ऊष्मा बढ़ायी जाती है। किन्तु इन विधियों से आन्तरिक अंगों का ताप एक सा नहीं बढ़ पाता, जिससे स्थिर परिणाम नहीं हो पाते। डायथर्मी के प्रयोग से भी शारीरिक उत्ताप की पर्याप्त वृद्धि होती है। डायथर्मी के पैड्स या इलेक्ट्रोड शरीर के चारों तरफ लपेटे जाते हैं, तथा शीघ्र सारे शरीर का ताप बढ़ जाता है। तापमापन द्वारा नियन्त्रण करते हुए इसका प्रयोग कराया जाता है।

संताप चिकित्सा के सामान्य नियम—

१. संताप की अवधि, ताप की मर्यादा तथा पुनः प्रयोग रोगी की सहनशक्ति तथा

व्याधि की प्रकृति के आधार पर नियत किया जाता है। स्वस्थ मांसल स्निग्ध सात्म्यता वाले रोगी पर्याप्त समय तक अधिक ताप सहन कर सकते हैं। संताप की मर्यादा—१०६° फा० से अधिक तथा १० घण्टे से अधिक काल तक का प्रयोग उच्चतम सीमा है—इससे अधिक नहीं बढ़ाना चाहिए। कम ताप रखने पर प्रतिदिन तथा अधिक ताप सह्य होने पर सप्ताह में २ दिन प्रयोग करना चाहिए।

२. ताप प्रयोग के पूर्व दिन रात्रि के आहार में शर्कराप्रधान भोजन देना चाहिए तथा सोने के पूर्व किसी शामक (Sedetive) योग का प्रयोग करना चाहिए। ताप चिकित्सा के पूर्व सम लवण जल में ५% ग्लूकोज मिलाकर ५०० सी. सी. की मात्रा में सिरा द्वारा देकर पुनः शामक योग देना चाहिए। नींबू मिला हुआ (बीच-बीच में नमक भी मिलाकर) ग्लूकोज या मिश्री का पानी पर्याप्त मात्रा में पिलाना चाहिए। चाय-काफी भी रुचि के अनुसार दे सकते हैं। रोगी को पूरी तरह आश्वस्त करना आवश्यक है कि इस क्रिया से सामान्य ज्वर से अधिक कोई कष्ट न होगा। गर्मी सहन न होने पर सिर पर बरफ की थैली या शीतल पेय दिए जा सकेंगे—रोगी को कोई भय न करना चाहिए।

३. चिकित्सा प्रारम्भ करने के पूर्व नाडी, ताप, शरीरभार तथा रक्तचाप आदि देखकर अंकित करना तथा १५-३० मिनट के अन्तर पर बार-बार ताप-नाडी-श्वास आदि का अभिलेख करते रहना चाहिए। तापमापन गुदा का किया जाता है। यदि गुदीय ताप १०७° फा० से अधिक हो तो कक्ष की खिड़कियाँ खोलकर शुद्ध हवा लगने देना चाहिए। बीच में संतरे का रस, नींबू का शर्बत, मट्ठे की लस्सी, सोडावाटर आदि दे सकते हैं। प्रकोष्ठ के ताप को अभीष्ट सीमा पर नियन्त्रण करते रहना आवश्यक है।

४. ताप प्रयोग के बाद रोगी को कक्ष से निकालकर, ताप स्वाभाविक होने पर मद्यसार की शरीर में मालिश करके, स्वच्छ कमरे में १२-२४ घण्टे तक पूर्ण विश्राम कराना चाहिए तथा रक्तभार-नाडी आदि का परीक्षण करते रहना चाहिए।

५. ताप प्रयोग से पूर्व रोगी के शरीर में एरण्ड तैल का अभ्यंग करने से दाह का कष्ट नहीं होता। ताप चिकित्सा के बाद ४-५ घण्टे तक केवल तरल आहार देना चाहिए।

संताप चिकित्सा की व्यापत्तियाँ—

शिरःशूल, बेचैनी, उत्क्लेश, वमन, आक्षेपक, अपतानिका (Tetany), दाह, निपात तथा अंशुघात के कष्ट ताप चिकित्सा में होते हैं।

शामक द्रव्यों के प्रयोग से वमन-हृल्लास एवं बेचैनी का शमन होता है। आवश्यकतानुसार इनको ३-४ घण्टे पर देते रहना चाहिए। ग्लूकोज को ५०० सी. सी.

सम लवण जल में मिलाकर (टेटानी या आक्षेप का कष्ट होने पर इसी में कैलसियम ग्लूकोनेट १० सी. सी. मिलाकर) सिरा द्वारा देना चाहिए।

स्थानिक ताप चिकित्सा (Local heat therapy)

स्थानिक ताप के लिए गरम बालू की पोट्टली, नमक की पोट्टली, उष्ण जल में प्रयोज्य अंग का अवगाहन, उष्ण वाष्प का स्थानिक प्रयोग, इन्फ्रारेड तथा डायथर्मी आदि का प्रयोग किया जाता है। अंग के आकार का एस्बेस्टस या काठ का बक्स बनाकर उसके छेद द्वारा उत्तप्त वायु का अंकुश की तरह के मुख से प्रवेश—जिससे अंग में सीधे तप्त वायु का वेग से स्पर्श न हो—किया जाता है। यह प्रयोग आसानी से सर्वत्र किया जा सकता है। एक अँगीठी पर पानी खौलाकर उसकी वाष्प नली के द्वारा शरीर के अंग पर डाली जाती है। इन्फ्रारेड से शरीर के भीतरी अंगों में उत्ताप का प्रभाव नहीं होता, केवल त्वचा-मांसपेशियाँ, संधियाँ एवं बाहरी अवयवों पर प्रभाव होता है। डायथर्मी द्वारा काफी भीतरी अंगों में ताप की वृद्धि होती है। उत्तप्त ईंट या पत्थर पर पानी डालकर कपड़ा लपेट कर सेंक किया जाता है। आवश्यकता एवं सुविधा की दृष्टि से कोई भी प्रयोग किया जा सकता है।

उष्ण पंक प्रलेप—

काली चिकनी मिट्टी को पानी में सानकर कड़ाही में रखकर गरम एवं प्रलेप योग्य गाढ़ा करते हैं। इसके बाद विकृत अंग पर चारों ओर से लेप करते हैं। संधिवात, आमवात, ग्रन्थिविकार तथा मांसशोथ आदि विकारों पर इससे अच्छा लाभ हो जाता है।

उष्ण सिक्थ (मोम) प्रलेप—

मोम को कड़ाही में डालकर गरम कर ठण्ढा होने दे। जब ऊपर पपड़ी सी जमने लगे तो ब्रुश डुबोकर प्रयोज्य अंग पर एक के ऊपर एक पर्त्त शीघ्रतापूर्वक लगाते हुए १०-१२ बार लगाना चाहिए। शरीर पर के रोम साफ करके हल्का तेल लगाकर हाथ या पैर को पिघले हुए मोम के बर्त्तन में शीघ्रता से कई बार डुबोया तथा निकाला जा सकता है। इस प्रक्रिया से हाथ के ऊपर दस्ताना सा बन जायगा। ½ से १ घण्टे तक मोम का लेप रहने देने के बाद धीरे से निकाल देना चाहिए। मोम उबालकर पुनः काम में लिया जा सकता है।

उष्ण सिक्थ पट्टी (Hot wax dressing)—

संधिशोथ, संधिस्थ वातकोष शोथ (Bursitis) तथा शाखाओं के विकारों में इसका प्रयोग करते हैं। गरम मोम का लेप करके चुस्त पट्टी बाँधना और ऊपर से पुनः मोम का लेप करना, इस प्रकार मोम के कई पर्त्त लगाकर लगभग २४ घण्टे तक उस स्थान पर रहने देना चाहिए।

चिकित्स्य व्याधियाँ—संधिशोथ, परिसरीय नाडीशोथ, मांसशोथ, तन्तुशोथ (Fibrositis), कटिशूल, मोच, पिच्चित, अभिघात आदि व्याधियों में इन उपचारों से पर्याप्त लाभ होता है।

इन्फ्रारेड किरणें (Infrared rays)

दो प्रकार के इन्फ्रारेड के यंत्र होते हैं। (१) लाल बल्ब युक्त (Luminous) (२) बिना प्रकाश वाला (Non luminous)। उपयोगिता की दृष्टि से बिना प्रकाश का यन्त्र अधिक व्यापक प्रभाव वाला होता है।

इनका उपयोग शरीर के बाह्य अंगों के शोथ में मुख्य रूप से होता है। निम्नलिखित व्याधियों में स्थानीय ताप-चिकित्सा के रूप में इन्फ्रारेड किरणों का प्रयोग विशेष लाभ करता है। मांसशोथ (Myositis), सौत्रिकतन्तुशोथ (Fibrositis) नाड़ीशोथ (Neuritis), कटिशूल, वातनाड़ीशूल (Neuralgia), कोमल धातुओं का शोथ (Local infammation of soft tissues), मोच (Sprain), पिच्चिताघात (Contusions) आदि शोथमूलक व्याधियों में १५–२० मिनट तक प्रति दिन सेक करने पर इनके द्वारा स्थानिक ताप की वृद्धि होकर शोथ में लाभ होता है। तीव्र एवं जीर्ण वृक्कशोथ से पीड़ित रोगियों में पृष्ठ की तरफ से वृक्क स्थान पर २०–४० मिनट तक दिन में १ या २ बार औषध चिकित्सा के साथ इनका प्रयोग करने से अधिक लाभ होता है। संधिशोथ, आमवात, लसग्रन्थियों की शोथ युक्त वृद्धि, पक्षवध, आक्षेपक तथा पेशियों की स्तब्धता आदि वातिक व्याधियों में भी २०–४० मिनट तक दैनिक रूप में अन्य चिकित्साओं के साथ कुछ दिन इसका प्रयोग करने से पर्याप्त लाभ होता है।

शारीरिक प्रभाव—इन्फ्रारेड के प्रयोग से त्वचा एवं ऊपरी मांसपेशियों का ताप बढ़ जाने के कारण रक्त-संचार में वृद्धि होती है तथा समवर्त एवं कोषाओं की क्रियाशक्ति भी बढ़ जाती है। जीवाणुभक्षक कायाणु तथा शरीर की इतर सुरक्षात्मक कोषायें प्रयुक्त स्थान पर अधिक संचित होती हैं। इन परिणामों के द्वारा शोथ का शमन, व्रणों का रोपण तथा त्वचा की जीवनीय शक्ति की वृद्धि होती है। केशिकाओं के विस्फार तथा सांवेदनिक नाड़ी तन्तुओं में उत्तेजनात्मक प्रभाव के कारण स्थानीय रक्त संचरण में पर्याप्त वृद्धि हो जाती है। ताप के कारण अनेक लवणों (Ammonia, Uric acid, Amino acid phosphates & Sulphates) का उत्सर्जन अधिक होता है तथा निकट के रक्त एवं इतर धातुओं की क्षारीयता में वृद्धि होती है। स्थानिक रक्तिमा, प्रस्वेद, पेशियों की शिथिलता, नाड़ी की गति में वृद्धि, मूत्र एवं श्वास की वृद्धि तथा केशिकाओं के विस्फार एवं मूत्र प्रस्वेदन के द्वारा शारीरिक जलीयांश की कमी होने के कारण रक्तभार में कुछ काल के लिये कमी उत्पन्न होती है। कई दिनों

तक एक ही स्थान पर प्रयोग करने से त्वचा के ऊपर रक्तकणों का अधिक संचय होने के कारण कृष्णवर्ण के धब्बे से पड़ जाते हैं।

प्रयोग क्रम—प्रयोज्य अंग से इन्फ्रारेड यंत्र की दूरी १२"–२४" की रहनी चाहिये। प्रयोग काल का निर्धारण शारीरिक वर्ण, अंग, अवस्था एवं सात्म्यता के आधार पर किया जाता है। जितने काल में त्वचा पर हल्की लालिमा उत्पन्न हो जाय, औसतन यही काल (१५–६० मिनट) उपयुक्त समझा जाता है। ताप की तीव्रता बढ़ाने के लिये प्रयोज्य अंग से यंत्र की दूरी कम कर देनी चाहिये। वर्ग विपर्यय नियम (Universe square law) के अनुसार जितनी दूरी कम की जायगी, उसकी चतुर्गुणित मात्रा में ताप की उत्पत्ति होती है। यदि १२" की दूरी से इन्फ्रारेड का प्रयोग किया जाय तो २४" की दूरी से उत्पन्न होने वाले ताप की अपेक्षा चौगुना ताप उत्पन्न होगा। इस प्रकार दूरी को घटा-बढ़ा कर सहनशक्ति की सीमा के अनुसार उसका प्रयोग करना चाहिये।

अल्ट्रावायलेट किरणें (Ultra violet rays)—

प्रातःकालीन सूर्य की किरणों में नीललोहितातीत किरणें भी पर्याप्त मात्रा में होती हैं। किन्तु ऊँचे एवं खुले स्थानों में रहने पर ही इनकी चिकित्सा की दृष्टि से प्रभावकारक मात्रा प्राप्त हो सकती है। आजकल कृत्रिम रूप से पारद ट्यूब (Mercury arc) के यंत्र उपलब्ध होते हैं, जिनसे चिकित्स्य मात्रा में अल्ट्रा-वायलेट किरणों की उत्पत्ति होती है।

इन किरणों के प्रयोग से शरीर की धातुओं में रासायनिक परिवर्तन होते हैं। इन्फ्रारेड किरणें केवल बाह्य कोषाओं की ताप वृद्धि करती हैं, किन्तु अल्ट्रावायलेट के प्रयोग से त्वचा के जीवाणुओं का विनाश, जीवतिक्तियों का प्रचूषण तथा अन्तस्त्वचा के द्वारा उसका संश्लेष (Synthesis) और प्रतिजीवी द्रव्यों के समान कार्यक्षमता उत्पन्न होती हैं। निम्नलिखित व्याधियों में इनका प्रयोग किया जाता है।

फक्क या सुखंडी (Rickets)—जीवतिक्ति डी एवं काडलिवर आयल आदि की अपेक्षा अल्ट्रावायलेट के प्रयोग से सुखंडी में अधिक लाभ होता है। इनके प्रयोग के साथ मुख द्वारा बालक को कैलसियम का सेवन कराना चाहिये तथा इन किरणों से संस्कारित दूध पिलाने और संस्कारित काडलिवर आयल का अभ्यंग के रूप में साथ-साथ प्रयोग कराने से बहुत शीघ्र लाभ हो जाता है। स्त्रियों में अस्थियों की कोमलता (Osteomalacia), अस्थि भंगुरता (Fragilitas oseum), अपतानिका (Tetany), अस्थिमज्जाशोथ (Osteomylitis), क्षयज नाड़ीव्रण (Tubercular sinuses) एवं अस्थि भंग का विलम्बित सन्धान आदि अस्थियों की विकृति में इसके प्रयोग से बहुत आशाप्रद परिणाम सिद्ध हुये हैं। बालकों की

शारीरिक वृद्धि के उचित रूप में न होने, नासा-ग्रसनिका के जीर्ण उपसर्ग एवं क्षयमूलक व्याधियों में भी इन किरणों के प्रयोग से लाभ होता है।

यक्ष्मा की प्रारम्भिक अवस्था में—विषमयता के अभाव में—, श्वास, प्रतिश्याय, कुकास एवं श्वसनी फुफ्फुस पाक आदि श्वसन संस्थान की जीर्ण एवं पुनरावर्तनशील व्याधियों में भी इसका प्रयोग उपयोगी सिद्ध हुआ है। आन्त्र निबन्धिनी ग्रन्थियों के क्षयज विकार, क्षयज उण्डुकशोथ, क्षयज उदरावरण कला शोथ आदि पचन संस्थानीय क्षयज विकारों में स्थानीय एवं सार्वदैहिक रूप में अल्ट्रावायलेट किरणों का सप्ताह में ३ बार १२-१५ मिनट तक एक मास पर्यन्त प्रयोग कराने से बहुत अधिक लाभ होता है।

क्षयज त्वक् विकार (Lupus vulgaris), विचर्चिका (Psoriasis), इन्द्रलुप्त (Alopecia), मुहाँसे (Acne), विसर्प, त्वचा में उत्पन्न होने वाली पूययुक्त फुन्सियाँ, गजचर्म (Chronic eczema) आदि त्वक् विकारों में तथा नेत्र, कर्ण, नासिका एवं कण्ठ के जीर्ण रोगों में इसके प्रयोग से व्यापक लाभ होता है। बाह्य कर्ण का एक्जिमा, कर्ण कण्डु, मध्य कर्ण का यक्ष्मा तथा नासा की श्लेष्मल कला की अनूर्जता, प्रतिश्याय, तृणगंध ज्वर, यक्ष्मज स्वर यंत्र शोथ आदि जीर्ण व्याधियों में भी इससे लाभ होता है।

अल्ट्रावायलेट किरणों का उपयोग अस्थिभग्न, जीर्ण व्रण, त्वक् विकार आदि व्याधियों में स्थानिक उपचार के रूप में; सुखण्डी, अस्थि मृदुता एवं क्षयज विकारों में सार्वदेही प्रयोग तथा क्वचित् दोनों ही साथ में किये जाते हैं। श्वित्र (Leucoderma)-किलास-सिध्म आदि वर्णहीनता की अवस्थाओं में भी कुछ काल तक इन किरणों का प्रयोग कराने से पर्याप्त लाभ होता है।

शारीरिक प्रभाव—अन्तस्त्वचा के वसावर्द्धक (Lipids) द्रव्यों में प्राण वायु ग्रहण शक्ति की वृद्धि एवं जीवाणु नाशक शक्ति की वृद्धि होने के कारण जीर्ण स्वरूप के त्वक् विकारों एवं त्वचा के जीर्ण उपसर्गों में लाभ होता है। त्वचा के वर्ण—उसका लचीलापन तथा उसकी शक्ति में पर्याप्त वृद्धि होती है। कुछ दिनों तक इसके विकिरण से त्वचा में लालिमा तथा विस्तीर्ण रञ्जन (Diffuse pigmentation) होने के कारण श्वित्र में विशेष लाभ होता है। अन्तस्त्वचा में इसके प्रयोग से जीवतिक्ति डी का संश्लेषण होने के कारण आँतों से कैलसियम तथा फास्फोरस का प्रचूषण एवं सात्म्यीकरण व्यवस्थित रूप से होने के कारण सुखण्डी एवं कैलसियम तथा जीवतिक्ति डी के दूसरे विकारों में लाभ होता है। रक्त के जीवाणु नाशक तत्वों की वृद्धि, शरीर के दोषों पर विनाशक प्रभाव तथा शरीर पर उत्तेजनात्मक परिणाम होने के कारण अनेक जीर्ण व्याधियों में मुख्य चिकित्सा के साथ इन किरणों के प्रयोग से लाभ होता है।

प्रयोग क्रम—स्थानिक—प्रयोज्य अंगों को विवस्त्र करके त्वचा की स्निग्धता को

तौलिये से पोंछकर साफ करने के बाद १८–३६ इञ्च की दूरी से ५-१५ मिनट तक धीरे-धीरे बढ़ाते हुये सप्ताह में दो बार प्रयोग कराना चाहिये। त्वचा के विकारों के अतिरिक्त व्याधियों में हल्की लालिमा उत्पादक मात्रा में इसका प्रयोग किया जाता है। इन्द्र लुप्त, श्वित्र, गजचर्म एवं सुखण्डी में कुछ अधिक मात्रा में प्रयोग करना चाहिये। अल्ट्रावायलेट विकिरण से व्यापक रूप का लाभ प्राप्त करने के लिये अधिक काल तक प्रयोग करना चाहिये तथा प्रयोज्य अंग से दूरी अपेक्षाकृत कम रखनी चाहिये। किरणें शरीर के ऊपर लम्ब रूप में पड़नी चाहिये। प्रयोग के समय चिकित्सक तथा रोगी के नेत्रों पर गहरे नीले या विशेष प्रकार के किरण निरोधक चश्मे लगाने चाहिये। मुख या नेत्रों के ऊपर किरणों की आवश्यकता होने पर नेत्रवर्त्म के ऊपर गीली पट्टी रखनी चाहिये।

सार्वदेहिक—युवकों एवं वयस्कों में विकिरण का प्रयोग प्रत्येक बार शरीर के ४ भिन्न-भिन्न अवयवों पर किया जा सकता है। इस कार्य के लिये शरीर का ऊपर का अर्ध भाग, नीचे का अर्ध भाग और पार्श्व के भाग तथा पृष्ठ के भाग बनाये जा सकते हैं। बच्चों में केवल ग्रीवा से नीचे की तरफ का आगे का एक और दूसरा पीछे का, दो भाग मानकर विकिरण कराया जाता है। स्थानीय आवश्यकता न होने पर विकिरण का प्रयोग सिर, नेत्र आदि अंगों पर न करना चाहिये। सारे शरीर में विकिरण की आवश्यकता होने पर प्रथम दिन केवल पैरों के अगले तथा पिछले भागों पर ५-५ मिनट तक प्रयोग कराना चाहिये। दूसरे दिन पैरों पर दस मिनट तथा जंघा-जानु के आगे-पीछे ५-५ मिनट, तीसरे दिन पैरों पर १५ मिनट तथा जानु एवं घुटनों के आगे पीछे १० मिनट प्रयोग कराना चाहिये। इसी क्रम से प्रत्येक अंग पर ५ मिनट से प्रारम्भ कर धीरे-धीरे १५ मिनट तक बढ़ाना चाहिये।

निषेध—यक्ष्मा के तीव्र विकार, क्षयज श्वसनिकाशोथ, हृदय की दुर्बलता, हृत्कपाटों की विकृतियाँ, हृत्पेशीशोथ, धमनी जरठता, वृक्क शोथ, मधुमेह, पेलाग्रा, तीव्र एक्जिमा, व्यंग्य या झाँई, त्वचा की रूक्षता, क्षय तथा स्त्रियों में मासिक स्राव के समय अल्ट्रावायलेट किरणों का प्रयोग न कराना चाहिये।

मेडिकल डायथर्मी—(Medical diathermy) आजकल चिकित्सा में लघु तरंग डायथर्मी (Short wave diathermy) का अधिक प्रयोग किया जाता है। इसके प्रयोग से शरीर के भीतरी अंगों में पर्याप्त उच्च सीमा तक ताप उत्पन्न होता है। शरीर के विभिन्न अंगों में प्रयोग कराने के लिये विभिन्न प्रकार के उपकरण होते हैं, शाखाओं पर प्रयोग के लिये मणि बन्ध उपकरण (Cuff electrodes), मध्यशरीर एवं दूसरे चौड़े अवयवों के लिये गद्दीदार उपकरण (Pad electrodes), अंगों पर लपेट कर ऊष्मा पहुँचाने के लिये तार वाले उपकरण (Cable electrodes) तथा मूत्र मार्ग,

मल मार्ग, नासा विवर, नासा कोटर, गर्भाशय आदि भीतरी अंगों में साक्षात् प्रयोग कराने के लिये विशेष प्रकार के उपकरण आते हैं।

निम्नलिखित व्याधियों में डायथर्मी के प्रयोग से लाभ होता है—जीर्ण फिरंग, पौरुष ग्रंथि वृद्धि, योनि-गर्भाशय एवं बीज वाहिनियों के जीर्ण उपसर्ग, कटिशूल, वातनाड़ी शूल, जीर्ण संधिशोथ, मोच, संधि विश्लेष, पिच्चित आघात, पीडनाक्षमता, संधियों एवं पेशियों की स्तब्धता, मांसशोथ, सौत्रिक तन्तुशोथ, पार्श्वशूल, ग्रीवास्तम्भ, आमवात, नाड़ीशोथ, स्नायुमूलशोथ (Radiculitis), टेनोसाइनोवाइटिस (Tenosynovitis), बरसाइटिस (Bursitis) आदि व्याधियों में स्थानिक रूप से डायथर्मी के प्रयोग से लाभ होता है। जीर्ण स्वरूप के नासाकोटर शोथ में इसके प्रयोग से स्थायी स्वरूप का लाभ हो जाता है। उरस्तोय, पार्श्वशूल, जीर्णश्वसनीशोथ में भी इसका प्रयोग लाभदायक सिद्ध हुआ है। पूयमेह के जीर्ण उपद्रवों—मूत्राशय शोथ, मूत्रमार्गावरोध आदि विकारों में डायथर्मी का स्थानिक प्रयोग विशिष्ट औषधियों के साथ करने से निश्चित लाभ हो जाता है।

निषेध—व्याधियों की तीव्रावस्था में प्रायः इसका प्रयोग नहीं किया जाता। तीव्र संधिशोथ, तीव्र त्वक्शोथ, तीव्र ज्वर से पीड़ित विकारों में इसका प्रयोग न करना चाहिये। रक्तस्रावी प्रकृति के रोगियों में या आमाशयिक व्रण आदि आन्तरिक व्रणों से पीड़ित व्यक्तियों में भी इसके प्रयोग से रक्तस्राव हो सकता है। गर्भावस्था में उदर, वंक्षण तथा पृष्ठ पर इसका प्रयोग न करना चाहिये। रजःस्राव के समय या उसके १-२ दिन पूर्व या बाद तक और घातक अर्बुदों का सन्देह होने पर डायथर्मी का प्रयोग न करना चाहिये।
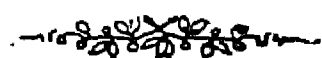
चतुर्थ अध्याय

चिकित्सा के उपक्रम

सूचीवेध चिकित्सा—

शरीर के धातूपधातुओं, विशेषकर रक्त के रासायनिक संगठन एवं स्वाभाविक क्रिया-व्यापार का विस्तृत ज्ञान होने के कारण वर्तमान समय में सूचीवेध द्वारा औषध-प्रयोग व्यापक रूप में किया जाने लगा है। प्राचीन काल में विसूची विध्वंसन आदि विशिष्ट योगों के प्रयोग का सिरावेध करके प्रक्षिप्त करने का निर्देश मिलता है, किन्तु मुख्य औषधमार्ग मुख तथा वस्ति के रूप में मलमार्ग ही रहा है। यों तो शरीर के सभी स्रोतसों से औषधियों का प्रयोग किया जाता था किन्तु प्राकृतिक स्रोतसों—नासा-कर्ण एवं सर्वांग व्याप्त रोम-छिद्रों से कृत्रिम सूची निर्मित छिद्रों से अन्तराभरण या निक्षेप के रूप में प्रयोग नहीं होता था।

सूचीवेध की उपयोगिता—

१. आत्ययिक अवस्था में तात्कालिक प्रभाव की आवश्यकता—जिन अवस्थाओं में प्रत्येक क्षण रोगी के लिए जीवन-मरण की संधि बन रहा हो, ऐसी अवस्था में मुख द्वारा प्रयुक्त औषध का प्रभाव होने में कुछ काल का विलम्ब घातक हो सकता है। शरीर के समस्त अंगोपांगों पर सूचीवेध द्वारा प्रयुक्त औषध का प्रभाव उचित मार्ग से देने पर तत्क्षण हो सकता है। घातक विषम ज्वर ग्रस्त मूर्च्छित रोगी में, प्रतमक के तीव्र वेग से आक्रान्त तथा विसूचिका में जलाल्पता से त्रस्त व्याधितों में सूचीवेध से सिरा-अधस्त्वचा या अन्य उपयुक्त मार्ग से औषध का प्रयोग आशुकारी प्रभाव के कारण जीवनधारक हो जाता है।

२. उचित संकेन्द्रण (Concentration) की आवश्यकता—अनेक औषधियों का शरीर पर उचित प्रभाव होने के लिए उनकी नियत मात्रा की शरीर के रस-रक्तादि धातुओं में उपस्थिति आवश्यक है। मुख द्वारा प्रयुक्त औषध का पाचन एवं प्रचूषण सभी अवस्थाओं में समान रूप से नहीं होता। किन्तु सूचीवेध द्वारा औषध को आवश्यक मात्रा में प्रविष्ट कराकर उचित संकेन्द्रण पर उसकी मात्रा का विधिवत् नियंत्रण किया जा सकता है।

३. औषधों की हीनवीर्यता—सूचीवेध द्वारा प्रयुक्त होने वाली अधिकांश औषधें मुख द्वारा प्रयुक्त होने पर आमाशयिक पाचक पित्त के प्रभाव से हीनवीर्य हो जाती हैं। एड्रेनौलीन, पिट्यूट्रिन, इंसुलिन एवं पेनिसिलिन तथा लसिका आदि

ओषधियों का मुख द्वारा प्रयोग उनको निर्वीर्य कर देता है, इसी कारण इनका प्रयोग सूचीवेध के द्वारा करना आवश्यक होता है।

४. विषाक्तता—कुछ ओषधियाँ मुख द्वारा प्रयुक्त होने पर अधिक विषाक्त परिणाम करती हैं अथवा जिस मात्रा में उनका संकेन्द्रण रक्त में होना आवश्यक है, तदनुरूप मात्रा का प्रयोग मुख द्वारा होने पर अनेक बार विषाक्त परिणाम उत्पन्न होने लगते हैं।

५. मुख द्वारा औषध प्रयोग संभव न होने पर—अत्यधिक वमन, अतिसार या मुख-आमाशय आदि अंगों के विकारों में मुख द्वारा औषध का प्रयोग न हो सकने या अतिसार के कारण उसका प्रचूषण न हो सकने के कारण सूचीवेधविधि ही औषध-प्रदानार्थ शेष रहती है।

६. मसूरी (Vaccine) तथा अनूर्जतानाशक द्रव्यों का प्रयोग प्रायः सूचीवेध के द्वारा ही किया जायगा।

सूचीवेध के सामान्य नियम—

१. सूचीवेध के मार्ग से प्रयोज्य औषध का सम्यक् परीक्षण कर लेना चाहिए। सामान्यतया शीशियों के ऊपर औषध का नाम, उत्पादन तथा कार्यक्षम तिथि, प्रमुख घटक तथा प्रयोज्य मार्ग का आवश्यक निर्देश मुद्रित रहता है। सूचीवेध के विभिन्न मार्गों से सभी ओषधियों का प्रयोग नहीं हो सकता।

२. सूचीवेधकर्म शल्यकर्म है। अतः उपकरण, प्रयोज्य स्थल तथा प्रयोक्ता के सम्पर्कार्ह अंगों का भली प्रकार संशोधन होना आवश्यक है। उपकरणों का शोधन करने के लिए पिचकारी, सुई एवं संदंशादि को कलईदार या चीनी मिट्टी से प्रलेपित (इनामेल्ड) अथवा स्टेनलेस स्टील के वर्त्तनों में साफ पानी के अन्दर रखकर १०—१५ मिनट तक ढक कर उबालना चाहिए। उबालने के बाद कुछ काल तक ढके हुए रहने देना उचित है। इस बीच में चिकित्सक को अपने हाथ तथा रोगी के प्रयोज्य अङ्ग को साबुन से धोकर, भली प्रकार पोंछकर शुद्ध मद्यसार या स्प्रिट से पोंछ लेना चाहिए। उसके बाद उबले हुए संदंश से सूची एवं पिचकारी आदि को संयोजित करके, पिचकारी के भीतर का जलीयांश निकालकर दवा भर लेना चाहिए। काँच कुप्पी से दवा लेने के पहले उसे काटनेवाली आरी (Cutter) को (अथवा रबर का ढक्कन होने पर, उस ढक्कन को) स्प्रिट से पोंछ कर शुद्ध कर लेना आवश्यक है। पिचकारी में दवा भरने के बाद वायु के बुद्बुद पूर्णरूप से निकाल देना चाहिए अन्यथा शरीर के भीतर प्रविष्ट हो जाने पर वे हानिकर होंगे। यह सब क्रिया हो जाने के बाद टिं० आयोडीन या स्प्रिट से सुई तथा वेध्य अंग को पुनः पोंछकर सूचीवेधन करना चाहिए। वेध हो जाने पर औषध को धीरे-धीरे प्रविष्ट कराना चाहिए, केवल जहाँ औषध का त्वरित प्रयोग निर्दिष्ट हो वहाँ शीघ्रता की जा सकती है। औषध के पूर्ण रूप में प्रविष्ट हो जाने के बाद स्प्रिट में

भिगोई हुई रुई से उक्त स्थल को दबाकर, त्वरा से सुई बाहर खींच कर, रुई से वेधस्थल को कुछ चौड़ाई में दबाकर (पेशी या अधस्त्वचीय मार्ग होने पर) हल्के हाथ से मर्दन कर देना चाहिए। इस क्रिया से औषध का अवयवों में प्रसार हो जाने के कारण प्रचूषण सुविधापूर्वक होता है तथा रोगी को उत्तरकालीन वेदना भी कम होती है।

३. सूचीवेध कर्म के समय रोगी को शान्त, स्थिरचित्त तथा प्रसन्न रखना आवश्यक है। हीनमनोबल व्यक्तियों को पहले से ही आश्वस्त कर लेना चाहिए।

४. सूचीवेध रोमकूपों में न करना चाहिए। रोम अधिक होने पर उनके बीच में रोमरहित त्वचा पर ही सूचीवेध किया जाना चाहिए।

५. अनेक बार सूचीवेध की आवश्यकता होने पर पूर्व विद्ध स्थान से १-२ इञ्च दूरी पर पुनः वेध करना चाहिए।

६. सिरा-पेशी-त्वचा या अन्तस्त्वचीय मार्ग से सूचीवेधन के लिए सूचियों की लम्बाई, सूचीमुख की विशिष्टता तथा उनके मोटे-पतले रूपों का विचार कर लेना चाहिए।

७. सूची के मूल में मोर्चा लगने या अग्र कुंठित होने पर अथवा पेशी में कड़ापन होने पर सूची के टूट कर मांस या सिरा में निगूढ या प्रचलित होने का भय रहता है। इसलिए प्रयोग के पूर्व सावधानीपूर्वक सूची की जाँच कर लेना आवश्यक है।

८. सूचीवेध से वेदना होती है। तीक्ष्ण अग्र की सूची का प्रयोग करने से वेध में कष्ट नहीं होता। ईथर का फाया वेधस्थान पर लगाने या इथायल क्लोर (Ethyl chlor) को छिड़कने से भी वेदना का प्रतिबंधन होता है।

९. अन्तस्त्वचा एवं सिरामार्ग से सूचीवेधन करने के लिए लीयर लॉक (Leur-lock) पिचकारी—विशेष कर एक पार्श्व के नोजल वाली (Side nozzle) पिचकारी अधिक सुविधाजनक होती है। इसमें सूची के निकलने या फिसलने का भय नहीं रहता।

१०. सूचीवेध एक शल्यकर्म है। अतः प्रयोग के पूर्व पिचकारी तथा सूची की पूरे तौर से सफाई करके १५ मिनट तक खौलते हुए पानी में रखना चाहिए तथा प्रयोग के पूर्व रेक्टीफायड स्प्रिट या परिस्रुत जल से साफ कर लेना आवश्यक है। यदि उसी पिचकारी से किसी तैलीय योग का प्रवेश कराया गया हो तो तैलांश को भली प्रकार ईथर, पेट्रोल या तारपीन के तेल से साफ करके उबालना चाहिए अन्यथा तैलांश ठीक तरह साफ न हो सकेगा।

अन्तस्त्वचीय सूचीवेध (Intra dermal injection)—इस सूचीवेध में औषध त्वचा के भीतर प्रविष्ट की जाती है। इस मार्ग से १-२ बूंद औषध का ही प्रवेश कराया जाता है। इस प्रकार के सूचीवेध के लिये सूची ½ इञ्च लम्बी, छोटे मुख (Small feevel) वाली तथा कड़ी होती है। एक सी० सी० पिचकारी में औषध

भर कर, लीयर लॉक (Leur lock) सूची लगाकर, प्रवेश्य स्थान की त्वचा बायें हाथ से दबाकर, तर्जनी तथा अँगूठे से त्वचा को खींच-तानकर, दाहिने हाथ से सूची को त्वचा के समानान्तर रखते हुए प्रविष्ट किया जाता है। सूचीवेध के समय अवरोध सा प्रतीत होता है। अवरोध के अकस्मात् मिट जाने पर सूची के त्वचा के नीचे पहुँच जाने का अनुमान करना चाहिए। ऐसा होने पर सूची को बाहर की तरफ खींच कर पुनः त्वचा के भीतर समानान्तर रूप में प्रविष्ट कराना चाहिये। इस प्रकार के सूचीवेध में अवरोध बराबर बना रहता है। पिचकारी के दण्ड को दबाते हुए औषध का प्रवेश कराना चाहिए। त्वचा के भीतर औषध के पहुँचने पर त्वचा में श्वेतवर्ण का उभाड़ सा हो जाता है। कुछ समय के लिए मशक दंश के समान त्वचा पर अरुणाभ चकत्ता हो जाता है। कुष्ठ की चिकित्सा, शिक तथा माण्टू परीक्षा (Shick & mantou's tests) में इस प्रकार से सूचीवेध किया जाता है।

अधस्त्वक् सूचीवेध (Subcutaneous injection)—इस विधि से औषध त्वचा के नीचे तथा मांस की ऊपरी कोषाओं में प्रविष्ट की जाती है। प्रवेश स्थान की त्वचा को विसंक्रमित कर लेने के बाद बायें हाथ की तर्जनी तथा अंगूठे से दबा कर पूरी त्वचा ऊपर खींच लेनी चाहिए और दाहिने हाथ से पिचकारी को पकड़ कर त्वचा से ३०° के कोण पर सूची को रखते हुए उद्धृत त्वचा के त्रिकोण (जो त्वचा के उठाने से बन जाता है) के मध्य से प्रवेश कराना चाहिए। अधस्त्वचा में सूची के रहने पर सूची ऊपर उठाने पर पूरी त्वचा उठ आती है। अब लगभग $\frac{3}{4}''$-१'' तक सूची का त्वचा के नीचे प्रवेश कराने के बाद औषध का प्रवेश कराना चाहिए। इसके बाद सूची को खींच कर बायें हाथ से त्वचा को मुक्त कर स्प्रिट आदि लगा कर मल देना चाहिए। इस मार्ग से प्रविष्ट औषध का प्रचूषण धीरे-धीरे होता है। बाहु, ऊरु, उदर के पार्श्व तथा स्तन के बगल में कक्षा की तरफ इस प्रकार से सूचीवेध किया जाता है। अधिक मात्रा में औषध का प्रवेश अपेक्षित होने पर शोषण को त्वरित करने के लिए रौनिडेस (Raunidase) आदि औषधियों का सहप्रयोग किया जाता है। छोटे बालकों या निपात के उपद्रव से पीड़ित वयस्कों में सिरा मार्ग उपयुक्त न होने पर इस विधि से अधिक मात्रा में (१००–२०० सी० सी० तक) समलवण जल का प्रयोग किया जाता है।

पेशी मार्ग से सूचीवेध (Intra muscular injection)—इस विधि से औषध का प्रवेश पेशी तन्तुओं के बीच में किया जाता है। यहाँ अधिक रक्त संचार होने के कारण औषध का शीघ्र प्रचूषण हो जाता है तथा सूचीवेधजनित वेदना भी कम होती है।

इस विधि में १½''–२'' लम्बी सूची का प्रयोग किया जाता है। त्वचा की शुद्धि कर लेने के बाद बायें हाथ से प्रयोज्य स्थल की त्वचा को खींच कर दाहिने हाथ से सूची को त्वचा के समकोण पर रखते हुए भीतर प्रविष्ट करना चाहिए। स्थान तथा व्यक्ति की मांसलता का ध्यान रखते हुए सूची को पूरा प्रविष्ट कर देना चाहिए।

पेशियों के भीतर जितनी गहराई में सूची प्रविष्ट होगी, उतनी ही कम वेदना का अनुभव रोगी को होगा। औषध प्रवेश कराने के पूर्व पिचकारी के दण्ड को कुछ बाहर की तरफ खींच कर सिरावेध का निराकरण कर लेना चाहिए। सूची के सिरा में प्रविष्ट रहने पर दण्ड खींचने से रक्त आने लगता है। ऐसा होने पर सूची को कुछ ऊपर खींच कर पुनः सिरावेध का बचाव करते हुए औषध का प्रवेश कराना चाहिए। यदि पिचकारी में औषध के अतिरिक्त थोड़ी मात्रा में वायु रहे तो अच्छा है। औषध का प्रवेश हो जाने के बाद दबा कर वायु भी भीतर कर देनी चाहिए। वायु के कारण पूरी औषध का प्रवेश हो जायगा और सूची निकालते समय औषध त्वचा के नीचे न लग सकेगी, जिससे रोगी को कष्ट का अनुभव न होगा। इस मार्ग से सूचीवेध नितम्ब के बाहरी पार्श्व में, स्कंध के पार्श्व में, ऊरू के सामने मध्य भाग पर और उदर की मांस-पेशियों में किया जाता है। उदर भित्ति के पीछे उदरावरण कला होती है, अतः सूची को अनुप्रस्थ (Horizontal) दिशा में प्रवेश करना चाहिए, सम कोण पर नहीं। औषध प्रवेश के बाद सूची निकाल कर स्प्रिट के मोटे फाया से विद्ध स्थल को कुछ देर तक दबा कर, हल्के हाथ से मल कर उष्ण स्वेदन कराना चाहिए।

कभी-कभी पेशी मार्ग से अधिक मात्रा में तरलाधान कराया जाता है। प्रायः ऊरु का बीच का तृतीयांश मसिल स्थल उपयुक्त रहता है। सूची को सम कोण में पेशी में अस्थि के ऊपर तक गहराई में प्रविष्ट कराने के बाद, त्वचा के ऊपर सूची के चारों ओर रुई तथा गाज लगा कर श्लेषक बंध से चिपका देना चाहिए, जिससे सूची हिले नहीं। इस कार्य के लिए विशेष प्रकार की सूची भी मिलती है, जिसमें सूची के मूल के पास में धारक पट्ट लगा रहता है। सूचीवेध के बाद धारक पट्ट कस देने पर सूची न तो अधिक भीतर जा सकती है, न हिल-डुल सकती है। पट्ट के साथ श्लेषक बंध (Elastic straps) त्वचा पर चिपका देने से सूची स्थिर हो जाती है। अब ३०-४० बूंद प्रति मिनट के अनुपात से बूंद-बूंद तरल का प्रवेश किया जाता है। एक बार में ३००-५०० सी. सी. तक द्रवांश का प्रवेश ४-५ घण्टे में किया जा सकता है। सिरा मार्ग से तरल का प्रवेश संभव या उपयुक्त न होने पर इस विधि से प्रविष्ट किया जाता है।

सिरा मार्ग से सूचीवेध (Intravenous inejction)—सिरा मार्ग से प्रविष्ट औषध तत्काल सारे शरीर में व्याप्त हो जाती है। अधिक से अधिक मात्रा में बिना किसी बाधा या वेदना के तरल का प्रवेश इस मार्ग से किया जा सकता है।

सिरावेध के लिए सूची तीक्ष्णाग्र, छोटे मुख (Bevel) वाली तथा यथाशक्य नवीन लेनी चाहिए। सूचीवेध के लिए उपयुक्त सिरा का चुनाव करना चाहिए। सामान्यतया कूर्पर संधि की मध्य बाहुक सिरा (Cubital vein) सिरावेध के लिए उत्तम मानी जाती है। किन्तु बालकों एवं स्त्रियों में या स्थूल व्यक्तियों में त्वचा

के नीचे वसा का अधिक संचय होने पर यहाँ की सिरा स्पष्ट नहीं हो पाती। ऐसी स्थिति में अग्रबाहु में मणिबंध के पास, हथेली के पृष्ठ भाग पर या पैरों में गुल्फ संधि के निकट की सिराओं में सूचीवेध किया जाता है।

कूर्पर संधि को फैला कर, उसके नीचे तौलिया या किसी कपड़े का गद्दा सा बना कर तथा संधि के ऊपर बाहु पर बन्धन (टुर्नकी Tourniquet) या रबर की नली, कैथेटर आदि को खींच कर बाँध देना चाहिए। ऐसा करने पर सिरा उभड़ जाती है। तब परिसरीय भाग से केन्द्र की ओर हल्के हाथ से दबाने से सिरा पर्याप्त फूल जाती है। त्वचा की शुद्धि करने के बाद बायें हाथ से सिरा के पार्श्व की त्वचा को हल्का सहारा देते हुए सिरा को स्थिर करके दाहिने हाथ से त्वचा के समानान्तर सूची का प्रवेश कराना चाहिए। प्रवेश के समय सूची का मुख ऊपर की ओर रखना चाहिए और उसका भार सिरा पर न पड़ना चाहिए अन्यथा सिरा के दब जाने से सूचीवेध से सिरा की दोनों भित्तियाँ मिल जायँगी और सूची सिरा के आर-पार निकल जायगी। सूची के सिरा के भीतर पहुँचते ही अवरोध अकस्मात् दूर हो जाता है। अब ३-४ मि. मि. सूची को सिरा के भीतर और पहुँचा देना चाहिए। केवल सूची का अग्र सिरा में रहने पर बंधन हटाने पर शिरा के शिथिल होने के साथ सुई पुनः सिरा के बाहर आ सकती है। सिरा के भीतर सूची के रहने पर पिचकारी के दण्ड से हाथ हटाते ही या थोड़ा सा दण्ड खींचने पर पिचकारी में रक्त आने लगता है। अब धीरे से घुमाकर सुई का मुख (Bevel) उलट देना चाहिए—अर्थात् सुई का पूरा मुख सिरा के भीतर उलटे रूप में खुला हुआ रहेगा। ऐसा करने से सुई के फ़िसलने या सुई का थोड़ा सा अग्र सिरा वेध कर बाहर निकल जाने की संभावना नहीं रहेगी। इसके बाद धीरे-धीरे पिचकारी का दण्ड (पिस्टन) दबाते जाना चाहिए। औसतन १ मिनट में ३-४ सी. सी. से अधिक औषध का प्रवेश न कराना चाहिए। कदाचित् पिचकारी में कहीं से कुछ वायु रुक गई हो तो सिरा में न चली जाय, इस बात का ध्यान रखना चाहिए। पिचकारी की दवा प्रविष्ट हो जाने पर सूची के मूल पर हाथ लगाते हुए झटके के साथ निकाल कर स्प्रिट का फाया विद्ध स्थान पर लगा कर कुहनी से हाथ को मोड़ कर ५-७ मिनट रखना चाहिए। सिरागत सूचीवेध के बाद रोगी को १५-२० मिनट तक लेट कर विश्राम करना चाहिए। सिरामार्ग से औषध का प्रवेश कराते समय निम्नलिखित व्यापत्तियों के प्रति सावधानी रखनी चाहिए।

१. हृदयातिपात—सिरामार्ग से प्रविष्ट औषध सीधे हृदय में जाती है। कभी-कभी चौड़े मुख की सुई या अन्य कारणों से शीघ्रतापूर्वक औषध का प्रवेश होने पर हृदयातिपात या मृत्यु तक हो जाती है। इसलिए माफार्साइड (Mepharside) के अतिरिक्त सभी अन्तस्सिरीय सूचीवेध धीरे-धीरे ही देना चाहिए।

२. ज्वर—कभी-कभी सिरा मार्ग से औषध प्रवेश करने के बाद शीतपूर्वक तीव्र

ज्वर होता है। पिचकारी की अशुद्धि, औषध का अतिशीत, अतिउष्ण या त्वरित प्रयोग एवं क्वचित् औषध-परिस्रुत जल-ग्लूकोज के घोल आदि की जीवाणु दूष्यता या सेन्द्रिय विषाक्तता आदि के कारण यह प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। सामान्यतया बिना किसी विशिष्ट उपचार के यह कष्ट २-३ घण्टे में शान्त हो जाता है, किन्तु किन्हीं उग्र व्याधियों से पूर्व पीडित व्यक्ति में यह क्रिया गम्भीर उपद्रव उत्पन्न कर सकती है।

३. अन्तःशल्यता—पिचकारी से वायु पूरी तरह न निकालने तथा सूचीवेध के बाद औषध प्रवेश के साथ वायु के सिरा में प्रविष्ट हो जाने पर फुफ्फुस, हृदय या मस्तिष्क एवं वृक्क आदि अंगों में अन्तःशल्यता के परिणामस्वरूप धमनिका प्रान्तों में अवरोध उत्पन्न हो कर शल्याधिष्ठान के अनुपात में गंभीर घातक परिणाम तक हो सकते हैं।

४. अनूर्जतामूलक प्रतिक्रियाएँ—रोगी की असहिष्णुता का परिज्ञान आवश्यक है, अन्यथा अनेक प्रकार की अनवधानताएँ एवं प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न हो सकती हैं।

५. सिराघनास्रता या सिराशोथ (Thrombosis of the vein & phlebitis) सिरा के वेध से उत्पन्न सिरा की कला का क्षत, देर तक सिरा को अवरुद्ध रखना या क्षोभक औषधियों के प्रभाव से यह उपद्रव उत्पन्न होते हैं। गरम नमक के पानी से सेंक करना Hirudoid Algipan या बेलाडोना का मलहम आदि का स्थानीय प्रयोग करना अथवा अन्य उष्ण उपचार—वालू या नमक की थैली से सेंक तथा हाथ को तकिया पर रखकर कंधे से कुछ ऊँचा रखना चाहिए।

६. सिरावेध में असावधानी से प्रयोज्य औषध का कुछ अंश यदि सिरा के बाहर निकल जाय तो औषध की प्रकृति के अनुपात में स्वल्प या तीव्र स्वरूप का स्थानीय क्षोभ एवं शोफ उत्पन्न होता है।

सिरामार्ग से अधिक मात्रा में तरल का प्रयोग (Intravenous infusion)-शरीर से अत्यधिक मात्रा में जलीयांश के निकल जाने पर जलाल्पता उत्पन्न होकर रक्त की घनता बढ़ती है और उसका स्वाभाविक गुरुत्व अधिक हो जाने के कारण शरीर की सभी क्रियाओं में बाधा उत्पन्न होती है। विसूचिका, तीव्र प्रवाहिका, आमाशय का तीव्र प्रसार (Acute dilatations of stomach), निपात एवं अत्यधिक वमन आदि व्यापत्तियों में ऐसी अवस्था उत्पन्न होती है। विसूचिका सरीखी कुछ अवस्थाओं में द्रव की पर्याप्त राशि द्रुतगति से प्रविष्ट की जाती है। किन्तु द्रव की बहुत अधिक मात्रा के एक साथ रक्त में प्रविष्ट होने पर रक्त का रासायनिक सन्तुलन (Electolytic balance) बिगड़ जाने का भय रहता है तथा हृदय पर भार अधिक पड़ने के कारण हृदयावसाद, फुफ्फुसीय शोथ (Pulmonary congestion), उच्च रक्त निपीड (Hypertension), आदि दुष्परिणाम हो सकते हैं। ऐसी व्यापत्तियों के प्रतिबंध के लिए अधिक मात्रा में तरलाधान की आवश्यकता होने

पर बिन्दु-बिन्दु क्रम से प्रवेश कराया जाता है। यहाँ पर दोनों विधियों का निर्देश किया जाता है।

द्रुत विधि (Single dose intravenous infusion)—आवश्यक उपकरण—लवण विलयन या प्रयोज्य द्रव के प्रदान के लिए काँच का विशिष्ट फ्लास्क, पारदर्शी (Transparent) रबर की ५' लम्बी नलिका, काँच की पतली नलिका (द्रव की अप्रतिहत गति के निरीक्षणार्थ) तथा कैन्युला, अवरोधक (Inrterrupter) सूची एवं पिचकारी तथा रबर के बंध (टुर्नकी) आदि।

विधि—अत्यधिक जलाल्पता न होने पर रोगी की सिरा सरलता से उभाड़ी जा सकती है। अन्यथा त्वचा का छेदन कर सिरा बाहर निकाल कर विशेष क्रम से सिरा का वेधन करना पड़ता है। प्रायः इस शल्य कर्म की अपेक्षा नहीं पड़ती। बन्द विधि (Closed method) से ही कार्य सिद्ध हो जाता है। रोगी के हाथ को सीधा फैलाकर मध्य बाहु की खात (Cubital fossa) के २" ऊपर बंधन या रबर के पट्टे से बाहु को भली प्रकार बाँध कर, सिरा के ऊपर, नीचे से ऊपर प्रतिलोम क्रम से हल्के हाथ से मलते हुए रक्त को सिरा में संचित कर, रोगी को मुट्ठी भींचने के लिए कहना चाहिए। इस क्रिया से मांसपेशियाँ कड़ी हो जाती हैं तथा सिरा भी स्पष्ट और स्थिर हो जाती है। अब स्प्रिट या जीवाणुनाशक घोल से भली प्रकार से कूर्पर खात को साफ करके, साफ की हुई परिशोधित पिचकारी (जो सोडियम साइट्रेट के विशुद्ध घोल से बाद में प्रक्षालित हो) में नं० १ की मोटी सुई लगाकर सिरा में ४०° के कोण से प्रविष्ट कराना चाहिए। सिरा में प्रविष्ट हो जाने के बाद सिरा की लम्बाई में सुई को समानान्तर दिशा में रखते हुए २–३ से० मी० भीतर प्रविष्ट कराना चाहिए। जिससे सूची स्थानच्युत न हो जाय। अब पिचकारी के दण्ड को खींच कर रक्त की उपस्थिति से सिरा वेध का निर्णय हो जाने पर पहले से विशोधित फ्लास्क एवं रबर की नली से संलग्न काँच की नली या कैन्युला में पिचकारी से निकाल कर सूची को सम्बद्ध करा देना चाहिए। प्रारम्भ में रबर की नली से अवरोधक हटाकर कुछ वेग से द्रव को भीतर जाने देना चाहिए, जिससे रक्त के अवरोध का भय न रहेगा। सिरा को स्पष्ट करने के लिए बाँधा हुआ अवरोधक बंध द्रव प्रवेश के पूर्व ही निकाल देना चाहिए। अब सूची एवं रबर की नलिका को श्लेषक बंध से अग्र बाहु पर २–३ स्थानों पर चिपका कर, पूरी बाहु के नीचे गत्ती को मोड़कर एवं काठ की पट्टी रुई या कपड़े से लपेट कर कुशा के रूप में (Splint) नीचे से रखकर हाथ का सहारा देकर बाँध देना चाहिए, जिससे हाथ का इतस्ततः प्रचलन न हो तथा सूची के फिसलने की सम्भावना न रहे। इस विधि से १५–२० मिनट के भीतर १ पाइण्ट द्रव प्रविष्ट कराया जा सकता है।

सूचीवेध की क्रिया के पूर्व ही प्रयोज्य द्रव तथा सभी उपकरण तैयार रहने चाहिए। ... ट्यूब आदि को १५–२० मिनट तक उबाल कर जीवाणु-

विरहित कर लेना चाहिए। विसंक्रमित करने के बाद फ्लास्क के नीचेवाले मुख से रबर की नली लगाकर तथा काँच का निरीक्षक (Observer) एवं पेचदार अवरोधक (Screw interrupter) आदि लगाकर तैयार करने के बाद फ्लास्क में प्रयोज्य घोल भर कर ऊपर के मुख को विसंक्रमित कपड़े (Gauz) से ढककर बाँध देना चाहिए। घोल का तापमान शारीरिक ताप के अनुपात में रखने के लिए फ्लास्क को गरम पानी में भीगे हुए कपड़ों या गरम थैली से आवृत रखना चाहिए। अब अवरोधक को खोलकर एक बार द्रव को रबर की नलिका एवं उसके अग्र में सन्निविष्ट सूची या काँच की पतली नली लगी हुई सूची से निकलने देना चाहिए। इस क्रिया के द्वारा रबर की नली आदि में अवरुद्ध वायु बाहर निकल जायगी तथा द्रव प्रवेश में बाधा न होगी। अब सूचिका को १–२ बार फ्लास्क से ऊपर-नीचे करके वायु को भली प्रकार निकालकर अवरोधक पेंच को कसकर रबर नलिका का मार्ग अवरुद्ध कर देना चाहिए।

इसके बाद ऊपर निर्दिष्ट विधि से सिरावेध करके औषध का प्रवेश कराना चाहिए। फ्लास्क को रोगी की शय्या से ३′ ऊँचे मजबूती से बाँधकर लटका देना चाहिए। पेंच को इच्छानुसार अवरोध या अनवरोध की स्थिति में रखकर धीरे-धीरे या द्रुतगति से द्रव का प्रवेश कराया जा सकता है। फ्लास्क में द्रव के ० अंश तक आने पर पेंच बन्द करके आवश्यकतानुसार ताजा घोल भरकर पेंच खोलना चाहिए। फ्लास्क में द्रव के समाप्त हो जाने पर वायु के प्रवेश का भय रहेगा, अतः ध्यान रखते हुए तरलाधान कराना चाहिए। प्रयोग सम्पूर्ण हो जाने पर सूची को निकालकर टिंचर बेंजोइन का लेप करके गॉज रखकर पट्टी बाँधनी चाहिए और कुशा आदि हटाकर हाथ को कुछ देर मोड़कर रखने के लिए कहना चाहिए।

आजकल विभिन्न द्रवों के विसंक्रमित घोल रबर के कार्क वाली बोतलों में मिलते हैं जिनको उबालने या घोलने आदि की अपेक्षा नहीं होती। इनमें २ छेद भीतरी रबर में तथा बोतल के भीतर की काँच की नलियों तक जानेवाले होते हैं। एक नली बोतल की तह की तरफ बढ़ी हुई लम्बी तथा दूसरी कुछ छोटी होती है। विसंक्रमित की हुई रबर की दो नलिकाओं में मोटी सूची लगाकर एक को (जिसकी रबर १०–१२ इञ्च की लम्बी हो) बोतल के भीतर की लम्बी नलिका में प्रविष्ट कराकर, बोतल के मुख के पास मोड़कर बोतल के तले तक ले जाकर श्लेषक पट्टी से चिपका देना चाहिए, जिससे द्रव के सिरा में जाने पर आवश्यक वायु का प्रवेश बोतल में होता रहे। दूसरी सुई को दूसरे छेद में प्रविष्ट कराकर नीचे की रबर नली या बिन्दुमापक आदि से जोड़कर पूर्वोक्त क्रम से प्रयोग करना चाहिए।

बिन्दु-बिन्दु प्रवेश (Drip method)—पूर्व निर्दिष्ट उपकरणों में बिन्दुक यन्त्र (Murphy's drip) की आवश्यकता होती है। फ्लास्क से लटकी हुई रबर

में अवरोधक पेंच के कुछ ऊपर बिन्दुक यन्त्र सम्बद्ध कर दिया जाता है। इससे द्रव की गति बिन्दुओं में नियन्त्रित की जा सकती है। दाह, विषमयता, निपात एवं अल्प जलाल्पतावाली अवस्थाओं में प्रायः इसी विधि का प्रयोग किया जाता है। १ मिनट में ३०–५० बूँद तक की गति से तरलाधान कराया जाता है। सामान्यतया ४-५ घण्टे में १ पाइण्ट और २४ घण्टे में ५–६ पाइण्ट द्रव का प्रवेश निरन्तर बिन्दु-बिन्दु विधि (Continuous drip method) से कराया जा सकता है। तरल को शारीरिक ताप के अनुरूप रखने के लिए सूचीवेध-अंग के आगे की तरफ गरम पानी से भरी हुई रबर की थैली रखनी चाहिए तथा बोतल या फ्लास्क को भी यथाशक्ति गरम तौलिए से लपेट कर रखना चाहिए।

त्रिमार्गीय कैन्युला (Three way canule)—सिरामार्ग से अधिक मात्रा में औषध का प्रवेश पिचकारी द्वारा कराने के लिए विसूचिका सरीखी तीव्र जलाल्पता वाली व्याधियों में जहाँ थोड़े काल के भीतर अधिक मात्रा में तरलाधान कराना होता है, इस विधि का प्रयोग किया जाता है। छोटा यन्त्र होने के कारण रखने में सुविधा तथा साधारण २० सी० सी० या ५० सी० सी० के अभाव में १० सी० सी० की पिचकारी से ही कार्य निष्पन्न हो जाने के कारण सुविधा होती है। इसमें तीन मुख होते हैं। आगे की तरफ सूची तथा पीछे की तरफ पिचकारी और पार्श्व छिद्र से रबर की नली तथा तरल में डूबने वाला ग्राहक मुख लगा रहता है। इन मार्गों को नियन्त्रित करने वाला एक पेंच होता है। काँच की कटोरी तथा सभी उपकरणों को भली प्रकार उबालकर विसंक्रमित करने के बाद प्रयोग में लाना चाहिए। प्रयोज्य द्रव को काँच की कटोरी में विसंक्रमित वस्त्र से ढक कर, रबर की नली से संलग्न ग्राहक मुख को द्रव में डुबो देना चाहिए। द्रव नियन्त्रक पेंच को पिचकारी की ओर घुमाकर पिचकारी में द्रव भर कर सिरावेध करके पार्श्व के छेद को बन्द कर द्रव का प्रवेश कराना चाहिए। पुनः नियन्त्रक पेंच से सूची मार्ग अवरुद्ध कर पार्श्व के मार्ग को खोलकर पिचकारी में द्रव भर कर प्रविष्ट कराना चाहिए। इसी क्रम से यथावश्यक द्रव का प्रवेश कराया जा सकता है। इस विधि के सुकर होने पर भी यन्त्र के प्रायः एक सा कार्य न करने के कारण बाधा पड़ती है। प्रयोग करने के पूर्व एक बार जाँच लेना आवश्यक है।

रक्त पूरण (Blood transfusion)—आकस्मिक रूप में दुर्घटनाजनित या शल्यकर्म में अधिक मात्रा में रक्त का निर्गमन हो जाने के कारण रोगी के शरीर में स्वस्थ व्यक्ति का रक्त प्रविष्ट कराने की आवश्यकता पड़ती है।

निम्नलिखित अवस्थाओं में रक्तपूरण की आवश्यकता विशेष रूप से होती है—

क—रक्तहीनता के विकार—

१. रक्तस्राव के उपरान्त रक्त शोण वर्तुलि के ३०% से कम रह जाने पर।

२. चयापचयिक रक्तक्षय (Aplastic anaemia)
३. वैनाशक रक्तक्षय (Pernicious anaemia)
४. शोणांशिक रक्तक्षय (Heamolytic anaemia)
५. शिशुओं के गंभीर रक्तक्षय ।

ख—रक्तस्रावी व्याधियाँ—

१. हीमोफिलिया (Heamophilia)
२. रक्तपित्त (Purpura heamorrhagica)
३. रक्तस्रावी आमाशयिक व्रण (Gastric heamorrhage)
४. अत्यार्त्तव (Metropathia heamorrhagica)

ग—तीव्र संक्रामक व्याधियों में उत्पन्न रक्ताल्पता—

१. तीव्र विषमयता एवं पूयमयता ।
२. किसी तीव्र संक्रामक व्याधि में उत्पन्न गंभीर स्वरूप की रक्ताल्पता । आंत्रिक ज्वर में रक्तस्राव के बाद या सव्रण बृहदंत्र शोथ (Ulcerative colitis) तथा रक्तातिसार में ।
३. तरुणास्थि शोथ या अस्थि मज्जा शोथ में ।
४. जीर्ण स्वरूप की पूयमयता (Chronic sepsis) जिसमें अधिक रक्तक्षय हो गया हो ।

घ—१. रक्ताल्पता की अवस्था में शल्यकर्म की आवश्यकता होने या शल्यकर्म में अधिक रक्तस्राव होने के बाद ।

२. रक्तस्रावजनित निपात की चिकित्सा में रक्तपूरण की व्यापक उपयोगिता होती है । जीर्ण स्वरूप की रक्तस्रावी व्याधियों—रक्तष्ठीवन, रक्त वमन, रक्तातिसार, रक्त मूत्रता एवं गर्भाशयिक रक्तस्राव आदि—में रक्तपूरण से रक्ताल्पता का शमन होने के अतिरिक्त रक्तस्रावी प्रवृत्ति का भी पर्याप्त समय के लिए निराकरण हो जाता है । बहुत से रोगियों में बहुत काल तक रक्तस्राव होते रहने पर भी दूसरे उपचार सफल न होने पर रक्तपूरण की क्रिया से लाभ होते देखा गया है । जीर्ण विषमयतावाले विकारों में शुद्ध एवं स्वस्थ रक्त के प्रविष्ट होने से रोग-निवृत्ति शीघ्र होती है ।

रक्तपूरण प्रक्रिया में एक व्यक्ति के शरीर से रक्त निकाल कर रुग्ण व्यक्ति के शरीर में प्रविष्ट किया जाता है । जिसका रक्त निकाला जाता है, वह दाता (Donor) तथा जिसके शरीर में रक्त प्रविष्ट किया जाता है, वह ग्रहीता (Recepient) कहा जाता है । दाता के रक्त की परीक्षा कामला, फिरंग, श्लीपद आदि व्याधियों के लिए कर लेना चाहिए, आत्ययिक स्थिति में इन व्याधियों के इतिवृत्त के अभाव का परिज्ञान करके रक्त ग्रहण करना चाहिए। दाता तथा ग्रहीता के रक्त की सात्म्यता की परीक्षा अनिवार्य रूप से आवश्यक होती है । असात्म्य रक्त का प्रयोग होने पर रक्त का द्रावण

(Heamolysis) होने लगता है, जिससे घातक परिणाम होता है। मॉस (Moss) की पद्धति से रक्त का वर्गीकरण ४ वर्गों में किया जाता है। आजकल रक्त के रुधिर कायाणुओं में उपस्थित ए तथा बी एग्लूटिनोजेन्स (A & B. Agglutinogens) की अस्त्यात्मक या नास्त्यात्मक सत्ता के आधार पर वर्गीकरण किया जाता है। सभी मनुष्यों के रक्त चार समूहों में बाँटे जा सकते हैं, जो अन्तर्जातीय वर्गीकरण (International classification) के अनुसार O, A, B तथा AB कहे जाते हैं। O वर्ग के व्यक्ति का रक्त दूसरे सभी वर्ग वाले व्यक्तियों को सात्म्य होता है, अतः इनका रक्त किसी भी ग्रहीता को दिया जा सकता है। इसी कारण इस वर्ग को सर्वदाता (Universal donor) कहा जाता है। इसी प्रकार A. B. वर्ग के व्यक्ति अन्य वर्ग के व्यक्तियों का रक्त ग्रहण कर सकते हैं, इसलिए इनको सर्वग्रहीता (Universal recepient) कहते हैं। A. वर्ग का रक्त A. तथा A. B. वर्ग को सात्म्य होगा, B. वर्ग का रक्त A. B. और B. वर्ग के व्यक्ति ग्रहण कर सकते हैं।

बड़े-बड़े आतुरालयों में रक्तदाताओं के रक्त की परीक्षा करके उनके वर्गों के अनुपात में सूची तैयार रहती है, आवश्यकतानुसार उनको बुलाकर ग्रहीता के रक्त के साथ उनके रक्त की सात्म्यता स्थिर करके रक्तपूरण कराया जा सकता है। वर्ग-निर्धारण होने पर पहले से सात्म्यता स्थिर होते हुए भी प्रयोग करने के पूर्व प्रत्यक्ष रूप से प्रसमूहन (Agglutination) की परीक्षा के द्वारा प्रमाणित कर लेना आवश्यक है।

आजकल दाता का रक्त सीधे ग्रहीता को कम दिया जाता है। प्रायः दाता के शरीर से रक्त निकाल कर ब्लड बैंक (Blood bank) में संगृहीत रहता है। किसी रोगी के लिए रक्त की आवश्यकता होने पर रोगी का ५ सी० सी० रक्त लेकर ३-८ प्रतिशत सोडियम सायट्रेट के विसंक्रमित घोल की १ सी० सी० मिलाकर, विसंक्रमित एवं रासायनिक दृष्टि से शुद्ध शीशी में भरकर पूर्ण सुरक्षित करके ब्लड बैंक में भेज देना चाहिए। वहाँ रक्त की सात्म्यता स्थिर करके समरूप रक्त बोतलों में भर कर बर्फ के डिब्बे में बन्द करके प्राप्त होता है। प्रसमूहन की ठीक जानकारी न होने या दाता के न मिलने या रक्तोपलब्धि की दूसरी बाधाएँ होने पर ब्लड बैंक से रक्त प्राप्त कर लेना अधिक निरापद होता है। आत्ययिक अवस्थाओं में, जहाँ सद्यः रक्त पूरण की अपेक्षा होती है, इस माध्यम से रक्तोपलब्धि में विलम्ब हो सकता है, वहाँ दाता से सीधा रक्त लेकर उचित आवश्यक प्रसमूहन की परीक्षाओं द्वारा सात्म्यता का निर्णय करके प्रयोग करना चाहिए।

संगृहीत रक्त की सुरक्षा—मेडिकल रिसर्च कौंसिल द्वारा उपदिष्ट बोतल में ३-८% के सोडियम सायट्रेट के घोल की १०० सी० सी० भरकर उसी में दाता से ४२०

सी० सी० रक्त संगृहीत कर १५% ग्लूकोज का २० सी० सी० विलयन मिला दिया जाता है। शीशी को हिलाकर या काँच की सलाई से विलयन को भली प्रकार मिला देना चाहिए। इसके बाद शीत संग्रहालय या रेफ्रिजेरेटर में २°-४° सेण्टीग्रेड के ताप में सुरक्षित रखते हैं। साधारणतया १० दिन के भीतर इसका प्रयोग कर लिया जाता है। २१ दिन तक यह सुरक्षित रह सकता है। बोतल में संचित करने के बाद रुधिर-कायाणु नीचे बैठ जाते हैं, जिससे नीचे का भाग गहरा लाल तथा उसके ऊपर वाले भाग में हल्के पीले रंग का रक्तरस (प्लाज्मा) होता है। यदि नीचे वाले भाग की रक्तिमा ऊपर फैली हुई परिलक्षित हो तो, रक्ताणुओं का द्रावण (Heamolysis) हुआ समझना चाहिए। यह लालिमा का प्रान्त नीचे बैठे हुए रुधिर कणों के ऊपर ¼ इञ्च भी रक्तरस के रंग रहित भाग में फैला हो तो रक्त का प्रयोग न करना ही उचित है। संदिग्ध रक्त का प्रयोग न करना चाहिए। ब्लड बैंक से रक्त की बोतल एक डिब्बे में (या आइसक्रीम के डिब्बे में) बर्फ के भीतर रखकर स्थानान्तरित करना चाहिए और यथाशीघ्र उसका प्रयोग कर लेना चाहिए।

रक्त पूरण विधि—सिरा मार्ग से लवण विलेयों आदि के प्रवेश के क्रम से रक्त का पूरण किया जाता है। रक्त की बोतल में भी भीतर दो काँच की नलिकाएं होती हैं। ऊपर की टीन की सील तोड़कर पूर्ण विसंक्रमित यन्त्र की दो सूची पृथक्-पृथक् नलिकाओं में रबर के कार्क के भीतर से प्रविष्ट कराना चाहिए। छोटे रबर ट्यूब वाली (वायु को बोतल में प्रवेश कराने वाली) सूची को बड़ी नलिका में (जो बोतल के भीतर तली तक चली गई है) तथा बिन्दुक में ले जाने वाली सूची दूसरी छोटी नलिका में प्रविष्ट कराना चाहिए। यन्त्र की रबर मुलायम तथा चिकनी होनी चाहिए तथा पूर्ववत् पेंच ढीला करके रक्त को नीचे सिरा वाली सुई की तरफ बहने देकर यन्त्र की वायु निकाल देना चाहिए। इस कार्य के लिए उत्तम श्रेणी के प्लास्टिक के सेट आते हैं, जिनके साथ में सभी आवश्यक उपकरण पूर्ण विसंक्रमित रूप में रहते हैं।

प्रयोग करने के पूर्व रक्त की बोतल को गुनगुने पानी में रखकर शरीर के ताप के अनुपात में गरम कर लेना चाहिए। प्रारम्भ में १००-१५० सी० सी० समबल लवण जल देकर बाद में रक्त का पूरण कराने के बाद अन्त में पुनः समबल लवण जल का ५० सी० सी० की मात्रा में प्रवेश कराने से निरापदता रहती है। प्रारम्भ में रक्त पूरण की गति ३० बूंद प्रति मिनट से अधिक न होनी चाहिए। १०० सी० सी० रक्त के प्रविष्ट होने के बाद प्रतिक्रिया न होने पर ६० बूंद प्रति मिनट तक तथा दुर्घटना जनित रक्तस्राव आदि आत्ययिक अवस्थाओं में १०० बूँद प्रति मिनट तक दे सकते हैं। रक्त पूरण के पूर्व रोगी को स्निग्ध भोजन न देना तथा पर्याप्त समय तक पूर्ण विश्राम दिलाना चाहिए। रक्त पूरण में कोई व्यापत्तियाँ न होने का रोगी को विश्वास दिलाना आवश्यक है, अन्यथा हीन मनोबल के कारण रोगी मिथ्या-प्रतिक्रिया के लक्षणों का अनुभव कर सकता है।

प्रतिक्रियाएँ (Reactions)—

१. साधारण—शिरःशूल, कम्प एवं हृल्लास आदि लक्षण उत्पन्न होने पर रक्त की गति कम कर देना या तीव्र लक्षण होने पर थोड़े समय के लिए बन्द करके पुनः सावधानी से प्रविष्ट कराना चाहिए।

२. अनवधानता (Anaphylecsis) मूलक प्रतिक्रियाएँ प्रायः पूर्व दाता से ही दूसरी बार रक्त का ग्रहीता में प्रवेश होने पर अधिक मिलती हैं। अनूर्जतामूलक प्रकृति वाले रोगी में भी इनकी संभावना अधिक होती है। इसके प्रतिकार के लिए अनूर्जता विरोधी (Antihistaminic) औषध का रक्त पूरण के पूर्व पेशी मार्ग से सूचीवेध देना चाहिए।

प्रायः शीतपूर्वक ज्वर, उत्क्लेश, श्वासावरोध या श्वासकृच्छ्रता का अनुभव, उदर्द या शीतपित्त के सदृश त्वचा पर व्यापक रूप से विस्फोटों की उत्पत्ति और निपात (Collapse) के लक्षण इस श्रेणी की प्रतिक्रिया में उत्पन्न होते हैं। ऐसी अवस्था में रक्त पूरण तुरन्त रोककर एड्रेनैलीन (१ : १०००) का $\frac{१}{२}$ सी० सी० की मात्रा में पेशी मार्ग से सूचीवेध देना चाहिए।

३. शोणांशिक (Heamolytic) प्रतिक्रियाएँ—रक्त की सम्पूर्ण सात्म्यता न होने पर इस श्रेणी की व्यापत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। इनका प्रारम्भ रक्त की २५-५० सी० सी० मात्रा प्रविष्ट होने पर हो जाता है। रोगी के कटि प्रदेश, वक्ष एवं शिर में वेदना उत्पन्न होकर तीव्र स्वरूप का कम्प, परिसरीय निपात (Peripheral callapse) एवं श्वासकृच्छ्र के लक्षण उत्पन्न होते हैं। प्रारम्भिक लक्षण उत्पन्न होते ही रक्त का प्रवेश तुरन्त रोक देना चाहिए। उतरकालीन लक्षणों में कामला, शोणित मेह (Heamoglobinurea), मूत्राल्पता (Oligurea) तथा अन्त में मूत्राघात (Anurea) का लक्षण उत्पन्न होता है।

शोणांशन का अनुमान होने पर रक्त पूरण बन्द करके २% सोडा बायकार्ब के विसंक्रमित घोल को २० से ५० सी० सी की० मात्रा में सिरा मार्ग से प्रविष्ट कराने से मूत्र में क्षारीयता उत्पन्न होती है, जिससे मूत्राघात का गंभीर उपद्रव रोका जा सकता है। मुख द्वारा सोडा सायट्रेट, सोडा बायकार्ब तथा कैल्सियम लैक्टेट को २०-२० ग्रेन की मात्रा में दिन में ३-४ बार देना चाहिए। कच्चे नारियल (डाभ) का पानी, छेने का पानी एवं पर्पटार्क तथा पुनर्नवार्क को पर्याप्त मात्रा में पिलाना चाहिए।

र्हेसस फैक्टर (Rhesus factor) :—

र्हेसस जाति के बन्दरों में शतप्रतिशत इस प्रतिक्रिया के मिलने से इसका नामकरण किया गया है। मनुष्यों में भी पर्याप्त संख्या (८५%) में R. H. factor उपस्थित मिलता है। दाता के रक्त में र्हेसस प्रतिक्रिया अस्त्यात्मक (Positive) होने पर तथा ग्रहीता में नास्त्यात्मक (Negative) होने पर रक्त पूरण के बाद

शरीर में प्रतिक्रिया उत्पन्न हो सकती है। र्‌हेसस प्रति विष (Antitoxin) शोणांशिक प्रतिक्रिया उत्पन्न कर सकते हैं।

इसके प्रतिबंधनार्थ रक्त पूरण के पूर्व आर० एच० फैक्टर की उभयत्र सत्ता का ज्ञान कर लेना आवश्यक है।

रक्त रस या लसीका का पूरण (Plasma or Serum transfusion)—कुछ व्याधियों में रक्तरस का अधिक क्षय होता है, रक्त का उतना क्षय नहीं होता। अग्नि दग्ध, पेम्फिगस (Pemphigus) आदि त्वचा के विस्फोट प्रधान विकार, जिनसे रक्तरस का अधिक क्षय होता है, सहसा उत्पन्न अवसाद (Shock) तथा ५०% शोणवर्तुलि वाली रक्तस्रावी व्याधियों तथा रक्त के अभाव में रक्त पूरण योग्य व्याधियों में इसका प्रयोग किया जाता है। यह शुष्कचूर्ण एवं तरल दोनों रूपों में सुरक्षित मिलता है। इसमें दाता तथा ग्रहीता के रक्त के सन्तुलन या सात्म्यता आदि के परिज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। तरल रक्तरस ४° से० ग्रे० ताप में ३ मास तक सुरक्षित रहता है तथा शुष्क चूर्ण रूप में उपलब्ध रक्तरस सामान्य ताप-३७° से० ग्रे० पर २ वर्ष या उससे अधिक भी सुरक्षित रह सकता है। इसका प्रयोग भी सिरा मार्ग से पूर्व लिखित विधि से करना चाहिए। प्रायः इसके प्रयोग से कोई व्यापत्ति नहीं होती। अनूर्जतामूलक प्रकृति वाले व्यक्तियों में अनूर्जता विरोधी ओषधियों के पूर्व प्रयोग के साथ इसका पूरण करना चाहिए।

फुफ्फुसावरण गुहा से तरल निकालने की विधि (Thoracentasis)

फुफ्फुसावरण शोथ में कभी-कभी जलीयांश का निःस्यन्द होकर सद्रव फुफ्फुसावरण शोथ की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। फुफ्फुसावरण गुहा में तरल का अधिक दवाव पड़ने पर हृदय दूसरे पार्श्व में स्थानान्तरित हो जाता है। रोगी को श्वासकृच्छ्र तथा लेटने में कष्ट का अनुभव होता है। कभी-कभी जलीयांश द्वितीय पर्शुकान्तराल तक पहुँच कर तीव्र श्वासकृच्छ्र के लक्षण उत्पन्न कर देता है। इन अवस्थाओं में तरल को निकालना आवश्यक हो जाता है। निकालने के पूर्व स्पर्शन, ताड़न एवं श्रवण के द्वारा तरल की मर्यादा का ज्ञान करके सीमा रेखा खींच देनी चाहिए। स्पर्श में वाचक लहरियों (V. F.) का अभाव, ताडन में तरल की मर्यादा तक मन्द ध्वनि एवं उसके ऊपर सामान्य वक्षीय ध्वनि, श्रवण में श्वसन ध्वनि, वाचक ध्वनि (V. R.) का अभाव एवं संभव होने पर एक्सरे परीक्षा द्वारा तरल की सीमा की पुष्टि कर लेनी चाहिए।

आवश्यक उपकरण—५ सी० सी० की लुअरलॉक पिचकारी, १०-१२ नम्बर की चौड़े मुख तथा छोटे अग्रवाली २॥ इञ्च लम्बी सूची २, ५० सी० सी० की २ पिचकारियाँ, २ प्रतिशत का ५ सी० सी० प्रोकेन का घोल, साफ किया हुआ काँच या पोर्सलीन का पात्र, स्प्रिट, टिं. बेंजोइन आदि।

विधि—रोगी को शय्या के सहारे थोड़ा पीछे की ओर झुकाकर, सद्रव पार्श्व का हाथ उठाकर ग्रीवा के पीछे करके बैठाना चाहिए। इस आसन से पर्शुकान्तराल अधिक स्पष्ट हो जाते हैं। पूर्व कक्षीय रेखा (Ant. axillary line) में पंचम पर्शुकान्तराल, मध्य कक्षीय रेखा (Mid. axillary line) में षष्ठ पर्शुकान्तराल तथा पश्चिम-कक्षीय रेखा (Post. axillary line) में सप्तम पर्शुकान्तराल और अंसफलकीय रेखा (Scapular line) में ठीक अंसफलक कोण के नीचे तरल निर्हरणार्थ सूचीवेध किया जाता है। सामान्यतया पश्चिम कक्षीय रेखा में सातवें या आठवें पर्शुकान्तराल में वेधना अधिक उपयुक्त होता है। वेधस्थान का चुनाव करते समय तरल की मर्यादा तथा निर्हरण मात्रा आदि का विचार करके निर्णय किया जाता है। वेध्यस्थल को स्प्रिट से भली प्रकार साफ करके टिं० आयोडीन का प्रलेप लगा देना चाहिए। अब ५ सी० सी० की पिचकारी में प्रोकेन का घोल भर कर पर्शुका के ऊपरी प्रान्त से त्वचा के भीतर सूची को प्रविष्ट कर थोड़ी मात्रा में प्रोकेन का प्रवेश कराना चाहिए। १५-२० सेकण्ड में त्वचा के शून्य हो जाने पर धीरे-धीरे कक्ष के समकोण में सूची का प्रवेश कराना चाहिए। भीतर प्रवेश कराते समय बीच-बीच में प्रोकेन का घोल पिस्टन दबाकर प्रविष्ट कराना तथा साथ ही पिस्टन खींचकर रक्त की उपस्थिति से सिरावेध का परिज्ञान एवं बचाव करना आवश्यक होता है। लगभग १ इंच सूची के प्रविष्ट हो जाने से फुफ्फुसावरण का बाह्यस्तर (Parietal layer)—जो कक्ष की भीतरी सतह से सम्पृक्त रहता है—आता है। यह स्तर बड़ा संवेदनशील होता है। सूची का इससे स्पर्श होते ही रोगी को तीव्र कास एवं वेदना का कष्ट होता है। अब सूची को थोड़ा बाहर खींच कर प्रोकेन का घोल पिस्टन दबाकर निकालना चाहिए जिससे इस आवरण में शून्यता उत्पन्न हो जाय। कुछ सेकण्ड बाद सूची का पुनः भीतर प्रवेश कराना चाहिए। फुफ्फुसावरणी गुहा में सूची के प्रविष्ट होने पर मार्ग का अवरोध अकस्मात् समाप्त सा हो जाता है। अब पिस्टन को बाहर खींचने से पिचकारी में तरल आने लगेगा। तरल को नैदानिक परीक्षा के लिए साफ की हुई शीशी में सुरक्षित रखा जा सकता है। अब ५० सी० सी० की पिचकारी में सुई लगाकर धीरे-धीरे तरल निकालते जाना चाहिए। साधारण सूची से फुफ्फुसावरण गुहा तक पहुँचना सम्भव होने पर २॥" लम्बी सुई को पिचकारी में लगाकर प्रविष्ट कराना चाहिए। कभी-कभी तरल में प्रोभूजिनों का अंश अधिक रहने के कारण १-२ बार निकालने के बाद पिचकारी अवरुद्ध सी चलती है। इस अवस्था में उबाले हुए लवण जल से पिचकारी को बीच-बीच में शुद्ध कर लेना पड़ता है।

आवश्यक मात्रा में तरल के निकालने के बाद सूची को निकालकर अँगूठे से उस स्थान को दबाते हुए टिं० बेन्जोइन या कोलोडियोन का फाया लगाकर रोगी को विश्राम कराना चाहिए। आवश्यक होने पर सूची निकालने के पूर्व किसी औषध के घोल का भी स्थानीय प्रयोग कराया जा सकता है।

त्रिमार्गीय शिखिपिधा (Three way stopcock) लुअरलॉक पिचकारी में संलग्न करके सूचिका लगाकर तरल निकालने में बहुत सुविधा होती है। फुफ्फुसावरण गुहा से पिचकारी में आया हुआ तरल त्रिमार्गीय शिखिपिधा का पार्श्व मार्ग खोल देने से पिष्टन दबाने पर पोर्सलीन पात्र में संचित होता रहता है। इस यन्त्र की सहायता से द्रव निर्हरण में बहुत सुविधा होती है तथा आवश्यकतानुसार औषध के घोल या समलवण घोल को इसी मार्ग से साथ में प्रवेश कराकर फुफ्फुसावरण गुहा का भली प्रकार शोधन भी किया जा सकता है।

तरल निकालने के लिए पोटेन्स प्रचूषक (Potain's aspirator) नामक यन्त्र भी होता है। किन्तु पिचकारी से पूय निर्हरण में सुविधा होने के कारण सामान्य तरल निकालने के लिए इसका प्रयोग नहीं किया जाता।

सावधानी—

१. इस कार्य में प्रयुक्त सभी यंत्र पूर्ण रूप से विसंक्रमित होने चाहिए, अन्यथा दूसरी व्याधियाँ उत्पन्न हो सकती हैं।

२. पर्शुका के नीचे रक्तवाहिनियाँ तथा वातनाडियाँ होती हैं। सूचीवेध से उनको हानि न पहुँचे, इसका ध्यान रखना चाहिए।

३. सूचीवेध में कभी-कभी सूची को वेग से प्रविष्ट कराते समय सूची का फुफ्फुस में प्रवेश हो जाता है। ऐसी अवस्था में पिचकारी का पिस्टन खींचने पर वायु मिश्रित रक्त आता है। इस अवस्था में रक्त पुनः उसी स्थान में प्रविष्ट कर सूची को थोड़ा बाहर की तरफ खींचकर तरल को प्रचूषित कर देखना चाहिए।

४. अधिक मात्रा में तरल का निर्हरण आवश्यक होने पर १०० सी० सी० तरल निकालने के बाद ५० सी० सी० वायु का प्रवेश करना चाहिए अन्यथा फुफ्फुसावरण का दबाव आकस्मिक रूप में एकदम से कम हो जाने से रोगी को कष्ट होता है। सारा तरल एक बार में न निकालकर ३–४ बार में निकालना चाहिए।

५. पुनः तरल निर्हरण के लिए पूर्व वेधस्थान से कुछ दूर नवीन पर्शुकान्तराल में सूचीवेध करना चाहिए।

पूय निर्हरण (Aspiration of pus)—

पूयोरस का उपद्रव प्रायः फुफ्फुस पाक (Pneumonia) के बाद होता है। पूय कभी स्वतन्त्र तथा कभी-कभी कुल्याओं (Saculas) में बंद रहता है। इसमें सारी प्रक्रिया पूर्व निर्दिष्ट क्रम से की जाती है। कभी-कभी पूय को खोजने में परेशानी होती है। एक स्थान में पूय न मिलने पर दूसरे स्थान में सूचीवेध कर खोजना पड़ता है। सामान्यतया मध्य अंसफलकीय रेखा (Mid. scapular line) के सातवें या आठवें पर्शुकान्तराल में सूचीवेध किया जाता है। सूची अपेक्षाकृत मोटी तथा दो

मार्गवाली उपयुक्त होती है। ऊपर निर्दिष्ट त्रिमार्गीय शिखिपिधा से भी पर्याप्त सुविधा होती है। बीच-बीच में शरीर ताप के समान समलवण जल का प्रयोग पूय के द्रावण एवं शोधन के लिए आवश्यक होता है। पूय के अधिक घन होने पर लवण जल से द्रवित कर पोटेन्स प्रचूषकों का उपयोग करके निकालना पड़ सकता है। पूय निर्हरण के बाद १० लाख यूनिट पेनिसिलिन को २० सी० सी० समलवण जल में घोलकर प्रविष्ट कराते हैं और पूय के या रक्त के थक्के (Clots) भीतर होने पर स्ट्रेप्टोकॉयनेज (Streptokienese) का घोल उनके द्रावणार्थ प्रविष्ट करके २ दिन बाद पुनः पूय निकाला जाता है।

उदर से तरल का निर्हरण (Paracintesis abdomenes)

यकृद्दाल्युदर, क्षयज उदरावरण शोथ एवं सर्वांगशोथ आदि व्याधियों में उदरावरण में जल का संचय होता है। सामान्य मात्रा में संचय होने पर निर्हरण की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। किन्तु जलोदर के दबाव से श्वासकृच्छ्र, हृदय प्रदेश में बेचैनी, उदर में अत्यधिक तनाव, फुफ्फुस के आधार का निपात (Collapse of the base of lungs), मूत्राल्पता, रक्त वमन की पुनः पुनः प्रवृत्ति आदि उपद्रव होने पर उदर गुहा से तरल निकालना चाहिए।

उपकरण—२ सी० सी० की पिचकारी, उदर बंध, व्रीहिमुख यन्त्र, वेधस पत्र (Scalpel), रबर की नली तथा पोर्सलीन का बड़ा पात्र या बाल्टी।

विधि—रोगी को शय्या के किनारे पैर लटका कर तथा पीछे से पर्याप्त तकिया का सहारा देकर कुछ आगे को झुके हुए बैठाना चाहिए। इस आसन से बैठने पर तरल नीचे आ जाता है। शल्यकर्म के पूर्व रोगी को मूत्रत्याग करने को कहना चाहिए, जिससे मूत्राशय रिक्त होकर नीचे श्रोणिगुहा में चला जाय। अब उपकरणों को पूर्ण रूप से विसंक्रमित करके रोगी की नाभि तथा भग संधानिका (Symphesis pubes) के बीच के बिन्दु के ऊपरी तरफ मध्यवर्ती रेखा से कुछ पार्श्व की तरफ की त्वचा को स्प्रिट से पोंछकर टिं० आयोडीन का प्रलेप करके पिचकारी में २% नोवोकेन का घोल भर सूची द्वारा त्वचा में प्रविष्ट करना चाहिए। नोवोकेन त्वचा में प्रविष्ट होने पर त्वचा सफेद हो जाती है। अब दाहिने हाथ से व्रीहिमुख यन्त्र (Trocar & cannula) को पकड़ कर शून्य त्वचा से उदरावरण में प्रविष्ट कराना चाहिए। कुछ चिकित्सक शून्य त्वचा में वेधसपत्र से बहुत छोटा सा छेद करते हैं, जिससे व्रीहिमुख यन्त्र के प्रवेश में बल नहीं लगाना पड़ता और झटके के साथ औदरीय अंगों के आक्रान्त होने का भय नहीं रहता। व्रीहिमुख के उदरावरण में प्रविष्ट हो जाने के बाद केवल नलिका (Cannula) भीतर रहने देते हैं तथा ट्रोकार बाहर निकाल देते हैं। नलिका के बाहरी सिरे से रबर की नली सम्बद्ध रहती है जिसका दूसरा सिरा नीचे के पात्र में पड़ा रहता है। रोगी की नाभि के ऊपर उदर बंध (Abdominal

bandage) लपेटे रखते हैं, जिससे तरल के निकलते ही वायु का प्रवेश न हो जाय या उदरावरण में तनाव कम होने से रक्त का स्थानीय संचार न बढ़ जाय। उत्तरोत्तर इस बंध को कसते जाते हैं। एक बार में पूरी मात्रा में तरल न निकालना चाहिए। यदि रोगी को बेचैनी, चक्कर या मूर्च्छा का आभास हो तो तरल निर्हरण रोक देना चाहिए या नलिका को निकाल लेना चाहिए।

उचित मात्रा में तरल के निकल जाने के बाद नलिका को निकाल कर टिं० वेंजोइन या कोलोडियान का फाया अथवा वेधसपत्र से त्वचा का विदारण होने पर रेशम के तागे से १-२ टाँके लगाकर पुनः टिं० वेंजोइन से सील कर देना चाहिए। इसके बाद रोगी को उत्तेजक औषध देकर पूर्ण विश्राम कराना चाहिए।

सावधानी—

१. उदर से तरल निकालना जलोदर की चिकित्सा नहीं है। जलीयांश के अत्यधिक होने या दूसरे उपद्रव रहने पर ही इस क्रिया को करना चाहिए। इस तरल में शरीर के पोषक तत्त्व रहते हैं। एक बार निकालने पर तरलांश के शीघ्र संचित होने के कारण पुनः पुनः निकालने की आवश्यकता पड़ सकती है। प्रत्येक बार इन पोषक तत्त्वों के निकल जाने से दुर्बलता उत्पन्न होती है।

२. जल निर्हरण के पूर्व मूत्र त्याग कराना तथा निर्हरण काल में उदर बंध बाँधना आवश्यक है।

३. सभी उपकरणों की भली प्रकार शुद्धि कर लेना अनिवार्य रूप से आवश्यक है।

४. सारे तरल को एक साथ न निकालना चाहिए।

कटिवेध (Lumber puncture)

अनेक व्याधियों में मस्तिष्क सुषुम्ना द्रव के बढ़ जाने पर उसका शोधन करने के लिए तथा क्वचित् निदान के लिए कटिवेध की अपेक्षा होती है। निम्नलिखित अवस्थाओं में मुख्यतया कटिवेध किया जाता है—

१. शीर्षण्य निपीड (Intracranial pressure) अधिक होने पर उत्पन्न शिरःशूल, प्रावेगिक वमन तथा ग्रीवा स्तब्धता आदि लक्षणों के शमन के लिए।

२. मस्तिष्कावरण शोथ (Meningitis), नाडी फिरंग (Neurosyphillis) तथा अन्य मस्तिष्क विकारों में रोग विनिश्चय के लिए।

३. कुछ व्याधियों में सक्षम लसीका (Serum) या पेनिसिलीन आदि प्रतिजीवकवर्ग की ओषधियाँ इस मार्ग से चिकित्सार्थ प्रयुक्त होती हैं।

४. कटि के नीचे के अवयवों के शल्य कर्म में स्थानीय संज्ञाहरण के लिए इस मार्ग संज्ञानाशक ओषधियों का प्रयोग किया जाता है।

५. सुषुम्ना के अर्बुदों के निर्णयार्थ कटिवेधन के बाद इस मार्ग से विशिष्ट अपारदर्शी स्वरूप के विलयनों का प्रवेश कराकर किरण परीक्षा की जाती है।

उपकरण—कटिवेध सूची, साधारण सूची २ इञ्च लम्बी, कटिवेध सूची में सम्बद्ध होने योग्य ५ सी० सी० की पिचकारी, २% प्रोकेन का ५ सी० सी० घोल तथा यदि मस्तिष्क सुषुम्ना द्रव निपीड को मापना हो तो गाइ का सौषुम्निक चाप मापी (Guy's spinal barometer) एवं टिं० बेंजोइन आदि ।

विधि—कटिवेधन क्रिया की सफलता रोगी की स्थिति पर निर्भर करती है। रोगी के लेटे या बैठे हुए दोनों स्थितियों में कटिवेध किया जाता है। सामान्यतया जब तक रोगी असमर्थ न हो, बिठाकर ही वेधन क्रिया सुकर होती है। बैठे हुए कटिवेधन की क्रिया के समय रोगी को शय्या या मेज के किनारे की तरफ नीचे पैर लटका कर सामने पेट की ओर २-३ तकिया देकर रोगी से आगे की ओर अधिक से अधिक मुड़ने को कहा जाता है। सहायक व्यक्ति रोगी के सामने खड़ा होकर उसके कंधों को आगे दबाकर झुकने में सहायता करता है तथा रोगी आगे झुकने की क्रिया में गिरने न पावे इसका भी ध्यान रखता है। इस क्रिया के द्वारा पृष्ठ वंश पीछे की ओर उभड़ जाता है, जिससे कशेरुकान्तरीय स्थान पीछे की ओर अधिक चौड़ा हो जाता है। इस प्रक्रिया से कटिवेधन में बहुत सुविधा होती है।

कदाचित् रोगी के लेटे रहने पर यह क्रिया करनी हो तो रोगी को करवट में लिटाकर घुटने तथा ग्रीवा को पेट की ओर मोड़ना होता है। कठोर शय्या या बिना गद्दे के तखत पर लिटाने से पृष्ठ वंश सीधी रेखा में रहेगा अतः पार्श्व में कुछ झुकने से कटिवेधन में बाधा पडेगी। घुटनें तथा सिर उदर की ओर जितना मोड़ा जा सके, मोड़कर रखना चाहिए; जिससे पृष्ठवंश की पीछे की ओर की वक्रता अधिक उभाड़दार हो जाय।

कटिवेध तीसरी एवं चौथी कटिकशेरुका के बीच अथवा चौथी एवं पाँचवीं कटि-कशेरुका के बीच किया जाता है। पीठ की ओर के दोनों श्रोणिफलक की शिखाओं (Iliac crest) के सर्वोच्च स्थानों को एक सीधी रेखा से मिलाया जाय तो वह रेखा चतुर्थ कटिकशेरुक कण्टक (Spinous process) के ऊपर से जायगी। इसके ऊपर या नीचे का कशेरुकान्तराल वेधन के लिए उपयुक्त होता है। तीसरे अन्तःस्थान में वेधन के लिए कशेरुक कंटक तथा चौथे अन्तःस्थान में वेधन के लिये चौथा कशेरुक कण्टक बाएँ हाथ के अँगूठे से दवाकर, उसके नीचे मध्यरेखा से थोड़ा हटकर पार्श्व में वेधन किया जाता है।

अब बाएँ अंगूठे से कण्टक के ऊपर की त्वचा को कुछ ऊपर की ओर खींच कर, पिचकारी में प्रोकेन का घोल भरकर, इस स्थान की त्वचा में सूचीवेध करके, थोड़ा सा घोल प्रविष्ट किया जाता है और बाद में सूची को सीधा भीतर प्रविष्ट करते हुए प्रोकेन का घोल प्रविष्ट करते जाते हैं। बायें हाथ का अंगूठा अब भी पूर्व स्थान पर ही दृढ़ रहता है तथा अंगूठे की नख त्वचा के समकोण

पर स्थिर रहकर कटिवेधन-सूचिका का मार्गदर्शन करता है। दाहिने हाथ में दृढ़तापूर्वक कटिवेधन सूचिका को पकड़ कर चर्म में सीधा प्रविष्ट किया जाता है और अब बाएं अंगूठे को हटाकर दोनों अंगूठों से सूची पकड़ कर थोड़ा ऊपर एवं आगे की ओर कण्टक की दिशा में निरन्तर समान दबाव के साथ सूची प्रवेश किया जाता है। सूचिका के मार्ग में पहले पीत स्नायु (Ligamenta flora), प्रायः त्वचा से ४-५ से० मी० पर होता है, जो एक कठोर रचना होती है। उसके वेधन के बाद सूची के आगे अकस्मात् दबाव या अवरोध के न रहने का अनुभव चिकित्सक को होता है। अब प्रायः ५ से० मी० आगे बढ़ने पर सुषुम्ना का बाह्यावरण (Dura mater) आता है। यहाँ पुनः अवरोध प्रतीत होता है, इसमें सूची को दबाने पर पुनः अवरोध शान्त हो जाता है तथा सूची सुषुम्ना नलिका (Spinal canal) में प्रविष्ट हो जाती है। त्वचा से प्रायः २-३ इञ्च भीतर धँसने पर सुषुम्ना नलिका मिलती है। अब सूची से स्टिलेट निकालने पर तरल आने लगता है। इस तरल की परीक्षा अभीष्ट होने पर शुद्ध किए हुए काँच के ट्यूब या शीशी में इसको संगृहीत करते हैं तथा सुषुम्ना द्रव का चाप या दबाव जानने के लिए चाप मापी (Barometer) को सूची के बगल वाले छिद्र में लगाते हैं। इसकी काँच नलिका में चाप मर्यादा अंकित होती है, सूचिका में होकर खड़ी हुई इस नली में जिस अंक तक तरल जाता है, उतना ही सुषुम्ना द्रव का चाप होता है। स्वाभाविक चाप १००°-२००° मि. मी. तक होता है। आवश्यक मात्रा में तरल के निकल जाने के बाद वेग से सूची को बाहर निकाल कर टिं० बेंजोइन या कोलोडियोन से अवरुद्ध करके रोगी को शिथिल आसन में विश्राम करने देना चाहिए। कभी-कभी तरल निर्हरण के बाद रोगी को शिरःशूल होता है, जिसकी शान्ति के लिए सिर को नीचा कर तथा शय्या के पायताने के नीचे १-२ ईंटा रख कर ऊचा कर देना चाहिए।

सावधानी—

१. कई बार कटिवेध हो जाने पर स्टिलेट निकालने पर भी तरल नहीं निकलता। इसके तीन कारण होते हैं—१. सूची का सुषुम्ना प्रणाली में न पहुँचना, २. उसके आगे निकल जाना या ३. सूची के छिद्र का किसी नाडीतन्तु से अवरुद्ध हो जाना। स्टिलेट लगा कर सूची को २-३ बार पूरा घुमाने पर भी स्टिलेट निकालने पर तरल के न निकलने पर सूची को थोड़ा घुमा कर पीछे को खींच कर देखना चाहिए। अब भी तरल के न निकलने पर सूची को कुछ आगे प्रविष्ट कर घुमाना चाहिए। बीच-बीच में स्टिलेट डाल कर सूची को साफ करते रहना चाहिए। यदि इन क्रियाओं के बाद भी तरल न निकले तो सूची को त्वचा तक बाहर खींच कर उसकी दिशा थोड़ा ऊपर की ओर बदल कर पुनः प्रविष्ट करना चाहिए। दूसरी बार भी सफलता न मिलने पर दूसरे कशेरुकान्तः स्थान पर प्रयत्न करना चाहिए।

२. पृष्ठवंश के संधिवात (Osteo-arthritis) से पीड़ित व्यक्तियों में कशेरुकान्तराल के सीमित हो जाने तथा स्नायुओं के कड़े हो जाने के कारण वेधन आसानी से नहीं होता।

३. सूची प्रविष्ट होने के बाद बीच में अस्थि में अटकने का कारण पृष्ठवंश का पीछे की तरफ कम उभाड़ होता है। ऐसी अवस्था में रोगी को और आगे की ओर मोड़ना चाहिए।

४. सूची से कभी-कभी रक्त आता है। सुषुम्ना प्रणाली के बाहर स्थित रक्तवाहिनियों के वेध के कारण तथा क्वचित् सूचिका के अधिक प्रविष्ट हो जाने पर सुषुम्ना प्रणाली के पूर्व पृष्ठ पर स्थित रक्तवाहिनियों के वेध के कारण रक्त आता है। क्रम से सूची को कुछ खींच कर पुनः प्रविष्ट करना या केवल कुछ पीछे खींच कर पुनः रक्त स्राव की परीक्षा करनी चाहिए। कभी-कभी मस्तिष्क के आघात से या मस्तिष्कगत रक्तस्राव से भी रक्त सुषुम्ना द्रव के साथ आता है, जिससे तरल रक्त मिश्रित रहता है। इस अवस्था का भी ध्यान रखना पड़ता है।

५. कटि वेध के द्वारा सुषुम्ना मार्ग से किसी औषध का प्रवेश करना आवश्यक होने पर, प्रयोज्य द्रव की मात्रा से निकाले हुए सुषुम्ना द्रव की मात्रा १० सी. सी. अधिक होनी चाहिए।

६. पिचकारी से बलपूर्वक सुषुम्ना जल का प्रचूषण न करना चाहिए। स्वाभाविक वेग से जितना निकले, निकलने देना चाहिए।

७. तनाव अधिक होने पर भी एक बार में द्रव अधिक मात्रा में न निकालना चाहिए।

८. कटिवेध के पश्चात उत्पन्न शिरःशूल की शान्ति के लिए सिरहाना नीचे करने के अलावा मुख द्वारा तरल का अधिक प्रयोग करना तथा ½ सी. सी. पिट्यूट्रिन (Pitutrin) का अधस्त्वक् मार्ग से सूचीवेध करना चाहिए।

रक्तावसेचन—

शरीर के स्वास्थ्य के लिए रक्त की महत्ता सभी शास्त्रकारों ने स्वीकार की है। आचार्य सुश्रुत ने रक्त के महत्त्व को प्रतिपादित करने के लिए उसको स्वतंत्र दोष तक स्वीकार किया है। रक्त की दुष्टि का अनेक व्याधियों में साक्षात् कारण होता है। इसलिए दूषित रक्त को निकाल देने की प्रथा बहुत प्राचीन काल से व्यवहार में रही है। अब भी अनेक रोगों में रक्त-निर्हरण कराया जाता है। इसकी प्राचीन विधियाँ सिद्धान्त रूप में आज भी स्वीकृत हैं, शस्त्र कर्म के साधनों एवं उपकरणों का विकास होने के कारण परिष्कार अवश्य हो गया है।

रक्तावसेचन-साधनों के भेद—

क. अशस्त्र या शस्त्र विरहित रक्तावसेचन—

१. शृङ्ग प्रयोग (सिंगी लगाना) २. अलाबू या तुम्बी लगाना ३. घटी प्रयोग	आधुनिक कालमें प्रचलित कपिंग ग्लास (Cupping glass) एवं प्रचूषक (Suction pump) के समकक्ष

४. जलौका प्रयोग या जोंक लगाना

ख. शस्त्र साध्य रक्तावसेचन—

१. प्रच्छान
२. सिरावेध—अ-सूची द्वारा (बंद विधि)।
ब-शल्यक्रिया द्वारा (खुली विधि)।

शृंग-अलाबू तथा घटी—

शृङ्ग कर्म में गाय या हरिण का सींग तथा अलाबू में पकी हुई लम्बी लौकी को सुखा कर भीतर का गूदा साफ करके तुम्बी सदृश बना कर प्रयुक्त किया जाता था। घटी कर्म में मिट्टी के घड़े का प्रयोग किया जाता था। इसके भी २ उपयोग होते हैं। रक्तावसेचन और रक्त संचय। रक्तावसेचन करने के लिए स्थान विशेष पर तीक्ष्ण तथा पतली धार वाले शस्त्र से प्रच्छान कर लेना आवश्यक होता है। उसके बाद शृङ्ग या अलाबू के प्रयोग से रक्तावसेचन अल्प मात्रा में हो जाता है। बिना प्रच्छान किए अलाबू तथा घटी का प्रयोग नहीं होता। विशिष्ट स्थान पर रक्त का प्रवाह बढ़ाना—रक्त संचय करना—यही इनका परिणाम होता है। सिंगी प्रयोग में मुख से शृङ्ग की वायु खींचने से प्रच्छान स्थलों से रक्त निर्हरण होता है। आजकल कपिंग की बहुत सुविधा-जनक विधियाँ प्रचलित हैं, इसीलिए यहाँ पर शृङ्ग-अलाबू आदि का केवल उल्लेख किया गया है।

घटी प्रयोग या 'लोटा लगाना' की प्राचीन विधि—मांसल स्थलों पर इसका प्रयोग किया जाता है। मिट्टी के छोटे घड़े को घिस कर उसका मुख चिकना कर लिया जाता है। उसके बाद आटा सान कर उसका दीपक सा बना कर, एरण्ड तैल में सिक्त रुई की मोटी बत्ती रख कर, जला देते हैं। इस दीपक को पेट-पृष्ठ आदि अभीष्ट अंग पर रख कर ऊपर से घड़े को १-२ अंगुल ऊंचे रखते हुए दीपक को मध्य में आवृत्त करते हैं। घड़े के गरम हो जाने पर उसके भीतर की वायु विरल होकर बाहर निकल जाती है। गरम हो जाने पर उसको अभीष्ट अंग पर दबा देते हैं। प्राण वायु की न्यूनता के कारण दीपक अपने आप शान्त हो जाता है। घड़े के ठण्ढा होने पर उसके भीतर की वायु भी ठंढी हो कर केन्द्रित होने लगती है, जिससे भीतर वायु की कमी होने लगती है और शरीर की त्वचा मांस-मेदादि के साथ घड़े के भीतर खिंच जाती है। इसी

ऋणात्मक आकर्षण के कारण उस स्थान के निकट रक्ताभिसरण बहुत बढ़ जाता है। १०-१५ मिनट में घड़ा स्वतः छूट जाता है या एक कोने से स्निग्ध अंगुली से त्वचा को दबाने से भीतर वायु के प्रविष्ट हो जाने पर छूट जाता है।

आधुनिक विधि—तुम्बी कार्य के लिए विशिष्ट काँच के पात्र आते हैं। उनके अभाव में मोटे-गोल किनारे वाला साधारण छोटा ग्लास या दूसरा कोई पात्र ले सकते हैं। पात्र का आकार प्रयोज्य अवयव के अनुपात में छोटा-बड़ा होना चाहिए। ग्लास के किनारों पर एरण्ड तैल या वैसलीन लगा देना चाहिए। रेक्टिफाइड या मेथिलेटेड स्प्रिट (Sprit rectified or meth) को काँच के भीतर रूई के फाये से लगाकर दियासलाई से प्रज्वलित कर देना चाहिए। स्प्रिट बहुत साधारण मात्रा में लगनी चाहिए, अन्यथा रोगी के अंग पर टपककर छाले उत्पन्न हो सकते हैं। आग लगाने के तुरन्त बाद (तीव्रता कम हो जावे पर) ग्लास को प्रयोज्य अंग पर सावधानी से दबा देना चाहिए। लगाते ही ज्वाला शान्त होकर ग्लास में आंशिक शून्यता होने के कारण त्वचादि मृदु अवयव ग्लास के भीतर खिंच जावेंगे, तथा उस स्थान पर रक्त संचार अधिक होने लगेगा। ग्लास को उत्तप्त करने के लिए स्प्रिट भीतर म लगाकर, पतला रुई का फाया या सोख्ते का टुकड़ा स्प्रिट में भिगोकर ग्लास में रखकर जला देना चाहिए। ज्वाला शान्त होने या ग्लास के पर्याप्त गरम हो जाने पर (इतना नहीं की त्वचा जल जाय) उस टुकड़े को फेंककर ग्लास उलटकर लगाया जा सकता है। १०-१५ मिनट बाद एक सिरे से त्वचा को दबाकर पात्र निकाल देना चाहिए। यदि बाद में उस स्थान पर जलन हो तो शतधौत घृत या मक्खन लगाना अथवा अग्नि दग्ध के समान उपचार करना चाहिए।

उपयोगिता—दाह, शूल, दूषित रक्त, शोफ की प्रारम्भिक अवस्था, दूषित रक्त जनित विकार, स्त्रियों के आर्त्तव सम्बन्धी विकार—कष्टार्त्तव, आर्त्तव क्षय तथा नष्टार्त्तव आदि—स्थानस्थ वातिक विकार एवं पाद कंटक आदि व्याधियों में तुम्बी प्रयोग से लाभ होता है।

यदि रक्तावसेचन करना उद्देश्य हो तो उपर्युक्त विधि ही प्रयुक्त होती है। विकृत स्थान को गरम पानी से भली प्रकार साफ करके स्प्रिट या टिं० मरथियोलेट (Tin. merthiolate) आदि से विसंक्रमित करके त्वचा पर खूब महीन पतले-पतले चीरे लगाकर प्रच्छान कर देना चाहिए। तुम्बी लगाने पर पात्र के भीतर दूषित रक्त संचित हो जायगा। बाद में त्वचा की सफाई करके जीवाणु नाशक औषध का मलहम लगाकर विसंक्रमित गाज (Sterlised gauz) रखकर पट्टी बाँध देनी चाहिए।

इस विधि से स्थानबद्ध या पिण्डित रक्त का शोधन हो जाता है। प्रचूषक यंत्र (Suction pump) बने बनाए मिलते हैं। काँच के ग्लास के नीचेवाले भाग

के कोने में एक छिद्र रहता है, जिससे काँच या धातु की नली लगी रहती है। इसी नली से मजबूत प्रचूषण सामर्थ्य वाली पिचकारी लगी रहती है। संधियों से वायु का प्रवेश रोकने के लिए पर्याप्त व्यवस्था रहती है। ग्लास को विकृत स्थान पर लगाकर पिचकारी से ग्लास के भीतर की वायु खींचने से ग्लास में वायु-रिक्तता हो जाती है तथा प्रयुक्त अंग को कोमल धातु पात्र में खिंच जाती हैं। आवश्यक काल पर्यन्त इसी अवस्था में रखने के बाद प्रचूषक को शिथिल कर देने से वायु भर जाने पर पात्र छूट जाता है। शरीर के छोटे-बड़े सभी स्थलों पर इस यंत्र की सहायता से तुम्बी कर्म हो सकता है—यही विशेषता है। उदर आदि बड़े स्थानों के लिए तप्त पात्रवाला क्रम समान रूप से उपयोगी है।

जलौका विधि (Leeching)—जलौका प्रयोग से रक्त मोक्षण की विधि बहुत पुरानी है। बिना किसी कष्ट के, आवश्यक मात्रा में रक्तावसेचन शरीर के किसी अंग से कराया जा सकता है। यदि रोगी मानसिक भय से त्रस्त न हो, तो उसे पता तक नहीं लगता।

प्राचीन शास्त्रों में जलौका के आकृति-वर्णमूलक बहुसंख्यक भेद किए गए हैं, किन्तु सविष तथा विविष २ प्रकार के भेद चिकित्सा की दृष्टि से उपयोगी होते हैं। कमल एवं शैवाल वाले तालाब के निर्मल जल में प्रायः निर्विष जलौका तथा कीचड़वाले गंदे तालाबों में, जिसमें मेढक आदि अधिक रहते हैं, सविष जलौकाएँ अधिक रहती हैं। जलौका की लम्बाई १८ अंगुल तक होती है। किन्तु रक्तावसेचन कर्म के लिए ४-६ अंगुल लम्बी जलौका उपयोगी होती है।

किसी जानवर का ताजा चमड़ा एक रस्सी से बाँधकर तालाब में (जिसमें जोंक मिलने की संभावना हो) कुछ समय तक डालने से पर्याप्त जोंकें चमड़े पर चिपक जाती हैं। कोरे घड़े में साफ कीचड़, कमल कंद, सिंघाड़ा, काई आदि डालकर उसीमें जोंकों को पालना चाहिए। तीसरे-चौथे दिन मिट्टी-कीचड़ आदि तथा ८ दिन में घड़ा बदल देना चाहिए। सिंघाड़ा, काई आदि जोंकों का आहार तो थोड़ा-थोड़ा प्रति दिन देते रहना चाहिए।

जलौका प्रयोग के दिन आधा घण्टा पूर्व जोंकों को निकालकर नमक के पानी में ५-७ मिनट डालना चाहिए। इससे जोंक खाया-पिया वमन कर देती हैं। उसके बाद हल्दी के पानी या छाछ में १०-१५ मिनट डालने से उनकी क्षुधा प्रदीप्त हो जाती है और वे पर्याप्त मात्रा में रक्त खींच सकती हैं।

विकृत स्थान को, जहाँ पर जलौका प्रयोग कराना हो, साबुन से धोकर भली प्रकार साफ कर लेना चाहिए। उस स्थान पर थोड़ा दूध या मिठाई लगा देने से जोंकें आसानी से लग जाती हैं। कदाचित् न चिपक रही हों तो सुई से चुभोकर १-२ बूँद

रक्त निकाल कर लगाने पर बडी आसानी से चिपक जाती हैं। यदि निर्दिष्ट स्थान पर जोंक न लग रही हो तो उसे काँच की नली में भर कर मुख की तरफ से आवश्यक स्थान पर उलट देना चाहिए। इससे उसको इधर-उधर हटने का अवकाश ही नहीं रहेगा।

एक जोंक प्रायः ½ तोला से १ तोला तक रक्त का प्रचूषण करती है। जब तक पूरी तरह से रक्त चूसकर स्वयं छूटकर न गिरे, बलपूर्वक हटाने की चेष्टा न करनी चाहिए, अन्यथा जोंक के दाँत वहीं छूटकर रह जायँगे, जिससे व्रण बनकर पाक होगा। यदि जोंक छूट न रही हो और छुड़ाना आवश्यक हो तो थोड़ा नमक का संतृप्त घोल जोंक के मुख के पास डाल देने से तुरन्त छूट जाती है। एक बार एक स्थान पर ४-६ जोंकें लगाई जा सकती हैं। यदि जोंकें अधिक न हों तो रक्त प्रचूषण करनेवाली जोंक की पूंछ में पतली सुई से छेद कर देने से रक्त बहता जाता है, और मुख से जोंक रक्त चूसती रहती है। महीन गीले कपड़े से जोंक को लपेट देना चाहिए अन्यथा त्वचा का जल सूखने पर जोंक को जीवन-धारण में कठिनाई होती है।

यदि अधिक रक्तस्राव कराना उद्देश्य हो तो गरम पानी की पट्टी जलौका वाले स्थान पर रखकर सेंक करने या हल्दी, गुड़ तथा शहद लगाने से आसानी से रक्त निकल जाता है।

सामान्यतया रक्तस्राव जोंक निकलने के बाद स्वतः बंद हो जाता है। यदि अधिक रक्त निकल रहा हो तो ठण्डे पानी की पट्टी रखकर दबाने से या फिटकरी का चूर्ण रखकर बाँधने से अथवा तूतिया या सिल्वर नाइट्रेट (Silver nitrate) से स्पर्श करने से तुरन्त बंद हो जाता है। इसके बाद किसी जीवाणुनाशक घोल में तर करके गाज रखकर पट्टी बाँध देना चाहिए।

रक्त चूसने के बाद जोंक को पूँछ की तरफ से पकड़कर दबाकर खींचने से रक्त का वमन हो जाता है। इसके बाद उसे पुनः मिट्टी के वर्त्तन में डालकर ७ दिन बाद काम में लिया जा सकता है। यदि किसी संक्रामक व्याधि में प्रयोग किया गया हो तो उसी जोंक का पुनः प्रयोग न करना ही अच्छा है।

उपयोगिता—शोथ, वेदना, आमवात, अन्तर्विद्रधि, सद्रव हृदयावरण शोथ, उरस्तोय, फुफ्फुस पाक, फौफ्फुसीय रक्त संचय (Pulmonary congestion), यकृत् शोथ एवं इतर शोथ युक्त अवस्थाओं में जलौका प्रयोग से लाभ होता है। रुग्ण स्थान में संचित रक्त का मोक्षण होने के कारण स्थानीय तनाव में कमी होने से रोगी को बड़ी शान्ति मिलती है। रक्त के साथ कुछ न कुछ दूषी विषों का भी शोधन हो जाता है तथा उस स्थान पर नवीन शुद्ध रक्त पहुँच कर व्याधि-प्रतिकार में भी सहायता देता है। इस प्रकार लाक्षणिक तथा रोग निर्मूलन दोनों दृष्टियों से जलौका प्रयोग से लाभ

होता है। अर्धावभेदक, उन्माद एव अपतंत्रक आदि वातिक विकारों में भी इसका प्रयोग हितकर माना जाता है।

शस्त्र साध्य रक्तावसेचन—

प्रच्छान विधि—स्थानीय पिण्डीभूत रक्त को निकालने के लिए कुल्हाड़ी के समान बने हुए पतले शस्त्र से विकृत स्थान पर चीरे लगाए जाते हैं। इनसे अल्प मात्रा में रक्त निकलता है। कुछ रक्त निकल जाने से स्थानीय वेदना आदि में लाभ मालूम होता है। बाद में व्रणवत् उपचार करना चाहिए। व्यापक गुण न होने के कारण इसका आजकल प्रयोग नहीं किया जाता।

सिरा वेधन—हृदय विकृति जन्य श्वास (Cardiac asthma), तीव्र फुफ्फुस शोथ (Acute pulmonary oedemo), हृदय दौर्बल्य जनित रक्ताधिक्य (Congestive heart failure), उच्च रक्त निपीड (Hypertension), अक्रणिक कणोत्कर्ष (Polycythemia), मूत्र विषमयता (Ureamia) आदि व्याधियों में अधिक मात्रा में रक्त निकालने की आवश्यकता होने पर सिरावेधन निर्दुष्ट एवं सर्वोत्तम साधन है। प्राचीनकाल में शस्त्रकर्म के द्वारा सिरा को निकाल कर, काट कर, रक्त निकाला जाता था। उससे कभी-कभी कुछ उपद्रव भी हो जाते थे। किन्तु आधुनिक प्रक्रिया इतनी आसान है कि उससे मानसिक त्रास के अतिरिक्त और कोई उपद्रव नहीं होता।

विधि—रक्तावसेचन करने के पहले रोगी को भली प्रकार आश्वस्त कर लेना आवश्यक है। बहुत से रोगी रक्त देखकर घबड़ाते तथा मूर्च्छित हो जाते हैं। अतः निकाले हुए रक्त को भीरु पुरुषों को न देखने देना चाहिए। सिरावेध प्रायः प्रातःकाल नित्यकर्म से निवृत्त होने के बाद करना चाहिए। आधा घण्टा पूर्व यवागू या लाजमण्ड या ग्लूकोज का शर्बत पिला देना अच्छा है।

सिरावेधन के लिए प्रयुक्त उपकरणों (सुई, पिचकारी आदि) को पानी में उबाल कर सम्यक् रूप से शुद्ध कर लेना चाहिए। सोडियम साइट्रेट के ३ प्रतिशत घोल में (जो परिस्रुत जल में बना हो तथा उसके बाद भी दबावयुक्त वाष्प से विशोधित Autoclosed) किया गया हो, पिचकारी को धो लेना चाहिए। इसमें धोने से रक्त पिचकारी में स्कन्दित नहीं होता। यदि १-२ सी. सी. द्रव पिचकारी में रह जाय तो कोई आपत्ति नहीं। इसके बाद रोगी को शय्या पर लिटा कर कूर्पर संधि (Elbow) के २-३ इञ्च ऊपर ३ इञ्च चौड़ा रक्तावरोधक पट्ट (Torniquet) बाँध देना चाहिए, जिससे सिराओं से रक्त का प्रत्यावर्त्तन अवरुद्ध हो कर वे उभड़ आवें। मद्यसार या टि. आयोडीन से उभड़ी हुई सिराओं तथा निकट की त्वचा को संशुद्ध कर लेना आवश्यक है। उसके बाद साफ की हुई पिचकारी की सुई से सिरा का वेधन करके ग्राहक

(Piston) को थोड़ा खींचने से रक्त आने लगता है। यदि १०० सी. सी. तक रक्त निकालना हो तो १०० सी. सी. परिमाप वाली पिचकारी से कार्य चल जाता है। अधिक मात्रा में रक्तावसेचन कराने के लिए विशिष्ट यंत्र होते हैं। एक फ्लास्क के ढक्कन में २ काँच की नलिकाएँ लगी होती हैं। एक नलिका से सम्बद्ध रबर नली को सिरा में प्रविष्ट सुई के साथ जोड़ देते हैं तथा दूसरी नली में रबर का प्रचूषक (Suction pump) लगा कर फ्लास्क की वायु धीरे-धीरे खींचने से फ्लास्क में रक्त आने लगता है। पिचकारी या प्रचूषक यंत्र चाहे किसी से रक्तावसेचन करना हो, उपकरणों के संशोधन में पूर्ण सावधानी रखनी चाहिए। रक्त एक बार में १०० से १००० सी. सी. तक (सामान्यतया १०० से ४०० सी. सी. तक) आवश्यकतानुसार निकाला जा सकता है। रक्त निर्हरण में शीघ्रता नहीं करनी चाहिए। १०० सी. सी. रक्त निकालने में २०-२५ मिनट से कम समय नहीं लगना चाहिए। उचित परिमाण में रक्त निकलने के बाद अवरोधक बंध पट्ट को ढीला करके सुई निकाल कर मद्यसार या टि० आयोडीन लगा कर कूर्पर संधि से हाथ को मोड़ कर रखना चाहिए।

रक्त निर्हरण के बाद रोगी को १ घण्टे तक पूर्ण विश्राम करना तथा प्यास होने पर मधुर पेय दूध आदि का प्रयोग करना चाहिए। परिश्रम, भ्रमण, वायु का सेवन, शीतल जल से स्नान, रतिकर्म, क्रोध आदि से बचाव तथा क्षारयुक्त, खट्टे-चरपरे, अधिक लवण युक्त, विदाही अन्न-पान, रूक्ष या गुरु भोजन तथा उपवास का वेधन कर्म के पश्चात् कम से कम २-३ दिन तक प्रतिषेध रखना चाहिए।

उपयोगिता—रक्त में शारीर समवर्त्तजन्य दूषित विषों का अधिक मात्रा में संचय होने अथवा हृदय पर रक्त का निपीड अधिक होने पर सिरावेधन से सद्यः लाभ होता है। हृदयजन्य श्वास, तीव्र फुफ्फुस शोथ (Acute pulmonary oedema) दक्षिण निलय की अकार्यक्षमता से उत्पन्न फुफ्फुस एवं यकृत् में रक्त का अति संचय, अकणिक कणोत्कर्ष (Polycythemia), उच्च रक्त निपीड एवं तज्जनित मस्तिष्कगत रक्तस्राव, मूत्रविषमयता आदि व्याधियों में सिरावेध द्वारा रक्तावसेचन करने से तत्काल लाभ होता है। प्राचीन शास्त्रों में शोथ, दाह, पूतिविषमयता, रक्त के विकार, वातरक्त, कुष्ठ, श्लीपद, विषजनित रक्त दुष्टि, ग्रंथि, अर्बुद, स्तनविद्रधि, अंगगौरव, तन्द्राधिक्य, मस्तिष्करोग तथा रक्तपित्त आदि विकारों में सिरावेधन उपयोगी माना गया है।

निषेध—दुर्बल, कृश, बाल-वृद्ध-क्षीण-गर्भिणी स्त्री एवं विरेचन तथा वमनादि शोधन कर्म करने के तुरन्त बाद, शान्त तथा वात प्रकृति व्यक्तियों में रक्तावसेचन अधिक मात्रा में न करना चाहिए। अर्श, सर्वांगशोफोपद्रुत जलोदर, त्रिदोषज रक्तपित्त, कास-श्वास-मूर्च्छा-तृष्णा-प्रवृद्धज्वर तथा आक्षेपक से पीडित रोगियों में भी सिरावेध हितकर नहीं होता।

प्रतिक्षोभक नियोग (Counter irritants)

अग्निकर्म के समान क्षोभक द्रव्यों का स्थानीय प्रयोग करने से फफोले (Blisters) उत्पन्न हो कर विकृत स्थान में रक्त संचार बढ़ता है। अर्दित, नेत्र-कर्ण तथा मस्तिष्क के रोग, कण्ठ शालूक, लाला ग्रंथि शोथ, कण्ठमाला, स्वर यंत्र के विकार, फुफ्फुस एवं फुफ्फुसावरण के विकार, पित्ताशय के विकार, यकृत् एवं प्लीहा के विकार, दुःसाध्य वमन, शूल, आमवात, वातरक्त, संधिशोथ, मूत्राघात तथा दूसरी वात-कफ-प्रधान जीर्ण व्याधियों में फफोलोत्पादन की क्रिया से पर्याप्त लाभ होता है।

विधि—फफोला उत्पन्न करने के लिए कैन्थराइडिस के प्लास्टर (Emplastrum canthardine) का प्रयोग अधिक किया जाता है। इसका बना बनाया प्लास्टर आता है। यदि पट्टी पर बना हुआ न मिले तो प्लास्टर के डण्डे (Plaster stick) से थोड़ा सा प्लास्टर ले कर एक मोटे कपडे पर पतला सा फैला कर गरम करके लगाना चाहिए। विकृत स्थान के अनुपात में प्लास्टर को छोटा-बड़ा बनाया जा सकता है। विकृत स्थान की पूर्ण शुद्धता पहले से कर लेनी चाहिए। प्लास्टर लगाने के बाद रुई लगा कर हल्की सी पट्टी बाँध देनी चाहिए। बच्चों में प्लास्टर लगाने के पहले पतला मलमल का कपड़ा रख कर तब प्लास्टर लगाना चाहिए, जिससे अधिक दाह न हो जाय। पट्टी २-३ घण्टे बाद हटायी जा सकती है। औसतन ५-७ घण्टे के भीतर फफोला बन जाता है। फफोले के उभड़ने पर धीरे से प्लास्टर छुड़ा कर फफोले को पोंछ कर उसके आधार पर एक किनारे सुई से छेद करके पानी निकाल देना चाहिए। यह पानी जहाँ लगेगा, वहाँ भी फफोला बन सकता है, अतः पानी साफ करते समय सावधानी रखनी चाहिए। पानी साफ करके कोई मलहम लगा कर विसंक्रमित गाज (Gauz) का टुकड़ा रख कर पट्टी बाँध देनी चाहिए। ३-४ दिन अग्निदग्ध व्रणवत् उपचार करना होता है। कदाचित् ७-८ घण्टे बाद भी फफोला न उभड़े तो सूखी रुई को गरम करके सेंक करने से उभड़ आता है।

अर्दित में कर्णमूल के पास, नेत्र रोगों में अपांग के निकट शंख प्रदेश में, कण्ठ शालूक एवं स्वर यंत्र आदि में हनुकोण के नीचे, हृद्रोगों में हृदय के आधार (Base) के निकट उरःफलक के वामपार्श्व में, मूत्राघात में कटि प्रदेश के दोनों तरफ वृक्क स्थान पर तथा संधिशोथ में विकृत संधि के दो-तीन स्थलों पर प्लास्टर लगाया जाता है।

कैंथराइडिस के स्थान पर लाइकर इपीस्पेस्टिकस (Liquor epispasticus) का प्रयोग भी किया जा सकता है। रुई के फाया को इस द्रव से तर करके विकृत स्थान पर भली प्रकार लगा दें। आधा घण्टा बाद उस स्थान पर रुई तथा लिण्ट रख कर ढीली पट्टी बाँध दें। लगभग ४-६ घण्टे के भीतर फफोला उत्पन्न हो जायगा।

राई को खूब महीन पीस कर विकृत स्थान पर लगाने से वह स्थान लाल हो

जाता है, क्वचित् फफोला भी बन सकता है। शतधौत घृत या मक्खन लगाने से उस स्थान की जलन का शमन हो जायगा।

लहसुन को महीन पीस कर अर्दित आदि में ऊपर निर्दिष्ट स्थलों पर लेप करने से प्रतिक्षोभक परिणाम होता है।

प्राचीन समय से प्रतिक्षोभक कार्य के लिए चित्रक का बहुत प्रयोग होता आया है। गठिया एवं दूसरे स्थानबद्ध वात विकारों में इसका बहुत प्रयोग अब भी देहातों में प्रचलित है। यद्यपि इसके प्रयोग से रोगी को कष्ट कई दिन तक रहता है, किन्तु कभी-कभी बड़ा आश्चर्यजनक लाभ भी देखा गया है। चित्रक की जड़ को (या पंचांग को) खूब महीन पीस कर १ अंगुल मोटा तथा १ अंगुल चौड़ा लेप विकृत स्थान पर—विशेष कर संधि पर—४-५ अंगुल लम्बाई में लगाया जाता है। २ अंगुल का अन्तर छोड़ कर इसी प्रकार से दूसरा लेप उसके नीचे किया जाता है। स्थान की स्थूलता के अनुपात में ३ या ४ अर्द्धवृत्त लगाए जाते हैं। फफोला उत्पन्न होने के बाद लेप को छुड़ा कर, फफोलों का द्रव निकाल कर पूर्ववत् उपचार किया जाता है। ५-७ दिन में घाव ठीक हो जाता है। कुछ काला दाग प्रायः ४-६ मास बाद तक बना रहता है।

आमाशय प्रक्षालन (Stomach wash)

विष सेवन का संदेह होने पर आमाशय के प्रक्षालन की आवश्यकता होती है। यदि विष पेट में पहुँचने के तुरन्त बाद आमाशय का शोधन करा दिया जाय तो विष निकल जाने के कारण कोई उपद्रव नहीं होता। आमाशय विस्फार (Acute dilatation of stomach) एवं आमाशयशोथ (Gastritis) में भी प्रक्षालन से पर्याप्त लाभ होता है।

विधि—आमाशयनलिका (Stomach tube) विशेष रूप स बनी हुई मिलती है, जिसके निचले सिरे पर तथा पार्श्व में छिद्र होते हैं। दूसरे सिरे पर रबर की टीप होती है। रबर की टीप न होने पर काँच की टीप लगाई जा सकती है। इस नलिका को पानी में उबालकर, उबाले हुए जैतून क तेल या लिक्विड पाराफिन (Liquid paraffin) में डुबोकर स्निग्ध कर लेना चाहिए। चिकित्सक को अपने हाथ साबुन से धोकर स्प्रिट या किसी जीवाणुनाशक घोल से धो लेना चाहिए। एक पात्र में उबाल करके रखा हुआ ५ प्रतिशत सोडाबाईकार्ब का घोल ५-७ सेर की मात्रा में तैयार रखना चाहिए। नलिका प्रवेश के पूर्व साफ रुई से रोगी का मुख, दन्त तथा गले की सफाई कर लेना अच्छा है। यदि रोगी मूर्च्छित है, तो उसे लिटाकर ही नलिका प्रवेश कराना उचित होगा अन्यथा कुर्सी या स्टूल पर बैठाकर आमाशय प्रक्षालन में सुविधा होती है। रोगी के मुख में मुख विस्फारक (Mouth guag) लगा देना अच्छा है, अन्यथा अकस्मात् रोगी का मुख बंद हो जाने का भय रहता है। इसके बाद सुप्रकाशित स्थान में नलिका को मुख द्वारा प्रसनिका

एवं अन्न नलिका में प्रविष्ट कराना चाहिए। रोगी को नलिका को निगलने के लिए कहना चाहिए। धीरे-धीरे बिना अधिक बलप्रयोग के नलिका को आमाशय तक पहुँचाना चाहिए। सामान्यतया १७-१८ इञ्च प्रविष्ट होने तक नलिका आमाशय में पहुँच जाती है। आमाशय में प्रविष्ट हो जाने पर चिकित्सक को नलिका के अग्र से अवरोध हटने का तथा रोगी की बेचैनी में कमी का अनुभव होता है। अब ऊपर के सिरे में लगी टीप से (विशिष्ट विष का संदेह होने पर विशेष ओषधियाँ आमाशय प्रक्षालनार्थ प्रयुक्त होती हैं) क्षारीय जल डालना चाहिए। एक बार में २४ से ३० औंस तक जल आमाशय में पहुँचाया जा सकता है। प्रक्षालन द्रव्य के उपयुक्त प्रमाण में प्रवेश समाप्त होते ही—थोड़ा द्रव्य टीप में शेष रह जाय तभी—टीप को आमाशय की सीमा से ४-६ इञ्च नीचे करके उलट देना चाहिए। अब प्रविष्ट सारा द्रव साइफन क्रिया से आमाशय में संचित दूषित पदार्थों को लेकर निकल आता है। इसी प्रकार बारम्बार आमाशय का प्रक्षालन करते हैं, जबतक वापस आनेवाला द्रव पूर्ण शुद्ध नहीं दिखाई पड़ने लगता।

आमाशयिक आचूषण (Gastric aspiration)

इस क्रिया द्वारा अम्ल पित्त में पाचक पित्त की परीक्षा के लिए आमाशयिक स्राव का आचूषण किया जाता है। एक पतली नली—राइल्स ट्यूब या हैमिल्टनबेली ट्यूब (Ryles or Hamilton Baily tube) इस कार्य के लिए प्रयुक्त होती है। इसका निचला सिरा अनेक छिद्र युक्त कुंठित तथा उभाड़दार गोल होता है। ऊपरवाले सिरे पर पिचकारी संयुक्त करके आचूषण क्रिया की जाती है।

चिकित्सक को अपने हाथ तथा नलिका को शुद्ध करके रोगी की नासिका की सफाई कर लेनी चाहिए। इसके बाद नासिका के भीतर रुई से ग्लीसिरीन, जैतून का तेल या वैसलीन लगाकर चिकना कर लेना चाहिए। नलिका के निचले अग्र को भी स्निग्ध करना आवश्यक है। इसके बाद नासामार्ग से नासाधार (Base of nasal cavity) के सहारे नली को धीरे-धीरे प्रविष्ट कराना चाहिए। रोगी मूर्च्छित नहीं हो तो इस अवस्था में मुख द्वारा १-१ घूंट जल रोगी को पीने के लिए दिया जाता है। जल के प्रत्येक घूँट के साथ नलिका बड़ी आसानी से आमाशय में पहुँच जाती है। कण्ठ में ग्रसनिका द्वार के पास एक क्षण के लिए अवरोध ज्ञात होता है, जो निगलने की क्रिया करने से शान्त हो जाता है। अब कपोल पर श्लेषक पट्टी (Sticking plaster) लगाकर नली को उसी के साथ चिपका देना चाहिए। एक इसी ढंग की पट्टी नेत्र के अपांग के पास भी लगाई जा सकती है।

आमाशय में नलिका प्रवेश होने के बाद ऊपर के सिरे से पिचकारी सम्बद्ध करके आमाशयस्थ द्रव का आचूषण करके परीक्षणार्थ भेजा जाता है।

मूर्च्छितावस्था में या रोहिणी (Diphtheria), ग्रसनिका-अंगघात आदि अवस्थाओं में जब मुख द्वारा आहार का प्रयोग संभव नहीं होता तो इसी विधि से नासामार्ग द्वारा पोषण पहुँचाया जाता है। मूर्च्छा या दूसरे कारणों से निगलने की क्रिया संभव न होने पर थोड़ी असुविधा इसके प्रवेश में होती है। किन्तु नलिका प्रवेश श्वास प्रणाली में होने पर प्रत्यावर्त्तित क्रियाजनित बड़े वेग से कास उत्पन्न होगी, इस लिए आमाशय में भी नलिका प्रवेश का अनुमान होने पर कुछ काल तक कास की प्रतीक्षा करना चाहिए। श्वास प्रणाली में नलिका प्रवेश होने पर श्वासोच्छ्वास के साथ नलिका द्वारा वायु का प्रवेश तथा निर्गम होता है। अतः वायु निर्गम-परीक्षा से भी नलिका के अवस्थान का निर्णय हो जाता है।

नलिका के आमाशय प्रवेश का निर्णय हो जाने पर ऊपर वाले सिरे में टीप लगा कर द्रव भूयिष्ठ आहार एवं औषध आदि का प्रवेश कराया जा सकता है। बच्चों में इस क्रिया के लिए ४-६ नम्बर की मूत्र नलिका (रबर कैथेटर) प्रयुक्त होती है। राइल्स नलिका के अभाव में वयस्कों में भी ७-८ नम्बर की मूत्रनलिका (रबरकैथेटर) से नासा प्राशन का कार्य लिया जा सकता है।

नासा प्राशन या नासा मार्ग से राइल की नलिका का प्रवेश (Ryle's tube)–मूर्च्छा, ग्रसनिका के विकार या अन्य किसी प्रकार से मुख द्वारा आहार या औषध का प्रयोग संभव न होने पर और आमाशयिक पाचक पित्त की विशिष्ट प्रायोगिक परीक्षा के लिए उसके आचूषणार्थ या संग्रहार्थ अथवा आध्मान आदि में आमाशयिक आचूषण करने के लिए नासा मार्ग से राइल की नलिका का आमाशय में प्रयोग किया जाता है।

विधि—राइल की नलिका को जैतून के तेल, ग्लिसिरिन या किसी मृदु स्निग्ध तैल से स्निग्ध कर नासामार्ग में प्रविष्ट कराना चाहिए। नासामार्ग के अन्तिम छोर तक पहुँचने पर रोगी को पानी पिलाना चाहिए। पानी के निगलते ही नलिका को आमाशय मार्ग में प्रविष्ट करा दिया जाता है। निगलने की क्रिया के समय ग्रसनिका का अवरोध अन्नप्रणाली से हट जाता है तथा नलिका प्रवेश में कोई बाधा नहीं पड़ती। कदाचित् नलिका श्वासमार्ग में प्रविष्ट हो गई हो तो वेगपूर्वक कास की उत्पत्ति होगी तथा नलिका का बाहरी सिरा पानी में डुबाने से वायु के बुलबुले निकलने लगेंगे। ऐसी स्थिति में नलिका थोड़ा निकालकर पुनः प्रवेश कराना चाहिए।

मूर्च्छित रोगियों में कुछ असुविधा होती है। रोगी को एक पार्श्व की तरफ लिटाकर पूर्ववत् नलिका को नासामार्ग से प्रविष्ट कराते हैं। मूर्च्छित अवस्था में प्रायः ग्रसनिका द्वार अनवरुद्ध ही रहता है। आवश्यक होने पर मुख विस्फारक (Mouth gaug) के प्रयोग के बाद अंगुली से नलिका का मार्ग दर्शन कराया जा सकता है। बच्चों में भी प्रायः यही नलिका काम देती है किन्तु १-१॥ वर्ष के शिशुओं में छोटे आकार की

अपेक्षा होती है। अभाव में पतले कैथेटर सरीखी पतली लम्बी नलिका से काम लिया जा सकता है।

मूर्च्छित रोगियों में यह नलिका एकबार प्रवेश कराने पर २-३ दिन तक रक्खी जा सकती है। श्लेषक बंध (Elastic bandage) से कपोल पर बाहरी सिरा चिपका देना चाहिए। औषध तथा तरल आहार कीप (फनेल) या पिचकारी से नलिकामार्ग से प्रविष्ट कराया जा सकता है। अधिक समय तक रखने पर नलिका द्वार को गॉज से ढँक कर रखना चाहिए।

प्रावेगिक वमनोपचार के दूसरे उपायों से लाभ न होने पर इसी नली को आमाशय में प्रविष्ट करे। आमाशय स्राव को प्रति २ घण्टे पर निकालने एवं आमाशय को धोने से अवश्य लाभ हो जाता है। रोगी को मुख द्वारा जल या सोडाबाईकार्ब का हल्का घोल पिलाते जाते हैं तथा पिचकारी द्वारा नासामार्ग से आचूषण करते जाते हैं। केवल नासा प्राशन (Nasal feeding) के लिए वयस्कों में ८ से १० नम्बर का मुलायम रबर का कैथेटर (Soft rubber catheter) और बच्चों में ३-४ नम्बर का कैथेटर प्रयुक्त होता है। पूर्वोक्त विधान से कैथेटर को नासातल के सहारे प्रविष्ट कराने के बाद केवल जल को पिचकारी से डालकर अन्नप्रणाली या श्वासप्रणाली में कैथेटर के रहने का ठीक निश्चय कर लेना चाहिए।

श्वसनिका प्रधमन या श्वास मार्ग से औषध प्रवेश

विशेष प्रकार के प्रधमन यंत्र (Aerosol) द्वारा प्रतिजीवक वर्ग की ओषधियाँ तथा शुल्बौषधियों का प्रयोग श्वास मार्ग से किया जाता है। श्वासनलिकाभिस्तीर्णता (Bronchiectasis), जीर्ण श्वसनिकाशोथ, यक्ष्मज श्वसनीपाक आदि व्याधियों में इस क्रिया से लाभ होता है।

पेनिसिलिन क्रिस्टलाइन जी सोडियम १ लाख यूनिट तथा स्ट्रेप्टोमायसीन सल्फेट १ ग्राम को २० सी० सी० परिस्रुत जल में घोलकर १ सी० सी० की मात्रा में यन्त्र में भरकर १० मिनट तक श्वासमार्ग में प्रवेश कराना चाहिए। २० मिनट के विराम के बाद पुनः १० मिनट प्रयोग करना चाहिए। इसी क्रम से दिन भर में कई बार प्रयोग किया जा सकता है। दिन भर में २ लाख यूनिट पेनिसिलिन तथा २ ग्राम तक स्ट्रेप्टोमायसीन का प्रयोग किया जा सकता है। लगातार १-१॥ मास तक प्रयोग किया जा सकता है। अधिक काल तक प्रयोग आवश्यक होने पर १ मास तक दैनिक प्रयोग के बाद २ सप्ताह का विराम देकर पुनः प्रयोग किया जा सकता है।

इसी प्रकार टेट्रासायक्लिन, बेसिट्रेसिन, टायरोथ्रायसिन, एरिथ्रोमायसिन एवं शुल्बौषधियों का प्रयोग भी किया जा सकता है। ओषधियों के द्रावण के रूप में डुपोनॉल (Duponol) एरोसॉल टी (Aerosol-T) एवं जेफिरान (Zephiran) का प्रयोग करने से ष्ठीवन आसानी से पतला होकर सुखपूर्वक निकल जाता है।

श्वसन व्यायाम

फुफ्फुसपाक, उरस्तोय एवं अन्य कारणों से निपतित वायुकोषाओं (Alveoli) को फुलाने के लिए विशेष विधि से श्वसन व्यायाम किया जाता है। शंख बजाने, फुटबाल का ब्लैडर मुख द्वारा फुलाने तथा लम्बी श्वास लेने तथा निकालने से भी वायु कोषाओं के विस्फार में सहायता मिलती है। निम्नलिखित विधि से विशेष लाभ होता है। चौडे मुँह की दो बोतलों या वुल्फ की बोतलों (Woulf's bottles) को लेकर शीशे की नली से दोनों को संयुक्त कर दें। शीशियों के कार्क में दो छेद रहेंगे। एक छेद में दोनों बोतलें शीशे की नली से संयुक्त होंगी तथा दूसरे छेद में १-१ शीशे की नली लगी रहेगी। अब एक बोतल में पानी भर दें। रोगी पानी वाली बोतल की शीशे की नली में मुँह लगाकर वायु के दबाव से पानी दूसरी बोतल में पहुँचाने का उद्योग करेगा। इसी प्रकार दूसरी बोतल में पानी पहुँच जाने पर उससे पहली में पहुँचावेगा। दिन में ३-४ बार यह क्रिया करने से निपतित वायु कोषाओं का उचित विस्फार हो जाता है।

मूत्राशय शोधन (Catheterisation or bladder wash)

मूत्राशय में मूत्र का अवरोध होने पर मूत्रोत्सर्ग के लिए तथा मूत्राशयशोथ आदि व्याधियों में विशिष्ट चिकित्सा के लिए मूत्राशय का शोधन कराया जाता है। इस कार्य के लिए ४ नम्बर से १२ नम्बर तक की छोटी-बड़ी मूत्रनलिकाएँ आती हैं। निरापद होने के कारण रबर की मूत्रनलिकाओं का अधिक प्रयोग किया जाता है। इनके द्वारा सिद्धि न होने पर धातु या गोंद मिश्रण की बनी हुई मूत्रनलिकाओं का प्रयोग किया जा सकता है।

रोगी की आयु के अनुपात में मूत्रनलिका का चुनाव करके उसे पानी में डालकर १५-२० मिनट तक उबाल देना चाहिए। नलिका को स्निग्ध करने के लिए एरण्ड तैल, जैतून का तेल या मोम का तेल (Liquid paraffin) भी उबाल कर अलग ढँककर रख देना चाहिए। अब मूत्रेन्द्रिय को पहले साफ पानी से साफ करके किसी जीवाणुनाशक घोल (Ti. merthiolate or spt. rectified) से अच्छी तरह से पोंछ देना चाहिए। शिश्नाग्र की शुद्धता पर विशेष ध्यान देना चाहिए। शिश्नमुण्ड (Glans) को छोड़कर शेष शिश्न पर विसंक्रमित कपड़े (Sterlisd gauz) की पट्टी बाँध देना अच्छा है, क्योंकि नलिका प्रवेश के समय कदाचित् शिश्न में असावधानी वश लग जाने या हाथ के माध्यम से सम्पर्क हो जाने पर अशुद्धि की संभावना रहती है। इसके बाद परिस्रुत जल में बना शून्यताकारक कोकेन या एनीथेन (Cocaine or Anethene 2% in dist. water) का विलयन २ सी० सी० की मात्रा में शुद्ध पिचकारी द्वारा, मूत्र मार्ग से शिश्न को सीधा करके, भीतर

प्रविष्ट करके, पिचकारी निकाल कर, शिश्न का मुख बन्द करके ३-४ मिनट तक सीधे रखना चाहिए। शिश्नमूल के पास हल्के हाथ से थोड़ा मर्दन करने से मूत्राशय संकोचक द्वार पर भी शून्यता का कुछ प्रभाव हो जाता है। इस उपक्रम से रोगी को बिल्कुल कष्ट नहीं होने पाता तथा नलिका प्रवेश के समय संकोचक द्वार की उत्तेजना के कारण उत्पन्न अवरोध का भी प्रतिकार हो जाता है। इस क्रिया के बाद दूसरी पिचकारी में शुद्ध किया हुआ स्नेह भर कर पूर्ववत् मूत्रप्रणाली में प्रविष्ट कराना चाहिए और मूत्रनलिका को पानी से निकाल कर, रेक्टीफाइड स्प्रिट से पोंछकर, शुद्ध किए स्नेह में डुबोकर, बाएँ हाथ से शिश्न को समकोण अवस्था में सीधा करके नलिका-प्रवेश कराना चाहिए। संकोचक द्वार के पास कुछ अवरोध सा मालूम पड़ेगा। किन्तु नलिका को आगे-पीछे कर के घुमाते हुए प्रवेश कराने पर आसानी से प्रवेश हो जायगा। मूत्राशय में नलिका पहुँचने पर संचित मूत्र निकलने लगता है। मूत्र निकल जाने पर पेड़ू के पास दबाकर शेष मूत्र को भी निकाल देना चाहिए। यदि मूत्राशय का प्रक्षालन करना हो तो इसी विधि से मूत्रसंशोधन कराने के बाद प्रयोज्य औषध के विलयन को पिचकारी में भरकर मूत्राशय में पहुंचाकर २-३ मिनट मूत्रनलिका को दबाकर भीतर ही द्रव को रोकना चाहिए। बाद में निकाल देना चाहिए। इसी विधि से ३-४ बार शोधन करने के बाद अन्त में थोड़ी मात्रा में शोधक द्रव मूत्राशय में शेष रखकर नलिका निकाल देनी चाहिए। अष्ठीलावृद्धि (Hypertropheid prostate), पक्षवध तथा अधोशाखाघात आदि कुछ व्याधियों में नलिका के बिना मूत्रोत्सर्ग नहीं हो पाता। ऐसी अवस्था में बार-बार नलिका प्रवेश की आवश्यकता होती है। अतः एक बार प्रवेश कराने के बाद नलिका के बाहरी सिरे में कपड़ा बाँधकर श्लेषक पट्टी से शिश्न पर चिपका देना तथा नलिका में बाहर की तरफ एक अवरोधक (Clip) लगा देना चाहिए, जिससे आवश्यकतानुसार मूत्र का त्याग कराया जा सके। कदाचित् मूत्र का निरन्तर उत्सर्ग अपेक्षित हो तो इसी नलिका के साथ शुद्ध की हुई लम्बी रबर की नली लगाकर नीचे बोतल में डालकर बोतल को रोगी की खाट के किनारे बाँध देना चाहिए।

स्त्रियों में मूत्रनलिका का प्रवेश पूर्ववत् किया जाता है। केवल शिश्न के स्थान पर भगोष्ठ (Labia) को साफ एवं चौड़ा करके भग शिश्निका (Clitoris) के नीचे मूत्र द्वार का अनुसंधान करके मूत्रनलिका का प्रवेश कराना चाहिए।

अन्तः वासी कैथेटर (Indwelling catheters)—अधिक समय तक कैथेटर का प्रयोग आवश्यक होने पर विशेष प्रकार के अन्तःवासी कैथेटर का प्रयोग किया जाता है। मेलकॉट (Malecot) तथा डीपेजर (Depezzer) के कैथेटर इस कार्य के लिए मिलते हैं। इनका अग्र कुछ फूला हुआ होता है, जो मूत्राशय में प्रविष्ट होने के बाद आसानी से नहीं निकलता। इनको प्रविष्ट कराने के लिए एक विशेष शलाका होती

है, जिसका आगे का भाग धातु के कैथेटर की भाँति मुड़ा हुआ होता है। इसको कैथेटर के भीतर डालकर उसका अगला भाग शलाका के ऊपर चढ़ाकर खींचकर सीधा कर दिया जाता है। इसके बाद पूर्व वर्णित क्रम से कैथेटर का मूत्रमार्ग में प्रवेश कराया जाता है। साधारण कैथेटर की अपेक्षा इसके प्रयोग में कुछ असुविधा होती है, किन्तु धीरे-धीरे अवरोध के स्थानों पर कुछ घुमाकर आगे-पीछे कौशलपूर्वक उद्योग करने से प्रवेश हो जाता है।

प्राणवायु प्रवेश की विधि (Oxygen inhalation)

हृदय, फुफ्फुस तथा मस्तिष्क की अनेक व्याधियों में प्राणवायु के प्रयोग की आवश्यकता होती है। हृदय के विकारों में तो प्राणवायु के उपयोग से अत्यधिक लाभ होता है। प्राणवायु के सिलिण्डर आते हैं। उनके मुख पर विभिन्न प्रकार के नियन्त्रक (Regulators) लगे रहते हैं, जिनसे प्राणवायु का आवश्यकतानुसार यथेच्छ प्रयोग किया जा सकता है। सिलिण्डर के अभाव में शीशे के वर्त्तन में कुछ रासायनिक द्रव्यों को डालकर प्राणवायु उत्पन्न करके भी प्रयोग किया जाता है। किन्तु इस विधि से मानसिक संतोष के अतिरिक्त चिकित्सा की दृष्टि से कोई लाभ नहीं होता। प्राणवायु की उत्पत्ति नियमित एवं अपर्याप्त होने के कारण रासायनिक विधि बहुत उपयोगी नहीं है।

प्राणवायु का प्रयोग रबर नलिका (Catheter), विशेष प्रकार से बने मास्क (Mask) अथवा टोप (Funnel) और तम्बू (Tent) के माध्यम से किया जाता है।

रबर नलिका द्वारा—एक फ्लास्क में, जिसके ढक्कन में २ छेद हों, छोटी-बड़ी २ काँच की नलिकाएं प्रवेश करावे। फ्लास्क में उबाला हुआ जल अर्द्धमात्रा में भरा रहेगा। बड़ी नली जल के भीतर तक तथा छोटी नली जल की ऊपरी सतह से १-१॥ इंच ऊपर रहनी चाहिए। बड़ी नली से प्राणवायु (सिलिण्डर) वाली रबर की नली संयुक्त करना तथा छोटी नली में पतली रबर लगाकर कैथेटर से जोड़ना चाहिए। इस उपक्रम से प्राणवायु पानी से छनकर आती है तथा प्रतिमिनट बबूलों के आधार पर भी मात्रा का नियंत्रण हो जाता है। कैथेटर इस कार्य के लिए मुलायम ४-५ नम्बर का लिया जाता है। नासा की भली प्रकार सफाई करने के बाद नोवोकेन या एनीथेन (Novocaine or Anethene) के २ प्रतिशत मलहम को नासा के भीतर लगाकर थोड़ा रबर की नली पर भी लगा देना चाहिए। नाक के भीतर नासा-ग्रसनिका (Naso-pharynx) तक नली पहुँचाकर बाह्य भाग कपोल तथा अपांग या कर्णमूल के पास श्लेषक बंध से चिपका देना चाहिए। प्रति मिनट २ लिटर से ३ लिटर तक इस विधि से प्रवेश कराना चाहिये। १ लिटर प्राणवायु के औसतन ७५ बबूले जलवाली बोतल में बनते हैं। कदाचित् मापक यन्त्र न कार्य कर रहा हो तो बबूलों की संख्या से मात्रा नियन्त्रित करनी चाहिए। एक बार में १५-२० मिनट से १॥-२ घण्टा

तक निरन्तर प्राणवायु का प्रवेश कराया जा सकता है। इसके बाद कुछ काल तक विराम देकर आवश्यकतानुसार पुनः प्रयोग किया जा सकता है।

बच्चों या मूर्च्छित रोगियों में सामान्य मात्रा में प्राणवायु के प्रयोग की आवश्यकता होने पर इस विधि का उपयोग करना चाहिये।

मास्क द्वारा—अधिक मात्रा में प्राण वायु का प्रयोग आवश्यक होने पर मास्क (B. L. B. Mask) का प्रयोग किया जाता है। मूर्च्छित रोगियों तथा बालकों में यह सुविधाजनक नहीं होता। इसमें सिलिण्डर से नली सीधे मास्क में लगाई जाती है। फ्लास्क वाली प्रक्रिया यहाँ भी प्रयुक्त हो सकती है। मास्क को नासा पर उचित रूप में रखकर सिर के पीछे पट्टी बाँध दी जाती है। बाँधने के पूर्व मास्क के गुब्बारे में प्राण वायु को भर जाने देना चाहिये। यदि इस विधि में रोगी नाक से साँस भीतर खींच कर मुँह से बाहर निकालने का अभ्यास रक्खे तो बहुत उत्तम, अन्यथा नाक या मुँह से ही दोनों क्रियाएँ कर सकता है। प्रारम्भ में रोगी को कुछ असुविधा ज्ञात हो सकती है, किन्तु कुछ काल बाद सात्म्य हो जाता है। इसका प्रयोग भी एक साथ अधिक काल तक न करके बीच में व्यवधान देते हुए करना चाहिये।

टीप या फनेल द्वारा—इसकी सारी विधि नलिका विधि के समान होती है। केवल नलिका के स्थान पर फनेल लगाकर, उसे नाक के पास रक्खा जाता है। इस विधि में प्राण-वायु का बहुत सा अंश व्यर्थ चला जाता है तथा एक परिचारक को निरन्तर फनेल को रोगी के मुख के पास रखने के लिये पकड़े रहना पड़ता है। छोटे बच्चों में भी अल्प-मात्रा में प्राणवायु की आवश्यकता होने पर अथवा दूसरे साधन प्रयुक्त न हो सकने पर इस विधि से प्रयोग किया जा सकता है।

तम्बू या टेण्ट द्वारा—छोटे बच्चों में यह प्रयोग सर्वोत्तम होता है। मोटे तार का छोटे बच्चों की मच्छरदानी के समान ढाँचा बनाकर उसपर घना सिल्क या प्लास्टिक का कपड़ा चढ़ाकर उसके भीतर बच्चे को लिटा देना चाहिये। तम्बू इतना बड़ा हो कि बच्चा आसानी से उसके भीतर लेट सके। दोनों पार्श्व बगल वाली भूमि से कुछ उठे रहने चाहिये तथा २-४ गोल छेद भी तम्बू में होने चाहिए, जिनसे भीतर की वायु कुछ मात्रा में बाहर निकलती रहे। अब एक छेद से प्राण वायु को ३-४ लिटर की मात्रा में प्रवेश कराना चाहिए। तम्बू में पर्याप्त वायु पहुँच जाने पर बच्चे को उसके भीतर लिटाना चाहिए। बच्चा १-१॥ घण्टे तक तम्बू के भीतर रखा जा सकता है। २-३ घण्टे का अन्तर देकर पुनः प्रयोग किया जा सकता है।

उपयोगिता की दृष्टि से मास्क तथा तम्बू के माध्यम से प्राणवायु का प्रयोग सर्वोत्तम तथा इनके अभाव में रबरनलिका से प्रयोग मध्यम गुणवाला माना जाता है।

कृत्रिम श्वासोच्छ्वास विधि (Artificial respiration)

आकस्मिक रूप में श्वासावरोध हो जाने की स्थिति में कृत्रिम श्वास प्रक्रिया के द्वारा श्वसनाग का पुनः कार्यारम्भ और नवजीवन का संचार होता है। जल में डूबने, पाश, हाथ या लतादि के साधनों से गला दबाने, शल्यकर्म करते समय संज्ञानाशक औषधियों के प्रयोग तथा विषैली वायु के प्रभाव से मूर्च्छित मृतप्राय रोगियों में कृत्रिम श्वसन कर्म की योजना धैर्य पूर्वक कुछ काल तक करने से प्राण संचार संभव होता है। इसकी २ विधियाँ मुख्य रूप से आविष्कारक व्यक्तियों के नाम से प्रसिद्ध हैं।

शेफर की विधि—पानी में डूबे व्यक्तियों में इस विधि से अधिक लाभ होता है। रोगी को भूमि पर पेट के बल, छाती के नीचे ३-४ इन्च मोटा तकिया रखकर ऊंचा करके सुला दिया जाता है। रोगी के सिर को रगड़ से बचाने के लिए पतला तकिया मस्तक के नीचे रखना चाहिये। चिकित्सक रोगी की पीठ की तरफ दोनों पार्श्वों की तरफ भूमि पर घुटने रखकर उत्थित वीरासन की मुद्रा में बैठ जाता है। इसके बाद अपने दोनों हाथों की हथेलियों को पीठ की तरफ अंसफलक के नीचे अंतिम पर्शुकाओं के ऊपर रखते हुये, आगे झुककर, अपने शरीर का भार धीरे-धीरे हाथों पर डालते हुये रोगी के वक्ष को समान रूप से कसकर दबाता है, जिससे फुफ्फुस संकुचित हो जाता है। इसके बाद धीरे धीरे अपने शरीर को उठाते हुये हथेलियों को ढीली कर पूर्व स्थिति में लौटा लेता है, जिससे छाती का दबाव हट जाने से रोगी का फुफ्फुस पुनः विस्फारित हो जाता है। इस प्रकार कृत्रिम उपक्रम से वक्ष का संकोच एवं विस्फार कराने से वायु का फुफ्फुस में प्रवेश तथा निर्गम चालू हो जाता है। एक मिनट में कम-से-कम १२-१५ बार यह क्रिया होनी चाहिये। आधा घण्टा तक निरन्तर करने के बाद रोगी को उत्तान लिटाकर हृदय प्रदेश पर थोड़ा दबाव देकर, हृदय को उत्तेजित करके पुनः पूर्ववत् श्वास कर्म कराना प्रारंभ कर देना चाहिये।

सिल्वेस्टर की विधि—जल निमज्जित व्यक्ति के लिए यह विधि श्रेष्ठ नहीं है। शल्य कर्म करते समय संज्ञाहारक औषधियों के प्रभाव से कभी-कभी श्वासावरोध हो जाता है। इसके अतिरिक्त गलावरोध के कारण उत्पन्न श्वासोपघात में भी यह विधि सुखकर एवं गुणकारी होती है। रोगी को शय्या या भूमि पर पीठ के बल उत्तान लिटाकर वक्ष के अधोभाग में पीठ के नीचे एक ३-४ इञ्च ऊँचा तकिया रखकर ऊंचा कर देते हैं। जिह्वा संदंश (Tongue forceps) से जिह्वा को मुख के बाहर निकाल कर रखना चाहिये। इसके बाद चिकित्सक रोगी के सिरहाने खड़े होकर (या घुटने टेककर) कूर्पर संधि के पास दोनों बाहुओं को पकड़ कर धीरे-धीरे रोगी के सिर के ऊपर की ओर ले जाता है। वहाँ पर ३ सेकण्ड रुककर पुनः दोनों बाहुओं को नीचे की ओर लाकर वक्ष के दोनों पार्श्वों पर रखकर पूरे बल से दबाता है, जिससे वक्ष-प्राचीर दब कर दोनों

फुफ्फुसों का संकोच होता है और भीतर प्रविष्ट वायु बाहर निकल जाती है। बाहुओं को पुनः सिर की ओर ले जाने से वक्ष का विस्तार होकर फुफ्फुस भी फैलते हैं तथा वायु बाहर से भीतर प्रविष्ट होती है। यह क्रिया कम-से-कम एक मिनट में १५ बार करनी चाहिये। यदि श्वसन क्रिया पुनः चालू होनी होती है तो प्रायः आधा घण्टे में कुछ लक्षण मालूम पड़ने लगते हैं। फिर भी १॥ घण्टे तक इन क्रियाओं से लाभ परिलक्षित न होने पर विराम किया जा सकता है।

पंचम अध्याय
पथ्य एवं परिचर्या

प्राच्य चिकित्सा ग्रन्थो में पथ्य पालन का विशेष महत्त्व दिया गया है। भिन्न-भिन्न व्याधियों में विशिष्ट आहारों का उल्लेख सभी ग्रंथों में मिलता है। देश-काल एवं दूसरी प्रांतीय भिन्नताओं के आधार पर पथ्यापथ्य निरूपण में भी कुछ परिवर्तन करना होता है। वास्तव में व्याधि की तीव्रावस्था में लंघन तथा जीर्णावस्था में विशिष्ट पथ्यों का प्रयोग प्राच्य चिकित्सा का मूल आधार रहा है। व्याधियों तथा उसके उत्पादक दोषों की अंशांश विकल्पना के बाद प्रयोज्य पथ्य के मौलिक उपादानों की अंशांश विकल्पना करके पथ्य का निर्णय करने का विधान शास्त्रों में मिलता है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में भी अनेक जीर्ण व्याधियों—मधुमेह, आमाशयिक व्रण, आम-प्रवाहिका, वातरक्त, शोथ, हृद्रोग, प्रमेह आदि—में विशिष्ट पथ्यों के महत्त्व का उल्लेख किया गया है।

आयुर्वेद में अधिकांश व्याधियों का मूल कारण आहार की विषमता मानी जाती है। देश-काल-ऋतु के अनुरूप सात्म्य, सुपाच्य, पोषक एवं बलकारक आहार का सेवन स्थिर-स्वास्थ्य का मूल आधार है। शरीर की प्रत्येक कोषा की जीवनी शक्ति, प्रतिकारक शक्ति तथा उसकी परिपुष्टि पथ्य-आहार के द्वारा ही होती है। शरीर के रुग्ण होने पर, जब कि जीवनी शक्ति की सर्वाधिक अपेक्षा होती है, पथ्य का महत्त्व अधिक बढ़ जाता है।

पथ्य निर्णय करते समय निम्नलिखित सिद्धान्तों पर ध्यान रखना चाहिये—

हितकर पथ्य—कुछ आहार द्रव्य प्रकृत्या रोगी को सात्म्य और कुछ असात्म्य होते हैं। जो आहार रोगी को अनुकूल न आता हो, व्याधि की दृष्टि से उपयोगी होने पर भी उसका त्याग करना ही उचित है। बहुत से रोगियों को खाली पेट दूध का सेवन करने से वायु का प्रकोप, कुछ लोगों को रोटी का सेवन करने से आमदोष की उत्पत्ति और इसी प्रकार कुछ लोगों को दूध न मिलने पर शौच शुद्धि ही नहीं होती है। इसलिये रोगी को स्वाभाविक जीवन में क्या हित-अहित है इसका पूर्ण परिज्ञान कर पथ्य विनिश्चय करना चाहिये।

प्रकृति एवं दोष—जो आहार रोगी की प्राकृतिक विषमताओं एवं रोग के प्रकुपित दोष को शान्त करने वाला अर्थात् शारीर-प्रकृति एवं रोग-प्रकृति से प्रतिकूल गुण धर्मवाला हो उसकी योजना की जाती है। किन्तु वातप्रकृति के रोगी में कफ प्रधान दोष होने पर यह समस्या जटिल हो जाती है, अतः यहाँ पर दोष की शान्ति की व्यवस्था करते हुये सात्म्य योजना करनी चाहिये।

व्याधियाँ—कुछ व्याधियों में विशेष प्रकार के आहार-विहार के प्रयोग एवं निषेध का स्पष्ट वर्णन किया गया है। प्रमेह, कुष्ठ एवं विसर्प में चने का प्रयोग, जीर्ण ज्वर में दूध का प्रयोग, उदर रोगों में तक्र का प्रयोग एवं उन्माद–अपस्मार में घृत

का प्रयोग विशेषतया व्याधि शामक माना जाता है। इसलिये प्रकृति-देश-काल से विपरीत होने पर भी इस विशिष्ट व्याधि शामक पथ्य का प्रयोग उचित परिवर्तन के साथ करना पड़ता है।

देश-काल—पथ्य निर्णय में देश-काल का सर्वाधिक महत्त्व है। जिस देश में जिस प्रकार के पथ्य प्रयोग का क्रम प्रचलित हो, प्रायः वही क्रम व्यवहृत करना चाहिये। पंजाब में रोग-मुक्ति के बाद उबाले हुए गेहूँ के आटे की रोटी, मध्यप्रान्त में यव की रोटी और बंगाल में पुराना चावल तथा मत्स्य-मांसरस का व्यवहार पथ्य में होता है। बहुत प्रान्तों में पथ्य का प्रारम्भ पटोलयूष, मुद्गयूष या लाजमण्ड से भी करते हैं। शीत-वर्षा व हेमन्त में पथ्य प्रयोग में गर्मी एवं क्लेद के अनुसार कुछ परिष्कार करना पड़ता है।

आहार-शक्ति—रोगी की पाचन शक्ति के आधार पर लघु, मृदु या साधारण गुरुपाकी द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है। रोगी की आहार शक्ति क्षीण होने पर लाजमण्ड, मुद्गयूष, पटोलयूष; मध्य शक्ति होने पर पुराने शालि का भात, पतली खिचड़ी; प्रबल होने पर गेहूँ-यव की रोटी, छेना आदि का प्रयोग किया जाता है।

रोचकता—पथ्य को रोगी की रुचि के अनुकूल बनाने की चेष्टा करनी चाहिये। रोचक वस्तु के सेवन से मन की प्रसन्नता, उद्गार शुद्धि तथा पथ्य का परिपाचन भली प्रकार होता है।

पोषकता—व्याधि से कर्षित होने के कारण रोगी बहुत क्षीण हो जाता है। अतः पथ्य लघु तथा सात्म्य होने के साथ ही शरीर की धातुओं का पोषण करनेवाला होना चाहिये।

अवस्था—बाल्य, युवा, वृद्ध और गर्भिणी तथा सद्यःप्रसूता के लिये पथ्य क्रम में उनके विशिष्ट आहार तथा लंघन सामर्थ्य के आधार पर परिवर्तन करना पड़ता है।

परिणाम—पथ्य प्रयोग से परिणाम में धातुपोषण के अतिरिक्त मल शुद्धि, मूत्र-प्रवृत्ति, वातानुलोमन आदि गुण होने चाहिये। कुछ द्रव्य मल को बाँधने वाले, कुछ शोधन करनेवाले तथा कुछ अग्नि प्रदीप्त करनेवाले होते हैं। क्षुधा बढ़ाने के लिये पटोल यूष का प्रयोग, मलशोधन के लिए मुद्गयूष और छेने के पानी का प्रयोग तथा मल स्तम्भन के लिये केले के यूष का प्रयोग किया जाता है।

मात्रा—पथ्य की मात्रा सर्वदा अल्प रहे जिससे रोगी की रुचि आहार पर बनी रहे। एक बार में रुचि के आधिक्य से अतिमात्र पथ्य सेवन करने पर अरुचि हो जाती है।

प्रदान समय—रोगी को पथ्य नियमित पमय पर, दोषों के शान्त हो जाने के उपरान्त, ताजा बनाकर देना चाहिए। जिन रोगों में अपराह्न में कष्ट बढ़ने की सम्भावना होती है, उनमें पथ्य सायंकाल दिया जाता है। अन्यथा प्रातःकाल ९-१० बजे के बीच में पथ्य का उत्तम समय माना जाता है। पहले दिया हुआ पथ्य पूरी तरह से पच जाय, उसके बाद ही दूसरे आहार द्रव्यों का सेवन बताया जा सकता है।

अवस्था, देश-काल, श्रम एवं सात्म्यता आदि को आधार मानकर आहार की उपयोगिता का वर्णन किया गया है। नियमित रूप में संतुलित आहार का सेवन करते रहने से जीवन भर निम्नलिखित कार्य होते रहते हैं :—

१. क्षतिपूर्ति—जगत् की सारी सृष्टि में निरन्तर गति होती रहती है। जीवित सृष्टि में तो शरीर की प्रत्येक कोषा अबाधगति से कुछ न कुछ क्रिया करती रहती है। प्रगाढ निद्रा के समय हृदय, फुफ्फुस, अंत्र, वृक्क आदि अंगों की क्रियाशीलता बनी रहती है। इस निरन्तर क्रियाशीलता से शारीरिक धातुओं का क्षय होता रहता है। शरीर की क्षतिपूर्ति आहार के सेवन से ही होती है।

२. धातुवृद्धि—जन्मोत्तर काल में युवावस्था पर्यन्त शरीर की वृद्धि होती जाती है। संतुलित आहार का सेवन करने से सभी धातुओं, अंग-प्रत्यंगों की वृद्धि समभाव से होती है। क्षतिपूर्ति एवं धातु वृद्धि के अनुपात में आहार की मात्रा निर्भर करती है। अधिक श्रम करने या वर्धमानावस्था में आहार की मात्रा अधिक होनी चाहिए। वृद्धावस्था में शारीरिक क्रियाशीलता कम हो जाने तथा धातुवृद्धि का कार्य कम होने के कारण पोषक, सुपाच्य किन्तु मात्रा में अल्प आहार लाभकर होता है।

३. ऊष्मा की उत्पत्ति—शरीर की सभी क्रियाओं के नियमित रूप से होने में नियत ऊष्मा की अपेक्षा होती है। आहार के प्रजारण से शरीर-कोषाओं में निरन्तर ऊष्मा उत्पन्न होती रहती है। भोजन के कुछ काल बाद ऊष्मा की वृद्धि इसी कारण होती है, तथा संतापयुक्त व्याधियों में अल्पमात्राहार के महत्त्व का भी यही मुख्य कारण है।

४. शक्ति की उत्पत्ति—शारीरिक श्रम के अनुरूप आहार का सेवन करते रहने पर शारीरिक शक्ति का उत्तरोत्तर विकास होता है। कुछ समय तक अनशन करने से प्रबल व्यक्ति भी निर्बल हो जाते हैं। सामान्यतया आहार की मात्रा के अनुपात में उससे ४५% ऊष्मा तथा ऊष्मा की ⅕ शक्ति की उत्पत्ति होती है।

जीवनोपयोगी इन क्रियाओं के होने में आहार के स्थूल रूप में उत्तरदायी होने पर भी वास्तविक महत्त्व उसके विशिष्ट संघटनों का होता है। आहार में प्रोभूजिन, स्नेह कार्बोज, खनिज लवण, जल एवं जीवतिक्ति द्रव्यों का उचित अनुपात में होना आवश्यक है। इस प्रकार संतुलित आहार में निम्नघटक होने चाहिए :—

१. प्रोभूजिन—प्रोभूजिन की पर्याप्त मात्रा शारीरिक वृद्धि, विकास तथा क्षतिपूर्ति एवं शक्तिवृद्धि के लिए आवश्यक है।

२. कार्बोज—कार्बोज की आवश्यकता मुख्यतया दैनिक आवश्यक उषंकरी[1] अर्हा (Caloric value) के निमित्त तथा शक्ति उत्पत्ति एवं अम्लतोत्कर्ष प्रतिषेध (Prevention of ketosis) के लिये आवश्यक है।

३. स्निग्ध पदार्थ—स्निग्ध पदार्थों की आवश्यकता अल्प मात्रा में संचित शक्ति-स्रोत एवं उपयोगी वसाम्लों के उत्पादन की दृष्टि से होती है।

---

१. ४० तोला पानी को ४ अंश (फै०) ताप बढ़ाने के लिए आवश्यक उष्णता को एक उषंकरी अर्हा (Calory) माना जाता है।

४. खनिज लवण तथा जीवतिक्ति—इनकी आवश्यकता शरीर की प्रत्येक कोषा की पूर्ण क्रियाशीलता एवं रासायनिक संतुलन (Electolytic equilibrium) के लिए होती है।

५. जल—सारे आहार का पाचन, शोषण, आहार रस का सारे शरीर में प्रवाह तथा नियमित रूप से दैनिक क्रियाओं से उत्पन्न मलों का स्थानान्तरण एवं शोधन करने के लिए पर्याप्त मात्रा में जल की आवश्यकता होती है।

उक्त आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुये आहार में मांस, मछली, अण्डा या शाकाहारी व्यक्तियों के लिये पर्याप्त दूध, गेहूँ, जौ, चना, चावल, दाल आदि एवं हरी शाक-सब्जी तथा फल और स्नेहांश की समानुपातिक उपस्थिति आवश्यक है। प्रोभूजिन, कार्बोज तथा स्नेह आहार के मुख्य संघटन हैं, इनमें प्रोभूजिनों से मुख्यतया धातु बृंहण एवं क्षति पूरण तथा कार्बोज एवं स्नेहांश से ऊर्जोत्पादन होता है। क्षति पूरण एवं धातु बृंहण सभी अवस्थाओं में समान रूप में ही आवश्यक होता है, अतः प्रोभूजिनों की मात्रा शरीर-भार के अनुपात में यावज्जीवन एक सी ही रहती है, परिश्रम के न्यूनाधिक होने पर भी इसमें विशेष अन्तर नहीं होता। उष्णता एवं ऊर्जा की आवश्यकता देश, काल, श्रम, व्यवसाय, अवस्था आदि के अनुसार बदलती रहती है, इसीलिये स्नेह एवं कार्बोजों की मात्रा दैनिक आहार में घट-बढ़ सकती है। सामान्यतया ५ सेर शरीर-भार होने पर ६-८ माशा के अनुपात में प्रोभूजिन की आवश्यकता होती है। अर्थात ६० सेर के औसत भार वाले व्यक्ति को ६ से ८ तोला तक प्रोभूजिन की मात्रा आवश्यक है। उष्णता के लिये प्रांगार जातीय (Carbon) द्रव्यों की आवश्यकता है जो मुख्यतया स्नेह और कार्बोजों से प्राप्त होते हैं। ऊर्जा एवं उष्णता की दृष्टि से स्नेह एवं कार्बोजों में विशेष अन्तर नहीं होता, किन्तु स्नेह पाचन में गुरु एवं संक्रन्दित रूप में उष्णतोपादक होते हैं, इनका आहार में अधिक उपयोग करने से पाचन यंत्रों में गुरु पाच्यता के कारण विकृति हो सकती है। उसी प्रकार कार्बोज सुपाच्य होने पर भी उष्णतोत्पादन में उसकी बहुत अधिक मात्रा आवश्यक होती है। अधिक मात्रा में आहार लेने पर आमाशय आदि अंगों पर भार पड़ने के कारण विकारोत्पत्ति हो सकती है। यदि अधिक श्रम करना हो तो स्नेह की मात्रा बढ़ा देनी चाहिये अन्यथा स्नेह की मात्रा प्रोभूजिन के बराबर तथा कार्बोजों की मात्रा पाँचगुनी (१:१:५) ही रखना चाहिये।

आहार का प्रमापन बहुत कुछ उष्मंकरी अर्हा के आधार पर किया जाता है। क्योंकि आयु, श्रम, पोषण-स्थिति, शरीरभार आदि के कारण ऊष्मा एवं शक्ति की आवश्यकता बदलती रहती है। उष्मंकरी अर्हा के प्रमाण से आवश्यकता एवं आहार द्रव्यों की ऊष्मोत्पादक शक्ति के अनुरूप संतुलन किया जाता है। साथ के कोष्ठकों में आयु एवं शरीर-भार के अनुपात में उष्णता की आवश्यकता और मुख्य आहार द्रव्यों की उष्मंकरी अर्हा का पृथक्-पृथक् वर्णन किया गया है।

दैनिक कैलरी आवश्यकता निदर्शक कोष्टक[1]

पुरुष (५५ कि. ग्रा. या १२० पौं.)	हलका या बैठ कर करने का श्रम	२४००	कैलरी[2]
	साधारण श्रम	३०००	"
	अत्यन्त परिश्रम का कार्य	३६००	"
स्त्री (४५ कि. ग्रा. या १००-पौं.)	हलका या बैठ कर करने का कार्य	२१००	"
	साधारण कार्य	२५००	"
	अत्यन्त परिश्रम का कार्य	३०००	"
	सगर्भावस्था	२१००	"
	स्तन्यकाल	२७००	"
बालक (१ से १२ वर्ष तक)	१ वर्ष से कम	प्रति कि. ग्रा. १००	"
	१ से ३ वर्ष तक	९००	"
	३ से ५ वर्ष तक	१२००	"
	५ से ७ वर्ष तक	१४००	"
	७ से ९ वर्ष तक	१७००	"
	९ से १२ वर्ष तक	२०००	"
किशोर तथा युवक	१२ से २१ वर्ष तक	२४००	"

कैलरी की आवश्यकता के संबन्ध में लीग ऑफ नेशन की विशेषज्ञ समिति के निम्नलिखित विचार हैं :—

(१) समशीतोष्ण निवासी साधारण जीवन व्यतीत करने वाले पुरुष या स्त्री के लिये बिना किसी शारीरिक परिश्रम के २४०० कैलरी न्यूनतम मात्रा आवश्यक रहती है ।

(२) शारीरिक श्रम के अनुसार निम्नलिखित अधिक कैलरी आवश्यक होगी :—

हलका श्रम	७५ कैलरी तक	प्रति घण्टा कार्य के लिये
साधारण श्रम	७५ से १५० कैलरी तक	,, ,, ,,
कठिन श्रम	१५० से ३०० ,,	,, ,, ,,
अत्यन्त कठिन श्रम	३०० तक या अधिक कैलरी ,,	,, ,,

उष्णप्रदेशीय होने के कारण भारतीय व्यक्ति के लिये २४०० कैलरी के स्थान पर कुछ कम न्यूनतम कैलरी मान की आवश्यकता रहती है ।

१. Nutrition Advisory Committee Report 1944

२. स्वांगीकृत होने योग्य कैलरी की मात्रा (Net caloric)

सामान्य स्वस्थ व्यक्ति के लिए औसतन २००० कैलरी के आहार की आवश्यकता होती है। अल्प श्रम, विशेषकर बैठे-बैठे कार्य करने वाले व्यक्ति के लिए २५०० कैलरी, कुछ अधिक कार्य करने वाले के लिये ३००० कैलरी और बैठने के अतिरिक्त सामान्य स्तर में चलने-फिरने का काम करने वाले के लिये ३५०० तथा कठोर श्रम करने वाले को ४५०० कैलरी या उससे भी अधिक ताप उत्पन्न करने वाले भोजन की आवश्यकता होती है।

१५० पौण्ड शरीरभार वाले व्यक्ति के लिये ७५-१०० ग्राम प्रोभूजिनों की अपेक्षा होती है। बालकों एवं वर्धमानावस्था के किशोरों तथा गर्भिणी स्त्रियों में प्रोभूजिनों की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक चाहिये। प्रोभूजिनों के अनेक विभिन्न वर्ग होते हैं, सामान्य आहार में मिश्रित स्वरूप की प्रोभूजिनें उपयोगी मानी जाती हैं। प्रोभूजिनों की परिणति एमिनोएसिड के स्वरूप में शरीर को सात्म्य होती है, जो प्रायः जान्तव वर्ग से ही उपलब्ध होता है। वानस्पतिक द्रव्यों में प्राप्त होने वाला प्रोभूजिनों का अंश अपेक्षाकृत हीनवीर्य माना जाता है। दूध या दूध के दूसरे पदार्थ दही, मटठा आदि तथा अण्डा और मांस प्रोभूजिनों के जान्तव वर्ग के मुख्य स्रोत हैं। वानस्पतिक पदार्थों में द्विदल वर्ग के अनाजों में इसकी मात्रा पर्याप्त होती है।

स्नेहांश की मात्रा औसतन प्रोभूजिनों के समान ही आवश्यक होती है। मक्खन, मलाई, घी तथा जान्तव वसा के रूप में और वानस्पतिक तैलों से स्नेहांश की मुख्य रूप से पूर्ति होती है। स्निग्ध द्रव्यों से शरीर को संचित शक्ति मिलती है, अतः कठोर श्रम करने वाले व्यक्तियों के लिये स्नेहांश की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक चाहिये।

आहार का प्रधान अंश कार्बोजों के रूप में प्रयुक्त होता है। प्रोभूजिन या वसामय पदार्थों से पांच गुनी मात्रा में इनका सेवन सामान्य श्रम वाले व्यक्तियों के लिये उपयुक्त होता है। गेहूँ, जौ, चावल आदि अन्न; फल एवं शाक; गुड़-शर्करा आदि तथा दूध का बहुत सा अंश कार्बोज-प्रधान आहार हैं। भारतीयों के भोजन में इनकी मात्रा अपेक्षाकृत अधिक होती है। आहार का सबसे सस्ता वर्ग होने के नाते तथा स्थानीय सुलभता की दृष्टि से संतुलित भोजन न होने पर भी कार्बोजप्रधान आहार ही मुख्य रूप से भारतवर्ष में प्रचलित है। मांसाहारी व्यक्तियों में भी आहार का मुख्य अंश रोटी या चावल रहता है। इस प्रकार औसत भारतीय भोजन संतुलित आहार नहीं कहा जा सकता। भोजन में हरी शाक-सब्जी-फल एवं दूध की पर्याप्त मात्रा न रहने के कारण हीन पोषण के विकार अधिक मिलते हैं। रुग्ण-व्यक्तियों की चिकित्सा करते समय हीन पोषण जनित शारीरिक दुर्बलता एवं हीन प्रतिकारकता का ध्यान रखना चाहिये।

खनिज लवण और जीवतिक्ति वर्ग की आवश्यक पोषणता के द्रव्य भी मुख्य रूप से शाक-सब्जी, फल-दूध, अण्डा-मक्खन आदि में रहते हैं। शाक-सब्जी के अधिक पकाने, दूध के सर्व-सुलभ न होने, अण्डा, मांस, मक्खन आदि के मूल्यवान होने के

कारण दैनिक आहार में इनकी न्यूनता भी रहती है। ऋतु सुलभ सस्ते फल एवं शाकों का कच्चे रूप में तथा चना एवं मूंग को अंकुरित रूप में बिना पकाये हुये और आम की गुठली, बेल, महुआ, मट्ठा आदि अल्प व्यय साध्य पोषक तत्त्वों के प्रयोग की सलाह दी जा सकती है।

आहार में दूध या दूध के दूसरे उत्पादन पर्याप्त मात्रा में रहने पर सामिष आहार की तुलना में स्वास्थ्य के लिये अधिक हितकारी होते हैं। दीर्घ जीवन तथा दीर्घ आरोग्य, दोनों दृष्टियों से मांसाहारियों की अपेक्षा दूध-फल एवं शाक-सब्जी पर रहने वाले व्यक्ति अधिक सफल माने जाते हैं। भारत के अधिकांश प्रान्तों में उष्ण ऋतु की प्रधानता के कारण मांसाहार की अपेक्षा शाकाहार हितकर होता है। पहाड़ी स्थलों एवं दूसरे शीत प्रान्तों में मांस जाति के द्रव्यों का आहार में अधिक प्रयोग किया जाता है।

शिशुओं का आहार—शिशुओं के लिये मातृ-स्तन्य सर्वोत्तम आहार माना जाता है। कम से कम ६-९ मास की आयु तक यथाशक्ति स्तन्य-पान कराना चाहिये। माता की कुछ व्याधियों में स्तन्य-पान का परित्याग करना पड़ता है।

१. **स्तन के विकार**—स्तन पाक, स्तन की क्षयमूलक व्याधियाँ, चूचुक के विकार आदि।

२. जीर्ण वृक्क शोथ, राज यक्ष्मा, घातक अर्बुद तथा स्तन्य-पान काल में गर्भ-धारण हो जाने पर। इनके अतिरिक्त माता के तीव्र संक्रामक रोगों से ग्रस्त होने पर अल्पकाल के लिये स्तन-पान का निषेध है।

३. **स्तन्य नाश**—किसी भी कारण से माता के दूध का पूर्ण अभाव।

४. शिशु की स्तन्य-पान में असमर्थता उत्पन्न करने वाली व्याधियों यथा विदीर्ण तालु (Cleft Palate), विदीर्ण ओष्ठ (Hair Lip) आदि जन्मजात विकृतियों तथा ओष्ठ विदार, मुखपाक आदि अल्पकालिक व्याधियों में शिशु स्तन्यपान करने में असमर्थ रहता है। इन अवस्थाओं में मातृ स्तन्यवत् गाय या बकरी के दूध का संतुलन करके शिशु के पोषण की व्यवस्था करनी चाहिये। एक स्वस्थ शिशु को प्रति पौण्ड शारीरिक भार के अनुपात से ५० कैलरी ताप उत्पन्न करने वाले आहार की अपेक्षा होती है, जिसकी पूर्ति २॥ औंस स्तन्य या तत्सम दूध द्वारा हो सकती है। इस प्रकार १२ पौण्ड के शिशु के लिये ३० औंस मात्र दूध की आवश्यकता होती है। ३ मास की वय तक ३ घण्टे के व्यवधान से और उसके बाद ४-५ घण्टे के व्यवधान से दूध का सेवन कराना चाहिये। ३-४ मास के बाद स्वस्थ शिशुओं को दस बजे रात्रि के बाद प्रातः ६ बजे से पहले पोषण की अपेक्षा नहीं रहती। माता के दूध से या उसके अभाव में दूसरे दुग्ध का प्रयोग करने पर प्रोभूजिन, कार्बोज एवं खनिज लवणों की आवश्यक पूर्ति हो जाती है। माता के दूध में जीवतिक्ति ए और डी पर्याप्त मात्रा में होते हैं, किन्तु जीवतिक्ति बी अपेक्षाकृत कम होता है तथा जीवतिक्ति सी की मात्रा भी कम

होती है। इसलिये ३ मास की वय के बाद जीवतिक्ति बी तथा सी की पूर्ति के लिये संतरा, मुसम्मी, टमाटर या सेव का रस एक बार ४-६ चम्मच की मात्रा में प्रतिदिन देना चाहिये। ६ मास के बाद पाचन ठीक रहने पर जीवतिक्ति ए और डी की पूर्ति के लिये १ चम्मच काडलिवर आयल का सेवन कराना शरीर के समुचित विकास के लिये आवश्यक होता है। स्तन्य तथा तत्सम दूसरे दूध में लौह की मात्रा अपेक्षाकृत कम होती है। इसकी पूर्ति के लिये लौहांश की प्रधानता वाले गाजर, आंवला, सेव या अनार के रस का प्रयोग बीच-बीच में करते रहना उचित होता है। माता के भोजन में फल, हरे शाक तथा दूध की पर्याप्त मात्रा रहने पर स्तन्य में जीवतिक्ति बी., सी. तथा ए. की आवश्यक मात्रा आती रहती है, इसलिये स्तन्यपान-काल में माता के आहार की पोषकता का ध्यान रखना चाहिये। अधिक मिर्च-मसालेदार, तला हुआ तथा क्षारप्रधान भोजन स्तन्य की पोषकता ही नहीं घटाता, उसकी मात्रा तथा सुपाच्यता भी विकृत करता है, जिसके कारण स्तन्यपायी शिशु में वमन, आध्मान, अतिसार आदि उपद्रव पैदा होते हैं।

६ मास की आयु के बाद माता का दूध पर्याप्त न होने पर बालक को गाय या बकरी का दूध दिन में २-३ बार देना चाहिये। गाय के दूध में मातृ दुग्ध की अपेक्षा प्रोभूजिन के अंश अधिक तथा शर्करा की मात्रा कम होती है। गाय के दूध के प्रोभू-

मातृस्तन्य तथा गोदुग्ध की तुलना का कोष्ठक

दूध	प्रोभूजिन	वसा	शर्करा	खनिज	जल
गोदुग्ध	३.५	३.५	७.७५	०.७५	४७
मातृ स्तन्य	१.५	३.५	७.५	०.२	४७

जिन कठोर तथा पचने में भारी भी होते हैं। गाय के दूध में स्नेहांश मातृ दुग्ध के समान सूक्ष्म विलेय अवस्था में नहीं होता। इस कारण भी प्रारम्भ में दूध का सेवन कराने पर अपचन के लक्षण पैदा होते हैं। गायों का उत्तम स्वास्थ्य न होने के कारण उनके दूध का प्रयोग उबालने के बाद ही करना चाहिये। उबालने से दूध का जीवतिक्ति सी नष्ट हो जाता है। अतः उसकी अलग से पूर्ति करनी चाहिये। प्रारम्भ में दूध की आधी मात्रा में जल तथा अष्टमांश मात्रा में शर्करा मिलाकर दूध का प्रयोग करना चाहिये। धीरे-धीरे सात्म्यता के अनुपात में जल की मात्रा घटायी जा सकती है। ग्रीष्मऋतु में मध्याह्न में एक-दो बार उबाला हुआ ठण्डा जल १-२ औंस की मात्रा में पिलाया जा सकता है। दूसरी ऋतुओं में दूध में उपस्थित जल की राशि आवश्यकता की पूर्ति कर देती है। कदाचित् जन्म के बाद ही मातृस्तन्य बच्चे को न मिल सके तो गाय के दूध में त्रिगुण जल मिलाकर प्रयोग किया जा सकता है। १ माह के बाद

जलीयांश की मात्रा दूध से आधी तथा ३ माह के बाद चौथाई कर देनी चाहिये। ६ मास के बाद उबालने में जितना जलीयांश जल जाने की सम्भावना हो उतना ही मिलाना चाहिये। सममात्रा में दूध में जल मिला रहने पर प्रति ३ औंस मिश्रण में १ चम्मच शर्करा की मात्रा रहनी चाहिये, तथा दूध की मात्रा अधिक रहने पर प्रति ४ औंस में १ चम्मच शर्करा की मात्रा पर्याप्त होती है।

कभी-कभी शिशुओं में दूध का ठीक पाचन नहीं होता, जिससे वमन, आध्मान या अतिसार का कष्ट हो जाता है। ऐसी अवस्था में यवपेया (बार्लीवाटर) दूध से द्विगुण या समान मात्रा में मिलाकर पिलाना अच्छा है। २ चम्मच यव १ पाव पानी में पकाकर ३-४ औंस शेष रहने पर छान कर दूध में मिलाकर दे सकते हैं। इससे लाभ न होने पर दुग्धाम्ल (Lactic acid) या निम्बूकाम्ल (Citric acid) का प्रयोग किया जाता है। इनकी सहायता से आमाशय में दूध से दही बनने में सहायता मिलती है, जिससे पाचन में सुविधा होती है। १ चम्मच दुग्धाम्ल १ पौण्ड दूध के लिये पर्याप्त होता है। आवश्यक मात्रा में दूध गरम कर लेने के बाद दुग्धाम्ल मिलाकर पिलाना चाहिये। दुग्धाम्ल को दूध गरम करते समय न मिलाना चाहिये और दुग्धाम्ल मिलाया हुआ दूध देर तक रखकर न पिलाना चाहिये। दुग्धाम्ल के अभाव में निम्बूकाम्ल के २५ प्रतिशत घोल का २ चम्मच १ पौण्ड दूध में मिलाया जाता है। दूध को गरम कर निम्बूकाम्ल की आवश्यक मात्रा मिलाकर शीघ्र पिला देना चाहिये।

अम्ल मिश्रित दूध अपेक्षाकृत गाढ़ा होता है तथा शर्करा की मात्रा कुछ अधिक मिलानी पड़ती है। गाय का दूध उपलब्ध न होने पर डिब्बे के दूध की व्यवस्था बच्चे के पोषण के लिये करनी पड़ती है। डिब्बों के उपलब्ध दुग्धों को २ प्रमुख वर्गों में बाँटा जा सकता है—१. मातृस्तन्यवत् शुष्क दुग्ध (Humanised dry milk), २. सम्पूर्ण मक्खनयुक्त शुष्क दुग्ध (Full cream dry milk)। प्रारम्भ में बच्चों को अर्ध मक्खनयुक्त दुग्ध या मातृस्तन्यवत् दूध पर रखना चाहिये। १ औंस गरम जल में १ चम्मच शुष्क दुग्ध का चूर्ण मिला कर पिलाना चाहिये। इस प्रकार से १ औंस दूध से १६ अंश कैलरी ताप की उपलब्धि होती है तथा सम्पूर्ण मक्खनयुक्त दुग्ध से १८ कैलरीताप मिलता है। बच्चे की आयु के साथ पूर्वनिर्दिष्ट क्रम से दूध की मात्रा बढ़ाते जाना चाहिये। निम्नलिखित पेटेण्ट दूध के उक्त श्रेणियों के डब्बे बाजार में मिलते हैं—

(क) मातृ स्तन्यवत् शुष्क दुग्ध—

१. ऑस्टरमिल्क नं० १ Oster Milk (No. 1).
२. ग्लैक्सो (सनशाइन) Glaxo. (Sunshine).
३. काउ ऐण्ड गेट (हाफ क्रीम्ड) Cow & Gate (Half creamed).
४. एलेनबरी नं० १ तथा नं० २ (Allenburry No. 1 & No. 2).
५. ट्रू फूड (ह्यूमनाइज्ड) True Food (Humanised).

६. लैक्टोडेक्स Lactodex.

(ख) सम्पूर्ण मक्खनयुक्त शुष्क दुग्ध

१. Oster Milk (No. 2)
Glaxo (Full cream)
Cow & Gate (Full cream)
Allenburry (Full cream)
True Food (Full cream)
Dumex Baby Food.
Shishu.

कभी-कभी दूध का पाचन न होने के कारण आध्मान एवं अतिसार का कष्ट अधिक बढ़ जाता है। ऐसी अवस्था में मीठे दही को मथकर समान मात्रा में जल मिलाकर प्रयोग करना चाहिये। दही का प्रयोग सम्भव न होने पर इलेडान (Eledon) या लैसिडेक (Lacedac, Cow & Gate) का प्रयोग किया जा सकता है।

स्नेहांश का प्रयोग बच्चों के यकृत् विकार से ग्रस्त होने पर हितकर नहीं होता। इन अवस्थाओं में सम्पूर्ण मक्खन निकाला दूध प्रयोग में लाना चाहिये।

४-५ मास की आयु के बाद दूध के पोषण के अतिरिक्त बच्चों को १ चम्मच काड लिवर आयल तथा १ औंस सन्तरे का रस प्रतिदिन देने से जीवतिक्ति ए०, सी० तथा बी० की आवश्यक पूर्ति हो जाती है। काड लिवर आयल के स्थान पर ½ चम्मच गाय का घी एवं ४ चम्मच गाजर का रस दिया जा सकता है। एक अण्डे का पीतांश दूध में मिलाकर दिन में एक बार देते रहने से सभी आवश्यक तत्त्वों की पूर्ति हो जाती है।

६-७ माह की अवस्था के बाद शाक-सब्जी का रस, दाल का पानी, चावल का मांड या अच्छी तरह पके चावल में दूध मिलाकर एक बार मध्याह्न में देते रहने से बालक का समुचित विकास होता है।

१० मास की अवस्था के बाद भली प्रकार पकी खिचड़ी, उबाली हुई तरकारी, उबाले हुए पानी से धोये हुये फल, अण्डा, बिस्कुट, केला आदि का पाचन-शक्ति के अनुपात में प्रयोग करना चाहिये। अच्छी तरह पका केला बहुत सुपाच्य तथा बालकों के लिये पोषक आहार माना जाता है। १-२ चीनिया केला प्रतिदिन देने से इस अवस्था के आवश्यक सभी संघटकों की पूर्ति हो जाती है।

१-१॥ साल की अवस्था के बाद बच्चों को रोटी का टुकड़ा, चावल, दाल आदि सामान्य भोजन थोड़ी-थोड़ी मात्रा में देना चाहिये।

१॥-२ साल की अवस्था में बच्चे को दिन भर में १-१॥ सेर दूध, १ अण्डा या २ केला, १-२ छटाँक अन्न तथा २-३ छटाँक तरकारी की मात्रा पर्याप्त होती है।

बालकों का आहार—

बच्चों का आहार शारीरिक भार की तुलना में अधिक होना चाहिए। शारीरिक धातुओं के विकास तथा उनकी चञ्चलता एवं खेल-कूद के दैनिक आयास के कारण प्रोभूजिनों, कार्बोजों एवं जीवतिक्ति वर्ग तथा खनिज लवणों की बच्चों को अधिक आवश्यकता होती है। ६-८ वर्ष की आयु के बालकों को २००० कैलरी, ८ से १० वर्ष की आयु तक २५०० कैलरी, १० से १५ वर्ष की आयु तक ३००० कैलरी और १६ वर्ष की आयु के बालकों को ३२०० कैलरी तापांश के आहार की आवश्यकता होती है। १६ वर्ष से अधिक आयु में ३८०० कैलरी का आहार आवश्यक होगा। बालिकाओं में १२ वर्ष के बाद की आयु में बालकों की अपेक्षा कम तापांश का आहार हितकर होता है। १२ वर्ष से १५ वर्ष की बालिकाओं में २८०० तापांश तथा १६ से अधिक वय में २८०० तापांश कैलरी का आहार पर्याप्त होता है।

बालकों में शारीरिक धातुओं की पुष्टि एवं वृद्धि के लिए प्रोभूजिनों की मात्रा सर्वाधिक होती है। शरीर की सर्वाधिक वृद्धि के समय अर्थात् बालिकाओं में १२ से १५ वर्ष तक तथा बालकों में १३ से १६ वर्ष की आयु में २·५ से ३ ग्राम प्रोभूजिन प्रति किलोग्राम शारीरिक भार के अनुपात में आवश्यक होता है। इस काल में आवश्यक प्रोभूजिनों की पूर्ति उच्चश्रेणी—जान्तव वर्ग से करनी चाहिए। दुग्ध की प्रोभूजिन इस दृष्टि से उत्तम मानी जाती है। व्यवहार्य होने पर अण्डा तथा मांस का भी सेवन कराया जा सकता है। दाल, फलियाँ तथा शाक एवं फल वर्ग से प्राप्त प्रोभूजिन हीन श्रेणी की मानी जाती है; किन्तु दुग्ध, अण्डा या मांस के सहायक अंश के रूप में इनका उपयोग पर्याप्त लाभकर होता है।

बालकों को युवकों के समान आवश्यक तापांश का अर्द्धभाग कार्बोजों से प्राप्त होना चाहिए। शक्तिवर्धक एवं प्रोभूजिनों की मात्रा-पूर्ति की दृष्टि से दुग्ध, रोटी, चावल, दाल, आलू तथा दूसरी हरी शाक-सब्जियों में उपस्थित कार्बोज का अंश विशेष उपयोगी होता है। शर्करा तथा दूसरे मिष्टान्नों की मात्रा बहुत अधिक न होनी चाहिए।

आहार के शेष अंश की पूर्ति—औसतन कुल तापांश के चौथाई भाग की पूर्ति स्निग्ध उपादानों से करनी चाहिए। शारीरिक विकास तथा जीवनी शक्ति की वृद्धि के लिए जीवतिक्ति ए एवं बी की पर्याप्त आवश्यकता इस काल में होती है। इनकी उपलब्धि स्निग्धांशों से ही होती है। मक्खन, मलाई, घी, अण्डा, गाजर, केला तथा बादाम एवं अखरोट आदि वानस्पतिक मज्जावाले पदार्थों में स्नेहांश के अतिरिक्त जीवतिक्तियों की पर्याप्त मात्रा होने के कारण इनका यथेष्ट मात्रा में प्रयोग करना चाहिए। बच्चों के लिए दुग्धाहार सबसे अधिक हितकर होता है। कभी-कभी अन्नाहार की विशेष अभिरुचि होने के कारण बच्चे दुग्ध का सेवन कम करना चाहते हैं। दुग्ध के प्रति रुचि जागृत रखने के लिए सचेष्ट रहना चाहिए। आवश्यक होने पर दूध से बनी हुई खीर,

दूध में बनी गेहूँ की दलियाँ, दही तथा दूसरे रुचिकर रूपों में दुग्ध का प्रयोग किया जा सकता है। स्वस्थ गाय का धारोष्ण दूध सर्वोत्तम होता है। औसतन १ सेर दूध का प्रतिदिन सेवन इस वय में आवश्यक होता है।

आवश्यक स्नेहांश तथा उच्च श्रेणी की प्रोभूजिनों की पूर्ति के लिए अण्डा लाभकारी आहार है। इसमें जीवतिक्ति ए तथा डी की पर्याप्त मात्रा तथा लौह की स्वल्प मात्रा होने के कारण वर्धमान शरीर के लिए अण्डा उत्तम पूरक खाद्य होता है। हल्के उबाले हुए या खौलते हुए पानी में पूरी तरह उबाल कर एक अण्डे का प्रति दिन सेवन कराना चाहिए। मांसाहारी वर्ग के बालकों को १ छटाँक मांस प्रतिदिन दिया जा सकता है। सामान्य रूप में उबाला हुआ मांस उत्तम होता है। अधिक मसालेदार तथा तले हुए आहार का निषेध कराना चाहिए।

वयस्कों के समान बालकों में हरे शाकों, उबाली हुई तरकारियों तथा पके हुए ताजे फलों का सेवन कराने का विशेष ध्यान रखना चाहिए। खनिज लवण, जीवतिक्ति वर्ग तथा कार्बोजों की पर्याप्त मात्रा होने के कारण इनकी विशेष आवश्यकता होती है। पालक, चुकन्दर, गोभी, गाजर, सलाद, पका हुआ टमाटर, केला, आम, सेव एवं संतरा आदि का प्रयोग विशेष हितकर होता है।

समुचित पाचन एवं शारीरिक पुष्टि तथा वृद्धि के लिए नियतकालिक भोजन की सर्वाधिक महत्ता होती है। वयस्कों के समान ही इस आयु में भी नियमित शयन, आसन, व्यायाम एवं आहार का विशेष ध्यान रखना चाहिए। इस वय में बालक के मानसिक भावों में अन्तःस्रावी ग्रंथियों के प्रभाव के कारण कुछ असंतुलन सा होता है। लज्जा, एकान्त तथा आलस्य आदि की प्रवृत्ति के कारण उसकी प्रेमपूर्वक देखभाल की अपेक्षा होती है। वास्तव में शारीरिक एवं बौद्धिक विकास की दृष्टि से बालकों में यह कैशोर्य-काल सर्वाधिक महत्त्व का होता है। उचित देख-रेख तथा शारीरिक एवं मानसिक विकास का उचित वातावरण उसके जीवन की उत्तरकालीन उन्नति की दृष्टि से बहुत महत्त्व का होता है। शारीरिक एवं मानसिक श्रम, नियमित एवं अनुद्धत जीवन, संयमित एवं संतुलित आहार तथा आलस्य एवं कुण्ठा रहित अभ्यास का जो अनुबंध इस काल में प्रारम्भ होता है, वही जीवन भर स्थायी होता है।

युवकों एवं प्रौढ़ों का आहार इस प्रकरण के प्रारम्भ में निर्दिष्ट मानक के आधार पर होना चाहिए। शारीरिक या मानसिक श्रम, कठोर श्रम या स्वल्प श्रम के अनुपात से आहार के घटकों का संतुलन करना चाहिए। शारीरिक वृद्धि के पूर्ण हो जाने के कारण प्रोभूजिनों की मात्रा कुल आहार के १/५ कैलरी तापांश की होनी चाहिए। कार्बोज तथा स्नेहांश की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक होती है। संतुलित आहार, संतुलित मानसिक एवं शारीरिक श्रम तथा मादक द्रव्यों एवं चटपटी वस्तुओं का परित्याग या स्वल्प सेवन उत्तम स्वास्थ्य तथा कर्मठता का मूल आधार होता है।

गर्भिणी का आहार—गर्भस्थ शिशु की विशिष्ट आवश्यकता तथा इस अवस्था में

रुचिवैचित्र्य के कारण संतुलित आहार की विशेष चिन्ता करनी चाहिए। प्रोभूजिन, जीवतिक्ति वर्ग, खनिज लवण—विशेषतया लौह तथा चूर्णातु (कैल्सियम) एवं कार्बोजों की मात्रा औसत मान से सवाई या ड्योढ़ी होनी चाहिए। स्नेहांश की मात्रा अधिक बढ़ाने की अपेक्षा नहीं होती। एक औसत भारतीय गर्भिणी के व्यवहृत आहार को ध्यान में रखते हुए पूरक आहार को संकेन्द्रित या अनिवार्य औषध के रूप में सेवन कराने की आवश्यकता प्रतीत होती है। गर्भधारणा के तीसरे मास के बाद ताजे फल, हरी शाक-सब्जी, लौह एवं कैल्सियम के औषधयोग, दुग्ध एवं अण्डा आदि के नियमित सेवन का निर्देश करना चाहिए। आहार की सुपाच्यता एवं रुचिवर्द्धकता का इस काल में विशेष महत्त्व होता है। शक्ति के अनुपात में नियमित मृदु व्यायाम का अभ्यास स्वास्थ्य-संरक्षण तथा सुख-प्रसव एवं सन्तति के उत्तम स्वास्थ्य के लिए उपयोगी होता है।

वृद्धावस्था का आहार—

पर्व अवस्था की अपेक्षा शारीरिक श्रम की न्यूनता तथा मानसिक विकारों—चिन्तन-शीलता आदि की स्वाभाविक वृद्धि के कारण इस अवस्था के आहार में कुछ परिष्कार की अपेक्षा होती है। कृशता एवं स्वल्प भोजन के सम्बन्ध का इस अवस्था में विशेष महत्त्व होता है तथा दीर्घ जीवन, दीर्घ आरोग्य एवं स्थिर कार्यक्षमता की दृष्टि से स्वल्प भोजन की महत्ता इस वय में होती है। अल्प श्रम एवं चिन्तन आदि मानसिक विकारों के कारण इस अवस्था में पाचन-क्रिया भी शिथिल हो जाती है। इन परिस्थितियों पर ध्यान रखते हुए भोजन में स्नेहांश की मात्रा पूर्वापेक्षा कम होनी चाहिए तथा सुपाच्य एवं उचित पोषणवाले आहार की व्यवस्था करनी चाहिए। बैठकर कार्य करने वाले ७० कि० ग्रा० शरीर भारवाले वृद्ध पुरुष के लिए २५०० कैलरी तापांश के आहार की आवश्यकता होती है तथा ५५–६० कि० ग्रा० शरीर-भारवाली वृद्ध स्त्री के लिए २१०० कैलरीवाले आहार की अपेक्षा होती है। प्रोभूजिनों की मात्रा कुछ अधिक होनी चाहिए, अर्थात् प्रति कि० ग्राम शरीर-भार के लिए ग्राम के अनुपात में। आहार का ५०% तापांश कार्बोजों से पूर्ण होना चाहिए। स्नेहांश के पाचन में गुरु तथा शारीरिक भार बढ़ानेवाला होने के कारण इनका कम मात्रा में सेवन कराना चाहिए। जीवतिक्ति तथा खनिज लवणों की मात्रा पर्याप्त रूप में—बाल्यावस्था के अनुपात में—रहनी चाहिए।

आहार के विभिन्न प्रमुख उपादानों की विशेषताएँ—

गेहूँ—उत्तर भारत के सम्पन्न वर्ग का यह प्रमुख आहार घटक है। यह मधुर, शीतल, गुरु, कफ-मेद वर्द्धक, बल-वीर्य कारक, स्निग्ध, बृंहण, जीवनीशक्ति वर्द्धक तथा भग्न संधानकारक होता है। गेहूँ वात-पित्त नाशक, सारक, उत्तम वर्णकर, व्रण रोपक तथा रुचिकारक एवं शारीरिक धातुओं में स्थिरता एवं दृढ़ता उत्पन्न करनेवाला माना

जाता है। शुक्र-संवर्द्धन की दृष्टि से अंकुरित गेहूँ विशेष हितकर होता है। इन विशिष्ट गुणों से युक्त होने पर भी मधुमेह, मेदोवृद्धि, यकृत्, हृदय एवं वृक्क के जीर्ण विकारों तथा तरुण ज्वरों में इसका सेवन हितकर नहीं होता। गुरु एवं स्निग्ध होने के कारण पाचन-विकृतियों तथा अतिसार एवं संग्रहणी आदि विकारों में इसका प्रयोग न करना चाहिए।

चावल—चावल की अनेक जातियाँ आहार में प्रयुक्त होती हैं। हाथ के कुटे तथा बिना माड़ निकाले हुए चावलों का प्रयोग मिल के कुटे, पालिश किए हुए या भुजिया चावलों से अधिक पोषक, सुपाच्य तथा मधुर होता है। बंगाल, बिहार, मद्रास एवं बम्बई आदि प्रान्तों में चावल का भोजन में प्रधान अंग के रूप में सेवन किया जाता है। चावल स्निग्ध, बलकारक, वृष्य, लघुपाकी, रुचिकारक, मलावरोधक, मूत्रल, पित्तशामक तथा वात-श्लेष्मवर्द्धक होते हैं। तीव्र तथा जीर्ण स्वरूप के वृक्क-विकार, वृक्काश्मरी, उच्च रक्त निपीड, रक्तवाहिनियों के विकार, वातरक्त, अतिसार एवं दाह आदि विकारों में चावलप्रधान भोजन हितकर माना जाता है। आध्मान, अग्निमांद्य के कारण उत्पन्न अम्लपित्त (Secondary acidity), मेदोवृद्धि, मधुमेह, आमवात, वातव्याधि एवं आमातिसारप्रधान व्याधियों में चावल का सेवन कम करना हितकर होता है।

यव—सस्ता होने के कारण सामान्य आर्थिक स्थितिवाले वर्ग का यह प्रधान अन्न है। यव शीतल, लेखन, मृदुपाकी, कषाय तथा मधुर रस की प्रधानतावाले, विपाक में कटुरस की प्रधानतायुक्त, वातवर्द्धक तथा कफ-पित्त शामक होता है। मेध्य, अग्निवर्द्धक, व्रण एवं त्वचा के विकारों में उपयोगी, स्वर-शोधक, मेदोदोषहर, मल-शोधक तथा बलकारक गुण की इसमें प्रधानता होती है। कास, श्वास, ऊरुस्तंभ, दाह, तृष्णा, रक्तविकार, जीर्ण प्रतिश्याय, मेदोवृद्धि, मधुमेह, उच्चरक्तनिपीड, त्वचा के जीर्ण रूप के व्रण, कुष्ठ, विबंध, आमांश की प्रधानतावाले विकारों तथा जीर्ण स्वरूप के वृक्क विकारों में यव का प्रयोग विशेष गुणकर माना जाता है।

बाजरा—रूक्ष, उष्णवीर्य तथा बलकारक होता है। राजस्थान तथा उत्तर प्रदेश के कुछ भूभागों में इसका सेवन प्रचलित है। मेदोदोष, मधुमेह, त्वचा के विकार तथा अतिसार आदि व्याधियों में लाभप्रद माना जाता है। स्निग्ध एवं मधुर पदार्थों के साथ इसका सेवन बल-वीर्य-वर्द्धक होता है।

शिम्बी धान्य या द्विदल वर्ग—मूंग, अरहर, उड़द, मसूर, लोबिया या बोड़ा, मटर तथा मोठ आदि का भारत में प्रायः पूरक आहार के रूप में प्रयोग किया जाता है। इनमें प्रोभूजिन तथा कार्बोजों की प्रधानता होती है। सामान्य भारतीय की प्रोभूजिनों की आवश्यकता की पूर्ति का शिम्बी धान्य ही मुख्य स्रोत होता है। यहाँ कुछ प्रधान दालों की विशिष्ट उपयोगिता का संक्षिप्त उल्लेख किया जाता है।

मूंग—यह कफ-पित्त शामक, रूक्ष, लघु, ग्राही, शीतल, वातकारक, ज्वरशामक तथा नेत्रों के लिए हितकर होती है। अतिसार, जीर्णज्वर, दाह एवं कफ-पित्तप्रधान दूसरी व्याधियों में मुद्गयूष या दाल के रूप में इसका प्रयोग होता है।

अरहर—भारत में दाल के रूप में अरहर की दाल सर्वाधिक प्रचलित है। यह कषाय तथा मधुर रसप्रधान, लघुपाकी तथा शीतल गुणवाली मानी जाती है। पित्त-रक्त तथा श्लेष्म विकारों का शमन करनेवाली, वातवर्द्धक, मलावरोधक तथा शरीर के वर्ण को उत्तम करनेवाली मानी जाती है। त्वचा के विकार, प्रवाहिका, आमांश के विकार तथा श्वास में इसका सेवन उपयोगी माना जाता है।

उड़द या माष—उत्तर भारत, विशेष कर पंजाब में उड़द का अधिक प्रयोग किया जाता है। यह स्निग्ध, पिच्छिल, गुरुपाकी, विपाक में मधुररसप्रधान, बल-पुष्टिकारक, शुक्र-वर्द्धक, परम वृष्य, रुचिकारक, मल तथा मूत्रवर्द्धक, स्रंसक (मल शोधक), स्तन्यवर्द्धक तथा कफ-मेद एवं पित्तकारक होता है। शुक्रक्षय, अर्दित एवं दूसरी वातप्रधान व्याधियों, वातिक श्वास, अर्श, अन्नद्रव शूल तथा बल-मांस क्षयकारक अवस्थाओं में उड़द का विशेष प्रयोग किया जाता है। मेदोवृद्धि, प्रमेह, आमांशप्रधान व्याधियों, श्लीपद, शोथ, अतिसार एवं वातरक्तादि व्याधियों में इसका सेवन लाभकर नहीं होता।

मटर—हेमन्त तथा शिशिर में कच्ची अवस्था में या शाक के रूप में इसका अधिक प्रयोग होता है। यह मधुर रसयुक्त, विपाक में भी मधुर, शीतल तथा रूक्ष गुण वाला माना जाता है। वातवर्द्धक एवं आमांशवर्द्धक होने के कारण यह आमवात, उदर-विकार, वातव्याधि, शोथ एवं श्वास आदि में अनुपयोगी तथा हानिकारक होता है।

चना—भारत के सभी भूभागों में इसकी खेती होने तथा आहार के विभिन्न रूपों में सुरुचिपूर्ण होने के कारण इसका अधिक उपयोग होता है। लवण-मधुर, स्निग्ध-रूक्ष, कच्चा या भर्जित अनेक रूपों में इसका उपयोग किया जाता है। चना कषायरसप्रधान, शीतल, रूक्ष, लघु, विष्टंभक, वातकारक तथा रक्त-पित्त-कफविकारनाशक एवं ज्वर-शामक माना जाता है। भुना हुआ चना अत्यधिक रूक्ष तथा त्वचा के विकारों को उत्पन्न करता है। भिगोया हुआ अंकुरित चना कोमल, रुचिकारक, शीतल, ग्राही एवं वातजनक होता है। पोषण की दृष्टि से दूसरे रूपों की अपेक्षा अंकुरित रूप अधिक हितकर माना जाता है। प्रमेह—विशेषकर मधुमेह, मेदोवृद्धि, कुष्ठ तथा दूसरे त्वक्विकारों में चने का प्रयोग हितकर माना जाता है।

दूध—वास्तविक रूप में दुग्ध सम्पूर्ण आहार का आदर्श रूप है। केवल दुग्धा-हार पर रहकर यावज्जीवन स्थिर स्वास्थ्य एवं दीर्घायुष्य की प्राप्ति की जा सकती है। आहार के सभी पोषक तत्त्व इसमें उपस्थित रहते हैं। मुख्य रूप से गाय, भैंस, बकरी के दूध का प्रयोग होता है। ऊटनी तथा भेड़ का दूध विशेष व्याधियों में प्रयुक्त होता है। दूध मधुररसयुक्त, स्निग्ध, वात-पित्तशामक, कफवर्द्धक, सद्यः शुक्रकर, शीतल,

सर्वसात्म्य, जीवनीशक्तिवर्द्धक, बृंहण, बलकारक, वाजीकर, मेध्य, रसायन, वयः-स्थापक, आयुष्य वर्द्धक, संधानकारक तथा उत्तम पोषक आहार माना जाता है।

गाय का दूध—मधुर स्वाद तथा मधुर विपाकवाला, शीतल, स्निग्ध, स्तन्य-वर्द्धक, वात-पित्त तथा रक्तविकार नाशक, गुरु, दोष-धातु-मल तथा स्रोतसों को क्लिन्न करनेवाला होता है तथा जरा-व्याधि प्रशामक गुण गाय के दूध में होते हैं। तरुण ज्वर, अग्निमांद्य एवं आमांश प्रधानतावाले विकारों के अतिरिक्त सभी अवस्थाओं में इसका प्रयोग किया जाता है।

भैंस का दूध—गाय के दूध की अपेक्षा अधिक मधुर, स्निग्ध, गुरु, अभिष्यन्दी, निद्राकारक, शुक्रवर्द्धक, श्लेष्मवर्द्धक, शीतल तथा अग्निमांद्यकर होता है। भैंस के दूध में प्रोभूजिनों की मात्रा गाय के दूध से ड्योढ़ी तथा स्नेहांश की मात्रा प्रायः दूनी होने से अधिक पोषक तथा गुरु होता है। यह व्यायामसेवी तीक्ष्णाग्निवाले व्यक्तियों के लिए हितकर होता है, किन्तु सुपाच्यता एवं जीवनी शक्ति की वृद्धि का गुण गोदुग्ध में विशेष होता है। मेदोरोग, प्रमेह, श्वास, अग्निमांद्य, अतिसार, श्लीपद एवं ग्रहणी आदि रोगों में इसका सेवन न कराना चाहिए।

बकरी का दूध—बकरी पालने में अल्प व्यय तथा उसका मूल्य भी अल्प होने के कारण इसे गरीबों की गाय कहा जाता है। इसका दूध कषाय तथा मधुर रस युक्त, शीतल, ग्राही, लघु तथा सुपाच्य होता है। कटु-तिक्तरस प्रधान पत्तों का इसके आहार में विशेष स्थान होता है तथा व्याधिशामक विशिष्ट पत्तों को इसको आसानी से खिलाया जा सकता है, जिससे जीर्ण व्याधियों में इसका दूध विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध होता है। क्षय, रक्त-पित्त, अतिसार, कास तथा ज्वर एवं शोथ में बकरी का दूध मुख्य रूप से प्रयुक्त होता है।

भेंड़ का दूध—मात्रा में बहुत कम होने के कारण व्यापक रूप में इसका प्रयोग नहीं किया जा सकता किन्तु कुछ व्याधियों में विशिष्ट उपयोगिता के कारण इसका सेवन कराया जाता है। भेंड़ का दूध मधुर तथा लवणरस युक्त, स्निग्ध, उष्ण, शुक्रवर्द्धक, पित्त तथा कफ को बढ़ानेवाला, तृप्तिकारक तथा गुरु होता है। अश्मरी भेदन चिकित्सा में भेंड़ का दूध सर्वोत्तम पथ्य माना जाता है। वातिक कास तथा दूसरी वातप्रधान व्याधियों एवं केशों के विकारों में भी इसकी उपयोगिता मानी जाती है। हृदय एवं रक्तवाहिनियों के विकारों में इसका सेवन हानिकारक होता है।

ऊँटनी का दूध—यह मधुर तथा लवण रसप्रधान, लघु, अग्निदीपक तथा मलसारक होता है। शोथ तथा जलोदर के शमन के लिए सर्वोत्तम पथ्य माना जाता है। कृमिज विकार, कुष्ठ, आध्मान तथा कफज व्याधियों में भी उपयोगी माना जाता है।

साथ के कोष्ठक में विभिन्न आहार द्रव्यों का प्रोभूजिन, स्नेहांश, कार्बोज एवं इतर घटकों का संग्रहात्मक उल्लेख किया गया है—

प्रमुख आहार द्रव्यों का पोषणात्मक संगठन

पदार्थ	प्रतिशत %							प्रति १०० ग्राम जीवतिक्ति (VITAMIN)				
	प्रोभूजिन	स्नहांश	कार्बोज	कैलसियम	फौसफोरस	लौह मि. ग्रा.	कैलरी मान	ए. अं. इ.	बी१ माइ. ग्रा.	निकोटिनिक एसिड मि. ग्रा	रिबोफ्लेबिन माइ. ग्रा.	सी. मि. ग्रा.
गेहूँ	११·८	१·५	७१.२	०·०५	०·३२	५·३	३४८	१०८	५४०	५·०	१२०	—
गेहूँ का आटा (छना हुआ)	११·०	०·९	७४·१	०·०२	०·०९	१·०	३४९	—	१२०	०·९	—	—
जौ	११·५	१·३	६९·३	०·०३	०·२३	३·७	३३५	—	४५०	४·७	—	—
बाजरा	११·६	५·०	६७·१	०·०५	०·३५	८·८	३६०	२२०	३३०	३·२	—	—
मक्का	४·३	०·५	२५·१	०·०१	०·१०	०·७	८२	४२	—	०·६	५०	४
जई	१३·६	७·६	६२·८	०·०५	०·३८	३·८	३७४	लेश	१७१	१·१	—	—
चावल (हाथ का कूटा हुआ)	८·५	०·६	७८·०	०·०१	०·१७	२·८	३५१	४	१८०	२·४	१२०	—
चावल (भुजिया)	८·५	०·६	७७·४	०·०१	०·२८	२·८	३४९	१५	२७०	४·०	१२०	—
चावल (मिल का)	६·९	०·४	७९·२	०·०१	०·११	१·०	३४८	०	६०	१·२	८०	—
चना	१७·१	५·३	६१·२	०·१९	०·२४	९·८	३६१	३१६	३००	२·६	—	—
मटर	१९·७	१·१	५६·६	०·०७	०·३०	४·४	३१५	—	४५०	१·३	—	—

मसूर	२५'१	०'७	५९'७	०'१३	०'२५	२'०	३४६	४५०	४५०	१'५	—	—
मूँग	२४'०	१'३	५६'६	०'१४	०'२८	८'४	३३४	१५८	४६५	२'०	—	—
अरहर की दाल	२२'३	१'७	५७'२	०'१४	०'२६	८'८	३३३	२२०	४५०	२'४	—	—
आरारोट	०'२	०'१	८३.१	०'०१	०'०२	१'०	३३४	०	—	—	—	—
सोयाबीन	४३'२	१९'५	२०'९	०'२४	०'६९	११'५	४३२	७१०	९००	२'४	—	—
मखाना	९'७	०'१	७६'९	०'०२	०'०९	१'४	३४८	लेश	—	—	—	—
चौराई	४'९	०'५	५'७	०'५०	०'१०	२१.४	४७	२५००–११०००	३०	०'९	१००	१७३
पालक	१'९	०'९	४'०	०'०६	०'०१	५'०	३२	२६००–३५००	२१०	०'५	६०	४८
आलू	१'६	०'१	२२'९	८०'०१	०'०३	०'७	९९	४०	६०	१'२	१०	१७
गाजर	०'९	०'२	१०'७	०'०८	०'५३	१'५	४७	२०००–४३००	१८०	०'४	३०	लेश
मूली (सफेद)	०'७	०'१	४'२	०'०५	०'०३	०'४	२१	३	१८०	०'५	२०	१५
शकरकन्द	१'२	०'३	३१'०	०'०२	०'०५	०'८	१३२	१०	—	०'७	४०	२४
फूल गोभी	३'५	०'४	५'३	०'०३	०'०६	१'३	३९	३८	३३०	०'९	८०	६६
बन्द गोभी	१'८	०'१	६'३	०'०३	०'०५	०'८	३३	२०००	१५०	०'४	३०	१२४
गाँठ गोभी	१'१	०'२	५'९	०'०२	०'०४	०'४	३०	३६	—	०'५	—	८५
शलजम	०'५	०'२	७'६	०'०३	०'०४	०'४	३४	लेश	१२०	०'५	४०	४३
सलाद	२'१	०'३	३'०	०'०५	०'०३	२'४	२३	२२००	२७०	०'४	१२०	१५
प्याज (डंठल)	०'९	०'२	८'९	०'०५	०'०५	७'५	४१	—	—	—	—	—
प्याज	१'२	८०'१	११'६	०'१८	०'०५	०'७	५१	—	१२०	०'४	१०	११
लहसुन	६'३	०'१	२९'०	०'०३	०'३१	१'३	१४२	०	—	०'४	—	१३

पदार्थ	प्रतिशत %							प्रति १०० ग्राम जीवतिक्ति (VITAMIN)				
	प्रोभूजिन	स्नेहांश	कार्बोज	कैलसियम	फौसफोरस	लौह मि. ग्रा.	कैलरी मान	ए. अं. इ.	बी१ माइ. ग्रा.	निकोटिनिक एसिड मि. ग्रा.	रिबोफ्लेविन माइ. ग्रा.	सी. मि. ग्रा.
टमाटर (हरा)	१·९	०·१	४·५	०·०२	०·०४	२·४	२७	३३०	६९	०·४	६०	३१
टमाटर (पका)	१·०	०·१	३·९	०·०१	०·०२	०·१	२१	३२०	१२०	०·४	६०	३२
करेला	१·६	०·२	४·२	०·०२	०·०७	२·२	२५	२१०	७२	०·५	९०	८८
बैगन	१·३	०·३	६·४	०·०२	०·०६	१·३	३४	५	४५	०·८	९०	२३
सेम	४·५	०·१	१०·०	०·०५	०·०६	१·६	५९	—	—	०·८	—	१२
लौकी	०·२	०·१	२·९	०·०२	८०·०१	०·७	१३	लेश	—	—	१०	—
भिण्डी	२·२	०·२	७·७	०·०९	०·०८	१·५	४१	५८	६३	—	—	१६
परवल	२·०	०·३	१·९	०·०३	०·०४	१·७	१८	—	—	—	—	—
केला (कच्चा)	१·४	०·२	१४·७	०·०१	०·०३	०·६	६६	५०	४५	०·३	२०	२४
कटहल (कच्चा)	२·६	०·३	९·४	०·०३	०·०४	१·७	५१	—	—	०·२	—	—
खीरा	०·४	०·१	२·८	०·०१	०·०३	१·५	१४	लेश	९०	०·२	४	७
तरोई	०·५	०·१	३·७	०·०४	०·०४	१·६	१८	५६	६६	—	—	—
सिंघाडा	४·७	०·३	२३·९	०·०२	०·१५	०·८	११७	२०	—	०·६	१०	—
काशीफल	१·४	०·१	५·३	०·०१	०·०३	०·७	२८	८४	६०	०·५	४०	२
अनार	१·६	८०·१	१४·६	०·०१	०·०७	०·३	६५	०	—	—	१०	१६
अंगूर	०·८	०·१	१०·२	०·०३	०·०२	०·४	४५	१५	लेश	०·३	१०	३
अमरूद	१·५	०·२	१४·५	०·०१	०·०४	१·०	६६	लेश	—	०·२	३०	२९९

अंजीर	१·३	०.२	१७·१	०·०६	०·०३	१·२	७५	२७०	—	०·६	५०	२
अनन्नास	०·६	८०·१	१२·०	०·०२	०·०१	०·९	५०	६०	—	—	१२०	६३
आम (कच्चा)	०·७	०·१	८·८	०·०१	०·०२	४·५	३९	१५०	—	—	३०	३
आम (पका)	०·६	०·१	११·८	०·०१	०·०२	०·३	५०	४८००	—	०·३	५०	१३
आड़ू	१·५	०·२	७·६	०·०१	०·०३	१·७	३८	लेश	—	०·२	—	१
केला	१·१	०·२	२४·७	०·०१	०·०३	०·५	१०४	१२४	—	०·३	१७०	६
काजू	२१·२	४६·९	२२·३	०·०५	०·४५	५·०	५९६	१००	—	२·१	१९०	०
किशमिश	२·०	०·२	७७·३	०·१०	०·०८	४·०	३१९	०	२२५	०·५	—	लेश
बादाम	२०·८	५८·९	१०·५	०·२३	०·४९	३·५	६५५	लेश	२४०	२·५	—	०
पिस्ता	१९·८	५३·५	१६·२	०·१४	०·४३	१३·७	६२६	२४०	—	१·४	—	०
खजूर	३·०	०·२	६७·३	०·०७	०·०८	१०·६	२८३	६००	९०	०·८	३०	लेश
सेव	०·३	०·१	१३·४	<०·०१	०·०२	१·७	५६	लेश	१२०	०·२	३०	२
संतरा	०·२	०·३	१०·६	०·०५	०·०२	०·१	४९	३५०	१२०	—	६०	६८
पपीता	०·५	०·१	९·५	०·०१	०·०१	०·४	४०	२०२०	—	०·२	२०	४६
नासपाती	०·२	०·१	११·५	०·०१	०·०१	०·७	४७	१४	—	०·२	३०	लेश
नींबू (कागजी)	१·५	१·०	१०·९	०·०९	०·०२	०·३	५९	२६	—	०·१	—	६३ (स्वरस)
नींबू (जंबीरी)	१·०	०·९	११·१	०·०७	०·०१	२·३	५७	लेश	—	०·१	४	३९ (स्वरस)
तरबूज	०·१	०·२	३·८	<०·०१	०·०१	०·२	१७	लेश	—	०·२	—	१
बेर	०·८	०·१	१२·८	०·०३	०·०३	०·८	५५	७०	—	—	—	—
कटहल (पका)	१·९	०·१	१८·९	०·०२	०·०३	०·५	८४	५४०	—	०·४	—	१०
नारियल	४·५	४१·६	१३·०	०·०१	०·०४	१·७	४४४	लेश	४५	०·८	१००	१
मूँगफली	२६·७	४०·१	२०·३	०·०५	०·३९	१·६	५४९	६३	९००	१४·१	३००	०

पदार्थ	प्रतिशत %							प्रति १०० ग्राम जीवतिक्ति (VITAMIN)				
	प्रोभूजिन	स्नेहांश	कार्बोज	कैलसियम	फौसफोरस	लौह मि. ग्रा.	कैलरीमान	ए. अ. इ.	बी१ माइ. ग्रा.	निकोटिनिक एसिड. मि. ग्रा.	रिबोफ्लेबिन माइ. ग्रा.	सी. मि. ग्रा.
दुग्ध–मातृ	१·०	३·९	७·०	०·०२	०·०१	०·२	६७	२·८	—	—	३०	—
,, गाय	३·३	३·६	४·८	०·१२	०·०९	०·२	६५	१८०	५१	०·१	२००	२
,, भैंस	४·३	८·८	५·१	०·२१	०·१३	०·२	११७	१६२	—	०·१	—	—
,, बकरी	३·७	५·६	४·७	०·१७	०·१२	०·३	८४	१८२	—	—	४०	—
,, मक्खन निकाला	२·५	०·१	४·६	०·१२	०·०९	०·२	२९	—	—	०·१	—	१
मट्ठा	०·८	१·१	०·५	०·०३	०·०३	०·८	१५	लेश	—	—	—	—
दही	२·९	२·९	३·३	०·१२	०·०९	०.३	५१	१३०	—	—	६०	—
मक्खन	१·०५	८१·५	—	—	—	—	७६२	—	—	—	—	—
घी	—	१००	—	—	—	—	९००	—	—	—	—	—
मलाई	२·५	३०	४·५	—	—	—	५७५					
मुर्गी का अण्डा	१३·३	१३·३	—	०·०६	०·२२	२·१	१७३	१२००	—	लेश	—	—
बत्तख का अण्डा	१३·५	१३·७	०·७	०·०७	०·२७	३·०	१८०	१२००	—	०·२	—	—
कलेजी	१९·३	७·५	१·४	०·०१	०·३८	६·३	१५०	२२३००	३६०	१७·६	१७००	२०
बकरे का गोश्त	१८·५	१३·३	—	०·१५	०·१५	२·५	१९४	३१	१८०	६·८	२७०	—
सूअर का गोश्त	१८·७	४·४	—	०·०३	०·२०	२·३	११४	लेश	५४०	२·८	९०	२
मुर्गी	२५·९	०·६	—	०·०३	०·२५	—	१०९	—	—	—	—	—
मछली	२२·६	०·६	—	०·०२	०·१९	०·९	९१	२४	—	१·०–३·९	—	—
दुग्ध–गर्दभी	१·६–२·०	१·३–१·५	६·२७–६·८	—	—	—	—	—	—	—	—	—
,, घोड़ी	२·१–२·५	१·६–१·८	६·०–८·५	—	—	—	—	—	—	—	—	—
,, भेड़	१·५०	२	१·४१				३०	+	+	+	+	+

उपर्युक्त सारणी में कैलरी की मात्रा का हिसाब सरलता की दृष्टि से द्रव्य के घटक प्रोभूजिन, स्नेहांश एवं कार्बोज के गुणन अंक ४·१, ९·३ एवं ४·१ के स्थान पर क्रमशः ४, ९ एवं ४ से किया गया है अर्थात् १ ग्राम प्रोभूजिन से ४ कैलरी, १ ग्राम स्नेहांश से ९ कैलरी एवं १ ग्राम कार्बोज से ४ कैलरी ताप की प्राप्ति होती है।

विभिन्न व्याधियों में दूध के प्रयोग का क्रम—

कुछ अवस्थाओं में दूध का प्रयोग उपयुक्त होते हुये भी पाचन की कठिनाइयों के कारण प्रयुक्त नहीं हो पाता और कहीं-कहीं दूध के सेवन से विकारों में लाक्षणिक वृद्धि होने की सम्भावना रहती है। इस प्रकार की अवस्थाओं में संस्कारित दूध का प्रयोग कराने से वैकारिक लक्षणों का प्रतिबन्ध हो सकता है।

१ दुग्ध-सेवन के बाद पेट में आध्मान या गुड़गुड़ाहट का कष्ट होने पर—

(क) संतरे का रस या इस श्रेणी के दूसरे अम्ल फलों के सेवन के तुरन्त बाद दुग्ध पीने पर आध्मान का कष्ट नहीं होता।

(ख) उबाले हुये आम की गुठली ६ मा० से १ तोला की मात्रा में या छुहारा या खजूर खाकर दूध पीने से भी आध्मान का प्रतिबन्ध होता है।

(ग) पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक व शुण्ठी प्रत्येक को १॥ मा० की मात्रा में लेकर मोटा चूर्ण बनाकर दूध से चतुर्गुण जल मिलाकर क्षीर पाक विधि से पकाकर सेवन कराने से दूध सुपाच्य हो जाता है।

(घ) शुण्ठी का चूर्ण ३ मा० लेकर ऊपर से दूध पीने से आध्मान का कष्ट नहीं होने पाता।

२. दूध पीने के बाद आध्मान के साथ क्षुधानाश एवं अतिसार का कष्ट होने पर निम्नलिखित क्रम से प्रयोग करना चाहिये—

(क) बेल की गिरी ६ मा० से १ तोला की मात्रा में दूध में पका कर या चूर्ण रूप में दूध के साथ खिलाने से अतिसार का कष्ट नहीं होता।

(ख) अनार के फूल, आम की गुठली, बेल की गिरी, शुण्ठी, पिप्पली मूल, जीरा व अतीस का सम भाग चूर्ण बनाकर ३ मा० से ६ मा० की मात्रा में दूध के साथ सेवन कराना चाहिए।

(ग) पपीते का दूध ४ र० से १ मा० की मात्रा में थोड़े पानी में घोल कर दूध पिलाने के १० मिनट पूर्व देने से लाभ करता है।

(घ) सोडा साइट्रास १५ से २० ग्रेन की मात्रा में ½ सेर दूध में मिलाकर पिलाने से दूध सुपाच्य हो जाता है।

३. ज्वरोन्मुक्त होने पर अग्निदीपन एवं दुग्ध पाचन के लिये २-४ छोटी पीपल दूध में डाल कर, पकते समय अर्धांश जल मिलाकर, दूधमात्र शेष रहने पर पिलाना

चाहिये या ४-५ पीपल शाम को भिगोकर प्रातःकाल सूक्ष्म पीसकर दूध के साथ पकाकर पिलाने से भी पर्याप्त लाभ होता है ।

४. कास तथा रक्त-पित्त के विकारों में दूध के साथ वासा पत्र, मधुयष्टी, लाक्षा या कण्टकारी का प्रयोग क्षीरपाक विधि से पकाकर सेवन कराने से लाभ होता है ।

५. विबन्ध होने पर ११ बादाम, ११ मुनक्का, २ छोटी इलायची पीसकर दूध में पकाकर पिलाने से मल-शुद्धि, वायु का शमन तथा शारीरिक पुष्टि होती है ।

६. दूध पीने से बार-बार मूत्रत्याग की इच्छा होने पर ६ मा०-१ तो० की मात्रा में भुने हुये काले तिल पुराने गुड़ के साथ सेवन कराना चाहिये ।

रुग्णावस्था के सामान्य पथ्य—

सामान्यतया व्याधियों की भिन्नता के आधार पर पथ्य में विविधता होती है । विशिष्ट पथ्य-कर्मों का उल्लेख सम्बद्ध व्याधियों के प्रकरण में यथास्थान आगे किया जायगा । यहाँ पर सामान्यतया सभी व्याधियों में प्रयुक्त होनेवाले पथ्य-क्रम का संक्षिप्त निर्देश किया जाता है ।

वातिक, पैत्तिक एवं कफज दोषों की प्रधानता के आधार पर मण्ड, पेया, यूष आदि का पथ्य में प्रारम्भिक रूप से प्रयोग कराया जाता है ।

दीपन-पाचन ओषधियों से सिद्ध जल से यवागू का निर्माण किया जाता है । मण्ड-पेया-विलेपी भेद से यवागू तीन प्रकार की होती है ।[1] जिस यवागू में सिक्थ का भाग छोड़कर केवल ऊपर का द्रव भाग प्रयोग में लिया जाय उसे मण्ड कहते हैं । जिस यवागू में द्रवांश अधिक तथा सिक्थ कम हो, उसे पेया कहते हैं । यवागू में द्रवांश कम तथा सिक्थ का भाग अधिक रहने पर उसे विलेपी कहा जाता है ।

जिस रोगी को यवागू सेवन कराना है, उसके स्वाभाविक आहार का चतुर्थांश चावल (या कोई दूसरा अन्न) यवागू-निर्माण के लिए लेना चाहिए । मण्ड-निर्माण के लिए मोटा चावल पीसकर १४ गुना जल मिलाकर पकाना चाहिए । चावल के भली प्रकार पक जाने पर ऊपर का द्रवांश आहार के लिए देना चाहिए । पेया बनाने के लिए मोटे पिसे हुए चावल में ६ गुना जल मिलाकर चावल के पकने तक, सिक्थ कम किन्तु द्रवांश अधिक शेष रहने तक, पाक करे । विलेपी बनाने के लिए पीसे हुए चावल में चतुर्गुण जल डालकर गाढ़ा होने तक पाक करना चाहिए ।

---

१. यवागूस्त्रिविधा प्रोक्ता मण्डः पेया विलेप्यपि ।
'सिक्थकै रहितो मण्डः, पेया सिक्थसमन्विता ।
यवागूर्बहुसिक्था स्याद् विलेपी विरलद्रवा ॥' (सु. सू. अ. ४६)
'यवागूमुचिताद् भक्ताच्चतुर्भागकृतां वदेत् ।' (सु. चि. अ. ३८)
कुर्याद्भेषजसंसिद्धयै विलेपीं तु चतुर्गुणे ।
मण्डं चतुर्दशगुणे, पेयां वै षड्गुणेऽम्भसि ॥

पेया—सामान्यतया यवपेया का सर्वाधिक व्यवहार किया जाता है। यव के स्थान पर हाथ का कुटा चावल या गेहूँ का दलिया भी प्रयुक्त हो सकता है। १ छटाँक यव—कच्चे रूपमें संगृहीत किया हुआ—६ छटाक जलमें पकाकर अर्धांश शेष रहनेपर पानार्थ प्रयोग करना चाहिए। दीपन-पाचन गुण की वृद्धि के लिये पकाते समय जल में शुण्ठी या पिप्पली अथवा पचकोल का चूर्ण ३—६ माशा की मात्रा में पोटली में बाँध कर डाला जा सकता है। यवपेया तृष्णा, दाह, हृल्लास, वमन, अरुचि, अतिसार, मूत्रदाह आदि व्याधियों में विशेष गुणकारी होती है। चावल की पेया वातपित्तशामक, पोषक, आध्मान-कुन्थन एवं तृष्णा का शमन करती है। गोधूम पेया में गेहूँ का दलिया पूर्वोक्त क्रम से पका कर दिया जाता है। यह अपेक्षाकृत तर्पक, पोषक तथा बलकारक मानी जाती है। संस्कारार्थ ओषधियों का पकाते समय प्रयोग करनेमें रोगी के लक्षणों का विचार करते हुये उचित योजना करनी चाहिये। पैत्तिक लक्षणों में धनिया, नागरमोथा, खस एवं गोक्षुरू आदि; कफज लक्षणों में शुण्ठी, पिप्पली, पिप्पलीमूल, मधुयष्टी आदि तथा वातिक विकारों में अजवाइन, मेथी, लवंग आदि का संस्कारार्थ यथावश्यक प्रयोग करना चाहिये।

मण्ड—पेया के क्रमसे यव, चावल या गेहूँका मण्ड तैयार किया जाता है। मुख्यरूप से चावल के मण्ड का प्रयोग अधिक किया जाता है। १ छटाँक चावल १४ छटाँक जल में पकाकर, अर्द्धांश शेष रहने पर छानकर, लवण या मधुर स्वाद की अपेक्षा होने पर स्वल्प मात्रा में नमक या शर्करा मिलाकर प्रयोग करना चाहिये। मण्ड के पकाते समय आवश्यक ओषधियों द्वारा संस्कार भी किया जा सकता है। अधिक दिनों के लंघन के बाद पथ्य प्रारम्भ करते समय पेया-मण्ड के क्रम से आहार का सेवन कराने से अग्नि की प्रदीप्ति भली प्रकार होती है। निराम ज्वर, संक्रामक व्याधियों तथा अतिसार आदि विकारों की सक्रियावस्था में इनका प्रयोग आहार के रूप में यथेष्ट मात्रा में किया जा सकता है।

लाजमण्ड—½ छटाँक धान का लावा, आधा सेर पानी में पकाकर, छानकर, ½ छ० मिश्री मिलाकर पीने को देना चाहिए। यह बहुत हल्का पथ्य है तथा सभी अवस्थाओं में लाभकर होता है।

यूष—पेया व मण्ड की अपेक्षा यूष अधिक पोषक माना जाता है। खड़ी मूँग, खड़ा चना, कुलथी तथा विभिन्न प्रकारके मांस—विशेषकर पक्षियों के मांस—यूषार्थ प्रयुक्त होते हैं। शाक-सब्जियों में परवल, पालक, बथुआ, लौकी, टमाटर आदि का प्रयोग यूष निर्माण के लिये किया जा सकता है। जल, क्वाथ या छाछ आदि द्रव पदार्थ के साथ औषध द्रव्य मिलाकर, मूंग-मसूर आदि शिम्बी धान्य की ४-८ तोला की मात्रा ८ गुने जल में पकाकर, अर्द्धांश शेष रहने पर छानकर प्रयुक्त करना चाहिए।

मुद्गयूष—अग्निदीपक, पाचक, बलकारक होता है तथा पाचक गुण के लिए रोगमुक्ति

के बाद पथ्यारम्भ के २-३ दिन तक इस क्रम से बनाये हुए मुद्गयूष का सेवन कराया जाता है।

चणकयूष—पंजाब प्रान्त में काले चने का यूष बहुत बलकारक सुपाच्य पथ्य माना जाता है। चणक यूष में अजवाइन, लहसुन, आर्द्रक तथा धनिया आदि का संस्कार कर देने से उसके दोष का शमन तथा गुण की वृद्धि होती है। रोगमुक्ति के बाद प्रारम्भिक कुछ दिनों तक आहार के २ घण्टे पूर्व चणक यूष का सेवन कराया जा सकता है।

मांसयूष—कपोत, हारिल, बटेर आदि पक्षियों का मांसयूष या मृग, मछली तथा अजमांस का यूष इस वर्ग में मुख्य रूप से प्रयुक्त होता है। पक्षियों का मांसयूष लघुपाकी, अग्निदीपक, बलकारक, वातशामक, नाड़ीमण्डल के लिये विशेष रूप से पोषक एवं मांसजातीय पदार्थों में सर्वोत्तम माना जाता है। अण्डे की सफेदी को पानी में घोलकर, उबालकर, प्रोभूजिन की पूर्ति के लिये देने की प्रथा है। बकरे की हड्डी का यूष (नली का शोरवा) उत्तम बलकारक, पोषक तथा धातुवर्धक माना जाता है। जांगल मांसों में हरिण का मांस सर्वोत्तम तथा हिततम होता है।

पित्त का संशोधन, अग्नि की दीप्ति, हृल्लास, उत्क्लेश, अरुचि के शमन के लिये पटोल का यूष; दाह, वमन, रक्तवमन, रक्तष्ठीवन, मूत्रकृच्छ्र आदि विकारों के शमन के लिये लौकी का यूष; पाण्डु रोग, आमातिसार, ग्रहणी की शान्ति के लिये पालक यूष तथा रक्तपित्त की शान्ति के लिये बथुआ के यूष का प्रयोग किया जा सकता है। वानस्पतिक पदार्थों का यूष बनाते समय केवल चतुर्गुण जल डालकर पकाना चाहिये और अर्धांश या चतुर्थांश अवशेष ग्रहण करना चाहिये।

यवागू—कुछ स्थानों में यवागू के नाम से तीन भेदों के अतिरिक्त इस क्रम से पथ्य प्रयोग किया जाता है।

यव, गेहूं, चावल आदि अन्न की १ छटाँक मात्रा ६ छटाँक जल में पकाकर, अर्धांश शेष रहने पर प्रयोग करना चाहिये। यवागू बनाने के लिये प्रायः औषध-संस्कारित जल का प्रयोग किया जाता है। त्रिकटु, पंचकोल आदि आवश्यक द्रव्यों को १ तोला की मात्रा में १ सेर जल में पकाकर, अर्धांश शेष रहने पर छानकर, उसी जल में यवागू सिद्ध करनी चाहिये। यवागू का निर्माण बहुत कुछ प्रचलित दलिया के समान होता है। रोगोत्तरकालीन क्रमिकरूप से वर्धमान पोषण की दृष्टि से पेया एवं मण्ड के बाद यवागू का आहार दिया जाता है।

विलेपी—यव-चावल या गेहूँ आदि को दलकर, चतुर्गुण जल में पकाकर, जब बहुत ढीली कलछी में लगने लायक हो जाय तो उतार कर प्रयोग में लेना चाहिये।

उक्त वर्णित पथ्यों के अलावा धान या कूटू का लावा, तालमखाना, खीलें, जलकुम्भी के बीज के लावा आदि बहुत हलके एवं रूक्ष तथा आम व श्लेष्म दोष की अवस्था में भी बहुत हितकर पथ्य माने जाते हैं। अतिसार की अवस्था में धान के लावा का सत्त

बनाकर मिश्री मिलाकर प्रयोग कराने से अतिसार का कष्ट बिना बढ़े हुये पथ्य का उद्देश्य पूरा हो जाता है।

चोकर सहित मोटे आटा की रोटी साधारण आटे की अपेक्षा अधिक हितकर मानी जाती है। चोकर युक्त मोटा आटा गूँथकर ४-६ यीस्ट (Yeast) की टिकिया मिलाकर दो घण्टे रखने के बाद पुनः गूँथ कर बनाई हुई रोटी अधिक सुपाच्य, पोषक तथा मलशोधक होती है।

प्रोभूजिनों की पूर्ति के लिये आटे में छेना मिलाकर बनाई हुई रोटी लघुपाकी, बलकारक तथा पोषक होती है। जीर्ण प्रवाहिका की अवस्था में कच्चे केले को उबालकर आटा के साथ गूँथकर रोटी के रूप में सेवन कराने से विशेष लाभ होता है।

रुग्णावस्था के आहार के कुछ विशिष्ट उदाहरण—

तीव्र ज्वर—

१. यवपेया एक बार में ४–६ औंस की मात्रा में ८–११–२–५ बजे।

२. डाभ का पानी या छेने का पानी, अभाव में पर्पटार्क या लौंग का पानी स्वल्प मात्रा में मिश्री मिलाकर ७ बजे, ११ बजे व शाम ६ बजे।

३. क्षुधा अधिक लगने पर लाजमण्ड, द्राक्षापानक या मुसम्मी तथा सन्तरे का रस।

जीर्ण ज्वर—

१. पिप्पली सिद्ध गोदुग्ध १ पाव की मात्रा में प्रातः ७ बजे तथा रात्रि में ९ बजे। रोगी की आहार-शक्ति बढ़ने पर दूध की मात्रा बढ़ाते जाना चाहिये।

२. छेना तथा आटा की रोटी या सूजी के आटे की रोटी, पटोलयूष तथा मूँग की दाल दिन में १० बजे।

३. गेहूं का दलिया शाम को ६ बजे।

४. सेव, अंगूर या अनार १२ बजे तथा अपराह्न में १-३ बजे।

प्रातःकाल दूध के साथ उबाला हुआ अण्डा तथा रात्रि के दूध के साथ खजूर या छुहारे का उपयोग किया जा सकता है। क्षुधा के पर्याप्त जागृत न होने पर पूर्वाह्न में ९ बजे परवल या करेले का यूष या आग पर भुनी हुई आर्द्रक का प्रयोग करने से अग्नि प्रदीप्त होगी।

मांसाहारी व्यक्तियों में शाम को ४–५ बजे नली के शोरवे का प्रयोग विशेष हितकर होता है। क्षुधा के पर्याप्त जागृत होने पर प्रतिबार दूध की मात्रा बढ़ाने के अतिरिक्त मध्याह्न में १२–१ बजे अलग से भी दे सकते हैं। अन्नाहार बढ़ाने की अपेक्षा ज्वरानुबन्ध काल के बराबर उत्तर काल में कम से कम २ सेर दूध प्रतिदिन तक देते रहना बल संजनन की दृष्टि से सर्वोत्तम होता है। जीर्ण ज्वर के आहार में गाय के घी का प्रयोग हितकर माना जाता है। पक्षियों का मांसरस विशेषकर अनुकूल होता है। जीर्ण ज्वर के आहार की मात्रा का निर्धारण रोगी की अवस्था के अनुपात में प्रौढ़ मात्रा में करना चाहिये।

संक्रामक ज्वर—

तीव्रावस्था के संक्रामक ज्वरों में तरलांश के सेवन की अधिक अपेक्षा होती है, आहार की उतनी नहीं होती। आहार की पूर्ति के लिये ग्लूकोज दिन भर में २-४ औंस की मात्रा में—ग्लूकोज द्वारा उदर में आध्मान होने की सम्भावना होने पर उसके स्थान में लैक्टोज, यवपेया, द्राक्षापानक, लाजमण्ड आदि का पर्याप्त मात्रा में—सेवन कराना चाहिये। ऋतु अनुकूल फल, विशेषकर मुसम्मी, सन्तरा तथा बेदाना का प्रयोग ज्वरावस्था की बेचैनी की शान्ति के अतिरिक्त पर्याप्त पोषण भी देता है। ज्वर के पाचन के लिए १ बोतल पर्पटार्क या शतपुष्पार्क में १ ड्राम सोडाबाईकार्ब तथा २ औंस मधु मिलाकर पेय के रूप में पिलाने से लाक्षणिक उपशम तथा मल का शोधन होने में सहायता मिलती है।

संक्रामक ज्वरों की सामान्य अवस्था में सुबह सात बजे जलपान के रूप में भली प्रकार पकाया हुआ १ छटाँक दलिया शर्करा और दूध के साथ मिलाकर दे सकते हैं। रुचि होने पर इसके साथ दूध या चाय का सहपान भी दे सकते हैं।

१० बजे पूर्वाह्न में १ अण्डा, १ औंस शर्करा १ पाव दूध में मिलाकर अथवा १ छटांक छेना शर्करायुक्त।

दिन में १ बजे परवल या लौकी आदि तरकारियों का यूष।

३ बजे तथा ५ बजे फलों का प्रयोग, शाम को ७ बजे धान का लावा, तालमखाना, कार्नफ्लेक्स (Cornflex), डबल रोटी आदि में से यथारुचि किसी का प्रयोग किया जा सकता है। साथ में १ पाव के करीब दूध का प्रयोग पोषण में सहायक होता है। रात्रि में ९-१० बजे क्षुधा रहने पर ८-१० मुनक्का के साथ १ पाव दूध का सेवन कराना चाहिये—विशेष रुचि न होने पर केवल मुनक्का देना चाहिये।

राजयक्ष्मा—

राजयक्ष्मा की व्याधि मुख्यतया धातु-दौर्बल्य के कारण होती है। इस दृष्टि से यक्ष्मी का आहार-निर्धारण करते समय उसके शरीर-भार के अनुपात में सवागुना अधिक कैलरी तथा उसमें पर्याप्त मात्रा में प्रोभूजिनों एवं कार्बोजों का प्रयोग होना चाहिये। प्रोभूजिन मुख्य रूप से जान्तव स्रोत से ही प्रयुक्त किये जाने चाहिये। बकरे का मांस, पक्षियों का मांस तथा अण्डा का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में करना चाहिये। शाकाहारी व्यक्तियों में बकरी का दूध तथा गाय के दूध का छेना मांस की पूर्ति के लिए अतिरिक्त मात्रा में निर्धारित करना चाहिये।

सुबह ७ बजे १ अर्ध पक्व अण्डा, १ पाव ताजा बकरी का दूध।

१० बजे बकरे का मांसयूष या १ पाव बकरी का दूध।

१२ बजे १ छटांक दलिया या छेना व आटा की रोटी दाल शाक के साथ, ½-१ औंस की मात्रा में नवनीत या मक्खन साथ में मिलाकर। २ बजे सेव, अंगूर,

गाजर, टमाटर आदि पोषक पदार्थ, ४ बजे बकरे की नली का शोरबा या १ पाव बकरी का दूध, ७ बजे रोटी, दाल, शाक या रोटी तथा बकरे का मांस। सम्भव होने पर बीच-बीच में पक्षियों का मांस देना चाहिये। शाकाहारी व्यक्तियों में इसके स्थान में पनीर का शाक या छेने का मिष्टान्न के रूप में अलग से प्रयोग कराया जा सकता है।

रात्रि में ९ १० बजे आवश्यक मात्रा में दूध देना चाहिये।

आहार का सेवन कराने के साथ उसकी रोचकता, सुपाच्यता तथा पोषकता का ध्यान रखना चाहिये। रुचि बढ़ाने के लिये आँवला, लहसुन, धनिया की चटनी (जो यक्ष्मा में विशेष उपयोगी होती है) का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में किया जा सकता है। पाचन-वृद्धि के लिये द्राक्षासव भोजन के बाद जल मिलाकर पिलाना चाहिये।

अम्लपित्त (Peptic ulcer)—

इस व्याधि में लवण और अम्ल तथा कटु द्रव्यों का निषेध तथा स्निग्ध व मधुर द्रव्यों का नियत समय पर पर्याप्त मात्रा में प्रयोग चिकित्सा का मुख्य आधार होता है।

प्रातःकाल ७ बजे अच्छे घी की जलेबी, गरी की बर्फी, मक्खन लगाया हुआ टोस्ट (बिना नमक का), अर्धपक्व अण्डा एवं १ पाव दूध।

१० बजे पेठे की बर्फी या पेठे का मुलायम टुकड़ा, १२ बजे घी में भूनकर दूध में पकाया हुआ गेहूँ का पतला दलिया, दूध।

२ बजे-३ बजे गरी की बर्फी, छेने की रसमलाई, लौकी की खीर या मक्खन लगाया हुआ टोस्ट।

६ बजे शाम आटा में घी डालकर पकाई हुई पूड़ी, दूध की मलाई, खीर, बिना नमक या स्वल्प सेंधा नमकयुक्त लौकी, नेनुआ, बथुआ, चौराई का शाक।

रात्रि में ९ बजे दूध।

सम्भव होने पर प्रारम्भिक ३ सप्ताह तक आहार में केवल दूध का प्रयोग कराना सर्वोत्तम होता है। प्रति ढाई तीन घण्टे पर ४-१६ औंस की मात्रा में मिश्री मिलाया हुआ दूध प्रातः ६ बजे से ९ बजे रात्रि पर्यन्त देना चाहिये। क्षुधा या तृष्णा की प्रतीति होने पर रात्रि में १ बजे भी दूध १ पाव और दे सकते हैं।

अतिसार—

व्याधि की तीव्रावस्था में आहार का निषेध किया जाता है। शतपुष्पार्क, पोदीनार्क, कर्पूराम्बु या साधारण क्वथित जल का थोड़ी-थोड़ी मात्रा में बार-बार सेवन कराया जा सकता है। लक्षणों की तीव्रता कुछ कम होने पर यवपेया, लाजमण्ड या लाजसक्तु (लावा का सत्तू), तालमखाना का सत्तू, बेल का मुरब्बा या भुना हुआ बेल, भुना या उबाला हुआ सेव, मट्ठा आदि का प्रयोग यथावश्यक किया जा सकता है। सामान्यतया फल, हरी शाक-सब्जी तथा दूध का कुछ दिनों तक प्रयोग हितकर नहीं होता। अरारोट

या यव के आटे की रोटी, दलिया, खिचड़ी, मट्ठे की कढ़ी, कच्चे केले का शाक, मूँग या मसूर की दाल आदि का प्रयोग किया जा सकता है। प्रातः ७ बजे ½-१ पौण्ड मक्खन निकाला हुआ मट्ठा, कार्नफ्लेक्स (Corn flex) या बेल का मुरब्बा, ११ बजे गली हुई मूँग की दाल की खिचड़ी, उबाले हुए कच्चे केले को आटा के साथ गूँथकर बनायी हुई रोटी, चोकर रहित आटे की रोटी, मट्ठे की कढ़ी या पतली मूँग की दाल आदि में से यथारुचि प्रयोग। ३ बजे उबाला हुआ सेव या मक्खन निकाले हुये दही की लस्सी, मट्ठा, उबाला हुआ अण्डा। ६-७ बजे मध्याह्न के समान सायंकालीन भोजन। ९ बजे आधी छटाँक छेना, खजूर या बेल का मुरब्बा। अतिसार की लाक्षणिक शान्ति तथा अग्नि के प्रदीप्त होने पर उत्तरोत्तर आहार की मात्रा तथा विविध पदार्थ बढ़ाते जाना चाहिए।

मृदुभोजन (Smooth diet)—

अग्निमांद्य, बृहदंत्र शोथ तथा जीर्ण प्रवाहिका में मृदु भोजन की विशेष उपयोगिता होती है। शाक-सब्जी के रेशे तथा अमरूद एवं परवर आदि के बीज एवं इसी ढंग की कोई कठोर वस्तु आहार में न रहनी चाहिए।

प्रातःकाल—१-२ उबाले हुए अण्डे, दलिया या कार्नफ्लेक्स, मक्खन तथा टोस्ट आदि में कोई पदार्थ तथा थोड़ी मात्रा में दूध।

मध्याह्न में—रोटी, गला हुआ पुराना चावल, गली हुई दाल (मूँग, मसूर या अरहर), मट्ठा-दही, लौकी, पपीता तथा उबाले और पिसे हुए आलू आदि अवशेष रहित शाक-सब्जी, भली प्रकार पकाया हुआ मृदुमांस या पक्षियों का मांस।

अपराह्न में ४ बजे—केला, सेव, छेना।

रात्रि में ८ बजे—मध्याह्न का भोजन।

९-१० बजे रात्रि में—बेल का मुरब्बा, १ पाव दूध।

विबंध—

चिकने-गुरुपाकी पदार्थ मात्रा में कम तथा शाक-सब्जी एवं ताजे फल पर्याप्त मात्रा में लेने से विबंध में लाभ होता है। सामान्य उपयुक्त क्रम का यहाँ निर्देश किया जाता है।

१. प्रातःकाल निद्रा के बाद उषःपान—रात्रि में रखे हुए या ताजे जल का उषःकाल में पान। इसके साथ शहद तथा नीम्बू स्थूल व्यक्तियों में तथा नमक एवं नींबू का प्रयोग आमांशयुक्त विबंध में हितकर होता है।

२. प्रातःकालीन जलपान—अंकुरित मूंग या अंकुरित चना के साथ सलाद के रूप में धनिया, प्याज, मूली आदि या मक्खन मिलाया हुआ दलिया एवं दूध।

३. यूष—भोजन के १-१॥ घण्टे पूर्व तरकारियों का रस १-१॥ पाव की मात्रा में गरम-गरम पीना।

४. भोजन—चोकरयुक्त मोटे आटे की रोटी, उबाले हुए शाक, पर्याप्त मात्रा में

पालक, टमाटर, प्याज, मूली आदि की सलाद, दाल। प्रायः चावल नहीं देते। यव की गूरी (छिला हुआ जौ) का आटा विशेष लाभप्रद है।

५. चार बजे अमरूद, पपीता, आम, गाजर, टमाटर, खीरा, ककड़ी, पका हुआ बेल आदि में से कोई सुलभ फल।

६. रात्रिकालीन भोजन—प्रायः मध्याह्न का भोजन। पालक, बथुआ आदि पत्रशाकों को भरकर बनायी हुई रोटी साधारण रोटी के स्थान पर रुचि बदलने के लिए दे सकते हैं।

७. रात्रि में ९ बजे २-३ अंजीर खाकर १ पौण्ड दूध का सेवन।

मेदोवृद्धि—

कुछ व्यक्तियों में आनुवंशिक मेदोवृद्धि की प्रवृत्ति होती है तथा कुछ में आहार एवं विहार की विषमता मेदोवृद्धि का कारण होती है। पर्याप्त शारीरिक परिश्रम, आहार में स्निग्ध पदार्थ, कार्बोज तथा मधुर-लवण रस प्रधान द्रव्यों का परित्याग, स्वल्प भोजन आदि के द्वारा दोनों वर्ग के रोगियों में आंशिक लाभ अवश्य होता है। इस विकार में सम्पूर्ण आहार ५००-१००० कैलरी का, जिसमें प्रोभूजिन ७० ग्राम (सर्वाधिक), वसा १० ग्राम तथा कार्बोज ३२ ग्राम हो, देना चाहिए। उबाली हुई बिना नमक की सब्जी—खीरा, नेनुआ, लौकी, मूली, पालक आदि—१–१॥ पाव की मात्रा में साथ में दे सकते हैं।

जीवतिक्तियों एवं खनिज लवणों की आवश्यक पूर्ति के लिए उनका अलग से औषध-रूप में अनुमानित दैनिक मात्रा में प्रयोग करना चाहिए।

सबेरे ५ बजे २ चम्मच मधु के साथ १ पाव जल।

८ बजे—मक्खन निकाला हुआ बिना शर्करा के १ पाव दूध या मक्खन निकाला हुआ मट्ठा (छाछ) १ पौण्ड, अंकुरित चना आधा छटाँक। इसके स्थान पर १ टुकड़ा टोस्ट तथा उबाला हुआ १ अण्डा और मक्खन निकाला दूध १ पाव।

१२ बजे—उबाली हुई तरकारी, मट्ठा के साथ जौ-चना के १ छटाँक आटा की रोटी, १ छटाँक छेना, चीज़ (Cheese) या बकरे का मांस या मछली या पक्षियों का मांस २ छटाँक, दाल का पानी।

४ बजे—अमरूद, ककड़ी, मूली, खीरा आदि अल्प पोषण वाले कोई फल।

रात्रि का भोजन—मूँग का बिना नमक या हल्के नमक का चिल्ला, बाजरा-जौ या चने की १ रोटी, उबाला हुआ शाक तथा छेना। छेना के स्थान पर पक्षियों का मांस या मछली का सेवन कराया जा सकता है।

गेहूँ का पूर्ण निषेध तथा रूक्ष अन्नों एवं दालों की मात्रा परिमित रूप में। घी के स्थान पर स्नेहन कार्य के लिए सार्षप तैल का प्रयोग। शर्करा के स्थान पर सैक्रिन का सेवन।

वातरक्त (Gout)—

इस विकार में प्रोभूजिनों की मात्रा न्यूनतम तथा स्नेहांश की न्यून होनी चाहिए। आहार लघु, सुपाच्य, अविदाही तथा मलशोधक होना चाहिए।

जलपान—सेव या आमले का मुरब्बा, अंजीर तथा मक्खन निकाला हुआ दूध अथवा १ उबाला हुआ अण्डा, फल तथा टोस्ट।

मध्याह्न का भोजन—रोटी, हाथ-कुटा लाल चावल, मूँग की दाल, लौकी, नेनुआ, परवर, टमाटर, पपीता आदि का शाक।

अपराह्न में—पपीता, अमरूद, सेव, संतरा एवं मुसम्मी आदि फल।

रात्रि का भोजन—मध्याह्न के भोजन के समान। कभी-कभी सामिषाहार वाले व्यक्तियों को मछली, बकरे की कलेजी तथा पक्षियों का मांस दिया जा सकता है। रात्रि में सोने के पूर्व १ पाव दूध। साथ में गुलकन्द, अंजीर या मुनक्का लेने से मलशुद्धि सुविधा से होती है।

हृदय के विकार—

नमक, घी तथा पिच्छिल एवं विदाही पदार्थों का त्याग या अल्प प्रयोग, लघुपाकी स्वल्प आहार, दूध एवं फल का पर्याप्त सेवन हितकर होता है।

प्रातःकाल—गेहूँ का दलिया, १ पाव दूध।

मध्याह्न में—रोटी, छेना, हल्के नमक के साथ उबाले हुए शाक, मट्ठा या दही, लाल चावल।

अपराह्न में—२-३ सन्तरा या सेव।

सायंकाल में—भोजन रात्रि के प्रारम्भ के पूर्व या सायंकाल में ही। प्रायः दलिया—शाक या १-२ रोटी—शाक और भोजन के साथ ही दूध। रात्रि में यथाशक्ति कोई आहार न लेना चाहिए।

वृक्क विकार—

लवण तथा प्रोभूजिनों की मात्रा सर्वाधिक कम रहती है। प्रोभूजिनों की मात्रा केवल दुग्ध प्रोभूजिन (कैसीन) के द्वारा ही पूर्ण करना चाहिए। कुछ वृक्क-विकारों में—विशेषकर शोथयुक्त विकारों में—प्रोभूजिनों की पर्याप्त आवश्यकता पड़ती है। कुछ काल तक दुग्धाहार पर रखने से विशेष लाभ होता है।

यकृत् विकार—

यकृत् के विकार में प्रोभूजिनों तथा कार्बोजों की मात्रा अधिक तथा स्नेहांश की मात्रा कम होनी चाहिए। यकृत् सत्व या यकृत् का कच्चा रस विशेष लाभ करता है। इसमें मट्ठा, मांसयूष तथा रसवाले फलों का सेवन विशेष लाभ करता है।

सामान्य पथ्यापथ्य—

कुछ पदार्थ अधिक समय तक सेवन करने से हानिकर तथा कुछ अधिक समय तक सेवन करने से लाभप्रद होते हैं। इन्हीं हिततम या अहिततम पदार्थों का संग्रह यहाँ किया जा रहा है।

सर्वसाधारण हिततम पथ्यकर वर्ग—

चावलों में लाल साठी का चावल-नीवार चावल, छीमी वाले (शिम्बी) धान्यों में मूँग, शाकों में जीवन्ती (डोड़ी शाक) चौराई-परवर का शाक, अनाज में गेहूँ, मृगमांसों में काले हरिण का मांस, पक्षियों में लावा का मांस, मछलियों में रोहू मछली, गाय का घी तथा दूध, तिल का तेल, वसा में बकरा-मुर्गा-हंस-बतक-चुलकी मछली तथा शूकर की वसा, मूलों में अदरख, फलों में अंगूर, इक्षु विकारों में मिश्री, जल में आकाश जल या झरने का जल, नमकों में सेंधानमक तथा अम्ल द्रव्यों में आमला हिततम होता है।

सर्वसाधारण अहितकर वर्ग—

शूक धान्यों में जौ, शिम्बी धान्यों में मटर, जलों में बरसाती नदी का पानी, नमकों में खारी नमक, शाकों में सरसों का शाक, मांसों में गोमांस तथा काले कबूतर-मेंढक और चिलचिम मछली का मांस; घी-दूध में भेड़ का घी तथा दूध, तेलों में कुसुम (बर्रे) का तेल, चर्बी में भैंस-मगरमच्छ-जलकाक तथा हाथी की चर्बी, कड़ी हो गई मूली, कटहल तथा राब हानिकर पदार्थ हैं। इनका अधिक सेवन न करना चाहिए।

परिचर्या

प्राचीन तथा नवीन चिकित्सा विज्ञान में रोगी की परिचर्या चिकित्सा का आवश्यक अङ्ग मानी जाती है। आयुर्वेदीय ग्रंथों में चिकित्सा के ४ स्तम्भ समान महत्त्व के बताये गये हैं। उनमें परिचारक की भी गणना है। परिचारक का काम रोगी की शुश्रूषा है। उसकी लगन और बुद्धिमत्ता से ही रोगी को शीघ्र स्वास्थ्य मिल सकता है।

परिचारक के गुण—

दत्तचित्त होकर रोगी की शुश्रूषा करने की भावना परिचारक का प्रधान गुण माना जाता है। जब तक रोगी के साथ परिचारक की आत्मीयता न हो, रोगी अपनी सभी दुख-सुख की बातें निःसंकोच भाव से परिचारक से कहकर अपने को हल्का न कर सके, उसको मानसिक शान्ति नहीं मिलेगी। परिचारक की सेवा, मधुर व्यवहार एवं स्नेहसिक्त वाणी से रोगी को अपूर्व शान्ति मिलती है। औषध प्रयोग के द्वारा लाभ का अनुभव कुछ समय बाद होता है, किन्तु परिचारक की सेवा रोगी को तात्कालिक शान्ति देती है। परि-चारक में व्यापक स्नेह की भावना तथा उत्सर्गपूर्ण व्यवहार की क्षमता होनी ही चाहिए। जब

तक वह मातृवत् स्वाभाविक ममतायुक्त होकर, रोगी को अपना पुत्र समझ कर औपचारिक व्यवहार से वर्ताव की शक्ति नहीं प्राप्त कर लेता, तब तक अपने दायित्व को भलीभाँति नहीं निभा सकता। रोगी व्याधि के कारण असहिष्णु हो जाता है। अनेक बार अपथ्य आहार-विहार की आकांक्षा तथा औषध-पथ्य सेवन में विरोध प्रदर्शित करता है। उसको डाँट कर सही रास्ते पर लाने की अपेक्षा स्नेह-अनुरोध से आकृष्ट करना उत्तम होता है। कान्ता सम्मित अनुरोधों एवं माता के स्नेहपूर्ण आदेशों को टालने की शक्ति किसी में नहीं होती। सभी रोगों में शारीरिक अशान्ति के साथ मानसिक अशान्ति भी होती है। व्याधि की बिभीषिका से रोगी बहुत त्रस्त रहता है। उसे अनेक दुश्चिन्तायें उत्पीड़ित करती रहती हैं। ऐसी स्थिति में रोगी को स्नेह व्यवहार की बहुत आवश्यकता होती है। अनेक बार रोगी आन्तरिक द्वन्द्व, मानसिक क्लेश एवं व्याधि के प्रभाव से परिचारक को कटु शब्द भी कहता है, उसकी अवमानना करता है। इन सब विपरीत परिस्थितयों को बिना किसी ग्लानि के सहते हुये अनुरागपूर्ण व्यवहार करने की क्षमता परिचारक में होनी आवश्यक है।

परिचारक को उपचारों की विधिवत् जानकारी होनी चाहिये। किस समय कौन उपचार करना उचित है, यह ज्ञान तो आवश्यक है ही, किन्तु इससे भी अधिक इस जानकारी की आवश्यकता है कि परिचारक किस कौशल से रोगी को बिना अल्पतम बाधा पहुँचाये अपना उपचार कार्यान्वित कर सकता है। शरीर को पोंछना, तैल-मर्दन, वस्ति प्रयोग, स्वेदन इत्यादि सभी में उसकी दक्षता अपेक्षित है। रोगी का सारा शरीर रोगाक्रान्त रहता है। थोड़ा अधिक हिलाने-डुलाने, किसी अङ्ग के अधिक दब जाने या अधिक शीतोष्ण उपचार करने से उसे कष्ट हो सकता है। इसलिए रोगी की प्रकृति, सहन-शीलता एवं आवश्यकता को भली प्रकार समझकर उपचारों को सम्यक् व्यावहारिक रूप देने की कला परिचारक में होनी चाहिये।

उपचार की प्रत्येक क्रिया में परिचारक के हाथ मँजे हुये होने चाहिये। साधारण शुश्रूषा के अतिरिक्त उसे आकस्मिक उपचार भी करने पड़ते हैं। चिकित्सक तो रोगी का निदान तथा औषध-व्यवस्था करके भारमुक्त हो जाता है। उसके निर्देशों को समुचित रूप में कार्यान्वित करना परिचारक का ही दायित्व होता है। बहुत बार व्याधि में आकस्मिक परिवर्तन हो जाने के कारण चिकित्सक की निर्दिष्ट व्यवस्था अपर्याप्त या अव्यावहारिक हो जाती है। ऐसी स्थिति में परिचारक की दक्षता, कार्याकार्य-विवेक एवं आत्मविश्वास ही रोगी की रक्षा करता है। श्वास, प्रलाप, मूर्च्छा आदि के आक्रमण के समय रोगी की बेचैनी देखकर परिजन आकुल हो जाते हैं, रक्तष्ठीवन होने पर हताश होने लगते हैं, रोगी के गहरी निद्रा में सोने पर भी उनकी घबराहट बढ़ जाती है। ऐसी स्थिति में परिचारक का दायित्व चतुर्गुण बढ़ जाता है। उसे रोगी को सँभालना पड़ता है। प्रत्युत्पन्नमतित्व से रोगी के उपद्रवों का उपचार करना पड़ता है। साथ ही कुटुम्बियों को भी आश्वस्त करना होता है। ऐसी परिस्थितियों में परिचारक के

घबड़ा जाने से रोगी का भविष्य प्रश्नवाचक बन सकता है। परिचारक के घबड़ाने से रोगी का जो उपचार हो सकता था, वह भी नहीं हो पाता और कुटुम्बीजन घबड़ाकर कोई नवीन व्यवस्था करते हैं जो रोगी की मूल विकृति से असम्बद्ध या विरोधी हो सकती है।

परिचारक को शुद्ध निर्मल वस्त्र धारण किये सभी दृष्टियों से पवित्र होना चाहिये। हाथ-पैर-नाखून आदि की सफाई नियमित रूप से न करने से रोगी में नवीन व्याधियों का संक्रमण हो सकता है।

रोगी के दुर्बल हो जाने, आक्षेप या वातिक उपद्रवों की स्थिति में उसकी सारी क्रियायें परिचारक को अपने बल से करनी होती हैं। करवट दिलाना, उठाना-बैठाना आदि करने के लिये परिचारक को परिश्रमी तथा सबल होना चाहिये।

अनेक रोगों में चिकित्सा से अधिक परिचर्या का महत्त्व होता है। रोगी की रक्षा के लिये उच्चकोटि की परिचर्या आवश्यक होती है। जब तक परिचारक दत्त-चित्त होकर घृणा, लोभ, क्रोध आदि मानसिक विकारों को त्याग कर, निरन्तर सेवा में नहीं लगा रहता, रोगी को शीघ्र आराम नहीं मिल सकता। परिचारक की दीर्घसूत्रता बहुत हानिकर हो सकती है। जो काम जिस समय आवश्यक हो, उसे बिना किसी आलस्य के उसी समय करना चाहिये।

चिकित्सक के निर्देशों को कार्यान्वित करना, रोगी के मन में चिकित्सक के प्रति आस्था उत्पन्न करना और रोगी की रोग-सम्बन्धी पूरी सूचना चिकित्सक को देते रहना, परिचारक के महत्त्वपूर्ण गुण माने जाते हैं। अंग्रेजी में परिचारक को नर्स कहते हैं। नर्स का वास्तविक अर्थ बच्चों का पालन-पोषण करना होता है। परिचारक को रोगी की परिचर्या शिशुवत् करनी पड़ती है। संक्षेप में निम्नलिखित गुण परिचारक में होने चाहिये—

रोगी के प्रति अनुराग, उपचारज्ञता, दक्षता, पवित्रता, चिकित्सक की आज्ञा का परिपालन, सहिष्णुता, अघृणित्व, जितक्रोधिता, अद्वैविध्य, आशुकारित्व, ईर्ष्या-द्वेष-दम्भ-लोभ आदि क्षुद्र भावनाओं का परित्याग, सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति, कार्याकार्य विवेक, सुशीलता, व्यवहार-कुशलता आदि।

उचित परिचर्या से रोग की लाक्षणिक निवृत्ति का उल्लेख पहले हो चुका है। बहुत से रोगों में विशिष्ट परिचर्या होती है। किन्तु निम्नलिखित नियमों का परिपालन सामान्यतया सभी रोगों में हितकर होता है—

रोगी के शरीर की सफाई—प्रतिदिन नियमित रूप से, व्याधि एवं ऋतु के अनुकूल गुनगुने पानी में मुलायम कपड़ा भिगोकर, रोगी के सारे शरीर को पोंछकर, शुद्ध कर देना चाहिये। किसी कारण से जल-सम्पर्क हानिकर हो तो सूखे कपड़े से सारे शरीर

को विशेषकर स्वेदलिप्त अंगों को रगड़कर पोंछ देने से त्वचा की शुद्धि हो जाती है। मुख की सफाई पर भी विशेष ध्यान देना चाहिये। प्रायः रुग्णावस्था में दन्तकाष्ठ निषिद्ध माना जाता है, अतः मंजन-गण्डूष इत्यादि के द्वारा दन्त एवं जिह्वा की भली प्रकार शुद्धता करनी चाहिये।

रोगी का कमरा खूब साफ, व्यर्थ के सामान से रहित, सुप्रकाशित तथा वात-संचारयुक्त रखना चाहिये। रोगी की शय्या दरवाजे या खिड़की के सामने न होकर बगल में रखनी चाहिये जिससे धूप तथा वायु के वेग से उसे कष्ट न हो। कुछ व्याधियों में रोगी के कमरे में धूप या हवा का जाना निषिद्ध होता है अतः कमरे के अधिकांश खिड़की-दरवाजे बन्द करके केवल शुद्ध वायु के आने-जाने के लिये एक-दो खिड़की, रोशनदान खुले रखने चाहिये। ऋतु एवं व्याधि के अनुरूप कमरा ठण्ढा या गरम रखना चाहिये। कमरे को प्रातः-सायं गीले कपड़े से पोंछकर, धूप के द्वारा धूपित कर, सुगन्धित पुष्प माल्य रोगी की शय्या के पास रखने से रोगी को प्रसन्नता और शान्ति का अनुभव होता है। रोगी की शय्या बहुत कोमल रखनी चाहिये और उसके ऊपर का बिछावन तथा ओढ़ने का वस्त्र प्रतिदिन शुद्ध कर धूप में सुखाकर काम में लेना चाहिये। जलपात्र भली प्रकार भीतर से शुद्ध कर जल उबालकर रोगी के निकट ढक कर रखना चाहिये। मल-मूत्र-ष्ठीवन आदि के पात्रों की जल एवं शोधक द्रव्यों से शुद्धि बराबर करनी चाहिये।

रोगी बेचैनी के कारण वस्त्र इत्यादि इधर-उधर फेंक देता है। अतः उसके वस्त्रों का परिष्कार करते हुये शरीर के ढके रहने का ध्यान रखना चाहिये। निद्रा, प्रलाप, बेचैनी, वेदना, तृष्णा, क्षुधा इत्यादि की और रोगी के विभिन्न परिवर्तनों की पूरी सूचना चिकित्सक को देनी चाहिये। प्रतिदिन रोगी के मूत्र-त्याग, मल-प्रवृत्ति, वातानुलोमन, जलपान, नाडी, श्वास इत्यादि का विवरण ज्वर-निदर्शन के साथ नोट करना चाहिये। संक्रामक रोगों में विशेष व्यवस्था करनी होती है। मल-मूत्र-ष्ठीवन इत्यादि की शुद्धता संक्रमण-प्रतिषेध, शोधन, धूपन आदि पूरी व्यवस्थायें होनी चाहिये। रोगी को नियमित समय से ओषधि सेवन, पथ्यकर आहार—दूध, फल, लाजमण्ड इत्यादि का प्रयोग चिकित्सक के निर्देश के अनुसार व्यवस्थित रूप में कराना चाहिये।

त्वचा की पूरी सफाई न होने से स्वेद का संचय होकर त्वचा में खुजली या शय्याव्रण की उत्पत्ति होती है। रोगी के क्षीण हो जाने पर एक ही करवट अधिक समय लेटे रहने के कारण अस्थिप्रधान अंगों के दबने के कारण पीठ, कन्धे तथा कमर में शय्याव्रण हो जाते हैं। इनके प्रतिकार के लिये अंगों की पूर्ण सफाई तथा बीच-बीच में पार्श्व-परिवर्तन कराते रहना और आवश्यकता होने पर चिकना पाउडर या मलहम इत्यादि लगाना आवश्यक होता है। मुख का अच्छी प्रकार शोधन न होने से

मुखपाक, जिह्वाव्रण तथा कर्णमूलशोथ आदि उपद्रव हो जाते हैं। रुग्णावस्था में शरीरस्थ विषों का शोधन श्वास-प्रश्वास, मल-मूत्र एवं स्वेद के द्वारा निरन्तर होता रहता है, अतः इनकी सफाई सामान्यतया अधिक ध्यान देकर करनी चाहिये।

उक्त कार्यों के अतिरिक्त पथ्यनिर्माण तथा नियत समय पर रोगी को पथ्य का सेवन कराना, लघु शस्त्रकर्मों—मूत्राशय-शोधन, बस्तिप्रयोग आदि—का अभ्यास रहना भी आवश्यक होता है।

यहाँ पर परिचर्या विषयक स्थूल सिद्धान्तों के उल्लेख का अभिप्राय चिकित्सक को इन कार्यों का स्मरण कराना है। जब तक चिकित्सक परिचर्या का ज्ञाता न होगा, वह परिचारक से भली प्रकार कार्य न ले सकेगा तथा परिचारक को कहाँ विशेष ध्यान देना चाहिए इसका निर्देश भी न कर सकेगा।

षष्ठ अध्याय

विशिष्ट औषधियाँ

रस या पारद के योग—

रस-चिकित्सा का व्याधि-निराकरण में प्रयोग होने पर भैषज्य-विधान में क्रान्तिकारी परिवर्त्तन हुए। स्वल्प मात्रा, प्रयोगसुगमता तथा व्यापक प्रभाव के कारण उत्तर-कालीन चिकित्सा में रसौषधियों का व्यापक प्रभाव हुआ है। योगवाही गुणों के कारण पारद-गंधक घटित रसयोगों के सहयोग से वानस्पतिक द्रव्यों की क्रियाशीलता, दीर्घकालिक गुणवत्ता तथा स्वल्प मात्रा में ही विशिष्ट एवं व्यापक प्रभाव की सिद्धि होने के कारण चिकित्सा में रसघटित योगों का प्रचुरता से प्रयोग हो रहा है। किसी वानस्पतिक द्रव्य का विशिष्ट गुण ३ माशा या १ तोला की मात्रा में दीर्घकाल तक सेवन करने से होता है, यदि उसी को कज्जली या रससिन्दूर के साथ में थोड़ी (४-६ रत्ती की) मात्रा में सेवन कराया जाय तो अल्पकाल में ही उस वनस्पति के विशिष्ट गुण व्यापक रूप में परिलक्षित होते हैं। अनुपान भेद से विभिन्न व्याधियों में रसौषधि का प्रयोग किया जा सकता है।

शुद्ध एवं संस्कारित पारद का गंधक के साथ कज्जली, पर्पटी या कूपीपक रस के रूप में प्रयोग किया जाता है। महास्रोत या पचनसंस्थानीय विकारों में कज्जली एवं पर्पटी के योग तथा सार्वदैहिक विकारों में गंधकजारित रसयोग—रस सिन्दूर, मकर-ध्वज आदि—का प्रयोग किया जाता है। यहाँ पर कुछ रसयोगों का गुणधर्म संक्षेप में निर्दिष्ट किया जायगा। पारद एवं गंधक का विशिष्ट गुणोत्कर्ष के लिए जितना शोधन एवं संस्कार वनस्पतियों के साथ किया जायगा, जितनी बार गंधक का जारण पारद के साथ किया जायगा, उतनी ही अधिक गुणवृद्धि एवं क्रियाशीलता योग में उत्पन्न होती है।[1] पारद के योगों के सेवन काल में कुछ विशिष्ट पथ्यापथ्य का विधान होता है। उचित गुण की प्राप्ति के लिए इसका पालन आवश्यक है।

रसायन-सेवनकाल का पथ्य—गेहूँ, पुराने शालि चावल, मूंग की दाल, गाय का घी-दूध-दही-मलाई, हंसोदक (दिन की धूप तथा रात की चाँदनी में रखा हुआ जल), सेंधानमक, धनिया-जीरा-अदरख आदि साधारण मसालों से घी के साथ सिद्ध किए

---

१. समे गंधे तु रोगघ्नो, द्विगुणे राजयक्ष्मजित्।
जीर्णे तु त्रिगुणे गंधे, कामिनीदर्पनाशनः॥
चतुर्गुणे तु तेजस्वी, सर्वशास्त्रार्थसिद्धिदः।
भवेत् पंचगुणे सिद्धः, षड्गुणे मृत्युजिद् भवेत्॥

हुई परवर-चौराई-भिण्डी-लौकी आदि तरकारियाँ रसायन-सेवनकाल में पथ्य मानी जाती हैं।

अपथ्य—गुरुपाकी, विष्टंभकारक, अत्यन्त तीक्ष्ण एवं उष्ण भोजन का विशेष रूप से निषेध करना चाहिए। बड़ी कटेरी, वेल, कुम्हड़ा (पेठा), वेत्रांकुर, करेला, उड़द, मसूर, मटर, कुलथी, सर्षप, तिल, मुर्गे का मांस, आनूप मास, कांजी, मद्य, आसव, अम्लवर्ग तथा मसालेदार पदार्थों का रसायन-सेवनकाल में परित्याग करना चाहिए। लंघन, स्नान तथा उद्वर्त्तन, ग्राम्यधर्म का सेवन भी हितकर नहीं होता। ककारादि गण का इसमें सामान्य रूप से परित्याग करना चाहिए। ककारादि गण में कटेरी के फल, कांजी, कच्छप-मयूर-सूअर तथा मुर्गे का मांस, करेला, बैगन, कपित्थ, पेठा, ककड़ी, तरबूज, कुलथी, मटर, अरहर की दाल, सरसों का तेल तथा पिप्पली आदि की गणना की जाती है।

संक्षेप में घी-दूध आदि संतर्पक आहारों का सेवन तथा मांस-मद्य एवं मसाला-खटाई का निषेध करना चाहिए।

कज्जली—

स्वतंत्र रूप से कज्जली का प्रयोग प्रायः नहीं किया जाता। प्रवाहिका, अतिसार, संग्रहणी, गुल्म आदि व्याधियों में तत्तद् रोगनाशक ओषधियों के साथ रसायन एवं योगवाही गुण के लिए इसका अन्तर्भाव किया जाता है। इसके योग से उन ओषधियों में चमत्कारिक गुण की वृद्धि होती है। अग्निदीपन, आमांश का पाचन, धात्वग्नि की वृद्धि, आंत्रगत जीर्ण विकारों एवं दूषित संक्रामक विकारोत्पादक जीवाणुओं का पूर्णतया निर्मूलन आदि परिणाम कज्जली के योगों से होते हैं। इसी कारण पचनसंस्थानीय विकारों में प्रयुक्त होनेवाली ओषधियों में कज्जली का सर्वाधिक प्रयोग होता है।

पर्पटी—

पारद-गंधक की कज्जली में लौह-ताम्र-स्वर्ण आदि अनेक भस्में मिलाकर विशेष प्रक्रिया से पर्पटी का निर्माण किया जाता है। रसायन कल्प में पर्पटी महत्त्वपूर्ण औषध मानी जाती है। पारद-गंधक की कज्जली से बनी पर्पटी व्रणशोधक-रोपक, जीवाणुनाशक और रसायन होती है तथा महास्रोत के विकारों को निर्मूल करने में विशेष रूप में उपयोगी होती है। अन्य ओषधियों की तुलना में पर्पटी सौम्य, हिततम तथा शीघ्र एवं स्थायी प्रभाव करती है। आंत्रगत सेन्द्रिय विषोत्पादक जीवाणुओं का नाश कर दुर्गन्धित मल एवं आमांश का शोधन तथा आंत्र की रसग्रहणशक्ति की वृद्धि के गुण के कारण पर्पटीकल्प संग्रहणी एवं अन्य सभी जीर्ण विकारों में बहुत लाभप्रद होता है। पाचकपित्त का समुचित स्राव न होने से भोजन का परिपाक उचित रूप में नहीं होता, आंत्र की श्लेष्मल कला में शोथ होने से अन्नरस का ग्रहण नहीं होता

तथा मल अपक्व एवं आममिश्र, अम्ल या पूतिगंधयुक्त होता है, जिह्वा मललिप्त एवं अरोचक के लक्षणों आदि के मिलने पर पर्पटी कल्प विशेष हितकर होता है।

संग्रहणी में जिह्वा से मलद्वार पर्यन्त समस्त पाचन यंत्र की श्लेष्मल कला पर सूक्ष्म विस्फोट से उत्पन्न हो जाते हैं, जिससे रोगियों की पाचकाग्नि अत्यधिक क्षीण हो जाती है, जिह्वा से किसी स्वाद का अनुभव नहीं होता तथा वह रक्तवर्ण की, उबाले हुए मांस के समान एवं काँटेदार हो जाती है। प्रायः यही स्थिति सारे महास्रोत की होती है। लवण या जल के स्पर्श से वेदना होती है, मुखपाक, लालास्राव, उष्ण-द्रवप्रधान पतले मल आदि के कारण रोगी अत्यधिक कृश हो जाता है। इन सभी अवस्थाओं में विधिपूर्वक पर्पटी-का प्रयोग कराने से स्थायी लाभ होता है। आगे ग्रहणी अधिकार में पर्पटी-सेवन का विधान स्पष्ट किया गया है।

रस सिन्दूर—

समगुण गंधक जारित, द्विगुण गंधक जारित, चतुर्गुण एवं षड्गुण गंधक जारित आदि रससिन्दूर के योगों में गंधक की मात्रा समान, द्विगुण, चतुर्गुण एवं षड्गुण होती है। एक बार, दो बार या तीन बार में गंधक के विशेष प्रक्रिया से जारण के बाद रससिन्दूर का निर्माण किया जाता है। जितनी बार, जितनी गुणित मात्रा में गंधक का जारण करके रससिन्दूर का निर्माण सम्पन्न होगा, उतना ही रसायन गुणों की वृद्धि होगी।

धातुक्षय, हृद्रोग, प्रमेह, क्षय, श्वास, कास, वातव्याधि, मूर्च्छा, मस्तिष्क-विकार, उदर रोग, अर्श, भगंदर, पाण्डु, शूल, संग्रहणी, छर्दि, अग्निमांद्य, शोथ, गुल्म, प्लीहविकार, ज्वर, गर्भाशय के जीर्ण विकार चिरकालीन व्रण एवं दौर्बल्यजनक व्याधियों में विभिन्न अनुपान-सहपान के साथ रससिन्दूर का प्रयोग करने से धीरे-धीरे किन्तु स्थायी सुपरिणाम होता है। व्याधिहर विशिष्ट वनस्पतियों या औषध-योगों के साथ रससिन्दूर का प्रयोग करने से प्रायः सभी विकारों में लाभ होता है। जीर्ण विकारों में शरीर की जीवनी शक्ति का क्षय तथा दूषित मलों का संचय एवं दोषों में विषमता उत्पन्न होती है, जिसके कारण रोगी शीघ्र रोगमुक्त एवं बलवान् नहीं हो पाता। निर्बलता के कारण पुनः पुनः व्याधि का आवर्तन या नवीन व्याधियों का संक्रमण होता रहता है। रससिन्दूर के प्रयोग से शरीर की प्रत्येक कोषा की जीवनीशक्ति में उत्कर्ष होता है, रक्तवृद्धि होती है तथा शरीर की क्रियाशीलता बढ़ जाने के कारण संचित विषों का शोधन होता है और कुछ काल बाद शरीर व्याधिरहित तथा सबल हो जाता है।

फुफ्फुस एवं श्वसनिकाओं के जीर्ण विकारों में दूषित श्लेष्मा का संचय एवं प्राणवायु की क्रिया में व्याघात होने से जीर्णकास, प्रतिश्याय, श्वास, क्षय आदि विकार उत्पन्न

होते हैं। रससिन्दूर का कफशोधक मधुयष्टी, भारंगी, पिप्पली आदि औषधियों के साथ प्रयोग करने पर संचित हुआ दूषित कफ श्वासमार्ग से ढीला होकर निकल जाता है, दूषित कफशोधन होने के साथ ही नवीन कफदोष का निर्माण रुक जाता है। इस गुण के कारण जीर्ण प्रतिश्याय, जीर्ण कास, श्वास, इन्फ्लुएञ्जा, फुफ्फुस सन्निपातोत्तरकालीन विकार, श्वसनिकाभिस्तीर्णता (Bronchiectasis) आदि विकारों में उचित अनुपान से रससिन्दूर का प्रयोग लाभप्रद होता है। इन्फ्लुएन्जा या तीव्रप्रतिश्याय या श्वसनी-फुफ्फुस पाक के बाद कभी-कभी दूषित श्लेष्मा का संचय नासाकोटर, कण्ठशालूक या फुफ्फुस के किसी अंग में रह जाता है। बाहर से व्याधि निर्मूल हुई सी दिखाई पड़ती है, किन्तु कुछ काल बाद अनुकूल परिस्थिति आने पर रोग का पुनरावर्तन हो जाता है। यही क्रम बार-बार चला करता है। ऐसी अवस्था में वसन्तमालती एवं सितोपलादि चूर्ण के साथ रससिन्दूर का कुछ काल तक प्रयोग करने से संचित दोष का निराकरण होकर दुर्बल कोषाओं में नवजीवन का संचार होता है तथा व्याधि का पुनः प्रकोप नहीं होता। रससिन्दूर हृदय के बल की वृद्धि, रक्ताभिसरण क्रिया को उत्तेजना, स्नायु एवं वात-नाडियों की शक्तिवृद्धि एवं धातुपुष्टि आदि अनेक महत्त्व के कार्य सम्पादित करता है। संक्षेप में रससिन्दूर कफदोषप्रधान विकार, रस-रक्त-मांस एवं मेद-दूष्यता वाले विकार तथा हृदय, फुफ्फुस, श्वासप्रणाली तथा आमाशय के जीर्ण विकारों में विशेष लाभ करता है।

मकरध्वज एवं चन्द्रोदय—

इसके निर्माण में पारद-गंधक के अतिरिक्त स्वर्ण का योग भी रहता है तथा पारद एवं गंधक को विशिष्ट संस्कारों के द्वारा गुणवान् बनाया जाता है। कुछ योगों में केशर-कस्तूरी, अम्बर, कर्पूर, पिप्पली आदि का भी मिश्रण किया जाता है। द्विगुण-चतुर्गुण या षड्गुण गंधक जारण के द्वारा इसका निर्माण क्या जाता है, जिससे गुणोत्कर्ष होता है।

यह परम हृद्य, पौष्टिक, बलकारक, रक्त प्रसादक, वाजीकर तथा योगवाही उत्तम रसायन योग है। राजयक्ष्मा, वातव्याधि, शुक्रक्षय, क्लैब्य, धातुक्षय, मानसिक एवं स्नायविक दौर्बल्य, प्रमेह, कास-श्वास, अग्निमांद्य एवं अपस्मार आदि विकारों में लाभ करनेवाली यह उत्तम औषध है।

धातुक्षय एवं ओजक्षय के कारण उत्पन्न दुर्बलता, मानसिक अशान्ति, भीरुता, घबड़ाहट एवं हृद्रोग आदि विकारों में इसका कुछ काल तक सेवन करने से स्थायी लाभ होता है। सुवर्ण का योग होने से शरीर में संचित सभी प्रकार के धातवीय विष एवं सेन्द्रिय विषों का निराकरण तथा नवीन रस-रक्तादि धातुओं की वृद्धि होकर नवजीवन का संचार इसके प्रयोग से होता है। यह योग शरीर की कोषाओं को हानि नहीं पहुँचाता, उनकी जीवनी शक्ति की वृद्धि तथा विकारकारक जीवाणुओं का विनाश

करता है, जिससे राजयक्ष्मा, उरस्तोय, फुफ्फुसपाक एवं श्वसनिकाओं के विकारों का शमन उचित अनुपान के साथ इसका प्रयोग करने से होता है।

जिन बालकों या युवकों में आयुवृद्धि के साथ शारीरिक धातुओं की वृद्धि एवं शरीर का विकास समुचित रूप में नहीं होता, शरीर नाटा या ठिंगना, मुख-मण्डल निस्तेज, त्वचा-नेत्र-नख आदि शुष्क तथा जननेन्द्रिय का अविकसित रहना आदि अवस्थाओं के उपस्थित रहने पर पूर्ण चन्द्रोदय या मकरध्वज का स्वल्प मात्रा में कुछ काल तक सेवन करने से शरीर का समुचित विकास होकर धातुओं की पुष्टि एवं अंग-प्रत्यंगों की वृद्धि होती है।

अकालवृद्ध से दीखने वाले युवकों एवं प्रौढों में, जिनकी इन्द्रियाँ शिथिल हो गई हों, मन में अनुत्साह एवं शरीर में शैथिल्य का अनुभव होता हो, रतिशक्ति-प्रजनन शक्ति एवं बल-वीर्य का ह्रास हो गया हो, उन व्यक्तियों में भी इस योग के सेवन से युवावस्था सदृश बल-वीर्य की प्राप्ति होती है।

सान्निपातिक ज्वर, हृदय की दुर्बलता, हीन रक्त निपीड, अनिद्रा, भ्रम, उद्वेग, स्मृति-दौर्बल्य, ओज-व्यापत्, आलस्य, अवसाद आदि अविशिष्ट स्वरूप की व्याधियों में, जहाँ पर किसी स्पष्ट कारण का परिज्ञान नहीं हो पाता, रोगी के अत्यधिक आतंकित होने पर चिकित्सक को किसी प्रकार की प्रायोगिक परीक्षा से किसी व्याधि की उपस्थिति का सूत्र नहीं मिलता, इस कल्प के सेवन कराने से कुछ काल के बाद सभी कष्टकारक लक्षणों का स्वतः उपशम हो जाता है।

स्वर्णघटित योग होने के कारण क्षय में भी इससे पर्याप्त लाभ होता है। कभी-कभी औषध प्रारम्भ होने के कुछ काल बाद रोग के लक्षणों में अल्पकालिक वृद्धि सी मालूम होती है। किन्तु कुछ काल बाद लक्षणों का क्रमशः शमन होने लगता है। ज्वर-कास-पार्श्वशूल, दाह एवं रक्तष्ठीवन आदि कष्ट कम होते जाते हैं, क्षुधा वृद्धि, बल एवं शारीरिक भार की वृद्धि होती जाती है। प्रारम्भ में औषध की मात्रा स्वल्प होनी चाहिए, धीरे-धीरे अनुकूलता आने पर मात्रा बढ़ानी चाहिए। इस औषध का अनुपानभेद या योगभेद से सभी विकारों तथा सभी अवस्थाओं में प्रयोग किया जा सकता है।

मल्लसिन्दूर एवं मल्लचन्द्रोदय—

पारद-गंधक एवं सोमल या संखिया के योग से यह कूपीपक्व रस निर्मित होता है। यह तीक्ष्णवीर्य एवं उग्र औषध है। श्लेष्मप्रधान एवं आमप्रधान वातिक विकारों में मुख्य रूप से मल्लसिन्दूर एवं मल्लचन्द्रोदय का प्रयोग किया जाता है। पारद का चतुर्थांश सुवर्णभस्म मिलाने से जो योग बनता है, उसे मल्लचन्द्रोदय तथा स्वर्णरहित योग को मल्लसिन्दूर कहा जाता है।

कफज कास, जीर्ण प्रतिश्याय, श्वास, आमवात, वात-श्लेष्मदोषजनित पक्षवध, अर्दित, श्लेष्मोल्वण सन्निपात एवं स्नायुदौर्बल्य में मल्लघटित पारद का यह योग विशेष गुणकारी होता है।

पुनरावर्तन स्वरूप के विषमज्वरों में पिप्पली-चूर्ण के साथ मल्लसिन्दूर का प्रयोग कराने से ज्वर का प्रतिषेध, रस-रक्तादि की वृद्धि, यकृत् एवं प्लीहा की वृद्धि का समानुवर्तन तथा अग्नि की वृद्धि होती है।

श्वसनिकाओं के शिथिल एवं श्लेष्मलिप्त रहने पर श्वास के साथ कफ की घरघराहट होती है तथा दूषित एवं दुर्गंधित कफ निकलता रहता है। वमन कराकर कफ का शोधन करने के बाद मल्लसिन्दूर को आर्द्रक-स्वरस एवं घृत तथा मधु के साथ प्रयुक्त करने से श्लेष्मा का दोष सदा के लिए शान्त हो जाता है।

फिरंग के कारण उत्पन्न रक्तवाहिनियों एवं हृदय के जीर्ण विकारों में इसके साथ चोपचीनीचूर्ण २ माशा मिलाकर मक्खन के साथ ३–४ मास तक (हेमन्त एवं शिशिर में) सेवन करने से पूर्ण लाभ हो जाता है।

मेदोवृद्धि, प्रस्वेद, आलस्य, शैथिल्य एवं श्लेष्म-वात प्रधान व्याधियों में अश्वगंधा चूर्ण, नागबला चूर्ण या शतावरी स्वरस के साथ मल्लसिन्दूर के सेवन से असाध्य रोगियों में भी लाभ होता है।

सोमलघटित होने के कारण नेत्ररोग, वृक्करोग, पित्तप्रधान व्याधियों एवं तीव्र ज्वर में इसका प्रयोग न कराना चाहिए।

भस्में—

आयुर्वेदीय चिकित्सा में बारहवीं शताब्दी के बाद से भस्मों का प्रयोग बहुत व्यापक रूप से होने लगा है। अनेक वानस्पतिक द्रव्यों के साथ संस्कारित एवं अग्नि पुटित होने के बाद, सूक्ष्मतम एवं अपुनरुद्भव गुण युक्त हो जाने पर अर्थात् जब निर्मित भस्म से मूल धातु या द्रव्य की उत्पत्ति सामान्य प्रक्रियाओं द्वारा न की जा सके, तब उनका व्याधियों में उपयोग विशिष्ट अनुपान से किया जाता है। स्थूल रूप से काशीश या तत्सम लौह के योग का रक्ताणुओं एवं रक्तरंजकता की वृद्धि के लिए जितनी मात्रा में प्रयोग किया जाता है, उससे दशमांश से भी कम मात्रा में लौह भस्म कम काल में अधिक व्यापक प्रभाव के साथ रक्त की वृद्धि एवं अन्य धातुओं की वृद्धि करती है। इस प्रकार भस्मों में केवल लौह-ताम्र-सुवर्ण आदि मूल धातुओं के ही गुण नहीं रहते, किन्तु विशेष संस्कारों के कारण उनमें व्यापक प्रभावकारी गुण भी उत्पन्न होते हैं। विशिष्ट वानस्पतिक द्रव्यों का दीर्घकाल तक अनेक रूपों में संस्कार होने के कारण यह औषधियाँ विशेष रूप से निरापद तथा शरीर के लिए हिततम एवं व्याधियों के निराकरण में समर्थ होती हैं। शुद्ध एवं संस्कारित भस्मों के मात्रावत् प्रयोग से धातुओं की विषाक्तता के दुष्परिणाम—वमन, अतिसार, वृक्कविकार आदि

कभी नहीं उत्पन्न होते। भस्म निर्माण-प्रक्रिया में बहुविधता है। विशेष गुण की सिद्धि के लिए विशिष्ट ओषधियों की भावना एवं विशिष्ट संस्कारों का उल्लेख सम्बद्ध ग्रन्थों में मिलता है। किन्तु फार्मेसियों द्वारा निर्मित भस्मों में किन द्रव्यों के संस्कार द्वारा भस्म का निर्माण किया गया है, यह विशेषोल्लेख नहीं रहता और न उनमें एकरूपता रहती है। इस कारण भस्मों के गुणों में क्वचित् भिन्नता मिलती है। यह स्मरण रखना चाहिए कि भस्मों का यह विशिष्ट गुण, उनकी क्रियाशीलता, वानस्पतिक एवं पारद-गंधक आदि द्रव्यों के संस्कार के द्वारा ही उत्पन्न होती है, इसके बिना उनमें कोई गुणाधान नहीं होता।

यहाँ पर कुछ प्रमुख भस्मों के गुण-धर्म का संक्षिप्त उल्लेख किया जा रहा है। भस्म-संयुक्त योगों में इन भस्मों के विशिष्ट गुणों के अतिरिक्त योग के भी स्वतन्त्र गुण होते हैं तथा वानस्पतिक योगों से कुछ विचित्र एवं नवीन गुण भी विशिष्ट योग में हो सकते हैं, इस तथ्य का ध्यान रखना चाहिए।

स्वर्ण भस्म—

राजयक्ष्मा, धातुक्षय, जीर्णज्वर, जीर्णकास, श्वास, वातवहा नाडियों के जीर्ण विकार, सर्वाङ्गदाह, नेत्रदाह एवं पित्तप्रधान उन्माद एवं प्रमेह आदि पित्तदुष्टि जनित विकार, शरीर के समवर्त्त (Metabolism) या बाहर से प्रविष्ट सभी प्रकार के जीर्ण विषविकार एवं क्लैब्य में स्वर्ण भस्म के प्रयोग से बहुत लाभ होता है। यह स्निग्ध, मधुर, कषाय, शीतवीर्य और उत्तम रसायनगुणविशिष्ट होती है। प्रज्ञा, बल, स्मृति, कान्ति एवं वीर्य की वृद्धि, बृंहण-वृष्य-हृद्यगुणों एवं वाणी की स्थिरता तथा शरीर की सभी कोषाओं में स्थिर-स्वास्थ्योपगामी गुणों की वृद्धि इसके सेवन से होती है।

राजयक्ष्मा में सुवर्ण का व्यापक प्रयोग चिरकाल से होता आया है। शारीरिक कोषाओं की वृद्धि तथा विशिष्ट सामर्थ्यवाली तृणाणुभक्षक कोषाओं (Phagocytic cells) या प्रतियोगी (Antibodies) शक्ति की वृद्धि के द्वारा स्वर्ण के प्रयोग से इस रोगराज पर स्थायी घातक परिणाम होता है। आंत्रक्षय, अस्थिक्षय, फुफ्फुस क्षय आदि क्षय की सभी धातुस्थ विकृतियों के चिरकालीन आक्रमण में सुवर्ण या सुवर्ण घटित योग लाभकर होते हैं। व्याधि की तीव्रावस्था में इसके सेवन से कभी-कभी लक्षणों की तीव्रता बढ़ जाती है, इसलिए तीव्र आक्रमण के समय नवीन आविष्कृत प्रतिजीवी वर्ग की ओषधियों के प्रयोग के बाद स्वर्ण का सेवन कराने से प्रयोगसुकरता तथा अनुकूलता होती है। पथ्य के रूप में यथाशक्ति बकरी या गाय के दूध को मुख्य रूप से देने पर लाभ की मात्रा तथा प्रतिशत में वृद्धि होती है।

बालकों में मेधा-स्मृति-धी-बुद्धि आदि मानसिक शक्तियों की वृद्धि तथा सभी संक्रामक व्याधियों के लिए (बिना मसूरी प्रयोग के) शरीर को सर्वक्षम बनाने के लिए अत्यल्प मात्रा ($\frac{१}{४००}$ रत्ती) में जन्म के प्रथम या द्वितीय वर्ष लगातार २ मास तक

इसका सेवन कराया जाता है। वसन्तमालती में स्वर्ण का मिश्रण होने से अत्यल्प मात्रा में प्रयोग अभीष्ट होने पर इसका सेवन कराया जा सकता है। बालकों में पुनरावर्त्तनशील श्वसनी-फुफ्फुसपाक, जीर्ण प्रतिश्याय एवं अन्य नासा-कर्ण एवं गल-तालु के जीर्ण विकार, यकृत् दोष तथा रक्तदुष्टि के कारण उत्पन्न होने वाले फुन्सी-फोड़े आदि का पूर्ण परिहार होकर उत्तम शारीरिक एवं मानसिक विकास इसका कुछ काल तक सेवन कराने से होता है।

प्रौढावस्था में धात्वोजःक्षय के कारण शरीर की शिथिलता, दुर्बलता, अनुत्साह, स्मृतिदौर्बल्य, अस्थिरचित्तता, मानसिक उद्वेग आदि लक्षणों के अतिरिक्त हीनता की भावना (Inferiority complex), पौरुषशक्ति का ह्रास, प्रजनन शक्ति का ह्रास आदि दुष्परिणाम भी होते हैं। यह अन्तःस्रावी हारमोन्स की अपर्याप्त मात्रा से सम्बन्धित कहे जाते हैं। इस अवस्था में कुछ काल तक स्वर्ण का सेवन कराने से इन सभी लक्षणों का प्रशम होकर रोगी में स्फूर्ति एवं उत्साह आदि का प्रबल रूप में संचार होता है, प्रजनन एवं पौरुष शक्ति की वृद्धि होती है। इस अवस्था में सम्भाव्य हृद्रोग (Coronary thrombosis) का प्रतिबन्धन स्वर्ण का शतावरी, अर्जुन, पुष्करमूल, कुष्ठ, अश्वगंधा एवं वच आदि वानस्पतिक द्रव्यों के सहयोग से प्रयोग कराने पर हो सकता है। हृदय धमनी की अकार्यक्षमता (Coronary insufficiency) के कारण उत्पन्न क्षुद्र श्वास एवं हृच्छूल आदि से पीडित रोगियों में २-३ मास तक सुवर्ण का सेवन कराने से व्याधि के सभी लक्षणों में पूर्ण रूप से सुधार होने के बहुसंख्यक उदाहरण उपलब्ध हैं।

नेत्रदाह, नेत्रों में रक्तवर्ण के सूत्र से अधिक दीखना, तिमिर एवं आलोचक पित्त की न्यूनता से उत्पन्न दृष्टिमांद्य आदि विकारों में सुवर्ण का सेवन हितकर होता है।

संग्रह ग्रहणी, आमवातिक ग्रहणी एवं आंत्रक्षय आदि कष्टसाध्य व्याधियों में दीर्घकाल तक स्वर्णघटित योग उचित पथ्य के साथ सेवन कराने से संतोषजनक लाभ होता है। किसी अशुद्ध धातु या विष का सेवन करने से उत्पन्न परिणामों का शमन स्वर्ण से होता है।

पैत्तिक उन्माद में एवं कभी-कभी वातिक लक्षण भी साथ में रहने पर। इसका कुछ काल तक सेवन कराने से लाभ हो जाता है। अपस्मार, मूर्च्छा, जीर्णज्वर एवं निर्बलता आदि के लिए भी स्वर्ण का उपयोग हितकर होता है।

इसका प्रयोग स्वल्प मात्रा में (१/१२८ से १/३२ रत्ती) तथा रसायन सेवन के समान पथ्य पालन करते हुए कराया जाता है। प्रायः विशिष्ट व्याधियों में प्रयोज्य स्वर्णघटित योगों के रूप में अधिक प्रयोग किया जाता है। योग में अनेक वानस्पतिक या रासायनिक द्रव्यों का मिश्रण विशिष्ट व्याधि की शान्ति की दृष्टि से किया जाता है। इस दृष्टि से सामान्य रूप में स्वर्णघटित योगों के रूप में इसका प्रयोग अधिक सुगम एवं लाभकर होता है।

रजत या रौप्य भस्म—

यह कषाय-अम्लरसप्रधान, मधुरविपाकी, शीतल, सारक, स्निग्ध, लेखन, तथा बृंहण एवं शामक गुणों की प्रधानतायुक्त होने के कारण वातपैत्तिक प्रधानता वाली व्याधियों में उपयोगी होती है। इसका मुख्य प्रयोग जीर्ण प्रमेह, यकृत्-प्लीह वृद्धि, शुक्रक्षय एवं वृषण तथा वृषणबंधिनी के विकार, नेत्ररोग, गुदामार्ग के समस्त विकार, अपस्मार, अपतंत्रक आदि व्याधियों में प्रभावकर होता है। इसका प्रमुख गुण वात-प्रधान या वात-पित्त प्रधान व्याधियों में रस-मांस या अस्थि-दूष्यता होने पर एवं प्रजननांग, मस्तिष्क, वातनाड़ियाँ, वृक्क, मांसल अंग एवं मानसिक रोगाधिष्ठान होने पर परिलक्षित होता है

यद्यपि स्वर्ण के समान सर्वव्यापक प्रभाव रजत में नहीं होता, किन्तु बहुसंख्यक जीर्ण विकारों में उपयोगी होने के कारण चिकित्सा में इसका व्यवहार पर्याप्त मात्रा में किया जाता है। अनुपान-भेद से अनेक व्याधियों में इसका प्रयोग किया जा सकता है।

मांसपेशियों तथा वातनाड़ियों को बलवान करने के गुण के कारण इसके प्रयोग से मांसक्षय, मांसदौर्बल्य, पक्षवध, खंजता-शून्यता आदि विकारों में लाभ होता है।

अधिक मानसिक श्रम, जागरण, चिन्ता-शोक-भय आदि के कारण बढ़ी हुई वायु की शान्ति तथा मस्तिष्क की पुष्टि रजत के सेवन से होती है। नेत्रविकार एवं जीर्ण स्वरूप के शिरःशूल में भी इसका सेवन कुछ काल तक करते रहने पर लाभ होता है।

स्वप्नमेह-श्वेतप्रदर या अधिक रतिकर्म के कारण उत्पन्न शुक्रक्षय-वृषणवेदना, त्रिकशूल एवं दौर्बल्य आदि विकारों के शमन के लिए प्रवाल के साथ शतावरी स्वरस मिलाकर इसका प्रयोग लाभकर होता है।

अपस्मार, उन्माद, अपतंत्रक एवं आक्षेपक आदि विकारों में ब्राह्मी-स्वरस या अश्वगन्धा चूर्ण के साथ इसका सेवन करने से लाभ होता है।

अम्लपित्त एवं परिणामशूल में मक्खन एवं मिश्री के साथ रौप्यभस्म का सेवन हितकर होता है। असृग्दर, प्रमेह, रक्तार्श, रक्तपित्त, दाह, मूर्च्छा, कण्ठदाह, वातिक एवं पैत्तिक कास तथा चिन्ता-शोक आदि के कारण उत्पन्न धातुक्षय के विकार में उचित अनुपान के साथ रजतभस्म का सेवन कराने से संतोषजनक लाभ होता है।

सूतिकाज्वर, जीर्णज्वर तथा रक्तदुष्टि की अवस्था में गुडूची-स्वरस के साथ इसका प्रयोग लाभकर होता है।

लौहभस्म—पाण्डु रोग, संग्रहणी, कृमिविकार, मेदोदोष, उदर, कफज प्रमेह, क्षय, श्वास-कास-रक्तपित्त, आमांश-प्रधानता वाले विकार तथा धातुदौर्बल्य में लौहभस्म का प्रमुख उपयोग होता है।

पित्त एवं वात-दोषप्रधान व्याधियाँ, रक्त-मांस दूष्यता वाले विकार तथा यकृत्-प्लीहा-हृदय एवं महास्रोत में रोगाधिष्ठान होने पर इससे व्यापक प्रभाव होते हैं।

लौहभस्म का सेवन कराने से रक्तकायाणुओं की संख्यावृद्धि होती है, उनकी रंजकता बढ़ती है तथा रुधिरकायाणुओं की जीवनी शक्ति में विशेष रूप से वृद्धि होती है। क्षय, जीर्ण संक्रामक विकार एवं क्रिमिविकार तथा घातक अर्बुदों के कारण रक्ताणुओं की संख्या-रंजकता एवं जीवनी शक्ति का ह्रास होता है। उचित पथ्य के साथ लौहभस्म का सेवन कराने से धातुओं की पुष्टि एवं बल-वीर्य वृद्धि के साथ ही रक्त की इन कष्ट-साध्य विकृतियों में भी आमूल सुधार हो जाता है।

ग्रहणी एवं जीर्ण प्रवाहिका के विकार में महास्रोत के कार्यहीन होने के कारण शरीर को पोषण नहीं मिलता तथा अपक्व मल एवं आमांशमिश्रित मल बार-बार उत्सृष्ट होता रहता है। इस अवस्था में दीपन-पाचन योगों के साथ लौहभस्म—विशेषकर हिंगुल के संस्कार से मृतभस्म—का सेवन कराने से शीघ्र लाभ हो जाता है।

कास एवं श्वास में, विशेषकर पुनरावर्त्तनशील एवं दूषित ष्ठीवनयुक्त अवस्था में लौहभस्म को शृङ्गभस्म एवं शृंग्यादिचूर्ण या भारंगी चूर्ण के साथ प्रयोग करना चाहिए। इससे दूषित श्लेष्मा का बनना अवरुद्ध हो जाता है और कास एवं श्वास का शमन तथा रस-रक्तादि धातुओं की वृद्धि होकर शरीर पुष्ट बनता है।

विषमज्वर-कालज्वर-आंत्रिकज्वर आदि दीर्घकालानुबंधी रक्तक्षयकारक व्याधियों का अनुबंध होने पर पाण्डुता, दुर्बलता तथा यकृत एवं प्लीहा की वृद्धि होती है। इस अवस्था में लौहभस्म का ताम्र के साथ उचित अनुपान से प्रयोग कराने पर यकृत्-प्लीहा का उपशम तथा पाण्डुता-दुर्बलता आदि का निराकरण होता है।

यकृत्-प्लीहा एवं महास्रोत के जीर्ण विकारों के कारण उदर के बहुसंख्यक विकार उत्पन्न होते हैं। जलोदर, शोथ, संग्रहणी आदि असाध्य श्रेणी के विकार इसी श्रेणी के हैं। ताम्रभस्म एवं प्रवालपंचामृत के साथ लौहभस्म का प्रयोग रोहितक-पुनर्नवा-शरपुंखा एवं कुटज आदि वानस्पतिक योगों के अनुपान से करने पर अवश्य लाभ होता है।

किसी भी व्याधि से आक्रान्त होने के बाद रस-रक्तादि धातुओं की न्यूनता एवं निर्बलता उत्पन्न होती है। इस समय शरीर के हीनप्रतिकारक होने के कारण दूसरी व्याधियों के संक्रमण की संभावना होती है। इसलिए रोगोत्तरकाल में लौहभस्म, वसन्तमालती तथा सितोपलादिचूर्ण के योग का कुछ काल तक सेवन कराना चाहिए।

लौहभस्म उत्तम रसायन है। संयमपूर्वक उचित अनुपान के साथ इसका सेवन करने से रस-रक्तादि-शुक्रौजः पर्यन्त सभी धातुओं की सम्यक् वृद्धि एवं पुष्टि होती है तथा शरीर व्याधिप्रतिकारक्षम एवं दीर्घायुष्य युक्त बनता है।

अभ्रक भस्म—

अभ्रकभस्म उत्तम रसायन, मेध्य, स्रोतःसंशोधक तथा योगवाही औषध है। श्लेष्मप्रधान व्याधियों के निराकरण में विधिवत् निर्मित सहस्रपुटी अभ्र का प्रयोग

आश्चर्यजनक लाभ करता है। श्लेष्म-वात-प्रधान विकार, रस-रक्त-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा आदि दूष्य तथा मस्तिष्क-फुफ्फुस-महास्रोत आदि अधिष्ठानगत समस्त विकारों में इसके प्रयोग से लाभ होता है।

अभ्रक के निर्माण में अधिक श्रम एवं काल की अपेक्षा होने के कारण प्रायः सहस्रपुटी अभ्र का विधिवत् निर्माण कष्टकार्य माना जाता है। विशेष-विशेष योगों के साथ पुटित शतपुटी अभ्र का ही अधिक प्रयोग किया जाता है।

योगवाही गुणों के कारण अधिकांश रासायनिक योगों में अभ्रक का मिश्रण किया जाता है। प्राचीन चिकित्सक अभ्रक एवं लौहभस्म का अनुपान-भेद से समस्त विकारों में सफलता के साथ प्रयोग किया करते थे।

प्राणवाही स्रोतसों, फुफ्फुस एवं श्वासवाहिनियों के विकारों—कास-श्वास-राजयक्ष्मा-आदि—में अभ्रक के प्रयोग से असाध्य अवस्था में पहुँचे हुए रोगियों में भी लाभ होता है।

अभ्रकभस्म कषाय-मधुर रसप्रधान, आयु एवं धातुवर्द्धक, प्रमेह-कुष्ठ-प्लीह विकार-उदररोग एवं विषज विकारों को दूर करनेवाली उत्तम औषध है। क्षय-पाण्डु-ग्रहणी-शूल-आमदोष-अरुचि-अग्निमांद्य-कामला-ज्वर-गुल्म-श्वास-कास-उरःक्षत-सूतिकाज्वर-अपस्मार-उन्माद-हृद्रोग एवं धातुक्षय आदि विकारों में अनुपान भेद से अभ्रक का प्रयोग व्याधिनाशक तथा धातुवर्द्धक एवं बलकारक परिणाम वाला होता है।

अपस्मार-उन्माद एवं जीर्ण वातिक विकारों में रोगी निस्तेज, भीरु, निर्बल तथा मनोविभ्रम एवं उद्वेग आदि के कष्ट से पीडित रहता है, उसकी धातुओं की उचित पुष्टि-वृद्धि नहीं होती। इस अवस्था में अभ्रक का प्रयोग कराने से इन्द्रियों की बलवृद्धि तथा मनोबल की विशिष्ट रूप से वृद्धि होती है।

जीर्ण स्वरूप के कास, जीर्ण तमकश्वास, जिसमें श्वासवाहिनी में दूषित श्लेष्मा का संचय-शोथ आदि का कष्ट होता है तथा खाँसने-चलने या थोड़ा भी श्रम करने पर प्रस्वेद एवं श्वासकृच्छ्र का कष्ट होता है, बड़ी दुर्बलता की प्रतीति होती है, इस अवस्था में पिप्पली-कर्कटशृङ्गी चूर्ण के साथ अभ्रकभस्म का कुछ समय तक सेवन कराने से पर्याप्त लाभ होता है।

कफप्रधान सान्निपातिक ज्वर, संतत-ज्वर एवं सूतिका-ज्वर में आर्द्रक-स्वरस या ताम्बूल-पत्र स्वरस के साथ इसका सेवन कराने से विशेष लाभ होता है।

वंग भस्म—

यह लघु, रूक्ष, सर, तिक्त, उष्ण, दीपन, पाचन, रुचिकर, वर्णोत्पादक, कफनाशक एवं वात-पित्तवर्द्धक गुण वाली होती है। समस्त शुक्रविकार, प्रमेह, कफ विकार, क्रिमिरोग, अग्निमांद्य, पाण्डु, क्षय, श्वास एवं नेत्रविकारों में इसका प्रभाव होता है। यह वृष्य, शुक्रवर्द्धक, रतिशक्तिवर्द्धक तथा बलकारक उत्तम रसायन है।

इसका प्रभाव कफ-पित्तप्रधान व्याधियों में; रस-रक्त-मांस-अस्थि-मज्जा और शुक्र-दूष्यता होने पर; शुक्राशय-बस्ति-वृषण-गर्भाशय-वृक्क-आमाशय-यकृत्-प्लीहा-महास्रोत-हृदय-फुफ्फुस एवं मस्तिष्क के रोगाधिष्ठान होने पर होता है।

अल्पवय में शुक्रक्षय का प्रारम्भ हो जाने पर शरीर की पूर्ण पुष्टि नहीं होती, आकृति निस्तेज, इन्द्रियाँ अशक्त सी तथा मनोबल एवं उत्साह का अभाव, उदर में आध्मान-अग्निमांद्य तथा आमवातिक ग्रहणी के समान आमांशयुक्त मल की अनेक बार प्रवृत्ति, रतिसामर्थ्य की न्यूनता आदि अनेक रूप के लक्षण उत्पन्न होते हैं। इन सबका मूल शुक्र एवं ओज का क्षय होता है। ओजःक्षय या ओज की न्यूनता के कारण समस्त वातनाडियाँ हीनकर्मा तथा असंतुलित क्रियावाली होती हैं, शरीर की जीवनी शक्ति का क्षय होता है, जिससे समस्त कोषाओं में अकाल-जरठता सदृश परिवर्तन उत्पन्न होते हैं। इस अवस्था में वंगभस्म को शाल्मली-मूलचूर्ण या मूसली चूर्ण के साथ कुछ काल तक सेवन कराने से शुक्र की वृद्धि एवं पुष्टि तथा दुर्बलता आदि समस्त लक्षणों का निराकरण हो जाता है।

अधिक रतिकर्म या निषिद्ध रतिकर्मों के बहुत काल तक के व्यसन से धातुक्षय एवं इन्द्रियों की शिथिलता हो जाती है। स्वप्नदर्शन के बिना ही रात्रि में शुक्र-स्खलन हो जाता है। रतिचेष्टा या स्मरण-दर्शन मात्र से स्खलन हो जाता है। शरीर निरन्तर तनाव के कारण अस्पष्ट स्वरूप की अनेक विकृतियों से ग्रस्त हो जाता है। मानसिक असंतोष के कारण स्नायुदौर्बल्य, गदोद्वेग, मनःसंताप एवं हीनता की भावनाओं के कारण रोगी पलायनवादी एवं आत्मघाती प्रवृत्ति का हो जाता है। इस अवस्था में उचित वातावरण एवं पथ्य पालन की व्यवस्था तथा मानसोपचार के साथ वंग का सेवन कराने से लाभ हो जाता है।

वृद्धावस्था की बहुमूत्रता, अष्ठीलावृद्धि एवं अन्य ओजःक्षयजन्य व्याधियों में भी वंग का प्रयोग लाभकर होता है। अकालवार्द्धक्य के लक्षण उपस्थित होने पर स्वर्णभस्म एवं मकरध्वज के साथ वंगभस्म का प्रयोग करने से लाभ होता है।

स्त्रियों के आर्त्तव के विकार, मासिक कालीन शूल, मासिक की पूर्ण शुद्धि न होना या गर्भाशय पूर्ण विकसित न होना आदि विकारों में घृतकुमारी-स्वरस के साथ वंग का सेवन कराने से लाभ होता है।

शुक्र-कीटाणुओं की संख्या-न्यूनता, उनमें जीवनी शक्ति का अभाव आदि के कारण सन्तानोत्पत्ति न होने पर वंग को तालमखाना बीज चूर्ण या अन्य पौष्टिक-वृष्य योग के साथ सेवन कराने से अनुकूल परिणाम प्राप्त होते हैं।

त्वचा के विकार एव जीर्णज्वर तथा दूषित पूतिकेन्द्र आदि होने पर वंग का प्रयोग किया जाता है। रंजक पित्त की शुद्धि होने से रस-रक्त निर्मल हो जाते हैं, जिससे त्वचा तथा पूतिप्रधान जीर्ण उपसर्गों में लाभ होता है।

हीरक भस्म—

बहुमूल्य एवं निर्माण-काठिन्य के कारण हीरक का चिकित्सा में व्यापक प्रयोग नहीं किया जा सका। हीरक के प्रसिद्ध योग वातनाशन का व्यवहार पक्षवध तथा हृद्विकारों में बहुत सफलता के साथ किया जाता है। इधर कैंसर की चिकित्सा में इसके प्रयोग से आशाजनक परिणाम मिले हैं। इसके सेवन से शारीरिक तथा मानसिक निर्बलता का पूर्ण परिहार होकर शरीर वज्र के समान दृढ़ तथा कान्ति-युक्त होता है और आयुष्य की वृद्धि होती है।

समस्त वातिक विकार, श्लेष्म-मेदोदोष, शोष-क्षय-भ्रम-भगंदर-प्रमेह-पाण्डु-उदररोग एवं क्लैब्य में हीरक भस्म के प्रयोग से चमत्कारिक प्रभाव होता है। राजयक्ष्मा के असाध्य रोगियों में वज्र के प्रयोग से लाभ होते देखा गया है। इससे शारीरिक धातुओं की जीवनी शक्ति की वृद्धि, वातनाडी संस्थान की पुष्टि तथा ओजस्कर तत्त्वों—हारमोन्स आदि—की वृद्धि होने से ष्ठीवन में उत्सृष्ट क्षय-दण्डाणुओं की संख्या उत्तरोत्तर घटती जाती है, ज्वर-कासादि लक्षणों का शमन, क्षुधावृद्धि तथा रस-रक्तादि धातुओं की पुष्टि होती है।

पक्षवध के रोगियों में इसके प्रयोग से सर्वाधिक लाभ होता है। व्याधि का आक्रमण होने के १ सप्ताह बाद इसका प्रयोग प्रारम्भ किया जाता है। प्रायः ३-४ सप्ताह से अधिक औषधसेवन की आवश्यकता नहीं पड़ती। आक्रमण के ३ मास के बाद इसके सेवन से कोई विशेष लाभ नहीं होता।

हृदय-धमनी विकारों के कारण होनेवाला हृच्छूल, क्षुद्रश्वास एवं हृद्द्रव (Palpitation) आदि व्याधियों में भी हीरकप्रयोग बहुत महत्व रखता है। क्षुद्रश्वास, धड़कन एवं वेदना आदि का कष्ट शान्त होता है तथा रोगी चलने-फिरने एवं सीढ़ी चढ़ने में बहुत हल्कापन महसूस करता है।

ध्वजभंग के कुछ असाध्य रोगियों में इसके सेवन से संतोषजनक लाभ मिला है। जिन रोगियों में पूर्वप्रयुक्त सभी प्रकार की चिकित्सा के प्रयोग से निराशाजनक परिणाम ही मिला, वहीं इसके प्रयोग से वृष्य एवं वाजीकर परिणाम पूर्ण मात्रा में स्पष्ट हुए—रतिकर्म-सामर्थ्य १ मास की चिकित्सा के बाद पूर्ण रूप से उत्पन्न हो गई।

इस प्रकार कुछ असाध्य स्वरूप की अवस्थाओं में लाभकर होने के कारण इसके व्यापक प्रयोग की अपेक्षा है। अत्यल्प मात्रा ($\frac{1}{64}$-$\frac{1}{32}$ रत्ती) में कार्यक्षम होने के कारण बहुमूल्य दोष का परिहार हो जाता है।

मुक्ता भस्म—

मुक्ता का प्रयोग पिष्टि एवं भस्म दोनों रूपों में किया जाता है। पिष्टि अपेक्षाकृत शीतवीर्य एवं पित्तशामक होती है, नेत्रविकार, धातुक्षय, राजयक्ष्मा, रक्तपित्त एवं इतर रक्तस्रावी व्याधियों, हृदय-दौर्बल्य तथा स्नायुदौर्बल्य में विशेष हितकर होती

है। भस्म का प्रयोग कफ एवं पित्तज विकार, कास-श्वास-राजयक्ष्मा-दाह-अग्निमांद्य एवं धातुक्षय में अधिक किया जाता है।

अत्यधिक मानसिक श्रम करने एवं मन-विपरीत वातावरण में रहने, चिन्ता-क्रोध-असंतोष आदि मानसिक विकारों का दीर्घकाल तक अनुबंध रहने पर वातनाडी-संस्थान पर बहुत अधिक तनाव पड़ता है, जिससे रोगी चिड़चिड़ा, शिथिल, हीनमनोबल युक्त, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंधादि ज्ञानेन्द्रिय के विषयों में थोड़ी भी विषमता होने पर असह्य कष्ट के अनुभव, गदोद्वेग, निद्रानाश, आत्मघाती प्रवृत्ति एवं मस्तिष्क-नेत्र एवं सर्वाङ्ग-व्यापी दाह आदि कष्टों से पीडित रहता है। इन कष्टों की शान्ति के लिए मुक्ता का सेवन विशेष लाभकर होता है।

ऊष्मा-धूप एवं अग्निदाह आदि विकारों के कारण सारे शरीर में जलन एवं बेचैनी के कष्ट का अनुभव होता है। रक्त में ऊष्मा बढ़ जाने पर नासा, दन्त, मूत्रमार्ग आदि से रक्तस्राव होता है या इन अंगों में विशिष्ट स्वरूप का दाह उत्पन्न होता है। श्वेत या रक्त प्रदर, प्रमेह एवं स्वाप्निक विकार आदि के मूल में भी पित्त की विकृति कारण होती है। इन सभी अवस्थाओं में मुक्ता का सेवन कराने से दोषों की लाक्षणिक शान्ति शीघ्र होती है। पैत्तिक नेत्रविकार, क्षय विकार, असृग्दर, रक्तमूत्रता आदि अवस्थाओं में मोती के प्रयोग से पर्याप्त लाभ होता है। राजयक्ष्मा के ज्वर एवं दाह तथा रक्त-ष्ठीवन आदि की यह उत्तम औषध है। मुक्ता के सेवन से तीक्ष्ण, उष्ण और अम्ल के कारण दूषित पित्त से उत्पन्न व्याधियों में और रस-रक्त-मांस-अस्थि रूपी दूष्य; त्वचा, हृदय, पित्ताशय, यकृत्-प्लीहा, फुफ्फुस आदि दोषाधिष्ठान के विकारों में विशेष लाभ होता है।

प्रवाल भस्म एवं पिष्टि—

प्रवाल का उपयोग क्षय, रक्तपित्त, कास, धातुक्षय, मूत्रविकार, नेत्र एवं शिरोरोग, यकृत् विकार तथा कामला, विषज विकार, रक्तार्श एवं स्वाप्निक मेह आदि व्याधियों में व्यापक रूप में होता है।

मुक्ता-प्रवाल-शुक्ति-शंख-वराटिका आदि सभी द्रव्य सेन्द्रिय चूर्णातु (Calcium) के कल्प हैं। मौलिक घटकों में बहुत अन्तर नहीं होता, किन्तु गुण-धर्म की दृष्टि से मुक्ता तथा प्रवाल सौम्यगुणप्रधान तथा धातुपोषक अधिक होते हैं तथा शंख-शुक्ति आदि अपेक्षाकृत रूक्ष तथा अग्निगुणप्रधान होने से दीपन-पाचन एवं स्तम्भक गुण युक्त होती हैं।

तीक्ष्ण-उष्ण एवं अम्ल गुण की दृष्टि से उत्पन्न हुई पित्त की विकृति; अस्थि-मज्जा-शुक्र-रक्त-मांस दूष्यता में उत्पन्न विकार तथा आमाशय, महास्रोत, हृदय, मस्तिष्क, शुक्राशय को मुख्य अधिष्ठान बनाकर उत्पन्न हुई व्याधियों में प्रवाल के योगों का विशेष प्रभाव होता है।

यह मधुर-रस-प्रधान, पित्त-कफ दोषों की शामक तथा शुक्र एवं कान्ति वर्द्धक है। भस्म की अपेक्षा पिष्टि सौम्य तथा पित्तशामक होती है।

रोमान्तिका-मसूरिका आदि विस्फोटयुक्त ज्वरों में रोगाक्रमण के समय तथा बहुत काल बाद तक शरीर में दाह, बेचैनी, अनिद्रा एवं तृष्णा आदि का अनुबंध बना रहता है। इसमें प्रवाल का प्रयोग गुडूची-स्वरस के साथ करने से पर्याप्त लाभ होता है। ज्वर की आमावस्था का शमन होने के बाद कभी-कभी ताप का वेग बहुत बढ़ जाता है, रोगी दाह-तृष्णा-बेचैनी-प्रलाप-प्रस्वेद-भ्रम एवं हृल्लास तथा वमन के कारण बहुत कष्ट पाता है। इस अवस्था में भी प्रवालपिष्टि के प्रयोग से शीघ्र शान्ति मिलती है।

राजयक्ष्मा की सभी अवस्थाओं में प्रवाल का सेवन हितकर होता है। कास-ज्वर-दाह-रक्तष्ठीवन-अग्निमांद्य आदि सभी लक्षणों में इसका प्रभाव होता है। वसन्तमालती एवं शिलाजत्वादि लौह के साथ प्रवालपिष्टि का उपयोग राजयक्ष्मा की उत्तम व्यवस्था मानी जाती है। यक्ष्मा की अन्तिम अवस्था में, जहाँ किसी भी औषध से विशेष लाभ नहीं होता, प्रवाल के सेवन से रोग की मूल प्रकृति में लाभ न होने पर भी त्रासदायक लक्षणों का आंशिक शमन अवश्य होता है।

रक्तस्रावी व्याधियों में प्रवाल का उचित अनुपान से सेवन कराने पर विशेष प्रभाव होता है। रक्तष्ठीवन, रक्तवमन, नासास्रस्राव, रक्तप्रदर, रक्तातिसार आदि में मोचरस तथा बोलचूर्ण के साथ प्रवाल का कुछ काल तक सेवन कराने से स्थायी लाभ हो जाता है।

शुष्ककास का अधिक दिनों तक कष्ट रहने पर कण्ठदाह, मुखपाक, स्वरभंग तथा पार्श्वशूल आदि लक्षणों की उत्पत्ति होती है। रोगी के गल-तालु में छाले एवं दाने से हो जाते हैं, ओष्ठ-मुख-जिह्वा आदि रूक्ष तथा अग्निमांद्य-दाह एवं तृष्णा आदि के कष्ट के साथ मन्दज्वर की उत्पत्ति होती है। क्षय के अनुबंध का भ्रम होता है। कास के वेग के समय कभी-कभी पित्तप्रधान दाहयुक्त वमन का कष्ट भी होता है। इन सभी अवस्थाओं में प्रवाल का प्रयोग अनार-लिसोढ़ा के शर्बत या शहतूत-अडूसा के शर्बत के साथ करने से लाभकर होता है।

नेत्र-हस्त-पाद-मल-मूत्र आदि में दाह का अनुभव होने पर प्रवाल का सेवन आमलकी-स्वरस या चूर्ण के साथ कराने से लाभ होता है। सगर्भावस्था के सभी विकारों तथा गर्भस्थ शिशु के उचित विकास में सहायक रूप से प्रवाल का उपयोग गुणकारी होता है। बालकों की पुष्टि तथा स्तन्य-पानकाल में माता की पुष्टि एवं अस्थियों की दृढ़ता लाने के लिये कुछ काल तक प्रवाल का सेवन कराना उपयुक्त होता है।

शुक्रदौर्बल्य, स्वप्नमेह, श्वेत-रक्त प्रदर, धातुक्षय आदि अवस्थाओं में वंग भस्म के

साथ प्रवाल का सेवन बहुत उपयोगी माना जाता है। उचित अनुपान के साथ इसका सेवन करने पर वृष्य एवं वाजीकर गुण की प्राप्ति भी होती है।

अम्लपित्त, परिणामशूल, आमाशय-शोथ एवं पैत्तिक ग्रहणी विकार में अमृतासत्व-आमलकीस्वरस, नारिकेल जल के साथ प्रवाल का सेवन करने से लाभ होता है।

शृङ्ग भस्म—

यह ज्वरघ्न, कफघ्न, हृद्य, बलकारक तथा अस्थियों की पोषक है। प्रतिश्याय, वात-श्लैष्मिक ज्वर, फुफ्फुस पाक (Pneumonia), क्षय, वातशोष, गर्भिणी-अस्थिमृदुता। (Ostomalecia) आदि व्याधियों में इसका मुख्य प्रयोग किया जाता है। यह कफ दोष; रस-रक्त-अस्थि-मज्जा-दूष्यता वाले विकार तथा श्वसन-संस्थान, हृदय को मुख्य अधिष्ठान बनाकर उत्पन्न हुई व्याधियों में मुख्य रूप से प्रभावकारी होती हैं।

जीर्ण प्रतिश्याय एवं जीर्णकास के कारण नासामार्ग तथा श्वसनिकाओं में स्थायी स्वरूप की दुर्बलता उत्पन्न हो जाती है, जिससे थोड़ा भी शीतोष्ण वैषम्य होने पर प्रतिश्याय एवं कास का कष्ट हो जाता है। एक बार आक्रमण होने पर बहुत विलम्ब से मुक्ति मिलती है। पुनरावर्त्तन का क्रम चालू रहता है। कभी-कभी दूषित कफ बहुत अधिक मात्रा में निकलता है। इस अवस्था में शृङ्गभस्म का रससिन्दूर के साथ कुछ काल तक सेवन करने से स्थायी रूप से लाभ हो जाता है।

फुफ्फुसपाक या रोमान्तिका एवं कुकास से मुक्त होने के बाद फुफ्फुस के किसी अंश में दूषित श्लेष्मा का संचय शेष रह जाता है, जिससे ज्वर का पुनरावर्त्तन एवं श्लेष्मप्रधान कास की वृद्धि होती है। यही कष्ट अधिक दिनों तक रहने पर क्षय-दण्डाणुओं के संक्रमण की संभावना बढ़ जाती है। ऐसी स्थिति में शृङ्गभस्म का उचित अनुपान से कुछ काल तक सेवन कराना लाभप्रद होता है।

पार्श्वशूल, हृच्छूल एवं आम-श्लेष्म-प्रधानता वाले हृदय-विकार में शृङ्गभस्म के सेवन से विशेष लाभ होता है। रससिन्दूर, अभ्रकभस्म एवं शृङ्गभस्म का सहप्रयोग इस प्रकार के व्याधिसमूह के निराकरण में विशेष समर्थ माना जाता है।

राजयक्ष्मा की जिस अवस्था में दूषित श्लेष्मा प्रभूतमात्रा में निकलने से रोगी वेग से क्षीण होने लगता है, उस समय स्वर्णभस्म के साथ में शृङ्ग का प्रयोग करने पर विशेष लाभ होता है। अस्थिक्षय में शृङ्गभस्म का वसन्तमालती के साथ सेवन कराने पर उचित विश्राम आदि का पालन करने पर शीघ्र लाभ होता है।

हरताल भस्म—

यह सोमलप्रधान उग्रवीर्य भस्म है, जिसका वातरक्त, कुष्ठ, श्वास, श्लीपद, विसर्प, कण्डू, पामा, विस्फोटक, प्रमेह एवं श्लेष्मप्रधान दूसरी व्याधियों में प्रमुख उपयोग किया जाता है। शीतज्वर, पुनरावर्तकज्वर, श्वास तथा उपदंश एवं फिरङ्ग के

उत्तरकालीन उपद्रव—रक्तवाहिनियों के विकार आदि, गलत्कुष्ठ तथा वातिक कुष्ठ पर इसका विशिष्ट प्रभाव होता है।

यह स्निग्ध, उष्ण-कटु, अग्निदीपक तथा कुष्ठघ्नगुण-विशिष्ट है। रसायन-क्रम से उचित संयम एवं दुग्धाहार पर रहते हुए इसका सेवन करने पर बल-ओज एवं धातुओं की वृद्धि तथा कान्ति एवं इन्द्रियशक्ति की वृद्धि होती है तथा जरा का प्रतिबन्ध होता है। हरताल भस्म कफ-वात दोषों की प्रधानता वाले विकार; रस-रक्त-मांस-मेद दूष्य तथा शाखा एवं रस-रक्तवाहिनियों में स्थित व्याधियों में विशेष प्रभावकारी होती है।

वातरक्त एवं कुष्ठ की सभी अवस्थाओं में हरताल भस्म का ३-४ मास तक लवणाम्लवर्जित स्निग्ध पथ्य के साथ सेवन करने से लाभ होता है। त्वचा की विवर्णता, शोथ, शून्यता एवं विस्फोट-चकत्ते आदि सभी लक्षणों का परिहार हो जाता है। कुष्ठ में अँगुलियों की शून्यता, अवयवों का गलना या मांसशोष तथा ज्वर का शमन इसके सेवन से होता है। श्वासरोग एक असाध्य व्याधि मानी जाती है। उचित संशोधन व्यवस्था के बाद हरताल भस्म का क्रमिक वर्धमान मात्रा में सेवन कराने पर पुनरावर्त्तन का निरोध, अग्नि की दीप्ति तथा शरीर की अभूतपूर्व पुष्टि होती है।

त्वचा के समस्त विकारों में हरताल भस्म या हरताल का विशिष्ट योग—रस-माणिक्य—का सेवन गन्धकरसायन के साथ कुछ काल तक करने से अनेक वर्षों से वर्त्तमान कष्ट का निर्मूलन हो जाता है।

विषमज्वर एवं श्लीपद के पुनरावर्त्तनों में दूसरी ओषधियों से लाभ न होने पर हरताल भस्म का उचित अनुपान से प्रयोग कराने पर पूर्ण लाभ हो जाता है।

इसके सेवन-काल में अम्ल-लवण-अग्नि-धूप आदि पित्तवर्द्धक आहार-विहार का परित्याग तथा गोघृत एवं दुग्ध का पर्याप्त मात्रा में सेवन करना चाहिये।

मृगमद या कस्तूरी—

आयुर्वेदीय चिकित्सा में कस्तूरी का बहुत प्रयोग किया जाता है। यह कटु-स्निग्ध, उष्णवीर्य, बल्य एवं वृष्य तथा उत्तम रसायन है। वात-श्लेष्म विकारों की उग्रावस्था में इसके सेवन से बहुत लाभ होता है।

हृदय एवं परिसरीय रक्तवाहिनियों की दुर्बलता के कारण कास-श्वास-प्रस्वेद आदि का कष्ट बढ़ता है, श्वासकृच्छ्र, वक्ष में अवरोध तथा शैत्य के कारण गम्भीर अवस्था के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। इस स्थिति में ताम्बूलपत्र स्वरस के साथ कस्तूरी एवं सिद्ध मकरध्वज का प्रयोग मृतसंजीवनी सुरा के अनुपान से करने पर सद्यः लाभ होता है। हृदय की दुर्बलता के कारण मन्द एवं क्षीण नाड़ी तथा मूर्च्छा एवं भ्रम आदि का कष्ट होने पर भी कस्तूरी के प्रयोग से लाभ होता है।

शुक्र एवं ओजःक्षय के कारण व्यक्ति उत्साहहीन, बल-पौरुषहीन तथा निष्क्रिय एवं शिथिल हो जाता है। निरन्तर अवसाद तथा भय का भाव बना रहता है। रतिशक्ति

का पूर्ण अभाव हो जाता है। इस अवस्था में भी कस्तूरी, वंग एवं मकरध्वज का कुछ काल तक उचित संयम के साथ सेवन कराने पर उक्त व्याधिसमूह से स्थायी निवृत्ति मिलती है। हीन रक्तनिपीड एवं वातश्लैष्मिक दोष से उत्पन्न पक्षवध आदि वातिक विकारों में भी इससे पर्याप्त लाभ होता है। अपस्मार, मूर्च्छा, वातव्याधि, हृद्रोग, श्लेष्मोल्वण सन्निपात, वातिक प्रमेह आदि विकारों की सभी प्रमुख ओषधियों का प्रभावशाली घटक कस्तूरी ही है। आजकल के कार्टिकोस्टिरॉयड (Corticosteroids) के समान कस्तूरी के सेवन से भी शरीर की क्रियाओं में व्यापक रूप से उत्तेजना मिलती है, जिससे व्याधि-प्रतिकार सामर्थ्य प्रजागरित होती है तथा रोग से मुक्ति एवं बल-वीर्य आदि की वृद्धि होती है।

शिलाजतु—

बल-वीर्य की पुष्टि एवं वाजीकर गुणों के लिए शिलाजतु का प्रयोग किया जाता है। यह तिक्त-उष्ण-सारक, रक्तवर्द्धक तथा धातुपोषक माना जाता है। शोधन एवं संस्कारों के द्वारा इसके विशिष्ट गुण स्पष्ट होते हैं। जरा-व्याधि-विध्वंसी रसायन शक्ति के कारण शिलाजतु के सेवन से शरीर वज्र के समान दृढ़ तथा बल-वीर्यवान बनता है। जीर्णकास, जीर्णज्वर, रक्तपित्त, प्रमेह—विशेषकर मधुमेह, शुक्रमेह, तथा यकृत्-प्लीह विकार, उदर, मूत्रवह संस्थान के विकारों तथा मेदोदोष आदि में शिलाजतु का मुख्य प्रयोग किया जाता है। इसमें लौह, ताम्र, स्वर्ण-रजत आदि धातुओं के सूक्ष्म घटक सत्व रूप में विद्यमान होते हैं। शिलाजतु में उपस्थित सेन्द्रिय तथा खनिज उपादानों की विशेषतया उनकी सात्म्यता तथा शारीरिक धातुओं में प्रसरणशीलता है, जिससे शरीर की सभी कोषाओं का अभिसंस्कार शिलाजतु के प्रभाव से हो जाता है। शारीरिक दुर्बलता, धातुक्षय एवं वातनाडीसंस्थान के जीर्ण विकार, पाण्डु, यकृत्-पित्ताशय-वृक्क आदि अंगों के जीर्ण विकारों में शिलाजतु का प्रयोग करना चाहिये।

गुग्गुलु—

वातिक, कफज तथा आमवातिक विकारों में हितकर द्रव्यों में गुग्गुलु की प्रमुखता है। त्रिफला-गुडूची क्वाथ से संस्कारित एवं शुद्ध तथा विशिष्ट वानस्पतिक ओषधियों के साथ में इसका उपयोग, इसके योगवाही गुणों के कारण व्यापक रूप में होता है। यह दोषघ्न, विषघ्न, आमनाशक, जीवाणुनाशक, वातशामक, वेदनाशामक तथा वातनाडीसंस्थान के लिये बलकारक होता है। स्निग्ध एवं घृतसंस्कार के कारण वृष्य तथा बल्य होते हुए शरीर के गुप्त स्थानों में संचित आमदोष, रक्तदोष तथा शरीर की कोषाओं के अपजनन से उत्पन्न सेन्द्रिय विषों को आत्मसात् एवं निर्विष करते हुये शोधन करना इसकी विशिष्टता है। वातिक यन्त्र-तन्त्र का सुनियोजक होने के कारण

प्रायः सभी जीर्ण व्याधियों में इसका अनुपान-सहपान भेद से प्रयोग किया जाता है। पित्तप्रधान व्याधियाँ तथा उष्णवीर्य आहार-विहार गुग्गुलु के अनुकूल नहीं होते। इसका वातव्याधि, आमवात, वातरक्त, प्रमेह, कुष्ठ, भगन्दर, विसर्प आदि व्याधियों में अधिक प्रयोग होता है। शरीर में कहीं भी होने वाली वेदना का कारण स्थानीय शोथ या सेन्द्रिय विषों का संचय और तज्जनित वातनाड़ियों की दुष्टि है; जिसके कारण रोगी को स्थानविशेष में वेदना का अनुभव होता है, इसमें विकाशी गुण के कारण गुग्गुलु का विकृत स्थान में शीघ्र उचित संकेन्द्रण हो जाता है तथा योगवाही गुण के कारण गुग्गुलु के साथ संस्कारित या मिश्र विशिष्ट ओषधियों का भी वहाँ प्रवेश हो जाता है, जिससे दोषों का शोधन एवं विकृति-शमन शीघ्र हो जाता है। वातदोषप्रधान वृद्धावस्था की बहुसंख्य व्याधियों में गुग्गुलु का प्रयोग अधिक होता है।

जीवतिक्ति

जो द्रव्य नैसर्गिक खाद्य द्रव्यों में प्रोभूजिन, वसा एवं शर्करा जातीय आदि द्रव्यों के अतिरिक्त उपस्थित रहते हैं, तथा प्रोभूजिनादि द्रव्यों के पाचन, प्रचूषण एवं सात्म्यीकरण आदि में सहायता करके, वयानुसार यथाप्रमाण शरीर धातुओं का विकास एवं संवर्धन करते हैं, सुस्वास्थ्य को स्थिर रखते तथा अनेक प्रकार के रोगों से शरीर को सुरक्षित रखते हैं तथा जिनके अभाव में विशेष प्रकार के हीनता रोग उत्पन्न होते हैं, उन्हें जीवितिक्ति कह सकते हैं। जीवन के लिए आवश्यक, प्रोभूजिन आदि स्थूल आहार द्रव्यों के अतिरिक्त, बाह्य नैसर्गिक-वानस्पतिक एवं प्राणिज आहार से प्राप्य अल्प मात्रा में जीवनोपयोगी पदार्थों को जीवतिक्ति का रूप मान सकते हैं। शरीर में इनकी राशि अत्यल्प होने पर भी इतने आवश्यक कार्य इनके द्वारा किस प्रकार होते हैं, यह अभी ज्ञात नहीं है। कुछ लोग इनकी कार्य पद्धति को रासायनिक योगवाही (Catalytic agents) द्रव्यों के समान तथा दूसरे विद्वान् अन्तःस्रावी ग्रन्थियों की उत्तेजना द्वारा उक्त परिणाम होते हैं, ऐसा मानते हैं। अधिकांश वैज्ञानिक इनके कार्य को एंजाइम (Enzyme) सदृश मानते हैं।

जीवतिक्तियों की उत्पत्ति सूर्य किरणों के प्रभाव से केवल वनस्पतियों में होती है, उनके सेवन से प्राणियों के शरीर में आवश्यकता से अधिक संचित हुआ अंश उपलब्ध होता है। अनेक प्राणियों के दूध या यकृत् आदि अंगों में संचित रूप में प्राप्त होने वाली जीवतिक्तियाँ घास-पत्ती के आहार से ही उत्पन्न होती हैं। मछलियों में भी समुद्री वनस्पतियों के आहार से ही उनके शरीर में विशेषकर यकृत् में प्रभूत मात्रा में इनका संचय होता है। वास्तविक खाद्य द्रव्यों के सूखने-सड़ने, अति तप्त होने या अधिक काल तक संग्रह करने से इनका नाश हो जाता है। खुली धूप में, हरी घास एवं पत्तियाँ खाने

वाली गाय के दूध में, घर में बँधी रहकर केवल पुराना भूसा और दाना खाने वाली गाय के दूध की अपेक्षा, अधिक संख्या में जीवतिक्ति की उपलब्धि होती है।

अनेक जीवतिक्तियों के रासायनिक संगठन का ज्ञान हो गया है, तथा आजकल कृत्रिम तौर पर निर्माण किया जाने लगा है, किन्तु नैसर्गिक स्रोत की जीवतिक्ति कृत्रिम की तुलना में विशेष गुणकारी होती है, इसमें कोई संदेह नहीं। सभी जीवतिक्तियों का आहार में उचित समावेश होता रहे, इसका समाधान केवल संतुलित स्वाभाविक आहार से ही हो सकता है। नैसर्गिक आहार का पर्याप्त मात्रा में सेवन करने वाला इनके अभाव से पीड़ित नहीं होता, किन्तु अल्प आहार या खूब चटपटा, तला हुआ आहार सेवन करने वाला सम्पन्न व्यक्ति भी अभावजन्य व्याधियों से पीड़ित हो सकता है। नियमित आवश्यकता से अधिक मात्रा में इनका सेवन करने से कोई पोषक एवं बलकारक प्रभाव नहीं होता, इस दृष्टि से इनका अतियोग निरर्थक ही माना जाता है। किन्तु इनकी दैनिक आवश्यकता रुग्णावस्था, वर्द्धमानावस्था, अधिक परिश्रम, गर्भाधानकाल एवं स्तन्यपान आदि के समय बहुत अधिक बढ़ जाती है। अतः इन अवस्थाओं में जीवतिक्तिभूयिष्ठ आहार का सेवन या अलग से इनका प्रयोग आवश्यक हो जाता है। अभावजन्य लक्षण स्थूल रूप में विशिष्ट स्वरूप के, केवल एक (ए. बी. सी. डी. आदि) जीवतिक्ति के परिलक्षित होने पर भी, वास्तविक रूप में सामूहिक हीनता के ही होते हैं, इसलिए हीनतायुक्त व्याधियों में किसी एक जीवतिक्ति का प्रयोग उतना लाभ नहीं करता, जितना सम्मिलित प्रयोग लाभ करता है। स्नेहविलेय तथा जलविलेय जीवतिक्तियों का उपलब्धि स्रोत प्रायः एक सा ही होता है, तथा श्रम, व्याधि एवं अन्य कारणों से आवश्यकता बढ़ने पर सभी की कमी एक साथ हो सकती है। स्नेहविलेय जीवतिक्तियों की आवश्यकता वर्द्धमानावस्था में अधिक तथा जलविलेय की प्रौढावस्था में अधिक होती है अर्थात् इन अवस्थाओं में क्रम से स्नेहविलेय या जलविलेय की हीनता के लक्षण प्रधान रूप से होते हैं। यदि स्नेहविलेय वर्ग में किसी एक जीवतिक्ति के अभाव-लक्षण हों, तो प्रधान रूप में उसका प्रयोग चिकित्सार्थ करने के साथ ही दूसरी जीवतिक्तियों का साधारण मात्रा में उपयोग करने से अधिक लाभ होता है। हीनतायुक्त प्रारम्भिक स्थिति में (जिसका निदान बड़ी कठिनाई से होता है) अविशिष्ट स्वरूप के अस्पष्ट लक्षण पैदा होते हैं। रोगी की बढ़ी हुई आवश्यकता एवं आहार की हीनता का अनुमान करके इनकी उपयोगिता का निर्णय करना चाहिए। सामान्य स्थिति में मौलिक स्रोतों (Crude sources) से उपलब्ध योग अधिक गुणकारी होते हैं। विशिष्ट अभावमूलक व्याधियों में विशिष्ट जीवतिक्ति का अधिक मात्रा में प्रयोग आवश्यक होने पर शुद्ध तथा संश्लेषित (Pure & synthesid) जीवतिक्तियों का उपयोग करना चाहिये। प्रायः साथ में प्रोभूजिन एवं सम्पूर्ण जीवतिक्ति आदि का उपयोग करने से विशेष लाभ होता है।

कुछ जीवतिक्तियाँ स्नेहविलेय तथा कुछ जलविलेय होती हैं। प्रारम्भ में इनका सही रासायनिक संगठन न ज्ञात होने से ए. बी. सी. डी. ई. आदि अक्षरों के द्वारा नामकरण

किया गया था। आजकल बहुत से द्रव्यों का रासायनिक संगठन ज्ञात हो चुका है, किन्तु पूर्व प्रचलित नामों का ही अधिक व्यवहार होने के कारण उसी शीर्षक में वर्णन किया गया है।

निम्नलिखित अवस्थाओं में आवश्यकता बढ़ जाने या प्रचूषण कम होने के कारण इनके अभावमूलक लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं।

१. अपर्याप्त मात्रा—जीवतिक्ति-युक्त आहार-विहार का शारीरिक श्रम के अनुपात में अपर्याप्त मात्रा में सेवन होने में निम्न कारण होते हैं:—

(१) दरिद्रता—पूर्ण संतुलित आहार न मिलने के कारण अभावजन्य व्याधियों से चतुर्थ श्रेणी के व्यक्ति अधिक पीड़ित होते हैं।

(२) उपेक्षा—ज्ञान या अज्ञानवश बहुत से व्यक्ति साधन होने पर भी जीवतिक्ति-युक्त आहार का सेवन नहीं करते। अधिक तलने, पकाने, भूनने आदि से अधिकांश जीवतिक्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। हरी सब्जी, मौसमी फल, गोदुग्ध, मक्खन आदि का सेवन न करने और पर्याप्त मात्रा में हलुआ-पूड़ी का आहार में समावेश होने पर भी जीवतिक्तियों की पूर्ति नहीं होती।

(३) महास्रोत के जीर्ण विकार—अतिसार, संग्रहणी एवं आंत्रशोथ आदि से पीड़ित रोगियों में इनका प्रचूषण अवरुद्ध हो जाता है। यकृत्विकार एवं कामला आदि के कारण आंत्र में पित्त की कमी होने से स्नेहविलेय जीवतिक्तियों का प्रचूषण नहीं होता। अधिक मद्यपान से आमाशयक्षोभ एवं यकृद्दाल्युदर होने के कारण शरीर में बी.$_1$ तथा जीवतिक्ति के की अत्यधिक कमी होती है। दाँतों के अभाव में आहार का चर्वण पर्याप्त न होने से पाचन नहीं हो पाता, जिससे आहार एवं तद्गत जीवनीय द्रव्यों का शोषण नहीं हो पाता।

(४) लंघन या कर्षण चिकित्सा—मधुमेह, मेदोवृद्धि में कर्षण तथा आमाशय-पक्वाशय के व्रणों में एक समान भोजन एवं क्षाराधिक्य का अधिक समय तक प्रयोग करने से जीवतिक्तियों की स्वतंत्र व्यवस्था न करने पर हीनता के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

इन अवस्थाओं में अभाव का मुख्य कारण आहार में अपर्याप्त मात्रा एवं पाचन-हीनता से प्रचूषण अयोग्यता होता है।

२. अपर्याप्त प्रचूषण—

(१) अत्यधिक वमन—कभी-कभी गर्भिणी स्त्री को ३–४ मास तक निरन्तर वमन होता रहता है। आमाशय द्वार या आंत्र में अवरोध एवं व्रण आदि होने पर भी वमन बहुत दिनों तक होता रहता है। बच्चों में अजीर्ण के कारण पुनरावर्तनशील छर्दि का उपद्रव होता है।

(२) जीर्ण प्रवाहिका एवं विरेचक औषधों का अधिक प्रयोग करने से पाचन एवं प्रचूषण कार्यों में बाधा उत्पन्न होती है।

(३) कुछ व्यक्तियों में आमाशयिक रस (एक्लोरहाइड्रिया) एवं आन्त्ररसों की प्रकृत्या हीनता होती है तथा नवीन प्रतिजीवक औषधों के प्रयोग से आंत्र में जीवतिक्ति बी. का संश्लेषण करने वाले जीवाणु नष्ट हो जाते हैं, इन कारणों से प्रचूषण नहीं हो पाता।

(४) यकृद्दाल्युदर एवं संग्रहणी में इनका प्रचूषण सर्वाधिक प्रभावित होता है, तथा सूचीवेध द्वारा प्रवेश आवश्यक होता है।

३. आवश्यकता-वृद्धि—

(१) राजयक्ष्मा, कुष्ठ, आन्त्रिक ज्वर, कालज्वर, अतिसार आदि दीर्घकालानुबन्धी औपसर्गिक व्याधियों में जीवतिक्तियों की खपत बढ़ जाती है।

(२) सगर्भावस्था एवं स्तन्यपान के समय।

(३) अधिक शारीरिक एवं मानसिक श्रम।

(४) अवटुका ग्रंथि का कार्यातियोग (Thyrotoxicosis) एवं अन्य समवर्त-वृद्धिकारक व्याधियों (Increased basal metabolic rate) में भी आवश्यकता बढ़ जाती है।

(५) वर्धमानावस्था में शरीर की वृद्धि के लिए, युवावस्था में परिश्रम के अनुपात में तथा वृद्धावस्था में प्रचूषण की कमी एवं चिन्ता आदि के कारण दैनिक आवश्यकता से अधिक मात्रा में जीवतिक्ति की आवश्यकता होती है।

४. अपर्याप्त सात्म्यीकरण और संचय—

(१) मधुमेह एवं यकृत की व्याधियों से पीड़ित व्यक्ति आहार में उपस्थित एवं प्रचूषित जीवतिक्ति का भी संचय एवं सदुपयोग पूर्णतया नहीं कर पाता।

(२) ओजःक्षय, धातुक्षय एवं अन्य अन्तःस्रावी ग्रन्थियों की हीनक्रिया में भी धात्वग्नि की दुर्बलता से सात्म्यीकरण में बाधा होती है।

(३) रक्तवाहिनियों के अवरोधमूलक जीर्ण विकार—धमनीजरठता एवं परिसरीय धमनीशोथ (Artritis, Burgeir's disease etc.) आदि—में सारे अंग-प्रत्यंगों में समान रूप से रक्तप्रवाह नहीं होता, जिससे कुछ अंगों को रक्त द्वारा पोषण यथेष्ट मात्रा में नहीं मिलता।

जीवतिक्तियों के प्रयोग की दृष्टि से निम्नांकित तथ्यों पर ध्यान रखना आवश्यक है—

१. इनकी हीनता या अभाव से व्याधियों की उत्पत्ति बहुत बाद में होती है। पर्याप्त समय तक अविशिष्ट हीनता के ही लक्षण मिलते हैं। साधारण अभाव एवं व्याधि-उत्पादक अभाव की सीमा पर्याप्त विस्तृत है, अतः आवश्यकता की वृद्धि या अपर्याप्त प्रयोग आदि का अनुमान होने पर साधारण दुःस्वास्थ्य की अवस्था में इनका प्रयोग करना चाहिए।

२. पूर्ण विश्राम या अधिक से अधिक विश्राम करने से इनकी खपत कम हो जाती

है, अतः औपसर्गिक रोगों से पीड़ित या अन्य आवश्यकता-वृद्धि की अवस्थाओं में इनकी खपत कम करने के लिए विश्राम आवश्यक होता है।

३. सामान्यतया शरीर में इनका भी संचित कुछ कोष रहता है। यकृत्विकार, मधुमेह आदि में संचय नहीं हो पाता, ऐसी स्थिति में अधिक मात्रा का नियमित प्रयोग आवश्यक होता है।

४. प्रत्येक व्यक्ति—स्वस्थ एवं रोगी—की आवश्यकता का निर्धारण दैनिक श्रम-आहार-विहार-पाचनशक्ति आदि के आधार पर करना चाहिए।

५. अविशिष्ट स्वरूप की व्याधि में नैसर्गिक स्रोतज जीवतिक्ति अल्प मात्रा में भी अच्छा लाभ करती है। प्रायः सभी का संयुक्त प्रयोग उत्तम माना जाता है। अभावयुक्त तीव्र विशिष्ट व्याधियों में संश्लेषणजन्य संकेन्द्रित योगों का उपयोग शीघ्र लाभ करता है।

स्नेहविलेय जीवतिक्तियाँ—

जीवतिक्ति ए.—वनस्पतियों में इसकी पूर्वावस्था पीतवर्ण के रागक के रूप में रहती है। इसको कैरोटीन कहते हैं। आहार के साथ पाचित-शोषित होने के बाद यकृत् में इसका परिवर्तन तथा संग्रह 'ए' के रूप में होता है। इसीलिये प्राणियों के यकृत् में यह जीवतिक्ति अधिक राशि में पायी जाती है। दूध को ढककर उबालने या स्नेह को गरम करने से इसका नाश नहीं होता, किन्तु खुली हवा में देर तक उबालने पर नष्ट होने लगता है। स्नेहविलेय होने के कारण इसके प्रचूषण के लिये आन्त्र में पर्याप्त पित्त की उपस्थिति आवश्यक है। आहार में जीवतिक्ति ए की कमी, यकृत् की विकृति एव आंत्र में पित्त की कमी इन तीनों स्थितियों में समान रूप से जीवतिक्ति ए की हीनतामूलक व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। रासायनिक दृष्टि से जीवतिक्ति ए के ए$_1$ तथा ए$_2$ विभाग क्रम से सामुद्रिक मछलियों तथा तालाब व नदियों की मछलियों में मिलते हैं, किन्तु उपयोगिता की दृष्टि से इनमें विशेष अन्तर नहीं होता।

प्राप्तिस्थान—भेड़, बकरी, मछली के यकृत् के तैल, यकृत्, अण्डा, मक्खन, दूध, शाक एवं हरी पत्तियों में पर्याप्त मात्रा में जीवतिक्ति ए मिलता है। गाजर, पत्तागोभी, बादाम, अखरोट, जैतून, पके आम में भी इसकी पर्याप्त मात्रा रहती है।

मुख्य कार्य—

१. शरीर के बाह्य एवं आभ्यन्तर स्तरों की दृढ़ता (Resistance of epithelial tissues) एवं पुष्टता।

२. शरीर के अंग-प्रत्यङ्गों की अवस्थानुरूप स्वाभाविक वृद्धि एवं विकास में सहायता।

३. नेत्र की प्रकाशग्रहण-सामर्थ्य एवं स्निग्धता का सन्तुलन।

४. दन्तोद्भवन, दन्तविकास एवं अस्थियों के विकास में जीवतिक्ति डी के साथ सहकारी रूप में कार्यक्षमता।

५. त्वचा की स्निग्धता, मृदुता एवं अक्षतता।

अभावजन्य व्याधियाँ—

अल्प मात्रा में जीवतिक्ति ए की कमी होने पर त्वचा की रूक्षता, शुष्कता, नक्तान्धता तथा अंगों की अपूर्ण वृद्धि होती है।

अधिक मात्रा में कमी होने पर शुष्काक्षिपाक, त्वचा की रूक्षता, क्षीणता, विस्फोट एवं विदार आदि होते हैं।

त्वचा एवं श्लेष्मल कला की पुष्टि तथा सुरक्षा ए वर्ग की जीवतिक्ति से होती है। अधिकांश औपसर्गिक रोगों का प्रसार इसी मार्ग से होता है, किन्तु 'ए' के सुप्रभाव से जीवाणुओं का प्रवेश नहीं हो पाता। इसी कारण 'ए' को औपसर्गिकरोग-प्रतिकारक भी कहते हैं।

अश्रुग्रन्थि 'ए' के अभाव में नियमित रूप से अश्रु नहीं बना पाती, जिससे सर्वदा स्निग्ध रहनेवाले नेत्र रूक्ष हो जाते हैं। इसी रूक्षता के कारण नेत्रावरण में नेत्रगोलक की इतस्ततः गति से शोथ या व्रण तक हो जाते हैं, इसे शुष्काक्षिपाक कहते हैं। औपसर्गिक तृणाणुओं का अनुप्रवेश होने पर इसकी गंभीरता बढ़ जाती है। कृष्ण-मण्डल मे दोनों प्रान्तों की ओर श्वेतवर्ण की धारियाँ फैलने लगती हैं। दृष्टिशक्ति की दुर्बलता के कारण मंद प्रकाश में चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं हो पाता, इसीलिए नक्तान्ध्यता का लक्षण उत्पन्न होता है। श्वेतमंडल में चूना के समान ग्रन्थियुक्त धब्बे प्रायः दरिद्रों में अधिक दिखाई पड़ते हैं।

इसकी कमी से श्वसनिकाओं में श्लेष्मा का उद्वचन करनेवाली ग्रंथियाँ शुष्क होने लगती हैं, जिससे फुफ्फुसपाक-माला-स्तवक गोलाणु आदि का आसानी से उपसर्ग हो सकता है तथा श्लेष्मा का शोधन ग्रन्थियों के सूख जाने से न हो सकने के कारण गंभीर स्वरूप के उपद्रव —श्वसनिकाभिस्तीर्णता, फुफ्फुसविद्रधि आदि—हो जाते हैं। प्रायः 'ए' के साथ 'डी' का अभाव भी रहता है। इनके अभाव में बच्चों को श्वसनसंस्थान के औपसर्गिक रोग अधिक होते हैं तथा जब तक ए. डी. का अभाव न दूर कर दिया जाय, उत्तम प्रतिजीवक औषधों का नियमित प्रयोग करने पर भी पुनरावर्तन होता ही रहता है।

क्षुधानाश, मुख का गन्दापन, स्वरभंग, अजीर्ण, आध्मान, प्रवाहिका या विबंध आदि लक्षण 'ए' की कमी से शिशुओं में अधिक उत्पन्न होते हैं। दाँतों का देर से निकलना या बेतरतीब निकलना, मिट्टी के समान कान्तिहीन एवं भंगुर दाँत निकलना भी 'ए' का अभाव सिद्ध करता है।

बाल्यावस्था में इसका अपर्याप्त प्रयोग होने पर शरीर के अंग-प्रत्यंगों की वृद्धि

उचित रूप में नहीं हो पाती, इसी कारण 'ए' को शरीरवर्द्धक तथा उपसर्गविरोधी जीवतिक्ति कहा जाता है। इसके अभावजन्य परिणामों को निम्नलिखित वर्गों में बाँटा जा सकता है।

१. त्वचा—शुष्क, रूक्ष, क्षीण तथा स्वेदहीन होती है। स्कन्ध, ऊरु, पार्श्व तथा अग्रबाहु के बाहर की ओर सूई के समान छोटे, पतले, नुकीले, उभाड़दार विस्फोट निकलते हैं।

२. नेत्र—शुष्काक्षिपाक, नेत्रकलाशोथ, नक्तान्धता, प्रकाशकष्ट, कृष्णमण्डलमृदुता तथा स्वच्छ मण्डल के पार्श्व में नेत्रकला पर चूने के समान सफेद धब्बे उत्पन्न होते हैं।

३. अस्थियाँ—दन्तोद्गम में विलम्ब एवं दाँतों के पूर्ण विकास में बाधा उत्पन्न होती है तथा अस्थियों का पूर्ण विकास न होने के कारण हस्त-पाद आदि में व्यङ्गता या टेढ़ापन उत्पन्न होता है।

४. वातनाड़ियों में अपजनन, मूत्रसंस्थान में अश्मरी की उत्पत्ति तथा औपसर्गिक रोगों से आक्रान्त होने की प्रवृत्ति जीवतिक्ति ए की कमी से होती है।

अतियोग के परिणाम—

अत्यधिक प्रयोग करने से कुछ रोगियों में त्वचा का वर्ण पीला तथा स्थूलता उत्पन्न होते देखी गई है।

मात्रा—स्वस्थावस्था में २५०० से २५००० एकक प्रतिदिन

साधारण मात्रा ५००० एकक।

सगर्भावस्था	१५-२० हजार एकक	स्तन्यपान-काल	२५-४० हजार एकक
अधिक श्रम	२५-५० ,, ,,	रुग्णावस्था	५० ,, ,,
बालक	१० ,, ,,	वृद्ध	५ ,, ,,

अभावजन्य व्याधियाँ—

'ए' के अभाव के साथ में 'डी' की कमी भी होती है, क्योंकि दोनों ही एक साथ उपलभ्य स्नेहविलेय हैं। इसी दृष्टि से चिकित्सार्थ प्रयुक्त योगों में प्रायः ए. डी. संयुक्त रूप में मिलते हैं। प्रवाहिका, वमन, लिक्विड पाराफिन के योगों से अधिक विरेचन, कामला, यकृत्‌रोग आदि के कारण इसका प्रचूषण नहीं हो पाता, जिससे शरीर सुस्त, क्लान्त एवं निस्तेज सा होने लगता है। बच्चों में अस्थिक्षय एवं श्वसन-पचन के औपसर्गिक रोगों का दीर्घानुबंध हीन प्रतिकारशक्ति के कारण होता है। ऐसी स्थिति में 'ए'प्रधान द्रव्य मक्खन, गाजर, दूध, अण्डा, काड या शार्क के तेलों का उपयोग करना चाहिए। रोगी की आंत्र में पित्त की कमी होने पर इनका प्रचूषण नहीं हो पाता, अतः साथ में औषध के रूप में पित्त योगों (Bile salts) का व्यवहार आवश्यक हो जाता है। संकेन्द्रित योग आजकल पर्याप्त उपलब्ध हैं, इनके प्रयोग से स्नेह की अधिक मात्रा के पाचन की आवश्यकता नहीं होती तथा यकृत्‌विकारों में

भी इनका प्रयोग किया जा सकता है। आत्ययिक स्थिति में या मुख द्वारा प्रयोग उपयोगी न होने पर पेशी मार्ग से सूचीवेध द्वारा प्रयोग किया जा सकता है।

योग—काड (१ ड्राम में २०० से १२०० एकक), शार्क (एक ड्राम में ६००० एकक), हैलिबट लीवर आयल (१ बूँद में ६०० से १२०० एकक), गाजर (एक पाव में २००० एकक)।

इनको आवश्यक मात्रा में दूध में मिलाकर देना चाहिए। इन तेलों को त्वचा पर धीरे-धीरे सुखाते हुए मर्दन करने से भी लाभ होता है।

जीवतिक्ति 'डी' (Viatmin D-Calciferol or Irradiated Ergasterol)

जीवतिक्ति डी श्वेतवर्ण का ए के समान ही स्नेहविलेय है तथा प्रायः उसके साथ ही उपलब्ध होता है। वनस्पतियों में एर्गास्टेरॉल (Ergasterol) नामक कॉलेस्टरॉल का समजातीय द्रव्य होता है, जिसका सेवन पशुओं द्वारा आहार के साथ होने पर सूर्य की नीललोहितातीत किरणों के प्रभाव से शरीर में जीवतिक्ति डी या कैलसिफेराल का निर्माण होता है। आवश्यकता से अधिक मात्रा का संचय जन्तुओं के यकृत् में होता है, इसीलिए यकृत् तैलों में इसकी पर्याप्त राशि होती है। सूर्य की धूप में चरने वाली गौ के दुग्ध में इसकी पर्याप्त मात्रा होती है। मानवशरीर में भी सूर्यकिरणों के प्रभाव से यह परिवर्तन हो सकता है। यह उबालने या गरम करने से नष्ट नहीं होता।

प्राप्तिस्थान—शार्क, काड तथा हैलिबट मछलियों के यकृत्-तैल, अण्डा, मक्खन, गोदुग्ध, मांस आदि में मिलता है। वनस्पतियों में इसकी पूर्वावस्था अल्पमात्रा में होती है।

गुण-धर्म—चूना तथा भास्वर (कैलसियम तथा फास्फोरस) के समवर्त्त के लिए इसकी आवश्यकता होती है। आँतों से कैलसियम का प्रचूषण डी के प्रभाव से बढ़ता है तथा मूत्र द्वारा फास्फोरस का उत्सर्ग अधिक होता है। इसके प्रभाव से रक्त अधिक मात्रा में कैलसियम को अस्थि आदि उपयुक्त अवयवों में पहुँचा सकता है।

अभावजन्य व्याधियाँ—इसकी कमी से रक्त में चूने की कमी होकर वर्द्धमान अस्थियों में चूर्णीभवन (Calcification) पर्याप्त रूप में नहीं हो पाता। तरुणास्थि के आधिक्य से, अस्थियों में कठोरता न होने के कारण, भार पड़ने पर वे टेढ़ी हो जाती हैं। इसे ही अस्थिमृदुता, अस्थिवक्रता कहते हैं। इसकी कमी के कारण कृमिदन्त (Careis) भी बनते हैं, तथा दन्तोद्भवन में विलम्ब होता है। संक्षेप में इसके अभाव से बच्चों में फक्क रोग (Rickets), कृमिदन्त या विलम्बित दन्तोद्भवन, वयस्कों में—विशेषकर स्त्रियों में—अस्थिमृदुता, अपतानिका (Tetany) की उत्पत्ति होती है।

इसका अभाव मुख्यतया आहार में डी. प्रधान द्रव्यों का अनुपयोग, सूर्यप्रकाश

का अभाव अर्थात् अँधेरे स्थलों में रहना या २४ घंटे वस्त्राच्छादित रहना तथा पाचन एव प्रचूषण सम्बन्धी विकृतियों से होता है।

अतियोग के परिणाम—इस जीवतिक्ति का अत्यधिक सेवन करने पर अतियोग के विशिष्ट लक्षण उत्पन्न होते हैं। धमनी, वृक्क एवं वस्ति में चूर्णाश्मरी का निर्माण या चूने का अधिक संचय, अध्यस्थि या अधिदन्तों की उत्पत्ति, अकारण अधिक वमन आदि अतियोग के परिणाम होते हैं।

मात्रा

साधारण—४०० से ८०० एकक।

गर्भावस्था एवं स्तन्यपानकाल १०००-२००० एकक।

वर्धमानावस्था ५००-१००० एकक।

अस्थिक्षय १ हजार से ५ हजार एकक प्रतिदिन।

अस्थिमृदुता २५ हजार से १ लाख दैनिक।

कुछ रोगियों में ५० हजार से १५० हजार एकक की आवश्यकता पड़ सकती है।

जीवतिक्ति 'ई' (Vitamin E, Alphatocopherol)

यह भी स्नेहविलेय है तथा हल्के पीत वर्ण के रूप में गोधूमांकुर में सर्वाधिक मिलता है। दूध, अण्डा, मांस, बादाम एवं वनस्पतियों के बीज, नवीन शाक-सब्जी तथा अल्पमात्रा में अंकुरित मटर आदि में भी मिलता है।

पुरुषों में इसके अभाव से शुक्र-कीटाणुओं की उत्पत्ति अव्यवस्थित रूप में होती है। अधिक समय तक इसका सेवन न करने पर धीरे-धीरे शुक्रकीटों में अपजनन होता है तथा अन्त में शुक्रोत्पादक कला (Seminiferous epithelium) का अपजनन हो जाने के कारण पूर्णतया शुक्रनाश हो जाता है। स्त्रियों में इसके अभाव से अपरा-निर्बलता उत्पन्न होती है, जिससे गर्भ का भार कुछ बढ़ने पर अपरा स्थानच्युत हो जाती है, और इस प्रकार पुनः पुनः गर्भस्राव-गर्भपात होता रहता है। मध्यम आयु में उत्पन्न होने वाले हृदय एवं रक्तवहसंस्थान के विकारों में—हृद्दौर्बल्य, आर्तवक्षय, हीन रक्तनिपीड, अवसाद आदि में इसके प्रयोग से लाभ होता है तथा अधिक मात्रा में अपुष्टपेशिक पार्श्वजरठता (Amyotrophic lateral sclerosis) में कुछ समय तक देने से लाक्षणिक शान्ति होते देखी गई है। इसलिए यह व्याधियाँ भी 'ई' के अभाव से सम्बद्ध मानी जाती हैं। सामान्य अभावयुक्त अवस्थाओं में अंकुरित गोधूम-तैल का प्रयोग सश्लेषणोत्पन्न संकेन्द्रित योगों की अपेक्षा अधिक लाभ करता है। शुक्रक्षय तथा पुनःपुनर्गर्भस्राव होने पर अल्पमात्रा (५-१० मि० ग्राम) प्रतिदिन पर्याप्त समय तक (१-२ वर्ष) देने से निश्चित लाभ होता है। विशेष अभाव की स्थिति में ५०० मि० ग्राम स्निग्धविलेय (तैल-विलेय) योग का मांसपेशी द्वारा सूचीवेध के रूप में प्रयोग आवश्यक होता है। पेशीक्षय एवं शैशवीय अगघात में जीवतिक्ति डी

के साथ ४-६ मास अल्फाटॉकोफेरॉल का प्रयोग करने से कुछ रोगियों में पर्याप्त लाभ हुआ है। संक्षेप में इसका कार्य शुक्राणुजनन, गर्भस्थापन एवं वातशामक होता है।

मात्रा—शुक्रक्षय-गर्भस्राव-गर्भपात—सामान्यतया ५-१० मि० ग्रा०, अधिक जीर्णावस्था में मुख द्वारा ५०-१०० मि० ग्रा० प्रतिदिन तक। पेशीक्षय, शैशवीय अंगघात में चिकित्सार्थ ५०० मि० ग्रा० प्रतिदिन सूचीवेध के रूप में।

जीवतिक्ति 'के' (Vitamin K. or Menaphthone)

यह भी प्रधानतया स्नेहविलेय है, किन्तु इसके जलविलेय योग भी आते हैं। रासायनिक संगठन ज्ञात होने के कारण कृत्रिम रूप में इसका निर्माण होता है। स्नेहविलेय रूप में इसका हल्के पीतवर्ण का तैलाभ रूप होता है तथा वनस्पतियों की नूतन पत्तियाँ, गेहूँ, टमाटर, पालक, सोयाबीन, यकृत् एवं विलायती घास (Alfalfa) में पर्याप्त मात्रा में मिलता है।

इसके अभाव से यकृत् में पूर्वघनास्रि (Prothrombin) का निर्माण नहीं हो पाता, इस कारण रक्तस्राव की प्रवृत्ति होती है। आंत्र से इसका प्रचूषण होने के लिए पित्तलवणों की आवश्यकता होती है, अतः कामला आदि में पित्त का अभाव आंत्र में होने पर पित्तलवणों के साथ इसका प्रयोग करना चाहिए। नवजात शिशु में इसकी कमी होने पर रक्तस्राव की प्रवृत्ति तथा रक्तस्कंदन में विलम्ब होता है। रक्त में पूर्वघनास्रि की कमी के कारण ही यह स्थिति उत्पन्न होती है। कामला, नवजात कामला एवं यकृत् विकारों में रक्तस्राव के भय से शस्त्रकर्म आवश्यक होने पर भी पहले नहीं संभव था, किन्तु इसका पर्याप्त प्रयोग करने से रक्तस्राव की संभावना कम होती है। इसका मुख्य चिकित्सार्थ प्रयोग पूर्वनघास्रि-अभावजन्य रक्तस्रावी व्याधियाँ, गर्भिणी-विषमयता, पूर्वप्रसव (Premature labour), कष्टप्रसव, नवजात कामला तथा प्रारंभ से स्तन्यपान संभव न होने एवं बाहर का दूध पिलाने पर असात्म्यता-प्रतिकार के लिए किया जाता है।

प्रयोग—प्रतिषेध १-२ मि० ग्रा० प्रतिदिन।

चिकित्सा—३०-६० मि० ग्रा० प्रतिदिन मुख द्वारा। तैलविलेय योग का पेशी द्वारा तथा जलविलेय का पेशी या सिरा द्वारा प्रयोग करना चाहिए।

जलविलेय जीवतिक्तियाँ—

इसमें बी. तथा सी. प्रधान हैं। साधारण दैनिक जीवन से इनका अधिक सम्बन्ध है। दोनों की जीवन के लिए समान रूप में आवश्यकता होने पर भी स्नेहविलेय जीवतिक्तियों का अधिक महत्व जीवन के प्रारंभिक काल—वर्धमानावस्था एवं यौवन—में अधिक है तथा इसका महत्त्व मध्यावस्था में अधिक होता है।

जीवतिक्ति 'बी'—इसके अनेक संघटक हैं, कुछ का रासायनिक संगठन ज्ञात हो चुका है, किन्तु अब भी बहुत से कार्यक्षम अंश अज्ञात हैं। इसी दृष्टि से सामान्य

अविशिष्ट स्वरूप की हीनतामूलक व्याधियों में नैसर्गिक रूप में उपलब्ध जीवतिक्ति बी. जटिल (Vitamin B complex) का यीस्ट (किण्वबीज या खमीरतत्व) एवं मारमाइट (Yeest and Marmite) के रूप में प्रयोग कृत्रिम रूप से निर्मित संकेन्द्रित योगों से उत्तम माना जाता है। सामान्यतया शरीर की सारी क्रियाओं—पाचन-प्रचूषण, सात्म्यीकरण, हृदय-वृक्क-मस्तिष्क एवं वातनाडियों की क्रियाकुशलता—को नियमित रूप में होने देने के लिए इसकी 'आवश्यकता होती है। आज के भौतिक युग में, अत्यधिक शारीरिक एवं मानसिक श्रम तथा अहर्निश व्यस्त-चिन्तित जीवन होने के कारण इसकी आवश्यकता बढ़ गई है। मानव प्रतिदिन यांत्रिक होता जाता है तथा नैसर्गिक आहार-विहार से दूर होता जाता है। इन कारणों से बी. के अभाव की व्याधियाँ अधिक व्यापक रूप में मिलती हैं। जिन लोगों में व्याधियों के व्यक्त लक्षण मिलते हैं, उनकी अपेक्षा बी. हीनतायुक्त अव्यक्त व्याधि से पीड़ित व्यक्तियों की संख्या बहुत अधिक है।

अभावनिदर्शक सामान्य लक्षण—अवसाद, निरुत्साह, अंगमर्द, शिथिलांगता, क्लान्ति, आत्मविश्वास-दृढ़ता-प्रत्युत्पन्नमतित्व-बुद्धि-स्मृति आदि का नाश, अरुचि, अग्निमांद्य, आध्मान, विबंध, हस्तपाददाह, विवर्णता आदि अविशिष्ट स्वरूप के लक्षण बी. जटिल की कमी से होते हैं। बिना किसी व्याधि या शारीरिक विकृति के सामान्यतया स्वस्थ दिखाई पड़ने वाला व्यक्ति अपने को रुग्ण या अत्यधिक हीनबल समझे तो बी. का अभाव समझकर चिकित्सा करने से लाभ होता है।

उपलब्धि—हरी वनस्पतियाँ, ताजे फल तथा धारोष्ण दूध में इनकी पर्याप्त मात्रा होती है। शूक धान्य एवं शिम्बी धान्य के अंकुरों एवं छिलकों में बी. की मात्रा अधिक होती है। इसके अतिरिक्त मांस, मछली, अण्डा, दूध, नारियल, अखरोट, मूंगफली, बादाम, पालक, टमाटर, आमला, सन्तरा आदि में भी इनकी पर्याप्त राशि होती है। इसमें अनेक जलविलेय अंश होते हैं, जिनके प्रमुख दो विभाग होते हैं। प्रथम उष्ण-सर या उष्णता से नष्ट होने वाला (Heat labile) तथा दूसरा उष्ण-स्थिर (Heat stable) वर्ग। साधारण सुखाने या पकाने से इनका नाश नहीं होता, किन्तु १२० अंश से अधिक ताप में रखने से ये नष्ट हो जाते हैं। खाने वाला सोडा मिलाकर पकाने से इनका नाश शीघ्र हो जाता है।

मानवोपयोगी इस वर्ग के निम्न संघटनों का ज्ञान अभी तक हुआ है—

बी.₁ या थायमिन या एन्यूरिन (B_1 or Thiamine or Aneurine)

बी.₂ या राइबो फ्लाविन (B_2 or Riboflavine)

बी.₂ या बी.₇ निकोटिनिक एसिड तथा एमाइड (B_2 or B_7 Nicotinic Acid or Nicotinamide)

बी.₃ या पैण्टोथेनिक एसिड (B_3 or Pantothenic Acid)

बी$_4$ एमायनो एसिड (B_4 or Amino Acids)
बी$_6$ पाइरिडोक्सिन ((B_6 Pyridoxine)
बी$_{12}$ रुब्रामिन (B_{12} or Rubramine)
फोलिक एसिड (Folic Acid)
कोलीन (Choline)
पा बा (PABA or Para-Amino-Benzoic-Acid)

दैनिक आवश्यकता—नियमित रूप से शाक-सब्जी एवं दूध तथा फलों का सेवन करने से इनकी पृथक् आवश्यकता नहीं पड़ती। अधिक परिश्रम करने पर इसकी खपत बढ़ जाती है, अतः यीस्ट या मरमाइट के रूप में इसका सेवन करना चाहिये। अभाव के लक्षण उत्पन्न होने पर निम्नलिखित योगों में से किसी का उपयोग किया जा सकता है। प्रायः सम्पूर्ण जीवतिक्ति बी. के योगों में निम्न घटक होते हैं :—

जीवतिक्ति बी$_1$ (Thiamine Hcl)
,, बी$_2$ (Riboflavin)
,, बी$_2$ (Nicotinic Acid or Amide)
,, बी$_6$ (Pyridoxine)
केलसियम पैण्टोथेनेट (Calcium Pantothanate)

नैसर्गिक बी. के योग—शर्बत या इलिक्जिर तथा टिकिया के रूप में सम्पूर्ण बी. कम्प्लेक्स के विभिन्न कम्पनियों के योग मिलते हैं। संगठन के अनुरूप आवश्यकता समझकर उनका उपयोग करना चाहिये।

जीवतिक्ति बी$_1$—यह जल के समान स्वच्छ एवं जलविलेय होता है। अधिक मात्रा में प्रयोग करने पर भी कोई दुष्परिणाम नहीं उत्पन्न होते। हरी शाक-सब्जी, हरी वनस्पतियाँ, आलू, चावल, गेहूँ, दाल का छिलका तथा अंकुर, मेवा, खमीर, ताजे फलों में तथा अण्डा, दूध एवं यकृत् में यह सामान्य मात्रा में उपस्थित रहता है। तेल या घी में तलने, अधिक पानी में धोने तथा यन्त्र द्वारा चावल में चमक लाने (Polishing) आदि से इसका नाश हो जाता है।

गुण-धर्म—कार्बोजों के समवर्त्त के लिए इसकी आवश्यकता होती है। अभाव में कार्बोजों का जारण ठीक न होने के कारण रक्त में विविध प्रकार के अम्ल संचित होते हैं, जिनसे वातनाडी कोषाओं पर विषाक्त प्रभाव होता है। परिणामस्वरूप वातनाडी दुर्बल, असहनशील एवं अकार्यक्षम होने लगती है।

जीवतिक्ति बी$_1$ की कमी होने पर शरीर उत्तरोत्तर निर्बल होने लगता है। क्षुधा, शरीरभार तथा बल का ह्रास, भ्रम, विभिन्न अङ्गों में दाह, मनोदौर्बल्य, वैचित्र्य, अस्थिरता, गदोद्वेग (Nervousness), शून्यता, शाखाओं में स्पर्श ज्ञान की मन्दता, मांसपेशियों में उद्वेष्टन तथा पीड़ा, क्षोभ एवं चिड़चिड़ापन आदि लक्षण प्रारम्भिक अवस्था

में उत्पन्न होते हैं। निरुत्साह, शिथिलता, अवसाद, अनेक प्रकार के अकारण भय, क्लान्ति तथा सभी वस्तुओं से वितृष्णा आदि मानसिक दुर्बलता के लक्षण भी होते हैं। रोगी हीन मनोबल का हो जाता है। कठिन कामों एवं बाधाओं से बचने की प्रवृत्ति तथा आलस्य की अधिकता होती है। वातनाडीशोथ इसके अभाव से उत्पन्न प्रमुख विकार है। नाडीशोथ के कारण ही विविध प्रकार की वेदना, उद्वेष्टन, शून्यता, दाह आदि लक्षण होते हैं। रोहिणी, वातबलासक आदि में उत्पन्न नाडीशोथ इसके प्रयोग से शीघ्र शान्त हो जाता है।

नाडीशैथिल्य का परिणाम आंत्र पर पड़ने से पेट कुछ भरा हुआ आध्मानयुक्त होता है। मल पतला होने पर भी पेट हल्का नहीं होता, क्योंकि आन्त्रपेशियों में बल कम होने से ढीलापन आ जाता है। अरुचि, अग्निमांद्य, विबन्ध आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। कार्बोज का समवर्त्त इसके अभाव में पूर्ण रूप में नहीं हो पाता तथा पायरुविक अम्ल (Pyruvic acid) तथा लैक्टिक अम्ल (Lactic acid) का अधिक मात्रा में रक्त में संचय होता है। इसी कारण अम्लविषमयता के समान अवसाद-मूलक लक्षण उत्पन्न होते हैं। हृदय, वृक्क, मस्तिष्क आदि मर्मांग अहर्निश क्रिया करते रहते हैं, इसीलिये इनमें कार्बोज का अत्यधिक उपयोग होता है। बी१ के अभाव से इन अङ्गों में दूषित अम्ल सर्वाधिक संचित होते हैं, अतः इन्हीं अङ्गों में सर्वप्रथम अभाव के परिणाम स्पष्ट होते हैं। यदि आहार में कार्बोजों की मात्रा कम रहे तो बी१ की आवश्यकता भी कम हो जाती है। समवर्त्त के अनुपात में इसकी आवश्यकता होती है। अधिक परिश्रम एवं धातुक्षय तथा मधुमेह में अधिक मात्रा की दैनिक आवश्यकता होती है। अधिक समय तक बी१ का अभाव होने पर वातबलासक (Beri Beri), परिसरीय वातनाडीशोथ (Peripheral neuritis) तथा रक्तवह संस्थान सम्बन्धी विकार (Cardiovasculer Manifastations) उत्पन्न होते हैं, इनका यथाप्रकरण आगे वर्णन किया जायगा। शिशुओं में भी इसका अभाव हो सकता है।

मध्यम वित्त के नागरिकों में आहार-विहार की विशेष परिस्थितियों तथा शारीरिक श्रम के आधिक्य में बी१ के अभाव के लक्षण अधिक उत्पन्न होते हैं। शारीरिक एवं मानसिक श्रम के आधिक्य से स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में वातबलासक, परिसरीय वातनाडी-शोथ आदि अभावमूलक रोग अधिक होते हैं। इस दृष्टि से पुरुषों की दैनिक आवश्यक मात्रा कुछ अधिक होना आवश्यक है। इसके अधिक प्रयोग से अभी तक कोई विपरिणाम उत्पन्न होते नहीं देखे गये।

मात्रा—दैनिक आवश्यकता २ मि० ग्रा०, कार्बोजप्रधान आहार होने पर ४ मि० ग्रा०, शारीरिक मानसिक श्रम अधिक करने पर ५ मि० ग्रा०, चिकित्सार्थ १०–१०० मि० ग्रा० प्रतिदिन या तीसरे दिन।

मुख द्वारा या अधस्त्वचीय पेशी मार्ग से। आत्ययिक स्थिति में सिरा द्वारा प्रवेश भी कराया जा सकता है। अनवधानता की सावधानी रखनी चाहिये।

योग—थायमन हाइड्रोक्लोराइड या एन्यूरिन के नाम से २५, ५०, १०० मि० ग्रा० प्रति सी. सी. की मात्रा में तथा टिकिया के रूप में २, ५, १०, २५ मि० ग्रा० की मात्रा में अनेक निर्माताओं द्वारा निर्मित योग उपलब्ध हैं।

जीवतिक्ति बी२ या राइबोफ्लाविन (Vit. B_2, Riboflavin or Lactoflavin)—यह हल्के पीतवर्ण का, अल्प मात्रा में जलविलेय तथा उष्ण-स्थिर स्वरूप की जीवतिक्ति है, जो हरी वनस्पतियों, खमीर, मछली, यकृत्, वृक्क, दुग्ध, अण्डा तथा ताजे फलों में पर्याप्त रूप में मिलता है। इसका आन्त्र से आसानी से प्रचूषण हो जाता है तथा शरीर में संचय न होकर मूत्र द्वारा उत्सर्जन हो जाता है। अतियोग के विपरिणाम अभी तक नहीं ज्ञात हुये।

कार्बोज के प्रचूषण तथा कोषागत प्रजारण (Cellular oxidation) के लिए बी२ की मुख्य आवश्यकता शरीर को होती है। दृष्टिमण्डल (Retina) में रञ्जक कणों के सन्तुलन के लिए भी इसकी उपयोगिता होती है।

इस जीवतिक्ति की कमी के कारण ओष्ठ के कोण पर व्रणयुक्त विदार, मुखपाक, जिह्वाशोथ, कार्बोज का उचित मात्रा में प्रचूषण न होने के कारण शिथिलता, अवसाद, एव श्रम शक्ति का अभाव होता है। शारीरिक भार भी कम होने लगता है तथा बहुत-कुछ बी१ के अभाव के समान लक्षण उत्पन्न होते हैं। नेत्रों में विशेष परिणाम दिखाई पड़ते हैं। नेत्रकलाशोथ, स्वच्छमण्डलशोथ (Keratitis), नेत्रदाह, अश्रुस्राव तथा वर्त्म में अकारण कण्डु होती है। नेत्र-प्रान्तभाग में दाहयुक्त दाने निकलते हैं तथा नासा की त्वचा रूक्ष पपड़ीदार हो जाती है। नेत्र अपेक्षाकृत रूक्ष, प्रकाश-संत्रास, नेत्रकला में अत्यधिक ललाई तथा पोथकी के समान दाने निकलते हैं।

मात्रा—दैनिक आवश्यकता :—वर्धमानावस्था २ मि० ग्रा० प्रतिदिन
पूर्ण मात्रा १.५ मि० ग्रा० „
गर्भिणी २.५ „ „
स्तन्यपानकाल ३ „ „

चिकित्सार्थ मात्रा—५० मि० ग्रा० प्रतिदिन, मुख या पेशी मार्ग से। विशेष आवश्यक होने पर सिरामार्ग से भी दे सकते हैं।

योग—राइबोफ्लाविन या लैक्टोफ्लाविन के नाम से अनेक योग मिलते हैं।

निकोटिनिक एसिड या एमाइड (Nicotinic Acid or Nicotinamide)-यह जीवतिक्ति श्वेत वर्ण की, उष्णजल एवं मद्यसार में विलेय तथा उष्ण-स्थिर स्वरूप की होती है। खमीर, शाक, हरी वनस्पति, अंकुरित अन्न, गेहूँ, यकृत्, वृक्क, मांस, अण्डा, मछली, दूध आदि में मिलता है। इसका प्रचूषण आन्त्र से पूर्णतया हो जाता है, तथा आवश्यकता से अधिक मात्रा का यकृत् में संचय होता है। स्वस्थावस्था में कार्बोज तथा प्रोभूजिनों के समवर्त्त के लिए इसकी दैनिक आवश्यकता पड़ती है। निकोटिनिक एसिड

के प्रयोग से सिराभिस्तीर्णता (Vasodilatation) होकर आकृति, ग्रीवा, वक्ष एवं पृष्ठ आदि अङ्गों में रक्तवर्णता, उष्णता, दाह तथा कण्डू होती है। कभी-कभी शिरःशूल, उदरशूल, हृत्कम्प, हृल्लास, वमन, शीतपित्त, नखों की श्यावता आदि लक्षण भी उत्पन्न होते हैं। यह लक्षण आधा घण्टा के भीतर स्वतः शान्त हो जाते हैं तथा केवल २५-३० प्रतिशत व्यक्तियों में ही उत्पन्न होते हैं। निकोटिनामाइड के प्रयोग से यह विपरिणाम नहीं होते।

अभावजन्य व्याधियाँ—इसकी कमी से त्वग्ग्राह (Pellagra) नामक विशेष रोग उत्पन्न होता है। अतिसार, मुखपाक, त्वक्शोथ, रक्ताल्पता, मूढचित्तता आदि लक्षण प्रधानतया इसमें होते हैं। त्वचा में रक्तस्रावी विस्फोट, विशेषकर खुले अङ्गों में, दोनों पार्श्वों में समान रूप से निकलते हैं। वैचित्य, दौर्बल्य, बेचैनी, चिड़चिड़ापन, मिथ्या ज्ञान, प्रलाप एवं उन्माद सदृश मानसिक दुर्बलता एवं असहिष्णुता के लक्षण उत्पन्न होते हैं। त्वग्ग्रह का विस्तृत वर्णन आगे किया गया है।

मात्रा—दैनिक आवश्यकता १० से २५ मि० ग्रा०। युवावस्था २०-४० मि० ग्रा० चिकित्सार्थ ५०-५०० मि० ग्रा० प्रतिदिन—मुख, पेशी या सिरा मार्ग से।

जीवतिक्ति बी$_6$ या पाइरिडाक्सिन (Pyridoxine)—यह श्वेचर्ण का द्रव्य, जल में घुलनशील, क्षार, उष्ण-स्थिर स्वरूप का, खमीर, दाल, चावल, यकृत् एवं दूध से मिलता है।

स्नायुदौर्बल्य, अनिद्रा, उत्तेजनशीलता, दुबलता, चलने में कष्ट, पेशियों की ऐंठन तथा आमाशयशूल में इसका उपयोग सफलता के साथ किया जाता है। अधिक मात्रा (२५० मि० ग्रा०) में प्रतिदिन देने पर त्वग्ग्राह एवं वातक रक्तक्षय में लाभकारक होता है। सिरामार्ग से देने पर अपस्मार (Idiopathic epilepsy) से पीड़ित कुछ रोगियों में सन्तोषजनक लाभ हुआ है। आक्षेपयुक्त अंगघात की सभी अवस्थाओं—पारकिंसन-व्याधि आदि—में कुछ समय तक प्रयोग करने से लाक्षणिक शान्ति होती है। दाह एवं प्रहर्षयुक्त श्वेत कुष्ठ (Leucoderma) से पीड़ित व्यक्तियों में बाकुची तैल का अभ्यंग तथा पैण्टोथेनिक एसिड का ५० मि० ग्रा० की मात्रा में एक-दो मास तक सेवन करने से प्रायः लाभ हो जाता है। बहुत सी व्याधियों में श्वेतकणापकर्ष (Leuco paenia) हो जाता है, जिससे शारीरिक रोगप्रतिकारक शक्ति हीनबल हो जाती है और रोग का पुनरावर्तन होता रहता है। श्वेतकायाणुओं की संख्यावृद्धि के लिये यह एक उत्तम योग है। कालज्वर, आन्त्रिक ज्वर तथा विषाणुजन्य उपसर्गों से पीड़ित रोगियों में प्रमुख औषध के साथ इसका उपयोग करने से अपेक्षाकृत अधिक लाभ होता है। स्वस्थावस्था में वसा तथा एमायनो एसिड के समवर्त के लिये यह आवश्यक होता है। इसका अभाव होने पर कोणिक मुखपाक (Angular stomatitis) एवं वातबलासक तथा त्वग्ग्रह के सदृश लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसका प्रचूषण मुख द्वारा पर्याप्त रूप में न

होने के कारण तीव्रस्वरूप की व्याधियों में सिरा द्वारा सूचीवेध से प्रयुक्त करना आवश्यक हैं। संक्षेप में इसका प्रयोग कोणिक मुखपाक, वातबलासक, त्वग्ग्राह, वेपथुमत् अंगघात (Paralysis agitans), अपस्मार, स्नायुदौर्बल्य एवं अनिद्रा आदि में लाक्षणिक शान्ति के लिये तथा श्वेतकणोत्कर्ष के द्वारा प्रतिकारक शक्ति बढ़ाने के लिये किया जाता है।

मात्रा—साधारण १०-२० मि० ग्रा० मुख द्वारा
विशेष ५०-२०० मि० ग्रा० पेशी या सिरा द्वारा

पैण्टोथेनिक एसिड (Pantothenic acid)

यह पीतवर्ण का तैलाभ द्रव्य है, जो चूने (Calcium) के साथ श्वेत घुलनशील लवण बनाता है। खमीर, यकृत्, चावल, मांस, अण्डा, गेहूं से इसकी उपलब्धि होती है। चिकित्सार्थ प्रयुक्त योग प्रायः कृत्रिम रूप में निर्मित होता है।

बहुत से स्वस्थ व्यक्तियों को, विशेषकर रात्रि में, हस्त-पाददाह होता है। शीतकाल में भी उन्हें पैर बिना ढके ही सोना पड़ता है। स्त्रियों में इस प्रकार का कष्ट सर्वाधिक होता है। इस अवस्था में पैण्टोथेनिक एसिड का प्रयोग करने से शीघ्र लाभ होता है। प्रारम्भ में २-४ दिन तक पेशीगत सूचीवेध द्वारा प्रयोग करने के बाद मुख द्वारा १५-२० दिन तक सेवन कराने से प्रायः स्थायी लाभ हो जाता है। जीर्ण कास, जीर्ण श्वसनिकाशोथ, स्थूलान्त्रशोथ, त्वचा एवं यकृत् के विकारों में भी इसके प्रयोग से पर्याप्त लाभ होता है। जीर्ण व्याधियों में सूचीवेध का ही मार्ग लाभकारक होता है। श्वेत कुष्ठ में कुछ समय तक इसका प्रयोग जीवतिक्ति सी. के साथ करने से लाभ होता है। इसकी राइबोफ्लाविन से आंशिक समता हो सकती है, इसके प्रयोग से रक्त में राइबोफ्लाविन की मात्रा भी बढ़ जाती है। संक्षेप में हस्त-पाददाह, जीर्ण कास एवं श्वेत कुष्ठ में इसकी विशेष उपयोगिता होती है।

मात्रा—दैनिक २-४ मि० ग्रा० प्रतिदिन। चिकित्सार्थ—१०० मि० ग्रा० प्रतिदिन।

जीवतिक्ति बी$_{१२}$

यह रक्तवर्ण का पदार्थ यकृत् सत्त्व की कार्यशक्ति के रूप में उसी में उपस्थित रहता है। स्ट्रेप्टोमायसिस छत्राणुओं के संवर्द्धन से भी इसकी उत्पत्ति होती है। आजकल अनेक प्रतिजीवी औषधियाँ स्ट्रेप्टोमायसिस से निर्मित होती हैं, उन्हीं के साथ में बिना परिश्रम इसका निर्माण हो जाता है, इसी कारण यह पर्याप्त सस्ता हो गया है। यकृतसत्त्व से बनने वाला योग इतना सस्ता नहीं पड़ सकता। इसको रक्ताल्पता-निरोधी तत्त्व (Anti aneamic factor) माना जाता है, आवश्यकता से अधिक मात्रा में प्रयुक्त होने पर कोई हानि नहीं करता।

इसके अभाव से स्थूलकायाण्विक रक्ताल्पता (Macrocytic aneamia) की उत्पत्ति होती है। इस विशिष्ट गुण के कारण बी$_{१२}$ का प्रयोग घातक, हीनपोषणज

एवं गर्भजन्य रक्तक्षय में बहुत उपयोगी होता है। संग्रहणी में फोलिकाम्ल के साथ प्रयुक्त होने पर सर्वाधिक लाभ करता है। त्वग्ग्राह एवं घातक रक्तक्षय की अनुतीव्र सौषुम्नापजनन (Sub-acute combined degeneration of spinal cord) अवस्था में इसका विशेष प्रभाव होता है।

मात्रा—दैनिक १ माइक्रोग्राम प्रतिदिन मुख द्वारा।
गर्भिणी ५ माइक्रोग्राम प्रतिदिन ५वें मास के बाद।
चिकित्सार्थ साधारण मात्रा १५ माइक्रोग्राम प्रतिदिन पेशी द्वारा।
तीव्रावस्था की मात्रा २० से ५० माइक्रोग्राम प्रतिदिन पेशी द्वारा।
घातक रक्तक्षय की अति तीव्रावस्था तथा संग्रहणी में ५०-५०० मा० ग्रा० पेशी द्वारा

फोलिक एसिड (Folic Acid या पालकाम्ल)

यह नारंगी के समान पीतवर्ण का पदार्थ खमीर, यकृत्, पालक, शेफाली एवं अन्य हरी वनस्पतियों में मिलता है। इसका रक्तकणों के परिपक्व निर्माण तथा आकार-प्रकार स्वाभाविक रखने में महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। स्वस्थावस्था में अस्थि-मज्जा की कोषाओं की कार्यशीलता, रक्तकण एवं श्वेतकणों के नियमित निर्माण के लिए यह पदार्थ आवश्यक होता है।

इसके अभाव से स्थूलकायाण्विक रक्ताल्पता तथा घातक रक्तक्षय उत्पन्न होता है। रक्त-श्वेत कायाणुओं का मज्जाकोषों से निर्माण इसकी उपस्थिति पर निर्भर करता है, इसीलिए स्थूलकायाण्विक रक्ताल्पता में अस्थि-मज्जा में विकृति होने पर बृहद् न्यष्ठीलीय लालकणों (Megaloblasts) का अधिक निर्माण होने पर यह विशेष लाभ करता है। किन्तु अनुतीव्र संयुक्त सौषुम्नापजनन के कारण अंगघात के लक्षण उत्पन्न होने पर इससे विशेष लाभ नहीं होता, वहाँ बी$_{१२}$ अधिक लाभ करता है। संग्रहणी एवं पोषणज रक्ताल्पता में यकृत्सत्त्व के साथ इसका प्रयोग विशेष गुणकारी होता है।

संक्षेप में इसका प्रयोग संग्रहणी, घातक रक्तक्षय, गर्भजन्य रक्तक्षय, त्वग्ग्राह, हीन पोषण आदि के द्वारा उत्पन्न स्थूलकायाण्विक रक्ताल्पता में उत्तम माना जाता है, लौह की कमी से उत्पन्न उपवर्णिक सूक्ष्मकायाण्विक रक्ताल्पता (Hypochromic microcytic aneamia) में इससे कोई लाभ नहीं होता। श्वेतकणापकर्ष में पाइरिडॉक्सिन के साथ इसका प्रयोग करने से पर्याप्त लाभ होता है।

मात्रा—स्वस्थावस्था १० मि० ग्रा० प्रतिदिन मुखद्वारा।
चिकित्सार्थ २०-५० मि० ग्रा० ,, मुख, पेशी या सिरा द्वारा
रोग की तीव्रावस्था में १००-२०० ,, पेशी या सिरा द्वारा
धारक मात्रा १० मि० ग्रा० प्रतिदिन मुख द्वारा

कोलीन (Choline)

यह भी खमीर एवं यकृत् से मिलता है। इसका विशेष उपयोग वसा के परिपाचन एवं शरीर वृद्धि के लिए बालकों में किया जाता है। यकृत् में वसाभरण या वसारूप अपजनन होने पर विशेष लाभकारक सिद्ध हुआ है। शैशवीय यकृद्दाल्युदर एवं अन्य यकृत् वृद्धियुक्त विकारों में इसका प्रयोग किया जाता है। अभी इसके विस्तृत गुण-धर्म ज्ञात नहीं हैं, विस्तृत निर्देश कुछ काल तक प्रयोग करने के बाद स्पष्ट होंगे। कोलीन का उपयोग समान गुण-धर्म वाली मिथिओनिन (Methionine), मियोनिन (Mionin) आइनोसिटाल (Inositol) आदि के साथ अधिक किया जाता है, स्वतन्त्र रूप में कम।

इनके अतिरिक्त बी वर्ग के बहुत से घटकों के स्वतन्त्र गुण धर्म एवं उपयोगिता का अनुसन्धान हो रहा है। व्यावहारिक उपयोगिता की दृष्टि से विशिष्ट लक्षणों के अनुरूप प्रमुख औषध का प्रयोग करने के साथ बी कम्प्लेक्स एवं सी आदि दूसरी जीवतिक्तियों का सह-प्रयोग बहुत आवश्यक है, क्योंकि सभी में कुछ न कुछ परस्परोपकारकता होती है तथा अभावजन्य व्याधि केवल घटक के अभाव से नहीं उत्पन्न होती। प्रायः सभी की प्राप्ति एक समान स्रोतों से होती है, अतः विशेष परिस्थितिवश प्रधान अभाव-लक्षण विशिष्ट वर्ग के हो सकते हैं, किन्तु मूल में अल्पाधिक मात्रा में सभी का अभाव होता है।

जीवतिक्ति 'सी' (Ascorbic acid)

यह जलविलेय जीवतिक्ति है, जो मुख्यतया वनस्पतियों में अधिक पायी जाती है। मांस, दूध एवं अन्य प्राणिज द्रव्यों में इसकी मात्रा बहुत कम होती है, आँवला, नीबू, संतरा और टमाटर में सर्वाधिक होती है। आँवले का जीवतिक्ति 'सी' बहुत कुछ उष्ण स्थिर स्वरूप का होता है। सुखाने और उबालने के बाद भी पूर्णतया आँवले के 'सी' का विनाश नहीं होता। वनस्पतियों एवं फलों में विद्यमान 'सी' का अंश अधिक समय तक रखने, सुखाने या सड़ने से बहुत कुछ नष्ट हो जाता है। मटर-सेम-गोभी-प्याज-लहसुन-गाजर-सलंगम-पालक-खीरा-मिर्चा इत्यादि तथा सिंघाड़ा-आम-अंगूर-सेव-पपीता-केला इत्यादि ताजे फलों में साधारण मात्रा में 'सी' मिलता है। अंकुरित धान्यों में 'सी' और सम्पूर्ण बी की उत्पत्ति होती है।

मुख द्वारा सेवन करने पर आन्त्र से पूर्णतया प्रचूषण हो जाता है। प्रचूषित होने के उपरान्त कुछ-अंश रक्त में मिलकर सारे शरीर में प्रवाहित होता रहता है तथा कुछ अंश अधिवृक्क ग्रंथि, आन्त्र-प्राचीर तथा दूसरे मर्माङ्गों में संगृहीत होता है।

जीवतिक्ति 'सी' के कार्य बहुत व्यापक माने जाते हैं। अस्थि, तरुणास्थि, दन्त एवं रक्तवाहिनियों के अन्तःस्तर तथा शरीर की सभी संयोजक धातु की कोषाओं का कार्य

'सी' की सहायता से उत्पन्न श्लेषजन (Collagen) नामक वज्रण द्रव्य (Cementing material) मुख्यतया उत्तरदायी होता है। इसी दृष्टि से 'सी' का उपयोग क्षय एवं क्षत-विक्षत युक्त सभी शोथ युक्त अवस्थाओं में, आन्त्रिकज्वर, अस्थि-भङ्ग, अस्थि-क्षय, हृदय-वृक्क एवं यकृत् के रोगों में किया जाता है। इसकी कमी से रक्त-केशिकाओं का अन्तःस्तर कमजोर होकर रक्तस्राव होता है तथा व्रणों का शीघ्र रोपण नहीं होता और रक्तकणों का पूर्ण विकास ठीक न होने के कारण रक्तक्षय होता है। इन गुणों के कारण रक्तस्राव, केशिकाओं एवं धमनियों की व्याधियाँ, जीर्ण व्रण इत्यादि लक्षणप्रधान रोगों में 'सी' का व्यवहार अधिक किया जाता है। कोषागत समवर्त (Cellular metabolism) तथा प्रजारण (Tissue oxidation) को सन्तुलित रखना और इस प्रकार प्रत्येक कोषा के स्वास्थ्य को स्थिर रखते हुये दूषित सेन्द्रिय द्रव्यों का शोधन कराना सी के प्रयोग से होता है। क्षुधावृद्धि, धातुवृद्धि एवं बलवृद्धि के लिये 'सी' का प्रयोग सभी जीर्ण व्याधियों में किया जाता है। कुछ अंशों में औपसर्गिक एवं रासायनिक विष को निष्क्रिय कर शरीर की सुरक्षा करना 'सी' का कार्य माना जाता है। इस प्रकार संक्षेप में जीवतिक्ति 'सी' का मुख्य कार्य अन्तःस्तर की सुरक्षा के लिये श्लेषजन की उत्पत्ति में सहायता, कोषागत समवर्त एवं धातु प्रजारण में सहायता, रक्तस्रावावरोध, व्रणरोपण, रक्तकण निर्माण, बृंहण, पोषण एवं निर्विषीकरण माना जाता है। जीवतिक्ति ए बाह्यस्तर की सुरक्षा के लिये और 'सी' अन्तःस्तर की सुरक्षा के लिये उत्तरदायी मानी जाती है।

इसके अभाव के कारण प्रशीताद (Scurvy) रोग मुख्यतया होता है, जिसमें दन्तवेष्ट शोथ तथा रक्तस्रावी प्रवृत्ति प्रधान लक्षण होता है।

मात्रा—दैनिक २० से १०० मि० ग्राम प्रतिदिन।

गर्भिणी—१०० मिली ग्राम प्रतिदिन।

स्तन्यपान-काल—१५० मि० ग्राम प्रतिदिन।

चिकित्सार्थ मात्रा साधारण—३०० मि० ग्राम प्रतिदिन मुख द्वारा।

प्रशीताद एवं अन्य गम्भीर व्याधियों में—५०० से १००० मि० ग्राम सिरा या पेशी मार्ग से।

जीवतिक्ति पी या रूटिन (Vitamin p, Rutin Citrin or Hesperidin) यह जलविलेय जीवतिक्ति प्रायः 'सी' के साथ नीबू एवं आमला में उपलब्ध होती है। इसका मुख्य कार्य केशिका प्राचीर-प्रवेश्यता को स्थिर रखना माना जाता है। इसके अभाव से केशिकाओं का अन्तःस्तर अति प्रवेश्य हो जाता है, जिससे रक्तस्राव की प्रवृत्ति बढ़ती है। प्रशीताद में रक्तस्रावी प्रवृत्ति होने के कारण 'सी' के साथ इसका प्रयोग करने से अधिक लाभ होता है। उच्च रक्तनिपीड में रक्तस्राव की संभावना अधिक होती है, अतः अन्य शामक औषधों के साथ 'पी' का प्रयोग रक्तस्राव प्रतिबंधन

के लिए किया जाता है। अभी तक इसके निरपेक्ष विशिष्ट गुणों का विनिश्चय नहीं हो सका है, कुछ लोग इसकी चिकित्सोपयोगी विशेषता नहीं स्वीकार करते।

इनके अतिरिक्त कुछ और जीवतिक्तियों का आविष्कार हुआ है, किन्तु मनुष्यों में उनका विशिष्ट प्रभाव ज्ञात न हो सकने के कारण यहाँ निर्देश नहीं किया जाता। संभव है, भविष्य में यह संख्या और बढ़ जाय।

व्यावहारिक निर्देश

१. अभावजन्य विशिष्ट व्याधियों के अतिरिक्त सामान्य अविशिष्ट स्वरूप के अस्वास्थ्य कर लक्षण जीवतिक्तियों की हीनता से उत्पन्न होते हैं, अतः विशिष्ट लक्षणों के अभाव में भी इन अस्वास्थ्यकर लक्षणों के आधार पर सम्पूर्ण जीवतिक्तियों का प्रयोग करना चाहिए।

२. कृत्रिम रूप में निर्मित योगों की अपेक्षा नैसर्गिक स्रोत वाले योग अधिक लाभ करते हैं।

३. विशिष्ट अभाव युक्त व्याधियों में भी प्रमुख संकेन्द्रित योग के साथ शेष जीवतिक्तियों का नैसर्गिक रूप में प्रयोग करने पर अधिक लाभ होता है।

४. प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यक धारक मात्रा का निर्धारण आहार-विहार, शारीरिक-मानसिक श्रम एवं ऋतु-देश-काल-व्याधि आदि के अनुरूप होना चाहिए।

५. इनका अत्यधिक मात्रा में प्रयोग कोई लाभ नहीं करता, हानि कर सकता है। बिना आवश्यकता के केवल बल्य रूप में उपयोग करना निरर्थक है।

शुल्वौषधियाँ

चिकित्सा क्षेत्र में शुल्वौषधियों का आविष्कार बहुत बड़ी देन माना जाता है। यद्यपि प्रथम शुल्वौषधि का आविष्कार सन् १९०७ में हो गया था, किन्तु चिकित्सा में उसका प्रयोग १९३५ के पहले नहीं हो सका। उत्तरोत्तर अन्वेषणों से उनकी उपयोगिता स्पष्ट होती गई और जो कुछ दोष थे, उनका निराकरण किया गया। यद्यपि शुल्वौषधियों के बहुत से रूप चिकित्सा में प्रयुक्त होते हैं, किन्तु इनकी बहुरूपता होने पर भी कार्य-पद्धति में विशेष भिन्नता नहीं है। कुछ योग अल्प घुलनशील हैं। कुछ पूर्ण रूप से प्रचूषित नहीं होते, कुछ का सारे शरीर में सम प्रसार नहीं होता तथा कुछ पूर्ण या अल्पांश में शीघ्र या विलम्ब से उत्सर्गित होते हैं—इन्हीं कारणों से उनके गुणधर्मों में व्यावहारिक अन्तर हो जाता है। कुछ जीवाणु कुछ शुल्वौषधियों के लिए ग्रहणशील होते हैं, दूसरों के लिए नहीं। अर्थात् सभी विकारी जीवाणु प्रत्येक योग के लिए समान रूप से ग्रहणशील नहीं होते। इस कारण गुण-धर्म में मौलिक अन्तर न होते हुए भी चिकित्सा क्षेत्र में सभी का पृथक् महत्त्व होता है।

औषध निर्माताओं ने एक ही मूल द्रव्य के पृथक्-पृथक् व्यावसायिक नामकरण किए हैं, जिनसे उनके वास्तविक रूप को समझने में कभी-कभी जटिलता होती है। आगे कोष्ठक में मूल द्रव्य, प्रचारित नाम, व्यापारिक संस्था, विशिष्ट गुण-दोष-मात्रा आदि का संग्रह किया गया है तथा उनमें से कुछ प्रमुख शुल्वौषधियों का प्रयोग निर्देश आगे व्याधिनिर्देश के साथ किया जायगा।

शुल्वौषधियाँ जीवाणुनाशक या विषनाशक अथवा व्याधिशामक नहीं हैं। इनके प्रयोग से जीवाणुओं की वृद्धि रुक जाती है। जीवाणुओं का पोषण मानवशरीर की कोषाओं—जीवरसों—से ही होता है, इसीलिए वे पराश्रयी कहे जाते हैं। जीवाणु के शरीर में रहनेवाले अन्तःकिण्व (Enzymes) आस-पास की धातुओं, जीवरसों या आहार द्रव्यों पर कार्य करके उनको जीवाणुओं के लिए सात्म्य बनाते हैं। जिस प्रकार मनुष्य का आहार विविध पाचक रसों तथा किण्वों एवं अन्य विशिष्ट द्रव्यों के प्रभाव से भली प्रकार संस्कारित होने पर ही—रस बन जाने पर ही—प्रचूषित होता है और प्रचूषित होने के बाद रक्त में मिलकर सारे शरीर में प्रसृत होकर धात्वग्नि के प्रभाव से प्रत्येक धातु एवं कोषा का पोषण करता है। यदि आहार का संस्कार होकर रसरूपता न हो या धात्वग्नि की दुर्बलता के कारण कोषाए उसे ग्रहण न करें तो पर्याप्त मात्रा में भोजन करते रहने पर भी व्यक्ति कुछ समय बाद—शरीर में संचित पोषण का क्षय हो जाने पर—जीवित नहीं रह सकेगा। यदि जीवाणुओं को भी किसी कारण आवश्यक सारभूत समवर्तित (Essential metabolites) आहार न मिले तो उनकी वृद्धि नहीं हो सकती। जीवाणु के अन्तःकिण्वों के प्रभाव से उनके लिए अनिवार्यतः आवश्यक पी० एमिनो बेंजोइक एसिड धातुकोषाओं का समवर्तन होकर उत्पन्न होता है। शुल्वौषधियों की पर्याप्त मात्रा सारे शरीर तथा विशेषकर उपसर्गाक्रान्त स्थल में होने पर जीवाणुओं के अन्तःकिण्वों को रासायनिक रचना साम्य या विशेष आकर्षक शक्ति के कारण अपनी ओर खींच लेती है, जिससे जीवाणुओं के जीवन-वर्धन के लिए आवश्यक आहार पी० एमिनो बेंजोइक अम्ल का निर्माण नहीं हो पाता और इस प्रकार अनशन के कारण धीरे-धीरे वे क्षीण होकर निर्जीव हो जाते हैं। इस प्रकार शुल्वौषधियों का मुख्य प्रभाव तृणाणुस्तंभक (Bacterostatic) होता है, तृणाणुनाशक नहीं होता। अर्थात् शुल्वौषधियों से न तृणाणुओं का नाश होता है और न तज्जन्य विषमयता के परिणाम दूर हो सकते हैं। जीवाणुओं का विनाश तथा उनके विष का शोधन-संशमन शरीर की रक्षक शक्ति के द्वारा होता है। अतः रोगमुक्ति एवं पुनरावर्तननिरोध की दृष्टि से शरीर की रक्षक शक्ति क्षमता आदि का ही महत्त्व होता है। इन औषधियों से केवल संक्रामक तृणाणु की वृद्धि के लिए आवश्यक परिस्थिति का विनाश कर दिया जाता है। बहुत से तृणाणु तथा उनके अन्तःकिण्व इन औषधियों के लिए ग्रहणशील नहीं होते, अतः उनमें

इनका कोई प्रभाव नहीं होता। इनके द्वारा पूर्ण लाभ प्राप्त करने के लिए प्रयोग के पहले रोगोत्पादक तृणाणु सहनशील है या नहीं, यह जान लेना आवश्यक है।

यह तृणाणुस्तम्भक शक्ति रक्त एवं विकृत स्थल में इनकी पर्याप्त मात्रा के पर्याप्त समय तक उपस्थित होने पर ही कार्यक्षम होती है। यदि औषध का अल्प मात्रा में अपर्याप्त समय तक ही प्रयोग होगा तो कुछ समय तक स्तम्भित रहकर अनुकूल परिस्थिति आने पर तृणाणु पुनः वृद्धि करने लग जावेंगे। इस प्रकार अपर्याप्त मात्रा एवं समय तक अनेक बार इन औषधियों के साथ सम्पर्क में आने के कारण तृणाणुओं में प्रतिरोधक क्षमता उत्पन्न हो जाती है, जिससे आगे अधिक मात्रा पर्याप्त समय तक देते रहने पर भी उन पर कोई प्रभाव नहीं होता। यदि इस प्रकार प्रतिरोधक शक्ति या सहनशीलता वाले तृणाणु किसी दूसरे स्वस्थ व्यक्ति में संक्रमित हो जाय, और उसमें भी रोगोत्पादन करें तो शुल्वौषधियों के प्रयोग से उस व्यक्ति में भी विशेष लाभ नहीं होगा। अतः इनका पर्याप्त मात्रा में प्रयोग न करना सामाजिक दृष्टि से भी अपराध माना जाता है।

शरीर की कुछ धातुओं में शुल्वौषधियों के कार्य का प्रतिरोध करने की शक्ति होती है, अतः उनमें विकृति होने पर इनका प्रयोग लाभकारक नहीं होता। नष्ट-मृत धातुओं में तथा पूययुक्त कोषाओं में इस प्रकार शुल्वौषधिप्रतिरोधी द्रव्य अधिक होते हैं, अतः पिच्चित व्रणों, क्षार-अग्नि से दग्ध व्रणों एवं पूययुक्त व्याधियों में इनकी कार्यक्षमता न्यून हो जाती है।

इस वर्ग की अधिकांश औषधियाँ मुख द्वारा सेवन करने पर लघ्वन्त्र से बहुत शीघ्र प्रचूषित होकर सारे शरीर में व्याप्त हो जाती हैं। कुछ समय बाद मुख्यतया वृक्कों से उनका उत्सर्ग हो जाता है। इनका प्रचूषण क्षार द्रव्यों की उपस्थिति में अधिक होता है तथा मूत्र द्वारा उत्सर्ग भी निर्बाधरूप में होता है। कुछ विशिष्ट योग, जिनका आन्त्र में प्रचूषण नहीं होता, स्थूलांत्र में पहुँचकर मल के साथ उत्सर्गित होते हैं। अतः स्थानीय या सार्वदैही प्रभाव का ध्यान रखते हुए इनका प्रयोग करना चाहिये।

व्यावहारिक निर्देश—

१. शुल्वौषधियों का पूर्ण रोगनाशक गुण पर्याप्त मात्रा में पर्याप्त समय तक रक्त में रहने पर ही होता है। औषधि का मूत्र के साथ शीघ्र ही उत्सर्ग होता रहता है। अतः आवश्यक मात्रा पुनः पुनः देनी पड़ती है। प्रारम्भिक मात्रा अधिक होने पर रक्त में उसकी प्रतिशत मात्रा आवश्यक सीमा तक शीघ्र हो सकती है, बाद में साधारण मात्रा से रक्त-संकेन्द्रण को नियमित रक्खा जा सकता है। व्याधि की तीव्रावस्था में चिकित्सा प्रारम्भ करते समय यदि सिरा द्वारा शुल्वौषधि का प्रयोग किया जाय तो रक्त का संकेन्द्रण आसानी से हो सकता है। सामान्यतया ७-१५ मिलीग्राम प्रति १०० सी० सी० रक्त में इनका अनुपात होना चाहिये। यदि वमन, अतिसार आदि के द्वारा औषध

का कुछ भाग व्यर्थ हो जाने का सन्देह हो, तो सिरा के द्वारा ही प्रयोग किया जा सकता है, अथवा कुछ अधिक मात्रा का प्रयोग किया जा सकता है ।

२. शुल्वौषधियों की मात्रा टिकिया की संख्या पर नहीं, उसकी भारमूलक मात्रा पर निर्भर करती है। दुर्बल-स्थूल-परिपुष्ट शरीर के अनुपात से मात्रा घट या बढ़ सकती है । कुछ व्याधियों में प्रारम्भ से ही मात्रा अधिक देनी पड़ती है ।

३. क्षार-दग्ध, पिच्चित आदि व्रणों में नष्ट कोषाओं के आधिक्य तथा पूयोपस्थिति में इनका प्रभाव हीन हो जाता है। अतः स्थानीय सशोधन, उपनाह, रक्तमोक्षण या पूयनिर्हरण क्रियाओं का पूर्ववत् उपयोग होना चाहिये ।

४. अधिक मात्रा में अधिक अन्तर से या केवल एक ही मात्रा में दैनिक मात्रा का प्रयोग करने से रक्तसंकेन्द्रण स्थिर नहीं रहता, जिससे तृणाणुओं के सहनशील होने की सम्भावना होती है । अतः दैनिक मात्रा कम से कम ४ बार में देनी चाहिये ।

५. एक औषध का अधिक मात्रा में प्रयोग करने की अपेक्षा चिकित्स्य व्याधि में उपयोगी समान गुणधर्मविशिष्ट अनेक शुल्वौषधियों का सह व्यवहार अधिक उपयोगी होता है । इससे अधिक मात्रा से उत्पन्न होने वाले विषाक्त परिणाम कम होते हैं तथा तृणाणुओं की सहनशीलता भी कम होती है। इसी प्रकार शुल्वौषधियों का पेंसिलिन आदि प्रतिजीवी वर्ग की औषधों के साथ प्रयोग करने पर भी पृथक् पृथक् प्रयोग की अपेक्षा अधिक लाभ होता है ।

६. इन औषधियों का प्रचूषण क्षारीय द्रव्यों की उपस्थिति में अधिक होता है, अतः इनके प्रयोग के समय साथ में या बाद में क्षारीय मिश्रण देना चाहिये ।

७. इनका उत्सर्ग मुख्यतया मूत्र के द्वारा होता है। यदि मूत्र की राशि कम हो तो अधिक सन्तृप्त घोल (Saturated) होने के कारण वृक्क के किसी अंश में इनका अवक्षेप हो सकता है, जिससे मूत्रावरोध या मूत्राघात की सम्भावना होती है । अतः इनका प्रयोग करते समय मूत्र की राशि को बढ़ाने के लिए पर्याप्त मात्रा में जल का प्रयोग करना चाहिये। यदि वमन, अतिसार आदि के कारण रक्त की द्रवता कम हो तो इनका प्रयोग न करना या सिरा, त्वचा एवं गुदा द्वारा पर्याप्त जलराशि रक्त में पहुँचाकर प्रयोग करना चाहिये। क्षारप्रयोग से मूत्र के साथ घुलने की शक्ति इनमें बढ़ जाती है, जिससे मूत्रावरोध आदि की सम्भावना कम हो जाती है । अतः शुल्वौषधि की मात्रा देने के आधा घण्टा पूर्व क्षारीय मिश्रण पिलाना चाहिये। नींबू की शिकंजी, यवपेया, फलों का रस तथा दूध के प्रयोग से भी लाभ होता है ।

८. यदि पूर्व व्याधियों के प्रभाव से वृक्क पूर्ण कार्यक्षम न हों तो शुल्वौषधियों का प्रयोग न करना चाहिए, अन्यथा शरीर में अत्यधिक संचय होकर तथा वृक्कों की विकृति बढ़ कर विषाक्त परिणाम उत्पन्न हो जायेंगे ।

९. शुल्वौषधियाँ तृणाणु के अतिरिक्त मानवशरीर को भी हानि पहुँचाती हैं।

किन्तु साधारण मात्रा में यह हानि उपेक्षणीय होती है। जीर्ण रोगों में बहुत अधिक समय तक इनका प्रयोग न करना ही अच्छा है।

१०. यदि १०-१२ दिन तक पूर्ण मात्रा में नियमित रूप से प्रयुक्त होने पर भी रोगोन्मूलन में संतोषजनक प्रभाव न हो तो इनका प्रयोग बन्द कर देना चाहिए।

११. अनेक शुल्वौषधियों के प्रयोग के ५-७ दिन बाद ज्वर उत्पन्न होता है। कभी-कभी जिन रोगियों में इनका पूर्व प्रयोग हो चुका हो, उसमें दुबारा प्रयोग करने पर १-२ दिन में ही ज्वर उत्पन्न होता है। ज्वर के साथ वमन, प्रलाप, बेचैनी आदि लक्षण भी होते हैं। यदि इनके प्रारम्भ करने के बाद रोग की अकारण लाक्षणिक वृद्धि हो गई हो तो शुल्वौषधियों का प्रयोग बन्द करके दूसरी व्यवस्था करनी चाहिए।

१२. कुछ रोगियों में इनके लिए परम सूक्ष्म वेदनता होती है। प्रायः प्रारंभिक प्रयोग के ७-८ दिन बाद सूक्ष्म वेदनता के लक्षण उत्पन्न होते हैं। कभी-कभी पहले से शुल्वौषधियों का प्रयोग होने के कारण प्रारंभिक मात्रा देने से ही असहनशीलता के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं, अतः इनके प्रयोग के पूर्व रोगी का पुराना इतिवृत्त—इनके प्रयोग का समय-मात्रा-काल एवं परिणाम आदि—जानना चाहिए।

१३. शुल्वौषधियों के प्रयोग से शरीर में जीवतिक्ति ख (B. complex) की कमी हो जाती है, अतः उनके प्रयोग के बाद ख (B. complex) का प्रयोग कुछ समय तक कराना चाहिए।

१४. जीवतिक्ति बी तथा पाराएमिनो बेंजोइक एसिड (जो जीवतिक्ति बी वर्ग का ही घटक है) की उपस्थिति से शुल्वौषधियों की कार्यक्षमता घटती है, अतः दोनों का साथ में प्रयोग न करना चाहिए।

प्रयोग मार्ग तथा मात्रा—इनका प्रमुख उपयोग मुख द्वारा ही होता है। इनका आंत्र से शीघ्र प्रचूषण हो जाता है, अतः सिरा द्वारा प्रयुक्त औषध के समान ही यह कार्यक्षम होती है। व्यावहारिक रूप में प्रायः ½ ग्राम या ७½ ग्रेन की १ टिकिया बाजार में मिलती है। बच्चों के लिए पेय रूप में १ ग्राम या १५ ग्रेन प्रति चम्मच के अनुपात से अनेक शुल्वौषधियों के योग मिलते हैं। गोली या चूर्ण के रूप में छोटे बच्चों में सुविधापूर्वक इनका प्रयोग नहीं हो सकता। यदि गोंद (Gum acasia) एवं शर्बत के साथ मिलाकर इनका मिश्रण बनाया जाय तो पेय (Liquid or elixir) रूप में प्राप्य पेटेण्ट औषधियों के समान गुण होगा।

२ वर्ष से कम आयु वाले बच्चों के लिए ३ ग्राम या ६ टिकिया, २ से ५ वर्ष की आयु वालों के लिए ७ ग्राम या १४ टिकिया तथा १५ वर्ष से अधिक आयु वालों को ९ ग्राम या १८ टिकिया की मात्रा व्याधि की तीव्रावस्था में प्रारम्भिक दिनों में देने का निर्देश किया गया है। यह मात्रा आदर्श मानी जाती है, किन्तु भारतवर्ष में इससे कुछ कम मात्रा ही देने की प्रथा है। सहनशीलता के अनुरूप यह मात्रा ⅓ या ½ कम की

जा सकती है। छोटे बच्चों को २ ग्राम की मात्रा पर्याप्त होती है। वयस्कों को ६ ग्राम की मात्रा से आवश्यक प्रभाव हो जाता है। प्रारम्भिक मात्रा द्विगुण देनी चाहिये। यह दैनिक मात्रा प्रति चार घण्टे के अन्तर से देनी चाहिये। प्रातः ५ बजे, ९ बजे, १ बजे, ५ बजे, ९ बजे, १ बजे रात्रि में, इस प्रकार दिन-रात नियमित रूप में देना चाहिये। यदि ७-१० दिन तक इसका प्रयोग करना हो तो निम्न क्रम से देना चाहिये। प्रारम्भिक मात्रा २ ग्राम या ४ टिकिया, बाद में प्रति ४ घण्टे पर १ या १½ ग्राम आवश्यकतानुसार ४ मात्राएँ और देनी चाहिये। दूसरे तीसरे दिन १½ ग्राम की २४ घण्टे में ४ मात्राएँ प्रातः ६ बजे से रात्रि में १० तक (६, ११, ४, १० बजे) देना चाहिये, इससे रोगी को रात्रि में जागना नहीं पड़ता। ४ से ६ दिन तक १ ग्राम की मात्रा में दिन में ४ बार तथा बाद में १ ग्राम दिन में ३ बार २ या ३ दिन देना चाहिये। बच्चों की मात्रा वयस्कों से कम किन्तु अवस्था की दृष्टि से कुछ अधिक रहती है। प्रायः क्षारीय द्रव्यों के साथ मिलाकर देने की प्रथा है, किन्तु इससे रोगी को अधिक मात्रा में पेशाब होने के कारण असुविधा होती है। आवश्यकतानुसार पानी में मिलाकर पीने के लिए कहा जा सकता है। प्रत्येक मात्रा के साथ एक पाव से आधा सेर तक जल पिलाना चाहिये। टिकिया पानी के साथ निगलने में सुविधा रहती है, किन्तु सामान्य जनता में 'टिकिया बहुत गरम होती है' ऐसा प्रवाद प्रचलित है, जिससे पूर्ण मात्रा में वे नहीं लेते, एक दिन की औषध २ दिन तक चलाते हैं, अतः चूर्ण या मिश्रण के रूप में ही देना अधिक उपयोगी है। कुछ योगों में क्षारीय मिश्रण की आवश्यकता नहीं, किन्तु भारत जैसे उष्ण देश में जहाँ प्रस्वेद अधिक होता है, क्षार एवं जल का पर्याप्त प्रयोग कराना श्रेयस्कर है। यदि चूर्ण रूप में देना हो, तो निम्न क्रम उनका रहेगा। पहले समगुणीय अनेक शुल्वौषधियों का एक साथ प्रयोग की उपयोगिता का निर्देश किया गया है।

R/

Sulphadiazine	1 Tab.
Sulpho thiazole	1 tab.
Sulpho meraezine	½ tab.
Nicotinic acid	50 m.g.
Calcium lactate	gr. 10
Soda bicarb	gr. 15
	१ मात्रा

प्रति ४ घण्टे पर १ मात्रा एक पाव या आधा सेर गुनगुने जल के साथ। शुल्वौषधियों की मात्रा आवश्यकतानुसार कम या अधिक की जा सकती है।

यदि मिश्रण के रूप में देना हो तो इस प्रकार देना चाहिये।

R/

Sulpha diazine	1 tab.
Sulpha mezathine	1 tab.

Sulpha thiazole	1 tab.
Cal. lactate	gr. 10
Gum acasia	qs.
Soda bicarb	gr. 10.
Potas citrate	gr. 15
Syrup glucose	dr. 2
Aqua ad	dr. 2
	१ मात्रा

१ मात्रा प्रति ४ घण्टे पर शीशी हिलाकर पीना। बाद में १ गिलास जल पीना। साथ में (Cal. lactate) रहने से वमन, दाह आदि का प्रतिरोध होता है। बच्चों में इसकी आधी या चौथाई मात्रा देनी चाहिये।

यदि टिकिया के रूप में इनका प्रयोग किया जा रहा हो तो टिकिया लेने के आधा घण्टे पूर्व निम्न क्षारीय मिश्रण पिलाना चाहिये। इससे ज्वर का पाचन, मूत्र का शोधन तथा शुल्वौषधियों का उत्तम प्रचूषण होता है।

R/

Soda bicarb	gr. 10
Potas citrate	gr. 20
Soda acitate	gr. 10
Cal. lactate	gr. 10
Tr card co	m.s. 10
Syrup aurentia	dr. I
Aqua	oz I
	१ मात्रा

मूत्र को क्षारीय बनाने के लिए प्रायः १५० ग्रेन की मात्रा में क्षारद्रव्यों का दैनिक उपयोग आवश्यक होता है। यदि वमन की प्रवृत्ति हो तो इसी मिश्रण में क्लोरोडीन आदि का योग किया जा सकता है। आध्मान आदि की शान्ति के लिये वातानुलोमक योग (Carminative) भी दे सकते हैं।

प्रायः शुल्वौषधियों का सेवन भोजन के १ घण्टा बाद या पहले किया जाता है। यदि क्षारीय मिश्रण पहले न देना हो, तो कुछ आहार लेने के बाद ही प्रयोग करना चाहिये, खाली पेट में न देना चाहिये। जिनमें प्रवाहिका, वमन एवं तीव्र सन्ताप के कारण पहले से रक्त में जलीयांश की कमी हो, उनमें बहुत सावधानी के साथ क्षार जल प्रयोग कर शुल्वौषधि सेवन कराना चाहिये।

मूर्च्छा, वमन आदि उपद्रवों के कारण मुख द्वारा प्रयोग सम्भव न होने पर सूची-वेध के द्वारा प्रयोग कराना आवश्यक हो जाता है। आमाशय नलिका के द्वारा या नासा मार्ग से (रायल की नलिका द्वारा) शुल्वौषधि का मिश्रण उदर में प्रविष्ट किया जा

सकता है। किन्तु तीव्रावस्थाओं में विशेषकर वमन, अतिसार आदि की उपस्थिति में औषधि की कितनी मात्रा रक्त में नियमित रूप में पहुँचती रहेगी, इसका सही अनुमान नहीं हो सकता, अतः इन अवस्थाओं में सूचिकाभरण करना चाहिये। सूचीवेधार्थ प्रयुक्त होने वाले घुलनशील योग बने-बनाये मिलते हैं, उनका उपयोग करना चाहिये। मांसपेशी के द्वारा देना हो तो नितम्ब में ही देना चाहिये। इनके सूचीवेधस्थान पर प्रर्याप्त वेदना होती है, यदि त्वचा के नीचे औषध का कुछ अंश निकल जाय तो छाले पड़ने या क्षारदग्धवत् विद्रधि बनने की सम्भावना होती है। अतः यन्त्रों की पूर्ण शुद्धता तथा सूचीवेधस्थान का स्वेदन आदि नियमतः कराना चाहिये। अनेक बार सूचीवेध आवश्यक होने पर पेशी का मार्ग उपयुक्त नहीं होता, सिरा द्वारा प्रयोग कराना चाहिये। सोडियम क घुलनशील यौगिक २ से ३ ग्राम की मात्रा में सिरा द्वारा दिए जाते हैं। इनको समलवण जल या परिस्रुत विशुद्ध जल के साथ सम भाग में मिलाकर प्रयुक्त करना चाहिये। ग्लूकोज आदि का योग न करना चाहिये। औषध प्रवेश कराने के पूर्व सूचीवेध सिरा में ही हुआ है, इसका निर्णय पिचकारी में थोड़ा रक्त खींचकर अवश्य कर लेना चाहिये, अन्यथा अधस्त्वचीय स्थल में औषध का प्रवेश हो जाने पर कोथ की सम्भावना होती है। सिरा द्वारा औषध प्रवेश बहुत धीरे-धीरे प्रति मिनट १ सी सी या अधिक से अधिक २ सी सी की मात्रा में कराना उचित होता है। पुनः ६ घण्टे बाद नियमित रूप से २ ग्राम की मात्रा में, जब तक मुख द्वारा प्रयोग सम्भव न हो जाय, करते रहना चाहिये। सिरा द्वारा औषध प्रयोग एक आत्ययिक मार्ग है, अतः प्रारम्भिक मात्रा के अतिरिक्त यथाशक्ति अनेक बार प्रयोग न करना चाहिये। किन्तु व्याधि की तीव्रता में पूर्ण विधि का पालन करते हुए देना ही चाहिये। साथ में क्षारीय मिश्रण तो देना ही पड़ता है।

बृहदन्त्र में विकार का मुख्य अधिष्ठान होने पर अनुवासन वस्ति के रूप में स्थानीय प्रभाव करने वाली (सल्फा गुआनिडीन, थैलाजोल आदि) शुल्वौषधियों का प्रयोग किया जा सकता है। व्रणों के शोधन के लिए शल्य कर्म के बाद पूय प्रतिषेध के लिये शुल्वौषधि का चूर्ण प्रपूरण के रूप में प्रयुक्त होता है। कर्णस्राव, नासास्राव, नेत्राभिष्यन्द में भी अल्प मात्रा में इसे डालते हैं। मलहम के रूप में भी बाह्यप्रयोग किया जाता है।

सामान्य मात्रा शारीरिक भार के अनुपात में निश्चित की जाती है, किन्तु शिशुओं में शरीर भार के अनुपात से अधिक मात्रा देनी चाहिए। स्तन्यपायी शिशु का भार ५ सेर होने पर २ ग्राम की दैनिक मात्रा, बड़े शिशुओं में १ ग्राम प्रति ५ सेर शारीरिक भार के लिए तथा वयस्कों में १ ग्राम प्रति १० सेर शरीर भार के लिये दी जाती है। नीचे कोष्ठक में तीव्र एवं साधारण व्याधियों में प्रयोज्य मात्रा का निर्देश किया जा रहा है। यहाँ वयस्कों की मात्रा शरीर का भार ६० किलोग्राम (लगभग

एकमन छब्बीस सेर १ किलो = २. २ पौण्ड) मान कर लिखी गई है। शारीरिक भार, सहन शक्ति तथा प्रकृति के अनुसार मात्रा कुछ कम भी की जा सकती है।

गंभीर स्वरूप की तीव्र व्याधियों में शुल्वौषधियों की मात्रा

वयस्क	बालक		
	३ वर्ष तक	३–१० वर्ष तक	१०–१५वर्ष तक
प्रारंभिक मात्रा { सिरा द्वारा २ ग्राम, मुख द्वारा १½ ग्राम	½ ग्राम सिरा या मुख द्वारा	१ ग्राम सिरा ¾ ग्राम मुख द्वारा	१ ग्राम सिरा या मुख द्वारा
प्रथम ३ दिन तक { १½ ग्राम ४ घंटे	½ ग्राम ४ घं.	¾ ग्राम ४ घं.	१ ग्राम ४ घं.
४–५वें दिन १ ग्राम ४ घंटे	½ ग्राम ६ घं.	¾ ग्राम ६ घं.	१ ग्राम ६ घं.
६–७वें दिन तक { १ ग्राम ६ घंटे	¼ ग्राम ६ घं.	½ ग्राम ६ घं.	½ ग्राम ६ घं.

मध्यम स्वरूप की व्याधियों की मात्रा

वयस्क	बालक		
	३ वर्ष तक	३ से १० वर्ष	१० से १५ वर्ष
प्रारंभिक मात्रा २ ग्राम	½ ग्राम	¾ ग्राम	१ ग्राम
प्रथम २ दिन तक { १ ग्राम ४ घंटा	½ ग्राम ४ घं.	½ ग्राम ४ घं.	¾ ग्राम ४ घं.
३, ४, ५वें दिन तक { १ ग्राम ६ घं.	½ ग्राम ६ घं.	½ ग्राम ६ घं.	¾ ग्राम ६ घं.
६-७वें दिन १ ग्राम ८ घं.	¼ ग्राम ६ घं.	¼ ग्राम ६ घं.	½ ग्राम ६ घं.

जीर्ण व्याधियों में द्वितीय-तृतीय दिन की मात्रा ५ दिन तक चलाने के बाद आवश्यक होने पर ७वें दिन की मात्रा ७ दिन तक चलायी जा सकती है। सल्फा मेराजीन का शोषण शीघ्र तथा उत्सर्ग विलम्ब से होता है, अतः उसकी मात्रा अपेक्षाकृत कम तथा दिन में ३ बार से अधिक देने की अपेक्षा नहीं होती। उष्ण ऋतु में, या किसी कारण अत्यधिक प्रस्वेद होने पर मूत्रोत्पत्ति कम होती है, अतः मात्रा कुछ कम दी जानी चाहिए। इसी दृष्टि से उक्त क्रम में ¼ चौथाई मात्रा कम कर के भी दे सकते हैं। नीचे कुछ प्रमुख शुल्वौषधियों की विशेषताओं का वर्णन किया जाता है।

सल्फानिलामाइड (सल्फानिलामाइड एम० बी०, बूट्स, सेप्टानिलम ग्लैक्सो, स्ट्रेप्टोसाइड, इवांस)

आंत्र से पूर्ण प्रचूषण, रक्त में उच्चतम मात्रा २ से ६ घंटे तक, शरीर की सभी कोषाओं में प्रसार, किन्तु वसा, मस्तिष्क एवं अस्थियों में अपेक्षाकृत अल्पमात्रा, मस्तिष्क सुषुम्नाजल, भ्रूणरक्त प्रवाह में रक्त के समान ही मात्रा होती है। किन्तु माता के स्तन्य में इसकी बहुत कम मात्रा उत्सर्गित होती है। मूत्र के द्वारा इसका शीघ्र उत्सर्ग हो जाता है।

विशिष्ट उपयोग—माला-स्तबक एवं शोणांशिक मालागोलाणुओं के द्वारा उत्पन्न औपसर्गिक रोगों में, साधारण विद्रधि, पूययुक्त व्रण आदि में विशेष प्रभाव।

सल्फापाइरिडिन—इसका मुख द्वारा सेवन करने पर आंत्र से प्रचूषण अनियमित एवं अपूर्ण रूप में होता है, अतः तीव्रावस्था में सिरा द्वारा प्रयोग करना चाहिये। रक्त संकेन्द्रण इससे अधिक होता है। विषाक्त परिणाम शीघ्र होने के कारण प्रयोग कम होता है।

फुफ्फुस पाक, मस्तिष्क सुषुम्ना ज्वर (म. सु. गोलाणुजन्य), पूयमेह, विसर्प, विचर्चिका तथा छाजन में इसका विशेष गुण होता है।

सल्फाथायाजोल—शीघ्र प्रचूषण तथा मूत्र के द्वारा शीघ्र उत्सर्ग, रक्त का संकेन्द्रण अति शीघ्र होता है। अतः इसमें प्रारम्भिक मात्रा द्विगुण से अधिक न देनी चाहिये। शीघ्र उत्सर्ग होने के कारण प्रति ४ घण्टे पर देना होता है।

फुफ्फुस पाक, मस्तिष्क सुषुम्ना ज्वर, पूयमेह तथा वृक्क एवं मूत्राशय के विकारों में उपयोगी।

सल्फाडायाजिन—प्रचूषण अनियमित, उत्सर्ग विलम्बित, प्रारम्भिक मात्रा का प्रयोग सिरा द्वारा आवश्यक होता है। ६ घण्टे के अन्तर पर प्रयोग क्रम से भी पूर्ण लाभ होता है। फुफ्फुस पाक, मस्तिष्क सुषुम्ना ज्वर में विशेष उपयोगी, विषैले परिणाम बहुत कम होते हैं।

सल्फामेराजीन—शीघ्र प्रचूषण तथा विलम्बित उत्सर्ग, अतः अर्द्ध मात्रा में ही कार्यक्षम होती है। गुणधर्म सल्फाडायजिन के समान। सल्फामेजाथीन भी तत्सम होती है।

सल्फा सिटामाइड—स्थानीय प्रभाव विशिष्ट होता है। अतः नेत्र, कर्ण तथा नासा रोगों में १०–३०% घोल के रूप में अधिक उपयोग किया जाता है। मूत्र संस्थानीय रोगों में भी विशेष लाभकारी है।

सल्फागुआनाडिन—प्रचूषण बहुत कम या प्रायः आधा अंश का ही होता है, अतः महास्रोत के विकारों में प्रयुक्त होती है। बृहदन्त्र के विकारों में आस्थापन वस्ति के रूप

में भी देते हैं। विसूचिका, ज्वरातिसार (दण्डाणुजनित अतिसार), आंत्र शोथ आदि में-उपयोगी।

सक्सिनिल सल्फा थायाजोल का गुण इसी के समान होता है। थैलाजोल का प्रचूषण और कम होने तथा स्थानीय क्रियाशीलता अधिक होने के कारण अल्प मात्रा में ही विसूचिका, दण्डाणवीय अतिसार, बृहदंत्र शोथ आदि में लाभ करता है।

व्याधिनिर्देश—रोग के प्रारम्भ से ही उचित मात्रा में प्रयोग करने पर पूर्ण सफलता मिलती है। अपर्याप्त मात्रा में प्रयोग करने के कारण आजकल जीवाणु सहन-शील होता है, तथा परम सूक्ष्म वेदनता, विषाक्तता आदि के कारण प्रतिजीवी वर्ग की औषधों का अधिक प्रयोग होने लगा है। किन्तु मस्तिष्क गोलाणु एवं श्लेष्मक दण्डाणु जनित मस्तिष्क सुषुम्ना ज्वर, दण्डाणवीय अतिसार, प्लेग आदि में इनका प्रतिजीवियों से विशिष्ट प्रभाव होता है। विविध-व्याधियों में इनकी उपयोगिता तथा प्रयोगक्रम नीचे लिखा जाता है।

फुफ्फुसपाक—सल्फा डायाजिन, सल्फा मेराजिन, सल्फामेजाथिन, सल्फा थायाजोल या एल्कोसिन का प्रयोग। प्रारम्भिक मात्रा २-३ ग्राम। बाद में १, १½ ग्राम प्रति ४ घण्टे पर ज्वरोपशम हो जाने के ३ दिन बाद तक। तीव्रावस्था में सिरा द्वारा ३ ग्राम घुलनशील योग (सोलू सेण्टासिन, सोलू थायाजोल आदि) का प्रयोग।

इनफ्लुएञ्जा, रोमान्तिका, रोहिणी आदि में उपद्रव स्वरूप श्वसनी फुफ्फुस पाक या फुफ्फुस पाक होता है, जिसमें फुफ्फुस गोलाणु के अतिरिक्त शोणांशिक माला गोलाणु, श्लेष्मक दण्डाणु, फुफ्फुस दण्डाणु आदि कारण होते हैं, अतः इन व्याधियों में यथासमय प्रारम्भ करने से फुफ्फुस पाक का उत्तरकाल में उपद्रव नहीं होता, उपद्रव हो जाने पर प्रारम्भिक मात्रा ३ ग्राम बाद में १½ ग्राम प्रति ४ घण्टे पर ज्वर निवृत्ति के ४ दिन बाद तक देना चाहिये।

फुफ्फुस पाक के सभी वर्गों में प्रभाव, अल्प व्यय तथा मुख द्वारा प्रयोग होने के कारण शुल्वौषधियाँ प्रतिजीवी औषधों से श्रेष्ठ मानी जाती हैं। दोनों का संयुक्त प्रयोग अधिक लाभकारी होता है।

पूयमेह—तीव्रावस्था में प्रारम्भिक मात्रा—डायजिन, मेराजिन तथा एल्कोसिन का सम्मिलित योग हो तो उत्तम—२ ग्राम, बाद में १ ग्राम प्रति ४ घण्टे पर ७ दिन तक, ४-५ दिन का अन्तर देकर प्रायः १ ग्राम ४ घण्टे पर ५ दिन के लिए देना चाहिये। जीर्ण रोगियों में बीच बीच में अन्तर देकर ३, ४ बार प्रयोग करने से लाभ होता है। नवजात शिशु की आँख में, पूयमेह जनित विकार होने पर, स्थानीय नेत्रविन्दु आदि के साथ ½ ग्राम प्रारम्भिक मात्रा, बाद में ¼ ग्राम (½ टिकिया) प्रति ४ घण्टे पर ३, ४ दिन तक देने से लाभ होता है।

मस्तिष्क सुषुम्ना ज्वर—मस्तिष्क सुषुम्ना गोलाणु जन्य उपसर्ग में शुल्वौषधियाँ

विशेष गुणकारी होती हैं। प्रारम्भिक मात्रा ४ ग्राम (मिश्रित रूप में) बाद में प्रति ४ घण्टे पर १-१½ ग्राम, आवश्यक होने पर सिरा द्वारा २ ग्राम प्रयोग करना चाहिये। ज्वरमुक्ति के ३-४ दिन बाद तक देते रहना अच्छा है। शोणांशिक माला गोलाणु के उपसर्ग से होने वाले विसर्प, तुण्डिकेरी शोथ, पूयविषमयता, मध्यकर्णशोथ आदि विकारों में शुल्वौषधियों के प्रयोग से लाभ होता है। प्रारम्भिक मात्रा २ ग्राम बाद में १ ग्राम प्रति ४ घण्टे पर, जब तक स्वाभाविक अवस्था न आ जावे, ज्वरादि से मुक्त होने के ५ दिन बाद तक ६ घण्टे पर १ ग्राम की मात्रा देना चाहिये। इसमें सल्फा निलामाइड, सल्फाडायजिन एवं सल्फा मेजाथिन आदि उपयोगी हैं।

वातकर्दम (Gas gangrene) में स्थानीय प्रयोग के साथ शुल्वौषधियों का मिश्रित प्रयोग तथा प्रति विषलसिका का साथ में प्रयोग करने से लाभ होता है। प्रारम्भिक मात्रा ४-६ ग्राम, बाद में १ ग्राम प्रति ४ घण्टे पर ज्वरमुक्ति तक, बाद में १ ग्राम प्रति ६ घण्टे पर देना चाहिये।

बै कोलाई (B. coli) के उपसर्ग से वस्ति, वृक्क एवं यकृत आदि में शोथ होकर ज्वरादि लक्षणों की उत्पत्ति होती है। अधिकांश शुल्वौषधियों का उत्सर्ग मूत्र के साथ ही होता है। सल्फा थायाजोल का शीघ्र उत्सर्ग होने के कारण इसी का प्रयोग अधिक लाभ करता है। मूत्र की प्रतिक्रिया क्षारीय होना आवश्यक है, इसके लिये पर्याप्त मात्रा में क्षारीय मिश्रण का पूर्व प्रयोग करना चाहिये। प्रारम्भिक मात्रा ३ ग्राम बाद में १ ग्राम प्रति ४ घण्टे पर ५ दिन तक, ४ दिन का अन्तर देकर पुनः १ ग्राम ४ घण्टे पर ५ दिन तक देना चाहिये। औषध प्रयोग के समय जल का पर्याप्त सेवन कराना चाहिये।

विसूचिका—प्रारम्भिक मात्रा ३ ग्राम बाद में प्रति २ घण्टे पर १ ग्राम की ६ मात्रा देकर ४ घण्टे पर १ ग्राम २ दिन तक देना चाहिये। अत्यधिक वमन एवं अतिसार के कारण रोगी आवश्यक समय तक महास्रोत में रोक नहीं पाता, अतः अधिक मात्रा भी दी जा सकती है। मूत्राघात होने पर भी इनका मुख द्वारा प्रयोग सिरा द्वारा समलवण जल के साथ किया जा सकता है। क्योंकि अतिसार के कारण इनका शोषण बहुत कम होगा, जिससे औषध जन्य मूत्राघात की सम्भावना नहीं होती। यदि लक्षणों का प्रारम्भ होते ही इनका प्रयोग किया जाय तो निश्चित लाभ होता है।

दण्डाणवीय अतिसार—सल्फागुआनाडीन या थैलाजोल की प्रारम्भिक मात्रा ४ ग्राम बाद में २ ग्राम प्रति ४ घंटे पर ४ दिन तक, बाद में १ ग्राम ४-६ घंटे पर ३ दिन तक देना चाहिये। व्याधि की जीर्णावस्था में भी इसका प्रयोग स्वतन्त्र रूप में या एण्ट्रोवायोफार्म के साथ (क्योंकि प्रायः आमातिसार का भी अनुबन्ध जीर्ण रोगियों में मिलता है) किया जा सकता है। सव्रण बृहदंत्र शोथ (Ulcerative colitis) में भी

प्रारम्भिक मात्रा २ ग्राम बाद में आधा ग्राम प्रति ४ घंटे पर ७ दिन तक देना चाहिये। आस्थापन वस्ति के रूप में भी दिया जाता है। ४-६ दिन का अन्तर देकर इसी प्रकार २-३ बार प्रयोग करने से लाभ हो जाता है।

शुल्वौषधियों के कुछ विशिष्ट योग—

एल्कोसिन (Elcosin-Sulphasomidine ciba)—सल्फा डायजिन एवं सल्फा मेजाथिन के समान गुणकारी, अपेक्षाकृत अल्प मात्रा में प्रयोज्य तथा वृक्कों में अल्प अवरोधकारी होने से अधिक उपयोगी है। इसमें हानिकारक प्रभाव कम होते हैं। ·७५—१ ग्राम की मात्रा में ४ बार प्रयोग वयस्कों में किया जाता है। बालकों के लिये ·०५ ग्राम प्रति ड्राम की मात्रा का इसका शर्बत भी आता है।

इरगाफेन (Irgafen geigy–Limethylbeuzoylsulphanilamide)–इतर शुल्वौषधियों के समान ही इरगाफेन की भी उपयोगिता है। यह भी स्वल्प मात्रा में कार्यशील तथा अल्प विषाक्त परिणाम वाला योग है। इसका सोडियम योग (Irgafen sodium) जल में घुलनशील होता है, जिसका अनुवासन गुदवस्ति के रूप में प्रयोग आवश्यकतानुसार सफलतापूर्वक किया जा सकता है। इसका ५ सी. सी. में १ ग्राम औषध के रूप में एम्पूल भी सिरा या पेशी मार्ग से प्रयोज्य रूप में मिलता है।

गैण्ट्रिसिन (Gantricin, roche)

यह अधिक निरापद शुल्वौषधि का योग है, जिससे वृक्क में शुल्वौषधि का सिकतावत रूप (Crystaluria) प्रायः नहीं के बराबर होता है। इसलिये वृक्क विकारों में भी इसका प्रयोग किया जा सकता है। मात्रा भी अपेक्षाकृत अल्प (·५ ग्राम की ३ मात्रा) ही आवश्यक होती है। इसका पेशी या सिरा मार्ग से भी प्रयोग किया जा सकता है।

ओरिसुल (Orisul cíba–Sulphaphenazole. ·5 gram) इसका मूत्र द्वारा उत्सर्ग बहुत विलम्ब से होने के कारण २४ घण्टे में केवल २ बार औषध प्रयोग की अपेक्षा होती है। तीव्र उपसर्गों में २ टिकिया प्रातः सायं तथा साधारण उपसर्गों में १ टिकिया प्रातः सायं देना पर्याप्त होता है। जीर्ण वृक्क विकारों तथा शोणांशिक माला गोलाणु के जीर्ण उपसर्गों से मुक्ति के बाद पुनरावर्त्तन निरोध के लिये केवल १ टिकिया की दैनिक मात्रा पर्याप्त होती है। तीव्र तथा जीर्ण सभी शुल्वौषधि साध्य व्याधियों में इसका प्रयोग किया जा सकता है।

लेडरकिन या मिडिकेल (Lederkyn or Midikel–lederle p. d. & co Sulphamethoxypyridegin) यह योग शुल्वौषधियों में सर्वाधिक संचयी स्वरूप के होते हैं। २४ घण्टे में केवल १ मात्रा की अपेक्षा होती है। प्रारम्भिक मात्रा १ ग्राम या २ टिकिया की देने के बाद प्रतिदिन ०·५ ग्राम की १ टिकिया देना चाहिये। व्याधि

की तीव्रता अधिक न होने पर प्रति तीसरे दिन १ टिकिया देने से भी कार्य क्षमता में कोई न्यूनता नहीं होती।

केवल स्वल्प मात्रा या एक कालिक मात्रा में औषध प्रयोग की विशेषता के अतिरिक्त गुण-धर्म की दृष्टि से कोई तात्विक गुण वृद्धि इन औषधियों से नहीं होती। प्रयोग सौकर्य के लिए इनका सेवन कराया जा सकता है, किन्तु पुरानी शुल्वौषधियों के प्रयोगाभ्यासी चिकित्सकों को इनकी एक कालिक स्वल्प मात्रा का ध्यान रखना चाहिये तथा दूसरी शुल्वौषधियों के सारे विधि-निषेध ध्यान में रखने चाहिये।

विषाक्तता—शुल्वौषधियों का विषाक्त प्रभाव जिस प्रकार तृणाणुओं पर पड़ता है, उसी प्रकार शरीर की कोषाओं पर भी पड़ता है। अतः नियमपूर्वक मात्रावत उपयोग करना चाहिए। विषैले लक्षण उत्पन्न होने पर औषध का प्रयोग बंद या कम कर देना चाहिये।

विषाक्त लक्षण—

मूत्र संस्थानीय—शुक्लिमेह, रक्तमेह, मूत्राघात, वृक्कशूल, स्फटिकमेह, आदि विषाक्त परिणाम होते हैं। प्रारम्भ में कटिशूल, उदरशूल तथा मूत्राल्पता होती है, बाद में मूत्र में शुक्लि मिलने लगती है तथा धीरे धीरे मूत्र की राशि कम होती जाती है। पर्याप्त जल एवं क्षार का प्रयोग करने से इनका प्रतिकार तथा निराकरण किया जाता है।

रक्तसंस्थान—श्यावता, रक्तक्षय, श्वेतकायाणूत्कर्ष या अपकर्ष, अकणिक कायाणूत्कर्ष (Agranuloeytosis) घनास्रकायाण्वपकर्ष (Thrombocytopenia), अम्लोत्कर्ष आदि उपद्रव होते हैं। यह उपद्रव शुल्वौषधियों का अधिक समय तक प्रयोग या इनके साथ गंधक प्रधान पदार्थों का—मूली, लहसुन, अण्डा, आदि का— अधिक प्रयोग होने से उत्पन्न होते हैं। अतः इन पदार्थों का शुल्वौषधि सेवनकाल में सेवन न करना ही अच्छा है, यकृतसत्व, जीवतिक्ति ख के प्रयोग से जीवाणुओं की शक्ति बढ़ती है, अतः इनका भी यदि १० दिन से अधिक समय तक प्रयोग आवश्यक हो तो बीच बीच में अन्तर देना चाहिए।

पचन संस्थान—हृल्लास, वमन, प्रवाहिका, यकृच्छोथ, अग्निमांद्य आदि उपद्रव होते हैं। इनकी मात्रा कम देना या कुछ समय तक बन्द करके कोई दूसरा योग (शुल्वौषधियों का ही) देना चाहिये। शरीर के लिए उपकारक आंत्र निवासी अनेक जीवाणु थैलाजोल आदि के प्रयोग से नष्ट हो जाते हैं, जिससे आंत्र में जीवतिक्ति ख (B. complex) की उत्पत्ति कम हो जाती है। अतः इनके प्रयोग के बाद जीवतिक्ति ख (B. complex) तथा निकोटिनामाइड या निकोटिनिक एसिड का प्रयोग करना चाहिए। प्रयोगकाल में जीवतिक्ति ख तथा यकृतसत्त्व का प्रयोग न करना चाहिए।

वातिक लक्षण—अवसाद, भ्रम, क्लान्ति, मानसिक दुर्बलता, वैचित्य एवं भ्रम आदि लक्षण अति मात्रा में प्रयोग होने पर होते हैं। सल्फापाइराडिन के प्रयोग से यह लक्षण अधिक होते हैं। औषध को रोककर क्षार तथा ग्लूकोज का मिश्रण पिलाने से लाभ हो जाता है।

ज्वर—अनेक रोगियों में इनके प्रयोग से ज्वर कभी-कभी बढ जाता है। ज्वर के साथ संधिशोथ, प्रलाप, वमन आदि लक्षण भी होते हैं, ऐसी स्थिति में इनका प्रयोग बंद करना पड़ता है। किन्तु बंद करने के पूर्व यह निर्णय कर लेना चाहिए कि कहीं ज्वर रोग के पुनरावर्तन से तो नहीं हुआ है।

परमसूक्ष्म वेदनता—कुछ रोगी इनके प्रति प्रकृत्या या मुख-त्वचा द्वारा पहले इनका सेवन करने के बाद असहिष्णु होते हैं। अल्प मात्रा में ही इनका प्रयोग करने पर बेचैनी, वमन, प्रवाहिका, त्वचा में विस्फोट, शोथ आदि हो जाते हैं, जिससे औषध प्रयोग बंद करना पड़ता है। सूक्ष्मवेदनता प्रायः विशिष्ट शुल्वौषधि के लिए होती है, कभी कभी सभी शुल्वौषधियों के लिए होती है, कुछ रोगियों में बहुत दीर्घकाल तक यह असहिष्णुता रहती है। त्वचा के विस्फोट एवं शोथ की शान्ति नीललोहितातीत एवं क्ष किरण के प्रयोग से शीघ्र हो जाती है, किन्तु शुल्वौषधियों के प्रयोगकाल में इन किरणों तथा धूप से रोगी को बचाना चाहिए।

यदि प्रारम्भ से ही क्षार, ग्लूकोज एवं जल का पर्याप्त प्रयोग किया जाय तो इनमें से परम सूक्ष्मवेदनता के अतिरिक्त अन्य कोई उपद्रव नहीं होते। दूसरे विषाक्त लक्षण अधिक दिनों तक प्रयोग करने पर ही होते हैं, किन्तु इतनी तीव्रता नहीं होती कि उनके कारण चिकित्सा बन्द करने की कोई आवश्यकता पड़े। पूर्ण मात्रा में प्रयोग करने पर ९ दिन से अधिक तीव्र रोगों में और १५ दिन से अधिक जीर्ण रोगों में इनका प्रयोग आवश्यक नहीं होता। रक्तकणों एवं श्वेतकणों की समस्थिति औषध बंद करने के बाद स्वतः हो जाती है, कदाचित् आवश्यक होने पर साधारण रक्तवर्धक योगों से लाभ हो जाता है। जीर्ण यकृत् दुष्टि, हृदय की मांसपेशी का अपजनन, जीर्ण वृक्कशोथ तथा कामला, पाण्डु आदि से पीड़ित रोगी में इनका प्रयोग न करना चाहिए। वृद्धों में भी बहुत विवेचना के साथ कुछ अल्प मात्रा में प्रयोग करना उचित होता है।

शुल्वौषधियों से पूर्ण लाभ न होने में कारण—

१. अल्प मात्रा में या अपर्याप्त समय तक प्रयोग।

२. विकृत स्थान में रक्तप्रवाह का अवरुद्ध होना, पूयोत्पत्ति तथा नष्ट-भ्रष्ट कोषाओं का अधिक सञ्चय।

३. कुछ जीवाणु शुल्वौषधियों का प्रतिकार कर सकते हैं। स्तवक गोलाणु के द्वारा उत्पन्न शोथ या विद्रधि आदि में उनका प्रयोग शीघ्र लाभ नहीं करता तथा विषाणु

(Virus) जीवाणु (Protozoa), क्षय-कुष्ठ आदि अनेक दण्डाणुओं से उत्पन्न विकारों में इनसे कोई लाभ नहीं होता।

४. वमन, अतिसार, ग्रहणी, आदि के कारण महास्रोत से प्रचूषण न होने पर मुख द्वारा सेवन करने से लाभ नहीं होता।

सल्फोन्स (Sulphones)

यह औषधियाँ भी शुल्वौषधि के मूल वर्ग में आती हैं। विशिष्ट गुणधर्म के कारण इनका पृथक् वर्णन किया गया है। इनका मौलिक रूप डाय-एमिनो डाय फेनिल सल्फोन (Diamino Diphenyl Sulphone) है, इसीसे दूसरे योगों का निर्माण हुआ है।

गुण-धर्म—शुल्वौषधियों के समान ही मुख द्वारा सेवन करने पर इनका भी शरीर की सम्पूर्ण धातुओं में प्रसार हो जाता है तथा कुछ समय बाद मूत्र द्वारा इनका उत्सर्ग हो जाता है। इनका विशेष प्रयोग अम्लसह दण्डाणु (Acid fast bacilli) के उपसर्ग से उत्पन्न कुष्ठ तथा राजयक्ष्मा में होता है। विषाक्तता तथा धातुक्षय कारक दोष होने से क्षय में इनका प्रयोग बाह्य अंगों तक ही सीमित है। कुष्ठ—विशेषकर गलित कुष्ठ—में इनसे संतोषजनक लाभ होता है। कुष्ठ-दण्डाणुओं पर इनका विघातक प्रभाव किस प्रकार होता है, यह ज्ञात नहीं हो सका। शुल्वौषधियों के समान यह भी दण्डाणु स्तम्भक (Bacterostatic) हैं, घातक नहीं, अतः बहुत समय तक इनका प्रयोग आवश्यक है। इनके पर्याप्त मात्रा में कुष्ठ-दण्डाणुओं के चतुर्दिक व्याप्त रहने पर उनका पोषण एवं वृद्धि आदि नहीं हो पाती, एक निष्क्रियता सी उत्पन्न हो जाती है, कुछ समय बाद दण्डाणु के छोटे छोटे कण बन जाते हैं, और धीरे-धीरे स्वतः इनका नाश हो जाता है। इस प्रकार सल्फोन्स के द्वारा जीवाणुओं का नाश न होने पर भी पोषण एवं प्रजनन के लिए प्रतिकूल परिस्थिति उत्पन्न हो जाने के कारण कुछ समय बाद उनका अपजनन से नाश हो जाता है। रक्तवाहिनियों में स्थित दण्डाणु प्रथम नष्ट होते हैं, जिससे व्याधि का प्रसार रुक जाता है, बाद में विकृत स्थल के जीवाणु नष्ट होते हैं। यदि इनका प्रयोग पर्याप्त समय तक उचित मात्रा में न किया जायगा तो अवशिष्ट जीवाणु पुनः सक्रिय हो जाते हैं।

मात्रा एवं प्रयोग मार्ग का वर्णन योगों के साथ किया गया है।

विषाक्तता—इनका दीर्घकाल तक प्रयोग होने के कारण विषाक्तता का ध्यान रखना पड़ता है। इनका मुख्य दोष रक्तकणों का नाश, श्वेतकायाणुओं का नाश तथा अनूर्जता-मूलक विकारोत्पत्ति माना जाता है। इनके प्रयोग से आंत्र मे जीवतिक्ति बी का संश्लेषण एवं लौह का शोषण आबाधित होता है, अतः रक्तक्षय, पाण्डुता आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। मुख्यतया निम्न विषाक्त परिणाम होते हैं।

मात्रा अधिक होने पर हृल्लास, वमन, प्रवाहिका, यकृच्छोथ, शारीरिक तथा मानसिक उत्तेजना, अवसाद, उन्माद, आत्मघात की प्रवृत्ति, शिरःशूल, दृष्टिमांद्य, मूर्च्छा,

श्रम, दौर्बल्य, मूत्रकृच्छ्र, दाह, शोणितमेह, मुख-नासा-मूत्रमार्ग-गुदा की शुष्कता तथा दाह आदि लक्षण होते हैं।

प्रतिकार—

१. मात्रा निर्धारण वैयक्तिक सहनशीलता के आधार पर करना चाहिए, केवल भार के अनुपात में ही नहीं।

२. सप्ताह में १ दिन या मासान्त में ६ दिन औषध-प्रयोग न करना चाहिए।

३. पर्याप्त मात्रा में पोषक आहार-विहार देना, श्रम कम करना तथा धूप में अधिक न बैठना चाहिए।

रक्तक्षय—रक्त कणों का नाश होने से पाण्डुता, शोणितमेह आदि उपद्रव होते हैं। अस्थिमज्जा पर दुष्प्रभाव होने से रक्तकणों का निर्माण भी कम होता है। जीवतिक्ति बी का संश्लेषण एवं लौह का शोषण न होने से भी रक्तकणों की नियमित उत्पत्ति में बाधा पड़ती है। भ्रम, दौर्बल्य, श्यावता आदि लक्षण रक्तक्षय के कारण हो सकते हैं।

प्रतिषेध—इनके सेवनकाल में आवश्यक मात्रा में जीवतिक्ति बी. यकृत् सत्त्व, यीस्ट आदि का निरन्तर सेवन करना, रक्ताल्पता का अनुमान होने पर लौह के योगों का सूचीवेध द्वारा प्रयोग तथा अधिक विषाक्त रूप होने पर औषध प्रयोग कुछ समय के लिए बन्द कर देना चाहिए।

अनूर्जतामूलक दोष—बहुत से रोगियों में इनका सेवन करने पर तुरन्त या कुछ सप्ताह बाद शीतपित्त, चर्मशोथ, लसग्रन्थिशोथ, पामा, विस्फोट आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। अनूर्जतानाशक एन्टिसटीन आदि का कुछ समय तक प्रयोग करना तथा सल्फोन्स का प्रयोग कुछ समय तक बन्द रखना चाहिए। कुछ समय बाद सल्फोन्स का कोई दूसरा योग देना चाहिए। बीच-बीच में कोष्ठ शुद्धि कराने से इस प्रकार के लक्षण कम होते हैं। धूप लगने, नीललोहितातीत या क्ष-किरणों का त्वचा से सम्पर्क होने पर अनूर्जतामूलक कष्ट अधिक होता है।

व्यावहारिक निर्देश—

१. चिकित्सा प्रारंभ करने के पूर्व रक्त परीक्षा करके रक्तकणों की संख्या, शोणित-वर्त्तुलि (Heamoglobin percentage), श्वेत कायाणुओं की संख्या की गणना कर लेना आवश्यक है। प्रति मास १ बार रक्तकणों तथा शोणितवर्त्तुलि का आगमन चिकित्साकाल में भी कराते रहना श्रेयष्कर है। शोणितवर्त्तुलि की मात्रा ६०% से कम होने पर प्रथम रक्तवर्धक लौह, यकृत् सत्त्व आदि के योगों का प्रयोग कर शोणितवर्धन करना, बाद में सल्फोन्स का प्रयोग प्रारंभ करना चाहिए।

२. **सान्तर प्रयोग**—मुख द्वारा औषध सेवन में सप्ताह में १ दिन तथा तीन मास के बाद २ सप्ताह औषध प्रयोग बन्द रखना चाहिए। सिरा द्वारा सप्ताह में २ बार

तथा तीन मास बाद २ सप्ताह तक विश्राम देना अथवा सप्ताह में ६ दिन २ सप्ताह तक देकर तीसरे सप्ताह विश्राम कराना चाहिए। इस प्रकार बीच-बीच में विराम देकर प्रयोग करने से औषध का संचित अंश शरीर से उत्सर्गित हो जाता है और विषाक्तता की संभावना बहुत कम हो जाती है।

३. मात्रा—प्रारंभिक मात्रा १–२ मास तक कुछ कम रखना अच्छा है। सहन योग्य रोगी में धीरे-धीरे मात्रा बढ़ानी चाहिए। शीत ऋतु की अपेक्षा ग्रीष्म में मात्रा कुछ कम कर देनी चाहिए—अन्यथा सूर्यताप से त्वचाशोथ आदि कष्ट हो सकते हैं। कुछ समय औषध का सेवन करने से शरीर में एक प्रकार की सहनशीलता उत्पन्न हो जाती है, जिससे उत्तरकाल में अधिक मात्रा रोगी बर्दाश्त कर लेता है। रक्तक्षय, हृल्लास, वमन आदि लक्षण उत्पन्न होने पर मात्रा कम कर देना या प्रयोग कुछ समय के लिए बन्द कर देना चाहिए। व्याधि की लाक्षणिक शान्ति हो जाने पर धारक मात्रा (प्रारंभिक मात्रा से भी अल्पमात्रा) २–३ वर्ष तक लेते रहना चाहिए।

४. मलावरोध से औषध का प्रचूषण अनुमान से अधिक होता है, अतः मृदु सारक योगों से बीच-बीच में कोष्ठशुद्धि कराते रहना चाहिए।

५. स्वास्थ्य—सभी व्याधियों का प्रतिबंधन स्वस्थ शरीर से ही होता है। अतः कुष्ठ में भी आहार-विहार में पर्याप्त पोषक द्रव्य रहने चाहिए। शारीरिक तथा मानसिक प्रसन्नता भी आरोग्य में सहायक होती है। रोगी में रोग निवृत्ति के प्रति पूर्ण आत्मविश्वास होना चाहिए।

६. गलित कुष्ठ में इनसे सर्वाधिक प्रभाव होता है। नाडीकुष्ठ में तुवरक के योग अधिक लाभ करते हैं। तुवरक से नाडीगत कुष्ठ में लाभ न होने पर इनका प्रयोग करना चाहिए।

७. रोग की लाक्षणिक निवृत्ति तथा विकृत स्थलों से कुष्ठ दण्डाणुओं की अनुपस्थिति के बाद लगभग १ वर्ष तक धारक मात्रा का प्रयोग करने से रोग का स्थायी निर्मूलन होता है।

प्रमुखयोग तथा उनकी उपयोगिता—

१. **एवलोसल्फोन** (I. C. I. या डाय एमिनो डाय फेनिल सल्फोन D. D. S.)—कुछ अधिक विषाक्त तथा प्रयोज्य मात्रा एवं विषाक्त मात्रा में अधिक अन्तर नहीं। बहुत सस्ता, यदि अल्प मात्रा में प्रयोग किया जाय तो उपयोगी है। मात्रा १ गोली प्रतिदिन, सप्ताह में ६ दिन, प्रति तीसरे मास १५ दिन का विराम। लौह, यकृत् सत्त्व, जीवतिक्ति बी का साथ में प्रयोग लाभकारी।

२. **प्रोमिन** (Promin, P. D. & Co)—सिरा द्वारा प्रयोज्य। २ ग्राम तथा ५ ग्राम की मात्रा में क्रम से ५ सी. सी. १२½ सी. सी. का घोल मिलता है। प्रारंभ में २ ग्राम, बाद में ५ ग्राम। ६ दिन तक दैनिक प्रयोग ७वें दिन विराम,

इसी क्रम से २ मास तक देने के बाद १५ दिन का विराम। ५ ग्राम की मात्रा विषाक्त हो सकती है, इस तथ्य को ध्यान में रखना चाहिए। इससे रक्तक्षय अधिक होता है, अतः सिरा या पेशी मार्ग से लौह के योग तथा पर्याप्त मात्रा में यकृत् सत्त्व, जीवतिक्ति आदि का प्रयोग करना पड़ता है।

डायजोन तथा डायामिडिन (Diasone, Abbot, Diamidine, P. D & Co)—इनका प्रयोग मुख द्वारा ·३ ग्राम के कैप्सूल तथा टिकिया के रूप में किया जाता है। प्रारंभ में १ टिकिया दिन में ३ बार कुछ समय तक सप्ताह में केवल ३ दिन (१ ग्राम दैनिक मात्रा) में देकर, सह्य हो जाने पर धीरे-धीरे बढ़ा कर दिन भर में ४ या अधिक से अधिक ६ टिकिया तक (२ ग्राम) दिया जा सकता है। पूर्ववत् १ दिन सप्ताह में तथा तीन मास में १५ दिन का विराम आवश्यक है। मास में केवल ३ सप्ताह देना चाहिए।

प्रामिजॉल (Promizole P. D. & Co)—यह डायजोन के समान ही गुणकारी तथा उससे कम विषाक्त एवं अधिक मूल्य की औषध है। प्रोमिन, डायज़ोन आदि से इसका प्रभाव कुष्ठ पर अधिक लाभकर होता है। लाक्षणिक लाभ ६ मास में स्पष्ट होता है तथा २ वर्ष तक सेवन करना आवश्यक है। मात्रा प्रारंभ में ½ ग्राम दिन में ३ बार, बाद में अनुकूल हो जाने पर क्रम से बढ़ाते हुए १½ ग्राम दिन में ३ बार (४–५ ग्राम दैनिक मात्रा में) देना चाहिए। दूसरी औषधों का प्रयोग किसी कारण संभव न होने पर इसका सेवन कराया जा सकता है।

सल्फेट्रोन और नोवोट्रोन (Sulphetrone B. W. & Co & Novotrone Bengal chemical)—ऊपर वर्णित सभी औषधियों से कम विषाक्त परिणाम वाला तथा मुख एवं पेशी द्वारा प्रयुक्त होने के कारण अधिक प्रयुक्त होता है। मुख द्वारा प्रयोग करने पर इसका गुण पूर्ण रूप में होता है, पेशी मार्ग द्वारा प्रवेश विशेष आवश्यकता होने पर ही करना चाहिए। प्रारंभिक मात्रा ½ ग्राम की १ टिकिया दिन में ३ बार, सप्ताह में ६ दिन तथा सह्य हो जाने पर २ से ४ टिकिया दिन में ३ बार (३ से ६ ग्राम प्रतिदिन तक) दे सकते हैं। निम्नलिखित क्रम से इसका प्रयोग अधिक उपयोगी एवं व्यावहारिक सिद्ध हुआ है—

प्रथम मास	१ टिकिया (½ ग्राम)	प्रतिदिन
द्वितीय मास	१½ टिकिया	,,
तृतीय मास	२ टिकिया	,,

इसके बाद १५ दिन तक विश्राम। आवश्यक होने पर लौह आदि के योगों का प्रयोग, बाद में २ टिकिया प्रतिदिन (दो मात्राओं में विभक्त करके) सप्ताह में १ दिन का विराम देते हुए ३ मास तक पुनः दे सकते हैं। प्रायः इससे अधिक प्रयोग की आवश्यकता नहीं पड़ती। किन्तु उसके बाद भी कुछ संदेह होने पर १ टिकिया प्रति तीसरे दिन ४–६ मास तक दे सकते हैं।

पेशी द्वारा ५०% के घोल से ½ सी. सी. सप्ताह में २ बार देते हुए क्रम से प्रति तीसरे सप्ताह मात्रा बढ़ाकर तीसरे मास ४ सी. सी. की मात्रा में पूर्ववत् सप्ताह में २ बार देना चाहिए। मुख द्वारा ऊपर निर्दिष्ट क्रम से सेवन कराने पर रक्तक्षय आदि उपद्रव नहीं होते।

पारा एमिनो सालिसिलिक एसिड—(Para amino salicylic acid or PAS) 'पास' के सोडियम एवं कैलसियम के योगों का व्यवहार क्षय की सभी अवस्थाओं में किया जाता है। इनकी कार्य प्रणाली का सही निर्णय हो चुका है, इनके व्यवस्थित प्रयोग से क्षय के दण्डाणुओं का धीरे-धीरे नाश होता जाता है तथा ज्वर, कास, आदि लक्षणों की भी शान्ति हो जाती है। उचित परिणाम होने के लिए रक्त में इनकी पर्याप्त मात्रा उपस्थित रहनी चाहिए, इनका भी दिन में ४ बार प्रयोग आवश्यक होता है। व्याधि की तीव्रावस्था में शीघ्र लाभ नहीं होता किन्तु स्थायी लाभ की दृष्टि से स्ट्रेप्टोमायसीन के साथ इनका प्रयोग आवश्यक है। दोनों का साथ में प्रयोग होने से क्षय दण्डाणुओं के सहनशील होने की सम्भावना कम हो जाती है। मुख द्वारा सेवन करने पर इनका रक्त में शीघ्र ही आवश्यक संकेन्द्रण हो जाता है, अतः सूचीवेध के द्वारा प्रवेश कराने की आवश्यकता नहीं पड़ती। बहुत जीर्ण स्वरूप के रोगी में या किसी कारण मुख द्वारा प्रयोग सम्भव होने पर स्ट्रेप्टोमायसीन के साथ या अलग से पेशीमार्ग से सूचीवेध कराया जा सकता है।

सफेद चमकदार कण मुक्त चूर्ण, दानेदार चूर्ण, टिकिया आदि अनेक रूपों में यह बाजार में मिलता है। दानेदार चूर्ण या टिकिया का प्रयोग अधिक व्यावहारिक है।

मात्रा—८ ग्राम से १६ ग्राम प्रतिदिन तक ४ मात्राओं में विभक्त कर दूध या किसी पेय पदार्थ के साथ देना चाहिए। आवश्यकता होने पर इसकी मात्रा १८ ग्राम प्रतिदिन तक दे सकते हैं। कुछ रोगियों में स्ट्रेप्टोमायसिन तथा 'पास' के संयुक्त क्रम से भी लाभ न होने पर केवल 'पास' १६ ग्राम की मात्रा में प्रतिदिन ३-४ मास देने से संतोषजनक लाभ हुआ है। कैलसियम के योग की मात्रा कुछ कम दी जाती है।

आत्ययिक स्थिति में ६ ग्राम पास के ३ प्रतिशत घोल को सिरा द्वारा भी दिन में २ बार दे सकते हैं। अत्यधिक वमन या विषाक्त लक्षण होने पर इस मार्ग से प्रयोग करना पड़ता है, मुख द्वारा प्रयोग सम्भव होने पर सिरामार्ग बन्द कर देना चाहिए।

विषाक्तता—वैयक्तिक असहनशीलता, सूक्ष्म वेदनशीलता एवं अनूर्जता के कारण कुछ रोगियों में शीतपित्त, उदर्द, त्वचाशोथ, श्वास आदि लक्षण उत्पन्न होते देखे गए हैं। पास के स्थान पर पी. ए. सी. का व्यवहार करने पर इन दुष्परिणामों की संख्या कम हो जाती है अथवा कुछ समय तक इनका प्रयोग बन्द करना पड़ता हैं। कुछ समय बाद अल्प मात्रा में धीरे-धीरे बढ़ाते हुए पुनः प्रयोग किया जा सकता हैं। इनका बहुत दिनों तक प्रयोग होने के कारण जीवतीक्ति बी. कम्प्लेक्स का आन्त्र से

संश्लेषण (Synthesis) बन्द हो जाता है तथा कुछ रोगियों में यकृच्छोथ भी होते देखा गया है। अतः इनके साथ पर्याप्त मात्रा में 'बी' का उपयोग करना चाहिए। हृल्लास, वमन, प्रवाहिका, उदरशूल, औषध जन्य ज्वर, त्वचाशोथ, सिकतामेह (Crystaluria), शोणितमेह तथा रक्तस्राव की प्रवृत्ति आदि प्रतिकूल परिणाम कभी-कभी होते हैं। अनूर्जता एवं सूक्ष्मवेदनता के अतिरिक्त केवल पाचन सम्बन्धी लक्षण ही अधिक दिखाई पड़ते हैं, जिनका प्रतिकार जीवतिक्ति बी. के प्रयोग से या कुछ मात्रा कम कर देने से हो जाता है, आवश्यक होने पर कुछ समय के लिए इनका प्रयोग बन्द किया जा सकता है, अथवा सिरा द्वारा दिया जा सकता है।

व्यावहारिक निर्देश—

१. प्रारम्भ में अल्प मात्रा देकर सहन शक्ति का अनुमान करके धीरे-धीरे मात्रा बढ़ाना चाहिए।

२' खाली पेट सेवन करने पर उदर-विकार अधिक उत्पन्न होते हैं, अतः कुछ पथ्य लेने के आधा घण्टा बाद लेना अच्छा है। दूध में घोलकर या फलों के रस में मिलाकर लेने पर भी अनुकूलता होती है। कैलसियम के योगों में प्रतिकूलता कम होती है।

३. दूसरे मास के बाद से प्रति सप्ताह १ दिन का विराम करने से दुष्परिणाम नहीं होते तथा गुणों में भी कोई न्यूनता नहीं होती।

४. नियमित अन्तर से रोगमुक्ति के बाद ३, ४ मास तक निरन्तर सेवन करने से पुनरावर्त्तन की संभावना नहीं होती।

५. सिरा द्वारा प्रयोग करने पर रक्त के स्कन्दन को रोकने के लिए हेपारिन (Heparin 5mg. per liter of 3% Pas sodium solution) का मिश्रण कर लेना अच्छा है।

६. क्षयजन्य त्वग्विकारों में इसका स्थानीय प्रयोग लाभकर होता है।

आइसोनियाजिड या आइसोनिकोटिनिक एसिड हाइड्राजाइड (Isonicotinic Acid Hydrzide)—यह वर्ण रहित स्फटिकाकार चूर्ण, जल में घुलनशील तथा शीतताप में सुरक्षित रहता है। प्रायः ५० एवं १०० मि. ग्राम की टिकिया के रूप में विभिन्न निर्माताओं के पेटेण्ट नाम से मिलता है।

इसे प्रायोगिक अनुसंधान में क्षय विरोधी औषधों में सर्वश्रेष्ठ माना है। किन्तु व्यावहारिक उपयोगिता की दृष्टि से इसका महत्त्व दूसरी औषधों के समान ही माना जाता है। श्वास प्रणाली, श्वसनिकाओं आदि की क्षयज प्रारंभिक स्थिति में इससे संतोषजनक लाभ होता है। किन्तु व्याधि की अन्तिम अवस्था में, स्थानीय धातुकोष्ठाओं का अधिक विनाश हो जाने पर उतना लाभ नहीं होता। इसकी कार्य पद्धति का ठीक निर्णय अभी तक नहीं हो सका है, किन्तु शुल्वौषधियों के समान जीवाणु विरोधी परिस्थिति-

निर्माण करके इससे भी लाभ होता होगा, यही अनुमान किया जाता है। प्रयोगशालीय अनुसंधान से इसके ·०१५ मि. ग्रा. प्रति सी.सी. के अनुपात के घोल में क्षय दण्डाणुओं की वृद्धि रुक जाती है, यह सिद्ध हुआ है। चिकित्सार्थ प्रयोग करने पर कुछ अंश रक्तस प्रोभूजिनों के साथ बद्ध हो कर निष्क्रिय हो जाता है, अतः रक्त संकेन्द्रण ·०३ से ·० मि. ग्रा. प्रति सी. सी. तक होना पूर्ण क्रियाशीलता के लिए आवश्यक है। इसक प्रचूषण मुख द्वारा प्रयोग करने पर पूर्ण रूप में हो जाता है, तथा कोई विपरीत परिणा भी नहीं होता, अतः दूसरे मार्ग से प्रयोग की आवश्यकता नहीं पड़ती। प्रायः ४-६ घण के बाद मूत्र द्वारा उत्सर्ग हो जाता है, कुछ अंश १२-१६ घंटा बाद तक उत्सर्ग होता रहता है। इसलिए इसकी दैनिक मात्रा २-४ सम भागों में विभक्त कर देते हैं इसके प्रयोग के एक सप्ताह बाद व्याधि के लक्षणों में क्रमिक सुधार होने लगता है ज्वर एवं कास आदि की निवृत्ति होने के साथ ही क्षुधा वृद्धि, आत्म विश्वास ए शारीरिक भार की वृद्धि होती है। कुछ समय बाद ष्ठीवन में क्षय दण्डाणुओं की संख्य उत्तरोत्तर कम होने लगती है तथा क्षकिरण परीक्षा से फुफ्फुस क्षय का सुधार हुआ प्रतीत होता है। ष्ठीवन की मात्रा कम होती जाती है तथा वक्ष गर्त (Cavity का आकार भी संकुचित होता जाता है। फुफ्फुस के अतिरिक्त अन्य स्थानों की क्षय व्याधि—स्वर यंत्र शोथ, अस्थि क्षय, आंत्रक्षय, मस्तिष्कावरण शोथ एवं क्षयज वि विकारों में भी पर्याप्त लाभ होता है। किन्तु स्ट्रेप्टोमायसिन के समान इससे भी क्ष दण्डाणु शीघ्र ही प्रतिकारक बनने लगते हैं। प्रतिकारक जीवाणु जन्य व्याधि में इससे व लाभ नहीं होता। यदि पी. ए. एस. स्ट्रेप्टोमायसिन एवं आइसोनियाजिड का ए साथ प्रयोग किया जाय तथा यथावश्यक ए. पी., पी. पी., पूर्ण विश्राम, पोषक आहार विहार आदि का अनुष्ठान किया जाय तो व्याधि प्रतिकार अधिक संभव है त क्षयदण्डाणुओं में प्रतिकारकता नहीं उत्पन्न होती।

मात्रा—प्रारंभ में सहनशीलता आदि के ज्ञान के लिए अल्पमात्रा में १-२ fि प्रयोग करना चाहिए, बाद में क्रम से मात्रा बढ़ानी चाहिए। सामान्य मात्रा २ मि. प्रति किलोग्राम शरीर भार के अनुपात में देते हैं, अनुकूल होने पर ४ मि. ग्रा. प्र कि. ग्रा. तक बढ़ा सकते हैं। मात्रा का निर्धारण अवस्था, शरीर भार, सहन शी व्याधि की तीव्रता एवं रोग प्रकृति पर निर्भर करता है। १ टिकिया (५० मि. ग्रा की मात्रा दिन में ३, ४ बार पर्याप्त होती है। व्याधि के कारण अत्यधिक क्षीण जाने पर शरीर भार के अनुपात से कुछ अधिक मात्रा देनी पड़ती है। नवीन अनुसंध से इसकी मात्रा में परिष्कार का अनुभव किया जा रहा है। सामान्यतया मध्यम भार वाले व्यक्ति को ३०० मि. ग्रा. की दैनिक मात्रा पर्याप्त मानी जाती किन्तु ६००-८०० मि. ग्रा. की मात्रा में (वह भी केवल २ मात्रा में विभक्त करके इसका प्रयोग करने पर अधिक व्यापक प्रभाव होता है तथा उचित अनुपान से देने

कोई असुविधा भी नहीं होती। इससे यक्ष्मा दण्डाणुओं में सहिष्णुता या सक्षमता न उत्पन्न हो सकेगी तथा पूर्वापेक्षा कम समय में लाभ होगा।

सामान्य निर्देश—

(१) रोग की प्रारंभिक अवस्था में जितना लाभ होता है, उतना जीर्ण रोग या अधिक धातुक्षय हो जाने पर लाभ नहीं होता।

(२) केवल आइसोनियाजिड का प्रयोग करने पर दण्डाणुओं में प्रतिकारकता अधिक उत्पन्न होती है, संयुक्त प्रयोग से कम। क्षयदण्डाणुओं की अनेक उपजातियों में सहज प्रतिकारकता होती है, अतः १५-२० दिन तक प्रयोग करने के बाद लाभ न होने पर अधिक देना निरर्थक होता है। लाभ होने पर रोग की लाक्षणिक निवृत्ति के ३ मास बाद तक औषधि सेवन कराते रहना चाहिए।

(३) इसका सर्वाधिक प्रभाव फौफ्फुसिक क्षय एवं आंत्रक्षय में होता है।

विषाक्तता—अल्प मात्रा में कोई विपरिणाम नहीं होते, दूसरे सप्ताह में मात्रा बढ़ाने पर कुछ विषाक्त लक्षण कभी-कभी उत्पन्न होते हैं। यदि १५०-२०० मि. ग्रा. २-३ मात्राओं में विभक्त कर देते रहें तो, इस प्रकार के दुष्परिणाम बहुत कम होते हैं। भ्रम, वैचित्य, अधः शाखाओं में ऐंठन, गंभीर प्रत्यावर्त्तन क्रियाओं की अभिवृद्धि, तन्द्रा, शिरःशूल, मुख की शुष्कता, मूत्रावरोध या मूत्राघात आदि विषाक्त परिणाम इसके प्रयोग से कुछ रोगियों में दिखाई पड़े हैं। मात्रा कम कर देने या कुछ समय तक विराम के उपरान्त पुनः प्रयोग करने से इसका प्रतिकार होता है।

फायटेबिन २७२ (Phytebin 272, Phytosynth lab)—यह आइसो निकोटिनिक एसिड हाइड्राजाइड का ही संस्कारित नूतन रूप है। स्वल्पविषाक्तता तथा उत्तम कार्यक्षमता के कारण आई. एन. एच. के स्थान पर या उसके कार्यक्षम न होने अथवा जीर्ण रोगियों में इसका प्रयोग किया जा सकता है। ६-८ टिकिया की दैनिक मात्रा में स्ट्रेप्टोमायसिन या पी. ए. स. के साथ अथवा दोनों के साथ फायटेबिन का प्रयोग किया जा सकता है।

एनाजिड (Anazide isopar & salinizide)—यह पी. ए. एस. का आई. एन. एच. के रूप में विकसित किया गया सत्त्व है, जिसमें p. a. s. तथा i. n. h. का सूक्ष्म घटकों में रासायनिक संमिश्रण होता है। क्षय के जीर्ण उपद्रवों में, ग्रन्थिक्षय, आंत्रक्षय एवं अस्थिक्षय आदि अनुग्र स्वरूप के क्षयज विकारों में इसकी विशेष उपयोगिता मानी जाती है। यह औषध i. n. h. की प्रतिनिधि है, p. a. s. की प्रतिनिधि नहीं। इस लिए पी. ए. एस. या स्ट्रेप्टोमायसीन के साथ इसका प्रयोग करना चाहिए। मात्रा १०० मि. ग्रा. की २ टिकिया ३ बार यानी ६०० मि. ग्रा. दैनिक मात्रा।

कार्टिजोन एसिटेट (Cortisone Acetate)—

मेयो क्लिनिक के डॉक्टर ई. सी. केन्डल (E. C. Kenddle) ने पहले पशुल एड्रिनल कार्टिकल एस्ट्रैक्ट को क्रिस्टलाइन स्टेरॉइड रूप में सर्व प्रथम १९३६ में आविष्कृत किया। किन्तु चिकित्सा क्षेत्र में व्यापक प्रयोग पित्ताम्ल (बाइल एसिड) से १९४६ में डॉ० एल एच सारेट (L. H. Sarett) के मर्क लेबोरेटरी में सर्व प्रथम संश्लेषण प्रक्रिया से निर्माण करने के उपरान्त हुआ।

गुण धर्म—कार्टिजोन का सर्वाधिक प्रभाव कोषाओं के तरल अंश का नियन्त्रण करना माना जाता है। इसके प्रयोग से सोडियम एवं जल का शरीर-कोषाओं में संचय होता है, जिससे कभी-कभी सर्वाङ्ग शोफ, जलोदर, हृदय विस्फार आदि लक्षण हो जाते हैं तथा वृक्कों द्वारा पोटैसियम एवं क्लोराइड का अत्यधिक उत्सर्ग होने के कारण शरीर में इनकी पर्याप्त कमी हो जाती है। कुछ अंशों में इन्सुलिन की क्रियाशक्ति का नाश तथा रक्त शर्करा की वृद्धि एवं वृक्क द्वारा शर्करा के उत्सर्ग की क्रियाशक्ति निम्न हो जाने के कारण शर्करा मेह—मधु मेह के समान लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। मधुमेह के रोगियों में इसके प्रयोग से इन्सुलिन का प्रभाव बहुत कम हो जाता है। प्रोभूजिन जातीय पदार्थों का परिपाचन अत्यधिक होने के कारण शरीर में इनकी कमी होने लगती है तथा मूत्र से यूरिक एसिड-यूरिया आदि का उत्सर्ग बढ़ जाता है। संक्षेप में कार्टिजोन एक शक्तिमान अधिवृक्क ग्रन्थि का उद्रेक है, जिसका शरीर की सभी क्रियाओं पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। अधिक मात्रा में या अधिक समय तक इसका प्रयोग होने से अधिवृक्क वृद्धि के लक्षण—आकृति की गोलाई, शरीर में रोम का आधिक्य, विस्फोट, धब्बे आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। परीक्षण से यह भी पता लगा है कि कार्टिजोन के अधिक प्रयोग से अधिवृक्क ग्रन्थि सूखने लगती है तथा प्रयोग बन्द करने के उपरान्त अत्यधिक पेशी दौर्बल्य, हीन मनोबल, अनुत्साह, हीनशर्करामयता आदि अधिवृक्क ग्रन्थि की अकार्य क्षमता के लक्षण पैदा होते हैं। प्रारम्भिक अवस्था में रोगी की मानसिक शक्ति, विचार शक्ति, प्रसन्नता आदि उत्साहमूलक प्रभाव उत्पन्न होते हैं। किन्तु अधिक प्रयोग होने पर अवसाद, निद्रानाश, उन्माद, गदोद्वेग, मानसिक दौर्बल्य आदि लक्षण उत्पन्न होने हैं तथा प्रायः रक्तभार भी कुछ बढ़ जाया करता है।

कार्टिजोन किसी रोग की औषध नहीं है। अपने व्यापक प्रभाव के कारण अनेक व्याधियों की तीव्रावस्था में लाक्षणिक शान्ति के लिए इसका व्यवहार किया जाता है। यह व्याधियाँ अभी तक ज्ञात औषधियों से साध्य न थीं। किन्तु इसके प्रयोग से कुछ अंशों में उनकी साध्यता या लाक्षणिक शान्ति सम्भव हुई है। नीचे इस प्रकार की व्याधियों में कार्टिजोन के प्रयोग का निर्देश किया जाता है।

मात्रा—कार्टिजोन की मात्रा में यह सर्वमान्य नियम है कि अल्पतम मात्रा से अभीष्ट परिणाम प्राप्त किये जाँय। प्रत्येक व्यक्ति की सहन शक्ति, व्याधि की तीव्रता

आदि के अनुरूप मात्रा घटती बढ़ती रहती है। मुख द्वारा प्रयोग करने पर औषध का पूर्ण प्रचूषण तथा सिरा द्वारा प्रयोग के समान ही लाभ होता है। प्रारम्भिक मात्रा अधिक देने के बाद में २५ मि. ग्रा. दिन में ४ बार आवश्यकतानुकूल १ सप्ताह से ३ मास तक सेवन कराया जा सकता है। यदि बीच में रोगी को पर्याप्त सुधार मालूम पड़े तो क्रम से मात्रा घटा कर अल्पतम कार्यक्षम मात्रा का सेवन कराना उचित होगा। औषध सेवन आकस्मिक रूप में बन्द करने पर अनेक दुष्परिणाम होते हैं, अतः क्रम से मात्रा घटाते हुये प्रति तीसरे, चौथे दिन दे कर अन्त में बन्द करना चाहिए। व्याधि की तीव्रावस्था में या किसी कारण कुछ समय तक मुख द्वारा प्रयोग सम्भव न हो तो कार्टिजोन का सूचीवेध द्वारा २५ मि. ग्रा. मात्रा में दिन में ३-४ बार प्रयोग करना चाहिए।

आम वाताभ सन्धि शोथ (Rheumatoid arthritis, spondylitis, still's disease, etc)—इस व्याधि में सन्धियों में विकृति होने के पूर्व इस औषध का प्रयोग होने से पूर्ण लाभ होता है। औषध प्रयोग के ६ से २४ घण्टे के भीतर रोगी को सन्धि स्तब्धता में क्रमिक ह्रास अनुभव होता है तथा स्थानीय वेदना, शोथ इत्यादि की पूर्ण शान्ति २-४ दिनों में हो कर स्वाभाविक गति सन्धि में होने लगती है। व्याधि की जीर्णावस्था में मांस पेशियों का क्षय, तरुणास्थि, अस्थि या स्नायुओं की स्थायी विकृति में लाभ इतना शीघ्र नहीं हो सकता किन्तु इनमें आंशिक लाभ होने पर भी रोगी को पूर्ण लाभ का अनुभव होता है। रोगी की आहार शक्ति पर्याप्त बढ़ जाती है तथा वह उत्तरोत्तर शक्ति का अनुभव करता है। रक्त कणों की अवसादन गति (E. S. R.) बहुत शीघ्र स्वाभाविक सीमा में आ जाती है तथा शोणित वर्तुलि, रक्तप्रोभूजिन इत्यादि की मात्रा रुग्णावस्था से पर्याप्त रूप में बढ़ जाती है। संक्षेप में सभी दृष्टियों से रोग में लाभ प्रतीत होता है। किन्तु औषध प्रयोग बन्द कर देने के बाद कुछ दिन में ही सारे लक्षण पूर्ववत् हो जा सकते हैं।

मात्रा—प्रथम दिन १०० मि. ग्रा. की ३ मात्रायें, द्वितीय दिन १०० मि. ग्रा. की २ मात्रायें तथा तीसरे दिन से २५ मि. ग्रा. की ४ मात्रायें एक सप्ताह से पन्द्रह दिन तक देते रहना चाहिए। बन्द करने के पूर्व क्रम से घटाते हुये २५ मि. ग्रा. प्रातः सायं देते हुये अल्पतम कार्यक्षम मात्रा का निर्धारण करना चाहिए। प्रायः ५० मि. ग्रा. की दैनिक धारक मात्रा रोग प्रशम के लिए पर्याप्त होती है। बीच में रोग पुनर्भव के लक्षण उत्पन्न होने पर मात्रा बढ़ाई जा सकती है। प्रायः २ से ६ सप्ताह से अधिक सन्तत रूप में कार्टिजोन का प्रयोग नहीं कराया जाता तथा एक साथ ५-६ ग्राम से अधिक औषध का योग न पहुँचना चाहिए। आवश्यक होने पर १-१½ मास का विराम दे कर पुनः प्रयोग किया जा सकता है। इस औषध के द्वारा रोग की लाक्षणिक शान्ति होने पर भी रोग की समूल निवृत्ति नहीं होती। अतः बाह्य सेंक, । लेप एवं

बलवर्धक पोषक दूसरी औषधों का प्रयोग यथावश्यक करना चाहिए। कार्टिजोन की उपयोगिता जितनी व्याधि की तीव्रावस्था में है, उतनी जीर्णावस्था में नहीं।

२. **तमक श्वास** (Bronchial asthma)—दूसरी औषधों से लाभ न होने पर, विशेष कर महाश्वास (Status asthmaticus) में इसका प्रयोग सूचीवेध द्वारा ५० मि. ग्रा. प्रति ६ घण्टे पर करने से तत्काल लाभ हो जाता है। २–३ दिन में पूर्ण शान्ति हो जाने के उपरान्त औषध का मुख द्वारा धारक मात्रा में एक सप्ताह तक प्रयोग करना चाहिए। उसके बाद क्रम से इसको बन्द कर अन्य स्थायी लाभकारक योगों का व्यवहार करना चाहिए।

३. **आमवातज ज्वर** (Rheumatic fever)—इरगापाइरिन, सैलिसिलेट आदि से लाभ न होने पर तथा विशेषतया आमवातज हृद्रोग उत्पन्न होने की संभावना में कार्टिजोन का प्रयोग प्रथम दिन ३०० मि. ग्रा., द्वितीय दिन के बाद एक सप्ताह तक २०० मि. ग्रा. तथा बाद में व्याधि प्रशम हो जाने पर क्रम से मात्रा घटाते हुए १०० मि. ग्रा. प्रतिदिन २–३ सप्ताह तक देना चाहिए।

४. **नेत्र रोग** (Eye diseases)—शोथयुक्त नेत्र रोगों में प्रतिजीवि वर्ग की दूसरी औषधों द्वारा लाभ न होने पर कार्टिजोन का व्यवहार किया जाता है। अल्पतम मात्रा में नेत्र श्लेष्मल कला के भीतर के (Subcunjunctival) मार्ग से प्रयोग करने पर आश्चर्यजनक लाभ होता है। आँख में नेत्रबिन्दु के रूप में डालने से तथा मुख द्वारा सेवन करने से भी पर्याप्त लाभ होता है। सामान्यतया शोथयुक्त सभी नेत्र रोगों में इसके द्वारा लाक्षणिक शान्ति होती है। किन्तु मूल व्याधि की शान्ति के लिए विशिष्ट उपचार करने ही पड़ते हैं। इसके द्वारा केवल अत्यधिक स्थिति में नेत्र जैसे अंग की सुरक्षा होती है तथा निदान एवं चिकित्सा के लिए पर्याप्त समय मिलता है, यही इसकी उपयोगिता है।

५. **त्वग्विकार** (Skin diseases pemphigus, psoriasis, angeo-neurotic oedema, exfoliative dermatitis) आदि असाध्य स्वरूप की व्याधियों में कार्टिजोन का प्रयोग मुख द्वारा प्रथम दिन ३०० मि. ग्रा. बाद में ३ दिन तक २०० मि. ग्रा. तथा एक सप्ताह से पन्द्रह दिन तक १०० मि. ग्रा. प्रतिदिन विभक्त मात्राओं में देते रहना चाहिए। बाह्य प्रयोग के लिए हाइड्रोकार्टोन का प्रलेपार्थ उपयोग करना चाहिए।

६. **एडिसन का रोग** (Addison's disease)—इस व्याधि में २५ मिलीग्राम दिन भर में एक सप्ताह से एक मास तक, सेंधानमक (Sodium chloride) आदि अन्य सहायक औषधों के साथ प्रयोग करने से पर्याप्त लाभ होता है। यदि अल्प मात्रा में इसके साथ में ए. सी. टी. एच. का प्रयोग किया जाय तो और अधिक लाभ होता है।

ए. सी. टी. एच. (A. C T. H. or. Adreno-cortico-trophic ormone of anti, pitutary) इसका निर्माण पीयूष ग्रन्थि से किया जाता है। सका प्रभाव एड्रिनल कार्टेक्स की क्रियाशक्ति को बढ़ाकर मुख्यतया स्टेरॉयडल हार्मोन कार्टिजोन) का उद्रेक बढाकर होता है। इस प्रकार ए. सी. टी. एच. के द्वारा विषों शरीर कोषाओं की सुरक्षा, निपात का प्रतिकार, शर्करा जातीय आहार द्रव्यों का रिपाचन आदि अनेक कार्य होते हैं। ए. सी. टी. एच. के द्वारा जो कुछ भी प्रभाव ोता है, शरीर में कार्टिजोन की वृद्धि के द्वारा ही होता है। अधिवृक्क ग्रन्थि े विकृत हो जाने पर इससे कोई प्रभाव नहीं होता। इसलिए ए. सी. टी. एच. ा प्रयोग करने के पूर्व अधिवृक्क ग्रन्थि की कार्यक्षमता का ज्ञान अवश्य कर लेना ाहिए। यदि ए. सी. टी. एच. की एकक मात्रा के प्रयोग से उषसिप्रिय श्वेत ायाणुओं की रक्तगत संख्या चार घण्टे के भीतर पचास प्रतिशत कम हो जाय था मूत्र द्वारा यूरिक एसिड एवं पोटैसियम का अधिक मात्रा में उत्सर्ग हो तो शरीर में अधिवृक्क ग्रन्थि की कार्टिजोन उत्पादक कार्यक्षमता विद्यमान है, यह समझना चाहिए।

कार्टिजोन व ए. सी. टी. एच. का चिकित्सा की दृष्टि से परिणाम अनेक अंशों में समान होने पर भी कुछ भिन्नता होती है।

१. ए. सी. टी. एच. के द्वारा कार्टिजोन की अपेक्षा उषसि-प्रियों की संख्या अधिक कम होती है।

२. सोडियम का अवरोध ए. सी. टी. एच. के द्वारा अधिक होता है।

३. रक्तरस में कोलेस्टेराल और लाइपिड (Cholesterol and lipoids) का संकेन्द्रण ए. सी. टी. एच. के द्वारा अधिक प्रभावित नहीं होता, किन्तु कार्टिजोन के द्वारा अधिक होता है।

मात्रा व प्रयोग क्रम—ए. सी. टी. एच. का प्रयोग केवल सूचीवेध के द्वारा किया जाता है। व्याधि की तीव्रावस्था में २० से ५० एकक चौबीस घण्टे में सिरा द्वारा बूँद-बूँद के रूप में देना सर्वोत्तम मार्ग माना जाता है। ऐसा सम्भव न होने पर दस एकक प्रति ६ घण्टे पर पेशी या अधस्त्वचीय मार्ग से २–३ दिन तक देना चाहिए। रोग का प्रशम होने पर क्रम से मात्रा घटाते हुए अल्पतम कार्यक्षम मात्रा का प्रतिदिन उपयोग आवश्यकतानुसार करते रहना चाहिए। साधारण धारक मात्रा ५ एकक प्रतिदिन की मानी जाती है, किन्तु मात्रा का सही निर्धारण प्रत्येक रोगी में प्रारम्भिक मात्रा के प्रयोग के बाद के उत्पन्न परिणामों के आधार पर करना चाहिए। कुछ रोगियों में कार्टिजोन के साथ इसका प्रयोग करने से अथवा कुछ समय तक ए. सी. टी. एच. और कुछ समय तक कार्टिजोन का सान्तर प्रयोग करने से अधिक लाभ होता है। कार्टिजोन के समान इसका सतत प्रयोग २–६ सप्ताह से अधिक नहीं करना चाहिए।

दोनों औषधों के द्वारा निम्नलिखित प्रतिकूल परिणाम हो सकते हैं—

१. मधुमेह के समान रक्त-शर्करा की वृद्धि तथा मूत्र में शर्करा की उपस्थिति। यह परिणाम प्रायः प्रयोग के तुरन्त बाद प्रारम्भिक दिनों में, अधिक मात्रा देते समय होता है। इनके द्वारा इंसुलिन निष्क्रिय हो जाती है, अतः रक्तशर्करा को कम करने के लिए अपेक्षाकृत बहुत अधिक मात्रा में इंसुलिन देनी पड़ती है।

२. सोडियम का शरीर में अधिक मात्रा में अवरोध होता है, परिणाम में जल का अधिक संचय होता है, जिससे शोफ, जलोदर, जलोरस आदि हृदय की अकार्यक्षमता के समान उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। प्रायः रक्तनिपीड भी बढ़ता है तथा जलाधिक्य से रक्त की मात्रा शरीर में बढ़ जाती है।

३. प्रोभूजिनों का परिपाचन अत्यधिक होता है, जिससे शरीर का मांसक्षय हो जाता है, एतदर्थ इनके सेवन-काल में पर्याप्त मात्रा में प्रोभूजिन का सेवन कराना आवश्यक है।

४. मूत्र द्वारा पोटासियम अत्यधिक मात्रा में उत्सर्गित हो जाता है, जिससे पेशी दौर्बल्य, कम्प आदि गम्भीर लक्षण उत्पन्न होते हैं। प्रयोग काल में पोटासियम का पर्याप्त सेवन आवश्यक है।

५. सारे शरीर में रोम-वृद्धि तथा युवान पिडिका के समान पिडिकाएँ निकलती हैं।

६. कर्णनाद, बाधिर्य, षष्ठ एवं सप्तम शीर्षण्य नाड़ी का अंगघात होकर कशिंग्स सिंड्रोम (Cushings syndrome) के समान स्थिति बहुत काल तक औषध सेवन करने से उत्पन्न होती है।

७. शस्त्रकर्म जन्य व्रणों का प्रपूरण नहीं होता तथा पुराने व्रणों का विदार होने की सम्भावना तन्तुकोषाओं (Fibrous tissue) का द्रावण होने से होती हैं।

८. कुछ रोगियों में अपस्मार के समान आक्षेपयुक्त मूर्च्छा का उपद्रव भी प्रयोग-काल में उत्पन्न हुआ है।

९. औषध-प्रयोग बन्द करने के बाद चिकित्स्य व्याधि के सभी लक्षण पूर्वापेक्षा तीव्ररूप में पुनः उत्पन्न हो सकते हैं।

इन परिणामों पर विचार करते हुए निम्नलिखित व्याधियों में प्रयोग न करना तथा नियमित रूप से विपरिणामों के लिए सूक्ष्म परीक्षण करते रहना आवश्यक है।

१. हृद्रोग से पीडित व्यक्तियों में प्रयोग न करना, अनिवार्यतः आवश्यक होने पर आहार में सोडियम के योग कम तथा जल भी कम पिलाना चाहिए। प्रारंभ में अल्प-मात्रा ही देना तथा अधिक दिन प्रयोग न करना चाहिए।

२. वृक्क विकारों से पीडित, मूत्रावरोध, मूत्राघात से पीडित होने का इतिहास होने पर न देना।

३. इसके प्रयोग से मानसिक उत्तेजना उत्पन्न होती है, जिससे उन्माद, गद्गदोद्वेग आदि लक्षण होते हैं, कुछ रोगियों में आत्मघाती प्रवृत्ति होती है, अतः प्रयोग काल में पर्याप्त सुरक्षात्मक सावधानी रखनी चाहिए।

४. कुछ रोगियों में अवटुका ग्रन्थि पर इनका अवसादन परिणाम होकर उसकी कार्यहीनता उत्पन्न हुई है, उसी प्रकार मधुमेह से पीडित व्यक्तियों में इंसुलिन की निरर्थकता उत्पन्न होने से गंभीर परिणाम हुए हैं। इन स्थितियों में प्रयोग न करना ही अच्छा है।

५. इनके प्रयोग से आमाशय-पक्काशय के व्रणों में विदार की संभावना होती है। पुराने व्रण रोगमुक्त रोगियों में व्याधि का पुनरुद्भव होता है।

६. राजयक्ष्मा का उपसर्ग शरीर में होने पर इनके प्रयोग से उसका प्रसार होता है, अतः क्षय की संभावना में प्रयोग न करना चाहिए।

७. इनके प्रयोग-काल में दूसरे औपसर्गिक रोगों से आक्रान्त होने पर भी लक्षण उत्पन्न नहीं होंगे, प्रयोग बन्द करने पर आकस्मिक रूप में गंभीर लक्षण उत्पन्न होंगे, शरीर की प्रतिकारक शक्ति के अत्यधिक क्षीण एवं निष्क्रिय हो जाने के कारण रोगी का बचना कठिन हो जाता है। अतः शरीर में औपसर्गिक रोगों की उपस्थिति में इनका प्रयोग न करना चाहिए। आमवात, नेत्रशोथ आदि औपसर्गिक व्याधियों में ही प्रयोग करना हो, तो अधिक काल तक न देना चाहिए तथा दूसरी औषधियों से लाभ हो सकने की स्थिति में इनका सेवन क्रम से कम कराकर बन्द कर देना चाहिए।

इस प्रकार राजयक्ष्मा, आमाशय-पक्काशय व्रण, शल्य-व्रण, तृणाणुजन्य उपसर्ग, हृदय-वृक्क के रोग, मधुमेह, उच्च रक्तनिपीड आदि में इनका प्रयोग न करना चाहिए।

विशेष निर्देश—

यह परम शक्तिशाली योग हैं, लाभकारक होने के साथ ही गंभीर स्वरूप के हानिकारक परिणाम भी उत्पन्न कर सकते हैं। अतः प्रयोग-काल में निम्नलिखित परीक्षण करते रहना आवश्यक है—

१. रोगी की प्रथम २ सप्ताह तक चिकित्सक द्वारा निरन्तर देखरेख आवश्यक है, अतः आतुरालय प्रविष्ट रोगियों में ही इनका प्रयोग करना चाहिए।

२. प्रथम २ सप्ताह में निम्नलिखित परीक्षण प्रतिदिन करना तथा सूक्ष्म निरीक्षण आवश्यक है—(१) रक्त निपीड, (२) शरीर भार (शोथ की जानकारी के लिए), (३) ए. सी. टी. एच का प्रभाव एवं अधिवृक्क ग्रंथि की कार्यक्षमता के ज्ञान के लिए उग्रसिप्रियों की संख्या जानने के लिए दैनिक श्वेतकण परिगणना, (४) प्रति ४–५ दिन पर रक्त की सकल परीक्षा (Total, diff. W. B. C., total R. B. C., Hb., E. S. R. etc.), (५) दैनिक मूत्र परीक्षा तथा शर्करा एवं पोटासियम का आधिक्य होने पर रक्त परीक्षा द्वारा इनका प्रतिशत अनुपात जानना चाहिए।

३. सभी रोगियों को प्रोभूजिन-भूयिष्ठ आहार देना चाहिए।

४. पोटासियम क्लोराइड १५ ग्रेन में दिन में ३–४ बार देना।

५. शरीर भार वृद्धि से सोडियम का अवरोध समझ कर आहार से उसका त्याग करना।

६. अधिक समय तक औषध का प्रयोग आवश्यक होने पर प्रोभूजिन तथा पोटासियम का संतुलन रखने के लिए टेस्टोस्टेरान (Testosteron propreonate) का १० से २५ मि. ग्रा. की मात्रा में प्रतिदिन प्रयोग करना चाहिए।

७. व्याधि की तीव्रावस्था शान्त हो जाने पर अल्पतम धारक मात्रा का ही व्यवहार करना, तथा जितनी कम मात्रा में लाभ हो, प्रारम्भ से कम मात्रा ही देने की चेष्टा करनी चाहिये।

८. सेवन बंद करने के लिए औषध की मात्रा प्रतिदिन क्रम से घटाना, प्रति तीसरे-चौथे दिन देकर अन्त में पूर्णतया बन्द कर देना चाहिए, यकायक कभी बंद न करना चाहिए।

९. कार्टिजोन का सेवन बन्द करने के कुछ दिन पूर्व ए० सी० टी० एच० का प्रयोग प्रारम्भ कर देना चाहिए। क्योंकि कार्टिजोन की अधिक मात्रा से पीयूषग्रन्थि से स्वभावतया नियमित रूप से बनने वाला ए० सी० टी० एच० नहीं बनता, जिससे कार्टिजोन बंद करने पर अभावजन्य लक्षण उत्पन्न होते हैं।

१०. कार्टिजोन तथा ए० सी० टी० एच० का चिकित्सा में संयुक्त प्रयोग अपेक्षाकृत निरापद माना जाता है, क्योंकि केवल कार्टिजोन के प्रयोग से अधिवृक्क ग्रन्थि का अपचय होने लगता है तथा केवल ए० सी० टी० एच० के प्रयोग से मात्रा का ठीक नियन्त्रण नहीं होने के कारण अभीष्ट परिणाम नहीं होते। ए० सी० टी० एच० तथा कार्टिजोन का संयुक्त प्रयोग क्रम से १:२ या १:३ के अनुपात में करना चाहिए।

११. हाइड्रोकार्टिजोन (Hydrocortisone) नामक नवीन एड्रेनल स्टेरॉयड का कार्टिजोन के बाद आविष्कार हुआ है, जो कार्टिजोन से १½ गुना शक्तिशाली तथा अल्प विषाक्त परिणाम वाला माना जाता है। कार्टिजोन के स्थान में इसका प्रयोग यथा निर्देश किया जा सकता है।

दोनों औषधियों के संयुक्त प्रयोग से कुछ व्याधियों में विशिष्ट उपयोगिता सिद्ध हुई है। नीचे इस प्रकार की साध्य-असाध्य व्याधियों का निर्देश किया गया है।

१. शीघ्र प्रभावित होने वाली व्याधियाँ, जिनमें संतोषजनक दीर्घकालीन लाभ हो सकता है—आमवाताभ संधिशोथ, तीव्र आमवात, अस्थि अन्तः सुषिरता, शोथयुक्त नेत्रविकार, वात-रक्तज संधि विकार, अनूर्जताजनित व्याधियाँ, तृण गंधजज्वर, असात्म्य विषजन्य शोथ (Angio-neuratic oedema), लसिका रोग, अनवधानता, तमक श्वास, तीव्र त्वचा शोथ, शीतपित्त, घातक विसर्प (Pemphigus), औपसर्गी व्याधियों की तीव्र विषमयता। एडिसन की व्याधि में केवल कार्टिजोन से लाभ होता है। अभिघात, अग्निदाह एवं शल्यकर्मजन्य निपात, रक्तस्रावी व्याधि (Purpura) तथा श्वेतकणमयता (Leukaemia)।

२. संतोषजनक किन्तु अस्थायी परिणाम वाली व्याधियाँ—सव्रण स्थूलान्त्रशोथ-क्षुद्रान्त्र-शोथ, सॉरिएसिस (Psoriasis), जीर्ण लस कणमयता (Chronic lymphoid leukaemia)।

३. अल्पकालीन लाभ वाली व्याधियाँ:—घातकलसार्बुद (Lymphosarcoma), हाझकिन्स की व्याधि (Hodgekins disease), यकृच्छोथ तथा पित्तविषमयता (Hepatitis & Choleamia), तीव्र श्वेतकणमयता (Acute lymphocytic or granulocytic leukaemia)

व्यावहारिक निर्देश—

१. प्रथम वर्ग में जिन व्याधियों का संग्रह किया गया है, उनकी तीव्रावस्था में ही इन औषधियों का विशिष्ट परिणाम होता है। इस वर्ग की व्याधियों की कोई दूसरी उत्तम व्यवस्था ज्ञात नहीं है, इसीलिये कार्टिजोन आदि का प्रयोग किया जाता है।

२. नेत्र-त्वचा आदि के विकारों में स्थानीय प्रयोग विशेष लाभ करता है तथा दुष्परिणाम भी नहीं होते। केवल अति तीव्रावस्था में सार्वदैहिक प्रयोग करना पड़ता है।

३. इनके प्रयोग से शरीर की कोषाओं में विशेष प्रकार की दृढ़ता उत्पन्न होती है, जिससे विजातीय उपसर्ग रहने पर भी उसकी प्रतिक्रिया नहीं व्यक्त होती।

४. इनका प्रयोग केवल जीवन-रक्षा के लिए आत्ययिक औषध के रूप में करना चाहिए, नियमित चिकित्सा के रूप में नहीं। साध्य स्थिति हो जाने पर दूसरे साधनों से काम लेना चाहिए।

५. कम से कम कार्यक्षम मात्रा का प्रयोग करना चाहिए तथा मात्रा-निर्धारण प्रत्येक व्याधि में तीव्रता-मृदुता एवं रोगी की अवस्था के अनुरूप करना चाहिए।

६. प्रयोग के पूर्व निषेधोक्त व्याधियों का ध्यान रखना चाहिए।

७. इन द्रव्यों से व्याधियों की तीव्रावस्था में विशेष सहायता मिलती है—विषमयता के लक्षणों का कुछ काल तक नियंत्रण होने से दूसरी औषधियों के कार्यक्षम होने का अवकाश मिल जाता है। जीर्ण व्याधियों में यथाशक्ति इनका प्रयोग न करना ही उत्तम है, इनके द्वारा व्याधियों में होने वाला लाभ व्याधियों से मुक्ति का लक्षण नहीं–वह 'रिहाई' नहीं 'मुहलत' है।

प्रेडनिसोन तथा प्रेडनीसोलोन (Prednisone & Prednisolone)

कार्टिजोन तथा हाइड्रोकार्टिजोन के परवर्ती उत्पादन प्रेडनिसोन तथा प्रेडनिसोलोन हैं। यह ग्लूकोकार्टिन वर्ग के द्रव्य (Glucocorticoids) कार्टिजोन तथा हाइड्रो-कार्टिजोन की अपेक्षा बहुत कम हानि करने वाले तथा गुणधर्म में समान प्रभाव वाले माने जाते हैं। कार्यक्षम मात्रा उनकी कार्टिजोन की अपेक्षा बहुत कम होती है।

मात्रा—सामान्यतया ५ मि० ग्राम० की एक मात्रा दिन में ३–४ बार प्रयुक्त होती

है। कुछ व्याधियों में—श्वास, त्वचा के विकार आदि में—४०-६० मि० ग्रा० की दैनिक मात्रा तक इनका प्रयोग किया जाता है। पेशी, सिरा या सन्धियों में स्थानीय गुण के लिये प्रयोग रूप में सूचीवेध के योग भी मिलते हैं।

गुणधर्म—कार्टिजोन के समान ही आमवात, आमवाताभ संधिशोथ, श्वास, अनूर्जता मूलक विकृतियाँ, एक्जिमा, त्वक्शोथ, शीतपित्त, कण्डू आदि अनेक व्याधियों में लाक्षणिक उपशम के लिए इनका व्यवहार किया जाता है। तीव्र संक्रामक व्याधियों की विषमयता के शमन के लिए, उस व्याधि की विशिष्ट रामबाण औषधि सी सहयोगी औषधि के रूप में इनका प्रयोग किया जाता है। १५-२० दिन तक इनका सेवन कराने से शरीर में किसी प्रकार के दुष्परिणाम नहीं होते। सोडियम का अवरोध या पोटेसियम का उत्सर्ग अथवा सुप्त आमाशयिक व्रण का पुनः उद्भेद आदि कार्टिज़ोन के अनेक विषाक्त परिणाम प्रेडनिसोन या प्रेडनिसोलोन के प्रयोग से प्रायः नहीं होते या इनकी बहुत अधिक मात्रा के दीर्घ काल के सेवन से होते हैं। इस दृष्टि से अल्पकाल के लिये इनका प्रयोग आवश्यक होने पर किसी विशेष संयम की अपेक्षा नहीं होती। कार्टिजोन के समान इन द्रव्यों को भी अधिक मात्रा में प्रयोग करा कर तथा चिकित्सा परिणाम स्पष्ट होने पर धीरे-धीरे धारक मात्रा में सेवन कराया जाता है।

निर्देश—

१. कार्टिजोन के समान इस वर्ग की औषधियों का प्रयोग दीर्घकाल तक होने पर शरीर के प्राचीन रोपित व्रणों का पुनः विदार हो सकता है। इस दृष्टि से शल्य कर्म के बाद, आमाशयिक या पक्वाशयिक व्रण (Peptic ulcer) आदि से अतीतकाल में पीड़ित व्यक्तियों में इनका प्रयोग दीर्घकाल तक न करना चाहिये।

२. कभी-कभी इन औषधियों के प्रयोग से मानसिक असन्तुलन या मधुमेह के से दुष्परिणाम उत्पन्न हो जाते हैं। मधुमेह से पीड़ित व्यक्तियों में इनका प्रयोग यथाशक्ति न करना ही अच्छा है तथा जिन व्यक्तियों में मानसिक असन्तुलन का इतिवृत्त मिलता हो, उनमें भी इनके प्रयोग काल में बहुत सावधानी रखनी चाहिये।

३. तीव्र संक्रामक व्याधियों में इन औषधियों के प्रयोग से कोई तात्त्विक लाभ नहीं हो सकता। किन्तु प्रतिजीवी वर्ग की या विशिष्ट रासायनिक औषधियों के प्रयोग के साथ विषमयता की शान्ति के लिये इनका आपत्कालीन प्रयोग कुछ समय तक किया जा सकता है।

४. स्वल्पकाल के लिये इनका प्रयोग करने पर सोडियम एवं पोटेशियम का शरीर में असन्तुलन नहीं पैदा होता। किन्तु अधिक मात्रा में या दीर्घकाल तक इनका प्रयोग आवश्यक होने पर पोटैसियम की पूर्ति के लिये पोटास साइट्रास १०-१५ ग्रेन की मात्रा में दिन में दो बार देना चाहिये।

५. राजयक्ष्मा के उपसर्ग में इनके प्रयोग से उपसर्ग के शरीर में व्यापक प्रसार की सम्भावना हो सकती है, अतः यक्ष्मनाशक दूसरी ओषधियों का पूरी मात्रा में कुछ काल तक प्रयोग करने के बाद क्षयजग्रन्थियों या क्षयज तन्तूत्कर्ष के द्रावण के लिये इनका प्रयोग सावधानी पूर्वक किया जा सकता है। क्षयज मस्तिष्कावरण शोथ तथा क्षयज दूसरी उग्र व्याधियों में विषमयता के शमन के लिये कुछ काल तक इनका प्रयोग करने में कोई हानि नहीं होती। किन्तु क्षयनाशक विशिष्ट ओषधियों का प्रयोग पूर्ण मात्रा में इनके साथ करना आवश्यक है।

इस वर्ग को नवीन ओषधियाँ—प्रेडनिसोन वर्ग की ओषधियों के परिष्कृत तथा अधिक बलवान् एवं स्वल्पतम हानिकर प्रभाव वाले दो नवीन द्रव्य आविष्कृत हुये हैं—ट्रायमसिनॉलोन (Triamcinolone) तथा डेक्सामेथासोन एसिटेट (Dexamethasone acetate)।

ट्रायमसिनॉलोन (Triamcinolone)—इस वर्ग की केनाकोर्ट (Kenacort) तथा लेडरकार्ट (Ledercort) इन दो पेटेण्ट नामों से औषध मिलती है। ४ मि० ग्रा० की एक टिकिया दिन में २ या ३ बार दी जाती है। गुणधर्म की दृष्टि से प्रेडनिसोन वर्ग की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली तथा अपेक्षाकृत स्वल्प मात्रा में कार्यक्षम होती है। इनके प्रयोग से कुछ दिनों तक मूत्र की राशि बढ़ जाती है, जिससे लवण का अंश उत्सर्गित हो जाता है। शरीर में शोथ होने पर मूत्रल होने के कारण बिना किसी दूसरी मूत्रल ओषधि के शोथ का शमन हो सकता है। मूत्र वृद्धि के कारण इनके प्रयोग से शोथ न होने पर शरीर का द्रवांश निकल जाने के कारण शरीर का भार कुछ घट सकता है। इस वर्ग की दूसरी ओषधियों की अपेक्षा हानिकर परिणाम न्यूनतम होने के कारण ट्रायमसिनॉलोन का प्रयोग अधिक निरापद माना जाता है। दीर्घकाल तक इसका प्रयोग चलने पर आकृति में भोलापन (Moony) तथा ग्रीवा में मेद का अधिक मात्रा में संचय और क्षुधा के न बढ़ने तथा मूत्र के द्वारा शरीर के द्रवांश निकल जाने के कारण शरीर की क्षीणता आदि दुष्परिणाम होते हैं। यह एक व्यापक प्रभावशाली ओषधि है, जिसका प्रयोग एवं मात्रा का निर्धारण व्याधियों की तीव्रता एवं व्यक्तियों की सात्म्यता के आधार पर करना चाहिये।

डेक्सामेथासोन (Dexamethasone)—डेकाड्रान (Decadron), डेक्साकार्टिसिल (Dexacortisyl)—आज तक की ज्ञात कार्टिकोस्टेरॉइड (Corticosteroids) वर्ग की ओषधियों में सर्वाधिक प्रभावशाली ओषधि डेक्सामेथाजोन है। इसकी कार्यक्षम मात्रा ०·५ मि० ग्रा० है। दिन में २ या ३ बार पर्याप्त होती है। इसका प्रयोग मुख द्वारा या सूचीवेध से किया जा सकता है। शेष गुणधर्म पूर्ववर्ती द्रव्यों के समान ही होते हैं।

इन ओषधियों का कुछ काल तक सेवन कराने के बाद ओषधि का परित्याग बहुत

धीरे-धीरे मात्रा कम करते हुए किया जाता है। परित्याग के समय (A. C. T. H.) से सूचीवेध २-३ दिन देने से शरीर की कार्टिकोस्टेरायडस् उत्पादन क्षमता आक्रान्त नहीं होने पाती। इन औषधियों के सेवनकाल में प्रोभूजिन भूयिष्ठ आहार अधिक मात्रा में देने चाहिये अन्यथा प्रोभूजिनों का अधिक पाचन हो जाने के कारण शरीर कृश हो सकता है। इस नवीन वर्ग की औषधियाँ अधिक प्रभावकारी होती हैं, इसलिये अल्पतम गुणकारी मात्रा में ही प्रयोग कराना चाहिये। कदाचित् कुछ व्याधियों में अधिक काल तक या अधिक मात्रा में सेवन करना आवश्यक हो तो प्रतिकूल परिणामों की ओर विशेष ध्यान रखना चाहिये।

प्रतिजीवक द्रव्य (Antibiotics)

अनेक प्राणी विकारकारी जीवाणुओं का प्रतिकार-विनाश करने के लिये अपने शरीर से कुछ ऐसे द्रव्य बनाते हैं, जिनसे जीवाणुओं की वृद्धि संभव नहीं होती। यद्यपि आज से बहुत समय पूर्व उस समय के प्रमुख विद्वान्—जीवाणु-विज्ञान के प्रमुख स्तम्भ—डा० पाश्चर ने किसी प्रयोग के समय देखा कि कुछ छत्रकों (Moulds) के कारण अनेक गोलाणुओं का विनाश हो गया, किन्तु इस तथ्य पर उस समय विशेष ध्यान नहीं दिया गया। डा० फ्लेमिंग (Sir Alexander Fleming) को इसका श्रेय है, जिन्होंने सन् १९२९ में पेंसिलियम नोटैटम नामक छत्रक (Fungus Penicillium Notatum) के संवर्द्धन से प्राप्त निस्यन्दित सत्त्व से कुछ गोलाणुओं को बहुत शीघ्रता से नष्ट होते देखा। इस विशेष तथ्य की ओर उनका आकर्षण हुआ और प्रतिजीवक द्रव्यों में सर्व प्रथम पेनिसिलिन (१९२९) की उत्पत्ति हुई। तब से असंख्य अनुसंधान इस दिशा में किए गये, और प्रतिवर्ष उपयोगी प्रतिजीवी द्रव्यों की संख्या बढ़ती जा रही है।

डा० फ्लेमिंग ने प्रतिजीवी द्रव्य की परिभाषा इस प्रकार बताई है—सजीव कोषाओं के स्वाभाविक विकास के समय कुछ ऐसा द्रव्य उत्पन्न होता है, जिसका विशिष्ट प्रभाव विकारी सूक्ष्म जीवाणुओं पर विघातक या अवरोधक स्वरूप का होता है, उस द्रव्य को सहजीविता (Symbiosis) विरोधी तथा सजीव सृष्टि से उत्पन्न होने एवं प्रतिजीविता (Antibiosis) गुण के कारण प्रतिजीवक या प्रतिजीवी कहा है। अर्थात् एक श्रेणी के जीवाणु दूसरी जाति के जीवाणुओं के लिये प्रतिकूल परिस्थिति उत्पन्न करके उनके पोषण, प्रजनन में बाधा डालते या विनाश करते हैं, उन्हें प्रतिजीवक कहते हैं। यह सीमा जीवाणुओं तक ही नहीं सीमित है, वानस्पतिक तथा प्राणिजन्य अनेक द्रव्यों का इसी में अन्तर्भाव होता है।

इन औषधियों के आविष्कार से चिकित्सा में व्यापक परिवर्तन हुए हैं तथा पुरानी मान्यताओं में भी बहुत उथल-पुथल हुई है। अनेक असाध्य व्याधियों या असाध्य अवस्थायें अब साध्य हो गई हैं, शल्यक्रिया अधिक निरापद हो गई है और इनके

व्यापक प्रयोग से विकारकारी तृणाणुओं एवं जीवाणुओं का विनाश होने के कारण विषाणु (Virus) जनित संक्रमणों की संख्या बहुत बढ़ गई है ।

यहाँ पर प्रमुख प्रतिजीवी वर्ग की ओषधियों का संक्षिप्त वर्णन किया जायगा ।

पेंनिसिलिन—इसकी उत्पत्ति कूर्चक या छत्रक (Moulds) से होती है । अनेक भेद सोडियम या पोटासियम के योग के रूप में एफ० जी० एक्स० (F. G. X.) आदि के रूप में होते हैं । सोडियम तथा पोटासियम के लवण रूप में पेनिसिलिन शुष्क, स्फटिकाकार तथा स्थिर स्वरूप की होती है । १००° सेंटिग्रेड के तापक्रम में रहने पर भी उसका गुण कम नहीं होता, किन्तु विलयन के रूप में ३ दिन भी पूर्ण शक्ति सुरक्षित नहीं रह पाती । सोडियम पोटासियम के लवण योगों के पूर्व अनाकार (Amorphous) के रूप में यह अधिक स्थिर मानी जाती थी, किन्तु कुछ अशुद्धियाँ होने के कारण उसका व्यावहारिक महत्त्व नहीं है । चिकित्सा में पेनिसिलिन जी० क्रिस्टलाइन सोडियम साल्ट (Penicillin G. crystalline sodium salt) का ही अधिक उपयोग होता है।

पेनिसिलिन का निर्माण पेंनिसिलिन नोटेटम तथा क्रायसोजिनम (Penicillin notatum & chrysogenum) नामक छत्रक से किया जाता है । व्यवहार में पेनिसिलोइक एसिड (Penicilloic acid) के स्फटिकाकार सोडियम, कैलसियम, पोटासियम तथा प्रोकेन के लवण प्रयुक्त होते हैं ।

छत्रक से पेंनिसिलिन के ४ प्रकार उत्पन्न होते हैं (F. G. X. K.), जिनमें केवल पेंनिसिलिन जी० की उपयोगिता है । एक्स० का गुणधर्म कुछ भिन्न है, विलम्ब से उत्सर्ग होता है और लसीका प्रोभूजिनों के साथ निबद्ध हो जाने के कारण निष्क्रिय हो जाता है । इनकी मात्रा का निर्धारण तृणाणुनाशक शक्ति के आधार पर किया जाता है, भार के आधार पर नहीं । प्रायः क्रिस्टलाइन सोडियम पेंनिसिलिन जी० की १५०० एकक शक्ति १ मिलीग्राम में होती है । शुष्कावस्था में इसकी शक्ति सामान्य तापक्रम में पर्याप्त समय तक सुरक्षित रहती है, किन्तु घोल बन जाने पर ३ दिन से अधिक नहीं रहती, तथा शीत स्थान में रखना आवश्यक होता है ।

गुण धर्म—अल्प सकेन्द्रण में तृणाणुस्तम्भक तथा अधिक मात्रा में होने पर तृणाणुनाशक होती है । तृणाणुनाशन किस प्रकार संभव होता है, यह अभी तक स्पष्ट रूप में ज्ञात नहीं हो सका है । संभव है कुछ अंशों में तृणाणुओं का द्रावण हो जाता हो । शुल्वौषधियों के द्वारा तृणाणुओं की वृद्धि धीरे-धीरे रुकती है, किन्तु इससे उनका शीघ्र नाश हो जाता है और पूय तथा पारा एमिनो बेंजोइक एसिड (P. A. B. A.) आदि का कोई अवरोधक प्रभाव भी इस पर नहीं पड़ता । पेनिसिलिन के द्वारा तृणाणुओं के अन्तः या बहिर्विष का नाश नहीं होता, अतः एक साथ अत्यधिक मात्रा में प्रयोग करने पर जीवाणुओं का विनाश होने से अन्तर्विष की अधिक मात्रा शरीर में स्वतंत्र रूप में व्याप्त हो सकती है, ऐसी स्थिति में विषनाशक

सक्षम लसीका आदि का प्रयोग करना या पेनिसिलिन की साधारण मात्रा व्यवहार करना आवश्यक होता है। अधिक समय तक सूर्यताप में रखने या उबालने से यह निष्क्रिय हो जाती है तथा जीवाणुनाशक द्रवों से भी इसकी शक्ति घटती है, अतः व्रणों आदि के स्थानीय उपचार के समय जीवाणुनाशक पोटास परमैंगनेट, आयडोफार्म आदि से व्रण-शोधन न करना चाहिए। कुछ जीवाणु पेनिसिलिन विरोधी (Penicillinase) द्रव्य का निर्माण करके इसकी शक्ति को व्यर्थ कर देते हैं। यह विरोधी शक्ति स्थूलांत्र दण्डाणु (B. coli) तथा स्तबक गोलाणुओं में अधिक होती है। जो तृणाणु असहनशील होते हैं, उन्हीं पर इसका प्रभाव स्पष्ट होता है। प्रतिकारक्षम जीवाणुओं पर इससे कोई लाभ नहीं होता। अलग कोष्ठक में प्रतिजीवी तथा शुल्वौषधियों की उपयोगिता का निर्देश किया गया है।

ग्रामग्राही तृणाणुओं पर पेनिसिलिन का व्यापक प्रभाव होता है। व्यावहारिक दृष्टि से कुछ जीवाणु अत्यन्त सूक्ष्मवेदी तथा कुछ प्रतिकारक होते हैं। प्रतिकारक तृणाणुओं के उपसर्ग से उत्पन्न रोगों में जब तक इसका रक्त में संकेन्द्रण अधिक मात्रा में नहीं होता (१० से १००० एकक प्रति सी० सी०) तब तक लाभ नहीं होता। इस दृष्टि से पेनिसिलिन का प्रयोग करने से पहले सूक्ष्मवेदिता-प्रतिकारकता के आधार पर जीवाणु का पूर्व निश्चय कर लेना आवश्यक है।

प्रारंभ में पेनिसिलिन को अतिशीतस्थान में सुरक्षित रखना पड़ता था, किन्तु, आजकल स्फटिकाभ शुष्क कण के रूप में पेनिसिलिन जी या प्रोकेन आदि को साधारण ताप में तीव्र वायु एवं धूप से बचाते हुए अंधेरे स्थल में पर्याप्त समय तक (लगभग २ वर्ष) कार्यक्षम रख सकते हैं। सोडियम तथा पोटासियम पेनिसिलिन का चिकित्सा में सार्वदेही प्रयोग के रूप में प्रमुखतया उपयोग होता है और कैल्सियम के योग का प्रयोग स्थानीय कार्य के लिए, विशेषतया शल्यकर्म में, किया जाता है।

इसका प्रयोग करने के पूर्व पूर्ण संशोधित परिश्रुत शीत जल में घोल बनाना होता है। शीत ऋतु में इस घोल को नए मिट्टी के वर्त्तन में पानी भरकर सुरक्षित रखा जा सकता है, किन्तु यथा संभव बर्फ या रेफ्रिजेरेटर में ही रखना चाहिए, अन्यथा उत्तरोत्तर शक्ति का ह्रास होता जाता है। यह सुविधा न होने पर अधिक मात्रा में एक साथ घोल न बनाकर १, २ लक्ष एकक की मात्रा में आवश्यकतानुसार घोल बनाकर तुरन्त प्रयोग करना चाहिए।

तृणाणुनाशक प्रभाव इसके रक्त संकेन्द्रण पर निर्भर करता है। सामान्यतया ·०३ से ·०६ एकक प्रति सी० सी० संकेन्द्रण रक्त में पेनिसिलिन का होना आवश्यक माना जाता है। जीवाणुओं की सूक्ष्मवेदिता के आधार पर रक्त संकेन्द्रण अधिक या कम अपेक्षित होता है। जीवाणुओं का सही ज्ञान होने पर इसका निम्नलिखित व्याधियों में यथा निर्देश-प्रयोग किया जा सकता है।

१. **अत्यन्त सूक्ष्मवेदी वर्ग**—इसके लिए रक्त संकेन्द्रण ·००५ से ·०५ एकक प्रति सी० सी० तक होने पर तृणाणु स्तंभन होता है। इस वर्ग में फुफ्फुस गोलाणु, गुह्यगोलाणु, मस्तिष्क गोलाणु, पूयोत्पादक तथा शोणांशिक हरित माला गोलाणु, शुक्ल वर्णी स्तबक गोलाणु, किरण कवक (Actinomycetes) फिरंग कुंतलाणु, विंसेण्ट्स एंजिना (Vincents angina) तथा अंथ्राक्स दण्डाणुओं के उपसर्ग से होने वाले रोग आते हैं।

२. **सूक्ष्मवेदी वर्ग**—इसमें पेनिसिलिन का रक्त संकेन्द्रण ०·१ से ०·५ एकक प्रति सी० सी० के अनुपात में होना आवश्यक है। इसके अन्तर्गत रोहिणी दण्डाणु, धनुर्वात-वातकर्दम तथा ब्रसेला वर्ग के एथ्राक्स तृणाणु एवं औपसर्गी कामला कुंतलाणु (Leptospira Icteroheamorrha gica) के द्वारा उत्पन्न व्याधियाँ समाविष्ट होती हैं। अत्यन्त सूक्ष्मवेदी वर्ग के लिए भी यदि ·१ से ·५ तक का संकेन्द्रण रहे तो उत्तरकालीन प्रतिकारकता की संभावना नहीं होती।

३. **मध्य प्रकारक वर्ग**—इसमें रक्त संकेन्द्रण १ से १० एकक प्रति सी० सी० होना आवश्यक है। इसमें श्लेष्मक दण्डाणु, मल मालागोलाणु (Str. feacalis), आंत्रिक एवं उपांत्रिक ज्वर दण्डाणु, शिगातिसार दण्डाणु, प्रोटियस वल्गारिस (Proteus vulgaris) आदि के द्वारा उत्पन्न व्याधियों का समावेश होता है। सूक्ष्म वेदी वर्ग की कुछ प्रतिकारक उपजातियों में भी यही संकेन्द्रण अपेक्षित है।

४. इसके अतिरिक्त कीटाणु, विषाणु तथा रिकेटसिया आदि के द्वारा उत्पन्न रोगों में रक्त संकेन्द्रण १०-१००० एकक प्रति सी० सी० तक आवश्यक होता है, किन्तु उतना उच्च संकेन्द्रण शक्य न होने के कारण इस वर्ग के जीवाणुओं में पेनिसिलिन का उपयोग नहीं किया जाता। स्थानीय प्रयोग में यथेष्ट संकेन्द्रण किया जा सकता है। अतः त्वचा के व्रणों, पूयोरस या मस्तिष्कावरण शोथ (इंफ्लुएन्जा जनित) आदि मध्यप्रतिकारक वर्ग द्वारा उत्पन्न व्याधियों में स्थानीय प्रयोग किया जाता है। इसका उत्सर्ग मूत्र द्वारा होता है, इसलिए मूत्रमार्ग के मध्यप्रतिकारक जीवाणुजन्य व्याधियों में भी पर्याप्त संकेन्द्रण होने के कारण लाभ हो जाता है।

सामान्यतया ५० सहस्र एकक की मात्रा में प्रति ३ घंटे पर पेशीमार्ग से पेनिसिलिन जी० का प्रयोग करने से आवश्यक संकेन्द्रण (·५ एकक प्रति सी०सी० तक) हो जाता है।

प्रवेश मार्ग—

सिरा—स्फटिकाभ पेनिसिलिन को ५० सहस्र एकक ५ सी० सी० परिश्रुत शीतल जल में घुलाकर सिरा द्वारा देने पर रक्त का संकेन्द्रण सद्यः १ एकक प्रति सी० सी० तक हो जाता है। किन्तु २ घंटे के भीतर अधिकांश (७५% प्रायः १५ मिनट बाद तथा ९०% प्रायः ३० मिनट में, शेष २ घंटे में) मूत्र द्वारा उत्सर्गित हो जाता है, अतः सिरा द्वारा पूर्ण लाभ चाहने पर निरन्तर बूंद-बूंद रूप में प्रयोग करना चाहिए।

कभी-कभी घनास्र सिराशोथ (Thrombo-phlebitis) सिरा द्वारा प्रयोग में होता है। आत्ययिक स्थिति में प्रारंभिक मात्रा (Initial dose) के रूप में अथवा परिसरीय रक्त प्रवाह की शिथिलता के कारण मांस द्वारा प्रयुक्त औषध का प्रचूषण संभव न होने पर इस मार्ग से प्रयोग करना पड़ता है। हेपेरिन सोडियम (Heparin Sodium) को ५ प्रतिशत मात्रा में पेनिसिलिन के साथ मिलाकर देने अथवा प्रतिसूचीवेध में सिरा बदलते रहने पर यह उपद्रव (घनास्र सिराशोथ) रोका जा सकता है।

पेशी द्वारा संतत प्रयोग—प्रतिकारक जीवाणुजन्य उपसर्ग में उच्चरक्तसंकेन्द्रण की आवश्यकता होती है। अन्तरित प्रयोग से यह संभव नहीं है, क्योंकि सूचीवेध के शीघ्र बाद उत्सर्ग प्रारंभ हो जाता है, अतः पेशी मार्ग से भी सिरा मार्ग के समान ही संतत रूप में निक्षेप किया जा सकता है। ढाई लक्ष से दस लक्ष एकक मात्रा को १००० से २००० सी० सी० समलवण जल या ५% ग्लूकोज के विशोधित घोल में मिलाकर बूंद-बूंद रूप में पेशी द्वारा दे सकते हैं। किन्तु प्रति ३-४ घंटे बाद नवीन पेशी में सूचीवेध करते रहना पड़ता है, अन्यथा एक पेशी से अधिक द्रव का प्रचूषण संभव न होने के कारण क्षोभ या कोषाओं का नाश होकर विद्रधि की संभावना हो सकती है।

सान्तर रूप में पेशी द्वारा—यही क्रम सर्वाधिक उपयोगी एवं व्यवहार्य है। पेशी द्वारा पेनिसिलिन का प्रयोग प्रति लक्ष २ सी० सी० के अनुपात में घोल बनाकर सूचीवेध किया जाता है, अधिक संकेन्द्रित घोल से क्षोभ एवं दाह की संभावना होती है। प्रायः आधा घंटा में रक्त संकेन्द्रण उच्चतम मर्यादा में होता है। अधिक शक्ति में (१ लक्ष से ३ लक्ष) सूचीवेध द्वारा प्रवेश कराने पर पर्याप्त समय तक रक्त संकेन्द्रण आवश्यक मात्रा में बना रहता है। १ लक्ष प्रति ६ घंटे पर, २ लक्ष प्रति ९ घंटे पर या ३ लक्ष प्रति १२ घंटे के अन्तर पर प्रवेश कराने से भी कार्यक्षम रक्त संकेन्द्रण बना रहता है, किन्तु व्याधि की तीव्रावस्था में ६-८ घंटे से अधिक अन्तर न होना चाहिए। वृक्कों की अकार्यक्षमता मूलक व्याधियों में इसका उत्सर्ग विलम्बित रूप में होता है, अतः वहाँ मात्रा कम तथा विलम्ब से देने पर भी कार्य पूर्ण होता है। इस समय क्रमिक प्रचूषण तथा विलम्बित उत्सर्ग वाले अनेक योग व्यवहार में प्रचलित हैं, इनका आगे उल्लेख किया जायगा।

अधस्त्वचीय मार्ग—स्थानीय वेदना, प्रचूषण में विलम्ब तथा अनियमितता के कारण इस मार्ग से प्रयोग प्रायः नहीं किया जाता है।

मुख द्वारा—आमाशयिक अम्ल तथा अन्य अनेक पाचक रसों के द्वारा पेनिसिलिन का अधिकांश विनाश आमाशय में हो जाता है। प्रचूषण भी अनियमित होता है, अतः तीव्रावस्था में यह मार्ग विश्वसनीय नहीं माना जाता। आजकल अनेक योग

मुख द्वारा प्रयोगार्थ उपलब्ध हैं। आमाशयिक अम्ल को नष्ट करने वाले द्रव्यों के साथ पेनिसिलिन का योग किया जाता है। भोजन के आधा घंटा पूर्व तथा २ घंटा बाद तक अम्ल का आधिक्य आमाशय में रहता है, अतः इस समय के पहले या बाद में सेवन कराना आवश्यक होता है। शुल्वौषधियों के साथ इसका मुख द्वारा सेवन कराया जा सकता है। मुख द्वारा सेवन करने पर रक्त में केवल ⅓ या ⅕ पेनिसिलिन पहुँच पाती है, अतः साधारण मात्रा से चार-पाँच गुनी मात्रा देनी पड़ती है। सूक्ष्म वेदी तृणाणुजन्य व्याधियों में, शिशुओं या हीन मनोबल के रोगियों में इस मार्ग से सेवन कराया जा सकता है। प्रारंभिक मात्रा पेशी द्वारा देकर बाद में मुख द्वारा प्रयोग कराने से फुफ्फुसपाक, मध्यकर्णशोथ, विसर्प आदि व्याधियों में पूर्ण लाभ होता है। पेनिसिलिन देने के आधा घंटा पूर्व सोडा साइट्रेट का ५-१५ ग्रेन की मात्रा में सेवन कराने से आमाशयिक अम्ल का विनाश हो जाता है। इसी प्रकार एलुमिनम हाइड्रोक्लाइड या मैगनेशियम ट्राइसिलिकेट के प्रयोग से आमाशय की श्लेष्मल कला के ऊपर एक आवरण चढ़ जाता है, जिससे अम्ल की उत्पत्ति अवरुद्ध हो जाती है। मुख द्वारा प्रयोग के लिए पेनिसिलिन की टिकिया इसी प्रकार के किसी अम्लनाशक योग के साथ बनी बनाई मिलती है। आवश्यक होने पर क्रिस्टलाइन पेनिसिलिन का प्रयोग भी निम्नलिखित योगों के रूप में मुख द्वारा किया जा सकता है।

१. R/

Penicillin G. crystalline	5 lacks units.
Soda citrate	grs. 60
Syrup aurentia	dr. one
Aqua destil	ounce one
	६ मात्रा

१ चम्मच की मात्रा में प्रायः ६० सहस्र एकक पेनिसिलीन रहेगी। १ मात्रा प्रति ३ घण्टे पर।

२. R/

Penicillin G. sodium	5 lacks.
Aluminum hydroxide gel	3 ounce
Aqua destil	3 ounce
	६ मात्रा

१ औंस की मात्रा प्रति ४ घण्टे बाद।

घोल बन जाने के बाद शीतल स्थान में रखना आवश्यक होता है।

शुल्वौषधियों के साथ कैलसियम या सोडियम, पोटासियम किसी योग का प्रयोग कराया जा सकता है।

३. R/

Penicillin calcium	one lack or 50000 unit.
Sulphamerazine	tab. 2
Soda bicarb	gr. 10
Soda citras	gr. 20
	१ मात्रा

१ मात्रा प्रति ४ घण्टे पर। शिशुओं के लिए मात्रा यथावश्यक कम करें।

पेनिसिलिन वी.—आजकल पेनिसिलिन वी. (Penicillin V.) का मुख द्वारा पर्याप्त सफलता से प्रयोग किया जा रहा है। ६५-१२५ मि० ग्रा० या १-२ लक्ष यूनिट की मात्रा में ४-४ घण्टे पर तथा तीव्रावस्था शान्त होने पर ६ या ८ घण्टे के व्यवधान से देने पर संतोषजनक परिणाम मिलते हैं।

मुख द्वारा प्रयोग करने में विशिष्ट व्याधियों के अनुरूप निम्नलिखित मात्रा का क्रम रखना चाहिए।

१. फुफ्फुस गोलाणु जन्य व्याधि में	२-४ लक्ष एकक प्रति ४-६ घण्टे पर
२. शोणांशिक माला गोलाणु ,,	२ ,, ,,
(विसर्प, तुण्डिकेरी शोथ, मध्यकर्ण शोथ, विद्रधि आदि)	
३. स्तबक गोलाणु जन्य व्याधि में	४ लक्ष प्रति ४ घण्टे पर
४. गुह्य गोलाणु ,, ,,	१ लक्ष प्रति ६ घण्टे पर
५. मालाकवकि ,, ,,	१ लक्ष प्रति ४ घण्टे पर

मुख द्वारा प्रयोग करते समय निम्नलिखित तथ्यों का ध्यान रहना चाहिए :—

१. व्याधि की तीव्रावस्था में प्रचूषण की अनियमितता तथा आवश्यक रक्त-संकेन्द्रण न होने के कारण यह मार्ग विश्वसनीय नहीं है।

२. आंत्र की प्रचूषण शक्ति का ह्रास प्रवाहिका, वमन आदि के कारण तथा पेनिसिलिन का नाश आमाशयिक अम्ल के द्वारा होता है।

३. केवल सूक्ष्मवेदी तृणाणुजन्य व्याधि में मुख द्वारा प्रयोग से लाभ हो सकता है।

स्थानीय प्रयोग—त्वचा के व्रण, नेत्र-नासा-कर्ण रोग, मूत्रमार्ग, मलाशय के स्थानीय विकार आदि में, जहाँ कहीं स्थानीय प्रयोग द्वारा पेनिसिलिन का प्रवेश संभव हो, आश्च्योतन, घोल, प्रलेप, मलहर, वटक (Lozenges) के रूप में प्रयोग करना लाभकर होता है।

१. **आश्च्योतन या नेत्र बिंदु**—प्रति सी. सी. समलवण जल या परिश्रुत जल में २५०-५०० एकक मात्रा में पेनिसिलिन मिलाकर १५ मिनट से १ घण्टा के अन्तर पर नेत्राभिष्यन्द, वर्त्मशोथ, कृष्णपटल शोथ आदि व्याधियों में प्रयोग कराया जाता

है। अक्षिपाक आदि गम्भीर व्याधियों में भी लाभ होता है, किन्तु तीव्रावस्था में सूची-वेध के द्वारा सह प्रयोग भी करना चाहिए।

२. नेत्र मलहर—जलीय मलहर का अभिष्यन्द, पोथिका, पक्ष्मशोथ आदि व्याधियों में दिन में ३-४ बार प्रयोग किया जाता है।

३. पूयदन्त या दन्तवेष्ठ विद्रधि में प्रयोग के लिए शंकु की आकृति (Cone) की वर्त्ति का उपयोग होता है। तुण्डिकेरी, नासा प्रसनिका एवं गलशोथ में वटक (Lozenges) का प्रयोग चूसने के लिए किया जाता है।

४. पूयोरस, पूयसन्धि, मस्तिष्कावरण शोथ आदि में १ : १००० की शक्ति में स्थानीय प्रयोग सूचीवेध या कटिवेध के द्वारा किया जाता है। त्वचा की विद्रधि या व्रणों में भी तथा शल्यकर्म के बाद पूय-प्रतिषेध के लिए इसी प्रकार उपयोग किया जाता है। कान से पूय स्राव होने पर प्रति दो घण्टे पर ५-५ बूँद डालने से लाभ होता है।

५. अग्निदग्ध व्रण, त्वचा के ऊपर के व्रण तथा ओष्ठ, गुदा आदि के व्रणों में पेनिसिलिन मलहर का प्रयोग किया जाता है।

६. नस्य के रूप में नासा के स्थानीय विकारों में मैगनेशियम फास्फेट या लैक्टोस के साथ (१ : ४) मिलाकर प्रयोग करते हैं। अनूर्जता शामक एण्टिस्टीन आदि के साथ भी इसका नस्यार्थ प्रयोग होता है।

७. श्वास के साथ श्वास प्रणाली या श्वसनिकाओं में प्रधमन नस्य या इनसफलैशन (Insufflation) के रूप में प्रयोग होता है।

८. फुफ्फुस की वायु कोषाओं में एरियोसोल (Aerosol) के द्वारा पूर्ण विशुद्ध कमरे में पेनिसिलिन का सूक्ष्म कणों के रूप में उद्धूलन करने से निःश्वसन के साथ अन्तः प्रवेश हो जाता है। एक साथ पर्याप्त मात्रा में पेनिसिलिन का फुफ्फुस द्वारा प्रचूषण भी होता है। एक साथ एक कमरे में कई रोगियों को रखकर इस विधि से बिना सूचीवेध के ही चिकित्सा की जा सकती है। विद्युत यन्त्र से प्रति ४ घण्टे पर उसी प्रकार कमरे में उद्धूलन करना पड़ता है। शल्य चिकित्सालय, आमोद गृह आदि की शुद्धि के लिए भी इस विधि का प्रयोग साधन-सम्पन्न देशों में किया जा सकता है।

पेनिसिलिन की व्यापकता तथा प्रयोग क्रम की असुविधा—केवल सूचीवेध के रूप में विश्वसनीय उपयोगिता—के कारण अनेक अनुसन्धान, क्रमिक विलम्बित शोषण तथा उत्सर्ग की दृष्टि से किए गए। पेनिसिलिन का प्रयोग कराते समय सोडियम बेंझोएट, कैरोनामाइड (Sodium benzoate, caronamide) आदि का मुख द्वारा प्रयोग करने से वृक्कों से उत्सर्ग अवरुद्ध हो जाता है। किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से मात्रा आदि का सही निर्धारण न हो सकने के कारण इनका उपयोग लाभकारक नहीं सिद्ध हुआ। बाद में तैल युक्त योगों का आविष्कार किया गया, जिनका प्रचूषण धीरे-धीरे

क्रमिक रूप में होता रहा। इनके प्रयोग से २४-७२ घण्टे तक रक्त संकेन्द्रण स्थिर रहता है। मटर का तैल, बादाम का तैल आदि किसी प्रतिक्रियाहीन वानस्पतिक तैल में एलुमिनियम मानोस्टियरेट (Aluminium monostearate) २ % मिलाकर प्रोकेन पेनिसिलिन जी. का तैल विलयन बनाया गया। पर्याप्त समय इसका पेशी द्वारा सूचीवेध के रूप में प्रयोग किया जाता रहा, किन्तु विशेष प्रकार की सूची-पिचकारी की आवश्यकता, अति विलम्बित शोषण आदि बाधाओं के कारण आजकल जल-विलेय प्रोकेन के योगों का प्रयोग हो रहा है। इनमें प्रायः १ लक्ष पेनिसिलिन जी. क्रिस्टलाइनस और ३ लाख की मात्रा में प्रोकेन पेनिसिलिन रहती है, जिससे सूचीवेध के शीघ्र बाद में रक्त संकेन्द्रण, क्रिस्टलाइन का प्रचूषण तत्काल हो जाने से उच्च मर्यादा पर पहुँच जाता है तथा प्रोकेन का प्रचूषण क्रमिक रूप में होता रहता है, प्रायः २०-३० घण्टे तक रक्त संकेन्द्रण आवश्यक अंश तक स्थिर रहता है, अतः इनका प्रयोग २४ घण्टे पर करने से भी लाभ हो जाता है, दिन में कई बार देने की अपेक्षा नहीं पड़ती। प्रायः १ सी. सी. परिश्रुत जल में मिलाकर भली प्रकार हिलाकर थोड़ा मोटी-सूची से पेशी द्वारा प्रयोग कराया जाता है। तीव्रावस्था में प्रति १२ घण्टे पर देने से रक्त संकेन्द्रण उच्चतम बना रह सकता है। इस योग के कारण पेनिसिलिन-चिकित्सा बहुत आसान एवं व्यवहार्य हो गई है। इधर कुछ नवीन योग आविष्कृत हुए हैं, जिनसे पेनिसिलिन का रक्त संकेन्द्रण एक सप्ताह तक स्थिर रहता है। चिकित्सा तथा व्याधि प्रतिषेध की दृष्टि से इनके प्रयोग से बड़ी सुविधा हो जायगी।

पेनिसिलिन जी. डाइ एथिलामिनो एथिल ईस्टर हाइड्रियोडाइड (Penicillin G. diethylamino-ethyl-ester-hydriodide) नामक एक नवीन-योग मुख्यतया फुफ्फुस में पेनिसिलिन का विशेष सञ्चय करता है, जिससे स्थानीय विकारों में अधिक लाभ होता है।

सामान्य निर्देश—

१. पेनिसिलिन के द्वारा चिकित्सा प्रारम्भ करने के पूर्व रोगोत्पादक जीवाणु की सूक्ष्मवेदिता-प्रतिकारकता का निर्णय कर लेना आवश्यक है। अत्यन्त सूक्ष्मवेदी स्वरूप के जीवाणुओं में प्रोकेन पेनिसिलिन का दिन में १-२ बार प्रयोग करने से लाभ हो सकता है। किन्तु मध्यम प्रतिकारक जीवाणुओं के द्वारा उत्पन्न व्याधि में क्रिस्टैलाइन पेनिसिलिन का २ लाख की मात्रा में प्रति ६ घण्टे पर रोग मुक्ति के ३ दिन बाद तक प्रयोग करना आवश्यक है।

२. जिन व्याधियों में पेनिसिलिन का स्थानिक प्रयोग सम्भव हो, उनमें सार्वदेहिक प्रयोग के साथ ही, स्थानिक प्रयोग भी करना चाहिए। पूतिकर्ण, नेत्राभिष्यन्द, पूयोरस,

मस्तिष्कावरण शोथ, पूय-माला गोलाणुजन्य सन्धिशोथ इत्यादि में स्थानिक प्रयोग का महत्त्व बहुत अधिक होता है।

३. पेनिसिलिन का शरीर की कोषाओं में प्रसार रक्त के द्वारा होता है। आभ्यन्तरिक अंगों में उत्स्यन्द हो जाने, पूयोत्पत्ति हो जाने या बाह्यघात से धातुओं का क्षय हो जाने के कारण रक्त प्रवाह का निर्बाध क्रम न रहने पर पेनिसिलिन का सार्वदेहिक प्रयोग व्यर्थ सा हो जाता है। अतः स्थानीय दोष संशोधन करने के उपरान्त स्थानिक एवं सार्वदेहिक रूप में पेनिसिलिन का प्रयोग लाभकर होगा। विद्रधि बन जाने के बाद पूय संशोधन किये बिना पेनिसिलिन का सूचीवेध करते रहना निरर्थक होता है।

४. मल माला गोलाणु, शोणांशिक अल्फामाला गोलाणु, स्तबक गोलाणुओं की कुछ उपजातियाँ शीघ्र ही प्रतिकारक क्षम हो जाती हैं। अतः इन उपसर्गों में पेनिसिलिन का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में नियमित रूप से बिना अधिक व्यवधान दिये हुये करना आवश्यक होता है।

५. जीर्ण व्याधियों की अपेक्षा तीव्र व्याधियों में इसका प्रयोग विशेष गुणकारी होता है। सामान्यतया तीव्र व्याधियों में रोग मुक्ति के बाद ४ दिन तक निरन्तर प्रयोग कराने से व्याधि के पुनरावर्तन की सम्भावना नहीं रहती, किन्तु जीर्ण व्याधियों में रोगमुक्ति के बाद कम से कम एक सप्ताह तक प्रयोग कराना आवश्यक होता है। फिर भी पुनरावर्तन असम्भव नहीं, अतः स्थानीय संशोधन, क्षमतावर्धक ओषधियों का प्रयोग, आतप चिकित्सा आदि के द्वारा पूर्णतया रोगमुक्ति की चेष्टा करना आवश्यक होता है।

६. शुष्कावस्था में पेनिसिलिन सामान्यतया २ वर्ष तक कार्यक्षम रहती है, किन्तु अधिक उत्तप्त स्थान एवं धूप में रहने पर बहुत शीघ्र उसकी शक्ति नष्ट हो जाती है तथा घोल बनाने के उपरान्त अनिवार्य रूप से थर्मस में बरफ डालकर सुरक्षित रखना अथवा रेफ्रिजेरेटर में रखना आवश्यक होता है। नेत्रबिन्दु या व्रण में पुनः पुनः डालने के लिये बनाये हुए घोल को इसी प्रकार शीतल स्थान में रखना पड़ता है।

७. पेनिसिलिन का घोल बनाने के पूर्व, सिरिञ्ज को उबलते हुये पानी में पूर्ण विशोधित कर, ठण्ढा हो जाने पर, शीतल परिश्रुत जल में घोल बनाना चाहिए। किसी भी रूप में स्प्रिट, अलकोहल आदि का सम्पर्क न होना चाहिए तथा घोल बन जाने के बाद प्रयोग से अवशिष्ट अंश को शीत स्थान में सुरक्षित रखना चाहिए। सामान्यतया इसके सूचीवेध से स्थानिक वेदना अधिक नहीं होती, फिर भी आवश्यकता होने पर सूचीवेध स्थान में वाष्प स्वेदन या गरम पानी की थैली आदि से सेंक एक घण्टे के उपरान्त करना चाहिए।

८. अपर्याप्त मात्रा या अपर्याप्त समय तक चिकित्सा करने से रोग का पुनरावर्तन

होने की सम्भावना अधिक होती है तथा जीवाणु प्रतिकारक हो जाते हैं, जिससे औषधि की उपयोगिता उत्तरोत्तर घट जाती है। बच्चों में तुण्डिकेरी शोथ, मध्यकर्ण शोथ, श्वसनी, फुफ्फुस पाक आदि व्याधियों का पुनरावर्तन या जीर्णता होने का कारण इन औषधियों का अव्यवस्थित प्रयोग ही माना जाता है।

९. पेनिसिलिन से शरीर की प्रतिकारक शक्ति की वृद्धि नहीं होती। अतः इसके द्वारा रोगनिवृत्ति हो जाने के उपरान्त क्षमतावर्धक औषधियों का प्रयोग कुछ समय तक अवश्य करना चाहिये।

विषाक्तता—पेनिसिलिन अल्पतम विषाक्त औषध है। सूचीवेध के स्थान पर विशेषतया सिराद्वारा एक ही स्थान पर बार-बार प्रवेश कराने पर, स्थानीय शोथ एवं वेदना के लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं। कुछ रोगियों में प्रोकेन पेनिसिलिन या कभी कभी क्रिस्टलाइन पेनिसिलिन से भी अनूर्जतामूलक परम सूक्ष्म वेदिता के लक्षण स्पष्ट हुये हैं, किन्तु इनकी संख्या नगण्य है। इसी प्रकार त्वचागत लक्षण—विस्फोट उदर्द आदि—भी कुछ रोगियों में दिखाई पडे हैं। प्रारम्भ में पेनिसिलिन में अनेक अशुद्धियों के कारण इस प्रकार के उपद्रव हो जाया करते थे, किन्तु नवीन क्रिस्टलाइन पेनिसिलिन जी या प्रोकेन के प्रयोग से परम सूक्ष्म वेदनता के अतिरिक्त और कोई विषाक्त परिणाम नहीं होते। ऐसे रोगियों में अत्यल्प मात्रा से धीरे-धीरे प्रारम्भ करने के बाद आवश्यक चिकित्सा मात्रा का व्यवहार करना चाहिए।

इधर प्रोकेन पेनिसिलिन का सूची मार्ग से प्रयोग करने में अनेक दुर्घटनाएँ अनवधानता जनित अवसन्नता के कारण हुई हैं। जिन व्यक्तियों में अनेक सूचीवेध पहले इसी औषध के प्रयुक्त हो चुके, उन में प्रायः यह दुष्परिणाम अधिक मिले हैं। यह असात्म्यता प्रोकेन के कारण होती है। इस प्रकार का उपद्रव होने पर क्रिस्टलाइन पेनिसिलिन का प्रयोग करना तथा पूर्व सूचीवेधों में किसी प्रतिक्रिया की संभावना का अनुमान होने पर सूचीवेध के एक घण्टा पूर्व कोई अनूर्जताविरोधी औषधि (Antihistaminics) मुख द्वारा तथा उपद्रव होने पर एड्रेनलीन १:१००० का ½–१ सी० सी० अधस्त्वक मार्ग से देना चाहिए।

एरिथ्रोमायसीन या आइलोटाइसिन

(Erythromycin & Ilotycin)

प्रतिजीवी वर्ग की यह औषध स्ट्रेप्टोमाइसेस एरिथ्रियस (Streptomyces Erythireus) नामक जीवाणु की उपजाति से संवर्धन के द्वारा प्राप्त की गई है। सामान्यतया ग्रामग्राही तृणाणुओं पर इसका व्यापक प्रभाव होता है। दूसरे प्रतिजीवी वर्ग की औषधों से ग्रामग्राही तृणाणुओं की जो उपजातियाँ प्रतिकारकक्षम हों, उनमें भी इसके प्रयोग से लाभ होता है। संक्षेप में पेनिसिलिन और आरियोमाइसिन

प्रतिनिधि के रूप में अथवा उनसे लाभ न होने पर इसका प्रयोग किया जा सकता है। फुफ्फुस गोलाणु, गुह्य गोलाणु, मस्तिष्क गोलाणु, पूय-माला गोलाणु, सुवर्ण वर्णी स्तबक गोलाणु, मलमाला गोलाणु, कुकास दण्डाणु, धनुर्वात दण्डाणु, ऐन्थ्राक्स दण्डाणु, आमातिसार जीवाणु इत्यादि जीवाणुजन्य अनेक व्याधियों में आइलोटाइसिन का प्रयोग लाभकारक सिद्ध हुआ है। कुछ विषाणु जनित व्याधियों में भी यह उपयोगी है।

मात्रा—तीव्र व्याधियों में ३०० मि० ग्राम प्रति आठ घण्टे पर २ दिन तक, बाद में २०० मि० ग्रा० आठ घण्टे पर २ दिन तक और अन्त में १०० मि० ग्रा० प्रति आठ घण्टे पर ३–४ दिन तक देना चाहिये। इसकी एक गोली १०० मि० ग्राम की आती है। सूक्ष्मवेदी जीवाणु जन्य उपसर्गों में केवल १ गोली दिन में चार बार ४–६ दिन देने से पूर्ण लाभ हो जाता है। प्रारम्भिक मात्रा अन्य प्रतिजीवी औषधों के समान ही रक्त संकेन्द्रण के लिये द्विगुण दी जाती है। बच्चों में ४ मि० ग्रा० प्रति कि० ग्रा० शारीरिक भार के अनुपात में दिन में चार बार देना चाहिये।

सामान्य निर्देश—

१. यह अपेक्षाकृत नवीन औषध है। व्यापक प्रयोग न होने के कारण तृणाणुओं में प्रतिकारकता एरिथ्रोमाइसिन के लिये अभी तक बहुत कम उत्पन्न हुई है, अतः प्रतिकारक जीवाणु जन्य उपसर्गों में अर्थात् जहाँ पर दूसरी इस वर्ग की ओषधियों से लाभ न हुआ हो, इसका प्रयोग विश्वासपूर्वक किया जा सकता है।

२. आइलोटाइसिन के द्वारा आन्त्रगत सहवासी जीवाणुओं का अधिक विनाश नहीं होता, जिससे आन्त्र के द्वारा जीवतिक्ति बी० का संश्लेषण होता रहता है और अतिसार, आध्मान, वमन इत्यादि विषाक्त लक्षण अपेक्षाकृत कम रहते हैं।

३. इसका प्रयोग मुख द्वारा शर्करावृत टिकियों के रूप में किया जाता है। मध्यम श्रेणी की तिक्त औषध है। आवश्यक होने पर शिशुओं को मधु या दुग्ध में मिलाकर दे सकते हैं।

४. १०० मि. ग्रा. की मात्रा में पेशीगत सूचीवेध से भी इसका प्रयोग किया जा सकता है। मुख द्वारा प्रयोग संभव होने पर पेशी मार्ग की कोई विशिष्ट उपयोगिता नहीं होती।

५. रोहिणी (Diphtheria) में इसके द्वारा सफलता के कुछ उदाहरण हैं किन्तु प्रतिविष लसीका के विना विश्वास योग्य सफलता अभी नहीं मिली है। संदेह होते ही प्रारंभ से ही इसका प्रयोग कराना रोहिणी में हितकर मानते हैं। रोहिणीजन्य विषाक्तता तो प्रतिविषलसीका से ही शान्त होती है।

विषाक्तता—साधारण मात्रा में प्रयोग करने पर कोई विषाक्त परिणाम नहीं होता। अधिक मात्रा में या अधिक समय तक व्यवहार करने पर हृल्लास, वमन, आध्मान, अतिसार, भ्रम आदि महास्रोत एवं अवसाद सम्बन्धी विकार उत्पन्न होते हैं। कुछ रोगियों में श्वेत कायाणुओं का अपकर्ष औषध का अधिक समय तक प्रयोग करने से होते देखा गया है।

टायरोथ्रिसिन (Tyrothricin)

इसका आविष्कार सन् १९३९ में डा० ड्यूबोस ने बैसिलस ब्रेविस (B. brevis) के संवर्धन से किया है। वास्तव में इसमें २ प्रकार के द्रव्यों का मिश्रण है, टाइरोसिडिन ८०% और जर्मीसिडिन २०%। अल्प संकेन्द्रण में यह तृणाणु स्तम्भक तथा अधिक संकेन्द्रण में तृणाणु द्रावण (Bactereolysis) के द्वारा कार्य करता है।

सूचीवेध द्वारा आभ्यन्तरिक प्रयोग में यह औषध गम्भीर विषाक्त परिणाम—श्वेत-रक्त कण द्रावण—करती है, इसी लिये चिकित्सा में केवल बाह्य प्रयोग होता है। कर्ण-नासा-त्वचा के पूयोपसृष्ट विकारों में इसका प्रयोग आर्द्र पिचु (Swab), मलहम या विंदु के रूप में किया जाता है।

व्यावहारिक रूप—

१. प्रोथ्रायसिन नेजल ड्रॉप्स (Prothrycin nasal drops)।
२. टायरोथ्रिसिन आयण्टमेण्ट (Tyrothricin oint.)।

पॉलिमिक्सिन (Polymyxin or Aerosporin)

इनकी उत्पत्ति बै० पॉलिमिक्सा (B. Polymyxa) तथा उसकी इतर उपजातियों से हुई है, जिनमें बी०, डी०, ई० का प्रायोगिक अनुसंधान किया जा चुका है।

गुणधर्म—इसका मुख्य प्रभाव ग्रामत्यागी तृणाणुओं पर होता है, तृणाणु शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। इंफ्लुएंजादण्डाणु तथा नीलपूय दण्डाणु (B. Pyocyaneous) से उत्पन्न व्याधि में इस वर्ग की दूसरी औषधें कार्यक्षम नहीं होतीं, किन्तु पॉलिमिक्सिन से कभी कभी आश्चर्यजनक लाभ होता है। मुखद्वारा इसका प्रयोग करने पर आन्त्र से प्रचूषण नहीं होता, किन्तु स्थानीय परिणाम होता है, अतः शिगादण्डाणुजनित अतिसार में मुख द्वारा प्रयोग लाभकारक होता है। बाह्यप्रयोगार्थ—व्रण एवं त्वग्विकार आदि में पिचु एवं मलहम के रूप में भी इसका प्रयोग होता है। स्ट्रेप्टोमायसीन, पॉलिमिक्सिन एवं बैसिट्रैसिन का मिश्रण टिकिया के रूप में मिलता है, अज्ञात कारणजन्यप्रवाहिका में मुख द्वारा इसका प्रयोग बहुत सफलता के साथ किया जाता है।

मात्रा—१. पेशीगत सूचीवेध के रूप में इसकी दैनिक मात्रा १½ से २ मि० ग्राम प्रति किलोग्राम शरीर-भार के अनुपात में, ३ समान मात्राओं में विभक्त कर, प्रति

८ घंटे पर देते हैं। १५-२० मिनट बाद रक्त में संकेन्द्रण हो जाता है। प्रमुख रूप में वृक्कों के द्वारा मूत्र के साथ उत्सर्गित होती है, जिससे ग्रामत्यागी मूत्रसंस्थानीय विकारों में भी लाभ करती है।

२. मुख द्वारा ४-५ मिलिग्राम प्रतिकिलोग्राम शरीर-भार के अनुपात में प्रति ६ घंटे पर केवल महास्रोत के स्थानीय विकारों में प्रयोग होता है।

विषाक्तता—२ मि० ग्रा० प्रति कि० ग्रा० से अधिक मात्रा सूचीवेध से प्रयुक्त करने पर विषाक्त परिणाम होते हैं, कम मात्रा में केवल सूक्ष्मवेदी एवं दुर्बल व्यक्तियों में ही विपरिणाम होते हैं। दुर्बलता, अवसाद, तंद्रा, खंजता (Ataxia), हस्त-पादांगुलियों की शून्यता, स्थान विभ्रम, दृष्टि विभ्रम, द्विधा दृष्टि, तिर्यग् दृष्टि आदि विषाक्त उपद्रव होते हैं। शुक्लिमेह की उत्पत्ति तथा यूरिया आदि का अवरोध भी होता है। सूचीवेध स्थान पर क्षोभ के लक्षण तो प्रायः मिलते हैं, अनूर्जतामूलक लक्षण कण्डु, प्रस्वेद, विस्फोट, शीतपित्त आदि भी कभी-कभी मिलते हैं।

व्यावहारिक निर्देश—

१. इस औषध की चिकित्सा एवं विषाक्त मात्रा में विशेष अन्तर नहीं है, अतः ग्रामत्यागी दण्डाणुओं पर व्यापक प्रभाव होने पर भी केवल बील का पूय दण्डाणु एवं श्लेष्मक (इंफ्लुएंजा) दण्डाणु जन्य उपसर्गों में दूसरी ओषधियों से लाभ न होने पर इसको प्रयुक्त करना चाहिए। प्रतिकूल परिणाम उत्पन्न होने पर औषध प्रयोग कम या बंद कर देना आवश्यक है।

२. आंत्र से प्रचूषण न होने के कारण मुख द्वारा अधिक मात्रा में प्रयोग निरापद होता है, किन्तु आंत्र के सहवासी जीवाणु अत्यधिक मात्रा में नष्ट हो जाते हैं, जिससे जीवतिक्ति बी० का संश्लेषण बंद हो जाता है। अतः इसका अधिक समय तक प्रयोग न करना चाहिए।

बैसिट्रेसिन (Bacitractin)

इसका निर्माण बैसिलस सबटिलिस (B. subtilis) के संवर्धन से सर्वप्रथम १९४५ में किया गया।

गुणधर्म—मुख्यतया ग्रामग्राही तृणाणुजन्य उपसर्गों में इसका प्रयोग किया जाता है। गुह्य-मस्तिष्क गोलाणु तथा इंफ्लुएंजा दण्डाणु एवं फिरंग कुंतलाणुजन्य व्याधियों में भी यह गुणकारी होता है। मुख्यतया तृणाणु नाशन के द्वारा इसका प्रभाव होता है। स्तबक गोलाणु एवं माला गोलाणु आदि में इसका प्रयोग पेनिसिलिन, आरोमायसिन आदि दूसरी प्रतिजीवी ओषधियों के साथ किया जा सकता है। विषाक्तता अधिक होने के कारण त्वचा, श्लेष्मलकला आदि बाह्य स्थानों के विकारों में प्रमुख प्रयोग

होता है। सूचीवेध के उपरान्त इसका प्रचूषण तुरन्त हो जाता है, किन्तु मूत्र द्वारा उत्सर्ग बहुत धीरे-धीरे होने के कारण पुनः प्रयोग १२ घंटे के पहले करने की आवश्यकता नहीं। सूक्ष्मवेदी तृणाणुओं में, दूसरी ओषधियों के सफल न होने या उनकी शक्ति वृद्धि के लिए सहकारी रूप में इसका पेश्यन्तः सूचीवेध के रूप में भी प्रयोग होता है। मुख द्वारा प्रयोग करने पर आंत्र से प्रचूषण नहीं के बराबर होता है, अतः स्थूलांत्रके विकारों में, विशेषकर स्थूलांत्र शोथ (Colitis या mucous colitis), आमातिसार जन्य स्थूलांत्रशोथ आदि विकृतियों में मुख द्वारा प्रयोग किया जाता है। गला, मुख, तालु आदि के विकारों में गोली को मुख में रखकर चूसते रहने से पर्याप्त लाभ होता है एवं श्वसन संस्थान के विकारों में उद्धूलन एवं धूम्र के रूप में भी इसका प्रयोग किया जाता है।

मात्रा—१. बाह्य प्रयोगार्थ—५०० एकक प्रति सी० सी० की मात्रा में घोल या मलहर बनाकर त्वचा के विकारों में।

२. **मुख द्वारा**—१० सहस्र से ३० सहस्र एकक की मात्रा में प्रति ६ घंटे पर ५ से १५ दिन तक लगातार देना चाहिए। आमातिसार, स्थूलांत्रशोथ, सव्रण आंत्रशोथ आदि में उपयोगी।

३. **पेश्यन्तर्मार्ग से**—२ सहस्र से २० सहस्र एकक तक प्रति ८ घण्टे पर पेनिसिलिन आदि के साथ योगवाही रूप में प्रतिकारक जीवाणुजन्य व्याधि में प्रयोग।

व्यावहारिक निर्देश—

१. यह भी विषाक्त परिणामकारक औषध है, अतः प्रयोग करने के पूर्व अनिवार्य आवश्यकता का विचार कर लेना चाहिए।

२. इसके बाह्य प्रयोग से सूक्ष्मवेदित्व नहीं उत्पन्न होता तथा सूक्ष्मवेदी तृणाणु प्रतिकारक नहीं बन पाते।

३. पेनिसिलिन आदि के अव्यवस्थित प्रयोग से प्रतिकारक शक्ति सम्पन्न तृणाणुओं की प्रतिकारकता को नष्ट करने के लिए तथा योगवाही सहायक औषध के रूप में इसका प्रयोग किया जाता है। अतः प्रतिकारक तृणाणुजन्य उपसर्गों में ही इसका व्यवहार करना चाहिए। अनुतीव्र तृणाण्वीय अन्तर्हृच्छोथ (Sub acute bacterial endocarditis) में पेनिसिलिन के साथ इसका प्रयोग विशेष गुणकारक होता है। मुख द्वारा प्रयोग तुण्डिकेरीशोथ आदि स्थानीय विकारों में चूसने के लिए तथा सव्रण स्थूलांत्रशोथ में खाने के लिए किया जाता है।

४. अधिक समय तक पेश्यन्तर्मार्ग से प्रयोग आवश्यक होने पर आतुरालय में ही व्यवस्था करनी चाहिए, रोगी के घर पर नहीं।

विषाक्तता—मुख द्वारा तथा बाह्य प्रयोग से कोई विषाक्त परिणाम नहीं उत्पन्न होते। किन्तु सूचीवेध स्थान पर पीडा, धातुनाश, विस्फोट तथा अधस्त्वचीय रक्तस्राव होता है। हृल्लास, वमन, कर्णनाद, अवसाद, भ्रम आदि परिणाम भी कभी-कभी होते हैं। इसका मुख्य विषाक्त प्रभाव वृक्कों पर होता है, जिससे शुक्लिमेह, सिकतामेह आदि की उत्पत्ति एवं यूरिया आदि विषों का अवरोध होता है।

नियोमायसिन (Neomycen)

यह औषध स्ट्रेप्टोमायसिस फ्रैडिई (Streptomyces fradii) से निर्मित की जाती है। यह ए० बी० सी० आदि अनेक समान गुण-धर्म युक्त अवान्तर द्रव्यों का मिश्रण है।

गुणधर्म—यह तीव्र तृणाणुनाशक औषध है। मुख्यतया ग्रामत्यागी दण्डाणुओं पर इसका प्रभाव होता है, किन्तु ग्रामग्राही गोलाणु एवं दण्डाणुओं पर भी कुछ प्रभाव होता है। अत्यधिक विषैले प्रभाव के कारण इसका सूचीवेध के द्वारा प्रयोग बहुत कम किया जाता है। आंत्र से बहुत कम प्रचूषित होने के कारण आमातिसार, स्थूलांत्रशोथ आदि जीर्णशोथयुक्त व्याधियों में तथा औदरिक शस्त्रकर्म के पूर्व आंत्र को पूर्ण विशोधित करने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त त्वचा आदि शोथयुक्त विकारों में बाह्य प्रयोग प्रलेप, मलहर आदि के रूप में किया जाता है। कुष्ठजन्य व्रणों में द्वितीय उपसर्गों के निराकरण के लिए भी इसका उपयोग होता है। क्षय दण्डाणुओं पर इसका विशेष प्रभाव होता है तथा स्ट्रेप्टोमायसिन की अपेक्षा इससे उनमें प्रतिकारकता बहुत कम तथा धीरे-धीरे उत्पन्न होती है। इस दृष्टि से स्ट्रेप्टोमायसिन से अधिक गुणकारक होने पर भी अत्यधिक विषाक्तता के कारण राजयक्ष्मा में इसका प्रयोग कम किया जाता है।

मात्रा—बाह्य घोल २०० एकक प्रति सी० सी० की मात्रा में तथा मलहर १००० एकक मात्रा में स्थानीय प्रयोग के लिए व्यवहृत होते हैं।

२. **मुखद्वारा**—२० हजार से ५०००० एकक मात्रा में प्रति ६ घंटे पर।

३. **पेशीद्वारा**—२० से ४० हजार एकक की मात्रा में प्रति ६ घंटे पर।

व्यावहारिक निर्देश—

१. अन्य औषधियों से लाभ न होने पर, इसके लिए सूक्ष्मवेदी तथा दूसरी औषधों के प्रति प्रतिकारक जीवाणुओं के विनाश के लिए इसका प्रयोग बहुत सावधानी के साथ पेशीद्वारा किया जा सकता है।

२. स्ट्रेप्टोमायसिन प्रतिकारक क्षयदण्डाणुओं की प्रतिकारक शक्ति को नष्ट करने के लिए कुछ समय तक इसका प्रयोग करने के बाद पुनः स्ट्रेप्टोमायसिन का व्यवहार करने से पर्याप्त लाभ होता है।

३. कुष्ठ दण्डाणुओं के स्थानीय एवं सार्वदेही विकारों में सल्फोन्स का प्रयोग किसी कारण संभव न होने पर बाह्य मार्ग एवं पेशी द्वारा इसका उपयोग किया जा सकता है।

४. योगवाही तथा सहायक औषध के रूप में दूसरी प्रतिजीवी औषधों के साथ नियोमायसीन का प्रयोग किया जा सकता है।

५. इसका मुख्य प्रयोग बाह्य रूप में तथा मुखद्वारा होता हैं।

विषाक्तता—मन्दज्वर, हस्तपादांगुलियों की शून्यता, चुमचुमाहट, भ्रम, कर्णनाद, बाधिर्य, शिरःशूल, तन्द्रा एवं बेचैनी आदि विषाक्त परिणाम मात्राधिक्य होने या दुर्बल रोगी में सहन न होने पर उत्पन्न होते हैं। वृक्कों पर मुख्य विषैला प्रभाव होता है, जिससे शुक्लिमेह, रक्तमेह एवं यूरिया अवरोध (Urea retention) आदि दुष्परिणाम होते हैं।

स्ट्रेप्टोमाइसिन (Streptomycin)

वाक्समैन (Waksman) ने १९४४ में स्ट्रेप्टोमाइसेस ग्रेसियस (Streptomyces griseus) से इस औषध का निर्माण किया। चिकित्सा में सल्फेट, हाइड्रोक्लोराइड, कैलसियम क्लोराइड कम्पलेक्स तथा डाइहाइड्रो स्ट्रेप्टोमाइसिन आदि रूपों में इसके योग चिकित्सार्थ उपलब्ध हैं। प्रायः एक ग्राम या दस लाख यूनिट की मात्रा में मिलती है।

गुणधर्म—रक्तस्थ उच्च संकेन्द्रण होने पर तृणाणु घातक तथा अल्प संकेन्द्रण होने पर तृणाणु स्तम्भक कार्य करती है। अभी तक इसकी कार्य-पद्धति का ठीक निर्धारण नहीं हो सका। यह ग्रामग्राही तथा ग्रामत्यागी दोनों प्रकार के जीवाणुओं पर प्रभाव करती है। इतना व्यापक गुण होने पर भी ग्रामग्राही तृणाणुओं में पेनिसिलिन का निर्दुष्ट प्रभाव होने के कारण इसका प्रयोग बहुत कम किया जाता है। ग्रामग्राहियों में मुख्यतया क्षयदण्डाणु पर पेनिसिलिन का कुछ भी प्रभाव नहीं होता। इसी लिए क्षय में स्ट्रेप्टोमाइसिन का प्रयोग अधिक होता है। उपयोगिता की दृष्टि से क्षय दण्डाणु, शिगा दण्डाणु, श्लेष्मक दण्डाणु, डयूक्रे दण्डाणु, प्लेग दण्डाणु, माल्टाज्वर दण्डाणु, माला-स्तबक-गुच्छ गोलाणु आदि के उपसर्ग से उत्पन्न व्याधियों में इसका प्रयोग किया जाता है।

स्ट्रेप्टोमाइसिन का प्रयोग मुख द्वारा करने पर आन्त्र से प्रचूषण बहुत कम होता है, अतः दण्डाण्वीय अतिसार, आन्त्रशोथ, स्थूलान्त्रशोथ आदि अनेक व्याधियों में मुख द्वारा इसका प्रयोग स्वतन्त्र रूप में या पॉलीमिक्सिन एवं शुल्वौषधियों आदि के साथ मिलाकर किया जा सकता है। मस्तिष्कावरणशोथ में, विशेषकर क्षयजन्य प्रकार में, सुषुम्ना मार्ग से इसका प्रयोग होता है। पेशी एवं सिरा द्वारा दोनों मार्गों से प्रयोग सम्भव होने पर भी व्यावहारिक रूप में पेश्यन्तर मार्ग से ही इसका प्रयोग किया जाता है। सूचीवेध के बाद शरीर की सभी धातुओं में शीघ्र ही प्रसार हो जाता है,

किन्तु मस्तिष्कावरण गुहा में कम प्रसार होता है। इसीलिए वहाँ स्थानीय प्रयोग की आवश्यकता होती है तथा निस्यन्दयुक्त एवं पूययुक्त स्थानों में भी यह कम पहुँच पाती है, जिससे सद्रव फुफ्फुसावरण शोथ, पूययुक्त व्याधियों एवं सद्रव सन्धिशोथ में इसकी उपयोगिता कम हो जाती है। पित्ताशय में इसका संकेन्द्रण रक्त की अपेक्षा द्विगुण होता है! अतः पित्ताशय सम्बन्धी व्याधियों में इसका प्रभाव अधिक हुआ करता है। वृक्क द्वारा प्रायः ६ से ८ घण्टे के बीच में धीरे-धीरे अधिकांश उत्सर्गित हो जाता है और वृक्क तथा मूत्राशय सम्बन्धी व्याधियाँ भी इसके द्वारा ठीक हो जाती हैं। इसका प्रचूषण पेनिसिलिन की तुलना में क्रमिक रूप में तथा उत्सर्ग अधिक विलम्ब से हुआ करता है। अतः उचित संकेन्द्रण बनाये रखने की दृष्टि से दिन भर में २४ घण्टे में तीन बार और साधारण व्याधियों में दिन में २ बार प्रयोग पर्याप्त होता है। तृणाणु बहुत शीघ्र प्रतिकारक बन जाते हैं—यह इसका बहुत बड़ा दोष है। बहुत से सूक्ष्मवेदी जीवाणु की उपजातियों में सहज प्रतिकारकता रहा करती है, जिससे एक ही प्रकार के तृणाणुओं से उत्पन्न होने पर भी सभी रोगियों में समान परिणाम नहीं हुआ करता और सूक्ष्मवेदी जीवाणुओं में अल्प मात्रा में प्रयोग होने पर २-३ दिन के बाद ही अर्जित प्रतिकारकता उत्पन्न होने लगती है। इसी कारण व्यापक प्रभाव होने पर भी स्ट्रेप्टोमाइसिन का प्रयोग बहुत सीमित व्याधियों में किया जाता है। इसका प्रयोग पेनिसिलिन के साथ में योगवाही औषध के रूप में किया जा सकता है। इससे दोनों की क्रियाशीलता बढ़ जाती है तथा जीवाणुओं के प्रतिकारक होने की सम्भावना कम हो जाती है। तृणाणुओं में प्रतिकारकता उत्पन्न होने पर अर्थात् इसका प्रयोग करने के बाद एक सप्ताह के भीतर अनुकूल परिणाम न होने पर अधिक प्रयोग करना अनावश्यक होता है। राजयक्ष्मा में इसका प्रयोग बहुत सावधानी के साथ रोग की तीव्रावस्था में ही करना चाहिए तथा पूर्ण विश्राम, पोषक-बृंहण औषधियों का प्रयोग, वातोरस (A. P. & P. P.) आदि दूसरे चिकित्साक्रमों का उपयोग पूर्ण रूप में करना चाहिए। क्षय दण्डाणु की प्रतिकारकता प्रायः तीन सप्ताह बाद उत्पन्न होती है और इससे अधिक समय तक शरीर में रहने वाले दण्डाणु उत्तरोत्तर प्रतिकारक होते जाते हैं तथा ३ माह बाद सभी क्षय दण्डाणु पूर्ण प्रतिकारक हो जाते हैं। बाद के अनुसन्धानों से यह सिद्ध हुआ है कि स्ट्रेप्टोमाइसिन का सान्तर प्रयोग करने से प्रतिकारकता की सम्भावना कम रहती है। यदि पूर्ण मात्रा में—२ ग्राम प्रति ८ घण्टे पर ५ दिन तक—इसका प्रयोग किया जा सकता तो रक्त में अत्यधिक संकेन्द्रण होने के कारण तृणाणुओं का नाश हो जाता और प्रतिकारक जीवाणु न उत्पन्न होते। किन्तु इतनी अधिक मात्रा में अधिक समय तक प्रयोग करने पर गम्भीर विषाक्त परिणाम उत्पन्न होने लगते हैं। इन्फ्लुएञ्जा, प्लेग आदि अल्पकालीन तीव्र व्याधियों में एक ग्राम दिन में ३ या ४ बार पेशी द्वारा सूचीवेध के रूप में देते हैं। चार पाँच दिन से अधिक प्रयोग की आवश्यकता नहीं

पड़ती और थोड़े समय में ही व्याधि का प्रशमन हो जाता है। किन्तु राजयक्ष्मा में क्षय दण्डाणु शरीर की प्रतिकारक कोषाओं से इतना आवृत रहते हैं कि जिससे थोड़े ही समय में उनपर पूर्ण प्रभाव असम्भव है। इसीलिये क्षय दण्डाणु में प्रतिकारकता की सम्भावना अधिक होती है। यदि व्याधि बहुत तीव्र न हो तो प्रति तीसरे दिन या सप्ताह में २ बार इसका प्रयोग कराने पर अर्जित प्रतिकारकता की सम्भावना कम हो जाती है। क्षय के कारण कोषाओं का अपजनन-धातुनाश अधिक हो जाने पर, फुफ्फुस में व्रण बन जाने पर, फुफ्फुसावरण में उत्स्यन्द हो जाने पर स्ट्रेप्टोमाइसिन का संकेन्द्रण इन स्थलों पर बहुत कम हो जाता है और दण्डाणुओं के प्रतिकारक होने की सम्भवना अत्यधिक होती है। इसलिए इन स्थितियों में सामान्यतया स्ट्रेप्टोमाइसिन का प्रयोग न करना चाहिए अथवा अन्य चिकित्साओं के साथ में सहायक औषध के रूप में विचारपूर्वक प्रयोग किया जा सकता है। क्षय की विभिन्न अवस्थाओं में इसके प्रयोगक्रम का वर्णन विस्तारपूर्वक आगे क्षय के प्रकरण में किया जायगा।

मात्रा—मुख द्वारा—आधे ग्राम की मात्रा में प्रति ६ घण्टे पर एक सप्ताह तक, विशेषकर दण्डाण्वीय अतिसार, विसूचिका, स्थूलान्त्र शोथ आदि में। स्थूलान्त्र शोथ एवं उण्डुक शोथ में एक ग्राम स्ट्रेप्टोमाइसिन ४ औंस समलवण जल में मिलाकर आस्थापक बस्ति के रूप में भी दे सकते हैं।

पेशी द्वारा—१. क्षयातिरिक्त व्याधियाँ—१ ग्राम प्रति ६ घण्टे पर विशेषकर इन्फ्लुएञ्जा, प्लेग, माल्टाज्वर में तथा मूत्र संस्थानीय व्याधियों में अल्प मात्रा में—¼ से ½ ग्रा० प्रति ६ घण्टे पर—देने से भी पूर्ण लाभ हो सकता है क्योंकि औषध का मूत्र द्वारा ही उत्सर्ग होता है।

२. **क्षयज व्याधियाँ**—अतितीव्र स्वरूप की व्याधियों में २० मिलीग्राम प्रति पौण्ड शरीरभार के अनुपात में २ मात्राओं में विभक्त कर प्रातः-सायं देना। क्षयज मस्तिष्का-वरणशोथ में ३० मि० ग्राम प्रति पौण्ड भार के अनुपात में ३ मात्राओं में विभक्त कर देना चाहिए। सामान्य स्वरूप के राजयक्ष्मा में ½ ग्राम प्रातः-सायं बीस दिन तक दे कर, १ ग्राम प्रति तीसरे दिन १ मास तक देना चाहिए। अस्थिक्षय, आन्त्रक्षय आदि मन्द विषमयता वाले विकारों में एक ग्राम प्रति तीसरे दिन प्रारम्भ से ही मात्रा का क्रम रख सकते हैं। पेशीमार्ग से देने के लिए १ ग्राम को ४ सी० सी० समलवण जल या परिस्रुत जल में घोल बना कर और सिरा द्वारा प्रवेश करने के लिये ५% ग्लूकोज २५-५० सी० सी० में मिलाकर देना चाहिए। पेनिसिलिन के साथ ग्रामग्राही तृणाणुओं में या पूयगोलाणु आदि ग्रामत्यागी गोलाणुओं में इसका प्रयोग आवश्यक होने पर चार लाख प्रोकेन पेनिसिलिन के साथ १ ग्राम की मात्रा में दिन में एक बार देना चाहिए।

बाह्य प्रयोग—त्वचा एवं कर्ण की पूय युक्त अवस्थाओं में सूक्ष्मवेदी तृणाणुओं का उपसर्ग अनुमानित होने पर १ ग्राम स्ट्रेप्टोमाइसिन २० सी० सी० द्रावक में मिलाकर बूँद बूँद रूप में डालने के लिए अथवा पेनिसिलिन के साथ मिलाकर नासा एवं कर्ण में प्रधमन के लिए उपयोग किया जाता है। क्षयज लस ग्रन्थियों की वृद्धि में १ ग्राम १० सी० सी० में मिलाकर, १ सी० सी० की मात्रा में ग्रन्थि के भीतर सूचीवेध के द्वारा दिन में एक बार, एक सप्ताह तक देने से पर्याप्त लाभ होता है।

सुषुम्ना मार्ग से—इन्फ्लुएञ्जा दण्डाणु से उत्पन्न मस्तिष्कावरणशोथ में सुषुम्ना द्वारा प्रयोग की आवश्यकता नहीं पड़ती। किन्तु क्षयजन्य व्याधि में ५० मि० ग्रा० १० सी० सी० समलवण जल में मिलाकर (१ मि० ग्रा० प्रति पौण्ड शारीरिक भार के अनुपात से) सुषुम्नाद्रव की अधिक मात्रा का शोधन हो जाने के बाद प्रति दिन प्रयोग कराया जा सकता है। प्रायः ३ सप्ताह से अधिक काल तक देने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

सामान्य निर्देश—

१. तृणाणुओं की प्रतिकारकता शीघ्र उत्पन्न होने के कारण स्ट्रेप्टोमाइसिन का प्रयोग मुख्यतया ग्रामत्यागी दण्डाणुओं पर किया जाता है। राजयक्ष्मा, इन्फ्लुएञ्जा, प्लेग, गुह्य गोलाणु, शिगा दण्डाणु, कुकास दण्डाणु और फ्रीडलेण्डर दण्डाणु जन्य उपसर्गों में ही इसका प्रयोग करना चाहिए।

२. अव्यवस्थित प्रयोग तथा पूययुक्त अवस्थाओं में प्रयोग करने पर तृणाणुओं में प्रतिकारकता निश्चित रूप से उत्पन्न होती है। एक बार प्रतिकारकता उत्पन्न हो जाने पर पर्याप्त समय तक वे जीवाणु प्रतिकारक बने रह सकते हैं अर्थात् इस प्रकार के प्रतिकारक जीवाणु से उपसृष्ट दूसरे रोगी में भी इस औषध से कोई लाभ नहीं होगा।

३. डाइहाइड्रो स्ट्रेप्टोमाइसिन सल्फेट के प्रयोग से विषाक्त परिणाम कम होते हैं। तथा हाइड्रोक्लोराइड के प्रयोग से स्थानीय वेदना एवं सूक्ष्म वेदनता के परिणाम अधिक होते हैं। इधर काफी समय से चिकित्सा में डाइहाइड्रो का ही अधिक प्रयोग होता रहा, जिससे उसके लिए जीवाणुओं की प्रतिकारकता उत्पन्न हो गई है। इसलिए स्ट्रेप्टोमाइसिन सल्फेट या हाइड्रोक्लोराइड का प्रयोग अधिक लाभकारक सिद्ध हो रहा है। पहले १ ग्राम प्रातः सायं या दिन में ३ बार प्रयोग करने के कारण विषाक्त परिणाम अधिक हुआ करते थे, किन्तु आजकल प्लेग आदि के अतिरिक्त १ ग्राम से अधिक दैनिक मात्रा में प्रयोग नहीं किया जाता, जिससे विषाक्त परिणामों की संख्या बहुत कम हो गई है। डाइहाइड्रो तथा साधारण स्ट्रेप्टोमाइसिन दोनों को सम भाग

में मिलाकर देने पर कभी-कभी प्रतिकारक जीवाणुजन्य व्याधियों में भी लाभ हो जाता है।

४. अधिक समय तक प्रयोग आवश्यक होने पर सान्तर व्यवहार करना चाहिए।

५. राजयक्ष्मा में इसको मुख्य औषध न मानकर पूर्ण विश्राम सैनिटोरियम चिकित्सा, आइसोनिकोटिनिक, पास, तथा दूसरे साधनों (A. P. & P. P. आदि) के साथ इसका उपयोग किया जा सकता है।

६. जीवाणुओं की प्रतिकारकता उत्पन्न हो जाने पर, डेढ़ माह के लिए इसका प्रयोग बन्द कर देने के बाद, पुनः चालू करने पर कभी-कभी लाभ हो जाता है।

७. जीवाणु की प्रतिकारकता नष्ट करने के लिए विषाक्त परिणामों का ध्यान रखते हुये नियोमाइसिन का प्रयोग पूर्वोक्त निर्दिष्ट क्रम से कुछ समय करने के बाद स्ट्रेप्टोमाइसिन का प्रयोग करने पर प्रतिकारकता नष्ट होकर लाभ होता है।

विषाक्तता—इसका सबसे अधिक विषाक्त परिणाम आठवीं शीर्षण्य नाडी पर होने से भ्रम तथा नेत्रगतिनियन्त्रक नाडियों पर प्रभाव होने से तिर्यक् दृष्टि एवं कर्ण बाधिर्य आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। कुछ रोगियों में परिसरीयनाडियों में शोथ तथा पेशियों के असहकारितामूलक लक्षण भी उत्पन्न होते देखे गये हैं। वृक्कों में विषाक्त प्रभाव होने पर शुक्लिमेह, रक्तमेह तथा मूत्र में निर्मोक (Cast) आदि की उपस्थिति होती है। वृक्कों की विषाक्तता पहले से विकृत होने पर अधिक होती है। कभी-कभी हृल्लास, वमन, उदरशूल, अरोचक आदि लक्षण भी उत्पन्न होते हैं। स्ट्रेप्टोमाइसिन के प्रयोग से रोगियों में आसानी से सूक्ष्मवेदित्व उत्पन्न होता है, जिससे शिरःशूल, मुखपाक, सन्धिवेदना, कण्डू, शीतपित्त, चर्म शोथ, उपसिप्रियता आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार के विषाक्त परिणाम होने पर औषध का प्रयोग कुछ समय के लिए बन्द कर देना या अल्पमात्रा में व्यवहार करना चाहिए। अनूर्जतामूलक लक्षणों की शान्ति के लिए एन्टिस्टिन आदि का प्रयोग करना चाहिए।

आरियोमाइसिन (Aureomycin)

इसे डाक्टर वेञ्जामिन डूगर ने भारतीय वैज्ञानिक डा० सुब्बा राव की सहायता से १९४८ में स्ट्रेप्टोमाइसिस आरियो फेसियेन्स (Streptomyces aureofacience) के सम्वर्धन से प्राप्त किया। इसका वर्ण स्वर्ण के समान चमकदार पीला होने के कारण आरियोमाइसिन नामकरण किया गया है। इसका हाइड्रोक्लोराइड के रूप में तिक्त पीत चूर्ण २५० मि० ग्रा० की मात्रा में कैप्स्यूल में भरकर प्रयुक्त होता है।

गुणधर्म—यह मुख्यतया तृणाणुस्तम्भक है तथा इसके प्रयोग से सूक्ष्मवेदी जीवाणुओं में प्रतिकारकता उत्पन्न होने की सम्भावना बहुत कम होती है तथा पेनिसिलिन व स्ट्रेप्टोमाइसिन के लिए प्रतिकारक जीवाणु इसके लिए सूक्ष्मवेदी होते हैं। इसका कार्यक्षेत्र बहुत व्यापक होता है। ग्रामग्राही एवं ग्रामत्यागी तृणाणुओं तथा रिकेटसिया और बड़े विषाणुओं के द्वारा उत्पन्न व्याधियों में भी प्रभाव होता है। इसका विशेष उपयोग विषाणुजन्य फुफ्फुसपाक, अक्षिशोफ, फुफ्फुसपाक, वेल का रोग (Weils disease) माल्टाज्वर, मल मालागोलाणु जनित मूत्र संस्थान के रोग, वंक्षणीय लसकणिकार्बुद (Lymphogranuloma venereaum), गुह्य गोलाणु जनित औपसर्गिक पूयमेह, आमातिसार, औपसर्गिक कामला, फिरंग, तन्द्रिक ज्वर तथा परिसर्प आदि व्याधियों में, जहाँ दूसरी ओषधियाँ नहीं लाभ करतीं, इसके प्रयोग से लाभ होता है। इधर के प्रयोगों से कुक्कास, विसूचिका, यकृत्-शोथ, मसूरिका तथा शैशवीय अंगघात की प्रारम्भिक अवस्था में भी इससे आंशिक लाभ होते देखा गया है। इसका मुख्यतया प्रयोग मुखद्वारा किया जाता है। सेवन करने के ३-४ घण्टे बाद रक्त-संक्रेन्द्रण उच्चतम पहुँचता है तथा सामान्यतया ६-८ घण्टे तक और कभी-कभी २४ घण्टे तक आंशिक संक्रेन्द्रण बना रहता है। आत्ययिक स्थिति में या किसी कारण मुख द्वारा प्रयोग सम्भव न होने पर सिरा द्वारा प्रयोग किया जाता है। ओषधि का प्रचूषण पेशीमार्ग से पर्याप्त न होने के कारण प्रयोग नहीं होता। ४ से ८ घण्टे में इसके पर्याप्त अंश का मूत्र द्वारा उत्सर्ग हो जाता है, जिससे प्रति ६ घण्टे पर इसका प्रयोग करते रहना पड़ता है। मुख, नेत्र, योनिमार्ग आदि में स्थानिक प्रयोग के लिए अनेक रूपों में आरियोमाइसिन का प्रयोग किया जाता है। अभी तक आरियोमाइसिन के साथ दूसरी प्रतिजीवी वर्ग की औषध का योगवाहित्व नहीं सिद्ध हो सका है। अतः इसके साथ में इतर प्रतिजीवक औषधों का व्यवहार न करना ही अच्छा है। सामान्यतया १२·५ से २५ मि० ग्राम प्रति किलोग्राम शरीर भार के अनुपात से मात्रा का निर्धारण किया जाता है।

मात्रा—मुख द्वारा—२५० मि० ग्राम या १ कैप्स्यूल प्रति ६ घण्टे पर प्रयोग करने पर आवश्यक रक्त संक्रेन्द्रण पर्याप्त समय तक बना रहता है। कभी-कभी मुखद्वारा प्रयोग करने पर वमन, अतिसार, आध्मान आदि विपरिणाम उत्पन्न होते हैं। यदि औषध को भोजन के घण्टे दो घण्टे बाद या पर्याप्त मात्रा में दूध, फलों का रस आदि अनुपान के साथ दिया जाय तो इस प्रकार के उपद्रव रुक सकते हैं। तीव्र स्वरूप की व्याधियों में एक सप्ताह तक प्रयोग करना चाहिए।

सिराद्वारा—१००-२५० मि० ग्राम आरियोमाइसिन क्रिस्टैलाइन सोडियम ग्लाइसिनेट (Aureomycin h. cl crystallin sodium glycinate) सिरा द्वारा प्रयोग के लिये अलग से मिलता है। इसे १० सी० सी० समलवण जल या

पाँच प्रतिशत ग्लूकोज सोल्यूशन में मिलाकर तुरन्त सिरा द्वारा देना चाहिए। सिरा द्वारा औषध का प्रवेश बहुत धीरे-धीरे एक सी० सी० प्रति मिनट की गति से देना चाहिए। बार-बार प्रयोग आवश्यक होने पर सिरा परिवर्तन करते रहना चाहिए अन्यथा घनास्रि शिराशोथ (Thrombo-phlebitis) के उपद्रव की सम्भावना अधिक होती है। कभी-कभी सूचीवेध तीव्र गति से देने पर रोगी को अत्यधिक बेचैनी हो सकती है। यह मार्ग उपद्रवों से रिक्त नहीं है, अतः मुख द्वारा प्रयोग सम्भव होने पर तुरन्त सिरा द्वारा प्रयोग बन्दकर मुखमार्ग से ही औषध देनी चाहिए।

पेशीमार्ग—१०० मि० ग्रा० की मात्रा १२ घण्टे के अन्तर पर देना चाहिए। शिरामार्ग की अपेक्षा यह निरापद किन्तु पीडाकारक होता है।

बाह्य प्रयोग—

दन्तवेष्ठ—५ मिलीग्राम आरियोमाइसिन, १ मिलीग्राम वेञ्जोकेन के साथ शंक्वाकार वर्ति के रूप में मिलता है। इसका व्यवहार दन्त, दन्तवेष्ठ की पूय युक्त स्थितियों में स्थानीय प्रपूरण के लिये दिन में २-३ बार करना चाहिए। ३०% आरियोमाइसिन का मलहर दाँतों में लगाने के लिए उक्त व्याधियों में प्रयुक्त होता है।

नेत्र—१० मिलीग्राम आरियोमाइसिन पेट्रोलियम बेस में मिला हुआ नेत्र मलहर के लिये आता है। इसका विशेष व्यवहार स्तबक-फुफ्फुस-माला गोलाणुजन्य, इन्फ्लुएञ्जा दण्डाणु, पूय-माला गोलाणुजन्य नेत्राभिष्यन्द, नेत्रशोथ, सव्रण शुक्र आदि व्याधियों में किया जाता है। पोथकी (Trachoma) की विभिन्न अवस्थाओं में तथा परिसर्पजन्य नेत्रविकार में इसका प्रयोग लाभकारक सिद्ध हुआ है। तीव्र व्याधियों में प्रति २ घण्टे पर तथा जीर्ण व्याधियों में प्रति ६ घण्टे पर भली प्रकार नेत्रों के भीतर लगाना चाहिए।

त्वचा—३० मिलीग्राम प्रति ग्राम पेट्रोलियम बेस में मिलाकर बाह्य प्रयोग के लिए मलहर आता है। ग्रामग्राही तथा ग्रामत्यागी तृणाणुओं के उपसर्ग से उत्पन्न त्वग्विकारों में व्रणवस्त्र में लगाकर प्रलेप किया जाता है। अग्निदग्ध व्रणों में भी इसके प्रयोग से द्वितीय उपसर्ग का प्रतिषेध होकर शीघ्र लाभ होता है।

कर्ण—कर्ण विन्दु के लिए स्वतन्त्र रूप से आरियोमाइसिन का क्रिस्टलाइन चूर्ण ५० मिलीग्राम की मात्रा में १० सी० सी० द्रावक के साथ आता है। बाह्यकर्णशोथ, पूतिकर्ण आदि व्याधियों में इस घोल के २-३ बूँद दिन में ३ बार ५-६ दिन तक डालने से पर्याप्त लाभ होता है।

बाह्य प्रयोग के रूप में इसके व्यवहार से अनेक बार रोगियों में परमसूक्ष्म वेदनता के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। अनूर्जता विरोधी औषधों के प्रयोग से उनका प्रतिकार करना चाहिए।

मुख एवं गले के लिए—आरियोमाइसिन ट्राचेस का प्रयोग मुख्यतया श्लेष्मलकला की विकृतियों, मुखपाक, तुण्डिकेरी शोथ, स्वरयंत्र शोथ, ग्रसनिका शोथ आदि व्याधियों में चूसने के लिए किया जाता है। तीव्रावस्था में प्रति २ घण्टे पर अन्यथा ४ घण्टे पर १ या २ गोली चूसने के लिये देना चाहिए।

बच्चों के लिए आरियोमाइसिन कैलसियम ओरल ड्राप्स, आरियोमाइसिन स्पर्स्वाइडज़ तथा घुलनशील ५० मिलीग्राम की टिकिया आती है। इनका यथानिर्देश प्रयोग करना चाहिए।

सामान्य निर्देश—

१. पेनिसिलिन-स्ट्रेप्टोमाइसिन प्रतिकारक जीवाणुजन्य व्याधियों में आरियोमाइसिन के प्रयोग से पर्याप्त लाभ होता है। यह विशाल क्षेत्रक प्रतिजीवक औषध है। पूर्वोक्त दूसरी औषधों से अनुकूल परिणाम न सिद्ध होने पर इसका प्रयोग करना चाहिए।

२. खाली पेट सेवन करने पर आमाशयिक क्षोभ के कारण हृल्लास, वमन, अतिसार आदि उपद्रव अधिक होते हैं, अतः कुछ आहार लेने के उपरान्त ही सेवन करना चाहिए।

३. इसके प्रयोग से आन्त्रस्थ सहवासी तृणाणु अधिक संख्या में नष्ट हो जाते हैं जिससे जीवतिक्ति बी. का संश्लेषण नहीं हो पाता, अतः इसके सेवन के कुछ समय बाद, नियम से जीवतिक्ति बी. का प्रयोग कराना आवश्यक है।

४. सिरा द्वारा ओषधि का प्रयोग उपद्रवकारक होने से केवल आत्ययिक स्थिति में इस मार्ग से प्रवेश कराना चाहिए।

५. रोग मुक्ति के बाद ४–५ दिन तक औषध सेवन के बाद क्षमतावर्धक ओषधियों का प्रयोग करना रोग के स्थायी निराकरण में सहायक होता है।

६. फफूंदी वर्ग के कुछ जीवाणु (मॉनिला आदि Monillia) इसके सेवन-काल में ही बढ़ सकते हैं। यदि औषध-सेवन-काल में कोई नवीन औपसर्गी व्याधि हो या जीवाणु की वृद्धि का अनुमान हो तो प्रयोग बन्द कर देना चाहिए। इस प्रकार के परिवर्तनों का सूक्ष्म निरीक्षण आवश्यक है।

विषाक्तता—इसके प्रयोग से गम्भीर विषाक्त परिणाम प्रायः नहीं होते। मात्राधिक्य होने पर कभी-कभी वमन, अतिसार, उदरशूल आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। कुछ रोगियों में सूक्ष्म वेदनता के कारण विस्फोट, कण्डू, त्वचाशोथ आदि उपद्रव—विशेषतया स्थानीय प्रयोग करने के उपरान्त—होते देखे गये हैं। सिरा द्वारा प्रयोग के बाद घनास्र सिराशोथ, बेचैनी, हृल्लास, शिरःशूल आदि उपद्रव कभी-कभी होते हैं। विपरिणाम होने पर औषध का प्रयोग कुछ दिन बन्द करना या आवश्यक होने पर कैलसियम कार्बोनेट दस ग्रेन की मात्रा में इसके सेवन के ५ मिनट पूर्व देना चाहिए।

एक्रोमायसिन (Achromycin, lederle, tetracyclin)

आरियोमायसिन के निर्माताओं ने तत्सम नवीन औषध का अनुसन्धान किया है। वास्तव में आरियोमायसिन के क्लोरीन अणु के स्थान पर हाइड्रोजन अणु का प्रवेश कराकर टेट्रासायक्लिन हाइड्रोक्लोराइड (Tetracycline hcl) अर्थात् एक्रोमायसिन का निर्माण किया है।

उपयोगिता—यह भी विशाल क्षेत्रक प्रतिजीवी औषध है, जिसका प्रभाव ग्राम-ग्राही तथा ग्रामत्यागी एवं स्थूल विषाणुओं पर होता है। निम्नांकित व्याधियों में इसका विशेष प्रभाव होता है।

फुफ्फुस पाक, श्वसनी फुफ्फुस पाक, असनिका शोथ, कुकास, मध्यकर्ण शोथ, तीव्र वृक्क शोथ, लोहित ज्वर, दण्डाणवीय अतिसार, अस्थिमज्जा शोथ, माल्टा ज्वर, तंद्रिक ज्वर, आंत्रिक ज्वर, अविशिष्ट फुफ्फुसपाक, कर्णमूल शोथ, गुह्य गोलाणु जनित पूयमेह, अनुतीव्र दण्डाणवीय हृदन्तःशोथ, मस्तिष्कावरण शोथ।

मात्रा—इसकी मात्रा भी आरियोमायसिन के समान १२·५–२५ मि० ग्रा० प्रति किलोग्राम शरीर-भार के अनुपात में बालक एवं वयस्कों में निर्धारित की जाती है। सामान्यतया १ कैप्स्यूल (२५० मि० ग्रा०) दिन में ४ बार प्रति ६ घण्टे पर दिया जाता है। इससे अधिक मात्रा में उपयोग की आवश्यकता केवल अति तीव्र व्याधियों में पड़ती है। वहाँ दिन में ६ मात्रा (प्रति ४ घण्टे पर) देना आवश्यक होता है। मुख द्वारा औषध लेते समय साथ में पर्याप्त मात्रा में जल पीने से आमाशयक्षोभजनित वमन, अतिसार आदि विपरिणाम नहीं होते तथा औषध का प्रचूषण भी उचित रूप में होता है।

विषाक्तता—आरियोमायसिन की अपेक्षा इससे विषाक्त परिणाम बहुत कम होते हैं। अनूर्जताजन्य त्वग्विकार, मुखपाक, जिह्वाशोथ, वमन एवं अतिसार आदि उपद्रव अधिक-मात्रा प्रयोग से उत्पन्न होते हैं। मात्रा न्यूनता तथा एक्रोमायसिन के साथ

पर्याप्त दूध, फलरस, डाभ का पानी या केवल जल पिलाने से इनका प्रतिकार हो सकता है ।

टेट्रासायक्लिन के गुण की वृद्धि तथा उसके द्वारा उत्पन्न होने वाले हानिकर प्रभावों के निराकरण के लिए कुछ विशिष्ट मिश्रित योग भी प्रचलित हैं । इनके कुछ योगों में जीवतिक्ति वर्ग की आवश्यक मात्रा का भी मिश्रण किया जाता है ।

मायस्टेक्लिन (Mysteclin, Squibbs)

इसमें टेट्रासायक्लिन के साथ मायकोस्टैटिन (Mycostatine) नमक छत्रक विरोधी (Fungicidal) औषध का योग किया गया है, जिसके कारण टेट्रासायक्लिन का अधिक काल तक सेवन करने पर छत्रक विकारों की उत्पत्ति न होगी ।

सिनरमायसिन (Synermycin, Pfiezer) इसमें टेट्रासायक्लिन के साथ ओलीण्डोमायसिन (Oleondomycin) नामक प्रतिजीवी वर्ग की औषध का टेट्रासायक्लिन से आधी मात्रा में (२:१ के अनुपात) मिश्रण किया गया है । ओलीण्डोमायसिन का विशिष्ट प्रभाव सहिष्णु स्वरूप (Resistant strain) के गुच्छ गोलाणु (Staphylococci) जनित उपसर्गों पर होता है । इसलिए इस योग की व्यापक क्रियाशीलता के कारण केवल टेट्रासायक्लिन की अपेक्षा अनेक व्याधियों में अधिक अनुकूल परिणाम होता है । इसका प्रयोग पेशीमार्ग या मुख द्वारा किया जा सकता है ।

लेडरमायसिन (Ledermycin, lederle, de-methyl chlor tetracycline hydrochloride)

इसका अनुसन्धान लेडर्ले अनुसंधान प्रतिष्ठान ने स्ट्रेप्टोमायसिस ऑरियो फेसीन्स (Streptomyces Aureofacience) नामक छत्रक से किया है । यह रचना तथा गुण-धर्म, दोनों दृष्टियों से टेट्रासायक्लिन से मिलती-जुलती है । टेट्रासायक्लिन से लाभ न होने पर इसका प्रयोग किया जा सकता है । इसका वृक्कों के द्वारा उत्सर्ग अपेक्षाकृत मन्द गति से होने के कारण टेट्रासायक्लिन की अपेक्षा कम मात्रा में प्रयोग की आवश्यकता होती है । सामान्यतया १५० मि० ग्राम की मात्रा में ४–६ घण्टे पर दी जाती है । टेट्रासायक्लिन की २५० मि० ग्रा० के बराबर लेडरमायसिन की १५० मि० ग्रा० की मात्रा होती है । अभी इसका व्यापक प्रयोग न होने के कारण तृणाणुओं में सहनशीलता नहीं उत्पन्न हुई, इसलिए सहिष्णु स्वरूप के तृणाणुओं से उत्पन्न विकारों में इसकी विशिष्ट उपयोगिता समझनी चाहिए ।

रेवेरिन (Reverin, hoechst)—यह टेट्रासायक्लिन का ही एक विशिष्ट योग है, जिसकी २७५ मि० ग्रा० औषध से २५० मि० ग्रा० टेट्रासायक्लिन निर्मित

होती है। यह केवल सिरामार्ग से या स्थानीय प्रयोग के रूप में उदरावरण-फुफ्फुसावरण गुहा तथा सन्धि स्थानों में प्रयोग की जा सकती है। सिरामार्ग से प्रयुक्त करने पर कोई हानिकर परिणाम नहीं होते तथा इसका मूत्र द्वारा उत्सर्ग भी विलम्ब से होता है, जिससे २४ घण्टे में एक बार सिरा मार्ग से प्रयोग की अपेक्षा होती है—इसी से रक्त में उचित संकेन्द्रण २४ घण्टे तक उपस्थित रहता है। इसके साथ ही १० सी. सी. परिस्रुत विशुद्ध जल रहता है, जिसमें घोलकर सूचीवेध दिया जाता है। इसके घोल को, टेट्रासायक्लिन के दूसरे सिरा मार्ग से प्रयोज्य योगों के समान, बूँद-बूँद के रूप में या बहुत अधिक मात्रा में द्रावक (ग्लूकोज या समबल लवण जल आदि) आदि के साथ मिश्रण की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती।

टेरामायसिन (Terramycin—oxytetracycline pfiezer)

स्ट्रेप्टोमाइसेस रिमोसस (Streptomyces Rimosus)—से इसका आविष्कार १९५० में किया गया है। यह द्रव्य अम्ल व क्षार दोनों के साथ यौगिक बनाता है तथा इसका घोल पर्याप्त समय तक सुरक्षित रहता है।

गुण-धर्म—यह भी विशाल क्षेत्रक औषध है। ग्रामग्राही-ग्रामत्यागी तृणाणु, रिकेटसिया और बड़े विषाणुओं पर इसका प्रभाव होता है। रक्त लसिका के साथ मिलकर निष्क्रिय होना या औपसर्गिक जीवाणु की अधिकता के कारण व्यर्थ होने का दोष इसमें नहीं है। अब तक ज्ञात सभी प्रतिजीवक द्रव्यों में अत्यधिक कार्य शक्ति, अल्पतम विषाक्तता एवं व्यापक प्रभाव की दृष्टि से टेरामायसिन सर्वोत्तम औषध है। मुख द्वारा सेवन करने पर आन्त्र से पूर्ण मात्रा में इसका प्रचूषण हो जाता है। ·५ से १·५ मिलीग्राम प्रति सी. सी. रक्त संकेन्द्रण एक कैप्स्यूल (२५० मि० ग्रा०) प्रति ६ घण्टे पर लेने से बना रह सकता है। शोषण के बाद सारे शरीर में—फुफ्फुसावरण गुहा, मस्तिष्कावरण गुहा आदि स्थानों में—समान रूप से व्याप्त हो जाती है। इसका अधिकांश मूत्र द्वारा तथा कुछ अंश मल द्वारा उत्सर्गित होता रहता है। व्यावहारिक उपयोगिता की दृष्टि से निम्नलिखित व्याधियों में इसका विशेष प्रयोग किया जाता हैं।

सभी प्रकार के फुफ्फुसपाक, नीलपूयदण्डाणु-मल माला गोलाणु-स्थूलान्त्र दण्डाणुजन्य मूत्र संस्थान के उपसर्ग, गुह्य गोलाणु जनित पूयमेह, माल्टा ज्वर, अतिसार, वृक्कशोथ, यकृत् शोथ, पित्ताशय शोथ, तन्द्रिक ज्वर, कर्णमूल शोथ आदि व्याधियों में प्रयोग होता है। यह औषध तृणाणुनाशक नहीं है, किन्तु रोग की लाक्षणिक शान्ति शीघ्र होने के कारण उसकी क्रियाशक्ति शारीरिक शक्ति के द्वारा कार्यक्षम होती होगी, ऐसा अनुमान किया जाता है। इसके व्यवस्थित प्रयोग के बाद व्याधि का पुनरावर्तन अपेक्षाकृत कम हुआ करता है। आरियोमाइसिन और टेरामाइसिन दोनों का प्रभाव

इतना व्यापक है और विषाक्त परिणाम इतने कम हैं, जिससे अनेक औपसर्गी व्याधियों में इनका प्रयोग किया जाता है। सामान्यतया बहुसंख्यक व्याधियों में कुछ न कुछ शामक प्रभाव इनके द्वारा अवश्य हो जाता है।

मात्रा—मुखद्वारा—तीव्र व्याधियों में १ ग्रा० प्रारम्भिक मात्रा, बाद में प्रति ६ घण्टे पर ½ ग्राम दो दिन तक, रोगमुक्ति के बाद ¼ ग्राम या १ कैप्स्यूल प्रति ६ घण्टे पर ३ दिन तक। साधारण व्याधियों में प्रारम्भिक मात्रा ½ ग्राम, बाद में ¼ ग्राम प्रति ६ घण्टे पर ५ से ७ दिन तक।

पेशीमार्ग—१००-२५० मिलीग्राम की मात्रा में पेशीमार्ग से १२ घण्टे के अन्तर से इसका प्रयोग किया जाता है। पेशी तथा सिरामार्ग से प्रयुक्त होने वाले योग अलग-अलग आते हैं।

सिरा द्वारा—सिरा द्वारा टेरामाइसिन का प्रयोग मुखद्वारा सम्भव न होने पर तथा चिकित्सक की निरन्तर देख-रेख करने पर ही करना चाहिए, क्योंकि कभी-कभी सिरा द्वारा प्रयोग के बाद हृल्लास, वमन, प्रवाहिका, मूर्च्छा, वैचित्य, स्वरभंग आदि उपद्रव होते हैं। तीव्र व्याधियों में ¼ ग्राम या ½ ग्राम (२५०-५०० मि० ग्रा०) ५% ग्लूकोज सोल्यूसन या समलवण जल १०० सी. सी. में मिलाकर निरन्तर बूंद-बूंद रूप में, १ मिनट में ३०-४० बूंद अधिक से अधिक के अनुपात में, देना चाहिए। प्रायः बारह घण्टे बाद पुनः प्रयोग करना पड़ता है। मुख द्वारा प्रयोग सम्भव होने पर सिरा प्रयोग बन्द कर उसी मार्ग से देना चाहिए।

बाह्य प्रयोग—आरियोमायसिन के समान नेत्र, त्वचा आदि के लिए पृथक्-पृथक् इसके योग मिलते हैं। बच्चों के लिए टेरामाइसिन पिड्रियाटिक ड्राप्स के रूप में शुष्क चूर्ण आता है, जिसको १० सी. सी. परिस्रुत जल में घोल कर सेवन कराया जाता है।

विषाक्तता—यह अल्पतम विषाक्त औषध है। कभी-कभी हृल्लास, वमन, प्रवाहिका, मुखपाक, जिह्वाशोथ, योनिशोथ, गुदशोथ, कण्डू, विस्फोट, उदरशूल आदि विषाक्त लक्षण उत्पन्न होते हैं, प्रायः मात्रा कम कर देने पर इनकी शान्ति हो जाती है। औषध के साथ ठण्डा दूध, कैलसियम या फलों का रस तथा पर्याप्त जल पिलाने से क्षोभजन्य परिणाम नहीं होते। सिरा द्वारा प्रयोग करने पर सिराशोथ की सम्भावना अधिक होती है।

क्लोरोम्फेनिकॉल (Chloramphenicol)

इसका आविष्कार स्ट्रेप्टोमाइसेस वेनेजुएला (Streptomyces venezuela) से वर्क होल्डर नामक वैज्ञानिक ने सन् १९४७ में किया। कुछ समय बाद इसका पूर्ण रासायनिक संगठन ज्ञात हो गया, जिससे संश्लेषण कर अपेक्षाकृत सस्ते रूप में उपलब्ध होने लग गया है।

गुणधर्म—यह भी विशाल क्षेत्रक प्रतिजीवी द्रव्य है, किन्तु टेरामायसिन और आरियोमाइसिन की अपेक्षा इसकी व्यापकता कम है। ग्रामग्राही तृणाणुओं पर इसका प्रभाव बहुत कम होता है, किन्तु ग्रामत्यागी तृणाणु, रिकेट्सिया और स्थूल विषाणु पर कार्य अच्छा होता है। आन्त्रिक ज्वर दण्डाणुओं पर इसका विशेष कार्य होने के कारण आन्त्रिकज्वर की विशिष्ट औषध के रूप में इसकी मान्यता है। मुखद्वारा सेवन करने पर २ घण्टे के भीतर आन्त्र से प्रचूषित होकर रक्त में उच्च संकेन्द्रण हो जाता है तथा ६ घण्ट के बाद रक्त संकेन्द्रण पर्याप्त कम हो जाता है। यह शरीर में कोषाओं के भीतर तथा बाहर उपस्थित द्रव में समान रूप से प्रसरित होता है। सुषुम्नाद्रव, फुफ्फुसावरणद्रव, पित्त इत्यादि शारीरिक द्रवों में भी इसकी मात्रा समान रूप से व्याप्त होती है। मुख्यतया मूत्र के साथ इसका उत्सर्ग वृक्कों के द्वारा होता है। बच्चों में गुदा द्वारा प्रयोग करने से औषध का पर्याप्त प्रचूषण हो जाता है। व्यावहारिक दृष्टि से इसका उपयोग आंत्रिक ज्वर, माल्टा ज्वर, शिगा दण्डाणु जन्य व्याधि, तन्द्रिक ज्वर, अविशिष्ट फुफ्फुसपाक, वंक्षणीय लस कणिकार्बुद, वृक्क शोथ, स्थूलान्त्र दण्डाणु-मलमाला गोलाणु जनित मूत्र संस्थानीय उपसर्गों में मुख्यतया होता है।

मात्रा—मुखद्वारा प्रतिजीवी वर्ग की सभी ओषधियों में सर्वाधिक कटुस्वाद की यह औषध है। बच्चों के लिए मधुर पेय के रूप में क्लोरामाइसिटिन पामिटेट के रूप में इसका योग आता है। सामान्यतया २५० मिलीग्राम की मात्रा कैप्स्यूल में भरकर प्रयुक्त होती है। दैनिक मात्रा ५० मिलीग्राम प्रति किलोग्राम शरीर-भार के अनुपात से ६ समभाग में बाँटकर प्रति ४ घण्टे पर दी जाती है—बच्चों में ५०-१०० मि० ग्राम प्रति किलोग्राम शरीर-भार के अनुपात से देना चाहिए। रोगमुक्ति के बाद ५ दिन तक प्रयोग कराना आवश्यक होता है अन्यथा व्याधि का पुनरावर्तन होने की सम्भावना होती है। सामान्यतया १०-१२ दिन से अधिक सेवन कराने की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस प्रकार तीव्र रोगों में दस ग्राम तथा जीर्ण रोगों में १५ ग्राम अधिक से अधिक मात्रा देनी पड़ती है। बच्चों के लिए पामिटेट उपलब्ध न होने पर कैप्स्यूल को खोलकर मधु मिलाकर पानी के साथ पिलाया जा सकता है। वस्ति के द्वारा पक्वाशय का शोधन करने के बाद कैप्स्यूल में सूई से ५-७ छिद्र कर गुदा में ऊँचाई पर रख देने से प्रचूषण हो जाता है, किन्तु प्रति ६ घण्टे पर यह प्रक्रिया करनी पड़ती है। इससे कभी-कभी अतिसार का उपद्रव हो जाता है। अतः वमन आदि के कारण मुखद्वारा प्रयोग सम्भव न होने पर ही इस मार्ग का प्रयोग करना चाहिए।

सिरा या पेशी द्वारा—मुख द्वारा प्रयोग सम्भव न होने पर पेशी या सिरा द्वारा १ ग्राम या १००० मिलीग्राम की मात्रा में प्रयोग करना चाहिए। सारी व्यवस्था आरियो-माइसिन-टेरामाइसिन के समान ही की जाती है।

सामान्य निर्देश—

१. क्लोरोमाइसेटिन के साथ पेनिसिलिन की विरोधिता है। एक साथ प्रयोग करने पर दोनों की कार्यशक्ति क्षीण हो जाती है।

२. आन्त्रिक ज्वर में कभी-कभी इसके प्रयोग के दूसरे दिन आकस्मिक रूप में सन्ताप स्वाभाविक से भी नीचे पहुँच जाता है तथा परिसरीय रक्त प्रवाह में शिथिलता उत्पन्न होकर प्रस्वेद-शीतांग-क्षीण नाड़ी आदि उपद्रव होते हैं। कुछ रोगियों में संन्यास और मृत्यु तक देखी गई है। इसके प्रयोग के बाद रोगी पर्याप्त समय तक बहुत सुस्त, अवसादित सा रहा करता है।

३. आन्त्रिक ज्वर में इसके प्रयोग से अतिसार का गम्भीर उपद्रव भी कुछ रोगियों में देखा गया है।

४. त्वचा के विस्फोट, अधस्त्वचीय रक्तस्राव, यकृत् वृद्धि, रक्तस्रावी प्रवृत्ति आदि दुष्परिणाम इसके प्रयोग से कुछ रोगियों में हो सकते हैं।

५. आन्त्रस्थ सहवासी जीवाणुओं का नाश हो जाने के कारण जीवतिक्ति बी का संश्लेषण नहीं हो पाता, जिससे मुखपाक, जिह्वाशोथ, आध्मान आदि उपद्रव हो सकते हैं। कुछ रोगियों में औषध-प्रयोग के बाद मस्तिष्कावरणक्षोभ के लक्षण, मूत्रावरोध व मूत्राघात तथा कंपकपी का लक्षण देखा गया है।

६. आन्त्रिक ज्वर दण्डाणु की बहुत सी उपजातियाँ इस औषध के प्रति जन्मजात प्रतिकारक होती हैं। उनमें इसके प्रयोग से कोई लाभ नहीं होता।

७. शारीरिक प्रतिकारक शक्ति के निर्बल हो जाने से क्लोरोमाइसेटिन द्वारा ज्वरमुक्ति होने के बाद पुनरावर्तन अधिक होते हैं।

८. उक्त सभी तथ्यों पर ध्यान रखते हुये यही सिद्ध होता है कि इस औषध का प्रयोग नियमित रूप से आन्त्रिक ज्वर के सभी रोगियों में न करना चाहिए। केवल औपद्रविक लक्षणों की उपस्थिति में ही क्लोरोमाइसेटिन का प्रयोग उचित है।

विषाक्तता—हृल्लास, वमन, मुखपाक, आध्मान, अतिसार, भ्रम, हृदय एवं श्वसन की शीघ्रता, शिरःशूल, तन्द्रा, मूर्च्छा, प्रस्वेद, हीन संताप, जिह्वा पाक आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। यह सभी लक्षण मुख्यतया मात्राधिक्य से उत्पन्न होते हैं। अल्प मात्रा में देने से इन लक्षणों का प्रतिषेध होता है। आन्त्रिक ज्वर आदि दीर्घकालानुबन्धी व्याधियों में अधिक समय तक प्रयोग होने के कारण अपचयिक रक्तक्षय, रक्तोत्पादन में शिथिलता (Aplastic anaemia & slow Haemopoiesis), आन्त्रस्थ तृणाणु का नाश होकर उनके स्थान में किण्व की वृद्धि आदि दुष्परिणाम होते हैं।

तृणाणु	ग्राम रञ्जन	प्रमुख व्याधियाँ	शुल्वौषधियां
स्तबक गोलाणु			
स्वर्णवर्णी स्तबक गोलाणु (Staph Aureus)	+	फोड़ा-फुंसी, विशेषकर त्वचा की विद्रधियाँ, उपनख,	+ + व. स.
शुक्लवर्णी स्तबक (Staph Albus)	+	मध्यकर्ण शोथ, दोषमयता	+ + सब
माला गोलाणु	+	श्लेष्मलकला के विकार	
अल्फा शोणांशिक (Str. Viridans)	+	लोहित-आमवात-विसर्प-तुण्डिकेरी शोथ, मस्तिष्कावरणशोथ	+
बीय शोणांशिक (Str. Heamolyticus)	+	पूयोरस, विद्रधि, उपनख	+ +
मल माला गोलाणु (Strepto-feacalis)	+	दोषमयता, पूयमयता	+
पूयजनक माल्य (Str. Pyogenes)	+		+
फुफ्फुस गोलाणु (Diplococci Pneumoniae)	+	फुफ्फुस पाक, श्वसनी फुफ्फुसपाक मस्तिष्कावरण शोथ, मध्यकर्णशोथ,	+ +
मस्तिष्क गोलाणु (Meningococci)	—	मस्तिष्कावरण शोथ, नासाग्रसनिका-शोथ, तुण्डिकेरी शोथ	+ + + स
गुह्य गोलाणु (Gonococci)	—	पूयमेह, संधिशोथ	+ +
रोहिणी दण्डाणु (B. Diphtheria)	+	रोहिणी	o
धनुर्वात दण्डाणु (Clostrodin Tetanae)	+	धनुर्वात	+ +
वात कर्दम दण्डाणु (Clostrodin Welchi)	+	वातकर्दम	+ +
कुकास दण्डाणु (H. Pertussis)	—	कुकास	+ +
इन्फ्लुएञ्जा दण्डाणु (H. Influenzae)	—	इन्फ्लुएञ्जा, मस्तिष्कावरणशोथ	+ +
डुर्क्र दण्डाणु (H. Ducreyi)	—	वंक्षणीय लसकणिकार्बुद	+ +
यक्ष्मा दण्डाणु (B. Tuberculosis)	±	राजयक्ष्मा, क्षयज विकार	o
कुष्ठ दण्डाणु (B. Leprea)	+	कुष्ठ	o
मलाश्रयी दण्डाणु (B. coli.)	—	वृक्क-मूत्राशयशोथ	+ +
फ्रिडलैण्डर दण्डाणु (Freidlandar's Pneumo Baccili)	—	फुफ्फुसपाक, तुण्डिकेरी शोथ, मध्यकर्ण शोथ	+
आन्त्रिक दण्डाणु (B. Typhosus)	—	आन्त्रिक ज्वर	o
उपान्त्रिक ज्वर दण्डाणु (B. Paratyphosus)	—	उपान्त्रिक ज्वर	o
रिकेट्सिया (Rickettsiae)	—	तन्द्रिक ज्वर	o
अतिसार दण्डाणु (B. Dysentry)	—	दण्डाणवीय अतिसार	+ +
विसूचिका दण्डाणु (B. Cholerae)	—	विसूचिका	+ +
प्लेग (B. Pestis)	—	प्लेग	+ +
फिरंग कुन्तलाणु (T. Pallida)		फिरंग	o
(T. Pertenus)			o
(T. Recurrentis)			o
विषाणुजन्य प्रमुख व्याधियाँ-	—		o

तेजीवी वर्ग की औषधियों की कार्यक्षमता का कोष्ठक

सिलिन	आइलो	स्ट्रेप्टो.	आरो.	टेरा.	क्लोरो.	पोलिमि.	बसिट्रैसिन	नियोमा.
++	+++	+व.स.	+++	++	++	०	++	++व.
++	+++	+व.	++	++	++	०	++	++व.
++	+++	+व.	++	++	++	०	++	++व.
++	+++	+व.	++	++	++	०	++	++व.
-व.स	++	+व.स.	++	++	++	०	++	+व.
+	+++	+	+	+	+	०	+	+
++	+++	+व.	++	+++	++	०	++	+व.
+स	+++	०	++	++	++	०	०	+
++	+++	++	++	++	++	०	?	?
++	+++	०	++	++	++	०	०	+व.
++	+++	०	++	++	++	०	++	++व.
++	+++	०	++	++	++	०	++	++व.
०	++	+++	+++	++	++	०	०	+व.
०	+	+++	++	++	++	++	०	+व.
०	+++	++	+++	++	++	++	०	+व.
०	०	+++	+	+	+	०	०	+
०	+	++	+	?	?	०	०	?
०	++	++	+++	++	++	++	०	++
+	++	++	+++	+++	++	०	०	+
०	०	०	+	++	+++	०	०	०
०	०	०	+	++	+++	०	०	०
०	०	०	+	++	+++	०	०	०
०	+	++	+++	+++	+++	++	+++	+
०	++	++	+++	+++	+++	०	+++	०
++	+	+++	+++	+++	+++	०	+	+
++	०	०	+	++	०	०	०	०
+	०	०	+	++	०	०	०	०
+	०	०	+	++	०	०	०	०
०	०	०	++	++	+	०	०	०

सप्तम अध्याय

लाक्षणिक चिकित्सा

प्रत्येक रोगी में मूल व्याधि के साथ कभी-कभी कुछ लक्षण विशेष कष्टदायक स्वरूप के कारण सर्वप्रथम चिकित्स्य हो जाते हैं। कोई रोगी ज्वर से पीड़ित है, अकस्मात् उसको शिर में भयंकर वेदना प्रारम्भ हो गई या छर्दि का कष्ट होकर एक नया उपद्रव पैदा हो गया अथवा ज्वर का मुख्य लक्षण संताप सीमा का अतिक्रमण कर गया; प्रलाप, मूर्च्छा इत्यादि और भी अनेक लक्षण व उपद्रव हैं जो अपने विशेष कष्टदायक स्वरूप के कारण चिकित्सक, कुटुम्बी एवं रोगी का ध्यान केन्द्रित कर लेते हैं। ऐसी स्थितियों में मूल व्याधि की व्यवस्था करते हुए इन लक्षणों का संशमन करना अनिवार्य हो जाता है। इस अध्याय में इस प्रकार के प्रमुख लक्षणों के संक्षिप्त शामक उपाय संगृहीत हैं। प्रायः लाक्षणिक चिकित्सा की ओषधियों में लक्षण की शान्ति—चाहे वह लक्षण किसी भी व्याधि में क्यों न पैदा हुआ हो—की ओषधियाँ प्रमुख रूप से रक्खी गई हैं। बहुत से ऐसे लक्षण स्वतंत्र व्याधि के रूप में भी ग्रन्थों में वर्णित हैं और व्यवहार में भी मिलते हैं, वहाँ उनकी चिकित्सा का स्वतंत्र क्रम हुआ करता है। कास, पार्श्वशूल, रक्तपित्त आदि स्वतंत्र व्याधि होने के साथ ही राजयक्ष्मा में व्याधि के लक्षण के रूप में भी मिलते हैं। अनुबन्ध और अनुबन्ध्य भेद के कारण दोनों अवस्थाओं की चिकित्सा में अन्तर होता है। अतः नीचे लिखे हुए लक्षणों की चिकित्सा पूर्ण व्यवस्थित चिकित्सा नहीं मानी जायगी। मूल व्याधि को अप्रभावित करते हुए, रोगी के बलाबल को क्षुब्ध न करते हुए, कष्ट की निवृत्ति का उद्योग इस व्यवस्था में है।

अरोचक (Anorexia)

पाण्डु, कृमिरोग, आमाशय के विकार, संक्रामक व्याधियाँ, आमांश प्रधान व्याधियाँ तथा मानसिक अवसाद के कारण अरोचक का कष्ट होता है। पाण्डुविकार में रक्तवर्धक दीपन पाचन ओषधियों, लिवर एक्स्ट्रैक्ट आदि के प्रयोग से; कृमिविकारों में कृमिघातक एवं कृमिशोधक उपचार के द्वारा, जीर्ण आमाशय शोथ तथा आमाशय शैथिल्यकारक दूसरी व्याधियों में आमाशय शामक ओषधियों के प्रयोग से तथा संक्रामक व्याधियों में व्याधि की विषमयता के शमन के बाद जीवतिक्ति सी., बी कम्प्लेक्स आदि के प्रयोग द्वारा अरोचक का शमन होता है। आमांश का अधिक मात्रा में संचय होने पर तथा विबन्ध के कारण भी भोजन के प्रति अरुचि होती है। आमांश एवं मल के शोधन के लिये एरण्ड तैल, कैलोमेल, यष्ट्यादि चूर्ण आदि का प्रयोग करना चाहिये। अरोचक

के बहुसंख्यक रोगी प्रायः मानसिक विषमता से ग्रस्त हुआ करते हैं। संक्षेप में शारीरिक कारणों की अपेक्षा मानसिक कारणों को महत्ता अरोचक में अधिक मानी जाती है। इसलिये अरोचक के उपचार में मानसिक प्रसन्नता का वातावरण, रुचिकारक अनेक प्रकार के आहारों का निर्माण, स्थान परिवर्तन एवं मानसिक विषमता के मूल कारण के निराकरण की चेष्टा करनी चाहिये। निम्नलिखित कुछ योग रुचि उत्पन्न करने में सहायक होते हैं।

१. सूखा हुआ आलू बुखारा, अदरक, खट्टा अनार दाना, इमली, किशमिश, भूना हुआ जीरा, भुनी हुई अजवाइन, काली मिर्च, काला नमक, अकरकरा, पिप्पली, पुदीना या धनिया की पत्ती (अभाव में सूखा पुदीना) इनको उचित मात्रा में मिलाकर महीन पीसकर मिट्टी के सकोरे को लालकर उसी में छौंककर मिश्री मिलाकर चाटने के लिये देना। इस योग से मुख का शोधन, रुचि की वृद्धि तथा अग्नि की वृद्धि होती है।

२. आमाशयिक अम्ल की न्यूनता से उत्पन्न अरुचि में निम्नलिखित योग विशेष लाभ करता है—

१. R/

Tr. nux vomica	ms. 5
Acid hydrochlor dil	ms. 10
Glycerine acid Pepsin	ms. 30
Infusion zentian	0z 1·
	१ मात्रा

भोजन के १५ मिनट पूर्व दोनों समय।

अनेक बार यकृत् दोष एवं दूषित पित्त के सञ्चय के कारण स्वाद की कटुता तथा अरोचक की उत्पत्ति होती है। विभक्त मात्रा में कैलोमल का प्रयोग २ दिन तक करके तीसरे दिन प्रातःकाल मैगसल्फ का विरेचनार्थ प्रयोग करने से पित्त का शोधन हो जाता है। निम्नलिखित योग दिया जा सकता है—

Calomel	gr. 1/16
Soda bicarb	gr. 10
Menthol	gr. 1/4
Glucose	gr. 10
	१ मात्रा

प्रति २ घण्टे के अन्तर पर दो दिन तक कुल १२ से १६ मात्रायें देनी चाहिए।

अरोचक के कुछ रोगियों में लिवर एक्स्ट्रैक्ट के सूचीवेध से लाभ हो जाता है। साधारण उपचारों से लाभ न होने पर इन्सुलिन को अधस्त्वक् मार्ग से १० से २० यूनिट की मात्रा में भोजन के पूर्व देने से रुचि उत्पन्न होती है। इन्सुलिन का प्रयोग करते समय इन्सुलिन के मात्राधिक्य से उत्पन्न लक्षणों की ओर ध्यान रखना चाहिये।

यवानी षाडव चूर्ण, चित्रकादि वटी, लवण भास्कर चूर्ण आदि सामान्य दीपन

पाचन ओषधियाँ अरोचक में हितकर होती हैं। व्याधि सन्निवृत्ति काल में भोजन के पूर्व या पश्चात् २ से ४ ड्राम की मात्रा में मृतसञ्जीवनी सुरा या ब्रांडी आदि मद्य के योग अरुचि को दूर करते हैं।

हृल्लास (Nausea)

आमाशयिक क्षोभ, यकृत् विकार, पित्ताशयिक विकार, रक्त विषमयतायें तथा गति विषमताओं (Motion sickness) के कारण हृल्लास उत्पन्न होता है।

आमाशयिक क्षोभ के कारण उत्पन्न हृल्लास में हृल्लास शामक, आमाशय शामक तथा पित्त शामक औषधियों के प्रयोग से सद्यः लाभ होता है। इस दृष्टि से निम्नलिखित योग विशेष लाभकर होगा।

Antrenyl	1 tab.
Belladenal	1/2 tab.
Siquil	10 mg.
Pyridoxin	10 mg.
Soda bicarb	grs 5
Cal. lactate	grs 5
	१ मात्रा

४–६ घण्टे के अन्तर पर जल के साथ। इस योग को कैप्स्यूल में भर कर देना विशेष उपयोगी होता है।

अरोचक की शान्ति के लिये पूर्व निर्दिष्ट कैलोमल का योग पित्त का शोधन कर हृल्लास की भी शान्ति करता है।

वमन की शान्ति के लिए उपयुक्त ओषधियों में एवोमिन (Avomine), मार्जिन (Marzine), एमाक्सिन (Amoxine) के प्रयोग से गतिविषमता जन्य हृल्लास में लाभ होता है।

यकृत्-दोष एवं पित्ताशय विकार से उत्पन्न हृल्लास में उक्त ओषधियों के साथ ग्लूकोज २५ प्रतिशत ५० सी० सी० (Glucose 25% 50 c. c.) सिरा मार्ग से देने से हृल्लास का स्थायी शमन होता है।

निम्नलिखित योग हृल्लास के लाक्षणिक शमन के लिये अच्छा सिद्ध हुआ है—

सूतशेखर	१ र०
कामदुधारसायन	१ र०
मयूर पिच्छ भस्म	१ र०
मुक्ता पञ्चामृत	१ र०
	१ मात्रा

बिभीतक मज्जा तथा मधु के साथ प्रति ४ घण्टे पर।

कभी-कभी आमाशय में आमांश एवं सेन्द्रिय विषों के सञ्चय के कारण क्षोभ होता रहता है जो निरन्तर हृल्लास उत्पन्न करता है। इस अवस्था में वमन या आमाशय प्रक्षालन के द्वारा शीघ्र शान्त होता है। १ पौंड कदुष्ण जल में ४ ड्राम सोडा बाई कार्ब मिलाकर रोगी को पिलाने के बाद वमन कराना चाहिये। अथवा सुखपूर्वक वमन प्रवृत्ति न होने पर राइल्सट्यूब द्वारा आमाशय का शोधन करना चाहिये।

पर्पटार्क, पुदीना का अर्क या शतपुष्पार्क को जल के स्थान पर थोड़ा-थोड़ा कई बार पिलाने से अथवा निम्नलिखित क्वाथ का प्रयोग कराने से हृल्लास का शमन होता है।

लौंग ७, बड़ी इलायची छिलका युक्त २, सौंफ २ आना भर इनको एक छटाँक जल में ढक कर उबाल कर आधा शेष रहने पर छानकर मिश्री मिलाकर पिलाना चाहिये।

रक्त विषमयता जन्य हृल्लास में मूल व्याधि के कारणों का उपचार करने के अतिरिक्त सिरा मार्ग से ५ प्रतिशत ग्लूकोज का घोल सम लवण जल मिलाकर बूँद-बूद द्वारा (१ मिनट में ३०-४० बूँद) १ पाइण्ट की मात्रा में देना चाहिये। इससे विषों का शोधन तथा विषमयता का शमन होता है और परिणाम में हृल्लास भी शान्त हो जाता है।

वमन (Vomiting)

हृल्लास के समान वमन का कारण भी आमाशय क्षोभ, यकृत् एवं पित्ताशय के विकार, उदरावरण कला क्षोभ (Peritonial Irritation), आन्त्रपुच्छ शोथ, रक्तविषमयतायें, उच्च शीर्षण्य निपीड (Increased intra cranial pressure), गति विषमयतायें (Motion sickness) तथा मानसिक असहिष्णुता (Psycotic) आदि विकार होते हैं। व्याधि का मुख्य अधिष्ठान आमाशय होने के कारण मुख द्वारा प्रयुक्त औषध सर्वथा कार्यक्षम नहीं होती। क्षारीय जल (सोडा बाइ कार्ब ४ चम्मच, जल १ पाइण्ट) पर्याप्त मात्रा में पिलाकर आमाशय शोधन कराने से वमन शामक औषधियों का परिणाम अधिक अनुकूल होता है। नासा मार्ग से राइल्स ट्यूब प्रविष्ट कर आमाशय शोधन या आमाशयस्थ विषों का प्रचूषण (Aspiration) करने से वमन की प्रवृत्ति शान्त हो जाती है। सिरा मार्ग द्वारा पर्याप्त मात्रा में ग्लूकोज का प्रयोग, पेशी मार्ग से जीवतिक्ति बी० १ तथा बी० ६ मिलाकर देना चाहिये। अत्यधिक वमन के कारण पोषण या शरीर के जलीयांश में न्यूनता उत्पन्न होने के कारण मल द्वार से आस्थापन बस्ति के द्वारा ग्लूकोज के घोल आदि का प्रयोग कराया जा सकता है। कभी-कभी बहुत समय तक वमन होते रहने के कारण आमाशय में ऐंठन या स्तब्धता (Spasm) का कष्ट हो जाता है जिससे मुख द्वारा प्रयुक्त किसी आहार औषधि का परिणाम व्याधि बढ़ाने में ही होता है। ऐसी अवस्था में निओ

आक्टिनम (Neo-octinum), प्रास्टिगमिन (Prostigmin) या कार्बेक (Carbechol) का पेशी मार्ग से सूचीवेध देने से आमाशय की स्तब्धता का श होकर वमन का उपशम होता है।

वमन शामक विशिष्ट ओषधियों में लार्गेक्टिल (Largactil) १० से मि० ग्रा०, सिक्किल (Siquil) १०-२५ मि० ग्रा०, मार्जिन (Marzine) मि० ग्रा० आदि में किसी का पेशी मार्ग द्वारा प्रयोग किया जा सकता है।

गति विषमयता (Motion sickness) के कारण उत्पन्न वमन की शा के लिये एवोमिन (Avomine), एमाक्सिन (Amoxin), मार्जिन (Marzine आदि अनूर्जता विरोधी वर्ग की वमन शामक ओषधियों का प्रयोग मुख द्वारा मार्जिन ५० से १०० मि० ग्रा० या हायोसिन हाइड्रो ब्रोमाइड (Hyoscine hydr bromide) ०·४ से ०·६ मिली ग्राम ८ घण्टे के अन्तर पर पेशी मार्ग देना चाहिये।

वमन की तीव्रावस्था में बरफ के टुकड़े चूसने के लिये देना, स्पिरिट आ पिपरमेन्ट (Spirit of pepperment) १५ बूद १ औंस जल में मिला १-१ चम्मच जल पीने के लिये देना अथवा लाइकर एड्रिनेलीन (Liq. adren lin in 1000) के दस बूद १ औंस जल में मिलाकर १-१ चम्मच की मात्रा बार-बार पिलाना।

दूषित पित्त के सञ्चय के कारण आमाशय क्षोभ से उत्पन्न होने वाले वमन शान्ति के लिये निम्नलिखित योग विशेष लाभ करता है।

Calomel	gr 1/12
Chloretone	grs 4
Menthol	gr 1/2
Sodium gardenol	gr 1/4
Soda bi carb	grs 5
Glucose	grs 5
	१ मात्रा

प्रति ४ घण्टे पर दिन भर में ४ बार।

कभी-कभी कैलोमेल को विभक्त मात्रा में देने से पित्त के शोधन में सहायत मिलती है।

१ ग्रेन कैलोमेल १ ड्राम सोडा बाई कार्ब तथा बराबर मात्रा में ग्लूकोज मिलाकर १२ समान मात्रा में विभक्त कर १५-२० मिनट के अन्तर पर देना चाहिये।

डाभ का पानी या पीपल की छाल को जला कर निर्वापित जल या नारियल की जटा को जलाकर बुझाया हुआ जल छानकर थोड़ा-थोड़ा पिलाने से वमन तथा वमन जनित तृष्णा में लाभ होता है।

वमन के अनेक दुर्निवार वेगों में निम्नलिखित योग अनेक बार उपकारक होता है—

लीलाविलास	१ र०
सूतशेखर	१ र०
मयूर पिच्छ भस्म	४ र०
मुक्तापिष्टि	½ र०
पिप्पली चूर्ण	२ र०
	१ मात्रा

भुनी बड़ी इलायची का चूर्ण १॥ माशा तथा कचूर का चूर्ण ४ र० मिलाकर मधु के साथ ४–६ घण्टे के अन्तर पर देना।

वमन की कुछ अवस्थाओं में बहुत काल से प्रयुक्त निम्नलिखित योग बहुत लाभकर सिद्ध होता है।

Soda bi carb	grs 10
Mag carb (pond)	grs 10
Serium oxalate	grs 5
Acid hydrocyanic dil	ms 2
Tr. card. co.	ms 15
Syrup aurantii	ms 60
Aqua	oz 1
	१ मात्रा

प्रति ४ घण्टे पर दिन में ४ बार।

सगर्भा स्त्रियों की वमन–शान्ति के लिये बिटामिन बी० १ तथा बी० ६ मिलाकर पेशी मार्ग से सूचीवेध द्वारा लाभ होता है। इसके साथ ही सिरा मार्ग से कैलसियम ग्लूकोनेट १० प्रतिशत दस सी० सी० में ग्लूकोज का घोल २५ प्रतिशत २५ सी० सी० मिलाकर धीरे-धीरे सिरा मार्ग से देने से विशेष लाभ होता है

आध्मान (Flatulence)

आमाशय एवं पक्काशय में वायु के अधिक मात्रा में संचित होने के कारण उदर फूल जाता है जिससे रोगी को श्वसन क्रिया एवं शयन और आसन आदि में असुविधा होती है। अत्यधिक आध्मान हो जाने पर हृदय का कार्य भी अवरुद्ध सा होने लगता है। आध्मान की उत्पत्ति आहार के ठीक पाचन न होने, पित्त की न्यूनता के कारण आहार के किण्वीकरण तथा दूषित वायु के अत्यधिक निर्माण, आँतों की शिथिलता के कारण सञ्चित वायु के निकलने में आँतों के असमर्थ होने तथा आन्त्रिक ज्वर, फुफ्फुस पाक, मस्तिष्कावरण शोथ आदि संक्रामक व्याधियों में तीव्र विषमयता के कारण होती है।

आध्मान की शान्ति के लिये नासा मार्ग से राइल्स ट्यूब डालकर प्रचूषण व से पर्याप्त लाभ होता है। गुदा मार्ग से आध्मान नलिका (Flatus tub का प्रवेश कराकर उदर के ऊपर तारपीन का स्वेदन (Terpentine stup करने से वायु के निर्हरण में पर्याप्त सुविधा होती है। इस लक्षण के शमन में तीन ब का ध्यान रखते हुये चिकित्सा करनी चाहिये।

१. आध्मान के कारण उत्पन्न हुई आँतों की शिथिलता को दूर करना।

२. आमाशय एवं पक्वाशय में सञ्चित सेन्द्रिय विषों एवं दूषित वायु को आत्मस कर निष्क्रिय बनाना।

३. इस प्रकार सञ्चित हुये दूषित मल एवं वायु को अनुलोमक ओषधियों या व के उद्योग से बाहर निकालना।

निम्नलिखित योग का सेवन इन कार्यों की सिद्धि के लिये किया जाता है।

Bellergole	1 tab
Medicinal charcoal	grs 10.
Prostigmin	1 tab
Soda mint	2 tabs
	१ मात्रा

प्रति ३-४ घण्टे के अन्तर पर आवश्यकतानुसार गरम जल के साथ।

निम्नलिखित वस्ति का प्रयोग आध्मान में विशेष लाभकर होता है। आन्त्रिक ज एवं अन्य विषमयताओं के कारण उत्पन्न आध्मान की अवस्था का परित्याग कर ज वस्ति प्रयोग से हानि की सम्भावना न हो इसका प्रयोग करना चाहिये।

Tr asafoetida	ms 10
Tr belladonna	ms 20
Oil terpentine	ms 120
Puly amyli	dr. 4.
Aqua	oz 4.
	१ मात्रा

इनके मिश्रण को अनुवासन वस्ति के रूप में रबर नलिका द्वारा मलाशय भीतर अधिक से अधिक दूरी तक पहुँचा कर छोड़ देना चाहिये।

आन्त्र की शिथिलता को दूर करने के लिये पिट्रेसिन (Pitresin) ½ सी सी० या लिस्पामिन (Lyspamin) २ सी० सी० या प्रास्टिगमीन (Prostig min) अथवा कार्बेकाल (Carbechol) पेशी मार्ग से लाभकर होता है। कु रोगियों में कैलसियम पैन्टोथिनेट का शक्तिशाली मात्रा में प्रयोग करने से विशेष ला हुआ है।

आध्मान की सामान्य अवस्थाओं में निम्नलिखित योगों का मुख द्वारा सह प्रयो लाभकर होता है।

Soda bi carb	grs 10
Magcarb (pond)	grs 15
Spr chhoroform	ms 10
Tr hyoscyamus	ms 10
Tr belladonna	ms 5
Tr asafoetide	ms 5
Tr capsicum	ms 5
Tr carminative	ms 10
Tr zinger	ms 10
Syrup aurantii	ms 60
Aqua	oz 1
	१ मात्रा

दिन में २ या ३ बार भोजन के २ घण्टे बाद।

2.	Cal- pantothenate	1 tab.
	Carbindon (mild)	1 tab.
	Allisatin	1/2 tab
	Taka diastase	grs 5
	Yeast	1 tab.
		१ मात्रा

दिन में ३ बार भोजन के तुरन्त बाद।

जीर्ण स्वरूप के आध्मान में निम्नलिखित योग लाभकर सिद्ध हुआ है।

१.	शुद्ध कुपीलु	१ र०
	रससिन्दूर	१ र०
	महागन्धक	२ र०
	रामबाण	१ र०
		१ मात्रा

भुनी अजवाइन का चूर्ण १½ माशा मिलाकर मधु के साथ प्रातः, सायं।

२.	त्रयोदशाङ्ग गुग्गुलु	१ माशा
	लशुनादि बटी	१ माशा
	हिंगूग्रगन्धादि चूर्ण	२ माशा
		१ मात्रा

भोजन के बाद गरम जल से।

अतिसार (Diarrhea)

अनेक व्याधियों में उत्पन्न होने वाला अतिसार एक प्रधान उपद्रव है। जल के समान पतले मल की प्रवृत्ति इसका मुख्य लक्षण होता है। विसूचिका, दण्डाणवीय अतिसार, आमाशयान्त्र शोथ (Gastro enteritis), आन्त्रिक ज्वर तथा तीव्र

संक्रामक ज्वरों की विषमयता के कारण उत्पन्न अतिसार, शोकज अतिसार, वृक्क, यकृत, अग्न्याशय (Pancreas) कृमि रोग एवं अजीर्ण आहार विष तथा सोमल पारद आदि तीव्र विषों के सेवन से अतिसार की उत्पत्ति होती है। अतिसार के अतिरिक्त उपस्थित दूसरे लक्षणों के आधार पर मौलिक कारणों का अनुसन्धान करना चाहिये। अनेक अवस्थाओं में अतिसार का लाक्षणिक उपशम उचित नहीं होता।

अतिसार के साथ मरोड़ एवं उदर शूल का कष्ट होने पर, ज्वर का अनुबन्ध होने पर आन्त्रशोथमूलक निदान किया जाता है। दूषित भोजन, अध्यशन एवं आध्मान आदि के इतिवृत्त के साथ अतिसार की प्रवृत्ति होने पर अन्न विष (Food poisoning) या अजीर्ण जनित अतिसार का निर्णय किया जाता है। विसूचिका एवं दण्डाणवीय अतिसार तथा विशिष्ट विष प्रयोग के कारण उत्पन्न अतिसार का विनिश्चय उन व्याधियों के विशेष लक्षणों के आधार पर करना चाहिये। वातिक प्रकृति वाले व्यक्तियों में मानसिक उद्वेग के कारण मल भेद होने पर शोकज अतिसार का अनुमान किया जा सकता है। विशिष्ट व्याधियों का स्पष्ट निदान न होने पर लक्षणों की दृष्टि से अतिसार के सद्यः स्तम्भन की अपेक्षा होने पर निम्नलिखित उपचार करना चाहिये।

अतिसार की चिकित्सा ३ वर्गों में विभक्त की जा सकती है—

१. अतिसार के कारण शरीर के द्रव धातु का अत्यधिक मात्रा में निर्हरण हो जाने के कारण उत्पन्न द्रवाल्पता की अवस्था का उपचार।

२. अतिसार का लाक्षणिक उपशम।

३. अतिसार के मूल कारण का विशिष्ट उपचार।

द्रवाल्पता की पूर्ति के लिये सिरा मार्ग से सम लवण जल का आवश्यक मात्रा में प्रयोग, निपात, दौर्बल्य एवं विषमयता के लक्षण रहने पर रक्त रस (Plasma) या तत्सम प्लाज्मोसान आदि ओषधियों का प्रयोग करना चाहिये।

अतिसार के विशिष्ट कारण का अनुसन्धान करके आवश्यक उपचार की व्यवस्था लाक्षणिक चिकित्सा के साथ ही होनी चाहिये। अन्यथा अतिसार का लाक्षणिक उपशम होने के बाद दूषित विषों का महास्रोत में सञ्चय होने से अनेक उपद्रव उत्तर काल में उपस्थित हो सकते हैं।

लाक्षणिक चिकित्सा प्रारम्भ करने के पूर्व अतिसार के संक्रामक कारण, आहारज कारण, एवं मानसिक कारण का विश्लेषण आवश्यक है। संक्रामक विकार जनित अतिसार होने पर क्लोरोमाइसेटिन, टेट्रासाइक्लिन, स्ट्रेप्टोमाइसिन, टेरामाइसिन आदि प्रतिजीवी वर्ग की ओषधियाँ तथा फार्मोसिबाजोल (Formocibazol), फ्यूराक्सान (Furoxone), थैलाजोल (Thalazol), सल्फागोनाडीन (Sulpha guanadin) आदि शुल्वौषधियों का तथा केओलिन (Kaolin), बिस्मथ (Bismuth) आदि

अवरोधक ओषधियों का सह प्रयोग हितकर होता है। मानसिक कारण जनित अतिसार की चिकित्सा में अवरोधक ओषधियों के साथ अहिफेन एवं विजया के योगों से विशेष लाभ होता है। आहार की विषमता के कारण अतिसार की उत्पत्ति का अनुमान होने पर कुछ काल तक दूषित मल का शोधन होने देना आवश्यक समझा जाता है। बाद में दीपन, पाचन एवं स्तम्भक ओषधियों के प्रयोग से अतिसार का उपचार किया जाता है।

सामान्य अवस्थाओं में मिश्र स्वरूप की क्रियापद्धति अधिक सफल होती है। इस दृष्टि से तीव्र स्वरूप के अतिसार से पीड़ित व्यक्ति में निम्नलिखित ओषधि की योजना करनी चाहिये।

Tetracyclin or terramycin 100 mg पेशी मार्ग से प्रति ८ घण्टे पर सूचीवेध दो दिन तक। इसके बाद मुख द्वारा प्रयोग सम्भव होने पर सूचीवेध के स्थान पर २५० मिलीग्राम की कैप्स्यूल ६-८ घण्टे के अन्तर पर २-३ दिन देनी चाहिये। अथवा स्ट्रेप्टोमाइसिन ½ ग्राम की मात्रा में प्रातः-सायं सूचीवेध द्वारा देते हुये क्लोरोस्ट्रेप (Chlorostrep-chloromycetin 125 mg + Streptomycin 125 mg in capsule) कैप्स्यूल प्रति ४-६ घण्टे के अन्तर पर २-३ दिन तक देने चाहिये।

R/		
	Soda bi carb	grs 10.
	Pot citras,	grs 10
	Bismuth carb.	grs 10
	Tr card co	ms 10
	Tr. hyoscyamus.	ms 10
	Tr. Catechu	ms 10
	Syrup aurantii	ms 60
	Aqua anisi.	oz 1
		१ मात्रा

प्रति ४-६ घण्टे के अन्तर पर आवश्यकतानुसार।

व्याधि की अत्यधिक उग्रता होने पर सद्यः स्तम्भन के लिये अहिफेन के योगों का व्यवहार किया जा सकता है। पूर्व निर्दिष्ट योग में टिंक्चर ओपियाई (Tr. opii) १० बूंद की मात्रा या डोवर्स पाउडर (Dovers powder) १० ग्रेन की मात्रा में अलग से ३ बार दे सकते हैं।

अतिसार के लक्षण अधिक उग्र न होने पर निम्नलिखित क्रम से ओषधि योजना करनी चाहिये।

1/		
	Streptomycin sulphate	100 mg.
	Thalazol	2 tabs.
	Ascorbic acid.	100 mg.
	Glucose	grs 10.
		१ मात्रा

प्रति ४ घण्टे पर ३-४ दिन तक देना चाहिये।

2/	Kaolin	grs 60
	Pulv creta aromatica.	grs 15
	Bismuth carb.	grs 10
	Gum acacia.	grs.
	Tr belladonna.	ms 10
	Syrup aurantii	ms 60
	Aqua	oz 1
		१ मात्रा

६ घण्टे के अन्तर पर ३-४ दिन तक।

फ्यूराक्सान (Furoxone)—१ टिकिया तथा सल्फागोनाडीन २ टिकि साथ में ४-६ घण्टे के अन्तर पर देने से अतिसार के रोगी में प्रायः लाभ हो जाता है

पुनरावर्तनशील अतिसार के रोगियों में विशेष कर जिसमें प्रवाहिका का कष्ट साथ में हो आम प्रवाहिका नाशक ओषधियों का प्रयोग मुख्य अतिसारघ्न चिकि के साथ करने से शीघ्र लाभ करता है।

इस दृष्टि से निम्नलिखित योग उपयुक्त है—

Thalazol	2 tabs
Furamide	1 tab
Diadoquin	1 tab
	१ मात्रा

दिन में ३ बार ५-७ दिन तक देना चाहिये। अजीर्ण एवं आध्मान आदि अनुबन्ध होने पर दीपन, पाचन एवं अवरोधक ओषधियों का सहप्रयोग विशेष ल करता है।

Takadiastase	grs 10
Pancreatin	grs 3
Combizyme	1 tab.
Allisatin	1/2 tab
Carboguanacil.	1 tab
	१ मात्रा

दिन में ३ बार आहार ग्रहण करने के तुरन्त बाद शोकज अतिसार में अहिफे तथा विजया के साथ दीपन, पाचन ओषधियाँ मिलाकर प्रयुक्त करने से विशेष ला होता है। कर्पूर वटी, अगस्त्य सूतराज, पीयूष वल्ली आदि रसौषधियाँ, लायी चू जातिफलादि चूर्ण, बृहद्‌नायिका चूर्ण, बृहद् गङ्गाधर चूर्ण आदि अहिफेन एवं विज घटित योग हैं। निम्न क्रम से उपचार की व्यवस्था शोकज अतिसार में लाभक होती है।

कर्पूर वटी	१ र०
रामबाण	१ र०
महागन्धक	२ र०
सिद्धप्राणेश्वर	१ र०
शंख भस्म	४ र०
लाई चूर्ण	१ मा०
	१ मात्रा

दिन में ३ बार इन्द्रयव चूर्ण २ र० तथा भुना जीरा १ माशा मिलाकर शतपुष्पार्क के साथ ४–६ घण्टे के अन्तर पर देना चाहिये।

अतिसार की विषमयता के शमन के लिये धान्यपञ्चक क्वाथ का प्रयोग विशेष लाभ करता है। जल के स्थान पर इसी को अनेक बार पीने के लिये देना चाहिये।

आन्त्र क्षोभ की शान्ति तथा दूषित विषों का सुखपूर्वक उत्सर्ग कराने की दृष्टि से बिल्व मज्जा को पानी में पकाकर या इसवगोल के बीज को पानी में उबालकर थोड़ी-थोड़ी मात्रा में पीने को देना चाहिये।

तृष्णा (Thirst)

तीव्र ज्वर, अतिसार, विषमयतायें, प्रमेह—विशेषकर उदकमेह तथा मधुमेह, गुरु, विष्टम्भी एवं विदाही आहार का सेवन एवं पित्तप्रधान दूसरी अनेक व्याधियों में तृष्णा का कष्ट होता है। तृष्णा का सामान्य उपचार पर्याप्त मात्रा में जल का सेवन कराना माना जाता है। अनेक व्याधियों में पर्याप्त जल लेने पर भी तृष्णा जनित गल-तालु शुष्कता में शान्ति नहीं मिलती।

अतिसार, वमन एवं दूसरी कुछ अवस्थाओं में तृष्णा होते हुये भी पर्याप्त जल प्रयोग सात्म्य नहीं होता। इन सभी अवस्थाओं में आवश्यक मात्रा में जल प्रयोग कराते हुये तृष्णा की सद्यः शान्ति के लिये लाभप्रद उपायों का उल्लेख किया जायगा।

विषमयता जनित तृष्णा की शान्ति के लिये मुख द्वारा जल प्रयोग पर्याप्त या सात्म्य न होने पर सिरा एवं गुद मार्ग से लवण जल—५ प्रतिशत ग्लूकोज आदि का आवश्यक मात्रा में प्रयोग करना चाहिये।

नारिकेल जल (डाभ का पानी), पर्पटार्क, झाऊ का अर्क, कर्पूराम्बु, चन्दनादि अर्क, पञ्चतृण कषाय आदि पेय द्रव्यों का थोड़ी-थोड़ी मात्रा में अनेक बार प्रयोग करना चाहिये। बर्फ के टुकड़े चूसना या आँवला-बबूल की पत्ती तथा धनिया के चूसने से भी तृष्णा में लाभ होता है। पीपल की छाल को जलाकर जल में निर्वापित कर या नारियल की जटा इसी प्रकार जलाकर पानी में बुझाकर, बुझा हुआ जल पीने को देना—इससे तृष्णा का शमन होता है।

केले के डण्ठल का रस थोड़ी मिश्री मिलाकर पिलाना भी लाभप्रद होता है।

आलूबुखारा, आँवला, मुनक्का, छोटी इलायची, शीतल मिर्च सब समभाग लेक मिश्री मिलाकर गुलाबजल के साथ अवलेह के रूप में बार-बार देवें। एलादि चूर्ण उशीरादि चूर्ण एवं चन्दनादि चूर्ण का सेवन कराने से भी तृष्णा का शमन हो जाता है।

बड़ी इलायची छिलका युक्त ६ माशा, लौंग १॥ माशा, धनिया १ तोला, ख १ तोला, नागरमोथा १ तोला, सफेद चन्दन १ तोला, जटामासी १ तोला—सबव १ सेर जल में उत्क्वथित कर, फाण्ट के रूप में बनाकर, ढककर शीतल कर लेन चाहिये। इसे थोड़ी-थोड़ी मात्रा में छानकर मिश्री मिलाकर या बिना मिश्री के बार बार पीने को दे।

सभी कारणों से उत्पन्न तृष्णा में इस योग से पर्याप्त शान्ति मिलती है।

चन्द्रकला रस	१ र०
सूतशेखर	१ र०
स्वर्णगैरिक	२ र०
प्रवालपिष्टि	१ र०
गुडूची सत्त्व	४ र०
	१ मात्रा

भुनी बड़ी इलायची के चूर्ण तथा मधु के साथ दिन में तीन बार। इस योग से अविशिष्ट प्रकार की तृष्णा एवं गल-तालु-शुष्कता में पर्याप्त लाभ होता है।

कुछ अवस्थाओं में कवलग्रह (ओषधियों के क्वाथ को कुछ काल तक मुख में रखना) से तृष्णा में विशेष लाभ होता है। बकरी के दूध में अष्टमांश मधु मिलाक कवलग्रह के रूप में रखने से पर्याप्त लाभ होता है। इसी प्रकार धनिया, बड़ी इलायची आँवला एवं वटप्ररोह को सम मात्रा में मिला चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ बनाकर कवलग्रह के रूप में प्रयोग करना चाहिये।

दाह (Burning)

दाह व तृष्णा का विकार प्रायः साथ-साथ मिला करता है। ज्वरजनित तीव्र विषमयताओं के अतिरिक्त परिसरीय नाडीविकारों में और विबन्ध, स्त्रियों में आर्तव विषमता एवं अन्य अनेक वात-पैत्तिक विकारों में दाह का अनुभव होता है। कभी कभी दाह की अधिकता के कारण रोगी को अधिक बेचैनी होने लगती है, जिससे अनिद्रा, तृष्णा आदि का कष्ट होने लगता है। दाह सर्वाङ्ग में अथवा केवल हस्तपाद तल में हो सकता है। मुख्य दाहोत्पादक व्याधि की विशिष्ट चिकित्सा करने के अतिरिक्त दाह की शान्ति के लिये निम्नलिखित व्यवस्था करानी चाहिये।

बाह्य प्रयोग—

१. चार औंस गुलाबजल में ४ ड्राम यूडीकोलन मिलाकर, कपड़ा भिगो कर उससे सारे शरीर को पोंछना तथा दाह स्थान को बार-बार पोंछना।

२. बेर, नीम तथा नीबू की पत्ती को पानी में पीस कर मिट्टी की हण्डी में रखकर मथने से उठे हुये फेन को सम्पूर्ण शरीर में लगाना। तीव्र कष्टकारक दाह में इसके प्रयोग से शीघ्र लाभ होता है।

३. यूडीकोलन के अभाव में सिरका ठण्डे पानी में मिलाकर सारा शरीर पोंछना तथा मस्तक पादतल या दाह के स्थान पर सिरके की पट्टी रखना।

४. शतधौत घृत का अभ्यंग या एरण्ड की गुद्दी बकरी के दूध में पीस अभ्यंग करने से सभी प्रकार के दाह में लाभ होता है।

आभ्यन्तरिक प्रयोग—

डाभ का पानी, सन्तरा, नीबू, मुसम्मी, कसेरू आदि का रस थो थोड़ी मात्रा में अनेक बार पिलाने से दाहशामक होता है।

धान्यपञ्चक कषाय, उशीरादि कषाय के प्रयोग से भी दाह में लाभ होता है।

कुछ रोगियों में कैलसियम पैण्टोथिनेट (Cal. pantothenate), कैलसिब्रोनेट (Calcibronate), ग्लूकोज, जीवतिक्ति सी (Vitamin C.), जीवतिक्ति बी कम्प्लेक्स आदि के प्रयोग से दाह में लाभ होता है।

Calci bronate 10 c. c. तथा Vit. C. 500 mg. तथा Glucose solution 25% २५ सी० सी० मिलाकर सिरा द्वारा सूचीवेध से देना चाहिये। साथ में निम्नलिखित योग मुख द्वारा दिन में तीन बार ५–७ दिन तक देना चाहिये।

Cal. lactate	grs 5
Sodium gardenol	gr 1/4
Cal. pantothenate	1 tab.
Ascorbic acid	100 mg.
Camphor manobrom.	gr 1/2
Lactose	gr 10
	१ मात्रा

कामदुघा रसायन	२ र०
दुग्धपाषाण	१ र०
तृणकान्त पिष्टि	१ र०
सौवीर पिष्टि	१ र०
रजत भस्म	१ र०
	१ मात्रा

दिन में ३ बार छोटी इलायची के चूर्ण व मधु से। इसके प्रयोग से चिरकालीन स्वरूप के दाह में लाभ होता है।

निद्रानाश (Sleeplessness)

किसी भी व्याधि में निद्रानाश होने से रोगी को अत्यधिक बेचैनी का अनुभव होता है। रुग्णावस्था में निद्रानाश करने में महत्त्वहीन बहुत छोटा सा कारण तथा गम्भीर कारण दोनों ही समान रूप से उत्तरदायी हो सकते हैं। चिन्ता, भय, क्रोध, शोक आदि मानसिक उद्वेगों की अवस्था में निद्रा में बाधा होती है। बेचैनी, तृष्णा, दाह, आध्मान, अतिसार, बहुमूत्रता, शुष्ककास, हिक्का, श्वास, शूल, पीड़ा, कण्डू एवं विषमयता आदि अनेक छोटे-बड़े कारणों से निद्रा का अवरोध होता है। अनेक व्यक्तियों की विचित्र आदतों के कारण भी निद्रा में विषमयता उत्पन्न हो सकती है। कुछ व्यक्ति बिना प्रकाश के नहीं सो सकते। कुछ इसके विपरीत अंधेरे में ही सो सकते हैं। इसी प्रकार दूसरे वर्ग के लोग कुछ एकान्त में, कुछ समूह में निद्रा का आनन्द लेते हैं। सुखकर शय्या, शान्त वातावरण, क्षुधा-तृष्णा-दाह-बेचैनी-चिन्ता-क्रोध-शोक आदि का अभाव तथा वायु एवं पित्त की समता उत्पन्न होने पर सुखपूर्वक निद्रा आती है। अनिद्रा का उपचार करते समय ऊपर निर्दिष्ट शारीरिक, मानसिक एवं अभ्याससात्म्यता तथा शयनासन एवं निवास की सुव्यवस्था आदि पर ध्यान रखना चाहिये। विषमयता, आध्मान, दाह, बेचैनी इत्यादि निद्रा-प्रतिघातकर विकारों की विशिष्ट चिकित्सा करने के उपरान्त आवश्यक होने पर निद्राकर ओषधियों का प्रयोग करना चाहिये। पादतल पर घी का अभ्यंग, सिर पर शीतल वातशामक हिमसागर, हिमांशु आदि तैलों का अभ्यंग करने से निद्रा आ जाती है। ३ माशा विजया को जल में पीस घी में पका देना चाहिये। छानकर इसी घृत की पादतल में मालिश करने से निद्राकर परिणाम होता है।

सामान्य निद्राकर योगों में निम्नलिखित मिश्रण बहुकालप्रयुक्त सुलभ योग है।

Pot. bromide	gr. 10
Chloral hydrate	grs. 10
Ext. valerian	ms. XV
Syrup aurantii.	ms. 60
Aqua	dr. 1
	१ मात्रा

रात में सोते समय एक बार।

मानसिक दुश्चिन्ताओं के कारण निद्रा न आने पर इक्वेनिल (Equanil), मिल्टॉन (Miltown) आदि मेप्रोबामेट (Meprobamate) वर्ग की शान्तिदायक (Tranquiliser) किसी भी औषध का प्रयोग ४००-८०० मि. ग्रा. की मात्रा में रात में सोने से पूर्व किया जा सकता है।

सामान्य निद्राकर योगों में बार्बिच्यूरेट (Barbiturate) वर्ग की ओषधियों का प्रयोग व्यापक रूप में किया जाता है। मेडोमिन (Medomin), एथीब्राल (Ethebrol), सेकोनल सोडियम (Seconal sodium), एमिटाल सोडियम (Amytal sodium), गार्डिनाल सोडियम (Gardenal sodium), डायल (Dial), सोनेरिल (Soneryl) आदि पेटेण्ट ओषधियों में से किसी का प्रयोग सोते समय किया जा सकता है। कण्डू-प्रतिश्याय-कास आदि का कष्ट होने पर अनूर्जता विरोधी ओषधियों के साथ निद्राकर योग देने से अच्छा परिणाम होता है।

Phenergan	10 mg.
Medomin	1 tab.
Bellergol	1 tab.
	१ मात्रा

रात्रि में सोते समय प्रयोग करना चाहिए। कुछ रोगियों में अनूर्जताविरोधी ओषधियों के सेवन से चक्कर, छाती में अवरोध, गले में शुष्कता का अनुभव होता है जिससे सुखकर निद्रा नहीं आती।

सर्वाङ्गवेदना, शिरःशूल, बेचैनी आदि के कारण निद्रा न आने पर निम्नलिखित योग का प्रयोग करना चाहिए।

Acetyl Salicylic Acid	grs. V
Phenacetin	grs. II
Codein Phos.	gr. 1/4
	१ मात्रा

रात में सोने के पूर्व।

हृल्लास, वमन या हिक्का के कारण निद्रा में बाधा होने पर लार्गेक्टिल (Largactil), सिक्विल (Siquil) का प्रयोग मुखद्वारा या सूचीवेध द्वारा करना चाहिए।

तीव्र उदरशूल के कारण भयंकर कष्ट होने पर निद्रा नहीं आती। ऐसी अवस्था में अहिफेन के योग—पेथिडिन (Pethidin) का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। पुनरावर्तनशील व्याधि में इनका प्रयोग न करना ही अच्छा है। अन्यथा मादक अभ्यास (Addiction) हो जाने की सम्भावना रहती है।

शुष्क कास के कारण निद्रा न आने पर सिरप कोडीन फास (Syrup codein-phos), ग्लायकोडिन टर्प वसाका (Glycodin terp vasaka) आदि कफशामक ओषधियों का १–२ चम्मच मात्रा में ४–६ घण्टे के अन्तर से प्रयोग करने पर कास का शमन हो जाता है।

उच्च रक्तनिपीड के बहुसंख्यक रोगियों में अनिद्रा का कष्ट प्रायः मिलता है। सर्पगन्धा एवं ब्रोमाइड के योगों का सेवन अधिक लाभकर होता है। ब्रोमोराल्फिन (Bromoraulfin) १–२ चम्मच की मात्रा में सोते समय देना चाहिए।

लार्गेक्टिल (Largactil) के प्रयोग से अल्पकाल के लिए रक्त भार में न्यूनता तथा निद्राकर परिणाम की भी सिद्धि होती है। सर्पगन्धा के योगों के साथ या पृथक् रूप से भी इसका प्रयोग किया जा सकता है।

विषमयता जनित बेचैनी से उत्पन्न अनिद्रा की शान्ति के लिए पैरेल्डीहाइड का प्रयोग अधिक निरापद माना जाता है। ५ सी. सी. की मात्रा में पेशीमार्ग से अथवा ४ ड्राम पैरेल्डिहाइड १ औंस ओलिव आयल या ग्लिसरीन में मिलाकर अनुवासन वस्ति के रूप में गुदामार्ग से प्रयोग करने पर भी निद्राकर परिणाम होता है।

प्रलाप (Delirium)

तीव्र संताप तथा उग्र स्वरूप की विषमयतायें, विशेषकर—आंत्रिक ज्वर, मस्तिष्क-सुषुम्नाज्वर, ग्रंथिक सन्निपात आदि संक्रामक व्याधियों में प्रलाप का लक्षण मिला करता है। कभी प्रलाप के साथ उठना-बैठना, भागना, मिथ्याभास, मतिभ्रम आदि उन्माद के से लक्षण भी उपस्थित रहते हैं।

रोगी की असहिष्णुता एवं विषमयता का मिला-जुला परिणाम प्रलाप के रूप में स्पष्ट होता है। व्याधि के प्रारम्भ से रोगी को पर्याप्त मात्रा में जल पिलाना, पाचन औषधियों के प्रयोग से दोषों के पाचन की चेष्टा करना, तीव्र संक्रमणों में प्रतिजीवी या विशिष्ट वर्ग की औषधियों के प्रयोग में विलम्ब न करना तथा मल-मूत्र और त्वचा के संशोधन की नियमित व्यवस्था रखना आदि उपचारों से प्रलाप का प्रतिबन्धन एवं शमन होता है। रोगी के सिर पर बर्फ की थैली रखने या शतधौत घृत का अभ्यंग करने और जलाल्पता की चिकित्सा में प्रयुक्त आवश्यक उपचार करने से प्रलाप का शमन होता है।

प्रलाप के बहुत से रोगियों में सुखोष्ण जल से शरीर पोंछना, सुखोष्ण जल के टब में रोगी को बैठाना (१५-२० मिनट) लाभप्रद होता है। प्रलाप एवं उन्माद के मिले-जुले लक्षण उपस्थित होने पर रोगी की शय्या मकान के निचले खण्ड में प्रायः जमीन पर रखना अच्छा होता है। रोगी से ज्यादा बोलना या उत्तर-प्रत्युत्तर करने की अपेक्षा उसे आश्वासित करने के साथ शामक औषधियों का प्रयोग करना चाहिये। बालकों के लिए क्लोरल हाइड्रेट (Chloral hydrate) उत्तम औषधि है। प्रत्येक वर्ष आयु के लिए १ ग्रेन मात्रा बढ़ाते जाना चाहिए। वयस्कों के लिए पैरेल्डिहाइड (Parelde-hyde) का प्रयोग उत्तम है। ५ सी.सी. मात्रा में, पेशी मार्ग से, ८—१२ घण्टे के अन्तर पर देना चाहिए। प्रायः प्रलाप रात्रि में बढ़ता है। ऐसी अवस्था में केवल सोते समय देने से ही काम चल सकता है। ब्रोमाइड (Bromide) या बार्बिच्यूरेट (Barbitu-rate) वर्ग की औषधियाँ प्रलापावस्था में हितकर नहीं होतीं, किन्तु प्रलाप के साथ उन्माद का कष्ट रहने पर उनका प्रयोग किया जा सकता है। प्रलाप एवं उन्माद की

उग्रता होने पर हायोसीन हाइड्रोब्रोम (Hyoscin Hydrobromide) १।२०० ग्रेन सूचीवेध द्वारा देना चाहिए। उपर्युक्त औषधियों के प्रयोग से लाभ न होने पर मार्फिन (Morphine) या पेथिडिन (Pethidin) का उचित मात्रा में प्रयोग आवश्यक हो जाता है। सामान्य रोगियों में निम्नलिखित योग से प्रलाप का शमन हो जाता है।

Equanil	400 mg.
Prozine	1 tab.
Medomin	1 tab.
	१ मात्रा

रात में सोते समय या उग्रता होने पर दिन में भी इसका उपयोग किया जा सकता है।

प्रलाप के साथ उन्माद के लक्षण रहने पर सर्पगन्धा के योगों के साथ ब्रोमाइड तथा बार्बिच्यूरेट वर्ग की औषधियों का प्रयोग लाभकर होता है। निम्नलिखित योग के रूप में प्रयोग करना चाहिये।

Sodium Gardenol	gr. 1/2
Chloral Hydrate	grs. 8
Bromoraulfin	ms. 60
Syrup aurantia	ms. 60
Aqua	oz. 1
	१ मात्रा

आवश्यकतानुसार २ या ३ बार।

प्रलापोत्पादक दोषों के शमन तथा विषमयता के पाचन के लिए निम्नलिखित योग हितकर एवं सर्वथा निरापद होता है।

कृष्ण चतुर्मुख	१/२ र.
बृ० वातचिन्तामणि	१/२ र.
तृणकान्त पिष्टि	१ र.
मुक्तापिष्टि	१ र.
	१ मात्रा

मधु से चाटने के बाद ऊपर से १ तोला जटामांसी का फाण्ट बनाकर मिश्री मिलाकर ६-८ घण्टे के अन्तर पर पिलाना चाहिये।

इस योग के अतिरिक्त मूर्छान्तक, वातकुलान्तक, वातनाशन आदि के द्वारा भी पर्याप्त लाभ होता है।

शिरःशूल (Headache)

संक्रामक तथा दोषज सभी प्रकार की व्याधियों में शिरःशूल एक महत्त्व का लक्षण है। कुछ कोमल प्रकृति के व्यक्तियों में शरीर के किसी भाग में उत्पन्न हुई विकृति के

परिणामस्वरूप शिरःशूल अवश्य होता है। चिन्ता, क्रोध आदि मानसिक कारणों से शिरःशूल का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। नेत्र-नासा-कर्ण-अस्थिविवर-दन्तविकार-ग्रीवाविकार आदि ऊर्ध्व अंग के स्थानिक शोथ या वेदनामूलक विकारों में शिरःशूल का कष्ट अवश्य मिलता है। मस्तिष्कावरणशोथ, उच्च रक्तनिपीड, तीव्र ज्वरों की विषमयता की अवस्था एवं दूसरी विषमयतायें, अनन्तवात (Glaucoma), अर्धावभेदक (Hemicrania) आदि शिरःसंस्थानीय व्याधियों में तीव्र स्वरूप की शिरोवेदना होती है। यकृत् एवं पित्ताशय के विकार, विबन्ध, स्त्रियों में आर्तव की अनियमितता में, रक्ताल्पता-कृमिरोग आदि सामान्य स्वरूप की व्याधियों में भी मन्द स्वरूप की शिरोवेदना प्रायः मिलती है। तीव्र प्रतिश्याय, इन्फ्ल्युएञ्जा (Influenza), विषम ज्वर, फुफ्फुसपाक (Pneumonia), आन्त्रिक ज्वर आदि व्याधियों में शिरःशूल प्रमुख लक्षण होता है।

चिकित्सा प्रारम्भ करने के पूर्व शिरःशूल के कारण का भली प्रकार अनुसन्धान करना आवश्यक है। नेत्र, कर्ण, दन्त, नासिका, अस्थि विवर, रक्तनिपीड आदि की विशेष परीक्षा निदान के लिये आवश्यक है। ज्वर एवं विषमयता के दूसरे लक्षण होने पर संक्रामक व्याधियों का विनिश्चय करना चाहिये। मस्तिष्क-सुषुम्नाज्वर एवं इन्फ्ल्युएञ्जा में प्रायः तीव्र स्वरूप का शिरःशूल मिलता है। विशिष्ट व्याधियों के दूसरे प्रधान लक्षणों की उपस्थिति या अनुपस्थिति के आधार पर शिरःशूल के मूल कारण का निर्णय करना चाहिये। अनेक बार केवल मानसिक दुश्चिन्ताओं के कारण या दृष्टि असामर्थ्य (Refractory troubles) के कारण बहुत समय तक स्थिर स्वरूप की शिरोवेदना बनी रहती है। वास्तव में शिरःशूल का सटीक उपचार कारण के सही निदान पर निर्भर करता है। यहाँ पर शिरःशूल की लाक्षणिक शान्ति के लिये कुछ उपचार दिये जा रहे हैं।

ज्वरजनित विषमयता तथा दूसरे पैत्तिक लक्षणों की उग्रता से उत्पन्न शिरःशूल की शान्ति के लिये—

(१) नीम की पत्ती, लौंग, धनियाँ, छोटी इलायची, जटामांसी तथा कपूर को गुलाब जल में पीस कर मस्तक पर लेप करना।

(२) सुचकुन्द के फूल, सफेद चन्दन, कपूर को बकरी के दूध या गुलाब जल में पीस कर लेप करना।

(३) खस, जटमांसी, आँवला, दालचीनी तथा कमल के फूल पानी मे पीस कर मस्तक पर लेप करना।

प्रतिश्याय, अर्धावभेदक, इन्फ्ल्युएञ्जा आदि में—

(१) जायफल को पानी में घिसकर कपूर मिलाकर मस्तक पर कई बार लेप करना।

(२) केशर, लौंग, जावित्री, कपूर, स्वल्पमात्रा में पिपरमिण्ट तथा बादाम की गिरी को महीन पीस कर चन्दन की तरह लेप करना।

(३) गोघृत में अमृतधारा या यूकैलिप्टस का तेल मिलाकर अथवा अमृतांजन आदि कोई बाम मस्तक पर लगाना।

अर्धावभेदक, सूर्यावर्त्त या जीर्ण प्रतिश्याय जनित शिरःशूल में घृत-कपूर का नस्य या षड्बिन्दु तैल का नस्य लाभकर होता है।

आभ्यन्तर प्रयोग—

शिरःशूल की चिकित्सा में पित्त एवं मल का शोधन महत्त्व का उपचार है। किसी कारण निषेध न होने पर कैलोमेल का विभक्त मात्रा में प्रयोग कराकर यष्ट्यादि चूर्ण या षट्सकार आदि का मल-शोधनार्थ प्रयोग कराना चाहिये। शिरःशूलनाशक ओषधियों में एस्पिरिन, फेनासेटीन, कोडीनफास, एमिडोपाइरिन आदि का मुख्य रूप से प्रयोग होता है।

प्रतिश्यायजनित शिरःशूल में—

Acetyl salicylic acid	gr. 4
Phenacetin	gr. 2
Codein phos	gr. 1/4
	१ मात्रा

६–८ घण्टे के अन्तर पर गरम जल के साथ।

प्रतिश्याय के दूसरे लक्षण—नासास्राव, छींक, नेत्राभिष्यन्द आदि—रहने पर इसी योग में अनूर्जतानाशक एन्टिस्टिन (Antistin) आदि का मिश्रण किया जा सकता है। आमवातज शिरःशूल, प्रतिश्याय एवं इन्फ्ल्युएञ्जा जनित शिरःशूल तथा अस्थि-विवर के स्थानिक दोषों से उत्पन्न शिरःशूल की शान्ति के लिये नीचे लिखा योग प्रायः लाभकर होता है—

Irgapyrin	1 tab.
Acetyl salicylic acid	gr. 3
	१ मात्रा

दिन में ३ बार आवश्यकतानुसार।

कोडोपाइरिन (Codopyrin), वेगैनिन (Veganin), सारिडान (Saridon), वेरोमान (Veromon), सिबाल्जिन (Cibalgin), नोवेडान (Nobedon), एनासिन (Anacin) आदि प्रचलित योगों का शिरःशूल की लाक्षणिक शान्ति के लिये प्रयोग किया जा सकता है।

मानसिक दुश्चिन्ताओं के कारण शिरःशूल का सम्बन्ध होने पर निम्नलिखित प्रयोग देना चाहिये।

Equanil	200 mg.
Sodium Gardenal	gr. 1/4
Serpacil	1/2 tab. (·05)
	१ मात्रा

दिन में ३ बार।

जीर्ण स्वरूप के शिरःशूल में निम्नलिखित क्रम से चिकित्सा करने पर प्रायः लाभ होता है।

(१) सूर्योदय के पूर्व षड्विन्दु तैल का नस्य।

(२)	सप्तामृत लौह	२ र०
	तृणकान्तपिष्टि	१ र०
	रौप्य भस्म	१ र०
	प्रवाल भस्म	१ र०
	गुडूचीसत्त्व	४ र०
		१ मात्रा

मक्खन-मिश्री एवं छोटी इलाइची के चूर्ण के साथ प्रातः सायं।

सम्भव होने पर कमलगट्टा एवं बादाम के हलुआ का सह प्रयोग।

(३)	अश्वगन्धारिष्ट	१। तो०
	सारस्वतारिष्ट	१। तो०
		१ मात्रा

भोजन के बाद दोनों समय समान जल मिलाकर।

(४)	आरोग्यवर्धिनी	४ र०
		१ मात्रा

रात्रि में दूध के साथ सोते समय।

मस्तक पर अभ्यंग के लिये हिमांशुतैल, हिमसागर तैल, आमलकी तैल आदि में किसी का प्रयोग किया जा सकता है।

भ्रम (Vertigo)

अपने चारों ओर की वस्तुओं को घूमता हुआ अनुभव करने या स्वयं को वस्तुओं के चारों ओर घूमने का अनुभव होने का लक्षण उत्पन्न करने वाली व्याधि को भ्रम कहते हैं अर्थात् रोगी को लेटे, बैठे या खड़े रहने की अवस्था में अपना शरीर या वातावरण घूमता हुआ ज्ञात होता है। हीन या उच्च रक्तनिपीड के कारण उठते बैठते समय क्षणिक काल के लिये उत्पन्न होने वाले चक्कर तथा भ्रम में अन्तर होता है। सेरिबेलम (Cerebellum), श्रवण वातनाड़ी (Auditory Nerve), लेब्रिन्थ (Labyrinth) आदि अंगों की व्याधियों में रोगी की सन्तुलन शक्ति (Equilibrium) में बाधा उत्पन्न होने से इस प्रकार का अनुभव होता है।

मेनियर्स सिन्ड्रोम (Menieres syndrome), उच्च रक्तनिपीड (High blood pressure), मस्तिष्कगत रक्तवाहिनियों की विकृतियाँ, मस्तिष्क-धमनी जरठता आदि व्याधियों में भ्रम एक प्रधान लक्षण होता है। श्रुतिपटह (Tympanic membrane) पर कर्णगूथ (Wax) का दबाव पड़ने, जीर्ण प्रतिश्याय के कारण श्रुतिसुरंग (Eustatian tube) का अवरोध, अत्यधिक रक्ताल्पता, कृमिरोग, विबन्ध व स्त्रियों में आर्तवक्षयकाल में भ्रम का कष्ट मिला करता है।

भ्रम की चिकित्सा प्रारम्भ करने के पूर्व श्रुतिपटह एवं श्रवण यंत्र के विकार, रक्तनिपीड तथा विबन्ध की चिकित्सा की विशेष चेष्टा रखनी चाहिये। लेबरिन्थ एवं सेरिबेलम आदि अंगों की विकृति होने से उत्पन्न हुआ भ्रम प्रायः असाध्य स्वरूप का होता है।

स्ट्रेप्टोमाइसिन की असात्म्यता होने पर प्रायः श्रवण नाडी पर विषाक्त प्रभाव पड़ सकता है, जिससे भ्रम की उत्पत्ति होती है। कारण का सटीक निर्णय होने पर उचित व्यवस्था करने में सुविधा होती है।

अविशिष्ट कारण जनित भ्रम की चिकित्सा में निम्नलिखित लाक्षणिक उपचार करते हैं—

Nicotinic acid	50 mg.
Phenobarbitone	gr. 1/4
Pyridoxin	10 mg.
Stemetil	1 tab.
	१ मात्रा

२–३ बार आवश्यकतानुसार।

अनूर्जताविरोधी औषधियों के प्रयोग से भ्रम के अनेक रोगियों में लाभ होता है। इस वर्ग की कुछ औषधियाँ निद्राकर भी होती हैं। इस दृष्टि से Benadryl या फेनार्गान (Phenergan) का रात में सोने के पूर्व प्रयोग कराना चाहिये।

गतिविषमता या वमन शामक औषधियों में एवोमिन (Avomin), मार्जिन (Marzin) तथा सिक्विल (Siquil) आदि औषधियाँ भ्रम में भी उपकारक होती हैं।

रक्तवाहिनियों की विकृति के कारण उत्पन्न भ्रम के शमन के लिये अमन क्लोराइड का क्रमिक वर्धमान मात्रा में १० से २० ग्रेन तक दिन में २ बार, प्रिसकाल (Priscol) २–३ बार, जीवतिक्ति ३ (Vitamin E) या पौरुष ग्रंथि सत्त्व (Testosteron propionate) आदि का आवश्यकतानुसार कुछ काल तक प्रयोग कराने से लाभ होता है।

भ्रम के अनेक रोगियों में निम्नलिखित उपचार से लाभ होता है। वातिक दोष से उत्पन्न होने के कारण वातशामक योगों का भ्रम में प्रयोग लाभकर माना जाता है।

(१)	कृष्णचतुर्मुख	¼ र०
	वातकुलान्तक	¼ र०
	जटामांसी चूर्ण	१॥ मा०
		१ मात्रा

मक्खन तथा मिश्री के साथ सुबह शाम।

(२) कैशोर गुग्गुलु १ मा०-३ मा० तक क्रमिक वर्धमान मात्रा में दूध के साथ।

(३) दशमूलारिष्ट, अश्वगन्धारिष्ट या बलारिष्ट भोजन के बाद दोनों समय।

भ्रम में कल्याण घृत या जीवनीय घृत आदि स्निग्ध तर्पक योग लाभकारक होते हैं। अग्निबल के अनुसार ३ मा०-१ तो० की मात्रा प्रातःकाल दूध के साथ दी जा सकती है।

बृहद् वातचिन्तामणि, त्रिविक्रम रस एवं योगेन्द्र आदि स्वर्णयुक्त रस के योग भ्रम की चिकित्सा में सफलता के साथ प्रयुक्त किये जाते हैं।

आक्षेपक (Convulsion)

शरीर के विभिन्न पेशीसमूहों में असम्बद्ध क्रिया होने के कारण शरीर के विभिन्न अवयवों में ऐंठन होकर आक्षेपक के लक्षण उत्पन्न होते हैं। तीव्र संक्रामक ज्वर, उच्च शीर्षण्य निपीड, मस्तिष्क विकार, विषमयता—विशेषकर मूत्रविषमयता, धनुर्वात, जलसंत्रास, अपतानिका (Tetany), अपस्मार, अपतंत्रक इत्यादि व्याधियों में आक्षेपक का कष्ट मिला करता है।

आक्षेपक की चिकित्सा वेगावस्था में शामक स्वरूप तथा वेगोत्तर काल में पुनरावर्तन निरोध के लिये कारणानुरूप उपक्रम के रूप में होती है। यहाँ पर केवल वेगावस्था की शामक चिकित्सा का उल्लेख किया जायगा जो प्रायः सभी प्रकार के कारणों से उत्पन्न आक्षेपक में समान रूप की होती है।

रोगी को मृदु शय्या पर कुछ निर्वात एवं अंधेरे स्थान में विश्राम कराना। दाँतों के बीच में, मुलायम रबर बाँस की खोखली नली पर चढ़ाकर, जिह्वा की सुरक्षा के लिये रखना। उपलब्ध होने पर माउथ गाग (Mouth gaug) का उपयोग करना। इसमें शामक तथा उद्वेष्टन विरोधी (Antispasmodic) ओषधियों का प्रयोग किया जाता है। सोडियम गार्डिनाल (Sod. gardenol), एवर्टिन (Avertin), ब्रोमाइड्स (Bromides), पैरेल्डिहाइड (Pareldehyde), मेसन्टोइन (Masantoin), डाइलेन्टिन सोडियम (Dilantin sodium), म्यानेसिन (Myanesin), फ्लेक्सेडिल (Flexadyl), लार्गेक्टिल (Largactil) आदि इस वर्ग की प्रमुख ओषधियाँ हैं। मुख द्वारा प्रयोग सम्भव होने पर सूचीवेध की कोई अपेक्षा नहीं। अन्यथा सूचीवेध या गुदा मार्ग से उपयुक्त ओषधि का प्रयोग किया जा सकता है।

पैरेल्डिहाइड तथा एवर्टिन का प्रयोग गुदा मार्ग से किया जा सकता है। सोडियम गार्डेनाल, म्यानेसिन तथा लार्गेक्टिल का प्रयोग आवश्यकतानुसार सूचीवेध द्वारा किया जा सकता है। आवेग के शान्त हो जाने पर भी कुछ काल तक शामक ओषधियों का सेवन कराते रहना आवश्यक है।

सामान्य तीव्रता वाले आक्षेपक की शान्ति के लिये निम्नलिखित क्रम से औषध योजना करनी चाहिये।

(१) Largactil 25 mg पेशी मार्ग से, आवश्यक होने पर १२ घण्टे के बाद पुनः दे सकते हैं। इसके प्रयोग से रक्तनिपीड कम हो जाने की सम्भावना रहती है। इसका ध्यान रखना चाहिए।

(2)	Mysoline	1/2 tab.
	Sodium gardenol	gr. 1/2
	Cal. pantothenate	10 mg,
		१ मात्रा

प्रति ४ घण्टे के अन्तर पर।

वेग शान्त होने पर औषध प्रयोग काल बढ़ाया जा सकता है।

वेगों की तीव्रता अधिक होने पर श्वासावरोध, पेशियों में तीव्र उद्वेष्टम तथा शय्या के साथ रगड़ होने के कारण व्रण, पेशियों का विदार, अस्थिभग्न, आन्तरिक रक्तस्राव आदि अनेक उपद्रव हो सकते हैं। श्वासावरोध के कारण आकृति नीलवर्ण की होने लगती है। प्राणवायु की पूर्ति के लिए दबाव के साथ प्राणवायु प्रवेश (Oxygen inhalation with pressure) तथा आक्षेपक का सद्यःशमन करने वाली ओषधियों का प्रयोग करना चाहिए। आक्षेपक की तीव्रता के कारण सिरामार्ग से औषध का प्रयोग व्यवहार्य नहीं हो पाता। सम्भव होने पर सिरा द्वारा Avipan sod., Pantothol sodium आदि स्वल्प काल के लिए शरीर को शिथिल करने वाली ओषधियों का प्रयोग करना चाहिये। Myanesin, Avertin, Largactil, Pareldehyde आदि में से किसी का प्रयोग पेशीमार्ग से किया जा सकता है।

निम्नलिखित योग आक्षेपक की शान्ति में उपयोगी माने जाते हैं। इनमें किसी का भी प्रयोग यथोपलब्धि किया जा सकता है।

(१)	कृष्ण चतुर्मुख	१ र०
	अश्वगन्धा चूर्ण	२ र०
	बला चूर्ण	२ र०
		१ मात्रा

मधु के साथ दिन में ३ बार।

(२)	वातकुलान्तक	१ र०
		१ मात्रा

शतावरी स्वरस एवं मधु के साथ दिन में ३ बार।

(३)	बृ० वातचिन्तामणि	१ र०
	तृणकान्त पिष्टि	१ र०
	जटामांसी चूर्ण	१ मा०
		१ मात्रा

दिन में ३ बार मधु से।

(४)	वातनाशन	½ र०
	योगेन्द्र	½ र०
		१ मात्रा

रुद्राक्ष का चन्दन ४ र० तथा मधु के साथ प्रातः-सायं।

हिक्का (Hiccup)

साधारण मानसिक कारण, तीक्ष्ण आहार तथा गम्भीर विषमयताओं के कारण कष्टकारक हिक्का की उत्पत्ति होती है। हिक्का का वेग प्रबल होने पर श्वसन, आहार, निद्रा आदि सभी क्रियाओं में व्याघात उत्पन्न होता है। प्राणावरोध का कष्ट होता है। महाप्राचीरा वातनाड़ी का क्षोभ स्थूल रूप से हिक्का-उत्पत्ति का कारण होता है। आमाशय क्षोभ तथा हृदय-यकृत्-पित्ताशय-वृक्क-फुफ्फुसावरण की अनेक विकृतियों में हिक्का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण होता है। अम्लोत्कर्ष (Acidosis), गम्भीर विषमयतायें, वातनाड़ीसंस्थान की विकृतियाँ तथा तीव्र स्वरूप के संक्रामक ज्वरों में हिक्का का कष्ट मिलता है। अनेक बार हिक्का के किसी विशिष्ट कारण का निर्णय नहीं हो पाता। कभी-कभी मानसिक क्षोभ के कारण हिक्का की उत्पत्ति होती है और क्षोभक आहार, आमाशय में वायु के अधिक संचय आदि के कारण उत्पन्न हुई हिक्का इसी श्रेणी में आती है। रोगी का मन बदलने, आश्चर्य-विस्मय-हर्ष आदि घटनाओं के उल्लेख तथा आमाशय की शान्ति के लिए मधुर, शीत, स्निग्ध आहार का सेवन लाभकर होता है। हिक्का एक स्वतन्त्र व्याधि नहीं मानी जाती। अनेक व्याधियों में इसकी उपस्थिति क्रूर ग्रहों के समान भयकारक समझी जाती है। इसलिए हिक्का का शामक उपचार करते हुए मूलव्याधि के अनुसन्धान तथा उपचार की व्यवस्था ध्यानपूर्वक करनी चाहिए।

बाह्य प्रयोग—आमाशय के ऊपर घी लगाकर राई का लेप रखना।

कर्णमूल के पीछे दाह करना—१ इञ्च के व्यास में कर्णमूल के पास चित्रकमूल कल्क या रसोन कल्क का प्रलेप करना।

रबर या कागज के थैले में मुख व नाक बन्द कर थोड़ी देर श्वसन की चेष्टा

करना, जिससे बहिःश्वसन के साथ निकली कार्बन डाइआक्साइड पुनः अन्तःश्वसित हो जाय। शरीर में कार्बन डाइआक्साइड की मात्रा अधिक होने से हिक्का शान्त होने में सहायता मिलती है। शोधक नस्य के द्वारा छींक उत्पन्न करना, जिह्वासंदंश से जिह्वा पकड़ कर थोड़े समय के लिए बाहर रखना, आमाशय नलिका को अन्नप्रणाली में ३-४" भीतर ले जाकर रक्खे रहना। प्राणायाम करना। गले के पास प्राणदा नाड़ी पर दबाव डालना। एमिलनाइट्रेट सुँघाना या अमोनिया सुँघाना। कभी-कभी तम्बाकू सुंघाने से भी लाभ होता है।

आभ्यन्तर प्रयोग—

अम्लोत्कर्ष का अनुमान होने पर १ चम्मच सोडा बाई कार्ब, १ औंस ग्लूकोज, १ पाइन्ट जल में मिलाकर बार-बार पीने को देना।

आमाशय विस्फार के कारण हिक्का की उत्पत्ति का अनुमान होने पर सोडा बाई कार्ब के घोल से राइल्सट्यूब द्वारा आमाशय का प्रक्षालन करना।

आमाशय क्षोभ की शान्ति के लिए निम्नलिखित योग लाभकर होता है।

Sodabi carb	grs. 10
Sodium gardenol	gr. 1/4
Caltactate	grs. 5
Tr. belladonna	ms. 5
Liq. diastase	ms. 30
Elixir. Valerian brom	ms. 30
Syrup aurantii	ms. 60
Aqua	oz. 1
	१ मात्रा

४-६ घण्टे के अन्तर पर आवश्यकतानुसार।

निम्नलिखित योग भी आमाशय क्षोभ शामक होता है—

Antrenyl	1 tab.
Chloretone	grs. 4
Alludrox	1 tab.
Neurotrasentin	1 tab.
	१ मात्रा

दिन में ३ बार।

Liquor adrenaline 1 in 1000 की ५ बूंद तथा Acid hydrocyanic dil १ बूंद मिलाकर ग्लूकोज के शर्बत के साथ कई बार पिलाने से हिक्का में लाभ होता है।

Amphetamine या Benzadrine ५ मि. ग्राम की मात्रा में ४–६ घण्टे के अन्तर पर देने से भी हिक्का में लाभ होता है।

ग्लूकोज २५% ५० सी. सी. और Calcibronate 10 सी. सी. मिलाकर सिरा मार्ग से २-३ दिन देना। बिषमयता जनित हिक्का की शान्ति के लिए विषमयता का स्वतंत्र रूप से उपचार करना चाहिए तथा हिक्का की शान्ति के लिए शामक औषधियों की योजना करनी चाहिए। अविशिष्ट स्वरूप की हिक्का निम्नलिखित योग से प्रायः शान्त हो जाती है।

मयूरपिच्छ भस्म	२ र०
सूतशेखर	१ र०
पिप्पली चूर्ण	१ र०
कचूर चूर्ण	४ र०
	१ मात्रा

मधु के साथ चटाकर कदलीमूल स्वरस १-२ तोला मिश्री मिलाकर पिलाना।

कुछ रोगियों में कष्टकारक हिक्का की शान्ति पिप्पली, आँवला, शुण्ठी और मिश्री के सममात्रा में मिले चूर्ण को २–४ मा० की मात्रा में ३–४ घण्टे के अन्तर पर लेने से होती है। उपलब्ध होने पर बिजौरा नीबू का रस १ तो०, काला नमक ३ मा०, मिश्री ६ मा० मिलाकर २-२ चम्मच २-२ घण्टे पर अवलेह के रूप में चाटना भी लाभकर होता है।

काली मिर्च, बेर की गुठली की गुद्दी (कोलास्थिमज्जा), बड़ी इलायची का सम मात्रा में मिला चूर्ण १–२ मा० की मात्रा में मधु के साथ प्रायः दो घण्टे पर देने से हिक्का की शान्ति होती है।

अनेक रोगियों में उनकी प्रकृतिगत दुर्बलता के कारण हिक्का का कष्ट बहुत काल तक बना रहता है। साधारण उपचार से लाभ न होने पर निम्नलिखित योग का सेवन कराना चाहिये।

मुक्तापिष्टी	१ र०
लीलाविलास	१ र०
स्वर्णयुक्त सूतशेखर	१ र०
	१ मात्रा

बिभीतक मज्जा को चन्दन की तरह घिसकर मधु के साथ, ३–४ घण्टे के अन्तर पर, जब तक हिक्का पूरी तरह शान्त न हो जाय।

हिक्का के कुछ प्रतिकारसह रोगियों में औषधियुक्त धूम्रपान से लाभ होते देखा गया है। चिलमची में अंगारों पर औषधि रख कर दूसरी चिलम से ढक कर मुख से धुआँ

आमाशय में निगल कर अवरोध करने की चेष्टा करनी चाहिए। धुयें के नासामार्ग से श्वासप्रणाली में जाने पर वमन की प्रवृत्ति होती है, इससे भी हिक्का में लाभ होता है।

निम्नलिखित दो योगों में किसी का व्यवहार यथोपलब्धि किया जा सकता है।

(१) इन्द्रयव, उड़द, कुश की जड़, काकड़ाश्रृङ्गी; इनका मोटा चूर्ण बना धूमपान कराना।

(२) बहेड़े का छिलका, बाघ, पिप्पली और आँवला; इसमें नवसादर मिला कर धूमपान करना चाहिए।

श्वासकृच्छ्र

हिक्का के समान श्वासकृच्छ्र का कष्ट रोगी के लिए अत्यधिक त्रासदायक होता है। हृदय-फुफ्फुस-श्वासवाहिनी-महाप्राचीरा पेशी के अधिकांश विकार, आमाशय का आध्मानमूलक विकार, वृक्क एवं रक्तवाहिनियों के उच्च रक्तनिपीड़युक्त विकार तथा विषमयताओं की गम्भीर अवस्था उत्पन्न होने पर श्वासकृच्छ्र होता है। श्वासकृच्छ्र की व्यापकता एवं गम्भीरता को देखते हुए विशिष्ट रोगोत्पादक कारण के अनुसन्धान की पूर्ण चेष्टा करनी चाहिए।

हृदय, रक्तवाहिनियाँ एवं उच्च रक्तनिपीड के कारण श्वासकृच्छ्र उत्पन्न होने पर वेग का प्रारम्भ प्रायः मध्यरात्रि में, शीत अधिक पड़ने पर या गुरु भोजन या परिश्रम के बाद होता है। तमकश्वास का आक्रमण प्रायः रात्रि के अन्तिम प्रहर में, धूल-धुआँ-शीत-वर्षा आदि के कारण उद्भूत हुआ ज्ञात होता है। वृक्क विकार के कारण श्वास का कष्ट मध्यम वेग से प्रायः रातभर रहता है। उरस्तोय, फुफ्फुसनिपात (Collapse of lungs), वातोरस (Pneumothorax), फुफ्फुसपाक (Pneumonia) आदि व्याधियों में उत्पन्न होने वाले श्वासकृच्छ्र का कारण इन व्याधियों के इतर लक्षणों द्वारा निर्णीत किया जा सकता है।

श्वासकृच्छ्र के वेग के समय रोगी को अधिक गरमी लगती है तथा खुली हवा में साँस लेने में आराम मिलता है। उपलब्ध होने पर प्राण वायु (O_2) श्वास के वेग के समय प्रयुक्त करनी चाहिए। हृदय एवं रक्तवाहिनी के विकार से श्वासकृच्छ्र का सम्बन्ध होने पर एमिनोफाइलिन (Aminophyllin, Cordiaphyllin, Deriphyllin, Nutrophyllin etc.)का ·24 gm. 10–20 सी.सी. ग्लूकोज का घोल मिला कर सिरा द्वारा देना चाहिए।

उच्च रक्तनिपीड़ के कारण श्वासकृच्छ्र होने पर, ग्रीवा या शरीर के दूसरे अवयवों में सिराओं का अधिक तनावपूर्ण उभार होने पर, हृदय में रक्ताधिक्य की सम्भावना में ५०–१०० सी सी की मात्रा में रक्तमोक्ष कराने तथा मूत्रल एवं कोष्ठशोधक ओषधियों के देने के अतिरिक्त सर्पासिल (Serpacil) का यथावश्यक मात्रा में पेशी मार्ग से प्रयोग करना चाहिए।

तमक श्वास के वेग का शमन करने के लिए adrenalin 1 in 1000 को अधस्त्वक् मार्ग से प्रति मिनट ५ बूंद की मात्रा से ½ से १ सी. सी. तक देना चाहिए। सूचीवेध के स्थान पर Isopropanyl या Neo-ephinine की टिकिया जीभ के नीचे रखने के लिए दी जा सकती है।

अनूर्जतामूलक इतिवृत्त का ज्ञान होने पर अनूर्जतानाशक ओषधियों का प्रयोग हितकर होता है।

सामान्यतया अविशिष्ट स्वरूप के श्वास के शमन के लिए निम्नलिखित योग श्वास की लाक्षणिक शान्ति के लिए पूर्णतया सफल होता है।

Ephedrine Hydrochlor	gr. 1/3
Prednisone	5 mg.
Aminophyllin	gr. 1½
Phenobarbitone	gr. 1/4
	१ मात्रा

प्रति ४–६ घण्टे के अन्तर पर आवश्यकतानुसार। अनूर्जतामूलक कारण होने पर इसी योग में कोई अनूर्जतानाशक ओषधि मिला देनी चाहिये।

कुछ रोगियों में श्वास के वेग के समय होने वाली बेचैनी, छाती का अवरोध आदि की शान्ति के लिये निम्नलिखित उपचार हितकर होता है।

(१)	श्वासकास चिन्तामणि	१ र०
	शृंग भस्म	१ र०
	नरसार	१ र०
	मधुयष्टी चूर्ण	३ मा०
		१ मात्रा

अडूसे का शर्बत मिलाकर ४–४ घण्टे पर चटाना।

(२) गरम घी में महीन पीसा हुआ नमक व कपूर मिला कर पार्श्व में अभ्यंग करना।

(३) १ पाइन्ट गरम जल में १ चम्मच सोडाबाई कार्ब तथा १ चम्मच सेंधा नमक मिलाकर गरम-गरम १ औंस की मात्रा में बार २ पिलाना। इससे कफ ढीला होकर निकल जाता है।

तमक श्वास के पूर्वाक्रमण का अनुमान होने पर या गले या श्वास मार्ग में थोड़ा भी अवरोध अनुभव होने पर सिरका में भिगो कर सुखाई हुई धतूर की पत्ती का धुआँ अन्तः श्वसन के साथ श्वास प्रणाली में खींचने से सद्यः लाभ करता है।

परम ज्वर (Hyper Pyrexia)

तीव्र स्वरूप के संक्रामक ज्वरों में परम ज्वर का उपद्रव बहुत मिलता है। अंशुघात तथा पित्तप्रधान दूसरे ज्वरों में संताप की अधिकता हो सकती है। इसकी प्रमुख

चिकित्सा में जल-चिकित्सा का महत्त्व है। सामान्य ज्वरों में पर्याप्त मात्रा में जल पिलाने की आवश्यकता दोषों के शोधन एवं ज्वर के पाचन के लिए होती है और परम ज्वर में जल प्रयोग की आवश्यकता बढ़ जाती है। कम से कम ५-६ सेर जल दिन भर में पिलाना आवश्यक होता है। मूत्र की राशि कम से कम १५०० सी. सी. उत्सर्जित होती रहे; इतनी राशि में जल का सेवन कराना अनिवार्य समझना चाहिये। जल में नमक या सोडा बाई कार्ब मिलाने से ज्वर की विषमयता के पाचन में सहायता मिलती है। परम ज्वर का उपद्रव प्रायः अपर्याप्त मात्रा में जल का सेवन कराने से उत्पन्न होता है। ज्वर में अम्लोत्कर्ष (Acidosis) का परिणाम होने के कारण तथा प्रस्वेद से लवण एवं क्षार का पर्याप्त उत्सर्ग हो जाने के कारण, इनकी पूर्ति कराना आवश्यक है। आवश्यकतानुसार जल शीतल, कदुष्ण, उत्क्वथित या बर्फ मिलाकर पिलाना चाहिये। पर्पटार्क, षडंगपानीय, यवपेया, नारिकेल जल आदि के प्रयोग से सामान्य जल की अपेक्षा अधिक लाभ होता है। मुख द्वारा पर्याप्त मात्रा में जल का सेवन सम्भव न होने पर नासा मार्ग से राइल्स का ट्यूब प्रविष्ट करा कर २-४ पाइन्ट समलवण जल तथा ग्लूकोज का घोल और गुदा मार्ग से भी समबल लवणजल का प्रयोग पूरक मात्रा में कराना चाहिये।

संताप के अधिक होने पर मस्तिष्कगत तापनियन्त्रक केन्द्र असन्तुलित हो सकता है। अतः बाह्य उपचार के द्वारा ताप को नियन्त्रित रखना आवश्यक है। अधिक काल तक तीव्र ज्वर बने रहने पर शरीर के अनेक अवयवों—हृदय-वृक्क-अधिवृक्क-मस्तिष्क आदि—में अपजननमूलक परिवर्तन होने लगते हैं। इसलिये किसी भी अवस्था में ज्वर को परम ज्वर की मर्यादा तक रहने देना श्रेयस्कर नहीं।

बाह्य उपचार—

मस्तक पर—बरफ की थैली रखना, ठण्डे जल के छींटे देना, शीतल जल की धारा मस्तक पर छोड़ना, यूडीकोलन गुलाब जल में मिलाकर या सिरका गुलाब जल में मिलाकर उसकी पट्टी रखना या कलमी शोरा पानी में मिलाकर मस्तक पोंछना आदि उपलब्ध साधनों से मस्तिष्कगत ताप के शमन की चेष्टा करनी चाहिये। इन प्रयोगों में बरफ की थैली का प्रयोग अधिक कार्यक्षम तथा निरापद होता है।

सर्वाङ्ग में—सारे शरीर को शीतल जल से पोंछने से संताप की कमी, मस्तिष्क की शान्ति, मूत्रराशि की वृद्धि, प्रलाप एवं अनिद्रा का शमन, हृदय एवं रक्तप्रवाह को उत्तेजना आदि अनुकूल परिणाम होते हैं। ज्वर का वेग अधिक होने पर ठण्डे पानी में चादर भिगोकर गले के नीचे का सारा शरीर ढककर १५ मिनट रोगी को लिटाये रखना चाहिये। चद्दर से ढकने के पूर्व सेंधा नमक तथा सोडा बाई कार्ब मिलाकर अधिक से अधिक मात्रा में जल पिलाना चाहिये। चद्दर हटाने पर पर्याप्त प्रस्वेद एवं मूत्रोत्सर्ग होकर ज्वर में कमी होती है। मस्तक पर बरफ की थैली के समान नाभि एवं पादतल

पर बरफ की थैली रक्खी जा सकती है। लोटे में शीतल जल भर कर उदर पर सहलाते हुये घुमाना या ठण्डे पानी में तौलिया भिगो कर उदर पर रखना भी हितकर है।

अत्यधिक संताप होने पर रोगी के चारों तरफ बरफ की सिल्ली रख कर पंखे से हवा करनी चाहिये तथा हिम शीतल जल से आन्त्र प्रक्षालन करना चाहिये।

नीम तथा बेर की पत्ती को पानी में पीसकर, मिट्टी की हण्डी में मथकर, उसके फेन का मस्तक तथा सारे शरीर पर अभ्यंग करने से संताप कम होने में पर्याप्त सहायता मिलती है।

इन उपचारों से सन्तोषजनक लाभ न होने पर ज्वरशामक ओषधियों का प्रयोग किया जा सकता है।

ज्वरजनित विषमयता के पाचन के लिये निम्नलिखित क्षारीय मिश्रण पिलाते रहना अच्छा है।

Pot citras	gr. 15
Liq. ammon acetas	ms. 60
Spt aetheris nitrosi	ms. 20
Syrup aurantii	ms. 60
Aqua	oz. 1
	१ मात्रा

प्रति ४ घण्टे के अन्तर पर।

स्वेदल एवं मूत्रल ओषधियों के प्रयोग से अल्पकाल के लिये ताप का शमन होता है। पर्याप्त मात्रा में जल का प्रयोग एवं विषमयता का उपचार करते हुये इस वर्ग की ओषधियों का उपयोग किया जा सकता है—

Acetyl Salicylic acid	gr. 3
Caffein Citras	gr. 2
Phenacetin	gr. 3
Amidopygin	gr. 1
	१ मात्रा

४–६ घण्टे के अन्तर पर गरम जल के साथ।

इन ओषधियों का प्रयोग करते समय अत्यधिक प्रस्वेद, हृदय-दौर्बल्य एवं निपात आदि संभाव्य उपद्रवों की तरफ ध्यान रखना आवश्यक है। यथाशक्ति इन ज्वर-शामक ओषधियों का प्रयोग कम से कम करना चाहिए। हृदय की शक्तिवृद्धि के लिए पूर्व निर्दिष्ट क्षारीय मिश्रण में कोरामिन के १०–१५ बूँद देते रहना अच्छा होता है।

तीव्र संक्रामक ज्वरों में उपर्युक्त ओषधि का प्रयोग करने के अतिरिक्त विषमयता के शोधन एवं ज्वर के पाचन के लिए कार्टिको स्टेरॉयड्स (Corticosteroids, Prednisone, Predcosoline, Denadron, Kenacort) का पेशी मार्ग या मुख द्वारा उचित मात्रा में प्रयोग कराया जा सकता है।

मुख द्वारा ओषधिसेवन सम्भव होने पर निम्नलिखित औषध के सेवन से संताप के २-३ अंश की कमी बिना किसी हानिकर परिणाम के होती है।

त्रिभुवन कीर्ति	१ र०
दन्ती भस्म	१ र०
भल्लातक भस्म	२ र०
अमृतासत्त्व	४ र०
	१ मात्रा

प्रति ४ घण्टे पर मधु के साथ देकर ऊपर से षडंगपानीय पिलाना चाहिए।

निपात (Circulatory failure)

रक्तप्रवाह का निपात एक गम्भीर उपद्रव समझना चाहिए। इसके दो प्रमुख वर्ग होते हैं—(१) परिसरीय निपात (Peripheral) (२) केन्द्रीय हृदयातिपात (Central cardiac failure)। दोनों के उपचार का उल्लेख पृथक्-पृथक् किया जायगा।

परिसरीय निपात (Peripheral failure)

व्यावहारिक दृष्टि से इसके ३ प्रमुख वर्ग अधिक मिलते हैं—(क) परिसरीय रक्त-वाहिनी निपात (ख) स्तब्धता तथा निपात (Shock & collapse) (ग) वैसो वागल सिन्ड्रोम (Vaso vagal syndrome)।

परिसरीय रक्तवाहिनी निपात—परिसरीय रक्तवाहिनियों में शिथिलता होने के कारण रक्त का अवरोध होने लगता है तथा हृदय को रक्त पर्याप्त मात्रा में धमनियों के द्वारा प्रेषित करने को नहीं मिलता, जिससे मस्तिष्क-हृदय-वृक्क आदि महत्त्वपूर्ण अवयवों को उचित मात्रा में रक्त की उपलब्धि नहीं होती। रक्तनिपीड प्रायः न्यून, नाड़ी मन्द तथा क्षीण होती है। इस प्रकार की स्थिति प्रायः तीव्र संक्रामक ज्वरों की विषम-यता के कारण उत्पन्न होती है।

इसके प्रतिकार के लिए रोगी को सिरहाना नीचा तथा पायताना ऊंचा रखकर लेटाए हुए पूर्ण विश्राम कराना चाहिए। शरीर को गरम रखने के लिये गरम पानी की बोतलों या बिजली के बल्ब के द्वारा ताप पहुँचाना चाहिए। शाखाओं पर रक्ताभिसरण क्रिया को बढ़ाने के लिए क्षोभक द्रव्यों का—शुण्ठी चूर्ण; कायफल चूर्ण, लिनिमेन्ट कैम्फर आदि—का विलोम क्रम से मर्दन करना चाहिये। सिरहाने की तकिया हटाकर गले तथा छाती के वस्त्र खोलकर श्वसन एवं हृदय के सामान्य अवरोधों को दूर कर देना चाहिए। रक्त राशि की वृद्धि के लिए संकेन्द्रित रक्त (Compact blood cells), सम्पूर्ण रक्त (Whole Blood), रक्त रस (Plasma) या तत्सम द्रव्य (Plas-mosan-Intradex Dextraven) आदि का प्रयोग करना चाहिए। इनके अभाव

में सम लवण जल या ग्लूकोज का घोल प्रयुक्त किया जा सकता है। लवणजल तथा ग्लूकोज के प्रयोग से रक्त की तरलता के अतिरिक्त और कोई वृद्धि नहीं होती। इस दृष्टि से यथाशक्ति रक्तरस या तत्सम द्रव्यों का आवश्यक मात्रा में प्रयोग करना चाहिए।

रक्तप्रवाह की उत्तेजना के लिए निम्नलिखित ओषधियों में किसी का प्रयोग यथा-निर्देश किया जा सकता है।

हृदय एवं श्वसन को उत्तेजित करने वाली ओषधियाँ—

(१) कोरामिन, वेरिटाल, कार्डियाजोल, साइक्लिटॉन (Cycliton) आदि का १०–२० बूँद की मात्रा में मुख द्वारा या गम्भीर अवस्था में अधस्त्वक् मार्ग से सूचीवेध द्वारा प्रयोग करना चाहिए।

(२) एड्रिनेलिन—रक्तनिपीड की अधिक न्यूनता या निपात की गम्भीरता होने पर आधा से एक सी. सी की मात्रा में अधस्त्वक् मार्ग से प्रयोग किया जा सकता है। सिरा द्वारा ग्लूकोज या रक्तरस के साथ (Nor-adrenalin) ½ सी. सी.–२ सी. सी. की मात्रा में प्रयोग किया जा सकता है। यद्यपि इनसे रक्तप्रवाह तथा रक्तनिपीड की वृद्धि में उत्तेजना स्वल्प काल के लिए ही प्राप्त होती है, किन्तु आत्ययिक स्थिति में विशेष उपयोगिता के कारण प्रयोग आवश्यक होता है।

(३) पिटयूटरीन (Pitutrine)—उदर में आध्यान या मूत्राघात के लक्षण उत्पन्न होने पर पिटयूटरीन के उपयोग से विशेष लाभ होता है। हृदय एवं वाहिनियों को उत्तेजना, आध्मान का उपशम तथा वृक्क के कार्य में उत्तेजना उत्पन्न होती है।

(४) एड्रिनल कार्टिकल एक्स्ट्रैक्ट (Adrenal cortical extract) इस श्रेणी की ओषधियों से रक्त निपीड़ की वृद्धि, हृदय को उत्तेजना तथा परीसरीय नाड़ियों की शिथिलता में भी परिवर्तन होता है। एड्रिनेलिन की अपेक्षा इनके प्रयोग से रक्त निपीड़ आदि की वृद्धि अधिक स्थायी स्वरूप की होती है। इस वर्ग की ओषधियों में DOCA, Cortin, Eucorton, Percorton किसी का प्रयोग किया जा सकता है।

निपात में श्वसनशिथिलता उत्पन्न होने पर स्ट्रिक्नीन सल्फ (Strychnine sulph 1-60) का अधस्त्वक् मार्ग से तथा प्राण वायु (Oxygen) का प्रयोग करना चाहिए।

हृदय की शिथिलता एवं हीन रक्त निपीड के कारण मूत्राघात उत्पन्न होने पर कैफीन सोडा बेन्जोयट ५ ग्रेन की मात्रा में पेशी मार्ग से देना चाहिए।

निपात में फुफ्फुस शोथ (Pulmonary oedema) एवं श्वास कृच्छ्र का उपद्रव उत्पन्न होने पर एट्रोपिन सल्फ (Atropin sulph) अधस्त्वक् मार्ग से देना चाहिए।

आध्मान एवं तीव्र सन्ताप का उपद्रव होने पर इसका उपयोग हानिकर माना जाता है।

कैम्फर इन आयल (Camphor in oil) या (Musk & camphor in ether) आदि हृद्य एवं उत्तेजक औषधियों का पेशी मार्ग से सूचीवेध के रूप में प्रयोग किया जा सकता है।

मुखद्वारा ब्राण्डी या स्पिरिट वाइनम गैलेसिआई (Spt. vin. galacii) का प्रयोग १-२ चम्मच की मात्रा में प्रति ३-४ घण्टे के अन्तर पर किया जा सकता है।

निम्नलिखित उत्तेजक मिश्रण इस दृष्टि से प्रयुक्त होता है।

Coramin liquid	m 10
Veritol drops	m 10
Spt chloroform	m 10
Spt ammon aromat	m 10
Spt aetheis nitrosi	m 10
Tr nux vomica	m 5
Spt vin. galacii	ms 60
Syp aurantii	ms 60
Aqua	Oz 1
	१ मात्रा

४-६ घण्टे पर आवश्यकतानुसार।

परिसरीय निपात की अवस्था में निम्नलिखित योग भी विशेष उपकारक हुआ है।

सिद्ध मकरध्वज	१ र०
कस्तूरी	१ र०
अम्बर	१ र०
केशर	१ र०
	१ मात्रा

पान का रस व मधु के साथ लेकर ऊपर से मृत संजीवनी सुरा १-२ तो० की मात्रा में देना चाहिए। आवश्यकतानुसार ४-६ घण्टों के अन्तर पर इसका पुनः प्रयोग कराया जा सकता है।

स्तब्धता एवं निपात—

इन अवस्थाओं में रक्त प्रवाह गत परिवर्तन तीव्र गति से उत्पन्न होते हैं। केशिकाओं का विस्फार (Dialatation of capillaries) के कारण अधिकांश रक्त केशिकाओं में संचित हो जाता है तथा केशिका प्राचीर के सुषिर होने के कारण

अधिकांश रक्तरस निःस्यन्दित होकर समीपवर्ती कोषाओं में संचित हो जाता है। इसलिये रक्त में गाढ़ापन रहता है तथा रक्त की राशि अधिक न्यून हो जाती है। रक्त निपीड हीन प्राकृत तथा शोणवर्तुलि प्रतिशत स्वाभाविक से अधिक हो जाती है। मस्तिष्क, हृदय एवं वृक्क आदि महत्त्व के अवयवों में रक्त की न्यूनता हो जाती है। इस प्रकार की अवस्था तीव्र आघात, तीव्र शूल, अत्यधिक उग्र वेदना तथा मर्म विकृतियों के कारण उत्पन्न हो जाती है।

निपात एवं स्तब्धता की लाक्षणिक चिकित्सा प्रारम्भ करने के पूर्व मूल कारण की उचित व्यवस्था करना आवश्यक है। रोगी के मूर्च्छित होने पर चिकित्सा की समस्या जटिल हो जाती है। नाड़ी की गति, उदर का ताप, श्वसन गति तथा रक्त निपीड की परीक्षा तथा उसका आलेख प्रति आधे घण्टे पर करते रहना चाहिये।

श्वसन में अवरोध या श्यावास्यता आदि के लक्षण होने पर प्राण वायु का प्रयोग तथा रक्त की राशि के न्यून हो जाने के कारण उसकी पूर्ति के लिये रक्त की परीक्षा के द्वारा आवश्यकतानुसार रक्त या रक्त रस का प्रणिधान (Transfusion) कराना चाहिये। इसमें शुष्क मानवीय लसिका (Dried human serum) का प्रयोग अधिक उपयुक्त होता है। क्योंकि केशिकाओं के माध्यम से रक्त रस का ही निःस्यन्द इस व्याधि में होता है। कोषाओं में संचित रक्त रस को पुनः रक्त प्रवाह में आकृष्ट करने के लिये विशेष प्रकार के शक्तिमान पुनः संघटित लसिका (Reconstituted serum) सिरा मार्ग से ५ सी. सी. प्रति मिनट के वेग से आवश्यकतानुसार दी-जा सकती है।

रक्त वाहिनी निपात के उपचारक्रम में उत्तेजक ओषधियों का जो उल्लेख किया गया है, उनका आवश्यकता के अनुरूप स्तब्धता एवं निपात में भी प्रयोग किया जा सकता है। कार्टिन डोका या यूकार्टोन आदि का पेशी मार्ग से ६–८ घण्टे के अन्तर पर २–४ दिन प्रयोग कराते रहना आवश्यक होता है।

फुफ्फुस शोथ या फुफ्फुस पाक जनित निपात की शान्ति के लिए स्ट्रिकनीन १/६० ग्रेन की मात्रा में पेशी मार्ग से प्रति ४–५ घण्टे के अन्तर से ४–५ मात्रा दे सकते हैं। निम्नलिखित योग इस अवस्था में विशेष लाभ करता है।

वातनाशन	१/२ र०
मल्ल चन्द्रोदय	१ र०
शु० कुपीलु	१/२ र०
	१ मात्रा

आर्द्रक स्वरस तथा मधु के साथ। आवश्यकतानुसार ३–४ घण्टे के अन्तर पर देते रहना चाहिये।

वासो वेगल सिन्ड्रोम (Vaso vagal syndrome)

मानसिक असहिष्णुता के कारण श्वसन एवं वातनाड़ी संस्थान में असन्तुलन उत्पन्न होकर रक्त वाहिनियों का आकस्मिक विस्फार होने से हीन रक्त निपीड, मस्तिष्क गत रक्ताल्पता एवं मूर्च्छा का कष्ट उत्पन्न होता है।

भय, बीभत्स पदार्थों का देखना, दुर्गन्धित या विशेष प्रकार की अप्रिय गन्ध के द्वारा, रक्त को देखकर, अधिक ऊँचाई से नीचे देखने पर, स्तब्धता के कारण, शूल की तीव्र वेदना के त्रास के कारण तथा फुफ्फुसावरण, वृषण आदि सूक्ष्म संवेदनशील स्थानों में सांवेदनिक वातनाड़ियों के अग्रों के उत्तेजित होने से इस प्रकार का कष्ट उत्पन्न होता है।

इस प्रकार के कष्ट में हृदय या किसी अंग में कोई रचनात्मक विकृति नहीं होती। केवल स्वतंत्र वात नाड़ी संस्थान तथा सांवेदनिक वातनाड़ियों का कुछ काल के लिये क्षोभ या असन्तुलन के कारण यह अवस्था उत्पन्न होती है।

मूर्च्छितावस्था में मस्तक पर पानी के छींटे डालना, अमोनिया (Smelling salt) सुंघाना, बिजली लगाना (Galvanic current) आदि उपायों से चिकित्सा करनी चाहिये। रक्त निपीड की हीनता तथा मूर्च्छा की गम्भीरता होने पर एड्रिनेलिन (adrenalin 1 in 1000) ½ सी. सी. पेशी मार्ग से देना चाहिये। इसी में एफिड्रिन ½ ग्रेन मिला देने से प्रभाव अधिक काल तक रहता है। बहुत से रोगियों में अजीर्ण तथा विवन्ध के कारण आमाशय में संचित हुई वायु के ऊर्ध्वगामी होने पर हृदय पर दबाव पड़ने के कारण या प्राणदा नाड़ी के क्षोभ के कारण इस प्रकार की घबराहट, हीन रक्त निपीड एवं मस्तिष्क गत रक्ताल्पता के साथ मूर्च्छा की उत्पत्ति होती है। ऐसी अवस्था में विभक्त मात्रा में कैलोमेल निम्नलिखित क्रम से देना हितकर होता है। इससे व्याधि का पुनरावर्तन रोका जा सकता है।

(1) Calomel	gr 1/2
Menthol	gr 1/2
Sodium gardenol	gr 1/4
Soda bicarb	gr 5
Allisatin	1/2 tab
Activated charcoal	grs 3
	१ मात्रा

प्रति ४ घण्टे के अन्तर पर आवश्यकतानुसार २-३ दिन तक।

केन्द्रीय हृदयातिपात (Central heart failure)

दक्षिण हृदयातिपात (Right heart failure or congestive heart failure)-यह विकृति हृदय मांसपेशी (Myocardiam) की कार्यहीनता से उत्पन्न होती

है। आमवातिक हृद् रोग (Rheumatic heart disease), हृदय की कापाटिक विकृतियाँ (Valvular), विशेषकर द्विपत्रक संकोच (Mitral Stenosis), हृत्पेशी का अपजनन (Degeneration), हृत्पेशी में स्थायी स्वरूप की दुर्बलता उत्पन्न करने वाली विशिष्ट व्याधियाँ—रोहिणी (Diphtheria)-फुफ्फुस पाक (Pneumonia)-अंशुघात (Sunstroke)-इन्फ्लुयेञ्जा (Influenza)-उच्च रक्त निपीड़ (High blood pressure), जीर्ण कास के कारण फुफ्फुस की स्थायी विकृतियाँ—तन्तूत्कर्ष (Fibrosis), वातोत्फुल्लता (Emphysema) आदि, धमनी जरठता (Arteriosclerosis), थायराइड विषाक्तता जनित हृत्पेशी की विकृति (Myocordial degeneration due to thyrotoxicosis) आदि। विकृति का मूल कारण चाहे फुफ्फुस में या रक्तवाहिनी में हो, विकृति का प्रभाव अन्त में हृदय पर ही पड़ता है, जिससे यह अवस्था उत्पन्न होती है। हृदय में विकृति होने के कारण हृदय पूरे रक्त को रक्तप्रवाह में नहीं फेंक पाता तथा हृदय में कुछ रक्त संचित हो जाता है। इस संचय के कारण विलोम क्रम से रक्त का तनाव फुफ्फुस में बढ़ता जाता है। इसी प्रकार मूल विकृति फुफ्फुस में वातोत्फुल्लता या तन्तूकर्ष आदि होने पर हृदय के दक्षिण भाग पर बोझ पड़ता है, जिससे हृदय की धीरे-धीरे अभिस्तीर्णता होती जाती है और अन्त में हृत्पेशी की कार्यक्षमता नष्ट हो जाने के कारण महासिराओं तथा सम्बद्ध सिराओं की निपीड की वृद्धि होती है (Pressure in veins), सिराओं में अधिक तनाव होने के कारण कोषाओं के बाहर (Extracellular) जल तथा लवणांश का अधिक संचय होता है। जिससे यकृत की वृद्धि, अधोगामी शोथ—शरीर के निचले भाग से शोथ का प्रारम्भ होता है, श्वास कृच्छ्र आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। संक्षेप में इस पार्श्व की विकृति होने पर श्वास कृच्छ्र, यकृत की वेदना पूर्ण वृद्धि (Tender enlargement of liver), शरीर भार की आकस्मिक रूप में वृद्धि, अधोशाखाओं से धीरे-धीरे ऊपर बढ़ने वाला शोथ आदि लक्षण प्रमुख होते हैं।

व्याधि की प्रकृतिका सही मूल्यांकन, शोफ की व्यापकता, हृदय के आकार की वृद्धि, रक्त निपीड़ विशेषकर सिराओं के निपीड़ की अधिकता, सिराओं की तनावपूर्ण स्थिति तथा शरीर भार की वृद्धि आदि से होता है।

चिकित्सा—हृदय विकृतिकारक मूल व्याधि की साध्यता पर इसकी साध्यता निर्भर करती है। द्विपत्रक संकोच, तन्तूत्कर्ष, फुफ्फुस की वातोत्फुल्लता आदि तथा हृत्पेशी का अपजनन असाध्य स्वरूप की विकृतियाँ मानी जाती हैं।

नियमित विश्राम, सन्तुलित आहार, लवण और स्नेहांश का अल्प प्रयोग, पर्याप्त निद्रा तथा मलमूत्र का उचित शोधन होते रहने पर हृदय की शक्ति का अपव्यय नहीं होता और व्याधि की प्रगति अवरुद्ध हो सकती है।

रोगी के आहार में दूध के सेवन का विशेष महत्त्व इस व्याधि में होता है। स्नेहांश विरहित या अल्प स्नेहांश युक्त दुग्ध पर कुछ काल तक रहने से सर्वाधिक लाभ होता है। रोगी के वय एवं पाचन शक्ति के अनुपात में १-५ सेर तक दूध पिलाया जा सकता है। यदि दूध में पकते समय अर्जुन की छाल या पत्तो और पुष्कर मूल, कूठ, नागवला में किसी को डाल क्षीरपाक विधि से पका कर लें तो अधिक हितकर होता है। जीवतिक्ति बी, जीवतिक्ति सी का मुख्य प्रभाव इस अवस्था में होने के कारण आंवला, संतरा, अंगूर, सेव, अनार आदि का यथोपलब्धि प्रयोग करना चाहिए। आवश्यक होने पर जीवतिक्तियों का औषध रूप में प्रयोग करना चाहिये। हृद्रोग में विश्राम का सर्वाधिक महत्त्व है। उतना श्रम करना चाहिए, जिससे श्वासकृच्छ्र न हो; रोगी को कम से कम १० घण्टा रात्रि में, भोजन के बाद २ घण्टा दिन में, विश्राम करना चाहिये। लेटने से श्वास कृच्छ्र होने पर अर्धोपविष्टासन में, विश्राम कराना चाहिये। हृदय की शक्ति-वृद्धि के लिए मनोबल की आवश्यकता होती है। रोगी को आश्वस्त करना तथा उसके उत्साह को बनाये रखना आवश्यक है।

इसमें सोडियम आयन (Sodium ion) का निषेध है, किन्तु अत्यल्प मात्रा में बीच-बीच में सोडियम का अंश देते रहने से रक्त का कार्य सुचारु रूप से चलता रहता है। सोडियम तथा पोटासियम का संतुलन रखना चाहिए। सोडियम न देने पर पोटासियम लवणों का प्रयोग करने से शरीर की क्रिया स्वाभाविक रूप से चलती रहती है। लवण की मात्रा १८-२० ग्रेन से अधिक न होनी चाहिये। मूत्र मार्ग से शुक्लि के पर्याप्त मात्रा में निकल जाने पर शुक्लि की पूर्ति के लिए छेना या अण्डा के रूप में या पूर्वपाचित प्रोभूजिनों का सेवन कराया जा सकता है।

दक्षिण हृदयातिपात की चिकित्सा में निम्नलिखित चार उपक्रमों की प्रमुखता होती है।

(१) हृद्य या हृदय को उत्तेजना देकर हृदय के संकोच एवं विस्फार को बलवान एवं नियमित करने वाले द्रव्यों का प्रयोग—इस वर्ग की औषधियों में डिजिटेलिस या उसके सत्त्व की प्रधानता है।

(२) शिराओं में संचित रक्त को रक्तप्रवाह में प्रेरित करना।

(३) शरीर की कोषाओं में संचित हुए द्रवांश का मूत्रल योगों के प्रयोग से शोधन कराना।

(४) इस उपद्रव के लिये अनुमित मूल कारण की आवश्यक व्यवस्था करना।

डिजिटैलिस, मूत्रल ओषधियाँ, कोष्ट शोधक ओषधियाँ, आवश्यक होने पर रक्त मोक्षण तथा प्राणवायु का उपयोग इस अवस्था की चिकित्सा का मूल आधार होता है।

डिजिटैलिस के प्रयोग से हृदय निलय (Ventricles) का संकोच नियमित, बलवान तथा दीर्घकालीन होता है। इस विशेषता के कारण डिजिटैलिस के प्रयोग से

दक्षिण हृदयातिपात में विशेष लाभ होता है। बलवान संकोच होने के कारण शरीर का रक्ताधिक्य (Congestion) दूर होकर नाड़ी मन्द तथा वृक्कों के कार्य की उत्तेजना के कारण मूत्र पर्याप्त मात्रा में उत्सर्गित होता है। रक्त निपीड़ हीन या उच्च होने पर इसके प्रयोग से होने वाले लाभ में कोई अन्तर नहीं होता। इसके प्रभाव का परिज्ञान मूत्रराशि की वृद्धि, शरीर भार की गिरावट तथा फुफ्फुस एवं यकृत में रक्ताधिक्य के कारण उत्पन्न हुई विकृतियों का शमन, हृदयजन्य श्वास आदि के शमन से होता है।

प्रवाही सत्त्व या चूर्ण की अपेक्षा इसका विशिष्ट सत्त्व डिजाक्सीन (Digoxin) विशेष कार्यक्षम होता है। प्रवाही सत्त्व कुछ काल तक रखने या पानी में मिलाकर देने के बाद बहुत शीघ्र हीन वीर्य होने लगते हैं तथा हृल्लास, वमन आदि का उपद्रव अधिक मिलता है। इसलिए व्याधि की तीव्रावस्था में सामान्यतया डिजाक्सीन का ही व्यवहार उचित होता है। मुख द्वारा इसका प्रयोग पूर्ण कार्यक्षम होता है। आत्ययिक स्थिति में आशु परिणाम के लिए शिरा या पेशी मार्ग से सूचीवेध भी किया जा सकता है। यह संचायी स्वरूप की ओषधि है, इसलिए प्रारम्भिक २-३ दिन आवश्यकतानुसार दिन में ३-४ बार देने के बाद, नाड़ी की मन्दता, मूत्र की वृद्धि एवं शरीर भार के ह्रास के आधार पर इसके आरम्भिक प्रभाव का अनुमान करके धारक (Maintainance) मात्रा निर्धारित करनी चाहिये और यही धारक मात्रा कुछ काल तक देते रहना चाहिए। दक्षिण हृत् निपात में डिजाक्सिन की धारक मात्रा की आवश्यकता प्रायः यावज्जीवन पड़ती है। इसका पूर्ण प्रभाव होने पर हृदयमन्दता, शोथ एवं श्वास कृच्छ्र में कमी, मूत्रराशि की वृद्धि, हृदय तथा शिराओं का विस्फार उत्तरोत्तर न्यून होता जाता है तथा रक्त संचार का समय—जो दक्षिण हृदय निपात की अवस्था में काफी बढ़ जाया करता है—धीरे-धीरे स्वाभाविक क्रम में आ जाता है।

डिजिटैलिस की कार्यक्षम मात्रा तथा विषाक्त मात्रा में बहुत अन्तर नहीं होता। साधारण मात्रा में ही अरोचक, शिरः शूल, हृल्लास, वमन आदि विषाक्त परिणाम होने पर इसके साथ में आमाशय शामक ओषधियों का प्रयोग करने से इन लक्षणों का प्रायः उपशम हो जाता है। निम्नलिखित योग विषाक्त परिणामों के प्रतिबन्ध या उपचार के लिए डिजाक्सिन के साथ दिया जा सकता है।

Digoxin	1 tab.
Alludrox	1 tab.
Siquil	10 mg
Pyridoxin	10 mg
	१ मात्रा

आवश्यकतानुसार ३ या ४ बार।

कुछ रोगियों में सहज असात्म्यता के कारण Digoxin के विषाक्त परिणाम हृल्लास, वमन, शिरःशूल, उदर शूल आदि लक्षण शीघ्र उत्पन्न हो जाने के कारण इसका प्रयोग बन्द कर देना पड़ता है।

डिजाक्सिन के स्थान पर ऐसी अवस्था में स्ट्रोफैन्थिन का प्रयोग करना पड़ता है। यह उग्र स्वरूप की ओषधि है। जिस रोगी को डिंजाक्सिन का सेवन कराया गया हो उसमें स्ट्रोफैन्थिन के प्रयोग से हृदयावरोध आदि अनेक उपद्रव पैदा हो सकते हैं। डिजाक्सिन का प्रयोग बन्द करने के १०-१५ दिन बाद ही स्ट्रोफैन्थिन का प्रयोग किया जा सकता है। स्ट्रोफैन्थिन का प्रभाव सूचीवेध के द्वारा प्रयोग करने पर उचित रूप में होता है। डिजक्सिन के अनुकूल न होने या स्ट्रोफैन्थिन का प्रयोग संभव न होने पर सेडिलेनिड (Cedilanid) का प्रयोग मुख या शिरा या पेशी मार्ग से कराया जा सकता है। सेडिलेनिड से डिजिटैलिस के विषाक्त परिणाम बहुत कम होते हैं तथा अनेक असहिष्णु प्रकृति के व्यक्तियों में भी यह अनुकूल होती है।

डिजिटैलिस का प्रभाव उत्तम न होने अथवा किसी कारण डिजिटैलिस तथा स्ट्रोफैन्थिन का प्रयोग सम्भव न होने पर सिल्लरेन (Scilleren) का प्रयोग दक्षिण हृदयातिपात में किया जाता है। यह हृदय विस्फार एवं शोफ आदि लक्षणों को अपने मूत्रल विशिष्ट गुण के कारण शीघ्र शान्ति करती है। वृद्ध एवं सुकुमार प्रकृति के व्यक्तियों में इससे अधिक अनुकूलता मिलती है।

एमिनोफाइलिन या इसी वर्ग की किसी ओषधि का प्रयोग करने पर हृदय धमनी, फौफ्फुसीय रक्त वाहिनियों तथा वृक्क धमनियों का विस्फार एवं श्वसनिकाओं के अवरोध का शमन होता है; जिससे हृदय, फुफ्फुस तथा वृक्क को अधिक रक्तराशि मिलने के कारण इन अंगों की कार्यक्षमता बढ़ जाती है और श्वसनिकाओं का अवरोध दूर होने से श्वासकृच्छ्र का प्रशम होता है। दक्षिण हृदयातिपात के जिन रोगियों में प्रावेगिक श्वासकृच्छ्र (Paroxysmal dyspnoea) या रात्रि के तृतीय प्रहर में श्वासावरोध या वातिककास का उपद्रव होता है, उनमें इस वर्ग की ओषधियों से विशेष लाभ होता है। इसका प्रयोग १½ ग्रेन की मात्रा में दिन में ३-४ बार या ३ ग्रेन की मात्रा में पेशी मार्ग से अथवा ·०२५ ग्राम का घोल शिरा मार्ग से दिया जा सकता है।

इसी के समान गुणकारी इसी वर्ग की दूसरी ओषधि डायुरेटिन (Diuretin)-कैल्सियम डायुरेटिन (Calcium diuretin), थियोब्रोमिन (Thiobromin) आदि हैं, जिनका प्रयोग मुख द्वारा ७½ ग्रेन की मात्रा में ३-४ बार दिन में किया जाता है। इससे मूत्र की राशि पर्याप्त मात्रा में बढ़ती है तथा श्वासकृच्छ्र में भी पर्याप्त लाभ होता है।

डिजाक्सिन के समान एमिनोफाइलिन द्वारा भी कभी कभी हृल्लास, अरोचक, वमन, शिरः शूल आदि का कष्ट मिला करता है। इस प्रकार के विषाक्त परिणाम सिरा द्वारा देने पर बहुत कम होते हैं। एमिनोफाइलिन का विशिष्ट प्रभाव सिरा द्वारा देने से ही होता है, अतः प्रारम्भ में ५-६ सूचीवेध सिरा मार्ग से देने के बाद तब मुख द्वारा औषधि का सेवन कराना चाहिये।

डिजाक्सिन के साथ मूत्रल औषधियों के प्रयोग की इस विकार में सर्वाधिक महत्ता होती है। मूत्रल औषधियों के कारण शरीर में संचित जलीयांश शीघ्र मूत्र द्वारा उत्सर्गित हो जाता है तथा शोथ एवं सिराओं के विस्फार के दूर होने पर हृदय का कार्य भी स्वतः सुधरने लगता है। पहले मूत्रल कार्य के लिये पारद के विशिष्ट मूत्रल लवणों का, नेप्टाल (Neptol), मर्सैलिल (Mersalyl), थायोमेरिन (Thiomerin), सैलिर्गान (Salyrgon) आदि में किसी का सप्ताह में २-३ बार पेशी या अधस्त्वक् मार्ग से अधिक प्रयोग किया जाता रहा है। अब पारद के लवणों की अपेक्षा अधिक निरापद औषधियों का अनुसन्धान हो जाने के कारण पारद के योगों का प्रयोग कम होता जा रहा है। नवीन मूत्रल औषधियों डायमाक्स (Diamox) क्लोट्राइड (Chlotriad) एसिड्रेक्स (Esidrex) नेक्लेक्स (Naclex) एप्रिनाक्स (Aprinox) आदि का उचित मात्रा में मुख द्वारा प्रयोग किया जाता है। दक्षिण हृदयातिपात से पीडित जीर्ण रोगियों में पुनर्नवा के प्रयोग से विशेष लाभ देखा गया है। पुनर्नवा का प्रसिद्ध योग पुनर्नवाष्टक कषाय का प्रयोग करने से मल-मूत्र का शोधन, हृदय को उत्तेजना तथा श्वास आदि लक्षणों का उपशम होता है।

श्वासकृच्छ्र अधिक होने पर या हृच्छूल, छिन्नश्वास (Chyne stroke respiration), श्यावास्यता, फौफ्फुसीय रक्ताधिक्य आदि का उपद्रव होने पर दक्षिण हृदयातिपात से पीड़ित रोगियों में प्राणवायु प्रविधान का विशेष महत्त्व होता है। कुछ काल तक—४० से ६० मिनट तक—प्राण वायु का प्रयोग कराने के बाद १-२ घण्टे का व्यवधान देना चाहिये। व्याधि की तीव्रावस्था में निरन्तर प्रयोग कराते रहने पर भी कोई हानि नहीं। पूर्ण निरापद व्यवस्था होने के नाते उपलब्ध होने पर आक्सीजन का प्रयोग अवश्य कराना चाहिये।

बेचैनी या अनिद्रा आदि का अधिक कष्ट होने पर अहिफेन या तत्सम योग पेथिडिन आदि का मुख या पेशी मार्ग से अल्प काल के लिये प्रयोग कराया जा सकता है। सामान्य रोगियों में सोडियम गार्डेनाल सरीखे मृदु शामक औषधियों के प्रयोग से लाभ हो जाता है। अहिफेन के योगों से बहुत जल्दी आदत पड़ जाती है, इस लिये यथाशक्ति दूसरी शामक औषधियों का व्यवहार करना ही उत्तम होता है।

इस प्रकार दक्षिण हृदयातिपात में प्रयुक्त होने वाली प्रमुख औषधियों का विशिष्ट क्रियाक्रम ऊपर निर्दिष्ट किया गया। यहाँ पर श्वासकृच्छ्र शोथ, यकृत् वृद्धि, सिरा

आनद्धता आदि लक्षणों से युक्त रोगी के लिये प्रयुक्त होने वाली ओषधियों का क्रम प्रदर्शित किया जा रहा है।

1.	Digoxin	1 tab.
	Berin	10 mg
	Alludrox	1/2 tab
	Sodiumgardenol	gr 1/4
		१ मात्रा

दिन में ३ बार ४ दिन तक। बाद में २ बार ३ दिन तक और इसके बाद एक मात्रा प्रतिदिन कुछ काल तक। औसतन ३-४ दिन बाद मूत्र की वृद्धि तथा दूसरे कष्टकारक लक्षणों का शमन होने लगता है। वृद्ध रोगियों में डिजाक्सिन के स्थान पर सेडिलैनिड और सिलरेन मिलाकर देना चाहिये।

२. Inj. Aminophyllin ·25 gm in 10 cc. को १२½ प्रतिशत तथा १०-२० सीसी ग्लूकोज का घोल मिला कर सिरा द्वारा धीरे-धीरे देना। ६ सूचीवेध प्रतिदिन देने के बाद ४ सूची वेध एकान्तरिक देना चाहिये।

३. Neo Naclex. या Aprinox. १ टिकिया प्रातः काल ८ बजे ४ दिन तक देने के बाद केवल सप्ताह में १ गोली देने से मूत्रोत्सर्ग पर्याप्त मात्रा में हो जाता है।

४. Medomin १ गोली तथा Meprobamate या Siquil 10 mg की १ टिकिया रात में सोते समय निद्रा संजनन के लिए देना चाहिये। हृदय के रोगियों में १०-१२ घण्टे निद्रा की आवश्यकता अनिवार्य रूप में होती है। इन ओषधियों के प्रयोग से तन्द्रा एवं स्वप्न रहित गम्भीर निद्रा ८-१० घण्टे के लिए आ सकती है।

आक्सीजन का प्रयोग सम्भव होने पर दिन में २-३ बार देने के अलावा रात में सोने के पूर्व १ घण्टे तक अवश्य देना चाहिये। इससे रात्रि के अन्तिम प्रहर में श्वास-कृच्छ्र एवं कास आदि के होने की सम्भावना नहीं होती।

मल की शुद्धि के लिए बीच-बीच में Pulv glycerrhiza या किसी मृदु शोधक औषध का सेवन कराया जा सकता है। हृदय रोगियों को आरोग्य वर्धिनी का सेवन रात में सोते समय दूध के साथ लेने से कोष्ठ शुद्धि के लिए बड़ा हितकर होता है। इसमें कुटकी, गुग्गुल, शिलाजतु, लौह एवं ताम्र भस्म का योग होने के कारण यह हृद्य, यकृतशोधक, बलकारक, वातनाशक तथा धातुपोषक होती है। दीर्घ काल तक इसका प्रयोग करने से यकृत एवं कोष्ठ का शोधन तथा हृदय की बलवृद्धि होती है।

जीर्ण रोगियों में अथवा डिजाक्सिन-सेडिलेनिड आदि का प्रयोग सात्म्य या व्यवहार्य न होने पर निम्नलिखित चिकित्सा-क्रम से सन्तोषजनक परिणाम उपलब्ध हुए हैं। रोगी को यथाशक्ति दुग्ध आहार पर रखना चाहिए। लवण का पूर्ण परित्याग कराते हुए जल का सेवन भी बहुत मर्यादित रूप से कराना चाहिए। दूध पर पूरी रुचि

न होने पर बीच-बीच में छेना, मुनक्का, सेव, अनार, संतरा, मुसम्मी आदि फल का प्रयोग कराया जा सकता है।

१.	हृद्यार्णव	१ र०
	प्रभाकर वटी	१ र०
	चिन्तामणि चतुर्मुख	½ र०
	पुनर्नवा मण्डूर	२ र०
	शोथारि लौह	१ र०
		१ मात्रा

पुनर्नवा स्वरस व मधु के साथ दिन में २ बार।

२.	आरोग्य वर्धिनी वटी	४ र०
		१ मात्रा

प्रातःकाल ९ बजे पुनर्नवाष्टक कषाय के साथ, रात में ९ बजे दूध के साथ।

शिवागुटिका २-४ मा० की मात्रा में सायंकाल एक समय दूध में घोलकर देना चाहिए। हृदय, वृक्क, यकृत आदि अंगों की जीवनीय शक्ति एवं कार्यक्षमता बढ़ाने के लिए यह एक उत्तम रसायन औषधि मानी जाती है। इसमें अन्य वानस्पतिक औषधियों के अतिरिक्त शिलाजतु की प्रधानता होती है।

अर्जुन, पुष्कर मूल, कूठ नागवला, शतावरी आदि हृद्य औषधियों से क्षीर पाक विधि से दूध का संस्कार कर सेवन कराने से विशेष लाभ होने की सम्भावना होती है।

जीवतिक्ति बी$_1$, बी काम्प्लेक्स तथा सी की आवश्यकता इस अवस्था में पर्याप्त रूप से पड़ती है। इनकी पूर्ति के लिए Becosules या B Complex fort तथा Redox anforte की एक-एक टिकिया नित्य देनी चाहिए। पूर्व पाचित प्रोभूजिनों के योग Protinules, protinex, ledinac या hydroprotein आदि में किसी का आवश्यक मात्रा में प्रयोग करने से बल संजनन तथा कोषाओं की अभिवृद्धि होती है।

हृदयातिपात के लक्षणों के पूरी तरह शान्त हो जाने पर भी रोगी को परिश्रम करने में सावधानी रखनी चाहिए। सीढ़ी चढ़ना, तैरना, बोझा उठाना, दौड़ना आदि शारीरिक आयासकर तथा क्रोध चिन्ता आदि मानसिक विषमताओं से पर्याप्त काल तक बचाव रखना चाहिए। सामान्य चलने-फिरने पर श्वासकृच्छ्र आदि का कष्ट न होने पर श्रम की मात्रा धीरे-धीरे बढ़ाई जा सकती है। व्याधि के पुनरावर्तन निरोध के लिए आहार में लवण का सीमित प्रयोग तथा रात्रि में ८-१० घण्टे की पूर्ण निद्रा का सर्वाधिक महत्त्व होता है।

वाम हृदयातिपात—इस अवस्था का प्रधान लक्षण श्वासकृच्छ्र है। जिस प्रकार दक्षिण हृदयातिपात में सिराओं की आनद्धता एवं शोथ, यकृत् वृद्धि का महत्त्व होता

है। उसी प्रकार वाम हृदयातिपात में श्वासकृच्छ्र की प्रधानता होती है। इस प्रकार की अवस्था प्रायः उच्चरक्तनिपीड, धमनी जरठता तथा फिरंगज रक्त दाहिनी विकृति के कारण उत्पन्न होती है। महाधमनी या हृदय धमनी में श्रम के अनुरूप रक्तसंचार की सुविधा न रहने के कारण थोड़ा श्रम करने से श्वासकृच्छ्र बढ़ जाता है। भोजन के बाद चलने, झुकने और सीढ़ी चढ़ने आदि की क्रियाओं में रोगी को अधिक असुविधा होती है। कभी-कभी श्वासकृच्छ्र के अत्यन्त तीव्र स्वरूप के प्रावेगिक आक्रमण मध्य रात्रि में होते हैं। रोगी निद्रा के पूर्व प्रायः स्वस्थ रहता है। सोने के १-१॥ घण्टे बाद तीव्र श्वसन, हृदयावरोध और बेचैनी आदि के लक्षणों के साथ उसकी निद्रा भंग हो जाती है। बैठने से श्वासकृच्छ्र में लाभ होता है। तीव्र स्वरूप के आक्रमणों में श्यावास्यता, प्रस्वेद, त्वरित नाड़ी एवं मृत्यु की विभीषिका के कारण रोगी अधिक चिन्तित तथा क्लान्त सा हो जाता है। कुछ समय के बाद-श्वास वेग का स्वतः प्रशम हो सकता है।

किन्तु इस प्रकार के आक्रमणों से रोगी अधिक क्षीण तथा बलहीन होता जाता है। इन आक्रमणों के बाद में फौफ्फुसीय शोथ (Pulmonary oedema) का उपद्रव उत्पन्न होने लगता है। फौफ्फुसीय रक्तप्रवाह में उच्च रक्त निपीड होने के कारण फौफ्फुसीय शोथ की उत्पत्ति होती है। फौफ्फुसीय शोथ वामहृदयातिपात का प्रमुख लक्षण माना जाता है। इससे फुफ्फुस की प्राणवायु ग्रहण-शक्ति कम हो जाती है तथा फुफ्फुस में रक्त संचार का समय (Circulation time) बढ़ जाता है।

गम्भीर स्वरूप के आक्रमणों में वाम हृदयातिपात के साथ दक्षिण हृदय का भी अतिपात होता है। ऐसी अवस्था में फुफ्फुस की प्राण-ग्रहणशक्ति अत्यधिक क्षीण, रक्त प्रवाह काल की वृद्धि, सिराओं के रक्तनिपीड में वृद्धि, फुफ्फुस के निचले भाग में जलीयांश का संचय होने के कारण आर्द्र ध्वनियों (Basic rales) की उत्पत्ति एवं श्वासकृच्छ्र की अधिकता के कारण रोगी को लेटने व बैठने में कष्ट होता है। रोगी शय्या के किनारे बैठे हुये पैर लटका कर आगे रक्खी कुर्सी पर सिर झुका कर रहने में अधिक शान्ति का अनुभव करता है। पादशोफ, यकृत् वृद्धि आदि का प्रारम्भ होने के बाद कुछ दिनों तक यह कष्ट सुबह उठने पर कम हो जाते हैं। व्याधि की तीव्रता के साथ इनका कष्ट भी बढ़ता जाता है। रोगी की आकृति श्याम वर्ण की एवं फूली हुई, नेत्र रक्ताभ तथा बाहर निकले हुये, ओठ नीलाभ तथा मोटे, लटके हुये, ग्रीवा की सिरायें उभड़ी हुई—क्वचित् स्पन्दनयुक्त, यकृत् बढ़ा हुआ तथा वेदनायुक्त, उदर एवं फुफ्फुसावरण एवं वृषणों में जलीयांश के संचय की प्रवृत्ति, अधोशाखाओं में शोथ की अधिकता के कारण शैत्य एवं गुरुता का अनुभव आदि लक्षण इस अवस्था में उत्पन्न होते हैं।

चिकित्सा—वाम हृदयातिपात की ओषधियों में एमोनोफाइलिन तथा अहिफेन वर्ग की ओषधियों की प्रधानता है।

श्वासकृच्छ्र के वेग के समय एमीनोफाइलिन (Aminophylline ·25 mg) सिरा मार्ग द्वारा बहुत धीरे-धीरे देना चाहिये।

हृदय रक्त वाहिनियों को विस्फारित करने के लिये, विशेषकर रक्तनिपीड के उच्च रहने पर, नाइट्रोग्लिसरीन (Tab. Trinitrini 1/200. to 1/100) की टिकिया जिह्वा के नीचे रखना चाहिये। गोली को चूसना या निगलना नहीं चाहिये। इससे प्रायः ५ मिनट के भीतर हृदय की रक्तवाहिनी का विस्फार हो जाने से श्वासकृच्छ्र का सद्यः शमन हो जाता है। प्रावेगिक श्वासकृच्छ्र से पीड़ित इस वर्ग के रोगियों में परिश्रम कार्य करने के पूर्व तथा श्वास का वेग प्रारम्भ होने के पूर्व इस औषध के प्रयोग का स्पष्ट निर्देश करना चाहिये। आवेग के समय तथा प्रावेगिक श्वासकृच्छ्र आते रहने पर प्राणवायु का प्रयोग करने से तात्कालिक शान्ति मिलती है। रात्रि में सोने के पूर्व ½ घण्टे तक प्राणवायु का प्रयोग कराने से श्वासकृच्छ्र के पुनरावर्तन की सम्भावना कम हो जाती है।

हृदय प्रदेश में वेदना या घबराहट का कष्ट अधिक होने पर Morphine gr. 1/4 या Pethidine 100 mg या Papaverine gr 1/6 से 1/3 तक या तत्सम किसी वेदनाहर ओषधि का उचित मात्रा में अधस्त्वक मार्ग से सूचीवेध करना चाहिये।

फौफ्फुसीय शोथ का अनुमान होने पर Atropin sulphate gr 1/100–1/60 की मात्रा में अधस्त्वक् रूप से स्वतंत्र रूप में या मार्फिन के साथ मिलाकर देना चाहिये। फौफ्फुसीय शोथ के कारण श्वासकृच्छ्र की उग्रता अधिक होने पर सिरावेध द्वारा २००-३०० सी. सी. की मात्रा में रक्तमोक्ष कराना बहुत हितकर होता है।

दक्षिण हृदयातिपात के लक्षणों के साथ में उपस्थित रहने पर Digoxin को सिरा या पेशी मार्ग से उचित व्यवस्था के साथ प्रयुक्त कराना चाहिये। स्ट्रोफैन्थिन (Strophanthin) का प्रयोग 1/250 से 1/100 ग्रेन की मात्रा में २५ प्रतिशत २५ सी. सी. ग्लूकोज में मिलाकर सिरा मार्ग से Digoxin के स्थान में तात्कालिक प्रभाव की उपलब्धि के लिये किया जा सकता है। उच्चरक्तनिपीड की शान्ति के लिये सर्पासिल (Serpacil) सूचीवेध या मुख मार्ग से देना चाहिये। किन्तु रक्तनिपीड की मात्रा अपनी उच्चतम मर्यादा से बहुत निम्न स्तर पर लाने की चेष्टा न करनी चाहिये।

व्यावहारिक दृष्टि से व्याधि की तीव्रावस्था में एमिनोफाइलिन का सिरा मार्ग से प्रयोग, रक्तमोक्षण, प्राण वायु का प्रयोग तथा वेदना स्थापक वर्ग की ओषधियों का उचित प्रयोग मुख्य रूप से हितकर होता है। उच्च रक्त निपीड, फौफ्फुसीय शोथ, दक्षिण हृदयातिपात, हृत्शूल आदि उपद्रवों का आवश्यकतानुसार पूर्वनिर्दिष्ट क्रम से उपचार करना चाहिए।

आमाशय में संचित वायु एवं संचित मल के कारण इस प्रकार का कष्ट अधिक होता है। वायु अनुलोमन तथा मल के शोधन के लिए निम्नलिखित योग देना चाहिए।

Activated charcoal	grs 5
Allisatin	tab 1/2
Menthol	gr 1
Takadiastase	grs 5
Asafoeteda	grs 2
Sodabicarb	grs 10
	१ मात्रा

गोली या चूर्ण के रूप में गरम जल के साथ आवश्यकतानुसार २-३ घण्टे के अन्तर पर ३-४ मात्रा देनी चाहिये।

बेचैनी, दुश्चिन्ता तथा भय के कारण निद्रा की कमी इस व्याधि से आक्रान्त होने पर रोगियों में अक्सर मिलती है। इसलिए रात्रि में किसी न किसी निद्राकर ओषधि का उपयोग कराना आवश्यक होता है। हृदय की व्याधियों में शान्त प्रगाढ़ निद्रा का ओषधि चिकित्सा की अपेक्षा अधिक महत्त्व होता है। Phenobarbiton या Gardinol वर्ग की ओषधियों से विशेष लाभ नहीं होता तथा क्लोरलहाइड्रेट एवं ब्रोमाइड का प्रयोग हितकर नहीं माना जाता। डोरिडेन (Doriden), मेडोमिन (Medomin), सानेरिल (Soneryl) आदि सामान्य श्रेणी की निद्राकर ओषधियों के साथ Meprobamate वर्ग की ओषधि मिलाकर देने से ठीक निद्रा आ जाती है। इससे लाभ न होने पर पैरेल्डिहाइड ५ सी० सी० की मात्रा में सूचीवेध से अथवा २ ड्राम की मात्रा में ग्लिसरीन या स्टार्च के साथ मिलाकर अनुवासन बस्ति के रूप में गुदा द्वारा सोने के पूर्व देना चाहिये।

निद्राकर एवं वेदना शामक गुण की दृष्टि से अहिफेन के योग हृदय के रोगियों के लिये सर्वोत्तम होते हैं। किन्तु उनसे आदत पड़ जाने की अधिक सम्भावना होती है, इसलिये अनिवार्य होने पर ही इनका प्रयोग करना चाहिये।

आक्रमण की तीव्रावस्था का प्रशम हो जाने के बाद पुनरावर्तन-निरोध की दृष्टि से मूल कारण की चिकित्सा करनी चाहिये। फिरंगज विकृतियों का सन्देह होने पर पेनिसिलीन-बिस्मथ एवं आयोडाइड आदि का प्रयोग, उच्च रक्तनिपीड की कारणता होने पर उसका उचित उपचार तथा धमनी जरठता एवं अवटुका ग्रन्थि (Thyroid) की विकृतियों का अनुमान होने पर इन व्याधियों का विशेष उपचार करना चाहिये। रोगी के स्थूल होने पर मेदोवृद्धि के शमन के लिये मेदोहर ओषधियाँ तथा आहार में स्नेहांश एवं कार्बोज की मात्रा अल्पतम देनी चाहिये। भोजन में लवण के निषेध का उल्लेख पहले किया जा चुका है। रोगी का सायंकालीन भोजन सूर्यास्त के पहले तथा

अर्ध मात्रा में होना चाहिये। शक्ति के भीतर मर्यादित रूप स्वल्प व्यायाम करने से हृत्पेशी को बल मिलता तथा रक्तवाहिनियों को सामर्थ्य-वृद्धि होती है। इस दृष्टि से प्रातः काल भ्रमण अधिक हितकर होता है।

बहुत से रोगियों में इस प्रकार की हृदय रक्त धमनियों की विकृति का कारण पौरुषग्रन्थि सत्त्व (Testicular hormones) की कमी होती है। रक्तभार बहुत अधिक न होने पर टेस्टोस्टेरान प्रोपियोनेट (Testosteron propionate) के १० से २५ मि० ग्रा० की मात्रा में पेशी मार्ग से २-३ दिन के अन्तर से १०-१५ सूचीवेध देने चाहिये। जीवतिक्ति A. तथा E. के योग (Rovigon-Roche) का सेवन कुछ काल तक करने से धमनी जरठता तथा रक्तवाहिनियों की अन्तस्त्वचा (Entima) के अपजनन में लाभ होता है। इसी प्रकार लाइपोट्रोपिक वर्ग (Lipotropic) की ओषधियों (Meonin, neomethidin, litrisan, lypovit etc) का दीर्घकाल तक सेवन करने से रक्तवाहिनी की विकृतियों में कुछ लाभ हो सकता है।

निम्नलिखित योग पुनरावर्तन-निरोध की दृष्टि से लाभकर सिद्ध हुआ है—

(१) जवाहर मोहरा	१ र०
प्रभाकर वटी	"
प्रवाल पञ्चामृत	"
अकीकपिष्टि	"
	१ मात्रा

प्रातः-सायं अर्जुन की छाल तथा अश्वगन्धा का चूर्ण मिलाकर मधु के साथ।

(२) मंगलोदया वटी २ र०—१ मात्रा, सोने के १ घण्टा पूर्व जल से।
(इसमें अहिफेन-गुग्गुलु तथा कर्पूर है)

(३) आरोग्यवर्धिनी ४ र०—१ मात्रा, सोते समय जल के साथ।

बीच-बीच में श्वासकृच्छ्र का आक्रमण तथा चलने में श्वासकृच्छ्र का अनुभव होते रहने पर निम्नलिखित व्यवस्था करानी चाहिये।

Sedocordial or Viscordin or Khellin tab. को एक दिन में २ या ३ बार आवश्यकतानुसार देना चाहिये।

कोराल्जिल (Coralgel) या कार्निजेन (Cornigen) आदि हृद्य ओषधियों का प्रयोग इस अवस्था में लाभकर होता है। आवश्यकतानुसार स्वतन्त्र रूप से या दूसरी ओषधियों के साथ में इनका सेवन कराया जा सकता है।

हृदय का विस्फार अधिक होने पर मूल ओषधियों के प्रयोग से पुनरावर्तन

निरोध में विशेष लाभ होता है। Neo-naclex, Aprinox या Esidrex आदि पारदरहित किसी मूत्रल ओषधि का सप्ताह में २-४ दिन तक उचित मात्रा में प्रयोग कराना चाहिये। ४-६ दिन के विराम के अनन्तर इनका पुनः प्रयोग आवश्यकतानुसार कुछ समय तक करते रहना चाहिये।

मूत्रकृच्छ्र (Dysuria)

मूत्रकृच्छ्र में मूत्रपरित्याग करते समय दाह या पीड़ा का अनुभव होता है। मूत्राशय या मूत्रवह स्रोत के विकारों में तथा मूत्र की प्रतिक्रिया अत्यधिक अम्ल होने के कारण या मूत्र की सापेक्ष्य गुरुता के कारण इस प्रकार का कष्ट होता है।

मूत्रवहस्रोत या मूत्राशय में शोथमूलक औपसर्गिक विकारों का अनुमान होने पर उपसर्ग नाशक विशिष्ट ओषधियों का प्रयोग कराना चाहिये। मूत्र की प्रतिक्रिया अधिक अम्ल होने पर आहार से अम्लोत्पादक दाल एवं मांस आदि पदार्थों का परित्याग तथा क्षारयुक्त तरल का अधिक मात्रा में सेवन कराना चाहिये। मूत्राशय या बस्ति में अधिक क्षोभ होने पर स्थानीय संज्ञाहर नोवोकेन (Novocain 1 in 1000) या मेथिकेन (Methycaine) अथवा एनिथेन (Anethaine 1 in 500) को ५ से १० सी० सी० की मात्रा में पूर्ण विसंक्रमित (Sterlised) पद्धति से रबर की मूत्र शलाका द्वारा मूत्राशय एवं मूत्रवह स्रोत में प्रवेश कराना चाहिये। दस-पन्द्रह मिनट तक ओषधि के घोल को मूत्राशय में रखने के बाद ओषधि बाहर निकाल कर प्रोटार्गल २% ५ से १० सी० सी० की मात्रा में मूत्राशय में प्रविष्ट कराके छोड़ देना चाहिये। १-२ दिन तक इस प्रकार का उपचार करने से क्षोभ की शान्ति होकर मूत्रकृच्छ्र में लाभ होता है।

सोडा बाई कार्ब १ ड्राम १ गिलास पानी में मिलाकर पिलाने के बाद उष्ण कटि-स्नान करने या पेड़ू पर गरम जल से सेंक करने से लाभ होता है। यव पेया, डाभ का पानी या १ छटाँक गोखरू २ सेर जल में पकाकर अर्धावशेष रहने पर छानकर मिश्री मिलाकर पिलाने से लाभ होता है। निम्नलिखित क्वाथ मूत्रत्याग के समय अधिक दाह होने पर लाभ करता है—

खस, कुश की जड़, कास की जड़, सरपत की जड़, ईख की जड़, गोखरू, सफेद चन्दन, नागरमोथा, धनियाँ को समान भाग में २॥ से ५ तोला की मात्रा में लेकर, १६ गुने जल में पकाकर, चतुर्थांश अवशेष रहने पर २ तोला मिश्री मिलाकर पिलाना चाहिये।

केले के डण्ठल का रस, कमल की जड़ का रस या मूली का रस मिश्री मिलाकर पिलाने से भी मूत्रोत्सर्ग के समय होने वाले दाह का शमन होता है।

मूत्रत्याग के समय वेदना होने पर निम्नांकित योग देना चाहिये—

Sodabicarb	grs 10
Pot bromide	gr 7
Soda benzoas	gr 5
Tr hyoscyamus	ms 7
Tr belladonna	ms 5
Syrup aurentii	ms 60
Aque anisi	oz 1
	१ मात्रा

दिन में ३ बार।

मूत्रकृच्छ्र की शान्ति के लिये उद्वेष्टन विरोधी (Spasmolytics) औषधियों के प्रयोग से लाभ होता है। स्पाज्मोसिबाल्जिन (Spasmocibalgin), न्यूरोट्रेसेन्टिन (Neurotrasentin), लिस्पामिन (Lyspamin) आदि का सेवन कराना चाहिये। अधिक कष्ट होने पर Atropin sulphate १/१०० ग्रेन की मात्रा में अधस्त्वक् मार्ग से सूचीवेध द्वारा देना चाहिये।

चिरकालीन स्वरूप के मूत्रकृच्छ्र में निम्नलिखित योग से पर्याप्त लाभ होता है।

तृणकान्त पिष्टि	१ रत्ती
पाषाण वदर पिष्टि	”
चन्द्रकला रस	”
रजतभस्म	”
	१ मात्रा

भुनी बड़ी इलायची के चूर्ण तथा मधु के साथ देकर ऊपर से जटामांसी एवं गोखरू का क्वाथ मिश्री मिलाकर आवश्यकतानुसार २-३ बार पिलाना चाहिये।

गोक्षुरादि गुग्गुल को गोक्षुर क्वाथ या जल के साथ देने से दाह एवं वेदना दोनों का शमन होता है।

पूयमेह के उपद्रव स्वरूप में मूत्रकृच्छ्र होने पर अथवा वृद्ध रोगियों में अष्ठीला वृद्धि होने के कारण मूत्रकृच्छ्र होने पर विशेष उपचार उन व्याधियों के अनुरूप करना चाहिये।

मूत्रनिरोध (Retention of urine)

मूत्र की राशि स्वाभाविक रूप में बनते रहने पर भी मूत्राशय की दुर्बलता या मूत्रमार्ग में अवरोध के कारण मूत्रोत्सर्ग न हो सकने की अवस्था में यह स्थिति उत्पन्न होती है।

नरसिंहाकृतिक अर्धांग वात (Paraplegia), मूत्राशय के अंगघात एवं सुषुम्ना की कुछ व्याधियों में मूत्राशय मूत्रोत्सर्ग कराने में असमर्थ होता है। तीव्र विषमयता एवं मूर्च्छा आदि से पीड़ित रोगियों में भी यह अवस्था उत्पन्न हो सकती है। मूत्रमार्ग में अवरोध एवं विषमयता तथा मूर्च्छा आदि की अवस्था में उत्पन्न मूत्रनिरोध के शमन के लिये रबर की मूत्रशलाका द्वारा मूत्रत्याग कराना आवश्यक

होता है। कभी-कभी कई दिनों तक मूत्रनिरोध की अवस्था बनी रहती है। ऐसी स्थिति में रबर की मूत्रशलाका मूत्राशय में प्रविष्ट कराकर छोड़ देना चाहिये तथा प्रतिदिन पोटाश के हलके घोल या एक्रिफ्लेविन 1 in 10000 या मरक्यूरोक्रोम 1 in 1000 के घोल से मूत्राशय प्रक्षालित करने के बाद मूत्रशलाका बदल देना चाहिये। ३-४ दिन तक इस क्रम से मूत्र का शोधन करते रहने पर मूत्राशय का संकोच सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है तथा स्वतः मूत्र उत्सर्जित होने लगता है।

अष्ठीला वृद्धि या मूत्राशय की अश्मरी के मूत्रवह स्रोत के अवरुद्ध कर लेने पर मूत्रावरोध होता है। इस अवस्था में भी मूत्रशलाका द्वारा ही मूत्रशोधन की आवश्यकता होती है। अंगघात के कारण मूत्राशय की अकर्मण्यता उत्पन्न होकर मूत्रनिरोध उत्पन्न होने पर कार्बेकाल (Corbechol) १/६० से १/१६ ग्रेन की मात्रा में मुख द्वारा या १/२४० से १/१२० ग्रेन की मात्रा में अधस्त्वक् मार्ग से देना चाहिये। प्रॉस्टिग्मीन (Prostigmin) का प्रयोग भी इसी प्रकार मुख या पेशीमार्ग से कराया जा सकता है।

फर्मेथीड आयोडाइड (Furmethide iodide) की १० मि० ग्रा० की टिकिया ८-१२ घण्टे के अन्तर पर देने से अंगघात जनित मूत्रावरोध में लाभ होता है। मुख द्वारा प्रयोग सम्भव या लाभकर न होने पर अधस्त्वक् मार्ग से ६ मि० ग्रा० की मात्रा में प्रयोग किया जा सकता है। इसके प्रयोग से कभी-कभी विषाक्त परिणाम होते हैं, अतः प्रथम मात्रा का उपयोग कराने के बाद प्रतिकूल परिणाम न होने पर ही दूसरी मात्रा का प्रयोग कराना चाहिये।

पेड़ू पर पलाश के फूल को काञ्जी या गोमूत्र में उबालकर गरम-गरम लेप करने या सेंक करने से मूत्रोत्सर्ग में सुविधा होती है।

कलमीशोरा, नवसादर तथा कपूर—सभी २-२ माशा लेकर, १० तोला जल में मिलाकर, कपड़े में भिगोकर, नाभि के नीचे कुछ काल तक रखने से तीव्र निरोध में लाभ होता है।

कलमी शोरा तथा कपूर पीसकर, भीगी हुई रूई में लपेट कर, नाभि पर रखने से मूत्राशय की क्रियाशीलता जागृत होती है। बीच-बीच में १—२ बूद जल रूई पर छोड़ते जाना चाहिये।

मूत्राघात (Anuria)

स्तब्धता, जलाल्पता (Dehydration), वृक्कों की अकार्यक्षमता, अंशुघात तथा दक्षिण हृदयातिपात की गंभीर अवस्था में मूत्रोत्पत्ति अवरुद्ध हो सकती है। मूत्र न बनने के कारण मूत्राशय रिक्त रहता है। २४ घण्टे तक मूत्रोत्सर्ग न होने पर भी मूत्राशय के ऊपर ताडन करने पर मूत्रोपस्थिति निदर्शक मन्दध्वनि का अभाव रहता है।

यह एक गंम्भीर अवस्था है। जलाल्पता, परमज्वर एवं अंशुघात आदि की सम्भावना में जल चिकित्सा, सिरामार्ग से पर्याप्त मात्रा में द्रवांश की पूर्ति तथा दूसरे उपयुक्त उपचार करना चाहिये।

कभी-कभी मूत्रावरोध (Obstruction) दीर्घकाल तक रहने तथा मूत्र के मूत्राशय में अत्यधिक मात्रा में दीर्घकाल तक संचित रहने के कारण मूत्रपिण्डों पर तनाव पड़ता है, जिससे मूत्रोत्पत्ति पूर्ण रूप में अवरुद्ध हो सकती है। इस अवस्था में मूत्रस्रोत के अवरोध को दूर करने के बाद पीठ पर सेंक करना, उष्णजल से बृहदंत्र का प्रक्षालन (Colan wash) करना, गुनगुने जल से मूत्राशय का प्रक्षालन करना चाहिए। इन क्रियाओं से वृक्कों में कार्यशीलता पुनः उत्पन्न होती है। आवश्यक होने पर साधारण मूत्रल ओषधियों का प्रयोग करना चाहिए।

कभी-कभी शुल्वौषधियों का पर्याप्त मात्रा में प्रयोग करते हुए उचित परिमाण में जल का सेवन रोगी नहीं कर पाता अथवा वमन-अतिसार आदि के कारण शरीर में पहले से ही जलाल्पता रहती है। शुल्वौषधियों का उत्सर्ग वृक्कों के द्वारा होने से उनके सूक्ष्म कण जलाल्पता की अवस्था में गवीनी मुख (Pelvis) को अवरुद्ध कर सकते हैं, जिससे गम्भीर स्वरूप का मूत्राघात उत्पन्न होता है। मूत्राघात की कारणता का अनुमान होने पर गवीनी-मूत्र नलिका (Ureteric catheter) को गवीनी में प्रविष्ट कराकर ग्लूकोज या डेक्स्ट्रोज के समबल घोल (Isotonic dextrose solution) से गवीनीमुख का प्रक्षालन करके शुल्वौषधियों के सञ्चित स्फटिकों को निकालना चाहिए। बाद में मूत्राशय तथा मूत्रमार्ग को भी भली प्रकार धो देना चाहिए। मुख द्वारा क्षारीय मिश्रण पर्याप्त मात्रा में ग्लूकोज मिलाकर कई बार पिलाना चाहिए और सिरामार्ग से समबल लवण जल बूद-बूँद की विधि से १-२ पाइण्ट देना चाहिए।

वमन-अतिसार या प्रस्वेद के कारण जलाल्पता उत्पन्न होने से मूत्राघात की स्थिति में गुदमार्ग से सोडा सल्फ का ४.२% घोल २५० सी० सी० की मात्रा में धीरे-धीरे देना चाहिए।

कुछ अवस्थाओं में—विशेषकर मूत्र विषमयता उत्पन्न होने पर—रक्तमोक्षण कराने के बाद सम मात्रा में रक्तरस (Plasma) या अर्द्ध मात्रा में संकेन्द्रित लसिका (Concentrated serum) सिरामार्ग से प्रयोग करने पर लाभ होता है। ग्रोभूजिन भूयिष्ठ होने से इनके द्वारा मूत्र विषमयता की वृद्धि हो सकती है, इसी कारण रक्तमोक्षण कराने के बाद निकाले हुए रक्त की मात्रा के अनुपात में इनका प्रयोग कराया जाता है। इस क्रिया के द्वारा मूत्रोत्पत्ति होने में सहायता मिलती है। मूत्र विषमयता की अवस्था में मूत्राघात होने पर सोडियम मोलार लैक्टेट (Sodium moller lactate) का घोल २५० सी० सी० की मात्रा में दिन में एक बार ४-६ दिन तक विन्दु क्रम से सिरामार्ग से प्रयोग करने पर लाभ होता है।

पृष्ठ की ओर वृक्क स्थान पर वाष्पस्वेदन, डायथर्मी से सेंक, तुम्बी का प्रयोग या गोमूत्र से सेंक अथवा पलाश पुष्प से क्वथित जल से उष्ण सेंक आदि बाह्य उपचारों से वृक्कों की क्रियाशीलता पुनः जागृत होती है। मूत्राशय में गरम समबल लवण जल १ पाइण्ट की मात्रा में प्रविष्ट कराकर कुछ काल तक रखने से भी वृक्कों में उत्तजना उत्पन्न होती है। यथाशक्ति इस अवस्था में तीव्र मूत्रोत्पादक ओषधियों का प्रयोग करना हितकर नहीं होता है। गोक्षुरू क्वाथ, पञ्च तृणकषाय, लघु पञ्चमूल कषाय आदि का सेवन कराना चाहिए। यह मृदु स्वरूप के मूत्रशोधक योग हैं। इनसे कोई हानि नहीं होती।

केले की जड़ का रस ५-१० तोला में यवक्षार १ माशा तथा मिश्री २ तोला मिलाकर पिलाने से ३-४ घण्टे में मूत्रोत्पत्ति हो सकती है।

एक पाव डाभ के पानी (नारिकेल जल) में १ माशा कलमी शोरा या ३ माशा श्वेतपर्पटी (कलमी शोरा तथा फिटकरी का योग) तथा २ तोला ताड़ मिश्री मिलाकर पिलाने से मूत्रोत्पत्ति में सहायता मिलती है।

झाऊ का अर्क, मकोय का अर्क तथा जवासा का अर्क क्षार प्रधान एवं मूत्रल होता है। जल के स्थान पर पीने के लिए इनका प्रयोग किया जा सकता है।

सामान्य अवस्थाओं में निम्नलिखित योग मूत्राघात में लाभकर होता है।

यवक्षार	२ र०
सर्जिकाक्षार	२ र०
मूलीक्षार	२ र०
पुनर्नवाक्षार	२ र०
पाषाणबद्र पिष्टि	२ र०
	१ मात्रा

गोक्षुरु क्वाथ के साथ औषध तथा मिश्री मिलाकर ३-४ घण्टे पर। ४-६ बार।

सूचीवेध के रूप में सिरामार्ग से डेकोलीन (Decholin) २०% की १० सी० सी० में जीवतिक्ति सी० (Vit C.) ५०० मि० ग्रा० तथा ५०% ग्लूकोज २५-५० सी० सी० मिलाकर देने से मूत्राघात में लाभ होता है। ग्लूकोज का सम्पृक्त घोल (५०% वाला) मूत्रोत्पत्ति कराने में विशेष सहायक होता है। किन्तु इसको ५० सी० सी० से अधिक मात्रा में न देना चाहिए।

कैफीन सोडा बेंजोएस (Caffin soda benzoas) को १० ग्रेन की मात्रा में २ सी० सी० जल में पेशी द्वारा या डाइयूरेबिन का मुख द्वारा प्रयोग उपर्युक्त अवस्था में विवेकपूर्वक किया जा सकता है।

अष्टम अध्याय

प्रमुख संक्रामक व्याधियाँ

विषम ज्वर (Malaria)

शीतपूर्वक तीव्र ज्वर, शिरःशूल, वमन आदि लक्षण के साथ विशिष्ट जीवाणुओं के उपसर्ग से उत्पन्न होने वाला विकार विषम ज्वर है। इसके जीवाणु का संवर्धन एवं प्रसार मच्छरों के द्वारा होता है इसलिए आनूप देशों, जलाशयों एवं मच्छरों के लिये उपयुक्त स्थानों के निकट रहने वालों में इसका प्रकोप अधिक मिला करता है तथा जिन ऋतुओं में मच्छरों की वृद्धि अधिक होती है उन ऋतुओं में विषम ज्वर का प्रसार अधिक होता है।

भारतवर्ष में व्यापक रूप से विषम ज्वर का प्रसार बहुत काल से होता आया है। इससे मिलते-जुलते लक्षणों वाली व्याधियों का वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में भी मिलता है। शरद् ऋतु में मुख्य रूप से प्रकोप होने के कारण शारदीय ज्वर तथा उपत्यका (पहाड़ी तराई) के निवासियों में व्यापक रूप से उत्पन्न होने वाला ज्वर औपत्यिक और अनियत समय में ज्वर का प्रकोप, वेग की विषमता, शीत एवं उष्ण अनुबन्ध का विषम सम्बन्ध, वेग में विषमता आदि विशेषताओं के कारण विषम ज्वर संज्ञक विकारों का वर्णन आया है।

विषम ज्वर का प्रधान कारण प्लाज्मोडियम (Plasmodium) जाति का कीटाणु है, जिसका संवहन, प्रसार तथा मनुष्यों में उपसर्ग एनोफ्लीज जाति के मच्छरों द्वारा होता है। इसकी चार जातियाँ विषम ज्वर उत्पन्न करती हैं।

विषम ज्वर का स्वरूप	जीवाणु की जातियाँ
१. तृतीयक (Benign tertian)	प्लाज्मोडियम वाइवैक्स (Plasmodium vivax)
२. चतुर्थक ज्वर (Quartan)	प्लाज्मोडियम मलेरिया (Plasmodium malariae)
३. घातक विषम ज्वर (Malignant tertian)	प्लाज्मोडियम फैल्सिपेरम (Plasmodium falciparum)
४. अघातक तृतीयक के समान (Bengn tertian)	प्लाज्मोडियम ओवेल (Plasmodium ovale)

इस जीवाणु के जीवन के दो विभाग होते हैं। एक मच्छर के शरीर में तथा दूसरा मानव शरीर में पूर्ण होता है। मानव शरीर गत जीवाणु कुछ समय के बाद वृद्धि

करने की स्थिति में नहीं रह जाते। यदि मच्छर के दंश से उन जीवाणुओं का प्रवेश मच्छर के शरीर में पुनः हो जाय तो उनमें नये सिरे से वृद्धि होकर रोग उत्पादन-क्षमता आ जाती है। इसके जीवन चक्र में अनेक अवस्थाएँ होती हैं। अवस्था भिन्नता पर औषध भिन्नता होने के कारण उनका नामोल्लेख किया जाता है।

१. अमैथुनीजीवन—मशकदंश के उपरान्त मानव रक्त में विषम ज्वर के जिन जीवाणुओं का प्रवेश होता है वे विभाजन के द्वारा अपनी वृद्धि करते हैं—स्त्री-पुरुष व्यवाय कायाणु (Male and female Gametocyts) की आवश्यकता नहीं होती। इसीलिए इसे अमैथुनी जीवन कहते हैं। प्रारम्भ में रक्त में प्रवेश के कुछ समय बाद ये यकृत् कोषाओं में संचित होते हैं। वहाँ पर्याप्त वृद्धि होकर अंशुकेतों (Merozoites) में रूपान्तर होता है। इसमें ६ से १२ दिन लगते हैं। यकृत से कुछ जीवाणु रक्त कायाणु के भीतर प्रविष्ट होकर वृद्धि करते हैं, इन्हें रुधिर कायाणुगत (Erythrocytic) कहते हैं। रुधिर कायाणु के भीतर संवर्द्धित होने पर उसका विदारण करके जीवाणु लसिका में आते हैं। विदारण के समय रुधिर कायाणु के भीतर संचित विजातीय प्रोभूजिन-सम विष पृथक् होकर रक्तरस में मिलता है, जिसकी प्रतिक्रिया रूप में शीतपूर्वक ज्वराक्रमण होता है। औषध का सर्वाधिक प्रभाव विषम ज्वर पर इसी समय होता है। यदि रक्तकणों का विदारण करके निकलने के समय रक्तरस में क्विनीन आदि औषध द्रव्यों की मात्रा पहले से ही पर्याप्त रूप में उपस्थित हो तो उनका अधिक से अधिक विनाश हो सकता है। अतः ज्वराक्रमण के ३-४ घण्टे पूर्व से ओषधियों का व्यवस्थित प्रयोग प्रारम्भ कर दिया जाता है। विजातीय द्रव्य के प्रतिकार के लिये प्रतियोगी पदार्थों का निर्माण होता है, जिससे रोग-क्षमता की उत्पत्ति होती है। जबतक जीवाणु रुधिर कायाणु बाह्य (प्रारम्भिक अवस्था में) रहता है, तब तक रोग के लक्षण नहीं उत्पन्न होते, व्यवाय कण की उपस्थिति न होने के कारण रोग का दूसरों को उपसर्ग भी नहीं हो सकता और क्षमता की अनुपस्थिति तथा ओषधियों के लिए प्रतिकारक रहने के कारण ओषधियों का प्रयोग व्यर्थ होता है। अनुकूल परिस्थिति—शारीरिक दुर्बलता, गुरु भोजन, स्नान आदि—आने पर यह पुनः रुधिर कायाणुओं में प्रवेश करके रोगोत्पत्ति कर सकते हैं। रोग का पुनराक्रमण इसी अवस्था के प्रभाव से अधिक होता है।

२. मैथुनीजीवन—रुधिर कायाणु के भीतर प्रवेश तथा जीवाणुओं की वृद्धि कुछ समय तक चक्रवत् होती रहती है। कुछ समय बाद विभाजन के द्वारा वृद्धि नहीं हो सकती, तब इनका रूपान्तर व्यवाय कायाणुओं में होता है। तृतीयक में व्यवाय कायाणुओं की उत्पत्ति प्रारंभ से ही, घातक विषमज्वर में १ सप्ताह में तथा चतुर्थक में ४ सप्ताह बाद होती है। इनकी वृद्धि तथा इनका रुधिर कायाणु प्रवेश न हो सकने के कारण रोगोत्पत्ति नहीं हो सकती। मशक दंश के साथ इनका प्रवेश पुनः मशक शरीर में होने

पर वहीं स्त्री-पुरुष व्यवाय कायाणुओं का सम्मिलन होकर पूर्ववत् क्रियाशक्ति प्राप्त होती है। मशक शरीर में पोषित-वर्द्धित होने वाले चक्र को मैथुनी चक्र कहते हैं। चिकित्सा की दृष्टि से जीवाणु की निम्नलिखित अवस्थाए महत्त्वपूर्ण होती हैं—

(१) मशक दंश द्वारा प्रविष्ट क्षुल्लकेत (Sporozoites) रक्त में जाकर कुछ समय तक वृद्धि करके यकृत् कोषाओं में संचित होकर एक सप्ताह में (६-१२ दिन) पर्याप्त वृद्धि कर लेते हैं।

(२) यकृत् कोषाओं के विदीर्ण हो जाने पर अंशुकेत रक्तप्रवाह में पहुँच कर रुधिर कायाणु का भेदन कर अन्तःप्रविष्ट होकर वृद्धि करते हैं। अब तक रोग का संचयकाल होता है—व्याधि का विशेष लक्षण नहीं व्यक्त होता। रक्तकण का विदारण होकर जीवाणुओं के बाहर आने पर शीतपूर्वक ज्वर होता है।

(३) कुछ समय बाद जीवाणु जब विभाजन पद्धति से वृद्धि नहीं कर सकता तब अंशुकेत का परिवर्त्तन व्यवाय कायाणु में होता है, जो मशक शरीर में बिना प्रविष्ट हुए रोगोत्पत्ति-सामर्थ्य नहीं प्राप्त कर सकता।

इस प्रकार विषम ज्वर के प्रसार में मच्छरों का विशेष महत्त्व सिद्ध होता है। यदि एक ही प्रकार के अनेक जीवाणु एक ही समय पूर्ण रूप से विकसित होकर रुधिर कायाणुओं का विनाश करते हैं तो विष की पर्याप्त मात्रा रक्त में एक साथ प्रविष्ट होती है, जिससे विशेष प्रकार का शुद्ध तृतीयक या चतुर्थक स्वरूप का विषम ज्वर उत्पन्न होता है। किन्तु प्रारंभ में जीवाणुओं की इतनी वृद्धि नहीं होती, इसलिए प्रायः सभी विषम ज्वरों में आरंभ के ३-४ दिन तक ज्वर अनियमित स्वरूप का या संतत स्वरूप का होता है। धीरे-धीरे एक काल में जीवाणुओं का विकास होने पर ज्वर का स्वरूप अधिक नियमबद्ध होने लगता है।

जीवाणुओं का शरीर में प्रवेश होने के बाद आन्तरिक अंगों—विशेषकर यकृत्—में विशेष रूप से संवर्द्धन होता है, जिससे वह अंग जीवाणुओं के केन्द्र के रूप में हो जाता है। शरीर के भीतर जीवाणुओं का संचय स्थान होने के कारण विषम ज्वर में पुनरावर्तनशीलता अधिक मिलती है।

रोग विनिश्चय—विषमज्वर प्रधान जनपदों में रहने या प्रवास का इतिहास, शरद् एवं वसन्त में ज्वरानुबन्ध की प्रवृत्ति, ज्वर का आकस्मिक आक्रमण, ज्वरावेग के पहले शीत-शिरःशूल-हृल्लास तथा अंगमर्द का इतिहास, ज्वर के वेग में क्रम से शीतावस्था-सन्तापावस्था और प्रस्वेद की स्थिति, दारुण ज्वर मोक्ष, प्रायः मध्यरात्रि से मध्याह्न के बीच में ज्वराक्रमण का सम्बन्ध, ज्वरमोक्ष के बाद सामान्य दुर्बलता के अतिरिक्त व्याधि के लक्षणों का अभाव, ज्वरावेग के समय प्लीहा की वृद्धि, कभी-कभी यकृत् की स्पर्शलभ्यता, जिह्वा की रूक्षता-मललिप्तता, नेत्रों की रक्तवर्णता, ओष्ठों के पास स्फोटों की उत्पत्ति, कभी-कभी ज्वर में नियतकालिकता—विशेषकर तृतीयक और चतुर्थक

श्रेणी के विषमज्वरों में—रोग विनिश्चय में सहायता देते हैं। इनके अतिरिक्त वमन, तृष्णा, बेचैनी, कोष्ठबद्धता, अरुचि, कभी-कभी कामला तथा पाण्डुता आदि लक्षण भी विषमज्वर में मिलते हैं। अन्येद्युष्क ज्वर में सायंकाल तक ज्वर में पूर्ण शान्ति होकर रोगी स्वस्थ-सा हो जाता है। तृतीयक में प्रति तीसरे दिन ज्वर का आक्रमण और चतुर्थक में प्रति चौथे दिन ज्वराक्रमण होता है। कभी-कभी एक ही श्रेणी के दो उपसर्गों के रहने पर या मिश्र उपसर्ग होने पर तृतीयक विपर्यय, चतुर्थक विपर्यय या ज्वर का सन्तत रूप में चार-पाँच दिन तक अनुबन्ध बना रहना—इस प्रकार के विषम लक्षण भी मिल सकते हैं। संक्षेप में आकस्मिक ज्वराक्रमण, वातिक-पैत्तिक लक्षण की प्रधानता, तीव्रज्वर, बेचैनी और ज्वर की मुक्ति के बाद दुर्बलता के अतिरिक्त शेष लक्षणों का अभाव इसके विनिश्चय में विशेष सहायक होते हैं।

घातक विषम ज्वर (Malignant Malaria)—विषम ज्वर के इस भेद में लाक्षणिक विविधता का आधिक्य रहता है। पहले वर्णित विषम ज्वर के लक्षणों में इससे पीड़ित रोगी में कदाचित कोई भी लक्षण नहीं मिलते। ज्वर का आक्रमण दिन-रात किसी निश्चित समय में नहीं, कभी भी हो सकता है। बाहर से अल्प मात्रा में सन्ताप होने पर भी तीव्र शिरःशूल, वमन, दाह, सर्वाङ्ग वेदना, प्रलाप, मूर्च्छा इत्यादि गम्भीर लक्षणों के कारण घातक विषम ज्वर का अनुमान करना पड़ता है। प्रायः ज्वर का अनुबन्ध कई दिनों तक बना रहता है, जिससे सन्तत ज्वर का सन्देह होने लगता है। पैत्तिक लक्षणों की उपस्थिति, तृष्णा, दाह, शिरःशूल, प्रवाहिका, कामला, प्लीहावृद्धि और ऋतु-देश की विशेषताओं के आधार पर इसका अनुमान किया जाता है।

प्रायोगिक परीक्षा—

रक्तपरीक्षा—विषम ज्वर में रक्तपरीक्षा से रोग विनिश्चय में पर्याप्त सहायता मिलती है। यदि प्रत्यक्ष रूप में सूक्ष्म दर्शक से जीणुवाओं की उपलब्धि हो जाय तो असंदिग्ध निर्णय किया जा सकता है। किन्तु अनेक बार विषम ज्वर से पीड़ित व्यक्ति में भी रक्तपरीक्षा में जीवाणुओं की उपलब्धि नहीं होती। यदि सम्भव हो सके तो दो-तीन बार रक्तपरीक्षा कर जीवाणु दर्शन का उद्योग करना चाहिये। ज्वर की तीव्रता के समय श्वेतकायाणुओं की गणना में विशेष अन्तर नहीं होता—प्रायः ८००० से १०००० तक सकल श्वेत कायाणु संख्या रहा करती है। किन्तु सापेक्ष परिगणना में एक न्यष्टीलियों (Monocytes) की संख्या स्वाभाविक १-२ प्रतिशत से बढ़कर ८-१० प्रतिशत हो जाती है। बहुकेन्द्रीय (Polymorphs) की संख्या प्रायः न्यून—४० से ५० प्रतिशत हो जाती है। घातक विषम ज्वर के जीवाणुओं में सूक्ष्म रक्तवाही स्रोतों में चिपक कर पुञ्जीभूत होने की प्रवृत्ति होती है, जिससे

वाहिनियों में अवरोध होकर स्थानीय क्षोभ के लक्षण पैदा होते हैं। ऐसी स्थिति में श्वेत कायाणुओं की संख्या पूययुक्त व्याधियों के समान बढ़कर कभी-कभी २० से ४० हजार तक चली जाती है; जिसमें बहुकेन्द्री (Polymorph) की अधिकता (८०-९० प्रतिशत) होने पर विषम ज्वर के निदान में बाधा पैदा होती है। संदेह की इस स्थिति में रक्तकणों की हीनरक्तता-आकृति-परिमिति-रंगग्रहण शक्ति (Poikilo cytosis, Anisocytosis) तथा बहुवर्ण प्रियता (Polychromato philia), क्षारप्रिय कणिकाभवन (Basophilic granulation) इत्यादि विकृतियों की उपस्थिति से विषम ज्वर का निदान किया जाता है। जीर्ण विषम ज्वर में रक्त-परीक्षण में जीवाणुओं की उपस्थिति कम मिलती है। विषम ज्वर के लिये परीक्षण करना अभीष्ट होने पर गुरु भोजन, परिश्रम, शीतल स्नान इत्यादि विपरीत आहार-विहार के द्वारा दोषों के बढ़ाने का उद्योग करने के बाद रक्त-परीक्षा में जीवाणुओं के मिलने की सम्भावना बढ़ जाती है। सापेक्ष्य गणना में श्वेत कायाणुओं की संख्या में कमी (४००० से ६०००), रक्तकणों की संख्या में कमी (३०-३५ लाख), शोणित वर्तुलि (Heamoglobin) की कमी, सापेक्ष्य श्वेत कायाणुओं में बहुकेन्द्री कणों की कमी; लसकायाणु की साधारण वृद्धि तथा एक न्यष्ठीलियों की अधिक वृद्धि होती है। अन्त में इतने परीक्षण के उपरान्त भी रोग विनिश्चय न हो सका हो और लक्षणों के आधार पर अनुमान हो रहा हो तो उपशयात्मक निदान निर्णायक होता है। विषम ज्वर का उपशम करने वाली ओषधियों का तीन-चार दिन प्रयोग करने से ज्वर मोक्ष हो जाने पर व्याधि का निर्णय हो जाता है और कुछ अधिक दिन तक ओषधि-प्रयोग से रोगोमूलन किया जा सकता है।

सापेक्ष्य निदान—विषमज्वर में शुद्ध तृतीयक या चतुर्थक का आक्रमण होने पर सापेक्ष्य निदान में अधिक असुविधा नहीं होती, किन्तु निश्चित स्वरूप का उपसर्ग होने पर अथवा मारक विषमज्वर में सन्तत स्वरूप का ज्वरानुबन्ध होने पर दण्डकज्वर, आन्त्रिकज्वर, श्लेष्मोल्बण सन्निपात, इन्फ्लुयेञ्जा, श्लीपद आदि से सापेक्ष्य निदान करना पड़ता है।

सामान्य चिकित्सा—

ज्वराक्रमण के कुछ समय पूर्व रोगी के सारे शरीर में तथा सिर में हलका दर्द और शीतद्वेष होता है। ऐसी स्थिति में उसे शय्या पर लिटाकर गरम वस्त्रों से शरीर ढँकना चाहिये। गरम पानी की बोतल से हाथ-पैरों को सेंकना तथा गरम जल थोड़ा-थोड़ा पीने को देना रोगी के लिये उपकारक होता है। कुछ समय के बाद शीतावस्था के समाप्त हो जाने पर सन्तापाधिक्य हो जाने के कारण बेचैनी अधिक बढ़ जाती है, अतः ज्वर की शान्ति के लिये शीतोपचार, मस्तक पर बरफ की थैली ठण्डे तौलिये से शरीर पोंछना, मस्तक पर शीत प्रलेप, पीने के लिये

डाभ का पानी, सोडा मिलाकर पानी, यवपेया या नीम्बू का शर्बत दे सकते हैं। पसीना आते समय यदि रोगी सम्पूर्ण शरीर को ढके रहे तो लाभ होता है। भीतर ही भीतर सूखे कपड़े से पसीना पोंछते जाना चाहिये। कपड़े भींग जाने पर नये सूखे कपड़े पहनाने चाहिये। सामान्यतया ८-१० घण्टे के भीतर ज्वर का वेग स्वतः शान्त हो जाता है। वेग शान्त हो जाने पर कोष्ठ शुद्धि के लिये पित्त विरेचक या लवण विरेचक योगों का सेवन कराने से रोगी की बेचैनी शीघ्र शान्त हो जाती है तथा ज्वरशामक औषधियों का प्रभाव अधिक कार्यक्षम होता है।

रोगी के कमरे की सफाई, जन्तुनाशक द्रव्यों—डी० डी० टी० आदि—के प्रयोग से मच्छरों का विनाश तथा रोगी के आहार-विहार का नियन्त्रण रखना चाहिये। ज्वरितावस्था में यथाशक्ति तरल द्रव्यों का ही प्रयोग करना चाहिये। पूर्ण भोजन न देकर लघुपाकी द्रव्यों का स्वल्प मात्रा में सेवन कराना चाहिये। इस ज्वर में पैत्तिक लक्षणों की प्रधानता होती है, अतः रस वाले फल—सन्तरा, मुसम्मी, अंगूर आदि का प्रयोग रोगी को अधिक शान्ति देता है। ज्वरमोक्ष के समय प्रस्वेद होने के कारण त्वचा अधिक मलिन हो जाती है, अतः गरम पानी में कपड़ा भिगोकर शरीर को एक बार दिन में भली प्रकार साफ करना चाहिये।

चिकित्सा—

विषमज्वर की चिकित्सा में निम्नलिखित सिद्धान्त मार्ग-निर्देश करते हैं—

(१) यदि ज्वर का वेग तीव्र स्वरूप या मारात्मक श्रेणी का न हो तो विशिष्ट विषमज्वर शामक औषधियों का प्रयोग ज्वराक्रमण के दो-तीन दिन बाद करना चाहिये। प्रारम्भ से ही तीव्र औषधियों का प्रयोग करने से शारीरिक व्याधि क्षमता की उत्पत्ति नहीं हो पाती, जिससे पुनरावर्तन की सम्भावना बढ़ जाती है। दो-तीन दिनों में शारीरिक क्षमता के बढ़ जाने पर सहायक रूप में औषधियों का प्रयोग अल्प मात्रा में भी करने पर शीघ्र पर्याप्त लाभ हो जाता है।

(२) क्विनीन का प्रभाव व्याधि की सञ्चयावस्था में बिल्कुल ही नहीं होता, अतः व्याधि प्रतिषेध के रूप में ज्वराक्रमण के पूर्व क्विनीन का प्रयोग लाभदायक नहीं होता।

(३) अधिक मात्रा में क्विनीन का प्रयोग या अधिक समय तक प्रयोग शारीरिक क्षमता को क्षीण करता है, जिससे रोग का पुनरावर्तन या पुनः उपसर्ग अधिक होता है।

(४) ज्वर का प्रारम्भिक आक्रमण व्यवस्थित चिकित्सा से सुखपूर्वक शान्त हो जाता है, किन्तु पुनरावर्तन जनित आक्रमण कठिनाई से ठीक होता है। अतः सभी साधनों से पुनरावर्तन निरोध की व्यवस्था करनी चाहिये।

(५) प्रारम्भिक आवेग में यथाशक्ति क्विनीन का ही प्रयोग होना चाहिये।

शेष नवीन औषधियाँ ज्वर की तीव्रावस्था के शान्त होने के उपरान्त ही रोग के समूलोच्छेद के लिये प्रयुक्त होनी चाहिये।

(६) विषमज्वर का सही निदान, रोगोत्पादक जीवाणु की उपजाति का निर्णय और उस विशिष्ट जीवाणु का निर्मूलन करने वाली औषधि का बुद्धिपूर्वक उपयोग करना चाहिये। अनिश्चयपूर्वक अव्यवस्थित रूप में कभी एक कभी दूसरी औषधि का प्रयोग करने से जीवाणु का पूर्ण विनाश नहीं हो पाता।

(७) रोगी को ज्वरितावस्था में पूर्ण विश्राम देना चाहिये। इस बीच यथाशक्ति द्रव भूयिष्ठ लघु आहार देने से ज्वर की शीघ्र शान्ति होती है।

(८) ज्वर शामक विशिष्ट औषधियों का प्रभाव कोष्ठबद्धता की पूर्ण निवृत्ति तथा क्षारीय औषधियों के सह प्रयोग से उत्तम होता है। अतः प्रारम्भिक दिनों में मलशोधन एवं क्षारीय मिश्रणों के प्रयोग से औषधियों के लिए अनुकूल क्षेत्र निर्माण करना चाहिये।

(९) ज्वरशामक विशिष्ट औषधियों का प्रयोग प्रारम्भ में एक काल में सात दिन से अधिक न करना चाहिये। बीच में ७ से १० दिन तक विराम देकर पुनः औषध का प्रयोग करने से निरन्तर प्रयोग की तुलना में अच्छा परिणाम होता है।

(१०) तृतीयक, चतुर्थक या घातक—सभी श्रेणी के विषम ज्वरों पर ज्वरशामक औषधियाँ एक सा परिणाम नहीं होता तथा एक ही जाति के जीवाणुओं की अनेक समजातियाँ होती हैं, जिनमें प्रत्येक के ऊपर औषध का परिणाम भिन्न-भिन्न हुआ करता है।

(११) आदर्श रोगावरोधक औषध का मुख्य गुण जीवाणु की रुधिर कायाणु बाह्य अवस्था में उसका पूर्ण विनाश करने की सामर्थ्य है। जो जीवाणु यकृत् कोषाओं तथा प्लीहा, अस्थिमज्जा आदि में छिपे रहते हैं, उनका भी पूर्ण नाश होना चाहिए। अधिकांश औषधियों का प्रभाव केवल रुधिर कायाणु बाह्य अवस्था के जीवाणु को अंशुकेतों में परिवर्तित न होने देनें में है। यकृत्—प्लीहा आदि अंगों में छिपे हुए जीवाणु को सुविधापूर्वक निकाल सकने की औषध अभी जानकारी में नहीं आ सकी है।

(१२) अंशुकेतों के रुधिराणु का विदारण करके निकलते ही, दूसरे रुधिराणु में प्रवेश के पहले ही पूर्ण विनाश कर सकने वाली औषध ज्वर के आक्रमण को शीघ्रता से रोक सकती है।

चिकित्सा-व्यवस्था की दृष्टि से विषम ज्वर के रोगियों को २ वर्गों में विभाजित कर सकते हैं।

(१) सामान्य श्रेणी—जिसमें ज्वराक्रमण के अतिरिक्त दूसरे औपद्रविक लक्षण नहीं रहते। वेग के शान्त हो जाने पर रोगी साधारण कार्य कर लेता है। इस श्रेणी के रोगियों की चिकित्सा में प्रारम्भ से ही विशिष्ट औषधियों का प्रयोग नहीं

किया जाता, केवल ज्वर की साधारण लाक्षणिक चिकित्सा से ही लाभ हो जाता है। कभी-कभी विशिष्ट ओषधियों के प्रयोग की आवश्यकता पड़ती है।

(२) मारात्मक एवं गम्भीर श्रेणी—यदि ज्वर के तीव्र वेग के अतिरिक्त बेचैनी, मूर्च्छा, प्रलाप, अतिसार आदि औपद्रविक लक्षण हों या दूसरे प्रान्त का रोगी विषम ज्वराक्रान्त देश में आकर पीड़ित हुआ हो तो मल-संशोधन और पित्त-शमन में समय न लगाकर प्रारम्भ से ही मुख्य ओषधियों का प्रयोग करना चाहिये।

सामान्य श्रेणी के विषम ज्वर की चिकित्सा

प्रमुख लक्षणों का उपशम—प्रारम्भ में वमन, शिरःशूल तथा यकृत् में पित्त का संचय एवं तज्जन्य पैत्तिक लक्षणों की विशेषता, विबन्ध इत्यादि लक्षणों का उपशम निम्नलिखित व्यवस्था से शीघ्र होता है।

वमन—वमन का मुख्य कारण यकृत् में पैत्तिक द्रव्यों का संचय तथा जीवाणु के द्वारा विषोत्पत्ति होकर रक्तकणों का नाश होता है। पित्त का शोधन करने के लिये निम्नलिखित योग लाभकर होता है।

R/

Hydrag subchlor	gr 1
Chloretone	gr 4
Caffine citras	gr 4
Soda bicarb	gr 20
Glucose	gr 20
	८ मात्रा

आधा या एक घण्टे पर जल के साथ।

इसके प्रयोग से यकृत् में संचित पित्त मल के द्वारा शोधित हो जाता है और परिणाम में हृल्लास तथा वमन की शान्ति हो जाती है। इस पुड़िया के प्रयोग के दूसरे दिन प्रातःकाल क्षार लवण प्रधान विरेचक ओषधियों का प्रयोग करने से पूर्णरूप से शोधन हो जाता है। इसके लिये यह योग देना चाहिए।

Mag sulph	dr 4
Soda sulph	dr 1
Ext glycerrhiza liq	dr 1
Spt chloroform	ms 15
Tr card. co	ms 15
Aqua	oz 1
	१ मात्रा प्रातःकाल एक बार।

उक्त औषधों के अतिरिक्त पानी में नीबू का रस तथा ग्लूकोज या मधु मिलाकर थोड़ा-थोड़ा अनेक बार पिलाना चाहिये। डाभ का पानी-यवपेया आदि का प्रयोग भी इसी प्रकार किया जाता है।

शिरःशूल तथा सर्वांग वेदना—ज्वर के प्रारम्भ में रोगी को सारे शरीर में दर्द तथा सिर में वेदना के साथ सन्ताप का आधिक्य होता है। निम्नलिखित औषध के प्रयोग से इन सभी लक्षणों की निवृत्ति होती है—

R/

Phenacetin	gr 2
Aspirin	gr 4
Caffine citrate	gr 1
Irgapyrin	Tab 1
	१ मात्रा

एक मात्रा गरम जल के साथ प्रति ४ घण्टे पर। २-३ मात्रा से अधिक देने की आवश्यकता नहीं होती।

यह योग विषम ज्वर के लाक्षणिक कष्टों को शान्त कर देता है। किन्तु दैनिक आक्रमण पर इसका कोई विशेष प्रभाव नहीं होता। अतः दाह-शिरःशूल-सन्ताप आदि का आधिक्य होने पर ही इसका प्रयोग होना चाहिये।

उक्त योगों (पृ० ४९३) से संचित दोषों का शोधन होकर अवरोधजन्य लक्षणों की निवृत्ति होती है और बेचैनी तथा रोग की तीव्रता में लघुता होकर रोगी को शान्ति मिलती है। विषमज्वर में क्षारीय द्रव्यों का प्रयोग विशेष उपकारक होता है। इससे स्वेद, मूत्र, और मल के द्वारा विशेष रूप से दोष-संशोधन होता है तथा रक्त में क्षारीयता की वृद्धि होकर भविष्य में प्रधान ज्वरशामक औषधियों के प्रयोग के लिये शरीर सक्षम हो जाता है। निम्नोक्त योग से उक्त उद्देश्य की सिद्धि होती है।

R/

Pot citras	gr. 15
Soda acetas	gr. 20
Liq. ammon acetas	dr. 1
Spt aetheris nitrosi	ms. 20
Syrup aurantii	dr. 1
Aqua	oz. 1
	१ मात्रा

एक मात्रा प्रति ४ घण्टे पर ज्वर के वेग के समय तथा क्विनीन के प्रयोग के एक-दो घण्टा पहले।

उक्त व्यवस्था के उपरांत रोग के निर्मूलन के लिये मुख्य ओषधियों का व्यवहार करना चाहिये। निम्नलिखित ओषधियां विषम ज्वर में प्रयुक्त होती हैं।

(१) क्विनीन तथा सिनकोना (Quinine & Cinchona)

(२) क्लोरोक्वीन—कैमाक्विन, रेसाचिन, निवाक्विन, एवलोक्लोर (Chloroquin group—Camaquin, Resochin, Nevaquin, Avloclor.)

(३) पैल्युड्रिन (Paludrine)

(४) पामाक्विन, पेन्टाक्विन, आयसो पेन्टाक्विन, प्रिमाक्विन (Pamaquin, Pentaquin, Isopentaquin, Preamaquin)

(५) एटेब्रिन तथा मेपाक्रीन (Atebrin & mepachrine) इन ओषधों की स्वतन्त्र विशेषतायें हैं जिनका निर्देश आगे के कोष्ठक (पृ० ४९६-४९७) में किया गया है। इनमें क्विनीन सभी की तुलना में सस्ती तथा नवीन ओषधियों के निकल जाने पर भी अपेक्षाकृत सन्तोषजनक कार्य करने वाली है।

क्विनीन चिकित्सा की प्रमुख विशेषतायें—

क्विनीन के अनेक यौगिक होते हैं। कुछ प्रमुख यौगिकों का वर्णन कोष्टक (पृ० ४९६-४९७) में किया गया है। मुख द्वारा प्रायः क्विनीन सल्फेट का व्यवहार होता है। इसकी पूर्ण मात्रा १० ग्रेन दिन भर में ३ बार कही जाती है। किन्तु एक भारतीय के लिये ५-६ ग्रेन की मात्रा पर्याप्त होती है।

प्रायः ज्वर के वेग का उपशम होने के बाद और ज्वराक्रमण के ४ घण्टा पूर्व से क्विनीन का प्रयोग प्रारंभ किया जाता है। निम्नलिखित योग क्विनीन प्रयोग के लिये अधिक व्यावहारिक है।

Quinine sulph	gr. 5
Acid sulph dil	ms. 10
Glycerine	ms. 10
Aqua menth pip	oz. 1
	१ मात्रा

प्रति ४ घण्टे पर दिन में ३ बार।

विषमज्वर नाशक प्रमुख औषध वर्ग	दैनिक मात्रा तथा प्रयोग मार्ग	समय एवं पूर्ण मात्रा	प्रमुख गुण	निर्देश
१. क्विनोलीन वर्गः—				
(१) क्विनीन सल्फेट	५ ग्रेन, ३ बार मुख द्वारा	अधिक से अधिक १०० से १५० ग्रेन तक ७ दिन में एक सप्ताह के अन्तर से पुनः ३०-४० ग्रेन ४-५ दिन में	पित्त-मल शोधन के बाद शीघ्र गुणकारी, सभी मार्गों से प्रयोज्य, रुधिर कायाणु गत विषम ज्वर जीवाणु पर विशेष क्रियाशील। सिरा द्वारा देने पर ग्लूकोज का योग	तिक्त स्वाद, निर्मूलन असामर्थ्य, व्यवाय कायाणु पर निष्क्रिय, असंचित स्वरूप की शीघ्र उत्सर्गशील, प्रतिकार में अनुपयोगी, व्यय-साध्य यथा अधिक मात्रा में लाभकर
(२) क्विनीन डाइ हाइड्रोक्लोराइड	१० ग्रेन, सूची वेध दिन में २ बार			
(३) " हाइड्रोक्लोराइड	५ ग्रेन मुख द्वारा ३ बार			
(४) " हाइड्रोब्रोमाइड	५-७ ग्रेन, सूची या मुख द्वारा		कोमल प्रकृति रोगी तथा गर्भिणी में उपयोगी	
(५) यू क्विनीन	मुख द्वारा ८ से १२ ग्रेन	८०-१२० ग्रेन	स्वाद रहित	कालमेहकर
(६) एरिस्टोचिन	६ से १० ग्रेन	१५०-२०० ग्रेन	तृतीयक-चतुर्थक में अधिक उपयोगी	विषैले लक्षण शीघ्र तथा अधिक
(७) टोटा क्विना	७ से १० ग्रेन	२००-३०० ग्रेन		
(८) सिन्कोना चूर्ण	५ से १० ग्रेन	१५०-३०० ग्रेन		
२. एक्रिडीन डाइ वर्गः—				
(१) एटेब्रिन हाइड्रोक्लोराइड (वेयर)	१½ ग्रे. दिन में ३ बार मुख द्वारा	३० से ४५ ग्रेन १० दिन में पुनः प्रयोग १५ दिन के बाद	संचय स्वरूप की औषध, अमैथुनी रक्तकणीय जीवाणु पर प्रभावकारी घातक विषम ज्वर की तीव्रावस्था में	चतुर्थक ज्वर के रक्त कण बाह्य जीवाणु पर अनुपयोगी, घातक जीवाणु के
(२) मेपाक्रिन " (I. C. I.)	प्रतिषेध ३ ग्रेन प्रति सप्ताह			
(३) क्विनाक्रिन " (M. B.)				

(४) मेपाक्रिन मेथेन सल्फोनेट (५) एटेब्रिन म्यूसोनेट	३ ग्रेन सिरा द्वारा या मांस पेशी मार्ग सम लवण जल ५ सी. सी. में		विशेष उपयोगी, व्याधि प्रतिकार में उपयोगी, असहिष्णु व्यक्ति तथा नूतन रोगियों में उपयोगी	व्यवाय कायाणु पर निष्क्रिय
३. एमिनो क्विनालीन वर्गः—				
(१) पामाक्विन-प्रिक्विन (२) क्लोरोक्विन-क्लोरोक्विन (हाइड्रोक्लोराइड तथा सल्फेट) (३) रेसोचिन, निवाक्विन (४) क्लोरोक्विन (डाइफास्फेट) (५) कैमोक्विन (डाइहाइड्रोक्लोराइड)	$\frac{1}{4}$-$\frac{1}{6}$ ग्रेन दिन में ३ बार भोजन के बाद ३-४$\frac{1}{2}$ ग्रेन सिरा द्वारा ४ ग्रेन प्रथम मात्रा २ ग्रेन ३ बार मुख द्वारा प्रतिषेध २ ग्रेन सप्ताह में २ बार	४ से ६ ग्रेन ५ से ७ दिन में २५ से ४० ग्रेन ४-६ दिन में	व्यवायकायाणुनाशक, पुनरावर्तन तथा प्रसारनाशक, प्रतिषेध में उपयोगी शीघ्र गुण कारी, अमैथुनी रक्तकण जीवाणु पर सर्वाधिक प्रभावकारी घातक विषम ज्वर में बहुत उपयोगी	लाक्षणिक शान्ति में असमर्थ, शीघ्र विषाक्त प्रभावकारी प्रतिषेध में हीन गुण व्यवाय कायाणु तथा रक्तकण बाह्य जीवाणु पर निष्क्रिय
४. बाई गुआनाइड वर्गः—				
(१) पैल्युड्रिन (मानोहाइड्रोक्लोराइड) (२) " (एसिटेट तथा लैक्टेट)	१$\frac{1}{2}$ ग्रेन दिन में ३ बार मुख द्वारा ३ ग्रेन सिरा द्वारा	३०-४५ ग्रेन ७-१० दिन, ३ ग्रेन प्रतिषेध	व्याधि-प्रतिषेध में सर्वोत्तम। रक्तकण बाह्य जीवाणु पर सक्रिय पुनरावर्त्तन निरोधक, लाक्षणिक शामक, मध्यम गुणकारी	व्यवाय कायाणु पर निष्क्रिय
५. डारा प्रिम (B. W.)			स्वादहीन, घातक विषम ज्वर में विशेष उपयोगी, सामान्यतया सभी रोगियों में उपयोगी	व्यवाय कायाणु में निष्क्रिय। अभी नवीन होने से विशेष दोष नहीं ज्ञात

क्विनीन के योगों के विरोध में तीन आपत्तियां—

(१) कटुता (२) असहनशीलता—कर्णनाद, भ्रम इत्यादि (३) आमाशय प्रक्षोभ।

कटुता के दूर करने का उद्योग निम्नलिखित तरीकों से किया जा सकता है।

(१) क्विनीन सेवन के पूर्व हरीतकी चूर्ण मुँह में चूस कर कुल्ला कर लेना।

(२) क्विनीन के चूर्ण के साथ बराबर मात्रा में ग्लिसरीन मिलाकर अथवा क्विनीन दूध में मिलाकर लेने से कटु स्वाद नहीं रहेगा।

(३) चाय के काढ़े से (चाय बनाने के बाद बची पत्ती उबाल कर) कुल्ला करने के बाद क्विनीन सेवन करने से कटुता का अनुभव नहीं होता।

असहनशीलता के अनुभव होने पर Quinine sulphate का प्रयोग न कर Qunine hydrobromide का प्रयोग करें। यह औषध जल में घुलनशील है। अतः केवल जल में घोल बनाकर ७-८ ग्रेन की मात्रा में देवें। आमाशय विक्षोभ न होने के लिये भोजन के एक घण्टे बाद अर्थात् आमाशय में कुछ आहार रहने पर देना चाहिये।

गोली-कैप्स्यूल आदि—क्विनीन का प्रयोग मिश्रण के रूप में सद्यः शोषित होने के कारण अधिक लाभकारी होता है। किसी कारण मिश्रण रूप में प्रयोग सम्भव न हो तो ५ ग्रेन की मात्रा में क्विनीन बाई हाइड्रोक्लोर कैप्स्यूल में भर कर ३ कैप्स्यूल प्रति दिन देना चाहिये। क्विनीन सल्फेट कठिनता से घुलता है। अतः कैप्स्यूल, गोली, टिकिया आदि के रूप में क्विनीन बाई हाइड्रोक्लोर अधिक विश्वस्त होता है। शर्करावृत गोली या टिकिया (Sugar coated tablets) कभी-कभी बिना पचे ही मल से निकल जाती हैं इसलिये इनके छोटे टुकड़े बना कर देना अथवा इनके लेने के बाद नींबू का शर्बत पिलाना या गरम कर नींबू चूसने को देना लाभकर होता है।

क्विनीन का प्रयोग एक सप्ताह तक लगातार करने से रोग के पुनरावर्त्तन की सम्भावना कम हो जाती है। आठ से दस दिन तक अन्तर देकर पुनः क्विनीन का प्रयोग अल्प मात्रा में रक्तवर्धक औषधियों के योग से किया जा सकता है। इससे पुनरावर्तन का निरोध, पाचन शक्ति की वृद्धि तथा पाण्डुता दूर होती है। इस दृष्टि से निम्न लिखित योग हितकर होता है :—

Quinine sulphate	gr 4
Acid sulph dil	ms 10
Tr. nuxvomica	ms 5
Ferrous sulphate	gr 3
Mag. sulph	grs 30
Liq. arsenicalis	ms 3
Ext kalmegh	ms 20
Aqua menth pip	oz 1
	१ मात्रा

दिन में २ बार भोजन के बाद।

इस मिश्रण का प्रयोग एक सप्ताह करके पुनः कुछ समय के लिये अन्तर देकर एक सप्ताह और दिया जा सकता है।

तृतीयक और चतुर्थक ज्वर में इस प्रयोग से पुनरावर्तन का पूर्णतया निरोध नहीं हो सकता। अतः प्रथम सप्ताह क्विनीन प्रयोग के बाद एटेब्रिन या मेपाक्रिन एक सप्ताह तक ३ ग्रे० की मात्रा में दिन में ३ बार देना चाहिये।

घातक या तीव्र स्वरूप के विषमज्वर की चिकित्सा—मूर्च्छा, सन्ताप तथा मस्तिष्क विक्षोभ के लक्षण या अतिसार, तीव्र दाह व वमन इत्यादि गम्भीर लक्षण होने पर प्रारम्भ से ही क्विनीन का प्रयोग पूर्ण मात्रा में करना चाहिये। वमन, मूर्च्छा आदि के कारण मुख द्वारा प्रयोग सम्भव न होने पर तथा अधिक मात्रा में तत्काल क्विनीन की रक्त में आवश्यकता होने पर सूचीवेध के द्वारा प्रयोग करना चाहिये।

Quinine bi hydrobromide 10 grs in 2 c. c.
or
Quinine bi hydrochloride 10 grs. in 2 c. c.

शिरा द्वारा (I. V.) १२॥% ग्लूकोज २० सी. सी. में मिलाकर १५ मिनट में धीरे-धीरे लगाना चाहिये।

यदि हृदय कुछ दुर्बल ज्ञात हो रहा हो या नाड़ी द्विगुण हो तो Intravenous inj. के आधा घण्टा पहले—

Coramine 1–7 c. c.
or
Strychnine & digitalin 1/100 Each.

पेशीमार्ग से देने के बाद क्विनीन का प्रयोग करना चाहिये।

यदि सूचीवेध के समय रोगी को बेचैनी, घबड़ाहट तथा नाड़ी में अस्वाभाविकता का अनुभव हो रहा हो (सूचीवेध के समय रोगी की नाड़ी की परीक्षा बीच-बीच में करनी चाहिये) तो कुछ समय के लिये औषध प्रवेश रोक देना चाहिये। लक्षणों की निवृत्ति होने पर पुनः दिया जा सकता है या बाद में दिया जा सकता है। सिरा द्वारा प्रविष्ट क्विनीन ४ से ६ घण्टे के भीतर उत्सर्गित हो जाता है। अतः ६ घण्टे बाद दुबारा पूर्ववत् सिरा द्वारा क्विनीन का प्रयोग अवश्य करना चाहिये। इस बीच में यदि रोगी की स्थिति मुख द्वारा औषध सहन करने के लायक हो चुकी हो तो पूर्वोक्त क्रम से मुख द्वारा प्रयोग प्रारम्भ कर देना चाहिये।

यदि बहुत तीव्रता न हो तो यथाशक्ति, सूचीवेध की आवश्यकता होने पर, पेशी द्वारा क्विनीन का प्रवेश कराना चाहिये।

Quinine bi hydrochlor. 10 grs in 2 c. c.
Sucrose solution in redistilled water 5 c. c. 1 amp.

मिलाकर I. M. नितम्ब में। क्विनीन का घोल २ सी० सी० परिस्रुत जल में पतला कर लेने पर वेदना कम होती है।

क्विनीन का सूची द्वारा प्रयोग करने के पहले पिचकारी की सफाई, सूचीवेध्य स्थल की शुद्धता—शरीर गन्दा होने पर गरम पानी और साबुन से धोकर रेक्टीफाइड स्पिरिट से साफ कर सूख जाने पर टिंक्चर आयोडीन लगाना—आवश्यक है। अन्यथा धनुर्वात और अपचयजनित पूयोत्पत्ति होने की सम्भावना होती है। सूची कम से कम १ या १½ इञ्च भीतर प्रविष्ट कर, कहीं सिरा में न हो ऐसा निर्णय करने के बाद, क्विनीन प्रविष्ट करानी चाहिये।

सन्तापाधिक्य होने पर मस्तक में बरफ की थैली तथा गुदा द्वारा जल का प्रयोग, सिरा द्वारा २००-४०० सी. सी. ग्लूकोज को २५% घोल का प्रयोग पहले सन्ताप की चिकित्सा में बताये हुये क्रम से चलाना चाहिये।

सूचीवेध की व्यापत्तियाँ—

१. क्विनीन के प्रति सूक्ष्म संवेदनशील व्यक्ति, सूचीवेध के द्वारा एक साथ अधिक मात्रा क्विनीन की रक्त में पहुँच जाने के कारण, असहनशीलता जनित गम्भीर लक्षणों से पीड़ित हो सकते हैं।

२. सिरा द्वारा क्विनीन का प्रवेश कराने पर रक्तभार कम हो जाता है। पहले से हीं मूर्च्छा एवं तीव्र सन्ताप के कारण दुर्बल हुआ हृदय इस धक्के को कठिनाई से सहन करता है।

३. क्विनीन तीव्र क्षोभकारक औषध है—सिरा के बाहर निकल जाने पर या मांस पेशियों में शुद्धता की पूरी चेष्टा करने के बाद भी पूयोत्पत्ति कर सकती है।

अतः इन सभी सम्भावनाओं पर विचार करते हुये उचित प्रतिकार के साथ आवश्यकता होने पर सूचीवेध करना चाहिये। जब तक मुख द्वारा औषध-प्रयोग कार्यक्षम हो, सूचीवेध आवश्यक नहीं।

गर्भिणी में क्विनीन का प्रयोग—

क्विनीन गर्भाशय संकोचकारक होने के कारण सगर्भावस्था में प्रयुक्त करने पर गर्भपातकारक मानी जाती है। यदि तीव्र स्वरूप का विषम ज्वर हो तो ज्वर के प्रभाव से गर्भस्राव, गर्भपात या मृत प्रसव की सम्भावना अधिक होती है। वास्तव में क्विनीन का मर्यादित प्रयोग करने पर गर्भपात होने का कोई कारण नहीं। क्विनीन प्रयोग के पहले निम्नलिखित मिश्रण देने से गर्भाशय संकोच की सम्भावना नहीं रहेगी।

Cal lactate	grs 10
Ascorbic acid	mg. 100
phenobarbi tone	gr. 1/2
Soda bi carb	grs 10
Glucose	grs 10
	१ मात्रा

क्विनीन प्रयोग के २ घण्टा पहले।

यथाशक्ति Quinine bihydrobromide का ही प्रयोग गर्भावस्था में ४ से ६ ग्रेन की मात्रा में दिन में ३ बार दूध के साथ करना चाहिये।

क्विनीन की सूक्ष्म संवेदनशीलता—

बहुत से व्यक्तियों को १—२ ग्रेन क्विनीन सेवन के बाद ही असहनशीलता के लक्षण पैदा हो जाते हैं। कानों में भनभनाहट, चक्कर, मध्य कर्ण विकृति, आँखों तथा नासा से स्राव, वमन, प्रवाहिका, श्वासावरोध आदि लक्षण पैदा होते हैं। अधिक मात्रा में क्विनीन का व्यवहार हो जाने पर तथा कभी-कभी साधारण मात्रा के प्रयोग से भी क्विनीन विष (Cinchonism) के लक्षण दिखाई पड़ते हैं। औषध प्रयोग बन्द कर देने पर इन लक्षणों की निवृत्ति हो जाती है। असहनशीलता होने पर क्विनीन का प्रयोग न कर दूसरी औषधियाँ देनी चाहिये।

सिनकोना चूर्ण (Cinchona febrifuge)—इसमें क्विनीन के अतिरिक्त सिनकोना के सभी तत्त्व विद्यमान रहते हैं, जिनमें क्विनीडीन सिनकोनिन की अधिकता और क्विनीन की कमी रहती है। इसका मुख्य प्रभाव तृतीयक और चतुर्थक ज्वर में अच्छा होता है। कुछ लोगों की राय में केवल क्विनीन की अपेक्षा सिनकोना चूर्ण का प्रयोग तृतीयक-चतुर्थक ज्वर के समूल नाश में अधिक उपयोगी होता है। इसका प्रयोग तरल मिश्रण और चूर्ण दोनों ढङ्ग से किया जा सकता है।

Cinchona febrifuge	grs 5 or 10
Citric acid	grs 20
Mag sulph	grs 30
Glycerine	ms 15
Aqua chloroform	oz 1
	१ मात्रा

दिन में ३ बार। खाली पेट नहीं लेना।

सिनकोना का प्रयोग पैल्युड्रिन के साथ मिलाकर करने से रोग की लाक्षणिक निवृत्ति

तथा समूल नाश में सर्वाधिक सफलता मिलती है—ऐसी अनेक अनुसंधानकर्ता विद्वानों की राय है। निम्नलिखित रूप में सिनकोना का प्रयोग आदर्श माना जाता है।

Cinchona febrifuge	grs 5
Paludrine	grs $1\frac{1}{2}$
Yeast tablet	gr 7
	१ मात्रा

दिन में ३ बार।

सात दिन तक इसी योग का सेवन करने से पूर्ण लाभ होता है। सिनकोना में सबसे बड़ा दोष विषाक्त परिणामों का शीघ्र उत्पन्न होना है। कानों की भनभनाहट, वमन, अतिसार, पेशियों की ऐंठन तथा असहनशील व्यक्तियों में आक्षेप इत्यादि लक्षण प्रकट होते हैं। यदि ५ ग्रेन की मात्रा में इसका प्रयोग किया जाय तो विषाक्त परिणाम बहुत कम या विलम्ब से होंगे। साथ ही इसके प्रभाव में कोई भी विपरिणाम नहीं होगा।

इसके प्रयोग का सबसे बड़ा आकर्षण इसकी अल्पव्यय सुलभता तथा तृतीयक-चतुर्थक में क्विनीन की अपेक्षा अधिक लाभ माना जा सकता है। इसके क्षारीय तत्त्वों का सन्तुलित सत्त्व टोटा क्विना के नाम से मिलता है जिसमें क्विनीन की मात्रा पर्याप्त होती है। इसका प्रयोग क्विनीन एवं सिनकोना दोनों के स्थान पर घातक विषम ज्वर के अतिरिक्त सभी रूपों में किया जाता है।

क्विनीन के स्वादहीन योग—

क्विनीन प्रयोग में सर्वाधिक आपत्ति उसकी कटुतिक्तता है। इसके लिये बहुत अनुसंधान के बाद दो प्रयोग प्राप्त हुये हैं, जिनमें स्वाद बिल्कुल नहीं होता।

१. अरिष्टोचीन (Aristochine, Bayer)—इसमें ९६% क्विनीन की मात्रा होती है। बच्चों में अवस्था के अनुसार २ से ५ ग्रेन दिन में ३ बार देने से उपयोगी होता है। यह जल में पूर्ण अविलेय है अतः कभी-कभी बिना पचे हुये निकल जाने का सन्देह रहता है। विशेषकर व्याधि की तीव्रावस्था में विश्वासपूर्वक इसका प्रयोग नहीं किया जा सकता।

२. यूक्विनीन (Euquinine)—इसमें क्विनीन की मात्रा अरिष्टोचीन की तुलना में कम होती है। क्विनीन एथिल कार्बोनेट के रूप में पूर्णतया स्वादहीन होता है। बच्चों या कोमल प्रकृति के दूसरे व्यक्तियों में इसका प्रयोग क्विनीन से कुछ अधिक मात्रा में करने से क्विनीन के समान ही लाभ होता है। बच्चों में निम्नलिखित योग के रूप में इसका प्रयोग व्यापक प्रभावकारी होता है—

Euquinine	grs 2
Hydrag c creta	gr 1/6
Glucose	grs 5
	१ मात्रा

दिन में तीन बार देने से यकृत् का शोधन व ज्वर की शान्ति शीघ्र हो जाती है।

नवीन औषधें—

क्विनीन का स्थान ग्रहण करने के लिये अनेक देशों में बहुत अनुसंधान के बाद कृत्रिम रूप से क्विनीन के गुण से सम्पन्न अनेक औषधियों का आविष्कार किया गया है। उनमें कुछ अनेक अंशों में क्विनीन से अधिक उपयोगी हैं।

(१) Chloroquine—इसके अनेक योग बहुत सी कम्पनियों के मिलते हैं। Resochin (वेयर) Nivaquin (मे वेकर) Camoquin (P. D.) Avlochlor (I. C. I.) इसमें क्लोरोक्विन के यौगिक क्लोरोक्विन डाइफास्फेट और क्लोरोक्विन सल्फेट के रूप में तथा सूचीवेध के लिये क्लोरोक्विन हाइड्रोक्लोराइड के रूप में मिलते हैं।

प्रयोग—उक्त दोनों वर्ग की औषधों का गुण धर्म प्रायः समान होता है। विषम ज्वर की लाक्षणिक निवृत्ति क्विनीन की तुलना में अधिक शीघ्र होती है। किन्तु चतुर्थक ज्वर में इसके पर्याप्त प्रयोग के बाद भी पुनरावर्तन की सम्भावना अधिक होती है। इसके प्रयोग के दो क्रम हैं—

प्रथम मात्रा २ टिकिया, आठ घण्टे बाद पुनः एक टिकिया, आगे प्रति दिन १ टिकिया दिन में एक बार तीन दिन तक दिया जाता है। किन्तु अधिकांश रोगियों में प्रारम्भिक मात्रा सह्य नहीं होती। एक टिकिया दिन में २ बार लगातार तीन दिन तक देने से प्रतिकूल परिणाम नहीं होते।

विश्व स्वास्थ्य (W. H. O.) केन्द्र ने इसके व्यापक प्रयोगों का तुलनात्मक मूल्याङ्कन करने के बाद निम्नलिखित क्रम से सर्वाधिक प्रभावशाली प्रयोग निर्देश किया है।

इसकी पूर्ण मात्रा एक व्यक्ति को मुक्त होने के लिये २.५ ग्राम है। पहले दिन ½ ग्राम की दो मात्रा, उसके बाद तीन दिन तक ½ ग्राम की एक मात्रा प्रतिदिन देनी चाहिये।

भारतीय चिकित्सकों के अनुभव में उक्त क्रम निर्दुष्ट नहीं सिद्ध हुआ। इससे रोगी को अरुचि, निद्रानाश, चक्कर तथा अवसाद के लक्षण अधिक होते हैं। निम्नलिखित क्रम से प्रयोग करने पर इसका गुण पूर्ण होता है और हानि कम होती है।

प्रथम मात्रा ०·३ ग्राम, दूसरी मात्रा आठ घण्टे पर ·१५ ग्राम, दूसरे दिन से ·१५ ग्राम की दो मात्रा लगातार चार दिन तक दी जानी चाहिये।

घातक विषम ज्वर की तीव्रावस्था में कैमाक्विन के प्रयोग से शीघ्र लाभ होता है। रोग प्रतिषेध के लिये भी २ ग्रेन की मात्रा में प्रतिदिन लेने से लाभकारक होती है।

(२) Paludrine—यह डाइग्वानाडीन वर्ग की औषधि है। इसकी निम्न विशेषतायें होती हैं।

१. विषम ज्वर जीवाणु के क्षुल्लकेत और व्यवाय कायाणु अवस्था को छोड़कर सभी स्थितियों में इसके प्रयोग से लाभ होता है। व्यवाय कायाणु यद्यपि इसके प्रयोग से नष्ट नहीं होते, किन्तु उनकी संबर्धन शक्ति मच्छर के शरीर में जाने पर जागृत नहीं होती।

२. इसके विषैले परिणाम चिकित्स्य मात्रा में प्रयोग करने पर बहुत अल्प या नहीं उत्पन्न होते।

३. रुधिर कायाणु बाह्य तथा अंशुकेतावस्था में जीवाणुओं पर इनका घातक प्रभाव होता है, जिससे व्याधि का प्रतिकार तथा लाक्षणिक निवृत्ति दोनों कार्य हो जाते हैं।

४. क्विनीन तथा मेपाक्रिन की तुलना में रोग-शमन का गुण इसमें कम होता है। अतः व्याधि की तीव्रावस्था में इसका प्रयोग शीघ्र गुणकारी नहीं हो सकता।

मात्रा—१ टिकिया (·१ ग्राम) की मात्रा में दिन में ३ बार एक सप्ताह तक। रोग प्रतिषेध के लिये ·३ ग्राम की मात्रा में सप्ताह में १ बार। अत्यावश्यक होने पर ·३ ग्राम की मात्रा में सिरा द्वारा।

(३) Mepacrine Hydrochloride—यह एक्रिडीन वर्ग की पीले रङ्ग की औषध है। इसकी निम्नलिखित विशेषतायें हैं।

१. तृतीयक-चतुर्थक तथा घातक विषम ज्वर के अंशुकेतों का नाश शीघ्रता से होता है। क्विनीन का सबसे अधिक परिणाम तृतीयक पर और उससे कम चतुर्थक और उससे भी कम घातक पर होता है। अतः चतुर्थक व घातक के लिये क्विनीन की अपेक्षा अधिक उत्तम औषध है।

२. विषैले परिणाम दूसरी औषधों की अपेक्षा कम होते हैं और असहनशीलता भी कम होती है।

३. गर्भाशय संकोचकारक दोष इसमें न होने के कारण गर्भिणी स्त्री तथा कोमल प्रकृति के व्यक्तियों में कालमेह की स्थिति में निरापद रूप में किया जा सकता है।

४. पुनरावर्तन निरोधक शक्ति क्विनीन की अपेक्षा अधिक और पैल्युड्रिन की अपेक्षा कम होती है।

५. तरुण विषम ज्वर तथा जीर्ण विषम ज्वर दोनों स्थितियों में इसके प्रयोग से संतोषजनक लाभ होता है। प्लीहावृद्धि में भी शान्ति मिलती है।

६. हृदय तथा रक्त वाहिनियों पर दूषित परिणाम न होने के कारण हृत्शोथ से पीड़ित रोगियों में निर्भयतापूर्वक प्रयोग किया जा सकता है।

७. इसका सेवन करने से शरीर की कोषाओं में पीतवर्ण के रंजक द्रव्य का संचय होने के कारण नेत्र, त्वचा, नख इत्यादि का वर्ण पीला हो जाता है। कुछ लोग इस पीलेपन को ही इसकी उपयोगिता की कसौटी मानते हैं। यदि इसके प्रयोग के बाद नेत्रादि में पीलापन न हो तो शरीर के भीतरी अंगों में उसका संचय हो रहा है, ऐसा समझ कर इसका प्रयोग बन्द कर देना चाहिये। यह पीलापन औषध बन्द कर देने के एक सप्ताह बाद स्वतः ठीक हो जाता है। यह Cerebral malaria की उत्तम औषध है। किन्तु चिन्ताजनक स्थिति में कैमाक्विन व क्विनीन अधिक विश्वसनीय औषध हैं।

मात्रा—०·१ ग्राम (१॥ ग्रेन) दिन में ३ बार भोजन के बाद सात दिन तक। पुराण विषम ज्वर में पहले दिन ९ गोली, दूसरे दिन ६, तीसरे दिन के बाद तीन दिन तक ३ प्रति दिन। इस मात्रा के अनुसार सेवन करने पर शीतल प्रयोग, डाभ का पानी इत्यादि पर्याप्त पीना चाहिये अन्यथा वमन, उद्वेष्टन, यकृत्-शोथ, कामला, मूत्रावरोध आदि विषैले लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं। आत्ययिक स्थिति में पेशी या सिरा के द्वारा एटेब्रिन मूसोनेट या मेपाक्रिन मेथिन सल्फोनेट ·३ ग्राम की मात्रा १० सीसी समबललवण जल में मिला कर देना चाहिये।

बेयर की एटेब्रिन, मेबेकर की क्विनाक्रिन तत्सम औषधें हैं।

(४) Pamaquin—यह अमिनो क्विनालिन वर्ग की औषध है। इसकी विशेषतायें निम्नलिखित हैं—

१. यह व्यवाय कायाणुओं पर मारक प्रभाव दिखाने वाली सर्वोत्तम औषध है। इसका स्वाद रसहीन एवं गर्भाशय तथा अन्य अंगों पर क्षोभोत्पादक न होने के कारण शिशुओं एवं सगर्भा स्त्रियों में प्रयोग किया जा सकता है। रुधिर कायाणु बाल्यावस्था के नाशन में इसका प्रभाव अल्प तथा व्यवाय कायाणुओं पर सर्वाधिक होता है। अतः इसका प्रयोग मुख्यतया रोगप्रसार प्रतिबन्धक माना जाता है।

२. यह औषध बहुत विषैली होती है। रक्तकणों का नाश, रक्तस्रावी वृक्कशोथ, रक्तक्षय, कामला, वमन, उदरशूल, हीनरक्त निपीड़, श्यावास्यता, निपात इत्यादि लक्षण पैदा करके घातक परिणाम भी उत्पन्न कर सकती है।

३. विषमज्वर की लाक्षणिक निवृत्ति इसके प्रयोग से शीघ्र नहीं होती अतः चिकित्सा के लिये इसका प्रयोग नहीं किया जा सकता।

मात्रा—$\frac{1}{6}$ से $\frac{1}{4}$ ग्रेन (.०१ ग्राम) दिन में तीन बार एक सप्ताह तक भोजन के बाद।

पेन्टाक्विन, प्रिक्विन, प्लाज्मोचीन इसकी सजातीय औषधियाँ हैं। इसकी औषधि-मात्रा

एवं विषकारक मात्रा में अधिक अन्तर नहीं होता अतः प्रयोग करते समय निम्नलिखित सावधानी होनी चाहिये—

१. इसका मुख्य गुण व्यवाय कायाणुओं का नाश है, अतः ज्वरहर ओषधियों से ज्वर-निवृत्ति होने के बाद व्यवाय कायाणुओं के नाश के लिये इसका प्रयोग किया जा सकता है, रोग की लाक्षणिक चिकित्सा के लिये नहीं।

२. इस ओषधि के प्रयोग के समय मेपाक्रिन या उसके सजातीय द्रव्यों का तथा सल्फा ड्रग्स का व्यवहार नहीं करना चाहिये, क्योंकि यह सभी ओषधियाँ रक्तकणों का नाश तथा समान रूप से विषात्मक लक्षण पैदा करती हैं।

(५) Daraprim—यह पाइरीयेथामाइन वर्ग की औषध है। अल्पतम मात्रा में रोग की लाक्षणिक निवृत्ति तथा प्रतिषेध दोनों कार्य करती है। स्वादहीन होने के कारण बच्चों के लिये विशेष उपयोगी है। १ गोली ३ बार ४-५ दिन तक।

जीर्ण विषम ज्वर से प्लीहा अधिक बढ़ जाने पर निम्नलिखित व्यवस्था से लाभ होता है—

आस्कोली चिकित्सा (Ascoli's treatment)—इसमें Adrenaline hydrochloride 1 in 10000 का सिरा द्वारा एक बूँद की मात्रा में प्रतिदिन प्रयोग करते हैं। प्रतिदिन एक-एक बूँद मात्रा बढ़ाते जाते हैं और अन्त में आधा सी० सी० 1 in 1000 देते हैं। पन्द्रह दिन तक यही मात्रा लगातार दी जाती है। Adrenaline की कुल मात्रा २–२½ मिलीग्राम से अधिक नहीं पहुँचनी चाहिये। इसके प्रयोग से प्लीहा में संकोच होकर उसकी वृद्धि शीघ्र घटने लगती है। प्लीहा, यकृत् आदि अंगों में छिपे हुये विषमज्वर के जीवाणु निकल कर रक्तप्रवाह में आ जाते हैं जहाँ ज्वरशामक दूसरी ओषधियों के प्रयोग से उनका नाश हो जाता है। इस चिकित्सा-क्रम से रोगी को प्रायः बेचैनी, घबराहट इत्यादि कष्ट बहुत बढ़ जाते हैं, जिससे पूरा प्रयोग चला सकना सम्भव नहीं हो पाता। इतने अधिक दिन तक बड़ी सावधानी के साथ इस ओषधि का प्रयोग बिना आतुरालय में प्रविष्ट हुये सम्भव नहीं, अतः यह व्यावहारिकता की दृष्टि से उपयोगी नहीं। यह विषमज्वर के जीवाणु के लिये हानिकारक नहीं, उचित ज्वरशामक ओषधियों का साथ में प्रयोग अवश्य करना चाहिये। निम्नलिखित प्रयोग प्लीहावृद्धि को रोकते हैं—

R/		
	Ferri et quinine citras	grs 5
	Tr. nuxvomica	ms 5
	Liqu arsenicalis	ms 3
	Glycerine	ms 10
	Aqua	oz 1
		१ मात्रा

दिन में २ बार भोजन के बाद।

इसी योग से विषम ज्वर जन्य रक्ताल्पता की भी निवृत्ति होती है। लौह, विटामिन बी काम्प्लेक्स, लिवर एक्स्ट्रैक्ट आदि का प्रयोग भी हितकारक है।

प्लीहावृद्धि के अतिरिक्त घातक स्वरूप के विषम ज्वर में मूर्च्छा, विसूचिका के समान अतिसार, वमन तथा श्वास-कास के लक्षण पैदा होते हैं, जिनकी लाक्षणिक चिकित्सा तथा विशिष्ट ओषधियों का प्रयोग पूर्वोपदिष्ट क्रम से करना चाहिये।

व्यावहारिक निर्देश—

१. ज्वर की तीव्रावस्था में पूर्ववर्णित क्रम से क्विनीन का प्रयोग या पूर्ण मात्रा में क्लोरोक्विन वर्ग की ओषधियों का प्रयोग सर्वोत्तम होता है।

२. ज्वर-मुक्ति के बाद भी जीवाणुओं का पूर्ण निर्मूलन नहीं होता। क्विनीन व पामाक्विन का प्रयोग संयुक्त रूप से एक सप्ताह तक करने से स्थायी लाभ तथा रोग-प्रसार-प्रतिषेध दोनों ही कार्य पूर्ण होते हैं।

R/	Quinine sulph	grs 3
	Pamaquin	gr $\frac{1}{2}$
	Yeast	1 tab.
		१ मात्रा

दिन में ३ बार ३ दिन तक। २ बार ३ दिन तक। १ बार तीन दिन तक।

३. जीर्ण स्वरूप के विषम ज्वर में क्विनीन-पामाक्विन की अपेक्षा पैल्युड्रिन-पामाक्विन अधिक संतोषजनक काम करता है। इम्पिरियल केमिकल कम्पनी का एक योग इस प्रकार का है। अथवा निम्नलिखित मात्रा में मिश्रण बना कर प्रयोग करना चाहिये।

Paludrine	gr I
Pamaquin	gr 1/6
	१ मात्रा

दिन में ३ बार ५ दिन तक।

४. तृतीयक स्वरूप के ज्वर की शान्ति के लिये क्विनीन सर्वोत्तम आशुकारी तथा कैमाक्विन पूर्ण मात्रा में प्रयोग करने पर नवीन विषम ज्वर में क्विनीन की अपेक्षा कम गुणकारी होती है। केवल क्विनीन के प्रयोग से व्याधि के पुनरावर्तन की सम्भावना रहती है। अतः ज्वरमुक्ति के बाद पूर्व वर्णित क्रम से पामाक्विन के साथ किसी औषध का प्रयोग करना पड़ता है।

५. तृतीयक ज्वर के लिये अधिकांश अनुभवी चिकित्सक टोटाक्विना और सिनकोना फेब्रिफ्यूज को अधिक उत्तम मानते हैं। विश्व स्वास्थ्यकेन्द्र (W. H. O.) ने निम्नलिखित योग सर्वोत्तम प्रमाणित किया है।

Totaquina	grs 5
Paludrnie	0·1 gm
Yeast	0·5 gm
	१ मात्रा

दिन में ३ बार नीबू के शर्बत के साथ एक सप्ताह तक।

टोटाक्विना के स्थान पर सिनकोना फेब्रिफ्यूज मिलाया जा सकता है।

६. चतुर्थक स्वरूप के विषम ज्वर में क्लोरोक्विन या कैमाक्विन का प्रयोग २ ग्रेन की मात्रा में दिन में ३ बार एक सप्ताह करने से लाभ होता है। दूसरी ओषधियों की अपेक्षा चतुर्थक के लिये यह अधिक विश्वस्त हैं।

७. मेपाक्विन पूर्व वर्णित क्रम से चातुर्थक ज्वर के लिये क्लोरोक्विन से हीन तथा क्विनीन से उत्तम ओषधि है।

८. घातक विषम ज्वर (Cerebral) के लिये आशुकारिता की दृष्टि से क्विनीन सर्वश्रेष्ठ औषध है। मलेरिया तथा कालमेह के उपद्रव की सम्भावना होने पर इसके प्रयोग से लाभ कम होता है या इन उपद्रवों के बढ़ने की सम्भावना होती है। अतः क्लोरोक्विन वर्ग की ओषधियों का प्रयोग पूर्ण मात्रा में अथवा मेपाक्विन का प्रयोग पूर्व वर्णित द्वितीय क्रम से करना चाहिये। इसमें पुनरावर्तन की सम्भावना कम होती है। अतः ज्वरमुक्ति के बाद पामाक्विन के प्रयोग की अधिक आवश्यकता नहीं।

प्रतिषेध—

सामान्य—मच्छरों के वासस्थान की पूर्ण शुद्धि, तालाब, झाड़ी, कूड़ा इत्यादि की सफाई तथा D. D. T., मिट्टी का तेल, पोटास, फार्मेलिन, तूतिया इत्यादि का प्रयोग करके मच्छरों का पूर्ण विनाश। शरद एवं वसन्त ऋतु में मच्छरों की अधिक वृद्धि होती है, अतः दीवाली जल्दी मनाकर घर की खूब सफाई करनी चाहिये।

विशिष्ट—मच्छरों का आक्रमण रात्रि में अधिक होता है, अतः बाहर की यात्रा दिन में ही करनी चाहिये। रात को सोते समय मच्छरदानी का नियमित प्रयोग होना चाहिये। कड़ुये तेल की मालिश और पंखा की हवा से मच्छर दूर रहते हैं। विषम ज्वर प्रधान जनपदों में जाने पर पहले से ही सप्ताह में एक या दो बार पैल्युड्रिन ०·३ ग्राम की मात्रा मे नियमित रूप से लेते रहना चाहिये। रोगी के रोगमुक्त होने के उपरान्त व्यवाय कायाणुओं का पूर्ण विनाश कर देने से विषम ज्वर का प्रसार निश्चित अवरुद्ध हो सकता है। इसके लिये पामाक्विन-क्विनीन या पामाक्विन पैल्युड्रिन का ज्वर-मुक्ति के बाद सेवन अवश्य कराना चाहिये।

चिकित्सा प्रारम्भ करने के पूर्व ज्वरोत्पादक जीवाणु का सही निर्णय कर तदनुरूप ओषधियों का प्रयोग पूर्ण मात्रा में करना चाहिये, जिससे रोग का पुनरावर्तन और प्रसार न हो सकेगा।

कालमेहज्वर (Black water fever)—

निदान—इस रोग का वास्तविक कारण ज्ञात नहीं है, किन्तु मारात्मक विषम

ज्वर से आक्रान्त प्रदेश में विषम ज्वर से पीड़ित रोगियों में अधिक मिलता है। प्रायः रोगाक्रमण के समय रक्त-परीक्षा में विषम ज्वर जीवाणु की उपस्थिति भी मिलती है। इसके लक्षणों की तुलना घातक विषम ज्वर के लक्षणों से कुछ अंशों में की जा सकती है। विषम ज्वर का जिस ऋतु में प्रकोप होता है, उसी में कालमेह के रोगी भी अधिक मिलते हैं।

इस रोग से पीड़ित रोगियों में निम्नलिखित इतिवृत्त मिला करता है—

घातक विषम ज्वर का अनुबन्ध, दीर्घकाल तक अनियमित स्वरूप से विषम ज्वर से पीड़ित होने का अनुबन्ध, ज्वरशामक ओषधियों का अपर्याप्त एवं अव्यवस्थित प्रयोग—विशेषकर क्विनीन का। युवा पुरुषों में शरद् एवं वर्षा ऋतु में इसका विशेष आक्रमण, अति शीतोपचार, अत्यधिक श्रम, मद्यपान एवं आवर्तक ज्वर का उपसर्ग आदि विशेषताओं का रोगी में इतिहास मिलता है। सामान्यतया ज्वर के प्रारम्भिक आक्रमण के समय इस प्रकार का कष्ट न होकर पुनः-पुनः आक्रमण के बाद ही कालमेह का प्रकोप होता है।

लक्षण—अनुतृतीयक ज्वर से महीनों तक पीड़ित रहने के कुछ दिन बाद पुनः मन्दज्वर, त्वचा की पाण्डुरता, नेत्र में कामला की उपस्थिति, जिह्वा मलावृत एवं शुष्क, शिरोवेदना, यकृत् बढ़ा हुआ एवं वेदनायुक्त, प्लीहा बढ़ी हुई मृदु कदाचित् कठोर, कोष्ठ-बद्धता इत्यादि लक्षणों के साथ मूत्र में काले वर्ण के रक्त सदृश पदार्थ का उत्सर्ग होता है। रोग का तीव्र आक्रमण होने पर पित्त-वमन, प्रकम्प, कटि-बस्ति-यकृत्-प्लीहा-आमाशय आदि अंगों पर तीव्र उद्वेष्टन और पीड़ा, अविसर्गी स्वरूप का ज्वर होने के बाद रोगी को मूत्र त्यागने की इच्छा होने पर कठिनाई से गाढ़ा-गाढ़ा काले वर्ण का रक्त सदृश मूत्र निकलता है। उत्तरोत्तर यकृत्-प्लीहा की वेदना, पित्तप्रवाहिका तथा शरीर में कामला के लक्षण बढ़ते जाते हैं और मूत्र अधिक गहरा हो जाता है। कुछ समय के बाद प्रस्वेदन होकर ज्वरमुक्ति हो जाती है और धीरे-धीरे मूत्र का रंग स्वाभाविक हो जाता है। रोग के एक ही आक्रमण के बाद रोगी बहुत क्षीण हो जाता है।

व्याधि की तीव्रता की दृष्टि से मृदु और तीव्र दो भेद कालमेह के किये जाते हैं। यदि लक्षण सौम्य स्वरूप के हों और मूत्र में रक्त की अल्प मात्रा में उपस्थिति हो और चौबीस घण्टे के भीतर मूत्र का रंग स्वाभाविक हो जाय तो आवेग मृदु स्वरूप का अथवा लक्षणों की उग्रता होने पर तीव्र स्वरूप का माना जाता है। मूत्र की परीक्षा में रक्त की उपस्थिति, विशेषकर जारशोण वर्तुलि, समशोण वर्तुलि और मूत्र पित्तिजन (Methaemoglobin, oxyhaemoglobin, urobilin) की उपस्थिति से वर्ण लाल या काले रंग का होता है। मूत्र की प्रतिक्रिया अम्ल तथा उसमें पर्याप्त मात्रा में शुक्लि की उपस्थिति होती है। निर्मोक तथा कोषायें (Casts & cells) मूत्र के अधःक्षेप में बहुत मिलती हैं।

इस व्याधि में रक्त के कणों का तथा शोणवर्तुलि का विनाश होने तथा वृक्क में शोथ होने से इस प्रकार के लक्षण पैदा होते हैं।

संक्षेप में घातक विषम ज्वर के प्रदेश में प्रवास, अनियमित चिकित्सा, दीर्घकालानुबन्धि ज्वर, मिथ्याहार-विहार तथा आक्रमण के समय यकृत्-प्लीहा-बस्ति-प्रदेश में तीव्र उद्वेष्टन, कामला के लक्षणों की उपस्थिति और मूत्र में ऊपर लिखे हुये द्रव्यों की उपस्थिति, वर्ण की कृष्णता, रोगी की क्षीणता एवं रक्तक्षय का परीक्षण करते हुये कालमेह का विनिश्चय किया जा सकता है। रक्त-परीक्षा में विषम ज्वर के घातक जीवाणु की उपस्थिति एवं पित्तरक्ति (Urobilin) की उपस्थिति होने पर निदान में सहायता मिलती है।

उपद्रव—मूत्राघात, रक्तक्षय, वमन, हिक्का, शूल, निपात, परमसन्ताप, रक्तस्राव इत्यादि उपद्रव इसमें होते हैं।

सापेक्ष्य निदान—शोणित मेह, साधारण विषम ज्वर, रक्तस्राव, उपद्रुत कामला इत्यादि व्याधियों से इसका पार्थक्य करना चाहिये। अनेक बार पामाक्विन का अधिक समय या अधिक मात्रा में प्रयोग करने पर मूत्र में इसी प्रकार के लक्षण मिलते हैं, अतः रोगी से इस औषधि के सेवन का विवरण जान लेना चाहिये।

चिकित्सा—

सामान्य चिकित्सा—कालमेह के आक्रमण का अनुमान होने पर रोगी को पूर्ण विश्राम, शीत से बचाव तथा गरम पानी थैली में भर कर पैर-कमर-बस्ति प्रदेश में सेंक, थोड़ा-थोड़ा गरम पानी पीने का निर्देश, यथाशक्ति आहार का निषेध, यव का यूष-दूध-ग्लूकोज-सोडा बाई कार्ब पानी में मिलाकर पेय के रूप में तथा सन्तरा-मुसम्मी का रस-डाभ का पानी पर्याप्त मात्रा में देना चाहिये। डाभ का पानी इसके लिये आहार और औषध भी है।

क्षार-सेवन से रक्त की अनूर्जता का नाश होकर मूत्रोत्सर्ग में भी सुविधा होती है, अतः पर्याप्त मात्रा में क्षार-सेवन मूत्र की प्रतिक्रिया क्षारीय होने तक कराना चाहिये। कोष्ठ शुद्धि के लिये मृदु विरेचक औषधियों का प्रयोग तथा आवश्यक होने पर हृदय के लिये बलकारक द्रव्यों की योजना करनी चाहिये।

गरम जल में मुलायम कपड़ा भिगोकर दिन में २–३ बार शरीर की सफाई कर देने से मूत्रविषमयता को शान्ति होती है और रोगी को आराम मिलता है।

ओषधि-चिकित्सा—कालमेह का निश्चित कारण ज्ञात न होने के कारण इसकी चिकित्सा में लाक्षणिक उपशम तथा उपद्रवों का प्रतिकार एवं बल संवर्धन इन्हीं दृष्टियों से व्यवस्था की जाती है।

मूल कारण ज्ञात न होने पर भी अधिकांश रोगियों में घातक विषम ज्वर के जीवाणु की उपलब्धि के कारण ज्वरादि का अनुबन्ध होने पर निम्नलिखित व्यवस्था करनी चाहिये।

१. Mepacrine hydrochloride 0·3 gm. की मात्रा में 10 c. c. Normal saline मिलाकर सिरा द्वारा सूचीवेध देना चाहिये। यदि वमन आदि का उपद्रव न हो तो सूचीवेध के बाद मुख द्वारा मेपाक्रीन की १ टिकिया प्रति चार घण्टे पर अथवा मुख द्वारा प्रयोग सम्भव न हो तो पुनः बारह घण्टे बाद सूचीवेध का प्रयोग करना चाहिये।

२. Chloroquin वर्ग की ओषधि को प्रथम मात्रा में ४०० मि. ग्रा. बाद में २०० मि. ग्रा. ४ घण्टे के अन्तर पर ३ दिन तक देने से पूर्ण लाभ होता है।

३. नागवेल या नागफनी (Vitex peduncularis, gluconate ltd.) का क्वाथ बनाकर पिलाने से अथवा सूचीवेध के द्वारा Vitex का प्रयोग करने से लाभ होता है।

इसके प्रधान लक्षणों की चिकित्सा का वर्णन नीचे किया जाता है।

वमन—वमन अधिक होने के कारण द्रवांश का उचित ग्रहण असम्भव हो जाता है। जिससे रोग की असाध्यता बढ़ जाती है। इसकी शान्ति के लिये सद्यः उपचार करना चाहिये।

Hydrag subchlor	gr 1/4
Chloretone	gr 1
Menthol	gr 1/4
Thi diamin	tab. 1/4
Sodabicarbe	gr 3
Glucose	gr 5
	१ मात्रा

प्रति १५ मिनट पर शतपुष्पार्क के साथ। ८ से १६ मात्रा तक आवश्यकतानुसार।

इस योग से शान्ति न मिलने पर—Adrenaline hydrochloride in 1000, १० बूंद की १ मात्रा जिह्वा के नीचे प्रति आधे घण्टे पर। निम्नलिखित योग वमन की शान्ति के लिये बहुत उपयोगी सिद्ध होगा—

R/

Adrenaline chloride	ms 2
Tr iodine rectified	m 1
Acid hydrocynic dil	m 1
Spt rectified	m 5
Syp aurantii	dr 1
Aqua chloroform	oz 1
	१ मात्रा

प्रति आधे घण्टे पर। कुल ४ मात्रा।

वमन शान्त होने पर रोगी को डाभ का पानी, यवपेया, शतपुष्पार्क पर्याप्त मात्रा में देना चाहिये। षडङ्ग पानीय, धान्य पञ्चक का फाण्ट, गुडूच्यादि हिमकषाय, पर्पटार्क में से किसी का प्रयोग जल के स्थान में करने से पैत्तिक लक्षणों की शान्ति और उपद्रवों का प्रतिरोध सन्तोषजनक रूप में मिलता है। क्षार के प्रयोग से मूत्रावरोध की सम्भावना नहीं रहती, अतः दिन भर में कम से कम २-४ सेर तक क्षारीय जल निम्न प्रकार से बनाकर देना चाहिये।

Soda bicarb	dr 2
Glucose	oz 1
Aqua	1 lit

यह मिश्रण पर्पटार्क या शतपुष्पार्क में तैयार होने पर अधिक लाभ करता है।

हृदय की शक्ति स्थिर रखने के लिये normal saline 100 c. c. ग्लूकोज ५% 100 c. c. मिलाकर देना चाहिये।

आवश्यकता पड़ने पर ग्लूकोज का प्रयोग अधस्त्वचीय मार्ग से किया जा सकता है। हृदय की दुर्बलता के कारण सिरा द्वारा प्रयोग उचित नहीं जान पड़ता। हृदय अधिक दुर्बल होने पर ग्लूकोज के साथ उचित मात्रा में Insuline मिलाकर देना चाहिये।

Coramine या Cordiazole. इनमें से किसी का प्रयोग हृदयोत्तेजन तथा जीवतिक्ति C, क्लॉडेन आदि का रक्तस्रावावरोध के लिये प्रयोग करना चाहिये।

हिक्का व परमसंताप के उपद्रव होने पर उसकी चिकित्सा पूर्व वर्णित क्रम से विधिवत् करनी चाहिये।

मूत्राघात—यह कालमेह का एक घातक लक्षण या उपद्रव है। रक्तनिपीड की हीनता एवं वृक्क की विकृति के कारण मूत्रोत्पत्ति बन्द हो जाती है। रक्त निपीड की वृद्धि के लिए समबल लवण जल-ग्लूकोज का प्रयोग किया जा सकता है, किन्तु हृदय की दुर्बलता, मांस पेशी अपजनन (Myocardial degeneration) एवं तीव्र रक्तक्षय के कारण धात्वग्नि के द्वारा जलीयांश का पूर्ण ग्रहण नहीं हो पाता, जिससे श्वसनांगों में जल का सञ्चय होकर उपद्रव बढ़ जाने की सम्भावना होती है। वृक्क की विकृति के कारण जल का अधिक प्रयोग लाभप्रद नहीं होता। अतः दिन में १ सेर से अधिक जल न देना चाहिये।

चिकित्सा—सोडियम लैक्टेट तथा सोडाबायकार्ब को जल में मिलाकर थोड़ा-थोड़ा पीने को देना चाहिये। अल्कासाइट्रन (Alkacitron) या पहले वर्णित क्षार मिश्रण का प्रयोग भी लाभकारी होता है। समबल सोडियम सल्फेट (Isotonic sodium sulphate solution) के पूर्ण विशोधित घोल का १००-२०० C. C.

की मात्रा में बूँद-बूँद क्रम से सिरा द्वारा देना चाहिये। सिरा द्वारा प्रयोग सम्भव न होने पर अनुवासन वस्ति के रूप में Rectal drip का प्रयोग द्विगुण मात्रा में दिन में २ बार कराने से मूत्रोत्पत्ति में सहायता मिलती है।

रुधिर कायाणु द्रावण—वास्तव में यही उपद्रव कालमेह की गम्भीरता का मुख्य कारण है। इसके लिये निम्न प्रयोग कुछ लाभकारी सिद्ध हुये हैं—

१. नागफनी का प्रवाही सत्त्व (Liquid extract vitex peduncularis) इसका प्रयोग ३०-६० बूँद की मात्रा में ३ बार या Vitex का प्रयोग सूचीवेध द्वारा।

२. निकट के स्वस्थ कुटुम्बी का रक्त १०-२० सी० सी० की मात्रा में प्रातः नितम्ब की पेशी में।

३. एण्टी वेनिन (Antivenin) दिन में २-३ बार पेशीगत सूचीवेध से।

४. ग्लूकोज २५% का १०० सी० सी० सिरा द्वारा या ५%-१२½% २०० सी० सी० मांसपेशी द्वारा दिन में २ बार।

५. जीवतिक्ति सी के साथ कैलसियम का प्रयोग भी कुछ लाभ करता है। रोग की तीव्रावस्था निकल जाने पर रुधिर कायाणु की वृद्धि, शोणांश वृद्धि के लिये यकृत् के योग तथा लौह का प्रयोग करना चाहिये। स्थान परिवर्तन से इसमें विशेष सुधार होता है। रूक्ष तथा उष्ण स्थानों में, समुद्री या पहाड़ी स्थानों में प्रवास से लाभ होता है।

काल ज्वर (Kala-azar)

यह जीर्ण स्वरूप का कालानुबंधी संक्रामक विकार है, जिसमें अनियमित तीव्र या मन्द स्वरूप का ज्वर, यकृत् तथा प्लीहा की वृद्धि, रक्त क्षय, रक्तस्रावी प्रवृत्ति एवं शरीर की कृशता-क्षीणता-कृष्णवर्णता आदि लक्षण होते हैं। इसका उत्पादक कारण लीशमान डोनो वान पिण्ड (Leishman Donovan body) का उपसर्ग होता है। इसका प्रसार मरुमक्षिका के दंश से होता है।

यह रोग भारत वर्ष में आसाम, बंगाल, बिहार, उड़ीसा, पूर्वी उत्तर प्रदेश एवं मद्रास आदि आर्द्र एवं उष्ण जलवायुवाले जनपदों में अधिकता से होता है। इसका प्रकोप एक ही स्थान में सीमित—प्रायः स्थानपदिक रूप में होता है। क्वचित् तीव्र स्वरूप के व्यापक मरक के रूप में भी इसका प्रसार हो सकता है। पिछले कुछ वर्षों में पूर्वापेक्षया इसकी व्यापकता बढ़ी है।

लीशमन डोनोवान पिण्ड की दो विशिष्ट अवस्थायें होती हैं—अतन्तुपिच्छी (Non Flagellate) तथा तन्तुपिच्छी (Flagellate)। अतन्तुपिच्छी अवस्था मनुष्य के शरीर में मिलती है। इस अवस्था में पिण्ड छोटे अण्डाकृतिक होते हैं, जिसके भीतर दो क्रोमेटीन पुञ्ज (Chromatin mass) होते हैं। इसके

बाद जीवाणु का संवर्धन मरुमक्षिका (फ्लेबोटोमस अर्जेण्टिपस Phlebotomus argentipes) के शरीर में होता है; जहाँ पर उस पिण्ड से तन्तुपिच्छ उत्पन्न होता है। यह मरुमक्षिका भुनगे के समान बहुत छोटी सी अँधेरे तथा शीतल स्थानों में रहनेवाली होती है। इसमें फुदकने का सामर्थ्य होता है, उड़ने का नहीं; जिससे इसकी गति अधिक व्यापक नहीं हो पाती और व्याधि का स्थानपदिक रूप भी मरुमक्षिका की ससीम गति का ही परिणाम है।

इसके सञ्चयकाल की अवधि २ मास से २ वर्ष—सामान्यतया ८ से १६ सप्ताह—की होती है। मक्षिका दंश के बाद केशिकाओं की अन्तश्च्छदीय कोषाओं के भीतर जीवाणु का सञ्चय एवं संवर्धन होता है। इसके बाद रक्तप्रवाह के माध्यम से उनका सारे शरीर में प्रसार हो जाता है। रोग का आक्रमण बहुत धीरे-धीरे होता है। स्त्री एवं पुरुषों में सामान्य रूप से तथा मध्यम आयु में, नगरों की अपेक्षा ग्रामों में, निचले स्थानों में निवास करनेवाले व्यक्तियों में तथा अस्वास्थ्यकर गन्दे वातावरण में रहनेवाले व्यक्तियों में इसका प्रसार अधिक होता है। विषम ज्वर, आन्त्रिक ज्वर, अंकुश मुख कृमि इत्यादि व्याधियों से पीड़ित होने के उपरान्त इसके होने की सम्भावना अधिक मानी जाती है। एक ही घर में अनेक कुटुम्बो के रहने पर, नीचे के खण्ड के कुटुम्बियों में इसका आक्रमण अधिक होता है। व्यावहारिक दृष्टि से इसकी तीव्रता के आधार पर ३ वर्ग बनाये जा सकते हैं—

आन्त्रिक ज्वर के समान—प्रारम्भ में बेचैनी के साथ ज्वर का आक्रमण, एक सप्ताह के उपरान्त तापक्रम की वृद्धि, एक सप्ताह-दस दिन इस प्रकार बढ़े हुये तापक्रम के रहने के बाद क्रम से ज्वर का उपशम। इस अवस्था में आंत्रिक ज्वर से विभेद करना प्रायः कठिन होता है।

विषम ज्वर के समान—शीतपूर्वक ज्वर का प्रकोप, एक-दो घण्टे के भीतर १०३-१०४° तक ताप की वृद्धि, प्रस्वेद के द्वारा ज्वर का उतार और क्विनीन के प्रयोग से कुछ दिनों तक लाभ।

बहुत से रोगियों में ज्वर का आक्रमण इतना **मंद स्वरूप** का होता है कि रोगी सही-सही रोगारम्भ का उल्लेख नहीं कर सकता। कभी-कभी प्रारंभ में केवल दो-चार दिन ज्वर रहने के उपरान्त कुछ महीना बीत जाने पर रोगी प्लीहावृद्धि की चिकित्सा के लिये आता है। इस वर्णन से कालज्वर के लाक्षणिक निदान की जटिलता स्पष्ट हो जाती है। कालज्वर, विषम ज्वर, आन्त्रिक ज्वर इत्यादि का ज्वराक्रमण के प्रारम्भिक दिनों में पार्थक्य करना बहुत कठिन होता है।

व्याधि का स्वरूप—

ज्वर—कालज्वर में सन्तत, अर्धविसर्गी, पूर्णविसर्गी, सतत इत्यादि अनियमित रूप का सन्ताप होता है। प्रातःकाल ज्वर की शान्ति, अपराह्न में वृद्धि, सन्ध्या को

पुनः शान्ति, रात्रि के द्वितीय प्रहर में पुनः वृद्धि, प्रातःकाल शान्ति, इस प्रकार २४ घण्टे में दिन के अपराह्न और रात्रि के द्वितीय प्रहर में ज्वराधिक्य की अवस्था होकर अहोरात्र में दो बार चढ़ने-उतरने का क्रम (Double rise) प्रायः मिलता है। क्वचित् ३ बार आरोह-अवरोह का क्रम भी मिल सकता है। कुछ दिनों तक ज्वरानुबन्ध रहने के उपरान्त तापमान स्वतः शान्त होने लगता है और कुछ समय के बाद पुनः उसका प्रकोप होता है। इस प्रकार प्रशम-प्रकोप के अनेक आवर्त्त होते रहते हैं। इसके ज्वर की सर्वाधिक विशेषता यह है कि रोगी १०३-१०४ तापक्रम से पीड़ित होने पर भी अधिक रोगाक्रान्त या अस्वस्थ नहीं ज्ञात होता, प्रायः अपना साधारण कार्य करता रहता है। ज्वरमुक्ति के उपरान्त रोगी का स्वास्थ्य कुछ समय के लिये सुधर जाता है। रात्रि में प्रस्वेद होकर रोगी अपने को पूर्ण निर्ज्वर अनुभव करता है। राजयक्ष्मा की अन्तिम अवस्था में प्रस्वेद के साथ ज्वरमोक्ष प्रातःकाल होता है। किन्तु कालज्वर में मोक्ष मध्यरात्रि के पूर्व ही हो जाता है।

प्लीहावृद्धि—ज्वरमुक्ति के बाद भी उत्तरोत्तर प्लीहावृद्धि होते जाना कालज्वर का विशिष्ट लक्षण माना जाता है। प्लीहा एक माह के बाद स्पर्शलभ्य या चार मास के बाद दो अंगुल, ५-६ मास के बाद नाभिपर्यन्त बढ़ जाती है। स्पर्श में विषम ज्वर की प्लीहा से कुछ मृदु और वेदनाहीन होती है। कालज्वर में प्लीहा के साथ यकृत् की वृद्धि भी प्रायः दो महीने के बाद १ अंगुल, उसके बाद प्रतिमाह एक अंगुल परिमाण में होती जाती है। यकृत् स्पर्श में कठोर और वेदनाहीन होता है।

कृष्णता—बहुसंख्य रोगियों में मस्तक, मुख, हस्तपाद-तल इत्यादि स्थानों पर कृष्ण वर्ण के धब्बे दिखाई पड़ते हैं। इसी विवर्णता के आधार पर इस ज्वर का नामकरण किया गया है।

कृशता—कालज्वर में उत्तरोत्तर शरीर की कृशता बढ़ती जाती है। अच्छी रुचि तथा पाचनशक्ति साधारण होने पर भी शरीर का कृश होते जाना कालज्वर में अधिक मिलता है। अस्थियों में—विशेषकर अन्तर्जंघास्थि में वेदना-पीड़नाक्षमता, नाड़ी की क्षिप्रगति, हीनरक्तनिपीड, मन्यास्पन्दन, ग्रीवा-आन्त्रनिबंधिनी तथा कूर्पर सन्धि के ऊपर की लस ग्रन्थियों की वृद्धि भी प्रायः मिलती है। ज्वरितावस्था में रोगी के बाल रूखे तथा मोटे हो जाते हैं और पर्याप्त संख्या में गिरते रहते हैं।

रक्तस्राव-प्रवृत्ति—नासा, दन्तमूल और मल के साथ रक्तस्राव की प्रवृत्ति इसमें बहुत होती है। दन्तवेष्ट तथा नासा से रक्तस्राव की प्रवृत्ति प्रायः मिलती है।

संक्षेप में जीर्ण स्वरूप का अनियमित ज्वर, अहोरात्र में २ बार आरोह-अवरोह

का क्रम, प्लीहा की क्रमिक वृद्धि, यकृत् वृद्धि, जिह्वा की स्वच्छता, उत्तम रुचि, साधारण पाचन शक्ति, पाण्डुता एवं विबन्धता का अभाव, कदाचित् अतिसारवत् लक्षण, त्वचा में कृष्ण वर्ण के धब्बे, अन्तर्जंघास्थियों की वेदना, पर्याप्त समय से रोगाक्रान्त होने एवं शरीर को धातुओं के क्षीण होने पर भी रोगी को व्याधि की गम्भीरता का अनुभव न होना, नासा-दन्तमूल मल से रक्तस्राव की प्रवृत्ति इत्यादि लक्षणों के आधार पर कालज्वर का अनुमान किया जाता है।

रक्तपरीक्षा—

ज्वराक्रमण के पहले माह में रक्तपरीक्षा से निर्णायक सहायता नहीं मिलती, किन्तु श्वेतकणापकर्ष २००० से ४००० प्रतिघन मिलीमीटर तक, लसकायाणु तथा एक केन्द्रीयों की संख्यावृद्धि एवं बहुकेन्द्रीय-उषसिप्रिय इत्यादि कणकायाणुओं- (Granulocytes) श्वेत कायाणुओं की सापेक्ष्य संख्या का ह्रास मिलने पर इसके अनुमान की पुष्टि हो सकती है। विषम ज्वर में रुधिर कायाणुओं की संख्या अधिक कम होती है। कालज्वर में श्वेतकायाणुओं की संख्या का अधिक ह्रास होता है। सामान्य स्थिति में श्वेतकायाणु एवं रुधिर कायाणु का अनुपात १ : ७५० होता है। कालज्वर से पीड़ित होने पर श्वेतकायाणुओं की संख्या कम होने से यह अनुपात १ : १५००-२००० तक हो जाता है। श्वेतकायाणुओं की संख्या का उत्तरोत्तर ह्रास कालज्वर का निर्णायक लक्षण माना जाता है। २-३ महीने से पीड़ित कालज्वर के रोगी में रक्तपरीक्षा में निम्नलिखित क्रम मिल सकता है।

सकलश्वेतकायाणु	२०००—३०००
बहुकेन्द्री	४०%
लसकायाणु	४५%
एककेन्द्रीय	१५%
उषसिप्रिय	०%
सकल रुधिर कायाणु	४०—४५ लाख
शोण वर्तुलि	८०%

लसिका परीक्षा—काल ज्वर के कारण लसिका का रासायनिक संगठन परिवर्तित हो जाता है। उसमें शुक्लि का अनुपात स्वाभाविक से कम और आवर्तुलि (Globilen) का अनुपात स्वाभाविक से अधिक हो जाता है। इसी शुक्लि-आवर्तुलि विषमता के आधार पर लसिका कसौटियों की उपस्थिति होती है।

चोपरा परीक्षा—काल ज्वर से पीड़ित रोगी के रक्त से लसिका पृथक् कर उसमें ४ प्रतिशत यूरिया स्टिबमाइन की कुछ बूँदें डालने से दोनों के संयोग-स्थल पर

रूई के गोले के समान अवक्षेप बनता है। काल ज्वर न होने पर उक्त अवक्षेप न मिलेगा। यह परीक्षा प्रायः एक मास बाद व्यक्त होने लगती है और रोगमुक्ति के एक दो माह बाद तक मिला करती है।

एल्डीहाइड परीक्षा—यह परीक्षा कालज्वर से ३ माह पीड़ित होने के बाद ही मिलती है। अतः प्रारम्भिक स्थिति में उसके द्वारा निर्णायक परीक्षा नहीं होती। रोगी की ३–४ सी० सी० लसिका में ४० प्रतिशत फार्मेलिन की २ बूँदें छोड़ने से लसिका श्वेतवर्ण की लसदार या घन और अपारदर्शक हो जाती है।

इसके अतिरिक्त प्लीहावेध, अस्थिमज्जावेध इत्यादि के द्वारा प्राप्त रक्त की परीक्षा से कीटाणुओं का दर्शन सूक्ष्मदर्शक के द्वारा हो जाने पर रोग का निर्णय हो जाता है, किन्तु साधारण निदान की दृष्टि से सकल सापेक्ष्य श्वेतकण परिगणना और लसिका की परीक्षा ही अधिक व्यावहारिक है।

उपद्रव—

काल ज्वर से रोगी की प्रतिसारक शक्ति अत्यधिक हीनबल हो जातीहै और रक्षक कोषायें—श्वेतकायाणु संख्या में बहुत न्यून हो जाती हैं; अतः दूसरी औपसर्गिक व्याधि का उपद्रव बहुत होता है। इन्फ्ल्यूऐंजा, श्लेष्मोल्वण सन्निपात, राजयक्ष्मा एवं श्वसन संस्थान के अन्य रोग, अतिसार, प्रवाहिका, नासा-त्वचा-दन्त-मांसादि से रक्तस्राव, जलोदर, सर्वांग शोथ, कर्दमास्य (Cancrum oris) तथा दूसरी पूतियुक्त व्याधियाँ, हीनरक्तनिपीड तथा त्वक्विकार का उपद्रव अधिक होता है।

सापेक्ष्य निदान—जीर्ण विषम ज्वर, आन्त्रिक ज्वर, राजयक्ष्मा, कोलाई दण्डाणु का उपसर्ग, हाजकिन का रोग इत्यादि विकारों से कालज्वर का सापेक्ष्य निदान करना चाहिये।

चिकित्सा—

सामान्य चिकित्सा—रोगी को ऊपर के खण्ड में, कमरे को भली प्रकार साफ कर रखना चाहिये। नीचे के कमरों की पूरी सफाई कर डी. डी. टी. इत्यादि जीवाणुनाशक द्रव्यों से पूर्ण विशोधन करना चाहिये। रोगी के नासास्राव-मल के द्वारा भी कभी-कभी जीवाणु का उत्सर्ग एवं प्रसार हो सकता है, अतः उसके मल-मूत्र-ष्ठीवन की सफाई भी करनी चाहिये।

आहार में उष्ण भोजन, स्निग्ध पदार्थ, उष्ण-कटु-विदाही तथा लवणयुक्त आहार का निषेध करना चाहिये। लघुपाकी पोषक आहार-फल-दूध का सेवन कराना चाहिये। कालज्वर के लक्षणों की तीव्रता, कालज्वराक्रान्त जनपद में अधिक नहीं होती और कालज्वराक्रान्त देश-काल में रहनेवाले व्यक्तियों को औषधि-प्रयोग से सुपरिणाम

शीघ्र होता है। इससे कालज्वर पीड़ित प्रदेशवासियों में रोग-क्षमता की उपस्थिति का अनुमान होता है, क्योंकि उनमें लक्षण भी अधिक तीव्र नहीं होते और ओषधि द्वारा लाभ भी शीघ्र होता है। अतः ज्वर के प्रारम्भ से ही तीव्र ओषधियों का प्रयोग न करके रोग-क्षमता एवं सहनशक्ति को बढ़ने का अवसर देना चाहिये।

ओषधि-चिकित्सा—पुराने समय में, कालज्वर की विशिष्ट ओषधियों का आविष्कार होने से पहले, रोगाक्रान्त व्यक्ति ७५% से अधिक मृत्यु के शिकार होते थे, किन्तु इस समय कालज्वर के लिये परमोपयोगी सिद्ध ओषधियाँ आविष्कृत हो चुकी हैं, उनका उपयुक्त प्रयोग करने से निश्चित लाभ होता है।

कालज्वर में अञ्जन के योग प्रमुख रूप में प्रयुक्त किये जाते हैं। प्रारम्भिक दिनों में त्रिशक्तिक (Trivalent) अञ्जन के योगों का व्यवहार होता था, जिनमें सोडियम एन्टीमनी टार्टेट, सोडियम ऐन्टीमनी ग्लूकोनेट, पोटैशियम एन्टीमनी टार्टेट का अधिक व्यवहार होता था। किन्तु इनके प्रयोग के बाद अञ्जन के विषाक्त परिणाम अधिक होते थे। बाद में पञ्चशक्तिक (Pentavalent) एन्टीमनी योगों का आविष्कार हो जाने पर त्रिशक्तिक योगों का व्यवहार प्रायः बन्द सा हो गया है। आजकल पञ्चशक्तिक योगों का ही व्यवहार अधिक होता है। केवल एक-दो पेटेन्ट त्रिशक्तिक योगों का प्रचलन अल्प मात्रा में अभी भी है।

पञ्चशक्तिक योगों में निओस्टिबोसन, यूरीयास्टिवामिन का व्यवहार प्रमुख रूप से होता है। अनेक कम्पनियों के दूसरे नामों के तत्सम योग भी बाजार में प्राप्य हैं, जिनका यथानिर्दिष्ट व्यवहार किया जा सकता है।

निओस्टिबोसन (Neostibosan, Bayer)—यह अञ्जन का पञ्चशक्तिक योग पर्याप्त समय से कालज्वर की चिकित्सा में प्रयुक्त किया जा रहा है। इस औषध में अञ्जन की मात्रा ४० प्रतिशत होती है। इसका प्रयोग पेशी या सिरा द्वारा किया जा सकता है। निम्नलिखित क्रम से शीतल विशुद्ध परिस्रुत जल में घोल बनाकर तत्काल प्रयोग करना चाहिये।

·०५ ग्राम	१ सी० सी० जल में	× १ = ·०५
·१	२ ,,	× १ = ·१
·२	३ ,,	× १ = ·२
·३	४ ,,	× १० = ३·०
		३·३५

सप्ताह में २ बार उपर्युक्त क्रम से सूचीवेध द्वारा देना चाहिये।

कुछ चिकित्सक प्रथम दिन प्रारम्भिक मात्रा के बाद रोगी की सहन शक्ति का ज्ञान कर

लेने पर '३ ग्राम वाली मात्रा ४ सी० सी० परिस्रुत जल में मिलाकर प्रतिदिन लगातार दस दिन तक देते हैं। पुराण स्वरूप के रोगियों में तथा दुष्ट कालाजार में इस प्रकार का क्रम अधिक उपयोगी होता है।

यूरिया स्टिबामाइन (Urea stibamine-Brahmachari) इसका प्रयोग अधोनिर्दिष्ट विधि से केवल सिरा द्वारा करना चाहिये।

प्रारम्भिक मात्रा '०२५ ग्राम	१ सी० सी० जल में		× १ = '०२५
'०५	१	,,	× १ = '०५
'१	३	,,	× ४ = '४
'१५	४	,,	× ४ = '६
'२	५	,,	× ६ = १'२
			२'२५

सप्ताह में दो या तीन बार।

सोलूस्टिबोसन (Solustibosan)—यह उक्त दोनों औषधियों से अल्प विषाक्त तथा पेशी मार्ग से देने पर कम से कम पीड़ा करनेवाली है। अतः इसका प्रयोग बाल्यावस्था, क्षीण एवं दुर्बल रोगी, गर्भिणी, सुकुमार प्रकृति के व्यक्ति तथा वृद्धों में किया जा सकता है। इसका बना बनाया तरल मिलता है। घोल बनाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। प्रारम्भिक मात्रा २ सी० सी० बाद में ६ सी० सी०, के दस या बारह सूचिका-भरण पर्याप्त होते हैं। अधिक भारवाले रोगियों को इसकी मात्रा ८ सी० सी० तक दी जा सकती है।

स्टिबेटीन कन्सेन्ट्रेटेड (Stibatin concentrated-Glaxo)—यह भी मृदु स्वरूप का अञ्जन का योग है। इसका प्रयोग पेशी या सिरा द्वारा निम्नलिखित क्रम से किया जा सकता है। प्रारम्भिक मात्रा २ सी० सी० बाद में उत्तरोत्तर १ सी० सी० मात्रा बढ़ाकर ६ सी० सी० तक ले जाना चाहिये। कुल ६० सी० सी० मात्रा रोग के निर्मूलन के लिये पर्याप्त होती है।

सोलूस्टिबामिन (Solustibamine)—प्रारम्भिक मात्रा २ सी० सी० पेशी या सिरा द्वारा, बाद में ५ सी० सी० से प्रारम्भ कर १५ सी० सी० तक क्रम से बढ़ा कर प्रतिदिन या प्रति तीसरे दिन कुल मात्रा १५० से २०० सी० सी० तक। Stibinol, Stibinate तथा Myostibin का प्रयोग पूर्वोक्त (Solustibosan) के क्रम से किया जा सकता है।

Neostibene—इसका प्रयोग पेशीमार्ग से किया जाता है। अल्पतम वेदना तथा अल्पतम विषाक्त परिणामों के कारण यह असहनशील दुर्बल रोगियों में प्रयुक्त

होता है। इसके साथ घोल बनाने के लिए प्रत्येक पैकिंग में द्रावक की शीशी रहती है। मात्रा ·०१ ·०२५ ·०५ ·१० ·१५ ग्राम के क्रम से कुल २·५ ग्राम है।

Anthiomaline (M. B.)—त्रिशक्तिक योगों का यही एक अवशेष अब तक काल ज्वर की चिकित्सा में प्रयुक्त होता है। २ सी० सी० की मात्रा के इंजेक्शन आते हैं। इसमें ६ प्रतिशत अंजन का त्रिशक्तिक योग रहता है। प्रारम्भिक मात्रा ½ सी० सी० मांसपेशी द्वारा क्रम से आधा सी० सी० प्रति तीसरे दिन बढ़ाकर दो सी० सी० की मात्रा में पन्द्रह से बीस इन्जेक्शन देने चाहिये।

अंजन प्रयोग के समय निम्नलिखित विशेषताओं पर ध्यान रखना चाहिए।

(१) अंजन के योगों का प्रारम्भ करने से पहले अत्यल्प मात्रा में सिरा या पेशी-मार्ग द्वारा औषध का सूचिकाभरण कर रोगी की सहनशक्ति का ज्ञान कर लेना चाहिये।

(२) अंजन तीव्र संचायी स्वरूप की औषध है, अतः इसका प्रयोग करने के पहले कालज्वर का असंदिग्ध निर्णय कर लेना आवश्यक होता है। प्रयोगारम्भ के पहले ही मूत्र परीक्षा करके शुक्लि की अनुपस्थिति का निर्णय हो जाना चाहिए। क्रम चालू रहते हुये भी बीच-बीच में मूत्र परीक्षा के द्वारा विषाक्त परिणामों के नियन्त्रण के लिये शुक्लि परीक्षा करते रहना चाहिये।

(३) सूचीवेध भोजन के तुरन्त बाद अथवा अत्यन्त खाली पेट नहीं करना चाहिए। सूचिकाभरण के एक घण्टा पूर्व रोगी को ग्लूकोज पानी में मिलाकर पिलाने से विषाक्त परिणामों की सम्भावना घट जाती है।

(४) सूचीवेध के लिए प्रयोज्य औषध का, सिरा या मांसपेशी द्वारा प्रयोग होता है, इस पर ध्यान देकर बहुत सावधानी से प्रयोग करना चाहिए। सिरा द्वारा प्रवेश कराते समय घोल की एक भी बूँद सिरा से बाहर न निकल जाय, इसकी बहुत सावधानी रखनी चाहिए, अन्यथा निकट की कोषाओं का अपजनन होकर विद्रधि बनने की सम्भावना होती है। सिरा द्वारा औषध प्रवेश में शीघ्रता हो जाने पर रोगी को बेचैनी, श्वासकृच्छ्र तथा वमन इत्यादि का कष्ट हो सकता है। अतः बहुत शान्ति के साथ धीरे-धीरे एक मिनट में एक सी० सी० के क्रम से औषध प्रवेश कराना चाहिए। सिरा द्वारा औषध प्रयोग करने पर यथाशक्ति रोगी को आतुरालय में प्रविष्ट होकर औषधि प्रयोग कराना चाहिए। अथवा सूचीवेध के आधा घण्टे पहले और एक घण्टा बाद तक बिस्तर पर शान्त चित्त से लेटे रहना चाहिए।

(५) दुर्बल, अत्यन्त क्षीण, हृद्रोग, फुफ्फुसरोग, वृक्करोग और कामला से पीड़ित रोगियों में अंजन के योगों का—विशेषकर सिरा द्वारा प्रयुक्त होनेवाले योगों का—प्रयोग न करना चाहिए।

(६) गर्भिणी स्त्री में अंजन के प्रयोगों से गर्भस्राव एवं गर्भपात की सम्भावना होती है, किन्तु आवश्यक होने पर निवोस्टिबेन, स्टिबेटिन एवं अन्य मृदु स्वरूप के योगों का व्यवहार किया जा सकता है।

(७) अंजन के द्वारा चिकित्सा करते समय कास अतिसार का उपद्रव हो जाने पर ओषधि की मात्रा कम अथवा प्रयोग बन्द कर उपद्रव शान्त होने पर पुनः चालू करना चाहिए।

(८) अंजन के योगों से—विशेषकर यूरिया स्टिबामिन के द्वारा कभी-कभी विषैले लक्षण व्यक्त होते हैं। वमन, हृल्लास, कास, भ्रम, श्वासकृच्छ्र, मूर्च्छा, नाड़ी की क्षीणता या अनियमितता, अनियन्त्रित मलमूत्रोत्सर्ग इत्यादि उपद्रव सूचीवेध के तुरन्त बाद होते हैं। इनकी शान्ति के लिए Adrenaline 1 सी० सी० अथवा Pitutrine का सूचीवेध करना चाहिए। उपद्रव के शान्त होने पर मूल ओषधि का प्रयोग अल्प मात्रा में अथवा उसी वर्ग की किसी मृदु ओषधि का प्रयोग पूरी सावधानी के साथ करना चाहिए।

अंजन के अतिरिक्त डायमिडिन (Diamidine) वर्ग की ओषधियों का प्रयोग कुछ दिनों से काल ज्वर में किया जा रहा है। अभी तक के अनुभव के आधार पर इनकी अंजन से विशिष्टता नहीं प्रमाणित हो सकी—क्षय से पीड़ित कालज्वर के रोगी में तथा जिनमें अंजन के प्रयोग का निषेध किया गया है अथवा अंजन-प्रयोगों से जिन्हें लाभ नहीं हुआ, उनमें इन योगों का प्रयोग किया जाता है। यह योग अंजन से अधिक वीर्यशाली, अल्प मात्रा में कार्यक्षम होते हैं; किन्तु इनके प्रयोग के समय प्रतिक्रिया अधिक होती है। शिरःशूल, प्रस्वेद, दाह हृत्स्पन्द आदि लक्षण सूचीवेध के बाद हो सकते हैं। इनकी सफलता ओषधि-सेवन-काल के समय नहीं ज्ञात होती। कभी कभी क्रम पूर्ण होने के अवसर पर व्याधि की तीव्रता बढ़ जाती है। ज्वर प्रायः अन्तिम सूचिकाभरण के एक-दो दिन बाद और प्लीहा एक सप्ताह बाद त्वरित वेग से ठीक होने लगती है। इस वर्ग के निम्नलिखित योग प्रयुक्त होते हैं।

स्टिलबामिडीन (Stilbamidine)—इसका प्रयोग सिरा या पेशी मार्ग से विशोधित परिस्रुत जल में घोल बनाकर बहुत धीरे-धीरे सूचिकाभरण करते हुये निरन्तर दस दिन प्रयोग करना चाहिये—

·०५ जल	१० सी० सी० × १
·१	१० सी० सी० × ४
·१५	१० सी० सी० × ४
·२	१० सी० सी० × ६

कुल मात्रा २·५ ग्राम तक दी जा सकती है। यदि दैनिक प्रयोग में रोगी को कुछ असुविधा हो तो प्रति तीसरे दिन प्रयोग करना चाहिये।

पेन्टामिडिन आइसेथायोनेट (Pentamidine Isethionate M & B) इस ओषधि का प्रयोग भी पूर्ववत् क्रम से किया जाता है।

डायमिडिन वर्ग की ओषधियों का प्रयोग करते समय निम्नलिखित सावधानी रखनी चाहिये।

१. अञ्जन की अपेक्षा इन ओषधियों के प्रयोग से प्रतिक्रियाजन्य परिणाम अधिक होते हैं। उनकी शान्ति के लिये Adrenaline का सूचिकाभरण दस मिनट पूर्व या बाद में तुरन्त करना चाहिये।

२. यदि रोगी को वमन होता हो तो सूचीवेध खाली पेट अन्यथा भोजन के २-३ घण्टे बाद देना अच्छा रहता है। सिरा द्वारा प्रयोग करने पर रक्तभार तथा रक्त-शर्करा बहुत कम हो सकती है। अतः यथाशक्ति मांसपेशी द्वारा ही प्रयोग होना चाहिये।

व्यावहारिक निर्देश—

अञ्जन के योगों में Urea stibamine सर्वाधिक प्रभावशाली औषध है। पूर्ण सावधानी तथा यथा निर्दिष्ट क्रम से प्रयुक्त होने पर शत प्रतिशत सफलता मिलती है। शरीर के भार के अनुरूप मात्रा का सन्तुलित उपयोग करने से प्रायः व्याधि का पुनरावर्तन नहीं होता। यदि अव्यवस्थित प्रयोग के कारण रोग ओषधिक्षम (Refractory) हो गया हो तो इसका प्रयोग निम्नलिखित क्रम से करना चाहिये।

·१	×	१
·१५	×	२
·२०	×	१०

प्रतिदिन ३ से ५ सी॰ सी॰ परिस्रुत शीत जल में मिलाकर सिरा द्वारा। कुल मात्रा २·५ ग्राम होनी चाहिये। पेशी द्वारा प्रयोज्य अञ्जन के योग विष एवं परिणाम दोनों दृष्टियों से मृदु होते हैं, बालकों के अतिरिक्त जिन रोगियों में सिरा द्वारा प्रयोग सम्भव न हो, Stibatin, Stibinol आदि योगों का कुछ दिन प्रयोग करने के बाद उचित मात्रा में Urea stibamine का प्रयोग कर देने से पुनरावर्तन तथा रोग के औषध क्षम होने की सम्भावना न होगी।

राजयक्ष्मा का कालज्वर के साथ उपद्रव होने पर अञ्जन का प्रयोग कदापि न करना चाहिये। क्षयनाशक ओषधियों के प्रयोग से राजयक्ष्मा की शान्ति होने के उपरान्त डायमिडीन या पेन्टामिडिन का पूर्वलिखित क्रम से प्रयोग करना चाहिये।

कालज्वरनाशक प्रयोगों का सूचिकाभरण करते समय एड्रिनेलिन सदा पास में रखना चाहिये।

सभी औषधियों का प्रयोग यथेष्ट मात्रा में करने से व्याधि का पुनरावर्तन नहीं होता। रोगी प्रायः लाक्षणिक निवृत्ति के बाद चिकित्सा की उपेक्षा करना चाहता है, अतः उसे भविष्य के अल्प प्रयोग के परिणामों से सचेत कर देना चाहिये।

बालकों की चिकित्सा के विशिष्ट नियम—

१. बच्चों में सिरा द्वारा औषध प्रयोग सम्भव नहीं होता, अतः पेशी द्वारा प्रयोज्य मृदु योगों का व्यवहार करना चाहिये। यदि सिरा द्वारा प्रयोग सम्भव हो तो भी इन्हीं योगों का सिरा मार्ग से प्रयोग करना चाहिये। अन्यथा बच्चों के हिल-डुल जाने से सिरा के बाहर औषधि स्रवित होने पर तीव्र वेदना-दाह-शोथ आदि हो सकते हैं।

६ वर्ष से १२ वर्ष तक के बच्चों में औषध की मात्रा आधी और ३ वर्ष से ६ वर्ष तक के बच्चों के लिये चौथाई मात्रा उपयुक्त होती है। १ ग्राम से अधिक की मात्रा एक समय में कभी न देनी चाहिये।

रोग निवृत्ति की कसौटी—शरीर के भार की वृद्धि एवं प्लीहा का स्वाभाविक रूप में आ जाना कालज्वरमुक्ति का प्रमुख लक्षण है। ज्वर शमन, प्लीहा एवं यकृत् का स्वाभाविक आकार, शरीर के भार की वृद्धि, श्वेत कणों की संख्या में स्वाभाविकता, प्लीहा एवं रसरक्तादि में कीटाणुओं की अनुपस्थिति एवं रोगी को शारीरिक-मानसिक सभी स्थितियों से पूर्ण प्रसन्नता का अनुभव होने पर कालज्वर से मुक्ति का अनुमान करना चाहिये। यदि १ वर्ष तक रोग का पुनरावर्तन न हो तो पूर्ण-मुक्ति निर्णीत की जा सकती है।

लाक्षणिक चिकित्सा—

श्वेत कायाण्वपकर्ष—सामान्यतया अंजन चिकित्सा के बाद रोग-निवृत्ति होने पर श्वेतकायाणुओं की संख्या स्वाभाविक हो जाती है। कुछ रोगियों में रोग-निवृत्ति के बाद भी संख्या पूर्ति नहीं होती, जिससे शरीर की प्रतिकारक शक्ति सबल नहीं हो पाती और पूययुक्त उपद्रवों की सम्भावना अधिक होती है। अतः रोग-निवृत्ति के बाद एक बार श्वेत कायाणुओं की संख्या का परिगणन करा लेना चाहिये। अपकर्ष की स्थिति होने पर निम्न व्यवस्था करनी चाहिये।

सोडियम न्यूक्लिनेट (Sodium nucleinate) ३ सी० सी० की मात्रा में मांसपेशी में सूचिकाभरण, कुल ६ से १२ प्रति तीसरे दिन देना। इसी प्रकार पेन्टन्यूक्लियाटाइट (Pent nucleotite) या पाइराडाक्सिन हाइड्रोक्लोराइड (Pyridoxin hydrochloride) का प्रयोग उचित मात्रा में किया जा सकता है। अल्पमात्रा में

मल्ल के योगों का प्रयोग श्वेतकायाणु अपकर्ष में पूर्व योगों से लाभ न होने पर भी लाभकर होता है। इसके लिये सोडियम कैकोडिलेट (Sodium cacodylate) १–२ ग्रेन का सूचीवेध पेशी द्वारा। कुल ६ या ८ सूचीवेध पर्याप्त होते हैं।

प्लीहावृद्धि—बहुत जीर्ण स्वरूप का रोग होने पर या अव्यवस्थित रूप में औषधों का प्रयोग होने पर ज्वरमुक्ति के बाद भी कभी कभी प्लीहा नहीं घटती। ऐसी स्थिति में ऊपर बताये हुये मल्ल एवं लौह व कुचला के योग (विषम ज्वर के प्रकरण में लिखित) देने चाहिये।

निम्नलिखित योग भी विशेष लाभकर होता है।

R/		
	Quinine sulph	gr 4
	Acid sulph dil	ms 5
	Ferri sulph	gr 3
	Tr nux vomica	ms 5
	Tr iodine recti	m 1
	Liqr arsenicalis	ms 3
	Glycerine	ms 20
	Mag sulph	dr 1
	Ext kalmegh	ms 10
	Aqua	oz 1
		१ मात्रा

भोजनोत्तर दो बार दस दिन तक, आवश्यक होने पर एक सप्ताह बाद पुनः दस दिन दिया जा सकता है।

निम्नलिखित योग रक्त-बल वृद्धिकर होने के साथ बढ़ी हुई प्लीहा का भी शमन करता है।

R/		
	Tr warburg	ms 10
	Tr card co	ms 5
	Tr nuxvomica	ms 3
	Liqr arsencalis	ms 3
	Syp ferri iodide	dr 1
	Aqua	oz 1
		१ मात्रा

पाण्डुता एवं रक्तक्षय—फोलिक एसिड, लौह एवं यकृत् के योगों का प्रयोग हितकर होता है। निम्नलिखित योग भी कालज्वर की इस अवस्था में बहुत लाभकर होता है।

(१)	विद्रुमांजन योग	२ र०
	या	
	मुक्ता नीलांजन योग	१ र०
	पुटपक्वविषमज्वरान्तक लौह	१ र०
	वृ० सर्वज्वरहर लौह	१ र०
	पिप्पली चूर्ण	४ र०
		१ मात्रा

सबेरे तथा शाम को मधु से ।

(२) आरोग्यवर्धिनी १ गोली सोते समय दूध या जल से ।

रक्तस्रावी विकार—नासा एवं दन्तवेष्ट आदि से रक्तस्राव की प्रवृत्ति का उल्लेख किया जा चुका है । निम्न योग का सेवन करने से इसमें शीघ्र लाभ होता है ।

Cal lactate	gr 10
Ascorbic acid	mg 250
Vitamin k	mg 10
	१ मात्रा

दिन में २-३ बार जल से ।

इसके अतिरिक्त Styptobion, Clauden तथा इतर रक्तपित्तघ्न योगों का सेवन भी हितकर होगा ।

स्थान परिवर्तन—रोगी का स्वास्थ्य अनुकूल न होने तथा बार-बार रोग का पुनरावर्तन होने पर स्थान परिवर्तन सर्वोत्तम माना जाता है । रूक्ष-उष्ण जलवायु वाले प्रदेश में कालज्वर के रोगियों को अधिक आराम मिलता है ।

उपद्रवों की चिकित्सा—

ऊपर रोगक्षमता एवं शरीर की सामान्य प्रतिकारक शक्ति के क्षीण होने का वर्णन किया जा चुका है । इसी विशेषता के कारण कालज्वर में बहुत उपद्रव होते हैं ।

शोथ एवं पूययुक्त व्याधियाँ—शरीर में कहीं भी पूयोपसर्ग हो सकता है । बहु-केन्द्रीय श्वेत कायाणु मुख्यतया पूय-प्रतिरोध करते हैं, जिनकी न्यूनता इस व्याधि में हो जाने के कारण पूयोपसर्ग होने पर गम्भीर उपद्रव हो जाते हैं ।

कर्दमास्य (Cancrum oris)—बच्चों में मुख की ठीक सफाई न होने के कारण तथा क्षीणरक्त होने के कारण मसूड़ा, त्वचा, मांस आदि के साथ कभी कभी हन्वस्थि तक गल जाती है । अतः रक्तवृद्धि के लिए लौह तथा यकृत के योगों का व्यवहार करना चाहिए। यकृत सत्व (Liver Extract with vitamin B 12 and Folic acid) का सूचीवेध १-२ सी० सी० की मात्रा में प्रति तीसरे दिन, कुल १० देना चाहिए । इसमें पेनिसिलिन का प्रयोग लाभकर होता है । १ से ५ लाख क्रिस्टलाइन

पेनिसिलिन प्रति ८–१२ घन्टे पर पेशी मार्ग से ४ दिन देकर ऑमना सिलिन (Omnacillin) की २ सुई ५ दिन देना चाहिए। कणापकर्ष के कारण विशाल क्षेत्रक प्रतिजीवी वर्ग की औषधें बहुत हितकर नहीं होते । मुख की स्थानीय सफाई, जीवतिक्ति 'सी' तथा अन्य पोषक योगों का पूर्ण मात्रा में प्रयोग करना चाहिए ।

लौहांश की कमी को दूर करने के लिए निम्न योग दिया जा सकता है—

R/	Ferri sulphate	gr 3
	Ferri et amm citras	gr 20
		१ मात्रा

भोजन के बाद दिन में ३ बार ।

प्रायः पाचन की विकृति भी साथ में रहती है । अतः हाइड्रोक्लोरिकअम्ल (Acid hydrochlor dil) १५–२० बूंद की मात्रा में भोजन के १० मिनट पूर्व देना चाहिए । जीवतिक्ति तथा प्रोभूजिनों को पर्याप्त मात्रा में देकर सभी प्रकार से रोगी की बलपुष्टि करनी चाहिए । वास्तव में यह उपद्रव केवल अत्यधिक दुर्बलता एवं प्रोभूजिनों की कमी से ही होता है । प्रोटीन हाइड्रोलायसेट या कैसिनोन एवं विटामिन ए० डी० सी० के योग मिलाकर व्यवहार करना चाहिए । अंजन के योग मूल व्याधि की शान्ति के लिए उचित मात्रा में चालू रहने चाहिए । अन्य पूयविकृतियों के लिए भी पेनिसिलिन का प्रयोग (Crystalline penicillin 1 lack 8 hourly or procaine penicillin 24 hourly) सूचीवेध के द्वारा तथा १ लाख पेनिसिलिन को १० सी० सी० परिस्रुत जल में मिलाकर स्थानीय प्रयोग करना लाभकारी होता है । उक्त क्रम से लाभ न होने पर ऑरोमाइसीन तथा टेरामाइसीन का प्रयोग तीव्रावस्था में कुछ दिनों तक किया जा सकता है ।

अतिसार—विषमज्वर के समान जीवाणुओं का स्थानसंचय महास्रोत की भित्ति में होने पर विसूचिका एवं ज्वरातिसारवत लक्षण कालज्वर में भी उत्पन्न होते हैं । प्रायः निम्नलिखित योग उपद्रव को शीघ्र निवृत्ति कर देता है—

Sulphaguanadine	2 tab
Carbokaoline	gr 20
Pulv Isufgul	dr 1
	१ मात्रा

५ तोला सौंफ के अर्क में मिलाकर प्रति ३ घण्टे पर, जब तक पूर्ण लाभ न हो जाय।

फुफ्फुस पाक—एक बार फुंफ्फुस पाक हो जाने पर पुनः पुनः होने की प्रवृत्ति हीन-रोगक्षमता के कारण इसमें होती है । पुनरावर्त्तन अधिक गम्भीर होते हैं । अव्यवस्थित चिकित्सा से ही यह उपद्रव होता है । फुफ्फुस पाक होने पर इसकी निवृत्ति बहुत देर से (Delayed resolution) या पूयोरस तथा फुफ्फुस कोथ एवं फुफ्फुस विद्रधि के परिणाम के रूप में होती है । अतः एक बार फुफ्फुस पाक का अनुबन्ध हो जाने पर बहुत सावधानी के साथ पूर्ण निवृत्ति पर्यन्त चिकित्सा करनी चाहिये । पेनिसिलिन,

आइलोटायसिन, आरोमायसीन, टेट्रासायक्लीन एवं टेरामायसीन का प्रयोग समय से करने पर शीघ्र लाभ हो जाता है।

रक्तस्रावी विकार—नासा, त्वचा, श्लेष्मलकला, महास्रोत तथा गर्भाशय से रक्त-स्राव का उपद्रव भी कालज्वर में बहुत मिलता है—यह उपद्रव न होकर लक्षण ही माना जाता है। लाक्षणिक चिकित्सा के प्रकरण में रक्तस्तम्भक औषधों का वर्णन किया गया है। उनका प्रयोग करना चाहिये। स्थानीय उपचार के रूप में स्फटिकाद्रव (१ : १०), एड्रेनलीन (१ : १०००) तथा थ्रोम्बिन टोपिकल (Thrombin topical. P. D. & co) का प्रयोग सद्यः लाभ करता है।

चर्मण्य लीशमनीयता:—काल ज्वर से पीड़ित व्यक्तियों में अंजन चिकित्सा के बाद अथवा अचिकित्सित अवस्था में भी उत्तर काल में त्वचा की विवर्णता, रक्तिमा, छोटी-छोटी ग्रंथियाँ आदि विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं। त्वचा के इन विकारग्रस्त स्थलों को खुरचकर सूक्ष्मदर्शक से परीक्षा करने पर लीशमन-डोनोवन पिण्ड की उपलब्धि होती है। त्वचा के विकार से पीड़ित व्यक्ति रोग का प्रसार अधिक कर सकते हैं। कालज्वर में जीवाणु शरीर के गंभीर अंगों में और चर्मण्यलीशमनीयता में केवल त्वचा में होते हैं। त्वचा में इसके द्वारा विकृति होने पर पपड़ी सी पड़ती रहती है, धीरे-धीरे बीच का अंश ठीक सा होता जाता है किन्तु किनारे से धब्बे की वृद्धि होती जाती है और त्वचा के स्तर निकलते रहते हैं। कभी-कभी ग्रंथियुक्त मटर के दाने के बराबर उभाड़ त्वचा में फैल जाते हैं। इनका मध्य प्रायः नाभिवत भीतर धंसा एवं श्याम वर्ण का तथा किनारा उभड़ा हुआ होता है। धब्बे तथा ग्रंथियाँ प्रथम चेहरे तथा शाखाओं पर बाद में सारे शरीर में इतस्ततः व्याप्त हो जाती हैं। प्रारंभ में इनमें कुछ विवर्णता एवं बाद में वर्ण ताम्र-कृष्ण हो जाता है। यदि कालज्वर में या अंजन चिकित्सा के बाद इनकी उत्पत्ति होती है, तो बड़ी कठिनाई से ठीक होते हैं।

प्राच्य व्रण या दिल्ली व्रण:—भारत के पश्चिमी प्रदेश में—दिल्ली, पंजाब तथा हिमांचल प्रदेश आदि में—कालज्वर के रोगियों की संख्या नगण्य होती है—या कालज्वर वहाँ के लिए अजीब बीमारी है, किन्तु कालज्वर के सजातीय जीवाणु के द्वारा ही त्वचा में व्रण इन स्थानों में पर्याप्त होते हैं। दिल्ली के आस-पास अधिक होने के कारण इसे दिल्ली व्रण तथा अतिजीर्ण रूप का होने के कारण प्राच्य व्रण कहते हैं।

स्वरूप—सूर्य प्रकाश के सम्पर्क में आनेवाले शरीर के अंगों में प्रथम प्रारंभ होता है। हस्तपादतल तथा सिर में इनकी उत्पत्ति नहीं होती। आरंभिक स्थिति में इसका स्वरूप कर्णिका (Papule) के समान होता है। कुछ समय बाद उसकी पपड़ी बाहर निकल जाती है और व्रण व्यक्त होता है। केन्द्र में व्रण भरता हुआ और किनारे से फैलता ज्ञात होता है। व्रण के भीतर से स्राव लेकर परीक्षा करने पर ली० डो० पिण्ड की उपस्थिति होने पर रोग का असंदिग्ध निर्णय हो जाता है।

चिकित्सा—चर्मण्य लीशमनीयता में पूर्वोक्त क्रम से अंजन के योगों का प्रयोग करना चाहिए। एंथियोमैलीन (Anthiomalline M. B.) अधिक लाभकारी सिद्ध हुआ है। डायामेडीन वर्ग की औषधें विशेष कार्यशील नहीं होतीं। शरीर की प्रतिकारक शक्ति को बढ़ाने के लिए मल्ल-लौह आदि का एवं जीवतिक्ति का अधिक मात्रा में प्रयोग करना चाहिए। यदि द्वितीयक उपसर्ग (Secondary infection) हो तो पेनिसिलिन एवं शुल्वौषधियों का प्रयोग किया जा सकता है। प्राच्यव्रण की चिकित्सा में अंजन के योग शीघ्र लाभ करते हैं।

प्राच्यव्रण की स्थानीय चिकित्सा—

(१) इमेटीन हाइड्रोक्लोराइड (Emetine hydrochloride 5% solution) के ५ प्रतिशत घोल की १०-२० बूँदें व्रण के चारों ओर त्वचा के नीचे सूचिकाभरण से देना चाहिए। लगभग १५ दिन के प्रयोग से लाभ होता है।

(२) बरबेरिन सल्फेट (Berberine sulphate) $\frac{1}{4}$ ग्रेन १ सी० सी० परिस्रुत जल में मिलाकर त्वचा के नीचे व्रण के चारों ओर सूचिकाभरण करना चाहिए। एक सप्ताह इसी प्रकार प्रयोग के बाद १० दिन का व्यवधान देकर पुनः प्रयोग करना चाहिए। ३-४ बार के प्रयोग से पूर्ण निवृत्ति हो जाती है।

(३) डाइथ्रैनोल या सिगनालिन (Dithranole B. P. or Cignolen) व्रण पर लगाना। १५ दिन प्रलेप करने से लाभ होता है।

(४) अतिबल लवण जल से सेंक, स्थानीय पेनिसिलिन का प्रयोग आदि सामान्य उपचार भी कुछ लाभ करते हैं।

व्याधिप्रतिषेध—कालज्वर से पीड़ित व्यक्तियों को पृथक् करके चिकित्सा पूर्ण रोग-मुक्ति पर्यन्त करनी चाहिए। मरुमक्षिका के उत्पत्तिस्थल जलाए जायँ तथा यथाशक्ति भूमिशयन न करके तखत या खाट पर सोया जाय। मशक-दंश से बचने के लिए मच्छरदानी का प्रयोग आवश्यक है।

श्लीपद (Filaria)

मशक-दंश के द्वारा प्रविष्ट श्लीपद क्रिमि के उपसर्ग से, मानव शरीर में इनका प्रवेश एवं संवर्धन होने के बाद, पूर्ण विकसित क्रिमि के लसवाहिनियों में अवरुद्ध हो जाने पर शीत पूर्वक ज्वर, शोथ, लसिका ग्रंथियों एवं अधस्त्वचा की वृद्धि मुख्य लक्षण होते हैं। इस रोग का मुख्य कारण श्लीपद क्रिमि (फाइलेरिया) है। इसकी कई उपजातियाँ हैं किन्तु भारतवर्ष में फाइलेरिया वैन्क्राफ्टी (Filaria bancrofti) का ही उपसर्ग हुआ करता है। यह रोग आनूप देशों में विशेषकर समुद्र के निकट वाले प्रान्तों में अधिक होता है। इसका प्रसार क्यूलेक्स (Culex) जाति की फैटिगान्स (Fatigans) नामक मच्छरी द्वारा होता है। इन क्रिमियों के जीवन-चक्र में मुख्यतया २ अवस्थायें होती हैं।

१. पूर्ण विकसित क्रिमि (Parent worm)—मशक-दंश द्वारा मानव शरीर में सूक्ष्म श्लीपदी (Microfilaria) का प्रवेश होता है। प्रायः शरीर में एक से डेढ़ वर्ष के भीतर उसका पूर्ण विकास हो जाता है। इसी अवस्था में क्रिमि में लिंगभेद होता है। नर क्रिमि मादा से छोटे और अधिक चंचल होते हैं। यह क्रिमि श्वेतवर्ण के पारदर्शक एवं केश सदृश पतले होते हैं। प्रौढ़ मादा क्रिमि की लम्बाई ८० मिलीमीटर और पुरुष की प्रायः इससे आधी होती है। दोनों एक साथ और लसवाहिनी (Thoracic duct) में मुख्यतया निवास करते हैं तथा मादा विकसित क्रिमि असंख्य संख्या में सूक्ष्म श्लीपदियों का प्रजनन करती रहती है। पूर्ण विकसित क्रिमि क्वचित लसवाहिनियों में अवरुद्ध होकर मर जाता है तभी अवरोधजन्य शोथ एवं वेदना आदि स्थानीय लक्षण तथा विजातीय प्रोभूजिन (Foreign protein) प्रति क्रिया द्वारा अनूर्जतामूलक ज्वरादि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

२. सूक्ष्म श्लीपदी—मादा श्लीपद क्रिमि से उत्पन्न सूक्ष्म श्लीपदी लम्बाई में ⅓ मिलीमीटर के लगभग और मोटाई में रुधिर कायाणु के बराबर होते हैं। प्रत्येक सूक्ष्म श्लीपदी के ऊपर एक आवरण (Sheath) होता है। यह आकृति में सर्प के समान तथा शीथ के भीतर तीव्रता से हिलते रहते हैं, किन्तु स्वयं स्थानान्तर नहीं कर सकते। अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण लसवाहिनियों द्वारा रक्त में प्रविष्ट हो सारे शरीर में घूमते रहते हैं। इनकी सर्वाधिक विशेषता सन्ध्या के बाद ही परिसरीय रक्तप्रवाह में आना तथा मध्य रात्रि में सर्वाधिक संख्या में परीसरीय रक्त में उपलब्ध होना और दिन में आन्तरिक अङ्गों–विशेषकर वृक्क, फुफ्फुस, प्लीहा, अस्थिमज्जा आदि की रक्तवाहि-नियों में निवास करना है। इसीलिये दिन के रक्त की परीक्षा करने पर प्रायः शरीर के भीतर पर्याप्त संख्या में होने पर भी यह उपलब्ध नहीं हो पाते। किन्तु मध्य रात्रि में १-२ घण्टा सोने के बाद रक्त परीक्षण करने पर प्रायः मिल जाते हैं। यदि ५-६ दिन तक रोगी रात्रि में जागे और दिन में सोवे तो दिन में सोने के २-३ घण्टे बाद परिसरीय रक्त में पूर्वापेक्षा अधिक मिल सकते हैं। सामान्यतया सूक्ष्म श्लीपदियों के द्वारा विशेषरोगोत्पत्ति नहीं होती। अवसाद, क्लान्ति, सर्वाङ्ग वेदना, क्वचित् ज्वर इसी प्रकार के मृदु स्वरूप के लक्षण दिखाई पड़ते हैं। मच्छर (Culex fatigans) के काटने पर सूक्ष्मी श्लीपदी रक्त के माध्यम से मच्छर के आमाशय में प्रविष्ट कर जाते हैं। वहाँ इनके आवरण का नाश होकर गतिशीलता आती है और क्रम से अनेक अवस्थाओं में परिवर्तित होते हुये पूर्ण प्रबल हो जाते हैं। पुनः मच्छर जब किसी दूसरे व्यक्ति को काटता है तो उसके दंश के माध्यम से सूचीवेध के समान शरीर में यह प्रविष्ट हो जाते हैं। शरीर में लसवाहिनियाँ एवं लसिका ग्रन्थियाँ इनके मुख्य आशय हैं, जहाँ पर इनका निवास एवं विकास होता है। मानव शरीर में स्त्री-पुरुष के रूप में लिङ्ग भेद होकर विकसित होने में प्रायः १–१½ वर्ष का समय लगता है।

जिन स्थानों में जल बहुत समय तक संचित रहा करता है, वायुमण्डल में आर्द्रता (Humidity) अधिक काल तक रहती है और ताप भी कम नहीं रहता, ऐसे देशों में यह रोग अधिक मिलता है।[1] गन्दे नम मकानों में रहनेवाले व्यक्तियों में, स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में तथा प्रायः युवावस्था (२० वर्ष) के बाद इस रोग का प्रकोप अधिक दिखाई पड़ता है। रोगियों में इसके आक्रमण पूर्णिमा व अमावस्या के समय प्रायः आया करते हैं। शरीर में दूषित पूय केन्द्र, कोष्ठ बद्धता, गुरु भोजन, अधिक चलना, पानी में भीगना आदि मिथ्याहार-विहार होने पर इसका आक्रमण अधिक हुआ करता है।

रोगोत्पत्ति—सूक्ष्म श्लीपदियों के असंख्य संख्या में रक्त में उपस्थित होने पर भी रोग का आक्रमण नहीं होता किन्तु पूर्ण विकसित क्रिमियों के कारण विकारोत्पत्ति हुआ करती है। पूर्ण विकसित क्रिमियों द्वारा लसवाहिनियों का अवरोध, क्रिमियों के शरीर का विघटन होने पर उत्पन्न विष तथा अनूर्जता के कारण प्रायः रोग के लक्षण होते हैं। द्वितीयक उपसर्ग लक्षणों के बढ़ाने में सहायक होते हैं।

श्लीपद क्रिमि से उत्पन्न विष के प्रभाव से लसवाहिनीशोथ, संधिशोथ, वृषण-शोथ, लसग्रन्थिशोथ आदि स्थानीय विकार उत्पन्न होते हैं। क्वचित पूर्ण विकसित क्रिमि के मर जाने पर द्वितीयक उपसर्ग होने पर स्थानीय विद्रधि बनती है, जिससे पूय अत्य-धिक मात्रा में निकलता है। ऐसी विद्रधियाँ प्रायः सधियों के निकट, जंघा, प्रकोष्ठ आदि मांसल अङ्गों में अधिक होती हैं।

लसवाहिनियों में अवरोध उत्पन्न होने पर वंक्षण, कक्षा, वक्ष, आन्त्रनिबन्धिनी आदि सम्बद्ध स्थानों की लसग्रंथियाँ फूल जाती हैं तथा ग्रन्थियों के नीचे की लसवा-नियाँ लस का अधिक सञ्चय होने के कारण फूलकर कुटिल हो जाती हैं। त्वचा में लसिका का सञ्चय होने पर त्वचा अधिक मोटी तथा शीत स्पर्श वाली होती है। गुरुत्वाकर्षण के कारण लस का सञ्चय पैरों में सर्वाधिक होता है। वृषण, हाथ, स्तन, कर्ण इत्यादि अङ्गों में भी लसिका-सञ्चयजन्य त्वचा की मोटाई हो सकती है। श्लीपद के कारण ही मूत्र में दूध के समान पायसमेह (Chyluria), लसिकामेह (Lymphuria), पायस प्रवाहिका (Chylous diarrhoea) पयोलस वृषण वृद्धि (Chylous hydrocele) पयोलस जलोदर (Chylous ascitis) आदि विशिष्ट विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं। त्वचा में बार-बार शोथ होने पर स्थायी स्वरूप का मोटापन पैदा होता है, जिससे पैर हाथी के पैर के समान तथा त्वचा हस्तिचर्म के समान मोटी एवं खुर-दरी हो जाती है। त्वचा में सौत्रिक तन्तुओं की संख्या काफी बढ़ जाती है। उनके संकुचित होने पर त्वचा में गाँठें उत्पन्न होकर त्वचा की समरसता नष्ट हो जाती है। त्वकशोफ घन स्वरूप का, दबाने से न दबनेवाला और नीचे के अङ्गों से सटा हुआ रहता है, जिससे त्वचा का हिलाना-डुलाना सम्भव नहीं हो पाता।

---

१. पुराणोदक भूयिष्ठाः सर्वर्तुषु च शीतलाः, ये देशास्तेषु जायन्ते श्लीपदानि विशेषतः।—सुश्रुत

लक्षण—शीतपूर्वक ज्वर का आक्रमण, शाखाओं में वेदना तथा लसग्रथियों की वृद्धि विशेषकर वंक्षण एवं कक्षा की तथा जंघा एवं प्रकोष्ठ के आभ्यन्तरीय भाग में रज्जु सदृश वेदनायुक्त लसवाहिनी की उपलब्धि तथा उसके नीचे की अनुत्वचा में शोफ के लक्षण होने पर श्लीपद का अनुमान किया जाता है। बहुत से व्यक्तियों में पित्त ज्वर के भी लक्षण उत्पन्न होते हैं। अल्प मात्रा में लस ग्रंथियों में वृद्धि होकर त्वक्शोफ उत्पन्न होता है। इसके विपरीत कुछ रोगियों में ज्वर सन्ताप की सीमा तक पहुँचकर गम्भीर विषयमता के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। श्लीपद के लक्षण दोष के स्थान संश्रय के आधार पर मुख्यतया आधारित होते हैं। लसवाहिनी शोथ-विशेषकर जानु एवं प्रकोष्ठ में, वृषण शोथ, शुक्रवाहिनी शोथ, संधिधराकलाशोथ (Synovitis), पायसमेह (Chyluria) आदि विकार विशेष स्थान संश्रय के उदाहरण हैं।

प्रायः सर्वप्रथम लक्षण श्लीपद के आक्रमण का ज्वर हुआ करता है। ज्वराक्रमण का कारण श्लीपद-क्रिमि का अपजनन एवं तज्जनित शोथ और अनूर्जता ही मुख्यतया होती है। क्वचित हल्की फुरफुरी के स्थान पर विषम ज्वर सदृश तीव्र कम्प भी हो सकते हैं। ज्वर-मोक्ष के समय पर्याप्त प्रस्वेद होता है। ज्वराक्रमण के कुछ घण्टे बाद शरीर के किसी विशेष भाग में स्थानीय वेदना के लक्षण उत्पन्न होते हैं, ज्वर सन्तत विसर्गी या अर्ध विसर्गी स्वरूप का हो सकता है। प्रायः ३ से ५ दिन के भीतर ज्वर का स्वतः मोक्ष हो जाता है। द्वितीयक उपसर्गों के कारण विकृत भाग में विद्रधि बन जाने पर ज्वर दीर्घ कालानुबन्धी एवं प्रलेपक स्वरूप का हो सकता है। कुछ रोगियों में सूक्ष्म श्लीपदी के कारण अनेक मास तक जीर्ण ज्वर के लक्षण मिलते रहे हैं।

प्रायोगिक निदान—मध्य रात्रि में रक्त लेकर काँच की पट्टी पर स्थूल लेप बना कर परीक्षण करने पर अथवा आर्द्र प्रलेप (Wet film or hanging drop method) विधि से परीक्षण करने पर सूक्ष्म श्लीपदी रक्त में मिल जाते हैं। इस प्रकार क्रिमि की उपलब्धि न होने पर चर्मान्तर्य कसौटी (Intradermal test) का उपयोग रोग-विनिश्चय के लिये किया जा सकता है। रक्तगत श्वेत कायाणुओं में उषसिप्रियों की संख्या श्लीपद में बढ़ी हुई मिलती है। लसग्रंथि का भेदन करके उसका विशेष परीक्षण क्वचित रोग-विनिश्चय के लिये किया जाता है।

पायसमेह में आक्रमण प्रायः आकस्मिक स्वरूप से तथा मूत्र दूध के रङ्ग का या रक्तमिश्रित गुलाबी वर्ण का होता है। मूत्रत्याग के पहले कटि, पृष्ठ एवं वस्तिप्रदेश में वेदना, मूत्रावरोध आदि लक्षण होते हैं। मूत्र-परीक्षण में पायस (Chyle) की उपस्थिति से रोग का निदान हो जाता है।

सापेक्ष्य निदान—विषमज्वर, आमवातिकज्वर, पुयविषमयताजनित ज्वर, ग्रंथिक सन्निपात, सिराशोथ (Phlebitis) आदि व्याधियों से इसका पार्थक्य करना चाहिये।

रोगविनिश्चय—श्लीपदप्रधान आनूप देश में निवास या प्रवास का इतिहास, शीत-

पूर्वक ज्वर का आक्रमण, अमावस्या या पूर्णिमा के समय आवेगों का आधिक्य, ज्वराक्रमण के समय शरीर के किसी अंग में—विशेषकर पैर या वृषण में अधःसंचायी स्वरूप का शोथ तथा ज्वरमुक्ति के बाद क्रम से शोथ का उपशम, सम्बद्ध लसवाहिनी एवं लसग्रंथियों की वृद्धि एवं वेदना, प्रस्वेदपूर्वक ज्वर का मोक्ष आदि लक्षणों के आधार पर श्लीपद का अनुमान होता है। ज्वर के स्वयं मर्यादित स्वरूप के होने के कारण प्रायः प्रारम्भिक आक्रमण में रोगी चिकित्सक का परामर्श नहीं ले पाता। ज्वरोत्तरकालीन पादशोफ के लिये ही चिकित्सा चाहता है! अतः पूर्व आवेगों का इतिवृत्त होने के कारण रोग-विनिश्चय में अधिक कठिनाई नहीं होती। स्थानीय लक्षणों का प्राधान्य न होने पर अथवा वृषणशोथ, पायसमेह, उदरावरणशोथ आदि विशिष्ट व्याधियों का श्लीपदमूलक निदान करने के लिये प्रायोगिक परीक्षण ही मुख्यतया सहायक होते हैं। रक्त में उषसिप्रियों की वृद्धि (१५ से २० प्रतिशत)—सूक्ष्म श्लीपदी की उपलब्धि अथवा चर्मान्तर्यकसौटी से रोग का सही निदान किया जा सकता है।

श्लीपदजनित प्रमुख विकृतियों का वर्गीकरण निम्न क्रम से किया जा सकता है—

(क) पूय प्रधान विकृतियाँ—

१. लसवाहिनी शोथ (Lymphangitis)
२. श्लीपदीय विद्रधि (Filarial abscess)
३. लसीका वृषण (Lymph scrotum)—श्लीपद के प्रकोप से वृषण की त्वचा विस्फारित होकर फट जाती है तथा उससे निरन्तर लसीका का निस्यन्द होता रहता है और ज्वर का वेग कम होने पर स्वतः शान्त होकर वृषण स्वाभाविक हो जाता है।
४. संधिकला शोथ तथा संधिशोथ (Filarial synovitis & arthritis)
५. दोषमयता (Filarial septicemia)
६. वृषण शोथ (Orchitis)

(ख) अवरोधजन्य विकृतियाँ—

१. हस्ति चर्मण्यता—विशेषकर पैर, हाथ, वृषण, शिश्न, स्तन आदि (Elephantiasis of leg, arm, scrotum, penis & breast etc.)
२. लस ग्रन्थियों की वृद्धि (Glandular enlargement)
३. पायसमेह, शोणितमेह, शोणित-पायसमेह (Chyluria, haematuria, haematochyluria)
४. पायस-वृषण (Chylous hydrocele)
५. अन्तःशल्यता (Filarial embolism)
६, लसीका प्रमेह (Lymphuria)

(ग) विषमयता मूलक विकृतियाँ—

१. परम ज्वर (Hyperpyrexia)

२. अनूर्जता मूलक विकार (Allergic reaction)

३. कास एवं श्वास (Pulmonary eosinophilia)

उपद्रव तथा अनुगामी विकार—त्वचा की गज चर्मवत् विकृति, वृषण की अत्यधिक वृद्धि (२५ सेर तक का वजन लेखक के प्रत्यक्ष अनुभव में), विद्रधि, पायसमेह, जलोदर, तीव्र सन्ताप, प्रवाहिका, अन्तःशल्यता (Embolism) आदि उपद्रव तथा अनुगामी विकार होते हैं।

साध्यासाध्यता—अन्तःशल्यता एवं संताप के अतिरिक्त श्लीपद में कोई घातक लक्षण नहीं उत्पन्न होते। विकृत लसवाहिनियों में द्वितीयक उपसर्ग का प्रवेश होने पर अनुकूल परिस्थिति के कारण वहाँ उनकी पर्याप्त वृद्धि होती है। ऐसी स्थिति में पूयमयता, पूयअन्तःशल्यता एवं तज्जनित विद्रधि इत्यादि उत्पन्न होने पर रोगी की मृत्यु तक हो सकती है। हाथ-पैर या वृषण के अत्यधिक स्थूल हो जाने के कारण विकलाङ्गता होती है।

सामान्य चिकित्सा—ज्वराक्रमण के बाद रोगी को सुखकर शैय्या पर पूर्ण विश्राम कराना, आक्रान्त अंग को तकिया रखकर ऊँचा रखना तथा गरम रुई या बालू की पोटली से सेंक करना या लेडलोशन (Lead lotion) में कपड़ा भिगोकर शोथ स्थान पर रखना तथा क्वचित बर्फ की थैली रखने से रोगी को अधिक शान्ति मिलती है। संकोचक पट्टी (Elastic bandage) हाथ, पैर या वृषण पर सावधानी से बाँधने पर उत्तरकालीन हस्तिचर्मता आदि उपद्रवों का प्रतिरोध होता है। कर्ण, नासा, गला, गर्भाशय आदि अंगों में जीर्ण पूयदोषों (Septie focus) का पूर्णतया संशोधन करना, प्रतिदिन इन अंगों की सफाई का ध्यान रखना आवश्यक है अन्यथा द्वितीयक पूय उपसर्ग के कारण विद्रधि, दोषमयता आदि उपद्रव हो जाते हैं। रोगी को पर्याप्त मात्रा में में गरम किया हुआ गुनगुना जल पिलाना, सारा शरीर गुनगुने पानी से पोंछना दोष संशोधन एवं ज्वर पाचन के लिए आवश्यक है। रोगाक्रमण में विबंध एवं गुरुभोजन मुख्यतया सहायक होता है। तीव्रज्वर के समय लंघन कराना तथा मध्यम स्वरूप की विरेचन ओषधियों के प्रयोग से भली प्रकार कोष्ठ की शुद्धि कराना आवश्यक है। इससे शोथादि उपद्रव बहुत कम हो जाते हैं तथा ज्वर का मोक्ष भी शीघ्र हो जाता है। एक बार पीड़ित होने पर बार-बार आक्रान्त होने की संभावना इसमें सर्वाधिक होती है तथा पूर्णिमा, अमावस्या, ग्रहण, वर्षा आदि के समय भी इसका अधिक प्रकोप होता है। ऐसे अवसरों पर नियमित जीवन, लघुभोजन एवं कोष्ठशुद्धि की व्यवस्था करना चाहिए। अधिक समय तक खड़े रहना, पानी में भीगना, अधिक श्रम करना, धूप में घूमना भी रोग एवं उपद्रवों को बढ़ाने में सहायता

देता है। अतः ज्वर के समय रोगी को चलना-फिरना, स्नानादि का निषेध करना चाहिए। जिन रोगियों में ज्वर का कष्ट कम या नहीं रहता, उन्हें संयम की अधिक आवश्यकता है, अन्यथा हस्तिपाद सदृश विकृति अवश्य हो जाती है। ज्वर की तीव्रता एवं शोथ की सामता कम हो जाने पर नीचे से ऊपर की ओर रूक्ष मर्दन—सूखे तोलिए से रगड़ना—श्रेयस्कर है। ज्वरमुक्ति के बाद दिन में चलते-फिरते समय पैरों एवं वृषण आदि पर पट्टी बाँधना तथा रात्रि में सोने पर इनके नीचे तकिया आदि रखकर ऊँचा रखना घनशोथ के प्रतिषेध के लिए सर्वोत्तम उपचार है। प्रवास एवं यात्रा के समय विशेष सावधानी रखनी चाहिए तथा लघुभोजन एवं कोष्ठशुद्धि का ध्यान रखना चाहिए।

ओषधि चिकित्सा—श्लीपद की सफल चिकित्सा अभीतक ज्ञात नहीं हो सकी। क्रिमि के मरने एवं तज्जनित अवरोध के कारण मुख्यतया स्थायी विकृति उत्पन्न होती है। एक बार जिस व्यक्ति के शरीर में श्लीपद क्रिमियों का उपसर्ग हो जाय तो पूर्ण रूप से निर्मूल कर सकना बहुत सुकर नहीं होता। सामान्यतया श्लीपद की चिकित्सा को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। एक आवेग के समय ज्वरादि लक्षणों के शमन एवं त्वचाशोथ-प्रतिषेध के लिये दूसरा पुनरावर्त्तन-निरोध के लिये। इसके अतिरिक्त त्वचा के स्थायी विकार–हस्तिचर्म–के लिये स्वतंत्र रूप से व्यवस्था करनी होती है।

तीव्रावस्था का उपचार—साधारण स्वेदन, मूत्रल एवं ज्वर पाचक योगों के प्रयोग से तीव्रावस्था का शमन हो जाता है। सोडा सैलिसिलास का मिश्रण (पृष्ठ ५२७) अथवा स्वेदल मिश्रण (पृष्ठ ४६४) का प्रयोग दिन में ३ बार ४–५ दिन करना पर्याप्त होता है। ज्वरादि लक्षणों के मृदु हो जाने या मृदु स्वरूप का ही आवेग आते रहने पर इन उपचारों से लाभ नहीं होता। श्लीपद के पुनरावर्त्तन-निरोध तथा लाक्षणिक निवृत्ति में मल्ल के योग, अंजन के योग आदि अनेक ओषधियाँ प्रयुक्त होती हैं। नीचे उनका संक्षिप्त वर्णन किया जाता है।

मल्ल के योग (Arsenicals, soamin)—सोवामीन १ ग्रेन की मात्रा में सप्ताह में २ बार क्रम से बढ़ाते हुये ३–४ ग्रेन की मात्रा तक, कुल मात्रा २० से ३० ग्रेन तक, पेशी मार्ग से। इससे पुनरावर्त्तन का निरोध तथा मध्यम स्वरूप का शोथ एवं लसग्रंथि वृद्धि आदि का उपशम होता है। मल्ल प्रयोग के अनिवार्य नियम—शुक्रि के लिये मूत्र की परीक्षा, असहनशीलता के लिये त्वचा की परीक्षा आदि की ओर ध्यान करना चाहिये।

Acetarsol, acetylarsan, acetarcin etc:—

इनकी २ सी० सी० मात्रा सप्ताह में एक या २ बार पेशीगत सूचीवेध से। कुल ८ या १० सूचीवेध देने पड़ते हैं। Arsphenamine या Sulpharsenol का व्यवहार भी किया जाता है। १८, २४, ३०, ३६, ४२, ४८ साइटोग्राम (Ctg.) की

मात्रा में सप्ताह में एक बार पेशी या शिरागत सूचीवेध द्वारा। इनके अतिरिक्त दूसरे मल्ल योगों NAB. or mepharside का व्यवहार भी किया जाता है। किन्तु श्लीपद के लिए मल्ल की अधिक मात्रा वाले योग उतने उपकारक नहीं, अतः Soamin या acetylarsan ही उत्तम हैं।

अञ्जन के योग—

Neostibosan & ureastibamine का प्रयोग पूर्वोक्त वर्णित क्रम (पृ० ५२०) से किया जा सकता है। इनके प्रयोग से कुछ रोगियों में मल्ल की अपेक्षा अधिक लाभ होता है। ज्वर, लसग्रन्थियों का शोथ और रक्त में सूक्ष्म श्लीपदियों की संख्या सभी में कमी होती है।

अञ्जन के पञ्च शक्तिक (Pentavalent antimony compound) योगों का व्यवहार ज्वर एवं सूक्ष्म श्लीपदियों को कम करने में गुणकारी है। किन्तु त्वचा की स्थूलता, ग्रन्थियों की वृद्धि एवं पुनरावर्त्तन-निरोध में अञ्जन के त्रिशक्तिक योग अधिक लाभकारी होते हैं।

Anthiomaline, M. B.—यह अञ्जन का त्रिशक्तिक योग है। ६ प्रतिशत का घोल २ सी० सी० की कांच कुप्पी या २५ सी० सी० की बड़ी मात्रा में उपलब्ध होता है। प्रारम्भिक मात्रा ½ सी० सी० देकर वमन, ज्वर, विस्फोट, संधिशोथ एवं शुक्तिमेह आदि असहनशीलता-निदर्शक उपद्रव न होने पर क्रम से बढ़ाते हुये २ सी० सी० से ३ सी० सी० की मात्रा तक प्रति तीसरे दिन अथवा क्वचित दैनिक रूप में प्रयुक्त करते हैं। इस औषध का घातक प्रभाव सूक्ष्म श्लीपदियों तथा प्रौढ़ क्रिमियों दोनों पर पर्याप्त होता है, इसके प्रयोग के २-३ वर्ष बाद भी रक्त में सूक्ष्म श्लीपदियों की संख्या अधिक नहीं बढ़ने पाती। इस प्रकार दूसरे योगों के सफल न होने पर पुनरावर्त्तन विरोध के लिये भी इसका उपयोग किया जा सकता है।

मसूरी (Vaccines)—कई बार आक्रमण आ जाने के बाद स्थानीय त्वचाशोथ ज्वरमुक्ति के बाद भी कुछ न कुछ रहने लगता है। उत्तरकालीन रोगाक्रमण में ज्वर भी प्रायः कम-तीव्र हुआ करता है। इस प्रकार मृदु स्वरूप का आक्रमण होने पर चिकित्सा के रूप में और जीर्ण व्याधि होने पर प्रतिषेध के लिये इसका व्यवहार किया जाता है। इसके प्रयोग से शरीर की सामान्य प्रतिकारक शक्ति बढ़ जाने के कारण शोथादि लक्षणों का शमन होता है। द्वितीयक उपसर्गों के कारण होने वाले उपद्रवों एवं लसवाहिनी शोथ में इससे पर्याप्त लाभ होता है। टी. ए. बी. वैक्सिन, मालास्तबक गोलाणु की मिश्र मसूरी (Mixed strepto-staphylococal vaccine) आदि का सहनशीलता के अनुरूप उचित मात्रा में व्यवहार किया जा सकता है।

Arsenotyphoid—मल्ल एवं टी. ए. बी. वैक्सिन का संयुक्त प्रयोग इस पेटेन्ट योग के रूप में दिया जाता है। मात्रा उत्तरोत्तर बढ़ायी जाती है। प्रायः सप्ताह में दो दिन या प्रतिक्रिया के लक्षण होने पर सप्ताह में एक दिन के क्रम से कुल ८ सूचीवेध पेशी मार्ग से दिये जाते हैं। प्रायः ३ माह बाद एक बार पुनः पाँचवीं से

आँठवीं मात्रा तक के सूचीवेध साप्ताहिक क्रम से देने चाहिये। तथा उसके बाद भी वर्ष में एक बार वर्षा आरम्भ होने के पूर्व २-३ साल तक देते रहने से रोग के पुनरावर्त्तन की सम्भावना कम हो जाती है। इस श्रेणी की अन्य ओषधियाँ भी अनेक पेटेन्ट योगों से मिलती हैं।

Piperazine के योग—(Di ethyl carbamazine, Hetrazan lederle, Banocide., Carbilazine U. C. B.) आदि पिछले कुछ वर्षों से इन योगों का व्यवहार श्लीपद में सर्वाधिक हो रहा है। इनके प्रयोग के कुछ समय बाद रक्त से सूक्ष्म श्लीपदी पूर्णतया अदृश्य हो जाते है तथा ज्वरशोथ, आदि लक्षणों में भी क्वचित् लाभ होता है। अभी तक प्रौढ़ श्लीपद क्रिमियों के ऊपर इसका घातक प्रभाव स्पष्ट नहीं हो सका, किन्तु चिकित्सा में श्लीपद की सभी अवस्थाओं में इनका व्यापक प्रयोग असंख्य रोगियों में किया गया है। वास्तव में (Di ethyl carbamazine) वर्ग की ओषधियों से सूक्ष्म श्लीपदी का विनाश होता है, अतः सूक्ष्म श्लीपदी के कारण उत्पन्न होनेवाले जीर्णज्वर, कासश्वास (Eosinophilic syndrome) तथा अनूर्जतामूलक विकार आदि में इससे लाभ होता है। इसका मुख्य प्रभाव श्लीपद के प्रसार के रोकने में होता है। मानव शरीर में श्लीपदजनित विकार मुख्यतया स्थूल क्रिमि (Macrofilaria) के कारण उत्पन्न होते हैं। स्थूल क्रिमि पर इस औषध का अभी तक कोई परिणाम नहीं स्पष्ट हुआ है। इसी कारण पायसमेह (Chyluria) या हस्तिचर्मण्यता आदि में इससे कोई लाभ नहीं होता। किसी विश्वस्त औषध के न होने तथा औषध निर्माताओं के प्रचार के कारण इसका व्यापक प्रयोग हो रहा है। हेट्राजान आदि विषाक्त औषधियाँ नहीं हैं किन्तु सात्म्य न होने पर कुछ रोगियों को शिरःशूल, हृल्लास, वमन, शीतपित्त आदि कष्ट एक मास से अधिक निरन्तर प्रयोग करते रहने पर हुये हैं। मात्रा ५०-१०० मि० ग्राम, दिन में ३ बार, १५ दिन तक, आवश्यक होने पर १० दिन तक बन्द रखने के बाद पुनः दे सकते हैं। तीव्रावस्था में ३०० से ४०० मि० ग्रा० दैनिक मात्रा तक प्रयुक्त होती है। सूक्ष्म श्लीपदियों के पूर्णतया निर्मूलन एवं व्याधि का दीर्घकाल तक प्रतिबन्ध करने के लिये असात्म्य लक्षण उत्पन्न होने पर ५० मि० ग्रा० दिन में २ बार भोजनोत्तर ३ मास तक देने की राय कुछ अनुभवी चिकित्सकों की है। विषाक्त परिणाम उत्पन्न होने पर मात्रा कम करना या कुछ समय के लिये प्रयोग बन्द कर देना श्रेयस्कर है।

कुछ अन्य योग—

Filocid—३ सी० सी० की मात्रा में प्रति तीसरे दिन, क्रम से बारह सूचीवेध पेशी मार्ग से देने चाहियें। कुछ रोगियों में मल्ल एव मसूरी के योगों की अपेक्षा इससे अधिक लाभ होता है।

Florocid or sodium fluroside–एक सी. सी. की मात्रा में इसका व्यवहार

सप्ताह में एक बार पेशीगत सूचीवेध से दिया जाता है। अत्यधिक पीड़ादायक होने के कारण इसके साथ में नोवोकेन २% एक सी सी की मात्रा में मिलाकर देते हैं। इसका मुख्य प्रभाव त्वचाशोथ कम करने में होता है। वृषण एवं हस्त-पादादि अंगों में श्लीपद का २-४ बार आक्रमण होने पर हस्तिचर्म के समान जो मोटापन पैदा हो जाता है उसके शमन के लिये इस योग के ४ सूचीवेध एक सप्ताह के अन्तर से देने पर भी पूर्णतया लाभ न होने से एक मास के बाद पुनः पूर्ववत देना चाहिये। पायसमेह-पायसवृषण आदि विकृतियों में भी इससे पर्याप्त लाभ होता है।

Penicillin—द्वितीयक उपसर्गों की श्लीपद की तीव्रता बढ़ाने, लसवाहिनी शोथ एवं विद्रधि आदि उत्पन्न करने में मुख्यकारणता होती है। अतः ज्वर, सर्वाङ्ग वेदना, स्थानीयशोथ आदि लक्षणों की अधिकता होने पर प्रोकेन पेनिसिलिन ४ लाख की मात्रा में प्रतिदिन एक सप्ताह तक देना अच्छा है। इसके स्थान पर अधिक समय तक कार्यक्षम रहनेवाले पेनिसिलिन के योग यथा (Penidure, díamine penicillin) आदि का उपयोग किया जा सकता है। रोगी को सक्षम बनाने के लिये तथा शरीर में वर्तमान दूषित पूयकेन्द्रों के निर्मूलन के लिये स्थानीय उपचार के अतिरिक्त पेनिसिलीन के साथ (Omnadin ie Omnacillin) का व्यवहार किया जा सकता है।

शुल्वौषधियाँ (Sulpha drugs)—पेनिसिलिन के स्थान पर या उसीके साथ उन्हीं अवस्थाओं में शुल्वौषधियों का व्यवहार भी किया जाता है।

Milk e. Iodine—५ सी० सी० से १० सी० सी० की मात्रा में क्रम से बढ़ाते हुये सप्ताह में १-२ बार पेशीमार्ग से ८-१० सूचीवेध दिये जाते हैं। सस्ती औषध होने के कारण इसका प्रयोग किया जाता है। यद्यपि गुणधर्म की दृष्टि से अन्य योगों से यह हीन बल है।

ऊपर के वर्णन से श्लीपद में प्रयुक्त होनेवाली औषधियों की कार्यक्षमता के बारे में सामान्य ज्ञान हो जायगा। अब क्रम से तीव्रावस्था एवं व्याधि प्रतिषेध आदि के लिये प्रयुक्त होनेवाले सभी चिकित्सा-क्रम का नीचे निर्देश किया जा रहा है—

१. शीतपूर्वक ज्वराक्रमण तथा स्थानीय लक्षणों के उत्पन्न होने के बाद श्लीपद का निदान हो जाने पर—

Soda salicylas	grs 10
Soda citras	grs 10
Potas citras	grs 15
Magsulf	dr 1
Tr. belladonna	ms 10
Tr. quinine ammoniate	ms 10
Ext. kalmegh	ms 20
Ext. glycerrhyza	dr 1
Infusion gentian	oz 1
	१ मात्रा

दिन में ३ बार ४–५ दिन तक। इससे ज्वर का शमन, मलमूत्रादि का शोधन एवं उपद्रवों का प्रतिषेध होता है।

२. Sulphatriad—Hetrazan—दोनों की एक-एक टिकिया साथ में दिन में ३ बार १५–२० दिन तक।

सामान्यतया उक्त क्रम से शीघ्र लाभ हो जाता है। मिश्रण को ४–५ दिन से अधिक देने की आवश्यकता नहीं, किन्तु टिकिया १० से १५ दिन तक देना चाहिये। स्थानीय उपचार पर्याप्त लाभ करता है। आगे उसका निर्देश किया जायगा।

३. Omnacillin—पेशीमार्ग से ७ से १० दिन तक।

पुनरावर्तन निरोध के लिये—

१. हेट्राजान या वैनासाइड की एक टिकिया दिन में ३ बार पन्द्रह दिन तक। १५ दिन के विराम के बाद पुनः १५ दिन तक।

२. Filocid—३ सी० सी० पेशी मार्ग से प्रति तीसरे दिन कुल १०–१२ सूचीवेध। इसके स्थान पर आर्सेनोटाइफायड या अन्य समान गुणकारी योगों का व्यवहार किया जा सकता है।

३. दूसरी ओषधियों द्वारा सफलता न मिलने पर लसग्रंथियों की वृद्धि और बार-बार पुनरावर्तन होने पर Anthiomaline के प्रति दिन या तीसरे दिन के क्रम से १० सूचीवेध देने चाहिये।

श्लीपद में मुख्य दोष आम सजातीय श्लेष्मा के होने के कारण रोग क्रम में दीर्घकालानुबन्धित्व होता है। देशकाल एवं रोगी की प्रकृति के अनुसार वायु एवं पित्त सहकारी दोष होते हैं। अतः श्लेष्मा के शोधन के लिये मदनफल, कटुतुम्बी आदि वामक ओषधियों के प्रयोग से भली प्रकार श्लेष्मा का शोधन कराना तथा आमांश शोधन के लिए निशोथ जयपाल आरग्वध आदि विरेचक ओषधियों के प्रयोग से विरेचन कराना, शोषक लेप शोफस्थान पर कराना, स्वेदन कराना और दीपन पाचन ओषधियों के प्रयोग से पाचकाग्नि की वृद्धि करके आमांश की उत्पत्ति रोकना चिकित्सा का मुख्य आधार माना जाता है।

श्लीपद की निवृत्ति के लिये निम्नलिखित व्यवस्थाक्रम भी अनुभवसिद्ध है। पुनरावर्तन निरोध के लिये पूर्वोक्त योगों के स्थान पर अधिक विश्वास के साथ इनका प्रयोग भी किया जा सकता है।

१. नित्यानन्द ४ रत्ती से १ माशा की मात्रा में प्रातः सायं जल के साथ एक मास तक। इसके प्रयोग से रक्त एवं मांस में संचित श्लीपद के दोष का पूर्णतया पाचन होकर अग्नि की दीप्ति एवं बलवर्ण की वृद्धि होती है।

२. श्लीपदगज केशरी—२ रत्ती की मात्रा में प्रातः सायं गरम पानी के साथ १५ दिन तक। इसमें जयपाल बीज का प्रयोग होने के कारण कोष्ठ-शुद्धि विशेष रूप से होती है। रोगी की सहन-शक्ति के आधार पर मात्रा निर्धारण करनी चाहिये।

३. पूतिकरञ्ज पत्र स्वरस १ तो० सार्षपतैल १ तो० मिलाकर प्रतिदिन १ मास तक प्रातःकाल पीना चाहिये। इससे श्लीपद का पुनरावर्त्तन अवश्य ठीक होता है।

४. हरिद्रा, गुड़ दोनों को समभाग मिलाकर ६ मा०—१ तो० की मात्रा में, १ छ० गोमूत्र के अनुपान से १ वर्ष तक निरन्तर सेवन करते रहने पर जीर्ण स्वरूप (Resistant) श्लीपद का भी प्रतिबन्धन होता है।

५. गुग्गुल, रसोन, स्वर्णक्षीरीमूलत्वक्, निबौली, निशोथ, चित्रक व भुनीहींग सबको समभाग लेकर १ मा० से २ मा० की मात्रा में प्रातः सायं गरम पानी के साथ २–३ मास तक लेने से श्लीपद का प्रतिषेध होता है।

६. रसोन सुरा (चक्रदत्त) १५ बूंद की मात्रा में जल के साथ भोजनोत्तर देना चाहिये। क्रम से बढ़ाते हुये ६० बूंद की मात्रा में दिन में २ बार तक दिया जाता है। व्याधि प्रतिबन्धन के लिये अच्छा योग है। इसके अभाव में रसोन कल्क या रसोन पिण्ड का भी उपयोग किया जा सकता है।

स्थानीय चिकित्सा—

रोग की तीव्रावस्था में रूक्ष सेंक, पिण्ड स्वेद, संकर स्वेद आदि के प्रयोग से पर्याप्त लाभ होता है। निम्न लिखित योग भी लाभकर होते हैं।

1.	Icthyol	dr 2
	Belladonna siccum	gr 30
	Tr aconite	ms 15
	Glycerine	oz 1

इसका लेप शोथयुक्त लसवाहिनी के ऊपर करके ऊपर से गरम रूई की पट्टी बाँध देनी चाहिये।

२. वेदना एवं शोथ के शमन के लिये सफेद फूलवाले मदार के जड़ की छाल को कांजी में पीसकर सुखोष्ण लेप करने से पर्याप्त लाभ होता है।

३. एरण्ड की जड़, निर्गुण्डी की छाल, पुनर्नवा की जड़, सहजन की छाल और पीला सरसो तथा धतूर के पत्ते समभाग लेकर, कांजी के साथ पीसकर, शीत या सुखोष्ण लेप पुराने श्लीपद में भी लाभकारी है।

४. चित्रक, देवदारु, पीला सरसो, सहजन की छाल और रास्ना इनको गोमूत्र के साथ पीसकर गरम कर एक मास तक लेप करने से श्लीपद जनित हस्तिचर्मता में बहुत लाभ होता है।

५. रक्त-मोक्षण—कुछ रोगियों में विशेषकर पैर की त्वचा में शोथ होने पर अलावु शृंगी या जलौका द्वारा अनेक स्थानों से रक्तमोक्षण कराने पर रक्त के साथ संचित लसिका का भी पर्याप्त शोधन हो जाता है। रक्तमोक्षण के बाद शोथ स्थान पर पट्टी बाँधना, पैर को ऊँचा रखना तथा प्रतिलोम रूक्ष मालिश करना, शोथ की स्थायी निवृत्ति के लिये सहायक होता है।

६. बहुत दिनों तक श्लीपद जनित हस्तिचर्मता के रहने पर त्वचा में गांठें तथा विदार हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में मदनफल १ तो०, सामुद्रलवण १ तो० (दोनों का महीन चूर्ण), मोम १ तो०, घी १ तो० लेकर अग्नि पर गरम कर भली प्रकार मिलाकर स्थानीय लेप करना चाहिये।

विशिष्ट लक्षणों का चिकित्साक्रम—

परमज्वर—विषमज्वर के समान श्लीपद में भी कुछ रोगियों में १०५°–१०५° अंश तक ज्वर होता है। ऐसी स्थिति में ग्रंथिक सन्निपात (Plague), विषमज्वर, इन्फ्लुऐंजा से इसका पार्थक्य करने में बड़ी कठिनाई पड़ती है। पूर्वाक्रमण का इतिहास तथा लसिका वाहिनी का शोथ। रक्त में उषसिप्रियों की आपेक्षिक वृद्धि सापेक्ष्य निदान में सहायक होती है। संताप की लाक्षणिक चिकित्सा (पृष्ठ ४६२) के अतिरिक्त अंजन के योगों का विशेष कर निओस्टिबोसन या स्टिवेटीनका का प्रयोग करना चाहिये। द्वितीय उपसर्गों के शमन के लिये पेनिसिलिन का व्यवहार १ लाख से २ लाख की मात्रा में प्रति ४–६ घण्टे पर सूचीवेध से करना चाहिये। कुछ चिकित्सकों की राय में Filocid का व्यवहार ज्वर की तीव्रावस्था में भी किया जा सकता है। Terramycin या Tetracyclin आदि विशालक्षेत्रक प्रतिजीवी वर्ग की ओषधियों से भी ज्वरोत्पादक द्वितीयक उपसर्गों में लाभ होता है। पेनिसिलिन के स्थान पर इनका प्रयोग भी किया जा सकता है। मुख द्वारा क्षारीय या सैलिसिलेट का मिश्रण देना चाहिए।

पायसमेह—रोगी को पूर्णविश्राम, कटिप्रदेश में रूक्ष स्वेद, आहार में स्निग्ध पदार्थों का निषेध मुख्यतया उपकारक होता है। अनुभवी चिकित्सकों की राय में स्नेह के अतिरिक्त जल के भी अल्पतम प्रयोग की है, क्योंकि अधिक जल पीने से अधिक पायसमेह होता है। निम्नलिखित योग पायसमेह की लाक्षणिक निवृत्ति में सहायक होता है—

1.	Tr. belladonna	ms 10
	Tr. stramonium	ms 10
	Liq. ext. lodhra	dr 1
	Liq. ext. hammamelis	dr 1
	Aqua	oz 1

२. लोध, बड़ी हरड़, कायफल, आँवला, खदिर और शाल की छाल को समभाग लेकर अष्टगुणित जल में चतुर्थांशावशेष रहने पर मधु मिलाकर प्रातः सायं पीने को देना चाहिये। इसी प्रकार केवल अरणी का क्वाथ पायसमेह के शोषण में बहुत लाभ करता है।

उक्त योगों के प्रयोग से पायसमेह का शमन न होने पर निम्नलिखित क्वाथ दिन में कई बार पिलाने से सद्यः निवृत्ति होती है :—

३. त्रिफला, मूर्वामूल, सहजन की छाल, नीम की छाल, मुनक्का, सेमर की छाल, अमलतास का गूदा—सब समभाग, २ तोला की मात्रा में अष्टगुणित जल में चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ। प्रातः-सायं पिलाना।

मल्ल एवं अंजन के योग इस अवस्था में भी पर्याप्त लाभ करते हैं। मसूरी एवं मल्ल का सम्मिलित प्रयोग विशेष लाभ करता है। Arsenotyphoid, Filarsin, Stibatine, Acetylarsan आदि का यथानिर्देश प्रयोग किया जा सकता है।

Hetrazan एवं Banocide का प्रयोग इस अवस्था में विशेष लाभ नहीं करता। सहायक औषधि एवं व्याधि-प्रतिबन्धन की दृष्टि से इनका प्रयोग साथ में किया जा सकता है।

श्लीपदी विद्रधि (Filarial abscess)—श्लीपद क्रिमि के लसवाहिनियों में अवरुद्ध हो जाने तथा द्वितीय उपसर्गकारी जीवाणुओं के उस उर्वर क्षेत्र में प्रविष्ट हो जाने पर विद्रधि बन जाती है। क्वचित् लसवाहिनियों के द्वारा पूयकण अन्तःशल्य (Embolus) के रूप में शरीर के दूसरे अंगों में भी प्रसरित होकर विद्रधि उत्पन्न करते हैं। मध्यजानु का भीतरी अंश तथा प्रकोष्ठ एवं जानु तथा कूर्पर संधि के निकट इस प्रकार की विद्रधियाँ अधिक होती हैं। इस प्रकार की विद्रधि से पूय गाढ़ा-गाढ़ा अत्यधिक मात्रा में बहुत दिनों तक निकलता रहता है तथा व्रणरोपण बड़ी कठिनाई से होता है। इसके शमन के लिये Crystalline penicillin ५ लाख की मात्रा में प्रति ८ घण्टे पर दो दिन तक तथा उसके बाद Procain penicllin एक सप्ताह तक देना चाहिये। प्रोकेन पेनिसिलिन के स्थान पर Omnacillin (Omnadin & procain penicillin) का प्रयोग करना विशेष गुणकारी होगा। इसके अतिरिक्त Filocid या Anthiomaline का प्रयोग भी साथ में चल सकता है। अनेक बार रोगोत्पादक मालागोलाणु पेनिसिलिन-क्षम होते हैं इस कारण पेनिसिलिन के साथ ही शुल्वौषधियों का सम्मिलित प्रयोग पूर्वनिर्दिष्ट क्रम से करना चाहिये। रोगी के आहार में दूध-घी एवं तरल की मात्रा कम होनी चाहिये। ज्वर अधिक होने पर चतुर्थांश या अष्टमांश अवशिष्ट क्वथित जल बार-बार दिया जा सकता है। प्रारम्भ से ही पुनर्नवादि क्वाथ, सालसारादि कषाय, वरुणादि क्वाथ या मञ्जिष्ठादि क्वाथ का व्यवहार पूय की मात्रा कम करने तथा अन्य स्थानों में पूयोत्पत्ति रोकने में सहायक होगा।

आक्रान्त अङ्ग को पूर्ण विश्राम देना, स्थानीय रूक्षस्वेद, प्रलेप, मैग-मैग आदि का उपयोग करना तथा पूयोत्पत्ति का निर्णय हो जाने पर शस्त्रकर्म के द्वारा भली प्रकार पूय का निर्हरण करना और व्रण बन जाने पर कषायरसप्रधान तीव्र शोधक द्रव्यों या तुत्थ द्रव, ई० सी० लोशन, कार्बोलिक एसिड का तैलीय घोल आदि—से प्रतिदिन

दिन में २ बार व्रणोपचार करना आवश्यक होता है। व्याधि की तीव्रावस्था कम हो जाने पर आत्मजनित मसूरी, टी० ए० बी० वैक्सिन आदि का प्रयोग करने से व्रण-रोपण एवं पुनरावर्तन निरोध में सहायता मिलती है।

वृषणशोथ (Orchitis & epidedymitis)—बहुत से रोगियों में श्लीपद के दूसरे लक्षण न मिलने पर भी केवल बार-बार वृषणशोथ के लक्षण मिला करते हैं तथा कुछ रोगियों में श्लीपदज्वर के उपद्रवस्वरूप इसका प्रादुर्भाव होता है। कई बार आक्रमण हो जाने पर वृषण के अन्तरावरण (Tunica vaginalis) में लसिका का सञ्चय होकर श्लीपदीय जलवृषण (Filarial hydrocele) का अनुगामी विकार हो जाता है। आनूप देश में श्लीपदप्रकोपक आहार-विहार के कारण उत्पन्न होने वाले वृषणशोथ के उपचार में हेट्राजान, शुल्वौषधियों, फाइलोसिड, फ्लोरोसिड, एन्थियोमैलीन या मिल्क विथ आयोडीन आदि श्लीपदविरोधी ओषधियों का यथावश्यक संयुक्त प्रयोग करना चाहिये। स्थानीय उपचार में ग्लिसरीन मैगसल्फ पेस्ट, इक्थियाल वेलाडोना पेन्ट तथा टंकणाम्ल के गरम घोल में कपड़ा भिंगोकर स्वेदन करना विशेष लाभकारी होता है। रोगी को लँगोट पहनना या संकोचक पट्ट (Elastic bandage) बाँधना आवश्यक है। सञ्चित जल का सूई से शोधन अथवा शल्यकर्म के द्वारा निर्हरण करना पड़ता है।

हस्तिचर्मता (Elephatiasis)—यह श्लीपद का स्थायी उपद्रव है जो रोगी को विकलांग एवं सामाजिक कार्य के लिये अकार्यक्षम कर देता है। पैर एवं वृषण में इसका सर्वाधिक प्रकोप होता है। रोग का प्रारम्भ से उपचार करना, आक्रमण होने पर पैर एवं वृषण के नीचे तकिया रखकर शेष अङ्ग से थोड़ा ऊँचा रखते हुए रोग-मुक्ति पर्यन्त पूर्ण विश्राम करना तथा व्याधि की तीव्रता कम हो जाने पर प्रतिलोम मर्दन तथा पट्टी बाँधना, चलना-फिरना-खडे रहना आदि का निषेध करना, इस उपद्रव के प्रतिबन्ध के लिये मुख्य साधन माने जाते हैं। वृषण की त्वचा अत्यधिक मोटी हो जाने पर या वृषण का आकार अधिक बढ़ जाने पर शिश्न की त्वचा अन्दर खिंच जाने के कारण मूत्रत्याग आदि में बड़ी बाधा उत्पन्न होती है। ऐसी अवस्था में शल्यकर्म के द्वारा विकृत त्वचा को पूरी तरह से निकाल कर जानु से त्वचा लेकर उसका सन्धान नवीन वृषणकोष बनाने के लिये किया जाता है। शल्यकर्म के पूर्व तथा उसके बाद भी कुछ काल तक हेट्राजान-फ्लोरोसिड-फाइलोसिड आदि श्लीपदविरोधी ओषधियों का प्रयोग करना आवश्यक है। पैरों में नीचे से ऊपर की तरफ लिनिमेण्ट कैम्फर की या अन्य अल्प स्निग्ध क्षोभक योग की मालिश नीचे से ऊपर तक तिरछे हाथों से करने के बाद संकोचक पट्ट पादतल से प्रारम्भ कर जंघा पर्यन्त सावधानी से भली प्रकार बाँध देना चाहिये। इसी प्रकार प्रतिदिन सोने के पूर्व कुछ काल तक करने से मध्यम स्वरूप का त्वचाशोथ पूर्णतया

ठीक हो जाता है। रोगी को कुर्सी में न बैठकर गद्दी में बैठने की सलाह देना चाहिये। आरामकुर्सी पर पैर ऊपर रखकर लेटना भी लाभकारी होता है। संकोचक पट्ट का प्रयोग दिन में चलते-फिरते करना विशेष लाभकारी है। रात्रि में पैर के नीचे तकिया रखकर सोने से काम चल सकता है।

अन्य उपचार

अधिक शोथ होने पर अन्तर्गुल्फ के ऊपर बिना बुझे चूने का चूर्ण रखकर पट्टी से बाँधा जाता है। १०-१२ घण्टे बाद अधिक जलन होने पर खोलकर निकाल देना चाहिये। जलन न होने पर ऊपर से थोड़ा पानी डाल देना आवश्यक है। इससे उस स्थान पर छाला बनकर व्रण उत्पन्न हो जाता है, जिससे शनैः शनैः सञ्चित लसिका का शोधन पर्याप्त मात्रा में हो जाता है। बाद में व्रण का उचित उपचार करके प्रतिलोम मर्दन, संकोचक पट्ट आदि पूर्वोक्त क्रम का पालन करने से सन्तोषजनक लाभ हो जाता है। शिहोर की पत्ती उल्टा करके इसी प्रकार बाँधने से छाला पड़ जाता है। लहसन का कल्क भी इस काम के लिये प्रयुक्त हो सकता है। हस्तिचर्मता का प्रतिकार चिकित्सक एवं रोगी की लगन तथा नियमित उपचार से होता है।

हस्तिचर्मता हो जाने पर त्वचा के अनेक विकार—कण्डू, अपरस, विचर्चिका आदि—हो जाते हैं। इनके शमन के लिये दशांग लेप या ऊपर बताया हुआ मदनफल योग या नमक तथा मक्खन का लेप करना चाहिये।

प्रतिषेध—सञ्चित दूषित जलस्थानों की सफाई, मच्छरों का प्रतिबन्धन तथा त्वचा की सफाई पर नियमित रूप से ध्यान देना। जिन रोगियों को इस प्रकार का कष्ट कभी हुआ हो, वर्ष में एक बार विशेषकर वर्षा के प्रारम्भ में १-२ मास तक नित्यानन्द या श्लीपद गज केशरी का सेवन कराना, आहार में लहसन की मात्रा पर्याप्त रूप में लेना तथा प्रोभूजिनों के योगों—छेना, मांस, चना आदि—का अधिक सेवन कराना चाहिये। मांसप्रधान द्रव्यों का सेवन करने वाले व्यक्तियों में हस्तिचर्मता का उपद्रव श्लीपदपीड़ित होने पर भी कम होता है।

आन्त्रिक ज्वर

विशिष्ट रोगोत्पादक जीवाणु के मुख द्वारा महास्रोत में प्रवेश करने के उपरान्त रक्त दूष्यता (Bactereamia) द्वारा क्षुद्रान्त्र स्थित पेयर के चकत्तों तथा एकाकी गुच्छों (Payer's patches & solitary folicles) में रोग का मुख्य अधिष्ठान होकर सन्तत स्वरूप का ज्वर, मन्द हृदयता एवं विषमयता के लक्षण पैदा होते हैं।

इसका प्रकोप बाल्य तथा युवावस्था में एवं ग्रीष्म-वर्षा तथा शरद् ऋतु में विशेषतया होता है। इन ऋतुओं में मक्खियों की प्रधानता तथा बाल्य-युवावस्था में खाद्य-पेय के नियमों की अवहेलना के कारण अधिक होता है।

जीवाणुओं से दूषित जल, दुग्ध या इतर आहार द्रव्यों का या दूषित जल से प्रक्षा-

लित पात्रों का उपयोग होने से उपसर्ग आमाशय द्वारा क्षुद्रान्त्र में पहुँच जाता है। आमाशय की स्वाभाविक अम्लता जीवाणुओं के लिये घातक हो सकती है, किन्तु आहार के साथ जीवाणुओं के सम्मिश्र रहने के कारण उसका पूर्ण प्रभाव नहीं हो पाता। क्षुद्रान्त्र की भित्ति को पार कर जीवाणु सम्बद्ध लस ग्रन्थियों में संवर्द्धित होते हैं तथा वहाँ से लसिका वाहिनी (Thoracic duct) के द्वारा रक्तवह संस्थान में प्रविष्ट होते हैं। यकृत्, प्लीहा, पित्ताशय एवं वृक्कों में इनका पुनः भली प्रकार संवर्द्धन होता है और अन्त में पेयर के चकत्तों एवं एकाकी गुच्छों (Payer's patches & solitary folicles) में मुख्यतया स्थानसंश्रय होता है। पित्ताशय तथा प्लीहा मुख्य रूप से जीवाणुओं के केन्द्रागार के रूप में कार्य करते हैं। रोग मुक्त होने के बहुत काल बाद तक इन अधिष्ठानों में आन्त्रिक जीवाणु उपस्थित रहते हैं।

लक्षण—साधारणतया १ सप्ताह से अधिक सन्तत स्वरूप में रहने वाला ज्वर आन्त्रिक ही माना जाता है। सन्तत ज्वर के अनेक अन्य कारण हो सकते हैं, किन्तु उनका सापेक्ष्य निदान प्रायः एक सप्ताह तक अवश्य हो जाता है और आन्त्रिक ज्वर की चिकित्सा अविशिष्ट स्वरूप की होने के कारण दूसरे किसी ज्वर का अनुबन्ध होने पर भी लाभकारक ही होती है। इसके लक्षणों को सुविधा की दृष्टि से चार विभिन्न अवस्थाओं में बाँटा जा सकता है, प्रत्येक अवस्था की अवधि एक सप्ताह की मानी जाती है।

प्रथम सप्ताह—रोग का प्रारम्भ बहुत शनैः शनैः, प्रायः २-४ दिन केवल सायंकाल ज्वर का अनुबन्ध, शिरःशूल, आलस्य के साथ होता है। प्रारम्भिक दिनों में अरुचि, उदर में साधारण वेदना एवं आध्मान, कोष्ठबद्धता तथा अवसाद के लक्षण होते हैं। कुछ रोगियों में साधारण कास, नासागत रक्तस्राव, शिरःशूल का कष्ट भी होता है। उत्तरोत्तर सन्ताप की वृद्धि तथा क्रम से प्रातःकाल ज्वराल्पता, पूर्वाह्ण से सायंकाल तक उत्तरोत्तर ज्वर की वृद्धि, सर्वाङ्गवेदना तथा तन्द्रा के से लक्षण उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार की सन्ताप-वृद्धि को सोपान क्रम वृद्धि (Step ladder) कहा जाता है। सात दिन बाद ज्वर प्रायः स्थिर सन्तत स्वरूप का हो जाता है। जिह्वा मलावृत किन्तु उसके अग्र एवं किनारे रक्त वर्ण के होते हैं। सन्ताप की तुलना में नाड़ी की गति मन्द, प्लीहा स्पर्श-लभ्य तथा उदर में दाहिनी ओर नीचे उण्डुक (Ceacun) के स्थान पर दबाने से गुड़गुड़ाहट तथा स्पर्शासह्यता होती है। कभी-कभी सन्ताप की वृद्धि क्रमिक न होकर आकस्मिक भी होती है तथा सन्ताप के साथ तीव्र शिरःशूल (Frontal headache), अङ्गमर्द, बेचैनी तथा उदरशूल के लक्षण होते हैं।

द्वितीय सप्ताह—ज्वर सन्तत स्वरूप का, उच्चतम सीमा में प्रातः १०१ से १०३ तथा सायंकाल १०३ से १०५ तक होता है। बेचैनी, अनिद्रता, दिन में तन्द्रा, रात में प्रलाप इत्यादि लक्षणों के कारण रोगी को अधिक कष्ट होता है। प्रायः दस दिन के बाद छोटे २ दाने (स्फोट)—पहले ग्रीवा में, बाद में क्रम से वक्ष-उदर और ऊरु तक निकलते हैं। शरीर को स्वच्छता न होने के कारण सभी सन्तत स्वरूप के ज्वरों में अंभौरी के

समान दाने निकल सकते हैं। किन्तु आन्त्रिक ज्वर के दाने उनसे कुछ भिन्न स्वरूप के-किंचित् गुलाबी वर्ण के, मोती से चमकदार—तथा समूहों (Corps) में होते हैं। तृष्णा और अतिसार का कष्ट इसी सप्ताह में होता है। मल पीत वर्ण का, पतला, बदबूदार, गुड़गुड़ाहट के साथ में दिन में चार-पाँच बार होता है। नाड़ी मन्द, प्रायः द्विस्वनिक (Dicrotic) होती है। जिह्वा मलावृत, रूक्ष; ओठ सूखे, फटे हुये तथा दन्त मलावृत रहते हैं। इसी अवस्था में श्वसनिका शोथ (Bronchitis) के लक्षण प्रारम्भ हो जाते हैं। विषमयता बढ़ जाने पर आन्त्रगत रक्तस्राव या आन्त्र-निच्छिद्रण (Perforation) तथा श्वसनीपाक (Broncho pneumonia) के उपद्रवों की सम्भावना अधिक होती है।

तृतीय सप्ताह—यदि कोई विशेष उपद्रव न हुआ हो तो तृतीय सप्ताह के प्रारम्भ से सन्ताप के लक्षणों में मृदुता होने लगती है। प्रातःकाल का तापक्रम पूर्वापेक्षा कम तथा १–२ दिन बाद सायंकाल का ताप भी कम होने लगता है। ज्वरमार्दव के साथ ही जिह्वा की स्वच्छता, तन्द्रा-प्रलाप की कमी, आध्मान-अतिसार की शान्ति तथा रोगी को भीतर से पूर्वापेक्षा लघुता का अनुभव होता है। प्लीहा उत्तरोत्तर कम होने लगती है। तृतीय सप्ताह के अन्ततक ज्वर प्रायः प्रातःकाल पूर्ण शान्त तथा सायंकाल मन्द स्वरूप का हो जाता है। दाने जिस क्रम से निकलते हैं, प्रायः उसी क्रम से शान्त हो जाते हैं।

चतुर्थ सप्ताह—यह उपद्रव का सप्ताह कहा जाता है। यदि उपद्रव न हों तो रोग की पूर्ण सन्निवृत्ति हो जाती है। निम्नलिखित उपद्रव शारीरिक दुर्बलता, रोग प्रतिकारक शक्ति की न्यूनता तथा पर्याप्त समय तक शय्या पर पड़े रहने के कारण होते हैं। पहले आन्त्रगत रक्तस्राव तथा आन्त्र निच्छिद्रण का उल्लेख किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त फुफ्फुस पाक, कर्णमूल शोथ, आध्मान, अतिसार, उदरावरण शोथ, पित्ताशय शोथ, हृत्पेशी शोथ, फुफ्फुसावरण शोथ, सन्धि शोथ, परिसरीय वातनाडी शोथ, वातिक उन्माद (Melancholia), अस्थि मज्जा शोथ, शरीर के विभिन्न अङ्गों तथा अस्थियों में विद्रधि, शय्याव्रण, औरवी शिरा की घनास्रता, कटिशूल (Spondylitis or typhoid spine) आदि उपद्रव होते हैं।

प्रायोगिक निदान—प्रथम सप्ताह में रक्तसंवर्धन के द्वारा विशिष्ट दण्डाणु की प्रत्यक्षता की जा सकती है।

रक्त परीक्षा—रक्त में श्वेत कायाणुओं की संख्या-न्यूनता, लसकायाणुओं की आपेक्षिक वृद्धि तथा द्वितीय सप्ताह के बाद से विडाल कसौटी की उपस्थिति निर्णायक होती है। द्वितीय सप्ताह में डायज़ो कसौटी का ज्ञान मूत्र परीक्षा के द्वारा किया जाता है।

संक्षेप में सन्तत स्वरूप का ज्वर, सन्ताप की सोपानक्रम वृद्धि, शिरःशूल, उदर में आध्मान एवं गुड़गुड़ाहट, अतिसार, मलावृत-रूक्ष जिह्वा, प्लीहावृद्धि, विशिष्ट क्रम से विस्फोटोत्पत्ति, नाडी-मन्दता, साधारण कास, दिन में तन्द्रा तथा रात्रि में अस्पष्ट प्रलाप, क्षीण

एवं वेदनायुक्त आकृति तथा रक्त में श्वेतकणापकर्ष-लसकायाणु वृद्धि, मूत्र में डायज़ो कसौटी की उपस्थिति होने पर आन्त्रिक ज्वर का निदान किया जाता है। सन्देह निवृत्ति के लिये विडाल कसौटी की उपस्थिति (१ : १०० से अधिक) निर्णायक होती है।

आन्त्रिक ज्वर में त्रिदोष दुष्टि के लक्षण मिलते हैं। प्रायः वात-पित्तोल्बण तथा कफ-न्यून सन्निपात का स्वरूप होता है। कफोल्बणता हो जाने पर श्वसनीपाक तथा अन्य गम्भीर उपद्रव पैदा हो जाते हैं। प्रमुख दूष्य रस तथा अधिष्ठान क्षुद्रान्त्र की श्लेष्मल कला होती है। रस दूष्यता के कारण रसस्थ ज्वर[1] के लक्षण तथा आमज्वर[2] के लक्षण मिलते हैं।

सापेक्ष्य निदान—सन्तत स्वरूप का विषम ज्वर, काल ज्वर, इन्फ्लुएञ्जा, श्वसनीपाक, पूय युक्त ज्वर आदि से इसका सापेक्ष्य विनिश्चय करना चाहिये।

सामान्य चिकित्सा—आन्त्रिक ज्वर से गम्भीर स्थिति पैदा होने का कोई कारण नहीं, यदि रोगी की सामान्य व्यवस्था सुचारु रूप से रक्खी जाय। इसमें होने वाले उपद्रव मुख्यतया तीन कारणों से होते हैं।

१. पथ्य में असावधानी—ठीक लंघन न कराने से आध्मान, अतिसार, रक्तस्राव, श्वसनीपाक आदि उपद्रव पैदा हो जाते हैं।

२. मुख-गला-त्वचा आदि अङ्गों की भली प्रकार सफाई न रखने के कारण कर्णमूल शोथ, शय्याव्रण, अस्थिमज्जा शोथ, विद्रधि आदि उपद्रव होते हैं।

३. भली प्रकार परिचर्या न हो सकने के कारण आन्त्रगत रक्तस्राव, आन्त्र-निच्छिद्रण, शय्याव्रण तथा तीव्र विषमयता आदि का कष्ट होता है।

कभी-कभी इन उपद्रवों के कारण दोष पाचन में अधिक समय लगने पर असावधानी के कारण आवश्यकता से अधिक लंघन हो जाता है, जिससे धातुपाक होकर कम्पवात, क्षय, रक्ताल्पता इत्यादि धातुक्षयमूलक उपद्रव उत्पन्न होते हैं। इन सभी उपद्रवों का प्रतिकार उचित पथ्य-व्यवस्था, शरीर की नियमित शुद्धता तथा उत्तम परिचर्या के द्वारा हो सकता है।

रोगी का वासस्थान ऋतु-अनुकूल वातावरण में होना चाहिये। शरीर दुर्बल एवं असहनशील हो जाता है, अतः प्रत्यक्ष वायु शरीर में न लगे, ऐसे स्थान में शय्या होनी चाहिये। कमरे की नियमित सफाई, धूपन इत्यादि के बारे में पूर्वोक्त क्रम से योजना होनी चाहिये।

---

१. **रसस्थ ज्वर**—ज्वर जब रस धातु में स्थित रहता है तो सम्पूर्ण शरीर में भारीपन, बार-बार वमन की इच्छा अवसाद, वमन, अरुचि तथा दीनता ये लक्षण होते हैं।

२. **आमज्वर**—मुख से लालास्राव की अधिक प्रवृत्ति, वमन की इच्छा, हृदय की अशुद्धि, अन्न आदि के प्रति अरुचि, तन्द्रा, आलस्य, अजीर्ण, मुख-वैरस्य, शरीर का भारीपन, बुभुक्षानाश या छींक का पूर्णतया रुक जाना, पुनः-पुनः मूत्र त्याग होना, स्तब्धता तथा ज्वर की तीव्रता ये आमज्वर के लक्षण हैं।

शय्या—आन्त्रिक ज्वर में लम्बे समय तक रोगी बिस्तर में लेटा रहता है, अनेक बार दुर्बल हो जाने के कारण स्वतः करवट नहीं बदल सकता, जिससे अस्थिप्रधान अङ्गों पर बिस्तर की कठोरता से व्रण या छालों का कष्ट हो जाता है। अतः रोगी की खाट भली प्रकार कसकर उस पर मोटा गद्दा बिछाना चाहिये। बिस्तर की चद्दर नियमित रूप से एक बार अवश्य बदली जाय। कदाचित् मल-मूत्र आदि के द्वारा अशुद्धि हो गई हो तो तुरन्त बदल देना चाहिये।

परिचर्या—नियमित रूप से प्रातःकाल बिना रोगी को अधिक कष्ट पहुँचाये, कुन-कुने पानी में मुलायम कपड़ा भिगोकर सारा शरीर पोंछकर साफ कर देना चाहिये। किसी कारण से जल का स्पर्श उचित न समझा जाय तो सूखे मुलायम कपड़े से हल्के हाथ से रगड़कर सारे शरीर की सफाई कर देनी चाहिये। जिह्वानिर्लेख तथा दन्त धावन का तीव्र ज्वरों में निषेध किया जाता है। किन्तु मञ्जन से अच्छी तरह दाँतों की सफाई करके, लौंग एवं पान के पत्ते का काढ़ा बनाकर अच्छी तरह कुल्ला कराकर मुख-शुद्धि करा देनी चाहिये। लिस्टेरिन (Listerin), डेटाल (Dettol) या सेव-लान (Savlan) १५ बूंद को १ पाव कुनकुने पानी में मिलाकर कुल्ला कराने से भी मुख की पूरी शुद्धि हो जाती है। इनके अभाव में पोटास (Pot. permang.) का हल्के बैंगनी रङ्ग का घोल काम में लाया जा सकता है।

दूसरे सप्ताह में रोगी बेचैनी के कारण अधिक करवट बदलता रहता है। कभी-कभी दुर्बलता के कारण पूर्ण स्थिर पड़ा रहता है। दोनों ही स्थितियों में शय्याव्रण होने का अन्देशा रहता है। अतः बिस्तर में रगड़ खाने वाले या दबे रहने वाले अङ्गों की—विशेषकर पृष्ठ-स्कन्ध-कोहनी आदि की—सुरक्षा पर ध्यान देना चाहिये। शरीर पोंछने के बाद स्प्रिट से पोंछकर चिकना पाउडर या वेसलीन लगा देने से रगड़ने के कारण कोई कष्ट नहीं होगा। यदि रोगी निश्चेष्ट पड़ा हुआ हो तो बीच-बीच में सहारा देकर करवट बदलाते रहना चाहिये।

अधिक प्यास लगने पर एक बार में अधिक मात्रा में जल पी लेने से अतिसार की सम्भावना अधिक होती है। इसलिये थोड़ा-थोड़ा जल बार-बार पिलाते रहना चाहिये। अनेक बार प्रलाप उदर में आध्मान होने के कारण होता है और आध्मान अनियमित रूप से पथ्य देने पर बढ़ा करता है, अतः पथ्यप्रयोग में नियम रखने से आध्मान और प्रलाप दोनों की शान्ति हो सकती है। अधिक बेचैनी के कारण रोगी के अस्थिर होने पर आन्त्रगत रक्तस्राव, आन्त्र निच्छिद्रण आदि गम्भीर उपद्रव होते हैं, अतः उचित उपचार के द्वारा प्रारम्भ से ही इनकी सँभाल रखनी चाहिये। आन्त्रिक ज्वर में हृदयपेशी क्षीण एवं दुर्बल होती है। पर्याप्त समय तक लंघन करने के कारण रोगी निर्बल हो जाता है, अतः उसकी दैनिक क्रियाएँ—मल-मूत्र-विसर्जन, वस्त्र-परिवर्तन आदि—परिचारक को स्वयं कराना चाहिये। रोगी को अपने आप उठने-बैठने देना, शौचादि के लिये जाना उपद्रवों को निमन्त्रण देना है।

पथ्य व्यवस्था—आन्त्रिक ज्वर रसदूष्यता के द्वारा उत्पन्न होनेवाला त्रिदोषज ज्वर माना जाता है। अतः प्रारम्भ में आमदोष के पाचन के लिये कम से कम एक सप्ताह तक लंघन अवश्य कराना चाहिये। इस समय में निम्नलिखित संस्कारित जल का प्रयोग यथानिर्देश करना चाहिये।

तृष्णा-दाह अधिक होने पर षडंग पानीय; आध्मान-उदरवेदना-गुड़गुड़ाहट आदि होने पर वायविडंग, नागरमोथा, पित्तपापड़ा, लौंग इनका पानीय बनाकर तथा अतिसार होने पर शतपुष्पार्क पीने के लिये देना चाहिये। प्रथम सप्ताह में इन पानीय योगों के अतिरिक्त दूसरा कोई पथ्य न दिया जाय तो फुफ्फुस पाक, अतिसार आदि चतुर्थ सप्ताह में होने वाले गम्भीर उपद्रवों से रक्षा हो जाती है। कदाचित् रोगी बहुत क्षीण हो और आध्मान इत्यादि लक्षण कम हों तो निम्नलिखित पथ्य की व्यवस्था करायी जा सकती है।

१. लाजमण्ड—धान का लावा १ तोला, १४ तोले जल में पकाकर अर्धांश अवशिष्ट रहने पर छानकर थोड़ी मिश्री मिलाकर दिन में दो-तीन बार पिलाना।

२. यव पेया—पूर्वोक्त क्रम से यव की पेया बनाकर २-२ तोले की मात्रा में अनेक बार पिलाना। प्रथम सप्ताह में फल एवं दूध के प्रयोग से आध्मान-गुड़गुड़ाहट-अतिसार आदि का कष्ट बढ़ जाता है, अतः इनका पूर्णतया निषेध करना चाहिये। तृष्णा-दाह अधिक होने पर मुसम्मी का रस पीने के लिये दिन में १ या २ बार दिया जा सकता है। सप्ताहान्त में आमांश का पाचन हो जाने के उपरान्त कुछ विबन्धता का अनुमान होने पर मुनक्का के बीज निकालकर, हल्का नमक-जीरा लगा कर, सेंक कर दिन भर में १०-१२ की मात्रा में दिया जा सकता है। दुर्बल रोगियों में प्रोटीन हाइड्रोलाइसेट्स तथा जीवतिक्ति (Vitamins) का पूरक आहार के रूप में प्रारम्भ से ही प्रयोग किया जा सकता है।

द्वितीय सप्ताह में सन्ताप का वेग तथा विषमयता की तीव्रता अधिक हो जाने के कारण तृष्णा एवं बेचैनी बढ़ जाती है। इस समय सन्ताप का उपचार तथा बेचैनी की शान्ति करते रहने से ज्वरमोक्ष बिना कष्ट के हो सकता है। अतः तृष्णा की शान्ति के लिये डाभ का पानी थोड़ी-थोड़ी मात्रा में पिलाया जा सकता है। षडंगपानीय या विडंगपानीय का प्रयोग पूर्ववत् लाभकारक होता है। पैत्तिक लक्षणों की अधिकता पर ब्राह्मी की पत्ती ३ मा०, धनिया ३ मा०, नागरमोथा ३ मा०, सुगन्धबाला ३ मा०, सारिवा ३ मा० का क्वाथ आधा सेर जल में बनाकर आधा शेष रहने पर २ तोला मिश्री के साथ १-२ तोला की मात्रा में दिनभर में कई बार पिलाना चाहिये। अष्टमांश जल या षोडशांश जल विशेषतया दोषपाचक तथा ज्वरशामक होता है। इसको २-२ तो० की मात्रा में दिन में २-३ बार पिलाने से बेचैनी-तृष्णा-प्रलाप आदि लक्षणों की शान्ति हो जाती है। लाजमण्ड, यवपेया आदि का प्रयोग पूर्ववत् किया जा सकता है।

दूसरा सप्ताह बीतते-बीतते ज्वर के लक्षणों में सौम्यता आने लगती है। उदर की गुड़गुड़ाहट, आध्मान, अतिसार आदि की निवृत्ति होकर शरीर हल्का हो जाता है। जिह्वा भी स्वच्छ हो जाती है। ऐसी स्थिति में अधिक समय लंघन न कराकर कुछ पोषक आहार का उपयोग कराना चाहिये। धान के लावा को पानी में पकाकर अच्छी तरह गल जाने पर मिश्री या ग्लूकोज मिलाकर दिया जा सकता है। पिप्पली या पञ्चकोल-शृत दूध में समान भाग यवपेया मिलाकर १ छटाक की मात्रा में रुचि के अनुकूल धीरे-धीरे बढ़ाते हुये प्रयोग करना चाहिये। मीठे सन्तरा, मुसम्मी, सेव आदि फलों का रस दिन में १ या २ बार दिया जाना चाहिये। रोगी अधिक क्षीण न हो जाय इसका ध्यान रखते हुये उचित पोषण की व्यवस्था करनी चाहिये। पूर्व पाचित प्रोभूजिनों के योग-जीवतिक्ति आदि द्रव्यों का प्रयोग द्वितीय सप्ताह के प्रारम्भ से कराया जा सकता है। इनसे शरीर की शक्ति बढ़ती है, मांसक्षय नहीं होता तथा रक्त में प्रोभूजिनों की अल्पता से होने वाले उपद्रव—शय्याव्रण आदि—नहीं होते। पूर्वपाचित होने के कारण शरीर को इनके पाचन में कुछ भी श्रम नहीं करना पड़ता। इस सप्ताह में विबन्ध की प्रवृत्ति होती है। ग्लिसरीन की बस्ति देकर मल की शुद्धि आसानी से करायी जा सकती है। छेने का पानी (Whey) पिलाने से भी मल की गाँठें साफ हो जाती हैं।

चतुर्थ सप्ताह में ३-४ दिन तक सायंकाल कुछ ज्वर हो जाता है। परिचर्या एवं आहार-विहार में असावधानी होने के कारण इसी समय उपद्रवों की सर्वाधिक सम्भावना होती है। अतः किसी भी क्रम में अनवधानता न होनी चाहिये। धीरे-धीरे दूध की मात्रा बढ़ाई जा सकती है। धान का लावा, साबूदाना, हार्लिक्स, ओवल्टीन आदि लघु-पाकी पोषक आहार द्रव्यों का क्रमिक प्रयोग किया जा सकता है। पथ्य एक बार में आध पाव से अधिक न देना चाहिये। ज्वरमुक्ति हो जाने पर मूग की दाल का यूष बनाकर सायंकाल प्रारम्भ करना चाहिये। पहले दिन का पथ्य अनुकूल होने पर दूसरे दिन प्रातःकाल मूंग के यूष में उबाले हुये आटे की रोटी का छिलका मिलाकर देना चाहिये। रुचि बढ़ाने के लिये परवल का यूष साथ में दिया जा सकता है। इसी प्रकार क्रम से बढ़ाते हुये सामान्य आहार तक पहुँचना चाहिये। कदाचित् पूर्व आहार पूर्ण न पचा हो या शरीर में कुछ भारीपन आदि हो तो एक समय का भोजन बन्द करा कर पुनः दूसरे दिन पूर्ववत् देना चाहिये।

चिकित्सा—आन्त्रिक ज्वर की चिकित्सा में लंघन-पाचन और शमन के लिये क्रम से प्रथम-द्वितीय-तृतीय सप्ताह में व्यवस्था की जाती है।

प्रथम सप्ताह में निम्नलिखित योग सामदोष के पाचन में विशेष उपकारक होता है।

१.	सौभाग्यवटी	१ र०
	आनन्दभैरवी गुटिका	१ र०
		१ मात्रा

भुना जीरा तथा मधु से दिन में तीन बार।

यदि प्रारम्भ से अतिसार की प्रवृत्ति न हो तो निम्नलिखित योग का प्रयोग करने से पित्त का शोधन तथा पित्त के प्रभाव से क्षुद्रान्त्र में दूषी विषों का नाश होकर मल का भी शोधन हो जाता है। यह मुख्य औषध नहीं है किसी भी योग के साथ १ मात्रा सायंकाल ४ दिन तक देनी चाहिये।

R/

1	Hydrag subchlor	gr 1/4
	Pulv rhei co	gr 1
	Soda bi carb	gr 2
	Glucose	gr 5
		१ मात्रा

सायंकाल जल से।

नवीन प्रतिजीवी वर्ग की औषधों के प्रयोग के पहले आन्त्रिक ज्वर के प्रथम सप्ताह में क्षारीय मिश्रण अधिक उपयोगी माना जाता था। इसके प्रयोग से आध्मान-अतिसार आदि लक्षणों की शान्ति होती है।

R/

Pot citras	gr 20
Pot acetas	gr 10
Soda bi carb	gr 5
Liq. ammon acetas dill	dr. one
Syp glucose	dr. one
Aqua	oz. one
	१ मात्रा

दिन में ३ बार।

पुराने चिकित्सक क्षारीय मिश्रण के साथ में दालचीनी के तेल का उपयोग मूत्र संशोधन तथा आध्मान शान्ति के लिये किया करते थे। नीचे के दो योग पूरे समय तक अर्थात् ज्वर पर्यन्त दिये जाते हैं।

R/

1.	Pot acetas	gr 20
	Liq ammon acetas dill	dr. one
	Oil cinnamoni	ms 3
	Spt chloroform	ms 15
	Benzo thymol	ms 20
	Aqua	oz. one
		१ मात्रा

दिन में ३ बार।

R/

2.	Haxamine	gr 10
	Soda benzoas	gr 5
	Lactose	gr 20
		१ मात्रा

उपर्युक्त मिश्रण के २ घण्टे बाद दिन में ३ बार जल के साथ।

प्रारम्भिक दिनों में आन्त्रिक ज्वर का निर्णय हो जाने पर लसिका का प्रयोग लाभकारक होता है। फेलिक्स ऐन्टी टायफायड सीरम (Felix anti typhoid serum) या रोडट्स सीरम (Rodet's serum) १५ से २० सी० सी० की मात्रा में पेशी मार्ग से ३ दिन लगातार प्रयोग किया जाता है। आजकल नवीन ओषधियों के निकल जाने के कारण लसिका चिकित्सा का व्यवहार बहुत कम हो गया है।

द्वितीय सप्ताह से क्षारीय मिश्रण का प्रयोग आवश्यक होने पर ही किया जाता है—टिंक्चर फेरी परक्लोराइड तथा हाइड्रोक्लोरिक एसिड का प्रयोग करने से आन्त्रिक व्रणों में दूसरे औपसर्गिक जीवाणुओं का प्रवेश नहीं हो पाता तथा आध्मान, अतिसार आदि लक्षणों का शमन हो जाने से रक्तस्राव तथा आन्त्र-निच्छिद्रण के उपद्रव नहीं होते। इस दृष्टि से निम्नलिखित अम्ल-लौह योग अच्छा है।

R/

Acid hydrochlor dil	ms 15
Tr ferri perchlor	ms 10
Syp glucose	dr one
Aqua menth pip	oz one
	१ मात्रा

दिन में ३ बार, कुछ पथ्य के बाद।

जिन रोगियों में दाने पर्याप्त मात्रा में निकल आते हैं, उनमें पुनरावर्तन की संभावना बहुत कम हो जाती है। निम्नलिखित प्रयोग से दानों का शीघ्र निकलना तथा आध्मान, अतिसार, कास आदि लक्षणों की शान्ति एवं ज्वर का पाचन समय से होता है।

५ से १० लौंग, जायफल २ मा० और सोंठ २ मा० की मात्रा में एक साथ घिसकर, उत्तम मिट्टी के सकोरे में छौंककर, प्रातःकाल मधु मिलाकर चाटने को देना चाहिये। पैत्तिक लक्षणों की शान्ति के लिए इसी में १ माशा ब्राह्मी (जलनीम) की पत्ती मिलाना चाहिए। इसका प्रयोग प्रायः १ सप्ताह से १० दिन तक होना चाहिये। इसी समय निम्नलिखित क्वाथ सन्ताप-दाह-प्रलाप-बेचैनी इत्यादि लक्षणों की शान्ति के लिये प्रयुक्त किया जाता है।

ब्राह्मी की पत्ती २ मा०, लौंग १ मा०, नागरमोथा ३ मा०, बलामूल २ मा०, गुरुच ३ मा०, पित्तपापड़ा ३ मा०, सारिवा ३ मा०, सुगन्धबाला ३ मा० आधा सेर

जल में पकाकर १ छटाँक शेष रहने पर छानकर १ तोला मिश्री मिलाकर प्रातः-सायं पिलाना चाहिये।

द्वितीय सप्ताह में प्रायः वात-पैत्तिक लक्षणों की वृद्धि हो जाती है। ऐसी अवस्था में निम्नलिखित योग लाभकर होता है। इसके प्रयोग से इस अवस्था के सभी लक्षणों का शमन, उपद्रवों का प्रतिरोध तथा हृदय को बल मिलता है।

मुक्ता भस्म	½ र०
योगेन्द्र रस	१ र०
सौभाग्यवटी	१ र०
त्रैलोक्य चिन्तामणि	½ र०
	१ मात्रा

दिन में २-३ बार भुना जीरा तथा मधु से या भुनी हुई बड़ी इलायची के चूर्ण तथा मधु से।

यदि रोगी आर्थिक साधन सम्पन्न न हो तो निम्नलिखित योग पूर्व योग के स्थान पर देना चाहिये—

ब्राह्मीवटी	१ र०
प्रवाल भस्म	½ र०
मुक्ताशुक्ति भस्म	½ र०
आनन्दभैरव	१ र०
ज्वरारि अभ्र	१ र०
	१ मात्रा

दिन में २-३ बार भुना जीरा तथा मधु से।

सन्ताप की उग्रता को शान्त करने के लिये बाह्य उपचारों के साथ ही अष्टमांशावशेष जल, पर्पटार्क तथा शतपुष्पार्क का बार-बार प्रयोग लाभ करता है। निम्नलिखित योग ज्वर का शमन एवं दोष के पूर्ण पाचन में शीघ्र प्रभाव दिखाता है। आवश्यक होने पर इसका प्रयोग करने से सन्ताप १-२ अंश अवश्य कम हो जायगा।

सूतशेखर	१ र०
वसन्तमालती	½ र०
त्रिभुवनकीर्ति	½ र०
शिलाजत्वादि लौह	१ र०
गुडूची सत्त्व	२ र०
	१ मात्रा

दिन में ३ बार पर्पटार्क के साथ में मिश्री मिलाकर।

पूर्वोक्त क्रम से व्यवस्था करने पर प्रायः तीसरे सप्ताह से ज्वर के लक्षणों में सौम्यता होने लगती है तथा और कोई उपद्रव नहीं होते। शारीरिक शक्ति की वृद्धि, धातुओं की पुष्टि तथा रोगक्षमता की वृद्धि के लिये निम्नलिखित योग इस अवस्था में दिये जाते हैं।

R/		
	Protein hydrolysate	
	or	
	Casein hyorolysate	dr. one
	Elixir B. complex.	dr. one
	Syp super d cal.	dr. one
	Aqua chloroform	oz one
		१ मात्रा

दिन में ३ बार।

इसके स्थान पर तत्सम दूसरे पोषक योग भी दे सकते हैं।

जीवतिक्ति सी का प्रयोग आन्त्रिक ज्वर में प्रथम सप्ताह से ही उपयोगी माना जाता है। किन्तु तृतीय सप्ताह में इसका प्रयोग विशेष गुणकारी होता है। इसका प्रयोग निम्न योग के रूप में हितकर होगा।

Ascorbic acid	200 mg
Cal. pantothenate	10 mg
Cal. lactate	gr 5
Lactose	gr 10
	१ मात्रा

दिन में ३ बार पानी से।

अनेक चिकित्सक जीवतिक्ति सी का प्रयोग पीने के पानी में मिलाकर दिन भर में ३०० से ६०० mg. की मात्रा में करते हैं।

द्वितीय सप्ताह की व्यवस्था में जिस अम्ल मिश्रण का निर्देश हुआ है, अथवा प्रारम्भिक दिनों में टिंक्चर फेरी परक्लोराइड या दालचीनी के तेल का मिश्रण जो पहले बताया गया है, उसका व्यवहार तीसरे सप्ताह में भी गुणकारी होता है। यदि तीसरे सप्ताह में ज्वर की सौम्यता न हुई हो तथा अन्य लक्षणों के आधार पर ज्वर-शामक औषधियों का प्रयोय उचित हो तो निम्नलिखित औषधि का प्रयोग करने से ज्वर का क्रमिक शमन होता है।

ब्राह्मी वटी	१ र०
त्रिभुवनकीर्ति	१ र०
चन्दनादि लौह	१ र०
	१ मात्रा

दिन में ३ बार मधु से।

आन्त्रिक ज्वर के चतुर्थ सप्ताह में ज्वर का कुछ अनुबन्ध रह जाता है। अनेक रोगियों में साधारण व्यवस्था से रहा हुआ यह ज्वर ठीक नहीं होता।

निम्नलिखित योग ज्वरशामक, बलकारक तथा रक्तवर्धक होता है। इसका प्रयोग पर्याप्त समय तक किया जा सकता है।

प्रवालपञ्चामृत	१ र०
पुटपक्व विषमज्वरान्तक लौह	१ र०
वसन्तमालती	१ र०
सितोपलादि चूर्ण	१ मा०
	१ मात्रा

प्रातः-सायं मधु से।

कभी-कभी अनेक दिनों तक मन्द स्वरूप का ज्वर बना रहता है। ऐसी अवस्था में अल्प मात्रा में रहा हुआ ज्वर निम्नलिखित योग से प्रायः शान्त हो जाता है—

Aristochin	gr $\frac{1}{2}$
Cryogenine	gr 1
Pulv rhei.co	gr 2
Cal. lactat	gr 5
Lactose	gr 10
	१ मात्रा

दिन में तीन बार जल के साथ। प्रायः दो दिन से अधिक देने की आवश्यकता नही पड़ती।

इस सप्ताह में टायफायड वैक्सिन (Typhoid vaccine), मिल्क इञ्जक्शन (Milk Inj.), मल्टीन (Multin), ओम्नाडीन (Omnadin), रक्त (Whole Blood) इत्यादि अविशिष्ट क्षमतोत्पादक ओषधियों का सूचीवेध के द्वारा पेशीगत मार्ग से प्रयोग करने से शारीरिक शक्ति की वृद्धि, पुनरावर्तन का निरोध तथा उपद्रवों से बचाव होता है। रोगी की सहनशीलता के अनुरूप इनमें से किसी का प्रयोग चौथे सप्ताह के अन्तिम दिनों में करना चाहिये।

विशिष्ट औषध—आन्त्रिक ज्वर के लिये Chloromphenicol प्रतिजीवी वर्ग की सर्वोत्तम औषध मानी जाती है। नियमित रूप से सभी रोगियों में इसका प्रयोग हितकर नहीं माना जाता, क्योंकि इसके उपयोग से ज्वर की शान्ति बहुत शीघ्र हो जाने पर भी आन्तरिक विकृतियों का उतना शीघ्र निराकरण नहीं होता और ज्वर निवृत्ति के बाद रोगी संयम-नियम का उतना पालन नहीं करता, जिससे पुनरावर्तन की सम्भावना अधिक होती है। इस वर्ग की ओषधियों के प्रयोग से रोगक्षमता की वृद्धि न होने के कारण दूसरी व्याधियों का उपसर्ग होने की सम्भावना बढ़ जाती है। यदि प्रारम्भ से ही रोग के लक्षण तीव्र हों या रोगी अधिक क्षीण हो अथवा श्वास-कासक्षय इत्यादि

जीर्ण व्याधियों से पीड़ित हो तथा रोगी गर्भिणी एवं सद्यःप्रसूता स्त्री हो तो इसका प्रयोग अवश्य करना चाहिये। प्रारम्भिक मात्रा ५०० मिली ग्राम, बाद में २५० मिली ग्राम प्रति ४ घण्टे पर चार दिन तक। प्रायः चार दिन में ज्वरमुक्ति हो जाती है। उसके बाद कम से कम पाँच दिन तक ४ मात्रा प्रतिदिन देते रहना चाहिये। ज्वर के मध्य काल की अपेक्षा इसका प्रयोग प्रारम्भ से ही करना अधिक लाभकारी है। इधर कुछ वर्षों से ज्वर के प्रारम्भ में ही क्लोरोम्फेनिकाल के साथजीवतिक्ति सी (Vit C 500 mg.) तथा प्रेडनोसालीन (Prednosoline) ५ मि० ग्राम की मात्रा में प्रयोग करते हैं। सटीक निदान रहने पर २४ घण्टे के भीतर ज्वर शमन होता है तथा ४-५ दिन में रोगी पूरा ठीक हो जाता है। किन्तु प्रेडनोसोलीन वर्ग की औषध का प्रयोग प्रारम्भिक काल में अच्छा होता है, बाद के समय में इसके अधिक काल तक प्रयोग करने से आन्त्र से रक्तस्राव की सम्भावना होती है।

बच्चों के लिये क्लोरोम्फेनिकाल के शर्बत (Palmitate, steriate or dry syrups) आते हैं, जिनकी मात्रा का अवस्था एवं शरीर भार के अनुपात में निर्णय करके प्रयोग करना चाहिये। क्लोरोम्फेनिकाल के प्रयोग से रोगक्षमता की वृद्धि नहीं होती, अतः ज्वरमुक्ति के बाद मल्टीन, ओम्नाडीन या टायफायड वैक्सिन का प्रयोग अवश्य करना चाहिये। आन्त्रिक ज्वर में अल्डेस्टॉन (Aldeston) नामक बंग का यौगिक कुछ चिकित्सक बहुत सफलतापूर्वक प्रयुक्त कर चुके हैं। प्रतिदिन ५ गोली लगभग बारह दिन तक दी जाती हैं। इसके प्रयोग से आन्त्रिक ज्वर के दण्डाणु का विनाश होता है, ऐसी तज्ज्ञों की राय है।

आन्त्रिक ज्वर में कभी-कभी कुछ लक्षण रोगी के लिये अधिक कष्टदायक हो जाते हैं। उपर्युक्त विधि के अतिरिक्त उनका उपचार साथ में करना पड़ता है। कुछ लक्षणों की व्यवस्था का निर्देश किया जा रहा है।

विषमयता—विषमयता की निवृत्ति के लिये आन्तरिक एवं बाह्य संशोधन कराते रहने से लाभ होता है। प्रलाप, बेचैनी, अनिद्रा, जिह्वा की रूक्षता-शुष्कता आदि लक्षणों की उपस्थिति से विषमयता-वृद्धि का अनुमान किया जाता है। नियमित रूप से दो या तीन बार शरीर को पोंछते रहने से बाह्य शुद्धि होती है। यदि रोगी को अतिसार का कष्ट न हो तो दिन भर में जल २-४ सेर की मात्रा में पिलाते रहना चाहिये। इससे स्वेद प्रवृत्ति होती है तथा मूत्र पर्याप्त मात्रा में होता रहता है। आन्त्रिक ज्वर में मूत्र की राशि दिन भर में यदि १॥-२ सेर तक रहे तो दूषित विषों का उत्सर्ग पूर्ण रूप से हो सकता है। जब तक जल पर्याप्त मात्रा में न दिया जायगा, विषों का संशोधन सम्भव नहीं। अतः षडङ्गपानीय, धान्यपञ्चक क्वाथ, सादा उबाला हुआ पानी, डाभ का पानी, शतपुष्पार्क, पर्पटार्क और सोडा बाई कार्ब एवं ग्लूकोज जल में मिलाकर दिन भर में थोड़ा-थोड़ा पिलाते रहना चाहिये। कभी-कभी जल का प्रयोग अधिक मात्रा में होने से

अतिसार के लक्षण हो जाते हैं अथवा अतिसार होने पर जल का प्रयोग आवश्यक मात्रा में नहीं किया जा सकता, अतः ऐसी स्थिति में सिरा द्वारा या अधस्त्वचीय मार्ग से ५% ग्लूकोज सम लवण जल में मिलाकर देना चाहिये। विषमयता की शान्ति के लिये ग्लूकोज तथा जल का उचित मात्रा में प्रयोग सर्वोत्तम माना जाता है। आस्थापन वस्ति (Rectal saline) के रूप में ग्लूकोज-समलवण जल का घोल आन्त्रिक ज्वर में अधिक उपयोगी नहीं माना जाता। अनेक बार इस मार्ग से जल का प्रयोग कराने पर अतिसार का कष्ट बढ़ जाता है। यदि रोगी मूर्च्छित हो या अन्य किसी कारण से पर्याप्त मात्रा में जल न पी सके तो रायल की नली (Ryle's tube) के द्वारा पेय द्रव्यों का प्रवेश आमाशय में नियमित रूप से, उदर की स्थिति का ध्यान रखते हुये, कराया जा सकता है।

संताप—१०४ अंश से अधिक सन्ताप हो जाने पर रोगी अधिक बेचैन हो जाता है। यथाशक्ति आन्त्रिक ज्वर में कोई शामक ओषधि नहीं दी जाती। बाह्य प्रयोग के द्वारा सन्ताप को कुछ अंश तक कम किया जा सकता है। मस्तक पर बरफ की थैली, गुलाब जल, यूडीकोलन या ठण्डे पानी की पट्टी तथा लाक्षणिक चिकित्सा के प्रकरण में बताये गये उपक्रमों का यथावश्यक उपयोग किया जा सकता है। शरीर को हल्के गुनगुने पानी से २-३ बार पोंछ देना या ठण्डे पानी में चद्दर भिगोकर सारे शरीर को ढकना और ठण्डे पानी से शरीर पोंछना तथा सन्तापशामक सामान्य उपचारों का प्रयोग करना चाहिये। ज्वर मध्याह्न से रात्रि के प्रथम प्रहर तक सर्वाधिक रहता है, अतः १२ बजे से ६ बजे के बीच में ३-४ बार सन्ताप शामक प्रयोग करना चाहिये।

हृदय की दुर्बलता—विषमयता, सन्ताप तथा लंघन आदि के कारण हृदय बहुत दुर्बल हो जाता है तथा हृत्मांसपेशी का अपजनन आन्त्रिक ज्वर के दण्डाणु-विष के कारण होता है। अतः प्रारम्भ से ही हृदय की सुरक्षा का ध्यान रखना पड़ता है। रोगी को स्वयं वेग के साथ उठना-बैठना, करवट बदलना, मलमूत्र त्याग के लिये शय्या को छोड़ कर बाहर जाना आदि सभी शक्ति युक्त कार्यों को करने से रोकना चाहिये। विशेष-कर द्वितीय-तृतीय सप्ताह में रोगी की हर क्रिया में परिचारक को सहायता करनी चाहिये। एक आसन में अधिक समय लेटे रहने से एवं विशेषकर बहुत दिनों लेटे रहने से फुफ्फुसों में द्रवांश का सञ्चय (Hypostatic congestion) हो जाता है, जिससे भविष्य में शरीर को शुद्ध प्राणवायु कम मिलती है, हृत्क्रिया में अवरोध होता है तथा फुफ्फुसपाक आदि गम्भीर उपद्रवों के लिये क्षेत्र तैयार हो जाता है। इसके प्रतिकार के लिये रोगी को दिन में समय-समय पर आसन बदलाते रहना, कुछ समय के लिये पीठ के पीछे सहारा देकर बैठाना तथा दिन में २-३ बार त्वचा को खूब रगड़-रगड़ कर साफ रखना आवश्यक होता है। त्वचा के रगड़ने से स्थानीय रक्तवाहिनियों का विस्फार होकर रक्तप्रवाह की शिथिलता दूर हो जाती है, जिससे शरीर के किसी अङ्ग

में रक्त का अधिक समय तक सञ्चय नहीं हो पाता और फुफ्फुस में भी द्रवांश का निःस्यन्दन नहीं होता। निम्नलिखित योग का द्वितीय-तृतीय सप्ताह में सहायक औषध के रूप में प्रयोग करने से हृद्दौर्बल्य का प्रतिषेध होता है—

चतुर्भुज	१/२ र०
विश्वेश्वर	१/२ र०
मुक्ताभस्म	१/२ र०
	१ मात्रा

मधु से दिन में एक या दो बार।

हृद्दौर्बल्य के लक्षण उपस्थित होने पर कोरामिन लिक्विड, कार्डियाजोल लिक्विड, वेरिटॉल इत्यादि हृद्य औषधियों का प्रयोग करना चाहिये। निम्नलिखित योग भी इस अवस्था में हृदय की बल-वृद्धि करता है।

Strychnine hydrochlor	1/200
Atropine sulph	1/200
Adrenaline	ms 10
	१ मात्रा

इसको अधस्त्वचीय सूचीवेध के रूप में या जिह्वा के नीचे रखने के लिये दिन में दो बार देना चाहिये।

नाड़ी की गति तीव्र होने पर यह योग नहीं देना चाहिये। रक्तस्राव की संभावना में भी इसके प्रयोग से रक्तभार की वृद्धि होकर रक्तस्राव होने की सम्भावना रहती है। हृद्दौर्बल्य के तीव्र लक्षण, नाड़ी की मन्दता-तीव्रता-क्षीणता, श्वासकृच्छ्र, श्यावास्यता आदि होने पर आक्सीजन सुंघाने के लिये तथा स्ट्रिक्नीन १/१०० और डिजिटेलिन १/४ ग्रेन मिलाकर या कैम्फर इन आयल, कोरामिन कैफीन आदि सद्यः गुणकारी हृद्य औषधियों का सूचिकाभरण करना चाहिये।

निम्नलिखित योग हृदयातिपात की अवस्था में बहुत लाभकारक सिद्ध हुआ है।

बृ० कस्तूरीभैरव	१ र०
सिद्ध मकरध्वज	१/२ र०
चिन्तामणि चतुर्मुख	१ र०
	१ मात्रा

पान के रस तथा मधु से प्रति चार घण्टे पर।

कास—आन्त्रिक ज्वर में कभी-कभी प्रारम्भ से ही कास का अनुबन्ध रहता है किन्तु अधिक दिन लेटे रहने के कारण फुफ्फुस में द्रवांश का सञ्चय होने से कास की

वृद्धि हो जाती है। कुछ रोगियों में जीर्ण तुण्डिकेरी शोथ (Tonsilitis) होता है जो समय पाकर बीच में ही उभड़ जाता है। शुष्क-कास से रोगी को कष्ट तथा उदर में अधिक हलचल होती है, जिससे रक्तस्राव तथा आन्त्र-निच्छिद्रण की सम्भावना बढ़ जाती है। अतः कास की शान्ति के लिये कारण के अनुरूप व्यवस्था करनी चाहिये। निम्नलिखित अवलेह कास की लाक्षणिक निवृत्ति में सहायक होता है।

चन्द्रामृत रस	२ मा०
चन्दनादि लौह	२ मा०
कासकुठार	१ मा०
तालीसादि	१ तो०
	१ मात्रा

अडूसा के शर्बत में अवलेह बना दिन में कई बारकर चाटने को देना चाहिये।

तुण्डिकेरी शोथ की शान्ति के लिये Penicillin lozenzes, Aureomycin troches आदि को चूसने के लिये दिया जा सकता है। मेंडल्स पेण्ट (Mendel's paint) या Ferri glycerine पेण्ट से भी गले के क्षोभ में लाभ होता है।

विबन्ध—आन्त्रिक ज्वर में अतिसार की प्रवृत्ति अधिक होती है, अतः दो दिन तक मलशुद्धि न होने पर भी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। आवश्यक होने पर ग्लिसरीन की बस्ति के प्रयोग से मलाशय में संचित मल की शुद्धि करा देनी चाहिये। प्रथम सप्ताह में पित्तरेचक योग का निर्देश किया जा चुका है किन्तु उसका भी पुनः प्रयोग न होना चाहिये। रेचन या मलभेद करने के लिये कोई भी औषधि निरुपद्रुत नहीं कही जा सकती। फटे दूध का पानी, मुनक्के का पानी साधारण कोष्ठबद्धता को दूर करता है। आवश्यकतानुकूल इनका प्रयोग तीसरे सप्ताह किया जा सकता है। ६ माशा ईसबगोल के दाने १ पाव पानी में फाण्ट के रूप में खौलाकर छानकर पेय के रूप में दिन में कई बार पिलाने से मल की शुद्धि सुखपूर्वक हो जाती है तथा अतिसार का उपद्रव भी इसीसे शान्त हो जाता है।

आध्मान—आन्त्रिक ज्वर में लघु अन्त्र में दोष का मुख्य अधिष्ठान होने के कारण तथा आन्त्र के व्रणित होने के कारण अन्त्रपुरस्सरण गति (Peristalsis) स्वभावतः कम हो जाती है, जिससे उदर में आध्मान अल्पमात्रा में बना रहता है। जब तक आध्मान से रोगी को कष्ट (पेट में गुड़गुड़ाहट, श्वासोच्छ्वास से असुविधा तथा अनिद्रा आदि) न हो तब तक विशिष्ट उपचार की आवश्यकता नहीं पड़ती। आहार में ग्लूकोज-फल आदि का अधिक व्यवहार करने से उदर में वायु का अधिक संचय होता है, अतः प्रारम्भ के १०-१२ दिनों तक फलों के रस तथा ग्लूकोज

की मात्रा कम दी जाती है। आध्मान अधिक होने पर ग्लूकोज के स्थान में दुग्ध-शर्करा (Lactose) का उपयोग करना चाहिये। कुछ समय के लिये सहारा देकर रोगी को बैठा देने से उद्‌गार के द्वारा वायु की शुद्धि होकर आध्मान की निवृत्ति हो जाती है। गरम पानी में तारपीन का तेल डालकर मोटा कपड़ा भिगोकर निचोड़कर दूसरे महीन कपड़े में लपेटकर उदर के ऊपर बाँधना चाहिये। हल्के रूप में तारपीन मिले पानी में कपड़ा भिगो वाष्प स्वेदन भी कराया जा सकता है। किन्तु अधिक सेंक करने या पेट को दबाने से गम्भीर उपद्रवों की सम्भावना हो सकती है, इसका ध्यान रखना चाहिये। गरम पानी में हींग पिघलाकर सहता हुआ लेप नाभि के चारों ओर करने से वायु का अनुलोमन आसानी से हो जाता है। आवश्यकता होने पर वातानुलोमक नली (Flatus tube) एरण्ड तेल से स्निग्ध कर सावधानी के साथ गुदा द्वारा ४–६ इञ्च ऊपर तक प्रविष्ट कराया जा सकता है। Lyspamine suppository या फलवर्ति गुदा में लगाने से वायु की शुद्धि होती है। इन उपचारों द्वारा लाभ न होने पर चारकोल की गोली (Charcoal tabs) दिन में ३ बार देने से वायु का शमन हो जाता है। अत्यधिक आध्मान होने पर पिट्यूट्रिन ·५ ग्रेन या पिट्रेसिन, प्रास्टिग्मीन आदि में से किसी का सूचीवेध अधस्त्वचीय मार्ग से किया जा सकता है। रक्तस्राव की थोड़ी भी सम्भावना होने पर इन ओषधियों का प्रयोग न करना चाहिये। दूध आधा पाव, मधु एक छटाँक, दशमूल क्वाथ एक छटाँक—तीनों मिलाकर आस्थापन बस्ति के रूप में देने से आध्मान की शान्ति, शरीर का पोषण तथा मल की शुद्धि बहुत आसानी से हो जाती है।

अतिसार—अतिसार आन्त्रिक ज्वर का प्रमुख चिन्तनीय लक्षण है। इसके बढ़ जाने पर विषमयता की वृद्धि, रक्तस्राव का प्रवृत्ति, क्षीणता आदि गम्भीर उपद्रवों की सम्भावना होती है। प्रथम सप्ताह में एक-दो पतले दस्त हो जाने पर रोकने की चेष्टा न करनी चाहिये अन्यथा आध्मान की वृद्धि और अनुगामी उपद्रवों की सम्भावना बढ़ जाती है। बहुत से रोगियों में आन्त्रिकज्वर के साथ ही ज्वरातिसार (Bacillary dysentery) का भी अनुबन्ध रहता है। अधिक मलभेद होने पर इस बात का ध्यान रखना चाहिये। सामान्यतया अतिसार की शान्ति के लिये स्तम्भक औषधों का प्रयोग न करके मल को गाढ़ा करने वाली ओषधियाँ ही प्रयुक्त होती हैं। अतिसार की सम्भावना होने पर मुख द्वारा तरल द्रव्यों की मात्रा बहुत कम कर देनी चाहिये। दूध एवं फलों का प्रयोग बिल्कुल बन्द कर देना चाहिये। पहले ईसबगोल के पानी का वर्णन (पृ० ५५८) किया जा चुका है। पेय के रूप में इसके प्रयोग से अतिसार में पर्याप्त लाभ होता है। पेय के रूप में डाभ का पानी, यवपेया का प्रयोग मूत्रल तथा मलावरोधक माना जाता है। इन उपचारों से लाभ न होने पर निम्नलिखित योगों का व्यवहार करना चाहिए।

१.	कोरैया की छाल	६ मा०
	बेल की गूदी	६ मा०
	मोचरस	६ मा०
	नागरमोथा	६ मा०
	धनिया	६ मा०
		१ मात्रा

आधा सेर जल में पकाकर एक छटाक शेष रहने पर छानकर १ तोला मधु मिलाकर प्रातः-सायं पीने को देना चाहिये।

२.	सिद्धप्राणेश्वर	१ र०
	कर्पूरवटी	१ र०
	आनन्दभैरव	१ र०
	रामबाण	२ र०
	महागन्धक	४ र०
		१ मात्रा

भुना जीरा तथा मधु से दिन में ३ बार। ज्वर एवं अतिसार दोनों में उपयोगी है।

अधिक विड्भेद होने पर विशेषकर दुर्गन्धयुक्त मल होने पर निम्नलिखित योग देना चाहिये—

Sulphaguanadin	Tab 1
Carbokaolin	gr 10
Bismuth carb	gr 10
	१ मात्रा

प्रति ४ घण्टे पर। इसके स्थान पर Carboguanacil या Entrocarb, Carbentrene का भी प्रयोग कर सकते हैं।

इसके अतिरिक्त अतिसार की लाक्षणिक चिकित्सा, जो मूल व्याधि में हानिकारक न हो, करना चाहिए। क्लोरेम्फेनिकाल के प्रयोग से अतिसार में लाभ होता है। Sulphamycetine, Chlorostrep एवं Streptotriad, Furoxone आदि पेटेण्ट योग भी अतिसार की शान्ति में बहुत उपयोगी होते हैं।

अनिद्रा तथा प्रलाप—दिन-रात शय्या में लेटे रहने तथा सन्ताप-बेचैनी-विषमयता-आध्मान आदि से पीडित रहने के कारण सुखपूर्वक निद्रा नहीं आती तथा रात्रि में अस्पष्ट प्रलाप का लक्षण उत्पन्न होता है। सामान्यतया विषमयता-आध्मान के उपचार से अनिद्रा एवं प्रलाप में भी लाभ हो जाता है। कभी-कभी अनिद्राजन्य रोगी की बेचैनी तथा प्रलाप के कारण कुटुम्बियों की घबराहट बढ़ जाती है, अतः इनका उपचार आवश्यक हो जाता है। लाक्षणिक चिकित्सा के

प्रकरण में इनकी चिकित्सा का वर्णन किया गया है। यथावश्यक उसका प्रयोग करन से लाभ होता है।

शिरःशूल, मुखपाक, ओष्ठ-विदार आदि का उचित उपचार करना चाहिये। बोरिक एसिड, जिङ्क आक्साइड तथा कैलामिना प्रिपरेटा एक भाग, वेसलीन २ भाग मिलाकर मलहम बनाकर ओठ पर लगाने से विदार शान्त हो जाते हैं। साधारण वेसलीन भी लाभ करती है। बोरोग्लिसरीन जिह्वा तथा मुख के भीतर चारों तरफ लगाने से मुखपाक में लाभ होता है।

आन्त्रिक ज्वर के प्रमुख उपद्रवों का निर्देश पहले किया जा चुका है। चिकित्सा की दृष्टि से आन्त्रिक ज्वर की साध्यासाधता में इन उपद्रवों का बहुत महत्त्व होता है अतः इनका संक्षेप में यहाँ वर्णन किया जाता है।

शय्याव्रण—

कारण—त्वचा की अनियमित शुद्धता, शय्या की कठोरता, एक ही आसन में अधिक समय तक लेटे रहना, रोगी की क्षीणता, रक्त में प्रोभूजिनों की कमी, मल-मूत्र उत्सर्ग के बाद वस्त्रों के अशुद्ध हो जाने पर समय से उनकी सफाई न करना आदि कारणों से अस्थिप्रधान रगड़ खाने वाले अवयवों में व्रण उत्पन्न होते हैं।

प्रतिषेध—त्वचा की नियमित सफाई के साथ रेक्टीफाइड स्प्रिट से पीठ को २-३ बार पोंछना, जिससे वहाँ की त्वचा कठिन तथा रक्तप्रवाह स्वाभाविक हो जाय, डस्टिंग पाउडर में जिङ्क आक्साइड मिलाकर अच्छी तरह लगा देना। वेसलिन लगाना। आहार में जीवतिक्ति तथा प्रोभूजिन के योगों का प्रयोग करके धातुक्षय को कम करना। रोगी के अधिक दुर्बल हो जाने पर घर्षण से बचाने के लिए रबर की गद्दी (Rubber cushion) को कमर या कन्धे के नीचे रखना चाहिये।

चिकित्सा—व्रण हो जाने पर हाइड्रोजन पर-आक्साइड या ई० सी० लोशन (Hydrogen peroxide or E. C. lotion) से अच्छी तरह व्रण की सफाई कर दूषित अंश को निकाल कर सिवाजोल, पेनिसिलीन या आरियोमाइसिन के मलहम लगा कर ड्रेसिङ्ग करनी चाहिये। प्रतिदिन दिन में २ बार इसे बदलना चाहिये। व्रणित स्थान में पुनः दबाव न आवे, इस प्रकार रूई, रबर की कुशन आदि कमर के नीच रखना चाहिये। व्रण की पूर्ति आहार में पूर्व पाचित प्रोभूजिन के योगों के प्रयोग से शीघ्र होती है। अतः प्रोटीन हाइड्रोलाइसेट, बी. काम्प्लेक्स आदि पोषक ओषधियों का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में करना चाहिये। कभी-कभी घाव में सड़ा हुआ मांस अधिक बन जाने के कारण मांसांकुरों की उत्पत्ति (Granulations) बहुत विलम्ब से होती है। लाइसोल में तर कर कपड़ा घाव के ऊपर १-२ दिन रखने से सारा दूषित अंश निकल जाता है और मांसांकुरों की वृद्धि के लिए मरक्युरोक्रोम का

प्रलेप घाव में लगाना चाहिये। गूलर की छाल २ तो०, सफेद कत्था १½ माशा, सेंधा नमक ४ रत्ती, काली मिर्च ४ दाना—इनको खूब महीन पीसकर, घी में हलवा की तरह पका कर, घाव पर पुल्टिस के रूप में बाँधने से बहुत जल्दी व्रण पूरा होता है।

कर्णमूल शोथ—

मुख की नियमित शुद्धता न होने के कारण मुख में संचित हुआ दोष कर्णमूलीय लाला ग्रंथियों में पहुँच जाता है। जिस करवट रोगी अधिक लेटता है, मुँह में उस ओर थूक अधिक इकट्ठा होता है, वही लाला ग्रन्थियों में धीरे-धीरे प्रविष्ट हो जाता है, जिससे लालास्राव का अवरोध होकर ग्रंथिशोथ या पाक आदि उपद्रव होते हैं। लम्बी बीमारी के कारण शरीर के बहुत कर्षित हो जाने से अन्त में होनेवाला यह उपद्रव प्रतिजोवी वर्ग की ओषधियों के आविष्कार के पहले बहुत घातक हुआ करता था।[1]

प्रतिषेध—मुख की नियमित शुद्धि, लालास्राव का निकलते रहना, रोगी को करवट बदलाते रहना तथा नियमित रूप से लौंग, आर्द्रक इत्यादि लालास्राव उत्पादक द्रव्यों को मुँह में रखने या इनकी चटनी बनाकर जिह्वा में रगड़ने से लालास्राव की वृद्धि होकर शोधन होता रहता है।

चिकित्सा—यदि रोगी कुल्ला कर सकता है तो सामान्य व्यवस्था के प्रकरण में बताये हुये पान के पत्ते और लौंग के काढ़े से, पोटास-डेटाल आदि के घोल से प्रति ४ घण्टे पर कुल्ला कराना चाहिए। निम्नलिखित योग भी कुल्ला कराने के लिए प्रयुक्त किया जाता है।

Menthol	gr 10
Oil cloves	m 30
Spt rectified	dr 2
Glycerine	dr 1
S. S. of mag sulph	oz 8

४-४ घण्टे पर कवलग्रह करते हुये गण्डूष करना।

यदि रोगी अशक्त या मूर्च्छित-सा रहता हो तो निम्नलिखित द्रव से दन्तवेष्ट एवं जिह्वा पर प्रलेप करने से लाभ होता है।

Oil cloves	ms 20
Oil cinnamon	ms 20
Borax	grs 30
Glycerine	oz one

१. सन्निपातज्वरस्यान्ते कर्णमूले सुदारुणः।
शोथः सञ्जायते तेन कश्चिदेव प्रमुच्यते॥

कर्णमूल के स्थान पर थोड़ा भी शोथ होने पर गरम जल से सेंक करके एन्टीफ्लोजिस्टीन की पुल्टिस बाँधना चाहिये। निम्नलिखित लेप भी लाभकारक होता है।

Ictheyol	dr 2
Ext belladonna siccum	gr 10
Collodin	oz one

कर्णमूल पर दिन में ३-४ बार रूई से लगा कर सूख जाने पर ऊपर से रूई रख बाँध देना चाहिये।

नागफनी को एक तरफ से छील कर, कांटे साफ कर के, छिले अंश पर महीन पिसी हुई हल्दी बुरक कर, तेल में हल्का पकाकर कर्णमूल ग्रंथि के ऊपर प्रातः-सायं बाँधना चाहिये। इससे कर्णमूल शोथ का शीघ्र उपशम होता है।

प्रतिजीवी वर्ग की ओषधियाँ—पेनिसिलीन, आइलोटाइसिन, आरियोमाइसिन, टेट्रासाइक्लीन इत्यादि कर्णमूल शोथ का बहुत शीघ्र शमन करती हैं। इनका उचित मात्रा में प्रयोग प्रारम्भ से ही करना चाहिये। क्लोरोम्फेनिकाल के प्रयोग से मूल व्याधि तथा कर्णमूल-शोथ—दोनों का शमन होता है।

फुफ्फुस तथा श्वसनीपाक—

आन्त्रिक ज्वर में, विशेषकर क्षीण एवं वृद्ध पुरुषों में, इसका उपद्रव सर्वाधिक होता है। जिन रोगियों में दूषित पूयकेन्द्र (Septic focus), पूयदन्त, तुण्डिकेरी शोथ इत्यादि के रूप में पहले से विद्यमान हों, रुग्णावस्था में अधिक समय तक एक ही आसन में रोगी के लेटे रहने पर, दूसरे-तीसरे सप्ताह में शरीर के बहुत क्षीण हो जाने पर, वात प्रविचार का ठीक नियमन न करने से, शीत वायु का प्रवाह कमरे में अधिक होने से, प्रारम्भ से ही कास का अनुबन्ध रहने पर उसका ठीक उपचार न होने से इन उपद्रवों के होने की सम्भावना बढ़ती है।

श्वास में अधिक तीव्रता, कास, पार्श्व शूल, श्वास कृच्छ्र, बेचैनी आदि लक्षणों के आधार पर इन उपद्रवों की तरफ सन्देह होता है। स्थानीय परीक्षण में विशिष्टध्वनि, घनता, रक्त परीक्षा में श्वेत कायाणूत्कर्ष, बहुकेन्द्री कणों की वृद्धि आदि के द्वारा श्वसनीपाक या फुफ्फुस पाक का निर्णय होता है।

इन उपद्रवों के प्रतिषेध के लिये नियमित रूप से आसन परिवर्तन कराते रहना, दूषित केन्द्रों की शुद्धि तथा कास की चिकित्सा, शारीरिक शक्ति की वृद्धि इत्यादि का ध्यान रखना चाहिये।

चिकित्सा—पेनिसिलीन के प्रयोग से इन उपद्रवों की शीघ्र शान्ति होती है। क्लोरमफेनिकाल का यदि आन्त्रिक ज्वर की चिकित्सा में प्रयोग न हुआ हो तो इस उपद्रव के होने पर इसका प्रारम्भ करने से मूल व्याधि तथा उपद्रव दोनों का एक साथ

शमन हो जाता है। अविशिष्ट स्वरूप का उपसर्ग होने पर टेट्रासाइक्लीन या टेरामाइसिन का अधिक प्रभाव होता है। पूर्वोक्त क्रम से इन सबका यथावश्यक समुचित प्रयोग करना चाहिये। उपद्रव की सम्भावना होने पर इनके प्रयोग में अधिक विलम्ब न करना चाहिये। स्थानीय उपचार—सेक-प्रलेप पुल्टिस इत्यादि—तथा हृदय के लिये बलकारक ओषधियों की योजना साथ में अवश्य करनी चाहिये।

आन्त्रगत रक्तस्राव—

उठने-बैठने में उदर में अधिक हलचल होती है, जिससे आन्त्रगत व्रणों में रक्तस्राव की सम्भावना बढ़ जाती है। शुष्क कास, बेचैनी, अतिसार तथा कठोर भोजन से भी इसी प्रकार व्रणों से रक्तस्राव की सम्भावना होती है। इन सबका उचित प्रतिकार प्रारम्भ से ही करते रहने से गम्भीर उपद्रव से बचाव हो सकता है।

दूसरे-तीसरे सप्ताह में ही ज्वर की शान्ति, नाड़ी की क्षीणता एवं गति तीव्रता, क्षीणता, प्रलाप, दुर्बलता आदि लक्षणों की आकस्मिक वृद्धि होने पर आन्तरिक रक्तस्राव का अनुमान किया जाता है। ज्वर एवं नाड़ी में थोड़ा भी परिवर्तन होने पर रोगी के मल की परीक्षा सुप्रकाशित स्थान में रक्त की उपस्थिति जानने के लिये अवश्य करनी चाहिये। जामुन के रङ्ग या तारकोल के समान दुर्गन्धयुक्त मल होने पर अथवा स्पष्ट रूप में रक्त की उपस्थिति से सन्देह की पुष्टि होती है। रक्तस्राव होने पर रोगी के मस्तक पर प्रस्वेद, प्लीहा वृद्धि का स्वतः शान्त हो जाना, चेहरे में पाण्डुता, श्वसन संख्या की वृद्धि आदि लक्षण भी होते हैं। यह उपद्रव दूसरे तीसरे-सप्ताह में अधिक होता है अतः इसके प्रतिकार का यत्न करते हुये भी सम्भाव्य लक्षणों पर ध्यान इस समय नियमित रूप से रखना चाहिये।

उक्त लक्षणों के आधार पर रक्तस्राव का अनुमान होने पर रोगी को पूर्ण रूप से शारीरिक तथा मानसिक विश्राम कराना चाहिये। शान्त कमरे में लिटाना, परिचारक के अतिरिक्त किसी को वहाँ न जाने देना, करवट बदलाने, मल-मूत्र-त्वचा-शोधन कराने की रोगी को बिना हिलाये ही व्यवस्था करनी चाहिये। उदर के ऊपर निकट से बर्फ को थैली में भरकर रखना जिससे शैत्य के प्रभाव से रक्तवाहिनियों में संकोच होकर रक्त-प्रवाह बन्द हो जाय। रोगी की शय्या का पायताना १ ईंट रखकर ऊंचा कर देना। पैरों को घुटने से हल्का मोड़कर, घुटने के नीचे तकिया देकर उदर को और शिथिल करना चाहिये। मलोत्सर्जन के समय पात्र का उपयोग करने से रोगी को हिलाना-डुलाना पड़ता है। कागज या कपड़े में ही मलोत्सर्ग करने देना चाहिये।

अहिफेन के योगों का प्रयोग करने से आन्त्र पुरस्सरण गति में शिथिलता होकर रक्तस्राव का अवरोध होता है। यदि श्वसन में कोई विकार न हो तो ¼ ग्रेन मार्फिन अधस्त्वचीय मार्ग से दिया जा सकता है। बेचैनी, अनिद्रा आदि की शान्ति के लिये Luminal-amytal आदि का यथावश्यक प्रयोग किया जा सकता है। Adrena-

line hydrochlor एक ड्राम की मात्रा में एक पाव ठण्ढे पानी में मिलाकर १-१ चम्मच दिन भर में पीने के लिये देते रहने से रक्तस्राव का अवरोध होता है।

रक्त स्तम्भक एवं रक्त स्कन्दक ओषधियों का प्रयोग भी इस उपद्रव में लाभ करता है। कैलसियम क्लोराइड (Calcium chloride) और कैलसियम ग्लूकोनेट (Calcium gluconate) के पेशी या सिरा के द्वारा सूचीवेध से रक्तस्कन्दन की वृद्धि होती है। हिमोप्लास्टिन, कोआगुलिन सीरम, कांगोरेड सोलूशन, विटामिन के० सी०, क्लाडेन, आयापान आदि रक्त स्तम्भक ओषधियों का पूर्व निर्देशानुसार प्रयोग करना चाहिये। रक्तस्राव के कारण रक्त की मात्रा शरीर में बहुत कम हो जाती है। इसकी पूर्ति के लिये रक्तरस, प्लाज्मा या अधस्त्वचीय मार्ग से समलवण जल ५% ग्लूकोज मिला कर देना चाहिये। रक्तभार बढ़ाने वाली सभी ओषधियों का प्रयोग बहुत सावधानी से करना चाहिये, क्योंकि रक्तभार की न्यूनता होने पर रक्त स्कन्दन एवं रक्तस्राव का अवरोध आसानी से होता है। रक्तभार बढ़ने पर रक्तस्राव के भी बढ़ जाने का सन्देह रहता है। जब तक रक्तस्राव का पूर्णतया अवरोध न हो जाय, तब तक मुख द्वारा अष्टमांश जल या डाभ के पानी के अतिरिक्त कोई भी खाद्य-पेय की चीजें न देनी चाहिये।

आन्त्रनिच्छिद्रण—

रक्तस्राव प्रवर्तक कारणों से ही व्रणों में अधिक विदार हो जाने पर आन्त्रनिच्छिद्रण की सम्भावना होती है। ज्वर के दूसरे-तीसरे सप्ताह में उदरशूल, वमन, आकस्मिक रूप में नाडी की गति की तीव्रता, श्वासकृच्छ्र, बेचैनी, मूर्च्छा, ज्वर का उपशम या वृद्धि आदि लक्षण होने पर आन्त्रनिच्छिद्रण का अनुमान किया जाता है। इस उपद्रव के बाद उदर फूला हुआ, निश्चल तथा कड़ा-सा मालूम पड़ता है।

आन्त्र निच्छिद्रण का अनुमान होने पर व्यर्थ में ओषधि चिकित्सा में समय न बिताकर शल्यविज्ञ की राय लेकर, निर्णय होने पर शल्यकर्म की ही व्यवस्था करानी चाहिये। शल्यक्रिया सम्भव न होने पर मारफीन या पेथीडीन का आवश्यक मात्रा में सूचीवेध के रूप में प्रयोग किया जाता है, साथ ही क्लोरोम्फेनिकाल या टेट्रासायक्लीन का सहयोग भी सूचीवेध द्वारा ही लेना होता है।

पित्ताशय शोथ—

आन्त्रिक ज्वर के जीवाणुओं का विशेष आकर्षण पित्ताशय की ओर रहता है। इसलिये ज्वरमुक्ति के बाद भी पर्याप्त समय तक पित्ताशय में उनकी उपस्थिति मिल सकती है। आहार में दूध का विशेष प्रयोग करने पर इस उपद्रव की अधिक सम्भावना होती है।

पित्ताशय के स्थान में वेदना, सन्ताप की वृद्धि, नाड़ी की तीव्रता तथा पित्ताशय वृद्धि होने पर इस उपद्रव का अनुमान किया जाता है। स्थानीय चिकित्सा में सेंक,

पुल्टिस, ऐण्टी फ्लोजिस्टीन का प्रयोग लाभ करता है। धान्यपञ्चक कषाय, पर्पटार्क, डाभ का पानी पेय के रूप में देते रहने पर इसके द्वारा होने वाले कष्ट की शान्ति होती है। क्लोरमफेनिकाल के प्रयोग से इस उपद्रव की शीघ्र शान्ति हो सकती है। ओषधियों में Hexamine, Cylotropine, Glucose solution, vitamin. C. आदि का प्रयोग पित्ताशय शोथ में लाभकारक होता है। निम्नलिखित योग भी इसमें उपयोगी है-

1.	Urotropine	gr 10
	or	
	Hexamine	g 10
	Decholine	gr 5
	Soda bi carb	gr 20
	Tr. hyoscyaemus	ms 15
	Syp aurantii	dr 1
	Aqua. chloroform	oz one

प्रति चार घण्टे पर, लगभग ४–५ दिन तक।

मूत्राशयशोथ—

आहार में जलीयांश का प्रयोग कम करने से मूत्र की मात्रा कम हो जाती है। आन्त्रिक ज्वर के जीवाणु वृक्क के द्वारा मूत्र मार्ग से ही अधिक संख्या में उत्सर्गित होते रहते हैं। अतः मूत्र की शुद्धि सम्यक् रूप में होती रहे, इसके लिये पर्याप्त मात्रा में जल का प्रयोग—आवश्यक होने पर पंचतृण कषाय, गोक्षुरादि क्वाथ तथा पित्ताशय शोथ में वर्णित हेक्जामिन के मिश्रण का प्रयोग करना चाहिये। स्थानीय स्वेदन, पुल्टिस आदि का प्रयोग भी कुछ लाभ करता है तथा प्रतिजीवी वर्ग की ओषधियों का प्रयोग इस उपद्रव को शीघ्र शान्त कर देता है। मूत्र की मात्रा कम होने पर ६$\frac{1}{4}$–१२$\frac{1}{2}$% ग्लूकोज ५०० सी० सी०, जीवतिक्ति सी० ५०० मि० ग्राम, सोडा बाई कार्ब सोल्यूशन २० सी० सी० का प्रयोग सिरा द्वारा बूंद-बूंद मात्रा में किया जा सकता है।

और्वी सिरा घनास्रता (Thrombosis of the Femoral vein)—

ज्वर के तीसरे सप्ताह में प्रायः बायें पैर में इसका उपद्रव होता है। त्वचा की भली प्रकार सफाई, आसन-परिवर्तन आदि नियमित रूप से न करने से रक्तप्रवाह की शिथिलता होने के कारण यह उपद्रव होता है। इसका प्रारम्भ होने पर पैर में शोथ, वर्ण की श्यामता या नीलापन, स्पर्श में उष्णता, वेदना, सन्तापवृद्धि आदि लक्षण होते हैं। सिराघनास्रता का सन्देह होने पर पैर को घुटन से हल्का मोड़कर नीचे तकिया देकर शान्त स्थिर रूप से रखना चाहिये। प्रारम्भिक समय में बर्फ की थैली जानु के दोनों ओर त्वचा को हल्का स्पर्श करते हुए रखने से लाभ होता है। किन्तु २–४ दिन बाद शीत प्रयोग लाभकर नहीं होता। गरम-गरम बालू लम्बी-लम्बी थैली में भरकर पैर के

नीचे अगल-बगल रखने से शोथ की निवृत्ति में सहायता मिलती है। मालिश व अधिक सेक इसमें हानिकारक होता है। निम्नलिखित प्रलेप शोथ की निवृत्ति में सहायता देता है।

Ictheyol	dr one
Belladonna siccum	gr 10
Tr. Aconite	ms 10
Glycerine	oz one

रूई से पैर में चारों तरफ लगाकर ऊपर से मुलायम फलालैन का कपड़ा लपेट देना चाहिये।

घनास्रता रोकने के लिये Heparin, Tromexan आदि रक्तस्कन्दन निरोधी औषधियाँ देने का निर्देश अनेक विद्वानों ने किया है किन्तु इनके प्रयोग से रक्तस्राव की प्रवृत्ति बढ़ जाती है तथा रक्तस्कन्दन का काल बढ़ जाता है। अतः इनका प्रयोग न करना ही श्रेयस्कर है। यह कोई घातक उपद्रव नहीं है। १०-१२ दिन में शनैः शनैः इसकी शान्ति स्वतः हो जाती है। यदि पैर का हिलना-डुलना न हो तो इस उपद्रव का उत्तरकालीन सम्भावित परिणाम (Embolism) नहीं होता। आवश्यक होने पर एक्रोमाइसिन तथा प्रतिजीवी वर्ग की अन्य औषधियों का प्रयोग किया जा सकता है।

अस्थिमज्जा शोथ एवं विद्रधि—

आन्त्रिकज्वर में अत्यधिक धातुक्षय, हीन प्रतिकारक शक्ति आदि कारणों से ज्वर के उत्तरकाल में, कभी-कभी ज्वर मुक्ति के बाद यह उपद्रव होते हैं। स्थानीय वेदना, शोथ इत्यादि के लक्षण होने पर इन उपद्रवों का अनुमान हो सकता है। प्रारम्भिक अवस्था में बर्फ की थैली के द्वारा शीत प्रयोग से अधिक लाभ होता है। पेनिसिलीन आदि प्रतिजीवी औषधियों का प्रयोग तथा पूयोत्पत्ति हो जाने के बाद शल्य चिकित्सा की अपेक्षा होती है।

बल-संजनन—

आन्त्रिक ज्वर से मुक्त होने के बाद रोगी पर्याप्त क्षीण हो जाता है। धातुपुष्टि एवं बल संजनन के लिये आवश्यक उपचार करने से शीघ्र स्वास्थ्य पूर्ववत् हो सकता है। एक प्रकार से एक माह तक ज्वरग्रस्त रहने तथा संयमित आहार-विहार होने के कारण इसी रोग के साथ महास्रोत के अन्य अनेक जीर्ण रोग शान्त हो जाते हैं और कल्प चिकित्सा के समान रोगी का स्वास्थ्य बाद में पूर्वापेक्षा भी अधिक अच्छा हो सकता है। क्रमिक उन्नति के लिये रोगी के आहार-विहार का उचित पोषण युक्त होना, समय से प्रयोग करना, रक्तवर्धक-मांसवर्धक-जीवतिक्ति वर्ग की औषधियों का अधिक प्रयोग शीघ्र बलवृद्धि करता है। लौह-कैलसियम-प्रोभूजिन-जीवतिक्ति आदि पोषक-बृंहण वर्ग की औषधियों का व्यवहार करना चाहिये।

सम्पूर्ण जीवतिक्ति के बहुत से उपलब्ध पेटेण्ट योग (Theragran, Multivitaplex, Becadex आदि) भी प्रयुक्त हो सकते हैं ।

R/		
	Tr. Nuxvomica	ms 5
	Liq Arseincalis	ms 2
	Acid N. M. dil	ms 10
	Ferri sulph	gr 10
	Ext kalmegh	ms 20
	Elixir Bcomplex	dr one
	Aqua	oz one
		१ मात्रा

भोजन के बाद दिन में तीन बार । इससे दीपन-पाचन तथा रक्तवृद्धि होती है ।

इसके अतिरिक्त अनेक पेटेन्ट ओषधियों—Ferilex, Casenon, Ledrplex. आदि—का उचित प्रयोग यथानिर्देश किया जा सकता है ।

निम्नलिखित योग अग्निदीपक, रक्तवर्धक तथा उत्तम बलकारक हैं ।

१.	नवायसलौह	२ र०
	वसन्तमालती	१ र०
	सितोपलादि	१ मा०
		१ मात्रा

प्रातः सायं मधु से ।

२.	लोहासव	१ तो०
	अमृतारिष्ट	१ तो०
		१ मात्रा

समान भाग जल मिलाकर भोजन के बाद ।

प्रतिषेध—

आन्त्रिकज्वर का प्रसार रोकने के लिए व्याधित संवाहक तथा स्वस्थ संवाहक की जानकारी करके उनके मल-मूत्र आदि का पूर्ण विशोधन करना चाहिये । आन्त्रिक ज्वर वास्तव में खाद्य-पेय के नियमों की अवहेलना के कारण उत्पन्न होने वाली व्याधि है । समय-असमय एवं गुरु-अभिष्यन्दि भोजन से आमाशयिक पाचक पित्त की शक्ति क्षीण हो जाती है, जिससे दूषित खाद्य-पेय के द्वारा जीवाणुओं का प्रवेश हो जाता है । यदि आमाशय रस पर्याप्त मात्रा में उपस्थित रहे तो खाद्य-पेय के साथ में प्रविष्ट होने वाले जीवाणु अम्ल के प्रभाव से नष्ट हो जाते हैं । अतः जिन जनपदों में आन्त्रिक ज्वर का अधिक प्रकोप होता है, उनमें मल-मूत्र की पूर्ण शुद्धि तथा नियमित भोजन पर अधिक जोर देना चाहिये । जिन ऋतुओं में इस व्याधि का अधिक प्रकोप होता है,

उनमें नियमित रूप से भोजन के पहले नीबू का सेवन करने से आमाशयिक रस की वृद्धि होकर जीवाणुओं का उपसर्ग असम्भव हो जाता है।

मसूरी (T. A. B. Vaccine)—प्रथम मात्रा में आधा सी० सी० तथा दूसरी मात्रा ७ से १५ दिन के बाद १ सी० सी० की मात्रा में अधस्त्वचीय मार्ग से दें। बाद में प्रति वर्ष वसन्त के अन्त में आधा से १ सी० सी० की मात्रा में प्रयोग करने से व्याधि का प्रतिबंधन होता है।

इससे प्रतिषेध के लिये निम्नलिखित ३ बातों पर ध्यान रखना चाहिये—

१. रोगी का पृथक्करण, उसके मल-मूत्र का विशोधन।

२. खाद्य-पेय सर्वदा ताजे-गरम लिये जायँ। दूध उबालकर पिया जाय।

३. प्रतिबन्धक टीका लगवाना।

पारा टाइफायड ए तथा बी

आन्त्रिकज्वर के अतिरिक्त उसी वर्ग के दूसरे जीवाणुओं के द्वारा तत्सम लक्षण-विकार युक्त व्याधि उत्पन्न होती है। प्रायः इनमें ज्वर का आरम्भ आकस्मिक रूप में तथा ज्वरानुबन्ध का समय दो सप्ताह का औसतन होता है। लक्षण आन्त्रिक ज्वर के लक्षणों से मिलते-जुलते कुछ सौम्य स्वरूप के होते हैं। उपद्रवों भी सम्भावना बहुत कम या नहीं के बराबर होती है। चिकित्सा तथा साधारण व्यवस्था आन्त्रिकज्वर की चिकित्सा व्यवस्था के समान ही होती है। केवल विडाल कसौटी के द्वारा आन्त्रिकज्वर का निर्णय करते समय इन दूसरे जीवाणुओं द्वारा उत्पन्न तत्सम ज्वर की परीक्षा भी कराई जाती है।

तन्द्रिकज्वर (Typhus).

यह रिकेटसिया (Rickettsia) जीवाणु के उपसर्ग से होनेवाला ज्वर है, जिसमें तीव्र स्वरूप का संततज्वर, विशेष प्रकार के विस्फोट, अवसाद, नाड़ी संस्थान का क्षोभ आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

इस रोग का मुख्य उत्पादक कारण रिकेटसिया जीवाणु है, किन्तु इस उपसर्ग का प्रसार अनेक प्रकार के कीटों के द्वारा होता है। प्रसारकों की भिन्नता के कारण लक्षणों की विविधता तथा व्याधि की गम्भीरता में अन्तर होता रहता है। मरक स्वरूप में तन्द्रिकज्वर अधिक उत्पन्न होता है। इसका संवहन जूँ (Louse) के द्वारा होता है। तन्द्रिकज्वर के दूसरे भेद, जिनका प्रसार कुटकी, पिस्सू या किलनी द्वारा होता है, मरक स्वरूप का ज्वर नहीं उत्पन्न करते। रोग का नामकरण भी संवाहक कीटों के आधार पर कुटकी तन्द्रिक (Scrub Typhus), पिस्सू तन्द्रिक (Murine Typhus), किलनी तन्द्रिक (Rocky mountain fever) आदि शीर्षकों में

किया जाता है। इसका उपसर्ग कास आदि के समय बिन्दूत्क्षेपों के द्वारा भी हो सकता है। मुख्यतया तन्द्रिकज्वर का मरक रूप जूँ के द्वारा प्रसारित होने वाला भारत में मिलता है। किलनी-कुटकी एवं पिस्सू के द्वारा प्रसारित होनेवाले तन्द्रिकज्वर के भेद भी क्वचित् मिला करते हैं। मरक तन्द्रिक प्रायः सारे संसार में, विशेष रूप से यूरोप में, पाया जाता है। भारत में हिमालय की तराई, मद्रास, बम्बई और पूना के पठारी प्रदेश में इसका प्रकोप दूसरे प्रान्तों की अपेक्षा अधिक होता है। समशीतोष्ण प्रदेशों में तथा शीत-शिशिर व वसन्त ऋतुओं में एवं अस्वास्थ्यकर आवासों एवं हीन पोषण वाले व्यक्तियों में इसका प्रकोप अधिक होता है।

रिकेटसिया जीवाणुओं का संचयाधार मनुष्य होते हैं। उनसे दूसरे स्वस्थ मनुष्यों पर जूँ के द्वारा जीवाणुओं का संवहन होता है। सिर की जूँ की अपेक्षा सारे शरीर पर रहनेवाली वस्त्र-यूका मुख्य रूप से इसका संवहन करती है। एक बार जूँ के उपसृष्ट होने पर वह जीवन भर जीवाणुओं का संवहन करती रहती है। मनुष्यों को काटने के बाद जीवाणु दंश के माध्यम से जूँ के अन्त्र में जाकर परिवर्धित होते हैं। एक सप्ताह में पूर्णतया पूर्ण प्रगल्भ हो जाने के बाद मल में उत्सर्गित होते रहते हैं। जूँ के मल का त्वचा के व्रणों या दूसरे खरोंचों आदि से सम्पर्क होने पर जीवाणुओं का प्रवेश स्वस्थ व्यक्तियों में होता है। शरीर में जीवाणुओं का प्रवेश होने के बाद रक्त एवं लसवाहिनियों द्वारा वे सारे शरीर में प्रसरित होते हैं। रक्तवाहिनियों की अन्तःकोशाओं में इनका संचय होने के कारण छोटी-छोटी गाँठें (Typhus nodules) उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार की विकृति त्वचा में होने पर विस्फोट निकलते हैं तथा त्वचा का नाश होने के कारण स्थान-स्थान पर रक्तस्राव होता है। त्वचा के अतिरिक्त हृत्पेशी, मस्तिष्क, प्लीहा आदि अंगों में भी इस प्रकार की विकृति होती है। तन्द्रिकज्वर से पीड़ित होने के बाद ज्वरमुक्त होने पर स्थायी स्वरूप की रोगक्षमता उत्पन्न होती है। बहुत से व्यक्ति जन्मतः तन्द्रिकक्षम हुआ करते हैं। इसका मुख्यतया आक्रमण मरक के रूप में जागतिक युद्धों के बाद अथवा अकाल आदि के समय विशेष रूप से होता आया है।

लक्षण—ज्वर का आक्रमण ७ से १५ दिन के संचयकाल के बाद दो दिन तक होता रहता है। कपाल-त्रिकसंधि एवं शाखाओं में पीड़ा, हलकी झुरझुरी, हृल्लास, वमन, चक्कर आदि लक्षण मुख्यतया इन २ दिनों में होते हैं। प्रायः तीसरे दिन अकस्मात् कम्प के साथ ज्वर बढ़कर १०३–१०४° तक हो जाता है। संताप वृद्धि के साथ ही रक्तवर्ण की आकृति, लाल नेत्र, शिरःशूल, कटिशूल आदि लक्षण भी अधिक कष्टकारक हो जाते हैं। आकृति रक्तवर्ण की एवं शोफयुक्त होने के कारण ग्रंथिकज्वर (प्लेग) का संदेह हो सकता है। विषमयता के कारण रोगी तन्द्राग्रस्त बना रहता है। इससे ज्वर की तरफ ध्यान न होने पर मदात्यय के लक्षणों का भ्रम हो सकता है।

गम्भीर स्वरूप का आक्रमण होने पर आक्षेप, प्रलाप, मस्तिष्कावरण प्रक्षोभ के लक्षण, निद्रानाश, कनीनिका संकोच, जिह्वा एवं शाखाओं में प्रकम्प (Tremars) आदि लक्षण होते हैं। ज्वर संतत स्वरूप का प्रायः २ सप्ताह तक बना रहता है। ज्वर-मोक्ष दारुण स्वरूप का अकस्मात् होता है। क्वचित् अदारुण मोक्ष भी हो सकता है।

विस्फोट—तन्द्रिकज्वर में विस्फोट गुलाबी रंग के उद्वर्णिक (Macular) स्वरूप के-प्रायः ज्वरारम्भ के पाँचवें दिन नाभि या दोनों पार्श्वों से प्रारम्भ होकर क्रम से छाती, उदर, पीठ में होकर शाखाओं एवं हस्त पादतल तक फैल जाते हैं। चेहरे में विस्फोट प्रायः नहीं निकलते तथा हस्त-पादतल में भी इनकी संख्या अत्यल्प होती है। प्रारम्भ में विस्फोट गुलाबी वर्ण के, दबाने से दब जानेवाले होते हैं, किन्तु बाद में अरुणाभ एवं भूरे रंग के हो जाते हैं और दबाने से नहीं दबते। तीव्र आक्रमण होने पर इनमें रक्तस्राव की प्रवृत्ति रहती है। ऐसी स्थिति में रक्तस्रावी विस्फोट (Petechial rashes) व्याधि की गम्भीरता के निदर्शक समझे जाते हैं। विस्फोटोत्पत्ति के साथ ही ज्वर, प्रलाप एवं अन्य वातिक लक्षण अत्यधिक बढ़ जाते हैं। जिह्वा रूक्ष एवं मलावृत रहती है। रूक्षता के कारण जिह्वा बाहर निकालने में कष्ट होता है।

कोष्ठबद्धता, नासा से रक्तस्राव, शोणित मेह आदि लक्षण रक्तस्रावी प्रवृत्ति के कारण होते हैं। कुछ रोगियों में रुधिर कायाणुओं का विनाश होने के कारण कामला भी उत्पन्न होता है। हृदय की मांसपेशी में विकृति होने के कारण हृद्दौर्बल्य, सांकोचिक-विस्फारिक रक्तनिपीड की हीनता, प्लीहा की वृद्धि, श्वसनिका शोथ आदि लक्षण ज्वरानुबन्ध काल में होते हैं। त्वचा पाण्डुर वर्ण की हो जाती है तथा उससे विशेष प्रकार की दुर्गन्ध आने लगती है। शय्याव्रण की सम्भावना भी इसमें अधिक होती है। मूत्र की मात्रा कम तथा उसमें शुक्लि मिलती है। मस्तिष्कावरण क्षोभ के कारण असम्बद्ध प्रलाप, पेशी कम्प, निद्रानाश, अवसाद, तन्द्रा, श्रवण शक्ति का ह्रास आदि वातिक लक्षण होते हैं।

प्रायोगिक निदान—श्वेतकायाणुओं की संख्या वृद्धि प्रायः १०-१२ हजार तक और सापेक्ष गणना में लसकायाणुओं की आपेक्षिक वृद्धि रोग के गम्भीर होने पर मिलती है। प्रारम्भ में श्वेतकणापकर्ष मिला करता है। रोग का विनिश्चय करने के लिये वेल फेलिक्स कसौटी (Weil Felix reaction) की उपस्थिति निर्णायक होती है। मूत्र में शुक्लि की उपस्थिति अन्य लक्षणों के साथ होने पर निदान में सहायता कर सकती है।

सापेक्ष्यनिदान—विषम ज्वर, प्लेग, मस्तिष्क सुषुम्नावरण शोथ, आन्त्रिक ज्वर, इन्फ्लुएञ्जा, दण्डक ज्वर, फुफ्फुसपाक, श्लीपद, मसूरिका, रोमान्तिका आदि ज्वरों से इसका पार्थक्य करना चाहिये। आन्त्रिक ज्वर में संताप सोपान सदृश धीरे-धीरे बढ़ता है, विस्फोट देर में निकलते हैं और आध्मान प्रवाहिका आदि पचन संस्थान के लक्षण मुख्यतया रहते हैं।

इन लक्षणों तथा रक्त में विडाल कसौटी के आधार पर आन्त्रिक ज्वर से इसका पार्थक्य करना चाहिये।

रोग विनिश्चय-प्रायः २ सप्ताह तक संतत स्वरूप से रहने वाला शीतपूर्वक तीव्रज्वर, ज्वरारम्भ के पाँचवें दिन मध्य शरीर में उद्वर्णिक अरुण विस्फोटों की उत्पत्ति और क्रम से शाखाओं में उसका प्रसार, मुख-हस्त-पाद-तल में विस्फोटों का अभाव, रक्तस्रावी प्रवृत्ति, जिह्वा बाहर निकालने में कठिनाई, त्वचा में विशेष प्रकार की दुर्गन्ध, हीन रक्तनिपीड, तन्द्रा, प्रलाप, शिरःशूल, आक्षेप आदि वातिक लक्षणों की उपस्थिति, ग्रंथिकज्वर के समान मद्यप सदृश आकृति, मरक रूप में विशिष्ट ज्वर का आक्रमण आदि लक्षणों के आधार पर तंद्रिक मरक का निदान किया जा सकता है। प्रारम्भ में श्वतकायाणुओं का अपकर्ष, बाद में सामान्य वृद्धि और वेल फेक्लिस कसौटी १:१०० से अधिक अवमिश्रण में प्रसमूहन (Agglutination) मिलने पर इसका निर्णय किया जाता है।

उपद्रव व अनुगामी विकार—फुफ्फुसपाक, फुफ्फुस कर्दम (Gangrene), उन्माद, आक्षेप, हिक्का, शय्या व्रण, बाधिर्य, हृदयातिपात, हीन रक्त निपीड, गर्भपात और अंगघात आदि उपद्रव मुख्ततया होते हैं।

साध्यासाध्यता—बालकों एवं युवकों में मरक तन्द्रिक घातक नहीं होता, किन्तु दुर्बल व्यक्तियों एवं वृद्धों में इसकी घातकता बढ़ जाती है। मद्यप एवं स्थूल रोगियों में तथा स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में भी इसकी घातकता अपेक्षाकृत अधिक होती है। मरक के अतिरिक्त मृदु स्वरूप के स्थानपदिक तन्द्रिक ज्वर में लक्षण सौम्य स्वरूप के रहते हैं, प्रायः घातक परिणाम नहीं होते। मरक तन्द्रिक में भी प्रारम्भ से ही निद्रा, संन्यास, आक्षेप, शिरःशूल आदि वातिक लक्षणों की प्रधानता होने पर ही रोग की असाध्यता का अनुमान किया जाता है। दस-बारह दिन के बाद भी अनिद्रा, अत्यधिक कम्प, प्रलाप, आक्षेप, विस्फोटों एवं शरीर के दूसरे मार्गों से रक्तस्राव की प्रवृत्ति, परम ज्वर, त्वरित नाड़ी, श्यावता, हीन रक्तनिपीड, फुफ्फुसों में अधस्तल रक्ताधिक्य (Hypostatic congestion), मूत्राघात, फुफ्फुसकर्दम, शय्याव्रण आदि विशिष्ट लक्षणों एवं उपद्रवों का अधिक समय तक अनुबन्ध रहने पर असाध्यता की सम्भावना बढ़ जाती है। मरक तन्द्रिक का घातक प्रभाव हृदय पर पड़ने के कारण तथा रोग-निवृत्ति काल पर्याप्त लम्बा होने के कारण हृदयातिपात की सम्भावना बनी रहती है, जिससे रोगमुक्ति के बाद उठते-बैठते या दूसरा शारीरिक श्रम करते समय अकस्मात् हृदयातिपात के कारण रोगी की मृत्यु हो जाती है।

सामान्य चिकित्सा—रोगी को वायु एवं प्रकाश युक्त स्वतंत्र कमरे में आरामदेह शय्या पर लिटाना चाहिये। विस्फोटों एवं रक्त में प्रोभूजिनों की कमी के कारण शय्याव्रण होने की सम्भावना इस ज्वर में रहती है, अतः बार-बार आसन परिवर्तन कराना, शय्या

को बहुत मुलायम रखना तथा लेटते समय बिस्तर से रगड़ने वाले स्थानों के ऊपर डस्टिंग पाउडर या दूसरी स्निग्ध-मसृण वस्तुओं से उद्धूलन करना तथा त्वचा एवं मुख-नासा की सफाई का विशेष ध्यान रखना चाहिये। संताप के अधिक होने तथा विषमयता होने के कारण दोषों का पाचन एवं शोधन करने के लिये पर्याप्त मात्रा में चतुर्थांशावशिष्ट जल का प्रयोग कराना या षडंगपानीय पिलाना चाहिये। आहार में सुपाच्य पेय पदार्थ—यवपेया, नारिकेल जल, मौसम्मी या संतरे का रस—यथावश्यक दिया जा सकता है। प्रारम्भ से विबन्ध का कष्ट रहा करता है, अतः शोधन के लिये अश्वकञ्चुकी, यष्ट्यादि चूर्ण या कुटकी-आरग्वध के योग उचित मात्रा में दिये जा सकते हैं। स्निग्ध वस्ति के द्वारा मलशोधन कराने से भी काम चल सकता है। रोगी को ज्वरग्रस्तावस्था एवं ज्वरमुक्ति के बाद पर्याप्त समय तक विश्राम कराना आवश्यक है। चलने-फिरने एवं मिथ्याहार-विहार करने से रक्तस्राव तथा हृदय के उपद्रवों की सम्भावना बढ़ जाती है। अतः पूर्ण विश्राम के लिये ज्वरमुक्ति के बाद एक सप्ताह तक की अवधि कम-से-कम अवश्य निर्धारित कर देनी चाहिये। विस्फोट निकलने के बाद त्वचा से विशेष प्रकार की दुर्गन्धि निकला करती है, अतः यूडीकोलन पानी में छोड़ कर अथवा डेटाल, सेवलान आदि जन्तुघ्न सुगंधित द्रव्यों को पानी में मिला कर शरीर पोंछना चाहिये। सन्ताप अधिक होने पर सिर पर बरफ की थैली एवं शाखाओं को ठण्डे पानी से पोंछना आवश्यक होता है।

औषध-चिकित्सा—तन्द्रिक ज्वर में विशालक्षेत्रक प्रतिजीवी औषधों के आविष्कार के पूर्व सन्निवृत्त लसिका या परमक्षम लसिका (Hyper immune horse serum) एवं शुल्वौषधियों का प्रयोग किया जाता था। इन औषधियों का प्रभाव अविश्वसनीय है एवं लसिका प्रयोग में अनेक दुष्प्रतिक्रियाओं की सम्भावना बनी रहती है। व्यावहारिक दृष्टि से विशालक्षेत्रक प्रतिजीवी औषधियाँ सर्वोत्तम तथा उनके अभाव में इतर औषधियों का व्यवहार करना चाहिये।

टेरामाइसिन (Terramycin)—प्रारम्भिक मात्रा ५०० मि० ग्रा० या २ कैप्स्यूल, बाद में प्रति ४ घण्टे पर २५० मि० ग्रा० २ दिन तक। उसके बाद प्रति ६ घण्टे पर ३ दिन तक। प्रायः ५ दिन में पूर्णतया ज्वरमुक्ति हो जाती है। किन्तु ज्वर मुक्ति के बाद ३ दिन तक प्रति ८ घण्टे पर २५० मि॰ ग्रा० प्रयोग में लाना चाहिए। व्याधि की तीव्रावस्था में या उपद्रवों की उपस्थिति में प्रारम्भिक मात्रा सिरा मार्ग से भली प्रकार हल्का घोल (Well diluted solution) बना कर प्रयोग किया जा सकता है।

आरियोमाइसिन (Aureomycin) और **एक्रोमाइसिन** (Acromycin)—प्रथम दो दिन २५० मिली ग्राम प्रति ४ से ६ घण्टे के अन्तर पर व्याधि की तीव्रता के अनुसार देना चाहिये। उसके बाद ५ दिन तक ६-८ घण्टे के अन्तर पर पूर्ववत प्रयोग

करना चाहिये। प्रायः तीसरे दिन ज्वर कम होने लगता है और पाँचवे दिन पूर्णतया ठीक हो जाता है। प्रवाहिका की सम्भावना होने पर इसका प्रयोग न करना चाहिये। पिस्सू तन्द्रिक (Murine Typhus) अतिशीघ्र व्रणकारी होते हैं।

क्लोरेम्फेनिकाल (Chloramphenicol)—प्रारम्भिक मात्रा १००० मि० ग्राम या ४ कैप्सूल, बाद में प्रति ४ घण्टे पर ३ दिन तक ५०० मि० ग्रा० तथा उसके बाद प्रति ६ घण्टे पर ३ दिक तक पूर्ववत मात्रा का प्रयोग करना चाहिये। आन्त्रिक ज्वर में इस औषधि से विशेष लाभ होता है। इस दृष्टि से आन्त्रिक एवं तन्द्रिक का निर्णय न हो सकने पर दूसरी औषधियों की अपेक्षा इसी का व्यवहार करना अधिक अच्छा है। मरक तन्द्रिक में यह विशेष उपयोगी है।

इन औषधियों का प्रयोग करते समय पहले बताये हुये नियमों का पालन करना चाहिये।

पेनिसिलीन (Penicillin)—रिकेटसिया के ऊपर पेनिसिलीन का विशेष प्रभाव नहीं होता अतः तन्द्रिकज्वर में इसका प्रयोग लाभकारी नहीं होता, किन्तु द्वितीयक उपसर्गों का प्रतिबन्धन और इस प्रकार उपद्रवों का प्रतिषेध करने के लिये दूसरे साधनों का अभाव होने पर पेनिसिलीन का व्यवहार सहायक औषध के रूप में किया जाता है।

पारा एमिनो बेन्जोइक एसिड (Para-amino-benzoic acid or P. A. B. A)—विशालक्षेत्रक प्रतिजीवी औषधियों की अपेक्षा यह कम उपयोगी होता है तथा मूत्र के द्वारा बहुत शीघ्र ३–४ घण्टे के भीतर ही उत्सर्गित हो जाने के कारण इसका प्रयोग प्रति ४ घण्टे पर करना आवश्यक होता है। यकृत एवं वृक्क की व्याधियों से पीड़ित व्यक्तियों में इसका प्रयोग करने पर विषाक्त परिणाम होने की संभावना होती है। इन्हीं कारणों से सस्ती एवं सुलभ होने पर भी इसका विशेष प्रयोग नहीं किया जाता। सामान्यतया २ ग्राम प्रति ३–४ घंटे पर पानी के साथ थोड़ा सोडाबाई कार्ब मिलाकर ज्वरमुक्ति के बाद २ दिन तक देना चाहिए। प्रायः ३–४ दिन में ज्वरादि लक्षणों का शमन होने लगता है। क्लोरोम्फेनिकाल तथा इस (P. A. B. A.) का संयुक्त प्रयोग बहुत लाभप्रद होता है। व्याधि की तीव्रावस्था में इसका प्रयोग सूचीवेध द्वारा भी किया जा सकता है।

यूरोट्रोपिन (Urotropin)—५–१० प्रतिशत घोल का १०–२० सी० सी० की मात्रा में सिरा द्वारा प्रतिदिन प्रयोग किया जाता है। मुखद्वारा १० ग्रेन की मात्रा में दिन में ३ बार दे सकते हैं। ४–६ दिन से अधिक कालतक देने की आवश्यकता नहीं पड़ती। सौम्य स्वरूप के रोग में केवल इसी का प्रयोग किया जा सकता है।

जीवतिक्ति सी० एवं के० (Vitamin C. & K.)—रक्तस्रावी प्रवृत्ति होने के कारण सहायक औषधि के रूप में प्रारम्भ से ही 'सी०' तथा 'के०' का प्रयोग किया जाता है। इनका प्रभाव ज्वर पर नहीं होता किन्तु विषमयता अवश्य कम होती है।

वृद्ध, दुर्बल एवं गम्भीर स्वरूप के ज्वर से पीडित रोगियों में विशालक्षेत्रक प्रतिजीवी औषधियों का व्यवहार करना चाहिए अन्यथा सौम्य स्वरूप के ज्वर में निम्न योग भी पर्याप्त लाभ करते हैं।

(क) १. सर्वतोभद्र २ र०
सौभाग्यवटी २ र०
आर्द्रावटी १ र०
बृहत् वात चिन्तामणि १ र०
गुडूचीसत्व ३ र०
३ मात्रा

दिन में ३ बार मधु के साथ।

२. निम्बादि चूर्ण २ मा०
१ मात्रा

दो बजे गुनगुने पानी के साथ।

(ख) चीनीफोर्टन (Chinifortan क्विनीन तथा शुल्वौषधियों का योग) २ गोली दिन में ३ बार पर्याप्त गुनगुने जल के अनुपान से ५–७ दिन तक देना चाहिये। सामान्य वेग एवं तीव्रता होने पर इस योग से लाभ हो जाता है। तन्द्रिक ज्वर की लाक्षणिक तथा औपद्रविक चिकित्सा आंत्रिक ज्वर तथा इंफ्लुएन्जा में उल्लिखित क्रम से करना चाहिए। मरक के अतिरिक्त इस ज्वर का अलग से निदान नहीं हो पाता तथा आंत्रिक ज्वर की चिकित्सा समान होने के कारण मिथ्या निदान होने पर भी लाभ हो जाता है।

इसमें मूत्राघात अधिक होता है, उसके लिए ५०% ग्लूकोज, जीवतिक्ति सी० (Vita. c.) १००० मि० ग्रा० की मात्रा में मिला सिरा द्वारा बहुत धीरे-धीरे देना चाहिए। हृदय या नाड़ी की अनियमितता मिलने पर कोरामीन (Coramine), शुद्ध कैम्फर इन आयल तथा अधिक मात्रा में बी० १ (B.1. 200 to 500 mg.) सिरा (१२॥% ग्लूकोज २५ सी० सी० में मिलाकर) या पेशी द्वारा देना चाहिए।

बलसंजनन—

इसमें मानसिक एवं शारीरिक दौर्बल्य पर्याप्त होता है। निम्नयोग से लाभ होगा।

१. पुटपक्व विषमज्वरान्तक लौह १ र०
चिन्तामणि चतुर्मुख १ र०
प्रवालपिष्टि १ र०
अश्वगन्धा चूर्ण १॥ मा०
१ मात्रा

सवेरे तथा शाम को मधु के साथ।

२. दशमूलारिष्ट १–२ तोला की मात्रा में भोजनोत्तर समानभाग जल मिलाकर।

३. रसायनयोगराज । १ गोली रात्रि में दूध के साथ । इसके अतिरिक्त नियमित जीवन, पोषक एवं सुपाच्य आहार तथा बलकारक औषधियों का कुछ काल तक सेवन कराना चाहिये ।

इन्फ्लुएञ्जा (Influenza)

तीव्र प्रतिश्याय, असह्य शिरःशूल, सर्वाङ्ग वेदना, क्षुधानाश, अत्यधिक अवसाद आदि लक्षणों के साथ शीतपूर्वक ज्वर के आक्रमण से इन्फ्लुएञ्जा का अनुमान किया जाता है । मरक के समय निदान में अधिक कठिनाई नहीं होती । शेष अवस्था में लक्षणों की अपेक्षा अवसाद-क्षीणता आदि का आधिक्य होने पर इसका संदेह होता है ।

प्रतिश्याय के समान ही इस रोग का भी कोई एक निश्चित कारण नहीं ज्ञात हो सका है । सामान्यतया इस रोग की उत्पत्ति बिन्दूत्क्षेप द्वारा विषाणु के शरीर में प्रवेश करने से होती है । विषाणु के अतिरिक्त फीफर का दण्डाणु (Pfeiffer bacilli), शोणांशिक माला गोलाणु (Streptococcus haemolyticus), प्रतिश्यायी सूक्ष्म गोलाणु (Micrococus catarrhalis) आदि जीवाणुओं के उपसर्ग से भी इस रोग की उत्पत्ति होती है । विषाणु के उपसर्ग से होने वाला ज्वर अधिक गम्भीर, तीव्र स्वरूप का तथा घातक होता है, किन्तु दूसरे औपसर्गिक जीवाणुओं के द्वारा उत्पन्न होने पर घातकता कम होती है । विषाणु के अतिरिक्त ऊपर निर्दिष्ट दूसरे जीवाणु उपसर्ग के सहायक कारण माने जाते हैं, किन्तु रोग की उत्पत्ति मुख्यतया विषाणु के द्वारा ही होती है । विषाणु के उपसर्ग से शरीर अत्यधिक दुर्बल तथा हीनक्षम हो जाता है, जिससे श्लेष्मक जीवाणु, शोणांशिक मालागोलाणु आदि का उपसर्ग हो जाने पर अधिक गम्भीर स्वरूप का एवं व्यापक रूप होता है । अर्थात् इस ज्वर में विषाणु के द्वारा शरीर की दुर्बलता तथा इतर जीवाणुओं के द्वारा लक्षणों की उत्पत्ति होती है । यह रोग एकपदिक, स्थानपदिक, जानपदिक एवं जागतिक स्वरूप का भी होता है । जागतिक मरक १८९०, १९१८ और १९५७ में हुये थे । जानपदिक मरक प्रायः प्रतिवर्ष कहीं न कहीं होते रहते हैं । मरक के रूप में यह अत्यन्त औपसर्गिक, विषैला तथा अत्यधिक प्रसरणशील होता है । मनुष्यों की आयु, परिस्थिति, स्वास्थ्य, लिङ्ग, आर्थिक सम्पन्नता आदि का इस पर कुछ प्रभाव नहीं होता । सन् १८९० के मरक में बाल-वृद्ध तथा १९१८ के मरक में युवा स्वस्थ पुरुष अत्यधिक रोगाक्रान्त हुये थे । प्रायः रोग का आक्रमण ऋतु-परिवर्तन के समय स्थानपदिक रूप में होता है, किन्तु जागतिक स्वरूप के मरक के लिये कोई समय स्थिर नहीं है । इसका वेग किसी स्थान में अधिक दिन स्थायी नहीं रहता तथा जल-वायु के साथ भी इसके उपसर्ग का कोई सम्बन्ध नहीं । विषाणु एवं जीवाणु का स्वस्थ मनुष्य में संक्रमण रुग्ण व्यक्तियों के

नासा स्राव-कफादि से दूषित वायु के द्वारा होता रहता है। इस रोग का सञ्चयकाल कुछ घण्टों से २ दिन का होता है।

लक्षण—इस रोग का आक्रमण बड़े वेग से आकस्मिक रूप में, शीत, कम्प, तीव्र शिरःशूल तथा शाखाओं में वेदना के साथ तीव्र ज्वर के रूप में होता है। तीव्र प्रतिश्याय के समान आकृति रक्तवर्ण की, गला एवं मुख की खुश्की, नासास्राव आदि लक्षण होते हैं। अब तक प्रत्येक मरक के समय रोग की तीव्रता तथा लक्षणों की विविधता रही है। अधिष्ठान भेद से लक्षणों में जो विभिन्नता होती है उसके आधार पर इसके चार वर्ग किये जाते हैं।

१. तीव्र ज्वरयुक्त आक्रमण—यकायक शीत कम्प के साथ तीव्र सर्वाङ्गवेदना, पूर्वगामी शिरःशूल तथा नेत्रों में फटने के समान वेदना के लक्षणों के साथ प्रारंभ होता है। कुछ घण्टों में ही ज्वर १०३–१०४ तक पहुँच जाता है। तृष्णा, मलावरोध, श्वसन की तीव्रता, मूत्राल्पता, नेत्राभिष्यन्द, मलावृत जिह्वा, दुर्गन्धित प्रश्वास, नासास्राव या नासागत रक्तस्राव इत्यादि लक्षण होते हैं। गले की लस-ग्रन्थियाँ, तुण्डिका तथा प्लीहा की वृद्धि होती है। नाड़ी ज्वर के अनुपात में मन्द होती है। ज्वर का प्रायः ३ से ६ दिन में दारुण मोक्ष होता है, किन्तु ज्वर-मुक्ति के बाद भी रोगी अत्यधिक दुर्बल तथा सर्वाङ्ग वेदना से पीड़ित रहता है।

२. श्लैष्मिक ज्वर—शारीरिक वेदना, अवसाद, नासास्राव या नासावरोध, श्वासकृच्छ्र, अत्यधिक छींक आना आदि लक्षणों के साथ ज्वर का आक्रमण होता है। प्रारम्भ में ज्वर तीव्र किन्तु अर्धविसर्गी स्वरूप का होता है। प्रलाप, तीव्र कास तथा फुफ्फुस पाक के समान पार्श्वशूल, रक्तनिष्ठीवन आदि होता है। खाँसने पर थूक प्रायः नहीं निकलता, निकलने पर गुलाबी चमकीला तथा अत्यधिक फेनयुक्त होता है। शीघ्र ही फुफ्फुसपाक, श्वसनी फुफ्फुसपाक, स्रावयुक्त फुफ्फुसशोथ (Pulmonary oedema) आदि उपद्रव हो जाते हैं, जिससे फुफ्फुस के द्वारा प्राणवायु का ग्रहण नियमित रूप से नहीं हो पाता, अतः रोगी अत्यधिक बेचैन तथा उसका चेहरा नीला अथवा ओष्ठ एवं कर्णपाली पक्व जामुन के सदृश हो जाते हैं। इस वर्ग के लक्षण रोग की घातकता के सूचक माने जाते हैं।

३. आन्त्रिक वर्ग—ज्वर का अकस्मात् आक्रमण, हृल्लास, वमन, अरोचक, अग्निमांद्य, उदर शूल, अतिसार आदि लक्षणों के साथ होता है। इस प्रकार के लक्षण स्थानपदिक तथा एकपदिक स्वरूप के आक्रमण में अधिक मिलते हैं।

४. वातिक वर्ग—तीव्र ज्वर, शिरःशूल, सर्वाङ्ग वेदना, नाडी शूल, निद्रानाश, प्रलाप, मूर्च्छा इत्यादि लक्षणों के साथ इसका प्रारम्भ होता है। कभी-कभी त्वचा पर विस्फोट एवं चकत्ते भी निकलते हैं।

उक्त वर्ग एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं। इन्फ्लुएञ्जा के मुख्य लक्षण अत्यधिक बेचैनी व अवसाद सभी में रहते हैं, केवल स्थानीय विशेषतायें अधिक हो जाती हैं।

कालज्वर या फुफ्फुसपाक में भी अतिसार, मूर्च्छा आदि के लक्षण उपसर्ग का विशिष्ट स्थान संश्रय होने पर होते हैं। ज्वर की अपेक्षा अत्यधिक दौर्बल्य तथा अरति एवं मन्द नाड़ी इसकी सर्वप्रमुख विशेषता मानी जाती है। संक्षेप में ज्वर का आकस्मिक आक्रमण, तीव्र शिरःशूल, सर्वाङ्ग वेदना, नेत्र-आकृति तथागले में रक्तिमा, छींक, कास, नासास्राव, गलशोथ, स्वरयन्त्र शोथ, श्वासकृच्छ्र तथा तीव्र प्रतिश्याय के समान लक्षणों की उपस्थिति, अत्यधिक दौर्बल्य इसकी प्रमुख विशेषतायें हैं। रक्त में श्वेतकणापकर्ष, लसकायाणु की कुछ वृद्धि, बहुकेन्द्रीय तथा उपसिप्रियों की न्यूनता होती है। फुफ्फुस-पाक का उपद्रव हो जाने पर भी नाडी की गति एवं श्वेत कणों की संख्या अधिक नहीं बढ़ती। इस ज्वर के लक्षण श्लेष्मोल्वण सन्निपात से कुछ अंशों में मिलते-जुलते हैं। किन्तु इसे श्लेष्मोल्वण सन्निपात न मानकर जनपदोध्वंस ही मानना चाहिये। जनपदो-ध्वंस में देश, काल, जल, वायु की दुष्टि और अधर्म-व्यवहार मुख्य कारण माना गया है। अब तक इसके जो मरक हुये हैं, दुर्भाग्य से उनका समय लम्बे विश्वव्यापी महायुद्धों के साथ पड़ा है। महायुद्ध में भयंकर अस्त्र-शस्त्र, विषाक्त वायु एवं हीन वृत्ति, हीन पोषण आदि अनेक कारण जनपदोध्वंस की पूर्वपीठिका बनानेवाले होते हैं। व्याधि के शीघ्र प्रसार, सर्वाङ्गव्यापी लक्षणों तथा वेदनामूलक विकृतियों के आधार पर वायु एवं कफ की प्रधान दुष्टि का अनुमान किया जाता है। रस-रक्त-श्लेष्मवाही स्रोतसों में वायु के प्रभाव से श्लेष्मा का अवरोध होने पर इस प्रकार के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

उपद्रव—इस रोग में शारीरिक शक्ति एवं रोगक्षमता के अत्यधिक क्षीण हो जाने के कारण उपद्रव अधिक होते हैं। ऊपर जिन लक्षणों का वर्णन किया गया है, उनमें कुछ लक्षण न होकर उपद्रव ही माने जाते हैं। फुफ्फुसपाक, श्वसनी-फुफ्फुसपाक, फुफ्फुसावरण शोथ, राजयक्ष्मा, मस्तिष्कावरण शोथ, पक्षाघात, ऊरुस्तम्भ, उन्माद, भ्रम, मध्यकर्णशोथ, गलग्रन्थिशोथ, संधिशोथ, हृदयावरण एवं हृत्पेशीशोथ, शीघ्र-हृदयता, हृच्छूल, श्वासकृच्छ्र इत्यादि अनेक उपद्रव होते हैं। इसके आक्रमण के बाद श्वसनी-फुफ्फुसपाक, जीर्ण प्रतिश्याय, अस्थिविवरशोथ, (Sinusitis) तथा राज-यक्ष्मा का आक्रमण अधिक होता है।

सापेक्ष्य निदान—तीव्र प्रतिश्याय, फुफ्फुसपाक, मस्तिष्कावरणशोथ, घातक विषम ज्वर, आन्त्रिक ज्वर, आन्त्रपुच्छ शोथ इत्यादि व्याधियों से इसका पार्थक्य करना चाहिये।

चिकित्सा—रोगी को प्रारम्भ से ही शुद्ध वात-सञ्चारयुक्त विशाल कमरे में शय्या पर पूर्ण विश्राम कराना चाहिये। शीत से बचाना तथा पूर्ण विश्राम कराना आवश्यक है, अन्यथा फुफ्फुसपाक, हृत्पेशी शोथ आदि उपद्रवों की सम्भावना बढ़ जाती है। रोगी को उष्ण प्रयोग से शान्ति मिलती है। अतः रोगी के कमरे में निर्धूम अंगारे अङ्गीठी में रखने चाहिये। दिन में एक दो बार गुनगुने पानी से सारा शरीर पोंछना तथा पीने के लिये भी अर्धांशावशिष्ट गुनगुना पानी देना चाहिये। खाने के लिये आहार यथाशक्ति

न देना चाहिये। किन्तु उष्णोदक या षडङ्गपानीय, लवङ्गपानीय, विडङ्गपानीय, पर्पटादि आदि पर्याप्त मात्रा में देना चाहिये। यदि रोगी निद्रित हो तो उसे जगाकर औषधि या जल देना उचित नहीं, किन्तु मूर्च्छित होने पर रक्त की द्रवता बनाये रखने के लिये उचित व्यवस्था करनी चाहिये। रोगी के कमरे में गुग्गुल, निम्बपत्र, लोहबान, देवदारु, जटामांसी और साँप की केंचुल जलाकर धूपित करना चाहिये। श्वासकृच्छ्र अधिक होने पर धूआँ सह्य नहीं होता उस अवस्था में प्राणवायु का प्रयोग करना चाहिये।

औषधि चिकित्सा—इन्फ्लुएञ्जा की विशिष्ट चिकित्सा अब तक ज्ञात नहीं है। शोणांशिक मालागोलाणु इस ज्वर के गम्भीर परिणामों में मुख्य माना जाता है। स्ट्रेप्टोमाइसिन के प्रयोग से इस गोलाणु के द्वितीय उपसर्ग से होने वाले गम्भीर कष्ट तथा मस्तिष्कावरणशोथ आदि उपद्रव नहीं होते। प्रारम्भ से ही प्रतिदिन ४ लाख पेनिसिलीन (प्रोकेन) तथा १ ग्राम स्ट्रेप्टोमाइसिन का प्रयोग करते रहने से इस ज्वर की साध्यता बढ़ती है। प्रतिजीवी वर्ग की औषधियों का विशेषकर आरियोमाइसिन, टेरामाइसिन, टेट्रासायक्लीन, साइनरमायसीन आदि का प्रयोग तीव्रता तथा शोणांशिक मालागोलाणु एवं श्लेष्मक दण्डाणु के उपसर्ग को नियन्त्रित करने के लिये किया जाता है, जिसमें व्याधि की गम्भीरता तथा उत्तरकालीन उपद्रवों की सम्भावना कम हो जाती है। अब तक जितने मरक हुये हैं उनमें इसका रूप परिवर्तित होता रहा है, अतः जब तक तीव्र रूप में इसका आक्रमण न हो, इन औषधियों की कार्यक्षमता के बारे में ठीक निर्णय नहीं किया जा सकता। फुफ्फुसपाक आदि शोथयुक्त उपद्रवों के प्रतिरोधार्थ पेनिसिलीन का प्रयोग भी किया जा सकता है। इसकी मुख्य चिकित्सा लाक्षणिक होती है जो इस प्रकार है—

१. वेदना

Prednosoline	5 mg.
Codein phos,	$\frac{1}{4}$ gr.
Cibalgin	1 tab.
Yeast	1 tab.
	१ मात्रा

प्रति ६ घण्टे पर। इसके प्रयोग से सर्वाङ्ग वेदना एवं शूल की शान्ति होकर निद्रा भी आ जाती है।

निम्न लिखित योग नासास्राव, सर्वाङ्ग वेदना तथा ज्वर की शान्ति के लिये काम करता है—

Phenacetin	gr 2
Amidopyrin	gr 2
Ascorbic acid	100 mg
	१ मात्रा

दिन में ३ बार गरम जल के साथ।

साधारण सैलिसिलेट वर्ग की ओषधियाँ भी अच्छा काम करती हैं। जो औषध वेदना-शामक होने के साथ शीघ्र ज्वरशामक न हो उसी का प्रयोग उत्तम माना जाता है। निम्नलिखित मिश्रण इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये दिया जा सकता है—

Soda salicylas	gr 10
Soda bicarb	gr 10
Pot citras	gr 10
Tr belladonna	ms 7
Tr nux vomica	ms 5
Tr card co	ms 10
Syr codein phos	dr one
Aqua	oz one
	१ मात्रा

दिन में तीन बार। इसके प्रयोग से शुष्क कास की भी शान्ति होती है।

उक्त योगों के अतिरिक्त नोवाल्जिन (Novalgin) इरगापायरीन (Irgapyrine) डेकापायरीन (Decapyrine) आदि योगों के प्रयोग से भी पर्याप्त लाभ होता है।

२. अनिद्रा—प्रारम्भ से ही अनिद्रा का कष्ट गम्भीरतासूचक माना जाता है। नींद न आने से रोगी बेचैन तथा असहिष्णु हो जाता है। बेचैनी की शान्ति के लिये शरीर को गुनगुने पानी से पोंछना, मस्तक पर शामक प्रलेप रखना तथा विषमयता, वेदना, शुष्ककास आदि लक्षणों की शान्ति का उपचार करना और रोगी को मानसिक सहिष्णुता, सहनशीलता देना आवश्यक होता है। प्रायः वेदनाशामक ओषधियों से नींद भी आ जाती है। यदि अत्यधिक शुष्ककास के कारण निद्रा न आती हो तो निम्नलिखित योग देना चाहिये—

Pot bromide	gr 10
Syp chloral hydrate	dr one
Bromoform	ms 10
Ext glycerrhyza liq	dr one
Aqua	oz one
	Idose

रात में सोने के पहले १ मात्रा तथा अत्यधिक बेचैनी होने पर दिन में २ बार।

इनके अतिरक्त निद्रा लाने के लिए Lumniol, amytal, dial, soneryl, medomine आदि किसी ओषधि का व्यवहार लाक्षणिक चिकित्सा प्रकरण के निर्दिष्ट क्रम से किया जा सकता है।

ज्वर, बेचैनी, सर्वाङ्ग वेदना तथा अनिद्रा की शान्ति के लिये निम्नलिखित योग प्रभावकारी हैं। इनसे शारीरिक क्षमता की वृद्धि तथा दोषों का पाचन हो कर लाभ होता है।

शृंगभस्म	१ र०
वेतालरस	१ र०
शृङ्गाराभ्र	१ र०
महाज्वराङ्कुश	१ र०
	१ मात्रा

तुलसीपत्र-स्वरस व मधु के साथ प्रति ४ घण्टे पर।

हृदय-वृक्क एवं मस्तिष्क की बलवृद्धि, दृढ़ता एवं ज्वरशान्ति के लिये—

कृष्णचतुर्मुख	½ र०
त्रैलोक्यचिन्तामणि	½ र०
सर्वतोभद्र	१ र०
	१ मात्रा

निर्गुण्डीपत्रस्वरस या तुलसीपत्रस्वरस व मधु से दिन में ३ बार।

प्रतिश्याय तथा सर्वाङ्ग वेदना की शान्ति के लिये—

शृङ्ग भस्म	४ र०
अभ्रक भस्म	१ र०
महालक्ष्मी विलास	१ र०
	१ मात्रा

ताम्बूलपत्रस्वरस, आर्द्रकस्वरस तथा मधु से प्रति ६ घण्टे पर।

सामान्यतया ज्वरपाचन, वात-श्लैष्मिक दोष-संशमन तथा स्रोतस-संशोधन के लिये निम्नलिखित योग दिया जाता है। प्रारम्भ से इसका प्रयोग करने पर उत्तरकालीन गम्भीर उपद्रव नहीं होते और ज्वर की शीघ्र शान्ति हो जाती है—

मृत्युञ्जय	१ र०
सौभाग्यवटी	२ र०
रत्नगिरि	½ र०
	१ मात्रा

आर्द्रक स्वरस व मधु से।

इसके अतिरिक्त श्लेष्मज्वर के प्रकरण में निर्दिष्ट औषधियों का प्रयोग विशेष परिस्थितियों में किया जा सकता है।

उल्लिखितयोग ज्वरयुक्त इन्फ्लुएञ्जा के प्रधान लक्षणों की उपस्थिति में विशेष लाभकर होते हैं। आन्त्रगत दोषाधिक्य होने पर वमन, आध्मान, उदरशूल, प्रवाहिका आदि की शान्ति के लिए निम्नलिखित व्यवस्था करनी चाहिए।

आनन्दभैरव	१ र०
चतुर्भुज	½ र०
पित्तभंजी	½ र०
	१ मात्रा

भुनी बड़ी इलायची व मधु के साथ। पर्पटार्क १-२ तोला अनुपान में पिलाने से अच्छा लाभ होता है।

साधारण क्षारीय मिश्रण—इस वर्ग के लक्षणों की शान्ति के लिये उपयोगी होता है।

श्लैष्मिक लक्षणों की भी—प्रसेक, कास, मूर्च्छा आदि की—प्रधानता होने पर निम्नलिखित व्यवस्था करनी चाहिए—

१. उबलते पानी में तारपीन का तेल, टिंक्चर बेनजोइन १-१ चम्मच डालकर भाप सुंघानी चाहिये।

२. एन्टिस्टिन पाइराबेन्जामिन नेबुलाइजर (Antistin-pyribenzamin nebulizer) के प्रयोग से प्रसेक के लक्षणों की शान्ति होती है।

३. पीने के लिये सैलिसिलास का मिश्रण देना चाहिये।

४. श्लैष्मिक दोष-पाचन, संशोधन तथा संशमन के लिये निम्नलिखित योग प्रयुक्त होता है—

संजीवनी वटी	१ र०
सौभाग्यवटी	१ र०
अभ्रकन्चुकी	½ र०
शृंग भस्म	२ र०
नरसार	२ र०
	१ मात्रा

प्रति ४ घंटे पर गरम पानी से।

श्लैष्मिक वर्ग में श्यावास्यता अधिक होती है, अतः फुफ्फुस में स्रावयुक्त शोथ की शान्ति के लिये प्रतिजीवी वर्ग की औषधियाँ—टेट्रासायक्लीन-टेरामायसीन आदि, एट्रोपिन (Atropine sulphate) तथा प्राणवायु का प्रयोग करना चाहिये। प्रारम्भ से ही इस वर्ग के लक्षणों की प्रधानता होने पर पेनिसिलीन या आइलोटाइसिन का प्रयोग करने से इसकी गम्भीरता कम हो जाती है। हृद्भेद की सम्भावना इसमें सर्वाधिक होती है, अतः फुफ्फुस पाक के प्रकरण में वर्णित हृद्य-चिकित्सा का प्रयोग होना चाहिए।

वातिक प्रकार—तीव्र वेदना, शिरःशूल एवं निद्रानाश की चिकित्सा का निर्देश प्रारम्भ में किया जा चुका है। प्रलाप, मूर्च्छा, अरति, अवसाद आदि की शान्ति के लिये निम्नलिखित व्यवस्था करनी चाहिए—

१. हस्तपाद-तल में शतावरी घृत या पुराना घृत का मर्दन करना चाहिए।

२. ब्राह्मी वटी	१ र०
वृ० वात चिन्तामणि	½ र०
त्रैलोक्य चिन्तामणि	¼ र०
महालक्ष्मी विलास	१ र०
	१ मात्रा

निर्गुण्डीपत्रस्वरस व मधु के साथ ४ घण्टे के अन्तर पर।

इस ज्वर में बहुसंख्यक उपद्रव होते हैं, जिनका निर्देश पहले किया गया है। इसमें अधिकांश हीनक्षमता जन्य शारीरिक दुर्बलता एवं द्वितीय उपसर्गों (Secondary infections) के कारण होते हैं। विषमयता, दुर्बलता इत्यादि की शान्ति के लिये ग्लूकोज का सिरा द्वारा प्रयोग, प्राणवायु को नियमित रूप से रबर नली द्वारा नासा के भीतर पहुँचा कर सुँघाते रहना तथा आक्रमण के २-३ दिन बाद से ही प्रतिजीवी वर्ग की औषधियों का प्रयोग करना चाहिए।

तीव्र स्वरूप का वेग होने पर निम्नक्रम से व्यवस्था करना उत्तम होगा—

१. Tetracyclin २५० मि० ग्राम।
२. Prednosoline ५ मि० ग्राम।

दोनों साथ में ४-६ घंण्टे के अन्तर पर ३-४ दिन तक।

३.	Irgapyrine	tab 1
	Elkosin	tab 1
	Avil	tab ½
	Ascorbic acid	200 mg
	Puly glycerrhyza	gr 30
		१ मात्रा

दिन भर में ३ बार ६-७ घण्टे के अन्तर पर गरम जल से।

४. Doriden या Medomin की १ गोली रात में सोते समय।

५-६ दिन तक इस प्रयोग से पूर्ण लाभ हो जाने पर दुर्बलता का प्रतिकार करने के लिए पोषक औषधियों तथा क्षमतावर्द्धक योगों का सेवन कराना चाहिए।

फुफ्फुस का स्रावयुक्त शोथ एक गम्भीर उपद्रव है। श्वासकृच्छ्र, श्यावता तथा अत्यधिक बेचैनी होने पर उसका अनुमान किया जाता है। प्रारम्भ से ही इसकी उपस्थिति का ध्यान रखना तथा आवश्यक होने पर निम्नलिखित उपचार करना चाहिए।

१. रोगी के सिर तथा कन्धा पृष्ठ में सहारा देकर शय्या से उठाकर अर्धोपविष्ट आसन में लिटाना।

२. सम्भव हो तो रबर नली द्वारा श्लेष्मा का प्रचूषण करना।

३. हाथों को ऊपर-नीचे फैलाना, मुलायम कपड़े से सारे शरीर में रगड़ना तथा प्राणवायु का प्रयोग कराना।

4.	Atropine sulphate	gr 1/100
	Strychnine sulph	gr 1/32

मिलाकर प्रति ८ घण्टे पर पेशी द्वारा सूचीवेध देना। इससे फुफ्फुस का श्लेष्म-प्रधान अवरोध दूर होता है।

बलसंजनन—ज्वर से मुक्ति प्रायः १ सप्ताह से १५ दिन के भीतर अवश्य हो जाती है। इससे अधिक समय तक ज्वर का अनुबन्ध रहने पर उपद्रवों का अनुमान करना चाहिये। किन्तु ज्वरमुक्ति के बाद भी पर्याप्त समय तक रोगी शारीरिक व मानसिक दृष्टि से अत्यधिक निर्बल तथा असहिष्णु हो जाता है। अनेक रोगियों में बुद्धिनाश, बुद्धिविभ्रम, उन्माद, अपस्मार आदि व्याधियों का अनुबन्ध ज्वरमुक्ति के बाद होते देखा गया है। पूर्ण विश्राम पर्याप्त समय तक न करने से हृदयावसाद या हृदय-भेद होकर मृत्यु के उदाहरण भी पर्याप्त हैं। अतः कम-से-कम १० दिन बाद तक पूर्ण शारीरिक तथा मानसिक विश्राम, पौष्टिक आहार, शुद्ध जलवायु तथा पोषक ओषधियों का व्यवहार करना चाहिये। ज्वरमुक्ति के बाद Eastan syrup, syrup minadex, ferilex, maltvitex, betonin आदि बलकारक पोषक लौह-जीवतिक्ति वर्ग आदि से युक्त ओषधियों का सेवन करना चाहिये। ज्वरमुक्ति के बाद निम्नलिखित योग १ मास तक सेवन करने से पूर्ण बलवृद्धि होती है।

१.	वसन्तमालती	१ र०
	शिलाजत्वादि लौह	२ र०
	रससिन्दूर	१ र०
	सितोपलादि	१ माशा
		१ मात्रा

प्रातः सायं मधु से।

२. अश्वगन्धारिष्ट २ तो० की मात्रा में समान जल से, भोजनोत्तर।

Calci Ostelin	1 c. c.
Vit Bcomplex	1 c. c.
Crude liver extract	1 c. c.

मिलाकर पेशी द्वारा सप्ताह में ३ बार, दस सूचिकाभरण देने चाहिये। इससे दुर्बलता, असहनशीलता आदि का शमन होता है।

इन्फ्लुएञ्जा के बाद श्वसनी फुफ्फुसपाक, तुण्डिकेरी शोथ, अस्थिविवर शोथ आदि व्याधियाँ अत्यधिक होती हैं। कुछ चिकित्सकों का अनुभव है कि एक बार इस रोग से पीड़ित होने के बाद अनेक वर्षों तक इन व्याधियों से रोगी पुनः-पुनः आक्रान्त होता

रहता है। अतः ज्वरमुक्ति के बाद पर्याप्त बलवृद्धि हो जाने के उपरान्त अविशिष्ट स्वरूप की क्षमतोत्पादक पूर्वोल्लिखित (पृष्ठ ११५) औषधियों का प्रयोग करना चाहिए।

प्रतिषेध—रोगी के नासास्राव, खाँसने छींकने आदि के द्वारा इस रोग का स्वस्थ व्यक्तियों में संक्रमण होता है। अतः रोगियों को समाज एवं घर के दूसरे कुटुम्बियों से बिल्कुल पृथक् रखना चाहिये। स्वास्थ्यकर वातावरण में रहना कुछ हद तक व्याधि-प्रतिषेध में सहायक हो सकता है। इधर इस रोग के लिये मसूरी का निर्माण प्रायोगिक रूप में चल रहा है, विश्वास है सन्तोषजनक परिणाम होंगे।

प्रतिश्याय (Cold or naso-pharyngial catarrh)

नासा, गला तथा श्वास मार्ग में सामान्य शोथ होकर नासास्राव, छींक, गले में सरसराहट आदि लक्षणों के साथ मध्यम स्वरूप का ज्वर प्रतिश्याय में होता है। इस रोग का वास्तविक कारण अभी तक असंदिग्ध रूप में निर्णीत नहीं है। यह तीव्र स्वरूप का औपसर्गिक रोग है, अतः विषाणु के द्वारा इसकी उत्पत्ति मानी जाती है। नासास्राव में प्रसेकी-सूक्ष्म-गोलाणु (Micrococcus catarrhalis), शोणांशिक मालागोलाणु, फुफ्फुसगोलाणु, श्लेष्मकदण्डाणु आदि की उपस्थिति प्रायः मिलती है। किन्तु इनकी अनुपस्थिति में भी रोगोत्पत्ति होते देखी गई है। विषाणु के उपसर्ग से स्थानीय एवं सर्वदेहीय दुर्बलता हो जाने के उपरान्त प्रसेकी जीवाणु आदि का द्वितीयक उपसर्ग होकर उत्तरकालीन तीव्र स्वरूप के लक्षण उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार मूलतः प्रसार की दृष्टि से प्रतिश्याय विषाणुजन्य तथा परिणाम की दृष्टि से जीवाणुजन्य होता है।

शिशु में कुछ समय तक सहज क्षमता रहती है। एक दो साल के बाद यह क्षमता कम हो जाती है, जिससे पाँच वर्ष तक इसका अधिक प्रकोप होता है। अनेक बार पीड़ित होने के बाद क्रमशः शरीर में प्रतिकारक शक्ति की वृद्धि होती जाती है, जिससे उत्तरोत्तर प्रतिश्याय का आक्रमण कम होता जाता है। इसीलिये युवकों, प्रौढ़ों एवं वृद्धों में क्रमशः इसका आक्रमण कम होता है। सामान्यतया इसका आक्रमण सभी ऋतुओं में हो सकता है, किन्तु ऋतुपरिवर्तन के समय—विशेषकर हेमन्त व वसन्त में—अधिक होता है। अधिक जनसम्मर्द, धूल-धुआँ इत्यादि से वातावरण की दुष्टि से; रोहिणी, कर्णमूल शोथ, रोमान्तिका आदि हीन रोगक्षमताकारक व्याधियों से आक्रान्त होने पर; तुण्डिका शोथ, नासार्श, नासा कोटरशोथ, आमवात, क्षय, मधुमेह आदि रोगों से पीड़ित होने पर प्रतिश्याय का आक्रमण अधिक होता है। अनियमित समय में भोजन, अत्यधिक या अल्प भोजन, चिन्ता, शीताभिषङ्ग, शीतवायु में शयन, पानी से भींगना तथा मद्य आदि का सेवन एवं अन्य शरीर को दुर्बल करने वाले कारणों से प्रतिश्याय का आक्रमण होता है। शीतोष्ण का आकस्मिक विपर्यय प्रतिश्याय की उत्पत्ति में मुख्य कारण माना जाता है। कुछ व्यक्तियों में कौटुम्बिक प्रवृत्ति भी मिलती है। अनूर्जताजनित व्यधियों से पीड़ित व्यक्तियों में इसका प्रकोप अधिक होता है।

लक्षण :—इसका प्रसार बिन्दून्क्षेप एवं संसर्ग के द्वारा होता है। आक्रमण होने के पूर्व सर्वाङ्ग वेदना, बेचैनी, सुस्ती, शिरोवेदना, मलावरोध तथा ज्वरांश का अनुभव होता है। नासा एवं ग्रसनिका में खुश्की तथा सरसराहट का अनुभव, कुछ समय बाद नासा में जकड़ाहट या अवरोध का अनुभव तथा बाद में छींकें आकर नासा एवं नेत्र से प्रचुर स्राव होने लगता है। प्रायः गले में काँटे गड़ना, खाँसी, झागदार कफ का निकलना तथा कान बन्द होने के लक्षण भी उत्पन्न होते हैं। प्रतिश्याय की विकृति नासा से प्रारम्भ होकर स्वरयन्त्र तक फैली रहती है। इस प्रकार इसके लक्षणों को स्थानीय एवं सार्वदेही दो लक्षणसमूहों में बाँट सकते हैं। स्थानीय वर्ग में तीव्र नासा शोथ, तीव्र गलशोथ तथा तीव्र स्वरयन्त्रशोथ के लक्षण स्थान-संश्रय के अनुसार इन तीन अवयवों की व्याधियों के इसमें मिलते हैं।

रोग स्वतः मर्यादित स्वरूप का है। प्रायः ५–७ दिन के भीतर उपशम प्रारम्भ हो जाता है। अधिक से अधिक पन्द्रह दिन में अवश्य ठीक हो जाता है। किन्तु इसका बार-बार आक्रमण होने से शरीर की प्रतिकारक शक्ति बहुत निर्बल हो जाती है। अनेक व्यक्तियों में व्यापक रूप में असहनशीलता उत्पन्न हो जाती है; जिससे कास, श्वसनी-फुफ्फुसपाक, राजयक्ष्मा, श्वास आदि गम्भीर बीमारियों का अनुबन्ध होने की सम्भावना रहती है। प्राचीन आचार्यों ने जीर्ण प्रतिश्याय के कारण कास तथा उत्तरकाल में क्षय की उत्पत्ति मानी है।[१]

संक्षेप में मृदु ज्वर, सर्वाङ्ग वेदना, अवसाद, शिरःशूल आदि सार्वदेही लक्षण; नासा दाह, गले में सरसराहट, नेत्र एवं नासा से स्राव तथा गल, नासा एवं स्वरयन्त्र के शोथ के स्थानीय लक्षण मुख्य रूप से निदान में सहायक होते हैं। आसानी से निदान हो जाने के कारण रक्त परीक्षा-नासास्राव की परीक्षा की आवश्यकता नहीं होती, साथ ही इनमें कोई निर्णायक विकृति भी नहीं होती, जिससे इन परीक्षाओं की कोई उपयोगिता नहीं है।

प्रतिश्याय स्वयं मर्यादित स्वरूप का अत्यधिक कष्ट न देनेवाला रोग माना जाता है, किन्तु इससे अनेक बार पीड़ित होने पर शरीर गम्भीर औपसर्गिक व्याधियों के लिये उर्वर क्षेत्र हो जाता है, जिससे नासा, गला, श्वसन-संस्थान के सभी रोग आसानी से हो जाते हैं।

स्वरभङ्ग, शुष्क कास, श्वास-नलिका शोथ, अपीनस, मध्य कर्ण शोथ, तुण्डिकेरी शोथ, अस्थि विवरशोथ, नेत्राभिष्यन्द आदि निकट के अङ्गों के विकार उपद्रव स्वरूप हो सकते हैं।

---

१. प्रतिश्यायादथोकासः कासात् सञ्जायते क्षयः; 'कासाच्छ्वासश्च जायते'।

प्रतिश्याय का सापेक्ष्य निदान नासा तथा गले की विशिष्ट व्याधियों से किया जाता है। रोमान्तिका, इन्फ्लुएञ्जा, तृणगन्ध ज्वर आदि से मुख्य रूप से इसका पृथक्करण करना होता है। विशिष्ट व्याधियों के लक्षणों की अनुपस्थिति प्रतिश्याय के निदान में सहायक होती है।

चिकित्सा—सामान्यतया लगभग दो दिन के लिये पूर्ण विश्राम आवश्यक होता है। गरम जल पीना, गरम पानी से शरीर पोंछना, गरम वस्त्र ओढ़ना-बिछाना रोगी को सात्म्य होता है। जल अधिक मात्रा में पिलाना चाहिये। भूख लगने पर रुचि के अनुरूप हल्का, सुपाच्य भोजन देना चाहिये। कोष्ठबद्धता की निवृत्ति के लिये यष्ट्यादि चूर्ण, मुनक्का या कैलोमेल का प्रयोग करना चाहिये। गरम पानी में नमक डालकर गरारा करने से या लिस्टेरीन-ग्लाइको थाइमोलिन आदि के घोल से कुल्ला करने से लाभ होता है।

ओषधि चिकित्सा—प्रतिश्याय की कोई सटीक चिकित्सा नहीं है। किन्तु रोग का प्रारम्भ होते ही स्थानीय प्रभावकारी ओषधियों का प्रयोग करने से रोग शीघ्र शान्त हो सकता है।

स्थानीय चिकित्सा—

१. यूकेलिप्टस तेल, तारपीन का तेल और टिंक्चर बेनजोइन का १-१ चम्मच उबलते पानी में डालकर भाप को सूँघना।

२. एफिड्रिन सल्फेट का १% घोल नमक के पानी में बनाकर नासा एवं गले को धोने से लाभ होता है।

३. Antistin-pyribenzamin nebulizer को ३-४ बूँद नाक में डालने से शीघ्र लाभ होता है।

४. सम लवण जल, दस प्रतिशत ग्लूकोज का घोल, पौटैशियम परमैंगनेट का हल्का घोल (१ : १०००) आदि के द्वारा गरारा करना तथा नासा-प्रक्षालन करना चाहिये।

५. नीलगिरि के तेल में कपूर मिलाकर सूँघना।

सामान्यतया निम्नलिखित योग प्रयुक्त होता है—

Soda salicylas	gr 10
Soda bi carb	gr 10
Tr. belladonna	ms 5
Tr. ginger	ms 20
Ext glycerrhyza	dr. one
Syp vasaka	dr. one
Aqua	oz one
	१ मात्रा

प्रति ४ घण्टे पर।

दोष के पाचन तथा लाक्षणिक निवृत्ति के लिये निम्नलिखित योग देना चाहिये—

शृङ्ग भस्म	४ र०
सौभाग्य वटी	१ र०
नरसार	२ र०
	१ मात्रा

गरम पानी से दिन में ३ बार।

शारीरिक बल-वृद्धि, प्रतिश्याय की निवृत्ति तथा लाक्षणिक शान्ति के लिये महालक्ष्मी विलास बहुत लाभकर योग माना जाता है।

महालक्ष्मी विलास	१ र०
	१ मात्रा

पान के रस व मधु से।

ज्वर की अधिकता होने पर क्विनीन का प्रयोग फेनायमानमिश्रण के रूप में लाभ करता है—

Quinine bi hydrochlor	gr 3
Citric acid	grs 10
Aqua	dr 4
	१ मात्रा

Soda bi carb	gr 10
Pot bi carb	gr 10
Soda sulph	gr 30
Aqua	dr 4
	१ मात्रा

पीते समय दोनों मिश्रणों की १-१ मात्रा मिलाकर फेन उठने के साथ ही पी लेना चाहिये।

कभी-कभी नासास्राव में अधिक रूक्षता हो जाने के कारण रोगी तीव्र शिरःशूल, मुख तालु शोथ आदि से पीड़ित होता है। ऐसी स्थिति में क्षारीय घोल (Soda bi carb solusion) से नाक व गले का शोधन करना, Mistole, Endrine, Chloretone inhalant (P. D.) आदि का नाक में डालने के लिये प्रयोग करने से रूक्षता में लाभ होकर अवरोध दूर हो जाता है।

तीव्र शिरःशूल, असह्य सर्वाङ्ग वेदना एवं बेचैनी की शान्ति के लिये डोवर्स पाउडर का प्रयोग ५ ग्रेन की मात्रा में दिन में ३ बार किया जा सकता है। किन्तु इससे कोष्ठ

बद्धता की वृद्धि होती है। अतः साथ में मृदु विरेचक औषधि का प्रयोग भी करना होता है। निम्नलिखित योग से इन लक्षणों में शीघ्र लाभ होता है—

Irgapyrine	tab 1
Acetyl salicylas	gr 4
Phenacetin	gr 2
Codein phos	gr $\frac{1}{8}$
	१ मात्रा

दिन में ३ बार गरम पानी से।

प्रतिश्याय की प्रारम्भिक स्थिति में शुल्वौषधियों तथा पेनिसिलीन आदि प्रतिजीवी वर्ग की औषधियों से लाभ नहीं होता किन्तु रोग के उत्तरकाल में पीला, हरा, गाढ़ा, बदबूदार कफ निकलने पर, नासा से गाढ़ा पूययुक्त स्राव होने पर इनका प्रयोग किया जा सकता है। वास्तव में यह परिणाम द्वितीयक उपसर्गों के कारण होते हैं। इनमें माला गोलाणु तथा स्तवक गोलाणु प्रधान होते हैं। नाक में डालने के लिये टाइरोथ्राईसिन-प्रोथ्राइसिन-नेवासल्फ आदि स्थानीय गुण करने वाली उपसर्गनाशक औषधियों का उपयोग करना चाहिये। अनेक बार स्वरयंत्र में विकृति होने के कारण गला जकड़ा हुआ तथा ध्वनि अवरुद्ध सी हो जाती है। इसमें पेनिसिलीन लाजेन्जेज व मिश्री के चूसने से लाभ होता है। गले में मेन्डल का पेन्ट या टिंक्चर फेरी परक्लोर ग्लिसरीन में मिलाकर लगाना चाहिये।

प्रतिश्याय में कास की संशामक चिकित्सा न करनी चाहिये, क्योंकि शरीर कास की उत्पत्ति करके दोष को श्वासप्रणाली में पहुँचने से रोकता है। बाद में गाढ़ा कफ हो जाने पर इसको निकालने के लिये निम्नलिखित क्वाथ देना चाहिये।

वनफ्सकादि क्वाथ—गुल वनफ्सा ३ मा०, मुलेठी ६ मा०, लिसोढ़ा २ मा०, अडूसा की पत्ती २ मा०, काली मिर्च १ आना भर, मुनक्का ६ मा०, सोंठ २ मा०; इनको ऽ॥ पानी में पका कर आधा पाव शेष रहने पर छान कर १ तोला मिश्री मिलाकर सुबह-शाम गरम-गरम पिलाना।

अनेक बार प्रारम्भ में विश्राम न करने, चाय या प्रतिश्याय को सुखाने वाले द्रव्यों का प्रयोग करने से कुछ समय के लिये लाक्षणिक शान्ति हो जाती है। किन्तु बाद में व्याधि अधिक जीर्ण रूप में पर्याप्त समय तक कष्ट देती रहती है। जीर्ण प्रतिश्याय में मुख्य उद्देश्य दोष-संशोधन रहता है। इसके लिये गुनगुने पानी में नीबू मिलाकर दिन में २-३ बार पिलाना या ताजा मठ्ठा कई बार पिलाना चाहिये। इससे प्रतिश्याय के अवरुद्ध दोष का शोधन हो जाता है और व्याधि ठीक हो जाती है।

जीर्ण प्रतिश्याय में प्रायः नासा की श्लेष्मलकला मोटी तथा सूक्ष्म संवेदनशील हो जाती है। उसमें सिलवर नाइट्रेट ५ प्रतिशत, प्रोटार्गल १० प्रतिशत या कोलार्गल १० प्रतिशत के घोल का प्रलेप करने से लाभ होता है। जिन रोगियों में बार-बार

प्रतिश्याय होने की प्रवृत्ति होती है उनमें इसका कुछ समय तक प्रयोग होने से पर्याप्त लाभ होता है। नासास्राव की रूक्षता के कारण तीव्र शिरःशूल, अर्धावभेदक आदि उपद्रव होते हैं। इनकी शान्ति के लिये अमोनिया सुँघाना या षड्बिन्दु तैल का नस्य देना लाभ करता है। नमक के घोल से नासागुहा को २-३ बार नियमित रूप से साफ करने से जीर्ण प्रतिश्याय में बहुत लाभ होता है।

पुनरावर्तन निरोध—सामान्यतया बार-बार प्रतिश्याय का आक्रमण होने में ३ कारण होते हैं। हीन स्वास्थ्य, नासा श्लेष्मल कला की ग्रहणशीलता तथा अनूर्जता-मूलक व्याधियों की साथ में उपस्थिति। अतः तीनों की पृथक्-पृथक् व्यवस्था करते हुए पुनरावर्तन-निरोध करना चाहिये। शारीरिक शक्ति की वृद्धि के लिये कैल्सियम, ग्लूकोनेट का सिरा द्वारा प्रयोग तथा जीवतिक्ति ए० डी० तथा सी० का पर्याप्त मात्रा में प्रयोग करना चाहिये। बच्चों में इस रोग से अनेक गम्भीर उपद्रव होते हैं, उनमें प्रतिश्याय निवृत्ति के बाद पर्याप्त समय तक ए० डी० व कैलसियम के योग देते रहना चाहिये। कुछ रोगियों में आत्मजनित मसूरी के प्रयोग से लाभ होता है। उसके अभाव में मिक्स्ड कैटारहल वैक्सिन (Mixed catarrhal vaccine) को क्रमवृद्ध मात्रा से देना चाहिये। कुछ रोगियों (श्लेष्मक प्रकृति) में रसोन स्वरस ५ बूंद से २० बूंद की मात्रा में क्रम से बढ़ाते हुये प्रयोग करने से पर्याप्त लाभ होता है। च्यवनप्राश, रसोनपिण्ड, खण्डखाद्यवलेह, बलाघृत, षट्पलघृत, छागलाद्यघृत के प्रयोग से स्वास्थ्य की सन्तोषजनक वृद्धि होकर प्रतिश्याय में पूर्ण लाभ हो जाता है।

पुनरावर्तन निरोध में निम्नलिखित व्यवस्था से पर्याप्त लाभ होता है—

१.	महालक्ष्मीविलास	१ र०
	शृङ्गभस्म	१ र०
	शुद्धमनःशिला	$\frac{१}{४}$ र०
	मधुयष्टी चूर्ण	३ मा०
		१ मात्रा

सबेरे तथा शाम को १ तोला मक्खन या गाय का घी तथा मिश्री के साथ, ऊपर से दूध का सेवन।

२. खण्डखाद्यवलेह १-२ माशा की मात्रा में रात में दूध के साथ या वासावलेह १-२ तोला की मात्रा में दूध से। नासागुहा में दूषित पूय के न होने पर वासा के प्रयोग से बहुत लाभ होता है।

देश-काल-प्रकृति का विचार करते हुये निम्नलिखित योगों का कुछ समय प्रयोग करने से पुनरावर्तन-निरोध होता है।

कच्ची अदरक, कच्ची हल्दी प्रत्येक ३-३ माशा

गोघृत ½ तोला में भूनकर ½ तोला पुराना गुड़ मिलाकर रात में सोते समय गरम दूध के साथ देना चाहिये।

सूर्योदय के पूर्व उषःपान करना; ताजे पानी में नीबू का रस मिलाकर पीने तथा धीरे-धीरे बढ़ाते हुये नाक से सादा पानी खींचने से भी लाभ होता है। इन प्रयोगों से कुछ समय के लिये रोग में लाक्षणिक वृद्धि हो सकती है किन्तु उत्तरोत्तर शरीर की सहनशीलता बढ़ती जाती है जिससे रोग का पुनरावर्तन नहीं होता। नासा एवं गले की सूक्ष्म संवेदनशीलता के उपशम के लिये निम्नलिखित व्यवस्था करनी चाहिये—

१. ऊपर निर्दिष्ट सिलवर नाइट्रेट-प्रौटार्गल आदि का स्थानीय प्रलेप।

२. नासार्बुद-ग्रंथि तथा श्लेष्मल कला की विकृति में क्षार कर्म, दाह या विद्युद् दाह (Electric cauterization) कराना चाहिये।

३. पञ्चगुण तैल, षड्बिन्दु तैल, वासाघृत, चित्रक घृत से नासा प्रपूरण करना चाहिये। इनमें रूई या मुलायम कपड़ा भिगो कुछ समय तक नाक में रखने से लाभ होता है।

४. अस्थिविवर-शोथ का अत्यधिक कष्ट बढ़ जाने पर शल्य कर्म की अपेक्षा होती है।

प्रतिषेध—स्वास्थ्यकर जल-वायु में निवास, निदानोक्त कारणों का परिवर्जन तथा पोषक सन्तुलित आहार-विहार का नियमित प्रयोग। ऋतु-परिवर्तन के समय विशेष सावधानी, शीतोष्ण-विपर्यय से बचाव। नासा एवं गले के रोगों की उचित व्यवस्था। हीन-क्षमताकारक रोगों से मुक्त होने के उपरान्त पोषक एवं बलकारक औषधों का प्रयोग।

प्रतिश्याय से पीड़ित रोगी को पृथक् रखना, खाँसते-छींकते समय वस्त्र से मुख-नाक ढँकना। आत्मजनित मसूरी का जीर्ण रोगियों में प्रयोग।

दण्डक ज्वर (Dengue)

दण्डक ज्वर विषाणु के उपसर्ग से होने वाला तीव्र स्वरूप का औपसर्गिक ज्वर है, जिसमें सन्ताप का अनुबन्ध बीच में कम होकर पुनः बढ़ता है तथा सारे शरीर में—विशेषकर अस्थियों एवं सन्धियों में—जकड़ाहट एवं तीव्र वेदना होने के कारण शरीर दण्ड के समान कड़ा हो जाता है। प्रायः पाँचवें से सातवें दिन के बीच विशेष प्रकार के विस्फोट निकलते हैं।

दण्डक ज्वर मुख्यतया उष्ण कटिबन्ध के प्रदेशों में, वसन्त एवं वर्षा ऋतु में पाया जाता है। इसका विषाणु विशेष प्रकार के मच्छर (Aedes Aegypti) के द्वारा संवाहित होता है। कभी-कभी जानपदिक स्वरूप का आक्रमण भी हुआ करता है। समुद्र के निकट के प्रदेशों—बम्बई, मद्रास, उड़ीसा, बंगाल आदि—में इसका स्थानपदिक आक्रमण कुछ न कुछ बना रहता है। प्रायः सभी व्यक्ति समान रूप से पीड़ित हुआ करते हैं। विशिष्ट प्रतिकारक-शक्ति क्रम से बढ़ती जाती है। अतः व्यक्ति जीवन में

२–३ बार से अधिक पीड़ित नहीं होते। स्थानीय लोगों के शरीर में इस प्रकार कुछ न कुछ क्षमता मन्द स्वरूप के आक्रमणों से उत्पन्न हो जाती है। अतः नवागन्तुक ही इससे अधिक पीड़ित हुआ करते हैं। संक्षेप में विषाणु के द्वारा रोगोत्पत्ति, वाहक मच्छर के द्वारा प्रसार एवं अनुकूल जल-वायु द्वारा रोग का संवर्धन होता है।

लक्षण—दण्डक ज्वर का सञ्चय-काल विषाणु का उपसर्ग होने के उपरान्त ५ से ७ दिन तक का होता है। इसके मुख्य लक्षण विशिष्ट प्रकार का तीव्र ज्वर, सर्वाङ्ग-वेदना एवं विस्फोट हैं। इस रोग की निम्नलिखित अवस्थायें होती हैं।

आक्रमण-काल—इस अवस्था की अवधि ३–४ दिन की होती है। सञ्चयकाल के उपरान्त ज्वर अकस्मात् शीत या कम्प के साथ तीव्र स्वरूप का हो जाता है। प्रथम दिन ज्वर का वेग सर्वाधिक १०४° तक होता है। सन्ताप के अतिरिक्त कपाल में तीव्र वेदना, त्रिक-कटि-नेत्रगोलक एवं शाखाओं की सन्धियों में भेदनवत् पीड़ा मालूम पड़ती है। जिह्वा मलावृत, आकृति-नेत्र-मुख एवं त्वचा रक्तवर्ण की हो जाती है। त्वचा में स्पर्शासह्यता (Hyperesthesia) भी होती है, जिसके कारण रोगी को पर्याप्त सर्वाङ्ग-वेदना होने पर भी शरीर दबवाने या आसन परिवर्तन में कष्ट होता है। वमन, शिरःशूल, नाड़ी की मन्दता, क्वचित् ग्रीवा की स्तब्धता भी उत्पन्न होती है। यह लक्षण मस्तिष्क-सुषुम्नाद्रव का अन्तर्निपीड बढ़ जाने के कारण होते हैं। क्वचित् ग्रीवा की लसग्रन्थियाँ भी बढ़ जाती हैं। ज्वर दूसरे दिन से कुछ कम होने लगता है। प्रायः ४–५वें दिन स्वाभाविक अंश तक आ जाता है।

अवरोहावस्था (Remission)—इस अवस्था में सर्वाङ्ग-वेदना एवं ज्वरादि सभी लक्षणों का शमन होकर रोगी को सुख का अनुभव होता है। जिह्वा स्वच्छ एवं ज्वर प्रायः २–३ दिन तक प्राकृत रहता है।

विस्फोट एवं तापवृद्धि—इस अवस्था की अवधि भी प्रायः २-३ दिन की होती है। तीव्र ज्वर, विशेष प्रकार के विस्फोट, मन्द नाड़ी एवं श्वेत कणापकर्ष इस अवस्था के मुख्य लक्षण हैं। ज्वर के साथ ही सर्वाङ्ग-वेदना, बेचैनी आदि लक्षणों की पुनः वृद्धि हो जाती है। ज्वर बढ़ने के साथ ही प्रायः रोमान्तिका के समान रक्तवर्ण के विस्फोट पृथक्-पृथक्, हस्त-पाद तल से प्रारम्भ होकर वक्ष-पृष्ठ एवं शाखाओं में फैल जाते हैं। चेहरे पर प्रायः विस्फोट नहीं निकलते। २–३ दिन में ही विस्फोट मुरझाने लगते हैं और भूसी-सी शरीर से अलग होकर अनुक्रम से इनका पूर्ण शमन हो जाता है। दाने मिट जाने के बाद भी हस्त-पादतल में कुछ खुजली बनी रहती है। दण्डक ज्वर के मुख्य लक्षणों में विशेष प्रकार का अवरोहयुक्त सन्ताप (Saddle back)-तीव्र सर्वाङ्ग-वेदना एवं मन्द नाड़ी तथा अन्तिम रूप से ज्वर मोक्ष के पूर्व रक्तवर्ण के विस्फोटों की उत्पत्ति का महत्त्व है।

सापेक्ष्य निदान—१. शीतपूर्वक तीव्र ज्वर प्रारम्भ से होने के कारण रोमान्तिका,

---

[सूरिका, इन्फ्लुएञ्जा, विषम ज्वर, लोहित ज्वर और आमवात ज्वर से मुख्यतया सका भेद करना चाहिये। २. विस्फोट निकलने के बाद निदान में अधिक दिक्कत नहीं ोती। ३. इन्फ्लुएञ्जा में श्वसन-संस्थान की विकृति अधिक होती है और दण्डक में र्वाङ्ग-वेदना अधिक होती है तथा नाड़ी की मन्दता दण्डक में अधिक एवं इन्फ्लुएञ्जा ां नाड़ी ज्वरानुपात में तीव्र होती है।

रोगविनिश्चय—मध्य विरामयुक्त तीव्र ज्वर, नेत्रगोलक-कपाल-कटि एवं अस्थि-सन्धियों में भेदनवत् पीड़ा, ज्वरानुपात में नाड़ी की मन्दता, श्वेत कणापकर्ष—प्रायः २००० से ४००० तक, लसकायाणुओं की वृद्धि—प्रायः ५०-६०% तक एवं अन्य औप-सर्गिक जीवाणुओं की अनुपस्थिति, ज्वरारम्भ के ६ठे या ७वें दिन हथेली से प्रारम्भ होकर मध्य शरीर एवं शाखाओं में विस्फोटों की उत्पत्ति, मानसिक अवसाद एवं ज्वर की स्वयं मर्यादितता के आधार पर दण्डक ज्वर का निर्णय हो सकता है। इसके लक्षणों में अत्यधिक विविधता होने के कारण प्रायः बिना निदान हुये ही रोगी ज्वरमुक्त हो जाता है।

उपद्रव व अनुगामी विकार—सामान्यतया दण्डक ज्वर में कोई विशेष उपद्रव नहीं होते। क्वचित् कर्णमूलिक शोथ, वृषणशोथ, रक्तस्राव, नेत्राभिष्यन्द एवं गर्मियों के दिनों में परम सन्ताप होने की सम्भावना होती है। रोगमुक्ति के बाद भी कुछ समय तक शारीरिक और मानसिक दौर्बल्य, सन्धियों और पेशियों की पीड़ा आदि अनुगामी विकार हुआ करते हैं।

साध्यासाध्यता—यह स्वयं मर्यादित स्वरूप का सुखसाध्य ज्वर है, जिसमें घातकता प्रायः नहीं के बराबर होती है। वृद्धों एवं बालकों की रक्तस्राव या अति तीव्र सन्ताप-जन्य अवसाद के कारण क्वचित् मृत्यु हो सकती है।

सामान्य चिकित्सा—रोगी को एक सप्ताह तक बिस्तर पर पूर्ण विश्राम करना चाहिये। मच्छरदानी का प्रयोग रोग के प्रसार का प्रतिषेध करने के लिये आवश्यक है। सुखशय्या-वात प्रविचार युक्त कमरा तथा मनःप्रसादकर वातावरण रोगी को शान्ति देता है।

उबाल कर ठण्डे किये गर्म जल से शरीर को पोंछना सन्ताप एवं बेचैनी के शमन के लिये उपयोगी होता है। हृल्लास एवं वमन होने पर बरफ का टुकड़ा चूसने के लिये देना अथवा बड़ी इलायची एवं लौंग का पानी, शतपुष्पार्क व पर्पटार्क पीने के लिये देना अच्छा है। आहार की दृष्टि से प्रथम दो दिन उबाला हुआ पानी अधिक से अधिक मात्रा में पीने के लिये देना चाहिये। तीसरे दिन से फलों का रस, यवपेया या ग्लूकोज पानी में मिलाकर थोड़ा-थोड़ा पीने के लिये दिया जा सकता है। हृल्लास एवं वमन की शान्ति हो जाने के बाद तथा रुचि होने पर मुद्ग यूष, दूध, साबूदाना, लाजमण्ड इत्यादि हल्का सुपाच्य आहार दिया जा सकता है।

ज्वरारम्भ में ही मलशुद्धि के लिये विभक्त मात्रा में रसपुष्प (Calomel) प्रयोग और बाद में Mag sulph का विरेचन देना चाहिये। यष्ट्यादि चूर्ण, चु चूर्ण या दूसरे स्रंसक योगों से भी कोष्ठशुद्धि करायी जा सकती है। किन्तु रसपु प्रयोग से वमनादि पैत्तिक लक्षणों का शमन शीघ्र होता है।

तीव्र ज्वर होने पर सिर पर बरफ की थैली रखना, अक्षिगोलक की वेदन शान्ति के लिये बरफ के टुकड़े को कपड़े में लपेट कर आँख के ऊपर रखना सर्वांग-वेदना के लिये लिनिमेन्ट कैम्फर (Liniment camphor) में Met salicylate मिलाकर या Vics vaporub, Wintogeno आदि को हल्के से लगाकर ज्वर कम होने पर कपड़े से बाँधना चाहिये।

औषध चिकित्सा—दण्डक ज्वर की कोई विशिष्ट औषधि नहीं है। मुख्य लाक्षणिक चिकित्सा ही की जाती है। निम्नलिखित योग सामान्यतया व्य किया जाता है।

Soda salicylas	gr 10
Soda bi carb	gr 20
Tr belladonna	m 10
Tr card co	m 10
Syp aurantii	dr. one
Aqua	oz one
	१ मात्रा

दिन में ३ बार।

शरीर में अत्यधिक सर्वांग-वेदना होने पर वेदना-शान्ति के लिये Irgap या Novalgin का सूचीवेध दिया जा सकता है। इनसे वेदना के अतिरिक्त र भी शमन होता है। निम्न योग भी अच्छा वेदनाहर है।

Aspirin	gr 3
Phenacetin	gr 2
Cibalgin	1 tab
Caffeine citras	gr 2
Soda bi carb	gr 5
	१ मात्रा

प्रति ६ घण्टे पर गरम जल के साथ।

निद्रानाश होने पर इसी योग में Caffeine के स्थान पर Amy Sodium gardenol १ ग्रेन की मात्रा में मिलाया जा सकता है। दण्डक सर्वांग-वेदना के अतिरिक्त रोगी को अत्यधिक मानसिक एवं शारीरिक दौर्बल्य अनुभव होता है। निम्नलिखित योग देने से इन लक्षणों में पर्याप्त लाभ होगा।

वेतालरस	१ र०
मृत्युञ्जय	१ र०
कृष्णचतुर्मुख	१ र०
गुडूचीसत्त्व	४ र०
	३ मात्रा

भुनी अजवायन का चूर्ण मिलाकर मधु के साथ दिन में ३ बार।

विशाल क्षेत्रक प्रतिजीवी औषधों का—विशेषकर Acromycin और Ilotycin का—प्रयोग कुछ रोगियों में सफलतापूर्वक किया गया है। किन्तु ज्वर के स्वयं मर्यादित एवं निरुपद्रुत होने के कारण बहुव्ययसाध्य इन औषधों का प्रयोग निरर्थक ही होता है।

बल-संजनन—दण्डक ज्वर से मुक्त होने के बाद सबल होने के लिये पर्याप्त समय लग जाता है। अतः ज्वर-मोक्ष के बाद से ही Easton's syrup भोजनोत्तर दोनों समय तथा Syrup Minadex आदि पौष्टिक एवं बल कारक योगों का व्यवहार प्रातः सायं दूध के साथ करना चाहिये। निम्नलिखित योग ज्वरोत्तरकालीन दुर्बलता का शमन शीघ्र करता है।

सिद्धमकरध्वज	½ र०
स्वर्ण वसन्तमालती	½ र०
नवायसलौह	२ र०
शुद्ध कुपीलु	½ र०
प्रवाल	१ र०
सितोपलादि	१ मा०
	१ मात्रा

प्रातः सायं मधु के साथ। भोजनोत्तर अश्वगन्धारिष्ट १-२ तो० की मात्रा में समान जल के साथ देना चाहिये।

शरीर में मर्दन के लिये चन्दनबलालाक्षादि तैल या बला तैल प्रयुक्त करना चाहिये।

प्रतिषेध—मच्छरों द्वारा प्रसार होने पर विषम ज्वर प्रकरण में उल्लिखित साधनों के द्वारा मच्छरों का विनाश करना चाहिये। रोग का प्रसार रोगी व्यक्ति को मच्छरों के काटने के बाद पुनः उनके द्वारा स्वस्थ व्यक्तियों के काटे जाने से होता है। अतः रोगी को पृथक मच्छरदानी के भीतर रखना चाहिये।

ग्रन्थिक ज्वर (Plague)

तीव्र विषमयता, लसग्रन्थियों की वृद्धि, सर्वाङ्ग-वेदना आदि लक्षणों के साथ उत्पन्न होने वाला तीव्र ज्वर ग्रन्थिक ज्वर कहा जाता है। यह तीव्र औपसर्गिक ज्वर है, जिसका

कभी-कभी मरक के रूप में आक्रमण होने पर असंख्य व्यक्ति पीड़ित होते हैं। इस रोग का मुख्य कारण प्लेग दण्डाणु (बैसिलस पेस्टिस–B. Pestis) है, जिसका संवाहक पिस्सू होता है। पिस्सू एक छोटा भुनगा है, जो चूहों-गिलहरियों-नेवलों के शरीर में रहा करता है, किन्तु मनुष्यों के साथ चूहों का ही सम्बन्ध होने के कारण गिलहरी और नेवले आदि का रोग-प्रसार में विशेष महत्त्व नहीं होता। पिस्सू के शरीर में असंख्य प्लेग दण्डाणु रहते हैं, अनुकूल देश-काल-परिस्थिति होने पर पिस्सू के दंश से चूहों में व्याधि का आक्रमण होता है। प्रारम्भ में बड़ी नाली, मोरी आदि में रहने वाला काला चूहा इनसे आक्रान्त होता है क्योंकि नम व ठण्डे स्थान में ही पिस्सुओं के शरीर में जीवाणुओं की वृद्धि होती है। धीरे-धीरे बड़े चूहों के रुग्ण होने के बाद, उनके इधर-उधर दौड़ने से घर में रहने वाले चूहों में पिस्सुओं का प्रसार होता है और पिस्सुओं के दंश से घर के चूहे भी रोगाक्रान्त होने लगते हैं। अधिक संख्या में चूहों के मर जाने पर पिस्सू रक्त चूसने की खोज में मनुष्यों पर आक्रमण करता है। पिस्सू अधिक उड़ नहीं सकता, केवल एक-दो फीट उछलता है, इसलिये मुख्यतया पैरों में ही अथवा लेटे रहने पर हाथों में भी आक्रमण करता है। इस प्रकार प्लेग प्रारम्भ में चूहों की व्याधि है, उनके मर जाने पर मनुष्यों में तृणाणुओं का पिस्सू-दंश द्वारा संक्रमण होता है।

यह रोग वर्षा के बाद क्रमिक रूप में बढ़ता है और शीत ऋतु से बसन्त पर्यन्त पर्याप्त तीव्र रूप धारण कर लेता है। जीवाणुओं की वृद्धि नम जल-वायु में हो सकती है; रूक्ष एवं उष्ण जल-वायु में नहीं, इसीलिये ग्रीष्म ऋतु एवं रूक्ष जल-वायु वाले प्रदेशों में इसका प्रसार कम होता है। अनाज की मंडियों में या जहाँ पर अधिक चूहे रहते हैं या गन्दे सीड़ युक्त अप्रकाशित मकानों में इनका प्रसार अधिक होता है। बहुत से स्थानों में नियमित रूप से प्रतिवर्ष इसका आक्रमण होता रहता है। साधारण स्थिति में ग्रंथिक ज्वर का निदान आसान नहीं होता—विशेषकर दोषमय प्लेग का। मरक के समय तीव्र ज्वर और लस-ग्रंथियों की वृद्धि का सम्बन्ध होने पर उसका अनुमान किया जाता है।

पिस्सू-दंश द्वारा दण्डाणुओं का शरीर में प्रवेश होने पर कुछ रोगियों में दंशस्थान विस्फोटयुक्त होता है। दण्डाणुओं का शरीर में प्रसार होने पर लसग्रंथि-शोथ होता है। पैर में दंश होने पर वंक्षण तथा हाथ में दंश होने पर कक्षा की ग्रंथियाँ प्रारम्भिक स्थिति में विकृत हुआ करती हैं। दण्डाणुओं की अत्यधिक संख्या तथा शरीर की हीन प्रतिक्रिया होने पर रक्त के द्वारा सारे शरीर में दोष का प्रसार होकर तीव्र विषमयता के लक्षण उत्पन्न होते हैं। कभी कभी दोष का अधिष्ठान मुख्यतया फुफ्फुस में होता है, जिससे फुफ्फुस-पाकवत् गम्भीर लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार मस्तिष्कावरण में दण्डाणुओं का मुख्यतया संक्रमण होने पर मस्तिष्कावरणीय लक्षणों की प्रधानता होती है। यदि दोष बहुत अल्प मात्रा में हो या रोगी को पहले

मसूरी का प्रयोग कराया जा चुका हो तो प्लेग के लक्षण अधिक सौम्य स्वरूप के हो सकते हैं। वास्तव में प्लेग के दण्डाणुओं का लसग्रंथियों में ही विशेष अधिष्ठान होने पर ग्रंथिक ज्वर उत्पन्न होता है और रक्त के द्वारा दोष का सारे शरीर में प्रसार हो जाने पर दोषानुरूप विभिन्न अवस्थायें फुफ्फुस, मस्तिष्क आदि अधिष्ठानों के आधार पर होती हैं। लक्षण विशेषता के आधार पर प्लेग के मुख्य निम्नलिखित वर्ग किये जा सकते हैं।

क्षुद्रप्लेग (Pestis minor)—दण्डाणुओं के प्रवेश स्थल में विस्फोटोत्पत्ति, सम्बन्धित लसग्रंथियों की वृद्धि तथा मंद स्वरूप का ज्वर होता है। इसमें गम्भीर लक्षण न होने के कारण अनेक बार निदान हो नहीं हो पाता। कभी-कभी दस-बारह दिन बाद लक्षणों में आकस्मिक वृद्धि होकर विषमयता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

ग्रंथिक प्रकार (Bubonic plague)—सर्वाङ्ग-वेदना के साथ शीतपूर्वक तीव्र ज्वर, बेचैनी, मस्तकशूल, मद्यप की सी आकृति, नेत्र रक्तवर्ण के चमकीले तथा जिह्वा को बाहर निकालने में असमर्थता, बोलने-चालने में लड़खड़ाहट, अवसाद एवं अत्यधिक क्लान्ति होती है। मस्तिष्क के ऊपर विष एवं ज्वर का प्रभाव होने के कारण प्रलाप, तन्द्रा उत्पन्न होती है। संक्षेप में रोगी में ज्वर के अतिरिक्त मदात्यय के-से लक्षण होते हैं। दूसरे दिन आक्रान्त अंग की लसग्रंथियाँ वेदना एवं शोथ युक्त होती हैं। परीक्षा करने पर ग्रंथि के ऊपर की त्वचा रक्तवर्ण की शोथयुक्त होती है। वेदना एवं त्वक् शोथ के कारण ग्रन्थिवृद्धि की ठीक परीक्षा सम्भव नहीं होती। अतः वंक्षण, कक्षा, अधोहन्वी, ग्रैविक लसग्रन्थियों की परीक्षा विशेष रूप से करनी चाहिये। अधिकांश रोगियों में प्राथमिक ग्रन्थि वंक्षण में ही निकलती है। वेदना के कारण रोगी पैर को सिकोड़े हुए तथा कक्षा में ग्रन्थि होने पर हाथ को बाहर की ओर फैलाये हुये रहता है। यदि दोष का केवल ग्रन्थियों में ही संकेन्द्रण रहा और रोगी की प्रतिकारक शक्ति उत्तम रही तो ५–६ दिन में ग्रन्थियों में पूयोत्पत्ति होकर विद्रधि बनती है। शल्य कर्म द्वारा पूय निर्हरण कर देने पर रोगी धीरे-धीरे स्वस्थ हो जाता है। किन्तु रोगी की प्रतिकारक शक्ति क्षीण होने पर दूसरे-तीसरे दिन से ही हृदय एवं नाड़ी की क्षीणता एवं गति में तीव्रता, हीन रक्त-निपीड, आन्तरिक रक्तस्राव, मूत्राल्पता, शुक्लिमेह, प्रलाप, मूर्च्छा, सँन्यास आदि गम्भीर लक्षण उत्पन्न होकर छठे या सातवें दिन रोगी की मृत्यु हो जाती है। सौम्य स्वरूप होने पर ज्वर ५ वें दिन से क्रमिक रूप में शान्त होने लगता है। ज्वर अर्धविसर्गी या सन्तत स्वरूप का होता है।

दोषमय प्रकार (Septicaemic plague)—ग्रन्थिक स्वरूप के बाद अथवा स्वतन्त्र रूप में सारे शरीर में दण्डाणुओं का प्रसार हो जाने पर दोषमयता उत्पन्न होती है। तीव्र मस्तकशूल, सर्वांगवेदना, वमन के साथ शीतपूर्वक ज्वर, श्वसन की

तीव्रता, समस्त शरीर की लसग्रन्थियों की वृद्धि, प्लीहावृद्धि, विभिन्न अंगों में रक्तस्राव, तीव्र बेचैनी, प्रलाप, अवसाद, तन्द्रा, मूर्च्छा, संन्यास आदि गम्भीर स्वरूप के लक्षण होते हैं। इसके द्वारा रोगी की मृत्यु प्रायः तीसरे-चौथे दिन हो जाती है। ६–७ दिन तक रोगी के बच जाने पर प्रारम्भिक ग्रंथि फूलती है तथा लक्षणों में सौम्यता होकर बचने की आशा हो जाती है। रक्त-परीक्षा में प्लेग दण्डाणु की अधिक संख्या में उपलब्धि होती है।

फौफ्फुसिक प्रकार (Pneumonic plague)—ग्रन्थिक प्लेग में उपद्रव स्वरूप अथवा कभी-कभी प्रारम्भिक रूप में भी फुफ्फुस में रोग का प्रारम्भ होता है। कक्षा-ग्रन्थियों की वृद्धि होने पर फुफ्फुस में दण्डाणुओं का अधिष्ठान अधिक सम्भव है। रोगी के ष्ठीवन में खाँसते-छींकते-बोलते समय सूक्ष्म कणों के साथ असंख्य जीवाणु बिन्दूत्क्षेपों के साथ बाहर निकलते रहते हैं, जिनका समीपवर्ती स्वस्थ व्यक्तियों में संक्रमण होने पर फौफ्फुसिक विकार प्रारम्भ से ही उत्पन्न होता है। दूषित जल-वायु तथा फुफ्फुस की दूसरी व्याधियों से आक्रान्त व्यक्तियों में यह उपद्रव अधिक होता है। वमन एवं शीत के साथ ज्वर का आक्रमण, शिरःशूल, भ्रम, वैचित्य, हस्त-पाद वेदना, वक्ष में स्तब्धता एवं कास के लक्षण प्रारम्भ में होते हैं। नाड़ी और श्वास की गति अत्यधिक तीव्र, श्वास कभी-कभी ७०–८० प्रति मिनट तक होता है। तन्त्वि की कमी के कारण श्लेष्मा अधिक चिपचिपा नहीं होता, इसलिये ष्ठीवन अधिक मात्रा में पतला, झागदार रक्त-हरित वर्ण का होता है, जिसे रोगी अर्ध चेतना के कारण इधर-उधर थूकता रहता है। फुफ्फुस के स्थानीय लक्षण फुफ्फुसपाक के समान घनता-मन्दता युक्त अल्प स्वरूप में होते हैं। किन्तु लक्षणों की तुलना में रोगी के बेचैनी, मूर्च्छा, प्रलाप आदि लक्षणों की तीव्रता के आधार पर साधारण फुफ्फुसपाक से इसका पृथक्करण किया जा सकता है। प्राणवायु की कमी के कारण आकृति में श्यावता या नीलिमा, शरीर के विविध अङ्गों में रक्तस्राव तथा हृदय-दौर्बल्य के कारण दो-तीन दिन के भीतर ही रोगी की मृत्यु हो जाती है। प्राथमिक ग्रन्थि की वृद्धि नहीं होती, कभी-कभी त्वचागत ग्रन्थियाँ कुछ शोथयुक्त पायी जाती हैं।

मस्तिष्कगत प्रकार (Meningeal plague)—सामान्यतया फौफ्फुसिक, ग्रन्थिक एवं दोषयुक्त अवस्थाओं में उपद्रव स्वरूप मस्तिष्क सुषुम्ना ज्वर के समान प्रारम्भ से ही तन्द्रा, प्रलाप, आक्षेप, मूर्च्छा, संन्यास आदि गम्भीर लक्षण मिलते हैं। मस्तिष्क-सुषुम्ना द्रव के निपीड की वृद्धि और उसमें प्लेग दण्डाणुओं की अधिक संख्या में उपस्थिति सूक्ष्म परीक्षण द्वारा मिलती है।

रोग-विनिश्चय—संक्रामक दण्डाणुओं का मुख्य अधिष्ठान आन्त्र में होने पर वमन, पित्त एवं रक्त मिश्रित दुर्गन्धित प्रवाहिका; त्वचा में होने पर त्वचाशोथ, रक्तस्राव, विद्रधि, जहरवात (Carbuncle) आदि लक्षण होते हैं। आकस्मिक रूप में शीत-

पूर्वक तीव्र ज्वर, रक्त वर्ण के चमकदार शोथयुक्त नेत्र एवं आकृति, त्वचा शुष्क एवं उष्ण, नाड़ी की गति तीव्र, कभी-कभी अनियमित तथा क्रमिक रूप में नाड़ी के तनाव एवं विस्फार का ह्रास, लसग्रन्थियों की वृद्धि, अत्यधिक बेचैनी, तन्द्रा, प्रलाप, मूर्च्छा, संन्यास आदि लक्षणों के द्वारा प्लेग का अनुमान होता है। वास्तव में मरक के समय इन लक्षणों के उपस्थित होने पर प्लेग का निदान आसानी से हो सकता है अन्यथा एक-दो दिन तक व्याधि का स्वरूप अस्पष्ट ही रहता है। मरक स्थान से रोगी के आने-जाने का सम्बन्ध, रोगारम्भ के पूर्व चूहों के मरने का इतिहास तथा ज्वर के साथ मदात्यय के से लक्षण होते हैं। रक्त-परीक्षा में श्वेत कायाणुओं की वृद्धि—प्रायः पन्द्रह-बीस हजार से अधिक, बहु केन्द्रियों की अत्यधिक वृद्धि तथा उनमें विषमयता के कण (Toxic granulation) मिलते हैं। ष्ठीवन, मस्तिष्क-सुषुम्ना द्रव एवं लसग्रंथियों के वेधन से प्राप्त स्राव की सूक्ष्मदर्शक से परीक्षा करने पर प्लेग दण्डाणु की उपस्थिति से रोग का असंदिग्ध निर्णय हो जाता है।

उपद्रव—रक्तस्राव, पूयमयता, हृदयातिपात, फुफ्फुस पाक, कर्दम (Gangreen), कर्णमूलशोथ, मूकता, बधिरता, वृक्कशोथ, वमन, अतिसार, सगर्भा स्त्रियों में गर्भस्राव, आक्षेपक आदि उपद्रव मुख्य रूप से होते हैं।

सापेक्ष्य निदान—उपदंश या फिरङ्ग जन्य वंक्षण ग्रन्थि, श्लीपद, घातक विषम ज्वर, फुफ्फुसपाक, मस्तिष्कावरण शोथ, आन्त्रिक ज्वर तथा पूयविषमयता से प्लेग का विनिश्चय करना चाहिये।

सामान्य चिकित्सा—प्लेग बहुत तीव्र स्वरूप का घातक ज्वर है, जिसमें हृद्दौर्बल्य, प्रलाप, बेचैनी आदि लक्षण होते हैं। प्रारम्भ से ही रोगी को सुप्रकाशित वातप्रविचार युक्त कमरे में रखना, सारे कमरे में डी. डी.टी. की गैस के द्वारा पूर्ण संशोधन करना—विशेषकर कोने और नम-स्थल तथा फर्श का, प्रातः-सायं नीम की पत्ती, लोहबान, गुग्गुलु जलाकर कमरे में धुआँ करना, कोमल शय्या में रोगी को पूर्ण विश्राम देना आवश्यक होता है। ज्वर की शान्ति के लिये सिर पर बरफ की थैली, शीतल पट्टी, प्रलेप आदि लगाना, विषमयता दूर करने के लिये क्षार पानक, ग्लूकोज (सोडाबाई कार्ब जल ८ : १ : ३२) के घोल को या डाभ का पानी, षडंग-पानीय आदि पर्याप्त मात्रा में पीने को देना। मूत्र नियमित रूप से १–१॥ सेर की मात्रा में होता रहे, इतना जल देना। मलावरोध होने पर उसके दूर करने के लिये यष्ट्यादि चूर्ण, अल्प मात्रा में कैलोमल-मैगसल्फ का प्रयोग अथवा रोग के उत्तर काल में वस्ति के द्वारा मलशोधन करना आवश्यक होता है। प्लेग में प्रारम्भ से ही हृद्दौर्बल्य रहा करता है, अतः २ चम्मच की मात्रा में मद्य का दिन में ३–४ बार प्रयोग करना और निद्रानाश, प्रलाप, बेचैनी आदि कष्टकारक लक्षणों की शान्ति के लिये लाक्षणिक उपचार आवश्यक होता है। इसमें रक्तस्राव की प्रवृत्ति होती है, अतः प्रारम्भ से ही रक्तस्रावावरोधक जीवतिक्ति के. सी. कैलसियम आदि

का प्रयोग करना, ग्रन्थिक प्रकार में स्थानिक उपचार तथा फौफ्फुसिक प्रकार में सुँघाने के लिये औषधियों का प्रयोग विशेष लाभ करता हैं। तीव्र विषमयता के कारण रोगी प्रारम्भिक दिनों में आहार के प्रति रुचि नहीं रखता, अतः केवल उष्णोदक दिया जाता है। रुचि होने पर यवपेया, लाजमण्ड, पटोल यूष, मुद्ग यूष, पञ्चकोल शृत दुग्ध, मुनक्का, रस वाले फल—मुसम्मी, सन्तरा दिये जा सकते हैं।

नवीन औषधियों के प्रयोग से प्लेग में शत-प्रतिशत सफलता मिल सकती है, यदि इन औषधियों का प्रयोग रोग का आक्रमण होते ही प्रारम्भ कर दिया जाय। अतः प्लेग की चिकित्सा उसका शीघ्र निदान माना जाता है।

औषध-चिकित्सा—

स्ट्रेप्टोमाइसिन—प्लेग की यह सर्वोत्तम औषधि है। स्ट्रेप्टोमाइसिन तथा डाइ हाइड्रो स्ट्रेप्टोमाइसिन दोनों का समान रूप में प्रयोग किया जाता है। प्रथम २ दिन तक एक ग्राम प्रति ६ घण्टे पर पेशी के द्वारा सूचिकाभरण के रूप में प्रयोग करना चाहिये। प्रायः २ दिन में पर्याप्त लाभ हो जाता है। तीसरे दिन से दिन में २ बार १२ घण्टे के अन्तर पर १ ग्राम की २ मात्रायें देनी चाहिये। पाँचवें दिन के बाद प्रायः इसके प्रयोग की अपेक्षा नहीं होती, किन्तु फौफ्फुसिक तथा दोषमय (Pneumonic & Septicaemic) इत्यादि भेदों में एक ग्राम की दैनिक मात्रा में ३-४ दिन तक बाद में भी अवश्य देना चाहिये। ग्रंथिक प्लेग में ½ ग्राम स्ट्रेप्टोमाइसिन ५०००० पेनिसिलीन को ४ सी० सी० परिस्रुत जल में मिलाकर ग्रन्थिवेध के रूप में सूचिकाभरण करना चाहिये। इससे ग्रन्थिगत दण्डाणु का शीघ्र नाश हो जाता है। किन्तु स्थानीय प्रयोग के साथ पेशी द्वारा प्रयोग होते ही रहना चाहिये। फौफ्फुसिक प्लेग में स्ट्रेप्टोमाइसिन का चूर्ण एरियोसोल (Areosol) के द्वारा सुघाने से फुफ्फुसगत प्लेग दण्डाणु शीघ्र नष्ट हो जाता है। मस्तिष्कावरणीय प्लेग में कटिवेध के द्वारा मस्तिष्क सुषुम्ना जल का शोधन करने के उपरान्त स्ट्रेप्टोमाइसिन ½ ग्राम को ५० सी० सी० समलवण जल में मिलाकर सुषुम्ना मार्ग से दिया जाता है। रोग का शीघ्र निदान हो जाने पर केवल पेशी द्वारा प्रयोग से ही पूर्ण लाभ हो जाता है, दूसरे मार्गों से देने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती।

शुल्वौषधियाँ—स्ट्रेप्टोमाइसिन के आविष्कार के पूर्व शुल्वौषधियों का प्रयोग पर्याप्त सफलता के साथ किया जाता रहा है। सल्फाडायजिन, सल्फा मेजाथिन, एल्कोसिन का प्रयोग विशेष लाभकारक होता है। वमन आदि न होने पर केवल मुख द्वारा प्रयोग करने से लाभ हो जाता है अन्यथा सिरा द्वारा सोडियम सल्फा डायजिन, सोल्यूथाय-जोल या सोल्यूसेप्टेसिन का ४ ग्राम की मात्रा में प्रयोग करना चाहिये। प्रति ६ घण्टे पर २½ ग्राम से २ ग्राम की मात्रा में, जब तक मुख द्वारा प्रयोग सम्भव न हो, रोग की तीव्रावस्था शान्त होने तक, देते रहना चाहिए। मुख द्वारा प्रारम्भिक मात्रा ४ ग्राम यानी ८ टिकिया, ४ घण्टे बाद १½ ग्राम २ दिन तक, बाद में १ ग्राम ६ घण्टे

पर ३ दिन तक और आवश्यकता होने पर १ ग्राम दिन में ३ बार ३ दिन और भी दिया जा सकता है। शुल्वौषधियों के प्रयोग के साथ द्विगुण मात्रा में सोडाबाइकार्ब या दूसरे क्षारीय द्रव्यों का प्रयोग पर्याप्त जल के साथ करना आवश्यक है। कम से कम ४-५ सेर जल पिलाने की चेष्टा करनी चाहिये।

यदि रोगी मूर्च्छित हो या किसी कारण सुविधा से इनका सेवन न कर सके तो राइल्स ट्यूब का नासा मार्ग से आमाशय में प्रवेश कर औषध एवं जल का नियमित प्रयोग कराते रहना चाहिये।

प्रतिजीवी वर्ग की दूसरी ओषधियों का प्रयोग मुख्यतया रोगशामक नहीं होता किन्तु किसी कारण से उक्त ओषधियों का प्रयोग न हो सके अथवा इनके प्रयोग से पूर्ण सफलता न मिलने पर आरियोमाइसिन, एक्रोमाइसीन, टेरामायसीन, आइलोटायसिन का २५० मि० ग्राम की मात्रा में प्रति ४ घण्टे पर ४ दिन तक प्रयोग करने से लाभ हो सकता है। कभी-कभी प्लेग दण्डाणु के साथ पूयोत्पादक दूसरे तृणाणुओं (माला-स्तवक गोलाणु और फुफ्फुसगोलाणु) का उपसर्ग रहता है। अतः पेनिसिलीन का प्रयोग स्ट्रेप्टोमाइसिन के साथ १ लाख मात्रा में प्रति ६ घण्टे पर पूर्ववत् किया जा सकता है। तीव्र विषमयता की शान्ति के लिये Prednosoline, Decadrone, Efco, rlin वर्ग की किसी औषध का सूचीवेध के द्वारा अथवा मुख द्वारा यथावश्यक प्रयोग करना चाहिये। इसके सहयोग से लाक्षणिक रूप से रोगी के सभी उपद्रव शान्त होते हैं तथा दूसरी विशिष्ट ओषधियों का अधिक व्यापक प्रभाव होता है।

लाक्षणिक चिकित्सा—

प्रारम्भिक ग्रंथिशोथ या बद—शोथ स्थान पर नमक की पोटली या नमक के पानी से सेंक करना, ग्लिसरीन-मैगसल्फ पेस्ट (Mag—mag, Hind), ऐन्टी फ्लोजिष्टिन को लगाना या निम्नलिखित प्रलेप दिन में ३ बार लगाकर गरम रूई रख कर पट्टी बाँधना।

Ext belladonna siccum	gr 30
Ictheyol	dr one
Glycerine	oz one

स्थानीय प्रयोग के लिये।

देवकाण्डर पञ्चांग का स्थानीय प्रयोग तथा स्वरस का आभ्यन्तरिक प्रयोग लाभकारक होता है। नागफनी का छिलका निकालकर, अल्प मात्रा में हल्दी-सेंधानमक डालकर, कड़वे तेल में पकाकर शोथ स्थान पर बाँधना चाहिये।

पेनिसिलीन-स्ट्रेप्टोमाइसिन मिलाकर स्थानीय सूचिकाभरण करना चाहिए।

पूयोत्पत्ति हो जाने के उपरान्त शल्य क्रिया द्वारा पूय निर्हरण कर पेनिसिलीन,

शुल्वौषधियाँ या पोटास पर मैंगनेट तथा लवण जल के द्वारा व्रण बन्धन करना चाहिये। जब तक ग्रंथि में पाक न हो जाय, शस्त्र क्रिया कदापि न करनी चाहिये।

हृद्दौर्बल्य—प्रारम्भ से ही पर्याप्त मात्रा में ग्लूकोज एवं मद्य का प्रयोग करने से हृद्दौर्बल्य का प्रतिषेध हो सकता है। नाड़ी की मृदुता-अनियमितता तीव्रता होने पर ग्लूकोज और इन्सुलीन का सिरा द्वारा प्रयोग (१ ग्राम ग्लूकोज के लिये २ यूनिट इन्सुलिन) तथा कोरामिन-कार्डियाजोल, मुश्क कैम्फर इन ईथर इत्यादि का आवश्यकतानुकूल प्रयोग कराया जा सकता है। इसमें हीन रक्तनिपीड बहुत होता है, अतः एड्रिनल कार्टिकल एक्स्ट्रैक्ट (Eucorton or Percorton) का सूचीवेध दिन में २ बार किया जा सकता है। ए. सी. टी. एच. (A. C. T. H-) का ८ से १२ घण्टे के अन्तर पर २० यूनिट मात्रा में सूचीवेध देने से निपात के लक्षणों में बहुत लाभ होता है। रक्तनिपीड बहुत कम हो जाने या परिसरीय रक्तप्रवाह के मन्द हो जाने पर बूंद-बूंद रूप में ग्लूकोज एवं सम लवण जल का घोल या प्लाज्मा का सिरा द्वारा ३०० सी० सी० की मात्रा में प्रयोग करना चाहिये।

निम्नलिखित योग नियमित रूप से विशिष्ट ओषधियों के साथ चलाते रहने पर हृद्दौर्बल्य, हीनरक्तनिपीड, परिसरीय रक्तप्रवाह की मन्दता आदि उपद्रव नहीं होते तथा मूल-व्याधि में भी लाभ होता है।

चण्डेश्वर	१ र०
कस्तूरी भैरव	½ र०
योगेन्द्र	१ र०
	१ मात्रा

देवकाण्डर-स्वरस मधु से प्रातः-सायम्।

रक्तस्राव—प्लेग में आन्तरिक अङ्गों में रक्तस्राव की प्रवृत्ति होती है जिससे उन अङ्गों की अकार्यक्षमता तथा हीन रक्तनिपीड होता है। दूसरे दिन से ही निम्न योग देते रहने से रक्तस्राव का उपद्रव नहीं होता।

Prednosoline	5 mg
Cal lactate	gr 10
Ascorbic acid	200 mg.
Vit K.	1 tab
	१ मात्रा

दिन में ३ बार। इनको शुल्वौषधियों के साथ मिलाकर भी दे सकते हैं।

आवश्यकता होने पर रक्तस्तंभन के लिए आयापान, दूर्वा, बोल का प्रयोग करना चाहिये।

प्रलाप—प्लेग में ज्वरारम्भ के साथ ही रोगी की स्थिति मदात्यय के समान होती है तथा प्रलाप भी रहता है। पर्याप्त मात्रा में जल, ग्लूकोज आदि का प्रयोग

कराने से इसका प्रतिकार हो सकता है। यदि प्रलाप गम्भीर स्वरूप का हो तो निम्नलिखित योग प्रातः-सायं देना चाहिये—

Sodium gardenol	gr $\frac{1}{4}$
Pot bromide	gr 10
Chloral hydrate	gr 8
Ext. valerian co	ms 15
Tr card co	m 10
Syp aurantii	dr one
Aqua	oz one
	१ मात्रा

इसके प्रयोग से प्रलाप की शान्ति होकर निद्रा आती है।

यदि मुख द्वारा औषधि का प्रयोग सम्भव न हो तो—

Chloral hydrate	dr one
Pot. bromide	gr 15
Glycerine	dr one
Aqua	oz one

इसका आस्थापन बस्ति के रूप में प्रयोग करने से अनिद्रा एवं प्रलाप की शान्ति होती है तथा मल-शुद्धि भी सुविधा से होती है।

बल-संजनन—रोग प्रायः पूर्णरूप से निवृत्त हो जाता है किन्तु रोगमुक्ति के बाद रोगी अत्यधिक क्षीण एवं दुर्बल हो जाता है। १ सप्ताह तक रोगी को पूर्ण विश्राम कराते हुये धीरे-धीरे पोषक आहार-सेवन कराना चाहिये। इस्टन सिरप, सिरप मिनाडेक्स फेरीलेक्स आदि का प्रयोग करना चाहिये। निम्नलिखित योग भी दिया जा सकता है—

मकरमुष्टि	१ र०
वसन्तमालती	$\frac{१}{२}$ र०
मल्लचन्द्रोदय	$\frac{१}{४}$ र०
सितोपलादि	३ मा०
	१ मात्रा

पान का रस व मधु से प्रातः-सायम्।

द्राक्षासव	१ तो०
लोहासव	१ तो०
	१ मात्रा

भोजनोत्तर समान जल से।

प्रतिषेध—मूषक-विरोधी पक्के मकानों में निवास। सीड़ युक्त गन्दे, कच्चे घरों में पिस्सू एवं चूहों की अधिकता होती है। डी० डी० टी० के प्रयोग द्वारा पिस्सुओं का

विनाश, सोडियम फ्लुरोएसिटेट (Sodium fluroacetate 1 in 1000) को पानी में मिलाकर चूहों के बिलों में छोड़ना तथा आटा में मिलाकर उनके वासस्थान के आस-पास रखना तथा अन्न-भण्डारों में व्याधि के आरम्भ होने के पूर्व सामूहिक रूप से चूहों के हटाने-मारने का प्रयोग करना आवश्यक होता है। अकस्मात चूहों का मरना प्रारम्भ होने पर स्थान-परिवर्तन करना, आक्रान्त गृह में नीम की पत्ती आदि सारे फर्श में जलाना तथा बाद में फिनायल से घर की अच्छी तरह सफाई करना और चूना के साथ पर्याप्त मात्रा में तुत्थ मिलाकर सारे घर का संशोधन करना आवश्यक होता है। शरद् ऋतु में रोगाक्रमण के पूर्व आधी सी० सी०, एक सी० सी० तथा २ सी० सी० की मात्रा में क्रम से १ सप्ताह का अन्तर देकर प्लेग की मसूरी का प्रयोग होना चाहिए। रुग्ण व्यक्ति को समूह से पृथक रखना—विशेषकर फौफ्फुसिक प्रकार में, रोगी के थूक को जला देना तथा प्रारम्भिक ग्रंथि के भेदन से निःसृत पूय, रोगी के मल आदि का पूर्ण संशोधन एवं विनाश करना। रोगी फौफ्फुसिक प्रकार में इतस्ततः थूकता रहता है, उसके थूक में असंख्य प्लेग दण्डाणु उपस्थित रहते हैं, जो पार्श्ववर्तियों को आक्रान्त कर सकते हैं अतः रोगी के पास जाने पर मुह के ऊपर कपड़ा रखना और परिचारक को उसके थूक से दूर रहकर सेवा करनी चाहिये। एण्टी प्लेग-सीरम के प्रयोग से अल्पकालिक क्षमता उत्पन्न होती है। फौफ्फुसीय प्लेग से आक्रान्त व्यक्ति की परिचर्या में रत व्यक्तियों को इसका प्रयोग कराया जा सकता है। प्लेग के दिनों में सारे शरीर में कड़वा तेल की मालिश करना, मोजे पहनकर चुस्त पैजामा तथा पूरी बाँह के वस्त्र पहनना तथा रात्रि में खुली जगह में मच्छरदानी लगाकर सोना चाहिए।

मस्तिष्कावरण शोथ (Meningitis)

तीव्र शिरःशूल, ग्रीवा एवं पृष्ठवंश की पेशियों की स्तब्धता, बाह्यायाम, मूर्च्छा, प्रलाप आदि लक्षणों से युक्त तीव्र स्वरूप का ज्वर मस्तिष्कावरण शोथ में होता है। मुख्यतया मस्तिष्क गोलाणु का उपसर्ग (४४%) रोगोत्पादन में कारण होता है। किन्तु क्षय दण्डाणु (३५%), फुफ्फुस गोलाणु (७%), माला गोलाणु (७%) श्लेष्मक दण्डाणु (४%) और स्तबक गोलाणु (१%) के अनुक्रम से रोगोत्पादन में प्रमुख सक्रामक कारण होते हैं। यह रोग मुख्य रूप में तथा फुफ्फुसपाक, आन्त्रिक ज्वर, रोहिणी, मध्यकर्ण शोथ, रोमान्तिका, इन्फ्लुएञ्जा, प्लेग, अस्थिविवरशोथ, तुण्डिकेरी शोथ आदि में उपद्रव स्वरूप भी होता है।

बाल्यावस्था में इसका आक्रमण सर्वाधिक तथा तीस वर्ष की अवस्था के पहले तक मध्यम रूप में हुआ करता है। वृद्धों में इसकी सम्भावना बहुत कम होती है। बच्चों में क्षयज मस्तिष्कावरण शोथ अधिक होता है। कुटुम्ब में क्षय का इतिहास मिलने पर

गम्भीर स्वरूप के ज्वर से पीड़ित बालक में मस्तिष्कावरणशोथ का अनुमान करना चाहिये। सिर एवं पृष्ठ-वंश पर आघात, फुफ्फुसपाक, मध्य कर्ण शोथ, नासा, गला, ग्रसनिका, नासा-कोटर तथा नेत्र-विकार से पीड़ित रोगियों में एवं अन्य धातु-बलक्षय-कारक व्याधियों से आक्रान्त होने के उपरान्त मस्तिष्कावरणशोथ की सम्भावना अधिक होती है। रोगोत्पादक कारणों के अनुरूप मस्तिष्कावरणशोथ की विशेषताओं का वर्णन आगे किया जायगा। शोथ के कारण निम्नलिखित लक्षण सभी व्याधियों में समान रूप से मिला करते हैं।

१. शीर्षान्तरीय निपीड (Intra cranial tension)—शोथ के कारण मध्य मस्तिष्कावरण से उत्स्यन्दन अधिक होता है तथा उसका पुनः शोषण कोषाओं की विकृति के कारण नहीं हो पाता, जिससे शीर्षान्तरीय निपीड बढ़ जाता है। इसका प्रभाव मस्तिष्क पर पड़ने से अनेक प्रकार के लक्षण होते हैं। नाड़ी की मन्दता, मन्द हृदयता, पश्चिम कपाल में पीड़ा—विशेषकर सिर के फटने की सी वेदना का होना, दृष्टिनाड़ीशोथ (Optic neuritis), प्रबल वमन (Projectile vomiting)।

२. मस्तिष्क पर दबाव—आक्षेप, पेशी-दौर्बल्य, अङ्गघात, उन्माद तथा अन्य मानसिक विकार।

३. शीर्षण्य वात नाड़ियों पर (Cranial nerves)—विकृति का प्रभाव पड़ने से क्षोभ एवं अङ्गघात के विशिष्ट लक्षण उत्पन्न होते हैं। विषम कनीनिकायें, तिर्यक दृष्टि तथा अन्य नाड़ियों के कार्यों में व्याघात उत्पन्न होता है।

४. मस्तिष्कावरण प्रक्षोभ (Meningeal irritation)—ग्रीवा एवं पृष्ठ-वंश की पेशियों की स्तब्धता, अनम्यता मुख्यतया होती है। सुषुम्नावरण में क्षोभ के अधिक होने पर शरीर धनुष के समान पीछे मुड़कर बाह्यायाम का रूप उत्पन्न करता है।

रोगोत्पादक कारण के अनुसार मस्तिष्कावरणशोथ के निम्न प्रधान वर्ग किये जा सकते हैं:—

१. मस्तिष्क सुषुम्ना ज्वर।

२. यक्ष्मज मस्तिष्कावरणशोथ।

३. फुफ्फुस गोलाणु जन्य मस्तिष्कावरणशोथ।

४. माला-स्तवक गोलाणु जन्य मस्तिष्कावरणशोथ।

५. श्लेष्मक जीवाणु (Heamophilus influenzae) जन्य।

विशिष्ट रोगोत्पादक कारण के अनुरूप चिकित्सा में अन्तर हुआ करता है। इसलिये लाक्षणिक समानता होने पर भी उक्त क्रम से रोग-निर्णय अपेक्षित होता है।

मस्तिष्क सुषुम्ना ज्वर—मस्तिष्क गोलाणु के उपसर्ग से इस रोग का प्रारम्भ होता है। कास, छिक्का तथा जोर से बोलते समय थूक के कणों के साथ जीवाणु स्वस्थ व्यक्ति के गले में अवस्थित होकर नासाग्रसनिकाशोथ (Rhino-pharyngitis) उत्पन्न

करते हैं। अधिकांश व्यक्तियों में केवल यही कष्ट उत्पन्न होता है, मस्तिष्क सुषुम्ना ज्वर के लक्षण नहीं उत्पन्न होते। १-२ मास तक गोलाणु स्वस्थ व्यक्ति के नासा एवं गले में रह सकते हैं। अनुकूल परिस्थितियाँ होने पर पर्याप्त वृद्धि हो जाने के बाद ये नासा से लसवाहिनियों द्वारा सीधे मस्तिष्क में अथवा रक्त में प्रविष्ट होकर मस्तिष्क में स्थान संश्रय करते हैं। मरक के समय बहुत से व्यक्तियों (२०% तक) के गले के स्राव में ये जीवाणु मिल सकते हैं, किन्तु रोग का आक्रमण थोड़े व्यक्तियों पर ही होता है। शीत देशों में इसका आक्रमण अधिक होता है, किन्तु भारतवर्ष में हेमन्त एवं वसन्त में स्थानपदिक रूप में—कभी-कभी जानपदिक रूप में—इसका प्रकोप होता है। अधिक घनी बस्ती में, सामूहिक निवासस्थल, सैन्यावास, बन्दीगृह, छात्रावास आदि में तथा वर्धमानावस्था में—विशेषकर शिशुओं एवं पुरुषों में ३० वर्ष की अवस्था तक अधिक होता है। प्रतिश्याय, रोहिणी, तुण्डिकेरीशोथ आदि रोगों से पीड़ित, हीनपोषण, अनियमित आहार-विहार वाले व्यक्ति अधिक आक्रान्त होते हैं।

लक्षण—रोग का आकस्मिक आक्रमण, पश्चिम कपाल में शिरःशूल, वमन, प्रसेक, ग्रीवा एवं पृष्ठवंश की पेशियों में स्तब्धता-कठोरता एवं पीड़ा, संधियों में पीड़ा, त्वचा में रक्तवर्ण या गुलाबी रंग के विस्फोटों की उत्पत्ति होती है। दोषमयता की वृद्धि एवं मस्तिष्क के स्थान संश्रित लक्षणों की उत्तरोत्तर अभिव्यक्ति होती है। मस्तिष्कावरण क्षोभ के लक्षण, तीव्र शिरःशूल, प्रलाप, वमन, बेचैनी, तन्द्रा, बाह्यायाम, ग्रीवा की स्तब्धता या शिर का पीछे की ओर मुड़ जाना आदि लक्षण होते हैं। रोगी अँधेरे स्थान में, वातावरण से अन्यमनस्क सा एक पार्श्व पर पैर मोड़कर लेटा रहता है। रोगी को प्रकाश एवं कोलाहल से कष्ट होता है। संक्षेप में विकृति के अनुरूप रोग की ४ अवस्थाएँ अभिलक्षित होती हैं।

दोषमयता या प्रारम्भिक अवस्था—इसमें शिरःशूल, बेचैनी, अग्निमांद्य, अरुचि, वमन, ग्रीवा तथा पृष्ठवंश में वेदना, त्वचा में विस्फोट आदि लक्षण होते हैं। इसके पूर्व तीव्र प्रतिश्याय, गलाशोथ तथा प्रसेक के लक्षणों का इतिवृत्त मिलता है। कभी-कभी शिरःशूल, वमन आदि लक्षणों के साथ तुण्डिकेरीशोथ, नासा-ग्रसनिका शोथ, नेत्राभिष्यन्द आदि के लक्षण भी उपस्थित रहते हैं। बच्चों में इस अवस्था में हाथ-पैर में आक्षेप उत्पन्न होते हैं। रोगी का आसन-शयन इस अवस्था में महत्त्वपूर्ण होता है। वह चुपचाप शान्त भाव से सिर को आगे मोड़कर तथा पैरों को जानु के पास एवं वंक्षण पर मोड़कर एक पार्श्व में लेटा रहता है, जैसे शीत लगने पर सिकुड़ कर लेटा हो। आसपास की बातचीत में उसकी रुचि नहीं रहती। यदि कोई निकट में जोर से बात कर रहे हों, तो भी रोगी का उधर ध्यान नहीं आकर्षित होगा। पृष्ठवंश में तो वेदनासह्यता होती ही है, सारे शरीर में विशेषकर सन्धियों में भी पीड़ा होती है। रक्तवर्णी विस्फोट कन्धे तथा कमर पर अधिक निकलते हैं। अधस्त्वचीय रक्तस्राव की

प्रवृत्ति होती है, आभ्यन्तरिक अङ्गों में रक्तस्राव—विशेषकर अधिवृक्क ग्रंथि में—होने के कारण रक्तभार कम हो जाता है। इस अवस्था में रक्त-परीक्षा से श्वेतकायाणूत्कर्ष प्रायः २० हजार से अधिक तथा बहुकेन्द्रियों की संख्या वृद्धि (९०% या अधिक) होती है। रक्त संवर्धन से मस्तिष्क गोलाणु की उपलब्धि हो सकती है।

द्वितीयावस्था या क्षोभ की अवस्था—प्रायः ३-४ दिन बाद क्षोभ के लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसमें मस्तिष्क एवं वातनाडी संस्थान के ही लक्षण प्रमुख होते हैं। प्रायः वमन का अनुबन्ध बना रहता है। सिर का पीछे झुकना, धनुष्वत् बाह्यायाम, आक्षेप, प्रलाप आदि लक्षण होते हैं। सारे शरीर की मांसपेशियाँ कड़ी हो जाती हैं। यदि रोगी का सिर उठाने की चेष्टा की जाय तो सारा शरीर काष्ठवत् उठने लगता है। कर्निंग तथा ब्रुडजिंस्की के लक्षण स्पष्ट हो जाते हैं।

कर्निङ्ग का चिह्न (Kernig's sign)—पीठ के बल लेटा रहने पर यदि रोगी की ऊरु, वंक्षणसंधि से उदर पर जितना मुड़ सके उतना मोड़ दी जाय, तो जानुसंधि से टाँग को फैलाने पर रोगी को अत्यधिक कष्ट होगा, जानुसंधि ४५° से अधिक फैलाई न जा सकेगी। मस्तिष्क सुषुम्ना में शोथ होने के कारण रोगी की गृध्रसी नाड़ी में विकृति होती है, जिससे रोगी टाँग नहीं फैला सकता।

ब्रुडजिंस्की का चिह्न (Brudginski's sign)—१. पीठ के बल लेटे रोगी की ग्रीवा वक्ष की ओर मोड़ने पर उसकी दोनों टाँगें वंक्षण एवं जानुसंधि पर मुड़ जाती हैं। रोगी ग्रीवा मोड़ने का प्रतिरोध करता है, तथा उसकी कनीनिकायें विस्फारित हो जाती हैं।

२. रोगी की एक टाँग मोड़ने पर दूसरी भी मुड़ जाती है।

३. भगास्थिसंधि पर दबाव डालने पर टाँगें संकुचित होती हैं।

प्रत्यावर्त्तन क्रियाएँ (Reflexes) बहुत बढ़ जाती हैं। किन्तु अवसाद की स्थिति में धीरे-धीरे उनमें कमी होती जाती है। कभी-कभी रोगी जल-सन्त्रास के समान बड़े जोर से श्वानवत् चिल्लाने लगता है। शीर्षण्य नाड़ियों का—विशेषकर तृतीय, षष्ठ तथा अष्टम का—अङ्गघात होने से तिर्यग् दृष्टि, कनीनक विषमता आदि लक्षण होते हैं। आकृति भी बदल जाती है, रोगी का मुँह लटका हुआ सा ज्ञात होता है।

तृतीय या अवसाद की अवस्था—रोगी के सारे अंग-प्रत्यंग अवसन्न से रहते हैं। रोगी तन्द्रायुक्त अर्द्धमूर्च्छा की सी स्थिति में रहता है। जोर से पुकारने पर प्रश्न का आशय समझ लेने पर भी 'हाँ हाँ' कह कर पुनः करवट बदल कर सो जाता है।

चतुर्थ या अंगघात की अवस्था—रोगी पूर्ण रूप से मूर्च्छित तथा आक्षेपयुक्त रहता है। दृष्टि अनियन्त्रित तथा प्रकाश प्रत्यावर्त्तनहीन हो जाती है। एकांगघात, पक्षघात, मल-मूत्र का अनियन्त्रित उत्सर्ग, स्वेदाधिक्य, संन्यास आदि लक्षण होते हैं।

इस प्रकार के लक्षण तीव्र घातक रूप में नहीं होते। तीव्रता की दृष्टि से मस्ति
सुषुम्ना ज्वर के निम्न भेद किए जा सकते हैं :—

१. **अति तीव्र प्रकार**—प्रायः मरक के समय इस श्रेणी के ज्वर का आ
होता है। कुछ घण्टों से १–२ दिन के भीतर रोगी की मृत्यु हो सकती है। ज्व
आकस्मिक आक्रमण (१०४–१०६°), शिरःशूल, प्रलाप एवं निद्रानाश के ब
रोगी अत्यधिक बेचैन, उन्मत्त सा हो जाता है। जिह्वा रूक्ष शुष्क-कंटकावृत
कम्पयुक्त होती है। नाडी-श्वास की गति तीव्र तथा त्वचा पर रक्त-नीलवर्ण के वि
अधिक संख्या में होते हैं। श्वेतकायाण्वुत्कर्ष २० से ४० सहस्र तक तथा बहुके
का अनुपात ९०% से अधिक होता है। प्रायः रक्त में मस्तिष्क गोलाणु मिलते हैं।

२. **तीव्र या सामान्य प्रकार**—आकस्मिक रूप में शीतपूर्वक ज्वर,
शिरःशूल, त्वचा पर विस्फोट, नासा-ग्रसनिका शोथ एवं प्रतिश्याय के लक्षण के
शाखा एवं सन्धि में पीडा होती है। ज्वर अर्धविसर्गी या विसर्गी स्वरूप का
१०२–१०४° तक रहता है। ३–४ दिन बाद मस्तिष्क संक्षोभ के लक्षण व्यक्त
पर वमन का प्रकोप बढ़ जाता है। शिरःशूल असह्य, नाड़ी ज्वर के अनुपात में
तथा अनियमित होती है। श्वास अनियमित, आकृति रक्ताभ, कनीनकाभिस्त
एवं मन्द प्रकाश प्रतिक्रिया तथा प्रकाश संत्रास होता है। मुख पर परिसर्प,
स्तब्धता, बाह्यायाम, कर्निङ्ग तथा ब्रुडजिस्की के चिह्न व्यक्त होते हैं। मस्तिष्कावर
क्षोभ की अधिकता में ग्रीवा की मांसपेशियाँ कठोर एवं वेदनायुक्त तथा सुषुम्न
शोथ के आधिक्य में पृष्ठवंश की पेशियों में स्तब्धता होती है, जिससे बाह
(Opisthtonus) होता है। उदर की पेशियाँ कड़ी होकर भीतर धँस जा
जिससे उदर की आकृति नौका के समान हो जाती है। ६–७ दिन बाद अत्रस
लक्षण तन्द्रा, मूर्च्छा, शरीर की कृशता आदि उत्पन्न होते हैं। अङ्गघात के
तिर्यग्दृष्टि, वर्त्मघात, कनीनक-विषमता आदि चिह्न उत्पन्न होते हैं। यदि
व्यवस्था न हुई तो संन्यास, मूर्च्छा आदि से रोगी की मृत्यु हो जाती है। बा
आक्षेप का लक्षण प्रारम्भ से रहता है।

घातक रूप—मस्तिष्क सुषुम्ना ज्वर घातक एवं गम्भीर तो प्रकृत्या होता
कभी-कभी मरक के समय अकस्मात् तीव्र ज्वर, प्रतिश्याय, वमन, दौर्बल्य, अ
त्वचा पर नील-लोहित विस्फोट, श्यावता, श्वासकृच्छ्र, क्षीण एवं त्वरित नाड
संन्यास आदि लक्षण होते हैं। मस्तिष्कावरणशोथ एवं क्षोभ के लक्षण नहीं
त्वचा, अधिवृक्क एवं अन्य आभ्यन्तरिक अंगों में रक्तस्राव होता है। रक्त में
मिलते हैं। इसमें फुफ्फुसपाक, इंफ्ल्युएञ्जा का भ्रम होता है।

३. **सौम्य या कालिक प्रकार**—शीतपूर्वक ज्वर का आक्रमण, ज्वर में मुक्तानु
की प्रवृत्ति, विस्फोट, अस्थि-सन्धि-पेशियों में वेदना आदि सौम्यस्वरूप के

मिलते हैं। ग्रीवास्तम्भ एवं कर्निग के चिह्न अल्पाधिक मात्रा में मिल सकते हैं। बहुत बार मरक की समाप्ति के बाद इस प्रकार के लक्षण दिखाई पड़ते हैं।

४. **पश्चिमाधारिक मस्तिष्कावरण शोथ** (Post. basic meningitis)—यह प्रकार प्रायः एक वर्ष तक की अवस्था वाले बालकों में होता है। रोगाक्रमण अकस्मात् आक्षेप, ज्वर एवं वमन के साथ होता है। जलशीर्ष (Hydrocephalus), कपालास्थियों की विस्तृति, सीवनियों का प्रसार, तालु का उन्नत होना तथा बालक का दिनोंदिन कृश होते जाना मुख्यतया होता है। बालक निश्चेष्ट सा बिस्तर पर पड़ा रहता है तथा कनीनक फैले हुए होते हैं। बालक निरन्तर एक दिशा में देखता रहता है। कभी-कभी अन्धता भी हो जाती है। ग्रीवा-पृष्ठ एवं अधोशाखाओं की प्रसारक पेशियाँ संकुचित होकर कठोर हो जाती हैं, जिससे सिर पीछे की ओर झुका रहता है, अति तीव्रावस्था में सिर त्रिकास्थि के साथ मिल जाता है। शाखाओं में स्तब्धता, उद्वेष्टन तथा पेशियों का अत्यधिक क्षय होता है। **रोग सद्यः मारक** नहीं होता, २-३ सप्ताह तक चलता है।

निदान—मरक के अभाव में निदान में जटिलता होती है। आकस्मिक ज्वर, प्रतिश्याय, बाह्यग्रसनिका शोथ का इतिवृत्त, तीव्र पश्चात्-शिरःशूल, तीव्र वमन, सर्वांगवेदना, आक्षेप, प्रलाप, ग्रीवा एवं पृष्ठवंश की पेशियों का कड़ापन, वेदना, बाह्यायाम, ज्वर के अनुपात में मन्द एवं अनियमित नाड़ी, नेत्र भ्रम, विषमकनीनक, प्रकाश-संत्रास, तिर्यग्-विषमदृष्टि, नाड़ियों के अंगघात, कटिशूल, संधिशूल तथा तन्द्रा एवं संन्यास के लक्षण होते हैं। सोने का विशिष्ट आसन, नौकाकृतिक उदर, कर्निग-ब्रुडजिंस्की के चिह्न, अनियंत्रित मूत्रोत्सर्ग तथा अत्यधिक बेचैनी होने पर इस रोग का अनुमान किया जाता है। रक्त परीक्षा में श्वेतकायाण्वुत्कर्ष, बहुकेन्द्रियों की अत्यधिक वृद्धि, कदाचित् मस्तिष्क गोलाणु की उपस्थिति से सन्देह-निवृत्ति हो जाती है। इसके निदान में कटिवेध के द्वारा सुषुम्नाद्रव को निकाल कर परीक्षा करना आवश्यक होता है।

मस्तिष्क सुषुम्ना जल—कटिवेध के द्वारा सुषुम्ना जल को निकालना इस व्याधि में निदान एवं चिकित्सा की दृष्टि से समान रूप से उपयोगी है। लक्षणों के पूर्ण व्यक्त न होने पर असंदिग्ध निर्णय इस जल की परीक्षा से ही हो सकता है, विशेषकर मस्तिष्का-वरणशोथ के विविध अवान्तर भेदों की जानकारी के लिए इसका परीक्षण अनिवार्य है। मस्तिष्क सुषुम्ना ज्वर में निम्नलिखित परिवर्तन होते हैं:—स्वस्थावस्था में मस्तिष्क सुषुम्ना जल निर्मल, पारदर्शक, वर्ण रहित तथा प्रतिक्रिया में किंचित् क्षारीय होता है। मात्रा १००-१५० सी० सी०, गुरुता १००४-१००८ तक, क्लोराइड्स, ग्लूकोज तथा शुक्लि एवं आवर्तुलि अल्प मात्रा में रहती है। केवल थोड़ी संख्या में लसकायाणु मिलते हैं। सुषुम्ना नली में अन्तर्निपीड १००-२०० मि० मि० तथा कटिवेध के बाद यह बूंद-बूंद के रूप में प्रति मिनट २० से ६० बूंद तक टपकता है।

मस्तिष्क सुषुम्ना ज्वर से पीडित रोगी में कटिवेध करने पर जल बड़े वेग से निकलता है। सुषुम्नान्तर्निपीड ५०० मि० मि० या उससे अधिक, वर्ण धुंधला, पूयनिभ या रक्ताभ होता है। जल में शुक्लि की अधिकता, शर्करा का अभाव या कमी, नीरेयों (क्लोराइड्स) की कमी, श्वेतकायाणुओं की अत्यधिक वृद्धि (स्वाभाविक ५–१० प्रतिघन मि० मि० किन्तु विकृति होने पर १००० से ५००० प्रति घ० मि० मि०) बहुकेन्द्रियों की आपेक्षिक वृद्धि तथा मस्तिष्क गोलाणु की उपस्थिति से असंदिग्ध निर्णय हो जाता है। क्षयजदण्डाणु, फुफ्फुसगोलाणु आदि इतर कारणों के अनुरूप जीवाणुओं के मिलने की संभावना होती है। इसका संवर्धन एवं प्राणि रोपण के द्वारा विशेष परीक्षण आवश्यक होने पर किया जा सकता है। केवल मटमैला धुँधला वर्ण, निपीड की वृद्धि एवं कटिवेध के बाद जल तेजी से धार के रूप में निकलने से इसका अनुमान पुष्ट हो जाता है।

रोग की तीव्रावस्था में मस्तिष्क सुषुम्ना जल को निकाल देने से अन्तर्निपीड जन्य लक्षणों—शिरःशूल, आक्षेप, वमन, अंगघात आदि—की शीघ्र शान्ति होती है। कुछ समय पूर्व तक कटिवेध द्वारा जल का शोधन तथा लसीका या समलवण जल का अन्तःनिक्षेप, यही चिकित्सा का आधार था।

मस्तिष्कावरण शोथ के इतर भेदः—

१. क्षयज मस्तिष्कावरण शोथ—प्रायः शिशुओं में यह रूप होता है। क्षय का कौटुम्बिक इतिहास, वक्ष में राजयक्ष्मा के चिह्न, ग्रीवा की लसग्रंथियों की वृद्धि मिल सकती है। व्याधि का मस्तिष्कावरण में प्रसार शरीर के किसी दूसरे अंग के आक्रान्त होने के बाद होता है। इसीलिए क्षय के सार्वदेही लक्षणों का, विशिष्ट स्थानीय लक्षणों का, ध्यानपूर्वक परीक्षण करना चाहिए। रोग का प्रारंभ धीरे-धीरे, बेचैनी, अरुचि तथा उत्तेजनशीलता आदि के साथ ज्वर की वृद्धि होती है। ज्वर प्रायः १०१–१०२° तक रहता है। शिरःशूल, वमन, रात्रि में अत्यधिक कष्ट से बच्चे का चिल्लाना, आक्षेपक, ग्रीवास्तब्धता, बाह्यायाम एवं अंगघात, संन्यास आदि लक्षण उत्तरोत्तर अभिव्यक्त होते हैं। सामान्यतया रोग की अवधि ३ सप्ताह की, किशोर एवं युवावस्था में २–३ मास तक की हो सकती है। लक्षणों के अनुरूप इसकी भी ४ अवस्थाएँ की जा सकती हैं—

प्रारंभिक या पूर्वरूपावस्था—बालक की चंचलता-प्रसन्नता नष्ट हो जाती है। वह बेचैन एवं अन्यमनस्क रहता है। अल्प कारण से ही रोने-चिल्लाने या संघर्ष करने लगता है। क्षुधानाश, अरुचि आदि से आहार की मात्रा बहुत कम हो जाती है, उत्तरोत्तर तेजी से क्षीण होता जाता है।

क्षोभ या उत्तेजना की अवस्था—मस्तिष्कावरण प्रक्षोभ के कारण शिरःशूल, वमन, आक्षेप, प्रकाश-संत्रास, ग्रीवा की स्तब्धता, पृष्ठवंश की स्पर्शासह्यता, तिर्यग्-

वैषम-कनीनक, बाह्यायाम, शिर का निरन्तर पीछे मुड़ा रहना, पार्श्वशयन आदि होते हैं।

अवसाद या संपीडन की अवस्था—तन्द्रा, अर्द्धमूर्च्छा, पेशियों की शिथिलता, ...तिक्र उदर, अंगघात, प्रत्यावर्त्तन क्रियाओं—जानुक्षेप आदि—का लुप्त हो जाना, ... उन्नत होना, कपालास्थियों का विस्तार, जलशीर्ष आदि लक्षण होते हैं।

संन्यास की अवस्था—मल-मूत्र का अनियंत्रित उत्सर्ग, संन्यास-मूर्च्छा होकर हो जाती है।

...-परीक्षा में विशेष अन्तर नहीं होता। कभी लसकायाणुओं की वृद्धि तथा अल्प संख्या में बहुकेन्द्रियों की वृद्धि होती है। रक्तकणों की अवसादन-गति बढ़ जाती है (३०-४० मि० मी० प्रति घंटा से अधिक), मस्तिष्क सुषुम्ना जल में स्वच्छ-निर्मल किन्तु कुछ देर रखने पर उसमें मकड़ी के जाले के समान थक्का है। शुक्ति की मात्रा बढ़ती है तथा शर्करा और नीरेय (क्लोराइड) की मात्रा ...ो जाती है। प्रारंभ में बहुकेन्द्रीय तथा बाद में लसकायाणुओं की वृद्धि होती है। ...ण्डाणु प्रायः मिलते हैं।

२. फुफ्फुस गोलाणु जनित मस्तिष्कावरणशोथ—यह प्रायः औपद्रविक स्वरूप ...ता है। फुफ्फुस पाक से पीडित होने या फुफ्फुस गोलाणु जनित मध्यकर्ण शोथ, ...कोटर शोथ, पूयोरस आदि का इतिहास मिलता है। प्रायः फुफ्फुस में स्थानीय ...भी मिला करते हैं। रोग का आक्रमण अधिक तीव्रता से होता है, संन्यास की ...या दूसरे-तीसरे दिन से ही प्रारंभ हो जाती है। शेष लक्षण मस्तिष्क सुषुम्ना ज्वर ...मान होते हैं। इसका पृथक्करण फौफ्फुसीय लक्षण होने पर ष्ठीवन परीक्षा से ...था सुषुम्ना द्रव की परीक्षा से होता है। अन्तर्निपीड, वर्ण आदि तो पूर्ववत् ही है, उसमें मस्तिष्क गोलाणु के स्थान पर फुफ्फुस गोलाणु मिलते हैं। रक्त में ...न्द्रियों एवं श्वेतकायाणुओं की वृद्धि दोनों में ही समभाव से होती है। प्रायः भीगने, लगने आदि का इतिहास भी मिलता है।

३. स्तवक एवं मालागोलाणुजनित मस्तिष्कावरणशोथ—प्रायः औपद्रविक स्वरूप होता है। मध्यकर्णशोथ, शिर पर गंभीर आघात, विसर्प, अस्थिविवरशोथ, ...कोटरशोथ, तुण्डिकेरीशोथ, आमवात, पूयविषमयता आदि के द्वारा आक्रान्त ... में इसका आक्रमण होता है। लक्षण, विकार एवं आकृति आदि मस्तिष्क ...ना ज्वर के समान ही होती हैं। रक्त परीक्षा में श्वेतकणों की संख्या-वृद्धि ... कम (१५-३० सहस्र तक) होती है। कटिवेध से प्राप्त सुषुम्ना जल की ...क्षा से ही निर्णय होता है। इस जल के रासायनिक एवं भौतिक स्वरूप में कोई अन्तर ...होता, किन्तु रोगोत्पादक विशिष्ट जीवाणु मिलने पर पार्थक्य होता है।

आजकल इस प्रकार के पार्थक्य की बहुत आवश्यकता नहीं पड़ती। यदि

मस्तिष्कावरणशोथ का निदान हो जाय तो शुल्वौषधियों या पेनिसिलिन आदि का प्रयोग किया जाता है, जो क्षयज के अतिरिक्त सभी में प्रभावकारी होता है। इसके पूर्व विशिष्ट सक्षम-लसीका के प्रयोग की दृष्टि से यह विभेद आवश्यक था। अतः विभेदक निदान की प्रतीक्षा में चिकित्सा विलम्बित न होनी चाहिए। प्रारंभिक लक्षण, रोगी की अवस्था, क्षीणता आदि के आधार पर तथा मस्तिष्क सुषुम्ना जल की निर्मलता, मकड़ी के जाले के समान किलाटोत्पत्ति आदि के द्वारा क्षयज का निदान किया जा सकता है।

४. **श्लेष्मक दण्डाणुजनित मस्तिष्कावरणशोथ**—इंफ्लुएञ्जा या कर्णमूलशोथ के उपरान्त इसका आक्रमण, विशेषकर ३ वर्ष से कम अवस्था के बालकों में औपद्रविक रूप में, क्वचित् प्रारंभ से ही हो सकता है। लक्षण तथा शारीरिक चिह्न प्रायः मस्तिष्क सुषुम्ना ज्वर के समान होते हैं। कटिवेध के द्वारा प्राप्त सुषुम्ना द्रव की परीक्षा में विशिष्ट श्लेष्मक दण्डाणु की उपलब्धि से निर्णय हो सकता है। रक्त में श्वेतकणों की वृद्धि कुछ कम (१५-२० सहस्र) तथा लसकायाणुओं की सापेक्ष्य वृद्धि कुछ रोगियों में मिलती है, किन्तु केवल इससे निर्णय नहीं होता।

चिकित्सा की दृष्टि से मस्तिष्कगोलाणु, फुफ्फुसगोलाणु, स्तवक एवं मालागोलाणु के द्वारा उत्पन्न होनेवाला मस्तिष्कावरणशोथ एक वर्ग में रखा जा सकता है और श्लेष्मक दण्डाणु तथा क्षयजन्य प्रकार अलग वर्गों में। बाद के दोनों ही रूप बच्चों में ही अधिक मिलते हैं, उनकी चिकित्सा में एकरूपता न होने के कारण स्वतन्त्र व्यवस्था अपेक्षित है। तीव्र शिरःशूल, आक्षेप, वमन, बेचैनी, पेशियों की स्तब्धता, ग्रीवा का पीछे मुड़ना, बाह्यायाम, विशिष्ट शयनासन, प्रकाश संत्रास आदि लक्षणों की उपस्थिति से, बाल्य एवं युवावस्था, पूर्वव्याधियाँ एवं विषमयता के आधार पर निदान करके चिकित्सा प्रारम्भ करना चाहिए।

उपद्रव—यह बहुत गम्भीर स्वरूप का रोग है, जिसका प्रत्येक लक्षण उपद्रव होता है। जलशीर्ष और अंगघात रोग की मध्यावस्था में उपद्रव रूप में होते हैं। बालकों में जलशीर्ष से शारीरिक विकृति, तालु का उन्नत होना, कपालास्थियों की सीवनी का आन्तरिक विस्तार के कारण पृथक् होना आदि अधिक होता है। वयस्कों में श्यावता, पाण्डुता, उत्तान-श्वसन, संन्यास आदि औपद्रविक लक्षणों की आकस्मिक उत्पत्ति से इसका अनुमान किया जाता है। परम सन्ताप, मल-मूत्रावरोध, वमन के कारण शारीरिक जलीयांश की कमी (Dehydration), शय्याव्रण, अन्धता, बाधिर्य, मूकता, स्मृतिनाश, स्वभाव विपर्यय, गति की अस्थिरता, उन्माद आदि उपद्रव भी होते हैं। फुफ्फुसपाक, फुफ्फुसावरणशोथ, हृच्छोभ, हिक्का, आन्तरिक रक्तस्राव, हृदयातिपात, संधिशोथ आदि अनेक उपद्रव हो सकते हैं।

सापेक्ष निदान—मरक के समय उतनी कठिनाई नहीं होती, किन्तु शेष समय में

बड़ी कठिनाई होती है। बहुत सी व्याधियों में मस्तिष्कावरण में विषमयता के कारण क्षोभ उत्पन्न होता है। रोमान्तिका, मसूरिका, फुफ्फुसपाक, आन्त्रिक ज्वर, इन्फ्लुएंजा, प्लेग, घातक विषमज्वर, आमवात ज्वर आदि के कारण विषमयता के प्रभाव से, बिना मस्तिष्कावरण में क्षोभ हुये, क्षोभ के लक्षण व्यक्त होते हैं। नाड़ी की मन्दता, वमन की तीव्रता, शिरःशूल और प्रलाप का साहचर्य तथा उल्वणता, ग्रीवास्तब्धता के द्वारा मस्तिष्कावरणशोथ की पुष्टि होगी। मुख्य व्याधियों के स्थानीय एवं दैहिक लक्षणों की उपस्थिति क्षोभजन्य लक्षणों के पहले से वर्त्तमान रहती है।

मस्तिष्क विद्रधि, मस्तिष्कगत रक्तस्राव, अभिघात, मूर्च्छा, मदात्यय, मधुमेहज मूर्च्छा आदि से इसकी कुछ समता होती है। विशिष्ट इतिहास एवं कर्णिका के चिह्न आदि के अभाव से इनसे पार्थक्य हो सकता है।

विशिष्ट रोगोत्पादक जीवाणु का विनिश्चय कटिवेध से प्राप्त सुषुम्नाद्रव के परीक्षण से ही होता है।

सामान्य चिकित्सा—रोगी को मुलायम शय्या पर अंधेरे कमरे में विश्राम कराना चाहिये। कमरे में वायु का सञ्चार अच्छा हो, किन्तु तेज झोंके के रूप में वायु न लगे, इसका ध्यान रखना चाहिये। रोगी को कोलाहल या दूसरों की बातचीत से कष्ट होता है, अतः परिचारक के अतिरिक्त कमरे में दूसरा व्यक्ति न रहना चाहिये। प्रारम्भ से ही रोगी अर्धमूर्च्छित सा रहता है, अतः नियमित रूप से पर्याप्त मात्रा में जल रोगी को पिलाते रहना चाहिये। प्रथम सप्ताह में उष्णोदक के अतिरिक्त आवश्यक होने पर यवपेया, डाभ का पानी, षडंगपानीय दे सकते हैं। दूसरा कोई आहार न देना चाहिये। शिरःशूल, वमन आदि विषमयता के लक्षणों के शान्त होने पर लाजमण्ड, मुद्ग-पटोल यूष, पंचकोल भृत दूध क्रमशः देते हुये साधारण पथ्य पर आना चाहिये। कभी-कभी मूत्रावरोध हो जाता है, अतः दिन भर में रोगी ने कितना जल पिया, कितनी बार कितनी मात्रा में मलमूत्रोत्सर्जन हुआ, इसका आलेख नाड़ी-श्वसन-तापक्रम के साथ ही रखना चाहिये। यदि स्वतः मूत्रत्याग न हो रहा हो तो रबर की नली के द्वारा मूत्रत्याग कराना चाहिये। रोगी शिरःशूल एवं ग्रीवा-पृष्ठवेदना से अत्यधिक कष्ट में रहता है। बाष्प स्वेद से ग्रीवा-पृष्ठवेदना में पर्याप्त लाभ होता है तथा शरीर को गुनगुने पानी से कई बार पोंछने, नियमित मल-मूत्र शुद्धि होने से शिरःशूल को अंशतः शान्ति होती है। प्रारम्भिक दिनों में कैलोमेल सोडा बाई कार्ब के साथ देकर बाद में मैगसल्फ से विरेचन कराना अच्छा होता है। सञ्चित पित्त की शुद्धि हो जाने पर शिरःशूल में पर्याप्त कमी हो जाती है। बेचैनी के कारण शय्या पर रोगी अहर्निश करवट बदलता रहता है तथा पेशी क्षय—विशेषकर शिशुओं में—सर्वाधिक होता है, जिससे शय्याव्रण होने की सम्भावना बढ़ जाती है। दिन में ४ बार सम्पूर्ण शरीर को पोंछना तथा २ बार रगड़ के स्थानों में स्प्रिट लगाकर डस्टिंग पाउडर

से उद्धूलन करना चाहिये। मल-मूत्र के द्वारा वस्त्र दूषित न हो जायें इसका ध्यान रखते हुये बीच-बीच में वस्त्र परिवर्तन करते रहना चाहिये। यदि रबर की चद्दर नीचे बिछाई हुई हो तो भी उसके ऊपर मोटी मुलायम सूती चद्दर होनी चाहिये। यदि मूर्च्छा के कारण रोगी निश्चेष्ट शान्त पड़ा हुआ हो तो हल्के हाथों से सहारा दे कर बीच-बीच में पार्श्वपरिवर्तन कराते रहना चाहिए। रोगी के मूर्च्छित हो जाने या अन्य किसी कारण से मुख द्वारा आहारौषधि का प्रयोग सम्भव न होने पर रायल्स ट्यूब के द्वारा प्राशन कराना चाहिये। विषमयता दूर करने के लिये सिरा द्वारा समलवण जल और ग्लूकोज मिलाकर देना अथवा बूद-बूँद रूप में आस्थापन बस्ति (Rectal drip) देना आवश्यक है। ग्रीवा और पृष्ठ में निर्गुण्डी पत्र-एरण्डमूल-आकाशवल्ली-शिग्रु के कल्क से वाष्प स्वेदन देना, संकर स्वेदन करना, गरम पानी की थैली ग्रीवा एवं कन्धे के नीचे रखना चाहिये। नियमित रूप से दिन में २-३ बार मुख की कुल्ला कराकर सफाई (पोटास, डेटाल, लिस्टेरिन आदि के द्वारा) तथा बाद में बोरोग्लिसरीन आदि का प्रलेप दन्तवेष्ट एवं जिह्वा पर करना चाहिये।

चिकित्सा—औषधियों के द्वारा पूर्ण सफलता, रोगाक्रमण के बाद जितना शीघ्र प्रयोग होगा, उसी पर निर्भर करती है।

शुल्वौषधियाँ—यक्ष्मज और इन्फ्लुएञ्जा के द्वारा उत्पन्न मस्तिष्कावरणशोथ के अतिरिक्त अन्य सभी भेदों में शुल्वौषधियों का प्रयोग लाभकारी होता है। मस्तिष्क गोलाणु जन्य मस्तिष्कावरण शोथ में पेनिसिलिन आदि प्रतिजीवो वर्ग की सभी औषधों से शुल्वौषधियाँ श्रेष्ठ मानी जाती हैं। मुख द्वारा प्रयोग करने पर मस्तिष्क सुषुम्ना द्रव में इनकी पर्याप्त मात्रा पहुँच जाती है, अतः कटिवेध के द्वारा सुषुम्ना मार्ग से प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। प्रारम्भिक मात्रा ३ ग्राम की सिरा द्वारा देना अच्छा रहता है। सल्फाडायजिन, सल्फाथियाजोल, सल्फामेराजिन, एल्कोसिन—इसके लिये मुख्य प्रभावकारी शुल्वौषधियाँ हैं। इनका मिश्रित प्रयोग विशेष लाभकारक माना जाता है। यदि वमन के कारण मुख द्वारा औषध प्रयोग पूर्ण विश्वस्त न हो तो ६ घण्टे के बाद २ ग्राम की मात्रा में २ दिन तक सिरा द्वारा पूर्ववत् देते रहना चाहिये। शुल्वौषधियों के घुलनशील सोडियम के यौगिक पेशी या अधस्त्वचीय मार्ग से नहीं दिये जा सकते। इनको समलवणजल की द्विगुण मात्रा में मिलाकर सिरा द्वारा देना अच्छा होता है। वमन का कष्ट न होने पर मुख द्वारा प्रयोग प्रारम्भ कर देना, यदि रोगी मूर्च्छित हो तो राइल्स ट्यूब के द्वारा नियमित रूप से औषधि देते रहना चाहिये। १½ ग्राम की मात्रा में पहले दिन प्रति ४ घण्टे पर, दूसरे दिन १ ग्राम की मात्रा प्रति ४ घण्टे पर तथा लाक्षणिक शान्ति होने के बाद एक सप्ताह तक प्रति ६ घण्टे पर एक ग्राम की मात्रा में प्रयोग करना चाहिये। पीने के जल में सोडा बाई कार्ब या क्षारीय मिश्रण के रूप में लगभग शुल्वौषधियों की द्विगुण मात्रा में क्षार का प्रयोग दिन भर में करना तथा चार-

पाँच सेर जल पिलाना आवश्यक होता है। रोग का सही निदान अर्थात् जीवाणु का विनिश्चय न होने पर शुल्वौषधियों के साथ में पेनिसिलिन का प्रयोग करना चाहिये क्योंकि मालागोलाणु की कुछ उपजातियाँ शुल्वौषधियों से पूर्ण नष्ट नहीं होतीं।

पेनिसिलिन—पेनिसिलिन का मस्तिष्क सुषुम्ना जल में पूर्ण प्रवेश अर्थात् कार्यक्षम मात्रा में उपस्थिति नहीं होती। अतः पेशी द्वारा प्रयोग करने के साथ ही सुषुम्ना मार्ग से भी पेनिसिलिन का प्रयोग कराना आवश्यक हो जाता है। यदि रोगाक्रमण के दूसरे दिन से ही पेनिसिलिन एवं शुल्वौषधियों का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया जाय तो कटिवेध की आवश्यकता प्रायः नहीं पड़ती। क्रिस्टलाइसन पेनिसिलिन की प्रारम्भिक मात्रा ५ लाख, बाद में २ लाख प्रति ४–६ घण्टे पर दो दिन तक, बाद में प्रोकेन पेनिसिलिन ४ लाख प्रातः सायं ७ दिन तक।

कटिवेध के द्वारा पेनिसिलिन का प्रयोग—कटिवेध के द्वारा पेनिसिलिन का प्रयोग आवश्यक होने पर भी निम्नलिखित अनुभव सिद्ध परिणामों पर ध्यान रखना चाहिये।

१. पेनिसिलिन का संकेन्द्रण जल में प्रति सी० सी० १००० यूनिट से अधिक होने पर मस्तिष्क सुषुम्ना का अपजनन होकर पूर्ण शिथिल अङ्गघात (Complete flaccid paralysis) या केवल सुषुम्ना की कोषाओं का नाश होने पर नरसिंहाकृति शिथिल अंगघात (Paraplegia) होता है।

२. कभी-कभी रक्त में जलीयांश की कमी हो जाने पर सुषुम्ना द्रव की मात्रा बहुत कम हो जाती है। ऐसी स्थिति में कटिवेध के बाद सुषुम्ना द्रव न निकल कर १–२ बूँद की मात्रा में पूय निकलता है। अतः पहले हीन लवण जल (·४५ प्रतिशत) का २०० से ४०० सी० सी० की मात्रा में सिरा द्वारा प्रवेश करके सुषुम्ना जल की वृद्धि हो जाने पर ही पेनिसिलिन का प्रयोग कराना चाहिये।

३. कटिवेध बार-बार करने से सुषुम्ना जल में उपस्थित शुल्वौषधियों का संकेन्द्रण व्यर्थ में बाहर निकल जाता है। यदि सुषुम्ना द्रव का अन्तर्निपीड अधिक न हो तो तीसरे दिन या अधिक से अधिक २४ घण्टे में एक बार कटिवेध के द्वारा पेनिसिलिन का प्रवेश किया जा सकता है।

४. पेनिसिलिन की मात्रा ५०० से १०००० यूनिट तक तथा ५ से १० सी० सी० या इससे भी अधिक समलवण जल में मिलाकर सुषुम्ना मार्ग से दे सकते हैं। जितना द्रव कटिवेध से निकाला जाय उससे कुछ कम मात्रा में ही निक्षेप करना चाहिये।

५. प्रारम्भ से इन औषधियों का प्रयोग करने पर कटिवेध की अपेक्षा नहीं होती। इसलिये मरक के समय या बाद में तीव्र पश्चात् शिरःशूल, वमन, प्रलाप आदि के साथ ज्वर का अनुबन्ध होने पर विशिष्ट परीक्षणों के अभाव में ग्रीवा स्तब्धता आदि से इस रोग का प्रारम्भ होने पर पेनिसिलीन का प्रयोग पेशी द्वारा प्रारम्भ कर ही देना चाहिये।

सक्षमलसीका—मस्तिष्क गोलाणु जन्य मस्तिष्कावरण शोथ में सक्रिय लसीका का प्रयोग शुल्वौषधियों के पूर्व किया जाता था। किन्तु शुल्वौषधियों का सेवन शीघ्र प्रारम्भ कर देने पर लसीका प्रयोग की आवश्यकता आजकल नहीं पड़ती। जब तक रोगोत्पादक कारण का सही निर्णय न हो जाय तब तक लसीका प्रयोग नहीं किया जा सकता, क्योंकि मस्तिष्कगोलाणु, फुफ्फुसगोलाणु, स्तवक-मालागोलाणु आदि की सक्षम लसीका पृथक्-पृथक् होती है। मरक के समय रोग की अत्यधिक उल्वणता होने पर मस्तिष्कगोलाणु नाशक सक्षम लसीका शुल्वौषधियों के साथ में प्रयुक्त की जा सकती है। सिरा द्वारा ५० या १०० सी० सी० की मात्रा में लसीका २५०-५०० सी० सी० समलवण जल में मिलाकर प्रतिदिन विषमयता शान्त होने तक देना चाहिये। अत्यधिक विषमयता की स्थिति में कटिवेध के द्वारा सुषुम्ना जल निकालने के बाद निकले हुये जल से कम मात्रा में लसीका का प्रवेश उसी मार्ग से कराया जा सकता है।

आइलोटाइसिन, आरियोमाइसिन, टेट्रासायक्लीन, टेरामाइसिन आदि से मस्तिष्क-सुषुम्ना ज्वर में लाभ हो सकता है। कदाचित् पेनिसिलिन एवं शुल्वौषधियों के द्वारा सन्तोषजनक परिणाम न हो तो पेनिसिलिन के स्थान पर इसका प्रयोग किया जा सकता है। मात्रा २५० मिलीग्राम प्रति ४ घण्टे पर दो दिन तक बाद में प्रति ६ घण्टे पर ४ दिन तक।

क्षयज एवं इन्फ्लुएञ्जा के कारण मस्तिष्कावरणशोथ की सम्भावना होने पर स्ट्रेप्टोमाइसिन का प्रयोग सर्वोत्तम माना जाता है। दो साल के बच्चे के लिये ¼ ग्राम दिन में ३ बार ३ दिन तक बाद में ¼ ग्राम सुबह-शाम ३ दिन तक तथा अन्त में ¼ ग्राम प्रतिदिन एक सप्ताह तक देना चाहिये। इन्फ्लुएञ्जा में ५-६ दिन से अधिक देने की आवश्यकता नहीं पड़ती। कटिवेध के द्वारा सुषुम्ना जल निकाल देने पर ५ मिलीग्राम प्रति सी० सी० के संकेन्द्रण में २५ मिलीग्राम की मात्रा में सुषुम्ना मार्ग से प्रवेश करा सकते हैं। किन्तु पेशी द्वारा प्रविष्ट स्ट्रेप्टोमाइसिन का आवश्यक संकेद्रण सुषुम्ना द्रव में हो जाता है और कटिवेध के द्वारा इसका प्रवेश कभी-कभी विपरीत परिणामकारक देखा गया है। अतः कटिवेध द्वारा प्रवेश न कराना ही अच्छा है। स्ट्रेप्टोमाइसिन का क्षयज मस्तिष्कावरण शोथ में अधिक समय तक प्रयोग आवश्यक होता है। १॥-२ मास तक प्रति दिन प्रयोग करने के उपरान्त प्रति तीसरे या चौथे दिन के क्रम से १॥-२ मास तक और देना चाहिए तथा साथ में आइसोनिकोटिनिक या नियाजिड (I. N. H.) मुख द्वारा पर्याप्त लाभ करता है। प्रारंभिक दिनों में स्ट्रेप्टोमाइसिन के साथ १५० मि० ग्रा० की मात्रा में (बालकों में) प्रातः सायम् दे सकते हैं। वमन आदि शान्त होने पर केवल मुख द्वारा ही देना चाहिए। सूचीवेध के लिए Strepto-teben या Strepto-erbazide के रूप में दोनों का मिश्रण भी आता है। पी० ए० एस० (P. A. S.) की दैनिक मात्रा बालकों में ३ ग्राम प्रतिदिन तथा

वयस्कों में १२ से १५ ग्राम प्रतिदिन और नियाजिड की १००–२०० मि० ग्रा० तथा ३००–४०० मि० ग्रा० क्रम से प्रतिदिन देना चाहिए।

कार्टिकोस्टेरायड्स (Corticosteroids)—मस्तिष्कावरणशोथ में इस वर्ग की ओषधियों का बहुत महत्वपूर्ण स्थान होता है। व्याधि की विषमयता के शमन तथा शारीरिक कोषाओं की सुरक्षा की दृष्टि से प्रमुख सहायक औषध के रूप में इनका प्रारंभ से ही प्रयोग करना चाहिए। आवश्यकतानुसार सिरा या मांसगत सूचीवेध के रूप में कुछ दिन देने के बाद मुख द्वारा प्रयोग सम्भव होने पर शुल्वौषधियों के साथ भी मिलाकर दिया जा सकता है। प्रेडनोसोलीन, ट्राइमसिलौन या डेक्ट्रामेथासोन में से किसी का व्यवहार किया जा सकता है (पृष्ठ संख्या ३९२)।

लाक्षणिक चिकित्सा—

शिरःशूल—सामान्य शिरःशूलनाशक ओषधियों से मस्तिष्कावरणशोथजन्य शिरःशूल शान्त नहीं होता। विरेचन के द्वारा यकृत्-शुद्धि एवं शीर्षण्य निपीड कुछ कम हो जाता है, जिससे शिरःशूल में भी कुछ आंशिक लाभ होता है। निम्नलिखित योगों से ४–६ घण्टे तक शिरःशूल का अनुभव रोगी को कम होगा।

1.	Prednosoline	5 mg
	Codein phosphate	gr $\frac{1}{4}$
	Phenacetin	gr 3
	Amidopyrine	gr 3
		१ मात्रा

गरम पानी के साथ ६–८ घण्टे बाद।

२. अत्यधिक असह्य शिरोवेदना में निम्नलिखित में किसी का उचित मार्ग से प्रयोग किया जा सकता है।

1. Hepatalgin.
2. Dilauded.
3. Omnapan.
4. Pethidine hydrochloride.

तीनों अहिफेन के योग हैं, अतः अधिक मात्रा में न देना चाहिए।

इन योगों के द्वारा भी शूल-निवृत्ति न होने पर—श्वासावरोध के लक्षण न रहे तो—मार्फिन $\frac{1}{4}$.एट्रोपिन $\frac{1}{100}$ का अधस्त्वचीय सूचीवेध करना चाहिये। वास्तव में शिरःशूल की शान्ति कटिवेध के द्वारा सुषुम्ना द्रव को निकाल देने के बाद होती है। अत्यधिक शिरःशूल होने पर अन्तर्निपीड का आधिक्य अनुमानित कर कटिवेध करना चाहिये। मस्तक पर बरफ की थैली रखने, निम्बपत्र-कर्पूर का लेप, ठण्डी चद्दर से सम्पूर्ण

शरीर को ढकने तथा पर्याप्त मात्रा में जल-ग्लूकोज-क्षार के प्रयोग द्वारा मल-मूत्र शोधन करने से शिरःशूल कुछ अंशों में शान्त हो जाता है। लौंग, दालचीनी, छोटी इलायची, कर्पूर, चन्दन और खस, इनको सम भाग में गुलाबजल से पीसकर मस्तक पर मोटा प्रलेप करने से २-३ घण्टे तक शूल की शान्ति रहती है।

ग्रीवा स्तब्धता—ग्रीवा की पश्चात् पेशियों में कड़ापन तथा थोड़ा इधर-उधर हिलाने पर तीव्र वेदना होती है। आगे चलकर इन्हीं पेशियों में संकोच होने से ग्रीवा पीछे की ओर मुड़ जाया करती है। वाष्पस्वेद, संकरस्वेद, साल्वणस्वेद, किलाटस्वेद या एरण्ड पत्र को स्निग्धोष्ण कर बाँधने से पेशियों की स्तब्धता तथा शूल में लाभ होता है।

पृष्ठवंश की मांसपेशियों में स्पर्शासह्यता—विशेषकर सुषुम्ना के ऊपर होती है तथा पेशियों में संकोच होने के कारण बाह्यायाम हो जाता है, जिससे रोगी पार्श्वशयन ही पसन्द करता है। सारे शरीर में, सभी सन्धियों में तथा शाखाओं में तीव्र वेदना होती है। अतः सारे शरीर में वाष्पस्वेद, संकर स्वेदन आदि करना चाहिये। ज्वर कम होने पर वातघ्न तैल विशेषकर शतावरी से संस्कारित नारायण तैल, शतावरी तैल, बलातैल इत्यादि को गरम कर हल्के हाथ से सारे शरीर में मालिश कर रूई से सेंक करना चाहिये। महुआ के फूल को पीसकर एरण्ड तैल मिला पोटली बनाकर सारा शरीर सेंकने से वेदना की शान्ति होती है। ग्रीवा एवं पार्श्व में सहजन की पत्ती तवे पर गरम कर सहते-सहते ३-४ बार बाँधने से पर्याप्त लाभ होता है। सेंक आदि न करने पर विन्ट्रोजिनो, थर्मोजिन, विक्स आदि को बहुत मुलायम हाथ से ग्रीवा से नितम्ब पर्यन्त पीठ की तरफ मालिश करके गरम रूई रखकर बाँधने से पर्याप्त लाभ होता है। अत्यधिक वेदना होने पर ग्रीवा मूल में पृष्ठ की तरफ कन्धों के बीच में तथा त्रिक के निकट जोंक लगाने से भी लाभ होता है।

ग्रीवा की स्तब्धता सुषुम्नान्तर्गत आन्तरिक निपीड के कारण होती है, कटिवेध के बाद स्तब्धता में पर्याप्त लाभ हो जाता है। लाक्षणिक रूप में इस कष्ट की निवृत्ति के लिए निम्नलिखित योग बहुत प्रभावकर होता है, किन्तु इसके द्वारा लाभ होने से कटिवेध का महत्त्व कम नहीं होता।

R.	Largectil	25 mg.
	Irgapyrine	1 tab
	Prednosoline	5 mg.
	Pyridoxin (B. 6)	25 mg.
		१ मात्रा

आवश्यकतानुसार २-३ बार दिन भर में दे सकते हैं।

प्रलाप—प्रलाप की शान्ति के लिये कमरे का वातावरण पूर्ण शान्त, प्रकाश एवं

वायु की अनुकूल व्यवस्था शय्या एवं परिधान की अनुकूलता तथा रोगी की मानसिक शान्ति आवश्यक होती है। यदि रोग की साध्यता का विश्वास रोगी को हो जाय तो प्रलाप व बेचैनी में पर्याप्त कमी हो जाती है। कुनकुने पानी में पैरों को रखने या सम्पूर्ण शरीर को कुनकुने पानी से पोंछने अथवा ज्वर एवं विषमयता की अधिकता होने पर ठण्डी भीगी चद्दर से शरीर को निर्वात स्थान में ५–१० मिनट के लिये लपेटने से प्रलाप एवं बेचैनी की शान्ति होती है। प्रलाप विषमयता एवं शरीर में जलीयांश की कमी के कारण अधिक हुआ करता है। अतः पर्याप्त मात्रा में जल रोगी पी रहा है, इसका ध्यान रखना चाहिये। आवश्यक होने पर सूचीवेध या वस्ति द्वारा ग्लूकोज-समलवणजल आदि का प्रयोग कराना चाहिए। कभी-कभी मूत्रोत्संग या कोष्ठबद्धता के कारण भी प्रलाप की उत्पत्ति होती है और रोग के उत्तर काल में अनजाने ही बार-बार मूत्रोत्सर्ग होते रहने से शय्या एवं प्रावरण भींग जाते हैं, इन सब का उचित उपचार होने पर प्रलाप स्वतः शान्त हो जाता है। अत्यधिक सन्ताप होने पर प्रलाप अधिक होता है, अतः १०३–१०४ से ज्वर की अधिकता होने पर ज्वरशामक उपचार करने चाहिए।

इन बाह्य व्यवस्थाओं से प्रलाप की शान्ति न होने पर निम्नलिखित योगों का प्रयोग किया जा सकता है—

पैरेल्डिहाइड (Pareldehyde)—सामान्यतया सभी औषधियों में यह निर्दुष्ट मानी जाती है। ३ से ६ सी० सी० की मात्रा में नितम्ब में पर्याप्त गहराई में रात में आठ-नौ बजे सूचीवेध कर प्रविष्ट करना चाहिए। यह एक स्वयं जीवाणुनाशक द्रव्य है, साधारण बोतल से सीधा सिरिञ्ज में लेकर काम में ले सकते हैं। इसे ६ ड्राम की मात्रा में २ औंस जैतून का तेल या ग्लिसरीन में मिलाकर आस्थापन वस्ति के रूप में देने से भी सन्तोषजनक लाभ होता है।

क्लोरल हाइड्रेट (Chloral hydrate)—२५% को १ ड्राम की मात्रा में अथवा दस से पन्द्रह ग्रेन की मात्रा में कैप्स्यूल में भर कर रात में नौ-दस बजे देने से प्रलाप की शान्ति होकर निद्रा आ जाती है।

जिनमें उक्त उपचार से लाभ न हो तथा प्रलाप अधिक गम्भीर स्वरूप का हो तो मार्फिन सल्फेट $\frac{1}{6}$ ग्रेन स्कोपोलामाइन हाइड्रोब्रोमाइड (Scopolamine hydrobromide) $\frac{1}{100}$ की मात्रा में मिलाकर अधस्त्वचीय मार्ग से देने पर सर्वाङ्ग वेदना, शिरःशूल आदि की शान्ति होकर निद्रा भी सुखपूर्वक आ जाती है। यदि वेदना न हो तो केवल स्कोपोलामाइन का प्रयोग करने से प्रलाप की शान्ति हो जायगी।

बाह्य तथा आभ्यन्तरिक प्रयोग के लिये अनेक औषधों का निर्देश लाक्षणिक

वमन—शीर्षण्य-निपीड बढ़ने के कारण ही मस्तिष्कावरण शोथ में वमन की प्रवृत्ति होती है। अतः उचित चिकित्सा कटिवेध द्वारा सुषुम्ना जल का शोधन तथा विषमयता का शमन करना है। अत्यधिक वमन होने पर मुख द्वारा औषध प्रयोग असम्भव हो जाता है, अतः निम्नलिखित उपचार भी करना चाहिए। आमाशय प्रदेश पर मिट्टी की पट्टी, राई का लेप (२-३ मिनट के लिए) तथा एट्रोपिन सल्फेट $\frac{१}{६०}$ और हायोसिन हाइड्रोब्रोमाइड $\frac{१}{१००}$ ग्रेन अधस्त्वचीय रूप में दे सकते हैं। यदि ज्वराक्रमण के बाद कैलोमल का प्रयोग न कराया गया हो तो निम्नलिखित योग में कैलोमल मिलाकर देना चाहिए।

Chlorbutol	gr 1
Athomin	$\frac{1}{2}$ tab
Phenobarbitone	$\frac{1}{4}$ gr
Soda bi carb	gr 5
Lactose	gr 5
	१ मात्रा

प्रति आधे घण्टे पर ३ मात्रा। उसके बाद आवश्यक होने पर ३ घण्टे के अन्तर से ३ मात्रा और दे सकते हैं।

निम्नलिखित योग से वमन की पैत्तिक एवं वातिक समता द्वारा लाक्षणिक शान्ति होती है।

सूतशेखर	१ र०
मयूरपिच्छ भस्म	१ र०
कचूरचूर्ण	२ र०
	१ मात्रा

पित्तपापड़े का रस १ तो० तथा मिश्री मिला कर प्रति ४ घण्टे पर।

शरीर में जल की मात्रा कम न होने पावे इसका ध्यान रखते हुये सिरा द्वारा पोषक द्रव्यों का—ग्लूकोज, प्लाज्मा, समलवण जल, लैक्टोज का घोल आदि का—प्रयोग करना चाहिए।

वमन की लाक्षणिक शान्ति के लिए Siquil १० से २५ मि० ग्राम, Largactil १० से २५ मि० ग्रा०, Athomin, Avomin, Amoxine आदि का प्रयोग बहुत सफल माना जाता है—आवश्यकतानुसार इनमें से किसी का प्रयोग (प्रथम दो योग बहुत लाभकर है) सूचीवेध या मुख मार्ग से कर सकते हैं।

प्रमुख उपद्रवों का प्रतिकार—

नाड़ी अंगघात—मस्तिष्कावरणशोथ में शीर्षण्य नाड़ियों में—विशेषकर द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम, षष्ठ एवं सप्तम में शोथ होता है, जिससे कुछ समय बाद इन

नाड़ियों का अंगघात हो जाता है। इसी कारण तिर्यक् दृष्टि, वर्त्मघात, विषम कनीनक आदि उपद्रव होते हैं तथा दृष्टि, श्रोत्र व वाक् नाड़ी का अंगघात होने के कारण अंधता, बाधिर्य व मूकता आदि गम्भीर उपद्रव होते हैं। प्राणवहा एवं सौषुम्निक नाड़ियों का घात होने पर श्वसन क्रिया में बाधा तथा मलमूत्रोत्सर्ग में अनियमितता होती है। इन सभी औपद्रविक लक्षणों की चिकित्सा मूलव्याधि का शमन करने वाली औषधियाँ ही मानी जाती हैं। प्रारम्भ से शुल्वौषधियों व पेनिसिलिन का विधिवत् प्रयोग करने से इन सभी उपद्रवों का प्रतिषेध होता है। एक बार अंगघात उत्पन्न हो जाने पर लाक्षणिक उपचार के अतिरिक्त व्याधि की तीव्रावस्था में अंगघात सम्बन्धी उपचार कार्यक्षम नहीं होता। यदि अंगघात पूर्ण रूप का न हुआ होगा, तो रोगमुक्ति के बाद साधारण पोषक, बलवर्धक ओषधियों के प्रयोग से क्रमिक रूप में सुधार हो जायगा। किन्तु पूर्ण रूप में अंगघात हो जाने पर केवल आंशिक लाभ हो सकता है। दृष्टि, श्रोत्र, वाक् नाड़ी का घात होने पर विशेष चिन्ताजनक लक्षण नहीं उत्पन्न होते। किन्तु सौषुम्निक नाडियों तथा प्राणवहा नाड़ी का अंगघात होने पर पेशियों की शिथिलता के कारण श्वासावरोध होकर शीघ्र रोगी की मृत्यु हो जाती है। क्षोभक तैलों का वक्ष पर मर्दन, रबर की नली द्वारा मल-मूत्र विशोधन, सेंक तथा विषमयता की शान्ति के लिये सक्षम लसिका का प्रयोग, सारे शरीर को पोंछना, ग्लूकोज-समलवणजल इत्यादि का प्रयोग और श्वास एवं हृदय को बल देने के लिये प्राण वायु को सुंघाना, कार्डियाजोल, कोरामिन आदि का प्रयोग करना। ज्वरमुक्ति के बाद अंगघात की चिकित्सा स्वतंत्र रूप में की जा सकती है। जीवतिक्ति बी$_1$, बी$_{12}$ तथा बी जटिल (B_1, B_{12} & Bcomplex), लौह-कुपीलु आदि का प्रयोग करने से कुछ लाभ होता है।

जलशीर्ष—शिशुओं में, विशेष करके पश्चात् मस्तिष्क शोथ में, यह उपद्रव निश्चित रूप में होता है तथा दूसरे भेदों में भी किसी कारण से मस्तिष्क-सुषुम्ना द्रव का स्वच्छन्द संचरण न होने तथा आवरण के शोथ के कारण अधिक मात्रा में द्रव की उत्पत्ति होकर जलशीर्ष होता है। इससे शिशु का तालु उन्नत तथा सीमन्त संधियों से अस्थियाँ पृथक् होने लगती हैं। वयस्कों में इसकी उत्पत्ति के समय पाण्डुता, श्यावता, नाड़ी की क्षीणता एवं शीघ्रता, उत्तान श्वसन, संन्यास आदि लक्षण होते हैं। इसकी वास्तविक चिकित्सा शस्त्रकर्म (Cysterna puncture) के द्वारा अवरोध को दूर कर सुषुम्ना द्रव का संचरण मस्तिष्क से सुषुम्ना पर्यन्त स्वाभाविक रूप में लाना होता है। विषमयता एवं ज्वर आदि के कारण अधिक क्षीणता होने से शस्त्रकर्म सुकर नहीं होता।

रक्तस्राव—इस रोग में शरीर के विभिन्न अंगों में रक्तस्राव की प्रवृत्ति होती है। अधिवृक्क में रक्तस्राव होने के कारण रक्तनिपीड की कमी तथा परिसरीय रक्तप्रवाह में शिथिलता उत्पन्न होती है। रक्तस्राव का कारण मुख्यतया विषमयता माना जाता है। प्रारम्भ से ही विषमयता-शामक उपचार करने से तथा जीवतिक्ति सी० के० आदि

रक्तस्तम्भक औषधियों का पाँचवें-छठे दिन के बाद से प्रयोग करने पर लाभ होता है। अधिवृक्क में रक्तस्राव का अनुमान होने पर तुरन्त सिरा द्वारा ग्लूकोज एवं समलवण जल का घोल कार्टिकोस्टेरॉयड (Cortisone acetate या Decadrone या Dexacortisyl) का प्रौढ़ मात्रा में सूचीवेध देना चाहिए। इनके अभाव में कार्टिकल एक्सट्रैक्ट (Cortin, Eucorton या Percorton) अथवा डोका (Doca) का प्रयोग ६-६ घण्टे के अन्तर पर सिरा या मांस द्वारा यथानिर्देश करना चाहिए। २-३ दिन बाद निपात की तीव्रता कम होने पर मुख द्वारा प्रेडनोसोलिन के प्रयोग से काम चलता है। कुछ दिन बाद—अधिवृक्क के स्वाभाविक होने के बाद— ए० सी० टी० एच० (A. C. T. H.) का ३-४ दिन तक प्रातः-सायम् सूचीवेध से प्रयोग कराने से उसकी क्रियाशीलता बढ़ती है।

हृदयातिपात—इसमें केन्द्रिय हृदयातिपात कम परिसरीय अधिक होता है। अतः रक्तभार बढ़ाने के लिये रक्तरस, ग्लूकोज, समलवणजल आदि का सिरा द्वारा अन्तःनिक्षेप करना तथा एड्रिनल कार्टिकल एक्स्ट्रैक्ट का दिन में दो बार सूचीवेध के द्वारा प्रयोग करना, आत्ययिक स्थिति में स्ट्रिकनीन-एड्रिनेलिन के प्रयोग से भी लाभ होता है। इसके अतिरिक्त निपात की सारी व्यवस्था करनी चाहिये। (पृष्ठ संख्या ४६५)

स्मृतिनाश—अत्यधिक विषमयता एवं शोथ के कारण मस्तिष्क कोषाओं में विकार हो जाता है। विशेषकर शीर्षण्य अन्तर्निपीड अधिक समय तक रहने पर अग्र मस्तिष्क की कोषाओं का अपजनन होता है। विशिष्ट उपचारों के अतिरिक्त प्रकाश-कोलाहल आदि क्षोभक परिस्थितियों से पृथक् रखना तथा रोगमुक्ति के बाद पर्याप्त समय तक रोगी को पूर्ण विश्राम कराना, ज्ञानेन्द्रियों से कम से कम काम लेना आवश्यक है। रोगमुक्ति के एक मास बाद भी साधारण बृंहणोपचार से स्मृतिनाश का निराकरण न होने पर निम्नलिखित योग कुछ दिनों तक सेवन कराना चाहिए।

१. ब्राह्मीवटी	१ र०
स्मृतिसागर	१ र०
चतुर्भुज	१ र०
सप्तामृत लौह	४ र०
	२ मात्रा

दिन में २ बार गोघृत तथा मिश्री के साथ।

२ अश्वगन्धारिष्ट	१ तो०
सारस्वतारिष्ट	१ तो०
	१ मात्रा

भोजनोत्तर समान जल से।

३. महाचैतस घृत या सारस्वत घृत ६ माशा की मात्रा में सबेरे दूध से।

इनके अतिरिक्त फास्फोलेसिथिन (Phospholecithene), नर्विगर (Nervigour), स्ट्रिक्नीन ग्लिसरो फास्फेट (Strychnine glycero phosphate), ग्ल्यूटा न्यूराल (Glutanurole) आदि का प्रयोग लाभकारक होता है। इस ज्वर से मुक्ति के बाद अधिकांश रोगियों में अल्पाधिक मात्रा में स्मृतिमन्दता का परिणाम होता है। अतः उक्त योगों का व्यवहार रोगमुक्ति के बाद करने से साधारण बलवृद्धि के अतिरिक्त स्मृतिवर्धन भी होता है। कुछ रोगियों में सायंकाल कुछ समय के लिये शिरःशूल का अनुबन्ध रहता है। इनमें नारायण तैल का नस्य तथा नारायण, ब्राह्मी, हिमांशु आदि में से किसी तेल का शिरोवस्ति के रूप में प्रयोग करने से पर्याप्त लाभ होता है।

बल संजनन—रोगोन्मुक्त होने के बाद पर्याप्त समय तक विश्राम, नाड़ियों-पेशियों की पुष्टि के लिये चन्दनादि तैल, शतावरी तैल, महामाष तैल का मर्दनार्थ प्रयोग तथा बृंहण, पोषक ओषधियों का व्यवहार करना चाहिए। निम्नलिखित योग १-१॥ मास तक देने से बहुत लाभ होता है।

१. बृ० वातचिन्तामणि	१ र०
नवायस लौह	३ र०
वैक्रान्त पिष्टि	२ र०
महासमीर पन्नग	१ र०
अश्वगन्धा चूर्ण	१ मा०
बलामूल चूर्ण	१ मा०
	२ मात्रा

प्रातः-सायं मक्खन तथा मिश्री के साथ। ऊपर से दूध पीना चाहिए।

२. सारस्वतारिष्ट

१–२ तोला की मात्रा में भोजनोत्तर बराबर जल मिलाकर।

३. महायोगराज गुग्गुल

या

चन्द्रप्रभा वटी

१–२ गोली रात्रि में दूध या गरम जल से।

प्रतिषेध—मस्तिष्कावरण शोथ वास्तव में दूसरी व्याधियों में होनेवाला उपद्रव माना जाता है। अतः नासा-प्रसनिका शोथ, तुण्डिकेरी शोथ, मध्यकर्ण शोथ, अस्थि-विवरशोथ इत्यादि पूय दूषित मूल स्थानों का प्रतिकार करने से इसका प्रतिषेध हो सकता है। किसी कारण से शरीर क्षीण हो जाने पर बच्चों में क्षयज मस्तिष्कावरण शोथ, घर के किसी व्यक्ति के क्षय पीड़ित होने पर अधिक होता है। अतः स्वस्थ व्यक्तियों को इन सभी रोगों से पीड़ित व्यक्तियों के सम्पर्क में न आना चाहिये।

थूकने, खाँसने के साथ प्रसार होने के कारण रोगी को छींकते, खाँसते समय प्रावरण लगाने का निर्देश करना चाहिये।

मस्तिष्क शोथ (Encephalitis or Encephalitis Lethargica)

यह विषाणुजन्य मध्यम स्वरूप का औपसर्गिक ज्वर है, जिसमें मस्तिष्क के किसी भाग की स्थायी विकृति होने के कारण उत्तरकालीन अंगघात आदि गम्भीर लक्षण उत्पन्न होते हैं। प्रारम्भ में इसका निदान प्रायः इन्फ्लुएञ्जा के रूप में होता है। किन्तु अत्यधिक आलस्य, तन्द्रा, निद्राधिक्य आदि की उपस्थिति के कारण कुछ समय बाद मस्तिष्क शोथ का स्वतन्त्र निदान किया जाता है। प्रायः इसका आक्रमण मरक के रूप में, विशेषकर शीत ऋतु में तथा बालकों एवं युवकों में अधिक होता है।

प्रारम्भ में विषाणु का उपसर्ग विन्दूत्क्षेपों द्वारा श्वास मार्ग से, विशेषकर गन्धगा नाड़ी के माध्यम से, क्वचित् रक्त के द्वारा मस्तिष्क में पहुँचता है। सामान्यतया रोग का संचयकाल ५ से ७ दिन का होता है। सिर, कपाल या तालु में आघात होने के बाद; रोमान्तिका, मसूरिका, त्वग्मसूरिका, दण्डक ज्वर, कार्णमूलिक शोथ आदि हीन क्षमताकारक रोगों की निवृत्ति के बाद या प्रकोप के समय मस्तिष्कावरण में शोथ होने से इसका प्रकोप अधिक होता है। मरक के समय निद्रा, तन्द्रा आदि लक्षणों की प्रधानता तथा अभिघातज स्वरूप में मस्तिष्क सुषुम्ना ज्वर सदृश शिरः शूल, वमन, ग्रीवा स्तब्धता आदि लक्षणों की प्रधानता होती है। प्रारम्भिक तीव्रावस्था—जिसमें श्लेष्मक ज्वर सदृश प्रतिश्याय, शाखाओं में तीव्र वेदना, शिरःशूल, कोष्ठबद्धता आदि लक्षण होते हैं—के बीत जाने पर शीर्षण्य वात नाडियों (Cranial nerve) में केन्द्रापजननजन्य विकृति होने के कारण प्रकाश संत्रास, वर्त्मघात, तिर्यक् दृष्टि आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

लक्षण—

निद्रा—निद्रा एवं तन्द्रा का आधिक्य और निद्रा के समय में विपर्यय होता है। रात्रि में निद्रा का न आना तथा दिन में तन्द्रा का आधिक्य एवं ज्वर रहा करता है। रोगी निरन्तर चुपचाप, शिथिल, निद्रालु (Sleepy) सा पड़ा रहता है। आलस्य, अवसाद एवं अत्यधिक क्लान्ति के कारण जोर से बुलाने या बार-बार पूछने पर थोड़े में उत्तर देता है। क्वचित् अर्ध चेतना (Semi conciousness) की भी स्थिति उत्पन्न होती है।

शीर्षण्य वात नाड़ियों की विकृति—(Affections of cranial nerves) प्रकाश-सन्त्रास, द्वैदृष्टि (Diplopia), वर्त्मघात, तिर्यक् दृष्टि, नेत्र प्रचलन, अर्धान्धता (Hemianopia), कनीनिकाओं की विषमता-अनियमितता-संकोच या अभिस्तीर्णता आदि लक्षण नेत्र सम्बन्धी वात नाड़ियों में विकृति के कारण होते हैं। अर्जिल राबर्टसन

कनीनिका, अननुकूलन (Lack of accomodation), प्रकाश प्रतिक्षेप का नाश आदि विकार भी क्वचित् होते हैं। Pyramidal tract एवं सावेदनिक नाड़ी-तन्तुओं में विकृति प्रायः नहीं होती किन्तु Extrapyramidal नाड़ी-तन्तुओं में, विशेषकर एक पार्श्व की विकृति होने के कारण, पार्किन्सन आकृति (Parkinsonism) उत्पन्न होती है, जिससे सारे शरीर में आकुञ्चन की स्थिति (Generalised flexion), पेशियों में स्तब्धता, भावहीन आकृति (Mask like facies) और मुख से लालास्राव आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। क्वचित् Pyramidal tract में भी विकृति ऊर्ध्व नाड़ी कन्दाणु (Upper motor neuron) स्वरूप की होती है, जिससे एकाङ्गघात, पक्षवध आदि उत्तरकालीन उपद्रव उत्पन्न होते हैं। पादतल प्रतिक्षेप (Planter reflex) तथा जानुप्रतिक्षेप (Knee jerk) बहिर्गामी (Extensor) स्वरूप के होते हैं। रोग का आक्रमण तीव्र स्वरूप का होने पर मूर्च्छा, प्रलाप, अनियन्त्रित मल-मूत्रोत्सर्ग (Incontinence of urine & faeces) आदि लक्षण उत्पन्न होकर रोगी की मृत्यु हो सकती है।

इस प्रकार प्रारम्भिक चार पाँच दिनों तक प्रतिश्याय, सर्वाङ्ग वेदनायुक्त इन्फ्लुएञ्जा सदृश लक्षण, बाद में शीर्षण्य नाड़ियों का घात होने के कारण नेत्र एवं दूसरे अङ्गों की विकृति, तन्द्रालुता, निद्राविपर्यय आदि और रोग की चिरकालीन अवस्था में पार्किन्सोनिज्म के लक्षण मुख्यतया होते हैं।

रक्त में विशेष परिवर्तन नहीं होते। मस्तिष्क सुषुम्ना द्रव निर्मल तथा प्राकृत रहा करता है। क्वचित् लस कायाणुओं की संख्या बढ़ जाती है।

सापेक्ष्य निदान—इन्फ्लुएञ्जा, मस्तिष्क-सुषुम्ना ज्वर, पक्षवधकारक व्याधियाँ, वेपथुमत अङ्गघात (Paralysis agitans), पार्किनसोनिज्म (Parkinsonism), नाड़ी फिरंग (Neuro syphilis) आदि से इसका पार्थक्य करना चाहिये।

रोग विनिश्चय—मरक के अतिरिक्त इस व्याधि के निदान में बड़ी कठिनाई होती है। साधारण ज्वर, निद्रालुता, तन्द्रा-निद्रा विपर्यय, शीर्षण्य नाड़ियों में विकृति होने के कारण वर्त्मघात-तिर्यक् दृष्टि-नेत्र प्रचलन-प्रकाश सन्त्रास आदि लक्षण तथा पक्षवध, एकाङ्गघात आदि होने पर इस रोग का अनुमान होता है। कोष्ठबद्धता, मलमूत्र का अनियन्त्रित उत्सर्ग, रक्त एवं सुषुम्नाद्रव में विशेष विकृति न होना इस रोग का निदर्शक माना जाता है। २–४ दिन के ज्वर के बाद दोनों पार्श्वों में वर्त्मघात (Ptosis) का मिलना इस रोग का निर्णायक माना जाता है।

उपद्रव व अनुगामी विकार—मूर्च्छा, प्रलाप, अंगघात, उन्माद और मूढ़ता, उच्चमानसिक भावों तथा बुद्धि आदि का कुंठित होना, बाधिर्य, अन्धता, मूकता इस रोग के मुख्य उपद्रव व अनुगामी विकार हैं।

साध्यासाध्यता—रोग प्रकृत्या मर्यादित स्वरूप का है। क्वचित् मर्मांगघात के कारण मृत्यु हो सकती है। मरक के समय में ही मूर्च्छा, प्रलाप आदि घातक लक्षण मिलते हैं। किन्तु सामान्य स्वरूप का आक्रमण होने पर भी उत्तरकालीन अंगघात, मूढ़ता आदि कोई न कोई अनुगामी विकार यावज्जीवन कष्ट देते रहते हैं।

सामान्य चिकित्सा—रोगी को अर्धप्रकाशित वात प्रविचारयुक्त स्वच्छ कमरे में सुख शय्या पर विश्राम कराना, नासा-मुख-गला आदि की सफाई का ध्यान रखना तथा कोष्ठ शुद्धि के लिये कैलोमल या यष्ट्यादि चूर्ण आदि मृदु विरेचक एवं शोधक द्रव्यों का उपयोग करना, मूत्रावरोध होने पर अविलम्ब मूत्र-शलाका द्वारा मूत्रत्याग कराना तथा मलशुद्धि न होने पर ग्लिसरीन या जैतून के तेल की वस्ति देना, दिन में एक बार कदुष्ण जल से सारे शरीर को पोंछना, नियमित रूप से आसन परिवर्तन कराना और प्रारम्भिक ३ दिन के लंघन के उपरान्त लाजमण्ड, यवपेया, मधुर रसवाले फल, ग्लूकोज, पञ्चकोल या पिप्पलीशृत दूध तथा अन्य सुपाच्य पोषक आहार की व्यवस्था करनी चाहिये। रोगी को प्रकाश सहन नहीं होता, खिड़कियों के ऊपर पर्दे डालना और तन्द्रा एवं निद्रालुता के कारण कमरे में शब्द या विक्षेप होना अच्छा नहीं होता, अतः यथाशक्ति कमरे में शान्ति की व्यवस्था होनी चाहिये।

औषध चिकित्सा—इस रोग की विशिष्ट प्रभावकारी औषध अभी तक ज्ञात नहीं। सफल चिकित्सकों की निम्नलिखित व्यवस्थायें प्रचलित हैं—

१. Soda salicylas—१०% घोल २ सी० सी० से १० सी० सी० तक, सिरागत सूचीवेध के रूप में, २५ सी० सी० २५% ग्लूकोज में मिलाकर ५ से ७ दिन तक प्रतिदिन दिया जाता है। ज्वर एवं तन्द्रा आदि लक्षणों में इससे सुधार होता है।

२. Urotropin or Hexamin—२०% घोल का सिरागत सूचीवेध से दिन में १ बार या १० से १५ ग्रेन की मात्रा में प्रति ४ घण्टे पर मुख द्वारा ५–७ दिन तक अथवा वस्तिक्षोभ होने तक देते हैं।

३. Quinine—ज्वरशमन के लिये ४ से ६ ग्रेन की मात्रा में प्रति ४ घण्टे पर कैप्स्यूल में भरकर अथवा घोल बनाकर ४ दिन तक दिया जाता है।

४. कटिवेध—निदान एवं चिकित्सा दोनों ही उद्देश्यों की पूर्ति के लिये कटिवेध किया जाता है। इससे पेशियों की स्तब्धता, शिरःशूल, वमन, मूर्च्छा आदि लक्षणों का उपशम होता है और संचित दूषित विषों का शोधन होने के कारण विषमयता में भी लाभ होता है।

कुछ रोगियों में निम्नलिखित योग से अपेक्षाकृत अधिक लाभ दृष्टिगोचर हुआ है—

१. त्रैलोक्य चिन्तामणि — $\frac{१}{२}$ र०
ब्राह्मीवटी — १ र०
मूर्च्छान्तक — १ र०
मृत्युञ्जय — २ र०
—————
२ मात्रा

अपामार्ग स्वरस १५ बूँद, निर्गुण्डी पत्र स्वरस १५ बूँद, आर्द्रक स्वरस १५ बूँद, मधु १ चम्मच मिलाकर ३ बार।

२. व्याधि की तीव्रता कम हो जाने के बाद—
नवग्रही शिरोराज भूषण — $\frac{१}{२}$ र०
स्वर्ण भस्म — $\frac{१}{८}$ र०
वात कुलान्तक — $\frac{१}{२}$ र०
वचा चूर्ण — २ र०
—————
१ मात्रा

ब्राह्मी स्वरस तथा मधु के साथ प्रात-सायं।

३. महाचैतस घृत ३-६ माशा की मात्रा में १ बार दूध के साथ।

४. श्रीगोपाल तैल सारे शरीर में हल्के हाथ से मर्दनार्थ।

इन योगों के प्रयोग से उत्तरकालीन वातिक विकारों का पर्याप्त प्रतिबन्धन होता है।

व्याधि की तीव्रावस्था में Synermycin तथा कार्टिजोन वर्ग (Cortico steroids) औषधियों का प्रयोग किया जा रहा है—इन योगों से पूर्व योगों की अपेक्षा कुछ अधिक लाभ की आशा है।

लाक्षणिक चिकित्सा—

विषमयता, निद्रानाश एवं बेचैनी का उपचार—

१. पर्याप्त मात्रा में तरल एवं पोष्य द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये। मधु, ग्लूकोज यवपेया, कच्चे नारियल का जल आदि पर्याप्त मात्रा में पीने को देना। मूर्च्छित होने पर नाक से रबर की नली आमाशय तक पहुँचा कर पेय द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये। पिप्पलीमूलश्रृत दूध यवपेया मिलाकर दिया जा सकता है। हीनपोषण प्रतिषेध के लिये दूध में ही अण्डा, हार्लिक्स, ओवल्टीन आदि मिलाकर पोषक एवं सुस्वादु बनाया जा सकता है। इसी प्रकार फलों का रस भी पर्याप्त मात्रा में दिया जा सकता है। आत्ययिक स्थिति में २५ प्रतिशत ग्लूकोज का घोल, समलवण जल के साथ मिलाकर ५०० से १००० सी० सी० की मात्रा में प्रतिदिन सिरा या अधस्त्वचीय मार्ग से दिया जा सकता है। बेचैनी की शान्ति के लिये आवश्यकता होने पर Phenobarbiton $\frac{१}{२}$ ग्रेन की मात्रा में अथवा Hyocine hydro

bromide १/२०० से १/१०० ग्रेन की मात्रा में देना चाहिये। यदि गात्र कम्प अधिक हो तो Hyoscine और Phenobarbiton का योग (Hyoscine की मात्रा १/१०० से १/५० ग्रेन तक) देना चाहिये। इससे लाभ न होने पर Pareldehyde २-३ ड्राम की मात्रा में गुदा द्वारा जैतून के तेल के साथ में अथवा Sodium phenobarbitone की २ ग्रेन की मात्रा पेशीगत सूचीवेध के रूप में देना चाहिये। क्वचित् बेचैनी, गात्रकम्प एवं अनिद्रा के शमन के लिये Atropine १/१०० ग्रेन, हायोसिन १/१०० ग्रेन, एमिटाल १ ग्रेन मिलाकर सायंकाल ६-७ बजे देते हैं। इससे सभी लक्षणों का उपशम होकर आसानी से निद्रा आ जाती है तथा पेशियों की स्तब्धता एवं गात्रकम्प में भी लाभ होता है। केवल अनिद्रा होने पर पोटास ब्रोमाइड और क्लोरल हाईड्रेट १० से १५ ग्रेन की मात्रा में एक साथ मिलाकर आवश्यकतानुसार देना चाहिये। कुछ चिकित्सक सर्वांग वेदना की शान्ति के लिये Omnapon के सूचीवेध की राय देते हैं। प्रायः स्थानीय उपचारों, सैलिसिलेट तथा अन्य वेदनाशामक प्रयोगों से सर्वांग वेदना का पर्याप्त शमन हो जाता है। अत्यधिक कष्ट होने पर Omnapon का प्रयोग (बच्चों में नहीं) वयस्कों में किया जा सकता है। इससे दैनिक नशा सा हो जाता है, आगे इसे छुड़ाने के लिए उद्योग करना पड़ता है। Largectil के प्रयोग से भी इनमें पर्याप्त लाभ होता है। आवश्यकतानुसार सूचीवेध या मुखमार्ग से प्रयोग कर सकते हैं। शैशवीय अंगघात के प्रकरण में बताये हुये क्रम से गुनगुने जल से शरीर को कई बार पोंछना, स्तब्ध पेशियों पर वाष्प स्वेदन करना तथा गरम बालू की थैली रखना आदि उपचारों से भी वेदना शान्त होती है। निम्नलिखित योग भी दिया जा सकता है।

Codein Phos	gr $\frac{1}{3}$
Phenacetin	gr 2
Aspirin	grs 3
Cibalgin	$\frac{1}{2}$ tab
	१ मात्रा

गरम जल के साथ आवश्यकतानुसार।

मूत्रावरोध—पेड़ू के ऊपर दिन में कई बार मिट्टी की पट्टी रखना, वाष्पस्वेदन करना, पलाशपुष्प तथा नवसादर पानी में मिला उबाल कर पोटली बना सेंक करना तथा इनसे लाभ न होने पर मूत्रशलाका द्वारा मूत्र शोधन कराना। शल्यकर्म के समान शलाका आदि का पूर्ण शोधन करने के बाद ही प्रयोग करना चाहिये। मूत्रशलाका द्वारा नियमित रूप से मूत्र-त्याग कराना, शलाका २४ घण्टे के लिये मूत्रमार्ग में ही रहने देना और मूत्रसंस्थान में उपसर्ग की सम्भावना होने पर विशाल क्षेत्रक प्रतिजीवी औषधों का प्रयोग करना आवश्यक है। इसी प्रकार मलशुद्धि के लिये भी ग्लिसरीन की बत्ती, एनीमा आदि का ध्यान रखना चाहिये।

वेपथुमत अंगघात (Parkinsonism पार्किन्सोनिज्म)—

इस उपद्रव की चिकित्सा मुख्यतया लाक्षणिक ही होती है। पेशियों की स्तब्धता, कम्प एवं दौर्बल्य आदि लक्षणों में औषध प्रयोग से लाभ हुआ करता है।

मानसिक चिकित्सा—रोगी को विधिपूर्वक आश्वस्त करना, पर्याप्त समय तक उसके पास बैठकर अंग संचालन के लिये प्रेरित करना तथा नियमित रूप से उसको उत्साहित करना, 'यह व्याधि असाध्य है' ऐसा भाव रोगी के मन से निकलवा देना तथा अन्य दुश्चिन्ताओं से उसे पृथक् रखने से इस व्याधि से मुक्त होने में पर्याप्त सहायता मिलती है। कुष्ठ, कैंसर, मधुमेह आदि अन्य इससे भी गम्भीर व्याधियाँ हैं, जिनमें रोगियों का जीवन अत्यधिक कष्टमय हो जाता है। फिर भी रोगी उनसे अच्छे हो जाते हैं। फिर इस व्याधि में न तो कहीं स्थायी विकृति है न वेदना आदि का कष्ट होता है तथा इस व्याधि के होने पर क्षय, हृदय, वृक्क तथा अन्य गम्भीर व्याधियों का स्वतः प्रतिषेध हो जाता है। इस प्रकार समझाते हुये आश्वस्त करना चाहिये। निम्नलिखि औषधियाँ मुख्यतया प्रयुक्त की जाती हैं—

बेलाडोना (Belladona) **वर्ग**—Atropine का इस व्याधि की चिकित्सा में बहुत दिनों से पर्याप्त सफलता के साथ प्रयोग किया जाता है। ५ प्रतिशत घोल की ३ बूंद मात्रा प्रतिदिन दिन में ३ बार, क्रम से बढ़ाते हुये १० बूंद दिन में ३ बार तक देना चाहिये। मुख की शुष्कता, नेत्रों की विषमता आदि विषाक्त लक्षण अक्सर उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में इसकी मात्रा कम करना या दूसरी ओषधियाँ देना चाहिये।

धतूरा (Stramonium and Genocopolamine)—इस वर्ग की पेटेण्ट औषध है। धतूरा के प्रवाही सत्व (Tr stramonium) का प्रयोग मुख्यतया वयस्क मूढ़तोपद्रुत रोगियों में किया जाता है।

मात्रा—१५ बूंद दिन में ३ बार, क्रम से बढ़ाते हुये ४५ बूंद दिन में ३ बार तक, कुछ समय बाद क्रम से मात्रा घटाना। घटायी हुई मात्रा कुछ दिन देने के बाद पुनः बढ़ाना, इस प्रकार आरोह-अवरोह के क्रम से देने पर अधिक लाभ होता है। इसमें विषाक्त परिणाम कम तथा क्रियाशीलता अधिक होती है।

हायोसिन (Hyoscine)—कम्प, मानसिक क्षोभ, उत्तेजना आदि लक्षणों के उपशम के लिये यह सर्वोत्तम औषध है। बच्चों तथा वयस्कों में समान रूप से गुणकारी होती है। $\frac{1}{100}$ ग्रेन की मात्रा दिन में २ बार पर्याप्त होती है।

Rabellon Tab—(Sharpe & Dhome Extract of vulgarian Belladona root ·5 mg. per tablet) इसका मुख्य प्रभाव पेशियों की स्तब्धता कम कर अंगों की गति व्यवस्थित करने में होता है। प्रारम्भिक मात्रा $\frac{1}{4}$ गोली दिन में ३ बार, सात्म्य हो जाने पर $\frac{1}{2}$ गोली दिन में ३ बार और अन्त में १ गोली

दिन में ३ बार देना चाहिये। Vinobel तथा Bella-Bulgara यह दोनों पेटेन्ट योग भी इसी के सदृश गुणकारी होते हैं।

Pacitane (Ledarle) पुराना नाम Arten—अल्पतम विषाक्त परिणाम एवं व्यापक क्षमता होने के कारण पैसिटेन स्वतंत्र या अन्य औषधियों के साथ में सर्वाधिक प्रयुक्त होता है। पेशियों में अधिक स्तब्धता होने पर Rabellon या Thephorin के साथ मिलाकर और कम्प अधिक होने पर Benadryl के साथ मिलाकर देना चाहिए। १ मिलीग्राम से ४ मिलीग्राम की मात्रा में दिन में ३ बार भोजन के साथ देना चाहिये। अधिक मात्रा हो जाने पर मुख की शुष्कता उत्पन्न हो जाती है। इसके शमन के लिये अधिक मात्रा में जल पिलाना लाभकारी होता है। हृल्लास, दृष्टि विभ्रम आदि विपरीत लक्षण उत्पन्न होने पर इसे कुछ समय के लिये बन्द करना अथवा मात्रा घटाना चाहिये। मुख से लार अधिक निकलने पर Atropine के योगों के साथ मिलाकर देना अच्छा है। Benzedrine or Amphetamine, Dexedrine, Drenamyl आदि औषधियों का व्यवहार ५ से १० मि० ग्राम की मात्रा में प्रातः तथा मध्याह्न में किया जाता है। मानसिक अवसाद, क्लान्ति अधिक होने पर इनसे विशेष लाभ होता है।

Benadryl (P. D.) ५० मि० ग्रा० दिन में २ बार, क्रम से आवश्यकतानुसार बढ़ाते हुये १०० मि० ग्रा० दैनिक तक दे सकते हैं। इससे कम्प एवं स्तब्धता में लाभ होकर मानसिक शिथिलता का भी शमन होता है।

Parpanit (Geigy) इसका मुख्य गुण पेशियों की स्तब्धता एवं तज्जनित स्तब्धतायुक्त अङ्गघात (Spastic paralysis), तीव्र हिक्का (Spasmodic hiccups) के शमन में होता है। इस औषध का गुण प्रायः ४–५ घण्टे रहता है। अतः दिन में कई बार देना पड़ता है। इसके दो योग सामान्य तथा विशिष्ट (Ordinary & Forte) आते हैं। प्रारम्भ में १२½ मि० ग्रा० दिन में ४–५ बार देना चाहिये। रोगी की सहन शक्ति और औषध की कार्यक्षमता के आधार पर इसकी मात्रा बढ़ायी जा सकती है।

Elixir Mephenesine (Myanesine Compound B. D. H.) इसका गुण धर्म भी Parpanit के समान ही होता है। सामान्यतया ये दोनों औषधियाँ अधिक मात्रा में अनेक बार प्रयुक्त होने के कारण उतनी व्यावहारिक नहीं तथा उनके विषाक्त परिणाम भी अधिक होते हैं।

Diparcol (M. B.) प्रारम्भिक मात्रा ५० मि० ग्रा० दिन में ४ बार, क्रम से बढ़ाते हुये २५० मि० ग्रा० दिन में ४ बार तक दे सकते हैं।

Vit B_{12},–१००० Mcgm की मात्रा में सूचीवेध के रूप में सप्ताह में ३ बार देने पर कुछ रोगियों में, विशेषकर निगलने में कठिनाई तथा भार की न्यूनता हो जाने पर पर्याप्त लाभ होता है। कुछ समय बाद मुख द्वारा प्रयोग कराया जा सकता है।

पार्किन्सोनिज्म की अधिक औषधियाँ प्रचलित होने पर भी कोई एक योग उतना लाभकारी नहीं। प्रायः Antihistamine औषध (Benadryl or Thephorin) तथा दूसरी Pacitane-Rabellon आदि को मिलाकर देने से अच्छा लाभ होता है। कुछ मास बाद एक योग के सात्म्य हो जाने पर दूसरा योग प्रारम्भ किया जाता है।

उक्त औषध व्यवस्था के अतिरिक्त कुशल निर्देशन में नियमित रूप से व्यायाम एवं अङ्ग-सञ्चालन का अभ्यास तथा मालिश आदि करने से भी पर्याप्त लाभ होता है। रोगी को शरीर की सभी मांस पेशियों से काम लेने के लिये उत्साहित करना, इस प्रकार के व्यायाम बताना जिससे पेशी समूह काम कर सकें, लाभकारी होता है। उक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिये नदी में तैरना सर्वोत्तम होता है। कुछ विशेष प्रकार के आसन भी इस दृष्टि से लाभकारी हो सकते हैं।

ऊपर निर्दिष्ट शामक एवं स्तब्धता-कम्प-निवारक योगों के अतिरिक्त निम्नलिखित आयुर्वेदिक औषधियाँ भी कुछ मास तक लेने से अधिक लाभ करती हैं।

मस्तिष्कशोथ से निवृत्त होने के बाद निम्नलिखित योग दिया जाता है—

१. कम्प वातारि	१ र०
उन्माद गजांकुश	१ र०
स्मृति सागर	२ र०
कृष्ण चतुर्मुख	१ र०
	२ मात्रा

प्रातः सायं निर्गुण्डी पत्र स्वरस और मधु के साथ।

२. दशमूलारिष्ट	१ तो०
अश्वगंधारिष्ट	१ तो०
	१ मा०

भोजनोत्तर जल के साथ।

३. कैशोर गुग्गुल

१ मा० से २ मा० तक रात में सोते समय गरम जल के साथ।

४. बला तैल
प्रसारिणी तैल
नारायण तैल

इनमें से किसी का सारे शरीर में हल्के हाथों मालिश करना लाभकारी होता है। इसका नस्य देना भी हितकर है।

रोग मुक्त होने के काफी समय बाद चिकित्सा प्रारम्भ करने पर उक्त व्यवस्था उतना लाभकारी नहीं होती। ऐसी स्थिति में निम्नलिखित व्यवस्था करनी चाहिये—

१. स्नेहन—दशमूल घृत, जीवनीय घृत या इनके अभाव में चावल के मांड़ में गाय का घी मिलाकर स्नेहन प्रकरण में बताये गये नियमों के अनुसार एक सप्ताह तक स्नेहन कराना।

२. स्वेदन—सारे शरीर को प्रस्तर स्वेद, वाष्प स्वेद या अवगाहन स्वेद के द्वारा भली प्रकार स्वेदित करना, जिससे सारे शरीर में संचित दोषों का शोधन हो सके तथा स्नेहन सारे शरीर में प्रसरित हो जाय।

३. पञ्चकर्म—उक्त व्यवस्था के बाद क्रम से पञ्चकर्म प्रकरण में बतायी गयी विधि के अनुसार वमन, विरेचन एवं वस्ति प्रयोग करना चाहिये। इस प्रकार की व्यवस्था करने के बाद निम्न योग प्रयुक्त करना चाहिये।

१. त्रयोदशांग गुग्गुल	२ मा०
	१ मात्रा

प्रातःकाल रास्नादि क्वाथ के साथ १ तो० एरण्ड तैल मिलाकर।

२. स्वर्ण सिन्दूर	१ र०
वात कुलान्तक	१ र०
अश्वगन्धा चूर्ण	१ मा०
	१ मात्रा

मधु के साथ सायंकाल ४ बजे।

३. अमर सुन्दरी वटी	१ मा० से २ मा०

रात में सोते समय दूध के साथ।

४. महामाषतैल	शरीर में मालिश करने के लिये।

यदि शरीर अधिक दुर्बल हो गया हो अथवा अन्य रूक्षता के लक्षण हों तो छागलाद्य घृत या जीवनीय घृत का प्रयोग करना चाहिये।

३-४ मास तक इस योग का सेवन करने से संतोषजनक लाभ होता है।

शैशवीय अंगघात

(Infantile paralysis or Anterior poliomyelitis)

बालकों में विशिष्ट विषाणु के उपसर्ग से तीव्र औपसर्गिक ज्वर, सुषुम्ना के धूसर भाग में स्थित पूर्वश्रृङ्गों (Ant. horn cells in grey matter) का शोथ एवं तज्जनित पेशी समूहों का अंगघात शैशवीय अंगघात की विशेषतायें हैं।

इस रोग के विषाणु की अनेक समजातियाँ होती हैं, जिनकी तीव्रता एवं अंगघात की शक्ति असमान होती है।

शीत प्रदेशों में इसका व्यापक प्रकोप होता है, किन्तु ऋतु की दृष्टि से ग्रीष्म एवं वर्षा में इसका सर्वाधिक प्रकोप होता है। ऐकपदिक या जानपदिक मरक के स्वरूपों में भी इसका आक्रमण हो सकता है। भारतवर्ष में प्रायः ऐकपदिक स्वरूप के ही आक्रमण हुये हैं। १९४७, १९४९, १९५० तथा १९५६ में ग्रेटब्रिटेन तथा अमेरिका में इसके जानपदिक प्रकोप हुए थे। जीर्ण कास, प्रतिश्याय, रोमान्तिका आदि से उपसृष्ट होने पर इस विषाणु का आक्रमण अधिक देखा जाता है। कुकास, मसूरिका और रोहिणी विषाभ (Diphtheria toxoid) आदि के प्रतिषेध के लिये मसूरी आदि का व्यवहार करने के उपरान्त इस रोग का प्रकोप कुछ रोगियों में देखा गया है। इस दृष्टि से शैशवीय अंगघात के आक्रमण-काल में इन व्याधियों के प्रतिरोध के लिये मसूरी-सूचीवेध न करना चाहिये। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में व्याधि का आक्रमण तथा पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अंगघात का उपद्रव अधिक होता है। गर्भवती स्त्रियों में इसका आक्रमण अधिक होता है। सामान्यतया एक वर्ष से कम के बच्चों में इसका आक्रमण नहीं होता, क्योंकि उनमें जन्मजात क्षमता होती है। २ वर्ष से ५ वर्ष की अवस्था तक इसका सर्वाधिक प्रकोप होता है। उसके बाद १२ वर्ष की आयु तक भी इसके होने की सम्भावना बनी होती है। विदेशों में अधिक आयु वाले व्यक्तियों के आक्रान्त होने की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। ४०-४५ वर्ष के बाद की आयु में अभी तक इस रोग के आक्रमण का इतिहास नहीं मिला। रोगी का स्वास्थ्य व्याधि के लिये आकर्षण सा होता है। अतः स्वस्थ-पुष्ट बच्चों में इसका आक्रमण दुर्बल क्षीण या अन्य व्याधि पीड़ित बच्चों की अपेक्षा अधिक होता है।

विषाणुओं का व्यापक संक्रमण होने पर भी सभी आक्रान्त व्यक्ति पीड़ित नहीं होते। बहुसंख्यक स्वस्थ वाहक बन जाते हैं। रोगियों के नासा मार्ग, गला एवं आन्त्र में इनका मुख्य अधिष्ठान होता है। अतः गले एवं नाक के स्रावों से बिन्दूत्क्षेप द्वारा और मल के द्वारा संक्रमण होता है। मल में विषाणुओं के होने के कारण मल-दूषित

जल, दूध या दूसरे खाद्य पेयों से और विन्दूत्क्षेप के द्वारा इस रोग का प्रसार होता है। शरीर में विषाणु का प्रवेश होने के बाद उसका मुख्य आकर्षण मस्तिष्क संस्थान की कोषाओं की ओर ही होता है तथा व्याधि का अधिष्ठान सुषुम्ना पूर्वश्रृंगों में मुख्यतया होता है। विन्दूत्क्षेपों एवं दूषित खाद्य-पेयों द्वारा शरीर में प्रविष्ट हुये विषाणु ग्रसनिका, तुण्डिका एवं आन्त्र में वर्धित होते हैं और वहाँ से हृदयादि सभी अंगों में प्रसरित होते हुये अक्ष तन्तुओं (Axons) द्वारा मस्तिष्क संस्थान में इनका प्रवेश होता है। इस प्रकार विषाणुओं का सर्व शरीर व्यापी प्रसार होने पर भी तथा व्याधि की तीव्रावस्था में शरीर के सभी अंगों के आक्रान्त होने पर भी मुख्य लक्षण सुषुम्ना पूर्वश्रृङ्गों के नाश के कारण ही होते हैं। पूर्वश्रृङ्गों के अतिरिक्त मस्तिष्क-स्कन्द (Brain stem), मध्य मस्तिष्क, मस्तिष्कावरण में भी कभी-कभी रोगाधिष्ठान हुआ करता है। उपसृष्ट अंग में शोथ सदृश विपरिणाम होते हैं। व्याधि की अधिक तीव्रता होने पर या शोथ का उपशम न होने पर अपजनन एवं धातुनाश होता है। इसी कारण व्याधि की तीव्रावस्था में अल्पाधिक मात्रा में संपूर्ण सुषुम्ना में विकार होता है, किन्तु जहाँ पर व्याधि का अत्यधिक तीव्रस्वरूप नहीं रहता वहाँ शोथ का उपशम हो जाने के बाद शनैः शनैः रोग मुक्त होने लगता है। तीव्र विकृति के स्थानों में अपजनन एवं धातुनाश होने के कारण सुषुम्ना पूर्वश्रृङ्ग पूर्ण रूप से नष्ट हो जाते हैं तथा सम्बद्ध नाड़ियों का घात होने के कारण पेशीक्षय आदि उत्तरकालीन अंगघात के लक्षण उत्पन्न होते हैं। पेशियों का घात अधरनाड़ी कन्दाणु (Lower motor Neuron) अंगघात के समान होता है। मस्तिष्क सुषुम्ना जल की मात्रा तथा निपीड आदि कुछ इसमें बढ़ा करते हैं। शुक्लि एवं श्वेत कायाणुओं की संख्या भी क्वचित बढ़ती है। यकृत, प्लीहा, तुण्डिकेरी एवं शरीर की इतर लसग्रन्थियाँ कभी-कभी कुछ बढ़कर मृदु या पिलपिली हो जाती हैं। हृदय-वृक्क आदि मर्माङ्गों में भी इस प्रकार की विकृति हो जाने के कारण कभी-कभी उनकी अकार्यक्षमता के गम्भीर लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

लक्षण—उपसर्ग के बाद ५ से १५ दिन (सामान्यतया १ सप्ताह) का संचय काल बीतने के अनन्तर इस रोग के लक्षण उत्पन्न होते हैं। सामान्यतया रुग्णावस्था के लक्षण अंगघात एवं शोथ के अनुपात में निम्नवर्गों में बाँटे जा सकते हैं।

१. अंगघात पूर्वावस्था (Pre paralytic stage)—संचय काल के बाद सम्पूर्ण मस्तिष्क-सुषुम्ना स्थान में विषाणुओं का प्रसार होने के कारण सर्व शरीर व्यापी लक्षण युक्त अवस्था होती है। ज्वर का प्रारम्भ प्रतिश्याय, वमन, शिरोवेदना, अग्निमांद्य आध्मान, प्रवाहिका आदि पचन विकार, पेशियों एवं सन्धियों में पीड़ा एवं पीडनाक्षमता, बेचैनी, दुःस्वप्न आदि लक्षणों के साथ होता है। प्रथम ३ दिन तक ज्वर प्रायः तीव्र स्वरूप का १०२–१०३° तक रहा करता है। उसके बाद शान्त हो जाता है,

क्वचित् २४ घण्टे बाद कुछ समय के लिये ज्वर का पुनराक्रमण भी होता है। इसके बाद कोई दूसरा उपद्रव न होने पर ज्वर पूर्णतया ठीक हो जाता है। ज्वराक्रमण के समय नाड़ी त्वरित, गले के भीतर तथा सारे शरीर की त्वचा रक्ताभ, ग्रीवा एवं पृष्ठवंशीय मांसपेशियों में स्तब्धता होने के कारण बाह्यायाम, वर्त्मघात (Ptosis), प्रक्षोभ (Irritability) तथा आगे की ओर सिर या शरीर मोड़ने पर पीड़ा होती है। कुछ रोगियों में शिरोवेदना अधिक बढ़ जाती है तथा पेशियों में पीड़ा, कम्प या ऐंठन, स्पर्शासह्यता (Hyperesthesia), अनजान में मल या मूत्र का उत्सर्ग आदि लक्षण होते हैं। रोग का अधिक तीव्र आक्रमण होने पर मूर्च्छा भी हो सकती है। सामान्यतया इस अवस्था की अवधि एक सप्ताह की होती है। क्वचित् कर्निग का चिह्न अस्त्यात्मक, रक्त में बहुकेन्द्री लसकायाण्वुत्कर्ष तथा मस्तिष्क-सुषुम्ना जल में निपीड़, शुक्लि एवं लसकायाणुओं में वृद्धि होती है। रोग की तीव्रता के आधार पर लक्षण स्पष्ट या अस्पष्ट हो सकते हैं।

२. अंगघात की अवस्था (Paralytic stage)—अंगघात मुख्यतया शाखा की पेशियों का हुआ करता है, जिससे रोगी हाथ-पैर हिलाने या आसन परिवर्तन में अशक्त हो जाता है। मध्य मस्तिष्क एवं मस्तिष्क स्कन्ध आदि के ऊपर घातक परिणाम होने पर श्वसन पेशियों में भी विकृति उत्पन्न होती है। श्वसन पेशियों का अंगघात होने पर शीघ्र मृत्यु हो जाती है। इस अवस्था की अवधि ७ से १० दिन तक होती है।

३. उपशम (Stage of recovery)—प्रारम्भ में अंगघात शाखाओं आदि में व्यापक स्वरूप का होता है, किन्तु कुछ समय बाद केवल पूर्ण रूप से नष्ट हुई नाड़ियों से सम्बद्ध पेशियों में अंगघात स्थायी स्वरूप का रह जाता है, शेष में शनैः शनैः स्वाभाविक शक्ति आने लगती है, किन्तु पेशियों में पीड़ा एवं पीडनाक्षमता बनी रहती है। इसकी अवधि २ से ३ मास तक होती है। इसके बाद पेशियों की वेदना आदि सभी लक्षणों का पूर्ण शमन हो जाने पर क्रम से इनमें बल आने लगता है। किन्तु पूर्णरूप से अंगघात की निवृत्ति प्रायः नहीं हो पाती।

रोग के प्रकार—मस्तिष्क सुषुम्ना संस्थान के जिस विशेष अंग में विषाणुओं का अधिष्ठान होता है, तदनुसार अंगघात में विभिन्नता आ जाती है। मुख्यतया सुषुम्ना, मस्तिष्क स्कन्ध, मस्तिष्क, मस्तिष्कावरण आदि अंगों में विकृति-केन्द्र होता है।

सुषुम्ना—इस रोग में सुषुम्ना में ही सर्वाधिक (७५%) विकृति होती है। बालकों में संचय काल के २-३ दिन बाद तथा वयस्कों में रोगाक्रमण के साथ ही अधर नाड़ी कन्दाणु (Lower motor neuron) स्वरूप का अंगघात उत्पन्न होता है। प्रारम्भ में अंगघात अधिक व्यापक होता है, किन्तु धीरे-धीरे सीमित हो जाता है। इसमें विकृति केवल चेष्टातन्तुओं (Motor) की होती है। सांवेदनिक (Sensory) की नहीं

होती। विकृत पेशियों में वेदना, पीडनाक्षमता तथा स्पर्शासह्यता तक हो सकती है। घातित पेशियों का क्षय होने के कारण मांस तन्तुओं का अपजनन होता है। पेशी आकार में छोटी, पतली तथा शिथिल हो जाती है। रक्तप्रवाह समुचित न हो सकने के कारण पेशियों का विकास पूर्ण रूप से नहीं हो पाता तथा घातित अंग शीतस्पर्श का एवं काले रंग का हो जाता है। पेशियों की प्रत्यावर्तन क्रियायें नष्ट हो जाती हैं। रोग की तीव्रावस्था में क्वचित् श्वसनाङ्ग पेशियों का घात होने से श्वासावरोध तथा मूत्रनिरोध (Retention of urine) आदि लक्षण हो सकते हैं।

मस्तिष्क स्कन्ध—इसमें मुख्य विकृति सुषुम्नाशीर्ष (Medulla), उष्णीष (Pons) एवं मध्य मस्तिष्क में होती है। मुख्य परिणाम सातवीं, तीसरी, दसवीं, ग्यारहवीं और बारहवीं नाड़ी में हुआ करता है। अंगघात के परिणामस्वरूप नेत्रप्रचलन (Nystagmus), अर्दित (Facial paralysis), नेत्रघात (Occular paralysis), चर्वण एवं निगलने आदि की क्रियाओं में भी अशक्ति उत्पन्न हो जाती है। सुषुम्नाशीर्ष की विकृति में १०वीं नाड़ी के अंगघात के कारण निगलन, प्रश्वसन एवं रक्तसंचार में बाधा उत्पन्न हो कर मृत्यु भी हो सकती है।

मस्तिष्क प्रकार (Cerebral form)—मस्तिष्क का धूसर भाग मुख्य रूप में आक्रान्त होता है। शिरःशूल, ग्रीवास्तब्धता, ग्रीवा का पीछे की ओर मुड़ जाना (Backward retraction), पक्षाघात, मूकता आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

धम्मिल्लकीय (Cerebellar or Ataxic form)—इसमें वमन, ग्रीवास्तब्धता, सिर का एक पार्श्व में मुड़ जाना, पेशी समूहों का असहयोग होने के कारण क्रिया-सम्पादन में बाधा या असमन्वयता (Ataxy), दौर्बल्य आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

मस्तिष्कावरण (Meningeal)—मस्तिष्क सुषुम्नाज्वर के समान तीव्रज्वर, मूर्च्छा, वमन, आक्षेप, शिरःशूल, ग्रीवास्तब्धता, बाह्यायाम, कर्निङ्ग का चिह्न आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

सापेक्ष्य निदान—मस्तिष्कावरणशोथ, आमवात, मस्तिष्कशोथ, आन्त्रपुच्छशोथ, अस्थिमज्जाशोथ, इंफ्लुएंजा आदि व्याधियों से इसका पार्थक्य करना चाहिये।

रोग विनिश्चय—प्रतिश्यायपूर्वक ज्वर का आक्रमण, सिर व शरीर में पीड़ा, पेशियों में पीड़ा तथा पीडनाक्षमता, ग्रीवा एवं पृष्ठवंश की पेशियों में स्तब्धता, बाह्यायाम आदि लक्षण होते हैं। बच्चे पार्श्व में लेटे रहना पसन्द करते हैं। सिर पीछे की तरफ, पृष्ठवंश भी धनुष के समान आगे की ओर झुका हुआ तथा पैर मुड़े हुये रहते हैं। गोदी में लेने या सीधे लिटाने पर बच्चा रोने लगता है। आक्रान्तपार्श्व की पेशियों में वेदना एवं पीडनाक्षमता होने के कारण थोड़ा हिलाने-डुलाने में भी दर्द

बढ़ जाता है। तीव्रावस्था का कुछ शमन हो जाने पर बालक स्वस्थ हाथ से विकृत अंग को धीरे-धीरे दबाता है। उत्तरकालीन शिथिल अंगघात (Flaccid paralysis) के लक्षण उत्पन्न होने पर निदान में कठिनाई नहीं होती, किन्तु तीव्रावस्था में मरक के अतिरिक्त रोग का निदान बड़ी कठिनाई से होता है। रक्त परीक्षा में श्वेतकायाणुओं की वृद्धि, लसकायाणुओं की आपेक्षिक वृद्धि, क्वचित् बहुकेन्द्रियों की वृद्धि महत्त्व की है। संक्षेप में ज्वर, पेशियों की वेदना, विशिष्ट आसन एवं विकृत अंग की शिथिलता के आधार पर इस रोग के दूसरे लक्षणों को चेष्टापूर्वक खोजना चाहिये।

उपद्रव व अनुगामी विकार—श्वासावरोध, मल-मूत्रावरोध, मूर्च्छा, आक्षेप, वमन आदि उपद्रव मुख्यतया तीव्रस्वरूप का आक्रमण होने पर होते हैं अन्यथा उत्तरकालीन अंगघात के अतिरिक्त कोई विशेष उपद्रव नहीं होते।

साध्यासाध्यता—ज्वर स्वयं मर्यादित स्वरूप का ५-६ दिन के भीतर ठीक हो जाने वाला होता है। अंगघात प्रारम्भ में अधिक विस्तृत तथा बाद में कुछ पेशी समूहों में ही स्थायी होता है। घातित अंगों में ऐच्छिक गति, प्रक्षेप क्रियायें तथा विद्युत् परीक्षण में अपजनन का अभाव होने पर अंगघात पूर्णरूप से ठीक हो सकता है। प्रायः १-२ वर्ष तक कुछ न कुछ सुधार होता रहता है। सुषुम्ना प्रकार में अंगघात पूर्णतया ठीक नहीं होता, किन्तु दूसरे प्रकारों में प्रायः ठीक हो जाता है। एक बार आक्रमण होने पर शरीर में विशिष्ट विषाणु के प्रति क्षमता उत्पन्न होती है, जिससे रोग का पुनराक्रमण प्रायः नहीं होता।

सामान्य चिकित्सा—रोग का सन्देह होते ही रोगी को स्वतन्त्र कमरे में मुलायम बिस्तरे पर, तखत पर, आराम से रखना चाहिये। जिस आसन में रोगी को आराम मालूम पड़े, उसी में विश्राम करने देना चाहिये। बहुत सावधानी तथा हल्के हाथों से आसन परिवर्तन बीच-बीच में करना पड़ता है। स्पर्शासह्यता होने पर वात शय्या (Air bed) या कदुष्ण जलशय्या (Warm water bed) का प्रबन्ध सम्भव होने पर करना चाहिये। रोगी को सुखपूर्वक लिटाने में गरम बालू की थैली या तकिया शाखाओं के नीचे या पार्श्व में रखकर व्यवस्था करनी चाहिये। उष्ण प्रयोग से रोगी को शान्ति मिलती है। हिलने-डुलने में अत्यधिक कष्ट होने पर शाखाओं में गरम रूई लपेटकर, कुशायें (Splints) रख कर बाँध देना चाहिये। रोगी को पेशियों की पीड़ा के कारण परिमार्जन आदि में कष्ट होता है तथा तीव्रावस्था में अधिक हिलाने-डुलाने से उत्तरकालीन अंगघात के लक्षण अधिक व्यापक होते हैं। इस दृष्टि से आवश्यक मुख, गले, नासा एवं मलमूत्रादि अङ्गों की सफाई रखते हुये कम से कम छेड़खानी करनी चाहिये। बच्चों के लिये परिजनों में दुश्चिन्ता उत्पन्न हो जाने के कारण शिथिल अङ्ग को जल्दी से जल्दी कार्यक्षम बनाने के लिये बार-बार उसको उठाने या हिलाने का आग्रह करने की प्रवृत्ति देखी जाती है तथा ज्वरमुक्त होते ही मालिश एवं

चलाने-फिराने में त्वरा करना चाहते हैं। दृढ़तापूर्वक इन बातों का निषेध करना चाहिये। कम से कम २ सप्ताह तक रोगी को पूर्ण विश्राम कराना तथा सक्रिय एवं निष्क्रिय चेष्टाओं से विरत रखना (Restriction of active & passive movements) आवश्यक होता है। चिकित्सक को भी अनिवार्य परीक्षणों के अतिरिक्त निदान हो जाने के बाद बार-बार प्रत्यावर्तन परीक्षाओं को न करना चाहिये। इन सब चेष्टाओं से रक्त एवं वायु के प्रवाह से हीन मांसतन्तुओं में शीघ्र अपजनन होने लगता है। मल-मूत्र का नियमित रूप से त्याग होता रहे, इस पर दृष्टि रखनी चाहिये। आवश्यक होने पर शलाका एवं वस्ति प्रयोग से मल-मूत्र की शुद्धि की जा सकती है। श्यावास्यता एवं श्वासावरोध के अन्य लक्षण उत्पन्न होने पर प्राणवायु की व्यवस्था तथा कृत्रिम श्वसन (Artificial respiration) की व्यवस्था भी होनी चाहिये। साधन सम्पन्न चिकित्सालयों में श्वसन सहायक यन्त्र होते हैं। श्वासावरोध का उपद्रव होने पर इस प्रकार के साधन रहने पर उपयोग करना चाहिये। श्वसन की मांस पेशियों में शिथिलता होने के कारण श्वास नलिकाओं में श्लेष्मा एकत्रित हो जाता है, अतः प्रचूषण यन्त्र द्वारा श्लेष्मा का शोधन अथवा अधिक कष्ट होने पर कण्ठ नाड़ी पाटन (Tracheotomy) करके श्वास मार्ग का अवरोध दूर किया जाता है।

प्रारम्भिक दो दिन तक या ज्वर की तीव्रावस्था पर्यन्त रोगी को लंघन कराना, पर्याप्त तरल देना तथा उसके बाद सुपाच्य पौष्टिक तरल आहार देना चाहिये। लाज-मण्ड, मुद्गयूष, यवपेया, पुराना चावल, पक्षियों का मांसरस, जीवतिक्तियों के योग, षडङ्गशृत दूध आदि पोषक आहारों की व्यवस्था रुचि होने पर की जा सकती है। ज्वरादि लक्षणों के कम हो जाने पर गरम पानी में नमक एवं तारपीन का तेल डालकर उसमें कपड़ा भिगोकर सहता-सहता स्वेदन करना चाहिये। इससे विकृत अङ्गों की वेदना का शमन, रक्त प्रवाह में सुधार तथा अङ्गघात की व्यापकता का नियन्त्रण होता है।

औषध चिकित्सा—इस रोग की कोई विशिष्ट चिकित्सा उपलब्ध नहीं है। उपद्रव न होने पर ज्वरादि लक्षणों की चिकित्सा आवश्यक नहीं होती। क्योंकि ४ से ६ दिन के भीतर इनका स्वयं शमन हो जाता है। इसलिये शैशवीय अङ्गघात की सारी चिकित्सा मुख्यतया लाक्षणिक होती है।

१. Hexamine or urotropin—बच्चों में रोग का शीघ्र निदान हो जाने पर इस औषध के प्रयोग से व्याधि का शीघ्र उपशम होता है तथा अङ्गघात आदि उत्तरकालीन उपद्रवों की व्यापकता भी कम होती है। मरक के समय के अतिरिक्त इस औषध से लाभ हो सकने की अवस्था में रोग का निदान नहीं हो पाता। अङ्गघात हो जाने के बाद इससे विशेष लाभ नहीं होता। आरम्भिक लक्षणों की उपस्थिति में ही इसको प्रयुक्त करने पर रोग की तीव्रता बहुत कम हो जाती है।

मात्रा—मुख द्वारा—१० से २० ग्रेन प्रति ४ से ६ घण्टे पर। बच्चों में ५ से १०

ग्रेन ४ से ६ घण्टे पर, २ दिन बाद ८ घण्टे पर तथा उपशम होने पर दिन में २ बार देना चाहिये।

सिरा द्वारा ४० प्रतिशत घोल की ५ से १० सी० सी० दिन में २ बार।

३. सन्निवृत्त लसिका—व्यापक प्रयोगों के आधार पर कुछ विद्वानों की राय सन्निवृत्त लसिका का प्रयोग करने की है। बहुत आरम्भ में निदान हो जाने पर सम्भव है, इससे कुछ लाभ हो। किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इसका प्रयोग सम्भव नहीं। क्योंकि मरक के अतिरिक्त सन्निवृत्त लसिका की उपलब्धि ही कठिन है।

अन्य योग—कुछ रोगियों में प्रारम्भ से ही निम्नलिखित योग सफलतापूर्वक प्रयुक्त हुआ है—

१. कृष्ण चतुर्मुख	१ र०
त्रैलोक्य चिन्तामणि	½ र०
बृ० कस्तूरी भैरव	१ र०
	३ मात्रा

पान के रस व मधु के साथ दिन में ३ बार।

२. आकाश वल्ली, एरण्ड, पलाण्डु, निर्गुण्डी, सहजन—

इनको स्विन्न कर पोटली में बांध सहता-सहता शाखाओं का स्वेदन करना।

प्रायः एक सप्ताह तक उक्त क्रम से चिकित्सा करनी चाहिये। बाद में अङ्गघात की व्यवस्था आगे निर्दिष्ट क्रम से की जाती है।

१. रसराज	१ र०
वातनाशन	¼ र०
अश्वगन्धा चूर्ण	४ र०
	२ मात्रा

निर्गुण्डी पत्र स्वरस, रसोन स्वरस ५-५ बूँद तथा मधु के साथ दिन में २ बार।

२. मकरध्वज	½ र०
अभ्रक (सहस्र पुटित)	½ र०
	१ मात्रा

अर्क पत्र स्वरस व मधु के साथ सायंकाल ४ बजे।

३. सङ्कर स्वेद या पिण्ड स्वेद की व्यवस्था इस रोग के ज्वरादि लक्षणों के शमन तथा अङ्गघात आदि उपद्रवों के प्रतिषेध के लिये गुणकारी होती है। श्लैष्मिक लक्षणों की अनुगामिता होने पर यह अधिक कार्यकारी होता है।

लाक्षणिक चिकित्सा—

बेचैनी एवं सर्वाङ्ग वेदना—ज्वर एवं वेदना की शान्ति के लिये वेदनाहर औषधियों का प्रयोग किया जाता है। सामान्यतया निम्न योग लाभकारी होता है।

1.	Aspirin	grs 2
	Phenacetin	gr one
	Codein phos	gr $\frac{1}{8}$
	Cibalgin	tab. 1
		१ मात्रा

प्रति ४ से ६ घण्टे पर गरम पानी के साथ।

इसके अतिरिक्त लवणोदक गरम कर उससे वाष्प स्वेदन करना तथा नमक की पोटली से सेंक करना भी वेदना को कम करता है। कुछ रोगियों में रक्तवाहिनी विस्फारक (Vaso dilators) के प्रयोग से भी लाभ होते देखा गया है। व्याधि का उपशम होने के बाद इसका प्रयोग किया जा सकता है।

Nicotinic acid 50 mg. दिन में ३ बार देने से शिथिल अंगों में भी रक्तप्रवाह ठीक होने लगता है। इससे वेदना एवं स्तब्धता आदि लक्षणों में कुछ लाभ होता है।

पेशी स्तब्धता—(१) स्वेदन के उपरान्त गरम बालू की थैली एवं कुशा (Splints) आदि के प्रयोग द्वारा उचित आसन की व्यवस्था।

(२) Prostigmine या Neostigmine का मुख द्वारा या सूचीवेध से प्रवेश।

(३) Into costrin (Squibbs, Curare compound) प्रतिदिन या प्रति तीसरे दिन स्तब्धता की तीव्रता के अनुपात से सूचीवेध द्वारा। इससे वेदना, स्तब्धता एवं ऐंठन में बहुत शीघ्र लाभ होता है। वेदना कम हो जाने पर शाखाओं में बहुत धीरे-धीरे कुछ गति करना तथा उपयुक्त आसन में रखना आवश्यक है।

(४) Largactil—१० से २५ मि० ग्रा० की मात्रा में मुख द्वारा २-३ बार।

मूत्रावरोध—बस्ति में स्तब्धता होने के कारण क्वचित् मूत्रोत्सर्ग में बाधा उत्पन्न होती है। अतः स्तब्धता के शमन के लिये प्रॉस्टिगमीन, क्यूरेरा आदि ओषधियों का व्यवहार तथा नाभि के नीचे स्वेदन आदि वातशामक उपचार करना चाहिये। मूत्रत्याग न होने पर अधिक प्रतीक्षा उचित नहीं, अन्यथा मूत्र विषमयता एवं वृक्कों का अपजनन प्रारम्भ हो सकता है। मूत्रशलाका द्वारा मूत्र का शोधन तथा आवश्यक होने पर पूर्ण संशोधन के नियमों का पालन करते हुये शलाका को लगाकर छोड़ देना चाहिये (Indwelling catheter)।

मूत्राशय उपसर्ग प्रतिबन्धन के लिये शुल्वौषधियों या प्रतिजीवी ओषधियों का प्रयोग किया जा सकता है। मूत्राशय की अक्षमता होने पर फर्मेथाइड आयोडाइड (Furmethide iodide) का व्यवहार किया जाता है। इससे त्वचा में रक्त

का प्रवाह एवं प्रस्वेद की उत्पत्ति होकर मूत्राशय का अवरोध शान्त होता है। मूत्रावरोध होने पर इसके प्रयोग से उत्साहवर्धक सफलता मिली है।

मात्रा—मुख द्वारा ५ से २० मि० ग्रा० २–३ बार आवश्यकतानुसार। सूचीवेध के रूप में १ सी० सी० की मात्रा में दिन में १ बार।

सन्ताप एवं विषमयता—व्याधि का अत्यधिक तीव्र आक्रमण होने पर ज्वरादि लक्षणों की तीव्रता एवं मूर्च्छा तथा अंगघात के कारण निगलने में कठिनाई होती है। जिससे विषमयता की वृद्धि एवं शरीर में जलीयांश का आपेक्षिक ह्रास होता है। मुख द्वारा जल का प्रयोग सम्भव न होने पर सिरा द्वारा सूचीवेध के रूप में अथवा मुख द्वारा आवश्यक मात्रा में प्रयोग कराते रहना चाहिये। मल-मूत्र त्याग व्यवस्थित रूप में होता रहे, इसका ध्यान रखना चाहिये। (विशेष पृ० सं० ४६२)

अंगघात—इस व्याधि का मुख्य स्थायी उपद्रव एवं अनुगामी विकार अंगघात है। आक्रान्त पार्श्व की पेशियाँ क्षीण, शीतस्पर्शवाली एवं शिथिल होती हैं तथा उनके आकुञ्चन-प्रसारण की शक्ति नष्ट हो जाती है। विद्युत् परीक्षण से अपजनन के चिह्न मिलते हैं। प्रत्यावर्तन क्रियायें, विशेषकर गम्भीर स्वरूप की नष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार की विकृति कुछ पेशी समूहों में ही होती है। जिन पेशियों में अपजनन नहीं होता, उनमें संकोच एवं ऐंठन होने के कारण पैर टेढ़ा, अगूठा नीचे की ओर खिंचा हुआ, जानु मध्य की तरफ चिपकी हुई सी, हथेली मुड़ी हुई आदि विभिन्न स्वरूप की संकोच अवस्थायें मिलती हैं। इस प्रकार की शिथिलता एवं संकोच की विरोधी स्थिति का प्रतिरोध करने के लिये प्रारम्भ से ही अंगघात से बची हुई पेशियों के क्रियानियोग को बचाने के लिये गरम बालू की थैली, तकिया, मृदु कुशा आदि रखकर व्यवस्था करनी चाहिये। घातित पेशियों में वेदना एवं पीडनाक्षमता रहने तक ऐच्छिक या अनैच्छिक संचालन और मालिश इत्यादि का निषेध करना चाहिये। किन्तु उल्लिखित संकोच रोकने के लिये बहुत सावधानी से शाखाओं को घुमाकर स्तब्धता दूर कर उचित आसन की व्यवस्था तो करनी ही पड़ती है। प्रायः २ सप्ताह से ४ सप्ताह तक पेशियों में अकड़न तथा वेदना आदि कष्ट रहते हैं। उसके बाद मालिश, निष्क्रिय गति आदि साधनों के द्वारा ३–४ माह तक पेशियों का बल संजनन हो जाने पर सहारा देकर चलने की अनुमति दी जा सकती है। चलने में शीघ्रता न करनी चाहिये अन्यथा सन्धियों-अस्थियों में स्थायी विकृति उत्पन्न होकर कुब्जता, खञ्जता, पंगुता आदि स्थायी स्वरूप के विकार पैदा होते हैं।

बलकारक एवं पोषक औषधियों के प्रयोग से कुछ लाभ हो सकता है। किन्तु मुख्य लाभ स्थानीय उपचार के क्रमिक अनुष्ठान से ही होता है। हतबल पेशियों के बल-संजनन के लिये निम्नलिखित व्यवस्था करनी चाहिये।

क. रोगाक्रमण से १ माह पर्यन्त—

बाह्योपचार—

१. गरम पानी में नमक डालकर सहता-सहता स्वेदन दिन में २ बार।

२. गरम पानी के टब में रोगी को लिटाकर ऊपर से सहता-सहता और गरम पानी डालना चाहिये। पानी के भीतर धीरे-धीरे सक्रिय या निष्क्रिय रूप में अंग-सञ्चालन करना चाहिये।

३. वातघ्न तैलों का प्रलेप कर रात्रि में एरण्डपत्र गरम कर शाखाओं को लपेटना चाहिये।

४. उचित आसन व्यवस्था के लिये जंघा, कोहनी तथा एड़ी के आस-पास गरम बालू की थैली रखनी चाहिये।

५. नियम से २-३ बार घातित शाखा के प्रत्येक मांस समूह को निष्क्रिय या सक्रिय रूप में—जैसा शक्य हो—गतिमान करना, सन्धियों पर आकुञ्चन-प्रसारण-आवर्तन आदि क्रियायें लेटे-लेटे कराना चाहिए।

संक्षेप में लवणोदक से सेंक, हल्की मालिश तथा विधिवत् पेशी समूहों का व्यायाम एवं पर्याप्त समय तक धैर्यपूर्वक इन क्रियाओं के अनुष्ठान की चेष्टा—यही शैशवीय अंगघात में सफलता के मुख्य आधार हैं।

औषध चिकित्सा—

मुख द्वारा—१.	मल्लचन्द्रोदय	$\frac{1}{4}$ र०
	रसराज	$\frac{1}{2}$ र०
	कु० चतुर्मुख	$\frac{1}{2}$ र०
	मयूर शिखा चूर्ण	४ र०
		२ मात्रा

निर्गुण्डी पत्र स्वरस व मधु के साथ २ बार।

२. Easton's syrup. Multi vitamin drops, Elixir B complex. तीनों को आवश्यक मात्रा में मिला भोजनोत्तर दोनों समय।

सूचीवेध—Vit B_1 (100 mg D), B. Complex, Vit. B_{12} एवं Pyridoxin (Vit B_6) का प्रयोग सम्मिलित या पृथक् पृथक् करना चाहिये। कुछ रोगियों में प्रॉस्टिगमीन के प्रयोग से भी लाभ होता है। यदि २-३ दिन Prostigmine की टिकिया के बाद लाभ न हो तो अधिक न देना चाहिये।

ख. एक माह के बाद—

स्थानीय—

१. गरम टब में आलोडन, स्थानीय सेंक पूर्ववत्। टब के भीतर रोगी को धीरे-धीरे हाथ-पैरों में गति करनी चाहिये।

२. शाखाओं का व्यवस्थित रूप से सञ्चालन कराने के लिये नियमित व्यायाम, लेटे-लेटे पैर हाथ मोड़ना, फैलाना आदि करना चाहिये। इस कार्य में विशेषज्ञ का परामर्श अच्छा रहेगा।

३. स्नान के बाद महामाष तैल का अभ्यंग कराना, मालिश करते समय तेल को सुखाने में ध्यान देना, जोर से न रगड़ना चाहिये। रक्त का प्रवाह ठीक होता रहे इसके लिये क्रम से अनुलोम तथा प्रतिलोम (ऊपर से नीचे तथा नीचे से ऊपर की ओर) मर्दन करना चाहिये। पेशियों को थपथपाना तथा धीरे-धीरे सहलाना विशेष लाभ करता है। महामाष तैल के अतिरिक्त बलातैल, नारायण एवं प्रसारिणीतैल का व्यवहार भी किया जा सकता है। तैलाभ्यङ्ग दिन में १ बार पर्याप्त है। किन्तु रक्तप्रवाह को व्यवस्थित रखने के लिये सूक्ष्म चूर्ण से उद्धूलन (Powdering) कर पूर्ववत् मालिश करनी चाहिये। पेशियों के बलाधान के लिए नकुल तैल के प्रयोग से बहुत लाभ हुआ है। नकुल मांस घृत या नकुलतैल का व्यापक प्रयोग अपेक्षित है, अभी तक जिन रोगियों में प्रयोग किया गया, प्रचलित साधनों की अपेक्षा बहुत अधिक लाभ परिलक्षित हुआ है।

औषध चिकित्सा—

१. स्वर्णभस्म	½ र०
मल्लचन्द्रोदय	१ र०
लौहभस्म	४ र०
रसायन योगराज	१ मा०
	८ मात्रा

प्रातः-सायं मधु के साथ।

२. अश्वगन्धा, नागबला, अजवाइन, पिप्पलीमूल, शुण्ठी—इनका समभाग चूर्ण २ मा० की मात्रा में २ र० स्वर्णमाक्षिक मिलाकर रात्रि में सोने के पूर्व मधु के साथ।

३. जीवतिक्तियों के योग, हाइपोफास्फाइट्स, कुचिला एवं मल्ल के अन्य योग, पूर्व पाचित प्रोभूजिनों के योग आदि का व्यवहार करना चाहिये।

३ मास के बाद—

स्थानीय—

रोगी को धीरे-धीरे खड़ा करने एवं ट्राइसाइकिल या पंगुल गाड़ी (Invalid chair) में बैठाकर चलने-फिरने की अनुमति दी जा सकती है। एक ही पैर की पेशियों का व्यापक रूप में घात होने पर विशेष प्रकार के जूते की, जो वंक्षण पर्यन्त सन्धियों को गति एवं पेशियों को बल देने के लिये विशेष साधनों से युक्त होते हैं, व्यवस्था करायी जा सकती है। प्लास्टर आफ पेरिस की कुशा

(Plaster castings) बनाकर चलते-फिरते समय बाँधना चाहिये। चलाने फिराने में पर्याप्त सावधानी रखना चाहिये अन्यथा पेशियों में कड़ापन एवं सन्धियों की विकृति उत्पन्न हो सकती है।

मर्दन के लिये महामाष तैल उत्तम है। मत्स्य तैल (Cod liver oil), जैतून के तैल का प्रयोग भी महामाष के स्थान पर किया जा सकता है। मर्दन, ऐच्छिक एवं अनैच्छिक अङ्ग सञ्चालन के द्वारा ही मुख्य लाभ होता है।

औषध चिकित्सा पूर्ववत्।

स्तब्धता एवं विकृत सङ्कोचजन्य विकृति को व्यवस्थित करने के लिये शल्यकर्म भी क्वचित् सहायक होता है।

निगलने की पेशियों का अंगघात (Paralysis of deglutition)—इस उपद्रव के होने पर रोगी को निगलने तथा खाँस कर कफ थूकने में अशक्ति उत्पन्न हो जाती है। परिणामस्वरूप श्वासप्रणाली एवं फुफ्फुस में श्लेष्मा का संचय होकर श्वासावरोध सदृश लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। इसका उपचार विशेष यंत्र द्वारा श्लेष्मा का प्रचूषण, नासा द्वारा आहारौषध का प्रयोग तथा उत्तरकालीन श्वसन उपसर्गों को रोकने के लिये विशाल क्षेत्रक प्रतिजीवी औषधियों का प्रयोग करना चाहिये। आवश्यक होने पर कण्ठ नाड़ी पाटन (Tracheotomy) की व्यवस्था भी करायी जा सकती है। रोगी को प्राणवायु सुंघाने से लाभ होता है।

प्रतिषेध-व्यवस्था—

मसूरी का प्रयोग अभी प्रयोगात्मक स्थिति में है। रूस तथा ब्रिटेन में इधर अपेक्षाकृत अधिक सफल प्रयोगों के परिणाम उपलब्ध हुए हैं। जबतक कोई निरापद एवं कार्यक्षम मसूरी का व्यापक रूप में प्रयोग न हो सके, निर्णयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। निकट भविष्य में अच्छी विश्वस्त मसूरी के उपलब्ध होने की आशा है।

मरक के समय या घर में दूसरे बच्चों के होने पर रुग्ण को पूरी तरह से अलग रखना तथा स्वस्थ होने के बाद भी पर्याप्त समय बिन्दूत्क्षेप या मल के द्वारा संक्रमण संभव है—इस बात का ध्यान रखते हुए प्रतिबन्ध की चेष्टा करनी चाहिए।

रोमान्तिका (Measles)

आकस्मिक रूप में तीव्र ज्वर, श्वसन संस्थान का प्रसेक, गाल के भीतर कापलिक के धब्बे (Koplik's spot) तथा चेहरे की आरक्तिमा और चेहरे से आरम्भ होकर सारे शरीर में विशिष्ट प्रकार के गाँठदार विस्फोटों की उत्पत्ति होना रोमान्तिका का मुख्य लक्षण माना जाता है।

रोमान्तिका में पित्त और श्लेष्मा के लक्षणों की प्रधानता के कारण चेहरे का वर्ण लाल तथा प्रतिरोम छोटे-छोटे रक्तवर्ण विस्फोटों की उत्पत्ति और कास तथा अरोचक की अनुगामिता तीव्र स्वरूप के ज्वर के उपरान्त होती है।[१]

सामान्यतया बाल्यावस्था में—विशेषकर तीसरे व चौथे वर्ष की आयु में—इसका सर्वाधिक प्रकोप होता है। ६ मास की आयु तक सहज क्षमता के कारण रोमान्तिका का आक्रमण नहीं हो पाता। दस साल की अवस्था के बाद इसका आक्रमण बहुत कम होता है।

शिशिर के अन्त से इस रोग का प्रारम्भ एवं वसन्त ऋतु में चरम प्रकोप होता है। इस प्रकार माघ से प्रारम्भ कर वैशाख तक इसकी तीव्रता स्वयं शान्त हो जाती है।

पहले से ही कुकास, श्वसनीफुफ्फुसपाक, रोहिणी तथा फक्क रोग आदि से पीड़ित बालकों में; जीवतिक्ति, मांस जातीय पदार्थ एवं इतर पोषक पदार्थों का आहार में अभाव होने पर और अस्वास्थ्यकर स्थानों एवं बहु सम्मर्द (Congested) मुहल्लों में रहने वाले बच्चों में इसका प्रकोप अधिक होता है।

रुग्ण बालकों के बिन्दूत्क्षेपों द्वारा वायुमण्डल में फैले हुये विषाणु प्रश्वास के साथ स्वस्थ मनुष्यों के शरीर में प्रविष्ट होकर रक्त में संवर्धित होते हैं। सामान्यतया दोषों का संचय ९ से ११ दिन तक होता है। संचयकाल में रोगी को कोई कष्ट नहीं होता, कदाचित् ग्रीवा, कक्षा एवं वंक्षण की लसग्रन्थियाँ फूलकर अल्पवेदना युक्त हो सकती हैं। रोमान्तिका का मुख्य उत्पादक कारण विषाणु माना जाता है, जिससे ज्वर विस्फोटकादि विशिष्ट लक्षण उत्पन्न होते हैं। किन्तु उत्तरकालीन उपद्रवों की उत्पत्ति शोणांशिक मालागोलाणु, श्लेष्मक दण्डाणु व फुफ्फुस गोलाणु आदि विशिष्ट उपसर्गों के कारण होती है। बिन्दूत्क्षेपों के अतिरिक्त रोगी के थूक से दूषित रूमाल, तौलिया इत्यादि के द्वारा भी स्वस्थ व्यक्तियों में इसका प्रसार हो सकता है। दाने निकलने के चार दिन पूर्व और उपसर्गाक्रान्त होने के ८-९ दिन बाद रोमान्तिका की औपसर्गिकता सर्वाधिक होती है। गर्भवती स्त्री के पीड़ित होने पर गर्भस्थ शिशु भी सहज रोमान्तिका से पीड़ित हो जाता है। इसमें तुण्डिका, सारे शरीर की लसग्रन्थियों, आन्त्रगत लसाभपिण्ड, त्वचा और श्लेष्मल त्वचा में रक्ताधिक्य तथा शोथ के लक्षण होते हैं। श्वसन संस्थान में प्रसेक तथा शरीरगत सुप्त राजयक्ष्मा के केन्द्रों की उद्दीप्ति रोमान्तिका पीड़ित व्यक्तियों में देखी जाती है। रोग का आक्रमण आकस्मिक रूप में प्रायः श्वसन संस्थान के प्रसेक के साथ होता है। इसके मुख्य लक्षण तीव्र ज्वर, प्रसेक, विस्फोट इत्यादि होते हैं।

---

१. रोमकूपोन्नतिसमा रागिण्यः कफपित्तजाः। कासारोचकसंयुक्ता रोमान्त्यो ज्वरपूर्विकाः॥
—(माधव)

ज्वर—प्रथम दिन से ही ज्वर तीव्र स्वरूप का १०३° से १०५° तक, कदाचित् शीतपूर्वक ज्वरावेग, ज्वर के साथ ही अरुचि, अवसाद, नासा स्राव, कास, नेत्रों की सजलता, किञ्चित् शोथयुक्त नेत्र, प्रकाश असहनशीलता, नेत्रों की रक्तवर्णता, गले के भीतर मन्दस्वरूप की वेदना का अनुभव तथा प्रतिश्याय के समान छींक की प्रवृत्ति ज्वर के प्रारम्भ से होती है। दूसरे दिन ज्वर तथा उसके साथ उत्पन्न सभी लक्षण कुछ मन्द से हो जाते हैं। तीसरे या चौथे दिन तक यही स्थिति बनी रहती है। ध्यान देने पर इन दिनों में चेहरा, मुख और नासा के पास कुछ अरुणाभ-कृष्णता परिलक्षित होती है। गाल के भीतर श्लेष्मलकला में कापलिक के दानों की उत्पत्ति होती है। चौथे या पाँचवें दिन ज्वर का वेग पुनः तीव्रतम मर्यादा १०५° तक पहुँच जाता है और क्रम से सारे शरीर में विस्फोट निकलते हैं। विस्फोट निकलते समय नाड़ी की गति ज्वर के अनुपात में तीव्र किन्तु श्वासगति अनुपात में उससे भी तीव्र होती है। ग्रीवा व कक्षा की लसग्रन्थियाँ शोथ एवं वेदनायुक्त हो जाती हैं। प्रतिश्याय, प्रसेक, कास इत्यादि के लक्षण कुछ बढ़ जाते हैं तथा नेत्र एवं नासा से निकलने वाला स्राव गाढ़ा व चिपचिपा होता है। मुख शुष्क, जिह्वा मलावृत व अंकुरदार तथा तृष्णा का आधिक्य भी इन दिनों हो जाता है। शिरःशूल, निद्रानाश आदि के कारण बालक चिड़चिड़ा तथा बेचैन रहता है। प्रायः बार-बार मूत्रत्याग की इच्छा व कुछ रोगियों में प्रवाहिका के लक्षण भी उत्पन्न हो जाते हैं। प्रायः विस्फोटों का उपशम सातवें दिन तक होने लगता है। साथ ही ज्वर भी क्रम से शमित होता जाता है। इस प्रकार ज्वर की मर्यादा क्रम से ७ से ९ दिन तक होती है। ज्वरमुक्ति के बाद भी कास, स्वरभेद आदि लक्षण कुछ दिन तक रह सकते हैं।

पूर्व-विस्फोट और कॉपलिक के धब्बे—ज्वराक्रमण के दूसरे या तीसरे दिन चेहरे पर, मुख व नासा के आस पास कृष्ण वर्ण के किञ्चित् उभड़े हुये से विस्फोट निकलते हैं। ध्यान देने पर चेहरा यत्र तत्र कृष्णतायुक्त सा दिखाई पड़ता है। प्रायः २४ से ३६ घण्टे के बीच में यह शान्त हो जाते हैं। उसी समय अर्थात् मुख्य विस्फोट निकलने के दो तीन दिन पूर्व मुख के अन्दर गाल के भीतर की ओर पूर्व चर्वणक दन्त (Pre-molar) के सम्मुख आकार में आलपीन के सिरे के बराबर किञ्चित् उभाड़दार कृष्णाभ श्वेत वर्ण के विस्फोट निकलते हैं। इनके मूल के चारों ओर कुछ लाली रहती है। यह विस्फोट उक्त स्थान के अतिरिक्त ओष्ठों की श्लेष्मल त्वचा तथा मुख के भीतर इधर उधर भी मिल सकते हैं। प्रायः ९० प्रतिशत रोगियों में मुख्य विस्फोटोद्गम के ३-४ दिन पूर्व निकलने के कारण निदान की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण होते हैं। मुख के भीतर होने के कारण भली प्रकार परीक्षा न होने के कारण आसानी से छूट सकते हैं। इसलिये रोमान्तिका का सन्देह होने पर प्रारम्भ से ही मुख गह्वर को भली प्रकार सुप्रकाशित कर उनकी खोज करनी चाहिये।

विस्फोटोद्गम—ज्वर प्रारम्भ होने के चतुर्थ दिन सर्वप्रथम ललाट, शंखप्रदेश, कर्ण के पीछे और मुख द्वार के चारों ओर रक्तवर्ण के उद्वर्णिक या उत्कर्णिक (Macular or papular) स्वरूप के विस्फोट उत्पन्न होते हैं। प्रायः विस्फोटोद्गम के समय सन्ताप १-२ अंश अधिक हो जाता है। चेहरे पर निकलने के बाद क्रम से ग्रीवा, मध्य शरीर और शाखाओं में इनका प्रसार २४-४८ घण्टे के भीतर पूर्ण रूप से हो जाता है। प्रारम्भ में चेहरा इन विस्फोटों के कारण रक्तवर्ण का फूला हुआ सा दिखाई पड़ता है। विस्फोट स्थान-स्थान पर आपस में मिलकर अर्धचन्द्राकार या सर्पगति सदृश लहरदार से दिखाई देते हैं। इनके निकलने के बाद त्वचा आर्द्र और विशेष प्रकार की दुर्गन्ध-युक्त हो जाती है। प्रायः त्वचा में जलन और कण्डू भी होती है। सातवें दिन से विस्फोट अनुक्रम से शान्त होने लगते हैं और दो तीन दिन में पूरी तरह मिट जाते हैं। मिट जाने के बाद त्वचा से भूसी सी निकलती रहती है और कहीं कहीं विशेषतया पीठ पर किञ्चित् कृष्णाभ धब्बे से कुछ दिनों के लिये रह जाते हैं।

अन्य लक्षण—प्रारम्भ से ही प्रतिश्याय सदृश लक्षण की प्रधानता, नासा एवं नेत्र स्रावयुक्त, स्वरभेद, सावेग शुष्क कास, क्वचित् श्वसनी फुफ्फुस पाक, प्रकाश सन्त्रास, नेत्राभिष्यन्द, मुखपाक, आध्मान, प्रवाहिका इत्यादि लक्षण बहुत से रोगियों में मिला करते हैं।

तीव्रता की दृष्टि से सौम्य, तीव्र और मध्यम स्वरूप के अतिरिक्त विशेष लक्षणों के आधार पर पृथक्-पृथक् नाम तथा पृथक्-पृथक् भेद इसके किये जाते हैं।

१. विषाक्त—इसमें विस्फोट भली प्रकार से नहीं निकलते। तीव्र ज्वर, श्वासकृच्छ्र, प्रलाप, निपात आदि उपद्रव उत्पन्न होकर रोगी की मृत्यु तक हो सकती है।

२. फौफ्फुसीय—इस प्रकार की रोमान्तिका में रोग का विशेष प्रभाव फुफ्फुस में होने के कारण श्वासकृच्छ्र, तीव्र श्वास, तीव्र ज्वर आदि लक्षण फुफ्फुस पाक के सदृश होते हैं। मरक काल के अतिरिक्त समय में निदान करने में कठिनाई होती है।

३. रक्तस्रावी—इसमें त्वचा, श्लेष्मल त्वचा एवं शरीर के सभी स्रोतों से रक्तस्राव की प्रवृत्ति दूसरे गम्भीर लक्षणों के साथ होती है।

इन भेदों के पृथक् उल्लेख का केवल इतना ही तात्पर्य है कि सामान्य लक्षणों के अतिरिक्त इन विशिष्ट लक्षणों का भी निदान करते समय ध्यान होना चाहिये।

प्रायोगिक निदान—सामान्यतया प्रायोगिक निदान से कुछ विशेष जानकारी रोमान्तिका के समर्थन में नहीं मिलती। प्रारम्भ में श्वेत कणापकर्ष और लसकायाणु की आंशिक वृद्धि मिल सकती है। नासा, नेत्र एवं मुख के स्राव की परीक्षा करने पर मालागोलाणु, फुफ्फुस गोलाणु आदि की उपस्थिति द्वितीय उपसर्गों (Secondary infections) को व्यक्त करती है। अभी तक विषाणु का स्वरूप निर्धारण नहीं हो सका है।

सापेक्ष्य निदान—प्रतिश्याय, मसूरिका, रोहिणी, श्वसनी फुफ्फुस पाक, पलित-मज्जा शोथ (Poliomyelitis), मस्तिष्क शोथ (Encephalitis) तथा अन्य विस्फोट युक्त ज्वरों से पृथक्करण करना चाहिये।

रोग विनिश्चय—रोमान्तिका से आक्रान्त होने का जानपदीय पूर्ववृत्त, रोगी की आयु, ऋतु-काल, रोमान्तिका पीड़ित व्यक्ति के साथ रोगी का सम्बन्ध आदि विषयों पर ध्यान देने से निदान में सहायता मिलती है। प्रसेकयुक्त प्रतिश्यायपूर्वक तीव्र ज्वर का आक्रमण, चेहरे की रक्तिमा, कॉपलिक के धब्बे, क्रमपूर्वक विशेष प्रकार के विस्फोटों की उत्पत्ति तथा विस्फोटोद्गम के समय ज्वरादि लक्षणों की तीव्रता आदि की उपस्थिति से रोमान्तिका का निर्णय हो सकता है। प्रायः एक बार आक्रमण होने के बाद दुबारा होने की सम्भावना नहीं होती। इसलिये इसके पूर्व कभी रोगी आक्रान्त हुआ है अथवा नहीं इसकी जानकारी करना रोग विनिश्चय में सहायक होता है।

उपद्रव तथा अनुगामी विकार—रोमान्तिका उपद्रव एवं अनुगामी विकारों की दृष्टि से ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व्याधि मानी जाती है। विषाणु के प्रभाव से शरीर के हीनक्षेत्र हो जाने के कारण कोई भी उपद्रव बहुत आसानी से हो सकता है, और चिकित्सा की दृष्टि से सामान्यतया सुखसाध्य होते हुये भी विशेष परिस्थितिवश असाध्य हो जाता है। इसलिये विस्फोट दर्शन के बाद और ज्वरमोक्ष के समय (उपद्रवों की दृष्टि से यही काल सर्वाधिक महत्त्व का है) निम्नलिखित सम्भाव्य उपद्रवों का अनुसन्धान ध्यानपूर्वक करते रहना चाहिये। फुफ्फुसपाक, श्वास नलिकाशोथ, श्वसनी-फुफ्फुसपाक, फुफ्फुसावरणशोथ, स्वरयंत्रशोथ, मुखपाक, कर्दमास्य (cancrumoris), प्रवाहिका, सन्धिशोथ, मस्तिष्क सुषुम्नाशोथ एवं तज्जन्य अंगघात, मध्यकर्णशोथ, नेत्राभिष्यन्द, मूर्च्छा, निपात आदि।

साध्यासाध्यता—एक साल से कम आयु वाले बच्चे में तथा हेमन्तऋतु में रोमान्तिका का आक्रमण होने पर असाध्यता बढ़ती है। कभी-कभी प्रारम्भ से ही रोमान्तिका तीव्र मरक के रूप में हुआ करती है, जिसमें मृत्यु संख्या ५०–६० प्रतिशत तक हो सकती है। फक्करोग, तुण्डिकेरीशोथ तथा दूसरी जीर्ण व्याधियों से पीड़ित रोगियों में घातकता अधिक होती है। उसी प्रकार हीन भोजन, अस्वास्थ्यकर स्थानों में निवास और ऋतुचर्या के नियमों का पालन न करने पर इसका आक्रमण तीव्र स्वरूप का हुआ करता है। प्रारम्भ से ही अतितीव्र सन्ताप, विस्फोटों का ठीक-ठीक न निकलना, आक्षेप, निपात, विस्फोट शमन के समय सन्ताप का कम न होना आदि लक्षण होने पर रोमान्तिका की असाध्यता बढ़ती है। यों यह स्वयं मर्यादित रोग है। निरुपद्रुत होने पर स्वतः एक सप्ताह में रोग का मोक्ष हो जाता है किन्तु श्वसनी फुफ्फुसपाक, मस्तिष्कशोथ, मस्तिष्कावरणशोथ, रोहिणी, स्वरयन्त्रशोथ, कुकास, प्रवाहिका आदि उपद्रव होने पर गम्भीर स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार इस

रोग की घातकता मुख्यतया द्वितीय उपसर्गों के उपद्रवों के कारण हुआ करती है। एतदर्थ रोग विनिश्चय होने के उपरान्त उपद्रव प्रतिषेध एवं प्रतिकारक शक्ति की वृद्धि के लिये चेष्टा करनी चाहिये।

रोगमुक्ति के उपरान्त भी भली प्रकार बलकारक आहार-विहार-औषधों का प्रयोग तथा संयम न करने पर बहुत से अनुगामी विकार हो जाते हैं। तुण्डिकेरीशोथ, मध्यकर्णपाक का सर्वाधिक आक्रमण रोमान्तिका पीड़ित व्यक्तियों में होता है। इसके आक्रमण के बाद सुप्त रूप में राजयक्ष्मा का दोष शरीर में रहने पर नये सिरे से उसकी अभिव्यक्ति रोमान्तिका पीड़ित होने पर हो सकती है तथा क्षयज जीवाणुओं के लिये अनुकूल क्षेत्र होने के कारण रोमान्तिका मुक्त व्यक्ति आसानी से राजयक्ष्मा का शिकार हो सकता है। इन विकारों के अतिरिक्त ग्रीवा की लसग्रंथियों का शोथ, फुफ्फुस का तान्त्वीभवन, श्वसनिकाभिस्तीर्णता (Bronchiectasis), तुण्डिकेरीशोथ, श्वसनी-फुफ्फुस पाक, पचनसंस्थान के जीर्ण विकार, दौर्बल्य, कर्णस्राव, कर्णमूलास्थि शोथ आदि विकार भी रोमान्तिकोन्मुक्त व्यक्तियों को अधिक पीड़ित करते हैं।

सामान्य चिकित्सा—रोमान्तिका से पीड़ित होने का सन्देह होने पर रोगी को पृथक् कमरे में रखना आवश्यक होता है, इससे रोग का प्रसार भी रुकता है तथा रोगी के हीन प्रतिकारक होने के कारण अन्य रोगों से आक्रान्त या स्वस्थ वाहकों के द्वारा उपसृष्ट होने का भय भी नहीं रहता। इस दृष्टि से मकान के ऊपरी खण्ड का कमरा, जो पर्याप्त हवादार एवं प्रशस्त हो, उत्तम माना जाता है। कमरा पूर्ण विशोधित तथा शुष्क होना चाहिए। रोगी की शय्या मुलायम, स्वच्छ तथा ऋतु अनुकूल सुखावह होनी चाहिए। प्रकाश-द्वेष के कारण रोगी अंधेरे कमरे में सुख का अनुभव करता है। इस कारण सूर्यकिरणों का सीधा प्रवेश, तीव्र शक्ति के प्रदीपों का प्रकाश, शीतवायु एवं शीतल जल का प्रयोग भी निषिद्ध माना जाता है। इसमें मुख्य दोष पित्त तथा श्लेष्मा माने जाते हैं। इस दृष्टि से श्लेष्मा एवं पित्त की वृद्धि करने वाले आहार-विहार का परित्याग कराना चाहिए। रोगी को गरम ऊनी वस्त्रों से ढकना तथा प्रतिदिन ओढ़ने-बिछौने को धूप में कुछ समय तक रखना श्रेयस्कर होता है।

प्रारम्भ से ही बालक को अरुचि रहती है, इसलिए किसी प्रकार के आहार की इच्छा नहीं होती। अतः २-३ दिन का लंघन दोष के पाचन एवं उपद्रव प्रतिषेध की दृष्टि से उत्तम होता है। रुचि होने पर लाजमण्ड, यवपेया, नारिकेलजल, षडंगशृत दूध या मुसम्मी का कदुष्ण रस दिया जा सकता है। दूध को फाड़कर उसका पानी दाह एवं कोष्ठबद्धता होने पर तथा छेना क्षुधा एवं दुर्बलता की शान्ति के लिए दिया जा सकता है। प्रसेक के कारण खाद्य-पेय ईषद् उष्ण ही देना चाहिए। प्रवाहिका की संभावना होने के कारण दूध का प्रयोग सावधानी से ही करना चाहिए। ज्वर का शमन होने पर शनैः शनैः सुपाच्य एवं पोषक आहार का सेवन कराया जा सकता है।

रोमान्तिका ज्वर का शमन करने में सुखोष्ण जल में मुलायम मोटा तौलिया भिगोकर स्वेदन करते हुए परिमार्जन करना विशेष सहायक होता है। उष्ण पेय, उष्ण वास तथा उष्ण जल परिमार्जन रोग के शीघ्र शमन तथा सुखपूर्वक विस्फोटोद्गम में सहायक होता है। इसमें मुखपाक तथा नेत्राभिष्यंद और नासौष्ठशुष्कता की संभावना होती है। अतः इन अंगों की विशेष स्वच्छता रखनी चाहिए। नासा एवं गले में पहले से विकारी जीवाणु रहा करते हैं, हीन प्रतिकारकता से वे रक्त में पहुँच कर गंभीर स्वरूप के उपद्रव उत्पन्न करते हैं। अतः दूषित पूय स्थानों की शुद्धता का ध्यान रखना चाहिए। नेत्रों में गुलाबजल में रसांजन तथा भुनी हुई फिटकरी मिलाकर डालना, लिक्विड पाराफिन (Liquid paraffin) या प्रोटार्गल ५% (Protargole 5%) या जेड. ए. बी. (Zinc-Alum-Boric lotion) डालना लाभकारी होता है। मुख की सफाई ग्लैकोथायमोलिन (Glacothymoline), डेटॉल (Dettol), या लिस्टरीन (Listrine) के मृदु घोल से की जा सकती है। इनसे भली प्रकार कुल्ला कराना तथा बाद में बोरोग्लीसिरीन (Boroglycerin) का मसूड़ों एवं जिह्वा आदि पर लेप करना अच्छा होता है। ओष्ठ तथा नासा की रूक्षता एवं विदारों के प्रतिषेधार्थ टंकणादि मलहम (Boric ointment) या बोरोफेक्स (Borofex) का प्रयोग कराना चाहिए। सामान्यतया निम्नलिखित ओषधियों का क्वाथ कवल ग्रह के रूप में प्रयुक्त करने से सर्वाधिक लाभकारी होता है। शिरीष मूलत्वक्, मंजिष्ठा, चव्य, आमला, मधुयष्टी और चमेली के पत्ते प्रत्येक १,-१ तोला की मात्रा में एक पाव पानी में क्वाथ बना कर आधा शेष रहने पर छान कर १ तोला मधु मिलाकर कवल-ग्रहार्थ देना चाहिए। इससे मुख-गला-नेत्र-कर्ण तथा नासा आदि के दोषों का शोधन तथा अनुगामी उपद्रवों का प्रतिषेध होता है। रोग विनिश्चय होने के उपरान्त सौम्य विरेचन से कोष्ठ शुद्धि कर देने से भविष्य में लक्षणों की तीव्रता कम हो जाती है। एतदर्थ यष्टयादि चूर्ण दो माशा की मात्रा में अथवा अश्व कञ्चुकी १ रत्ती की मात्रा में एक दो बार देने से लाभ हो जाता है। विभक्त मात्रा में रस पुष्प (Fractional calomel) का प्रयोग अथवा २-३ ड्राम की मात्रा में Mag sulph का प्रयोग भी शोधन की दृष्टि से अच्छा माना जाता है। विरेचन सम्भव न होने पर स्निग्ध वस्ति के द्वारा मलाशय का शोधन करना आवश्यक होता है।

ओषधि चिकित्सा—रोमान्तिका के लिये रामबाण औषध का अभी तक आविष्कार नहीं हो सका। इस दृष्टि से रोमान्तिका की कोई सटीक औषध नहीं है। किन्तु कुछ ओषधियों का प्रयोग पिछले वर्षों में पर्याप्त सफलता के साथ किया गया है। अतः यथोपलब्धि औषध व्यवस्था करनी चाहिये। समाज में रोमान्तिका-शीतला आदि विस्फोट युक्त ज्वरों में चिकित्सा न कराने की ही प्रथा है। किन्तु उपयुक्त चिकित्सा के द्वारा व्याधि की तीव्रता एवं उपद्रवों का प्रतिकार निश्चित रूप से होता है, अतः यथाशक्ति चिकित्सा की व्यवस्था करनी चाहिये।

१. सन्निवृत्त लसिका (Convalscent serum)—सद्यः सन्निवृत्त व्यक्ति की लसिका अधिक गुणकारी होती है। ५ से २० सी० सी० की मात्रा में सन्निवृत्त लसिका का प्रयोग पेशीगत सूचीवेध के रूप में चार दिन तक प्रति दिन करना चाहिये। रोगाक्रमण के बाद जितना शीघ्र (अधिक से अधिक ५ दिन तक) इसका प्रयोग किया जाय उतना ही लाभ होता है। लसिका की मात्रा रोगी की आयु, व्याधि की तीव्रता और शरीर के स्वास्थ्य के आधार पर घटायी बढ़ायी जा सकती है। लसिका न मिलने पर सद्यः सन्निवृत्त व्यक्ति का पूर्ण रक्त (Whole blood) १० से २० सी० सी० की मात्रा में पेशीगत सूचीवेध के रूप में दिया जा सकता है। सद्यः सन्निवृत्त की लसिका या रक्त न उपलब्ध होने पर दूसरे स्वस्थ व्यक्ति की लसिका या रक्त, जो कभी भी रोमान्तिका से पीड़ित रहे हों, पूर्ववत् दिया जा सकता है। किन्तु लसिका या रक्त की मात्रा सद्यः सन्निवृत्त की तुलना में चतुर्गुणित होनी चाहिये। गामाग्लोब्युलिन (Gamma globulin) ३ से १० सी० सी० की मात्रा में या मानवीय सक्षम ग्लोब्युलिन (Human immune globulin) २ से १० सी० सी० की मात्रा में पेशीगत सूचीवेध के रूप में दिया जा सकता है। रोगाक्रमण के ५ दिन बाद भी सक्षम लसिका या रक्त का प्रयोग किया जा सकता है। इससे व्याधि की तीव्रता में आंशिक कमी अवश्य होती है।

२. अपरा सत्व (Placental extract)—पिछले कुछ वर्षों से रोमान्तिका के प्रतिरोध व चिकित्सा में अपरासत्व का व्यवहार बहुत सफलतापूर्वक किया गया है। ५ से १० सी० सी० की मात्रा में पेशीगत सूचीवेध के रूप में आयु, स्वास्थ्य व व्याधि की तीव्रता के आधार पर सन्तुलित कर नित्य ३-४ दिन तक देना चाहिये।

निम्नलिखित क्वाथ के प्रयोग से रोमान्तिका की तीव्रता कम होकर विस्फोट आसानी से निकलते हैं तथा उत्तरकालीन उपद्रवों की सम्भावना कम हो जाती है। अतः प्रारम्भ से ही इनमें से किसी का प्रयोग करना चाहिये।

१. पटोलादि क्वाथ—पटोलपत्र, त्रिफला, निम्बत्वक्, गुडूची, नागरमोथा, रक्तचन्दन, मूर्वा, कुटकी, पाठा, हरिद्रा तथा यवासा—समभाग में २ तोला की मात्रा में लेकर अष्टगुणित जल में चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ बनाकर १ तोला की मात्रा में मधु के साथ दिन में २ बार पिलाना चाहिये। इससे विस्फोट, कण्डु तथा ज्वर का शमन होता है।

२. खदिराष्टक क्वाथ—खदिर, त्रिफला, निम्बत्वक्, पटोलपत्र, गुडूची व अडूसा—इनका समभाग क्वाथ पूर्वोक्त मात्रा में मधु मिलाकर पिलाना चाहिये।

३.	अश्वकंचुकी	½ र०
	रत्नगिरि	½ र०
	त्रिभुवनकीर्ति	½ र०
		१ मात्रा

मधु के साथ दिन में ३ बार, अनुपान—षडंगपानीय।

इसके प्रयोग से ज्वर का शमन और अन्तस्थ दोषों का पाचन अल्प समय में हो जाता है।

४. यदि विस्फोट दर्शन के पूर्व रोमान्तिका का विनिश्चय हो जाय तो ब्राह्मी बटी का प्रयोग षडंगपानीय या अष्टमांशावशेष जल के साथ करने से विस्फोट सुखपूर्वक निकलते हैं, सन्ताप इत्यादि का कष्ट नहीं बढ़ता। इसी प्रकार सर्वतोभद्र के प्रयोग से भी ज्वरादि लक्षणों की सौम्यता होती है।

लाक्षणिक चिकित्सा—

इसकी विशिष्ट चिकित्सा ज्ञात न होने के कारण लाक्षणिक व्यवस्था का ही महत्त्व होता है। प्रमुख लक्षणों की चिकित्सा का निर्देश नीचे किया जाता है।

अरति-सर्वांगवेदना-शिरःशूल आदि—प्रायः २-३ दिन तक रोगी को बेचैनी-सर्वांगवेदना आदि का कष्ट रहा करता है। इसके शमन के लिये—

Aspirin	gr 2
Phenacetin	gr 1
Codein phos	gr I
Lactose	grs 5
	१ मात्रा

दिन में ३ बार उष्णोदक के साथ २ दिन तक।

या

दन्तीभस्म	१ र०
गुडूची सत्त्व	२ र०
मृत्युंजय	½ र०
	१ मात्रा

दिन में ३ बार मधु के साथ।

अष्टमांशावशेष जल, क्वथित जल पर्याप्त मात्रा में बार-बार पिलाकर, कम्बल से ढककर लिटाने से प्रस्वेद के द्वारा दोष का शोधन होकर बेचैनी आदि का शमन होता है। शिरःशूल के शमन के लिए स्थानीय उपचार पूर्व निर्दिष्ट क्रम से किया जा सकता है।

सन्ताप—प्रारम्भ से ही ज्वर का वेग अधिक होने के कारण और विस्फोट निकलते समय बढ़ने के कारण कभी-कभी बहुत बेचैनी और सन्ताप के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। निम्न क्षारीय मिश्रण का प्रयोग ज्वर शमन में सहायक होता है—

1	Soda bi carb	gr 5
	Potas citras	gr 5
	Spt. ammon aromat	m 5
	Liq. ammon acetas	m 5
	Spt. aetheris nitrosi	m 10
	Syp. Aurentii	m 30
	Aqua chloroformi	dr 4

दिन में ३-४ बार। बालकों में अवस्थानुसार कम मात्रा।

१०३ से ऊपर ज्वर होने पर गुनगुने पानी में तौलिया भिगोकर सारा शरीर पोंछना या जल में मद्यसार (Alcohol) या यूडीकोलन मिलाकर उसी प्रकार पोंछना चाहिये।

सिर पर बरफ की थैली का प्रयोग तथा अन्य पूर्ववर्णित सन्तापशामक उपचार किया जा सकता है।

प्रसेक तथा कास—सामान्यतया प्रसेक के शमन का कोई उपचार अपेक्षित नहीं होता। बार-बार छींकने, नाक साफ करने एवं नेत्रों से सतत स्राव होने के कारण कुछ दाह एवं खराश सी हो जाती है। अतः टंकण मलहर (Boric oitment) या केवल सुगन्धित वैसलीन अथवा मक्खन नासा, ओष्ठ आदि पर लगाना चाहिये। नेत्र में मधु १-२ बूँद डालना अथवा लिक्विड पाराफिन (Liquid paraffin) का प्रयोग कण्डू एवं वेदना का शमन करता है। रोगाक्रमण के ४-५ दिन बाद सभी स्राव गाढ़े तथा पूययुक्त होने लगते हैं, ऐसी स्थिति में नेत्र के लिये पीला मलहम (Yellow ointment) या शुल्वौषधियाँ अथवा पेनिसिलिन के मलहम प्रयुक्त किये जा सकते हैं। नासा तथा गले के स्रावों में औपसर्गीयता होती है, अतः रूमाल या तौलिया आदि दिन में २-३ बार बदल देना और स्राव-दूषित वस्त्रों को उत्क्वथित कर साफ करना श्रेयस्कर है।

कास प्रायः शुष्क होता है। अधिक कष्ट न होने पर ताड़ मिश्री, बहेड़ा का छिलका, एलादि वटी, खदिरादि वटी आदि का चूसने के लिये प्रयोग करना चाहिये। अधिक कष्ट होने पर निद्रा आदि में बाधा होने की स्थिति में ग्लायकोडीन टर्प वसाका (Glycodein terp vasaka), टिकार्डा (Tecarda) आदि पेटेण्ट कासशामक योगों का व्यवहार किया जा सकता है। निम्नलिखित योग भी शुष्क कास का शमन करते हैं। किसी का यथावश्यक प्रयोग करना चाहिये।

१.	Tr. belladonna	ms 3
	Tr. hyoscyami	ms 5
	Bromoform	ms 2
	Glycerine	ms 10
	Syrup-tolu	dr. one
	Syrup pruni serotini	dr. 2
		१ मात्रा

दिन में ३-४ बार चाटने के लिये देना चाहिये।

२. Syrup eodein phos को ३० बूँद (आधा चम्मच) की मात्रा में ३ बार चाटने के लिये देना।

३. ऊपर लिखे हुये क्षारीय मिश्रण में टिंक्चर सिल्ला (Tr. scilla) १० से

१५ बूँद तथा सीरप टोलू (Syrup tolu) १ ड्राम की मात्रा में मिलाकर देने से ज्वर शमन होने के साथ कास का भी शमन होता है।

टिंक्चर बेंजोइन (Tr. benzoin co) की १ ड्राम मात्रा आधा सेर जल में डालकर गरम कर उसका वाष्प रोगी को सुंघाने से कास एवं प्रसेक दोनों में लाभ होता है।

विस्फोट एवं कण्डु आदि—१. करेले के पत्तों के १ तोला स्वरस में हरिद्रा चूर्ण १ माशा तथा मधु ३ माशा की मात्रा में मिलाकर पिलाने से विस्फोट विना कष्ट के निकल आते हैं।

२. विस्फोट निकलते समय ज्वर एवं दाह अधिक होने पर ब्राह्मी की पत्ती, धनिया, दारु हरिद्रा, नागरमोथा, गुडूची, मुनक्का एवं पटोल पत्र का क्वाथ मधु या मिश्री मिला कर पिलाने से लाभ करता है।

कदाचित् विस्फोट पूरे तौर से न निकलें अथवा कुछ निकल कर अवरुद्ध हो जायँ तो रोगी का कष्ट बहुत बढ़ जाता है। ऐसी स्थिति में दाहशामक उष्णवीर्य दोषपाचक ओषधियों का प्रयोग करना पड़ता है।

१. कचनार की छाल २ तोला अष्टगुणित जल में पकाकर चतुर्थांश शेष रहने पर छानकर १-२ रत्ती स्वर्णमाक्षिक भस्म मिलाकर पिलाने से अन्तर्लीन विस्फोट बाहर निकल आते हैं।

२. लौंग, शुण्ठी, ब्राह्मी की पत्ती, गुडूची और पाठा का क्वाथ भी पूर्ववत् लाभ करता है।

३. एलायरिष्ट को १-२ तोला की मात्रा में २-३ बार पिलाने से विस्फोटकालीन दाह एवं सन्ताप का शमन होता है।

४. दाह अधिक होने पर नील कमल, लाल चन्दन, लोध्र, खस, श्वेत तथा कृष्ण सारिवा को गुलाब जल में पीसकर दाह स्थान पर या सर्वांगदाह होने पर हस्त, पाद-तल, ललाट तथा पेडू पर लेप करना चाहिये।

विस्फोट निकलने के बाद प्रायः बदबूदार प्रस्वेद होता है और कभी-कभी कण्डू भी हो जाती है। इसकी शान्ति के लिये पञ्चपल्लव के हलके क्वाथ से शरीर पोंछ कर उद्धूलन (Dusting) करना चाहिये। बालकों के लिये टल्कम पाउडर आदि का भी प्रयोग किया जा सकता है। डेटाल (Dettol) पानी में डालकर उससे भी सफाई की जा सकती है। दाने मुरझा जाने पर कण्डू की शान्ति तथा द्वितीयक उपसर्गों के प्रतिरोध के लिये—

Carbolic acid	dr. one
Oil eucalyptus	dr. 2
Oil cajuput	dr. one
Olive oil to make	dr. 8

इस अनुपात में एक में मिलाकर हल्के हाथ से सारे शरीर को मालिश करनी चाहिये।

इसी प्रकार चन्दन-बला-लाक्षादि या तुवरकादि तैल का प्रयोग भी किया जा सकता है।

प्रवाहिका—मुखपाक के प्रतिषेध एवं चिकित्सा का पहले वर्णन किया जा चुका है। इसके उपचार से तीव्र प्रवाहिका (Entrocolitis) का प्रतिषेध हो जाता है। कदाचित् आध्मान-अरुचि आदि लक्षण हों तो दूध एवं दूसरे पोषक आहार बन्द कर देने चाहिये। केवल यवपेया, लाजमण्ड और शतपुष्पार्क आहार-पेय के रूप में दिया जा सकता है। इससे अधिक औषध की आवश्यकता सामान्य स्थिति में नहीं होती। सल्फा गुआनाडीन (Slphaguanadine), कार्बोकेओलीन (Carbokaolin) या आनन्द भैरव, कर्पूरवटी, बृ० लोकनाथ आदि का प्रयोग आवश्यकतानुसार किया जा सकता है।

प्रमुख उपद्रवों का उपचार—

रोमान्तिका स्वयं मर्यादित व्याधि होने पर भी विशिष्ट उपद्रवों के कारण गम्भीर परिणामवाली हो सकती है। नासागुहा, मुखविवर में कुछ न कुछ पूयोत्पादक जीवाणु होते ही हैं। हीनबल होने पर उनको वृद्धि करने का अवसर मिलता है। इसी कारण रोमान्तिका से मुक्त होते ही या उसके पूर्व श्वसन-संस्थान के उपद्रव अधिक संख्या में होते हैं। फुफ्फुस गोलाणु, शोणांशिक माला गोलाणु, रोहिणी तथा इन्फ्लुएञ्जा दण्डाणुजन्य विकार प्रायः हो सकते हैं। इसी कारण बहुत से चिकित्सकों की राय विस्फोट दर्शन होते ही इन उपद्रवों के प्रतिषेधार्थ औषध-व्यवस्था करने की है। प्रायः ज्वराक्रमण के ३ या ४ दिन बाद से द्वितीयक उपसर्ग प्रतिषेधक ओषधियों की व्यवस्था की जाती है। इन उपद्रवों के प्रतिषेध के लिये श्वसन-संस्थान के रोगों से पीड़ित व्यक्तियों का प्रवेश रोगी के कमरे में निषिद्ध होना चाहिये। अन्यथा उनके खाँसते-छींकते या ष्ठीवन के कणों के साथ निःसृत उपसर्ग रोगी के निःश्वास से भीतर पहुँच जायगा। परिचारकों को रोगी के कमरे में जाते समय नाक-मुख ढके (Mask) रखना चाहिये।

१. शुल्वौषधियाँ—सल्फामेजाथीन, सल्फाडायाजीन, एल्कोसिन आदि का व्यवहार सामान्य मात्रा में किया जाता है। शुल्वौषधियों के प्रति असहनशीलता या सूक्ष्म संवेदनता होने या जलराशि कम पहुँचने की स्थिति में इनका प्रयोग श्रेयस्कर नहीं होता। फुफ्फुस गोलाणु तथा शोणांशिक माला गोलाणुजनित उपद्रवों का प्रतिषेध इनके द्वारा होता है।

२. पेनिसिलिन—यह शुल्वौषधियों की अपेक्षा अधिक निरापद है। ६००० यूनिट प्रति पौण्ड शरीर भार के अनुपात में दिन में ४ बार मुख द्वारा देना चाहिये। इसके

साथ शुल्वौषधियों का मिश्रण किया जा सकता है। आजकल १ सप्ताह तक प्रभाव स्थायी रखने वाले पेनिसिलिन के योग मिलते हैं। डायमिडिन पेनसिलिन का चौथे दिन दिया हुआ एक सूचीवेध प्रतिषेध के लिये पर्याप्त होता है।

२. इन दिनों शुल्व एवं पेनिसिलिन क्षम जीवाणु जन्य (Resistant) व्याधियाँ अधिक हो रही हैं जिससे इन औषधियों की कार्यक्षमता कभी-कभी संदिग्ध हो जाती है। ऐसी स्थिति में आइलोटायसिन, ऑरियोमायसीन, एक्रोमायसीन या टेरामायसीन का उचित मात्रा में प्रयोग करना चाहिये। प्रारम्भ में इन विशाल क्षेत्रक प्रतिजीवी द्रव्यों का विषाणुओं पर भी प्रभाव होने की आशा थी, किन्तु बहुत प्रयोगों के बाद भी इनकी इस क्षेत्र में सफलता नहीं सिद्ध हो सकी। अतः इन प्रतिजीवी द्रव्यों के प्रयोग से रोमान्तिका की तीव्रता या रोग-काल कम होने की आशा न करनी चाहिये। किन्तु पाँचवें दिन से होने वाले द्वितीयक उपसर्गों का इनसे पूर्ण प्रशमन होता है।

रोहिणी का संदेह होने पर सक्षम लसीका का तुरन्त प्रयोग करना आवश्यक होता है। पूर्व निर्दिष्ट व्यवस्था से प्रायः श्वसनसंस्थानीय व्याधियाँ, मुखपाक, मध्य-कर्णशोथ, कर्दमास्य आदि का निरोध हो जाता है। विशिष्ट उपद्रव उत्पन्न होने पर उनका लाक्षणिक उपचार पूर्व वर्णित क्रम से करना चाहिये।

श्वसन संस्थान के उपद्रव—रोमान्तिका में श्वेत कणापकर्ष होने के कारण इसकी गम्भीरता प्रारम्भ से ही होती है, तथा शुल्वौषधियाँ और पेनिसिलिन अधिक कार्यक्षम नहीं हो पातीं। अतः आयलोटायसीन, ऑरियोमायसीन, टेरामायसीन, साइनरमायसीन का प्रयोग करना चाहिये। श्वासकृच्छ्र एवं श्यावास्यता होने पर प्राणवायु का प्रयोग किया जा सकता है।

मध्यकर्णशो—प्रतिदिन कर्ण विवर की सफाई, गण्डूष एवं कवलग्रह करने से इसका प्रतिषेध होता है। प्रतिदिन कर्ण का परीक्षण उपद्रव की दृष्टि से करना चाहिये। प्रतिषेधार्थ अणु तैल १ बूँद कान में डालना चाहिये। इसी प्रकार निम्न तैल योग भी काम में लिया जा सकता है :—

Carbolic acid	gr 10
Boric acid	gr 10
Spirit rectified	dr 2
Glycerine	oz one

२ बूँद प्रातः सायं कान में डालने से मध्यकर्णशोथ का प्रतिषेध होता है।

कर्णशूल, कर्णस्राव आदि के लक्षण उत्पन्न होने पर पेनिसिलिन आदि का प्रयोग करना चाहिये।

नेत्राभिष्यन्द—फुल्लिका द्रव, टंकण द्रव या जेड० ए० बी० लोशन (Z. A. B. lotion) का प्रयोग लाभकारी होता है। नेत्रबिंदु या अञ्जन के रूप में पेनिसिलिन, सल्फासेटामाइड एवं इतर प्रतिजीवक द्रव्यों के योगों का प्रयोग किया जा सकता है।

कर्दमास्य एवं मुखपाक का उपचार पृष्ठ ५२५ में वर्णित क्रम से करना चाहिये। सपूय विस्फोट होने पर शुल्वौषधियों तथा पेनिसिलिन के योगों का स्थानीय एवं सार्वदैहिक प्रयोग करना चाहिये।

मस्तिष्क-शोथ (Encephalitis)—रोमान्तिका-मुक्ति के बाद मस्तिष्कशोथ का उपद्रव कभी-कभी होता है। तीव्र शिरःशूल, बेचैनी, अनिद्रा, आक्षेप, वमन आदि लक्षण आकस्मिक रूप में ज्वरमुक्ति के बाद या वेग के समय उत्पन्न होने पर मस्तिष्कशोथ का निदान किया जाता है। मध्यकर्णशोथ के माध्यम से अनेक बार यह उपद्रव होता है। इसके प्रतिषेध एवं निराकरण के लिये सफल चिकित्सा का परिज्ञान नहीं हो सका। केवल लाक्षणिक चिकित्सा की जाती है। आक्षेप की शान्ति के लिये शामक औषधियाँ Barbiturates या Bromides का प्रयोग, शिरःशूल के लिये ऐस्पिरिन, एमिडोपायरिन आदि और अन्त में कटिवेध के द्वारा सुषुम्नाद्रव का शोधन आवश्यक होता है।

निपात (Collapse)—तीव्र ज्वर के कारण उचित उपचार न होने पर निपात का उपद्रव ५–७वें दिन हुआ करता है। बहुत बार रोमान्तिका द्वारा हीन-क्षम होने के कारण द्वितीयक उपसर्गों के परिणामस्वरूप हृत्पेशीशोथ या हृदन्तःशोथ हो जाता है। इस अवस्था में भी नाड़ी क्षीण एवं अन्य हृदयावसाद के लक्षण उपस्थित हो जाते हैं।

इसके प्रतिषेध के लिये प्रारम्भ से ही प्रतिजीवी द्रव्यों का प्रयोग, सन्ताप की चिकित्सा और हृद्य औषधियों का प्रयोग करना चाहिये। उपद्रव के शमन के लिये निम्नलिखित उपचार किया जाता है।

१. बृहद् कस्तूरी भैरव	१ र०
योगेन्द्र	१ र०
ब्राह्मीवटी	१ र०
	३ मात्रा

पान के रस व मधु के साथ कई बार।

२. कायफल के सूक्ष्म चूर्ण से शाखाओं का उद्वर्तन।

३. आत्ययिक स्थिति में Strychnine sulph gr $\frac{1}{120}$ का अधस्त्वचीय सूचीवेध देने से लाभ हो जाता है।

४. राजिका स्नान—१ छटाँक राई भली प्रकार पीस थोडे पानी में मिलाकर बाद में स्नान के लिये पर्याप्त कुनकुना पानी मिलाना चाहिये। रोगी को गले पर्यन्त किसी टब में बैठाकर या अन्य उपकरण के द्वारा स्नान कराकर शरीर सूखे तौलिये से पोंछकर सारा शरीर कम्बल से ढँक देना चाहिये। ज्वर अधिक होने पर स्नान कराते समय और बाद में भी सिर पर बरफ की थैली रखनी चाहिये। इससे परिसरीय रक्तप्रवाह

की शिथिलता में सद्यः लाभ होता है। ज्वर अधिक न होने पर स्नान के पूर्व दो चम्मच ब्रान्डी या मृतसञ्जीवनी सुरा पिलाने से विशेष लाभ होता है।

५. गरम पानी की थैली या दूसरे उष्ण प्रयोग रोगी के चारों ओर रखने से लाभ होता है।

६. रक्त की मात्रा बढ़ाने की दृष्टि से, विशेषकर तीव्र सन्ताप की स्थिति में, अधस्त्वचीय या गुदामार्ग से समलवण जल का प्रयोग कराया जाता है।

बल संजनन—रोमान्तिका के प्रभाव से शरीर के हीन क्षम होने का अनेक बार उल्लेख पहले किया जा चुका है। अनुगामी विकारों के प्रतिषेध की दृष्टि से बल-संजनन का विशेष महत्त्व है। रोगमुक्ति के बाद से ही शुद्ध वायु, सुप्रकाशित स्थान में निवास तथा सुपाच्य पोषक आहार की व्यवस्था कराना आवश्यक होता है। कर्ण, नासा, मुख, गले की सफाई विशेषरूप से करनी चाहिये। शारीरिक क्षमता बढ़ाने की दृष्टि से जीवतिक्ति ए०,डी०,सी०, पूर्वपाचित प्रोभूजिन के योग, कैल्शियम, लौह तथा मल्ल के योग उचित व्यवस्था के साथ पर्याप्त समय तक देना चाहिये। सम्भव होने पर Ultraviolet rays का पाँच-सात दिन तक प्रयोग कराना चाहिये। मक्खन, अण्डा, दूध, ताजे फलों का आहार में विशेष स्थान होना चाहिये। पोषक आहार-विहार के लिये पूर्वोक्त क्रम से प्रबन्ध करना चाहिये। शीताभिषंग, पानी में भींगना, प्रवात-सेवन, प्रवास आदि से पर्याप्त समय तक बचाव रखना तथा छाती व गले को सर्दी से बचाना और गरम कपड़े पहनना चाहिये। निम्नलिखित योग का १ मास तक प्रयोग कराने से शीघ्र बल संजनन होता है

१. वसन्तमालती	½ र०
सहस्रपुटी या ५०० पुटी अभ्रक	½ र०
शृङ्गभस्म	१ र०
लौहभस्म	१ र०
प्रवालभस्म	१ र०
सितोपलादि	१॥ माशा
	मि० २ मात्रा

प्रातः-सायं मधु के साथ।

२. च्यवनप्राश ३–६ माशा तक १ चम्मच मक्खन या गोघृत मिलाकर रात्रि में दूध से।

प्रतिषेध—अभी तक रोमान्तिका से बचाने के लिये विशिष्ट मसूरी का अनुसन्धान नहीं हो सका किन्तु रुग्ण के साथ सम्पर्क का इतिहास मिलने पर व्याधि-प्रतिषेध की दृष्टि से सन्निवृत्त लसिका या गामा ग्लोब्यूलिन का प्रयोग अर्धमात्रा में करना चाहिये। एक दिन के अन्तर से २ सूचीवेध पर्याप्त होते हैं। आक्रान्त व्यक्ति

को समाज से पृथक् करना रोग के प्रसार को रोकने के लिये सर्वोत्तम माना जाता है। शिशिर एवं वसन्त ऋतु में इसका विशेष प्रकोप होने के कारण निम्न योगों में किसी का व्यवहार व्याधि-प्रतिषेध के लिये करना चाहिये।

१. सर्वतोभद्र	१ र०
ब्राह्मीवटी	१ र०
	२ मात्रा

तुलसीपत्र स्वरस तथा मधु से। सबेरे-शाम।

२. गुडूचीस्वरस १ चम्मच + मधु के साथ प्रातःकाल।

अथवा

मञ्जिष्ठा, देवदारु, कूट, गुडूची, वरुण की छाल तथा मुलहठी को समभाग में लेकर १ तोला की मात्रा का अष्टगुणित जल में चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ बनाकर १ चम्मच मधु मिलाकर ७ दिन तक प्रातःकाल पिलाना।

३. सोलेण्टे (Solente)—कुछ वर्षों से रोमान्तिका प्रतिषेध के लिए सोलेण्टे का बहुत सफलता के साथ प्रयोग किया गया है। ४ रत्ती से ८ रत्ती की मात्रा में प्रातः सायं १० दिन तक देना लाभकर माना जाता है।

मसूरिका (Small pox.)

यह तीव्र विस्फोटयुक्त विषाणु जन्य औपसर्गिक ज्वर वसन्तऋतु में विशेषकर बालकों को आक्रान्त करता है तथा इसमें विस्फोटों की विशिष्टरूप की क्रमिक अवस्थायें होती हैं। इस रोग का मुख्य कारण विषाणु माना जाता है जिसका प्रसार विन्दूत्क्षेप या वायु द्वारा हुआ करता है। विस्फोटों के स्राव में औपसर्गिक विषाणुओं की सर्वाधिक मात्रा रहती है। बिना मसूरीकरण के अथवा एक बार आक्रान्त हुये कोई भी व्यक्ति मसूरिका के प्रति पूर्णक्षम नहीं होता। सामान्यतया ४ वर्ष की अवस्था तक इसका सर्वाधिक आक्रमण होता है किन्तु युवावस्था तक कभी भी होने की सम्भावना रहती है। मसूरी के प्रयोग से शरीर में अस्थायी प्रतिकारक क्षमता उत्पन्न होती है। अतः बचपन में टीका लेने के बाद ४–६ साल के भीतर पुनः टीका न लेने पर अधिक अवस्था के व्यक्तियों में इसका आक्रमण होते देखा जाता है। संसार के सभी देशों में समान रूप से इसका प्रसार हुआ है, किन्तु जिन पाश्चात्य देशों में व्यवस्थित रूप से टीके का प्रयोग किया गया उनमें प्रायः इसका निराकरण सा हो गया। वसन्तऋतु में इसका विशेष प्रकोप होता है, किन्तु शुष्क धूलयुक्त किञ्चित् उष्ण जल-वायु इसके सर्वाधिक अनुकूल होती है। फरवरी से अप्रैल तक इसका प्रकोप रहने के बाद वर्षा होने पर

सार्द्र उष्णता के प्रभाव से इसका शमन हो जाता है। प्रति वर्ष कुछ न प्रकोप रहते हुये भी ४-६ वर्ष के बाद तीव्र मरक स्वरूप की मसूरिका का आव हुआ करता है।

रोगाक्रान्त व्यक्तियों के शरीर के विस्फोटों, श्लेष्मलत्वचा, मुख, नासास्राव मलमूत्रादि में मसूरिका विषाणु असंख्य संख्या में होते हैं। इनका अंश दूषित मक्खियों या विन्दूत्क्षेप के रूप में स्वस्थ व्यक्तियों के शरीर में त्वचा-अन्न श्वास मार्ग आदि के द्वारा प्रविष्ट होता है। प्रवेश करने के बाद रक्त, लसिका यकृत्, प्लीहा, अस्थिपञ्जर इत्यादि आन्तरिक अंगों में इनका संचय होता है। उ के बाद पर्याप्त मात्रा में संचित होकर रोगोत्पत्ति में लगभग दस से पन्द्रह दिन समय होता है। पर्याप्त मात्रा में गम्भीर अंगों में संचित होने के उपरान्त पुनः वि रक्त में पहुँचते हैं। विषाणुमयता के परिणामस्वरूप सर्वाङ्ग वेदना, वमन एवं आदि प्रारम्भिक तीव्र लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसके अनन्तर त्वचा एवं श्लेष्मल त में इनका मुख्य अधिष्टान होने से ३-४ दिन के बाद विस्फोट उत्पन्न होते हैं। साम तया विस्फोटोत्पत्ति के बाद ज्वरादि लक्षणों की तीव्रता कम हो जाती है। f त्वचा एवं श्लेष्मल त्वचा में कुछ न कुछ पूयजनक जीवाणु निरन्तर रहा करते हैं f दोष के कारण इन विस्फोटों में द्वितीयक उपसर्ग होकर पूयोत्पत्ति होती है और बार शान्त हुआ ज्वर पुनः पूयविषमयता के कारण बढ़ जाता है। मसूरिका वि के विष में रक्त एवं रक्तवाहिनियों को नाश करने की भी विशेष क्षमता होती है, f त्वचा श्लेष्मल त्वचा एवं आशयों से अनेक बार रक्तस्राव का उपद्रव उत्पन्न होता है

लक्षण—

ज्वर—मसूरी के पूर्व प्रयोग, विषाणु की तीव्रता तथा द्वितीयक उपसर्गों के प्रा के आधार पर लक्षणों की गम्भीरता निर्भर करती है। रोग का प्रारम्भ ज्वर के साथ—प्रायः शीतपूर्वता के साथ—होता है। कपाल, कटि एवं पिण्डलि तीव्र पीडा, हृल्लास, वमन, आक्षेप, प्रलाप इत्यादि लक्षण ज्वरारम्भ के समय करते हैं। ज्वर-वृद्धि के साथ ही तृष्णा, गर्मी, त्वचा की शुष्कता, लाल चेहरा, मल जिह्वा आदि लक्षण होते हैं। सामान्यतया १०३-१०४ अंश तक ज्वर चार दिन निरन्तर बना रहता है। प्रायः चौथे दिन विस्फोटों का निकलना प्रारम्भ हो बाद ज्वर तथा आनुषंगी लक्षणों का शमन हो जाता है। किन्तु २-३ दिन के विस्फोटों में द्वितीयक उपसर्गों के कारण पूय संचित होने पर ज्वर की पुनरावृत्ति है। विस्फोट के सूखने के बाद खुरण्ड जमने पर ही यह ज्वर निवृत्त होता है। प्र में ४ दिन तक तीव्र ज्वर, उसके बाद २-३ दिन तक ज्वर का पूर्णतया शमन पुनः लगभग १ सप्ताह तक तीव्र ज्वर का अनुबन्ध, इस प्रकार की स्थिति मस में होती है।

विस्फोट—मसूरिका का मुख्य लक्षण विशेष प्रकार के विस्फोटों की उत्पत्ति ही है। वास्तविक विस्फोट निकलने के पहले ज्वरारम्भ के प्रथम २-३ दिन तक कुछ रोगियों में—विशेषकर वयस्कों में—पूर्व विस्फोट (Prodromal rash) के रूप में रुधिर वर्णिक या रक्तस्रावी (Erythmatous or haemorrhagic) स्वरूप के निकलते हैं। रुधिरवर्णिक पूर्व विस्फोट उदर, वक्ष एवं शाखाओं के संकोचक भाग पर अधिक तथा रक्तस्रावी स्वरूप जंघा, ऊरु, वंक्षण पर अधिक दिखाई देता है। मुख्य विस्फोट निकलने के पूर्व यह स्वतः शान्त हो जाते हैं। वास्तविक विस्फोट ज्वरारम्भ के तीसरे या चौथे दिन सर्वप्रथम मस्तक एवं कनपटी पर परिलक्षित होते हैं। उसके बाद क्रम से पूरे चेहरे, अग्रबाहु के प्रसारित पृष्ठ, मणिबन्ध, मध्य शरीर, पृष्ठ वंश, उदर, अधोशाखा, मुख की श्लेष्मल कला एवं नेत्रों के भीतर निकलते हैं। इस प्रकार ललाट पर सर्व प्रथम और पाद तल पर अन्त में विस्फोट निकला करते हैं। विस्फोटों की संख्या शरीर के परिसरीय भागों में मध्य शरीर की अपेक्षा अधिक होती है। विस्फोटों की परिसरीयता (centrifugal) पूर्ण रूप में होती है। नासा के ऊपर चिबुक से अधिक, अग्रबाहु एवं हस्त तल में स्कंध एवं पूर्व बाहु से अधिक, उदर में नाभि के नीचे अधिक तथा अधोशाखाओं में भी पादतल में अधिक होते हैं। शरीर के अनावृत अवयवों, रगड़ एवं दबाववाले अंगों, चेहरा, शाखाओं के प्रसारक पृष्ठ में इनका सर्वाधिक प्रकोप होता है। वस्त्रावृत अवयवों, वक्ष एवं उदर पर विरल संख्या में होते हैं। कक्षा (Axilla) में विस्फोट नहीं निकलते। दाने निकलने के बाद क्रम से ज्वरादि लक्षणों की न्यूनता हो जाने के कारण रोगी को कुछ आराम मालूम होता है। विस्फोट निकलते समय शरीर में कुछ खुजली होती है। शरीर के दोनों तरफ के अंगों में विस्फोटों का समान अनुपात होता है। सर्वप्रथम विस्फोट छोटे छोटे उद्वर्णिक (Macules) स्वरूप के होते हैं। देखने की अपेक्षा स्पर्श से इनका अनुभव अधिक सुविधा से हो सकता है तथा स्पर्श से त्वचा के भीतर गहराई तक सूक्ष्म ग्रंथियों के समान अनुभव होता है। प्रायः १२ से २४ घण्टे बाद उनका वर्ण अधिक स्पष्ट होकर उत्कर्णिक (Papules) स्वरूप के हो जाते हैं। विस्फोट के पास की त्वचा रक्तवर्ण की होती है। विस्फोट दर्शन के दूसरे दिन उनमें तरल संचय होने के कारण उद्रविक या पानीदार (Vesicle) स्थिति हो जाती है। उद्रविक विस्फोट मध्य में दबे हुए (Umblicated) और भीतर से कई भागों में विभाजित होते हैं, जिससे सूचीवेध से तरल निकाल देने पर भी पूर्णतया लुप्त नहीं हो सकते। यह द्रव प्रायः २४ घण्टे तक स्वच्छ बना रहता है। किन्तु उसके बाद पूयोत्पादक जीवाणुओं की संख्या के अनुपात में एक या दो दिन में धीरे-धीरे पूयदार हो जाता है। पूय पूर्ण होने पर मध्य निम्नता एवं भीतर के अनेक भाग नष्ट होकर विस्फोटों का स्वरूप गोल सा हो जाता है तथा उनके चारों ओर रक्ताभ शोथ निदर्शक वलय सा होता है। जहाँ पर विस्फोट अधिक निकट होते हैं, वहाँ इस रक्तवलय के आपस में मिल जाने के कारण आकृति शोथयुक्त

उभड़ी हुई सी हो जाती है, जिससे रोगी को खाने-पीने, नेत्रोन्मीलन आदि में अत्य
कष्ट होता है। विस्फोटों में तनाव होने के कारण त्वचा एवं सर्वाङ्ग में वेदना,
एवं बेचैनी रहा करती है। पूयोत्पत्ति के कारण ज्वर पुनः बढ़ जाता है। कोई उ
न होने पर ३-४ दिन के बाद विस्फोट निकलने के अनुक्रम से शुष्क होने लगते
धीरे-धीरे विस्फोटों के सूखने पर उनके स्थान में खुरण्ड बन कर दूसरे या त
सप्ताह में झड़ने लगते हैं किन्तु हस्त एवं पादतल के खुरण्ड कुछ विलम्ब से
हैं। संक्षेप में ज्वरारम्भ के प्रथम दो दिन बाद पूर्व विस्फोट उसके बाद चौथे
से सातवें दिन तक गांठदार वास्तविक विस्फोट और सातवें दिन से नवें दिन
उद्भविक और ११वें दिन से १५वें दिन तक पूययुक्त तथा उसके बाद ४-५ दि
खुरण्ड की स्थिति बनी रहती है। खुरण्ड के निकल जाने के बाद दाग बीच
दबे से दिखाई पड़ते हैं।

त्वचा के समान ही विस्फोट ओष्ठ, मुखगुहा, नासा-विवर, स्वरयंत्र, कण्ठना
अन्नमार्ग, आमाशय, मलाशय, योनि, नेत्र आदि स्थानों पर निकलते हैं, किन्तु श्ले
कला की आर्द्रता के कारण विस्फोट प्रायः पूयदार नहीं होते। कला के शीघ्र ही
जाने के कारण विस्फोट-स्थान पर व्रण बन जाते हैं। इन स्थानों में विस्फोटोत्पत्ति
से श्वास-प्रश्वास, आहार-विहार, बोलने-चालने आदि में रोगी को बड़ी कठिनाई
है। पूययुक्त विस्फोटों की स्थिति में शरीर से विशेष प्रकार की दुर्गन्ध निकलती
रुग्णावस्था में मूत्र अल्प, गहरे रङ्ग का और शुक्लियुक्त होता है।

प्रकार—गम्भीरता की दृष्टि से मसूरिका के अनेक भेद किये जाते हैं—

१. **अल्पविस्फोटयुक्त सौम्य प्रकार**—इसमें दाने कम तथा ज्वर मर्यादित
का होता है। प्रायः द्वितीयक ज्वर का अभाव।

२. **असम्मीलित (Discrete)**—इस प्रकार में दाने पर्याप्त संख्या में
पृथक्-पृथक् रहते हैं। टीका लगाने के कई वर्षों बाद होनेवाले आक्रमण प्रायः इसी
के होते हैं। ऊपर जिन लक्षणों का उल्लेख किया गया है, वे इसी प्रकार के हैं।

३. **सम्मीलित (Confluent)**—इसमें प्रारम्भिक लक्षण अधिक तीव्र, चि
दर्शन भी प्रायः दूसरे ही दिन और अधिक संख्या में होते हैं। विस्फोटों के श
आपस में मिल जाने के कारण त्वचा पर बड़ा फोड़ा सा हो जाता है। आकृति
फूली हुई होने के कारण रोगी का स्वर भी बदल जाता है। सामान्यतया विस्फो
के बाद ज्वरादि लक्षणों में होनेवाली न्यूनता इसमें नहीं होती। द्वितीयक ज
इसमें अधिक तीव्र होता है। त्वचा के समान ही श्लेष्मलकला पर विस्फोटों की
अत्यधिक होती है। त्वरित नाड़ी, अत्यधिक तृष्णा, प्रलाप, नेत्राभिष्यन्द, कास, प्रव
आक्षेप आदि लक्षण इसमें अधिक होते हैं। प्रारम्भ से ही विषमयता होने के कार
प्रकार बहुत घातक होता है। विस्फोटों से गाढ़े रङ्ग का बदबूदार पूय निकलत

कदाचित् रोगी के बच जाने पर खुरण्डों के निकलने में दो मास से कम समय नहीं लगता।

४. कृष्ण मसूरिका (Black or Purpuric smallpox)—टीका न लगाये हुये युवकों में भयंकर स्वरूप का मसूरिका का आक्रमण होता है। शिरःशूल, वमन, अत्यधिक क्षीणता, सर्वांग वेदना आदि लक्षण प्रारम्भ से ही असह्य सीमा में होते हैं किन्तु ज्वर मन्दस्वरूप का प्रायः १०२° से कम होता है। २४ घण्टे के बाद ही सारे शरीर पर रक्तवर्ण के विस्फोट निकलने के कारण शरीर का वर्ण अरुणाभ हो जाता है। तीसरे दिन के बाद से शरीर के स्रोतों से रक्तस्राव होने की प्रवृत्ति होती है। वास्तविक विस्फोट निकलने के पूर्व ही प्रायः रोगी की मृत्यु तीव्र विषमयता एवं रक्तस्राव के कारण हो जाती है। कदाचित् कुछ दिन बाद तक जीवित रहने पर भी विस्फोटों की संख्या बहुत कम तथा उनका पूर्णतया विकास भी नहीं होता।

रक्तस्रावी (Haemorrhagic)—यह प्रकार कृष्ण मसूरिका की अपेक्षा अधिक मिलता है। वृद्ध एवं दुर्बल रोगी इससे अधिक आक्रान्त होते हैं। इसमें प्रारम्भिक लक्षण अधिक तीव्र किन्तु रक्तस्राव वास्तविक विस्फोट निकलने के उपरान्त, उद्रविक या पूययुक्त अवस्था के बाद होता है। विस्फोटों का पूर्ण विकास प्रायः नहीं होता। मृत्यु का मुख्य कारण रक्तस्राव ही हुआ करता है।

उक्त भेदों के अतिरिक्त अर्जित क्षमता के अनुपात में अप्रगल्भ, मृदु एवं क्षुद्र आदि अनेक स्वरूप की मसूरिका के लक्षण देखने में आते हैं, किन्तु वे कोई मसूरिका के भेद नहीं, बल्कि लक्षणों की अल्पता एवं विषमयता की न्यूनता से होते हैं।

सापेक्ष्य निदान—विस्फोट दर्शन के पूर्व मसूरिका का पूर्ण लक्षण शीतपूर्वक तीव्र ज्वर हुआ करता है, अतः उस अवस्था में फुस्फुसपाक, श्लेष्मोल्वण सन्निपात, मस्तिष्क सुषुम्ना ज्वर, घातक विषम ज्वर आदि व्याधियों से समता होती है। विस्फोटोत्पत्ति के बाद रोमान्तिका एवं त्वक्मसूरिका से पार्थक्य करना पड़ता है।

प्रायोगिक निदान—सौम्य प्रकार में उद्रविक अवस्था तक श्वेत कायाणु अपकर्ष (प्रायः ५–६ हजार) किन्तु तीव्र व घातक प्रकारों में प्रारम्भ से ही श्वेतकायाणुवृद्धि (१५–२० हजार) तक होती है। सापेक्ष्य दृष्टि से बहुकेन्द्रियों की संख्या कम और एकन्यष्टिकों (Mononuclears), उषसिप्रियों (Eosinophils) की संख्या अधिक होती है। पूय विस्फोट के बाद सुधार की ओर परिवर्तन होने पर बहुकेन्द्रियों (Polymorphs) की संख्या कुछ बढ़ जाती है।

रोगविनिश्चय—हल्की सर्दी के साथ तीव्र स्वरूप का ज्वर, अत्यधिक दौर्बल्य एवं विषमयता के लक्षण, बच्चों में आक्षेप एवं वयस्कों में प्रलाप, दुःस्वप्न, तीव्रतम शिरःशूल विशेषकर ललाट व शंख के निकट, कटिशूल, जिह्वा की मललिप्तता,

श्वास-दुर्गन्धि, वमन, प्रवाहिका (क्वचित्) आदि लक्षणों की उपस्थिति में; विशेष शिशिर, वसन्त एवं ग्रीष्म में होने पर मसूरिका का अनुमान किया जाता है अ विस्फोट निकलने के बाद इस अनुमान की पुष्टि हो जाती है। विस्फोटों की नियम क्रमिक अवस्थाओं तथा उनका तीसरे-चौथे दिन एक साथ निकलना, विशेष अङ्गों उनका आधिक्य, केन्द्रापसारित्वक्रम, विस्फोटोत्पत्ति के बाद ज्वरादि लक्षणों की मृदु तथा पुनः द्वितीयक उपसर्गों के बाद ज्वरवृद्धि आदि के आधार पर निर्णय करने असुविधा नहीं होती। रक्त-परीक्षण की प्रायः अपेक्षा नहीं होती तथा उससे कुछ वि सहायता भी नहीं मिलती।

उपद्रव और अनुगामी विकार—रोमान्तिका के समान मसूरिका में भी श के हीन प्रतिकारक होने के कारण असंख्य उपद्रव होते हैं। मुख्यतया फुफ्फुसप श्वसनीफुफ्फुसपाक, स्वरयन्त्रशोथ, हृच्छोथ, मस्तिष्कशोथ एवं तज्जन्य, अंगघ सन्धिशोथ, अस्थिमज्जाशोथ, मध्यकर्णशोथ, नेत्राभिष्यन्द, सव्रण शुक्र (Corne ulcer), अक्षिसर्वाङ्गशोथ, (Panopthalmitis), कर्णमूलिकशोथ इत्यादि हैं। विभिन्न अंगों से रक्तस्राव, परम सन्ताप, अत्यधिक क्षीणता एवं निपात आदि उपद्रव अधिक विषमयता के कारण हुआ करते हैं। स्त्रियों में मसूरिका से पीड़ित पर आर्तवस्राव की वृत्ति, गर्भिणियों में गर्भस्राव-गर्भपात या अकाल प्रसव के दुष्परिण हो सकते हैं। अनुगामी विकारों की दृष्टि से शरीर की कुरूपता, व्रण, कोशिकाश (Cellulitis), नेत्र एवं कर्णादि का पूर्ण विघात होने के कारण अन्धता बा मूकता आदि महत्त्वपूर्ण हैं।

साध्यासाध्यता—मसूरिका अत्यन्त औपसर्गिक, घातक एवं वैरूप्यकर रोग इसकी साध्यासाध्यता पर निम्न बातों का प्रभाव पड़ता है।

१. आयु—४ वर्ष की अवस्था तक के मसूरिका पीडित व्यक्तियों की मृत्यु सर्वा (४०%) होती है। उसके बाद धीरे-धीरे यह प्रतिशत कम होने लगता है। वि २० वर्ष के बाद पुनर्मसूरीकरण न होने पर घातकता फिर बढ़ (१५%) जाती है।

२. टीका—टीका लेने के बाद मसूरिका का आक्रमण प्रायः नहीं होता अ बहुत सौम्य स्वरूप का होता है। उसके विपरीत टीका न लगवाये हुये व्यक्ति में रोग गम्भीर स्वरूप का एवं असाध्य होता है।

३. लक्षणों की तीव्रता, आरम्भिक लक्षणों की तीव्रता, विस्फोटकों की अधिकता, उ सम्मेलन, रक्तस्राव की प्रवृत्ति, विस्फोट निकलने के बाद ज्वरादि लक्षणों का क होना, प्रलाप, अत्यधिक बेचैनी, अनिद्रा, आक्षेप आदि दुष्ट लक्षणों की उपस्थि तथा फुफ्फुसपाकादि उपद्रवों का आक्रमण मसूरिका की असाध्यता को बढ़ाता इसके अतिरिक्त सम्मीलित मसूरिका (३०-४०%) रक्तस्रावी (९०%) एवं व

मसूरिका में शतप्रतिशत घातकता होती है। मरक के समय में भी मसूरिका का आक्रमण अत्यधिक तीव्र हुआ करता है।

सामान्य चिकित्सा—मसूरिका के लिये सफल औषध अभी तक ज्ञात नहीं हो सकी है। इसलिये सामान्य चिकित्सा का सर्वाधिक महत्त्व रोग के प्रसार को रोकने तथा उपद्रवों के प्रतिषेध के लिये होता है। रोगी को स्वच्छ, स्वतन्त्र, हवादार किन्तु अल्प प्रकाशयुक्त कमरे में रखना चाहिये। सूर्य की किरणों से रोग की तीव्रता बढ़ती है, अतः कुछ अँधेरा कमरा अच्छा माना जाता है। खिड़कियों पर हल्के परदे डाल देने से उक्त उद्देश्य की पूर्ति हो जाती है। कुछ चिकित्सकों की दृष्टि से सूर्य की लाल किरणें पूयोत्पत्ति का प्रतिषेध करनेवाली मानी जाती हैं तथा दरवाजों आदि पर परदे लाल रङ्ग के भी रह सकते हैं। रोगी के ओढ़ने-बिछाने के कपड़ों की सफाई प्रतिदिन पानी में उबाल कर और धूप में भली प्रकार सुखाकर करनी चाहिये। शय्या बहुत मुलायम एवं सुख-स्पर्श होने से रोगी को पर्याप्त शान्ति मिलती है। ओढ़ने का कपड़ा भी बहुत पतला और हल्का होना चाहिये। वसन्त में मक्खियों-मच्छरों की संख्या बढ़ जाती है। अतः रोगी को मच्छरदानी के भीतर रखना सर्वोत्तम है। उष्णता एवं रूक्षता से इस व्याधि का प्रसार होता है अतः कमरे को दिन में २ बार धोना तथा अन्य साधनों से ठण्ढा रखना चाहिये। मक्खियों और मच्छरों आदि से द्वितीयक औपसर्गिक जीवाणुओं का प्रवेश तथा मसूरिका का स्वस्थ व्यक्तियों में संक्रमण होने में अधिक सहायता मिलती है। इनका निराकरण करने के लिये डी० डी० टी० का प्रयोग, फिनाइल या डेटाल से कमरे को धोना तथा गुग्गुल, निम्बपत्र, लोहबान, जटामांसी, देवदारु आदि से धूपन करना चाहिये। रोगी के शरीर पर हवा करने तथा मक्खियों आदि को हटाने के लिये निम्बपत्र से व्यजन करना श्रेयस्कर माना जाता है। रोगी के पास सुगन्धयुक्त ताजे फूल रखना शान्तिदायक होता है। विस्फोट-दर्शन के पूर्व रोगविनिश्चय हो जाने पर मृदु शोधक ओषधियों के प्रयोग से कोष्ठशुद्धि करा देने से लक्षणों एवं उपद्रवों की तीव्रता कम हो जाती है। स्वर्णपत्री का शीत कषाय मिश्री मिलाकर पिलाना अथवा अभ्रकभुकी आदि ज्वरशामक एवं शोधक ओषधियों का प्रयोग किया जा सकता है। नेत्र, नासा, मुख एवं त्वचा की सफाई पर विशेष ध्यान देना चाहिये। नेत्रों को बोरिक लोशन से धोकर तरल मोम (Liquid paraffin), आर्जीराल-प्रोटार्गल या रसाञ्जन एवं स्फटिका का गुलाबजल में बनाया हुआ घोल प्रतिदिन प्रातः-सायं डालना चाहिये तथा रात्रि में Yellow ointment अथवा Penicillin eye ointment लगाना चाहिये। नासिका के भीतर शतधौत घृत या कर्पूर मिला हुआ मक्खन लगाने से रूक्षता दूर होती है। हाइड्रोजन पर आक्साइड या पोटाश के हल्के घोल, लिस्टेरिन, डिटाल, सैवलॉन आदि के द्वारा मुख की भलीप्रकार सफाई कर बोरोग्लिसरीन का प्रलेप जिह्वा एवं मसूड़ों पर करना चाहिए। रोमान्तिका में (पृ० सं०

६५१) निर्दिष्ट गण्डूष के प्रयोग से भी पर्याप्त लाभ होता है। कर्ण की सफाई कर कार्बोग्लिसरीन (कार्बोलिक एसिड १. ग्लिसरीन १०) से पोंछ देना चाहिये। रोगी व सारा शरीर प्रतिदिन उबाले हुये गुनगुने पानी में कार्बोलिक एसिड (एक सेर जल २ ड्राम) अथवा ई. सी. लोशन (एक सेर में एक औंस) अथवा केवल नीम के पा से पोंछना चाहिये। भलीप्रकार सुखाने के बाद बोरिकयुक्त डस्टिंग पाउडर सा शरीर पर छिड़क कर विस्तर प्रावरण आदि बदल कर रोगी को लिटा देना चाहिये पूयोत्पत्ति के बाद सारा शरीर पोंछना शक्य न होने पर रूई को डेटाल या कार्बोलि के घोल में डुबो कर विस्फोटों को पोंछना चाहिये। वास्तव में परिचारक के धैर्य औ कार्यकुशलता की परख मसूरिका के रोगी की परिचर्या में ही देखी जाती है। सा शरीर में विस्फोट होने के कारण रोगी को बड़ा कष्ट होता है। अतः बारबा बहुत सावधानी से आसनपरिवर्तन कराते रहने से रगड़ के स्थानों के छिल की सम्भावना कम हो जाती है। मसूरिका का निर्णय हो जाने पर लम्बे बाल को छोटा करवा देना आवश्यक है अन्यथा उन स्थानों की ठीक सफाई नहीं हो सकती कभी कभी ग्रीवा की लसग्रन्थियाँ प्रारम्भ में ही काफी फूलकर वेदनायुक्त हो जाती हैं बरफ के टुकड़े को कपड़े में लपेटकर उन्हें सेंकने से पर्याप्त लाभ होता है। बच्चों एव मूर्च्छित रोगियों में हाथ की अङ्गुलियाँ मुलायम कपड़े से लपेटे रखना चाहिए अथवा दस्ताने पहनाने चाहिये अन्यथा कण्डू की शान्ति के लिये हाथ से खुजलाने पर विस्फोट जल्दी फूल जाते हैं तथा दुष्ट व्रण बनने की सम्भावना भी बढ़ जाती है। नाखूनों के छोटा करवाना और उनकी सफाई पर ध्यान रखना भी आवश्यक है। कण्डू की शान्ति के लिए सोडा बाई कार्ब पानी में डालकर शरीर पोंछने से पर्याप्त लाभ होता है। कार्बोलिक एसिड को नारियल के तेल में (1 in 8) मिलाकर विस्फोटों के ऊपर लगाने से भी खुजली कम हो जाती है। पूयोत्पत्ति होने के बाद शरीर से विशेष प्रकार की दुर्गन्ध उत्पन्न होती है। इसकी शान्ति के लिये शतधौत घृत में दशाङ्ग लेप मिला कर लेप करने से अथवा निम्नलिखित योग का प्रयोग करने से लाभ होता है।

Menthol	gr. 10
Thymol	dr. one
Acid boric	dr. 2
Acid salicylate	dr. one
Oil eucalyptas	dr. 2
Oil campher	dr. one
Oil sandal	dr. one
Liq. calcis	dr. 4
Olive oil	dr. 4

इसमें जैतून के तेल के स्थान पर नारियल का तेल या चमेली का तेल भी प्रयुक्त

किया जा सकता है। उसका प्रयोग तैलाभ्यङ्ग के रूप में न कर केवल विस्फोटों पर रूई के फाये से लगाना चाहिये। इसके प्रयोग से दुर्गन्धि का शमन, खुरण्डों का शीघ्र निकलना तथा व्याधिप्रसारकारक विषाणुओं का भी आंशिक शमन होता है।

सम्मीलित प्रकार में कदुष्ण (१००° फारेनहाइट उष्ण) जल में प्रतिदिन १५ मिनट रोगी को रखने से (emersion) बहुत लाभ होता है।

चेहरे पर लगाने के लिये कार्बोलिक एसिड का ग्लिसरीन में बनाया हुआ २% घोल व्यवहृत किया जाता है। विस्फोटों को इस प्रकार के किसी योग से दिन में २ बार सिक्त कर देने पर भविष्य में होने वाली आकृति की विरूपता बहुत कुछ कम हो जाती है। विस्फोटों में पूयोत्पत्ति होने के एक दो दिन बाद, विशेषकर सम्मिलित प्रकार में, कुण्ठिताग्र कैंची से विस्फोटों के ऊपर की पतली झिल्ली काटकर पूय को साफ कर देने से शीघ्र लाभ हो जाता है। किन्तु इस प्रक्रिया में शस्त्र कर्म के समान उपकरणों एवं त्वचा की सफाई कर लेनी चाहिये। पूय निर्हरण के बाद बोरिक लोशन अथवा मैग सल्फ के सन्तृप्त गुने-गुने घोल में कपड़ा भिगोकर विस्फोट स्थलों को सेंकना अधिक लाभ करता है। इससे रोग मुक्ति शीघ्र होती है।

रोगी को शय्या पर ही मल-मूत्र त्याग कराना तथा मल-मूत्र स्थानों की पूरी सफाई रखनी चाहिये, क्योंकि मल-मूत्रादि सभी स्रावों में औपसर्गी विषाणु पर्याप्त मात्रा में रहते हैं, अतः उनके निक्षेप में सावधानी रखनी चाहिये।

आहार—मसूरिका में पैत्तिक दोषों की प्रधानता होने के कारण शीतल पेय विशेष लाभकर होते हैं। कच्चे नारियल का पानी, यवपेया, ईख का रस, फलों का रस अथवा नीबू के रस के साथ पानी में मधु मिलाकर पिलाने से लाभ होता है। फटे दूध का पानी दूध की अपेक्षा हितकारक होता है। कुछ प्रवाहिका की सम्भावना होने के कारण दूध के स्थान पर अधिक रुचि होने पर लाजमण्ड, हार्लिक्स, ओवल्टीन आदि का व्यवहार किया जा सकता है। बाद में ज्वरादि लक्षणों के कम होने पर शालि चावल एवं दूध का प्रयोग कराया जा सकता है। नमक का प्रयोग सामान्यतया अच्छा नहीं माना जाता। इससे कण्डू में वृद्धि हो सकती है। उसी प्रकार चटपटे मसालेदार तथा तले हुये पदार्थ न देने चाहिये। पोषक आहार के रूप में संकेन्द्रित, जीवतिक्तियों (Concentrated vitamins) का प्रयोग प्रारम्भ से ही करना अच्छा होता है।

औषध-चिकित्सा—मसूरिका की सिद्ध औषध न होने पर भी निम्नलिखित योगों का प्रयोग पर्याप्त लाभकर प्रमाणित हुआ है। मसूरिका पीड़ित व्यक्तियों में चिकित्सा न कराने की परिपाटी अधिक प्रचलित है। किन्तु चिकित्सा द्वारा सभी दृष्टियों से कुछ न कुछ लाभ अवश्य होता है। अतः औषध-व्यवस्था यथाशक्य अवश्य करनी चाहिये—

१.	रुद्राक्ष	१ मा०
	कालीमिर्च	१ मा०
		१ मात्रा

इनको आधा पाव जल में भली भाँति पीसकर प्रातःकाल एक सप्ताह तक सेवन करावें। केवल रुद्राक्ष एवं मिर्च का चूर्ण भी इसी प्रकार रात में रक्खे बासी जल के अनुपान से सेवन कराना लाभकर होता है। इससे विस्फोटजनित उपद्रवों की तीव्रता कम होकर शीघ्र रोगमुक्ति होती है।

२. अनन्तमूल का चूर्ण ३ मा० से ६ मा० चावल के धोवन के साथ दिन में एक बार एक सप्ताह तक देना चाहिये।

३. पटोलपत्र, गुडूची, नागरमोथा, अडूसा, यवासा, चिरायता, निम्बछाल, कुटकी, पित्तपापड़ा—समभाग। २ तो० की मात्रा में ऽ।। जल में पकाकर ऽ= शेष रहने पर मिश्री या मधु मिलाकर थोड़ा-थोड़ा कई बार पिलाने से मसूरिका में होने वाले उपद्रवों का शमन तथा पूय का शीघ्र विशोधन होता है।

४. विस्फोटों में पूयोत्पत्ति होते समय गुडूची, मधुयष्टी, द्राक्षा, इक्षुमूल और दाडिमपत्र या छिलका समभाग लेकर २ तो० की मात्रा में पूर्वोक्त क्रम से क्वाथ बनाकर १–२ तो० गुड़ या देशी चीनी मिलाकर पिलाने से पर्याप्त लाभ होता है। पूय की मात्रा कम हो जाती है तथा खुरण्ड शीघ्र आ जाते हैं। इसके द्वारा द्वितीयक उपसर्गजनित उपद्रवों की तीव्रता का नियन्त्रण होता है। बाह्य प्रक्षालन तथा क्वाथ का बहुत व्यापक प्रयोग किया गया है। इनका प्रारंभ से प्रयोग करने पर दाने बिना उपद्रव के निकल आते हैं तथा द्वितीयक उपसर्ग के कारण उत्तरकालीन संताप आदि नहीं होते और दाने भी बहुत शीघ्र सूख जाते हैं तथा उनके दाग भी नहीं के बराबर पड़ते हैं।

मसूरिका में पित्त के द्वारा मुख्यतया रक्तदुष्टि होकर रोगोत्पत्ति होती है। अतः पित्तशामक एवं रक्तशोधक ओषधियों का व्यवहार करना चाहिये। रोग विनिश्चय होने के उपरान्त सर्वतोभद्र, ब्राह्मीवटी एवं एलाद्यरिष्ट का प्रयोग रक्तचन्दन, अडूसा, नागरमोथा, गुडूची व मुनक्का के शीतकषाय के अनुपान से प्रयुक्त करना विशेष लाभकारी होता है। एलाद्यरिष्ट के प्रयोग से दाह, तृष्णा, कण्डू आदि लक्षणों का शमन होकर रोगी को शान्ति मिलती है।

यकृत् सत्व का प्रयोग—पिछले कुछ वर्षों में यकृत् सत्त्व (Liver ext.) का प्रयोग पर्याप्त लाभकारी सिद्ध हुआ है। ज्वरादि लक्षणों के अधिक तीव्र न होने पर अवस्थानुसार २ सी० सी० से ५ सी० सी० की मात्रा में दिन में एक बार पेशीगत सूचीवेध के रूप में ५ दिन तक, उसके बाद अर्धमात्रा में प्रति तीसरे दिन ५ दिन तक देने से मसूरिका की तीव्रता, समय एवं उपद्रव आदि सभी लक्षणों में लाभ होता

है। प्रोटियोलाइज्ड लिवर एक्स्ट्रैक्ट (Proteolysed Liver Ext.) इस कार्य के लिये विशेष गुणकारी माना जाता है। इसके अभाव में कोई भी अच्छा योग (Crude Liver Ext.) काम में लिया जा सकता है। अभी तक इसकी कार्यपद्धति का ठीक ज्ञान नहीं हो सका। किन्तु आतुरालय प्रविष्ट पर्याप्तसंख्यक रोगियों में इसका प्रयोग उत्साहवर्धक रहा है। ज्वराक्रमण के उपरान्त जितना शीघ्र सूचीवेध दिया जा सके, उतना ही लाभ की सम्भावना होती है।

पेनिसिलीन तथा शुल्वौषधियों का प्रयोग—अभी तक इन ओषधियों का प्रयोग बहुत अधिक सफल नहीं सिद्ध हो सका किन्तु द्वितीयक उपसर्गों के कारण उत्पन्न उपद्रवों का शमन इनके प्रयोग से अवश्य होता है। सल्फाथियाजोल, सल्फामेजामिन, एल्कोसिन आदि श्रेष्ठ शुल्वौषधियों का प्रयोग अवस्थानुसार उचित मात्रा में विस्फोट-दर्शनकाल से प्रारम्भ करना अच्छा रहता है। सारे शरीर में विस्फोट निकलने के कारण सूचीवेध द्वारा औषध निक्षेप व्यावहारिक नहीं होता। किन्तु आधा ग्राम स्ट्रेप्टोमाइसिन चार लाख प्रोकेन पेनिसिलीन का संयुक्त रूप में सूची वेध प्रतिदिन एक बार विस्फोटोत्पत्ति के उपरान्त करते रहने से पर्याप्त लाभकारी होता है। विस्फोटोत्पत्ति के पूर्व ही निदान हो जाने पर ५ लक्ष पेनिसिलिन तथा १ ग्राम स्ट्रेप्टोमायसिन की दैनिक मात्रा (४ बराबर मात्राओं में विभक्त कर) का प्रयोग मसूरिका का शमन करता है, यह भी कुछ अनुभवी चिकित्सकों की राय है।

पेनिसिलिन तथा स्ट्रेप्टोमायसोन का संयुक्त रूप में प्रलेपार्थ बाह्य प्रयोग भी पर्याप्त लाभकारी माना जाता है। विस्फोट दर्शन के बाद से खुरण्ड सूखने तक दिन में २ बार निम्न योग का प्रलेप करना चाहिए:—

Penicillin g crystallin	2 Lacks
D. H. Streptomycin sulphate	1 gram
Sterilized glycerine	oz 2
Redist water	oz 6

इससे द्वितीयक उपसर्गों का प्रतिषेध होकर विस्फोट शीघ्र सूख जाते हैं।

ऑम्नामाइसिन (Omnamycin) का प्रयोग इस दृष्टि से सम्भवतः अधिक गुणकारी सिद्ध होना चाहिये।

विशालक्षेत्रक प्रतिजीवी द्रव्य—एरिथ्रोमाइसिन (Erythromycin—Ilotycin) का प्रारम्भ से ही प्रयोग कुछ रोगियों में पर्याप्त सफल रहा है। टेरामाइसिन और आरियोमाइसिन का प्रयोग द्वितीयक उपसर्गों द्वारा होनेवाले उपद्रवों के प्रतिषेध के लिए ही गुणकारी होता है। उचित मात्रा में उनका प्रयोग किया जा सकता है। सन्निवृत्त लसिका विशेष गुणकारी नहीं सिद्ध हो सकी।

संक्षेप में पेनिसिलीन एवं शुल्वौषधियों का मुख द्वारा प्रयोग अधिक व्यावहारिक

एवं उपयोगी है। उपद्रवों की सम्भावना में अन्य विशालक्षेत्रक प्रतिजीवियों का प्रयोग किया जा सकता है। पिछले ७-८ वर्षों में २ बार मसूरिका का प्रकोप मरक के रूप में हुआ है। उन अवसरों में लेखक ने निम्नलिखित व्यवस्था से आशातीत सफलता पाई है।

१. रोगारंभ के समय से जीवतिक्ति सी (Vita. c) २५०-५०० मि० ग्रा० की मात्रा में पूर्वपाचित प्रोभूजिन (Protein hyarolysate) के साथ दिन में २-३ बार देना।

२. विस्फोट निकलने पर पृष्ठ ६६८ पर उल्लिखित पेण्ट का प्रयोग, तथा पूयोत्पत्ति हो जाने पर पेनिसिलिन-स्ट्रेप्टोमायसिन या नेबासल्फ (Nebasulph) का लोशन या उद्धूलन के रूप में प्रयोग।

३. विस्फोटों में पूयोत्पत्ति के समय—औसत में ६-७ वें दिन से टेट्रासायक्लीन (Tertacyclin) या टेरामायसीन (Terramycin) का २५० मि० ग्राम की मात्रा में ४-६ घण्टे पर मुख द्वारा या १०० मि० ग्रा० की मात्रा में प्रातः-सायम् पेशी द्वारा ६-७ दिन तक प्रयोग।

४. खुरण्ड सूखने की स्थिति में पुनः पेण्ट का प्रयोग (पृष्ठ ६६८)।

५. इसी समय से Multivite drops तथा दूसरे बलकारक योगों का सेवन आरंभ कराना।

६. खुरण्ड निकल जाने पर उनके दागों पर कार्टिजोन के मलहम (Efcorlin or kenalog or hydrocortisone skin oint.) को दिन में ३ बार हल्के हाथ से लगाना। कण्डू या चुनचुनाहट होने पर रात्रि में Caladryl or Anthecal का लेपन करना या अनूर्जता-विरोधी मलहम (Anti histaminic oint.) लगाना।

इस चिकित्सा-क्रम के प्रयोग से मसूरिका के स्थायी दागों का नामोंनिशान भी नहीं रहा।

लाक्षणिक चिकित्सा—

सन्ताप—१०४ से अधिक ज्वर होने पर रोगी की बेचैनी बहुत बढ़ जाती है। इसकी शान्ति के लिये पर्याप्त मात्रा में जल पिलाना तथा कदुष्ण पानी से बार-बार सारा शरीर पोंछना लाभकारी होता है। बकरी के दूध में रूई भिगो कर मस्तक पर रखना और पादतलों को बार-बार उससे पोंछना भी ज्वरजन्य दाह का शमन करता है।

खस, लाल चावल, एरण्ड बीज-मज्जा, धनियाँ, बिजौरे नीबू की केशर काँजी या बकरी के दूध के साथ पीस कर लेप करने से ज्वरजन्य दाह का शमन होता है।

सारे शरीर को यूडीकोलन या मद्यसार पानी में मिलाकर पोंछने से शीघ्र लाभ होता है।

कच्चे नारियल के जल से कई बार शरीर पोंछते रहने पर संताप एवं दाह का शमन होता है तथा विस्फोट निकलने में कष्ट कम होता है।

मस्तक पर बरफ की थैली का निरन्तर प्रयोग करना चाहिये।

विषमयता—कभी-कभी सन्ताप अधिक न होने पर भी अत्यधिक विषमयता के कारण रोगी का कष्ट बढ़ जाता है। सम्भव होने पर ग्लूकोज २५% ५० सी० सी०, जीवतिक्ति सी ५०० मि० ग्राम, जीवतिक्ति बी, ५० मि० ग्राम मिलाकर सिरा द्वारा देने से विषमयता का शीघ्र शमन होता है। सिरा द्वारा प्रयोग सम्भव न होने पर ग्लूकोज के ६$\frac{१}{४}$% घोल में समलवण जल सम भाग मिलाकर मल मार्ग से अनुवासन वस्ति के रूप में प्रति मिनट ५-६ बूँद देने से काम चल सकता है। जीवतिक्ति सी का मुख द्वारा प्रयोग प्रारम्भ से ही करना चाहिये। इससे रक्तस्राव आदि उपद्रवों की गम्भीरता कम हो जाती है। मूत्र की मात्रा मसूरिका में प्रारम्भ से ही कम रहती है और शरीर का पर्याप्त तरल विस्फोटों के रूप में बाहर निकल जाता है अतः प्रारम्भ से ही तरल अधिक मात्रा में देने की चेष्टा करनी चाहिये। उपलब्ध होने पर कच्चे नारियल का पानी सर्वश्रेष्ठ माना जाता है।

प्रलाप—सामान्यतया विषमयता एवं सन्ताप के उपचार से प्रलाप का भी शमन हो जाता है। आवश्यकता होने पर निम्नलिखित योग विषमयता, प्रलाप आदि के शमन के लिये दिया जा सकता है :—

R/

1.		
	Pot bromide	gr 10
	Chloral hydrate	grs 10
	Pot citras	gr 10
	Spt chloroform	m 10
	Spt aetheris nitrosi	m 30
	Syp glucose	dr. one
	Aqua	oz one
		१ मात्रा

आवश्यकतानुसार २ या ३ बार। बालकों में अवस्थानुसार अल्प मात्रा।

सन्ताप, विषमयता एवं प्रलाप आदि में पेनिसिलिन तथा प्रतिजीवी औषधों का प्रयोग अवश्य करना चाहिये। इनसे द्वितीयक उपसर्गों का, जो कि इन दुष्ट लक्षणों के लिये मुख्यतया कारण होते हैं, निराकरण हो जाता है।

शिरःशूल तथा सर्वाङ्गवेदना—आरम्भिक ३-४ दिन तक सिर एवं कटि में तीव्र शूल होता है। इसके शमन के लिये एस्प्रिन, फेनासिटिन, सारिडन या इरगापायरिन (Irgapyrine) का उपयोग करना चाहिये। निम्न योग भी अच्छा है।

Phenacetine	gr 1
Acetyl salicylic acid	gr 2
Codein phos	gr $\frac{1}{24}$
Cibalgin	$\frac{1}{2}$ tab
Ascorbic acid	100 mg.
	१ मात्रा

इसको प्रति ६ घण्टे पर दिन में ३ बार प्रथम ३ या ४ दिन तक दे सकते हैं।

शेष प्रधान लक्षणों के शमन के लिये पूर्व निर्दिष्ट क्रम से लाक्षणिक उपचार करना चाहिये।

प्रधान उपद्रव तथा उनकी चिकित्सा—

मसूरिका द्वारा होने वाली अपमृत्यु में उपद्रवजनित दुर्घटनाओं की संख्या अधिक होती है। अतः इनके प्रतिकार का पूरा प्रयत्न प्रारम्भ से ही करना चाहिये।

१. विस्फोटों का पूरा न निकलना या दब जाना—मसूरिका के दाने सारे शरीर में प्रायः एक साथ निकलते हैं। कुछ दाने उभड़कर बन्द हो जायँ तथा ज्वरादि लक्षण कम होने के बजाय बढ़ जायँ तो निम्नयोग देना चाहिये।

निम्बत्वक्, पर्पटक, पाठा, पटोलपत्र, कुटकी, अडूसा, यवासा, आमला, खस, श्वेतचन्दन, लाल चन्दन को समभाग में २ तोला लेकर आधा सेर जल में चतुर्थांशावशिष्ट पकाकर छानकर १-२ तोला मिश्री मिलाकर प्रातः-सायं पिलाना चाहिये।

कचनार की छाल के क्वाथ के अनुपान से स्वर्णमाक्षिक भस्म या सर्वतोभद्र रस का प्रयोग भी अन्तर्लीन मसूरिका में लाभकारी होता है।

२. रक्तस्राव—रक्तस्राव के गम्भीर उपद्रव का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। इसका प्रतिकार करने के लिये प्रारम्भ से ही जीवतिक्ति 'सी', रक्तस्तम्भक लसीका (Coagulant serum), क्लाडेन (Clauden), जीवतिक्ति के (Vitamin k) आदि का व्यवहार किया जाता है। निम्नयोग के रूप में प्रयोग करना श्रेयस्कर होगा।

Ascorbic acid	100 mg.
Vitamin K.	10 mg.
Clauden	1 tab
Cal lactate	gr 10
	१ मात्रा

दिन में ३ बार। विस्फोट-दर्शन के बाद से खुरण्ड बनने तक देना चाहिये।

अधिक मात्रा में रक्तस्राव हो जाने पर बहुत शीघ्र मृत्यु हो जाती है। ऐसी स्थिति में रक्तस्तम्भक उक्त योगों से कोई लाभ नहीं होता। रक्तरस (Plasma) या सम्पूर्ण रक्त (Whole blood) का प्रयोग यथाशक्य किया जा सकता है। सामान्य

उपद्रव में दूर्वा स्वरस, कूष्माण्ड स्वरस एवं लाक्षारस का रक्त स्तम्भक योगों के सहपान या अनुपान के रूप में प्रयोग भी कुछ लाभ करता है।

पूयमयता एवं विद्रधि—पूयोत्पादक जीवाणुओं की तीव्रता के कारण कभी-कभी पूय विषमयता एवं सम्मीलित प्रकार में खुजलाने आदि के कारण विद्रधि का कष्ट हो जाता है। प्रारम्भ से सामान्य चिकित्सोक्त पूर्ण नियमों का पालन करने से इन उपद्रवों की सम्भावना बहुत कम हो जाती है। विस्फोटों में पूयोत्पत्ति होने के बाद ज्वरादि लक्षणों के अधिक बढ़ जाने पर इनका अनुमान किया जा सकता है। पेनिसिलिन एवं शुल्वौषधियों का मुख द्वारा प्रयोग करने के साथ ही सूचीवेध के रूप में पेनिसिलिन का प्रयोग करना चाहिए। आइलोटायसिन का मुख द्वारा प्रयोग भी पेनिसिलिन के सूचीवेध के समान ही गुण करता है। विद्रधि में सञ्चित पूय का शोधन तथा स्थानीय उपचार भी आवश्यक है।

मूर्च्छा—विषमयता एवं तीव्र सन्ताप के कारण प्रायः मूर्च्छा हो जाती है। कभी-कभी मस्तिष्कशोथ (Encephalitis) या मस्तिष्क सुषुम्नाज्वर भी उपद्रवस्वरूप हो जाता है। इनकी स्वतन्त्र चिकित्सा का वर्णन (पृष्ठ ६०४ में) किया जा चुका है। उसके अतिरिक्त लाक्षणिक उपचार करना चाहिए। मूर्च्छा के समय परिचारक का दायित्व द्विगुण हो जाता है। पर्याप्त जल का प्रयोग, मल-मूत्र-त्याग एवं शरीर के सभी अंगों की स्वच्छता बहुत सावधानी से रखनी चाहिए। गुदा द्वारा ग्लूकोज एवं समलवण जल का प्रयोग उपकारक होता है।

फुफ्फुस पाक—बहुत से रोगियों में पूयविस्फोटों के समय ही श्वसन संस्थान के उपद्रव हो जाते हैं। रोमान्तिका के समान ही (पृष्ठ ६५८) इसकी सम्यक् व्यवस्था करनी चाहिए।

सव्रण शुक्र—नेत्र में भी विस्फोट निकलने के कारण कभी-कभी शुक्र भाग में व्रण हो जाता है। बहुत से अन्ध व्यक्तियों में उनके दृष्टिनाश में मसूरिका ही कारण होती है। नेत्रों की स्वच्छता का पर्याप्त ध्यान रखने पर इस उपद्रव का प्रतिषेध हो सकता है। प्रतिजीवी ओषधियों के नेत्रमलहम आते हैं। Aureomycin, terramycin & Ilotycin eye ointment आदि का प्रयोग करने से शीघ्र लाभ हो जाता है। निम्न मलहम का प्रयोग भी विश्वासपूर्वक किया जा सकता है।

Yellew oxide of mercury	gr 8
Atropine sulphate	gr 4
White vaseline (sterlized)	oz 1

इसका भली प्रकार मलहम बनाकर सबेरे-शाम नेत्रों में लगाना चाहिए।

आर्जिरॉल (Argyrole 12%) का घोल २ बूंद सवेरे-शाम आँख में डालना

तथा अधिक कष्ट होने पर Nebasulph, kenalog s. f. या Efcorlin का नेत्रमलहम लगाना लाभकर होगा।

बल-संजनन—मसूरिका से मुक्ति मिलने के उपरान्त शरीर में स्थायी स्वरूप की मसूरिका प्रतिषेधक-क्षमता उत्पन्न होती है। प्रायः यावज्जीवन पुनराक्रमण की सम्भावना नहीं रहती। किन्तु रोगमुक्ति के बाद रोगी अत्यधिक दुर्बल हो जाता है। सहस्रों विस्फोटों के द्वारा शरीर का रसरक्त पूय के रूप में परिवर्तित हो कर नष्ट हो जाता है। त्वचा के समान ही श्लेष्मलकला अर्थात् महास्रोत आदि के आभ्यन्तरिक स्तर में भी विस्फोटोत्पत्ति हुआ करती है। इस कारण आहार-विहार में रोगमुक्ति के बाद भी कुछ समय तक पर्याप्त सावधानी रखनी चाहिए। सुपाच्य, बल्य एवं पोषक आहार क्रम से बढ़ाते हुये देना चाहिये। दूध, मक्खन, अण्डा, पक्षियों का मांसरस, फलों का रस पर्याप्त मात्रा में अग्निबलानुसार दिया जा सकता है। रक्त की वृद्धि के लिये मांस, यकृत् एवं अस्थिमज्जा से निर्मित योग, लौह, ताम्र और मल्ल के घटक, कैलशियम, जीवतिक्ति ए० डी० सी० और बी० का पर्याप्त मात्रा में प्रयोग करना चाहिये। Ferilex (T. C. F.), syrup minadex., Ferrodol, Kepler's cod-liver oil malt आदि बल्य एवं पोषक आहारौषध द्रव्यों का प्रयोग यथावश्यक करना चाहिये। वसन्तमालती, प्रवाल, गुडूचीसत्त्व और सितोपलादि का योग प्रातः-सायं गोघृत एवं मधु के साथ तीन सप्ताह तक रोगमुक्ति के बाद देने से शीघ्र बल संजनन होता है। छागलादि घृत एवं जीवनीय घृत का व्यवहार भी किया जा सकता है।

मसूरिका से निवृत्त होने के उपरान्त सर्वाधिक समस्या शरीर में यावज्जीवन रहने-वाले दागों की होती है। चूंकि इसका सर्वाधिक प्रभाव मस्तक एवं चेहरे पर होता है इसलिये आकृति, विशेषकर सम्मीलित प्रकार में, अत्यधिक कुरूप हो जाती है। बालकों में खुजलाने के कारण विद्रधि बन जाने पर बड़े-बड़े गड्ढे पड़ जाते हैं। खुरण्ड निकल जाने के बाद इन गढ़ों और दागों को दूर करने के लिये निम्नलिखित प्रयोग होना चाहिये।

१. हरिद्रा
चिरौंजी
मसूर की दाल
मुलेठी
दारुहरिद्रा

इनको बकरी के दूध में पीसकर उबटन के रूप में मालिश करना चाहिये।

२. बादाम का तेल
तुवरक तेल
चन्दन तेल
गरी का तेल

इनको समभाग में मिला उबटन लगाने के बाद सारे शरीर में हलके हाथों से मलना चाहिये।

३. चमेली के पत्ते, अखरोट की छाल, सरसों—इनको पानी से महीन पीसकर मक्खन मिला सारे शरीर में लेप करने से गड्ढे व धब्बे मिट जाते हैं।

४. शंख को गुलाब जल में घिस कर बराबर मात्रा में पुराना गुड़ मिलाकर मसूरिका के दागों पर उबटन की तरह रगड़ने तथा बाद में डाभ के पानी से धोने से दागों के निशान मिट जाते हैं।

५. Dermestenex—इसका प्रयोग शीतला के गड्ढों के लिये बड़ी सफलता के साथ किया जा चुका है। प्रतिदिन प्रातः तथा रात में धीरे-धीरे गड्ढों एवं दागों पर मलना चाहिये। इसके लगाने से त्वचा में चुनचुनाहट और खुजली मालूम पड़ती है जो कुछ समय बाद स्वतः शान्त हो जाती है। प्रायः १–१॥ मास के प्रयोग से पूर्ण लाभ हो जाता है। इसके बाद भी रोगी को कुछ समय तक निम्नलिखित तैलयोग अभ्यङ्गार्थ प्रयुक्त करना चाहिये। इससे शरीर की रूक्षता दूर होकर वर्ण पूर्वापेक्षा भी उत्तम हो जाता है। ग्लिसरीन १ छटाँक, बादाम का तेल १ छटाँक और नीबू का रस १ तोला तीनों को आपस में भली प्रकार हिलाकर रख लेना चाहिये। Dermestenex के न मिलने पर गड्ढों पर Hirudoid मलहम दिन में १ बार ८–१० मिनट तक रगड़ना तथा रात्रि में हाइड्रो कार्टिजोन या प्रेडनोसौलीन के मलहम को रगड़ना चाहिये। इनसे भी पर्याप्त लाभ होता है।

प्रतिषेध—मसूरी का प्रयोग शीतला प्रतिषेध के लिये अत्यधिक सफल सिद्ध हुआ है। इससे पूर्णतया बचने के लिये प्रथम वर्ष, तीसरे वर्ष, सातवें वर्ष, बारहवें वर्ष तथा बीसवें वर्ष और चालीसवें वर्ष टीका ले लेने पर प्रायः निश्चितरूप में लाभ होता है। कम से कम १२ वर्ष तक प्रति तीसरे वर्ष और उसके बाद ६ से १० वर्ष के अन्तर पर ले लेने से अच्छा रहता है। मसूरिका पीड़ित रोगियों को पृथक् कमरे में रखना तथा स्वस्थ व्यक्तियों को उनके सम्पर्क से बचना प्रतिषेध की दृष्टि से सर्वोत्तम माना जाता है। रोगी के शरीर के सभी स्रावों एवं खुरण्डों में औपसर्गिक विषाणु अधिक मात्रा में रहते हैं, जिनका प्रसार होने पर रोगोत्पत्ति हो सकती है। अतः अलमकरण एवं दूषित वस्त्रादिकों का विशोधन सामाजिक स्वास्थ्य के लिये आवश्यक है। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित योगों में से किसी का प्रयोग वसन्त के प्रारम्भ में कुछ दिन तक करने से उस वर्ष के लिये मसूरिका से बचाव हो सकता है। मरक के रूप में रोग का आक्रमण होने पर इन योगों का व्यापक रूप में सेवन कराना जनस्वास्थ्य की दृष्टि से लाभकारी होगा। जिन घरों में मसूरिका का आक्रमण हो चुका हो वहाँ घर के शेष सभी बच्चों को इनका सेवन अवश्य कराना चाहिये।

१. नीम के पत्ते, बिभीतक मज्जा और हरिद्रा प्रत्येक १ माशा से ३ मा० तक आवश्यकतानुसार जल के साथ पीस-छानकर प्रतिदिन प्रातःकाल एक सप्ताह तक।

२. श्वेतचन्दन चूर्ण १ मा०, कदलीमूल स्वरस २ तो० के साथ मिलाकर प्रतिदिन १५ दिन तक प्रातःकाल पिलाना चाहिये।

३. करैले के पत्ते का रस १ तो०, हरिद्रा चूर्ण १ माशा, कालीमिर्च चूर्ण ४ रत्ती, मिश्री १ तोला मिलाकर प्रतिदिन १ सप्ताह तक पिलाना मसूरिका से बचाव के लिये पर्याप्त होता है।

४. सोलेण्टे (Solante)—१ माशा की मात्रा में सबेरे तथा शाम को दूध या जल के साथ १० दिन तक देने से १ वर्ष के लिए मसूरिका—रोमान्तिका से बचाव होता है।

त्वङ् मसूरिका (Chicken Pox)

विषाणु के उपसर्ग से उत्पन्न होने वाला तीव्र स्वरूप का औपसर्गिक ज्वर मुख्य रूप से बालकों को आक्रान्त करने वाला विशिष्ट प्रकार के विस्फोटों से युक्त होता है।

त्वङ् मसूरिका तथा परिसर्प (Herpes Zoaster) का विषाणु एक सा माना जाता है। त्वङ् मसूरिका में मुख की श्लेषमलकला में जो विस्फोट उत्पन्न होते हैं उनका स्वरूप परिसर्प से बहुत कुछ मिलता जुलता है। कुछ परिसर्प के रोगियों में त्वङ् मसूरिका की तथा त्वङ् मसूरिका में परिसर्प की उत्पत्ति देखी गई है। इस व्याधि का प्रकोप हेमन्त एवं वसन्त ऋतु में होता है। रोग का आक्रमण मरक के रूप में, अधिकांशतः दस वर्ष तक आयु के बालकों में, अधिक मिलता है। इसका प्रसार विस्फोटों के द्वारा दूषित वस्त्रों, उपकरणों एवं संवाहकों द्वारा तथा विषाणुओं से दूषित वायु द्वारा होता है। इसका संचयकाल १४–२१ दिन का होता है।

विषाणु का शरीर में संचय होने के बाद प्रथम लक्षण ज्वर उत्पन्न होना है। ज्वर के साथ ही विस्फोट की उत्पत्ति होती है। इसके मुख्य लक्षण ज्वर तथा विशिष्ट प्रकार के विस्फोटों की उत्पत्ति प्रायः साथ ही होती है। ज्वर का प्रारम्भ आकस्मिकरूप में होता है तथा व्याधि की सम्पूर्ण अवधितक—विस्फोटों के मुरझा जाने तक—बना रहता है। ज्वर मध्यम स्वरूप का प्रायः १०१–१०२ के बीच में रहता है। कभी-कभी ज्वर इतना कम होता है कि काफी विस्फोट निकल आने के बाद रोगी को व्याधि का आभास होता है। विस्फोटों के सूखने के बाद ज्वर धीरे-धीरे शान्त हो जाता है। छोटे बच्चों में ज्वर की तीव्रता बड़े बच्चों की अपेक्षा हमेशा कम रहती है। प्रारम्भ में शिरःशूल, अवसाद हृल्लास, वमन तथा शाखाओं में मध्यम स्वरूप की वेदना के लक्षण ज्वर या विस्फोट निकलने के एक दिन पूर्व होते हैं। किन्तु यह स्थिति बड़ी आयु के बच्चों या वयस्कों में ही मिलती है।

विस्फोट ज्वरारम्भ के प्रथम दिन सर्वप्रथम मुख के भीतर स्वरयंत्र के आस पास तालु तथा नेत्रकला में निकलते हैं। प्रारम्भ में विस्फोट का स्वरूप छाले की तरह होता है जो कुछ घण्टों में फूटकर उथले व्रण की तरह बन जाते हैं, इनका स्वरूप

परिसर्प के विस्फोटों के समान होता है। कभी-कभी इसी समय शरीर में रक्तवर्ण के धब्बे भी प्रकीर्ण रूप में लोहित ज्वर (Scarlet fever) के सदृश तथा कभी रोमान्तिका के सदृश निकलते हैं। इसके बाद क्रम से वक्ष, पृष्ठ, उदर में नाभि के नीचे, जानु के भीतरी भाग में, आकृति, शिर, जंघा, ऊर्ध्व शाखा तथा हस्तपादतल में निकलते हैं। विस्फोट एक साथ न निकलकर चार दिन तक लगातार गुच्छों के रूप में निकलते रहते हैं। मध्य शरीर में इनकी संख्या दूसरे स्थानों की अपेक्षा अधिक रहती है तथा शरीर के परिसरीय अंगों—शाखाओं आदि पर इनकी संख्या कम रहती है। अग्रबाहु की अपेक्षा बाहु पर अधिक तथा जंघा की अपेक्षा ऊरु पर अधिक होती है। कक्षा में भी इसके विस्फोट निकलते हैं। विस्फोटों का क्रम केन्द्राभिमुख (Centripital) होता है। विस्फोटों की ५ क्रमिक अवस्थायें हो सकती हैं। सर्वप्रथम उद्वर्णिक (Macules) अवस्था जिसमें केवल त्वचा के उस विशेष स्थान में वर्ण परिवर्तन होता है, लाली सी मालूम पड़ती है। बाद में गांठदार या उत्कर्णिक (Papules) इसके बाद शीघ्र ही इनमें द्रव का संचय हो जाता है और इनकी सद्रविक (Vesicular) स्थिति बनती है। मसूरिका की अपेक्षा इनके विस्फोट त्वचा की ऊपरी सतह पर अधिक उभड़े हुये पानीदार छाले की तरह ज्ञात होते हैं। इसके अनन्तर इन विस्फोटों में पूय संचार होकर पूयमय (Pustular) अवस्था होती है और अन्त में इन पर स्तर जमने लगते हैं और स्तरिक (Scaly) अवस्था उत्पन्न हो जाती है। इनके विस्फोटों की सर्वाधिक विशेषता विस्फोटों का गुच्छों में निरन्तर निकलते रहना—एक साथ नहीं निकलना—अर्थात् रोगी में इन सभी अवस्थाओं के विस्फोट दानों के सूख जाने के पहले कभी भी देखे जा सकते हैं। कोई विस्फोट सूख रहा है, किसी में जलीयांश आ रहा है, कोई उद्वर्णिक या उत्कर्णिक अवस्था में ही हैं।

त्वङ् मसूरिका के लक्षणों को ३ अवस्थाओं में बाँटा जा सकता है।

आक्रमण की अवस्था—यह प्रारम्भिक अवस्था है जिसमें सामान्य स्वरूप का ज्वर, शिरःशूल, अवसाद, हृल्लास, वमन आदि सार्वदैहिक लक्षण तथा मुख के भीतर तालु-स्वरयंत्र-एवं नेत्रकला आदि में विस्फोटोद्गम और क्वचित् पूर्व विस्फोट (Prodromal rashes) निकलते हैं। इसकी अवधि प्रायः २४ घण्टे की होती है।

विस्फोटोद्गम की अवस्था—इसमें सारे शरीर में पूर्वोक्त वर्णित क्रम से विस्फोटों की उत्पत्ति होती है। विस्फोटों के स्वरूप में रूपान्तर मसूरिका की अपेक्षा बड़ा त्वरित होता है। जो विस्फोट कुछ घण्टे पहले केवल उद्वर्णिक स्वरूप का था शीघ्र सद्रविक स्वरूप वाला हो जाता है। दूर से देखने पर विस्फोट त्वचा पर पड़े पानी के बिन्दु के समान या शीशे के छोटे दाने के समान त्वचा के ऊपर रक्खा हुआ दीखता है—त्वचा के भीतर से उभड़ा हुआ नहीं। विस्फोट अधिक भंगुर होते हैं। थोड़ा भी दबाव या रगड़ लगने पर फूट जाते हैं। इसीलिए स्कन्ध पृष्ठ आदि दबाव के स्थानों में

निकलने के साथ ही तुरन्त निपतित हो जाते हैं। पूयमय अवस्था होने पर विस्फोट के चारों ओर हलके शोथ का लाल घेरा बनता है। यह सारी अवस्था प्रायः १४ घण्टे में पूरी हो जाती है। इसके बाद २ से ४ दिन में विस्फोट सूख जाते हैं और खुरण्ड बनता है।

विस्फोट मोक्ष की अवस्था (Stage of desiccation)—खुरण्ड के निकलने के बाद विस्फोट के स्थान पर उथली सी व्रण वस्तु बनती है। प्रारम्भ में इसका वर्ण हलके गुलाबी रंग का और बाद में सफेद हो जाता है। सामान्यतया त्वङ् मसूरिका में विस्फोटों के स्थान पर गड्ढा नहीं पड़ता, केवल विवर्णता होती है। किन्तु खुजलाने या रगड़ खाने के बाद द्वितीयक उपसर्गों के कारण पिडिका बन जाने पर व्रण का चिह्न स्थायी रूप का बन सकता है।

प्रकार—

इसके सामान्य स्वरूप का ऊपर निर्देश किया गया है। कभी-कभी विस्फोटों में रक्तस्राव की प्रवृत्ति होने के कारण रक्तस्रावी (Varicella haemorrhagica), क्वचित् विस्फोटों में कोथ परिणाम होने के कारण कोथयुक्त (Varicella Gangrenosa) और बड़े-बड़े छालों का रूप धारण करने पर बुद्बुदाकृतिक (Vericella Bullosa) अवस्थायें होती हैं।

सापेक्ष्य निदान—मसूरिका तथा रोमान्तिका से इसके पार्थक्य की अपेक्षा होती है। रोमान्तिका में विस्फोट तीव्र ज्वर के छठे दिन बहुत छोटे दाने के रूप में सारे शरीर में निकलते हैं तथा प्रसेक के लक्षण अधिक निकलते हैं। मसूरिका में विस्फोटों में एक साथ परिवर्तन तथा परिसरीय अंगों में उनका अधिक प्रकोप होता है।

रोग विनिश्चय—मन्द स्वरूप के ज्वराक्रमण के २४ घण्टे के भीतर विस्फोटों का निकलना। सर्वप्रथम मुख के भीतरी अंगों में विस्फोटों का निकलकर तुरन्त फट जाना, विस्फोटों की अवस्थाओं में एक-दो दिन के भीतर ही सभी प्रकार के परिवर्तनों का हो जाना तथा विस्फोटों की त्वचा पर उभड़ी हुई स्थिति एवं उनकी भङ्गुरता तथा केन्द्राभिमुख स्थिति और गम्भीर लक्षणों के अभाव आदि के आधार पर त्वङ् मसूरिका का निदान किया जाता है। टीका लगे हुये व्यक्ति में मसूरिका सदृश विस्फोटयुक्त व्याधि प्रायः त्वङ्मसूरिका ही निर्णीत की जाती है।

उपद्रव—सामान्यतया इसमें विशेष उपद्रव नहीं होते। विस्फोटों में द्वितीयक उपसर्गों के कारण पूययुक्त अवस्थायें—विद्रधि, पिड़िका या अधस्त्वक् शोथ (Cellulitis) के उपद्रव हो सकते हैं। कुछ रोगियों में मस्तिष्कशोथ या मस्तिष्कसुषुम्ना शोथ का उपद्रव भी होते देखा गया है। यह उपद्रव प्रायः विस्फोट निकलने के ४–६ दिन बाद अभिव्यक्त होते हैं।

साध्यासाध्यता—यह पूर्ण रूप से साध्य व्याधि है। रक्तस्रावी प्रवृत्ति तथा मस्तिष्क-शोथ आदि के उपद्रव होने पर घातकता उत्पन्न होती है।

चिकित्सा—रोगी का सामान्य उपचार रोमान्तिका एवं मसूरिका में वर्णित क्रम से करना चाहिये। रोगी प्रारम्भ से ही संक्रामक हो सकता है, इस बात का ध्यान रखते हुये बचाव की व्यवस्था रखनी चाहिये। इसकी चिकित्सा अभी तक ज्ञात नहीं है तथा अभी तक इसकी मसूरी का निर्माण नहीं सम्भव हो सका है। एक बार रोगाक्रमण के बाद प्रायः स्थायी स्वरूप की क्षमता उत्पन्न होती है। रक्तस्राव एवं मस्तिष्कशोथ आदि उपद्रवों के होने पर उचित उपचार (पृष्ठ ६२६) करना चाहिये।

परिसर्प (Herper Zoaster)

विषाणु के उपसर्ग से एक पार्श्व की वातनाड़ी के प्रसार की दिशा में द्रवयुक्त विस्फोट, दाह, वेदना आदि लक्षणों की उत्पत्ति परिसर्प की विशेषता है।

परिसर्प तथा त्वङ् मसूरिका के विषाणु की सजातीयता का उल्लेख पहले किया जा चुका है। त्वङ् मसूरिका से पीड़ित व्यक्तियों के सम्पर्क से परिसर्प तथा परिसर्प से पीड़ित व्यक्तियों के सम्पर्क से त्वङ् मसूरिका की उत्पत्ति के उदाहरण मिले हैं।

इसका आक्रमण किसी भी आयु में हो सकता है, किन्तु वयस्कों एवं वृद्धों में अपेक्षाकृत आक्रमणों की अधिकता तथा लक्षणों की उग्रता होती है। कभी-कभी हल्का ज्वर, अवसाद, शारीरिक वेदना के साथ स्थानीय लक्षण उत्पन्न होते हैं और प्रायः स्थानीय लक्षणों के अलावा और कोई कष्ट रोगी को नहीं होता। विस्फोट निकलने के स्थान पर प्रारम्भ में वेदना तथा हल्के दाह का अनुभव होता है। तीसरे-चौथे दिन उस स्थल में हल्की लालिमा उत्पन्न होती है जिसके बीच में छोटा छाला सा उभड़ा हुआ दिखाई पड़ता है। धीरे-धीरे पूरे नाड़ी के प्रसारक मार्ग पर एक पार्श्व में—मध्य शरीर में होने पर उरःफलक(Sternum) से लेकर रीढ़ तक तथा सिर पर होने पर नाक या कपाल के मध्य से प्रारम्भ कर ग्रीवा-कपाल के पीछे मध्य रेखा तक विस्फोटों का प्रसार २-३ इञ्च की चौड़ाई में होता है। पाँचवें से दसवें दिन के भीतर विस्फोट धीरे-धीरे सूखने लगते हैं और अन्त में पतला खुरण्ड बन जाता है। यही खुरण्ड ३-६ दिन बाद पृथक् हो जाता है तथा विस्फोट के स्थान पर पर्याप्त मात्रा में व्रण वस्तु बनती है। इन व्रण-स्थानों में कभी-कभी स्पर्श-ताप एवं सूचीवेधशून्यता होती है। इसकी सर्वाधिक विशेषता विस्फोट निकलने के पहले, विस्फोट निकलने के समय तथा विस्फोटों के शमन के बाद दाह एवं कण्डूमय तीव्र वेदना है। वयस्कों एवं वृद्धों में परिसर्प का यह लक्षण बहुत काल तक बना रहता है। विस्फोट-स्थल पर कई महीनों या वर्षों तक काले-काले व्रणवस्तुयुक्त धब्बे से बने रहते हैं।

उपद्रव—सम्बद्ध नाड़ियों का अङ्गघात, शून्यता, दाह आदि उपद्रव हो सकते हैं। आकृति पर विस्फोट निकलने से वर्त्मघात (Ptosis), अर्दित तथा वक्ष

में होने पर उस पार्श्व में उदर की पेशियों का अङ्गघात हो सकता है। नेत्र के भीतर विस्फोट निकलने पर व्रणवस्तु बनने से Corneal opacity हो सकती है और उचित व्यवस्था न करने पर नेत्र के भीतर के व्रण आपस में मिलकर वर्त्म को चिपका लेते हैं, जिससे नेत्र खुल नहीं सकते हैं। नाड़ीशूल (Neuralgia) तो इसका विशिष्ट उपद्रव है ही, बहुत समय तक निरन्तर दाह, चुभन तथा विशिष्ट प्रकार की बेचैनीयुक्त वेदना बनी रहती है।

चिकित्सा—व्याधि की प्रारम्भिक अवस्था में अर्गट के योग (Ergometrin-tartrate) का प्रयोग किया जाता है। बारह घण्टे के अन्तर पर पेशी मार्ग से २-३ सूचीवेध देने से पर्याप्त लाभ हो सकता है। जलन एवं वेदना की शान्ति के लिये फेनासिटिन ऐस्प्रिन सिवाल्जिजन आदि वेदनाशामक योगों का प्रयोग किया जा सकता है। कुछ रोगियों में प्रारम्भ से ही B_{12} ५०० से १००० माइक्रोग्राम तथा B_6 १०० मि० ग्राम दैनिक मात्रा में ८-१० दिन तक पेशी मार्ग से देने से पर्याप्त लाक्षणिक लाभ होते देखा गया है। कुछ चिकित्सकों के अनुभव में कार्टिजोन वर्ग (Cortisone) की ओषधियों का प्रयोग नाड़ीशूल एवं उत्तरकालीन विकारों के शमन के लिये लाभप्रद सिद्ध हुआ है। निम्नलिखित क्रम से इसकी औषध-व्यवस्था की जा सकती है। इधर अर्गट के स्थान पर प्रॉस्टिग्मीन (Prostigmine) के प्रयोग से भी कुछ आशाजनक परिणाम सिद्ध हुये हैं।

1. Ergotamin tartrate
   or
   Prostigmine

   पेशी द्वारा १२ घण्टे पर २ दिन तक।

2. | | |
   |---|---|
   | Prednosoline | 5 m.g. |
   | Novalgin | 1 tab, |
   | Ascorbic Acid | 100 mg |
   | | १ मात्रा |

   दिन में ३ बार ५-६ दिन तक।

3. B_{12} — 500 me. gram.
4. Pyridoxine — 100 mg.

   पेशी मार्ग से २ दिन बाद से प्रारम्भ कर १० दिन तक।

स्थानीय उपचार—

विस्फोटों को विदीर्ण होने या रगड़ने से बचाना तथा उन पर जिंक आक्साइड एवं कैलामिना प्रिप्रेटा के चूर्ण का उद्धूलन करके रुई रखकर हल्के हाथ से बाँधना। खुरण्ड आने पर व्रणवस्तु तथा धब्बों के प्रतिबन्ध के लिये कार्टिजोन वर्ग की औषधियों के

मलहम लगाना हितकर होता है। दशांग लेप को मक्खन में मिलाकर लगाने से भी दाह जलन तथा वेदना में पर्याप्त लाभ होता है।

पाषाण गर्दभ या कर्ण फेर (Mumps)

यह मरक के रूप में फैलनेवाला तीव्र औपसर्गिक स्वरूप का ज्वर है, जो मुख्यतया बालकों में, अधिक से अधिक २० वर्ष की आयु तक, विशिष्ट प्रकार के विषाणुओं के उपसर्ग से उत्पन्न होता है। रोग का अधिष्ठान दोनों पार्श्व की कर्णमूलग्रन्थियों में मुख्यतया होता है। अधोहन्वी (Sub maxillary) तथा अधोजिह्वी (Sub lingual) ग्रंथियों में भी क्वचित् विकृति होती है। रोगोत्पादक विषाणु रोगी के लालास्राव में होता है जो खाँसते-छींकते लालाकणों के साथ उड़कर निकट के व्यक्तियों पर आक्रमण करता है।

विषाणु का प्रसार मरक के रूप में प्रायः शीत व वसन्त ऋतु में विन्दूत्क्षेपों द्वारा होता है। उपसर्ग के २ से ३ सप्ताह बाद तक विषाणु लसग्रन्थियों में संचित होकर एक पार्श्व की प्रायः वाम कर्णमूलग्रन्थि में शोथ उत्पन्न कर ज्वर का प्रारम्भ कराते हैं। एक बार के आक्रमण से प्रायः स्थायी स्वरूप की क्षमता उत्पन्न होती है, अतः पुनरावर्त्तन प्रायः नहीं होता।

लक्षण—प्रारम्भ में कर्णमूलिकशोथ, तीव्र ज्वर तथा सर्वाङ्ग वेदना के साथ रोग का आक्रमण होता है। शोथ एवं ज्वरादि लक्षण क्रम से दूसरे-तीसरे दिन बढ़ते जाते हैं। तीसरे दिन के बाद प्रायः एक पार्श्व की आक्रान्त ग्रन्थि का शोथ कम होने लगता है, किन्तु दूसरे पार्श्व की ग्रन्थि में शोथ का प्रारम्भ हो जाता है। क्वचित् ज्वर एक बार कम होकर पुनः २ दिन के लिये बढ़ सकता है। सामान्यतया ४–५ दिन के बाद ज्वर पर्याप्त मृदु स्वरूप का हो जाता है और एक सप्ताह में पूर्णतया रोगमुक्ति हो जाती है। कर्णमूलशोथ हो जाने के कारण मुख खोलने, चबाने तथा निगलने आदि क्रियाओं में रोगी को बहुत कष्ट होता है। प्रायः लालास्राव कम होता है तथा कुछ रोगियों में निरन्तर लालास्राव होते रहने से बार-बार थूकने की प्रवृत्ति होती है। कुछ रोगियों में अस्थायी स्वरूप से कुछ समय के लिये स्वाद का अनुभव नहीं होता। चरपरे तथा नमकीन पदार्थों के खाने पर लालाग्रन्थियों में क्षोभ उत्पन्न होकर स्थानीय वेदना के लक्षण बढ़ जाते हैं। कर्णमूलशोथ के कारण कर्णपाली उभड़ी हुई बाहर की तरफ उठी हुई सी ज्ञात होती है। ऊपर की त्वचा पाण्डु वर्ण की चमकीली होती है, दबाने पर पीड़ा होती है। कर्णमूलग्रन्थि में शोथ होने पर भी पाक (Suppuration) नहीं होता। गले के भीतर तुण्डिकेरी तथा तोरणिका पर भी कुछ शोथ हो सकता है। ज्वर १०१ से १०२ तक, नाड़ी की गति स्वाभाविक, रक्त में लसकायाण्वुत्कर्ष, श्वेतकणवृद्धि आदि विशेषतायें होती हैं।

प्रायोगिक परीक्षण—इससे कोई विशेष सहायता नहीं मिलती।

सापेक्ष्यनिदान—स्थानीय लक्षण उत्पन्न होने के पहले सामान्य वातिकज्वर के लक्षण होने के कारण रोगविनिश्चय में कठिनाई होती है। किन्तु कर्णमूलशोथ हो जाने पर प्रायः रोग-निदान आसानी से हो जाता है। पूयदन्त और दन्तोद्भेद (Wisdom tooth), कर्णशूल, मध्यकर्णशोथ, तुण्डिकेरीशोथ एवं विद्रधि (Peritonsillar abscess) आदि व्याधियों से इसका पार्थक्य करना चाहिये।

रोगविनिश्चय—मरक का इतिहास, शीतऋतु में कर्णमूलग्रंथिशोथ या मुँह के फैलाने एवं चबाने में कष्ट के साथ ज्वर का आक्रमण, प्रायः दूसरे पार्श्व की कर्णमूल ग्रंथि में भी व्याधि का प्रसार, अम्ल-नमकीन एवं चरपरे पदार्थ के मुह में रखने मात्र से वेदना में वृद्धि तथा ५ से १५ वर्ष की अवस्थावाले रोगियों में मुख्यतया आक्रमण, रक्तपरीक्षण में अविशेषता या लस कायाणूत्कर्ष, शोथादि लक्षणों का मर्यादित होना और पूयोत्पत्ति का अभाव आदि लक्षणों के आधार पर रोगविनिश्चय में अधिक कठिनाई नहीं होती।

उपद्रव व अनुगामी विकार—प्रायः ज्वराक्रमण के सात दिन बाद वृषणशोथ (Orchitis), बीजग्रन्थिशोथ (Oophritis), अग्न्याशयशोथ (Pancreatitis), सावरणमस्तिष्कशोथ (Meningo-encephalitis) आदि उपद्रव मुख्यतया हो सकते हैं। इन उपद्रवों के कारण नपुंसकता, वन्ध्यता, मधुमेह, बाधिर्य, अगघात आदि अनुगामी विकार भी क्वचित् होते हैं।

साध्यासाध्यता—पाषाणगर्दभ स्वयं मर्यादित स्वरूप का रोग है, घातकता बिल्कुल नहीं होती। उपद्रुत होने पर भी विशिष्ट अनुगामी विकारों के अतिरिक्त कोई कष्ट नहीं होते।

सामान्य चिकित्सा—अन्य औपसर्गिक रोगों के समान कर्णमूलिक शोथ में भी रोगी को स्वतंत्र, स्वच्छ, हवादार कमरे में १० दिन तक पूर्ण विश्राम कराना चाहिये। एक समय में अनेक व्यक्तियों के पीड़ित होने के कारण व्याधि का प्रसार रोकने के लिये रोगी को पूर्णतया पृथक् रखना आवश्यक है। मुख, दन्तवेष्ट, गला, नासा इत्यादि अंगों की भली प्रकार सफाई कवल-ग्रह एवं गण्डूष के द्वारा करनी चाहिये। अग्न्याशय (Pancreas) में शोथ होन की सम्भावना हो सकती है तथा खट्टे चरपरे पदार्थों के सेवन से कर्णमूलशोथ का कष्ट भी बढ़ जाता है। इस कारण प्रारम्भिक २–३ दिनों तक रोगी को लंघन कराना ही अच्छा है। केवल तरल पेयपदार्थ ही देना चाहिये। यवपेया, लाजमण्ड, दूध, फलों का रस, साबूदाना, दलिया इत्यादि पेय एवं लेह्य सुपाच्य आहारों का उपयोग किया जा सकता है। सारे शरीर को गरम पानी से प्रतिदिन पोंछना, शोथ स्थान पर प्रतिदिन सेंक करना लाभकारी होता है।

क्षार-गण्डूष का प्रयोग—(Alkaline mouth wash) एक चम्मच

सोडा बाई कार्ब आधासेर कुनकुने जल में मिलाकर कई बार कुल्ला कराना चाहिये। इससे मुख की सफाई तथा संचित गाढ़े श्लेष्मा का शोधन होता है। निम्नलिखित योग भी मुखशोधन के लिए उत्तम है :—

Potas chlorate	gr 10
Sode bi carb	gr 10
Tr laveneders	m 15
Boroglycerine	dr. one
Aqua ad,	oz one
	१ मात्रा

इसमें १ छटाँक गुनगुना पानी मिलाकर कुल्ला करना चाहिए। इससे मुख का चिपचिपापन तथा गंदगी दूर होकर रोगी को पर्याप्त शान्ति मिलती है।

स्थानीय उपचार—

शुष्क सेंक—गरम बालू की पोटली, नमक की पोटली या राख की पोटली से दिन में ३ या ४ बार शोथ स्थान पर सेंक करना पर्याप्त लाभ करता है। इसके अतिरिक्त ऊनी कपड़े से बाँध कर ढके हुये रखना भी हितकर है। शोथ के कारण अधिक ऊष्मा बर्दाश्त हो सकती है, अतः सेंक करते समय त्वचा जल न जाय इस बात का ध्यान रखना चाहिये।

पिण्ड स्वेद या वाष्प स्वेद—संकर स्वेद (पे० न०) तथा पिण्ड स्वेद (पे० न०) के प्रयोग से कुछ रोगियों में शुष्क सेंक की अपेक्षा अधिक लाभ होता है। गरम जल में तारपीन का तेल डाल मोटा कपड़ा या तौलिया भिगो कर पानी निचोड़ कर सहता-सहता वाष्प स्वेद करना लाभकारी होता है।

शीत प्रयोग—कुछ रोगियों में—विशेषकर पैत्तिक प्रकृति वाले व्यक्तियों में—उष्ण प्रयोग की अपेक्षा शीत प्रयोग अधिक लाभकारी होते हैं। रबर की थैली में बरफ भरकर शोथ स्थान के ऊपर मोटा मुलायम कपड़ा रखकर प्रयुक्त करना चाहिये। थैली के अभाव में मोटे तौलिये में बरफ लपेट कर या बरफ न मिलने पर केवल ठण्डे पानी में कपड़ा भिगोकर पूर्ववत् रखना चाहिये। शीत प्रयोग से शोथ स्थान में रक्ताधिक्य कम होकर वेदना आदि लक्षणों का उपशम होता है।

इसी प्रकार शीत एवं उष्ण प्रयोग का क्रमशः सान्तरित प्रयोग अर्थात् कुछ समय शीत प्रयोग, पुनः उष्ण प्रयोग पुनः शीत प्रयोग, केवल शीत एवं उष्ण की अपेक्षा क्वचित अधिक लाभकारी होता है।

उपनाह (Poultice)—१. सन के बीज, मेथी, कालीजीरी, रास्ना, देवदारु, कूठ, सरसों, दारुहल्दी, हल्दी—इनको समभाग लेकर काञ्जी में पीस कर गरम कर सुखोष्ण लेप करना चाहिये।

२. वत्सनभा, शुण्ठी, मृगश्रृङ्ग, कुचिला—इनको धतूरे के पत्ते के रस में घिस कर १-२ रत्ती अफीम मिलाकर गरम कर पूर्ववत् लेप करना।

३. नागफनी के काँटे तथा एक तरफ का छिलका निकालकर, हल्दी महीन पिसी हुई छिले हुए स्तर पर फैलाकर, कड़ुवे तेल में हल्का पका कर बाँधना चाहिये। इसी प्रकार घृतकुमारी का भी प्रयोग किया जा सकता है।

इन सभी प्रयोगों से शोथ का उपशम शीघ्र हो जाने के कारण स्थानीय वेदना तथा निगलने आदि का कष्ट भी शीघ्र ठीक हो जाता है। पूर्वोक्त द्रव्यों के सुविधापूर्वक न मिलने पर निम्नलिखित योग काम में लिया जाता है—

Ictheyol	dr. 2
Ext. belladonna siccum	grs 30
Menthol	grs 5
Glycerine	oz one

इसको रूई के फाये में लगाकर शोथ स्थान पर भली प्रकार लेप करना तथा ऊपर से गरम रूई रखकर बाँधे रखना चाहिये।

इस योग में एक विशेष प्रकार की दुर्गन्ध रहती है तथा कपड़ों में चिपकने के कारण सुकुमार व्यक्तियों के लिये यह उतना व्यावहारिक नहीं रह जाता। ऐसी स्थिति में ग्लिसरीन के स्थान पर कोलीडियान (Collodion) एक औंस की मात्रा में मिलाकर प्रयुक्त करना चाहिये। प्रत्येक स्थिति में आक्रान्त स्थल को गरम कपड़ों से बाँधकर रखना श्रेयस्कर है।

औषध चिकित्सा—

यह विशेष कष्टकारक व्याधि नहीं है तथा समाज में औषध-चिकित्सा न करने की ही अधिक प्रथा है। आवश्यक होने पर निम्नलिखित उपचार किया जा सकता है।

विशालक्षेत्रक प्रतिजीवी ओषधियाँ—अभी तक विषाणुजन्य व्याधियों में इनका प्रयोग विशेष सफल नहीं सिद्ध हो सका। फिर भी आरियोमाइसिन, आइलोटाइसिन, टेट्रासायक्लीन, साइनरमायसीन आदि का व्यवहार कुछ अनुभवी चिकित्सक इस व्याधि में भी उपयोगी बताते हैं। सम्भव है, इनके व्यापक प्रयोग से भविष्य में अधिक विश्वास-योग्य परिणाम निकल सकें। बहुव्ययसाध्य होने के कारण सटीक कार्यकारी न होने पर इनका प्रयोग न करना ही उचित है।

मल्ल के योग—कुछ समय पूर्व तक इस व्याधि का कारण विशिष्ट चक्राणु का उपसर्ग (Spirochaetal infection) माना जाता रहा। इसी दृष्टि से चिकित्सा में मल्ल के योगों का व्यवहार किया जाता था। विषाणुजन्य सिद्ध न होने पर भी मल्ल के योगों का व्यवहार शरीर की क्षमता बढ़ाने की दृष्टि से किया जा सकता है। निम्न योग इस दृष्टि से उत्तम हैं।

R/

Soda salicylas	gr 10
Soda bi carb	gr 10
Pot chlorate	gr 3
Liq arsenicalis	ms 3
Tr belladonna	m 10
Syrup. aurantii	dr. one
Aqua	oz one
	१ मात्रा

दिन में तीन बार।

पूर्वप्रचलित मल्ल के योगों का सूचीवेध अब अनुपयोगी माना जाता है।

वायु के दोष के कारण श्लेष्मा का श्वासवाही स्रोतसों में अवरोध होकर लाला ग्रन्थियों में व्याधिकर अधिष्ठान होने पर इस रोग की उत्पत्ति प्राचीन आचार्यों ने मानी है। इस दृष्टि से वायु का अनुलोमन एवं श्लेष्मा का पाचन करने वाले निम्नलिखित योग कर्णमूलशोथ में लाभकारी सिद्ध होने चाहिये।

नित्यानन्द
चण्डेश्वर
ज्वरारि अभ्र
वेताल

इन योगों में से किसी का व्यवहार उचित अनुपान के साथ करना चाहिये।

सन्निवृत्त लसिका—१० सी. सी. की मात्रा में पेशीगत सूचीवेध के रूप में सद्यः सन्निवृत्त लसिका अथवा २.५ सी. सी. की मात्रा में गामाग्लोब्युलिन का प्रयोग रोग के प्रारम्भिक दिनों में करने से तीव्रता का शमन एवं उपद्रवों का प्रतिरोध होता है। अधिक व्यावहारिक न होने तथा चमत्कारी प्रभाव वाली न होने के कारण चिकित्सा की दृष्टि से इसका अधिक महत्त्व नहीं है।

लाक्षणिक चिकित्सा—

शोथ तथा वेदना की लाक्षणिक निवृत्ति के लिए Dihydro-ergotamin **tartrate** का पेशीमार्ग से सूचीवेध बहुत हितकारी है। इसके २-३ सूचीवेध देने पड़ते हैं। लक्षणों की शान्ति तुरन्त हो जाती है तथा वृषण शोथ का उपद्रव भी कम होता है। इंजेक्शन न दे सकने की स्थिति में Methergin या Neogynergin की टिकिया दिन में ३ बार देनी चाहिए।

निम्न योग से शोथ एवं वेदना की पूर्ण शान्ति होकर अनुगामी विकारों का भी प्रतिबंध होता है—

R/

Prednosoline	5 mg
Irgapyrin	one tab
Ascorbic acid	200 mg
Calcium gluconate	gr 5
	१ मात्रा

३ बार ५-६ दिन तक। गरम जल के साथ।

अंगमर्द-सुस्ती आदि लक्षण ज्वरशमन होने के साथ स्वतः ठीक हो जाते हैं। आवश्यकता होने पर वेदना शान्ति के लिये कोडोपायरिन, सारिडान आदि औषधियों के प्रयोग के अतिरिक्त एस्पिरिन, फेनासिटीन, कोडीन आदि का व्यवहार भी किया जा सकता है।

लालास्राव—क्षोभ के कारण मुख से प्रायः कुछ न कुछ लार निकलती रहती है। कषाय रस वाले गण्डूषों का प्रयोग करने से लाभ होता है। यदि बहुत गाढ़ी चिपचिपी लार निकलती हो तो क्षारीय योगों से मुख की सफाई करनी चाहिये। यदि लार न बनती हो और मुख सूखा रहे तो मक्खन में कर्पूर, सफेद कत्था तथा छोटी इलायची एवं मिश्री मिलाकर अवलेह के रूप में चाटने को देना चाहिए।

उपद्रवों की चिकित्सा—

वृषण शोथ—कर्णमूल शोथ के ठीक होने के प्रायः ३-४ दिन बाद अण्डग्रंथि में शोथ हो जाता है। यह उपद्रव १२ से २० वर्ष की अवस्था के रोगियों में अधिक देखने में आता है।

कभी-कभी ३-४ सप्ताह बाद भी यह उपद्रव होते देखा गया है तथा कुछ रोगियों में कर्णमूलिक शोथ न होकर केवल वृषणशोथ ही एक मात्र व्याधि का लक्षण रहा है। इसमें वृषण में पीड़ा, शोथ, पीडनाक्षमता एवं जलसंचय, वृषण रज्जु (Cord) तथा वंक्षण ग्रंथियों में शोथ एवं वेदना तथा क्वचित् उदरगुहा में भी तीव्रशूल आदि लक्षण होते हैं। वृषणशोथ के समय ज्वरादि लक्षण पुनः उत्पन्न होते हैं। कुछ रोगियों में तीव्रज्वर १०३-१०५ तक उत्पन्न होकर वमन, प्रलाप, अवसाद आदि गंभीर लक्षण देखे गए हैं।

इसके प्रतिषेध के लिये Follicular hormones, Stilbesterol, Eastradiol आदि का प्रयोग १ से २ मि० ग्रा० की मात्रा में प्रतिदिन दिन में २-३ बार करना चाहिये। वृषणों में शोथ हो जाने पर भी इसके प्रयोग से लाभ होता है। पूर्वोल्लिखित बेलाडोना इक्थियाल का लेप शोथयुक्त वृषणों पर लगाकर Suspensary bandage या लंगोटा बाँध देना चाहिये। जानु संधि से

पैर मोड़ कर रखने तथा वृषण के नीचे तकिया आदि रख देने से अधिक लाभ होता है। कुछ रोगियों में व्याधि का तीव्र प्रकोप होने पर वृषणों में तरल का संचय होने के कारण जल वृषण (Hydrocele) सदृश स्थिति देखी गयी है। ऐसे लक्षणों के उपस्थित होने पर सूचीवेध द्वारा जल का शोधन करा देना अच्छा है। वृषणों में सेंक एवं पुल्टिश अधिक लाभकारी नहीं होती। सहता-सहता मध्यम स्वरूप का सेंक कराया जा सकता है। सेंक की अपेक्षा बरफ की थैली से शीत प्रयोग करना अधिक लाभदायक है। रोग मुक्ति के बाद भी वयस्क रोगियों को पर्याप्त समय तक ब्रह्मचर्य का पालन अनिवार्य रूप से कराना चाहिये। अन्यथा क्लैब्य या वंध्यात्व का अनुगामी परिणाम हो सकता है। कुछ रोगियों में वृषण शोथ होने पर शुक्रकीटोत्पादक नलिकाओं (Semeniferous tubules) का पूर्णतया नाश हो जाता है। अधिक वेदना होने पर Lotio plumbi et opii का कई बार लेप करने के लिये प्रयोग करना चाहिये।

वेदना की शान्ति के लिये वेदनाशामक ओषधियों का व्यवहार आवश्यकतानुसार करना चाहिये। बहुत अधिक कष्ट होने पर अण्डवाहिनी (Spermatic cord) को पकड़ कर उसमें Novocain or Procain का २% घोल २ से ४ सी० सी० की मात्रा में सूचीवेध द्वारा प्रविष्ट कराना चाहिये।

बीजग्रंथिशोथ (Oophritis)—कर्णमूलशोथ का शमन होने के बाद जिस प्रकार पुरुषों में वृषण शोथ होता है, उसी प्रकार स्त्रियों में बीजग्रंथि शोथ की सम्भावना रहती है। आकस्मिक रूप में उदरशोथ-पीडनाक्षमता-वमन आदि उपद्रव ज्वर का शमन होने के उपरान्त पुनः होने पर इस कष्ट का अनुमान किया जा सकता है। टेस्टिकुलर हार्मोन (Testosteron propionate), ल्यूटीयल हार्मोन (Progesteron or hormon of corpus luteun) का व्यवहार २ मि० ग्रा० की मात्रा में दिन में २ बार ४-५ दिन तक किया जा सकता है। शेष उपचार पूर्ववत्। बीजग्रंथियों के गहराई में होने के कारण पुल्टिस आदि से लाभ नहीं होता, फिर भी स्थानीय सेंक का प्रयोग किया जा सकता है। संभव होने पर बिजली का सेंक (Diathermy) शीघ्र लाभ कर होता है।

अग्न्याशय शोथ—तीव्र उदर शूल, चरबीयुक्त प्रवाहिका, आमाशय प्रदेश पर पीडनाक्षमता, वमन, ऐंठन आदि आन्त्रशूल के समान लक्षण ज्वरमुक्ति के बाद उत्पन्न होने पर अग्न्याशय शोथ का अनुमान किया जा सकता है। प्रायः मूत्र में शर्करा इस उपद्रव में मिलती है। लाक्षणिक चिकित्सा के अतिरिक्त सही निदान न होने पर विशेष कुछ नहीं किया जाता। गरम जल की थैली से सेंक करना, पर्याप्त मात्रा में जल पीना, आवश्यकता होने पर १२॥ प्रतिशत शक्ति का ग्लूकोज प्रविष्ट कराना श्रेयस्कर है। अग्न्याशय की कोषाओं का पूर्णतया नाश न होवे एतदर्थ Vit. B_{12} ५००

mg., C ५०० मि० ग्रा० की मात्रा में मिलाकर स्वतंत्र या ग्लूकोज के साथ दिया जा सकता है।

सावरण मस्तिष्क शोथ—ज्वर मुक्ति के ४-५ दिन बाद तीव्र शिरःशूल, हृल्लास, वमन, प्रकाश संत्रास, प्रलाप, ग्रीवास्तब्धता, कर्निंग का चिह्न, नेत्र प्रचलन, वर्त्मघात आदि लक्षण उपस्थित होने पर सावरण मस्तिष्कशोथ का अनुमान किया जा सकता है। इसके शमन के लिये सिर एवं कपाल पर बरफ की थैली रखना तथा मस्तिष्क सुषुम्ना द्रव का निपीड कम करने के लिये कटिवेध करना आवश्यक है। शिरःशूल, वमन आदि की शान्ति के लिये लाक्षणिक उपचार किया जाता है।

बलसंजनन—

रोगमुक्ति के बाद एक सप्ताह पर्यन्त रोगी को पूर्ण विश्राम देना, कैलोमल या यष्टयादि चूर्ण द्वारा कोष्ठशुद्धि करना और सुपाच्य पोषक आहार, जीवतिक्तियों के योग, प्राभूजिनों के योग, लौह-मल्ल घटित रासायनिक ओषधियों को या अन्य बलकारक योगों को उचित मात्रा में आवश्यकतानुसार देना चाहिये। पानी में भींगना, अधिक श्रम करना, धूप में जाना तथा ग्राम्यधर्म इस काल में पूर्णतया निषिद्ध करना चाहिये।

कर्णमूलिक शोथ एवं वृषण शोथ से पीड़ित होने के बाद बहुत से पुरुषों में शुक्रोत्पादक कोषाओं का नाश हो जाने के कारण प्रजननाक्षमता उत्पन्न होती है। प्रायः एक ही वृषण का पूर्णतया अपजनन होता है, दूसरा बचा रहता है। इस उपद्रव का प्रतिरोध करने के लिए वृषण शोथ से मुक्त होने के बाद पर्याप्त समय तक ब्रह्मचर्य पूर्वक रहने के अतिरिक्त Vit. A. तथा B. का पर्याप्त मात्रा में प्रयोग होना चाहिये।

प्रतिषेध—

मसूरी का प्रयोग—विषाणुओं की आमगर्भ संवर्धित मसूरी (Egg grown mumps viruses formalin inactivated) का $\frac{1}{10}$ सी० सी० की मात्रा में प्रारम्भिक सूचीवेध देकर प्रतिक्रिया जानने के बाद हीनक्षय होने पर १ सी० सी० की मात्रा में १ सप्ताह के अन्तर पर २ या ३ सूचीवेध दिये जाते हैं। इससे उत्पन्न क्षमता प्रायः १ वर्ष तक रहती है। मरक के समय आक्रान्त व्यक्तियों के सम्पर्क में आये हुये बालकों एवं युवकों को सन्निवृत्त लसिका २० सी० सी० की मात्रा में देने पर व्याधि का निराकरण अथवा कम से कम वृषण शोथ आदि उपद्रवों का प्रतिषेध होता है।

मरक के समय प्रतिदिन ११ तुलसी पत्र तथा ३ काली मिर्च प्रातःकाल चबाने से रोग का प्रतिषेध होता है।

प्रसेकी कामला

Catarrhal jaundice or Epedemic jaundice

यह तीव्र संक्रामक स्वरूप का अज्ञात जीवाणुजन्य विकार है, जिसमें हृल्लास वमन ज्वर एवं कामला के लक्षण उत्पन्न होते हैं। कभी-कभी इसके व्यापक रूप के मरक (Epedemics) भी आते हैं।

संसार के सभी भू-भागों के व्यक्तियों में इसका प्रकोप होता है। ग्रीष्मकाल की अपेक्षा शीत ऋतु में तथा वयस्कों की अपेक्षा बालकों एवं युवकों में इसका प्रकोप अधिक होता है।

इसके कारणभूत जीवाणु का अभी तक पृथक्करण नहीं किया जा सका किन्तु व्यापक प्रसार तथा जानपदिक प्रवृत्ति के कारण सम्भवतः कोई विषाणु इसका कारण होगा, यह माना जाता है। कामला के लक्षण उत्पन्न होने के पूर्व प्रसेक की अवस्था में रोगी अधिक उपसर्गी होता है तथा कामला उत्पन्न होने पर उसकी उपसर्ग-प्रसारकता कम हो जाती है। रोग के कारणभूत विषाणु रोगी के मल, रक्त एवं नासा-ग्रसनिका मार्ग में अधिक होते हैं। इसलिये इसका प्रसार मलदूषित खाद्य पेयों के द्वारा, उपसृष्ट व्यक्ति का रक्त या लसीका स्वस्थ व्यक्तियों में प्रविष्ट करने पर और खाँसने-छींकने के समय बिन्दूत्क्षेपों के द्वारा हो सकता है। रोगी के साक्षात् सम्पर्क से प्रसार का महत्त्व कम, मल-मूत्र दूषित जल के द्वारा प्रसार का महत्त्व सर्वाधिक होता है।

मल दूषित खाद्य पेयों के साथ पचन संस्थान में प्रविष्ट हुये विषाणु आन्त्र से प्रचूषित होकर यकृत् में पहुँचते हैं और यकृत् में ही प्रधान विकृति उत्पन्न होती है। इसका एक बार आक्रमण होने पर आधे से अधिक यकृत कोषाओं का विनाश हो सकता है। यकृत् में तीव्र स्वरूप का अपजनन (Acute yellow atrophy) कभी-कभी उत्पन्न होकर घातक परिणाम भी हो सकते हैं। यकृत् के अतिरिक्त प्लीहा, वृक्क, आंत्र आदि अङ्गों में भी साधारण शोथ के लक्षण उत्पन्न होते हैं। यकृत् की कोषाओं का नाश एवं पित्तवाहिनियों में पित्त का अवरोध होने के कारण रक्त में पित्त की अधिकता होने से कामला की उत्पत्ति होती है। यकृत् विकृति के कारण पूर्वघनाञ्जि (Prothrombin) और जीवतिक्ति K. की कमी हो जाती है, जिससे रक्तस्राव की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। यकृत् के रक्तसंचार में बाधा होने के कारण कभी-कभी जलोदर, सर्वांग शोफ आदि गम्भीर लक्षण भी उत्पन्न हो सकते हैं।

लक्षण—इसका संचयकाल ३-५ सप्ताह का होता है। इसके बाद रोग का आक्रमण धीरे-धीरे, शिरःशूल, आलस्य, अवसाद आदि लक्षणों के साथ, क्वचित् प्रवाहिका या अतिसार के साथ, प्रारम्भ होता है। ३-४ दिन तक इस प्रकार की अवसादकर स्थिति रहने के बाद हल्के ज्वर का आक्रमण होता है और उसके साथ

हृल्लास, अधिजठर प्रदेश में बेचैनी एवं मन्द वेदना, अरुचि, वमन एवं यकृत् प्रदेश में पीडनाक्षमता उत्पन्न होती है। इसके २–३ दिन बाद मूत्र में कामला के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। दो दिन बाद नेत्र में कामला का वर्ण स्पष्ट होने लगता है। इस प्रकार कामला उत्पन्न होने के पूर्व ६–८ दिन तक की अवस्था में अवसाद एवं ज्वरादि लक्षण रहते हैं। ज्वर कामला उत्पन्न होने के बाद भी कुछ दिन रह सकता है तथा हृल्लास, वमन, अरोचक का अनुबन्ध तो अधिक समय तक रहता ही है। ८–१० दिन तक कामला के लक्षण बने रहते हैं। धीरे-धीरे त्वचा का रङ्ग भी पाण्डुर सा हो जाता है। यकृत् प्लीहा की वृद्धि भी कुछ होती है। इसके बाद व्याधि में उग्रता न होने पर उपशम होने लगता है। मूत्र में पित्त लवण तथा पित्त रागक होने के कारण उसका रंग गहरे पीले रङ्ग का और मल में पित्त की कमी होने के कारण मल का रङ्ग मिट्टी सा होता है। कुछ रोगियों में ज्वराक्रमण के पश्चात् थोड़े समय के लिए रोगी व्याधिमुक्त सा दीखता है और ८–१० दिन बाद कामला के लक्षण उत्पन्न होते हैं। इस व्याधि से पीडित १० प्रतिशत रोगियों में कामला का विकार नहीं के बराबर होता है।

प्रायोगिक परीक्षा—श्वेत कायाणुओं की संख्या स्वाभाविक किन्तु सापेक्ष्य गणना में लसकायाणुओं की वृद्धि, मूत्र में पित्त लवण (Bile salts), पित्त रागक (Bile Pigment) की उपस्थिति, मल में पित्त का अभाव।

रोग विनिश्चय—हृल्लास, वमन, अरोचक, अवसाद, थकावट, मन्द ज्वर इत्यादि सौम्य लक्षणों के साथ बालकों या युवकों में कामला के लक्षणों की उत्पत्ति, शीत एवं वसन्त में प्रकोप, दूसरे गम्भीर लक्षणों का अभाव, रक्त में लसकायाणुओं की वृद्धि आदि के आधार पर इसका निर्णय किया जाता है।

कामला पूर्वावस्था प्रायः एक सप्ताह की होती है और अधिकांश रोगियों में कामला के लक्षण का उपशम भी एक सप्ताह में होने लगता है। इस प्रकार मोटे तौर पर रोगी ३ सप्ताह में रोगमुक्त हो जाता है। क्वचित् कामला के शान्त होने में ३–४ सप्ताह का समय भी लग सकता है। कामला से मुक्त होने के बाद भी शारीरिक दुर्बलता की दृष्टि से १॥–२ मास तक रोगी पूर्ण स्वस्थ नहीं हो पाता। कभी-कभी कामला उत्पन्न होने पर ज्वरादि लक्षण और बढ़ जाते हैं तथा मानसिक क्षोभ, प्रलाप, प्रावेगिक वमन, जलोदर, रक्तस्राव आदि लक्षण बढ़ जाते हैं और तीव्र स्वरूप का पीत यकृत्शोथ होकर रोगी की मृत्यु भी हो सकती है।

चिकित्सा—

सामान्य—रोगी को पूर्ण विश्राम कराना, कदुष्ण जल से शरीर पोंछना, शीत जलवायु का निषेध करना, उबाले हुये पानी में ग्लूकोज, सोडा बाईकार्ब मिलाकर पर्याप्त मात्रा में पिलाना, आहार में प्रोभूजिन तथा स्निग्ध पदार्थों का उपयोग न करना, फलों का रस, यवपेया, लाजमण्ड, पटोल यूष आदि का आवश्यकतानुसार पर्याप्त मात्रा में

सेवन कराना हितकर होता है। मल शुद्धि के लिये कैलोमल का प्रयोग न कराना चाहिये। यष्टयादि चूर्ण, हरीतकी चूर्ण आदि मृदु शोधक द्रव्यों का उपयोग किया जा सकता है। यकृत् प्रदेश पर सेंक करना तथा पर्याप्त तरल के सेवन से मूत्र की राशि बढ़ाना हितकर होता है।

औषध चिकित्सा—विशिष्ट संक्रामक विषाणु का परिज्ञान न होने के कारण इस व्याधि की सटीक चिकित्सा अभी तक निश्चित नहीं हो पायी। सामान्य स्वरूप का कष्ट होने पर प्रायः निम्नलिखित उपचार से लाभ हो जाता है।

१. जीवतिक्ति सी ५०० मि० ग्राम तथा लिट्रिसान या मिओनिन (Litrisan or Mionin tablet) की एक-एक टिकिया दिन में ३ बार १०-१५ दिन तक।

R/

2.	Soda bi carb	gr 10
	Soda citras	gr 10
	Pot. citras	gr 10
	Tr. card co.	ms 10
	Elixir B complex.	dr. one
	Ext. glycerrhyza liq	dr. one
	Syrup glucose	dr. one
	Infusion zentian.	oz one
		१ मात्रा

दिन में ३ बार।

३. ग्लूकोज २५% ५० सी० सी० तथा जीवतिक्ति सी ५०० मि० ग्रा० सिरा द्वारा प्रतिदिन दिन में १ बार, दस दिन तक। इसी के साथ नियोमेथिडिन १० सी० सी० की मात्रा में मिलाया जा सकता है। व्याधि की उग्रता होने पर टेट्रासाइक्लिन १०० मि० ग्रा० की मात्रा में १२ घण्टे के अन्तर पर पेशी मार्ग से ४ दिन तक। इसके बाद २५० मि० ग्रा० की मात्रा में मुख द्वारा ४-४ घण्टे पर ४ दिन तक देना चाहिये।

कामला की गम्भीरता या यकृत् का अपजनन उत्पन्न होने पर सिरा द्वारा ग्लूकोज, जीवतिक्ति सी, जीवतिक्ति के आदि का पर्याप्त मात्रा में प्रयोग करना चाहिये।

निम्नलिखित योग के प्रयोग से कामला के मरक के समय पर्याप्त लाभ स्पष्ट हुआ है।

१.	सूत शेखर	१ र०
	शिलाजत्वादि लौह	१ र०
	पुनर्नवा मण्डूर	२ र०
	गडूची सत्व	४ र०
		१ मात्रा

दिन में ३ बार पुनर्नवा स्वरस मधु के साथ।

२. पर्पटार्क, झाऊ का अर्क, मकोय का अर्क आदि का उपयोग इसमें बड़ा हितकर है ।

बल-सञ्जनन—रोग की निवृत्ति के बाद भी पर्याप्त समय तक रोगी को संयमित जीवन बिताना चाहिये । लौह-मण्डूर-ग्लूकोज जीवतिक्ति आदि का पर्याप्त मात्रा में सेवन करना चाहिये ।

कुकास

Whooping Cough

विशेष प्रकार का प्रावेगिक कास एवं ज्वर तथा सामान्य स्वरूप के प्रतिश्याय के लक्षणों के साथ कुकास दण्डाणु (B. Pertussis) के बिन्दूत्क्षेप जनित उपसर्ग से उत्पन्न होने वाली तीव्र स्वरूप की औपसर्गिक व्याधि है जिसका प्रसार बच्चों में अधिक होता है ।

कुकास दण्डाणु उपसृष्ट व्यक्ति के खाँसने के साथ नजदीक के स्वस्थ बालक को आक्रान्त करता है । दण्डाणु का प्रसार थूक कणों से सम्पृक्त रूमाल-पेन्सिल-गिलास इत्यादि दूसरे माध्यमों से भी हो सकता है किन्तु इस दण्डाणु के खुली वायु में बहुत शीघ्र नष्ट हो जाने के कारण मुख्य रूप में इसका प्रसार बिन्दूत्क्षेपों द्वारा ही होता है । इसका सञ्चय काल ७–१४ दिन का होता है । प्रायः मरक के रूप में इसका शीत ऋतु में प्रकोप होता रहता है । ६ माह से ५ वर्ष की आयु के बालक इससे सर्वाधिक आक्रान्त होते हैं । वयस्क व्यक्तियों में भी जिनको पहले कभी कुकास का कष्ट न हुआ हो—इसका आक्रमण हो सकता है । एक बालक के आक्रान्त होने पर कुटुम्ब के दूसरे बच्चे क्रम से पीड़ित होते जाते हैं । रोग मुक्ति के बाद उत्पन्न हुई व्याधि क्षमता प्रायः स्थायी स्वरूप की होती है ।

इस रोग की दो मुख्य अवस्थायें होती हैं । १. प्रसेकी अवस्था (Catarrhal-stage)—रोग के प्रारम्भ काल में प्रतिश्याय के समान नेत्र-नासा एवं गले से प्रसेक का होना, साधारण स्वरूप का ज्वर, तन्द्रा, प्रावेगिक श्वासकृच्छ्र, शोफयुक्त आकृति, स्वरयन्त्र शोथ, नासा से रक्तस्राव की प्रवृत्ति आदि लक्षण होते हैं । प्रारम्भिक दिनों में रोमान्तिका तथा रोहिणी का भ्रम होता है । यह अवस्था प्रायः एक सप्ताह तक रहती है । ज्वर मध्यम स्वरूप का होता है । क्वचित् स्वरयन्त्र शोथ के कारण ताप की वृद्धि हो सकती है । प्रसेक शान्त होने के साथ-साथ ज्वर का उपशम हो जाता है और इसी समय तक इस व्याधि का मुख्य लक्षण—विशिष्ट प्रकार की Whoop की ध्वनि के साथ प्रावेगिक कास की उत्पत्ति हो जाती है ।

प्रावेगिक कास की अवस्था (Paroxysmal stage)—इस अवस्था में बलपूर्वक निःश्वसन के साथ कास की प्रवृत्ति होती है । झटके के साथ ४–५ बार

खाँसने में फुफ्फुस में सञ्चित वायु बाहर निकल जाती है जिससे कास का वेग शान्त होते ही बड़े वेग से अन्तःश्वसन होता है और इसी अन्तःश्वसन की अवस्था में विशेष प्रकार की ध्वनि होती है। प्रायः कास के वेग का शमन वमन के द्वारा होता है। वेग के समय रोगी के श्वसन का अवरोध होने के कारण गले की नसें फूली हुई, आकृति में श्यावास्यता तथा नेत्र उभड़े से हो जाते हैं। एक वेग कुछ सेकेण्ड से २ मिनट तक का हो सकता है। दिन भर में १०-४० वेग तक सामान्य स्वरूप की व्याधि में हो सकते हैं। कभी-कभी छोटे-छोटे अनेक वेग तब तक आते हैं जब तक वमन के द्वारा आहार एवं लसदार श्लेष्मा निकल न जाय। वेग के समय अत्यधिक कष्ट होने के कारण बालक बहुत भयग्रस्त हो जाता है और नये वेग का पूर्वाभास होते ही निकट के व्यक्ति या वस्तु का सहारा लेना चाहता है। उसके अभाव में अपने घुटनों पर हाथ रखकर झुक जाता है या बिस्तर की तकिया या चारपाई को बलपूर्वक पकड़ लेता है। मानसिक चिन्ता, उत्तेजना, जोर की आवाज, भोजन, किसी प्रकार के क्षोभक कार्य प्रावेगिक कास को बढ़ाने में सहायक होते हैं। छोटे बच्चों में (१ वर्ष से कम आयु के) स्वाभाविक ध्वनि युक्त विशेष कास नहीं होती—अवरोध युक्त कास, श्वास एवं आक्षेप का कष्ट अधिक होता है। क्वचित् श्वासावरोध के कारण इसी अवस्था में मृत्यु हो जाती है। कास के वेग के समय सारे शरीर की मांसपेशियों में अत्यधिक तनाव के कारण रक्त केशिकाओं पर जोर पड़ने से रक्तस्राव की प्रवृत्ति बढ़ती है। नेत्रकलागत रक्तस्राव प्रायः मिलता है। शरीर के आन्तरिक अङ्गों—फुफ्फुस-अधिवृक्क-आन्त्र एवं मस्तिष्क—में रक्तस्राव के कारण अनेक गम्भीर उपद्रव होते हैं। श्वास प्रणाली पर प्रबल तनाव के कारण श्वास नलिका विस्फार प्रायः हो जाता है। आवेग के समय बार-बार वमन होने के कारण तथा आवेग के भय से भोजन न करने के कारण बालक अत्यधिक दुर्बल एवं क्षीण हो जाता है। आवेगकालीन तनाव तथा शरीर की दुर्बलता एवं शिथिलता से वेग के समय मल-मूत्र का अनियन्त्रित उपसर्ग, आन्त्रवृद्धि—विशेषकर नाभिगत (Umbelical hernia)—तथा विगत काल के व्रणों से रक्तस्राव की प्रवृत्ति होती है। यह अवस्था ४ से ६ सप्ताह तक रहती है। इसके बाद धीरे-धीरे उपशम होने लगता है। व्याधि की पूरी मर्यादा प्रायः ३ मास की होती है। इस रोग का प्रकोप कुटुम्ब में अनेक बच्चों में होने पर एक बच्चे में कास का वेग होने पर उसकी ध्वनि से दूसरे बच्चों में भी आवेग आने लगते हैं।

बालकों की अपेक्षा कन्याओं में इसका आक्रमण अधिक, किन्तु बालकों में व्याधि की तीव्रता अधिक होती है। ६ माह से कम आयु के बालकों में सहज क्षमता होती है। व्याधि का सर्वाधिक प्रकोप एक वर्ष से ३ वर्ष की आयु में होता है।

प्रायोगिक परीक्षा—श्वेत कायाणुओं की अत्यधिक वृद्धि, प्रायः १५-२० हजार प्रति घ० मि० मि० तक। यह वृद्धि केवल लसकायाणुओं की वृद्धि के कारण होती है

जिनकी संख्या सापेक्ष्य गणना में ५०-७० प्रतिशत हो सकती है। विशिष्ट दण्डाणु की उपलब्धि के लिये ष्ठीवन या प्राक्षेग के समय मुख के सामने शीशे की पट्टी लगाकर उस पर संचित बिन्दूत्क्षेपों का विशेष प्रक्रिया से संवर्धन किया जाता है।

सापेक्ष्य निदान—रोग की प्रसेकावस्था में रोहिणी-रोमान्तिका-श्वसनीफुफ्फुसपाक-तुण्डिकेरी शोथ आदि से इसका पार्थक्य करना होता है किन्तु प्राक्षेगिक अवस्था में इसका रूप इतना स्पष्ट होता है जिससे निर्णय में कठिनाई नहीं होती। मरक के समय किसी उपसृष्ट बालक के साथ रहने या कुटुम्ब के एक बालक के रोगाक्रान्त होने पर दूसरे बच्चों में प्रसेकावस्था में भी निर्णय किया जा सकता है।

रोग विनिश्चय—प्रसेक के लक्षणों के साथ मध्यम स्वरूप का ज्वर, शोथ युक्त आकृति, साधारण स्वरूप का प्राक्षेगिक श्वासकृच्छ्र आदि लक्षणों के आधार पर व्याधि के प्रारम्भिक काल में कुकास का निदान करना चाहिये। बाद में प्राक्षेगिक कास, अन्तः-श्वसन के समय विशेष प्रकार की ध्वनि, नेत्र कलागत रक्तस्राव, वमन के साथ कास के वेगों का शमन तथा रात्रि में व्याधि का अपेक्षाकृत अधिक प्रकोप और रक्त में लस-कायाणुओं की अधिक वृद्धि आदि लक्षणों से कुकास का निर्णय किया जाता है। वास्तव में विशेष प्रकार की अस्वाभाविक ध्वनि युक्त प्राक्षेगिक कास का एक मात्र लक्षण इस व्याधि का निर्णायक होता है।

उपद्रव तथा अनुगामी विकार—कुकास में उपद्रवों की संख्या बहुत अधिक होती है। शरीर के विभिन्न अङ्गों में रक्तस्राव होने के कारण गम्भीर स्वरूप के उपद्रव हो सकते हैं। श्वसनसंस्थानीय उपद्रवों में इन्फ्लुएञ्जा, श्वसनी फुफ्फुस पाक, श्वासनलिका-विस्तीर्णता (Bronchiectasis), फुफ्फुस की वातोत्फुल्लता (Emphysema), फुफ्फुस निपात (Collapse of lungs) तथा उत्तरकालीन क्षयोन्मुखता की प्रधानता होती है। पचनसंस्थानीय उपद्रवों में तीव्र प्रवाहिका, अग्निमांद्य, गुदभ्रंश, नाभिगत आन्त्रवृद्धि आदि लक्षण होते हैं। मध्यकर्ण शोथ (Otitis media) प्रायः कुकास से मुक्त बालकों में अधिक मिलता है। क्वचित् मस्तिष्कगत रक्तस्राव, अङ्गघात तथा आक्षेप आदि वातसंस्थानिक उपद्रव होते हैं।

साध्यासाध्यता—१ वर्ष से कम आयु के बालकों में कभी-कभी श्वासावरोध के कारण घातक परिणाम होते हैं। विशिष्ट चिकित्सा के प्रादुर्भाव के पहले उत्तरकालीन असंख्य उपद्रवों के कारण इसमें २०% घातकता के परिणाम हुआ करते थे। प्रारम्भ से ही उपयुक्त चिकित्सा के प्रयोग से व्याधि की तीव्रता पर्याप्त नियन्त्रित हो गई है।

चिकित्सा—

सामान्य—व्याधि की प्रारम्भिक अवस्था में रोगी को तरल आहार, मीठे फलों का रस, यवपेया, दूध देना चाहिए। प्राक्षेगिक कास का लक्षण उत्पन्न होने पर अल्प मात्रा में कई बार में सुपाच्य आहार देना चाहिये। भोजन के बाद कास के वेग की

अधिकता तथा वमन के कारण सारा भोजन निकल जाता है, जिससे हीन पोषण की सम्भावना होती है। वमन के बाद पुनः भोजन कराते रहना चाहिए। बालक को स्वतन्त्र, स्वच्छ, हवादार कमरे में रखना चाहिये। प्रकाश एवं सूर्यताप के प्रभाव से इस व्याधि के दण्डाणु शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। रुग्ण को दूसरे बालकों से पृथक् रखना आवश्यक है, ताकि व्याधि का प्रसार दूसरे बालकों में न हो जाय तथा कुकास से पीड़ित बालकों में दुर्बलता के कारण दूसरी संक्रामक व्याधियाँ न हो जायँ। शीतल वायु इस व्याधि के कष्ट को तथा उपद्रवों को बढ़ाने में सहायक होती है। रोगी को हलके गरम कपड़े पहनाकर शीत से बचाव करना चाहिये। छाती पर विक्स, अमृताञ्जन, घी-कपूर आदि की मालिश से तथा तथा बच्चे को मानसिक रूप में सान्त्वना देने से वेग कम आते हैं। शीतऋतु की रूक्ष वायु के कारण गले में खुश्की होने से इसका प्रकोप बढ़ता है। गरम पानी की भाफ या टिंचर बेंझोइन को गरम पानी में डालकर बच्चे को मच्छरदानी में लिटा कर भाफ देने से लाभ होता है।

ओषधि चिकित्सा—रोग के प्रारम्भ से ही प्रतिजीवी वर्ग की ओषधियों के प्रयोग से पर्याप्त लाभ होता है किन्तु दस-पन्द्रह दिन बीत जाने के बाद सेवन प्रारंभ करने पर विशेष लाभ नहीं होता, केवल व्याधि की तीव्रता कुछ कम हो जाती है। टेरामाइसिन, टेट्रासाइक्लिन, क्लोरमफेनिकाल, साइनरमाइसिन तथा स्ट्रेप्टोमाइसिन का कुकास में पर्याप्त प्रभावकारी परिणाम होता है। इनके साथ कार्टिजोन वर्ग की ओषधियों का उचित मात्रा में प्रयोग करने से लाभ शीघ्र तथा स्थायी स्वरूप का होता है। इनके प्रयोग से उत्तर-कालीन उपद्रवों का प्रतिबन्धन भी हो जाता है। व्याधि के जीर्ण हो जाने पर कासशामक ओषधियों का सहायक प्रयोग आवश्यक हो जाता है। कुकास की मसूरी का प्रयोग व्याधि प्रतिबन्धन एवं शमन के लिये किया जाता है। वास्तव में मसूरी का प्रयोग प्रतिबन्धन में अधिक हितकर होता है। व्याधि के निराकरण के लिये यह विशेष सहायक नहीं होता किन्तु प्रतिजीवी वर्ग की ओषधियों के साथ में मसूरी का प्रयोग मध्यम स्वरूप के विकार में उपकारक होता है। ओषधियों का प्रयोग निम्नलिखित क्रम से करना चाहिये। ओषधियों का चुनाव करते समय उनके स्वाद पर विशेष ध्यान रखना चाहिये। तिक्त एवं कटु द्रव्य कास के वेग को उत्पन्न करते हैं। यदि वमन के कारण मुख द्वारा प्रयुक्त ओषधि की निष्फलता की सम्भावना हो तो ३-४ दिन तक सूची वेध के द्वारा उचित मात्रा में प्रयोग करना चाहिये।

१. क्लोरम फेनिकाल—इसके पामिटेट, स्टीरिएट (Palmitate, Steariate) आदि स्वादु शर्बत बच्चों के लिये विशेष रूप से आते हैं। १ चम्मच में १२५ मि० ग्रा० क्लोरमफेनिकाल की मात्रा होती है। १ साल के बच्चों में ½ चम्मच, ५ वर्ष तक १ चम्मच तथा बाद में अवस्थानुसार १½ चम्मच की मात्रा में प्रति ४ घण्टे पर ८-१० दिन तक प्रयोग करना चाहिए। यदि कास शामक किसी शर्बत का प्रयोग थोड़ी मात्रा में इसी के साथ किया जाय तो लाक्षणिक लाभ शीघ्र होता है।

१. टेरामाइसिन तथा टेट्रासाइक्लिन के बच्चों के लिए विशिष्ट तरल योग आते हैं। १ वर्ष की आयु तक २५–३० मि० ग्रा०, ५ वर्ष तक ५०–१०० मि० ग्रा० तथा उसके बाद १२५ मि० ग्रा० की मात्रा में ४ घण्टे के अन्तर पर ४ दिन तक, बाद में ६ घण्टे के अन्तर पर ५ दिन तक देना चाहिये। आवश्यक होने पर ५० मि० ग्रा० की मात्रा में पेशी द्वारा सूचीवेध से भी औषधि प्रयोग कर सकते हैं। इन औषधियों से सन्तोषजनक लाभ न होने पर माइसरमाइसिन या लेडरमाइसिन का प्रयोग किया जा सकता है।

२. स्ट्रेप्टोमाइसिन—यह अल्पव्ययसाध्य सुलभ औषधि है। इसका प्रयोग अवस्थानुसार $\frac{1}{6}$ से $\frac{1}{4}$ ग्राम की मात्रा में पेशी द्वारा १२ घण्टे के अन्तर पर ५–७ दिन तक करना चाहिये। मध्यम स्वरूप के वेग में इससे एक सप्ताह में प्रायः लाभ हो जाता है। कुछ चिकित्सक इसके सूचीवेध के साथ प्रति तीसरे दिन पिटेन (Peten or whooping cough vaccine) के $\frac{1}{2}$ १ सी० सी० की मात्रा में कुल तीन सूचीवेध देते हैं। मसूरी का इस प्रकार प्रयोग अधिक लाभकर होता है।

ऊपर निर्दिष्ट किसी औषधि के साथ में निम्नलिखित योग से व्याधि के मुख्य लक्षण-आक्षेपिक कास का शीघ्र उपशम होता है।

Predinosoline	1.25 mg.
Ephedrine hydorchlor	gr $\frac{1}{12}$
Sodium gardenol	gr $\frac{1}{12}$
Ascorbic acid	25 mg
Lactose	grs 5
	१ मात्रा

दो वर्ष के बच्चे के लिये यह मात्रा प्रति ४ से ६ घण्टे पर २–३ दिन देना चाहिये। वेग शमन होने पर आवश्यकतानुसार दिन भर में केवल २–३ मात्रा से लाभ होता रहता है। मात्रा कम करने पर प्रेडनीसोलिन १.५ मि० ग्राम के आस पास देना चाहिये। सोडियम गार्डिनाल की मात्रा अधिक न होनी चाहिये।

कार्टिसोन वर्ग की दूसरी औषधि डेक्सामेथेसोन (Dexamethasone-Decadron etc) ट्रायम्सिलोन (Triamsilon-Kenacort or-ledercort etc.) का कुकास पर अधिक प्रभाव सिद्ध हुआ। २–३ साल के बच्चे के लिये १ मि० ग्रा० तथा ८ मि० ग्रा० की दैनिक मात्रा क्रम से दी जा सकती है। प्रायः ३–४ दिन के प्रयोग से लाभ हो जाता है।

इन औषधियों का प्रयोग प्रतिजीवी वर्ग की औषधियों के साथ में ही करना अच्छा है अन्यथा कुछ दिनों के लिये लाक्षणिक शान्ति होकर बाद में व्याधि का अधिक उग्र प्रकोप हो सकता है।

लाक्षणिक उपचार—कुकास के मुख्य दो लक्षण स्वतंत्र व्यवस्था की अपेक्षा रखते हैं—आक्षेपिक कास तथा वमन। ऊपर वर्णित चिकित्साक्रम से इन लक्षणों

का भी शमन होता है किन्तु व्याधि के जीर्ण हो जाने पर अलग से इनका उपचार आवश्यक हो जाता है। वमन की शान्ति के लिये मुख्य रूप से बेलाडोना वर्ग की ओषधियों का प्रयोग होता है। बेलाडोना की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक देनी पड़ती है जिससे कनीनिका विस्तार, मुख एवं गले की शुष्कता आदि तथा अन्य विषाक्तता के लक्षण उत्पन्न होते हैं। इससे कम मात्रा देने पर लाभ नहीं होता। प्रायः बेलाडोना के साथ स्वल्प मात्रा में इफेड्रिन, ब्रोमाइड एवं क्लोरल हाइड्रेट आदि शामक ओषधियों का उपयोग किया जाता है। इनसे प्रावेगिक कास का शमन, अनिद्रा एवं मानसिक त्रास का प्रतिकार होता है।

टिंक्चर बेलाडोना की मात्रा बालक की आयु के अनुपात से २ : १ बूँद प्रति बार होती है। दो वर्ष की आयु वाले बच्चे को प्रतिमात्रा टिं० बेलाडोना की १ बूँद देना होता है। दिन में ३ या ४ बार दे सकते हैं।

निम्नलिखित योग का प्रयोग प्रावेगिक कास की शान्ति के लिये किया जा सकता है—

Ephedrine hydrochlor	gr $\frac{1}{2}$
Pot bromide	gr 4
Chloral hydrate	gr 4
Tr. belladonna	ms 8
Benzyl benzoite	ms 10
Syrup vasaka e tolu	dr. 2
Aqua	dr. 2
	विभक्त ४ मात्रा

१-१ चम्मच ४-६ घण्टे के अन्तर पर देना चाहिये। यह मात्रा ३-४ साल के बालक की है।

सिरप पर्टसिन (Syrup pertussin), स्पाज्मो पर्टसाल (Spasmo pertusol), सिरप कोडीन फास (Syrup codein phos) आदि कफशामक योगों का प्रयोग भी उचित मात्रा में किया जा सकता है।

वमन का लाक्षणिक उपचार आरम्भ करने के पहले दस-पन्द्रह ग्रेन सोडा बाईकार्ब ४-५ औंस गुनगुने पानी में १ चम्मच ग्लूकोज मिलाकर बालक को पिलाना चाहिये। इसके बाद कास के वेग के साथ वमन के द्वारा सोडा बाईकार्ब का द्रव आमाशय को धोकर निकल जाता है। बड़े बालकों में इसकी द्विगुण मात्रा देनी चाहिये। एक बार आमाशय की शुद्धि हो जाने से वमन का पुनरावर्तन बहुत विलम्ब से होता है। आवश्यकतानुसार दिन में एक या दो बार यह प्रयोग किया जा सकता है। निम्नलिखित योग का सेवन कराने से वमन में लाभ होता है।

Siquil	2. 5 mg
Chloretone	gr i
Soda bi carb	gr ii
Glucose	gr ii
	१ मात्रा

दिन में ३ या ४ बार, आहार लेने के आधा घण्टा पूर्व।

उपद्रवों की चिकित्सा की अपेक्षा ऊपर लिखी व्यवस्थानुसार प्रबन्ध करने पर नहीं होती। श्वसनी फुफ्फुसपाक, इन्फ्लुएञ्जा, मध्यकर्ण शोथ आदि से बचाव प्रतिजीवी वर्ग की औषधियों के प्रयोग से हो जाता है। अन्य उपद्रव प्रावेगिक कास के बहुत दिनों तक बने रहने के कारण आन्तरिक तनाव की वृद्धि से उत्पन्न होते हैं। उक्त उपक्रम से प्रावेगिक कास का भी शीघ्र शमन हो जाने से इनके स्वतंत्र उपचार की आवश्यकता नहीं पड़ती। ७–८ हजार फीट की ऊंचाई पर बालक को ले जाने पर इस व्याधि का स्वतः शमन होते देखा गया है। साधन सम्पन्न रोगियों को वायु यान पर अधिक ऊँची उड़ान कराने की योजना बताई जा सकती है। वायु यान (वातानुकूलित नहीं) की ३–४ घण्टे की ऊंची उड़ान से वेग प्रायः शान्त हो जाता है।

कुकासहर योगः—मकाई के भुट्टा (बाल) का डण्ठल, कटेरी की जड़, कनेर की पत्ती तथा धतूरा पंचाङ्ग की अन्तर्धूम भस्म बना कर अष्टमांश मात्रा में जावित्री का चूर्ण मिला कर सूक्ष्म चूर्ण बनाना चाहिए। २–४ रत्ती की मात्रा में मधु या दूध के साथ दिन में २–४ बार सेवन कराने से कुकास से पीड़ित बालकों में शीघ्र लाभ होते देखा गया है।

बल-संजनन—कुकास के आक्रमण से बालक की क्षमता नष्ट हो जाती है तथा वमन इत्यादि के कारण वह शारीरिक दृष्टि से भी बहुत दुर्बल हो जाता है। रोगमुक्त होने के बाद पर्याप्त समय तक जीवतिक्ति वर्ग की औषधियाँ (Multi vites), पोषक औषधियों (Ferradol, Malveron, Keplar's malt, Prolypo आदि) का आवश्यकतानुसार उचित मात्रा में प्रयोग करना चाहिये। निम्नलिखित योग ३–४ सप्ताह सेवन कराने से शीघ्र शारीरिक पुष्टि तथा रोग प्रतिकारक क्षमता की वृद्धि होती है।

सर्वतोभद्र	१ र०
महालक्ष्मीविलास	१ र०
शृङ्गभस्म	१ र०
मुक्ताशुक्तिभस्म	१ र०
लौहभस्म	१ र०
जावित्री चूर्ण	२ र०
सितोपलादि	६ र०
	३ मात्रा

दिन में ३ बार मधु के साथ या दूध में मिलाकर पिलाना चाहिये। यह मात्रा ४-५ साल के बालक के लिये उपयुक्त होगी।

प्रतिषेध—कुकास से पीड़ित बालकों से दूसरे बालकों को पृथक् रखना, एक दूसरे की जूठी चीजें न खाने देना तथा उचित समय से मसूरी का प्रयोग कराना इस व्याधि से बचाव का मुख्य साधन होता है। बच्चों में ६ माह की आयु तक सहज क्षमता होती है। इसलिये मसूरी का प्रयोग ६ माह की अवस्था के आस-पास ही कराना चाहिये। रोहिणी, कुकास तथा धनुर्वात के प्रतिबन्धन के लिये मिले जुले योग (Triple antigen) आते हैं, उनका प्रयोग किया जा सकता है। प्रायः १ माह के अन्तर से ३ सूचीवेध की अपेक्षा होती है। प्रथम, तीसरे तथा पाँचवें वर्ष मसूरी का प्रयोग कराने से स्थायी रूप से कुकास से बचाव हो सकता है।

घर में किसी एक बच्चे के कुकास से पीड़ित होने पर दूसरे बच्चों को मसूरी का प्रयोग १ सी० सी० प्रति चौथे दिन के क्रम से कुल ३ सूचीवेध देने चाहिये। गुण की दृष्टि से जल्दी की बनी हुई मसूरी का प्रयोग हितकर होता है। एक वर्ष से पहले के बने योग निष्क्रिय से हो जाते हैं।

मसूरीकरण (Vaccination)—मसूरीकरण से कुछ अंशों में कुकास का प्रतिबन्धन होता है। शीतऋतु के पूर्व आश्विन या कार्तिक में मसूरिका का टीका लगवाने से दोनों व्याधियों का प्रतिबन्धन होता है।

रोहिणी

Diphtheria

साधारण ज्वर, परम दौर्बल्य, गलशोथ आदि लक्षणों के साथ रोहिणी दण्डाणु (Bacillus diphtheria) के उपसर्ग से बाल्यावस्था में होने वाला ज्वर रोहिणी है। बाल्यावस्था में दो से ५ वर्ष तक इसका आक्रमण सबसे अधिक तथा १०-१२ वर्ष तक साधारण रूप में होता है। कभी-कभी वयस्क भी इससे पीड़ित होते हैं। रोमान्तिका, कुकास, इन्फ्लुएञ्जा, तुण्डिकेरी शोथ आदि व्याधियों से आक्रान्त होने के उपरान्त इसका उपसर्ग अधिक होता है। शीत एवं समशीतोष्ण जलवायु वाले प्रदेशों में ऋतुपरिवर्तन के समय रोहिणी का प्रकोप अधिक होता है। रोग का प्रसार रुग्ण बालकों के खाँसने-छींकने-बोलने के समय बिन्दूत्क्षेपों द्वारा या उनके नासास्राव, लार इत्यादि से कलम-पेन्सिल-तौलिया-रूमाल आदि का उपयोग करने से होता है। जीवाणु का शरीर में प्रवेश मुख या नासा द्वारा होने पर नासा, नासाग्रसनिका एवं गले में उनका संचय होता है। अनुकूल परिस्थिति होने पर इनकी पर्याप्त वृद्धि दूषित अंगों पर एक पतली झिल्ली बनकर उसके नीचे होती है। रोहिणी दण्डाणु बहिर्विष उत्पन्न

करता है अर्थात् इसका उपसर्ग होने पर विकारोत्पत्ति के लिए जीवाणुओं का सारे शरीर में प्रसार आवश्यक नहीं है। गले, नासा आदि अंगों में मर्यादित रहकर ही अपने विष के प्रभाव से ज्वर, हृदयावसादन, नाड़ी-अंगघात आदि विकृतियाँ पैदा करते हैं। कभी-कभी रोमान्तिका के साथ शोणांशिक माला गोलाणु, फुफ्फुस गोलाणु आदि उपसर्गी तृणाणुओं का संक्रमण हो जाता है, जिससे रोग की तीव्रता बढ़कर श्वसनी फुफ्फुसपाक, विषमयता आदि उपद्रव होते हैं। इसका मुख्य अधिष्ठान गला (Faucial), नासा तथा स्वरयन्त्र होता है; किन्तु सद्यःप्रसूत शिशु की नाभि-व्रण-त्वचा-श्लेष्मल त्वचा आदि अंगों में भी कभी-कभी स्थानसंश्रय होता है।

लक्षण—ग्रैव लसग्रन्थियों की वृद्धि, अत्यधिक दौर्बल्य, बेचैनी, गलशोथ, कास, स्वरभेद आदि लक्षणों के साथ मन्द स्वरूप के ज्वर का अनुबन्ध बालकों में होने पर रोहिणी की विशेष परीक्षा करनी चाहिए। सामान्यतया मन्दज्वर, अत्यधिक बेचैनी और विषमयता एवं अवसाद के लक्षणों की उपस्थिति से रोहिणी की ओर ध्यान जाता है। बच्चों के कास-श्वास-ज्वर आदि किसी भी लक्षण से पीड़ित होने पर गले को सुप्रकाशित स्थान में (कृत्रिम प्रकाश की सहायता से) जिह्वामूल में जिह्वावनामक यन्त्र अथवा छोटे चम्मच से दबाकर अच्छी प्रकार देखना चाहिये। स्थान-संश्रय के अनुसार लक्षणों में कुछ भिन्नता होती है। अतः उनका पृथक्-पृथक् वर्णन किया जाता है।

गलतोरणिका (Faucial) की रोहिणी—रोग का आक्रमण धीरे-धीरे, आक्रमण के समय सर्दी, बेचैनी, अग्निमान्द्य, वमन, शिरःशूल तथा गले में वेदना होती है। ज्वर दूसरे दिन तक १०१-१०२ तक पहुँच सकता है। गले की परीक्षा करने पर गलशुण्डी तथा दोनों ओर की तुण्डिकाओं, कोमल तालु एवं तोरणिका में छोटे-छोटे धब्बे किञ्चित् नील, पीत या हरित वर्ण के उभरे हुए दिखाई पड़ते हैं। ग्रीवा की लसग्रन्थियाँ बढ़ती हैं तथा आक्रमण तीव्रस्वरूप का होने पर मूत्र में शुक्लि आने लगती है। व्याधि का प्रकोप अधिक होने पर श्वसन में दुर्गन्धि, नासा श्वसन में बाधा, नासास्राव या नासा रक्तस्राव की प्रवृत्ति तथा निगलने में अत्यधिक कठिनाई होती है। ग्रीवा की लसग्रन्थियाँ भी अत्यधिक बढ़ जाती हैं। बालक का चेहरा फूला हुआ, बेचैन, निद्राहीन सा होता है। श्वास-प्रश्वास तीव्र तथा शब्द युक्त (Stridor), हृदय दुर्बल तथा अनियमित, हीन रक्तभार, नाड़ी मृदु, अस्पष्ट एवं क्षीण तथा अनियमित होती है।

नासागत (Nasal) रोहिणी—नासागत रोहिणी प्रायः गले में संचित दोष का प्रसार होने पर उत्पन्न होती है। प्राथमिक स्वरूप में उत्पन्न होने पर सौम्य और चिरकालीन स्वरूप की होती है। पूययुक्त दुर्गन्धित रक्तस्राव तथा नासा से श्वास लेने में अवरोध, श्वेत या धूसर वर्ण की कला नासा की परीक्षा करने पर यदि दिखाई पड़े तो रोहिणी का अनुमान किया जाता है।

स्वरयन्त्र की रोहिणी (Laryngeal)—यह तीव्र स्वरूप का, विशेषतया बालकों

में होने वाला, रोहिणी का रूप है जिसमें प्रारम्भ से ही कांस्यध्वनियुक्त शुष्ककास—कास की ध्वनि पीतल के बर्तन के समान (Brassy)—स्वर भंग आदि लक्षण होते हैं। तीव्रता बढ़ने पर श्वासकृच्छ्र, बोलने की अशक्ति, तीव्र बेचैनी आदि लक्षण होते हैं। निःश्वास के समय स्वर यन्त्र का संकोच होने से श्वास में अवरोध होता है तथा घर्घर ध्वनि भी होती है। श्वासकृच्छ्रता के कारण पर्शुकान्तरीय स्थान, उरःफलक का निचला अंश निःश्वास के समय खिंच या दब से जाते हैं। रोने-खाँसने-हिलने-डोलने इत्यादि क्रियाओं से श्वासकृच्छ्र का वेग बढ़ जाता है। आवेग के समय श्वासावरोध के कारण नेत्र रक्तिम-चमकीले, ओष्ठ-नखाग्र नीले तथा त्वचा प्रस्वेद से क्लिन्न रहती है। रोगी के अत्यधिक क्षीण हो जाने तथा व्याधि का अत्यधिक प्रवर्धमान रूप होने पर श्वासावरोध पूर्ण स्थायी होता है। शरीर का वर्ण श्याम, स्पर्श शीत, श्वास रुक-रुककर चलता हुआ, हृदय अत्यन्त दुर्बल-अनियमित, नाड़ी लुप्त, तन्द्रा एवं मूर्च्छा आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। कभी-कभी रोहिणी में रक्तस्राव तथा पाक का भी अनुबन्ध होता है, जो प्रायः द्वितीय उपसर्गों के परिणामस्वरूप होता है। रोहिणी में गलतोरणिका, शुण्डिका (Uvula), मृदु तालु, स्वरयन्त्र, तुण्डिका (Tonsils), नासा, श्वसनिका इत्यादि अङ्गों में विशेष प्रकार की कला बनती है। कला धूसर वर्ण की तथा स्थिर स्वरूप की होती है। बलपूर्वक हटाने पर रक्तस्राव की प्रवृत्ति होती है। कण्ठ से इसका प्रारम्भ होकर ऊपर नासा की ओर तथा नीचे स्वरयन्त्र तथा श्वसनिका की ओर प्रसार होता है। इसके द्वारा होने वाले लक्षण कला के द्वारा श्वास मार्ग का अवरोध होने के कारण तथा जीवाणुओं के बहिर्विष का हृदय तथा नाड़ियों आदि पर घातक प्रभाव होने के कारण होते हैं। लक्षणों की गम्भीरता से ज्वर की तीव्रता का सम्बन्ध नहीं होता। अल्प ज्वर होने पर भी गम्भीर स्वरूप का रोहिणी का आक्रमण हो सकता है। ज्वर प्रायः १०२ से अधिक नहीं होता, अधिक संताप होने पर दूसरे उपसर्ग कारण होते हैं।

प्रमुख लक्षण—संक्षेप में मन्द ज्वर, गलतोरणिका-स्वरयन्त्र-मृदुतालु आदि अङ्गों में धूसर वर्ण एवं स्थिर स्वरूप की कला की उपस्थिति, शुष्क कास, स्वरभंग, गलशोथ, श्वासावरोध, श्यावास्यता, निगलने की कठिनाई, बोलने में कठिनाई, ग्रीवा की लसग्रन्थियों की वृद्धि, तीव्र बेचैनी, परम दौर्बल्य, आकृति से वेदना-बेचैनी एवं पाण्डुता की अभिव्यक्ति, नासा से पूययुक्त स्राव, कभी-कभी त्वचा में विस्फोटों की उपस्थिति, हृदय मन्दता-अनियमितता, हीनरक्तभार, यकृत् वृद्धि, अङ्गघात, शुक्लिमेह, मूत्राघात आदि लक्षणों की उपस्थिति से रोहिणी का अनुमान होता है। थोड़ा भी सन्देह होने पर रोगी के गले से स्राव लेकर सूक्ष्मदर्शक से परीक्षा करने पर रोहिणी दण्डाणु का प्रत्यक्ष दर्शन होने पर असंदिग्ध निर्णय हो जाता है। कदाचित् गले के स्राव में जीवाणु न भी मिले तो भी लाक्षणिक निदान होने पर रोहिणी की चिकित्सा प्रारम्भ कर देनी चाहिये। जीवाणुमयता न होने के कारण रक्त में विशेष परिवर्तन नहीं होता। कभी-कभी श्वेतकणों की संख्या

दस-बारह हजार तक बढ़ जाती है। नेत्र-जिह्वा आदि अङ्गों की मांसपेशियों का अङ्ग-घात होने पर दूसरे लक्षणों की अनुपस्थिति में भी रोहिणी का निर्णय करना चाहिये।

उपद्रव—श्वसनी फुफ्फुसपाक, श्वासावरोध, हृदयातिपात, पेशियों का अङ्गघात, वृक्कशोथ, रक्तस्राव, अन्तःशल्यता, परिसरीय वातनाड़ी शोथ, मध्यकर्ण शोथ आदि उपद्रव होते हैं। पेशियों का अङ्गघात प्रायः रोगमुक्ति के बाद होता है।

सापेक्ष्य निदान—रोमान्तिका, इन्फ्लुएञ्जा, तुण्डिकेरीशोथ, ग्रसनिकाशोथ, तालुशोथ, स्वरयन्त्रशोथ, परितुण्डिका-विद्रधि आदि रोगों से इसका सापेक्ष्य विनिश्चय करना चाहिये। यदि इन रोगों का पूर्ण विनिश्चय न हो तो रोहिणी की ही चिकित्सा करना अच्छा होता है। श्वसनी फुफ्फुस पाक से भी इसके लक्षण कभी-कभी मिलते-जुलते हैं।

सामान्य चिकित्सा—रोहिणी में मुख्य दुष्परिणाम हृदय पर होता है। इससे हृदय दुर्बल तथा अनियमित हो जाता है। श्वसनिकाओं में श्लेष्मा का सञ्चय तथा गलतोरणिका आदि में रोहिणी-कला का आच्छादन होने के कारण श्वास मार्ग में अवरोध होता है। अतः रोगी को पूर्ण विश्राम तथा शुद्ध वात सञ्चार युक्त कमरे में शयन कराना चाहिये। सिरहाना नीचा रखना अच्छा होता है। सिर के नीचे तकिया न रखना और नाड़ी दुर्बलता होने पर पायताना ऊंचा कर देना चाहिये। श्वासावरोध के लक्षण उपस्थित होने पर प्राणवायु की व्यवस्था करनी चाहिये। खाने-पीने, मल-मूत्र की निवृत्ति आदि किसी काम में रोगी को श्रम न करना चाहिये। शय्या पर पूर्ण विश्राम कराना अनिवार्य है, मल-मूत्रादि के लिये भी उठने न देना चाहिये। आहार में मृदु सुपाच्य तरल द्रव्य देना उचित होता है। यवपेया, लाजमण्ड, पञ्चकोलपाचित दूध, यूष तथा फलों के रस उचित मात्रा में देते रहने से पोषण बना रहता है। ग्लूकोज का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में—२-४ औंस तक—कराना चाहिये। पूर्व पाचित प्रोभूजिन के योग तथा जीवनीय वर्ग की पोषक औषधों का प्रयोग करते रहने से हृदय एवं नाड़ीसूत्रों को पोषण मिलता रहता है, जिससे अङ्गघात, हृदयातिपात आदि उपद्रवों का प्रतिरोध होता है। गले में अवरोध होने पर मुख द्वारा आहार का सेवन सम्भव नहीं होता। अतः नासा के द्वारा रबर की नली डालकर आमाशय में तरल आहार पहुंचाना अथवा आस्थापन वस्ति के द्वारा मधु, क्षीर या ग्लूकोज का प्रयोग कराना चाहिये। अधिक विबन्ध होने पर ग्लिसरीन की स्निग्ध वस्ति देकर मलशुद्धि कराना, उदर को हमेशा गरम कपड़ों से ढके रहना, जिससे वृक्क शीताभिषङ्ग से बचे रहें। हृदनोत्तेजन के लिये एक चम्मच मद्य का प्रयोग करना चाहिये।

औषध-चिकित्सा—रोहिणी का जितना शीघ्र निदान और औषध चिकित्सा में लसिका का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया जायगा, उतना ही अधिक लाभ की सम्भावना रहती है। जब तक रोहिणी का अन्यथा निदान न हो जाय, लसिका प्रयोग करने में

विलम्ब न होना चाहिये। प्रतिविष लसिका का प्रयोग करने के बाद गले की रोहिणी कला सूखने व विभक्त होने लगती है, गले का शोथ, मुख दुर्गन्धि, नासा स्राव एवं विषमयता के लक्षणों में सुधार होने लगता है।

निम्नलिखित कोष्ठक में प्रतिविष लसिका की मात्रा का निर्देश किया जा रहा है—

अधिष्ठान	साधारण	गम्भीर
गलतोरणिका (Faucial)	२५ हजार से ५० हजार यूनिट	१ लाख से १.५ लाख यूनिट तक
नासागत (Nasal)	१० हजार से २० हजार यूनिट	४० हजार से ६० हजार यूनिट तक
ग्रसनिका (Pharyngeal)	२० हजार से ४० हजार यूनिट	४० हजार से ८० हजार यूनिट तक
स्वरयंत्रगत (Laryngeal)	२० हजार से ४० हजार यूनिट	१ लाख से १.५ लाख यूनिट तक
नासा-ग्रसनिका (Naso-pharyngeal)	२० हजार से ४० हजार यूनिट	४० हजार से ८० हजार यूनिट तक

प्रतिविष लसीका प्रयोग के सामान्य नियम—

१. प्रतिविष लसिका का प्रयोग रोग के प्रारम्भ में ही तथा पर्याप्त मात्रा में करना चाहिये। रोहिणीदण्डाणु के बहिर्विष का प्रभाव हृदय-नाड़ीसूत्रों आदि अङ्गों पर जो हो जाता है अर्थात अङ्गघात-हृदयपेशी-अपजनन आदि, वह लसिका प्रयोग से नहीं ठीक हो सकता। अतः इस प्रकार के दुष्परिणामों के होने से पूर्व ही लसिका का प्रारम्भ होना आवश्यक है। अपर्याप्त मात्रा में लसिका का प्रयोग करने से व्याधि का उपशम पूर्ण रूप से नहीं होता तथा लसिका निष्क्रिय सी होने लगती है। लसिका की मात्रा व्याधि का अधिष्ठान गम्भीरता विषमयता उपद्रव आदि पर अधिक निर्भर करती है, अवस्था पर कम।

२. यथाशक्ति लसिका का प्रयोग एक ही पूर्ण मात्रा में करना चाहिये। अर्थात् व्याधि की तीव्रता आदि का निर्णय कर १० से ५० हजार यूनिट की मात्रा में शिरा या पेशी द्वारा एक-कालिक प्रयोग करना चाहिये।

३. लसिका देने के पूर्व पूर्वोक्त वर्णित क्रम से (पृ०) असहनशीलता का ज्ञान कर लेना अच्छा होता है। किन्तु इन परीक्षणों में समय न खोकर तीव्रावस्था में लसिका सूचिकाभरण से शिरा या पेशी के द्वारा दे देनी चाहिये। आजकल संकेन्द्रित विशुद्ध लसिका (Concentrated refined antitoxin) उपलब्ध हो जाती है, जिसमें इस प्रकार अनवधानता के उपद्रव की सम्भावना नहीं रहती।

४. लसिका का प्रयोग नितम्ब की पेशी में करना सर्वोत्तम होता है। किन्तु व्याधि की गम्भीरता होने पर विशुद्ध संकेन्द्रित लसिका का प्रयोग सिरा द्वारा करना श्रेयस्कर होता है। सिरा द्वारा लसिका के प्रयोग से असहनशीलता एवं अनवधानता की सम्भावना अधिक होती है, अतः इसकी पूर्व परीक्षा अवश्य कर लेनी चाहिये। विशेषकर जिन बच्चों या उनके रक्त-सम्बन्धियों में श्वास, शीतपित्त, छाजन (अपरस) आदि अनूर्जताजनित व्याधियों का इतिवृत्त मिलता हो उनमें अवश्य कर लेना चाहिये। कभी-कभी छोटे बच्चों में सिरावेध आसानी से नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में उदरावरण (Intra-peritoneal) के माध्यम से योग्य अनुभवी चिकित्सक की देख-रेख में प्रयोग करना चाहिये।

५. प्रतिविष लसीका की मात्रा व्याधि की तीव्रता की दृष्टि से कुछ अधिक होना अच्छा है। लसीका प्रयोग से लाभ उसकी समुचित मात्रा पर निर्भर करता है। मात्रा के कुछ अधिक होने से हानि नहीं होती, कम होने से ही हानि होती है। लसीका प्रयोग करने के आधा घण्टा पूर्व अनूर्जता विरोधी (Anti-histaminics) औषध (Phenergan, Synopen, Benadryl etc.) का उचित मात्रा में प्रयोग करना अच्छा है। ऐड्रेनेलीन (Adrenalin hydrochlor 1: 1000) को पिचकारी में भरकर तैयार रखना चाहिये। यदि अन्तस्त्वचा (Intra.dermal) प्रयोग से लसीका की असहनशीलता का ज्ञान हो तो ०.१ सी० सी० लसीका को १० सी० सी० समलवण जल में मिलाकर, क्रम से बढ़ाते हुए सात्म्य कराकर पूर्ण मात्रा पेशी मार्ग से देना चाहिए।

६. लसीका प्रयोग के बाद १२-२४ घण्टे के भीतर रोहिणी के लक्षणों एवं कला (Membrane) का पूर्ण शमन हो जाता है—सन्देह होने पर पुनः प्रयोग करना चाहिए।

७. लसीका का अधिक मात्रा में प्रयोग आवश्यक होने पर १५-२० हजार यूनिट पेशी मार्ग से देकर शेष मात्रा २०० सी० सी० ग्लूकोज-समलवण जल में मिलाकर बूँद-बूँद की मात्रा में सिरा द्वारा देना चाहिए।

प्रतिविष लसीका के द्वारा रोहिणी दण्डाणु के विष का निर्विषीकरण हो जाता है किन्तु जीवाणु की वृद्धि का अवरोध या उनका विनाश अधिक शीघ्रता से नहीं होता। अतः सहायक औषधियों के रूप में आइलोटाइसिन (Ilotycin or Erythromycin) और पेनिसिलीन का प्रयोग करना चाहिए। आइलोटाइसिन की २ गोली (या २०० मि० ग्रा०) प्रारम्भिक मात्रा, बाद में प्रति ४ घण्टे पर १ गोली ३ दिन तक, ६-६ घण्टे पर ३ दिन तक, इस प्रकार कुल ३२ गोली देनी चाहिये। कुछ चिकित्सकों की राय में रोग के प्रारम्भ से ही आइलोटाइसिन के प्रयोग से व्याधि का निर्मूलन होता है, लसिका प्रयोग की आवश्यकता नहीं पड़ती। किन्तु दोनों का संयुक्त प्रयोग करना चाहिए। इसी प्रकार पेनिसिलीन का पूर्व निर्दिष्ट क्रम से प्रयोग किया जाता है। इसके प्रयोग से द्वितीयक उपसर्गों का प्रतिकार भी होता है जिससे श्वसनी फुफ्फुसपाक आदि उपद्रव नहीं होते।

छोटे बच्चों में स्थानीय चिकित्सा की सुव्यवस्था नहीं हो सकती किन्तु जहाँ सम्भव हो सके निम्नलिखित प्रयोग कराना चाहिए।

१. समलवण जल या ३०% ग्लूकोज के घोल को गुनगुने रूप में कुल्ला करने के लिये देना।

२. हाइड्रोजन पर आक्साइड या पोटास परमैंगनेट से कुल्ला कराना, लिस्टरीन-सैवलॉन-ग्लइाकोथायमाल-पास्चुरिन (Listerin, savlon, glycothymol or pasturin) आदि के घोल से कुल्ला कराना या पोंछना।

३.	Tr. Ferri perchlor	dr. one
	Acid carbolic	ms 20
	Glycerine	dr. 4
	Aqua	dr. 4

आध पाव गुनगुने जल में १ चम्मच दवा मिलाकर गरारा करने को देना या मुलायम कपड़ा में लगाकर दूषित स्थान की सफाई करना।

४. प्रतिविष लसिका रूई में भिगोकर दूषित स्थलों में कला के ऊपर लगाना अथवा कोलार्गल ५% (Collargal) का पेन्ट के रूप में प्रयोग करना चाहिए। यदि सीकर (Spray) के रूप में इनका प्रयोग किया जाय तो अधिक लाभ होगा।

निम्नलिखित योग भी इस कार्य के लिये उपयोगी है—

R/	Broax	gr 10
	Sodium chloride	gr 10
	Pot. chlorate	gr 10
	Tr. lavender	gr 10
	Soda bi carb	dr. one
	Aqua	oz 2

गले के बाहर से तारपीन का तेल पानी में डाल स्वेदन करना; संकरस्वेद, साल्वण सेंक, दोषघ्न लेप आदि के प्रयोग से भी रोगी के गलशोथ तथा निगरण कष्ट में लाभ होता है। शोणांशिक मालागोलाणु का सह उपसर्ग होने पर निम्नलिखित योग प्रतिविष लसिका के अतिरिक्त देना चाहिए।

R/	Quinine sulph	gr 10
	Tr. ferri perchlor	dr. one
	Pot. chlorate	gr 40
	Glycerine	dr. 4
	Aqua	oz 4

३-४ साल के बालक के लिये दो-दो चम्मच प्रति ४ घण्टे पर।

द्वितीयक उपसर्गों की शान्ति के लिए पेनिसिलिन या आइलोटाइसिन का प्रयोग सम्भव न होने पर शुल्बौषधियों का प्रयोग साथ में करना चाहिए। निम्नलिखित योग लसिका प्रयोग के साथ देते रहने से द्वितीयक उपसर्गी जीवाणु का विनाश तथा उपद्रवों का प्रतिबन्ध होता रहता है।

R/		
	Sulphadiazin	tab. 1
	Sulph merazin	tab. 1
	Ascorbic acid	100 mg.
	Dical phos	gr. 10
	Soda bi carb	gr 10
	Glucose	gr 10
		१ मात्रा

दस साल के बच्चे के लिए १ मात्रा दिन में ४ बार १ छटाँक गुनगुने पानी में घोल कर पीने को दे।

इसके साथ ही २ घण्टे बाद निम्नलिखित योग देना चाहिये—

R/		
	Coramin liq.	m. 5
	Pot. citras	gr 6
	Tr. nux vomica	m. one
	Tr. card co	m. 10
	Spt. chloroform	ms. 5
	Spt. vin galacii	ms. 10
	Syrup aurantii	dr. one
	Aqua	dr. 2
		१ मात्रा

२ चम्मच ३-४ बार।

इसके प्रयोग से हृदय का बल स्थिर रहता है तथा उपद्रवों की सम्भावना नहीं रहती।

रोहिणी में अनेक लक्षण उपद्रवों का स्वरूप धारण कर लेते हैं—उनका विशिष्ट उपचार नीचे दिया जाता है—

हृच्छोथ तथा हृदय दौर्बल्य (Carditis & Myocardial weakness)—रोगी को पूर्ण विश्राम कराना, आध्मान-कोष्ठबद्धता आदि का उपचार करना, गरम कपड़ों से ढके रखना, आवश्यक होने पर गरम पानी बोतल में भर कर पैर-उदर तथा पीठ के आस-पास रखना। गले में अवरोध होने या किसी कारण मुख द्वारा आहार प्रयोग सम्भव न होने पर नासा या गुदा द्वारा पोषण करना। प्रारम्भ से ही प्रतिविष लसिका तथा प्रतिजीवी वर्ग की औषधियों (Ilotycin or Penicillin) का प्रयोग करना आवश्यक होता है।

हृदय की दुर्बलता एवं गति में अनियमितता होने पर निम्नलिखित योग देना चाहिये—

Spt. chloroform	m 15
Coramine liq.	ms 30
Tr. card co	ms 20
Syp. glucose	dr. 2
Aqua	oz 2
	oz 2

२-२ चम्मच प्रति ३ घण्टे पर।

इसके अतिरिक्त कार्डियाजोल, वेरिटाल आदि का प्रयोग किया जा सकता है। स्ट्रिक्नीन, एड्रिनेलिन, अट्रोपिन, कैम्फर मुश्क इन ईथर, एड्रिनल कार्टिकल एक्स्ट्रैक्ट का आवश्यकता होने पर उचित प्रयोग होना चाहिए। ग्लुकोज तथा इन्सुलिन का फुफ्फुस पाक में निर्दिष्ट क्रम के अनुसार सिरा द्वारा सूचिकाभरण करने से हृत्पेशी को वास्तविक पोषण मिलता है। परिसरीय रक्तप्रवाह को उत्तेजित करने के लिए १०५° से ११०° फै० ताप युक्त जल से सम्पूर्ण शरीर हल्के हाथों रगड़ कर पोंछना। गरम बालू की थैली या बिजली के बल्ब से सेंक करना चाहिए।

मुख्य चिकित्सा के साथ में निम्न योग का सेवन कराते रहने पर हृदयातिपात एवं परिसरीय हृदय दौर्बल्य का पूर्ण रूप में प्रतिबन्ध होता है। रोहिणी के विष का हृदय पर प्रभाव अधिक नहीं पड़ता तथा उत्तरकालीन उपद्रवों का प्रतिबन्धन होता है।

हृदय विश्वेश्वर रस	१ र०
अकीक पिष्टि	१ र०
जवाहर मोहरा	१ र०
बृ० कस्तूरीभैरव	१ र०
	३ माशा

रुद्राक्ष को चन्दन की तरह घिसकर दो आने भर मात्रा में दवा के साथ मिलाकर, २ चम्मच वेदमुश्क का अर्क तथा ½ चम्मच मृतसंजीवनी सुरा मिलाकर, मधु या ग्लूकोज से मधुर बनाकर दिन भर में ३ बार देना चाहिये।

श्वासावरोध—प्रारम्भ से ही रोगी को टिंक्चर-बेंजोइन एक ड्राम, तारपीन का तेल एक ड्राम तथा यूकैलिप्टस का तेल १ ड्राम उबलते पानी में डालकर वाष्प सुँघाना चाहिये। यदि श्वासावरोध अधिक हो रहा हो तो प्राणवायु सूँघने के लिए देना चाहिये। गम्भीर स्थिति में मुख की श्यावता होने पर गले से स्वरयन्त्र के नीचे तक रबर की नली (Intubation) डालना या कण्ठ नलिका छेद करके श्वास प्रश्वास की व्यवस्था करना अनिवार्य रूप से आवश्यक होता है। वास्तव में श्वास प्रणाली में अवरोध होने के कारण श्वासावरोध होता है, श्वसनाङ्गों की विकृति के कारण नहीं। कभी-कभी साथ में श्वसनी-फुफ्फुसपाक का उपद्रव होने के कारण फुफ्फुस में श्लेष्मा का संचय भी होता है। अतः श्वसन की उत्तेजना के लिए प्राणवायु-प्राङ्गारद्विजारेय मिश्रण (O^2+CO^2) सूँघने के लिए तथा लोबेलिन, ऐट्रोपिन, पिट्यूट्रिन आदि का सूचीवेध देना चाहिये।

अङ्गघात—रोहिणी के द्वारा होने वाला अङ्गघात धीरे-धीरे ठीक हो जाता है। अत्यधिक तीव्रस्वरूप का अङ्गघात होने पर स्ट्रिक्नीन का प्रयोग पूर्ण मात्रा में करना चाहिये। कुपीलु के योग तथा कुपीलु सत्व (Strychnin) इसकी प्रमुख औषध है।

अङ्गघात प्रायः सार्वदैहिक न होकर स्थानिक होता है। मृदु-तालु की पेशियों का घात होने पर तरल निगलते समय नासा के द्वारा उद्गीर्ण हो जाता है तथा रोगी की आवाज सानुनासिक हो जाती है। नेत्र की पेशियों का घात होने पर दृष्टि-शक्ति का ह्रास, द्विधा दृष्टि, तिर्यक् दृष्टि, वर्त्मघात (Ptosis) आदि रूप होते हैं। कभी-कभी महाप्राचीरा तथा पर्शुकान्तरीय पेशियों का घात हो जाता है, जिससे श्वसन में बाधा पड़ती है। इसके लिए छाती में तीव्र क्षोभक तैलों की मालिश, गरम सेंक आदि उपचार करने चाहिये। गले की पेशियों का घात होने पर नासा के द्वारा पोषण देना चाहिये। जीवतिक्ति वर्ग की ओषधियों का—विशेष कर बी० कम्पलेक्स, बी१२, बी१ का—प्रयोग करना चाहिये। रोगमुक्ति के बाद ईस्टन सिरप का प्रयोग कुछ दिन कराने से अङ्गघात की शीघ्र निवृत्ति हो जाती है।

निम्नलिखित योग से रोहिणीजनित अङ्गघात में शीघ्र लाभ होता है—

रसराज	१ र०
मल्लचन्द्रोदय	½ र०
कृष्णचतुर्मुख	½ र०
शु० कुपीलु	½ र०
मयूर शिखा चूर्ण	१ माशा
	३ मात्रा

मधु के साथ ३ बार। १०–१५ दिन में पूर्ण लाभ हो जाता है।

वातनाड़ीशोथ (Neuritis)—रोहिणी में नाड़ी दौर्बल्य, पादहर्ष एवं चेष्टावह नाड़ियों की विशेष दुर्बलता का उत्तरकालीन कष्ट होता है। लसीका प्रयोग प्रारम्भ में ही करने तथा विषमयता का समुचित उपचार हो जाने से विशेष हानिकारक परिणाम नहीं हो पाता। स्ट्रिक्नीन एवं कुपीलु के योग, जीवतिक्ति (B.complex), बी६, तथा बी१२ आदि का प्रयोग करने से शीघ्र लाभ हो जाता है। निम्नलिखित योग से भी शीघ्र सुधार होता है।

१.	शु० कुपीलु	१ र०
	रससिन्दुर	१ र०
	बृ० वात चिन्तामणि	१ र०
	मुक्ताशुक्ति भस्म	२ र०
	सितोपलादि	१½ माशा
		३ मात्रा

३ बार मधु के साथ। ऊपर से अश्वगन्धाशृत दूध पिलाना चाहिए।

२. बलारिष्ट ६ माशा से १ तोला की मात्रा में भोजन के बाद दोनों समय समान मात्रा में जल मिलाकर।

३. बला तैल या महामाष तैल की सारे शरीर में हल्के हाथ से मालिश करना।

बल संजनन—रोगोत्तर काल में कम से कम ३ सप्ताह तक रोगी को पूर्ण विश्राम कराना चाहिये। उठने बैठने पर नाड़ी की गति त्वरित हो जाने की की स्थिति में पूर्ण विश्राम अनिवार्य होता है। विषमयता, हृद्दौर्बल्य तथा अङ्गघात के कारण शरीर भीतर से शान्त रहता है, जिससे बलसंजनन के पूर्व श्रम करने से हृद्भेद होने की सम्भावना रहती है। रोगमुक्ति के बाद लौह, पूर्वपाचित प्रोभूजिन के योग, जीवतिक्ति वर्ग की ओषधियाँ तथा दूसरी पोषक ओषधियाँ पर्याप्त मात्रा में देना चाहिये। फेरीलेक्स, मल्टीविट्स (एवडेक ड्राप्स), कैसिनान, माइनोलाड आदि बच्चों के अच्छे पोषक योग हैं। निम्नलिखित योग बलसंजनन में विशेष गुणकारी है।

R/		
	Quinine sulph	gr 30
	Liq. strychnin	ms 40
	Acid phosph dil	ms 30
	Cal. hyphosph	gr 40
	Syp ferri phosph	dr one-
	Aqua	oz 4

२ चम्मच की मात्रा में दिन में ३ बार भोजन के बाद।

सुवर्ण एवं मुक्ता के योग—वसन्तमालती आदि—एवं लौह के योग सितोपलादि के साथ देने से बहुत लाभ होता है।

प्रतिषेध—सम्भावित रोगी को पृथक् रखना, रोगयुक्त संवाहक के नासा गले को पेनिसिलीन आदि ओषधियों के प्रयोग से रोगमुक्त करना चाहिये। बच्चों को एक दूसरे की जूठी चीज खाने, कलम-पेन्सिल को मुख में डालने की आदत को छुड़ाना चाहिये। डिफ्थीरिया टाक्सायड (Diphtheria toxoid) ½ सी० सी०, १ सी० सी० इस क्रम से ३ मात्रायें १ मास के अन्तर से अधस्त्वची मार्ग से देना चाहिए। इस प्रकार उत्पन्न क्षमता प्रायः ३ वर्ष रहती है। तीसरे, छठें, नवें और बारहवें वर्ष इसका प्रयोग करने से रोहिणी का प्रतिषेध होता है।

तीन प्रकार के विषाभ (Toxoid) प्रतिबन्धन कार्य के लिए उपलब्ध होते हैं—

१. ए० पी० टी० (Alum precipitated toxoid).

२. एफ० टी० (Formal toxoid)

३. टी० ए० एफ० (Toxoid antitoxin flocules)

आठ वर्ष से कम आयु के बच्चों में ए० पी० टी० या एफ० टी० का प्रयोग सहनशीलता-अनूर्जता आदि का निर्णय करके ०.२ सी० सी० से ०.५ सी० सी० तक १ मास का अन्तर देकर दो या अधिक से अधिक ३ सूचीवेध करने चाहियें। प्रथम कोर्स ८–९ मास की आयु में कर देना अच्छा है। रोहिणी, धनुर्वात तथा कुकास के मिले जुले प्रतिबंधक योग उपलब्ध हैं, उनका प्रयोग अधिक सुविधाजनक होता है।

टी० ए० एफ० का प्रयोग आठ वर्ष से अधिक वय वाले बच्चों में कराना चाहिए। प्रारम्भिक मात्रा १ सी० सी० पेशीमार्ग से देकर, प्रतिक्रिया न होने पर १५–२० दिन के बाद दूसरी १ सी० सी० की मात्रा देनी चाहिए। प्रायः ३–४ वर्ष प्रतिरोधक क्षमता रहती है।

फुफ्फुस-पाक तथा श्वसनी फुफ्फुस-पाक
Lobar Pneumonia and Broncho Pneumonia

फुफ्फुस पाक द्वितय गोलाणु (Diplococci) के उपसर्ग से होने वाला तीव्र स्वरूप का ज्वर है जिसमें पार्श्वशूल, कास आदि लक्षणों के साथ फुफ्फुस के एक या अनेक खण्डों में घनता होती है।

अधिकांश में इस रोग की उत्पत्ति फुफ्फुसपाकी द्वितय गोलाणु के उपसर्ग से, क्वचित् माला-स्तबक गो०-श्लेष्मक व फुफ्फुस दण्डाणु के उपसर्ग के द्वारा भी इसकी उत्पत्ति होती है।

सहायक कारण—१. पुरुषों में स्त्रियों की अपेक्षा अधिक, जन्म के बाद ६ वर्ष तक तथा १५ से ४० वर्ष तक इसका आक्रमण बहुत होता है। वृद्धावस्था में यद्यपि आक्रमण कम होता है, किन्तु होने पर बहुत घातक होता है।

२. वातावरण में, आकस्मिक शीतोष्ण विपर्यय होने पर इसका आक्रमण अधिक होता है। इसीलिए शीतकाल के प्रारम्भ में (शरद् ऋतु) तथा बाद में (वसन्त ऋतु) अधिक व्यक्ति इससे पीड़ित होते हैं।

३. प्राणवायु की कमी, जनाकीर्ण आमोद-प्रमोद के स्थल, सार्वजनिक स्थल, विशेषकर चलचित्र गृह आदि स्थलों में अधिक रहने पर, खानों (Mines) आदि में काम करने तथा धूल, धुआँ आदि से आच्छादित वातावरण में रहने वाले व्यक्तियों में इसका आक्रमण अधिक होता है।

४. जीर्ण अस्वास्थ्यकर रोगों से पीड़ित होने पर, विशेषतया जीर्णप्रतिश्याय, जीर्ण वृक्क शोथ, कालज्वर, रक्तक्षय आदि से आक्रान्त व्यक्तियों में, फुफ्फुसपाक बहुत होता है। हीन भोजन, अत्यधिक शारीरिक श्रम, धातुक्षय, शीत-वर्षा आदि में भीगना, वक्ष में चोट आदि कारणों से भी इसका प्रसार अधिक होता है। शल्य कर्म के समय मूर्च्छित अवस्था में मुख में संचित स्राव आदि का निःश्वास के साथ फुफ्फुस में प्रचूषण हो जाने के कारण भी इसका प्रकोप होता है। आर्द्र जलवायु की अपेक्षा शुष्क जलवायु में यह अधिक घातक होता है।

संक्रमण—रोगी या रोग निवृत्त के खाँसने, छींकने, थूकने से थूक के सूक्ष्म कण निःश्वास के साथ स्वस्थ व्यक्ति के शरीर में पहुँच कर रोगोत्पत्ति करते हैं। इधर-उधर अव्यवस्थित रूप में थूकने से धूल में मिले सूक्ष्म कण कमरे की सफाई करते समय

उड़कर स्वस्थ व्यक्ति को आक्रान्त कर सकते हैं। सामान्यतया एक काल में बहुसंख्यक व्यक्ति इससे नहीं पीड़ित होते। कभी-कभी जनाकीर्ण स्थलों में इसके मरक भी होते देखे गये हैं।

उपसर्ग होने के उपरान्त शरीर में बाँये की अपेक्षा दाहिने फुफ्फुस में एवं ऊपर के खण्डों की अपेक्षा नीचे के खण्डों में अधिक विकृति होती है। विकृत अंश यकृत् के समान घन हो जाता है। निकट की श्वसनिकाओं तथा फुफ्फुसावरण में भी शोथ हो जाता है।

लक्षण—शीतपूर्वक ज्वर का आकस्मिक रूप में आक्रमण, ज्वर प्रथम दिन से ही १०३ से १०५ अंश तक, दैनिक परिवृत्ति १-२ अंश से अधिक नहीं होती। बेचैनी, शिरःशूल, विकृत पार्श्वशूल, शुष्ककास, अनिद्रा आदि लक्षण प्रारम्भ से ही होते हैं। प्रायः तीसरे दिन के बाद ओष्ठ के आस-पास छोटी-छोटी फुंसियाँ निकलती हैं। कास बिल्कुल शुष्क न होकर कुछ ष्ठीवन युक्त होती है, किन्तु ष्ठीवन मात्रा में अत्यल्प चिपचिपा, लसदार और मण्डूर वर्ण का होता है। पार्श्वशूल की अधिकता के कारण कास दबी हुई सी, अर्थात् पूर्ण रूप से न खाँस सकने की स्थिति होती है। श्वासोच्छ्वास की गति बहुत बढ़ जाती है तथा श्वासकृच्छ्र भी होता है। नाड़ी व श्वास का अनुपात श्वास के बढ़ जाने के कारण ३:१ या २:१ तक हो जाता है। निःश्वसन के समय नासापुटक विस्तार, आकृति अरुणाभ एवं ओष्ठ श्यावतायुक्त सूखे फटे हुए से, जिह्वा मलावृत होती है। रोगी विकृत पार्श्व पर ही शयन करता है। विकृत पार्श्व का श्वसन के समय संकोच एवं प्रसार बहुत कम होता है। फुफ्फुस की घनता के कारण विकृत अंश में वाचिक लहरियाँ (V.F.) तीव्र हो जाती हैं। ताड़न में मन्द ध्वनि एवं श्रवणयन्त्र से सुनने पर वाचिक प्रतिध्वनि (V R.) की तीव्रता, बुदबुद ध्वनि आदि अस्वाभाविक ध्वनियाँ मिलती हैं। कभी कभी तीव्र अतिसार, आध्मान, शूल, ऐंठन आदि उदरात्यय के लक्षण भी उत्पन्न होते हैं। रक्तभार सामान्यतया कम होता है। क्ष किरण के द्वारा परीक्षा करने पर प्रारम्भिक दिनों में ही फुफ्फुस की घनता का ज्ञान आसानी से हो सकता है।

प्रायोगिक परीक्षा—रक्त में श्वेतकायाणुओं की संख्या १५००० से ५०००० तक, सापेक्ष्य परिगणन में बहुकेन्द्रियों की संख्या ८०% से शतप्रतिशत तक भी हो सकती है। ष्ठीवन की परीक्षा करने पर फुफ्फुसपाकी द्वितय गोलाणु तथा पूय कोषाओं की अधिकता मिलती है। क्लोराइड की मात्रा भी ष्ठीवन में अधिक रहती है। मूत्र की मात्रा अल्प, उसमें शुक्लि की उपस्थिति तथा क्लोराइड्स की राशि स्वस्थावस्था की अपेक्षा कम होती है। मूत्र की आपेक्षिक गुरुता तथा अम्लता अधिक होती है। ज्वर का मोक्ष प्रायः दारुण रूप से पाँचवें, सातवें, नवें, ग्यारवें दिन (विषम संख्या के दिनों में) होता है। ज्वर मोक्ष के समय प्रस्वेद, बेचैनी, प्रलाप आदि लक्षणों की वृद्धि होती है। उचित संभाल न रखने पर हृदयातिपात होकर मृत्यु की सम्भावना इस समय अधिक होती है। कभी-कभी ज्वर

का उपशम आंशिक रूप में तथा अदारुण मोक्ष होता है। इस समय इसकी अवधि १५-१६ दिन तक बढ़ जाती है।

रोग विनिश्चय—शीताभिषंग का इतिहास, आकस्मिक शीतपूर्वक तीव्र ज्वर, नाड़ी एवं श्वास के अनुपात में परिवर्तन, मण्डूरवर्ण का लसदार अल्प मात्रा में श्लेष्मा का उत्सर्ग, ओष्ठ की श्यावता तथा विस्फोट, मूत्र में क्लोराइड की कमी, श्वेतकण संख्या—विशेषकर बहुकेन्द्री कणों—की अत्यधिक वृद्धि, पार्श्वशूल आदि लक्षणों के आधार पर फुफ्फुसपाक का अनुमान होता है। ष्ठीवन परीक्षा में विशेष जीवाणु की उपस्थिति से रोग का निर्णय हो जाता है। विकृत पार्श्व की घनता का ज्ञान सामान्य परीक्षण के अतिरिक्त क्ष किरण के द्वारा प्रारम्भिक अवस्था में सुविधा से हो सकता है।

उपद्रव—फुफ्फुसपाक का उपशम एक साथ पूर्ण रूप से न होने पर फुफ्फुस विद्रधि, श्वासनलिकाभिस्तीर्णता, चिरकालीन फुफ्फुसपाक, चिरकालीन फुफ्फुसावरण शोथ आदि उपद्रव होते हैं। फुफ्फुसपाक में हृदय विशेष दुर्बल हो जाता है जिससे हृदयातिपात की सम्भावना सर्वाधिक होती है। रोगाक्रमण के द्वारा उत्पन्न क्षमता के अत्यल्प काल स्थायी होने के कारण पुनरावर्तन की सम्भावना अधिक होती है। पूय युक्त फुफ्फुसावरण शोथ, हृत्शोथ, मस्तिष्कावरण शोथ, मध्यकर्ण शोथ, कामला, आध्मान, उदरावरणशोथ आदि अनेक उपद्रवों की सम्भावना इस रोग में होती है।

सापेक्ष्य निदान—इन्फ्लुएंजा, शुष्क तथा सद्रव फुफ्फुसावरणशोथ, विषम ज्वर, आन्त्रिक ज्वर, ग्रंथिक ज्वर तथा उदरामय से इसका पार्थक्य करना चाहिये। यकृच्छोथ एवं यकृत् विद्रधि में भी कभी कभी फुफ्फुसपाक के समान लक्षण उत्पन्न होते हैं। रोग निवृत्ति के बाद भी फुफ्फुसावरण मोटे तथा सम्पृक्त हो जाते हैं जिससे तन्तूत्कर्ष (Fibrosis) होता है। बालकों में इसका आक्रमण होने पर कुछ विशिष्ट लक्षण उत्पन्न होते हैं। समान्यतया दो साल की अवस्था तक श्वसनी फुफ्फुसपाक अधिक होता है। रोगाक्रमण के समय आक्षेप व वमन तथा कभी कभी अतिसार के लक्षण अधिक मिलते हैं। शिरःशूल, आक्षेप, निद्रानाश, मन्यास्तम्भ तथा मस्तिष्कावरण के समान ग्रीवा का बाह्यायाम आदि लक्षण भी मिलते हैं। श्वसन बहुत तेज तथा नासापुटक अधिक फैले हुये रहते हैं।

श्वसनी-फुफ्फुसपाक की विशेषतायें

इसका प्रकोप फुफ्फुसदण्डाणु (Pneumobaccilli) के उपसर्ग से मुख्य रूप में तथा इतर पूयजनक गोलाणुओं के कारण गौण रूप में होता है। सामान्यतया बालकों व वृद्धों में प्रायः इन्फ्लुएञ्जा, रोमान्तिका, कुकास, रोहिणी, कालज्वर आदि से पीड़ित होने के बाद इसका आक्रमण अधिक होता है। ज्वर अनियमित स्वरूप का दैनिक परिवृत्ति २-२ अंश तक तथा बहुकालानुबन्धी होता है। वक्ष में विकृति

केन्द्रित न होकर दोनों फुफ्फुसों में प्रकीर्ण रहती है। श्रवण यन्त्र से शीत्कार ध्वनि के साथ अन्य अस्वाभाविक ध्वनियाँ अनियमित रूप से दोनों पार्श्वों में मिलती हैं। शेष लक्षण फुफ्फुसपाक के समान कभी कभी कुछ सौम्य स्वरूप के होते हैं।

अविशिष्टफुफ्फुसपाक (Primary Atypical Pneumonia)—इधर कुछ दिनों से फुफ्फुसपाक का क्रम कुछ परिवर्तित सा दृष्टिगोचर होता है। सामान्यतया व्याधि का आक्रमण धीरे-धीरे तथा श्वासकृच्छ्र आदि लक्षणों का अभाव सा होता है। फुफ्फुस की घनता आदि शेष लक्षण पूर्ववत् होते हैं।

विषाणु (Virus) के उपसर्ग से होने वाला फुफ्फुसपाक भी बहुत कुछ इसी प्रकार का होता है। शुल्बौषधियों तथा पेनिसिलीन का अपर्याप्त मात्रा में प्रयोग करने पर इस प्रकार का परिणाम अधिक होता है। बाद में जीवाणु के सहनशील हो जाने के कारण इन ओषधियों का प्रभाव रोगशामक नहीं होता। विशाल चेत्रक वर्ग की दूसरी ओषधियाँ इस अवस्था में लाभकर नहीं होती हैं।

सामान्य चिकित्सा—रोगी को स्वच्छ विशाल हवादार कमरे में अनुकूल शय्या पर आराम से रखना चाहिए। रोगी को विकृत पार्श्व में शयन से कष्ट का अनुभव कम होता है। कभी कभी अर्धोपविष्टासन में श्वासकृच्छ्र एवं कास का कष्ट कम होता है। इस लिये सिरहाने पीठ के नीचे २–३ तकिया लगाकर व्यवस्था करनी चाहिये। उष्ण प्रयोग से रोगी को अनुकूलता होती है। अतः गरम कपडे से शरीर ढका रहना चाहिये। कभी-कभी अज्ञानतावश छोटे बच्चों को कहीं सर्दी न लग जाय, इस भय से, कपड़ों से खूब लाद देते हैं, जिससे स्वाभाविक श्वास प्रश्वास की क्रिया में बाधा उत्पन्न हो जाती है, अतः वस्त्र गरम किन्तु बहुत भार वाले न होने चाहिए। फुफ्फुसपाक में विकृति फुफ्फुस में होती है तथा मृत्यु हृदयातिपात से होती है। अतः खाने पीने, मल-मूत्र त्याग करने, थूकने आदि कामों में रोगी को विना परिचारक की सहायता से न उठना चाहिए। एक दिन भली प्रकार परीक्षा कर निदान हो जाने के बाद बार-बार परीक्षा न करनी चाहिए। इसरे रोगी को व्यर्थ में अधिक कष्ट होता है। फुफ्फुस का कुछ अंश निष्क्रिय हो जाने के कारण श्वासक्रिया की वृद्धि होती है। अतः रोगी को शुद्ध वायु पर्याप्त रूप में निरन्तर मिलती रहे, इसका ध्यान रखना चाहिए। रोगी को अंधेरे कमरे में, खिड़कियाँ बन्द रखने से कष्ट बढ़ता है। यदि वायु के तीव्र झोंके न हों तो रोगी के कमरे की अधिकांश खिड़कियाँ खुली रखनी चाहिये। ज्वर के आक्रमण के समय रोगी को पर्याप्त जाड़ा लगता है। उस समय गरम पानी की बोतलें पार्श्व एवं पैर आदि के आसपास रखने से तथा शय्या के निकट निर्धूम अंगीठी (खिड़कियाँ खुली होने पर) रखने से रोगी को शान्ति मिलती है।

प्रारम्भिक दो तीन दिनों तक रोगी को कुछ रुचि नहीं रहती। अतः उबाला हुआ

अर्धांशावशिष्ट जल पर्याप्त मात्रा में दिन भर में ३-४ सेर पिलाते रहना चाहिये। कभी कभी रोगी को प्यास कम लगती है, अतः बिना पूछे ही प्रति आधे घण्टे पर जल पिलाते रहना चाहिए। रुचि होने पर काली मिर्च-नमक लगाकर बीज निकाले मुनक्का दिन भर में ½ से १ छटाँक तक दिये जा सकते हैं। दूध के प्रयोग से अधिकांश रोगियों में आध्मान का कष्ट हो जाता है, जिससे श्वासकृच्छ्र की और वृद्धि हो जाती है। अतः अत्यधिक रुचि होने पर ही पञ्चकोल शृत दूध समभाग में यवपेया मिलाकर देना चाहिए। लाजमण्ड, पटोलयूष आदि का सेवन रोगी को रुचि पूर्वक कराया जा सकता है। मीठा सन्तरा, मुसम्मी आदि का रस, हार्लिक्स, अल्ब्यूमिन वाटर आदि पोषक पदार्थ दुर्बल रोगियों को अग्नि के अनुकूल मात्रा में देते रहना चाहिये। प्रायः ७ से ९ दिन के भीतर व्याधि का प्रशम होता है, अतः रुचि न होने से पूरे दिन लंघन कराने में कोई हानि न होगी। इस ज्वर में थूक के साथ क्लोराइड की मात्रा अधिक निकलती है तथा गाढे श्लेष्मा को पिघलाने के लिए भी इनकी अपेक्षा होती है इसलिए पथ्य के साथ में दिन भर में ३ मा० से ६ मा० तक सेंधा नमक देना चाहिए। इस ज्वर में नमकीन पदार्थों के खाने की रुचि अधिक रहती है। धान के लावा को कड़ाई में नमक के साथ भून कर तथा परवल के भीतर नमक जीरा भरकर भुर्ता बनाकर देने से रुचिकारक तथा गुणकारक होता है। रोगी को प्रायः निद्रा कम आती है, पार्श्वशूल, श्वासकृच्छ्र, बेचैनी आदि से उसे अधिक कष्ट होता है अतः इन लक्षणों की शान्ति के अतिरिक्त पैर के तलवे में घी की मालिश या निद्राकर औषधियों का उचित प्रयोग करना चाहिये। पार्श्वशूल की शान्ति के लिए तीसी की पुल्टिस या ऐन्टी फ्लाजिस्टीन की पुल्टिस दिन में ३ बार लगाना चाहिए। विकृत पार्श्व में नमक की पोटली से सेंक करने से और पूर्ववर्णित पिण्ड स्वेद या संकर स्वेद के द्वारा स्वेदन करने से पर्याप्त लाभ होता है। पुल्टिस पार्श्व एवं पृष्ठ भाग में ही लगानी चाहिए, छाती के ऊपर सामने की तरफ न लगाना चाहिए। तीव्र श्वासकृच्छ्र होने पर पुल्टिस का भार रोगी के लिये कष्टदायक हो जाता है। अतः केवल रूक्ष स्वेद या सङ्कर स्वेद ही करना चाहिये। थूक के अत्यधिक चिपचिपा होने के कारण तथा पार्श्वशूल के कारण पूर्ण रूप से खाँस सकने की शक्ति न होने के कारण, श्लेष्मा गले में आकर अटक जाता है, उसे मुलायम कपड़े से निकालते रहना चाहिए। तालीसादि चूर्ण मधु में मिलाकर अवलेह के रूप में बार-बार चटाते रहने से कफ आसानी से निकल जाता है। बच्चे सारा कफ पुनः निगल जाते हैं। अतः कोष्ठशुद्धि के लिए यष्ट्यादि चूर्ण या कैलोमल का यथा निर्देश प्रयोग करना चाहिये। कोष्ठशुद्धि होने से श्वासकृच्छ्र तथा बेचैनी आदि लक्षणों की शान्ति होती है, किन्तु व्याधि की तीव्रावस्था में विशेषकर हृद् दौर्बल्य हो जाने के कारण रोगी को मलोत्सर्ग में कष्ट होता है। उठने-बैठने के कारण हृदयातिपात की सम्भावना होती है। अतः ज्वराक्रमण के २-३ दिन के बाद रेचन औषधियों का प्रयोग सामान्यतया न करना चाहिये।

औषध चिकित्सा—

फुफ्फुसपाक में शुल्वौषधियों तथा पेनिसिलीन का प्रभाव रामबाण औषध के रूप में होता है। अनुभवी चिकित्सकों ने दोनों ओषधियों का पृथक्-पृथक् पर्याप्त रोगियों में प्रयोग कर दोनों की समान उपयोगिता प्रमाणित की है। यदि रोग का आक्रमण बहुत तीव्र स्वरूप का हो तो दोनों ओषधियों का सम्मिलित प्रयोग अधिक लाभकारक माना जाता है।

शुल्वौषधियाँ—इस ज्वर में सल्फाडायजीन, सल्फामेजाथीन, सल्फाथियाजोल, एल्कोसिन, गैण्ट्रिसिन, इरगाफेन आदि ओषधियाँ समान रूप से प्रभाव करती हैं। प्रारम्भिक मात्रा ४ टिकिया की तथा बाद मे प्रति चार घण्टे पर २ टिकिया, तीसरे दिन से प्रति ६ घण्टे पर २ टिकिया, ज्वरमुक्ति पर्यन्त बाद में लगभग ४–५ दिन तक एक-एक टिकिया दिन में ४ बार करके देना चाहिए। अल्प मात्रा में या अव्यवस्थित रूप में इन ओषधियों का प्रयोग करने से रोग का पुनरावर्तन तथा सम्भावित उपद्रवों का अनुबन्ध अधिक होता है। अतः पूर्णमात्रा में ज्वरमुक्ति के ४–५ दिन बाद तक इनका प्रयोग करना चाहिये। क्षारीय मिश्रण का साथ में प्रयोग करने से इनके द्वारा होने वाले विपरीत परिणाम नहीं होते। इन ओषधियों का उत्सर्ग वृक्क के द्वारा नियमित रूप से होता रहे, इसके लिए पर्याप्त मात्रा में जल का प्रयोग करना चाहिये। निम्नलिखित योग के रूप में इनका व्यवहार अधिक गुणकारक होता है। दो-तीन शुल्वौषधियों का समवेत रूप में प्रयोग होने पर जीवाणु के सक्षम होने की सम्भावना कम हो जाती है तथा प्रत्येक की अल्प मात्रा होने के कारण विषाक्त परिणाम भी कम होते हैं।

Elkosin	tab 1
Sulphamezathin	tab 1
Ascorbic acid	100 mg
Nicotinic acid	50 mg
Soda bi carb	gr 10
	१ मात्रा

प्रति चार घण्टे पर १ पाव गरम पानी के साथ।

इस योग के साथ दो घण्टे के अन्तर से निम्नलिखित मिश्रण देने से अधिक लाभ होता है—

R/

1.	Pot citras	gr 10
	Pot acetas	gr 15
	Soda benzoas	gr 5
	Tr hyoscyamus	ms 10
	Tr card co	ms 10
	Syp tolu et vasaka	dr. one
	Aqua choroform	oz one
		१ मात्रा

इसके प्रयोग से मूत्रसंशोधन ज्वरपाचन तथा कास की लाक्षणिक शान्ति होती है।

तीसरे दिन से निम्नलिखित मिश्रण देने से कफ ढीला होकर आसानी से निकल जाता है तथा श्वासकृच्छ्र का शीघ्र शमन होता है। इसका नाम Expectorant mixture of Brompton Hospital or hot water mixture है।

R/

Soda bi carb	gr 10
Sodi chlo ide	gr 5
Spt chloroform	m 5
Apua anisi	oz one
	१ मात्रा

इसमें १ औंस गुनगुना पानी मिलाकर ३-४ बार पिलाना चाहिए।

पेनिसिलीन—शुल्बौषधियों के पूर्व प्रयोग से असहनशीलता का इतिहास मिलने पर, तीव्र वमन, अतिसार, हृद्रोग, वृक्करोग, यकृत्शोथ आदि व्याधियों से पीड़ित होने पर, शुल्बौषधियों का प्रयोग आन्त्र से पूर्ण मात्रा में शोषण तथा वृक्क से उत्सर्ग नियमित रूप से न होने के कारण लाभकर नहीं होता तथा पेनिसिलीन का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। तीव्रावस्था में क्रिस्टलाइन पेनिसिलीन का प्रयोग अधिक विश्वस्त रहता है। प्रारम्भिक मात्रा २ लाख से ५ लाख, बाद में प्रति ६ घण्टे पर ५० हजार से १ लाख की मात्रा में पेशीमार्ग से देना चाहिये। प्रोकेन पेनिसिलीन तथा पेनिसिलीन इन आयल का प्रयोग ४ से ८ लाख दैनिक मात्रा में ज्वरमुक्ति के ३ दिन बाद तक करना चाहिये। इस्टोपेन (Esotpen Glaxo) पेनिसिलीन का ही विशिष्ट यौगिक है जिसका फुफ्फुस की व्याधियों में अधिक प्रभाव होता है। बच्चों में पेनिसिलीन की टिकिया मुख द्वारा पर्याप्त मात्रा में देने से लाभ हो सकता है। किन्तु व्याधि की तीव्रावस्था में इन पर विश्वास न कर सूच्यौषध का ही आश्रय लेना चाहिये। आजकल पेनिसिलीन तथा शुल्बौषधियों का अनेक रोगियों में अव्यवस्थित रूप में प्रयोग होते रहने के कारण समान परिणाम सभी रोगियों में नहीं होते। बहुत से जीवाणु इन औषधियों के प्रति सहनशील हो गये हैं। उक्त औषधियों से लाभ कम होने पर आइलोटायसीन, आरियोमाइसिन, टेट्रासायक्लीन, साइनरमायसीन, टेरामाइसीन आदि का यथावश्यक प्रयोग करना चाहिये।

श्वसनी फुफ्फुसपाक में Penicillin के साथ Streptomycin मिलाकर ३-४ दिन २ बार दिन में और बाद में प्रोकेन पेनिसिलीन तथा स्ट्रेप्टोमायसीन की दैनिक १ मात्रा ७-८ दिन देना चाहिए। साथ में शुल्बौषधियों का प्रयोग करते रहना उत्तम है।

श्वसनी फुफ्फुसपाक में लक्षणों की अधिक तीव्रता न होने पर निम्नलिखित योग से लाभ हो सकता है।

शृंगभस्म	२ मा०
शु० नरसार	१ मा०
सौभाग्य वटी	४ र०
	४ मात्रा

दिन में ४ बार गरम जल के साथ।

कुछ रोगियों में इस योग से शुल्बोषधियों के समान ही त्वरित लाभ होता है।

फुफ्फुसपाक में कुछ लक्षणों से रोगी को अत्यधिक कष्ट होता है। उपर्युक्त ओषधियों के प्रयोग से रोगनिर्मूलन होने के उपरान्त लाक्षणिक शान्ति भी हो जाती है। किन्तु प्रारम्भिक दिनों में उनके लिये पृथक् उपचार आवश्यक हो जाता है।

पार्श्व-शूल—फुफ्फुसपाक में फुफ्फुसावरणशोथ प्रायः हो जाता है, जिसके कारण रोगी को तीव्रपार्श्वशूल का अनुभव होता है। श्वास-प्रश्वास, खाँसने-छींकने आदि में रोगी को अत्यधिक कष्ट होता है। ऊपर अलसी की पुल्टिस व ऐन्टीफ्लोजिस्टिन का उल्लेख किया जा चुका है। वेदना की शान्ति के लिये निम्नलिखित अभ्यंग भी प्रभावशाली होता है।

Menthol	dr. one
Camphor	dr. one
Liq ammon fort	dr. one
Oil terpentine	dr. one
Oil gaultheria	dr. one
Oil eucalyptus	dr. one
Mustard oil	to make oz 4.

दिन में ३–४ बार विकृतपार्श्व में थोड़ा-थोड़ा मालिश करना तथा मालिश करने के पहले और बाद में गरम पानी में तारपीन का तेल डालकर सेंक करना। यह श्वसनी फुफ्फुसपाक में विशेष लाभकर होता है। कड़ुए तेल को गरम करके सभी दवाइयाँ क्रम से धीरे-धीरे हिलाते हुए मिलाना चाहिये।

किलाट स्वेद—कफ को ढीला करने तथा पार्श्वशूल को कम करने के लिए बकरी के दूध के खोवा में नमक तथा हल्दी मिलाकर कपड़े में ढीली पोटली बाँधकर तवे पर गरम करते हुए सेंकने से भी बहुत शीघ्र लाभ होता है।

स्नुही पत्र स्वरस में मृगश्रृंग को घिस कर, थोड़ी मात्रा में अफीम मिलाकर, गरम करके विकृत पार्श्व में लेप करने से शूल तत्काल शान्त हो जाता है। गेहूँ के चोकर में घी, नमक तथा भाँग मिलाकर ढीली पोटली बनाकर सेंकने से भी वेदनाशान्ति

शीघ्र होती है । इसी प्रकार पुराने घृत में कपूर मिलाकर गरम-गरम मालिश करने से भी लाभ होता है। नमक में घी मिलाकर पोटली बनाकर सेंकने से पार्श्वशूल शान्त होता है ।

कभी-कभी पार्श्वशूल बहुत ही असह्य हो जाता है । बाह्य प्रयोग से लाभ कुछ समय बाद होता है । ऐसी स्थिति में निम्नलिखित औषधें देने से सद्यः लाभ होता है । मूलव्याधि में इनसे कोई लाभ न होने के कारण शूल मिट जाने पर बंद कर देना चाहिए ।

Codein phos	gr $\frac{1}{8}$
Cibalgin	1 tab
Vitamin B. 6. 25 mg	1 tab
Ascorbi acid 100 mg	1 tab
Yeast	1 tab
	१ मात्रा

इसके अतिरिक्त Hepatalgin, Neogynergin, Irgapyrine आदि का उपयोग भी लाभकारक होता है ।

श्वासकृच्छ्र—फुफ्फुसपाक में प्रारंभ से ही कुछ श्वासकृच्छ्र रहता है, पार्श्वशूल के कारण और भी बढ़ जाता है। सामान्यस्थिति में इसके पृथक् उपचार की आवश्यकता नहीं पड़ती, शुद्ध खुली वायु में रखने से शान्ति मिल जाती है, आवश्यक होने पर प्राण वायु का अलग से प्रयोग (Oxygen inhalation) करना चाहिए।

श्वासकृच्छ्र की शान्ति के लिए निम्नयोग बहुत लाभकारी सिद्ध हुआ है—

श्वासकास चिन्तामणि	१ र०
महालक्ष्मी विलास	१ र०
बृ० वातचिन्तामणि	१ र०
शृङ्गाराभ्र	१ र०
	२ मात्रा

वासापत्र स्वरस या वासा पानक के साथ २-३ बार दिन भर में देना चाहिए ।

कास—प्रारम्भिक २-३ दिन तक कास प्रायः शुष्क रहती है । पार्श्वशूल एवं फुफ्फुसावरण शोथ के कारण रोगी खाँसने में बहुत कष्ट का अनुभव करता है, अतः इस समय शामक चिकित्सा ही अपेक्षित होती है ।

Tr opi camphorata	ms 15
Tr hyoscyami	m 10
Syrup tolu	dr. 2.
	१ मात्रा

दिन में २ या ३ बार चाटने के लिए ।

श्वसनी फुफ्फुसपाक की शुष्क कास की शान्ति निम्न योग से तुरन्त हो जाती है।

Dia-morphine hydrochloride	gr $\frac{1}{4}$
Menthol	gr 1
Oil pine	m 5
Tr. card co	ms. 10
Sprt. rectified	dr. one
Syrup tolu	oz one

या

Liqua morphine hydrochloride	ms 10
Acid hydrocyanic dill	ms 8
Acid hydrochlor dill	ms 15
Glyecrine	dr. 4
Aqua destillata	oz one.

१ चम्मच दवा १ छटाँक गुनगुने पानी में डालकर पीना चाहिए। १—२ मात्रा से ही पार्श्वशूल तथा शुष्क कास दोनों शान्त हो जाते हैं। मारफीन श्वासावसादक होती है, अतः इसका प्रयोग श्यावता या श्वासकृच्छ्र में नहीं करना चाहिए। बच्चों में भी न देना ही अच्छा है।

सामान्य प्रयोग के लिए निम्न योग उत्तम हैः—

Oxymel scilla	dr. one
Syrup codein phos	dr. one
Syrup pruni serotinae	dr. one
Syrup tolu	dr. 5
	८ मात्रा

१ मात्रा दिन में ३ बार चाटने के लिए।

शुष्ककास तथा पार्श्वशूल की शान्ति के लिए निम्न योग भी लाभकारी होता है।

शृङ्गभस्म	२ र०
रससिन्दूर	१ र०
चन्द्रामृत	४ र०
मधुयष्टी चूर्ण	३ मा०
	१ मात्रा

१५ बूंद पान का रस और मधु मिलाकर दिन में ३ बार।

शहतूत का शर्बत, व्याघ्री अवलेह, सितोपलादि अवलेह, लवंगादिवटी, मरिचादि-वटी आदि के प्रयोग से कास की लाक्षणिक शान्ति होती है।

ज्वराक्रमण के ३ दिन बाद से प्रायः कास की शुष्कता स्वतः शान्त हो जाती है, कुछ आर्द्रता स्पष्ट होने लगती है। इस अवस्था में कफशामक योग न देने चाहिए, किन्तु कफ का शोधन, गाढ़े चिपचिपे श्लेष्मा का द्रावण करने वाले योग ही उपयुक्त होते हैं।

यवक्षार	२ र०
शुद्ध नरसार	२ र०
चन्द्रामृत	२ र०
तालीसादि	२ मा०
	१ मात्रा

लिसोढ़ा के शर्बत में मिलाकर दिन में ३-४ बार चाटना।

अनेक रोगियों में ३-४ दिन के बाद भी शुष्क कास नहीं ठीक होती, कफ शोधन से रोगी को लाभ नहीं होता। दाह, बेचैनी तथा शुष्क कास को आर्द्र कास में बदलने के लिये निम्न योग देना चाहिये।

प्रवाल पिष्टि	१ र०
कास चिन्तामणि	१ र०
कास कर्त्तरी	१ र०
मधुयष्टी चूर्ण	२ माशा
	१ मात्रा

६ माशा मिश्री मिलाकर १-२ तोला शहद या लिसोढ़ा का शर्बत मिलाकर ४-४ घण्टे पर देना। इससे कफ ढीला होकर मल के साथ निकल जाता है।

बच्चों में कफ ढीला होने पर भी मुख से नहीं निकल सकता। अतः उनमें वामक एवं रेचक योग देना होता है। श्वसनी फुफ्फुस पाक में यह उपक्रम विशेष लाभ करता है।

कंकुष्ठा (उसारे रेवन)	२ र०
अतीस चूर्ण	२ र०
	१ मात्रा

मधु मिलाकर चटाना या गुनगुने पानी में औषध एवं मिश्री मिलाकर पिला देना। इससे वमन एवं मृदु रेचन से श्लेष्मा की शुद्धि हो जाती है। १ मात्रा रोज के क्रमसे ३-४ दिन सबेरे देना चाहिए।

कफ को ढीला करने तथा निकालने में निम्न योग भी उत्तम है :—

Ammonium carbonate	gr 5
Tr scilla	m 15
Sprit eather nitrosi	m 20
Tr strophanthi	m 3
Infusum senega	oz one
	२ मात्रा

१ मात्रा दिन में ३ बार। इसे साधारण क्षारीय मिश्रण के साथ मिलाकर भी दिया जा सकता है।

बच्चों में निम्नलिखित मिश्रण अधिक उपयोगी है। इसके प्रयोग से भी कुछ वमन की सम्भावना होती है, जिससे लाभ ही होता है। एक से दो वर्ष के बच्चे के लिये मात्रा लिखी है।

R/

Ammon carbonate	gr 1
Syrup scilla	m 10
Tr ipecac	m 4
Syrup vasaka	m 30
Aqua	dr. one
	१ मात्रा

दिन में ३–४ बार। इसी में शुल्वौषधियाँ भी मिलाई जा सकती हैं।

चिपचिपे गाढ़े कफ को पतला कर निकालने लिये—

Potas iodide	gr 5
Ammon chloride	gr 8
Sodi bi carb	gr 10
Sodi chloride	gr 5
Vinum ipecac	m 15
Tr hyoscyami	m 10
Syrup vasaka	dr. one
Aqua ad	oz one
	१ मात्रा

दिन में ३ बार ३ या ४ दिन तक देने से पर्याप्त लाभ हो जाता है।

इनके अतिरिक्त वनप्सकादि क्वाथ, आर्द्रक स्वरस तथा मधु, ताड़ मिश्री चूसना, कफोत्सारक धुवाँ सुँघाना आदि प्रयोग यथावश्यक किये जा सकते हैं। स्निग्ध सेक, पुराणघृत का सैंधव लवण के साथ मिलाकर छाती में मालिश करना आदि प्रयोगों के द्वारा कफ का द्रावण होता है। गरम पानी में टिंचर बेंजोइन डालकर उसकी वाष्प सुँघाने से कफ शीघ्र ढीला होता है। केवल सादे गरम पानी की वाष्प भी लाभकारक होती है।

अनिद्रा—पार्श्वशूल, कास एवं श्वासकृच्छ्र आदि के कारण रोगी बेचैन रहता है, जिससे रात्रि में पर्याप्त निद्रा नहीं आती। अहिफेन के योग श्वासावसादक तथा विबन्धक होते हैं, अतः उनका प्रयोग व्यवहार्य नहीं होता। पाराल्डेहाइड का प्रयोग इस व्याधि में निद्रा कार्य के लिये निर्दुष्ट तथा पर्याप्त उपयोगी माना जाना है।

Paraldehyde	dr. one
Extract glycerrhyza liquid	dr. 2
Syrup orange	dr. 2
	१ मात्रा

रात्रि में ९ बजे देना चाहिये। पाराल्डेहाइड को कैप्सूल में भर कर भी दिया जा सकता है।

यदि अरुचिकारक स्वाद एवं गंध के कारण मुख द्वारा प्रयोग सम्भव न हो तो १ छटाँक जैतून के तेल में ४ ड्राम पाराल्डेहाइड मिलाकर अनुवासन बस्ति के रूप में रात्रि में ८ बजे के लगभग देने से पर्याप्त लाभ होता है।

आध्मान, अतिसार आदि लक्षणों की चिकित्सा आन्त्रिक ज्वर में निर्दिष्ट क्रम से करनी चाहिये। औषध की अपेक्षा आहार-विहार का नियमन इनमें अधिक उपयोगी होता है। Carbechol, Lyspamin या Prostigmine की १-२ गोली देने से आध्मान में तुरन्त लाभ होता है। ३-४ ड्राम तारपीन के तेल को एरण्ड तेल में मिलाकर अनुवासन वस्ति भी दे सकते हैं।

हृद्दौर्बल्य एवं हृदयातिपात—इसे उपद्रव एवं लक्षण दोनों ही कहा जा सकता है। कुछ न कुछ हृदय की दुर्बलता प्रारम्भ से ही रहती है, यदि उसका उपचार मुख्य चिकित्सा के साथ होता रहे तो अधिक गम्भीर उपद्रव की सम्भावना नहीं होती। दुर्बलता ज्वर-मुक्ति के बाद अधिक व्यक्त होती है। अधिकांश दुर्घटनायें ज्वर-मोक्ष के समय या ज्वर-मुक्ति के बाद उठते बैठते हो जाती हैं। इसीलिये फुफ्फुसपाक में पूर्ण विश्राम पर अत्यधिक जोर दिया जाता है। इधर अनुसन्धान से सिद्ध हुआ है कि इस व्याधि से मृत्यु मुख्यतया हृदय एवं रक्तप्रवाह के अवरुद्ध होने से होती है, श्वास की गम्भीरता से नहीं। परिसरीय रक्त प्रवाह की शिथिलता मुख्य विकृति होती है। हृदय की मांसपेशी में भी कुछ अपजनन की स्थिति होती है, हृदय में शोथ भी हो जाता है। अतः इन सबके उपचार का प्रारम्भ से ही ध्यान रखना आवश्यक है। यदि प्रारम्भ से ही शुद्ध खुली वायु या प्राणवायु की रोगी को उपलब्धि रहे तो इस प्रकार का कोई उपद्रव नहीं पैदा होता। जनता में सबसे अधिक जिस व्याधि में शुद्ध हवा की आवश्यकता होती है, उसी में कमरे को चारों तरफ से बन्द—कहीं से हवा न लग जाय—रखने की प्रथा है। शीत ऋतु में बाहर की ठण्ढी वायु सीधे रोगी को न लगे, उतनी ही व्यवस्था अपेक्षित होती है। कमरे में निर्धूम अङ्गारे अङ्गीठी में रखने से भीतर की वायु गरम रहती है तथा शुद्ध वायु का सञ्चार भी अधिक बढ़ जाता है। प्रायः ज्वर-मोक्ष ७ वें दिन के बाद होता है। अतः छठे दिन से हृद्य ओषधियों का प्रयोग आरम्भ कर देना चाहिये। प्रारम्भ से ही मुख्य औषध के साथ में कुछ हृद्य योग संयुक्त रहने से भी काम हो जाता है। अतः वृ० कस्तूरी भैरव, विश्वेश्वर, चिन्तामणि चतुर्मुख, प्रभाकर वटी आदि तथा डिजिटेलिस, मदमार, स्ट्रिक्नीन एवं कर्पूर आदि के योग मुख्य योगों के साथ में दिये जाने चाहिये। हृदय की शक्ति-वृद्धि एवं पुष्टि के लिये ग्लूकोज एवं इन्सुलिन (२ ग्राम ग्लूकोज के लिये १ यूनिट की मात्रा में इन्सुलिन) का प्रयोग बहुत गुणकारी माना जाता है। ४-५ वें दिन के बाद से इनका प्रतिदिन

प्रयोग होने पर कोई उपद्रव नहीं होता। कैलसियम का प्रयोग (Calcium gluconate ē vitamin c or Calcium levulinate) लाक्षणिक शान्ति, दृढ़ सहनशीलता तथा हृदय की बल-वृद्धि के लिये उत्तम माना जाता है। इसका हृदय पर डिजिटैलिस के समान शामक तथा पोषक गुण होता है। यदि सम्भव हो तो सूचीवेध के रूप में इनका प्रतिदिन प्रयोग एक सप्ताह तक करना चाहिये। सूचीवेध सम्भव न होने पर निम्नलिखित योग दिया जा सकता है।

R/		
	Calcium gluconate	gr 8
	Ascorbic acid	200 mg
	Campher monobrome	gr 1
		१ मात्रा

दिन में ३ बार पानी से। इसी के साथ शुल्वौषधियाँ भी दी जा सकती हैं।

यदि निम्न योग की १–२ मात्रायें प्रतिदिन दी जाती रहें, तो हृदय-दुर्बलता सम्बन्धी उपद्रव की सम्भावना नहीं रहती।

R/		
	Sprt. campher	m 10
	Sprt. ammonia aromati	m 10
	Spr. chloroform	m 10
	Tr. nux vomica	m 3
	Tr. card co	m 10
	Coramine liquid	m 15
	Elixir Bcomplex	dr. one
	Aqua	oz one
		१ मात्रा

नाडी मृदु, त्वरित एवं क्षीण होने पर इसकी मात्रा बढ़ा देनी चाहिये। प्रस्वेद के समय भी अधिक मात्रा १–२ चम्मच ब्राण्डी के साथ देना चाहिये।

प्रसेक, बेचैनी एवं नाड़ीक्षीणता होने पर निम्नलिखित योग से सद्यः लाभ होता है—

बृ० कस्तूरी भैरव	½ र०
सिद्धमकरध्वज	½ र०
चिन्तामणि चतुर्मुख	१ र०
	१ मात्रा

पान का रस १५ बूंद मधु १५ बूंद मिलाकर प्रति २ या ४ घंटे पर यथावश्यक।

श्वासकृच्छ्र एवं हृदय प्रदेश में बेचैनी होने पर—

श्वासकासचिन्तामणि	१ र०
शृङ्गभस्म	१ र०
नागार्जुनाभ्र	१ र०
	१ मात्रा

आर्द्रक स्वरस तथा मधु के साथ ४–४ घंटे पर।

आवश्यक होने पर निम्नलिखित में से किसी का प्रयोग यथानिर्देश किया जा सकता है।

1. Cardiazole Tablet या Injection.
2. Campher and Mushka in Eather.
3. Coramine Liquid, Tab. or Injection.
4. Veritole, Cycliton या Octinum.
5. Corvasymton Tabs on Injet.

परिसरीय रक्त-प्रवाह में अवरोध होने पर नाड़ी क्षीणतम होने लगती है। आत्ययिक स्थिति में Pitressin या Adrenaline का प्रयोग सूचीवेध के द्वारा करना चाहिए। अत्यधिक प्रस्वेद होने पर Atropine Sulphate १/१०० तथा हृदयावसाद के लिए Strichnine का प्रयोग सूचीवेध से किया जाता है। पुराने समय में फुफ्फुसपाक में ब्रांडी एवं मद्यसार के नियमित प्रयोग की परिपाटी थी। आज ब्रांडी आदि अधिक उपयोगी नहीं माने जाते। किन्तु हृदयोत्तेजन एवं रक्तप्रवाह की वृद्धि के लिए इस वर्ग की औषधें निश्चित ही गुणकारक होती हैं। अतः २-४ ड्राम की मात्रा में मद्य का प्रयोग प्रति ४-६ घंटे पर करने से परिसरीय रक्तप्रवाह का अवरोध तथा हृदयातिपात में लाभ होगा।

श्यावास्यता तथा महाश्वास—ओष्ठ एवं मुख की श्यावता रक्त में प्राणवायु की अत्यधिक कमी का निदर्शन है। शुद्ध उन्मुक्त वातावरण की हवा श्यावता को कम करती है। किन्तु उसकी मुख्य चिकित्सा प्राणवायु का प्रयोग करना है। केवल प्राणवायु की अपेक्षा प्राणवायु प्राङ्गारद्विजारेय (Carboxygen—5 + 95) का मिश्रण अधिक लाभकर माना जाता है। प्रति मिनट दो लिटर की मात्रा में उसका प्रयोग होना चाहिये। श्यावता की स्थिति में नियमतः दक्षिण निलय का विस्फार होता है। अतः हृदय के अवरोध को कम करने के लिये रक्तमोक्षण या जलौका प्रयोग के द्वारा तोला से १० तोला रक्त निकाल देना चाहिये। त्वचासंघर्षण से रक्त का प्रवाह नियमित रहता है तथा श्वसन भी अधिक सक्षम रहता है, अतः श्वासकृच्छ्रता प्रारम्भ होने पर दिन में २-३ बार सारे शरीर को मुलायम सूखे तौलिये से रगड़ना चाहिये। श्वास-प्रणाली में श्लेष्मा का अवरोध हो जाने के कारण कभी-कभी श्यावास्यता अधिक होती है। कफघ्नात्मक एवं वामक औषध के प्रयोग से इस स्थिति में लाभ हो सकता है। आवश्यकता पड़ने पर श्वासनिकाओं के अवरोध को दूर करने के लिये एट्रोपिन सल्फेट १/१०० की एक मात्रा अधस्त्वचीय मार्ग से देनी चाहिये।

आंशिक उपशम—शुल्बौषधियों के मिथ्या प्रयोग, शारीरिक दुर्बलता तथा विषाणु उपसर्गजन्य फुफ्फुसपाक में उपशम पूर्ण मात्रा में नियत समय में नहीं होता।

इस अवस्था में अनियमित ज्वर, श्वेतकणों की संख्या अपरिवर्तित या श्वेतकणापकर्ष, प्रावेगिककास, शिरःशूल इत्यादि लक्षण अधिक समय तक अनुबंधित हो जाते हैं। आंशिक उपशम में पेनिसिलीन एवं शुल्वौषधियों का विशेष प्रभाव नहीं होता। आरियोमाइसिन, टेरामाइसिन आदि प्रतिजीवी वर्ग की दूसरी ओषधियों के प्रयोग से शीघ्र लाभ हो जाता है। अतः उनका यथावश्यक प्रयोग करना चाहिये। विकृत पार्श्व में क्षोभक प्रलेप या मर्दनार्थ तैल आदि का प्रयोग रक्तप्रवाह को बढ़ाकर लाभ करता है। शरीर की प्रतिकारक शक्ति को बढ़ाने के लिये जीवतिक्ति वर्ग की ओषधियाँ, कैल्सियम तथा स्वकीय रक्त का (Whole blood I. M.) सूचिकाभरण के द्वारा प्रयोग करना चाहिये। निम्नलिखित योग भी लाभकारक होता है—

R/

Calcium gluconate	gr 10
Soda salicylas	gr 6
Soda bi carb	gr 10
Syp ferri iodide	dr. one
Elxiir B. complex	dr. one
Aqua	oz one
	१ मात्रा

दिन में ३ बार।

कालज्वर, मधुमेह तथा अन्य धातुक्षयकारक व्याधियों में उपद्रवस्वरूप फुफ्फुसपाक का आक्रमण होने पर विद्रधि, पूयोरस (सपूय फुफ्फुसावरणशोथ) हृदयावरणशोथ, मध्यकर्णशोथ, मस्तिष्कावरणशोथ आदि परिणाम होते हैं। उचित रूप में प्रतिजीवी वर्ग की ओषधियों के प्रयोग से इनका प्रतिकार किया जा सकता है।

बलसंजनन—फुफ्फुसपाक में प्रतिकारक शक्ति उत्पन्न न होने के कारण पुनरावर्तन की सम्भावना बनी रहती है। अतः ज्वरमुक्ति के पाँच-छः दिन बाद शरीर की शक्ति को बढ़ाने के लिये अविशिष्ट प्रोभूजिन योगों का प्रयोग करना चाहिये।

Omnadin.	Multin
Milk Protein	Mixed vaccine

इनमें से किसी ओषधि का प्रयोग पूर्वोक्त निर्दिष्ट क्रम से सूचीवेध के द्वारा किया जा सकता है।

फुफ्फुसपाक का आंशिक उपशम होने पर श्वेतकणापकर्ष तथा कालज्वर में उपद्रवस्वरूप श्वसनी-फुफ्फुसपाक होने पर आरम्भ से ही श्वेतकणापकर्ष रहता है। इसके लिये पेन्ट न्यूक्लिओटाइड (Pent Nucleotide) का मांसपेशी सूचीवेध के द्वारा, प्रति दिन क्रमिक वृद्धि से, सहनशीलता के अनुरूप प्रयोग करना चाहिये। पाइरीडाक्सिन बी- (Pyridoxin B_6) का प्रयोग भी श्वेतकणापकर्ष में लाभकारक होता है। एक मात्रा

प्रतिदिन १ सप्ताह या दस दिन तक लगातार देना चाहिये। यकृत सत्त्व (Crude Liver Extract) २ सी० सी० प्रति तीसरे दिन पेशीगत सूचीवेध के द्वारा कुल ५ से १० इन्जेक्शन देने से फुफ्फुसपाक में उत्पन्न श्वेतकणापकर्ष में विशेष लाभ होता है। प्रतिकारक शक्ति की वृद्धि होती है, ऐसी अनुभवी चिकित्सकों की राय है। ऊपर कैलसियम के प्रयोग का निर्देश किया गया है। ज्वरमुक्ति के बाद कैलसियम ग्लूकोनेट में जीवतिक्ति C मिलाकर (Calcium Gluconate ē Vit. C 500 mg.10 gr. in 10 c. c.) पेशी या सिरा द्वारा देना चाहिये। जीवतिक्ति A तथा D का प्रयोग श्लेमलकण की शक्तिवृद्धि एवं उपसर्गों के प्रतिकार के लिये उपयोगी माना जाता है। पर्याप्त मात्रा में एडेक्सोलिन (Adexolin) हैलिवराल (Haliverol) सेरेमाल्ट (Ceremalt) शार्कोफेराल (Sharkoferrol) आदि का प्रयोग कराया जा सकता है।

इनके अतिरिक्त नीचे लिखे योग—ज्वर मुक्ति के बाद शारीरिक शक्ति की वृद्धि के लिये सफलतापूर्वक दिये जाते हैं—

लौहभस्म	१ र०
अभ्रकभस्म	½ र०
शृङ्गभस्म	१ र०
प्रवालभस्म	१ र०
वसन्तमालती	½ र०
सितोपलादि	२ मा०
	१ मात्रा

प्रातः सायं मधु के साथ।

च्यवनप्राश १ तोला प्रातः सायं गरम दूध के साथ तथा द्राक्षासव २ तोला समभाग जल के साथ भोजनोत्तर देने से शारीरिक बल की वृद्धि, पाचनशक्ति की वृद्धि तथा श्वसनांगों की पुष्टि होती है। इस योग का प्रयोग ३-४ सप्ताह तक ज्वरमुक्ति के बाद करने से पुनरावर्तन निश्चित रूप से नहीं होता।

आन्त्रिक ज्वर के प्रकरण में निर्दिष्ट बल-संजनन के योगों का व्यवहार यहाँ भी करना चाहिए।

प्रतिषेध—आहार में जीवतिक्ति A., D. तथा C. का पर्याप्त उपयोग, नियमित शारीरिक श्रम, शुद्ध जलवायु में निवास तथा वर्षा से भीगना—शीतोष्ण विपर्यय-आइसक्रीम-बरफ आदि का प्रयोग न करना तथा शरीर में दूषित पूतिकेन्द्र होने पर उनकी उचित व्यवस्था करना, फुफ्फुस पाक से पीड़ित रोगी से पृथक् रहना आदि प्रतिषेध के साधन हैं।

फुफ्फुसावरणशोथ
Pleuritis or Pleurisy

फुफ्फुसावरण में शोथ होने पर पार्श्वशूल, श्वासकृच्छ्र तथा कास के साथ ज्वर का आक्रमण होता है। यह विकारी जीवाणुओं के उपसर्ग से होनेवाला रोग है, जिसमें मुख्यतया राजयक्ष्मा दण्डाणु का सम्पर्क होता है। उत्तरकालीन अनुभवों के आधार पर ६० से ७० प्रतिशत इस रोग के रोगी यक्ष्मा से पीड़ित होते पाये गये हैं। यदि किसी अस्पष्ट कारण से प्रधान रूप में फुफ्फुसावरण में शोथ हो तो रोगी के बाह्य दृष्टया स्वस्थ होने पर भी क्षयमूलक ही निर्णय करना चाहिये। राजयक्ष्मा दण्डाणु के अतिरिक्त फुफ्फुसगोलाणु, मालागोलाणु, स्तवकगोलाणु, रोहिणीदण्डाणु, श्लेष्मकदण्डाणु आदि के द्वारा भी इस रोग की उत्पत्ति होती है।

फुफ्फुसावरण में उपसर्ग का प्रसार प्रायः समीपवर्ती अङ्गों—फुफ्फुस, हृदय, श्वासवाहिनी, यकृत्, उदरावरण आदि की विकृति से होता है। वक्ष की प्राचीर पर आघात होने से, पर्शुका भङ्ग होने से स्थानीय दुष्टि होकर रोगोत्पत्ति होती है। शरीर के दूषित पूय केन्द्रों से विशेषकर मध्यकर्णशोथ, तुण्डीकेरीशोथ एवं आमवात के विष का रक्त द्वारा फुफ्फुसावरण में प्रवेश तथा इतर पूत्युपजीवी जीवाणुओं का उपसर्ग होकर विकारोत्पत्ति होती है।

वृद्धावस्था में घातक अर्बुद के परिणाम से सद्रव फुफ्फुसावरणशोथ का कष्ट प्रायः होता है। उक्त कारणों में से किसी भी कारण से फुफ्फुसावरण में स्थानीय शोथोत्पत्ति होती है, जिससे लसिका का उत्स्यन्दन होता है। उत्स्यन्दित लसिका में द्रवांश के कम होने पर तन्त्वि (Fibrin) का संचय फुफ्फुसावरण पर होता है, जिससे उसकी कोमलता-मृदुता नष्ट होकर खुरदरापन उत्पन्न होता है। निःश्वास के समय तथा वक्ष प्राचीरा पर दबाव पड़ने वाली सभी क्रियाओं में फुफ्फुसावरण के दोनों स्तर आपस में रगड़ते हैं, जिससे रोगी को सूचीवेधनवत् पीड़ा होती है। यदि उत्स्यन्दन अधिक मात्रा में हुआ तो दोनों स्तर द्रव के प्रभाव से अलग-अलग हो जाते हैं, जिससे रोगी को वेदना का अनुभव नहीं होता, किन्तु फुफ्फुस पर द्रव का उत्पीडन होने के कारण उसकी क्रिया में व्याघात होता है, जिससे श्वासकृच्छ्र के लक्षण उत्पन्न होते हैं। कभी-कभी यह उत्स्यन्द पुनः शोषित हो जाता है और फुफ्फुसावरण के दोनों स्तर, फुफ्फुस का कुछ अंश एवं वक्ष प्राचीरा आन्तरिक अभिलागों से एक में मिल जाते हैं। वक्ष प्राचीर भीतर की ओर खिंच जाती है। यदि इस उत्स्यन्द में पूयोत्पादकजीवाणुओं का उपसर्ग हो गया अथवा प्रारम्भ से ही पूयोत्पादक जीवाणुओं के कारण रोगोत्पत्ति हुई तो पूयोरस (Empyema) की उत्पत्ति होती है।

इस प्रकार फुफ्फुसावरण शोथ में अनेक अवस्थायें औपसर्गी जीवाणुओं की विविधता के कारण अथवा उत्स्यन्द की विविधता के कारण होती हैं। प्रधानतया इसकी उत्पत्ति होने

पर अथवा उपद्रव स्वरूप में दूसरी व्याधियों में होने पर प्रधान या औपद्रविक भेद किये जाते हैं। उत्स्यन्द की अधिकता में उत्स्यन्दी तथा अल्पता या अभाव में शुष्क फुफ्फुसावरणशोथ कहा जाता है। यदि सभी परीक्षणों से यक्ष्मादण्डाणु की कारणता सिद्ध हुई तो यक्ष्मज अन्यथा अयक्ष्मज कहा जाता है। इसी प्रकार बाह्य अभिघात के द्वारा अभिघातज एवं औपसर्गी जीवाणुओं के द्वारा उत्पन्न होने पर औपसर्गी नामकरण होता है। उत्स्यन्द में लसिका रक्त या पूय का प्राधान्य होने पर उसकी विशेषता रक्तल, पूयल इत्यादि शीर्षकों में व्यक्त की जाती है। चिकित्सा की दृष्टि से शुष्क, उत्स्यन्दी तथा पूयोरस ३ वर्ग महत्त्व के हैं। वास्तव में वर्णन की दृष्टि से स्वतन्त्र व्याधि शीर्षक में वर्णन होने पर भी यह एक ही व्याधि की पृथक-पृथक अवस्थाएं मानी जाती हैं, भिन्न व्याधि नहीं।

शुष्क फुफ्फुसावरण शोथ—

फुफ्फुसपाक की प्रारम्भिक अवस्था में फुफ्फुसावरण में शोथ होने का उल्लेख किया जा चुका है, जिससे रोगी को तीव्र पार्श्वशूल होता है। स्वतंत्र रूप में भी आक्रमण होने पर इसी प्रकार के लक्षण उत्पन्न होते हैं। प्रायः रोग का आक्रमण आकस्मिक रूप में, अधिकांश में रात्रि के उत्तरकाल में, वृद्धों एवं बालकों में कभी कभी क्रमिक रूप में भी, इसका आक्रमण होता है। ज्वर, कास, श्वासकृच्छ्र एवं पार्श्वशूल के साथ रोगोत्पत्ति होती है। ज्वर प्रायः १०१° से १०३° तक, क्वचित् इससे भी कम, पूयोत्पादक जीवाणुओं का उपसर्ग होने पर १०३°–१०५° तक रहता है। ज्वर के साथ अरुचि, अग्निमान्द्य, जिह्वा की मललिप्तता एवं विरसास्यता भी होती है।

कास—प्रारम्भ से ही फुफ्फुसावरण में क्षोभ होने के कारण प्रत्यावर्तित स्वरूप की खाँसी होती है। कास शुष्क तथा अवरुद्ध सी तीव्र वेदनायुक्त तथा ष्ठीवनहीन होती है। खाँसते समय रोगी विकृत पार्श्व को दबाता-भींचता सा लक्षित होता है। पूर्ण रूप से निःश्वसन न होने के कारण शुष्कावस्था में भी श्वासोच्छ्वास की अधिकता होती है। उत्स्यन्दाधिक्य हो जाने पर एक ओर का फुफ्फुस निष्क्रिय सा हो जाता है, जिससे श्वासकृच्छ्र तीव्र स्वरूप का हो जाता है।

पार्श्वशूल—विकृत पार्श्व में सूचीवेध के समान तीव्रशूल होने से रोगी अत्यधिक बेचैन रहता है। ग्रीवा, स्कन्ध, कक्षा एवं पृष्ठवंश आदि में सम्बन्धित वेदना विकृत पार्श्व में होती है। महाप्राचीरापेशी फुफ्फुसावरणशोथ (Diphragmatic pleurisy) में पीड़ा मुख्यतया पृष्ठवंश में होती है। निःश्वसन के समय पीड़ा का संवहन स्कन्धशिखर तथा जघनकपालिक खात (Iliac fossa) की दिशा में होता। खाँसने-छींकने-पूर्ण निःश्वास लेने-जँभाई आने-कुंथन करने आदि चेष्टाओं से पार्श्वशूल अत्यधिक बढ़ जाता है। प्रायः अल्प मात्रा में हिक्का का लक्षण मिला करता है। फुफ्फुसावरण की शुष्कावस्था में रोगी प्रायः उत्तान या स्वस्थ पार्श्व पर लेटता है। किन्तु उत्स्यन्द का आधिक्य होने पर विकृत पार्श्व में लेटने से श्वसन में बाधा नहीं होती, अतः विकृत पार्श्व में ही लेटता है। प्रायः रोगी को अर्धोपविष्टासन

में आराम मिलता है। उठते-बैठते, करवट लेते या बोलते समय श्वास अवरुद्ध हुआ सा ज्ञात होता है। रोगी की आकृति से वेदना व्यक्त होती है। श्वासोच्छ्वास के समय विकृत पार्श्व में गति कम लक्षित होती है तथा पर्शुकान्तराल में दबाने से पीड़नाक्षमता, ताड़न में मन्दध्वनि, श्रवणयन्त्र से श्वसन के समय दोनों स्तरों के शोथयुक्त होने के कारण संघर्षध्वनि सुनाई पड़ती है। श्वसनध्वनि क्षीण तथा श्वसन वक्षीय होता है। वाचिक लहरियाँ (V. F.) तथा वाचिक ध्वनि (V. R.) में न्यूनता होती है।

सद्रव फुफ्फुसावरणशोथ—शुष्क प्रकार के शोथ में उत्स्यन्द के अधिक होने पर यह स्थिति उत्पन्न होती है। कभी कभी प्रारम्भ से ही द्रव की अधिकता होने पर शुष्कावस्था नहीं होती। फुफ्फुसावरण के दोनों स्तरों के बीच में द्रव का अन्तर होने के कारण पार्श्वशूल कम या नहीं होता। किन्तु द्रव जन्य फुफ्फुस संपीडन के कारण श्वास-कृच्छ्र, हृदय का स्वस्थ पार्श्व में विस्थापन (Displacement) आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। रोगी विकृत पार्श्व पर ही विश्राम करता है। विकृत पार्श्व का पर्शुकान्तराल उत्सेध युक्त, श्वसन के समय निश्चेष्ट सा तथा हृदयाग्र वामपार्श्व की विकृति में उरःफलक के पास एवं दक्षिण पार्श्व की विकृति में वामकक्षा में विस्फारित होता है। वाचिक लहरियाँ एवं ध्वनि बहुत कम या पूर्णतया नष्ट, यकृत् या प्लीहा नीचे की ओर विस्थापित, ताड़न में मन्दध्वनि तथा अंगुलि के नीचे प्रतिरोध का अनुभव होता है। द्रव की सीमा के ऊपर तुम्बी प्रतिस्वनन (Skodic resonance) तथा फुफ्फुस के ऊपर फुफ्फुस के सम्पीडित हो जाने के कारण मन्दध्वनि एवं घनता (Consolidation) के दूसरे लक्षण व्यक्त होते हैं। यदि द्रव फुफ्फुसावरण गुहा में निर्मुक्त रूप में हुआ तो आसन बदलने से द्रव का स्थानान्तर एवं लक्षणों आदि में भी परिवर्तन होता है। अक्षकास्थि तक द्रव की मात्रा हो जाने पर रोगी बैठा ही रहता है। श्वासावरोध के कारण बोलने में असुविधा रहती है।

पूयोरस—

इसमें लक्षण सद्रव फुफ्फुसावरणशोथ के समान ही होते हैं। पार्श्वशूल श्वास-कृच्छ्र कास आदि की अल्पता होने पर भी रोगी अधिक बेचैन तथा उसकी आकृति में वेदना की अभिव्यक्ति होती है। ज्वर प्रायः प्रलेपक स्वरूप का तथा अंगुल्याग्र मुद्गरवत् (Clubbing) होते हैं।

रक्त परीक्षण में सकल सापेक्ष्य श्वेतकायाणुओं की परिगणना एवं रक्तकणों की अवसादन गति देखी जाती है। शुष्क एवं सद्रव फुफ्फुसावरणशोथ में प्रायः श्वेतकायाणुओं की संख्या में विशेष परिवर्तन नहीं होता। कभी-कभी सकल संख्या दस-बारह हजार तक तथा सापेक्ष्य में लसकायाणुओं की कुछ वृद्धि होती है। यक्ष्मजदण्डाणु के अतिरिक्त मालागोलाणु, फुफ्फुसदण्डाणु आदि के द्वारा फुफ्फुसावरणशोथ उत्पन्न होने पर श्वेतकायाणूत्कर्ष तथा बहुकेन्द्रीकणों की कुछ वृद्धि हो सकती है। किन्तु सकल संख्या पन्द्रह हजार से अधिक और सापेक्ष्य में बहुकेन्द्रियों की संख्यावृद्धि होने पर पूयोरस का निर्णय करना

चाहिए। रक्तकणों की अवसादन गति का उत्तरोत्तर अधिक होते जाना यक्ष्मज उपसर्ग की पुष्टि करता है। बीच-बीच में ष्ठीवन की परीक्षा यक्ष्मज दण्डाणु की उपस्थिति के लिये करनी चाहिये। क्ष किरण द्वारा वक्षपरीक्षण करने पर शुष्कावस्था में विकृतपार्श्व कुछ धुँधला सो तथा द्रव का संचय होने पर द्रव की सीमा, रोगी के हिलने-डुलने श्वासोच्छ्वास के साथ द्रव सीमा का परिवर्तन तथा पूयोरस में द्रव की अधिक घनता एवं किलाटवत् अभिव्यक्ति होती है।

विकृतपार्श्व से द्रव एवं पूय का संचय अनुमानित होने पर सूचीवेधन के द्वारा फुफ्फुसावरण गुहा से द्रव निकाल कर परीक्षा की जाती है। सामान्यतया द्रव की गुरुता १०१८ या अधिक तथा लसिकाभ एवं शीघ्र जमनेवाला होने पर यक्ष्मज उपसर्ग का अनुमान होता है। रासायनिक परीक्षा में शुक्रि एवं तान्त्विजन की मात्रा अधिक (३%–१%) होती है। सूक्ष्मदर्शक द्वारा परीक्षा करने पर औपसर्गी जीवाणु की उपस्थिति से सन्निकृष्ट निदान का निर्णय हो जाता है। यक्ष्मज उपसर्ग में लसकायाणु, पूयजनक जीवाणुओं के उपसर्ग में बहुकेन्द्री तथा जीर्ण उपसर्ग में एक कायाणु की प्रधानता होती है। आवश्यक होने पर इस द्रव का संवर्धन एवं प्राणि-रोपण करके उपसर्ग का निदान किया जाता है।

संक्षेप में शुष्क फुफ्फुसावरणशोथ का निदान तीव्र सूचीवेधवत् पार्श्वशूल, अवरुद्ध शुष्ककास, मन्दज्वर, आकृति में वेदना, परीक्षण में विकृत पार्श्व की गतिहीनता, वाचिक लहरी एवं ध्वनि की मन्दता, उत्तान स्वरूप की संघर्षध्वनि—जो निःश्वास के अन्त एवं प्रश्वास के प्रारम्भ में अत्यधिक स्पष्ट होती है तथा श्रवण यन्त्र को कुछ दबाकर सुनने से अव्यक्त हो जाती है—स्वस्थ पार्श्व में शयन या उत्तान शयन, रक्त में विशेष परिवर्तनों का अभाव, क्ष किरण के द्वारा यक्ष्मज विकृति की पुष्टि, विकृत अंश की स्पष्टता आदि के आधार पर किया जाता है।

द्रव का उत्स्यन्द हो जाने पर पार्श्वशूल की उत्तरोत्तर कमी, श्वासकृच्छ्र, विकृतपार्श्व शयन, पर्शुकान्तरालीय स्थानों की उन्नतता, स्वस्थ पार्श्व की अपेक्षा विकृत पार्श्व का परिमाण १–३ इंच अधिक, निःश्वास के समय गतिहीनता, हृदय-यकृत्-प्लीहा आदि का विस्थापन, वाचिक लहरी एवं ध्वनि का अभाव, मन्द-ठोसध्वनि, द्रव की सीमा के ऊपर तुम्बी स्वनन, रोगी के आसन परिवर्तन के साथ द्रवसीमा में परिवर्तन—बैठते समय सीमा नीचे की ओर और लेटते समय अधिक ऊँचाई तक—तथा क्ष किरण के द्वारा द्रव की उपस्थिति के लक्षण और अन्त में सन्देह होने पर सूचीभेदन के द्वारा द्रव का प्रचूषण एवं उसकी परीक्षा करके सद्रव फुफ्फुसावरणशोथ का निर्णय किया जाता है।

पूयोरस में विषमयता बेचैनी आदि लक्षणों का आधिक्य, श्वासकृच्छ्र, पार्श्वशूल, विकृतपार्श्व की वृद्धि एवं हृदय, यकृत्प्लीहा आदि का विस्थापन सद्रव अवस्था की अपेक्षा कम, ज्वर प्रलेपक स्वरूप का, रक्त में श्वेतकायाणुओं की संख्या पन्द्रह-बीस

हजार से अधिक, सापेक्ष्य संख्या में बहुकेन्द्रियों की वृद्धि होती है। अन्त में सूचीवेधन द्वारा पूय का प्रचूषण करके कभी-कभी सन्देह निवृत्ति की जाती है।

उपद्रव—राजयक्ष्मा, तन्त्वाभफुफ्फुस (Fibroid Lung).

सापेक्ष्य निदान—शुष्क प्रकार में पार्श्ववेदनता, पर्शुकान्तरालीय नाडीशूल (Thoracic neuralgia) एवं फुफ्फुसपाक से पृथक्करण करना चाहिये। महाप्राचीरापेशी फुफ्फुसावरणशोथ के लक्षण आन्त्रपुच्छशोथ, यकृत विद्रधि, ग्रैवेयपर्शुका (Cervical rib) आदि से मिलते-जुलते हैं। द्रवयुक्त अवस्था में फुफ्फुसपाक, वातोरस, फुफ्फुसनिपात, अर्बुद, तन्त्वाभ फुफ्फुस तथा जलोरस (Hydrothorax) से विभेद करना होता है। पूयोरस में महाप्राचीरापेशी के नीचे की विद्रधि (Sub diphragmatic abscess). फुफ्फुस विद्रधि तथा घातक अर्बुद से पृथक्करण किया जाता है।

सामान्य चिकित्सा—पूर्ण विश्राम, सुप्रकाशित शुद्ध वात संचारयुक्त स्थान में निवास, शीत से बचाव, लघु सुपाच्य पौष्टिक आहार का सेवन करना चाहिये। परिमार्जन के द्वारा त्वचा की शुद्धि, मृदु रेचक औषधियों के प्रयोग से कोष्ठबद्धता की निवृत्ति तथा दोषपाचक, अग्निदीपक, बलवर्धक औषधियों का प्रयोग होना चाहिये। शुष्क एवं सद्रव फुफ्फुसावरण शोथ बाल्यावस्था में यक्ष्मा के अतिरिक्त जीवाणुओं के द्वारा उत्पन्न, युवावस्था में मुख्यतया यक्ष्मानुबन्धी एवं वृद्धावस्था में घातक अर्बुदों के कारण होता है। सामान्यतया अन्यथा निर्णय न होने तक यक्ष्मामूलक निदान तथा चिकित्सा की व्यवस्था करनी होती है। द्रव की अधिकता से श्वासकृच्छ्र एवं हृदय के कार्य में बाधा उत्पन्न होने पर प्रचूषण यन्त्र के द्वारा द्रव का उचित मात्रा में प्रचूषण करना आवश्यक हो जाता है। आहार में अभिष्यन्दि भोजन का निषेध—विशेषकर लवण अम्ल एवं गुरुपाकि द्रव्यों का त्याग—करना चाहिये। ज्वर का शमन कराने के लिये मूत्रल, विरेचक एवं स्वेदकारक योगों का व्यवहार किया जाता है। स्थानीय प्रलेप विशेषतया शोषक रूप के व्यवहृत होते हैं। शुष्कावस्था में श्वासोच्छवास को नियन्त्रित कर वेदना को शान्त करने के लिये स्टिकिङ्ग प्लास्टर लगाया जाता है। पूयोरस का निदान होने पर शुल्व एवं प्रतिजीवि वर्ग की औषधों का, रोगोत्पादक कारण के अनुरूप, उपयोग तथा प्रचूषण यन्त्र के द्वारा पूय का प्रचूषण तथा पेनिसिलीन आदि का फुफ्फुसावरण गुहा में निक्षेप, पूय की पिच्छिलता एवं गाढ़ता होने पर शस्त्रकर्म के द्वारा पूय संशोधन आवश्यक होता है। वास्तव में फुफ्फुसावरणशोथ एक लाक्षणिक व्याधि है, जिसमें उत्पादक या अनुगामी व्याधि के अनुरूप व्यवस्था की जाती है। शुष्क एवं सद्रव में क्षीर का आहार के रूप में प्रमुख प्रयोग विशेष लाभकारक होता है। इस रोग में चिकित्सा के द्वारा पूर्ण लाभ पर्याप्त समय तक विश्राम तथा पथ्यपालन से ही होता है। फुफ्फुसावरणशोथ से पीड़ित रोगी

बाद में राजयक्ष्मा से आक्रान्त होते हैं। यदि शोथ की अवस्था में पर्याप्त समय तक यथेष्ट व्यवस्था की जाय तो भविष्य के इस गम्भीर उपद्रव से सुरक्षा हो सकती है।

चिकित्सा—

शुष्क फुफ्फुसावरण शोथ—

मुख्यतया चिकित्सा लाक्षणिक होती है, किन्तु प्रारम्भ से ही पेनिसिलीन एवं स्ट्रेप्टोमाइसिन का संयुक्त प्रयोग १०-१५ दिन तक प्रतिदिन करना आवश्यक होता है। इससे ज्वर पाचन एवं शोथ का शमन होता है। क्षयमूलक निर्णय होने पर क्षयविरोधी सारी व्यवस्था करनी चाहिये।

पार्श्वशूल—शुष्कावस्था का मुख्य कष्टकारक लक्षण पार्श्वशूल होता है। इसकी शान्ति के लिये निम्नलिखित उपचार करना चाहिये।

स्थानीय—अत्यधिक पार्श्ववेदना में पूर्व निर्दिष्ट स्टिकिङ्ग प्लास्टर का प्रयोग। इसके लिये रोगी को बैठाकर अधिक से अधिक श्वास बाहर निकालने के लिये कहना चाहिये ताकि पार्श्व संकुचित हो जाय। पार्श्व के परिमाण में १-१ इञ्च अधिक ३-४ पट्ट प्लास्टर के काटने चाहिये। स्थानीय रोम इत्यादि की सफाई कर स्प्रिट से अच्छी तरह रगड़ कर स्नेह एवं मल का अंश साफ कर देना चाहिये। प्लास्टर को ताप के निकट १-२ मिनट रखने से अच्छी तरह चिपकता है। इस प्रकार संकुचित संशोधित वक्ष प्राचीर पर प्लास्टर के पट्ट खींचकर क्रम से ऊपर से नीचे चिपका देने चाहिये। पट्टों के अग्र दोनों ओर मध्य रेखा से दूसरे पार्श्व तक फैले हुये रहेंगे। इसके ऊपर से साधारण पट्टी कुछ समय तक बाँधने से अच्छा रहता है। इसके द्वारा केवल गति का नियन्त्रण होकर संघर्ष जन्य वेदना की लाक्षणिक निवृत्ति होती है। व्याधि में कोई लाभ नहीं होता। अतः तीव्रता कम हो जाने पर विशिष्ट उपचार के लिये पट्ट निकाले जा सकते हैं। निकालते समय रोम एवं त्वचा खिंचे नहीं इसके लिये तारपीन का तेल या पेट्रोल लगाकर छुटाना चाहिये।

एथिल क्लोराइड की बाष्प (Ethyl chloride spray) का प्रयोग शूल के स्थान पर प्रति चार घण्टे पर करते रहने से वेदना की तत्काल शान्ति होती है।

स्थानीय उष्ण सेंक से रोगी को पर्याप्त सुख मिलता है। नमक या बालू की पोटली तवे पर गरम कर प्रति ४ घण्टे पर सेंक करने से सर्वाधिक लाभ होता है। तीसी की पुल्टिस-ऐन्टीफ्लोजिस्टीन के प्रयोग से भी वेदना की शान्ति होती है। आर्द्र स्वेद की अपेक्षा रूक्ष स्वेद इसमें विशेष उपकारक होता है। गेहूँ का चोकर, अजवायन तथा मोम समभाग में मिलाकर घी से स्निग्ध कर पोटली बना सेंक करने से वेदना की शीघ्र शान्ति होती है। मृग शृङ्ग, शुण्ठी, सनाय को स्नुही पत्र स्वरस में घिसकर अल्प मात्रा में अफीम मिलाकर सुखोष्ण लेप करने से वेदना की शान्ति होती है तथा उत्स्यन्द की सम्भावना

भी मिट जाती है। दोषघ्न लेप, दारुषटक लेप के प्रयोग से भी लाभ होता है। संकर स्वेद के प्रयोग से बीच-बीच में अकस्मात् होने वाला तीव्र शूल शान्त हो जाता है। स्थानीय ऊष्मा की वृद्धि के लिये विक्स (Vicks Vaporub) तथा विन्टोजिनो (Wintogeno) एवं थर्मोजिन (Thermogen) आदि का प्रयोग लाभ करता है। क्षोभक प्रलेप या क्षोभक प्लास्टर को कुछ समय तक लगाने से दाह एवं विस्फोटोत्पत्ति होकर आभ्यन्तरिक वेदना निवृत्त होती है, किन्तु स्थायी परिणाम की दृष्टि से यह प्रयोग व्यावहारिक नहीं होता क्योंकि दाह एवं विस्फोट के कारण सेंक, प्रलेप आदि की आवश्यक व्यवस्था नहीं हो सकती। १-२ प्रतिशत नोवोकेन का घोल १० से २० सी० सी० की मात्रा में पार्श्वशूल के स्थान पर अधस्त्वचीय सूचीवेध के रूप में इधर-उधर चारों ओर थोड़ा-थोड़ा परिस्रुत (Infiltrate) करने से तीव्रतम वेदना की सद्यः शान्ति होती है। आवश्यक होने पर ७-८ घण्टे बाद पुनः एक बार इसी प्रकार किया जा सकता है।

मुख द्वारा—बाह्य प्रयोग से लाभ न होने पर वेदनाशामक किसी योग का व्यवहार किया जा सकता है।

Hepatalgin	tablets
Cibalgin	tab.
Sonalgin	tab.
Eukodal	tab.
Irgapyrine	tab.
Largactil	tab.

इनमें से किसी एक का प्रयोग आवश्यकतानुसार दिन में २ या ३ बार किया जा सकता है।

कभी-कभी उक्त सारे उपक्रमों के बावजूद पार्श्वशूल की शान्ति नहीं होती तो—

Morphine-atropine($\frac{1}{4}+\frac{1}{200}$) का अधस्त्वचीय सूचीवेध अथवा Heroin $\frac{1}{24}$ से $\frac{1}{12}$ या Omnapan $\frac{1}{6}$ से $\frac{1}{4}$ का प्रयोग आत्ययिक स्थिति में करना चाहिये।

बेचैनी एवं पार्श्वशूल के कारण रोगी को रात में निद्रा नहीं आती है। सामान्यतया उक्त वेदनाशामक प्रयोगों से पार्श्वशूल की निवृत्ति हो जाने पर अनिद्रा का कष्ट स्वयं शान्त हो जाता है। निम्नलिखित योग से वेदना-शान्ति एवं निद्रोत्पत्ति होती है।

Amytal	gr one
Acetyl salicylic acid	gr 3
Phenaceatin	gr 2
Codein phos	gr $\frac{1}{6}$
Cal. lactate	gr 5
	१ मात्रा

रात में ९ बजे गरम पानी के साथ।

यदि कोष्ठबद्धता हो तो इसी के साथ फेनाप्थलीन (Phenopthalein) या कैलोमल (Calomel) १ ग्रेन की मात्रा में मिला देना चाहिये।

कोष्ठबद्धता न होने पर डोवर्स पाउडर ५ ग्रेन की मात्रा में देने से निद्रा आती है।

शुष्ककास—शुष्क कास की शान्ति के लिये पूर्व वर्णित क्रम से चिकित्सा करनी चाहिये।

Glycodin terp vasaka

या

Syp sirolin

या

Syrup codein phos

१–१ चम्मच दिन में ३ बार।

सामान्यतया निम्नलिखित व्यवस्था से लाक्षणिक शान्ति तथा शोथ का निराकरण स्थायीरूप से हो जाता है। प्रमुख उत्पादक कारण के अनुरूप व्यवस्था इस योग के १०–१२ दिन प्रयोग करने के बाद आरम्भ की जा सकती है।

R/

1.	Prednosoline	5 mg.
	Ascorbic acid	200 mg.
	Irgapyrine	1 tab.
	Thiamin	25 mg.
	Cal gluconate	gr 5
		१ मात्रा

दिन में ३ बार १०–१२ दिन तक। लाक्षणिक शान्ति होने पर धीरे-धीरे मात्रा घटाते जाना चाहिए।

2, Syrup minadex
3. Protien hydrolysate
3. Syrup codein phos

or

Glycodin terp vasaka

तीनों को उचित मात्रा में मिलाकर ३ बार।

निम्नलिखित योग भी अनुभव सिद्ध प्रभावकारी है—

१.	रससिन्दूर	१ र०
	कृष्णचतुर्मुख	½ र०
	वसन्त तिलक	½ र०
	अभ्रक भस्म	१ र०
		१ मात्रा

बलामूल चूर्ण २ माशा मिलाकर मधु के साथ। २–३ बार।

२. लवंगादिवटी

कास की शान्ति के लिए चूसने के लिये देना।

३. छागलाद्यघृत या जीवनीयघृत

४. च्यवनप्राश

उचित मात्रा में सबेरे तथा रात में दूध से।

सद्रव फुफ्फुसावरणशोथ—

इसमें मुख्य कष्ट श्वासकृच्छ्र एवं फुफ्फुसावरण गुहा में द्रव का सञ्चय होता है। अत्यधिक श्वासकृच्छ्र होने पर प्राणवायु सुंघाना तथा रोगी को अर्धोपविष्ट आसन पर लिटाना आवश्यक होता है। द्रवशोषण के लिये निम्नलिखित उपक्रम करने चाहिए—

१. रूक्ष सेंक—नमक, बालू की पोटली से ३–४ बार सेंक करना।

२. भुना चावल, बकरी की लेंड़ी, देवदारु, गदहपूरना की जड़ तथा जौ का आटा, गोमूत्र में पीसकर दिन में दो बार सुखोष्ण लेप करना लाभकर होता है।

३. रोगी विकृत पार्श्व में शयन करता है, अतः गरम बालू थैली में भरकर पतला तकिया के समान बना नीचे रखना चाहिये।

४. पलाशपुष्प, मकोय की पत्ती, सूखी मूली, सोंठ, मँगरैल, चित्रक को गरम पानी में पीसकर सुखोष्ण मोटा लेप करना चाहिये।

५. क्षोभक प्रलेप, राजिकालेप, रसोनलेप आदि से भी लाभ होता है, किन्तु थोड़ा भी अधिक समय तक लगा रहने पर दाह की सम्भावना रहती है।

मुख द्वारा—

आभ्यन्तरिक प्रयोग में पोषक, बलकारक, वातपित्तवर्धक औषधियाँ द्रवशोषण में सहायता पहुँचाती हैं। सद्रव फुफ्फुसावरणशोथ युवकों में मुख्यतया क्षयमूलक होता है। उत्तरकालीन चिकित्सा में इस सत्य का ध्यान रखना चाहिये। द्रवशोषक ओषधियों में अर्कक्षीर-स्नुहीक्षीर-भावित अभ्रक का प्रयोग विशेष लाभ करता है। इसके अभाव में निम्नलिखित योग कुछ दिन तक चलाने से द्रव का शोषण आसानी से हो जाता है।

बसन्ततिलक	१ र०
बृहत् शृङ्गाराभ्र	१ र०
सिलाजत्वादि लौह	२ र०
त्रैलोक्य चिन्तामणि	½ र०
पुनर्नवा मण्डूर	२ र०
	१ मात्रा

आर्द्रक स्वरस मधु के साथ दिन में ३ बार।

द्रव अल्प मात्रा में होने पर श्वासकृच्छ्र के साथ थोड़ा बहुत पार्श्वशूल भी रहता है। अतः निम्नलिखित योग देना—

मुक्ता पञ्चामृत	१ र०
हिरण्यगर्भ पोट्टली	½ र०
महालक्ष्मी विलास	½ र०
पुटपक्व विषमज्वरान्तक लौह	१ र०
शृङ्गभस्म	२ र०
	१ मात्रा

प्रातः-सायं मधु से। इसके साथ में पीने के लिये पुनर्नवार्क तथा भोजनोत्तर कस्तूरी युक्त दशमूलारिष्ट देना चाहिये।

प्रसव के बाद अनेक स्त्रियों में आहार-विहार में उचित संयम तथा शीतवायु से बचाव न होने के कारण सद्रव फुफ्फुसावरणशोथ हो जाता है। प्रसूतावस्था की कोई भी व्याधि सुखसाध्य नहीं होती। इसमें मुख्यतया वायु की प्रधानता होती है। अतः बस्ति-प्रयोग से मलशुद्धि करते हुये बृंहण योगों के साथ में नीचे लिखी व्यवस्था करनी चाहिये।

१.	प्रताप लंकेश्वर	१ र०
	महाचन्द्रोदय	½ र०
	कस्तूरीभैरव	१ र०
	ज्वरारि अभ्र	१ र०
		१ मात्रा

आर्द्रक स्वरस मधु से। प्रातः-सायं देना।

२.	दशमूलारिष्ट	१ तो०
	मृतसञ्जीवनी सुरा	१ तो०
		१ मात्रा

समभाग जल के साथ भोजनोत्तर।

३. सौभाग्य शुण्ठी—१ तोला से २ तोला की मात्रा में १ बार रात्रि में गरम दूध के साथ।

कैल्सियम तथा आयोडीन का प्रयोग द्रवशोषण में सहायक माना जाता है। अतः Calci Iodine का 5 c. c. की मात्रा में प्रति तीसरे दिन पेशी द्वारा सूचिकाभरण करना चाहिये। इसके साथ ऍस्कॉर्बिक ए० ५०० मि० ग्रा० (Ascorbic acid 500 mg) की मात्रा में मिलाकर दिया जा सकता है। कुछ दिन के बाद सूचीवेध के स्थान पर नीचे का योग लाभ देगा, इससे मूत्रवृद्धि के द्वारा द्रव का शोधन भी साथ में होता है—

R/

Cal. Iodide	gr 5
Soda salicylate	gr 5
Pot bicarb	gr 10
Diuretin	gr 5
Thiocol	gr 3
Cal lactate (solu.)	gr 5
Syp glucose	dr. one
Aqua	oz one
	१ मात्रा

दिन में ३ बार ।

क्षयमूलक व्याधि होने के कारण तीव्र विरेचन एवं मूत्र विरेचन औषधियों का प्रयोग अच्छा नहीं होता। किन्तु साधारण मात्रा में संशोधक योगों का व्यवहार करना ही चाहिये। निम्नलिखित क्वाथ के प्रयोग से मल एवं मूत्र संशोधन के द्वारा द्रव का विलयन होता है।

गोखरू	३ मा०
गदहपूरना की जड़	३ मा०
मकोय की पत्ती	३ मा०
पञ्चतृण	१ तो०
दशमूल	१ तो०
निशोथ	३ मा०
पुष्करमूल	३ मा०
देवदारु	३ मा०
सारिवा	३ मा०
मुनक्का	११ दाना

तीन पाव पानी में पकाकर, १½ छटाँक शेष रहने पर छानकर, आधा सुबह तथा आधा शाम को १ तोले मधु मिलाकर देना चाहिये।

वारिशोषण रस १ रत्ती की मात्रा में २ बार देने से द्रव का शोषण बहुत शीघ्र होता है। यदि ज्वर का वेग बहुत अधिक न हो तो केवल दूध पर रोगी को रखकर १ सप्ताह तक इसका प्रयोग कराना चाहिये।

आजकल शरीर में सञ्चित जलीयांश को मूत्र द्वारा निकालने के कई निरापद योग प्रचलित हैं। ४–६ दिन तक मुख्य व्यवस्था के साथ में इनका प्रयोग करने से पर्याप्त लाभ होता है।

1. Diamox
2. Esidrex
3. Chlotried

इनमें से किसी का २ या ३ गोली की दैनिक मात्रा में २–३ दिन तक प्रयोग करके आवश्यक होने पर १ गोली रोज के क्रम से ३–४ दिन और भी दिया जा सकता है।

द्रव की मात्रा तृतीय पर्शुका से ऊपर होने पर रोगी को श्वासोच्छ्वास में अत्यधिक कष्ट होता है। अतः द्रव को निकालना आवश्यक होता है। क्योंकि औषधों के द्वारा शोषण में कुछ समय लगता है तथा कभी-कभी द्रव के अत्यधिक मात्रा में होने से शोषण नहीं भी होता। द्रव का प्रचूषण प्रायः षष्ठ पर्शुकान्तरालीय स्थान में मध्य कक्षा रेखा की सीमा में सूचीवेध कर प्रचूषक यन्त्र या पचास सी० सी० की सिरिंज से किया जा सकता है। एक बार में द्रव पूर्ण रूप में न निकालना चाहिये। यदि पुनः द्रव का सञ्चय न हो तो दुबारा प्रयोग की आवश्यकता नहीं पड़ती अन्यथा ४–५ दिन बाद फिर प्रचूषण किया जा सकता है। बहुत से रोगियों में अल्प मात्रा में द्रव निकालने के बाद अवशिष्ट अंश का स्वतः शोषण हो जाता है। द्रव निकालने के बाद ५० या १०० सी० सी० की मात्रा में वायु का फुफ्फुसावरण गुहा में प्रवेश कराने से द्रव संशोषण में सहायता मिलती है। यदि प्रचूषण के बाद द्रव शीघ्र ही बढ़ जाता हो तो रोगी की स्थिति कष्टसाध्य मानी जाती है।

प्रचूषण के बाद १–२ दिन साधारण बल्य व्यवस्था करके पुनः पूर्व निर्दिष्ट क्रम से वारिशोषक तथा बृंहण औषधियों का प्रयोग होना चाहिये।

कुछ रोगियों में प्रचूषित द्रव का मांसपेशी द्वारा सूचिकाभरण ५ सी० सी० से २० सी० सी० की मात्रा तक करने से द्रव का शीघ्र शोषण हो जाता है। एक बार का निकाला हुआ द्रव सोडा साइट्रेट के विशोधित घोल में शीत स्थान में कुछ समय तक सुरक्षित रखा जा सकता है। प्रचूषण के समय पूर्ण विशोधन की सावधानी तथा बाद में पूर्ण विश्राम की व्यवस्था अनिवार्यतः कर देनी चाहिये। यदि प्रचूषण के बाद १–२ लाख यूनिट पेंसिलिन १५–२० सी० सी० समलवण जल में मिलाकर उसी सूई से प्रविष्ट कर दें तो क्षयातिरिक्त कारण जन्य रोग में कुछ लाभ हो सकता है। Crystallin Penicillin २ लाख तथा Streptomycin २०० मि० ग्राम को २०-४० सी० सी० समलवण जल में घोलकर द्रव निकालने के बाद फुफ्फुसावरण गुहा में प्रविष्ट कराने से बहुत लाभ होता है। सद्रव फुफ्फुसावरण के रोगी अधिकांश में क्षयोन्मुख होते हैं, किन्तु सभी नहीं होते यह भी सत्य है। लेखक की जानकारी में अनेक ऐसे रोगी आये हैं, जिनमें क्षयमूलक व्यवस्था से लाभ नहीं हुआ। सामान्यतया प्रारम्भिक उत्स्यन्द की स्थिति में स्ट्रेप्टोमायसिन आदि का विशेष प्रभाव नहीं होता। प्राचीन चिकित्सा क्रम ही अधिक उपयोगी होता है। क्ष. किरण एवं प्रचूषित द्रव का परीक्षण सभी रोगों में सम्भव भी नहीं होता, शारीरिक परीक्षण तथा अधिक से अधिक रक्त-परीक्षण से ही संतोष करना पड़ता है, अतः क्षयमूलक निर्णय करने के पूर्व दूसरी सम्भावनायें भी ध्यान में रखनी चाहिये। लेखक को निम्न प्रयोग से कई रोगियों में—जिनमें पर्याप्त समय तक

पेनिसिलिन, स्ट्रेप्टोमायसीन एवं क्षयनाशक चिकित्सा के प्रयोग करने पर भी लाभ नहीं हुआ—१०-२० दिन के भीतर द्रव के शोषण, श्वासकृच्छ्र आदि की निवृत्ति होकर रोग में पूर्ण लाभ मिला है। बल संजनन के लिये पर्याप्त समय इतर पोषक औषधों का प्रयोग नियमतः किया गया था। हीन प्रतिकारक शक्ति के कारण रक्त में श्वेत कायाणुओं की वृद्धि शोणांशिक माला गोणाणु-फुफ्फुस दण्डाणु आदि के उपसर्ग से उत्पन्न फुफ्फुसावरण शोथ में भी नहीं हो सकती। इन दिनों पेनिसिलिन का बहुत व्यापक प्रयोग होने के कारण उसके प्रति जीवाणुओं की अनेक जातियाँ सहनशील हो चुकी होंगी, सम्भव है, इसी कारण पेनिसिलिन के प्रयोग से भी उन रोगियों में लाभ न हुआ हो। जीवतिक्ति सी का (Ascorbic acid) अधिक मात्रा में प्रयोग कोषाओं की शक्ति को बढ़ाता तथा उत्स्यन्दन को कम करता है, इसी आधार पर इस योग में शुल्वौषधियों का मिश्रित योग जीवतिक्ति के साथ किया गया था।

R/		
	Prednosoline	5 mg
	Nydrazide	200 mg
	Elkosin	1 tab
	Ascorbic acid	2 tab
	Nicotinic acid	100 mg.
	Dical phos	gr 15
		१ मात्रा

प्रति ४ घण्टे पर गरम पानी के साथ। क्षारीय मिश्रण का इसके साथ प्रयोग था, किन्तु जल का अधिक प्रयोग नहीं किया, मूत्रोत्सर्ग पर ध्यान रक्खा गया।

जहाँ रक्तपरीक्षा आदि के साधन उपलब्ध न हों, इस प्रकार की चिकित्सा पर रोगी को पूर्ण विश्राम कराते हुये परिवर्तनों पर पूर्ण ध्यान रखते हुये कुछ समय तक रक्खा जा सकता है।

यदि क्षयोन्मुख निदान भी हो तो प्रारम्भ से ही प्रमुख औषधियों का (प्रतिजीवी वर्ग की) प्रयोग न करके निम्नलिखित क्रम से प्रयोग करना चाहिये।

कुछ समय पूर्ण विश्राम तथा बाह्य उपचार कराने से ज्वरादि लक्षण शान्त होने लगते हैं। जब तक पूयोरस न हो, ज्वर प्रायः तीव्र स्वरूप का नहीं होता। कैलसियम ग्लूकोनेट 'सी' के साथ (Calcium gluconate C. vitamin C. 500 mg. 10 c. c.) तथा आयोडीन घोल (Iodine Solution 10%) ५ से १० सी० सी० तक प्रति तीसरे दिन (अर्थात् एक दिन कैलसियम दूसरे दिन आयोडीन) सिरा द्वारा। यदि रोगी को कोई कष्ट न हो तो सूचीवेध की मात्रा बढ़ाना और क्षीणता, दुर्बलता अधिक होने पर ग्लूकोज ५०% ५० सी० सी० की मात्रा में दोनों के बीच में देना चाहिये। ग्लूकोज का गाढ़ा घोल द्रव शोषण में भी लाभ करता है। प्रायः १ मास

तक इस क्रम से देने पर लाभ हो जाता है। प्रत्येक के अधिक से अधिक ८-१० सूचीवेध आवश्यक होते हैं।

द्रव शोषण हो जाने के बाद कम से कम २ वर्ष तक रोगी को पथ्य पालन, पोषक आहार, अल्पतम श्रम करते हुये बीच-बीच में चिकित्सक से परीक्षण कराते रहना चाहिये। फुफ्फुसावरणशोथ के ठीक हो जाने—शुष्क या द्रव का शोषण हो जाने—के बाद दोनों स्तरों में कुछ मोटापन अवश्य रह जाता है जिससे शीत ऋतु में या पानी से भीग जाने, अधिक श्रम करने पर कुछ न कुछ स्थानीय वेदना होती रहती है। अतः शीत-वर्षा से विशेष बचाव रखना चाहिये। पार्श्वशूल के स्थान पर आयोडेक्स (Iodex plain) या तत्सम कोई दूसरे योग अथवा पुराण घृत में सेंधा नमक मिलाकर या पञ्चगुण तैल, वृ० गैंधबादि तैल का मर्दनार्थ प्रयोग करना चाहिये। आक्रान्त पार्श्व पर ऊनी पट्टी का प्रयोग शीत काल में अवश्य करना चाहिये।

निम्नलिखित योग २-३ मास लेते रहने से रोग की स्थायी निवृत्ति होती है।

१.	बसन्तमालती	१ र०
	शिलाजत्वादि लौह	१ र०
	प्रवाल भस्म	१ र०
	शृङ्ग भस्म	१ र०
	चतुःषष्टि पिप्पली	२ र०
		१ मात्रा

प्रातः सायं मधु के साथ।

२.	द्राक्षासव	१ तो०
	धान्यरिष्ट	१ तो०
		१ मात्रा

समान भाग जल मिलाकर भोजनोत्तर।

३. १ तोला आमलकी रसायन या च्यवनप्राश दूध के साथ।

अल्प मात्रा में रसोन का सेवन प्रतिश्याय एवं फुफ्फुसावरणशोथ दोनों में लाभ करता है। लहसुन का रस ५-१५ बूँद तक (शीत ऋतु में) प्रातःकाल दूध में मिलाकर देना चाहिये। रसोन सुरा एवं रसोन पिण्ड का प्रयोग भी इसी प्रकार किया जा सकता है। काडलिवर आयल, ईस्टन्स सीरप, शार्कोफेराल, फेराडाल आदि पोषक औषधियों का सेवन करते रहना चाहिये। मक्खन, गाय का घी तथा अण्डा इसमें विशेष पोषक होते हैं। ४-५ मास के बीच में क्ष किरण परीक्षा के द्वारा गुप्त क्षय का अनुसंधान करते रहना आवश्यक है।

अपथ्य—गुरु भोजन, लवण-अम्ल प्रधान द्रव्यों का अधिक सेवन, अधिक श्रम, अल्पाशन, रूक्षासन या अनशन, ग्राम्यधर्म, शीत वर्षा का सेवन न करना चाहिये।

प्रतिषेध—यह स्वतन्त्र रूप में कम, दूसरी व्याधियों में उपद्रवस्वरूप अधिक होता है। जब तक क्षय आदि का स्पष्ट प्रमाण न मिले, इसका दूसरों में संक्रमण नहीं होता, फिर भी औपसर्गिक व्याधि है, स्वस्थ व्यक्तियों को सुरक्षा तो रखनी ही चाहिये।

पूयोरस—

पूयोरस होने के मुख्यतया दो कारण होते हैं। फुफ्फुसपाक के बाद दोष का प्रसार होने पर तथा पूयविषमयतायुक्त सर्वाङ्ग व्याधियों में उपद्रवस्वरूप में, कभी-कभी सद्रव फुफ्फुसावरणशोथ में द्वितीय पूयोत्पादक उपसर्गी जीवाणुओं का उपसर्ग हो जाने पर अथवा द्रव प्रचूषण के समय पूर्ण विशुद्धता न होने के कारण बाहर से उपसर्गों के पहुँच जाने से होता है। इस प्रकार फुफ्फुस गोलाणु तथा माला गोलाणु मुख्यतया पूयोरस में कारण होते हैं। फुफ्फुसावरणशोथ में द्वितीय उपसर्गों के हो जाने पर उत्पन्न होने वाला पूयोरस अधिक कष्टसाध्य होता है। पूय निर्हरण के बाद मुख्य व्याधि की चिकित्सा पर्याप्त समय तक आवश्यक होती है।

पूयोरस की चिकित्सा में संचित पूय का निर्हरण तथा औपसर्गिक दोष की शान्ति के लिये प्रतिजीवी ओषधियों का पूर्ण मात्रा में प्रयोग मुख्य महत्त्व रखता है।

पूय निर्हरण—पूर्व वर्णित विधि से (पृष्ठ २७२) षष्ठ पर्शुकान्तरालीय स्थान से सूचीवेध के द्वारा पूय का निर्हरण करना चाहिये। कुछ पूय विशेष परीक्षण के लिये संगृहीत करना चाहिये, जिससे भविष्य में उपयुक्त प्रतिजीवी ओषधि का प्रयोग किया जा सके। सामान्यतया पाँच लाख पेनिसिलीन २० सी० सी० पूर्ण विशोधित समलवण जल में मिलाकर उसी सूची से फुफ्फुसावरण गुहा में प्रवेश करा देना चाहिये। प्रतिदिन इसी प्रकार पूय निर्हरण तथा पेनिसिलीन का स्थानीय प्रयोग करने से पूय की मात्रा क्रमशः कम होती जाती है। किन्तु बीच-बीच में क्ष किरण परीक्षा द्वारा फुफ्फुसावरण गुहा में कुल्याओं के भीतर (Saculated) पूय का सञ्चय न हो—इसका परीक्षण करते रहना चाहिये। कभी-कभी पूय की अत्यधिक घनता के कारण प्रचूषण के द्वारा पूर्ण संशोधन नहीं हो पाता, ऐसी अवस्था में पूय को द्रवित करने वाली ओषधियों का निक्षेप करके शोधन करना चाहिये। ट्रिप्सीन (Trypsin or Tryptase) को समलवण जल में घुलाकर प्रविष्ट कराने से प्रोभूजिनों के किलाट द्रवित हो जाते हैं तथा स्ट्रेप्टोकाइनेस या स्ट्रेप्टो डोरनेस (Strepotokinase or Streptodornase) या वैरिडेज (Varidase) के प्रयोग से तन्ति का द्रावण होता है। इनके प्रयोग से पूय पूर्ण रूप से द्रवित होकर किलाट तथा घनांश सभी आसानी से निकल जाते हैं। प्रथम पेनिसिलिन एवं शुल्वौषधियों के प्रयोग से औपसर्गिक कारणों का नियन्त्रण करने के उपरान्त Varidase या Tryptase का प्रयोग करके १२ से २४ घण्टे बाद—५० से १०० सी० सी० समलवण जल को शरीर ताप के अनुपात में सुखोष्ण करके, पूय निर्हरण के बाद उसी सुई से भीतर प्रविष्ट करके प्रच्छालन करना चाहिये।

Trypsin या Streptokinase आदि के उपलब्ध न होनेपर यूसोल (Eusol) का हल्का घोल १० से २० सी०सी० डालकर दूसरे दिन समलवण जल से प्रच्छालन करना चाहिये। धीरे-धीरे पूय की मात्रा कम हो जाने पर या पूय का आना बन्द हो जाने पर प्रचूषण की आवश्यकता नहीं रहती। किन्तु पूय की अत्यधिक घनता, तीव्र विषमयता, प्रलेपक ज्वर की तीव्रता आदि लक्षण की उपस्थिति में प्रचूषण द्वारा लाभ न होने पर शस्त्रक्रिया द्वारा पूय संशोधन करना पड़ता है। इसमें भी पेनिसिलीन का स्थानीय प्रयोग, पूर्ण विशोधित समलवण जल से फुफ्फुसावरण गुहा का प्रक्षालन करना होता है। शुल्ब तथा प्रतिजीवी वर्ग की ओषधियों का शामक प्रभाव पूयोत्पत्ति होने के उपरान्त बहुत कम हो जाता है। अतः पूयोरस का निदान हो जाने के बाद केवल इन ओषधियों के सार्वदेही प्रयोग से लाभ की आशा न करनी चाहिये। अल्प मात्रा में पूय होने पर सार्वदेही ओषधि प्रयोग के साथ स्थानीय स्वेदन तथा जलौका द्वारा रक्त मोक्षण कराने से लाभ हो सकता है।

पेनिसिलीन का प्रयोग तीव्रावस्था में प्रति ६ घण्टे पर २ लाख की मात्रा में मांसपेशी द्वारा कम से कम चार दिन तक करना चाहिये। बाद में प्रोकेन पेनिसिलीन का प्रयोग दैनिक रूप में किया जा सकता है। साथ में शुल्बौषधियों का भी प्रयोग करना विशेष लाभकर होता है। पेनिसिलीन के द्वारा लाभ न होने पर आइलोटाइसिन का प्रयोग २०० मि० ग्राम की मात्रा में प्रति चार घण्टे पर एक सप्ताह तक करना चाहिये। Crystallin Penicillin ५ लाख तथा Streptomycin ½ ग्राम साथ में मिलाकर प्रातः सायं १० दिन तक देने से अच्छा लाभ होता है। यदि ७-८ दिन बाद इसी में Omnadin १ सी० सी० की मात्रा में मिलाकर प्रयुक्त करें तथा इतर पोषक द्रव्यों का सहयोग लें तो अधिक स्थायी लाभ होता है।

पेनिसिलिन के स्थान पर उसी का विशिष्ट योग Estopen ५ लाख की मात्रा में दिन में २ बार अधिक सफल माना जाता है।

उक्त क्रम से पूय की मात्रा कम न हो रही हो तो Synermycin, Ledermycin या Tetracyclin में से किसी का उचित मात्रा में प्रयोग किया जा सकता है।

पूयोरस शरीर की प्रतिकारक शक्ति की निर्बलता का द्योतक है। अतः मधुमेह-वृक्क रोग आदि के बारे में ध्यान रखते हुये तथा प्रतिकारक शक्ति को बढ़ाने की व्यवस्था करनी चाहिये। प्रलेपक ज्वर तथा विषमयता के दूसरे लक्षणों की शान्ति पूय निर्हरण के बाद शीघ्रता से हो जाती है। यदि शान्ति न हो तो कोई घातक अर्बुद या फुफ्फुस विद्रधि, यकृत विद्रधि आदि का अनुमान करना चाहिये। प्रचूषण के द्वारा प्राप्त पूय की परीक्षा से विशिष्ट जीवाणु का निर्णय हो जाने पर उसकी सही चिकित्सा व्यवस्था होनी चाहिये। शरीर का रक्त अधिक मात्रा में दूषित हो जाता है तथा

विषमयता के कारण रोगी दुर्बल, क्षीण हो जाता है। नाड़ी के क्षीण दुर्बल, जिह्वा के मल लिप्त एवं बेचैनी आदि से रोगी की आन्तरिक क्षीणता का अनुमान कर रक्त रस या रक्त तथा इनके अभाव में ग्लूकोज समलवण जल मिलाकर सिरा द्वारा पर्याप्त मात्रा में (100 c. c.) प्रविष्ट कराना चाहिये। ग्लूकोज प्रयोग के साथ कुछ मात्रा में इन्सुलिन देते रहने से हृदय की दुर्बलता नहीं होती और ग्लूकोज का पूर्ण सात्म्यीकरण होता है। मल-मूत्र-स्वेद के द्वारा शारीरिक दोषों का नियमित रूप से शोधन होता रहता है अतः मल शोधक, मूत्र विरेचक योगों का प्रयोग तथा गुनगुने पानी में कपड़ा भिगोकर सारे शरीर को दिन में कई बार पोंछना चाहिये।

शरीर में पूय का अधिक मात्रा में सञ्चय होने पर कफवर्धक आहार-विहार, मधुर-अम्ल-लवण रस प्रधान भोजन न करना चाहिये। वरुण के प्रयोग से पूय का आन्तरिक पाचन होता है, अतः वरुणादि क्वाथ-सालसारादि कषाय (सुश्रुत) इत्यादि का प्रयोग साथ में किया जा सकता है। बीच-बीच में रक्त परीक्षा द्वारा श्वेत कणों की गणना के द्वारा चिकित्सा की सफलता का मूल्यांकन करते रहना चाहिये।

बल संजनन—रोगमुक्ति के बाद पर्याप्त समय तक शय्या में पूर्ण विश्राम करना चाहिये। पूय के द्वारा शारीरिक धातुओं का अत्यधिक क्षय होता है। अतः पूर्व पाचित प्रभूजिनों के योग, जीवतिक्ति वर्ग की ओषधियाँ, लौह एवं कैलसियम का पर्याप्त प्रयोग करना चाहिये। जिन रोगियों में पूय युक्त व्याधियाँ अधिक होती हों, उनके रक्त में विशेष प्रकार की असहनशीलता या दुर्बलता होती है। निम्नलिखित योग का कुछ समय तक व्यवहार करने से इस प्रकार की दुर्बलता दूर हो जाती है।

१.	गन्धक रसायन	४ र०
	धात्री रसायन	१ मा०
		१ मात्रा

गोघृत मिश्री के साथ प्रातः सायं।

२.	सारिवाद्यासव	१ तो०
	खदिरारिष्ट	१ तो०
		१ मात्रा

भोजनोत्तर समान जल से।

अमृतादि गुग्गुलु या पञ्चतिक्त घृत गुग्गुलु को एक माशा से दो माशा की मात्रा में रात में गरम पानी से।

प्रतिषेध—फुफ्फुसपाक, इन्फ्लुएञ्जा, श्वसनीफुफ्फुसपाक, पूयविषमयता आदि व्याधियों में प्रारम्भ से ही पूर्ण मात्रा में शुल्वौषधियाँ या प्रतिजीवी वर्ग की ओषधियों का व्यवहार करने तथा बल-सञ्जनन व्यवस्था करने से इसकी उत्पत्ति का प्रतिबन्ध होता है। शरीर के दूषित पूय केन्द्रों का निर्मूलन अनेक व्याधियों का प्रतिषेधक होता है।

यक्ष्मा

Tuberculosis

यक्ष्मा एक व्यापक स्वरूप का संक्रामक रोग है जिसमें यक्ष्मा दण्डाणु (M. tuberculosis) का उपसर्ग श्वसन मार्ग या अन्नवहस्रोत के द्वारा होता है।

श्वसन तथा अन्नप्रणाली के अलावा क्षत या क्षतयुक्त त्वचा के द्वारा भी इसका संक्रमण सम्भव है, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इस मार्ग का नगण्य सा महत्त्व होता है। बहुसंख्य रोगियों में एक प्रकार की कुलज असहनशीलता पायी गई है अर्थात कुछ व्यक्ति सहज क्षयोन्मुख प्रकृति वाले होते हैं। इन प्रकार के रोगियों में व्याधि के संक्रमण की सम्भावना बहुत होती है। यक्ष्मा का उपसर्ग कुलज नहीं हो सकता। माता एवं पिता के रज-वीर्य के द्वारा यक्ष्मा दण्डाणु का संक्रमण नहीं हो सकता, कुछ शिशुओं में अपरा के द्वारा दण्डाणुओं का संक्रमण पाया गया है।

ज्ञात संक्रामक व्याधियों में यक्ष्मा बहुत प्राचीन काल से व्यापक विकार माना जाता रहा है। इसका क्षय (Consumption) नामकरण उत्तरोत्तर शारीरिक दुर्बलता के लक्षणों को अभिव्यक्त करने के लिये प्राचीन एवं पाश्चात्य ऋषियों ने किया था। प्राचीन भारतीय वाङ्मय में राजयक्ष्मा का महत्त्व तथा उसकी गम्भीरता एवं व्यापकता के उदाहरण पर्याप्त रूप में मिलते हैं। इसके क्षयकारक गुण को तथा शरीर की दुर्बलता को इसका प्रमुख कारण द्योतित करने वाला चन्द्रमा का उदाहरण बहुत पुराने काल से प्रचलित रहा है। मिश्र में पिरामिडों या दूसरे उत्खननों से प्राप्त सुरक्षित शवों (Mummy) में भी यक्ष्मज उपसर्ग के परिणाम स्पष्टरूप में मिले हैं।

यक्ष्मा के दण्डाणु का पृथक्करण प्रसिद्ध जर्मन वैज्ञानिक काक (Koch) ने सन् १८८२ में किया। किन्तु भारतीय साहित्य में यक्ष्मा की संक्रामकता के बारे में २-३ हजार वर्ष ईसा पूर्व की रचनाओं में उल्लेख मिलता है।

संक्रामक व्याधि होने पर भी संक्रमण या आगन्तुक कारण का महत्त्व शारीरिक दुर्बलता से अधिक नहीं माना जाता। वैज्ञानिकों द्वारा विशिष्ट जीवाणु के परिज्ञान के बाद व्याधि के निर्मूलन का स्वप्न साकार न हो सका। शारीरिक प्रतिकार शक्ति के बढ़ाने के सिद्धान्त के प्रचार एवं प्रसार के बारे में ही प्रमुख रूप से उद्योग किया गया। इस व्याधि में आर्थिक एवं सामाजिक तत्त्वों का भी पर्याप्त महत्त्व माना जाता है। किसी कारण से शरीर के असहनशील या दुर्बल हो जाने पर यक्ष्मा के उपसर्ग की सम्भावना सर्वाधिक होती है। प्रसार की दृष्टि से यह तीव्र स्वरूप का उपसर्ग नहीं है किन्तु एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में प्रसरण बहुत धीरे-धीरे कुछ काल में और उसके स्वास्थ्य पर निर्भर करता है। एक बार रोगग्रस्त हो जाने के बाद बहुत साधन सम्पन्न प्रयत्नों के द्वारा ही इसका उपशम किया जा सकता है।

इस व्याधि का प्रकोप १५ से ४५ वर्ष की अवस्था में अधिक होता है। वैसे छोटे बालकों या वृद्धों में भी छिटफुट रूप में इसका प्रकोप मिलता है। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में इसका प्रसार अधिक होता है किन्तु बाल्यावस्था में ५-१५ वर्ष की आयु की कन्याओं में बालकों की अपेक्षा अधिक आक्रमण मिलता है। जाति देश काल आदि का इसमें विशेष महत्त्व नहीं, सभी जातियों एवं देशों में इसका प्रसार मिलता है। किन्तु उन्मुक्त वातावरण वाले निवास स्थानों की अपेक्षा घनी आबादी के नगरों में व्यापक प्रसार होता है। धूल एवं धूम्रमुक्त वातावरण में काम करनेवाले, बड़े-बड़े कारखानों, दूकानों आदि के व्यक्तियों में भी इसका आक्रमण अधिक होता है। वासस्थानों की अस्वास्थ्यकर स्थिति, सूर्य के प्रकाश एवं वायु का अभाव, आर्द्र वातावरण, अत्यधिक जनसम्मर्द आदि कारणों से इसके प्रसार में सहायता मिलती है। वक्षप्राचीर पर चोट लगने से क्षय का प्रकोप प्रायः मिलता है। सम्भवतः पहले से वर्तमान सुप्तावस्था के व्याधि केन्द्रों से चोट के कारण प्रसार होने से क्षयज यक्ष्मा की उत्पत्ति मिलती होगी। मानसिक त्रास अवसाद असन्तोष आदि से हीनतामूलक भावनाओं का आधिक्य भी इस व्याधि की उत्पत्ति में सहायक होता है।

कुछ व्याधियों के आक्रमण के बाद शरीर विशेष प्रकार से हीन क्षमतायुक्त हो जाता है, जिससे यक्ष्मामूलक विकारों की उत्पत्ति की सम्भावना बढ़ती है। रोमान्तिका, कुकास, इन्फ्ल्युएञ्जा, पुनरावर्तन स्वरूप का श्वसनी फुफ्फुसपाक, मदात्यय, फिरङ्ग, हृद्रोग एवं उन्माद इन व्याधियों के होने पर यक्ष्मा का प्रकोप अधिक मिला करता है। मधुमेह के रोगियों में यक्ष्मा प्रधान उपद्रव माना जाता है। प्रसव के बाद बहुत काल तक स्तन्यपान कराने से तथा जल्दी-जल्दी अधिक बार गर्भधारण होने से इसके प्रकोप में वृद्धि होती है।

क्षय दण्डाणु के प्रसार के दो प्रमुख मार्गों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। यक्ष्मा के प्रसार में दो प्रकार के क्षय दण्डाणु भी मिलते हैं १. मानवीय, २. गव्य। गव्यक्षय दण्डाणु का प्रसार मुख्यरूप से दूध के द्वारा होता है। विदेशों में जहाँ पर बिना दूध को उबाले काम में लिया जाता है, वहाँ पर इस वर्ग के जीवाणुओं से औदरिक राजयक्ष्मा का विकार अधिक मिलता है।

किन्तु भारतवर्ष में जहाँ पर दूध को पर्याप्त समय तक उबालकर ही प्रयुक्त किया जाता है, इस प्रकार का संक्रमण कम मिलता है। यक्ष्मा पीड़ित व्यक्ति के खाँसते-छींकते समय असंख्य दण्डाणु थूक के साथ निकलते हैं। यह जीवाणु कमरे के फर्स, धूल, वस्त्र आदि में लगकर बहुत दिनों तक जीवनक्षम बने रहते हैं। कमरे की धूल में मिले जीवाणु सफाई के समय उड़कर श्वसन के साथ आसानी से प्रविष्ट हो सकते हैं। जीवाणुओं की प्रबल जीवनक्षमता के कारण ही थूक को जमीन में गाड़ने या जीवाणु-नाशक ओषधियों के घोल में मिलाने आदि से भी विनाश नहीं होता।

इस प्रकार उपसृष्ट व्यक्ति के खाँसने, थूकने आदि से निकले हुये जीवाणुओं का स्वस्थ व्यक्ति के श्वसन मार्ग में प्रवेश हो जाता है। कुछ रोगियों में तुण्डिकेरी (Tonsils) के माध्यम से भी यक्ष्मा दण्डाणु का प्रवेश शरीर में प्रमाणित हुआ है। किन्तु साक्षात श्वसन मार्ग में जीवाणुओं का प्रवेश होने के बाद आन्तरिक कोषाओं के माध्यम से लसवाहिनियों में सञ्चय होता है। अनुकूल परिस्थिति न होने पर—रोगी के पुष्ट, सबल एवं प्रतिकारक क्षम रहने पर—दण्डाणु अनेक वर्षों तक सञ्चित स्थान में सीमित रह सकते हैं। शरीर के दुर्बल होने पर या दण्डाणुओं के उग्र प्रकोप के कारण लसग्रन्थियों के निकट की कोषाओं में इनका उपसर्ग होने लगता है। इस प्रकार इन जीवाणुओं के सञ्चित स्थानों के आस-पास की प्रारम्भिक लस ग्रंथियों की पर्याप्त वृद्धि होती है। व्याधि की प्रारम्भिक अवस्था में या शरीर में व्यापक प्रसार के समय लसग्रन्थियों को व्यापकरूप से वृद्धि मिला करती है। दण्डाणुओं के प्रवेश स्थान पर यक्ष्मि (Tubercle) की उत्पत्ति होती है। शारीरिक प्रतिक्रिया के कारण दण्डाणुओं के चारों ओर लसकायाणु, सौत्रिक धातु, भक्षकायाणु आदि का सञ्चय होता है। शरीर के सबल होने पर जीवाणुओं की वृद्धि अधिक नहीं हो पाती और इस प्रकार की दण्डाणुओं के उपसर्ग के कारण उत्पन्न रचना के चारों ओर कैलसियम का सञ्चय हो जाता है। कदाचित् शरीर की दुर्बलता एवं हीन प्रतिकारक क्षमता हुई तो प्रवेश स्थान की धातुओं का अपजनन होकर किलाट (Caseation) के समान की स्थिति पैदा हो जाती है। श्वसनिका के निकट होने पर कास के माध्यम से ष्ठीवन के साथ इनका उत्सर्ग होता रहता है। अधिक मात्रा में स्थानिक कोषाओं का नाश होने के कारण फुफ्फुस का काफी अंश रिक्त हो जाता है और वहाँ पर विवर सा (Cavitation) हो जाता है। यक्ष्मा के दण्डाणु में निकट के कोषाओं में अपजनन उत्पन्न करने की विशेष सामर्थ्य होती है जिससे निकट की रक्तवाहिनियों का भी विनाश हो जाता है तथा उस स्थान में रक्त का सञ्चार नहीं हो पाता। कास के वेग या दूसरे अतिव्यायाम के कारणों से रक्तप्रवाह में जोर पड़ने के कारण स्थानीय रक्तवाहिनियों का आस-पास की शारीरिक धातुओं के नष्ट हो जाने के कारण विदार हो जाता है। जिससे ष्ठीवन के साथ पर्याप्त मात्रा में रक्त का स्राव होता है। इन विवरों का श्वसनिकाओं के माध्यम से बाह्य वातावरण से सम्पर्क हो जाता है और नासा एवं गले के केन्द्रों में अधिष्ठान ग्रहण करनेवाले दूसरे द्वितीयक उपसर्गों का प्रवेश हो सकता है। क्षयज दण्डाणुओं के कारण लसग्रन्थियों की वृद्धि या किलाटीभूत कोषाओं के परिसरीय अंगों पर दबाव के कारण शुष्क कास की उत्पत्ति होती है और कोषाओं का अपजनन होने के बाद दण्डाणुओं के सञ्चितस्थान का सम्बन्ध श्वसनिकाओं के साथ हो जाने पर ष्ठीवनयुक्त कास उत्पन्न होती है।

उपसर्ग से हीनबल होने या शरीर के पूर्वापेक्षा सबल हो जाने पर इन विकृतियों

के आस-पास तान्तव धातु का निर्माण (Fibrosis) होता है जिससे इन तन्तुओं में आकुञ्चन होने के कारण भविष्य में उपसर्ग की व्यापकता के आधार पर अवरोधक लक्षण उत्पन्न होते हैं। फुफ्फुस के जिस पार्श्व में इस प्रकार की विकृति होती है, वक्ष गुहा के दूसरे अंग उसी ओर आकृष्ट कर लिये जाते हैं।

क्षयदण्डाणु का प्रवेश होने के बाद आरम्भिक विकृतियाँ फुफ्फुस शीर्ष में (Apex) अधिक होती हैं। सम्भवतः शीर्ष स्थान की वायु कोषाओं में कम गति एवं प्राणवायु के अल्प प्रवेश के कारण यही स्थान इनकी वृद्धि के लिये उपयुक्त होता है। यक्ष्मा की व्यापक अनुसन्धान योजना के अन्तर्गत अनेक प्रान्तों के निवासियों की सामूहिक रूप से विशिष्ट परीक्षायें करने पर अनुमानित संख्या से बहुत अधिक संख्या में यक्ष्मा के प्रसार के स्पष्ट प्रमाण मिले हैं। प्रायः बाल्यावस्था में ही यक्ष्मा के संक्रमण की सर्वाधिक सम्भावना मानी जाती है। प्रारम्भिक उपसर्ग के बाद अनुकूल परिस्थिति आने तक दण्डाणुओं का प्रसार नहीं हो पाता, किन्तु दण्डाणुओं के प्रति शरीर में एक विशेष प्रकार की सूक्ष्म संवेदनशीलता उत्पन्न हो जाती है। इस विशेष प्रतिक्रिया के आधार पर यक्ष्मा की मसूरी (Tuberculin) का अन्तस्त्वचीय मार्ग से प्रयोग कराकर प्राप्त परिणामों के द्वारा यक्ष्मा दण्डाणुओं के पूर्वकालीन उपसर्ग का ज्ञान होता है। इस दण्डाणु के विपरीत परिस्थितियों में भी पर्याप्त समय तक जीवनक्षम रह सकने के कारण इसका जन समुदाय में व्यापकरूप से संक्रमण हो सकता है। किन्तु जबतक शरीर में किसी दूसरे कारणों से दुर्बलता न उत्पन्न हो, तबतक प्रविष्ट हुये दण्डाणुओं की अधिक वृद्धि या रोग की उत्पत्ति न हो सकेगी। विकारोत्पत्ति न होने पर भी इन व्यक्तियों में प्रारम्भिक उपसर्ग से उत्पन्न सूक्ष्म संवेदनता (Hypersensitiveness) उत्पन्न होती है। इनके व्यापक परीक्षणों के आधार पर सिद्ध हुआ है कि यक्ष्मा दण्डाणुओं का उपसर्ग बाल्यावस्था में ही हो जाता है। अत्यल्प संख्या में ही बालक—जिनका सामान्य जनसमाज से सम्पर्क न हो सका है—इसके प्रारम्भिक उपसर्ग से बचे रह पाते हैं।

इस प्रकार बाल्यावस्था से ही शरीर में विद्यमान उपसर्ग का अनुकूल परिस्थिति आने पर प्रसार होने के कारण या शारीरिक दुर्बलता की अवस्था में नवीन रूप से दण्डाणुओं का पर्याप्त संख्या में प्रवेश हो जाने पर यक्ष्मा की उत्पत्ति होती है।

यक्ष्मा दण्डाणुओं के श्वसनिका के निकट की कोषाओं में सञ्चित होने के बाद उनका प्रसार निम्न साधनों से हो सकता है—

१. साक्षात् प्रवेश (Direct infiltration)।

२. निकट की लसवाहिनियों एवं केशिकाओं द्वारा प्रसार।

३. कोषान्तरीय या फुफ्फुसावरणीय लसवाहिनियों द्वारा (Interstitial or subpleural lymphatics)।

४. अन्तःश्वसन के समय पर्याप्त संख्या में दण्डाणुओं के भीतर प्रविष्ट होने पर श्वसनिकाओं से साक्षात् सम्पर्क के द्वारा। एक पार्श्व के उपसर्ग का दूसरे पार्श्व में प्रवेश इसी प्रकार होता है।

५. कभी-कभी रक्तवाहिनियों के माध्यम से। किलाटीभूत अधिष्ठान में सञ्चित दण्डाणुओं का प्रसार रक्तवाहिनियों के द्वारा होता है। इस विधि से शरीर में थोड़े समय के भीतर व्यापक प्रसार हो सकता है।

शरीर के सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग-धातुएँ-उपधातुएँ यक्ष्मा दण्डाणु के विकार से आक्रान्त होती हैं। उपसर्ग की तीव्रता एवं अधिष्ठान भेद से निम्नलिखित प्रमुख विकृतियाँ मिलती हैं।

१. तीव्र श्यामाकीय यक्ष्मा (Acute Miliary tuberculosis)—इसमें यक्ष्मादण्डाणु के प्रतिरूप छोटे-छोटे Tubercles सम्पूर्ण फुफ्फुस में उत्पन्न हो जाते हैं। कभी-कभी शरीर के दूसरे अंगों में भी इस प्रकार के परिवर्तन हो जाते हैं। इस प्रकार का विकार प्रायः शरीर के दूसरे अंगों या फुफ्फुस के किसी अंग में प्रारम्भिक उपसर्ग से उत्पन्न किलाटबद्ध कोषाओं के अपजनन से दण्डाणुओं का फुफ्फुस के दूसरे भागों में त्वरित उग्र प्रसार होने से उत्पन्न होता है। Tubercle का आकार बहुत छोटा तथा उसके व्यापक प्रसार के कारण श्यामाकीय (Miliary) संज्ञा दी गई है। श्यामाक (सावाँ) अन्न के समान भूरे रङ्ग के बहुत छोटे Tubercle होने के कारण इसे श्यामाकीय पर्याय दिया गया है।

२. जीर्ण श्यामाकीय यक्ष्मा (Chronic Miliary tuberculosis)—फुफ्फुस में छोटे-छोटे भिन्न आकार वाले एक मिलीमीटर से ६—७ मि० मीटर की परिधि के ग्रन्थिकल असंख्य मात्रा में उत्पन्न हो जाते हैं। कभी-कभी इनका प्रसार वृक्क, प्लीहा, मस्तिष्क आदि अंगों में हो जाता है तथा जीर्ण रोग के स्थान पर तीव्र स्वरूप का आक्रमण हो सकता है।

३. तीव्र किलाटीय प्रकार (Acute Caseous tuberculosis)—तीव्रता के साथ व्यापक रूप में फुफ्फुस के किसी खण्ड में या अनेक खण्डों में कोषाओं का अपजनन होकर बड़े-बड़े किलाट उत्पन्न होते हैं, जिनके बीच में यक्ष्मा दण्डाणु पर्याप्त संख्या में होते हैं। कभी-कभी इन्हीं किलाट स्थानों में विवर भी उत्पन्न हो जाते हैं।

४. तन्तु किलाटीय प्रकार (Fibro Caseous tuberculosis)—व्याधि का प्रारम्भ मध्यम स्वरूप के श्यामाकीय (M. T.) यक्ष्मा या यक्ष्मज फुफ्फुसपाक के रूप में होता है। फुफ्फुस में कहीं-कहीं तन्तूत्कर्ष के लक्षण तथा कुछ स्थानों पर किलाटोत्पत्ति और विवर के लक्षण मिलते हैं। यक्ष्मादण्डाणु का प्रारम्भिक उपसर्ग प्रायः फुफ्फुस के शीर्ष पर, बाद में उसी पार्श्व के निचले खण्ड के शीर्ष में तथा दूसरे पार्श्व के शीर्ष में प्रसार होता है।

५. तान्त्वीय यक्ष्मा (Fibroid tuberculosis)—जीर्ण स्वरूप के विकार में यह स्थिति मिलती है। विकृति प्रायः एक पार्श्व या फुफ्फुस के एक खण्ड में सीमित रहती है। तान्त्वीय धातु के बीच-बीच में किलाट या विवरमूलक विकार भी मिल सकते हैं। तान्त्वीय धातु में संकोच का गुण होने के कारण फुफ्फुसावरण, पर्शुकायें एवं वक्षप्राचीर भीतर की ओर आकृष्ट हो जाती है तथा बाहर से वह पार्श्व काफी दबा हुआ दीखता है। पूरे पार्श्व में तन्तूत्कर्ष होने पर श्वासवाहिनी, अन्नप्रणाली, हृदय एवं महाधमनी (Aorta) आदि भी विकृत पार्श्व की ओर खींच लिए जाते हैं। दूसरे पार्श्व के फुफ्फुस में अधिक भार पड़ने के कारण वातोत्फुल्लता (Emphysema) के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

प्रायः सभी क्षयज फौफ्फुसीय विकारों में श्वासवाहिनी एवं फुफ्फुसावरण में परिवर्तन होते हैं। सम्बद्ध लसग्रन्थियों की वृद्धि अपजनन या यक्ष्मा दण्डाणुओं के द्वारा उत्पन्न दूसरे परिवर्तन एवं फुफ्फुसावरण में शुष्क शोथ (पार्श्वशूल) या निःस्यन्दित तरल का सञ्चय तथा आवरण की दोनों तहों में अभिलाग (Adhesions) उत्पन्न होते हैं।

कास के साथ उत्सर्गित श्लेष्मा में यक्ष्मादण्डाणु पर्याप्त संख्या में निकलते हैं। कभी-कभी रोगी श्लेष्मा को बाहर न थूक कर निगल जाता है। यह प्रवृत्ति बालकों एवं स्त्रियों में अधिक मिलती है। इस प्रकार धीरे-धीरे आंतों में भी यक्ष्मज विकृति उत्पन्न होने लगती है।

रक्त के द्वारा या लसवाहिनियों के द्वारा यक्ष्मादण्डाणु का प्रसार वृक्क, मूत्राशय, गर्भाशय, अस्थियों एवं संधियों तथा मस्तिष्कावरण आदि वक्ष के अतिरिक्त शरीरावयवों में हो सकता है, जिससे इन अङ्गों की द्वितीयक विकृति (Secondary effections) उत्पन्न होती है।

इस प्रकार यक्ष्मा दण्डाणुओं का शरीर में व्यापक प्रसार हो सकता है। चिकित्सा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण विकृतियों का यहाँ उल्लेख किया जाता है।

क्षय दण्डाणुओं के व्यापक प्रसार के परिणाम—

तीव्र श्यामाकीय यक्ष्मा।

यक्ष्मज मस्तिष्कावरणशोथ।

आन्त्रिक ज्वराभ यक्ष्मा।

तीव्र यक्ष्मा (Acute phthisis)—

तीव्र फुफ्फुस शोथ— क०—यक्ष्मजफुफ्फुसपाक (Acute pheumonitis)।

ख०—यक्ष्मज श्वसनिकाशोथ।

तीव्र श्यामाकीय यक्ष्मा।

जीर्ण श्यामाकीय यक्ष्मा।

तीव्र किलाटीय यक्ष्मा।

चिरकालीन यक्ष्मा (Chronic phthisis)।

तान्तवीय यक्ष्मा (Fibroid phthisis)।

फुफ्फुसावरण शोथ—शुष्क तथा सद्रव।

उदरावरण शोथ तथा जलोदर।

यक्ष्मज श्लेष्मलकला विकार (Tuberculosis of m. m.)—

यक्ष्मज आन्त्र विकार।

स्वर यन्त्र विकार।

यक्ष्मज लसग्रन्थियों के विकार :—

ग्रैवेय लसग्रन्थि शोथ।

फुफ्फुसान्तरालीय (Mediastenal)।

आन्त्र निबन्धिनीय (Messentric)।

यक्ष्मज अस्थि विकार—

यक्ष्मज संधि विकार—

इन भेदों में कुछ विकारों का पहले उल्लेख किया जा चुका है। मस्तिष्कावरण, फुफ्फुसावरण एवं अस्थि तथा संधियों के विकारों का स्वतन्त्र रूप से उल्लेख किया जायगा।

तीव्र श्यामाकीय यक्ष्मा—क्षयदण्डाणुओं के व्यापक प्रसार के कारण तीव्र श्यामाकीय यक्ष्मा के रूप में फौफ्फुसीय विकृति उत्पन्न होती है। इस प्रकार का गंभीर रूप बालकों में रोमान्तिका, कुकास एवं इन्फ्लुएञ्जा से पीड़ित होने के बाद उत्पन्न होता है। यक्ष्मा दण्डाणुओं के रक्त द्वारा प्रसारित होने पर तथा शरीर की निर्बलता के कारण इस प्रकार का आक्रमण होता है।

विषमयता के दूसरे लक्षण अधिक नहीं होते। प्रायः प्लीहा-वृद्धि भी कुछ मात्रा में होती है। क्ष. किरण परीक्षा में श्यामाकीय विकृति की विशिष्टता स्पष्ट होती है। ष्ठीवन परीक्षा में यक्ष्मज दण्डाणु मिल सकते हैं। तीव्र स्वरूप के श्यामाकीय आक्रमण की अपेक्षा इसका प्रकोप धीरे-धीरे होता है तथा १–२ मास तक विशेष गम्भीरता के चिह्न नहीं उत्पन्न होते। बाद में रक्तष्ठीवन, ज्वर, स्वेद एवं अत्यधिक क्षीणता के कारण क्षयज व्याधि की ओर ध्यान जाता है। रोग के प्रारम्भ से ही उचित चिकित्सा प्रारम्भ न होने पर ६ मास तक की जीवन-अवधि मानी जाती है।

चिरकालीन यक्ष्मा—दारिद्र्य, हीन भोजन, दूषित जलवायु में निवास, अधिक शारीरिक परिश्रम तथा रोमान्तिका, इन्फ्लुएञ्जा, कुकास, बार-बार गर्भ धारण तथा मधुमेह आदि से उत्पन्न धातु दौर्बल्य के कारण यक्ष्मादण्डाणु से बिन्दूत्क्षेपों द्वारा

उपसृष्ट होने पर इस प्रकार का विकार उत्पन्न होता है। फुफ्फुस के राजयक्ष्मा से पीड़ित होने वाले अधिकांश रोगी इसी श्रेणी के हुआ करते हैं। इसका प्रारम्भ बहुत शनैः शनैः होता है। रोग के प्रारम्भ में मध्यम स्वरूप की शुष्क कास, अग्निमांद्य तथा अनियमित स्वरूप का मन्द ज्वर होता है। कभी-कभी रक्तष्ठीवन या फुफ्फुसावरण-शोथ के लक्षणों के साथ इस व्याधि की अभिव्यक्ति होती है। ज्वर एवं कास के बिना भी पर्याप्त मात्रा में रक्तष्ठीवन होने पर, दूसरे स्पष्ट कारणों के अभाव में, क्षयज विकारों का ही अनुमान करना चाहिये।

सामान्यतया प्रारम्भ में बार-बार प्रतिश्याय के या जीर्ण श्वसनिकाशोथ के लक्षण कुछ काल तक बने रहते हैं। बाद में अकारण दौर्बल्य, शारीरिक भार का क्रमिक ह्रास, अकारण क्षुधानाश, क्षीण एवं त्वरित नाड़ी, रात्रि स्वेद, पाण्डुता तथा अपराह्न या सायंकालीन ताप की कुछ वृद्धि आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। कास प्रारम्भ में शुष्क तथा बाद में रक्तष्ठीवन या पूयष्ठीवन युक्त होती है। ज्वर अहोरात्रि में किसी न किसी समय अवश्य बढ़ता है और रात्रि के अन्तिम प्रहर में प्रस्वेद—विशेषकर पृष्ठ एवं वक्ष पर—के साथ ज्वर की कमी, व्याधि के प्रारम्भ में मन्द ज्वर, आलस्य एवं दुर्बलता के लक्षण रहते हैं। प्रायः सायंकाल बढ़कर प्रातःकाल प्राकृत हो जाता है और कुछ काल बाद संतत स्वरूप का ज्वर हो जाता है। इस प्रकार से ज्वर की वृद्धि या उसका सन्तत स्वरूप होना आन्त्रिक ज्वर में अधिक मिलता है। दूसरे अस्पष्ट लक्षणों की तरफ ध्यान न जाने पर आन्त्रिक ज्वर का ही निदान प्रारम्भ में हुआ करता है। व्याधि की तीव्रावस्था में कालज्वर के समान कम्प के साथ दिन में २ या ३ बार भी ज्वर चढ़-उतर सकता है। कभी-कभी ज्वर सबेरे बढ़ जाता है तथा सायंकाल कम हो जाता है। कास प्रायः शुष्क तथा क्वन्ति ष्ठीवनयुक्त, दन्तचक्रसम श्वसन (Cog-wheel respiration) एवं श्रवण यन्त्र से फुफ्फुस की परीक्षा करने पर सद्रव या शुष्क (Crepitations or Ronchi) अन्तरित निस्वनन की उपलब्धि इसकी प्रारम्भिक अवस्था में होती है। फुफ्फुस शिखर पर दोनों प्रकार के निस्वनों की उपस्थिति तथा दन्त चक्रसम श्वसन इसकी प्रमुख विशेषता होती है। अल्पकाल में ही अधिक कृशता तथा उत्तरोत्तर वर्धमान क्षीणता, श्यावता, श्वासकृच्छ्र एवं रात्रि स्वेद इस अवस्था के महत्वपूर्ण लक्षण होते हैं। रोग का पूर्ण विनिश्चय ष्ठीवन परीक्षा तथा क्ष- किरण परीक्षा के द्वारा हो पाता है।

तीव्र यक्ष्मा—फुफ्फुसपाक के समान इसमें भी विकृति होती है। उपसर्ग का मुख्य अधिष्ठान श्वसनिकाओं में होने पर श्वसनी फुफ्फुसपाक (Bronchial) के साथ तथा फुफ्फुस के एक खण्ड में अधिष्ठान न होने पर खण्डीय (Lobar) विकृति के सदृश लक्षण उत्पन्न होते हैं। फुफ्फुसपाक का स्वाभाविक पारिपाककाल बीतने पर भी लक्षणों में उपशम न स्पष्ट होने तथा रक्तष्ठीवन या पूयमय-ष्ठीवन रात्रिस्वेद आदि

की उपस्थिति, रोगी का अत्यधिक क्षीण होते जाना और ष्ठीवन परीक्षा में क्षयदण्डाणुओं की उपस्थिति होने पर मूल व्याधि का निर्णय होता है।

जीर्ण श्यामाकीय यक्ष्मा—स्त्रियों तथा पुरुषों में समान रूप से प्रायः १० से ३० वर्ष की वय में अधिक प्रकोप, मन्द स्वरूप का ज्वर, कास, श्वासकृच्छ्र, पार्श्वशूल तथा क्वचित रक्तष्ठीवन के लक्षणों के साथ व्याधि की उत्पत्ति होती है। प्रातःकाल सोकर उठने के बाद भी रोगी कुछ क्लान्ति एवं दुर्बलता का अनुभव करता है। ज्वर रहने पर भी रोगी को उसकी तीव्रता या अनुबन्ध का ज्ञान नहीं हो पाता। विश्राम की अवस्था में भी नाड़ी विशेष प्रकार से क्षीण तथा त्वरित गति वाली रहती है।

यक्ष्मज विकृति के परिज्ञान के लिये वक्ष की परीक्षा करनी चाहिये। फुफ्फुस शिखर तथा अक्षकास्थि के नीचे तथा अंसफलक के ऊपरी भाग की श्रवण यन्त्र एवं ताडन परीक्षा द्वारा ध्यानपूर्वक परीक्षा करनी चाहिये। सूक्ष्म आर्द्र ध्वनि (Fine crepitations) तथा श्वसन ध्वनि की क्षीणता या खरता (Roughness) तथा बहिःश्वसन का अपेक्षाकृत दीर्घ होना क्षयज विकृति का परिचायक होता है। फुफ्फुस में धीरे-धीरे संघनन (Consolidation), निपात (Collapse) तथा विवरोत्पत्ति (Cavitation) के स्थायी विकार उत्पन्न होते हैं। फुफ्फुस शिखर तथा अधोखण्ड के ऊपरी भाग में यक्ष्मज विकृति अधिक होती है, यहाँ के विकार के बाद नीचे के खण्ड के निचले भागों में प्रसरित होती है।

क्ष-किरण परीक्षा में विशिष्ट विकृतियों की उपस्थिति, ष्ठीवन परीक्षा में क्षय दण्डाणुओं की उपस्थिति तथा रक्तावसादन गति का बढ़ना इस अवस्था के निर्णायक लक्षण माने जाते हैं।

तान्त्वीय यक्ष्मा—यक्ष्मा के उपसर्ग से उत्पन्न चिरकालीन रूप की तान्त्वीय विकृति प्रायः प्रौढ़ावस्था के रोगियों में मिलती है। व्याधि का बहुत धीरे-धीरे प्रसार होता है तथा फुफ्फुस सिकुड़ कर छोटा हो जाता है।

साधारण ज्वर, जीर्ण स्वरूप का प्रावेगिक कास, क्षुद्र श्वास (थोड़े श्रम से श्वास की वृद्धि), दौर्बल्य तथा शारीरिक क्षीणता के लक्षण इसमें मुख्य रूप से होते हैं। इस विकृति में वक्ष प्राचीर के भीतर दब जाने तथा वक्ष गुहा के अंगों के विकृत पार्श्व की तरफ खिंच जाने का उल्लेख पहले किया जा चुका है। कास का कष्ट प्रायः प्रातःकाल बढ़ता है। कभी-कभी रक्तष्ठीवन के लक्षण भी मिलते हैं। जीर्ण रोगियों में अंगुलि पर्व मुद्गरवत (Clubbed) हो जाते हैं। वातोत्फुल्लता (Emphysema) के चिह्न फुफ्फुस में मिलते हैं। रोगी उत्तरोत्तर क्षीण एवं दुर्बल होता जाता है। ष्ठीवन परीक्षा में यक्ष्मा दण्डाणुओं की उपस्थिति तथा क्ष-किरण परीक्षा में तान्त्वीय परिवर्तनों के आधार पर इसका निर्णय होता है।

श्लेष्मल कला के विकार—स्वरयंत्र के विकार प्रायः फुफ्फुस की विकृति में उत्तरकालीन उपद्रव के रूप में उत्पन्न होते हैं। ष्ठीवन के साथ निकले यक्ष्मा दण्डाणुओं का स्वरयंत्र तथा निकट के अंगों में उपसर्ग हो जाने से स्वर भंग, शुष्क कास तथा विकृति अधिक होने पर स्वर तंत्रिका (Vocal cord) का विनाश होने पर स्वर अस्पष्ट सा या स्वर का नाश हो जाता है। स्वरयंत्र के प्रसेक की परीक्षा में यक्ष्म-दण्डाणु मिलते हैं।

आंत्र की श्लेष्मल कला में यक्ष्मदण्डाणुओं का प्रवेश होने पर स्थानीय कोषाओं का अपजनन हो कर तान्त्वीय धातु उत्पन्न होती है, जिसमें आगे चलकर संकुचित होने की प्रवृत्ति होती है। क्षयज व्रण सम्बद्ध लसग्रन्थियों की वृद्धि तथा आंत्रसंकोच (Stricture) के कारण उदर शूल, प्रवाहिका, आध्मान, मलावरोध एवं ज्वर आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

लसग्रन्थियों के विकार—ग्रीवा की लसग्रन्थियाँ बाल्यावस्था में अधिक विकृत होती हैं। कभी-कभी द्वितीयक उपसर्गों के कारण इनमें पूयोत्पत्ति हो कर विद्रधि का रूप बनता है। विद्रधि के विदीर्ण होने पर नाडी व्रण के समान पूय का संचय तथा स्राव होता रहता है—व्रण जल्दी भरता नहीं। ग्रीवा की सामने के पार्श्वों की ग्रन्थियाँ प्रायः आक्रान्त होकर कण्ठमाला का रूप धारण करती हैं। अनेक ग्रन्थियों के विकृत होने पर उनमें आपस में सम्पृक्त (Motted) होने की प्रवृत्ति होती है।

वक्ष गुहा एवं आंत्र निबद्धिनी की ग्रन्थियों के विकृत होने पर स्थानीय दबाव (Pressure) के लक्षण उत्पन्न होते हैं। शुष्क कास या आध्मान-विबंध आदि लक्षण विकृत ग्रन्थि के अधिष्ठान के आधार पर पैदा होते हैं। ऊपर यक्ष्मा दण्डाणु के अधिष्ठान भेद से उत्पन्न होने वाले विशिष्ट लक्षणों का उल्लेख किया गया है। कुछ लक्षण स्थानीय विकृति के कारण, कुछ विकृति जन्य लसग्रन्थिवृद्धि या शोथ के कारण प्रत्यावर्तित (Reflex) रूप में तथा कुछ दण्डाणु के विष के परिणाम से उत्पन्न होते हैं। फुफ्फुस में क्षयज विकृति होने पर ष्ठीवनयुक्त कास, रक्तष्ठीवन एवं फुफ्फुसावरणशोथ के लक्षण स्थानीय परिणामों के रूप में; शुष्क कास, पार्श्वशूल, स्कन्ध वेदना तथा स्वरयंत्रक्षोभ के लक्षण प्रत्यावर्तित (Reflex) परिणामों के रूप में और ज्वर, अवसाद, बल-मांस परिक्षय, क्षीण-त्वरित नाडी आदि लक्षण जीवाणुओं के विषाक्त परिणामों से उत्पन्न होते हैं।

अब यक्ष्मा के प्रधान लक्षणों का उनकी विशेषताओं के साथ उल्लेख किया जाता है।

कास—श्यामाकीय यक्ष्मा में कास बहुत कम, श्वसिनी या फुफ्फुसावरण के मूल केन्द्र से उपसर्ग का प्रसार फुफ्फुस में होने पर प्रायः शुष्क—ष्ठीवन रहित—देर तक वेगपूर्वक आने वाली तथा स्वरयंत्र के विकार में कास कांस्यस्वर के समान तथा गले में वेदना के साथ आती है। किलाटीय यक्ष्मा में गाढ़ा-चिपचिपा श्लेष्मा बहुत खाँसने

पर कठिनाई से निकलता है तथा कभी-कभी वमन भी साथ में हो जाता है। ज्वर के बढ़ने पर प्रायः कास का कष्ट भी बढ़ जाता है।

ष्ठीवन—यक्ष्मा की प्रारम्भिक स्थिति में ष्ठीवन प्रायः नहीं रहता। तान्त्वीय विकार में भीतरी अंगों में अधिक विकृति होने पर भी ष्ठीवन रहित ही कास होती है। किलाटीय यक्ष्मा में द्वितीयक उपसर्ग हो जाने पर श्लेष्मा पीले रंग का जमा हुआ सा बहुत अधिक मात्रा में—२०—२४ औंस तक—निकलता है। ष्ठीवन में मिले हुए सरसों के बराबर किलाट के असंख्य छोटे-छोटे टुकड़े मिले रहते हैं। ष्ठीवन में विशेष प्रकार की गंध होती है, जिसका रोगी भी अनुभव करता है। श्वास नलिका विस्फार (Bronchiectasis) का उपद्रव होने पर पूति गन्ध युक्त ष्ठीवन होता है।

श्वासकृच्छ्र—अल्प मात्रा में श्वासकृच्छ्र महाप्राचीरापेशी (Diaphragm) के कार्य में बाधा होने से उत्पन्न होता है। सद्रव फुफ्फुसावरणशोथ में एक पार्श्व के कार्य न करने के कारण श्वासकृच्छ्र होता है। श्यामाकीय यक्ष्मा में फुफ्फुस कोशाओं का अधिक मात्रा में नाश होने से तथा तान्त्वीय यक्ष्मा में फुफ्फुस के बहुत अंश के निष्क्रिय हो जाने के कारण श्वासकृच्छ्र होता है।

पार्श्वशूल—मुख्य रूप से यह रूक्ष शुष्क फुफ्फुसावरण शोथ के कारण होता है। जीर्ण तान्त्वीय यक्ष्मा में मन्द स्वरूप का पार्श्वशूल, प्रायः वर्षा या आर्द्र जलवायु की स्थिति में बढ़ा करता है। वातोरस (Pneumothorax) का उपद्रव हो जाने पर तीव्र वेदना एवं बेचैनी के साथ पार्श्वशूल होता है।

रक्तष्ठीवन—प्रायः ५०% रोगियों में यह लक्षण मिलता है। प्रारम्भ में ष्ठीवन के साथ पतली लकीर के रूप में रक्त लगा सा आता है, किन्तु जीर्ण स्वरूप के विकार में अधिक मात्रा में रक्त निकलता है। तीव्र किलाटीय यक्ष्मा में भी पर्याप्त मात्रा में रक्तष्ठीवन होता है। रक्तष्ठीवन के पूर्व रोगी को मुख में नमकीन सा स्वाद प्रतीत होता है और उसके बाद रक्त मुंह भर-भर कर आ सकता है। प्रारंभ में रक्त वर्ण का फेनिल तथा बाद में जमा हुए टुकड़ों के साथ कुछ कृष्णरूप का होता है। रक्त स्राव के वेग का शमन होने के बाद भी कई दिनों तक कृष्ण वर्ण का रक्त ष्ठीवन में मिलकर आ सकता है। एक बार में अधिक मात्रा में ष्ठीवन के साथ रक्त का उत्सर्ग प्रायः यक्ष्मा का ही परिणाम माना जाता है।

ज्वर—यक्ष्मा का यह सर्वप्रधान लक्षण है। विषमयता के लक्षणों की कमी होने पर काफी दिनों से ज्वरानुबंध रहने पर भी रोगी को दुर्बलता के अतिरिक्त किसी लक्षण का आभास नहीं होता। शारीरिक एवं मानसिक श्रम के कारण ज्वर की आनुपातिक वृद्धि होती है। बिना किसी स्पष्ट कारण के ज्वर की अपराह्न या सायंकाल की वृद्धि, क्वचित् हल्की फुरफुरी के साथ एवं नेत्रों में जलन तथा हस्त-पाद तल में दाह के साथ ज्वर की उत्पत्ति यक्ष्मा के द्वारा ही होती है। तीव्र स्वरूप की विकृतियों के अलावा प्रारम्भ

पर कठिनाई से निकलता है तथा कभी-कभी वमन भी साथ में हो जाता है। ज्वर के बढ़ने पर प्रायः कास का कष्ट भी बढ़ जाता है।

ष्ठीवन—यक्ष्मा की प्रारम्भिक स्थिति में ष्ठीवन प्रायः नहीं रहता। तान्त्वीय विकार में भीतरी अंगों में अधिक विकृति होने पर भी ष्ठीवन रहित ही कास होती है। किलाटीय यक्ष्मा में द्वितीयक उपसर्ग हो जाने पर श्लेष्मा पीले रंग का जमा हुआ सा बहुत अधिक मात्रा में—२०—२४ औंस तक—निकलता है। ष्ठीवन में मिले हुए सरसों के बराबर किलाट के असंख्य छोटे-छोटे टुकड़े मिले रहते हैं। ष्ठीवन में विशेष प्रकार की गंध होती है, जिसका रोगी भी अनुभव करता है। श्वास नलिका विस्फार (Bronchiectasis) का उपद्रव होने पर पूति गन्ध युक्त ष्ठीवन होता है।

श्वासकृच्छ्र—अल्प मात्रा में श्वासकृच्छ्र महाप्राचीरापेशी (Diaphragm) के कार्य में बाधा होने से उत्पन्न होता है। सद्रव फुफ्फुसावरणशोथ में एक पार्श्व के कार्य न करने के कारण श्वासकृच्छ्र होता है। श्यामाकीय यक्ष्मा में फुफ्फुस कोषाओं का अधिक मात्रा में नाश होने से तथा तान्त्वीय यक्ष्मा में फुफ्फुस के बहुत अंश के निष्क्रिय हो जाने के कारण श्वासकृच्छ्र होता है।

पार्श्वशूल—सूक्ष्म रूप से यह तन्तु शुष्क फुफ्फुसावरण शोथ के कारण होता है। जीर्ण तान्त्वीय यक्ष्मा में मन्द स्वरूप का पार्श्वशूल, प्रायः वर्षा या आर्द्र जलवायु की स्थिति में बढ़ा करता है। वातोरस (Pneumothorax) का उपद्रव हो जाने पर तीव्र वेदना एवं बेचैनी के साथ पार्श्वशूल होता है।

रक्तष्ठीवन—प्रायः ५०% रोगियों में यह लक्षण मिलता है। प्रारम्भ में ष्ठीवन के साथ पतली लकीर के रूप में रक्त लगा सा आता है, किन्तु जीर्ण स्वरूप के विकार में अधिक मात्रा में रक्त निकलता है। तीव्र किलाटीय यक्ष्मा में भी पर्याप्त मात्रा में रक्तष्ठीवन होता है। रक्तष्ठीवन के पूर्व रोगी को मुख में नमकीन सा स्वाद प्रतीत होता है और उसके बाद रक्त मुंह भर-भर कर आ सकता है। प्रारंभ में रक्त वर्ण का फेनिल तथा बाद में जमा हुए टुकड़ों के साथ कुछ कृष्णरूप का होता है। रक्त स्राव के वेग का शमन होने के बाद भी कई दिनों तक कृष्ण वर्ण का रक्त ष्ठीवन में मिलकर आ सकता है। एक बार में अधिक मात्रा में ष्ठीवन के साथ रक्त का उत्सर्ग प्रायः यक्ष्मा का ही परिणाम माना जाता है।

ज्वर—यक्ष्मा का यह सर्वप्रधान लक्षण है। विषमयता के लक्षणों की कमी होने पर काफी दिनों से ज्वरानुबंध रहने पर भी रोगी को दुर्बलता के अतिरिक्त किसी लक्षण का आभास नहीं होता। शारीरिक एवं मानसिक श्रम के कारण ज्वर की आनुपातिक वृद्धि होती है। बिना किसी स्पष्ट कारण के ज्वर की अपराह्न या सायंकाल की वृद्धि, क्वचित् हल्की फुरफुरी के साथ एवं नेत्रों में जलन तथा हस्त-पाद तल में दाह के साथ ज्वर की उत्पत्ति यक्ष्मा के द्वारा ही होती है। तीव्र स्वरूप की विकृतियों के अलावा प्रारम्भ

केन्द्रीय श्वेतकायाणुओं में १ या २ न्यष्ठीलाकोष्ठों (Nuclear lobes) का अधिक मिलना क्षयज उपसर्ग का परिचायक माना जाता है। रक्तावसादन-गति की वृद्धि से व्याधि की सक्रियता के अनुमान तथा निदान में सहायता मिलती है।

संवर्द्धन परीक्षा (Culture)—ष्ठीवन, उरस्तोय या सुषुम्नाद्रव आदि स्रावों की सूक्ष्म परीक्षा करने के अतिरिक्त प्राणि संवर्द्ध के द्वारा यक्ष्मा दण्डाणु की उपस्थिति का परिज्ञान किया जाता है।

क्ष. किरण परीक्षा (XRay)—फौफ्फुसीय यक्ष्मा में इस परीक्षा का विशेष महत्त्व होता है। दूसरे यक्ष्मजविकारों में भी पर्याप्त सहायता मिलती है। सामूहिक क्ष. किरण परीक्षा के द्वारा अस्पष्ट व्याधि के असंख्य रोगियों में क्षयज कारणता सिद्ध हुई है। अर्थात् बहुत से स्वस्थ से दिखलाई पड़नेवाले यक्ष्मा के रोगी होते हैं, जिनका दूसरी परीक्षाओं द्वारा निर्णय नहीं हो पाता। थोड़ा भी संदेह होने पर इसका उपयोग अवश्य करना चाहिए।

ट्युबरकुलीन कसौटी (Tuberculin test)—वयस्कों में व्याधि के निदान की दृष्टि से इसका विशेष महत्त्व नहीं है। क्योंकि इसका आधार यक्ष्मा दण्डाणु की अल्पमात्रा के उपसर्ग से उत्पन्न सूक्ष्म संवेदनता होती है। व्यापक परीक्षणों द्वारा बाल्यावस्था में अधिकांश बालकों में यक्ष्मा के सूक्ष्म संक्रमण के परिणाम मिले हैं। छोटे बालकों में व्याधि प्रतिषेधार्थ मसूरी का प्रयोग करने के पूर्व इस प्रकार के परीक्षण की आवश्यकता होती है।

सापेक्ष निदान—

यक्ष्मा के अधिष्ठान, तीव्रता एवं उपस्थित विशिष्ट लक्षणों के आधार पर सापेक्ष निदान होता है। जीर्ण विषमज्वर, कालज्वर, श्लीपदीय फुफ्फुस विकृति, उषसिप्रियता (Eosinophilia), हृदय के विकार, अवटुका विषमयता (Thyrotoxicosis) आदि असंख्य व्याधियों से यक्ष्मा का पार्थक्य करना पड़ता है। प्रारम्भिक स्थिति में लक्षणों के आधार पर ही निदान करना होता है—विशिष्ट चिह्न तथा प्रायोगिक परीक्षाओं से विशेष सहायता नहीं मिल पाती। बहुत बार लक्षणों के स्पष्ट कारण के अभाव में क्षयज निदान स्वीकार किया जाता है। बार-बार प्रतिश्याय, जीर्णकास, जीर्णज्वर, रक्तष्ठीवन, त्वरितनाडी, अग्निमांद्य, बल एवं मांस का परिक्षय आदि लक्षणों का स्पष्ट कारण न सिद्ध होने पर यक्ष्मा का सन्देह किया जाता है, चाहे यक्ष्मा के निर्णायक लक्षण या चिह्न अनुपस्थित ही क्यों न हों। सन्देह होने पर कुछ समय तक रोगी को पूर्ण विश्राम देकर ज्वर, नाडी आदि का अनुसन्धानपूर्वक परीक्षण करना चाहिए। जब तक यक्ष्मा की अनुपस्थिति के स्पष्ट प्रमाण न मिल जायें, इस श्रेणी के रोगियों में क्षय-विरोधी सामान्य प्रतिकार प्रारम्भ कर देना चाहिए।

रोग विनिश्चय—

ऊपर वर्णित लक्षणों के साथ रक्तावसादन गति की वृद्धि, लस ग्रन्थियों की संपृक्त स्वरूप की वृद्धि, वर्धमान स्वरूप का बल-मांसक्षय, ज्वर-कास-रक्तष्ठीवन, पार्श्वशूल आदि लक्षणों का अनुबन्ध, फुफ्फुसशिखर या उसके किसी खण्ड में स्थिर स्वरूप का सूक्ष्म आर्द्र स्वन (Fine crepitations), संघनता, विवरादि के भौतिक चिह्नों की उपलब्धि, कुलज इतिवृत्त, हीनभोजन-अतिव्यायाम-अस्वास्थ्यकर आवासों में निवास का इतिहास, क्षीणता के कारण दूसरी व्याधियों का अनुबन्ध आदि के आधार पर यक्ष्मा का आनुमानिक निदान किया जाता है। ष्ठीवन परीक्षा में यक्ष्मादण्डाणुओं की उपलब्धि या किसी दूसरे निर्यास (Exudate) की परीक्षा में इनकी उपस्थिति का ज्ञान होने पर असन्दिग्ध निदान होता है। किरण परीक्षा से रोग विनिश्चय में बहुत सहायता मिलती है। ट्यूबरकुलीन परीक्षा द्वारा बालकों के विकार में कुछ सहायता मिल सकती है।

उपद्रव—

रक्तष्ठीवन, स्वरघात, पूययुक्त फुफ्फुसावरणशोथ आदि यक्ष्मा के लक्षण या साक्षात् परिणाम भी अधिक उग्ररूप के होने पर उपद्रववत ही माने जाते हैं। उदरावरणशोथ, मस्तिष्कावरणशोथ, सन्धियों एवं अस्थियों आदि अङ्गों के क्षयमूलक विकार, भगन्दर, उन्माद, प्रलेपक (Hectic) ज्वर, वातोरस (Pneumothorax), तन्तूत्कर्ष (Fibrosis), श्वासकृच्छ्र एवं यक्ष्मज विद्रधि (Cold abscess) आदि अनेक उपद्रव एवं अनुगामी विकार यक्ष्मा के जीर्ण रूप में उत्पन्न होते हैं।

साध्यासाध्यता—

व्याधि की प्रारम्भिक अवस्था में निदान, उचित व्यवस्था का प्रारम्भ से पर्याप्त समय तक प्रयोग, पूर्ण विश्राम, निश्चिन्त जीवन, पोषक आहार, शुद्ध जलवायु एवं खुले वातावरण में निवास, दृढ़ एवं आशावान-मनोबल, सुलभ आर्थिक साधन, मनोनुकूल प्रीतिकारक कौटुम्बिक जीवन एवं उपद्रवों का अभाव आदि से यक्ष्मा की सुखसाध्यता बढ़ती है। श्यामाकीय यक्ष्मा, तीव्रस्वरूप के किलाटीय विकार, यक्ष्मज फुफ्फुसपाक एवं मस्तिष्कावरणशोथ आदि प्रकृत्या असाध्य होते हैं।

इस व्याधि की साध्यता सर्वसाधन सम्पन्न चिकित्सा के आरम्भ से ही प्रयोग से होती है। १ वर्ष तक पूर्णविश्राम आदि के साथ औषध का प्रयोग बाद में १ वर्ष तक विश्राम एवं पोषक आहार-विहार का सेवन करते हुए उचित निरीक्षण तथा अन्त में तीसरे वर्ष प्रतिबंध के साथ क्रमिक रूप में थोड़े-थोड़े समय के लिए सक्रिय जीवन का अभ्यास और अधिक से अधिक ब्रह्मचर्य का पालन करने से यक्ष्मा साध्य होता है।

पूर्ण विश्राम करने पर भी नाड़ी की क्षीणता एवं तीव्रगति में परिवर्तन न होने, फुफ्फुस के अधिकांश भाग के यक्ष्माक्रान्त होने, पोषक आहार का सेवन करने पर भी शारीरिक भार की वृद्धि न होने तथा मधुमेह आदि धातुक्षयकारक व्याधियों की सह-उपस्थिति, रक्तावसादनगति की अधिक वृद्धि, अधिक रक्तष्ठीवन, श्वासकृच्छ्र एवं श्यावता (Cynosis) की अधिकता, क्षुधानाश, अतिसार एवं जलोदर तथा शोफ आदि की उपस्थिति में यक्ष्मा की असाध्यता बढ़ती है।

सामान्य चिकित्सा—

यक्ष्मा में सामान्य चिकित्सा का विशिष्ट महत्त्व होता है। कुछ नवीन प्रभावकारी ओषधियों के प्रभाव के पूर्व इस व्याधि का मुख्य उपचार कुछ नहीं था। केवल सामान्य उपक्रमों का धैर्यपूर्वक दीर्घकाल तक पालन करने से लाभ होता था। रोगमुक्ति एवं व्याधि प्रतिषेध दोनों उद्देश्यों की सिद्धि के लिये आहार-विहार इत्यादि का निर्णय करने के लिये निम्नलिखित विशेषताओं पर ध्यान रखना चाहिये।

आरोग्यशालाओं में निवास—इस प्रकार के निवासस्थान रूक्ष एवं शीतजलवायु वाले मनोरम पर्वतीय स्थलों में बनाये जाते हैं। जलवायु, स्थानीय दृश्य, प्राकृतिक जीवन एवं उन्मुक्त वातावरण के कारण इन स्थानों में निवास करने पर रोग में पर्याप्त लाभ होता है। रोगी का जीवन नियमित हो जाता है। घरों में स्वस्थ्य व्यक्तियों के बीच में निष्क्रिय से पड़े रहने के कारण हीनता की भावना उत्पन्न होती है। किन्तु क्षय आरोग्यशालाओं में रहने पर सभी सहवासियों के एक रोग से पीड़ित होने के कारण हीनता एवं दुश्चिन्ता का भाव नहीं उत्पन्न होता और समान व्याधि, आहार-विहार, विश्राम तथा मनोविनोद के लिये नियत समय पर समानरूप से अवसर मिलने के कारण सभी के प्रति एकात्मता एवं सहजभाव जागृत होता है। 'केवल हमी अकेले रोगपीड़ित नहीं हैं' यह विचार रोगी के मनोबल को बढ़ाने में सहायक होता है। इन विशेषताओं के कारण प्रारम्भिक स्थिति में साधन सम्पन्न व्यक्तियों के लिये स्थानपरिवर्तन ऐसी शालाओं में होना चाहिये। ऐसा सम्भव न होने पर नजदीक के खुले स्थान में प्रकाश एवं वायु के निर्बाध प्रवेशयुक्त निवास की व्यवस्था करनी चाहिये। नदी के बीच में नौका पर, जंगलों के रूक्ष एवं उन्मुक्त वातावरण में, समुद्र के किनारे आदि स्थानों का सुविधानुसार उपयोग किया जा सकता है। सूर्य की किरणों से यक्ष्मा दण्डाणुओं का बहुत शीघ्र विनाश हो जाता है। स्वच्छ एवं उन्मुक्त वायु के कारण रोगी की श्वसनिकाओं में प्राण सञ्चार सम्यक् होने पर दण्डाणुओं के वर्धन के लिये अनुकूल अवसर नहीं मिल पाता। इस प्रकार के आवासों में रोगी की चिकित्सा विशेषज्ञों की देख-रेख में सुविधापूर्वक की जा सकती है। आवश्यक शल्योपचार के लिये भी आवश्यकता होते ही उचित व्यवस्था ऐसे स्थानों में हो सकती है। स्वास्थ्यकर जलवायु, नियमित विश्राम, सन्तुलित आहार एवं संयम-नियम के दूसरे साधनों के नैत्यिक अभ्यास के कारण रोगी

को इनकी आदत सी पड़ जाती है। विश्रामशालाओं से घर वापस आने पर भी हितकर व्यवस्था का पालन रोगी करता रहता है। वृक्क एवं आन्त्र के विकार, श्वसनी फुफ्फुस-पाक, श्वास आदि विकारों के साथ यक्ष्मा से ग्रस्त होने पर पर्वतीय आरोग्यशालाओं में रोगी को न भेजकर समुद्री जलवायुवाले स्थानों में भेजना चाहिये। अस्थि-सन्धि तथा लस ग्रन्थियों के यक्ष्मज विकारों में भी समुद्री जलवायु विशेष हितकारक होता है।

विश्राम—रोग की सक्रिय अवस्था में यक्ष्मादण्डाणु का विष शरीर में ज्वर की उत्पत्ति किया करता है। प्रारम्भिक दिनों में ज्वर प्रकोपकाल में पूर्ण विश्राम करने से शरीर में मसूरी प्रयोग के समान रोगक्षमता उत्पन्न होती है। इसलिये ज्वरानुबन्ध काल पर्यन्त रोगी को शय्या पर पूर्ण विश्राम करना चाहिये। पूर्ण विश्राम का तात्पर्य शिथिल शरीर से शय्या पर लेटकर विश्राम करना समझना चाहिये। मलमूत्र के उत्सर्ग के लिये भी रोगी को उठना न चाहिये। कुछ समय के बाद नाड़ी के स्वाभाविक रहने पर रोगी को धीरे-धीरे बैठने या बैठकर विश्राम करने अथवा घूमने, टहलने की अनुमति दी जा सकती है। जिस क्रिया के करने से नाड़ी-गति में वृद्धि या ताप की वृद्धि हो, उन क्रियाओं को न करना या बहुत धीरे-धीरे करना चाहिये।

मानसिक सन्तुलन—यक्ष्मा में रोगी की मानसिक स्थिति का उसकी व्याधि पर सर्वाधिक व्यापक प्रभाव पड़ा करता है। विश्वास, लगन एवं उत्साह के साथ ओषधियों का सेवन एवं दूसरे संयमों का पालन करने से रोगियों को विशेष लाभ होता है। मनोनुकूल वातावरण, सुन्दर दृश्य, शान्त जीवन आदि का प्रभाव रोगमुक्ति में बहुत सहायक होता है।

आहार—इस व्याधि का मुख्य लक्षण शारीरिक धातुओं का क्रमिक क्षय माना जाता है। इसलिये इसमें आहार की विशेष महत्ता होती है। रोगी की दैनिक आवश्य-कताओं की अपेक्षा अधिक पोषण वाला आहार देना चाहिये। मक्खन, घी, दूध, अण्डा, मांस आदि पोषक आहार के मूल द्रव्य माने जाते हैं। यक्ष्मा के रोगियों में उनकी पुष्टि के लिये मत्स्य तैल (Fish liver oils), माल्ट, ताजे फल आदि का यथेष्ट प्रयोग करना चाहिये। जीवतिक्ति के योग, कैलसियम के योग तथा अजाक्षीर का इस रोग के प्रतिकार में महत्त्वपूर्ण स्थान है। रोगी की पाचन शक्ति के आधार पर इनका पर्याप्तमात्रा में प्रयोग कराना चाहिये।

आचार-विचार—थूकने के लिये चौड़े मुख वाला ढक्कनदार पात्र २० प्रतिशत कार्बोलिक एसिड के घोल से भरा प्रयोग में लेना चाहिये तथा ष्ठीवन की शुद्धि आग में जलाकर या कार्बोलिक अम्ल के घोल में २० मिनट उबालकर करनी चाहिये। खाँसते-छींकते समय मुख के आगे साफ कपड़े लगा रखना चाहिये। सम्भव होने पर इन कपड़ों को जला देना चाहिये। वमन में भी यक्ष्मादण्डाणु की उपस्थिति सम्भव है,

मल एवं मूत्र में भी इनका उपसर्ग हो सकता है, इसलिये इनके शोधन का भी समुचित विचार रखना चाहिये। अपने जूठे बर्तनों का छोटे बालकों या अन्य प्राणियों को प्रयोग न करने देना चाहिये। रोगी के साथ किसी दूसरे व्यक्ति को एक शय्या पर न सुलाना चाहिये। कमरे की सफाई, फिनायल-डिटाल या दूसरे जीवाणु नाशक औषधियों के घोल से करनी चाहिये। गुग्गुल, लोहबान, सफेद चन्दन, देवदारु एवं नीम की पत्ती को आग में जलाकर प्रातः-सायं धूपन करना चाहिये।

ओषधि चिकित्सा—

मुख्य ओषधियाँ—स्ट्रेप्टोमाइसिन, पैरा एमिनो सैलिसिलिकएसिड, आइसोनियाजाइड—यह सर्वाधिक प्रयुक्त होनेवाली यक्ष्मानाशक उपयोगी ओषधियाँ हैं। टायरोथ्राइसिन, निओमाइसिन, वायोसैमी कार्बाजोन वर्ग की ओषधियाँ यक्ष्माशामक गुण युक्त होने पर भी विपाक्त परिणामों की प्रचुरता के कारण ज्यादा प्रयोग में नहीं आतीं। इन ओषधियों का विस्तृत वर्णन (पृ० ३८८ व ४१८ में) किया गया है। यहाँ पर यक्ष्मा की दृष्टि से इनकी विशिष्ट उपयोगिता का निर्देश किया जायगा।

स्ट्रेप्टोमाइसिन—(Streptomycin)—इसके सल्फेट, हाइड्रोक्लोराइड, तथा डाइ हाइड्रो स्ट्रेप्टोमाइसिन अनेक रासायनिक लवण मिलते हैं। इसके अनुसन्धान के प्रारम्भिक दिनों में प्रायः ४ ग्राम दैनिक मात्रा में प्रयोग होता था जिससे श्रवण नाड़ी तथा श्रवकुल्या (Coclea) पर हानिकारक प्रभाव पड़ने के कारण बधिरता-कर्णनाद एवं चक्कर आदि अनेक दुष्परिणाम उत्पन्न होते थे। किन्तु अब पूर्वापेक्षा कम मात्रा में उपयोग करने के कारण बहुत असहनशील व्यक्तियों को छोड़कर हानिकारक परिणाम प्रायः नहीं दिखाई पड़ते। मूल औषध का अनेक रासायनिक लवणों को मिलाकर प्रयोग करने से गुण मूल औषध का होता है तथा प्रत्येक रासायनिक लवण के स्वल्प मात्रा में होने के कारण किसी का विपाक्त परिणाम नहीं होता। इस अनुभव के आधार पर आजकल स्वतन्त्र रूप में स्ट्रेप्टोमाइसिन का प्रयोग न कर स्ट्रेप्टोमाइसिन तथा डाइहाइड्रोस्ट्रेप्टोमाइसिन के सम्मिलित योगों का व्यवहार अधिक किया जाता है। ऐम्बिस्ट्रिन (Ambistryn), डुप्लोमाइसिन (Duplomycin), कोमाइसिन (Comycin), आदि संयुक्त वर्ग के उदाहरण हैं।

यक्ष्मा के कारण उत्पन्न विकृति के केन्द्रीय भाग में रक्तप्रवाह के न होने का उल्लेख पहले किया जा चुका है। स्ट्रेप्टोमाइसिन का प्रभाव मुख्य रूप से रक्त के माध्यम से ही होता है। इसलिये अधिक मात्रा में किलाटों का संचय (Mass Caseation) या बड़े-बड़े विवर (Big cavities) होने पर इसका उचित मात्रा में संकेन्द्रण उन स्थानों में नहीं हो पाता। इसलिये व्याधि की प्रारम्भिक अवस्था में स्ट्रेप्टोमाइसिन से जितना लाभ होता है, जीर्णावस्था में उतना नहीं हो पाता। मस्तिष्क सुषुम्ना द्रव में भी यह अल्प मात्रा में ही प्रविष्ट हो पाती है। यक्ष्मा की निम्नलिखित तीव्र अवस्थाओं में

स्ट्रेप्टोमाइसिन के प्रयोग से विशेष लाभ होता है—तीव्र श्यामाकीय यक्ष्मा (Acute miliary tuberculosis), यक्ष्मज श्वसनी फुफ्फुस पाक (Tubercular broncho-pneumonia), क्षयज फुफ्फुस शोथ (Tubercular pneumonitis) में अधिक लाभ होता है। क्षयज स्वरयन्त्रशोथ (Tubercular laryngitis), क्षयज मस्तिष्कावरण शोथ (Tubercular menringitis), क्षयज प्रसनिकाशोथ Tubercular pharyngitis), क्षयज लसग्रन्थियों की वृद्धि (Lymphadenitis) तथा दूसरे क्षयज जीर्ण स्वरूप के विकारों में कम लाभ होता है। क्षयज दण्डाणु बहुत शीघ्र इस ओषधि के प्रति सहनशील हो जाते हैं। दूसरी क्षयनाशक ओषधियों के सहयोग के बिना इसका प्रयोग करने पर व्याधि के पुनरावर्तन की सम्भावना अधिक रहती है। कम से कम २-३ माह तक निरन्तर सूचीवेध द्वारा इसका प्रयोग करना आवश्यक होता है। स्वरयंत्र प्रसनिका एवं श्वसनिकाओं के क्षयज विकारों में १ ग्राम स्ट्रेप्टोमाइसिन को २०-४० सी० सी० समलवण जल में घोलकर इन अङ्गों पर स्प्रे (Spray) के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। बृहदन्त्र के क्षयज विकारों में इसके घोल का प्रयोग अनुवासन वस्ति के रूप में किया जाता है। क्षयज मस्तिष्क सुषुम्ना ज्वर में कटिवेध करने के बाद ५०-१०० मि० ग्रा० की मात्रा में २० सी० सी० समलवण जल में घोलकर कभी-कभी प्रयोग करने से लाभ देखा गया है। मुख्य रूप से पेशी मार्ग द्वारा ही इसका प्रयोग किया जाता है। ओषधि का प्रयोग प्रारम्भ करने पर कम से कम दस पन्द्रह दिन तक १ या ½ ग्राम दिन में २ बार प्रयोग करना चाहिये। इसके बाद ४०-५० दिन तक एक ग्राम प्रति दिन देना चाहिये और अन्त में १½-२ माह तक सप्ताह में २ बार १-१ ग्राम स्ट्रेप्टोमाइसिन का सूचीवेध देना चाहिये।

पैरा एमिनो सैलिसिलिक एसिड (Para amino salicylic acid) :— इस ओषधि के प्रयोग से यक्ष्मा दण्डाणु का प्रसार अवरुद्ध हो जाता है उसके जीवन के लिये आवश्यक तत्त्वों का इसक प्रयोग से अभाव हो जाता है। अर्थात् यह यक्ष्मा दण्डाणुओं का विनाश नहीं करती किन्तु उनके जीवन एवं संवर्धन के प्रतिकूल वातावरण उपस्थित करती है। इसका प्रभाव कुछ काल के बाद स्पष्ट होता है, किन्तु यक्ष्मा दण्डाणु इसके प्रति क्षमता नहीं उत्पन्न कर पाते। इस दृष्टि से विलम्ब से कार्यशील होने पर भी पी. ए. एस. स्ट्रेप्टोमाइसिन की अपेक्षा अधिक उपकारक ओषधि मानी जाती है। इसका मुख्य प्रयोग मुख द्वारा किया जाता है। प्रयोग के बाद आँतों से शीघ्र इसका प्रचूषण हो कर रक्त में प्रवेश हो जाता है। किन्तु ४-५ घण्टे बाद ही इसका उत्सर्ग भी हो जाता है। इस कारण पर्याप्त मात्रा में बार-बार पी० ए० एस का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। इसमें सोडियम के लवण रक्त में पूर्णता के साथ प्रचूषित होते हैं किन्तु उनके प्रयोग से विषाक्तता के लक्षण—हृल्लास, वमन, प्रवाहिका, रक्तमूत्रता आदि—अधिक उत्पन्न होते हैं। कैलसियम के लवणों का प्रचूषण कम मात्रा में होने

पर भी विषाक्तता के परिणामों की न्यूनता होने से अधिक सात्म्य होते हैं। १२-२४ ग्राम की दैनिक मात्रा में कम से कम ६ मास तक इनका प्रयोग कराना चाहिये। सिरा-मार्ग, पेशीमार्ग एवं कटिवेध के द्वारा प्रयुक्त होने वाले इसके योग भी आते हैं, किन्तु मुख द्वारा प्रयोग सम्भव न होने पर ही दूसरे मार्गों का सहारा लेना चाहिये। दीर्घ काल तक इनका प्रयोग करने पर कभी कभी वृक्क में इनके स्फटिकों (Crystals) का संचय या रक्त में पूर्व घनास्रि (Prothrombin) की कमी हो जाती है। व्याव-हारिक रूप में इस प्रकार के उपद्रव बहुत कम मिलते हैं। मूत्राघात या मूत्र में रक्त की उपस्थिति से इनका अनुमान किया जा सकता है। यक्ष्मा में प्रयुक्त होनेवाली दूसरी ओषधियों के साथ इसका प्रयोग करने से कम मात्रा में भी देने पर लाभकारी परिणाम होते हैं।

आइसोनियाजिड (Isoniazid or Isonicotinic acid hydrazide)—यक्ष्मा में प्रयुक्त होनेवाली सर्वसुलभ एवं व्यापक प्रभाववाली ओषध है। इसका मुख्य प्रयोग मुख द्वारा किया जाता है, किन्तु पेशी या सिरा मार्ग से भी आवश्यक होने पर उपयोग होता है। मस्तिष्कावरणशोथ तथा श्यामाकीय यक्ष्मा एवं तीव्रावस्था के दूसरे क्षयज विकारों में इसके प्रयोग से पर्याप्त लाभ होता है। इसके सेवन से क्षुधावृद्धि, आहार की वृद्धि तथा रोगी के अवसाद के लक्षणों का निराकरण होता है। २-३ माह प्रयोग के बाद शारीरिक दृष्टि से पुष्टता, सबलता तथा मानसिक स्थिरता के लक्षण उत्पन्न होते हैं। कभी कभी इसके सेवन से हृत्स्पन्द, सिर में दर्द, गरमी या चक्कर तथा हाथ-पैरों में जलन होती है। प्रायः इसका प्रयोग स्ट्रेप्टोमाइसिन एवं पी० ए० एस० के साथ संयुक्त रूप में किया जाता है। यक्ष्मादण्डाणु इस ओषधि के प्रति शीघ्र सहन-शीलता उत्पन्न कर लेते हैं।

कुछ दिनों से नियाजिड का उत्पादन पैरा अमिनो सैलिसिलिक एसिड के सहयोग से किया जाने लगा है। जीर्ण रोगियों में जहाँ पर नियाजिड (I. N. H.) के प्रयोग से सफलता न मिल रही हो इस वर्ग की ओषधियों के प्रयोग से लाभ होता है। निम्नलिखित इस वर्ग की प्रमुख प्रतिनिधि ओषधियाँ हैं—

एनाजिड (Anazid), आइसोपार (Isopar), सैलिनेजिड (Salynazid) आदि इस वर्ग की प्रमुख औषधियाँ है। ६०० मि० ग्रा० की दैनिक मात्रा में इनका प्रयोग स्ट्रेप्टोमायसीन के साथ किया जाता है। स्वल्प मात्रा में प्रयुक्त होने के कारण व्यवहार में सुविधाजनक होती है—कोई विषाक्त परिणाम भी नहीं होता। यक्ष्मा प्रतिकारक शक्ति की दृष्टि से यह मध्यम बलवाली ओषध है। जीर्ण स्वरूप के विकारों में लसग्रन्थि विकार, आंत्रगत यक्ष्मा, अस्थि एवं सन्धिक्षय एवं तान्त्वीयक्षय में इसका मुख्य प्रयोग किया जाता है।

फायटेबीन २७२ (Phyteben 272)—निकोटिनिक एसिड वर्ग की यह भी औषध है। अभी थोड़े दिनों से ही इसका प्रयोग हो रहा है। दूसरी प्रमुख यक्ष्मानाशक ओषधियों के अविच्छि-प्रयोग से उत्पन्न जीवाणुओं की क्षमता (Resistence) में इसके प्रयोग से पर्याप्त लाभ हुआ है। किसी कारण से पॉ० ए० एस० या स्ट्रेप्टोमायसीन का प्रयोग सात्म्य न होने पर फायटेबीन का सेवन दोनों के स्थान पर या दोनों में से किसी के साथ किया जा सकता है। अभी तक विषाक्तता के परिणाम प्रायः बहुत कम उत्पन्न होते ज्ञात हुए हैं।

पहले जिन ओषधियों का उल्लेख किया गया है, वे यक्ष्मा में व्यापक रूप में प्रयुक्त होनेवाले उत्तम योग है। यहाँ जिन योगों का उल्लेख किया जा रहा है, उनका यक्ष्मा में हीन गुण एवं विषाक्त परिणामों के शीघ्र उत्पन्न होने के कारण व्यापक प्रयोग नहीं किया जाता। प्रथम वर्ग की ओषधियों के कार्यहीन हो जाने पर, जीर्ण रोगियों में आवश्यक सावधानी के साथ इनका प्रयोग किया जा सकता है।

थायोसेमीकारबाजॉन (Theosemicarbazone—Conteben, bayer, Tibione, merck, Thiacetazone, boots etc.)—

यक्ष्मा के श्लेष्मल कला (Mucus membrane) के विकारों—यक्ष्मज श्वसनिकाशोथ, स्वरयन्त्रशोथ, आन्त्रशोथ—में इसके प्रयोग से पर्याप्त लाभ होता है। क्षयज मूत्रसंस्थानीय विकार तथा संधियों एवं अस्थियों के क्षयज विकारों में भी इससे पर्याप्त लाभ होता है। क्षयज मस्तिष्कावरण शोथ एवं श्यामाकीय यक्ष्मा में लाभ नहीं होता। जीर्ण तान्त्वीय विकार में उपयोगी नहीं है। यक्ष्मा की विवरयुक्त अवस्था में दूसरी ओषधियों के व्यर्थ हो जाने पर इसके प्रयोग से सन्तोषजनक लाभ हुआ है। स्ट्रेप्टोमायसीन के साथ इसका प्रयोग किया जाता है। प्रारंभिक सप्ताह में ५० मि० ग्रा० दैनिक मात्रा में, द्वितीय सप्ताह में १०० मि० ग्रा० तथा अब तक प्रतिकूल या विषाक्त परिणाम न होने पर १५० या २०० मि० ग्रा० की दैनिक मात्रा में प्रयोग करना चाहिए। कुल मात्रा २ या ३ मात्राओं में विभक्त कर कुछ आहार लेने के बाद सेवन कराना चाहिए।

हृल्लास, वमन, अतिसार, शिरःशूल, रुधिर वर्ण के छोटे-छोटे विस्फोट एवं अवसाद तथा अग्निमांद्य आदि लक्षण इसके अनुकूल न होने पर उत्पन्न होते हैं। कुछ रोगियों में रक्तकणों—रुधिरकायाणु तथा कणयुक्त श्वेतकायाणु (Granular leucocytes) की संख्या में कुछ न्यूनता उत्पन्न होने के लक्षण मिले हैं। प्रतिकूलता के लक्षण उत्पन्न होने पर मात्रा कम करना या कुछ समय औषधि का सेवन बन्द करके पुनः पूर्वापेक्षा कम मात्रा में प्रयोग करना चाहिए। इसकी प्रयोगावधि तीन मास की होती है। क्षय के अतिरिक्त कुष्ठ में भी इससे पर्याप्त लाभ होता है।

टेरामायसीन (Terramycin)—विशाल क्षेत्रक प्रतिजीवी वर्ग की इस औषध का कुछ प्रभाव यक्ष्मा दण्डाणुओं पर भी सिद्ध हुआ है। इसके प्रयोग से द्वितीयक

उपसर्गों का भी प्रतिकार होता है। जीर्ण व्याधियों एवं व्याधि की प्रारम्भिक तीव्रावस्था में स्ट्रेप्टोमायसीन आदि के साथ इसका प्रयोग २५० मि० ग्रा० की मात्रा में दिन में ४ बार १०–१५ दिन तक किया जा सकता है। व्याधि के तीव्र आवेगों में प्रायः इसके साथ कार्टिसोन वर्ग की औषध का उपयोग भी करते हैं।

वायोमायसीन (Viomycin)—यक्ष्मा दण्डाणुजनित विकारों पर प्रभावशाली औषध है। विषाक्त परिणामों की अधिकता के कारण अधिक प्रयोग नहीं होता। स्ट्रेप्टोमायसीन एवं निमाजिड के व्यर्थ हो जाने पर शल्य कर्म आदि के समय थोड़े दिनों तक के लिए प्रयोग की अपेक्षा होने पर इसका उपयोग किया जाता है।

मात्रा १ ग्राम प्रति तीसरे दिन पेशी मार्ग से। लगातार १५ ग्राम से अधिक का प्रयोग एक साथ में न करना चाहिए।

नियोमायसीन (Neomycin) शीघ्र विषाक्त परिणाम उत्पन्न होने के कारण इसका प्रयोग नहीं किया जाता। यक्ष्मज लसग्रन्थियों के भेदन के बाद स्थानीय चिकित्सा के रूप में तथा क्षयज नाडीव्रणों में इसका प्रयोग किया जाता है।

अन्य औषधियाँ—

ऊपर वर्णित औषधियों के अलावा पर्याप्त समय से जिन द्रव्यों का यक्ष्मा की चिकित्सा में प्रयोग किया जाता रहा, सहायक औषधि के रूप में उनमें से अधिकांश का प्रयोग अभी तक होता आ रहा है। अप्रत्यक्ष रूप में कार्य करने वाली इस वर्ग की कुछ प्रमुख औषधियों का यहाँ संक्षिप्त उल्लेख किया जाता है।

जीवतिक्ति ए० (Vit. A.) शरीर में उपसर्ग प्रतिरोधक क्षमता उत्पन्न होने में इससे सहायता मिलती है। श्लेष्मलकला तथा त्वचा की सुरक्षात्मक शक्ति बढ़ती है तथा कोषाओं की वृद्धि भी होती है। शार्क लीवर या हैलिबट लीवर के तैल योगों में जीवतिक्ति ए० तथा डी० दोनों साथ में मिलते हैं। इन जान्तव वसा के योगों के सात्म्य न होने पर संकेन्द्रित योगों का सेवन कराया जाता है।

जीवतिक्ति डी० (Vit. D.)—यक्ष्मा में कैल्सियम की उपयोगिता क्षयज व्रण एवं शोथ के रोपण कार्य के लिए मानी जाती है। इसके प्रयोग से कैलसियम तथा फास्फोरस का समवर्त ठीक होता है तथा रक्त में इनका उचित मात्रा में संकेन्द्रण और कोषाओं के द्वारा सात्म्यता बढ़ती है।

जीवतिक्ति सी० (Vit. C.) शारीरिक कोषाओं की जीवनी-शक्ति बढ़ाने में इसका विशेष महत्त्व है। इसी आधार पर क्षयज विकारों में इसका पर्याप्त प्रयोग किया जाता है।

कैलसियम (Calcium gluconate या cal. phosphate)—चूना के कार्य में संलग्न श्रमिकों में क्षय का प्रकोप बहुत कम होता है। क्षयज विकृतियों के शान्त होने पर उनके चारों ओर कैलसियम का संचय होता है। सम्भवतः उपसर्ग को स्थानबद्ध

करने में इससे लाभ होता है और क्षयज ज्वर का भी कुछ अंशों में इससे शमन होता है। इन्हीं विशेषताओं के कारण कैलसियम के योगों का पर्याप्त प्रयोग किया जाता है।

क्रियोजोट, थायोकोल एवं ग्वायकोल (Creosote, thiocol and potasium guaicol sulphonate)—इनका प्रयोग क्षयजश्वसनिकाशोथ एवं श्वासनलिका में विस्तार में किया जाता है। ष्ठीवन में दुर्गन्ध होने या अधिक मात्रा में ष्ठीवन निकलने पर इनके प्रयोग से कुछ लाभ होता है।

आयोडीन (Iodine)—तान्त्वीय कोषाओं के द्रावण तथा लसग्रन्थियों के क्षयज विकार में इसका सहायक ओषधि के रूप में प्रयोग किया जाता है। टि० आयोडीन रेक्टीफायड (Tri. Iodine in rect.) १-२ बूँद या कोलोजल आयोडीन (Collosol Iodine) का ३० बूँद की मात्रा में दिन में २ बार प्रयोग किया जाता है।

सोमल के योग (Arsenic compounds)—लाइकर आरसेनिकालिस (Lycour arsenicalis) के रूप में ३-४ बूँद की मात्रा में भोजनोत्तर दिन में २ बार २-३ मास तक प्रयोग करते हैं। जीर्ण रोगियों में शारीरिक क्षमता की वृद्धि के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। अनुकुल होने पर इससे रक्त एवं पाचनशक्ति की वृद्धि होती है।

सुवर्ण के योग (Gold compounds—sanocrysin, myocrisin, solganol or auroform B. etc. —शरीर की प्रतिकारकशक्ति की वृद्धि, तन्तूत्कर्ष की प्रवृत्ति एवं पोषक तथा बलकारक गुण के कारण इनका यक्ष्मा के विकारों में बहुत पुराने काल से प्रयोग होता आया है। सूचीवेध द्वारा इनका प्रयोग करने पर अनेक विषाक्त परिणाम उत्पन्न होते हैं। इसलिए अब इनका प्रयोग बहुत सीमित हो गया है। इनके स्थान पर आयुर्वेदीय स्वर्णघटित योग विशेष लाभकर सिद्ध हुए हैं। उनसे किसी प्रकार की विषाक्तता नहीं होती तथा स्वल्प मात्रा में उनका पर्याप्त समय तक प्रयोग किया जा सकता है। वसन्तमालती, मृगाङ्क, हिरण्यगर्भ पोहली, सर्वांगसुन्दर काञ्चनाभ्र, जयमङ्गल आदि यक्ष्मा में प्रयुक्त होने वाले स्वर्णघटित प्रसिद्ध योग हैं। बहुत स्वल्प मात्रा में इनमें स्वर्ण का योग होता है। ½ से १ रत्ती की दैनिक मात्रा में सात्म्यता के आधार पर २-३ मास तक इनका प्रयोग सहायक ओषधियों के साथ किया जाता है। इनका प्रयोग व्याधि की प्रारम्भिक अवस्था में पूर्ण विश्राम तथा स्निग्ध एवं दुग्धप्रधान आहार के साथ किया जाता है। आमला तथा रसोन का साथ में प्रयोग कराने से गुणवृद्धि होती है। स्ट्रेप्टोमायसीन आदि के प्रयोग के बाद शारीरिक शक्ति की वृद्धि के लिए जीर्ण रोगियों में भी इनका प्रयोग बहुत लाभकारक होता है। विशिष्ट चिकित्सा के उपयोग के बाद जिन रोगियों में इस प्रकार के योगों का २-३ मास तक व्यवहार किया गया, उनमें रोग का पुनरावर्तन नहीं हुआ तथा क्ष-किरण परीक्षा एवं दूसरे प्रायोगिक परीक्षणों से रोगी अधिक स्वस्थ रहा। इनके मुख द्वारा प्रयोग से वृक्क एवं यकृत् आदि अङ्गों की विषाक्तता का कोई भय नहीं करना चाहिये।

सहस्रों रोगियों में व्यापक रूप से प्रयुक्त करने पर भी कभी विषाक्त परिणाम नहीं दिखाई पड़े। कभी-कभी औषध आरम्भ करने के कुछ काल बाद ज्वर की आंशिक रूप में वृद्धि होती है, जो कुछ काल बाद स्वतः शान्त हो जाती है या औषध की मात्रा कुछ घटा देनी पड़ती है, अन्य कोई हानि नहीं होती।

फुफ्फुस क्षय में प्रयुक्त होने वाले प्रमुख शल्य कर्म—

कृत्रिम वातोरस (Artificial Pneumothorax)—विकृत पार्श्व के फुफ्फुस को पूर्ण विश्राम देना इस शल्य कर्म का मुख्य उद्देश्य होता है। फुफ्फुस के भीतर विवर हो जाने पर औषधि-प्रयोग से पूर्ण लाभ नहीं होता। कृत्रिम वातोरस के द्वारा फुफ्फुस का अभिप्रेत स्थान में निपात (Collapse) करके विवर की रिक्तता दूर की जाती है। क्षयदण्डाणु को मनुष्य की अपेक्षा ५ गुनी अधिक प्राणवायु की आवश्यकता होती है। फुफ्फुस के निपात के द्वारा विकृत पार्श्व में प्राणवायु का प्रवेश अवरुद्ध हो जाता है। जिससे यक्ष्मा दण्डाणु का विनाश तथा स्थानीय शोथ एवं क्षतज विकृतियों का रोपण होता है।

उपयोगिता—

विशेष लाभकर—

१. एक पार्श्व के प्रीवनयुक्त फुफ्फुसीय यक्ष्मज विकार।

२. जीर्ण किलाट तन्तुयुक्त विकार (Fibro-caseating stage)।

३. अत्यधिक मात्रा में पुनरावर्तनशील रक्तष्ठीवन।

४. एक पार्श्व का क्षयज फुफ्फुसपाक।

साधारण लाभकर—

१. रोगी का स्वास्थ्य ठीक होने पर दोनों पार्श्व की क्षयज विकृति में भी लाभ होता है।

२. एक पार्श्व में विवर या किलाटीभवन का कष्ट तथा दूसरे पार्श्व में क्षयज फुफ्फुसशोथ।

३. दोनों पार्श्वों में विवर। जिस पार्श्व में विवर बड़ा या जिसमें अधिक विवर हों, कृत्रिम वातोरस पहले उसी पार्श्व में करना चाहिये।

४. एक पार्श्व में किलाट तान्तवीय स्थिति होने तथा दूसरे पार्श्व में नूतन क्षयज उपसर्ग होने पर कृत्रिम वातोरस का प्रयोग नवीन विकृत पार्श्व में करना चाहिये।

अल्प लाभकर—

१. विकारों की भित्ति के स्थूल या कड़ा होने पर।

२. फुफ्फुसावरण गुहा में अभिलागों (Adhesions) के कारण निपात न हो सकने पर।

३. फुफ्फुस में आधार (Base) की ओर विवर होने पर।

४. दोनों पार्श्वों में व्यापक रूप से विकृति होने पर।

निषेध—

१. यक्ष्मा का वर्धमान स्वरूप का व्यापक प्रकोप।

२. जीर्ण स्वरूप का तन्तूत्कर्ष।

३. पचास वर्ष से अधिक आयु के रोगी में।

४. श्वास, जीर्ण-श्वसनी शोथ तथा दूसरे औपसर्गिक विकार साथ में होने पर।

ऊपर संक्षेप में कृत्रिम वातोरस की उपयोगिता अनुपयोगिता का क्षेत्र बताया गया है। विकृत पार्श्व को विश्राम देना इस चिकित्सा का मूल सिद्धान्त है। दूसरे पार्श्व को बिना हानि पहुँचाये हुये रोगी की सहनशक्ति के अनुपात में जहाँ तक यह व्यवस्था करायी जा सके, लाभकारी होती है। शल्यकर्म के समय वायु का प्रवेश रोगी की सहनशक्ति के आधार पर किया जाता है। प्रारम्भ में तीसरे-चौथे दिन, बाद में धीरे-धीरे अन्तर बढ़ाते हुये १०-१५-२०-३० दिनों के व्यवधान से १-२ वर्ष तक कृत्रिम वातोरस का प्रयोग कराया जाता है।

कृत्रिम वातोरस के सफल या उपयुक्त न होने पर अनेक दूसरे शल्य-कर्मों का प्रयोग इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये किया जाता है।

१. वात पर्युदर (Pneumo peritoneum)—

इसमें उदरावरण में वायु का प्रवेश किया जाता है जिससे महाप्राचीरा पेशी (Diaphragm) ऊपर उठ जाती है फुफ्फुस के आधारीय भाग या दोनों पार्श्व में विकृति होने पर इसका प्रयोग किया जाता है।

विकृत पार्श्व की महाप्राचीरा वातनाड़ी (Phrenic) के शल्यकर्म (Avulsion cutting of Nerve, crushing of Phrenic Nerve)—

महाप्राचीरा वातनाड़ी का इन क्रियाओं द्वारा अङ्गघात होता है। जिससे उस पार्श्व का फुफ्फुस गतिहीन हो जाता है। औसतन ६-७ माह के बाद नाड़ी का पुनः कार्य सञ्चार होने लगता है। यह शल्यकर्म हिक्का, शुष्ककास, एक पार्श्व के एकखण्डीय यक्ष्मज विकार में उपयोगी होता है।

तैलोरस (Oleothorax)—

फुफ्फुस के विकृत अंश के निकट फुफ्फुसावरण गुहा में तैल भरा जाता है। तैल में ४ प्रतिशत गॉमनॉल (Gomenol) के साथ २ प्रतिशत नीलगिरि तेल तथा लिक्विड पैराफिन या ओलिव आयल का प्रयोग किया जाता है। यक्ष्मज पूयोरस या सद्रव फुफ्फुसावरण शोथ होने पर भी इसका प्रयोग किया जा सकता है।

पर्शुकाच्छेदन (Thoracoplasty)—

विकृत पार्श्व की पर्शुकाओं को काटने से फुफ्फुस का निपात होता है। जीर्ण तान्त्वीय विकार तथा कृत्रिम वातोरस के सफल न होनेपर पर्शुकाच्छेदन किया जाता है।

 इन शल्यकर्मों के अलावा फुफ्फुसोच्छेदन अथवा फुफ्फुस के विकृत खण्ड को शल्य-

कर्म द्वारा निकाल देना (Pneumonectomy or lobectomy) या फुफ्फुस-पाटन (Lung resection) आदि का प्रयोग फुफ्फुस में अधिक विकृति होने पर किया जाता है।

चिकित्सा की दृष्टि से यक्ष्मज विकृति के दो मुख्य वर्ग किये जाते हैं। यक्ष्मा दण्डाणुओं की ष्ठीवन या किसी दूसरे निर्यास में उपस्थिति या अनुपस्थिति। व्याधि की गम्भीरता के आधार पर प्रत्येक के ३ उपवर्ग किये जाते हैं।

१. सामान्य स्वरूप का विकार—जिसमें स्थानीय विकृति बहुत थोड़ी, प्रायः केवल फुफ्फुसशिखर या फुफ्फुस के किसी दूसरे एक स्थान में सीमित, ज्वर-कास-अग्निमांद्य आदि लक्षणों की अनुपस्थिति या अत्यल्प मात्रा में उपस्थिति। रक्तावसादन गति प्रतिघण्टा २० मि० मीटर के भीतर, क्ष-किरण परीक्षा में धातुओं के अपजनन के लक्षणों का अभाव, नाड़ी की क्षीणता, त्वरित गति तथा ज्वर की बहुत थोड़े समय के लिये उत्पत्ति। इस श्रेणी के रोगियों में उचित उपचार करने पर पूर्ण रूप से लाभ हो सकता है।

२. मध्यम स्वरूप का विकार—ज्वर, कास, रक्तष्ठीवन, अग्निमांद्य आदि सामान्य लक्षणों की पर्याप्त मात्रा में उपस्थिति—फुफ्फुस की कोषाओं में मध्यम स्वरूप की विकृति किन्तु विवरोत्पत्ति (Cavitation) का अभाव। रक्तावसादन गति का ५० मि० मी० प्रतिघण्टा के भीतर, क्ष-किरण परीक्षा में विकृति का फुफ्फुस के किसी खण्ड में सीमित होना। इस अवस्था में पूर्ण विश्राम, एक वर्ष तक निरन्तर औषध का विधिवत् प्रयोग तथा जलवायुपरिवर्तन, आवश्यक शल्योपचार आदि की व्यवस्था के द्वारा सन्तोषजनक लाभ हो सकता है। किन्तु आगे के जीवन में अधिक परिश्रम-हीन पोषण वाला भोजन आदि मिथ्याहार-विहारों के कारण व्याधि का पुनरावर्तन सम्भव है।

३. वर्द्धमान स्वरूप का विकार—यक्ष्मज दण्डाणु के उपसर्ग से उत्पन्न व्यापक स्वरूप की विकृति, फुफ्फुस में विवरोत्पत्ति, अत्यधिक मात्रा में किलाटीभवन, आन्त्रक्षय, स्वरयंत्रक्षय, मधुमेह आदि विकारों से पीड़ित होने पर पर्याप्त उपचार करने पर भी व्याधि का निर्मूलन सम्भव नहीं होता। दो तीन वर्ष तक शल्योपचार एवं औषध व्यवस्था का आरोग्यशाला के विधान से पालन करने पर लाक्षणिक दृष्टि से व्याधि का पर्याप्त प्रशम हो जाता है किन्तु स्वस्थ होने के बाद भी रोगी की स्वाभाविक कार्यक्षमता नहीं आ पाती और उसके शरीर से क्षयज उपसर्ग पूरी तरह से निर्मूल नहीं किया जा सकता। उचित सँभाल से व्याधि का पुनरुद्भव नहीं होने पाता।

व्याधियों के इस वर्गीकरण से चिकित्सक को चिकित्सा के निश्चित परिणामों की जानकारी हो जायगी। जीर्ण रोगों की चिकित्सा में परिवार के उत्तरदायी व्यक्ति या रोगी को भली प्रकार पूर्ण योजना समझा देनी चाहिये। पूरे समय तक की व्यवस्था न बताने पर थोड़ा स्वास्थ्य लाभ करने के बाद रोगी औषध एवं दूसरे निर्देश न मानेगा तथा व्याधि का पुनर्प्रकोप होने पर उन औषधियों से अपेक्षाकृत कम लाभ

होगा। व्याधियों की तीव्रता एवं अधिष्ठान भेद से प्रमुख ओषधियों के उपयोग की विशिष्ट व्यवस्था का निर्देश आगे किया जा रहा है। इस विशिष्ट चिकित्सा से पर्याप्त लाभ होने पर भी विश्राम, पोषक आहार आदि सामान्य चिकित्सा के सिद्धान्तों का महत्त्व कम नहीं होता। इस सिद्धान्त का सदा ध्यान रखना चाहिये।

सामान्य स्वरूप की व्याधि में ओषधियों की व्यवस्था—

१. पी० ए० एस०—८-१२ ग्रा० दैनिक मात्रा शरीर भार के अनुपात में। ४ मात्राओं में विभक्त करके।

२. आई० एन० एच०—३०० से ६०० मि० ग्राम की दैनिक मात्रा में २-३ मात्राओं में विभक्त कर। दोनों ओषधियाँ साथ में भी दी जा सकती हैं। ४ से ६ माह तक लगातार देना चाहिये।

३. विटामिन बी काम्प्लेक्स २ चम्मच भोजन से ½ घण्टे पूर्व, दोनों समय।

पी० ए० एस० का पर्याप्त समय तक प्रयोग करने पर स्वाभाविक रूप में आँतों से बनने वाला बी. कंप्लेक्स का प्रतिरूप नष्ट हो जाता है, इसलिये उसकी पूर्ति के लिये बी. कंप्लेक्स का चिकित्साकाल पर्यन्त सेवन कराना चाहिये।

४. शार्क लिवर आयल या हैलिवट लिवर आयल १-२ चम्मच की मात्रा में थोड़े दूध में मिला कर अग्निबल के अनुसार एक या दो बार २-३ माह तक।

इसी के साथ च्यवनप्राश १-२ तोला की मात्रा में २-३ माह तक सेवन कराने से विशेष लाभ होता है।

५. कैल्सियम के योग—स्त्रियों या अल्प वय के पुरुषों में सप्ताह में दो बार सिरा द्वारा १० सी० सी० १०% के १०-२० सूचीवेध देना चाहिये।

उक्त क्रम का ६ माह तक प्रयोग कराने के बाद ३ माह निम्नलिखित व्यवस्था चलानी चाहिये।

१. स्वर्णवसन्तमालती	१ र०
मुक्ताशुक्तिभस्म	१ र०
प्रवालभस्म	१ र०
लौहभस्म	१ र०
सितोपलादि	३ मा०

विभक्त २ मात्रा

प्रातः-सायं मक्खन-मिश्री के साथ दूध के अनुपान से।

२. छागलादि घृत या जीवनीय घृत या बलादि घृत को ६ मा०–१ तो० की मात्रा में दूध में मिला कर एक या दो बार सेवन कराना।

३. द्राक्षासव १ औंस भोजन के बाद दोनों समय। इस औषध के सेवन काल में आहार में मुख्य रूप से बकरी या गाय का दूध तथा गाय का घी पर्याप्त मात्रा में सेवन

करना चाहिये। नाड़ी एवं ज्वर के लक्षणों के आधार पर रोगी को नियमित घूमने-टहलने का हल्का व्यायाम करने देना चाहिये। ग्रीष्म ऋतु में प्रातःकाल नीरा (खजूर या ताड़वृक्ष का रस) का सेवन कराना तथा शीत ऋतु में सात्म्य होने पर १ गांठ वाला लहसुन ३ से ६ मा० की मात्रा में पर्याप्त घी के साथ दूध के अनुपान से १-२ माह तक सेवन कराना चाहिये।

इस क्रम से सारी व्यवस्था करने पर पूर्ण रूप से व्याधि का निर्मूलन हो सकता है। रोगमुक्ति के बाद भी नियमित विश्राम-सन्तर्पक आहार एवं ब्रह्मचर्य का यथाशक्ति पालन करते रहना आवश्यक है।

मध्यम स्वरूप के विकार में—

१. स्ट्रेप्टोमाइसिन तथा हाइड्रोस्ट्रेप्टोमाइसिन के योग ½ ग्रा० की मात्रा में बारह घण्टे के अन्तर पर पन्द्रह दिन दे कर १ ग्राम की दैनिक एक मात्रा अगले ४५ दिन तक देना चाहिये। बाद में सप्ताह में दो बार दस ग्राम और देना चाहिये।

२. पी० ए० एस०—३ ग्रा० की मात्रा में दिन में ४ बार ६ महीने तक देना चाहिये। १२० पौण्ड से अधिक शरीर भार होने पर मात्रा और बढ़ा कर देनी चाहिये।

३. I. N. H.—२०० मि० ग्रा० की मात्रा में दिन में ३ बार ६ माह तक P. A. S. के साथ दे सकते हैं।

४. फेराडाल, कैपलर माल्ट, माइनोलाड आदि किसी पोषक सुपाच्य बलकारक ओषधि का २ चम्मच की मात्रा में दिन में एक या दो बार प्रयोग कराना चाहिये। अग्निमांद्य में सुधार एवं पाचकाग्नि की वृद्धि हो जाने पर इनके स्थान पर पूर्ववत् शार्क लिवर आयल या तत्सम द्रव्य का प्रयोग किया जा सकता है।

५. कार्टिजोन वर्ग की ओषधियाँ—चिकित्सा प्रारम्भ करने पर कुछ काल तक इन ओषधियों का उचित मात्रा में सहायक ओषधि के रूप में प्रयोग करने पर तन्तूत्कर्ष (Fibrosis) एवं विषमयता के लक्षणों का प्रतिबन्धन एवं शीघ्र शमन होता है।

६. विटामिन सी० ५०० मि० ग्रा० तथा कैल्सियम ग्ल्यूकोनेट १०% १० सी० सी० मिलाकर पूर्ववत् १०-२० की संख्या में सप्ताह में २ बार सिरा द्वारा सूच्चीवेध देना चाहिये। जीवतिक्ति सी० का मुख द्वारा ५०० मि० ग्रा० की मात्रा में बी. काम्प्लेक्स के साथ ४-५ माह तक सेवन कराना चाहिये। ६ माह के बाद निम्नलिखित व्यवस्था करनी चाहिये।

१. कैपिना कम्पाउण्ड (Capyna co or Rudanti co.)—२-३ गोली की मात्रा दिन में ३ बार ५-६ माह तक दूध या जल के साथ।

२. Anazid या Isopar—२ गोली दिन में ३ बार ५-६ माह तक।

दोनों ओषधियों (नं० १ + २) को साथ में मिला कर दिया जा सकता है। इनके अतिरिक्त पर्याप्त मात्रा में जीवतिक्ति ए० बी० सी० डी० का सेवन कराना चाहिये।

इस प्रयोग को पूरे काल तक करने के बाद निम्नलिखित व्यवस्था ३ महीने तक करानी चाहिये।

१.	जयमंगल	१ र०
	मुक्ताशुक्ति	२ र०
	सिलाजत्वादि लौह	४ र०
	गुडूची सत्व	१ मा०
		मिश्र २ मात्रा

१. सुबह शाम मक्खनमिश्री के साथ मिला बकरी के दूध के अनुपान से ३ माह सेवन कराना। यथाशक्ति अन्न की मात्रा कम तथा दूध की मात्रा अधिक से अधिक रखना।

२. द्राक्षासव-अमृतारिष्ट दोनों समान मात्रा में मिला कर १ औंस की मात्रा में भोजनोत्तर दोनों समय।

३. अमृतप्राश या च्यवनप्राश ६ मा०-१ तो० की मात्रा में छागलादि घृत के साथ दोनों समय दूध के साथ। छागलादि घृत के अभाव में जीवनीय घृत या उसके भी अभाव में गाय के घी का प्रयोग किया जा सकता है।

इस क्रम का २-३ माह लगातार सेवन करने से शरीर की प्रतिकारक शक्ति पर्याप्त रूप में परिपुष्ट हो जाती है। जिससे व्याधि के पुनरावर्तन की सम्भावना प्रायः नहीं होती। यद्यपि सुवर्ण के योगों का प्रयोग आधुनिक चिकित्साविज्ञान में अब अधिक नहीं किया जाता। क्योंकि सूचीवेध द्वारा इसका प्रयोग करने से विषमयता के अनेक परिणाम हुआ करते थे। किन्तु इन औषधियों में सुवर्ण के घटकों का अन्तर्भाव होने पर भी कोई भी विषाक्त परिणाम नहीं उत्पन्न होते और शरीर की आन्तरिक शक्ति, तेज-बल एवं धातुओं की सम्पुष्टि आदि नवजीवन संचार की क्रियायें मुख्य रूप से होती हैं। इसलिये स्वर्ण के योगों का प्रयोग बिना संकोच के व्याधि की जीर्णावस्था में या सुप्तावस्था में करना चाहिये।

वर्धमान स्वरूप के विकारों की व्यवस्था—

तीव्र श्यामाकीय यक्ष्मा, तीव्र किलाटीय यक्ष्मा तथा यक्ष्मज पुप्फुसपाक में निम्नलिखित व्यवस्था करनी चाहिये—

१. स्ट्रेप्टोमाइसिन + डाई-हाइड्रोस्ट्रेप्टोमाइसिन १ ग्रा० १२ घण्टे के अन्तर पर पन्द्रह दिन तक बाद में ½ ग्रा० १२ घण्टे के अन्तर पर पन्द्रह दिन तक, अन्त में १ ग्राम प्रतिदिन १ बार दो महीने तक देना चाहिये।

२. टेरामाइसिन २५० मि० ग्रा० + प्रेडनोसोलिन ५ मि० की मात्रा दिन में ३ बार दस दिन तक; दस दिन बाद इनके स्थान में निम्न योग देना चाहिये—

I. N. H.	200 mg.
Ascorbic acid	250 mg.
Prednosolin	5 mg.
Cal. gluconate	gr. 10
	१ मात्रा

दिन में ३ बार १५ दिन तक १ मात्रा. बाद में प्रेडनोसोलिन की मात्रा धीरे-धीरे घटाते जाना चाहिये। १ माह के बाद इस योग को बन्द कर P. A. S. १२ ग्राम के साथ में I. N. H. ३००-६०० मिलीग्राम की दैनिक मात्रा में ४ माह तक देना चाहिये। टेरामाइसिन के स्थान पर स्ट्रेप्टोमाइसिन के साथ ५ लाख क्रिस्टलाइन पेनिसिलिन दोनों समय मिलाकर दस दिन तक देना चाहिये। इन औषधियों के सहायक प्रयोग से द्वितीयक उपसर्गों का प्रतिरोध तथा स्ट्रेप्टोमाइसिन की कार्यशक्ति की वृद्धि होती है।

३. मल्टी विटामिन्स (Multi vitaplex fort, Theragran, Abdec)—आदि में से पर्याप्त संकेन्द्रण वाले किसी योग का व्यवहार—प्रथम मास में २ बार बाद में ४-५ मास तक दैनिक एक मात्रा काम में लेनी चाहिये।

४. प्रोटीन हाइड्रोलाइसेट (Protinex, ledinac, aminoxyl) में किसी समयोग का २-३ चम्मच की मात्रा दिन में २ बार प्रयोग करना चाहिये। ३ माह तक।

५. Eixir neogadine या इस वर्ग की किसी दूसरी औषध का २ चम्मच की मात्रा में भोजन के पूर्व दोनों समय नं० ४ के साथ मिलाकर दे सकते हैं—१-१½ महीने तक।

३-४ माह बाद नं० ३-४-५ के स्थान पर शार्कोफिराल, हैलिबेराल या स्काटस इमलसन आदि में किसी को २ चम्मच की मात्रा में दिन में १ या २ बार अग्निबल के आधार पर देना चाहिये। २-३ माह तक।

उक्त औषधियों का ४-५ माह तक निर्दिष्ट क्रम से प्रयोग करने के बाद निम्नलिखित व्यवस्था का ४-६ मास तक यथानिर्देश प्रयोग कराना चाहिये।

१. फाइटेबिन २७२— २-२ टिकिया दिन में ३ बार ४ से ६ माह तक।

२. कैपाइना को० २ टिकिया २ से ३ बार ६ माह तक। नं० १ तथा २ दोनों औषधियाँ साथ-साथ प्रयोग की जा सकती हैं।

३. कोलोसल आयोडिन (Collosol iodine) ½ चम्मच + पल्मोकाड (Pulmo cod.) ४ चम्मच + विटामिन बी. काम्प्लेक्स (Vit. B. Complex) २ चम्मच, तीनों औषधियाँ समानभाग जल के साथ मिलाकर, जलपान या भोजन के १ घण्टा बाद दोनों समय देनी चाहिये।

४. जीवतिक्ति सी. ५०० मि. ग्रा०, कैलसियम ग्लूकोनेट १०% १० सी० सी० मिलाकर सिरा द्वारा कुल १२ सूचीवेध देना चाहिये। सप्ताह में २ बार।

इस क्रम के समाप्त होने के बाद निम्नलिखित व्यवस्था ४-५ माह तक सात्म्यता के आधार पर करनी चाहिये।

१.	सहस्रपुटी अभ्रक	१ र०
	सुवर्णभस्म	¼ र०
	मुक्ताभस्म	१ र०
	महालक्ष्मीविलास	१ र०
	पिप्पलीचूर्ण	४ र०
	मिश्र	२ मात्रा

सुबह शाम मक्खन मिश्री के साथ।

२.	मृतसंजीवनीसुरा	२ चम्मच
	+	
	अश्वगंधारिष्ट	६ चम्मच
	या	
	बलारिष्ट	६ चम्मच

१ मात्रा भोजन के बाद दोनों समय बराबर जल मिलाकर २-३ मास तक देना चाहिये।

चिरकालीन यक्ष्मा—

यक्ष्मा का यह रूप सर्वाधिक मिला करता है। व्याधि का प्रारम्भ धीरे-धीरे होने के कारण बहुत दिनों बाद इसका निदान हो पाता है। इसके चिकित्सा के सिद्धान्तों का निर्णय करने के समय किलाटीभवन या विवरोत्पत्ति हुई है या नहीं, इस बात पर भी बहुत ध्यान रखना चाहिये। मोटे तौर से इसकी दो अवस्थायें नियत की जा सकती हैं—

१. प्रारम्भिक अवस्था—जिसमें फुफ्फुस में शोथ एवं थोड़े किलाट के चिह्न मिलते हैं।

२. वर्धमानावस्था—इसमें फुफ्फुस में विवर बन जाते हैं। रक्तष्ठीवन, प्रलेपक ज्वर आदि उपद्रवों की सम्भावना रहती है।

प्रारम्भिक अवस्था में चिकित्सा की व्यवस्था पहले बताये हुये मध्यमस्वरूप के चिकित्साक्रम से (पृष्ठ सं० ७७२) करनी चाहिये।

जीर्ण या वर्धमान स्वरूप के रोगियों में निम्नलिखित क्रम से औषधियों एवं सहायक उपचारों की व्यवस्था करनी चाहिये।

१. स्ट्रेप्टोमायसिन + डाइ हाइड्रोस्ट्रेप्टोमाइसिन ½ ग्रा० १२ घण्टे के अन्तर पर दिन में २ बार १ महीने तक, १ ग्राम दिन में एक बार २ मास तक। १ ग्राम प्रति तीसरे दिन २ मास तक। सप्ताह में २ बार कुल २० ग्राम की मात्रा तक। सप्ताह

में १ बार १ ग्राम की मात्रा से कुल १० ग्राम तक। इस क्रम से सामान्यतया स्ट्रेप्टोमाइसिन की १५० ग्राम की पूर्ण मात्रा ८-९ मास में पूर्ण होती है। इस अवस्था में किलाट एवं विवर की जीर्णता के विकार मिलते हैं, इसलिये अधिक समय तक देना आवश्यक हो जाता है।

२. इस्टोपेन (Estopen)—फुफ्फुस में अत्यधिक होनेवाला पेनिसिलिन का विशिष्ट योग या क्रिस्टलाइन पेनिसिलिन ५ लाख की मात्रा में दिन में २ बार चिकित्सा प्रारम्भ करते समय दस दिन तक तथा १-१ मास के अन्तर पर दस दिन और देना चाहिये। इसके प्रयोग से द्वितीयक उपसर्गों तथा उत्तरकालीन उपसर्गों से काफी बचाव हो जाता है। किसी कारण पेनिसिलिन का प्रयोग सम्भव न हो तो एल्कोसिन या एर्गाफिन या सल्फाडायजिन आदि किसी शुल्बौषधि का प्रारम्भ में दस दिन तक और १-१½ मास बाद पूर्ववत् दस दिन तक प्रयोग करना चाहिये।

३. I. N. H. २०० मि० ग्राम
+
Ascorbic acid २००-४०० मि० ग्रा०

दोनों साथ में दिन में तीन बार २ महीने तक। दो मास बाद इनके स्थान पर P. A. S. ४ ग्राम दिन में ४ बार ६ मास तक देना चाहिये।

४. जीवतिक्ति ए. डी. एवं अन्य प्रोटीन हाइड्रोलाइसेट, शार्कलिवर आदि पोषक औषधियों का आवश्यकतानुसार पर्याप्त समय तक साथ में प्रयोग करते रहना चाहिये।

५. फुफ्फुस में वर्तमान विवरों के निपात के लिये अनेक प्रकार के शल्योपचार प्रयुक्त होते हैं। कृत्रिम वातोरस (A. P.) वातपर्युदर (P. P.) आदि किसी का उपयोगिता के आधार पर प्रयोग करना चाहिये। जब तक विवरों का निपात नहीं होगा, वह स्थान यक्ष्मा दण्डाणुओं के सुरक्षित केन्द्र के रूप में बना रहेगा। रक्तप्रवाह न हो सकने के कारण ऊपर की किसी औषधि का भीतर संचित दण्डाणुओं पर कोई प्रभाव न पड़ सकेगा। रक्तष्ठीवन की बार-बार प्रवृत्ति का मूल कारण प्रायः विवरोत्पत्ति के द्वारा फुफ्फुस के आधारीय धातु एवं अन्य कोषाओं का नाश माना जाता है। इसलिये रक्तष्ठीवन का प्रतिबन्ध एवं उपचार के लिये भी इस प्रकार का शल्योपचार आवश्यक होता है।

उक्त क्रम से ८-९ मास तक व्यवस्था करने के बाद अगले ४-६ मास तक निम्नलिखित क्रम से चिकित्सा करनी चाहिये।

१. फाइटेबिन २७२ २-३ गोली
कैंपाइना कम्पाउण्ड २ गोली
दोनों साथ में दिन में ३ बार

२. रसोन का प्रयोग—व्याधि की जीर्णावस्था में इसके प्रयोग से पर्याप्त लाभ होता है। रक्तष्ठीवन, दाह, ज्वर एवं ग्रीष्म ऋतु में इसका प्रयोग न करना चाहिये।

प्रायः कार्तिक से फाल्गुन तक ४-५ मास इसका सेवन कराया जा सकता है। कच्चे रूप में ही इसका प्रयोग हितकर माना जाता है। इसी ऋतु में आँवला भी प्राप्त होता है। इसलिये आँवले के साथ लहसुन को पीसकर मक्खन एवं मिश्री थोड़ी मात्रा में मिलाकर दूध के अनुपान से प्रातःकाल दिन में एक बार देना चाहिये। इस प्रकार उपयोग सम्भव न होने पर लहसुन, आँवला, धनिया, आर्द्रक, जीरा, नमक आदि मिलाकर चटनी के रूप में भोजन के साथ प्रयोग में ले सकते हैं। मात्रा—लहसुन २-३ जवा से बढ़ाकर १० जवा तक या एक गांठ का लहसुन होने पर १-२ गांठ तक।

३. शार्कलिवर आयल आदि में से किसी को २ चम्मच की मात्रा में दिन में १-२ बार रसोन के सेवनकाल में अवश्य चलाना चाहिये। इस क्रम के पूर्ण हो जाने पर निम्नलिखित औषधियों की व्यवस्था ३-४ मास तक चलानी चाहिये।

वसन्तमालती	१ र०
मुक्ताशुक्ति	२ र०
लौहभस्म	१/२ र०
यक्ष्मान्तक लौह	१ र०
गुडूची सत्व	४ र०
	१ मात्रा

१. प्रातः-सायं दिन में २ बार मक्खन या घी-मिश्री के साथ में। अग्नि ठीक होने पर मलाई के साथ भी प्रयोग कराया जा सकता है।

२. जीवनीयघृत या बलादिघृत ३ मा० से ६ मा० की मात्रा में १ तोला च्यवनप्राश के साथ मिलाकर सुबह या रात्रि में दूध के अनुपान से देना चाहिये।

३. दशमूलारिष्ट या अश्वगन्धारिष्ट १ औंस की मात्रा में भोजन के बाद दोनों समय।

४. शिलाजतु का प्रयोग—यक्ष्मा के जीर्ण रोगियों में धातुओं का क्षय बहुत होता रहता है। इस दृष्टि से स्वल्प मात्रा में शिलाजतु के योगों का व्यवहार विशेष लाभदायक होता है। चन्द्रप्रभावटी, शिलाजत्वादि गुटिका, आरोग्यवर्धिनी वटी एवं शिवागुटिका आदि शिलाजतु के प्रमुख प्रचलित योग हैं। आवश्यतानुसार इनमें से किसी का व्यवहार रात में १ बार किया जा सकता है।

ऊपर लिखी सारी व्यवस्था प्रायः १½ वर्ष में पूर्ण होती है। इतने समय तक चिकित्सा व्यवस्था चलाना आवश्यक है। बीच में औषधि का क्रम टूट जाने से पुनरावर्तन की सम्भावना बढ़ जाती है। इस क्रम से व्यवस्था कराने पर पुनरावर्तन नहीं हो सकता। इसके बाद भी ६ मास तक रोगी को संयम का निर्देश करना चाहिये।

यक्ष्मज तान्त्वीय विकार (Tubercular Fibrosis)

इस स्थिति में स्ट्रेप्टोमाइसिन के अधिक प्रयोग से कोई लाभ नहीं होता। बीच-बीच में ज्वर आने का लक्षण मिला करता है। आवश्यकता पड़ने पर स्ट्रेप्टोमाइसिन १ ग्रा० के साथ ४ लाख प्रोकेन पेनिसिलिन का ८-१० दिन तक पेशी मार्ग से सूचीवेध देना चाहिये। इस अवस्था में क्षयप्रतिरोधक औषधियों में P. A. S. सर्वोत्तम माना जाता है। ३-४ ग्राम की मात्रा में दिन में ३-४ बार ४-६ मास तक प्रयोग कराना चाहिये। इसके सात्म्य न होने पर एनाजिड या फाइटेबिन आदि में से किसी की २ गोली दिन में ३ बार ३-४ मास तक देना चाहिये।

पोषक-बलकारक-सहायक औषधियों का प्रयोग पूर्वनिर्दिष्ट क्रम से करते रहना चाहिये। सात्म्य होने पर रसोन का प्रयोग भी हितकर है।

व्यावहारिक निर्देश—

१. स्ट्रेप्टोमाइसिन से व्याधि की तीव्रावस्था में, विशेषकर श्लेष्मकला में उत्पन्न हुई व्याधि में, अधिक लाभ होता है। जीर्ण व्याधियों में तथा लसग्रंथियों के विकार में लाभ कम होता है। जिन रोगियों में अपर्याप्त मात्रा में—अव्यवस्थित क्रम से स्ट्रेप्टोमाइसिन का प्रयोग पहले हुआ हो, उनमें दुबारा प्रयोग करने से लाभ नहीं होता, २-३ मास के व्यवधान से पुनः प्रयोग किया जा सकता है।

२. जीर्ण रोगियों में स्ट्रेप्टोमाइसिन को लगातार १½-२ मास से अधिक न देकर कुछ दिनों का व्यवधान देकर पुनः देना चाहिये। कुछ चिकित्सकों की राय में ऐसे रोगियों में १ ग्राम सप्ताह में दो बार देने से यक्ष्मादण्डाणुओं में प्रतिरोधकशक्ति नहीं हो पाती।

३. डाइ-हाइड्रोस्ट्रेप्टोमाइसिन से श्रवणनाड़ी का घात होता है। कम सुनने का लक्षण उत्पन्न होते ही इसका प्रयोग तुरन्त बन्द कर देना चाहिये। स्ट्रेप्टोमाइसिन के मिश्र योग किसी कारण से देना न उचित समझा जाय तो स्ट्रेप्टोमाइसिन सल्फेट का स्वतन्त्र रूप में प्रयोग किया जा सकता है। असात्म्य होने पर इससे चक्कर तथा हाथ-पैरों में कम्प सा उत्पन्न होता है जो औषधि बन्द होने के बाद कुछ दिनों में स्वतः ठीक हो जाता है। किन्तु डाइ-हाइड्रोस्ट्रेप्टोमाइसिन की विषाक्तता से उत्पन्न बाधिर्य अधिक बढ़ जाने पर चिकित्सा-साध्य नहीं होता।

४. स्ट्रेप्टोमाइसिन के प्रयोग के साथ में P. A. S. या I. N. H. अथवा दोनों का सहप्रयोग होना आवश्यक है। अलग-अलग प्रयोग करने पर यक्ष्मादण्डाणुओं में प्रतिरोधकशक्ति उत्पन्न हो जाती है, फिर आसानी से लाभ नहीं होता।

५. P. A. S. के प्रयोग से दण्डाणुओं में प्रतिरोधकशक्ति कम-से-कम उत्पन्न होती है। व्याधि की तीव्रावस्था में इसके प्रयोग से शीघ्र लाभ नहीं होता। किन्तु दीर्घ-कालानुबन्धी उपक्रम में इसका सर्वप्रमुख स्थान होना चाहिये। दूसरी औषधियों के व्यर्थ

यक्ष्मज तान्त्वीय विकार (Tubercular Fibrosis)

इस स्थिति में स्ट्रेप्टोमाइसिन के अधिक प्रयोग से कोई लाभ नहीं होता। बीच-बीच में ज्वर आने का लक्षण मिला करता है। आवश्यकता पड़ने पर स्ट्रेप्टोमाइसिन १ ग्रा० के साथ ४ लाख प्रोकेन पेनिसिलिन का ८-१० दिन तक पेशी मार्ग से सूचीवेध देना चाहिये। इस अवस्था में क्षयप्रतिरोधक ओषधियों में P. A. S. सर्वोत्तम माना जाता है। ३-४ ग्राम की मात्रा में दिन में ३-४ बार ४-६ मास तक प्रयोग कराना चाहिये। इसके सात्म्य न होने पर एनाजिड या फाइटेविन आदि में से किसी की २ गोली दिन में ३ बार ३-४ मास तक देना चाहिये।

पोषक-बलकारक-सहायक ओषधियों का प्रयोग पूर्वनिर्दिष्ट क्रम से करते रहना चाहिये। सात्म्य होने पर रसोन का प्रयोग भी हितकर है।

व्यावहारिक निर्देश—

१. स्ट्रेप्टोमाइसिन से व्याधि की तीव्रावस्था में, विशेषकर श्लेष्मकला में उत्पन्न हुई व्याधि में, अधिक लाभ होता है। जीर्ण व्याधियों में तथा लसग्रंथियों के विकार में लाभ कम होता है। जिन रोगियों में अपर्याप्त मात्रा में—अव्यवस्थित क्रम से स्ट्रेप्टोमाइसिन का प्रयोग पहले हुआ हो, उनमें दुबारा प्रयोग करने से लाभ नहीं होता, २-३ मास के व्यवधान से पुनः प्रयोग किया जा सकता है।

२. जीर्ण रोगियों में स्ट्रेप्टोमाइसिन को लगातार १½-२ मास से अधिक न देकर कुछ दिनों का व्यवधान देकर पुनः देना चाहिये। कुछ चिकित्सकों की राय में ऐसे रोगियों में १ ग्राम सप्ताह में दो बार देने से यक्ष्मादण्डाणुओं में प्रतिरोधकशक्ति नहीं हो पाती।

३. डाइ-हाइड्रोस्ट्रेप्टोमाइसिन से श्रवणनाड़ी का घात होता है। कम सुनने का लक्षण उत्पन्न होते ही इसका प्रयोग तुरन्त बन्द कर देना चाहिये। स्ट्रेप्टोमाइसिन के मिश्र योग किसी कारण से देना न उचित समझा जाय तो स्ट्रेप्टोमाइसिन सल्फेट का स्वतन्त्र रूप में प्रयोग किया जा सकता है। असात्म्य होने पर इससे चक्कर तथा हाथ-पैरों में कम्प सा उत्पन्न होता है जो ओषधि बन्द होने के बाद कुछ दिनों में स्वतः ठीक हो जाता है। किन्तु डाइ-हाइड्रोस्ट्रेप्टोमाइसिन की विषाक्तता से उत्पन्न बाधिर्य अधिक बढ़ जाने पर चिकित्सा-साध्य नहीं होता।

४. स्ट्रेप्टोमाइसिन के प्रयोग के साथ में P. A. S. या I. N. H. अथवा दोनों का सहप्रयोग होना आवश्यक है। अलग-अलग प्रयोग करने पर यक्ष्मादण्डाणुओं में प्रतिरोधकशक्ति उत्पन्न हो जाती है, फिर आसानी से लाभ नहीं होता।

५. P. A. S. के प्रयोग से दण्डाणुओं में प्रतिरोधकशक्ति कम-से-कम उत्पन्न होती है। व्याधि की तीव्रावस्था में इसके प्रयोग से शीघ्र लाभ नहीं होता। किन्तु दीर्घ-कालानुबन्धी उपक्रम में इसका सर्वप्रमुख स्थान होना चाहिये। दूसरी ओषधियों के व्यर्थ

सुस्वादु बनाकर देना चाहिये। रुचि बढ़ जाने पर भोजन के परिपाक के लिये निम्न-लिखित योग आवश्यक मात्रा में दिया जा सकता है।

Menthol	gr. one
Taka diastase	grs. 8
Pancreatin	grs. 8
Lacto peptin	grs. 5
Ascorbic acid	100 mg.
Cal. gluconate	gr. 10
	१ मात्रा

भोजन के आधा घण्टे बाद, दोनों समय।

इनके अलावा Pepto diastase, Diapepsin, Digeplex. Vitazyme आदि किसी पाचक योग का सेवन किया जा सकता है।

अतिसार—यक्ष्मा से पीड़ित व्यक्तियों में अतिसार के लक्षण की वृद्धि चिन्तनीय मानी जाती है। व्याधि की विषमगता से ही अतिसार का कष्ट पैदा होता है। क्वचित् दूध का परिपाक न होने के कारण भी पतला मल होने लगता है। शय्या पर पड़े-पड़े हीन मानसिक भावनाओं के कारण क्षोभ होकर अतिसार के लक्षणों की वृद्धि होती है। बहुत से रोगियों में स्थानपरिवर्तन या मानसिक प्रसन्नता के वातावरण के निर्माण से अरुचि, अग्निमांद्य एवं अतिसार में शीघ्र लाभ हो जाता है। भोजन में दूध की मात्रा कम करके उसके स्थान पर छेना या अनुकूल होने पर दही का प्रयोग कराना चाहिये। गूलर एवं कच्चे केले का शाक भी हितकारक होता है। ऊपर निर्दिष्ट पाचन के योग अतिसार में भी आंशिक लाभ करते हैं। क्षयदण्डाणुओं का आन्त्र में उपसर्ग हो जाने पर आन्त्र शोथ उत्पन्न होता है। इसमें भी अतिसार का मुख्य लक्षण मिला करता है। P. A. S. और I. N. H. के प्रयोग से लाभ हो पाता है। कैलसियम ग्लूकोनेट का सिरा द्वारा सप्ताह में दो बार प्रयोग करने से क्षयज अतिसार में प्रायः लाभ होता है। अधिक कष्ट होने पर निम्नलिखित योग कुछ समय तक देना चाहिये।

Sulphaguanadine	1 tab.
Enteroquinole	1 tab.
Pepsin	gr. 5
Allisatin	½ tab.
Dover's powder	gr. 5
Soda mint	1 tab.
	१ मात्रा

आवश्यकतानुसार दिन में २ या ३ बार।

कुछ रोगियों में उक्त योग से मुँह में छाले एवं पेट में जलन का कष्ट हो जाता है। इसके सात्म्य न होने पर निम्नलिखित योग दिया जा सकता है :—

कर्पूरवटी	१ र०
पीयूषवल्ली	१ र०
शंखभस्म	२ र०
लायीचूर्ण	४ र०
	१ मात्रा

भुना जीरा का चूर्ण तथा मिश्री मिला कर जल के साथ दिन में २-३ बार।

पार्श्वशूल—पार्श्वशूल का मुख्य कारण फुफ्फुसावरण का शोथ हुआ करता है। स्थानीय स्वेदन, क्षोभक तैलों की मालिश—लिनिमेण्ट कैम्फर, ए० बी० सी० या लिनिमेण्ट टेरेबिन्थ—आदि करने से लाभ होता है।

विशेष विवरण (पृ० ७३४)

लाक्षणिक रूप में वेदना की शान्ति के लिये निम्नलिखित योग की आवश्यकतानुसार १-२ मात्रा दिन भर में प्रयोग में लाना चाहिये।

R/		
	Cibalgin	1 tab.
	Codein phos	gr. $\frac{1}{8}$
	Sodium gardenol	gr. $\frac{1}{4}$
	Yeast	1 tab.
		१ मात्रा

कास—प्रारम्भिक अवस्था में रोगी को शुष्ककास से बहुत कष्ट होता है। कास के साथ श्लेष्मा का उत्सर्ग होने पर शामक उपचार न करना चाहिये, किन्तु सूखी खाँसी के अधिक वेग पूर्वक आने से फुफ्फुस की कोषाओं का विस्फार—वातोत्फुल्लता (Emphysema)—का उपद्रव और क्षय का प्रसार होता है। बहुत से रोगियों में फुफ्फुसान्तराल (Mediastinal) की बढ़ी हुई लसग्रन्थियों का नाड़ियों पर दबाव पड़ने के कारण क्षोभक रूप से शुष्क कास आती रहती है। कहीं-कहीं स्वरयन्त्र एवं गले के विकारों से कास का कष्ट बढ़ जाता है। इन अवस्थाओं में मुख्य व्याधि की चिकित्सा से ही लाभ होता है। किन्तु तात्कालिक रूप से शमन के लिये चूसने वाली ओषधियों का प्रयोग करना चाहिये। अत्यधिक कास के कारण निद्रा में बाधा पड़ने पर निम्नलिखित योग का प्रयोग दिन में दो बार भोजन के बाद किया जा सकता है।

R/		
	Acid hydrocyanic dil	ms 2
	Spt. chloroform	ms 5
	Oxymel	ms 10
	Syrup Codein phos.	dr. 1
	Aqua	oz 1
		१ मात्रा

कभी-कभी अत्यधिक शुष्क कास के कारण बेचैनी, प्रस्वेद एवं अनिद्रा का कष्ट हो जाता है। ऐसी स्थिति में निम्नलिखित मिश्रण आवश्यकतानुसार १ या २ बार देना चाहिये।

R/		
	Dia morphine hydrochlor	gr. 1/16
	Tr belladonna,	ms 5
	Tr hyoscyamus	ms. 15
	Bromoform	ms 2
	Glycerine	m 10
	Syrup vasaka	dr. 1
	Aqua.	dr. 4
		१ मात्रा

रात में सोते समय।

Diamorphine hydrochlor के न मिलने पर उसके स्थान पर Dionin $\frac{1}{4}$ ग्रेन या Codein phos $\frac{1}{2}$ ग्रेन की मात्रा में मिलाया जा सकता है।

कुछ रोगियों में रात में सोने के बाद श्वासवाहिनी में सूखा हुआ कफ संचित हो जाता है। जिसके निकलने के लिये काफी देर तक कास का वेग आता रहता है। निम्नलिखित योग एक कप गरम पानी में चाय की तरह प्रातःकाल उठने के साथ ही पीने से कफ के निकलने में काफी सहायता मिलती है तथा बार-बार खाँसी नहीं आती।

R/		
	Ammonium chloride	gr 5
	Soda bi carb	gr 15
	Sodium chloride	gr 5
	Spt chloroform	m 10
	Syrup tolu	dr. 1
		१ मात्रा

कास के शमन के लिये फेन्सेडिल कफ लिंक्टस (Phensedyl cough linctus), ग्लाइकोडीन टर्प वसाका (Glycodein terp vasaka), कास्कोपिन (Coscopin) आदि में से किसी का आवश्यकतानुसार प्रयोग किया जा सकता है।

रक्तष्ठीवन—कभी-कभी यक्ष्मा में रक्तष्ठीवन से १-२ पाइन्ट तक रक्तस्राव हो जाता है। रोगी को पूर्ण विश्राम, तरल आहार तथा कास-बेचैनी-अनिद्रा आदि के शमन की व्यवस्था करनी चाहिए। तीव्र वेग से रक्तष्ठीवन होने पर कोई औषधि शीघ्र नहीं काम करती। पर्याप्त मात्रा में रक्त के निकल जाने पर रक्तस्राव स्वयं बन्द हो जाता है। ग्लूकोज २५% ५० सी. सी., जीवतिक्ति सी. ५०० मि. ग्रा. तथा कैलसियम क्लोराइड १० सी. सी.

मिलाकर सिरा द्वारा धीरे-धीरे देना चाहिये। अधिक रक्तस्राव हो जाने पर डेक्स्ट्रावेन (Dextraven), प्लास्मोसान (Plasmosan) या पेरिस्टान (Peristan) को सिरा द्वारा बिन्दु बिन्दु क्रम से देना चाहिये। इसी के साथ रक्तस्कन्दन गुणवाली (Coagulants) ओषधियों का प्रयोग भी किया जा सकता है। Naphthionin, Clauden, Premarin में से किसी को भी मिला सकते हैं। पेशी द्वारा स्कन्दक लसिका (coagulant serum) का प्रयोग भी किया जा सकता है। अत्यधिक रक्तष्ठीवन होने पर पेथिडिन या मार्फिन का प्रयोग अनिवार्य हो जाता है। इसके प्रयोग से रक्तष्ठीवनजनित मानसिक त्रास एवं घबड़ाहट आदि का शमन होकर ५-७ घण्टे के लिये सुखपूर्वक निद्रा आ जाती है तथा इतनी देर तक रक्तष्ठीवन न होने के कारण रक्तस्राव के स्थान पर किलाट (Clot) के दृढ़ हो जाने की सम्भावना होती है। परिणाम में कभी-कभी रक्तष्ठीवन का शमन स्थायीरूप में हो जाता है। इन ओषधियों के प्रयोग से कुछ रोगियों में वमन का कष्ट हो जाता है। इनके सात्म्य न होने पर Largactil २५ मि० ग्रा० की मात्रा में पेशी मार्ग से दे सकते हैं।

थोड़ी मात्रा में बार-बार रक्तष्ठीवन होने पर इमेटिन $\frac{1}{2}$ ग्रेन की मात्रा में पेशी द्वारा २-३ दिन तक देते हैं। कुछ रोगियों में इस से लाभ हो जाता है।

निम्नलिखित योग का प्रयोग पुनरावर्तनशील रक्तष्ठीवन के विकार में करना चाहिये।

R/		
	Cal lactate	gr 10
	Sodium gardenol	gr $\frac{1}{2}$
	Ascorbic acid	200 mg.
	Vit k	10 mg.
	Clauden	1 tab.
		१ मात्रा

दिन में २ या ३ बार ८-१० दिन तक देना चाहिये।

क्षयज रक्तष्ठीवन में निम्नलिखित योग से भी बहुत लाभ होता है।

कामदुघा रसायन	२ र०
मुक्ताशुक्ति पिष्टि	१ र०
रक्तपित्तकुलकण्डन	१ र०
रक्तपित्तान्तक रस	१ र०
बोलचूर्ण	४ र०
नागकेशरचूर्ण	१॥ माशा
लाक्षा चूर्ण	१ मा०
	१ मात्रा

पर्याप्त मिश्री मिलाकर दूध के साथ २-३ बार ४-५ दिन तक।

रक्तष्ठीवन की प्रकृति वाले रोगियों में निम्नलिखित योग का ३-४ सप्ताह प्रयोग कराने से रक्तस्राव का प्रतिबन्धन होता है।

रक्तपित्त कुलकण्डन	१ र०
सुधानिधि	१ र०
स्फटिका भस्म	१ र०
स्वर्ण गैरिक	१ र०
उशीर किञ्जल्कादि	१ मा०
	१ मात्रा

मक्खन एवं मिश्री के साथ दूध के अनुपान से दिन में दो बार।

स्वर भंग—फुफ्फुसक्षय के उपद्रवस्वरूप स्वरयंत्र में शोथ होने के कारण यह लक्षण उत्पन्न होता है। मधुमेह आदि जीर्ण व्याधियों से पीड़ित व्यक्तियों में यक्ष्मा का कष्ट होने पर कभी-कभी प्रारम्भिक लक्षण स्वरभंग ही होता है। रोगी को पूर्ण विश्राम तथा पूर्ण मौनव्रत का पालन कराना चाहिये। अधिक शोभक गण्डूष या प्रलेप से कोई लाभ नहीं होता। क्षय की चिकित्सा में स्ट्रेप्टोमाइसिन I. N. H., P. A. S. का प्रयोग न चल रहा हो तो प्रारम्भ कराना चाहिये। यदि इनके चलते हुये स्वरभंग उत्पन्न हुआ हो तो थायोसेमी कार्बाजोन या वायोमाइसिन का प्रयोग किया जा सकता है। स्ट्रेप्टोमाइसिन तथा वायोमाइसिन का घोल स्वरयन्त्र में स्प्रे यन्त्र से प्रयोग करना चाहिये। मुख्य औषधियों के साथ में कार्टिजोन वर्ग की किसी औषधि का प्रयोग करने से स्वरयंत्रशोथ में शीघ्र लाभ होता है। स्वरयंत्र शोथ में कभी-कभी गले में पर्याप्त वेदना होती है। गले के बाहर से सेंक करना तथा एनीथेन (Anethain) या कोकेन (Cocain) का २ प्रतिशत परिस्रुत जल में बना हुआ घोल ग्लिसरीन के साथ मिलाकर गले के भीतर लगाना चाहिये। इससे ४-५ घण्टों के लिये वेदना का शमन हो जाता है। मुख्यरूप से यक्ष्मा की चिकित्सा से ही लाभ होता है किन्तु रोगी को पूर्णरूप से वाक् संयम करना चाहिये। यक्ष्मा का उचित प्रतिकार करने के बाद व्याधि की तीव्रावस्था का शमन होने पर भी स्वरयंत्र में पूर्णरूप से लाभ न होने पर निम्नलिखित व्यवस्था करनी चाहिये।

१.

किन्नर कण्ठ रस	१ र०
चन्द्रामृत	१ र०
कल्याणचूर्ण	१॥ मा०
	१ मात्रा

मक्खन तथा मिश्री मिलाकर प्रातः-सायं दो बार।

२. बेर के पत्ते १ तोला की मात्रा में पीस कर घी में मन्दी आँच में भून कर ४ र० सेंधा नमक मिलाकर अवलेह के रूप में सोते समय लेना चाहिये।

३-४ सप्ताह इस व्यवस्था से उपचार करने पर स्वरशुद्धि होती है।

रात्रिस्वेद—यक्ष्मा के रोगियों में विशेषकर किलाटीभवन की अवस्था में रात्रि के अन्तिम प्रहर में पर्याप्त मात्रा में प्रस्वेद होता है जिससे रोगी को काफी क्लान्ति तथा बेचैनी होती है। कभी-कभी द्वितीयक उपसर्गों के कारण प्रलेपक (Hectic) ज्वर का उपद्रव होने पर भी रात्रि स्वेद का कष्ट बढ़ जाता है। खुले स्थान में रोगी को लेटाने से शरीर में स्वच्छ वायु के लगते रहने पर प्रस्वेद का प्रतिबन्धन होता है। सोने के पूर्व फिटकरी के पानी में रेक्टीफाइड स्पिरिट मिलाकर हल्के हाथ से सारे शरीर को पोंछने से प्रस्वेद नहीं होता। इसी प्रकार सामान्य रूप से उद्धूलन के लिये प्रयुक्त टैल्कम पाउडर का भी प्रयोग किया जा सकता है।

द्वितीयक उपसर्गों की सम्भावना में पेनिसिलिन या टेरामाइसिन का प्रयोग करना चाहिये। रात में सोने के पूर्व किसी औषधि के साथ में १० बूँद की मात्रा में टिंक्चर बेलाडोना का प्रयोग कराने से लाभ हो जाता है। Antrenyl duplex १ गोली देने से लाक्षणिक रूप से अधिक मात्रा में आनेवाले स्वेद का अवरोध होता है।

निम्नलिखित योग का २-३ सप्ताह सेवन कराने से रात्रि स्वेद का स्थायीरूप से प्रतीकार हो जाता है।

बृहत् कस्तूरीभैरव	½ र०
काञ्चनाभ्र	१ र०
सूतशेखर	१ र०
रौप्यमाक्षिक	१ र०
प्रवाल	२ र०
	१ मात्रा

अश्वगन्धा का चूर्ण १ मा०, जटामांसी १ मा० की मात्रा में मिलाकर मधु के साथ दिन में दो बार।

उपद्रव—

क्षयज मस्तिष्कावरणशोथ, मधुमेह-उपद्रुतक्षय तथा अस्थि एवं सन्धियों के विशिष्ट उपद्रवों का स्वतन्त्ररूप से यथास्थान उल्लेख किया जायगा। यहाँ पर क्षयज लसग्रन्थियों की वृद्धि, उदरावरणशोथ एवं जलोदर का संक्षिप्त उपचार दिया जा रहा है।

क्षयज लसग्रन्थि-वृद्धि—

यक्ष्मा के उपसर्ग के कारण ग्रीवा, फुफ्फुसान्तराल, आन्त्रनिबन्धिनी (Messentric) ग्रन्थियों की मुख्यरूप से विकृति हुआ करती है। इस अवस्था में यक्ष्मादण्डाणु लसग्रन्थियों के भीतर अवरुद्ध रहते हैं। यदि लसग्रन्थियों की दुष्टि व्याधि के प्रारम्भिक परिणाम के रूप में न हों तो दूसरे अङ्गों में क्षय के लक्षण मिल सकते हैं। इनकी विकृति में केवल स्ट्रेप्टोमाइसिन तथा I. N. H. से विशेष लाभ नहीं होता। द्वितीयक उपसर्गों का सन्देह होने पर पेनिसिलिन तथा स्ट्रेप्टोमाइसिन का संयुक्त प्रयोग प्रारम्भ में ८–१० दिनों तक करना चाहिये। Streptoerbazide का सूची वेध से २-३ मास तक दैनिक प्रयोग P. A. S. तथा एनाजिड या P. A. S. तथा Phytebin 272 का प्रयोग २–३ मास तक कराने से लाभ होता है। स्वर्ण के योगों का उपयोग ग्रन्थिक्षय में लाभकारी माना जाता है। ग्रीवा तथा उदर की ग्रन्थियों की विकृति होने पर नीललोहितातीत किरणों का स्थानीय प्रयोग ८–१० मिनट तक, प्रति तीसरे-चौथे दिन—कुल १५–२० बार करना चाहिये। ग्रन्थियों पर लगाने के लिये टिं० आयोडीन का प्रयोग या आयोडेक्स का व्यवहार किया जाता है। काञ्चनार की छाल एवं नागफनी का व्यवहार ग्रन्थिक्षय में बहुत काल से होता आया है। मुख्य ओषधियों के साथ २ गोली काञ्चनार गुग्गुल रात्रि में दूध के साथ ३–४ मास देना चाहिये तथा ग्रन्थियों के ऊपर पुल्टिस के रूप में नागफनी का छिलका निकालकर तेल में पकाकर प्रयोग करना चाहिये। ग्रन्थिक्षय के उपचार में प्रारम्भ में १–२ मास तक कोई लाभ नहीं मालूम पड़ता। बाद में लाभ होता है। जबतक ग्रन्थियों का पूरी तरह शमन न हो जाय चिकित्सा बन्द नहीं करनी चाहिये।

उदरावरणशोथ तथा जलोदर—

फुफ्फुसावरण के समान उदरावरण में क्षयदण्डाणुओं का उपसर्ग हो जाने के बाद शोथ उत्पन्न होता है। कुछ काल बाद तरलांश का निर्यास (Exudate) होने से उदरावरण में जलीयांश का संचय होता है। क्षयज निर्यास में तन्त्वि (Fibrin) की अधिकता रहती है, जिससे तरल गाढ़ा तथा चिपचिपा होता है। उदरावरण में बीच-बीच में अभिलाग (Adhesions) बन जाते हैं, जिससे जलीयांश की मात्रा अन्य कारणों से उत्पन्न जलोदर की अपेक्षा कम होती है।

फुफ्फुसावरणशोथ के समान ही इसका भी उपचार होता है। मुख्य व्याधि का उपचार तथा स्थानीय उपचार के रूप में सेंकना आदि की व्यवस्था से इसमें लाभ हो जाता है। जलीयांश की निर्हरण की आवश्यकता नहीं पड़ती। जलीयांश अपने आप प्रचूषित हो जाता है। जलीयांश के अधिक तनाव के कारण श्वासकृच्छ्र एवं आध्मान आदि का उपद्रव होने पर Esidrex ५० मि० ग्रा० या Chlotried या Naclex आदि मूत्रल ओषधियों का दिन में २-३ बार कुछ दिनों तक प्रयोग किया जा सकता है।

लवणरहित भोजन, मुख्यरूप से आहार के रूप में केवल दूध का सेवन, पूर्ण विश्राम, उदर पर सेंक तथा मुख्य चिकित्सा के रूप में स्ट्रेप्टोमाइसिन P. A. S. एवं I. N. H. का पर्याप्त समय तक प्रयोग करने से पूर्ण लाभ हो जाता है।

निम्नलिखित योग क्षयज जलोदर में बहुत लाभकारक सिद्ध हुआ है। साधारण उपचारों से लाभ न होने पर इसका प्रयोग किया जा सकता है। इसके प्रयोग के समय १॥–२ मास तक मुख्यरूप से ऊटनी या बकरी का दूध पथ्य के रूप में यथेष्ट मात्रा में लेना चाहिये।

वारिशोषण रस	३ र०
पुनर्नवा मण्डूर	२ र०
विजयपर्पटी	१ र०
हिरण्यगर्भ पोट्टली	१ र०
पिप्पलीचूर्ण	४ र०
	मिश्र २ मात्रा

दिन में २–३ बार पुनर्नवास्वरस मधु के साथ।

आरोग्यवर्धिनी मध्याह्न तथा रात्रि में दूध के साथ।

दोषघ्न लेप या दारुषट्कादि लेप को गोमूत्र में पीस, गरम कर उदर पर लेप करना।

प्रतिषेध—

सामान्य परिचर्या के प्रकरण में बताये हुये नियमों के आधार पर स्वच्छ हवादार प्रकाशयुक्त खुले वातावरण वाले स्थानों में निवास, परिश्रम के अनुरूप पोषक आहार, स्त्रियों में बार-बार गर्भ धारण का प्रतिबन्ध, पर्दे का त्याग तथा यक्ष्मा से पीड़ित व्यक्ति का निकट सम्पर्क न रखना—उसके वस्त्र, जूठे बर्तन, जूठे हुक्के आदि का परित्याग। रुग्ण व्यक्ति के साथ एक आसन पर सोना या सम्मुख बैठाकर बात करना हानिकर होता है। रोमान्तिका, इन्फ्लुएञ्जा, कुकास, जीर्णश्वसनीशोथ आदि व्याधियों से मुक्त होने पर यक्ष्मा से बचाव का विशेष प्रयत्न करना चाहिये। सामूहिक रूप से क्ष-किरण परीक्षा द्वारा व्याधि का प्रारम्भिक अवस्था में निदान कर लेने पर उसका प्रसार आसानी से नियन्त्रित हो सकता है।

बी. सी. जी. (B. C. G. or Bacillus calmette guerin)—ट्युबरकुलीन परीक्षा द्वारा प्रतिक्रिया का अभाव होने पर क्षयदण्डाणुओं के प्रारम्भिक उपसर्ग का निराकरण हो जाता है। ऐसी अवस्था में बी. सी. जी. के प्रयोग से क्षय का प्रतिबन्धन किया जा सकता है। बाल्यावस्था में सामूहिक रूप से विधिवत् बी. सी. जी. के प्रयोग तथा आहार-विहार के सन्तुलन से यक्ष्मा का पूर्ण प्रतिषेध हो सकता है।

दण्डाण्वीय प्रवाहिका

(Bacillary Dysentery)

विशिष्ट दण्डाणुओं के उपसर्ग में, प्रवाहिका तीव्र ज्वर एवं विषमयता आदि के लक्षणों तथा बृहदन्त्र शोथ के साथ उत्पन्न होने वाला तीव्र स्वरूप का संक्रामक ज्वर है, जिसमें अत्यधिक संख्या में पतले रक्तमिश्रित मल के साथ अतिसार का कष्ट मुख्य रूप से होता है। इस विकार के कारणभूत दण्डाणु मुख्य रूप से ३ श्रेणी के होते हैं। शिगा दण्डाणु (B. Shiga), फ्लेक्सनर (B. Flexner) तथा सोनदण्डाणु (B. Sonne)। भारतवर्ष में प्रायः शिगा दण्डाणु का ही संक्रमण मिलता है। इसका प्रकोप ग्रीष्म के प्रारम्भ से वर्षा के अन्त तक मिलता है। प्रायः मरक के रूप में इसके तीव्र संक्रामक आक्रमण होते हैं, एक साथ एक परिवार के अनेक व्यक्ति पीड़ित हो सकते हैं। इसका प्रसार मक्खियों द्वारा दूषित खाद्य पेयों के माध्यम से होता है। मुख द्वारा आँतों में पहुँच कर बृहदन्त्र में केन्द्र बनाकर दण्डाणु संवर्धित होते हैं। इनके द्वारा २ प्रकार का विष उत्पन्न होता है। अन्तर्विष (Endotoxin) तथा बहिर्विष (Exotoxin)। इसके बहिर्विष के कारण ही विषमयता के उग्र लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसका संचयकाल २ से ७ दिन का होता है।

लक्षण—

प्रवाहिका का आक्रमण प्रायः आकस्मिक रूप से ज्वर के साथ होता है। उदर में तीव्र शूल, अत्यधिक संख्या में मलत्याग की इच्छा, दिन में २०–३० बार तक मल की प्रवृत्ति, मल में रक्त प्रायः मिला हुआ और क्वचित् मलत्याग के समय केवल रक्त ही उत्सर्गित होता है। उदर में तीव्र पीड़ा, अत्यधिक मरोड़ तथा बार-बार मल की प्रवृत्ति से रोगी अत्यधिक बेचैन रहता है। अतिसार के कष्ट के कारण जलाल्पता, शुष्क जिह्वा, तृष्णा, हृल्लास, वमन आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। विषमयता के कारण तीव्र शिरःशूल, अत्यधिक अवसाद, कटिशूल, क्षुधानाश तथा गम्भीर स्वरूप की निर्बलता उत्पन्न होती है। इसके तीव्र स्वरूप के वेगों के अतिरिक्त मध्यम एवं जीर्ण स्वरूप के विभिन्न गम्भीरता वाले प्रकोप होते हैं, जिनकी विशिष्टता का नीचे पृथक्-पृथक् उल्लेख किया जाता है।

१. अत्यधिक तीव्र आक्रमण (Fulminating attack)—दण्डाण्वीय प्रवाहिका का उग्र वेग होने पर कम्प के साथ तीव्र ज्वर, गम्भीर स्वरूप की विषमयता एवं परिसरीय निपात के लक्षण (Peripheral failure) उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार का कष्ट बालकों एवं दुर्बल प्रकृति के व्यक्तियों में अधिक मिलता है। बालकों में इसके प्रारम्भिक लक्षण मस्तिष्कावरणशोथ के सदृश हो सकते हैं। कम्प, आक्षेप, तीव्र

स्वरूप का उदरशूल एवं स्तब्धता (Shock) तथा वातनाड़ीसंस्थान के उग्र लक्षणों के कारण रोग का निर्णय होने के पूर्व ही रोगी की मृत्यु हो सकती है। बृहदन्त्र में कोथ (Gangrene) के कारण मल के साथ आन्त्र कोषायें अत्यधिक संख्या में निकलती हैं। मल अत्यन्त दुर्गन्धित, रक्त की मात्रा अधिक होने के कारण प्रारम्भ में श्यामवर्ण का तथा बाद में श्लेष्मा व रक्तमिश्रित और अन्त में केवल हरित वर्ण का पानी की तरह पतला होता है। जिह्वा शुष्क, मलावृत, निपात के कारण सारे शरीर में प्रस्वेद तथा शैत्य एवं नाड़ी क्षीण तथा त्वरित होती है। उदर में तीव्र वेदना के कारण रोगी पैरो को मोड़ कर तथा नाभि के पास हाथ का सहारा देकर रखता है।

२. विसूचिका सदृश (Choleric attack)—दण्डाण्वीय प्रवाहिका का प्रकोप मरक के समय प्रायः विसूचिका के समान होता है। वमन, अतिसार के साथ रोग का प्रारम्भ होने पर दोनों में पार्थक्य करना बड़ा कठिन होता है; किन्तु मल में रक्त एवं श्लेष्मा की उपस्थिति तथा मलत्याग के समय अत्यधिक मरोड़ एवं उदरवेदना के लक्षणों की प्रबलता के कारण विसूचिका से इसको अलग किया जा सकता है। प्रारम्भ से ही निपात के लक्षणों की उग्रता के कारण ताप हीन-प्राकृत रहता है। विसूचिका के समान ही जलाल्पता के लक्षण बहुत शीघ्र उत्पन्न हो जाते हैं, किन्तु गम्भीरता की दृष्टि से विसूचिका की अपेक्षा प्रवाहिका से पीड़ित रोगी अत्यधिक क्षीण, बेचैन एवं गम्भीर अवस्था का लगता है। इस प्रकार का वेग भी प्रायः घातक होता है। ग्रीष्म व वर्षा ऋतु में मरक के रूप में विसूचिका के समान भयानक प्रवाहिका का आक्रमण इसी वर्ग का होता है।

३. तीव्र प्रवाहिका सदृश (Acute dysentery)—आकस्मिक रूप में तीव्र प्रवाहिका का आक्रमण तीव्र ज्वर, कम्प, शिर-कटि एवं सर्वांगवेदना के साथ होता है। प्रधानतया हृल्लास, वमन, अत्यधिक तृष्णा तथा बेचैनी के लक्षण होते हैं। उदर में पीड़ा, गुड़गुड़ाहट एवं ऐंठन के साथ निरन्तर मल की प्रवृत्ति होती है। प्रारम्भ में मल अधिक तथा रक्त की मात्रा कम, बाद में रक्तमिश्रित श्लेष्मा निकलता है और ३-४ घण्टे बाद केवल रक्त ही मलत्याग के समय उत्सर्गित होता है। निरन्तर मल-प्रवृत्ति के कारण गुदा शोथ एवं वेदनायुक्त हो जाती है। मलोत्सर्ग के समय कुंथन अत्यधिक होने के कारण कभी-कभी गुदभ्रंश (Prolapse) का उपद्रव मुख्य रूप से बालकों में होता है। मल के साथ रक्त एवं जलीयांश का अधिक मात्रा में क्षय होने के कारण रक्ताल्पता एवं जलाल्पता के लक्षण उत्पन्न होते हैं। नाड़ी अत्यधिक क्षीण, कुछ त्वरित, जिह्वा शुष्क एवं मललिप्त, नेत्रगोलक तथा कपोल पिचके हुये और आकृति से गम्भीर वेदना अभिव्यक्त होती है। उदर में प्रायः वाम भाग में—अवरोही बृहदन्त्र से लेकर मलाशय पर्यन्त (Discending colon—rectum) तीव्र वेदनाक्षमता होती है। विषमयता के कारण तीव्र ज्वर १०२ से १०५ तक, अनिद्रा, बेचैनी, प्रलाप

एवं हृदयदौर्बल्य के लक्षण उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार की अवस्था ५-१० दिन तक रह सकती है। मल के साथ विष का पर्याप्त उत्सर्ग होने पर मलत्याग की प्रवृत्ति धीरे-धीरे कम होने लगती है तथा रक्त एवं श्लेष्मा की मात्रा कम होकर कुछ मात्रा में मल आने लगता है, पित्त की उपस्थिति के कारण मल प्रायः पीत या हरा होता है। बेचैनी-ज्वर-तृष्णा की गम्भीरता में कमी तथा जिह्वा की स्वच्छता उत्पन्न होने पर व्याधि के उपशम का अनुमान होता है।

४. सामान्य प्रकार (Mild)—विषमयता तथा ज्वर के लक्षणों का अभाव, पेट में मध्यम स्वरूप की वेदना एवं मरोड़ के साथ दिन में ८-१० बार श्लेष्मा-रक्त एवं मलमिश्रित शौच की प्रकृति, तृष्णा एवं जलाल्पता के लक्षणों का अभाव तथा जिह्वा की आर्द्रता एवं स्वच्छता का बना रहना दण्डाण्वीय प्रवाहिका के मृदु आक्रमण का परिचायक होता है।

५. जीर्ण प्रकार (Chronic)—विबन्ध एवं प्रवाहिका के लक्षण बीच-बीच में उत्पन्न होते रहते हैं। प्रवाहिका के वेग के समय मल के साथ श्लेष्मामिश्रित रक्त का उत्सर्ग होता है। मिथ्या आहार-विहार के कारण अनेक बार इस प्रकार के वेग आने पर रोगी अत्यधिक क्षीण एवं दुर्बल हो जाता है। रक्तकण तथा शोणवर्तुलि का अत्यधिक क्षय होने के कारण पाण्डुता एवं सर्वाङ्ग शोथ के लक्षण उत्पन्न होते हैं। प्रतिकारक शक्ति की हीनता के कारण श्वसनी-फुफ्फुसपाक, इन्फ्लुएञ्जा आदि संक्रामक विकारों के कारण मृत्यु तक हो सकती है।

प्रायोगिक परीक्षा—

रक्त—श्वेत कणों की संख्यावृद्धि तथा सापेक्ष्य गणना में बहुकेन्द्रियों की वृद्धि मिलती है।

मल—प्रतिक्रिया क्षारीय, भक्षक कायाणु (Macrophage) की उपस्थिति, रुधिर-कायाणु (R. B. C.) तथा बहुकेन्द्रियों की प्रधानता, रुधिरकायाणुओं का मल में प्रकीर्ण रूप में रहना—आमप्रवाहिका में रुधिरकायाणु गुच्छक रूप में संगृहीत मिलते हैं—दण्डाण्वीय प्रवाहिका की विशेषता है। असंदिग्ध निर्णय के लिये मलसंवर्धन के द्वारा विशिष्टदण्डाणु की वृद्धि का परिज्ञान आवश्यक है।

सापेक्ष्य निदान—

विसूचिका, आमप्रवाहिका, विषम-ज्वर एवं कालज्वर में उत्पन्न होने वाला तीव्र स्वरूप का प्रवाहिका का विकार, अन्न-विषता (Food poisoning), आन्त्रिक ज्वर, आन्त्रान्तरप्रवेश (Intussusception) तथा वृद्ध आयु के रोगियों में मलाशय के घातक अर्बुद से इसका पार्थक्य करना चाहिये। विसूचिका में मरोड़ एवं मल में रक्त का अभाव; आमप्रवाहिका में विषमयता एवं ज्वर के लक्षणों

का अभाव तथा मल में आमांश तथा मल की अधिकता, रक्त की कभी-कभी उपस्थिति; विषमज्वर एवं कालज्वरजनित प्रवाहिका में विशिष्ट ज्वरों का पूर्व इतिहास तथा मरोड़ एवं मल में रक्त की अपेक्षाकृत कम उपस्थिति तथा उनके विशिष्ट लक्षणों की उपस्थिति; अन्नविषजनित प्रवाहिका में वमन एवं हृल्लास का आधिक्य, विषमयता-ज्वर के लक्षणों का अभाव आदि विशिष्टताओं के आधार पर दण्डाण्वीय प्रवाहिका का पृथक्करण किया जा सकता है।

रोग विनिश्चय—

वर्षा तथा वसन्त ऋतु में अकस्मात् रोग का प्रारम्भ, एक ही परिवार के अनेक सदस्यों के आक्रान्त होने का इतिवृत्त, मरक के रूप में प्रसार, ज्वर के साथ अत्यधिक संख्या में मरोडयुक्त मलोत्सर्ग, जलाल्पता तथा विषमयता के लक्षण, शुष्क-मलावृत जिह्वा, हृल्लास, वमन, उदर के वाम पार्श्व में वेदनाक्षमता, मल में रक्त की अधिक मात्रा में उपस्थिति तथा रक्त परीक्षा में बहुकेन्द्री श्वेतकायाणुओं की वृद्धि आदि विशिष्ट लक्षणों के आधार पर इस व्याधि का निदान किया जा सकता है।

उपद्रव एवं अनुगामी विकार—

उदरावरणशोथ, सर्वांगशोथ, जलोदर, आन्त्रान्तरप्रवेश, गुदभ्रंश, सन्धिशोथ—विशेषकर जानु एवं गुल्फसन्धियों में, आन्त्र में जीर्ण व्रणों से उत्पन्न व्रणवस्तु के कारण आन्त्रावरोध की उत्पत्ति (Stricture & Obstruction) तथा सव्रण बृहदन्त्रशोथ और नेत्रों में तारामण्डलशोथ (Iritis) नेत्रकलाशोथ (Conjunctivitis) आदि उपद्रव एवं अनुगामी विकार होते हैं।

साध्यासाध्यता—

अत्यधिक तीव्र तथा विसूचिकासदृश प्रकोप में चिकित्सा में विलम्ब हो जाने पर साध्य नहीं होता। विषमयता एवं निपात के लक्षणों की उग्रता होने पर भी असाध्यता बढ़ती है। छोटे बालकों एवं दुर्बल व्यक्तियों में इसका आक्रमण घातक होता है। विशिष्ट प्रभावकारी ओषधियों का प्रारम्भ से ही प्रयोग करने पर साध्यता बढ़ती है।

सामान्य चिकित्सा—

व्याधि की तीव्रावस्था में केवल यवपेया, ग्लूकोज का शर्बत, डाभ का पानी, धान्यपञ्चक कषाय, शतपुष्पार्क आदि का प्रयोग थोड़ी-थोड़ी मात्रा में किया जा सकता है। शिगादण्डाणुजनित—यही भारत में अधिक मिलता है—प्रवाहिका में शर्कराप्रधान पेय अधिक देने चाहिये। फ्लेक्सनर दण्डाण्वीय प्रवाहिका में छेने का पानी, मट्ठा, मुद्ग-यूष आदि प्रोभूजिनप्रधान आहार अधिक हितकर होता है। रोगी को शय्या पर पूर्ण विश्राम कराना आवश्यक है, थोड़ा-सा हिलने-डुलने से भी उदरवेदना

की वृद्धि तथा मलोत्सर्ग की प्रवृत्ति होती है। मल-मूत्र परित्याग के लिये लेटे-लेटे बिस्तर पर ही मलपात्र लगाकर व्यवस्था करनी चाहिए। मलोत्सर्ग के बाद मलद्वार तथा मलपात्र आदि का शोधन गुनगुने पानी में बनाये हुए हल्के जीवाणुनाशक घोल से करना चाहिए। मलद्वार तथा नितम्ब को सूखे मुलायम कपड़े से पोंछ कर एरण्ड तैल या वैसलिन बीच-बीच में लगाते रहने से गुदा-शोथ नहीं होने पाता। उदर पर रुई गरम कर हल्के रूप में सेंक करने तथा फलालैन के मुलायम कपड़े को गरम कर बाँधने से रोगी को आराम मिलता है। विषमयता एवं जलाल्पता के लक्षणों की तरफ प्रारम्भ से ही विशेष ध्यान रखना चाहिये। बालकों एवं वृद्धों में श्वसनीपाक, उदरावरणशोथ, जलोदर, संधिशोथ, सर्वांगशोथ आदि उपद्रवों की सम्भावना अधिक होती है। प्रारम्भ से ही इनके प्रतिबंध की चेष्टा रखनी चाहिये।

औषध-चिकित्सा—

इस व्याधि में मुख्यरूप से कार्यक्षम दो वर्ग की ओषधियाँ होती हैं—

१. शुल्वौषधियाँ—जिनमें आन्त्र में न प्रचूषित होनेवाली—सल्फा गुआनाडीन तथा थैलाजोल, सक्सिनिल सल्फाथियाजोल एवं फार्मासिथाजोल आदि मुख्यरूप से प्रयुक्त होती हैं।

२. प्रतिजीवीवर्ग की ओषधियाँ—जिनमें क्लोरेमफेनिकाल, टेट्रासाइक्लिन, स्ट्रेप्टोमाइसिन, नियोमायसिन, बेसिट्रेसिन का मुख्यरूप से प्रयोग किया जाता है। प्रायः दोनों वर्ग की ओषधियों का मिला-जुला प्रयोग व्यावहारिक दृष्टि से अधिक सफल माना जाता है। व्याधि की गम्भीरता की दृष्टि से इन ओषधियों का प्रयोगक्रम निम्ननिर्दिष्ट विधान से करना चाहिये।

तीव्रस्वरूप के आक्रमण में——क्लोरोस्ट्रेप कैप्स्यूल (Chlorostrep—chloromycetin-streptomycin)—एक कैप्स्यूल प्रति ३–४ घण्टे के अन्तर पर २ दिन तक बाद में ६ घण्टे के अन्तर पर ४ दिन तक। आवश्यकता होने पर दिन में दो बार ३ दिन तक और भी दे सकते हैं।

अथवा

स्ट्रेबेसिन (Strebacin—streptomycin-bacitracin)—प्रारम्भिक मात्रा २ टिकिया बाद में ४–४ घण्टे पर एक-एक टिकिया ४ दिन तक। अन्त में दिन में ३ बार ४ दिन तक। यह दोनों योग तीव्रावस्था में त्वरित लाभ करते हैं। मरोड़, प्रवाहिका तथा ज्वर एवं विषमयता आदि सभी लक्षणों में शीघ्र लाभ होता है।

टेट्रासाइक्लिन (Tetracyclin) या टेरामाइसिन (Terramycin)—तीव्रावस्था में २५० मि० ग्राम २५ प्रतिशत ग्लूकोज के १०० सी० सी० घोल में सिरा द्वारा १२ घण्टे के अन्तर पर अथवा १०० मि० ग्रा० प्रति ८ घण्टे पर पेशीमार्ग

से दो दिन तक देना चाहिये। साथ में मुख द्वारा एक कैप्स्यूल ४-६ घण्टे के अन्तर पर ४ दिन तक बाद में ८ घण्टे के अन्तर पर ४ दिन तक देने से सभी लक्षणों में पूर्ण लाभ हो जाता है।

इनके स्थान पर साइनरमाइसिन (Synermycin), लेडरमाइसिन (Ledermycin) आदि विशालक्षेत्रक दूसरी प्रतिजीवीवर्ग की ओषधियों का भी उपयोग किया जा सकता है।

स्ट्रेप्टोमाइसिन (Streptomycin)—ऊपर निर्दिष्ट ओषधियाँ व्ययसाध्य होने के कारण आशुफलप्रद होते हुये भी व्यापक रूप में नहीं प्रयुक्त हो सकतीं, किन्तु स्ट्रेप्टोमाइसिन और शुल्वौषधियों का संयुक्त प्रयोग सभी दृष्टियों से पूर्ण कार्यक्षम होता है।

स्ट्रेप्टोमाइसिन १ ग्राम दिन में ३ बार पेशीमार्ग से तथा २०० मि० ग्रा० की मात्रा में (२०० मि० ग्रा० की टिकिया अलग से मिलती हैं, उनके अभाव में सूचीवेध के लिये प्रयुक्त स्ट्रेप्टोमाइसिन जिसमें १ ग्रा० या १००० मि० ग्रा० की मात्रा होती है, उसको पानी या समलवण जल में घोलकर मुख द्वारा सेवन कराया जाता है।) टिकिया या घोल के रूप में प्रति ४ घण्टे पर ३ दिन तक। बाद में ६ घण्टे के अन्तर पर ४ दिन तक देना चाहिये।

फ्यूरॉक्सोन (Furoxone)—१ टिकिया ३-४ घण्टे के अन्तर पर ३-४ दिन तक देने से त्वरित लाभ होता है।

सल्फागुआनाडीन—४-८ गोली या थैलाजोल २-४ गोली प्रति ४ घण्टे पर स्ट्रेप्टोमाइसिन के साथ में ४ दिन तक, बाद में पूर्ववत् ६ घण्टे पर ४ दिन तक।

अधिक जलाल्पता का कष्ट न होने पर सल्फाडायजिन या सल्फाडायमिडिन का प्रयोग २ से ४ गोली की मात्रा में ४ घण्टे के अन्तर से ४-६ दिन तक करना चाहिये। इनके साथ में पेक्टिन-केओलिन आदि अन्तःप्रलेपक (Adsorbant) ओषधियों का प्रयोग करने से शुल्वौषधियों का प्रचूषण भी अधिक नहीं होता तथा प्रवाहिका एवं मरोड़ का कष्ट भी शीघ्र शान्त हो जाता है।

मध्यम स्वरूप का आक्रमण होने पर स्ट्रेवेसिन १ गोली तथा सल्फाडायजिन एक टिकिया प्रति ४ घण्टे पर ४ दिन, बाद में दिन में ३ बार ४ दिन तक देना चाहिये।

क्लोरोमाइसिटिन तथा शुल्वौषधियाँ—सल्फामाइसेटीन आदि या स्ट्रेप्टोमाइसिन और शुल्वौषधियों के योग (Streptotried) का प्रयोग मध्यम स्वरूप के आक्रमण में बहुत लाभकर होता है। उचितमात्रा में ४-६ घण्टे के अन्तर पर ८-१० दिन तक देने से पूर्ण लाभ हो जाता है। बालकों के लिये उक्त ओषधियों के जलविलेय योग आते हैं, जिनका आवश्यकतानुसार उचित मात्रा में प्रयोग करना चाहिये। कोमाइसिन (Comycin) इन्टरोसक्सिडीन (Entrosuccidine), क्रीमोसक्सिडीन (Cremosuccidine),

जिडिमाइसिन (Jidimycin), पॉली मैग्मा (Polymagma) आदि में से किसी योग का प्रयोग किया जा सकता है।

जीर्ण स्वरूप (Chronic type) का आक्रमण होने पर विशालक्षेत्रक प्रतिजीवी वर्ग की ओषधियों की कोई अपेक्षा नहीं है। संचित मल का शोधन, रक्ताल्पता एवं शोणवर्तुलि की हीनता का उचित उपचार करते हुये शुल्बोषधियों—थैलाजोल २ टिकिया सल्फाडायजिन १ टिकिया दिन में ४ बार एक सप्ताह तक—देना चाहिये। बैसिट्रेसिन का प्रयोग जीर्ण स्वरूप के विकार में भी पर्याप्त लाभकर होता है। अतः स्ट्रेवेसिन या किसी तत्सम योग का सहप्रयोग शुल्बोषधियों के साथ करने से अपेक्षाकृत अधिक लाभ होता है।

जीर्ण रोगियों में स्ट्रेप्टोमाइसिन ½ ग्रा० दिन में दो बार ५ दिन तक पेशी मार्ग से, मुख द्वारा सल्फागुआनाडीन ४ गोली प्रति ४ घण्टे पर ४ दिन तक, बाद में ६ घण्टे पर ४ दिन तक, आगे ८ घण्टे पर ४ दिन तक देना चाहिये।

गुनगुने समलवण जल या हल्के गरम बोरिक एसिड के २ प्रतिशत घोल से आन्त्र का प्रक्षालन करने के बाद ½ से १ प्रतिशत शक्ति का प्रोटार्गल या कोलार्गल का घोल ४ से ८ औंस की मात्रा में अनुवासन बस्ति के रूप में देना चाहिये। यदि इस बस्ति का प्रयोग करने के बाद पेट में ऐंठन या वेदना का कष्ट अधिक हो तो समलवण जल के एक पाइण्ट गुनगुने घोल से प्रक्षालन करना चाहिये। कुछ व्यक्तियों में प्रोटार्गोल आदि की अपेक्षा तूतिया का ½ प्रतिशत घोल अधिक अनुकूल आता है। इसके अलावा १ ग्राम स्ट्रेप्टोमाइसिन, ८ से १२ टिकिया सल्फागुआनाडिन ८ औंस समलवण जल के कदुष्ण घोल में (आवश्यकतानुसार स्टार्च मिलाकर घोल बनाना चाहिये) मिलाकर अनुवासनबस्ति के रूप में प्रयोग सोडा बाई कार्ब के २ प्रतिशत घोल के प्रक्षालन के बाद करना चाहिये।

निम्नलिखित क्वाथ का अनुवासन बस्ति द्वारा १५ दिन तक प्रयोग करने से जीर्ण रोगियों में पर्याप्त लाभ होता है।

मुलेठी	६ मा०
देवदारु	६ मा०
दारुहरिद्रा	६ मा०
सहजन की छाल	६ मा०
वरुण की छाल	६ मा०
गूलर की छाल	६ मा०
कुटज की छाल	१ तोला

आधा सेर जल में पकाकर आधा पाव शेष रहने पर छानकर हलके गरम रूप में अनुवासन बस्ति देनी चाहिये।

यदि इस वस्ति के प्रयोग के पूर्व गुनगुने पानी में १-२ नीबू का रस मिलाकर शोधनवस्ति का प्रयोग कर लिया जाय तो विशेष लाभ होता है।

व्यावहारिक निर्देश—

१. रोग का आक्रमण होने पर लक्षणों के आधार पर दण्डाण्वीय प्रवाहिका का निदान हो जाने के बाद विशिष्ट औषधियों का जितना शीघ्र प्रयोग प्रारम्भ कर दिया जाता है, विषमयता एवं जलाल्पता आदि के गम्भीर उपद्रव उतने ही कम होते हैं। अतः प्रायोगिक परीक्षा के परिणामों की प्रतीक्षा में प्रमुख औषधियों के प्रयोग में विलम्ब न करना चाहिये।

२. प्रतिजीवीवर्ग की औषधियों के प्रयोग से रोग के लक्षणों में शीघ्र सुधार हो जाता है। किन्तु दण्डाणु के आक्रमण से उत्पन्न आन्तरिक विकार कुछ विलम्ब से ठीक होते हैं। लाक्षणिक सुधार होने के बाद रोगी की परिचर्या एवं आहार-विहार में तथा उत्तरकालीन उपद्रवों के प्रतिबन्ध के लिये व्यवस्था में शिथिलता न आनी देनी चाहिये। अन्यथा तीव्रावस्था का कष्ट जीर्णावस्था में परिवर्तित हो जायगा।

३. विशालक्षेत्रक प्रतिजीवी औषधियों के प्रयोग के साथ में केओलिन, पेक्टिन, ईसबगोल आदि आन्त्र में उपलिप्त होकर कार्य करने वाली औषधियों का प्रयोग न करना चाहिये। इसके द्वारा आन्त्र के व्रणों पर आवरण सा बन जाने से प्रतिजीवी औषधियों का दण्डाणुओं पर प्रत्यक्ष घातक परिणाम भली प्रकार नहीं हो पाता।

४, लाक्षणिक रूप में मरोड़ प्रवाहिका आदि का शमन हो जाने पर पर्याप्त समय तक रक्तवर्धक तथा दीपन-पाचन औषधियों का प्रयोग करना आवश्यक होता है। अन्यथा रोगी के बल सञ्जनन में अधिक विलम्ब लगता है।

५. जीर्णावस्था के प्रकोप में प्रतिजीवी या शुल्वौषधियों का प्रयोग अनुवासन वस्ति के रूप में अधिक हितकर होता है। २ प्रतिशत सोडा बाई कार्ब के घोल से बृहदंत्र एवं मलाशय का शोधन करने के बाद स्ट्रेप्टोमाइसिन क्लोरेम्फेनिकाल या टेरामाइसिन का ५०० मि० ग्रा० की मात्रा में ४ औंस समलवण जल में घोल बनाकर विधिपूर्वक अनुवासन वस्ति का प्रयोग लगातार दस दिन तक करना चाहिये।

लाक्षणिक चिकित्सा—

आध्मान तथा प्रवाहण—

इनके शमन के लिये मेडिसिनिल चारकोल, केओलिन या आस्मो केओलिन (Osmokaolin), केओपेक्टिडिन (Kaopectidin) आदि को पानी में घोलकर बार-बार पिलाना चाहिये। शुल्वौषधियों का प्रयोग निम्नलिखित रूप में करने पर मुख्य व्याधि के साथ इन लक्षणों का भी उपशम होता है।

R/

Sulphaguanadin	4 tabs.
Kaolin	dr. 1
Soda bi carb	grs 15
Soda sulph	gr 30
Pot bromide	gr 10
Pot citras	grs 20
Tr hyocyamus	grs 15
Ext bael liq	dr. 1
Gum acacia	qs
Syp glucose	dr. 2
Aqua anisi	oz 1
	१ मात्रा

प्रति ४ घण्टे पर ४-६ दिन तक।

आध्मान अधिक होने पर कार्बकाल (Carbeohol) या एट्रोपिन सल्फ (Atropine sulph) का उचित मार्ग से प्रयोग करना चाहिये।

सोडा बाई कार्ब के २ प्रतिशत के गुनगुने घोल से आन्त्र का प्रक्षालन करने पर इन लक्षणों की शीघ्र शान्ति होती है। पेट के ऊपर आर्द्र सेंक करने से आध्मान में विशेष लाभ होता है।

इन प्रयोगों से आध्मान में लाभ न होने पर फ्लेटस ट्यूब (Flatus tube) को अच्छी तरह स्निग्ध कर बहुत धीरे धीरे कुछ दूर तक प्रवेश करना चाहिये, कहीं अवरोध मालूम पड़ने पर बलपूर्वक प्रवेश कराने से आन्त्र निच्छिद्रण का भय रहता है।

मरोड़ (Griping)—

प्रवाहण के उपचार में वर्णित क्रम से मरोड़ का भी पर्याप्त शमन हो जाता है। विशेष कष्ट होने पर नीचे लिखा योग देना चाहिये—

Spasmindon	tab 1
Charcoal	1 tab.
Cal-patothenate	25 mg.
Cal lactate	grs 10
Ascorbic acid	100 mg.
	१ मात्रा

४-६ घण्टे के अन्तर पर आवश्यकतानुसार।

विषमयता तथा जलाल्पता—

इसके तीव्र आक्रमण में दण्डाणु का बहिर्विष शरीर में व्यापक रूप से विषमयता के लक्षण उत्पन्न करता है। अत्यधिक मल प्रवृत्ति के कारण शरीर का जलीयांश पर्याप्त

मात्रा में निकल जाता है। कभी-कभी वमन तथा अरोचक के कारण रोगी पर्याप्त मात्रा में जल का सेवन नहीं कर पाता। यह दोनों ही लक्षण एक-दूसरे से सम्बद्ध होते हैं। दोनों का समान उपचार है। रोगी को पर्याप्त मात्रा में उबाला हुआ जल सादा या ग्लूकोज सोडा बाई कार्ब मिलाकर पिलाना चाहिये। कम-से-कम १५०० सी० सी० मूत्र की राशि २४ घण्टे में होती रहनी चाहिये।

मुख द्वारा पूरी तरह जल की राशि न ले सकने पर सिरा द्वारा (बालकों में त्वचा मार्ग से) १ पाइन्ट ग्लूकोज एवं समलवण जल का प्रयोग करना चाहिये। सम्भव होने पर प्लाज्मोसान डेक्स्ट्रावेन या पेरिस्टान आदि रक्तरस के सदृश योगों का प्रयोग कराना चाहिये।

अनिद्रा-बेचैनी—

विषमयता एवं व्याधि की तीव्रता कम होने पर इन लक्षणों का स्वतः उपशम हो जाता है। आवश्यक होने पर सोडियम गार्डिनाल $\frac{1}{2}$ ग्रे० की मात्रा में २-३ बार दिन भर में देना चाहिये। विशेष बेचैनी होने पर विषमयता के उपचार के अतिरिक्त निम्न-लिखित योग देना चाहिये—

Medomin	$\frac{1}{2}$ tab.
Cibalgin	1 tab.
Caffein citras	gr. 2
Codein phos	gr. $\frac{1}{6}$
Camphor monobrome	gr. 1
	१ मात्रा

दिन में १ या २ बार।

हृद्-दौर्बल्य तथा निपात—

यह लक्षण प्रायः तीव्रविषमयता के साथ रहता है। कोरामिन, वेरिटाल, कार्डिया-जोल आदि हृदयोत्तेजक औषधियों के प्रयोग से लाभ होता है। कभी-कभी परिसरीय रक्तवाहिनी निपात के कारण नाड़ी अत्यधिक क्षीण, हाथ-पैर ठण्डे हो जाते हैं। इस अवस्था में बोतल में गरम पानी भरकर या बिजली के बल्ब से गरमी पहुँचाना। सिरा द्वारा ग्लूकोज-प्लाज्मोसान आदि का व्यवहार करना, आवश्यक होने पर डोका (Doca), कार्टिन (Cortin), मुश्क कैम्फर इन आयल आदि का सूचीवेध के मार्ग से प्रयोग करना चाहिये।

उपद्रवों की चिकित्सा—

१. जलोदर—उदरावरण शोथ के कारण प्रायः जलोदर का उपद्रव होता है। उदर पर उष्ण प्रयोग, प्रतिजीवीवर्ग की औषधियों का प्रयोग तथा पोषक-सुपाच्य आहार

की व्यवस्था से लाभ होता है। कुछ दिन तक आहार में नमक का परित्याग कर, मुख्यरूप से दूध पर रखना चाहिए। जलीयांश का अधिक संचय प्रायः नहीं होता। आवश्यक होने पर मूत्रल ओषधियाँ — Esidrex, Chlotried, Na-clex आदि का दिन में २-३ बार ४-५ दिन तक प्रयोग किया जा सकता है।

संधिशोथ—प्रवाहिका के आक्रमण के समय या रोगमुक्ति के बाद प्रायः जानु एवं गुल्फसंधियों में शोथ होता है। स्थानीय सेंक से प्रायः लाभ हो जाता है। बालू या नमक की पोटली से सेंक करना तथा क्षोभक योग—विन्टोजिनो (Wintogino), आयोडेक्स (Iodex) या लिनिमेन्ट टरबिंथ (Lin. terbenth) की मालिश करके गरम रुई बाँधना चाहिए।

सर्वांगशोथ—रक्ताल्पता तथा प्रोभूजिनों का मल के साथ अधिक उत्सर्ग हो जाने के कारण रोगमुक्ति के बाद, विशेषकर जीर्ण स्वरूप के विकार में, यह उपद्रव होता है। साइट्रेटेड दूध (२ ग्रेन सोडासाइट्रास १ छटाक दूध में) या बकरी के दूध तथा पूर्व पाचित प्रोभूजिनों के पर्याप्त प्रयोग से शीघ्र लाभ हो जाता है। आवश्यकतानुसार ४—५ दिनों तक मूत्रल योगों का व्यवहार किया जा सकता है।

श्वसनी-फुफ्फुसपाक—प्रतिकारक शक्ति की न्यूनता के कारण द्वितीयक उपसर्गों के आक्रमण से यह उपद्रव होता है। पेनिसिलिन तथा टेट्रासायक्लीन आदि प्रतिजीवी वर्ग की ओषधियों के प्रयोग से शमन की चेष्टा करनी चाहिए। प्रारम्भ से शीत से बचाव तथा प्रवाहिका के शमन के लिए क्लोरोमायसिटीन एवं स्ट्रेप्टोमायसीन आदि के प्रयोग से इसका प्रतिबंधन होता है।

गुदभ्रंश—मरोड़ तथा कुंथन के कारण प्रायः बच्चों तथा दुर्बल व्यक्तियों में यह उपद्रव होता है। गरम लवणजल से शोधन बस्ति का प्रयोग, मलोत्सर्ग के बाद बोरिक एसिड या स्फटिका द्रव (फिटकरी के घोल) के गरम घोल से गुदभ्रंश स्थल का स्वेदन तथा बाद में अहिफेन तथा कषाय गुणवाले मलहम को लगाकर गुदा को धीरे से दबाकर भ्रंश का निराकरण करना चाहिए। रोगी को गुद-सङ्कोच का व्यायाम दिन में कई बार करने के लिए सलाह देनी चाहिए। टब में गरम पानी भर कर उष्णकटिस्नान से भी लाभ होता है। अहिफेन मलहम (Ung. gallae e opii), एन्यूजोल (Anujole), प्राक्टोसेडिल (Proctosedyl) या नुपरकेनोल (Nupercainol) आदि मलहम के प्रयोग लाभकर होते हैं। गुद शोथ के लक्षण होने पर ओमनामायसीन (Omnamycin) या दूसरी प्रतिजीवीवर्ग की ओषधियों का प्रयोग करना चाहिए।

बलसंजनन—

रोगमुक्ति के बाद पर्याप्त समय तक आहार-विहार का संयम, सुपाच्य एवं पोषक भोजन का नियत समय पर सेवन तथा टहलने-घूमने का हलका व्यायाम हितकर

होता है। व्याधि के जीर्ण या तीव्र आक्रमणों से सारा पाचन-संस्थान हीनबल हो जाता है। जीवतिक्ति बी. हाइड्रोक्लोरिकअम्ल तथा दूसरी पचनसहायक ओषधियों का सेवन करना चाहिए। निम्न क्रम से व्यवस्था करने पर शीघ्र बलाधान होता है।

१.	वृ. लोकनाथ	१ र०
	सिद्धप्राणेश्वर	१ र०
	मण्डूरभस्म	२ र०
	रसपर्पटी	१ र०
		१ मात्रा

प्रातः-सायम् भुने हुए जीरा के चूर्ण तथा मधु से।

२. कुटजारिष्ट—१।-२॥ तोला की मात्रा में भोजन के बाद दोनों समय बराबर जल मिलाकर।

३. धात्री रसायन—१-२ तोला को मात्रा में सोते समय दूध के साथ।

प्रतिषेध—

नियमित आहार-विहार, अपरिपक्व तथा सड़े-गले फल एवं बासी भोजन, आयस्क्रीम आदि पदार्थों का परित्याग, मक्खियों का विनाश तथा मरक के समय प्रतिबंधक रूप में सल्फागुआनाडीन या थैलाजोल की २ टिकिया दिन में ३ बार ८-१० दिन तक सेवन करने से लाभ होता है।

विसूचिका

(Cholera)

मरक के रूप में फैलने वाला तीव्र औपसर्गिक रोग है, जिसमें चावल के धोवन के समान सफेद रंग के पतले दस्त, वमन, हाथ-पैर की पेशियों में ऐंठन एवं मूत्राघात आदि लक्षण होते हैं।

इस रोग का प्रधान उत्पादक कारण विशेष प्रकार का दण्डाणु है। इसका आकार अर्धविराम (कॉमा Comma) के समान होने के कारण कॉमा वैसिलाई या वक्राणु तथा अपने तन्तुपिच्छ से सदैव गतिमान् होने के कारण Vibrio या वेपनाणु कहा जाता है। इन जीवाणुओं से दूषित आहार का सेवन करने पर विसूचिका की उत्पत्ति होती है। यह रोग उष्ण एवं समशीतोष्ण प्रदेशों में, भारतवर्ष के उत्तर प्रदेश बिहार उत्कल बंगाल और मध्यप्रदेश में अधिक होता है तथा जिन प्रान्तों में खुले जलाशयों का संचित पानी पीने के लिये प्रयुक्त होता है, वहाँ इसका प्रसार अधिक होता है।

अधिक जन-समाज एकत्रित होने पर मेलों व अधिवेशनों में मल-मूत्रादि के शोधन का सम्यक् प्रबन्ध नहीं हो पाता, इसी कारण बड़े-बड़े मेलों के बाद उस प्रदेश में विसूचिका का आक्रमण प्रायः हुआ करता है। आर्द्र जलवायु, उष्णता, आनूपदेश एवं अपर्याप्त वर्षा विसूचिका के प्रसार में सहायक होते है। इसी कारण ग्रीष्म के अन्त एवं वर्षा के प्रारम्भ में इसका प्रकोप अधिक होता है। पचन-संस्थान के जीर्ण विकारों से पीड़ित, अनशन अध्यशन गुरु-भोजन आदि आहार के हीनयोग-अतियोग-मिथ्यायोग होने पर, मद्यपान चिन्ता शोक आदि मानसिक भावों के प्रभाव से अथवा अन्य कारणों से उत्पन्न जठराग्नि की हीनता तथा बार-बार विरेचक ओषधियों के प्रयोग से पचन-संस्थान की दुर्बलता इस रोग के आक्रमण में सहायक होती है। मुख्यतया विसूचिका वक्राणुओं के द्वारा रोगोत्पत्ति होती है, किन्तु स्वस्थ व्यक्तियों में परखनली में संवर्धित विसूचिका-वक्राणुओं का प्रवेश मुखद्वारा कराने पर हमेशा विसूचिका नहीं हो पाती। इस दृष्टि से औपसर्गिक जीवाणुओं के अतिरिक्त आमाशय एवं पचन-संस्थान की अकार्यक्षमता या दुर्बलता भी जीवाणु के समान ही महत्त्वपूर्ण कारण मानी जानी चाहिए।

विसूचिका वक्राणुओं का प्रसार दूषित खाद्य-पेयों के द्वारा होता है। भोजन एवं जल रुग्ण या संवाहक व्यक्ति के मल में दूषित हो जाने पर उपसृष्ट हो जाता है। खाद्य-पेय की यह दुष्टि मुख्यतया मक्खियों के कारण होती है। इस कारण जिन ऋतुओं में मक्खियों की उत्पत्ति अधिक होती है, उन्हीं ऋतुओं में विसूचिका का प्रसार भी अधिक होता है। मेलों या जन-समूह के दूसरे अवसरों पर खाद्य-पेयों के उचित संरक्षण की व्यवस्था न करने पर मक्खियों द्वारा उनके दूषित होने का भय बना रहता है। क्योंकि जिस चाव से मक्खियाँ मिष्टान्नों पर बैठती हैं, उसी चाव से मल एवं दूषित स्थानों पर भी बैठती हैं। विसूचिका-वक्राणु रोगी के मल एवं वमन में पर्याप्त मात्रा में रहते हैं। इसलिये वमन एवं मल का पूर्ण संशोधन न करने पर या स्वास्थ्य के नियमों का पालन न करने पर एक ही कुटुम्ब के अनेक व्यक्ति अनुक्रम से विसूचिका-क्रान्त होते हैं। विसूचिका-वक्राणु ऊष्मा एवं शुष्कता से शीघ्र नष्ट हो जाते हैं तथा क्लेद एवं शीत में जल्दी नष्ट नहीं होते। बरफ, आइसक्रीम या इसी प्रकार के दूसरे शीत पेयों द्वारा इसका प्रसार आसानी से होता है। रोगमुक्ति के बाद भी पर्याप्त समय तक विसूचिका-वक्राणु रोगी के पित्ताशय में संचित रह सकते हैं, जहाँ से पित्त के साथ मल में उत्सर्गित होकर रोग का प्रसार हो सकता है। पीड़ित व्यक्तियों के अतिरिक्त विसूचिका के स्वस्थ वाहक भी देखे जाते हैं, जिनके कभी विसूचिका पीड़ित न होने पर भी मल में विसूचिका-वक्राणु मिला करते हैं। मेले या अन्य दूसरे अवसरों पर अधिक व्यक्तियों के एकत्र होने पर संयोगवश कुछ वाहक अवश्य रहते हैं, जिनके मल में उपस्थित दण्डाणुओं का मक्खियों द्वारा खाद्य-पेयों के उपसृष्ट होने के बाद इस रोग का प्रसार हुआ करता है। दुर्बल व्यक्तियों, बालकों

एवं गर्भिणी स्त्रियों में विसूचिका की घातकता बढ़ती है। प्रायः गर्भपात भी हो जाता है। जानपदिक रूप में ग्रीष्म के अन्त, प्रावृट एवं वर्षा के प्रारम्भ में विसूचिका के रोगी यत्र-तत्र मिला ही करते हैं। प्रायः प्रति पाँचवें-छठें वर्ष इसका मरक आता रहता है और विशाल जनसमुदाय एकत्रित होने के बाद व्याधि का स्थानीय प्रकोप तथा विभिन्न जनपदों में इसका प्रसार आसानी से हो जाता है। विसूचिका दण्डाणुओं की वृद्धि के लिये क्षार-प्रतिक्रिया अनुकूल एवं अम्ल-प्रतिक्रिया प्रतिकूल होती है। इसलिये स्वस्थ व्यक्तियों के जाठराम्ल की अम्लता से उपसृष्ट खाद्य-पेय-पदार्थों के साथ प्रविष्ट विसूचिका के दण्डाणु मर जाते हैं। किन्तु अग्निमांद्य या असमय भोजन करने के कारण जठराम्ल की न्यूनता होने पर यह जीवाणु आमाशय में पूरी तरह नष्ट नहीं होते। क्षुद्रान्त्र में पहुँच कर वहाँ अनुकूल क्षारीय परिस्थिति होने के कारण भली प्रकार संवर्धित होते हैं।

विसूचिका-वक्राणु मुख्यतया शेषान्त्र (Ileum) में संवर्धित होते तथा क्षुद्रान्त्र में ही मर्यादित रहते हैं। कुछ रोगियों में पित्ताशय तक पहुँचते हैं। विसूचिका-दण्डाणु अन्तर्विष बनाते हैं जो उनके मर जाने पर स्वतन्त्र होकर आन्त्र में प्रसेक उत्पन्न करता है, जिससे अधिक मात्रा में लसिका आन्त्र में स्रावित होकर मल के साथ निकलता है। बार-बार मल के साथ शरीर की द्रव धातु के निकल जाने के कारण जलांश की कमी हो जाती है। पेशियों की ऐंठन, रक्त का गाढ़ापन आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। आन्त्र के अतिरिक्त वृक्क, यकृत, हृदय एवं रक्तवाहिनियों पर भी विसूचिका-विष का प्रभाव पड़ता है। जिससे इन अंगों की कार्यक्षमता भी घट जाती है। वृक्क में रक्त का संचार समुचित रूप से न होने के कारण मूत्राघात एवं मूत्र-विषमयता उत्पन्न होती है। हृदय की दुर्बलता के कारण हीन रक्तनिपीड एवं शरीर में द्रवांश की कमी के कारण रक्त का गाढ़ापन मूत्राघात एवं मूत्रविषमयता में सहायक होता है। रक्त में रुधिर कायाणुओं की संख्या द्रवांश की कमी के कारण ५०—५५ लाख स्वाभाविक संख्या से बढ़कर ७०—८० लाख प्रतिघन मिली मीटर तक हो जाती है। रक्त में लसकायाणुओं की कमी और एक कायाणुओं की वृद्धि और रक्त की आपेक्षिक गुरुता १०५६ के स्वाभाविक अंश से बढ़कर १०६६ या अधिक गम्भीर रोगियों में १०७० तक हो जाती है। प्रायः सात प्रतिशत गुरुता के बढ़ने में शरीर का एक तिहाई जलीयांश नष्ट होता है। इस प्रकार १०६३ रक्त-गुरुता होने पर एक तिहाई जलीयांश तथा १०७० रक्त-गुरुता होने पर दो तिहाई जलीयांश के नाश का अनुमान किया जा सकता है। जलीयांश के साथ ही क्लोराइडस भी निकलते जाते हैं, इससे रक्त में उनकी स्वाभाविक (.८५ ग्राम) राशि कम हो जाती है तथा रक्त की क्षारीयता घट जाने के कारण अम्लोत्कर्ष (Acidosis) और मूत्र-विषमयता उत्पन्न होती है। रक्त के गाढ़ा हो जाने के कारण केशिकाओं में उसका सम्यक् संचार नहीं हो पाता तथा हृदय-दुर्बलता के कारण रक्त भली प्रकार परिसरीय अंगों में

नहीं पहुँच सकता । इस प्रकार संक्षेप में विसूचिका की मुख्य विकृति आन्त्र में विसूचिका विष के प्रभाव से प्रक्षोभ की उत्पत्ति एवं लसिका का स्राव है और अन्य सारे लक्षण द्रवापहरण, विषमयता, रक्त संकेन्द्रण आदि के कारण होते हैं । विसूचिका-विष की प्रतिक्रियास्वरूप शरीर में संताप की वृद्धि भी होती है । कुछ रोगियों में संताप एवं निपात का लक्षण ही मुख्यरूप से उपस्थित होता है । अत्यधिक वमन तथा अतिसार के कारण एवं निपात के परिणामस्वरूप कक्षा का ताप प्रायः हीन प्राकृत ही रहा करता है । किन्तु गुदा का ताप हमेशा ऊँचा रहता है । अतः विसूचिका के सभी रोगियों में कक्षा एवं मुख का ताप विश्वसनीय न मान गुदा के ताप की माप करनी चाहिये ।

लक्षण—

रोग का सञ्चयकाल कुछ घण्टों से ४-६ दिनों तक का होता है । कुछ रोगियों में, विशेष प्रकार से सौम्य स्वरूप का आक्रमण होने पर, मुख्य लक्षणों के पूर्व पित्तयुक्त हरितवर्ण के पतले दस्त, वमन, हृल्लास, अवसाद, मूत्राल्पता आदि लक्षण होते हैं। विसूचिका के कारण अकस्मात् पीड़ारहित अतिसार, मण्डसदृश वर्णहीनमल, जल-सदृश श्रमरहित वमन, अतिसार की तुलना में अपेक्षाकृत अत्यधिक दौर्बल्य, अल्प विस्फारयुक्त क्षीण नाड़ी, पेशियों में उद्वेष्टन, अंगुलियों की पानी में भींगने सदृश सिकुड़न (Washer woman fingers), आँखों का नेत्रकोटरों में धँस जाना, वेदनायुक्त आकृति, मुमूर्षु-मुखचर्या (Facies hippocratica), ओष्ठों एवं नखों की श्यावता, दाह, तृष्णा, बेचैनी, मूत्राल्पता आदि लक्षण होते हैं ।

रोग की निम्नलिखित ३ अवस्थायें विभाजित की जा सकती हैं:—

१. विरेचन की अवस्था (Stage of evacuation)—प्रायः इसी लक्षण के साथ रोग का प्रारम्भ होता है । प्रथम १-२ बार तक अतिसार के साथ मल एवं पित्त की मात्रा हो सकती है, किन्तु कुछ समय बाद चावल के धोवन के समान विशेष प्रकार का जलसदृश मल अधिक मात्रा में पुनः-पुनः निकलता रहता है । पेट में हलकी गुड़गुड़ाहट एवं आध्मान का सा अनुभव होता है । किन्तु मरोड़, कुंथन या शूल का अनुभव उदर में नहीं होता । रेचन के कुछ समय बाद वमन का प्रारम्भ होता है। क्वचित् वमन पहले भी हो सकता है । प्रथम १-२ वमनों में भुक्त-आहार का शेष अंश निकलता है, किन्तु थोड़ी देर बाद मल के समान वमन में भी पानी के सदृश पतला और सफेद तरल निकलता है । वमन के समय रोगी को किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता तथा वमन के पूर्व हृल्लास नहीं होता और उसके लिये प्रयत्न पूर्वक उत्क्लेश करने की भी आवश्यकता नहीं होती । इस प्रकार कुछ समय बाद वमन एवं मल वर्णहीन या माँड के सदृश पित्तहीन, मात्रा में अधिक, पीड़ारहित, बिना प्रयत्न के होता है । मल में

जल की मात्रा अधिक होती है तथा उसको रखने पर उसमें लच्छेदार तलछट आती है और ऊपर स्वच्छ पानी की तह जम जाती है। मल के जल में लवण, शुक्ति और म्यूसिन (Albumin & mucin) होती है। प्रतिक्रिया क्षारीय तथा आपेक्षिक गुरुत्व १००६ से १०१२ तक होता है। सूक्ष्मदर्शक से परीक्षा करने पर मल में विसूचिकादण्डाणु, रक्तकण, श्वेतकण, शरीर की इतर कोषाएँ (Epethelial cells) आदि मिलते हैं। वमन एवं मल में पित्त बिल्कुल नहीं रहता तथा वमन व मल के साथ जलीयांश का अत्यधिक नाश हो जाने के कारण रोगी थोड़े समय में ही बहुत क्षीण हो जाता है। शरीर में जलीयांश की कमी होने के कारण शाखाओं में—विशेषकर पिण्डलियों एवं अँगुलियों में—ऐंठन, ऐंठन के समय तीव्र पीड़ा, तृष्णा, जिह्वा की शुष्कता आदि लक्षण होते हैं। रक्तभार तथा मूत्र की राशि बहुत कम हो जाती है। शरीर में प्रस्वेद होता है, जिसके कारण त्वचा का ताप हीन-प्राकृत हो जाता है। मूत्र की मात्रा में कमी तथा उसका आपेक्षिक गुरुत्व अधिक हो जाता है तथा शुक्ति भी प्रायः मिलती है। अन्त में मूत्राघात होकर रक्त में यूरिया की मात्रा बढ़ जाती है तथा मूत्र विषमयता के लक्षण उत्पन्न होते हैं। अत्यधिक दुर्बलता के कारण रोगी उठने-बैठने से भी लाचार हो जाता है तथा शय्या पर ही पड़े-पड़े मल-परित्याग हो जाता है।

निपात की अवस्था (Stage of collapse)—रेचन प्रारम्भ होने के ५-६ घण्टे बाद, प्रायः दस बारह दस्त तथा ४-५ वमन होने के बाद, यह स्थिति प्रारम्भ होती है। क्वचित् एक बार की मल-प्रवृत्ति के बाद ही जीवाणुओं की विषमयता के कारण निपात के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। वमन तथा दस्तों की तीव्रता बढ़ जाती है। रोगी पूर्णतया अशक्त हो जाता है। शरीर से अत्यधिक जलीयांश निकल जाने तथा हृदय एवं परिसरीय रक्तवाहिनियों के दुर्बल होने के कारण यह अवस्था उत्पन्न होती है। शीत-प्रस्वेद के कारण त्वचा का ताप हीन-प्राकृत (९५° F अंश से नीचे तक) हो जाता है। हाथों की अंगुलियों की त्वचा सिकुड़ी हुई सिलवटदार (Washer woman hands), आँखें भीतर धँसी हुई, गाल पिचके हुये और नासा भी दबी हुई रहती है। नेत्रगोलकों का निपीड कम हो जाता है तथा नेत्र अर्धोन्मीलित एवं रक्तवर्ण के रहते हैं। आवाज स्पष्ट एवं क्षीण, नखों-शाखाओं एवं चेहरे में श्यावता, हाथ-पैर एवं श्वास शीत, श्वसन उथला और त्वरित—प्रति मिनट ३०-४० बार तक, हीन रक्तनिपीड—सांकोचिक ७०-७५ मि० मी० तथा विस्फारिक ४०-५० या उससे भी कम। नाड़ी क्षीण, अस्पष्ट और अनियमित तथा सम्यक् रक्त-प्रवाह न होने के कारण शाखागत शिराओं का दब जाना (Collapse of cutaneous blood vessels) एवं मूत्राघात के कारण रोगी अत्यधिक बेचैन हो जाता है। शरीर में जलीयांश एवं लवण की कमी, रक्त की घनता एवं मूत्राघात के कारण रोगी की छटपटाहट, बेचैनी, दाह आदि कष्ट बहुत बढ़ जाते हैं। शाखाओं की मास-पेशियों में उद्वेष्टन बहुत तीव्रस्वरूप के हो जाते हैं, जिससे रोगी को हाथ पैर फटते-से मालूम

पड़ते हैं। बाद में उद्वेष्टन उदर की पेशियों में भी होने लगते हैं तथा उद्वेष्टनों के होने के कारण रोगी के हाथ पैर वक्रगति के हो जाते हैं। रोगी अन्त तक चेतन तथा चिन्तातुर रहता है। निपात की अन्तिम अवस्था में शरीर में जलीयांश की कमी हो जाने के कारण वमन एवं दस्तों की मात्रा कम हो जाती है। इस अवस्था की अवधि १२-३६ घण्टे की होती है। तीव्र स्वरूप का आक्रमण होने पर हृदय क्षीण एवं अनियमित हो जाता है। रक्त के गाढ़ा होने के कारण उसका सञ्चार ठीक नहीं होता। मूत्राघात एवं मूत्र-विषमयता के कारण रोग की घातकता सर्वाधिक (५०% तक) हो जाती है। प्रायः बहिःप्रकोष्ठिका नाड़ी या शाखाओं की नाड़ियों में कभी भी धमनी का स्पन्दन स्पर्शलक्ष्य नहीं होता। रक्त की आपेक्षिक गुरुता १०५२ से अधिक (१०६६-१०७० या इससे भी अधिक) हो सकती है। शोणवर्तुलि प्राकृत से अधिक तथा श्वेत एवं रुधिरकायाणुओं की संख्या भी अधिक हो जाती है। शरीर में लवण-क्षार की कमी हो जाने के कारण अम्लोत्कर्ष (Acidosis) हो जाता है। गुदा का ताप प्रायः १०२ से अधिक—क्वचित् १०६-१०७ तक—रहता है। जिह्वा बिल्कुल सूखी, मलावृत तथा खुरदरी हो जाती है।

प्रतिक्रिया की अवस्था (Stage of reaction)—रोग के सौम्यस्वरूप का होने पर उसका उपशम होनेके समय अथवा उचित उपचार के बाद यह अवस्था उत्पन्न होती है। शरीरकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया मुख्यतया व्यक्त होती है। इससे बाह्य त्वचा की उष्णता धीरे-धीरे बढ़कर स्वाभाविक अंश या उससे अधिक हो जाती है। वमन कम तथा दस्त कुछ गाढ़े, मात्रा एवं संख्या में कम तथा पित्त की उपस्थिति के कारण हल्के पीले रंग के होते हैं। जल का आन्त्र से आंशिक प्रचूषण होने के कारण रोगी की बेचैनी कुछ कम हो जाती है तथा हृदय के सबल हो जाने के कारण रक्तभार बढ़कर नाड़ी अधिक स्पष्ट प्रतीत होने लगती है। यदि निपात की अवस्था अधिक काल तक न रही हो और वृक्क अकार्यक्षम न हो चुके हों तो उचित उपचार से मूत्रोत्पत्ति भी आसानी से हो जाती है। अवसाद अधिक समय तक रहने पर प्रतिक्रिया तीव्र स्वरूप की होती है, जिससे ज्वर कभी-कभी परम ज्वर की सीमा तक पहुँच जाता है। प्रतिक्रिया होने पर रक्तप्रवाह चालू होने के कारण आन्त्रगत विष रक्त में प्रविष्ट होकर तीव्रविषमयता उत्पन्न करता है, जिसके कारण अत्यधिक प्रतिक्रिया होकर मूत्रविषमयता, मूत्राघात, प्रलाप, मूर्च्छा एवं परम ज्वर आदि गम्भीर लक्षण उत्पन्न होकर रोगी की मृत्यु हो जाती है। सामान्यतया प्रतिक्रिया की उत्पत्ति रोगी की दृष्टि से शुभ लक्षण समझी जाती है। क्योंकि इससे शरीर के सभी अङ्गों में कार्यक्षमता पुनः उत्पन्न होकर रक्त का संचार ठीक होने लगता है तथा शरीर की प्रतिकारक शक्तियाँ उत्पन्न हो दोषों का पाचन-शमन आदि करने में प्रवृत्त हो जाती हैं। इस अवस्था में मृत्यु निपात की अवस्था में उचित व्यवस्था न करने या मूत्रविषमयता एवं परम ज्वर का उचित उपचार न करने पर ही होती है। इसलिये मृत्यु संख्या इस अवस्था में १२-१५ प्रतिशत से अधिक नहीं होती।

मरक के समय विसूचिका के निदान में विशेष कठिनाई नहीं होती, किन्तु वर्षा या ग्रीष्म में इसके स्थानपदिक रोगियों को निर्णीत करने में कठिनाई होती है। सामान्यतया निम्नलिखित इतिवृत्त विसूचिका में मिलता है। सायंकाल किसी भोज या उत्सव में सम्मिलित होने के बाद स्वस्थ व्यक्ति पूर्ण सुख शांति के साथ होता है। प्रायः मध्यरात्रि के बाद २ बजे के लगभग उदराध्मान एवं नाभि के आस-पास थोड़ी बेचैनी के कारण रोगी की नींद खुल जाती है। प्रायः मलोत्सर्ग की इच्छा होती है तथा शीघ्र ही बँधा हुआ मल बिना प्रयास के भली प्रकार साफ हो जाता है। कुछ देर बाद पुनः पूर्वापेक्षा कुछ पतला मल होता है। ३-४ थे मलत्याग के समय मल में पित्त की मात्रा का अभाव तथा जलीयांश की अधिकता होने के कारण चावल के धोवन के समान विशिष्ट लक्षण वाला मल होने लगता है। इसी समय हृल्लास एवं वमन का प्रारम्भ होता है। २-३ वमन तक पूर्व भुक्त आहार का अपरिपक्व या अर्धपक्व अंश वमन में बिना प्रयास से बाहर निकलता है और अन्त में पानी के समान स्वच्छ वमन होने लगता है। रोगी अपने को अत्यधिक क्षीण और निर्बल अनुभव करता है। मूत्र की मात्रा उत्तरोत्तर कम होकर अन्त में बन्द हो जाती है। इन लक्षणों की उत्पत्ति में २-३ घण्टे से अधिक समय नहीं लगता। मध्यम स्वरूप का वेग होने पर ३ घण्टे में ही रोगी की आंखे धँसी हुई, गाल-नासा आदि पिचके हुए तथा शरीर शुष्क सा हो जाता है। प्यास, दाह, शाखाओं में उद्वेष्टन एवं बेचैनी के कारण रोगी बिस्तर पर छटपटाता रहता है। उदर में ऐंठन, वेदना, शूल आदि लक्षण प्रायः नहीं होते। ज्वर प्रारम्भ में प्रायः नहीं रहता, किन्तु २-३ घण्टे के बाद शीत प्रस्वेद के कारण कक्षा का ताप हीन-प्राकृत तथा गुदा का ताप तीव्र ज्वर या परम ज्वर की सीमा तक होता है।

विसूचिका के प्रकार—

१. **प्रवाहिकाप्रधान** (Choleric diarrhoea)—रोग का प्रारम्भ प्रवाहिका के लक्षणों के साथ होता है। बेचैनी, सफेद रंग के पतले दस्त एवं मध्यम स्वरूप का ज्वर होता है। पेशियों में उद्वेष्टन तथा मुमूर्षु-मुखचर्या एवं मूत्राघात आदि गम्भीर लक्षण नहीं उत्पन्न होते। इस प्रकार का स्वरूप प्रायः विसूचिका की प्रतिकूल ऋतुओं में अधिक उत्पन्न होता है।

२. **स्थानपदिक सौम्य विसूचिका** (Simple sporadic cholera)—इसमें रोग के सभी लक्षण सौम्य स्वरूप के होते हैं। पर्याप्त समय तक मल का वर्ण पित्त के कारण हल्का पीला बना रहता है।

३. **तीव्र विसूचिका** (Malignant cholera)—ऊपर वर्णित सभी लक्षण तीव्र स्वरूप की विसूचिका में मिलते हैं। क्वचित् इसका प्रारम्भ सौम्य स्वरूप में होकर बाद में तीव्रता के लक्षण व्यक्त होते हैं।

४. अलसक या शुष्क विसूचिका (Dry cholera or cholera sicca)—यह विसूचिका का अतितीव्र प्रकार है। प्रारम्भ में ही अत्यधिक विषमयता होने के कारण दस्त एवं वमन की संख्या नगण्य सी होते हुये भी गम्भीर निपात के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। पेट कुछ आध्मानयुक्त होता है। शाखाओं की पेशियों में उद्वेष्टन तथा शरीर में द्रव धातु की कमी के लक्षण अल्पमात्रा में ही होते हैं। प्रायः ३-४ घण्टे के भीतर ही रोगी की मृत्यु हो जाती है।

प्रायोगिक निदान—

मल परीक्षा—मल में विसूचिकादण्डाणुओं की उपस्थिति प्रायः होती है। उचित वर्धक द्रव्य में संवर्धन (Culture) करने पर रोग विनिश्चय असंदिग्ध रूप में किया जा सकता है। वास्तव में साधनसम्पन्न चिकित्सालयों के अतिरिक्त मलपरीक्षा के परिणाम की प्रतीक्षा का अवसर नहीं रहता, क्योंकि व्याधि का प्रारम्भ प्रायः रात्रि में और चिकित्सा का प्रारम्भ उसके २-३ घण्टे बाद हो जाता है। फिर भी चिकित्सा प्रारम्भ करने के पूर्व मल का एक शीशी में संचय कर जीवाणुदर्शन के लिये प्रायोगिक परीक्षणार्थ भेजकर बिना परिणाम की प्रतीक्षा के चिकित्सा शुरू कर देनी चाहिये।

रक्त-परीक्षण—श्वेतकणों की अधिकता—१०-१५ सहस्र प्रतिघन मि० मीटर तथा एक न्यष्टीलियों (Monocytes) की संख्यावृद्धि और लसकायाणुओं का ह्रास, रक्त की गुरुता की वृद्धि, रुधिरकायाणुओं की वृद्धि—७०-८० लाख प्रतिघन मि० मी० तक तथा लवणांश की रक्त में कमी आदि परिणाम मिलते हैं।

सापेक्ष्य निदान—

विसूचिका का पृथक्करण दुष्टान्न विष (Food poisoning), तीव्र अतिसार (Acute dysentery), विषम ज्वर जन्य प्रवाहिका एवं सोमल विष (Arsenical poisoning) से करना चाहिये। दुष्टान्न में दूषित अन्न के सेवन का इतिहास, एक काल में सहभुक्त सभी व्यक्तियों का पीड़ित होना, विरेचन के पूर्व तीव्र वेदना एवं ऐंठन के साथ वमन की प्रवृत्ति, हृल्लास की अधिकता, उदर में तीव्र पीड़ा और कुंथन के साथ अल्प मात्रा में मलप्रवृत्ति, मूत्राघात-पेशियों में उद्वेष्टन आदि लक्षणों का अभाव, शिरःशूल, स्पर्शलभ्य नाड़ी तथा मल में पित्त की उपलब्धि और विसूचिकाजीवाणुओं की अनुपलब्धि आदि लक्षणों के आधार पर इसका पार्थक्य करना होता है। तीव्र अतिसार में कुन्थन का आधिक्य, ज्वर तथा मल में आमांश एवं रक्त की पर्याप्त मात्रा का होना, कुंथन तथा मरोड़ के साथ अल्पमात्रा में मल की बार-बार प्रवृत्ति, वमन एवं शाखाओं के उद्वेष्टन आदि लक्षणों का अभाव। **विषमज्वरजन्यप्रवाहिका** (Malarial diarrhoea or protozoal dysentery) में शीतपूर्वक ज्वर

का आक्रमण, तीव्र बेचैनी, दाह, शिरःशूल आदि लक्षणों के अतिरिक्त बार-बार प्रवाहिका के समान मल की प्रवृत्ति होना, रक्तपरीक्षा में विषमज्वर जीवाणुओं की उपस्थिति, प्रायः श्वेतकणों की संख्या में परिवर्तन का अभाव तथा रक्त की आपेक्षिक गुरुता का स्वाभाविक या कम होना तथा विषम ज्वर के इतर लक्षणों की उपस्थिति से रोग का निदान किया जाता है।

विषाणुज अतिसार (Virus diarrhoea)—इधर कुछ वर्षों से आमाशयान्त्रिक प्रदाह (Acute gastro intritis) का उपद्रव प्रायः होता है। इसका कारण विषाणु (Virus) माना जाता है। लक्षण प्रायः विसूचिका से मिलते-जुलते होते हैं। निपात (Shock) तथा बेचैनी अपेक्षाकृत अधिक मिलती है और द्रवांश की कमी (Dehydration) अधिक नहीं होती। मल एवं रक्तपरीक्षा में विसूचीदण्डाणु की अनुपस्थिति तथा एक कायाणुओं की संख्या में कोई परिवर्तन नहीं मिलता।

रोग विनिश्चय—

कुन्थन या मरोड़ के विना ही प्रचुर मात्रा में बिना प्रयास के बार-बार मल की प्रवृत्ति, चावल के धोवन के समान पित्तहीन मल का स्वरूप, बिना हृल्लास के प्रयासहीन—वमन, जिसमें पर्याप्तमात्रा में स्वच्छ जल सदृश लसिका निकलता है, मल एवं वमन की संख्या के अनुपात में अत्यधिक क्षीणता, धँसी हुई आँखें, पिचके गाल, विवर्ण आकृति, चिन्तातुर चेहरा, शाखाओं की पेशियों में उद्वेष्टन, हाथ की अँगुलियों में झुर्रियाँ, नाड़ी क्षीण, लिप्त-सा शीत प्रस्वेद, कक्षा एवं गुदा के ताप में ४-५° अधिक का अन्तर तथा रक्तपरीक्षण में श्वेत एवं रुधिर कायाणुओं तथा गुरुता की वृद्धि, लसकायाणुओं का ह्रास तथा एकन्यष्ठीलियों की आपेक्षिक वृद्धि और मल की परीक्षा में विसूचिका-दण्डाणुओं की उपलब्धि और पित्त का अभाव होने पर रोग का असंदिग्ध निर्णय किया जा सकता है।

उपद्रव तथा अनुगामी विकार—

मूत्राघात, मूत्रविषमयता, परमज्वर, गर्भपात, हृदयातिपात, कर्णमूलिकशोथ, श्वसनी फुफ्फुस पाक, आन्त्रशोथ आदि उपद्रव एवं अनुगामी विकार इसमें होते हैं। विसूचिका का मुख्य लक्षण अतिसार एवं जलीयांश की कमी भी वास्तव में उपद्रव सदृश ही चिकित्स्य होता है।

साध्यासाध्यता—

शुष्कविसूचिका में शत-प्रतिशत मृत्यु होती है, तीव्र स्वरूप में मृत्युसंख्या ५०-६०% तक होती है। शीघ्र ही उचित व्यवस्था प्रारम्भ कर देने पर मृत्यु की प्रतिशतता बहुत कम हो जाती है। कम आयु वाले बालकों, अधिक अवस्था के वृद्धों, गर्भिणी

स्त्रियों तथा अहिफेन-मद्य आदि मादक-द्रव्यों का प्रयोग करने वाले व्यक्तियों तथा चिरकालीन वृक्क-शोथ से पीड़ित रोगियों में विसूचिका अधिक घातक होता है। रोग का प्रारम्भ होते ही हिक्का, अत्यन्त बेचैनी, असह्य उद्वेष्टन, उदर में तीव्र पीड़ा, नखों एवं ओष्ठों में श्यावता के लक्षण, श्वसन की वृद्धि, प्रचुर मात्रा में शीत प्रस्वेद, गुदा के ताप का बहुत अधिक या बहुत कम होना, मूत्राघात या मूत्रविषमयता, रक्तनिपीड का ७०-८० से कम होना, रक्त की गुरुता का १०६२ से अधिक होना आदि लक्षण उपस्थित होने पर विसूचिका की असाध्यता का अनुमान किया जाता है। इसके विपरीत अवसाद की अवस्था में भी नाड़ी का स्पर्श लक्ष्य होना, पूर्ण मूत्राघात का अभाव, प्रतिक्रिया की अवस्था का शीघ्र प्रारम्भ, शाखाओं में उद्वेष्टन की कमी आदि होने पर विसूचिका के शान्त होने का अनुमान करना चाहिये।

सामान्य चिकित्सा—

रोगी को स्वच्छ हवादार कमरे में अनुकूल शय्या पर लेटाना चाहिये। वमन एवं मलप्रवृत्ति के लिये उसे बार-बार न उठना पड़े, इस प्रकार की व्यवस्था करनी चाहिये तथा वमन एवं मल से वस्त्रादि दूषित न हो जायं इसकी बहुत सावधानी रखनी चाहिये। दूषित वस्त्रों एवं पात्रों की सफाई फार्मेलिन के घोल में धोकर तथा उबालकर करनी चाहिये। रोगी को कम्बल से ढँक कर रखना तथा निपात की अवस्था में गरम थैली या बोतलों में पानी भर कर शाखाओं के चारों तरफ रखना चाहिये। सिरहाना नीचा रखना अच्छा है, इससे जलीयांश की कमी होने पर भी मस्तिष्क की ओर रक्त यथाशक्ति आसानी से प्रवाहित होता रहता है। परिचारक को रोगी की कक्षा एवं गुदा का ताप, मल-वमन की संख्या मात्रा तथा स्वरूप, मूत्र की राशि, नाड़ी की गति आदि का प्रति आध घण्टे पर लेखन करना चाहिये। रोगी को अत्यधिक प्यास लगती है तथा जल पीने के साथ ही वमन और प्रवाहिका से पिये हुये जल की अपेक्षा अधिक द्रवांश निकल जाता है। अतः रोगी को बरफ के टुकड़े चूसने के लिये देना, शतपुष्पार्क-पर्पटार्क मिलाकर थोड़ा-थोड़ा पीने को देना या लौंग व इलायची का मृदुक्वाथ अल्पमात्रा में बार-बार देना चाहिये। नीबू का रस एवं मधु उबाले हुये जल में मिलाकर तृषा-शमन के लिये दे सकते हैं। मूत्रस्वरूप के विकार में डाभ का पानी तथा यवपेया का उपयोग भी किया जा सकता है। पेयद्रव्यों को भी मुख में पर्याप्त समय तक चूस-चूस कर पीना चाहिये। अधिक प्रस्वेद होने पर कायफल-शुण्ठी तथा अरहर की दाल को भूनकर सूक्ष्म चूर्ण बनाकर शाखाओं पर मलना चाहिये और गरम पानी में नमक डाल उसमें कपड़ा भिगो कर पिण्डलियों पर सेक करना चाहिये। गरम पानी से भरी बोतलें पैरों के निकट रखने से भी काम चल सकता है। वास्तव में रोगी की उचित व्यवस्था केवल आतुरालय में भली प्रकार हो सकती है, इसलिये यथाशीघ्र साधन सम्पन्न चिकित्सालयों में रोगी का प्रवेश करा देना ही उत्तम है। विशिष्ट औषधियों का प्रयोग तथा लवण-

जल का शीघ्र उपयोग रोगी के प्राण बचाने में बहुत महत्त्वपूर्ण है, इसलिये यथाशक्ति सभी साधनों का प्रयोग प्रारम्भ से ही करना चाहिये।

औषध चिकित्सा—

ओषधियों का चुनाव करते समय तीन प्रमुख उद्देश्य सामने रहने चाहिए—

१. विसूचीदण्डाणु का नाश करने वाली ओषधियों का प्रयोग।

२. विष को प्रभावहीन बनाने वाली तथा सुविधापूर्वक विष का शोधन करने वाली ओषधियों का प्रयोग।

३. उग्र लक्षणों तथा उपद्रवों का लाक्षणिक शमन।

विसूचिका की चिकित्सा में ओषधियों के प्रयोग का महत्त्व रोग की अवस्था के अनुपात में होता है। प्रारम्भिक अवस्था में वमन एवं प्रवाहिका का शमन एवं विसूचिकादण्डाणुओं के नाश करने वाली ओषधियों का प्रयोग विशेष महत्त्व रखता है। किन्तु व्याधि का प्रकोप अधिक हो जाने पर शरीर में जलीयांश एवं लवण का अत्यधिक अभाव हो जाता है। ऐसी स्थिति में सिरा द्वारा समलवण जल का प्रयोग या विशेष अवस्थाओं में अतिबल लवण जल का प्रयोग लाभकारी होता है। पिछले कुछ वर्षों में विसूचिका की आरम्भिक अवस्था से विशालक्षेत्रक प्रतिजीवी-औषधों का प्रयोग विशेष लाभकर सिद्ध हुआ है और शुल्वौषधियों के आन्त्रों में ही विशेष प्रभाव करने वाले सल्फाग्वानाडीन-फार्मो सिवाजॉल आदि योग भी लाभकारक सिद्ध हुए हैं। इन नवीन विशिष्ट ओषधियों के आविष्कार के पूर्व हाइड्रोक्लोरिक एसिड, पोटैशियम परमैंगनेट की गोलियाँ, कॉलराफेज, कर्पूरद्राव, अमृतधारा, शंखद्राव आदि दीपन-पाचन तथा विसूचिकाविध्वंसक योगों का व्यवहार किया जाता था। किन्तु नवीन विशिष्ट ओषधियाँ भी सर्वसुलभ हो गई हैं, ऐसी स्थिति में उन्हीं ओषधियों का व्यवहार अपेक्षाकृत अधिक गुणकारी होने के कारण श्रेयस्कर है।

Aureomycin and Tetracyclin—२५० मिलीग्राम के एक कैप्स्यूल की प्रति २ घण्टे पर ४ मात्राएँ देना। इसके बाद अन्तर ३ या ४ घण्टे किया जा सकता है। प्रायः ८ से १२ कैप्स्यूल से अधिक की अपेक्षा नहीं पड़ती। बच्चों में इसकी घुलनशील टिकियाँ या चूर्ण (Soluble tablets & spersoids) तथा द्रवयोगों (Liquid preparations) का उचितमात्रा में प्रयोग किया जा सकता है। वमन की अधिकता होने पर यह ओषधियाँ आसानी से आमाशय में रुक नहीं पातीं, अतः इनके प्रयोग के पूर्व वमनहर योग का प्रयोग करना चाहिये। इस प्रकार प्रत्येक मात्रा के १०-१५ मिनट पूर्व वमनहर योग का प्रयोग कराने से बहुव्ययसाध्य यह ओषधियाँ व्यर्थ नहीं जातीं। मुख द्वारा इनके प्रयोग के साथ पेशी या सिरा द्वारा ३-४ मात्राएँ प्रयुक्त करना अधिक विश्वसनीय होता है।

Chloremphenicol—२५० मिलीग्राम के २ कैप्स्यूल की प्रारम्भिक मात्रा, बाद में प्रति २ घण्टे पर एक-एक कैप्स्यूल की ६ मात्रायें तथा इसके भी बाद एक कैप्स्यूल प्रति ४ घण्टे पर २ दिन तक देना चाहिये। सामान्यतया १८-२० कैप्स्यूल की आवश्यकता पड़ती है। इस ओषधि के स्वादु पेय (Palmitate and Steariate) आदि विशेष योग मिलते हैं किन्तु गुणधर्म की दृष्टि से कैप्स्यूल का प्रयोग अधिक विश्वसनीय होता है। बच्चों में कैप्स्यूल को खोलकर मधु में मिला शतपुष्पार्क के साथ पतला कर दिया जा सकता है। सल्फागुआनाडिन के साथ बने हुए इसके योग भी आते हैं। उनके अभाव में दोनों को मिलाकर प्रयुक्त कर सकते हैं। सूची वेध से इसकी ३-४ मात्राएँ व्याधि की गंभीरता होने पर अवश्य देना चाहिए।

Terramycin—प्रारम्भिक मात्रा २ कैप्स्यूल (२५० मि० ग्रा० प्रति कैप्स्यूल), बाद में प्रति २ घण्टे पर ४ मात्राएं एक-एक कैप्स्यूल की देकर अन्त में रोग का उपशम हो जाने पर प्रति ४ घण्टे पर एक-एक कैप्स्यूल की ६ मात्रायें और देनी चाहियें। इसके पेय या सूचीवेध के योगों का व्यवहार भी आवश्यकतानुसार किया जा सकता है।

Chlorostrep—स्ट्रेप्टोमायसीन तथा क्लोरेम्फेनिकॉल के मिले-जुले बहुत से योग आते हैं, जिनका विसूचिका में बहुत प्रयोग होता है। इनके अभाव में स्ट्रेप्टोमायसीन को इंजेक्शन वाली शीशी (vial) से निकाल कर कैप्स्यूल में १०० मि० ग्रा० की मात्रा में भरकर क्लोरोम्फेनिकाल के साथ में प्रयोग कर सकते हैं।

उक्त विशालक्षेत्रक प्रतिजीवीवर्ग की ओषधियों का प्रयोग सूचीवेध के द्वारा भी लाभकर होता है। प्रारम्भ में १०० से २५० मि० ग्रा० तक की १ मात्रा सूचीवेध से देना अच्छा होता है।

विशालक्षेत्रक ओषधियों के दूसरे योग आइलोटाइसिन, बेसीट्रेसिन, निओमाइसिन आदि के आन्त्र में काम करने वाले योगों का संयुक्त या पृथक्-पृथक् व्यवहार भी लाभकर सिद्ध हो सकता है। इन ओषधियों का प्रयोग जब तक व्यापकरूप में नहीं किया जाता, इनके प्रभाव का सही मूल्याङ्कन नहीं हो सकता। बहुत से विसूचिकाग्रस्त रोगियों में आरियोमाइसिन एवं क्लोरोमाइसेटिन आदि का प्रयोग उत्साहवर्धक रहा है। स्ट्रेप्टोमाइसिन सल्फेट कैप्स्यूल में भर कर या मधु में मिलाकर स्वतन्त्र या शुल्बौषधियों के साथ में प्रयुक्त की जा सकती हैं। यद्यपि इन ओषधियों का आन्त्र में प्रचूषण नहीं हो पाता किन्तु विसूचिका में रोगोत्पादकदण्डाणु आन्त्र में ही सीमित रहता है। वहीं से आन्त्र की श्लेष्मलकला में प्रसेक उत्पन्न कर विशिष्ट लक्षण पैदा करता है। इसलिये प्रचूषित न होने वाली ओषधियों का—जिनका विसूचिका दण्डाणु पर प्रभाव सम्भव है—प्रयोग किया जा सकता है। स्ट्रेप्टोमाइसिन का प्रयोग निम्नलिखित योग के रूप में विशेष लाभकर होता है। सामान्य स्थिति में आमाशयिक अम्ल के

कारण यह औषधियाँ निर्वीर्य हो जाती हैं, किन्तु विसूचिका में आमाशयिक अम्ल प्रायः नहीं के बराबर ही रहता है। इसलिये इनका व्यवहार किया जा सकता है—

R/

Streptomycin Sulphate	1 gm.
Sulphaguanadin 8 tab-or	4 gm.
Soda citras	grs. 10
Soda bi carb	grs. 15
Glucose	dr. 1
	४ मात्रा

इसकी एक मात्रा शतपुष्पार्क के साथ प्रति घण्टे पर ४-५ बार देना चाहिये। गम अकेसिया (Gum acesia) मिलाकर आवश्यकता होने पर इस योग का पेयमिश्रण या कैप्सूल बनाया जा सकता है। तीव्रता कम हो जाने पर २ या ३ घण्टे पर दे सकते हैं। प्रायः १५ ग्राम सल्फागुआनाडिन और ४ ग्राम स्ट्रेप्टोमाइसिन एक रोगी के लिये पर्याप्त होती है।

शुल्वौषधियाँ—विसूचिका में आन्त्रों में ही काम करने वाली और कम-से-कम प्रचूषित होने वाली शुल्वौषधियों का प्रयोग मुख्यतया किया जाता है। इस दृष्टि से फार्मोसिवाजोल या सल्फागुवानाडीन, थैलाजोल, सक्सिनिल सल्फाथियाजोल आदि का व्यवहार किया जाता है। वमन के कारण यह औषधियाँ आसानी से आमाशय में रुक नहीं पातीं। अतः वमनहर औषधियों का पूर्वप्रयोग करना, इनका उचित प्रभाव होने देने के लिये आवश्यक है। सल्फाग्वानाडीन की प्रारम्भिक मात्रा ४ गोली तथा बाद में प्रत्येक घण्टे पर २ गोली (०·५ ग्रा० की गोली) देनी चाहिये। रोग के लक्षण कम होने पर यह अन्तर बढ़ाया जा सकता है और प्रति ४ घण्टे पर २-३ दिन तक पूर्णतया रोगमुक्ति के लिये प्रयोग करना चाहिये। सस्ती व सर्वसुलभ होने के कारण इसका अधिक प्रयोग होता है। इसी प्रकार थैलाजोल आदि का भी व्यवहार किया जा सकता है। फार्मोसिवाजॉल का अपेक्षाकृत अधिक प्रचूषण होता है। अतः इसको पूर्वापेक्षा अर्ध-मात्रा में देना चाहिये।

वमन तथा मूत्राघात के प्रतिकार के लिये सोडा बाई कार्ब का साथ में प्रयोग करना आवश्यक है। इन अल्पप्रचूषित होने वाले योगों के अभाव में सामान्य शुल्वौषधियाँ (सल्फामेजाथीन, सल्फाडायजिन) आदि का प्रयोग भी साधारण मात्रा में किया जा सकता है। आन्त्र में प्रसेक की स्थिति होने के कारण इन औषधियों का प्रचूषण भी विसूचिका में बहुत कम हो पाता है। अतः इनका प्रयोग करने पर स्थानीय गुण विसूचिका में सन्तोषजनक हो सकता है।

अन्य ओषधियाँ—

१. फ्यूराक्सान (Furoxon)—विसूचिकादण्डाणु के नाश के लिये यह भी एक उत्तम औषध है। प्रथम मात्रा २ गोली उसके बाद १-१ गोली ४-६ घण्टे के अन्तर पर दो दिन तक देना चाहिये। इसके प्रयोग से पेशाब का रङ्ग गाढ़ा तथा पीला होता है। मूत्राघात की अवस्था होने पर प्रयोग हितकर नहीं।

२. Tomb's cholera mixture or Essential oil mixture—१५ बूंद से ३० बूंद तक की मात्रायें प्रति १५ या ३० मिनट के अन्तर पर शतपुष्पार्क या मधु मिलाये हुये नीबू के पानी में देना चाहिये। ६ से ८ मात्रायें पर्याप्त होती हैं—इससे अधिक मात्रायें न देनी चाहियें अन्यथा वृक्कों को हानि पहुँच सकती है। एसेन्शियल आयल का बना हुआ मिश्रण तैयार मिलता है, जिसका प्रचलित नुस्खा निम्नलिखित है—

R/		
	Oil Anisi	ms 5
	Oil juniper	ms 5
	Oil cajuput	ms 5
	Spt. eatheris nitrosi	ms 30
	Acid sulph aromat	ms 15
		dr. one

इसके अभाव में निम्नलिखित प्रकार से बनाया जा सकता है।

R/		
	Oil juniper	ms 5
	Oil cajuput	ms 5
	Oil cinnamonn	ms 3
	Oil of clove	ms 2
	Menthol	gr. 1
	Camphor	gr. 1
	Oil anisi	ms 5
	Liquor atropine	ms 1
	Acid sulphuric aromatic	ms 15
	Spirit eatheris	ms 30

१ चम्मच तैल-मिश्रण १ तोला सौंफ के अर्क में मिलाकर प्रति ½ घण्टे पर ४ मात्रायें देकर वमन एवं प्रवाहण में लाभ होने पर १ घण्टे के अन्तर पर ४ मात्रायें और देनी चाहिये।

इस योग में आमाशय में क्षोभ उत्पन्न कर आमाशयिक अम्ल की वृद्धि कराने वाले तथा विसूचिकादण्डाणुओं का अम्ल एवं क्षोभक प्रतिक्रिया द्वारा नाश करने वाले द्रव्य सम्मिलित हैं तथा वमन एवं मूत्रावरोध के निराकरण के लिये भी इनकी उपयोगिता है। सस्ती एवं सुलभ ओषधियों की दृष्टि से सल्फाग्वानाडीन व एसेन्शियल आयल का व्यवहार अधिक उपयोगी होता है। वास्तव में यह सभी ओषधियाँ व्याधि का आक्रमण होते ही जितना शीघ्र दी जायँ, उतना ही अधिक लाभ करती हैं। निपात की अवस्था उत्पन्न हो जाने पर यह ओषधियाँ गुणकारी होने पर भी जलीयांश का अत्यधिक ह्रास होने के कारण निरर्थक सी-हो जाती हैं।

पोटास परमैंगनेट (Potas permangenate)—२ ग्रेन की केराटिन से आच्छादित (Keratin coated) अर्थात् आमाशय में न घुलकर आन्त्र में घुलने वाले आवरण के भीतर घुलने वाली इसकी टिकिया प्रयुक्त होती हैं। प्रति १५ मिनट पर १ या २ गोली निगल जाना चाहिये। ४ से ६ मात्रायें देने के बाद ½ घण्टे के विराम से और पुनः ४ मात्रायें आधे घण्टे के अन्तर पर देने के बाद १-२ घण्टे के अन्तर पर जब तक मल का वर्ण कुछ हरा व गाढ़ा न हो जाय देते रहना चाहिये। मलगत परिवर्तन प्रायः दस-बारह घण्टे के भीतर होता है। दूसरे दिन भी २ घण्टे के अन्तर पर इनका प्रयोग करना चाहिये। गोलियों को चबाना न चाहिये अन्यथा ओषधि की तीव्रता के कारण मुँह में छाले पड़ सकते हैं। इन गोलियों के अभाव में २-३ ग्रेन पोटास परमैंग्नेट ½ सेर जल में मिलाकर रोगी को पीने के लिये दिया जा सकता है। व्यावहारिक दृष्टि से अत्यधिक सस्ती होने के अतिरिक्त इसमें कोई विशेष आकर्षण नहीं, क्योंकि वमन के कारण रोगी इन ओषधियों को आसानी से पचा नहीं सकता तथा अतिसार की अधिकता के कारण कभी-कभी बिना घुले ही गोलियाँ पाखाने से निकल जाती हैं। औषध का स्वाद बहुत अप्रीतिकर तथा हृल्लासोत्पादक होता है। परिणाम की दृष्टि से भी इसका प्रभाव सल्फागुवानाडीन एवं एसेन्शियल आयल की अपेक्षा कम होता है। इसका मुख्य प्रयोग जलाशयों एवं कूपों के जल को विशोधित करके व्याधि का प्रसार न होने देने में होता है।

केयोलिन (Kaolin)—सहायक औषध के रूप में केयोलिन का व्यवहार करना चाहिये। इससे आन्त्रकला के ऊपर एक आवरण-सा लग जाता है, जिसमे प्रसेक में कमी होकर आन्त्र से लसिका का निःसरण बहुत कम होता है और आन्त्र में संचित विसूचिका-दण्डाणु एवं उनके विषों का शोषण केयोलिन कर लेती है। इस प्रकार आन्त्र की सुरक्षा करते हुये जीवाणुओं एवं विषों को अपने में लपेट कर मल को गाढ़ा कर उत्सर्गित करने के कारण लाक्षणिक एवं व्याधिनिर्मूलन दोनों दृष्टियों से यह उपयोगी है। १ औंस केयोलिन, केयोटिन, आस्मोकेयोलीन या कार्बोकेयोलिन को १ पाव शतपुष्पार्क या उबाले हुए पानी में मिलाकर प्रति ½ घण्टे पर १-१ छटाँक पीने को देना चाहिये। वमन एवं विरेचन में लाभ हो जाने पर इसका प्रयोग धीरे-धीरे

बन्द किया जा सकता है। विशालक्षेत्रक प्रतिजीवी (Antibiotics) का प्रयोग प्रमुख औषध के रूप में होने पर केयोलिन का सहप्रयोग न करना चाहिए। केयोलिन के साथ में उक्त द्रव्य आंत्रस्थदण्डाणुओं पर पूर्ण प्रभाव नहीं कर पाते।

विसूचिका की प्रारम्भिक अवस्था में निम्नलिखित चिकित्सा-क्रम अधिक व्यावहारिक एवं शीघ्र प्रभावकारी होता है।

1.	R/	Sulphaguanadine	tab. 2
		Nicotinic acid	50 mg
		Soda bi carb	gr 10
		Gum acasia	gr. 5
		Carbo kaolin	dr. one
		Aqua anisi	oz one
			१ मात्रा
2.		Essential oil mixture	dr. one
			१ मात्रा

दोनों औषधियाँ आध घण्टे के अन्तर पर ४-६ बार देकर वमनादि का शमन होने के बाद १ घण्टे के अन्तर पर देना चाहिये। इनसे वमन एवं प्रवाहिका का शमन शीघ्र होता है तथा मूत्रावरोध आदि उपद्रव भी अधिक नहीं होते। इनका प्रयोग करते समय उबाला हुआ जल पर्याप्त मात्रा में पीने को देना चाहिये। क्योंकि जल की कमी होने पर सल्फागुआनाडिन का प्रचूषित हुआ थोड़ा अंश वृक्क कोषाओं में संचित हो अवरोध उत्पन्न कर सकता है और एसेन्शियल आयल का क्षोभक परिणाम वृक्कों पर भी हो सकता है। अतः बरफ चुसाने के अतिरिक्त वमन का भय न करते हुए जल-शतपुष्पार्क-एलार्क आदि का प्रयोग करना चाहिये।

निम्न औषधियाँ भी विसूचिका की प्रारम्भिक अवस्था में पर्याप्त लाभ करती हैं—

१. कालमिर्च, हींग, कपूर, लहसुन—प्रत्येक १ भाग, शुद्ध वत्सनाभ ½ भाग, मदार के फूल २ भाग, पिपरमिन्ट ½ भाग—इनको नीबू का रस एवं आर्द्रक-रस की २-३ भावना देकर २ रत्ती की गोली बनाकर प्रयोग करना चाहिये। प्रति १५ मिनट पर १-२ गोली वमनादि का शमन होने पर्यन्त देना चाहिये। सौम्यस्वरूप के रोग में इससे पर्याप्त लाभ होता है।

२. अग्निकुण्डीवटी, सञ्जीवनीवटी या विसूचिकाविध्वंसन का प्रयोग ½ र० से २ र० की मात्रा में पलाण्डुस्वरस या मधु के साथ ½ घण्टे के अन्तर पर ६-७ बार करना चाहिये। रोग की तीव्रता कम हो जाने पर अन्तर धीरे-धीरे बढ़ाया जा सकता है।

३. अमृतधारा या कर्पूरधारा—शुद्ध कर्पूर १ तो०, अजवाइन का सत्त्व १ तो०, पिपरमिन्ट के फूल १ तो०, लवंग का तेल ३ मा०, इलायची का तेल ३ मा०, सौंफ

का तेल ६ मा०—सबको मिलाकर ५ बूंद की मात्रा में बताशे में भरकर रोगी को निगलने के लिये कहना चाहिये। सामान्य अजीर्ण का निराकरण करने के अतिरिक्त विसूचिका या अन्न-विष में भी इससे पर्याप्त लाभ होता है। एसोन्शियल आयल के सदृश होने के कारण तदनुरूप इसका व्यवहार भी किया जा सकता है।

४. शंखद्राव—कलमीशोरा ५ तो०, फिटकरी ८ तो०, सेंधानमक ५ तो०, नवसादर ८ तो०, जवाखार ५ तो०, सर्जिकाक्षार ५ तो०, गन्धक आँवलासार १ तो०, कसीस १ तो०, विडनमक ३ तो०—इनका कन्दुक या डमरूयंत्र या तिर्यकपातनयन्त्र से अर्क निकाल कर ५ से १० बून्द की मात्रा में १ तो० शतपुष्पार्क या जल में मिलाकर प्रति आधा घण्टे पर देना चाहिये। विसूचिका, अन्न-विषजन्य-अतिसार एवं अजीर्ण में इससे बहुत लाभ होता है। गुल्म एवं यकृद्दाल्युदर आदि जीर्ण व्याधियों में भी इसका प्रयोग लाभकारी है।

इनके अतिरिक्त रसोनादिवटी-राजवटी आदि दीपन-पाचन शास्त्रीय योगों का आवश्यकतानुसार सहायक औषध के रूप में उपयोग किया जा सकता है। पिछले कई वर्षों से पत्ता अजवायन तथा छोटी दुग्धिका (छोटी दूधी) का प्रयोग विसूचिका में बहुत लाभकारी सिद्ध हुआ है। वमनहर योगों के सहयोग से इनसे चमत्कारिक लाभ होता है। ६ माशा से १ तोला की मात्रा में पत्ताअजवायन या दूधी का रस १५–२० मिनट के अन्तर पर ४–५ मात्रा देकर बाद में १ घण्टे के अन्तर पर १ तोला की मात्रा प्रयुक्त करनी चाहिए। दण्डाणुओं का विनाश तथा लाक्षणिक शान्ति दोनों उद्देश्य इससे सिद्ध हो जाते हैं।

लाक्षणिक चिकित्सा—

वमन—वमन के कारण रोगी औषध एवं जल का निरोध नहीं कर पाता, यह बहुत बड़ा लक्षण चिकित्सा की निष्फलता का कारण होता है। इसलिये इसके शमन के लिये शीघ्र उपचार करना चाहिये। सामान्यतया निम्नलिखित योग वमन का शमन एवं पित्त का शोधन करने में सहायक होता है।

R/		
	Hydrarg subchlor	gr $\frac{1}{8}$
	Chloretone	gr 2
	Soda bi carb	gr 5
	Menthol	gr $\frac{1}{4}$
	Lactose	gr 5
		१ मात्रा

प्रति आध घण्टे पर कुल ८ से १६ मात्राएँ देनी चाहिये। २-३ मात्रा देने के बाद वमन की शान्ति न हो जाय तो इसीमें Athomin की $\frac{1}{2}$–१ टिकिया मिलाई जा सकती है।

कुछ रोगियों में निम्नलिखित प्रयोग अधिक लाभ करता है :—

R/	Chloretone	gr 5
	Tr. Iodine rects	ms 1
	Aqua	dr. 4
		१ मात्रा

प्रति आध घण्टे पर ४ से ६ मात्राएँ वमन शान्त होने तक देनी चाहिये।

कोकेन या नोवोकेन आदि ओषधियों को ½ ग्रेन की मात्रा में जल में मिला प्रयोग करने से बहुत लाभ होता है। इसी प्रकार टि० आयोडीन १० बूंद १ गिलास पानी में मिला थोड़ा-थोड़ा बार-बार चूषणार्थ देने से भी लाभ होता है। निम्नलिखित योग भी कभी-कभी अच्छा लाभ करता है।

R/	Liq. adrenaline hydrochloride	ms 40
	Sodium chloride	gr 6
	Aqua	oz one
		विभक्त ४ मात्रा

१ मात्रा प्रति २ घण्टे पर देना चाहिये।

यदि विसूचिकाहर औषध लेते ही वमन हो जाता है तो इन ओषधियों में से किसी का व्यवहार ५—१० मिनट पूर्व करने से वमन का प्रतिकार होता है। बरफ का टुकड़ा चूसना, भुनी सौंफ मुँह में रखना और भुनी बड़ी इलायची मधु के साथ चाटना पर्याप्त लाभकर होता है। इसके अतिरिक्त वमन की लाक्षणिक चिकित्सा प्रकरण में आये वमनहर अन्य योगों का व्यवहार किया जा सकता है।

वमनहर विशिष्ट योग—

सिक्विल (Siquil, Squibbs), एवोमीन (Avomine M. B.), एथोमीन (Athomin), एमोक्सीन (Amoxin, Alembic), मारजीन (Marzine, B. W. & co.) आदि वमनशामक विशिष्ट योगों का व्यवहार इन दिनों बहुत हो रहा है। इनसे तुरन्त लाभ होता है तथा प्रयोग में सुगमता भी होती है। Siquil का प्रयोग सूचीवेध (I. M.) से भी किया जा सकता है।

अतिसार—विसूचिका में मल के द्वारा जीवाणु तथा विष का शोधन होता रहता है। इस कारण अतिसार को रोकने के लिये औषध का प्रयोग प्रायः नहीं किया जाता। विसूचिकानाशक प्रतिजीवी वर्ग की ओषधियाँ सल्फागुआनाडीन, कार्बोकेयोलिन आदि के प्रयोग से मूल-व्याधि के अतिरिक्त अतिसार का भी लाक्षणिक प्रशम होता है। अत्यधिक अतिसार का कष्ट होने पर आत्ययिक चिकित्सा के रूप में स्तम्भक ओषधियों का व्यवहार कभी-कभी करना होता है अन्यथा जलीयांश का रेचन द्वारा अत्यधिक नाश होकर गम्भीर उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। अतिसारघ्न ओषधियों के

प्रयोग के साथ विसूचिका विषशामक ओषधियों का प्रयोग भी अवश्य करना चाहिये। रोग की प्रारम्भिक अवस्था और निपात की अवस्था में अतिसार के निराकरण के लिए सहायक औषध के रूप में निम्नलिखित योगों का व्यवहार किया जा सकता है।

R/		
	Soda bi carb	gr 10
	Soda citras	gr 10
	Pulv creta preparata	gr 10
	Coramine liquid	ms 15
	Tr. catechu	ms 10
	Tr. opii	ms 20
	Ext. bael liq.	dr. 1
	Aqua chloroform	oz 1
		१ मात्रा

२–२ चम्मच १५–२० मिनट के अन्तर पर ४–५ बार देना चाहिये। कुछ समय के लिये लाक्षणिक अतिसार की निवृत्ति हो जाने पर तुरन्त बन्द कर देना चाहिये।

या

Chlorodyne	ms 15
Spt. chloroform	ms 15
Aqua	dr. 2
	१ मात्रा

आध घण्टे के अन्तर पर २–३ मात्रायें दी जा सकती हैं। इससे अधिक न देना चाहिये।

केओलीन ७ औंस १४ औंस उबाले हुए जल में मिलाकर पानी के स्थान पर पीने के लिए देना चाहिए।

कर्पूरवटी, पीयूषवल्ली अथवा सिद्धप्राणेश्वर आदि ग्राही एवं दीपन-पाचन ओषधियों का व्यवहार आवश्यकतानुसार किया जाता है। निम्नलिखित योग इस दृष्टि से उत्तम है—

कर्पूरवटी	१ र०
महागन्धक	१ र०
रामबाण	१ र०
अजीर्णकण्टक	१ र०
	१ मात्रा

भुना जीरा मिलाकर पलाण्डुस्वरस के साथ प्रति २ घण्टे पर ४-६ मात्राएँ दिन में दी जा सकती हैं।

जलाल्पता (Dehydration)—विसूचिका का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण लक्षण

तथा चिकित्सा की दृष्टि से सर्वाधिक प्रथम चिकित्स्य होता है। जलीयांश की कमी हो जाने के कारण केशिकाओं में रक्त का संचरण सम्यक् नहीं हो पाता और जलीयांश के साथ ही नमक की कमी हो जाने के कारण पेशियों में उद्वेष्टन, बेचैनी आदि अनेक लक्षण पैदा हो जाते हैं। वास्तव में चिकित्सक के पास जब रोगी पहुंचता है, जलाल्पता से पीड़ित अवश्य रहता है। क्योंकि ४—५ बार में ही अतिसार व वमन से अत्यधिक जलीयांश निकल जाता है। जलाल्पता का सही ज्ञान करने के लिए रक्त की सापेक्ष्य गुरुता (Sp. gra.) का ज्ञान आवश्यक होता है। एक सुकर विधि निम्नलिखित है:—

काँच की साफ शीशी, परखनली या गिलासों में ग्लिसिरीन तथा जल का घोल भिन्न-भिन्न अनुपातों में रखकर उनकी गुरुता का मापन कर लें। १०५७ से १०६५ सापेक्ष्य गुरुता का घोल परखनली में अलग-अलग रखकर, सिरावेध द्वारा रक्त पिचकारी में निकाल कर, १-१ बूंद रक्त जल-ग्लीसिरीन के मिश्रणों में डालना चाहिए। रक्तबिन्दु के तैरने, घुलने या नीचे बैठ जाने से गुरुता की अल्पता या हीनता का निर्णय होता है। जिस शीशी में रक्तबिन्दु डालने पर १-२ सेकण्ड तक स्थिर रह कर घुल जाय, उस शीशी के ग्लीसिरीन के घोल की गुरुता रक्त की गुरुता के समकक्ष समझनी चाहिए। विशिष्ट गुरुता १०६० होने पर १ पाइण्ट लवण जल तथा १०६१ होने पर २ पाइण्ट, १०६२ होने पर ३ पाइण्ट—इसी क्रम से १०६६ होने पर ७ पाइण्ट लवणजल की अपेक्षा हो सकती है। जलीयांश की पूर्ति के लिये लवणजल-ग्लूकोज का क्षारीय घोल, रक्तरस आदि का प्रयोग किया जाता है। लवणजल का प्रयोग हीन, सम या अतिबल घोल के रूप में विशेष-विशेष अवस्थाओं में किया जाता है। नीचे उनका वर्णन पृथक्-पृथक् दिया गया है।

सम लवणजल (Normal saline)—

Sodium chloride	grs 90
Aqua destilata	pint 1

अतिबल लवणजल (Hypertonic saline)—

Sodium chloribe	grs 120
Cal chloride	gs 4
Sterlised dist. water	pint 1

क्षारीय लवणजल (Alkaline saline)—

Sodium chloride	gr 90
Sodi bi carb	gr 160
Sterlised dist. water	pint 1

उक्त योगों के अतिरिक्त Roger's Saline (Hypertonic) में Cal Chloride gr 6 की मात्रा में मिलाया जाता था। किन्तु उसके प्रयोग से प्रतिक्रिया होने

के कारण आजकल लवणजल के योग से उसका पृथक्करण कर दिया गया है। उपयोगिता होने पर स्वतंत्र रूप से कैलशियम ग्लूकोनेट का व्यवहार किया जा सकता है।

अतिबल लवणजल (Hypertonic saline)—रक्त की विशिष्ट गुरुता के बढ़ जाने, सांकोचिक रक्तभार के ८० मि० मी० से कम होने तथा नाड़ी की क्षीणता एवं मूत्राघात के लक्षण होने पर अतिबल लवणजल उपयोगी होता है।

समबल लवणजल—सिरा द्वारा प्रयोग सम्भव न होने पर अधस्त्वक् मार्ग से समबल लवणजल का उपयोग किया जाता है। क्वचित् मलमार्ग (Rectal drip) के द्वारा भी ५% ग्लूकोज मिलाकर बूँद-बूँद की मात्रा में प्रयोग करते हैं।

क्षारीय लवणजल—वमन तथा अतिसरण के कारण शरीर के क्षारीयद्रव्य भी उत्सर्गित हो जाते हैं। उनकी पूर्ति के लिये जल के साथ क्षारतत्वों का प्रयोग आवश्यक है।

व्याधि की तीव्रता के आधार पर प्रदेय लवणजल की मात्रा निर्धारित कर लेनी चाहिये। सामान्यतया मात्रा निर्धारण का आधार रक्त की विशिष्ट गुरुता होती है। ४ पाइण्ट द्रव के प्रयोग की अपेक्षा होने पर प्रारम्भ में एक पाइण्ट क्षारीय लवण जल देने के उपरान्त दो पाइण्ट अतिबल लवणजल तथा अन्तिम में एक पाइण्ट में अतिबल लवणजल + ग्लूकोज मिलाकर देना चाहिये।

लवणजल प्रयोग विधि—रोगी की गम्भीरता तथा निपात की स्थिति के आधार पर सिरा मार्ग से लवण जल के प्रयोग के दो साधन होते हैं :—

१. सूचीवेध द्वारा या बन्द विधि (Closed method)।

२. कैनुला द्वारा या खुली विधि (Open method)।

विसूचिका का उचित उपचार आरम्भ से ही करने पर तथा जलाल्पता के लक्षण उत्पन्न होते ही लवण जल का प्रयोग करने पर सिरा के खोलने की अपेक्षा नहीं होती—अन्यथा अत्यधिक जलाल्पता हो जाने पर हीन रक्त निपीड (सांकोचिक रक्त भार ५० से नीचे) होने पर सिरावेध के लिये चेष्टा करने पर भी सिरा नहीं मिल पाती। ऐसी अवस्था में शस्त्र कर्म द्वारा कूर्पर सन्धि (Elbow) के पास सिरा को खोलकर विशेष विधि से सिरा के भीतर कैनुला प्रविष्ट करा लवण जल का प्रयोग किया जाता है। किन्तु रोगी की अत्यधिक दुर्बलता एवं हीन क्षमता के कारण शस्त्र कर्म के बाद स्थानीय शोथ-पाक आदि के उपद्रव गम्भीर स्वरूप ले सकते हैं। इसलिये यथा सम्भव बन्द विधि से ही रोगारम्भ काल से लवण जल देना चाहिये।

लवण जल प्रयोग के सामान्य नियम—

ताप—लवण जल का ताप रोगी के गुदा के ताप पर नियन्त्रित किया जाता है। गुदा का ताप १०१° F तक होने पर लवण जल को गरम करने की अपेक्षा नहीं होती। सामान्यतया जल का ताप ८०° F होता है। गुदा का ताप हीन प्राकृत होने पर लवण

जल के घोल को १००° F तक गरम कर लेना चाहिये। गुदा का ताप १०४ या अधिक होने पर पहले संताप की चिकित्सा द्वारा ताप कम कर लवण जल का प्रयोग कराना चाहिये।

गति—प्रारम्भ में ४ औंस प्रति मिनट लवण जल के देने की मात्रा रक्खी जाती है। इस क्रम से ५ मिनट में १ पाइण्ट जल पहुँचता है। किन्तु बाद में गति की तीव्रता कम कर देना चाहिये अन्यथा हृदय एवं फुफ्फुस पर अधिक भार पड़ने के कारण अनेक अनुगामी उपद्रवों की सम्भावना हो सकती है। इसलिये कुछ समय बाद लवण जल की मात्रा १ औंस प्रति मिनट के आस-पास रखनी चाहिये। २-३ पाइण्ट इस क्रम से देने के बाद आखिरी पाइण्ट बिन्दु-बिन्दु क्रम से (Drip) ४०-५० बूँद प्रति मिनट के हिसाब से देने की व्यवस्था करनी चाहिये। तीव्र गति से जल प्रयोग करने पर जलीयांश शरीर कोषाओं में व्याप्त नहीं हो पाता, वमन और अतिसार के माध्यम से तुरन्त उत्सर्गित हो जाता है।

मात्रा—रक्त की विशिष्ट गुरुता के आधार पर लवण जल की मात्रा के निर्धारण का सिद्धान्त पहले बताया जा चुका है। बहुत अधिक जल एक बार में देने से रक्त की स्वाभाविक क्षार मर्यादा (Ph value) असन्तुलित हो जाती है, जिसके कारण कोषाओं का समवर्त (Tissue metabolism) तथा हृदय-मस्तिष्क-वृक्क आदि अङ्गों की क्रियाशीलता पर हानिकर परिणाम होता है।

निषेध—हृदय की विकृति, फुफ्फुस शोथ, अत्यधिक आध्मान, परिसरीय रक्तवाहिनी निपात (Perif. vascular failure) के कारण उत्पन्न हीन रक्त निपीड तथा रक्त की विशिष्ट गुरुता का स्वाभाविक मर्यादा के निकट रहना, गर्भिणी, अति वृद्ध एवं बालक में सिरा द्वारा लवण जल का प्रयोग न करना चाहिये।

पुनर्प्रयोग—मूत्राघात, अत्यधिक वमन या अतिसार, नाड़ी की क्षीणता, हीन रक्त निपीड तथा रक्त की विशिष्ट गुरुता के १०६३ से अधिक होने पर लवण जल का पुनः प्रयोग करना आवश्यक होता है।

लवण जल के प्रयोग के समय रोगी को छाती में पीड़ा या बेचैनी, तीव्र शिरःशूल, कम्प एवं घबड़ाहट आदि का अनुभव होने पर गति कम कर देना या थोड़े समय के लिये प्रयोग बन्द कर देना चाहिये।

विसूचिका के तीव्र आक्रमण से पीड़ित रोगियों में प्रारम्भ में अतिबल लवण जल या क्षारीय लवण जल का प्रयोग करने के बाद हीन रक्त निपीड एवं निपात के दूसरे लक्षणों में सुधार न होने पर रक्त की पूर्ति करने वाली दूसरी ओषधियों का प्रयोग करना चाहिये। इस दृष्टि से Plasmosan, Dextraven, peristan आदि का प्रयोग अधिक लाभदायक होता है। रक्त रस (Plasma) इस अवस्था के लिये सर्वोत्तम औषध है। उपलब्ध होने पर १ पाइण्ट प्लाज्मा ३०-४० बूँद प्रतिमिनट के क्रम से सिरा द्वारा देने से लाभकर होता है।

अधस्त्वचीय (Sub cutaneous) मार्ग—

सिरा द्वारा लवण जल का प्रयोग सम्भव न होने पर इस मार्ग से समबल लवण जल का प्रयोग कराया जाता है। मुख्य रूप से उदर की त्वचा, जानु तथा कक्षा की त्वचा में सूचीवेध देकर एक स्थान में ५० से १०० सी० सी० की मात्रा में लवणजल दिया जा सकता है। लवण जल के शीघ्र प्रचूषण के लिये Raundase १० सी० सी० लवण जल में मिलाकर प्रारम्भ में अध-त्वचीय मार्ग से देना चाहिये। यह मार्ग बहुत सुविधाजनक नहीं है। सूचीवेध के स्थान पर रोगी को अत्यधिक वेदना होती है तथा कभी-कभी स्थानीय कोषाओं में शोथ (Cellulitis) कोथ (Gangrene) या विद्रधि आदि का कष्ट हो जाता है। त्वचा के मार्ग से लवण जल की अधिक मात्रा नहीं दी जा सकती तथा नमक की राशि भी पर्याप्त मात्रा में नहीं पहुँच सकती, किन्तु इस मार्ग से प्रविष्ट जलीयांश का शोषण धीरे-धीरे होने के कारण परिणाम स्थायी स्वरूप का होता है। सिरा मार्ग के सहायक उपादान के रूप में एक पाइण्ट लवण जल अधस्त्वचीय मार्ग से देना बहुत हितकर होता है।

इस मार्ग से क्षारीय लवण जल-रक्त रस (Plasma) का प्रयोग नहीं किया जा सकता। अल्पशक्तिक ग्लूकोज का घोल सम लवण जल के साथ मिलाया जा सकता है। शिशुओं, स्त्रियों—विशेषकर गर्भिणी में तथा हृदय एवं फुफ्फुस शोथ के विकार से पीड़ित व्यक्तियों में त्वचा मार्ग से ही लवण जल का प्रयोग कराना चाहिये।

गुदा मार्ग (Rectal)—अतिसार के कष्ट के कारण इस मार्ग से जलीयांश का प्रचूषण पर्याप्त मात्रा में नहीं हो पाता, किन्तु सहायक मार्ग के रूप में समबल लवण जल में ५ प्रतिशत ग्लूकोज का घोल मिलाकर १५-२० बूँद प्रति मिनट के अनुपात से एक बार में ५-६ औंस तक द्रव पहुँचाया जा सकता है। रोगी के कमर के नीचे ६ मोटा तकिया देकर अथवा पायताने की तरफ ईंटा लगाकर बिस्तर ऊँचा कर देना चाहिये।

निपात (Collapse)—विसूचिका-विष के प्रभाव से हृत्पेशी में शोथ एवं दौर्बल्य का कष्ट हो जाता है और रक्त के अत्यधिक गाढ़ा हो जाने के कारण परिसरीय रक्तवाहिनियों में अवरोध होने लगता है तथा अधिवृक्क ग्रन्थि की क्रियाक्षमता भी न्यून हो जाती है। इन सब कारणों से शरीर के बाह्य अङ्गों में शैत्य, हीन रक्त निपीड तथा हृदय प्रदेश में बेचैनी एवं श्वसन में कष्ट होता है।

बाह्य प्रयोग—

कायफर, भुनी अरहर की दाल तथा सोंठ—इनके महीन चूर्ण को हाथ पैर में रगड़ना चाहिये।

बोतलों में गरम जल भर कर कपड़े में लपेट कर कक्षा तथा जंघाओं के पार्श्व में रखना चाहिये।

औषध प्रयोग—

Nor-Adrenaline—लवण जल के घोल में १ सी० सी० की मात्रा में इसको मिलाकर २०-२५ बूंद प्रति मिनट के क्रम से सिरा द्वारा देना चाहिये। हीन रक्त निपीड के तत्काल शमन के लिये ½ सी० सी० की मात्रा में ५० सी० सी० ग्लूकोज में मिलाकर बहुत धीरे-धीरे सिरा द्वारा भी दे सकते हैं। अथवा उसी निक्षेप नलिका (Transfusion tube) में धीरे-धीरे सूचीवेध कर दिया जा सकता है।

Methidrine—२ सी० सी० की मात्रा पेशी द्वारा देने से निपात का शमन एवं रक्त निपीड की वृद्धि होती है।

उक्त ओषधियों के अलावा Musk camphor in ether, Veritol, Coramine, Adrenaline, Pituitrine और Atropine sulph का सूचीवेध सिरा या पेशी मार्ग से यथावश्यक करना चाहिये।

निपात की स्थिति में सिरा द्वारा लवण जल का अधिक मात्रा में प्रयोग सम्भव नहीं होता, त्वचा या गुदा मार्ग से भी प्रयोग कराना आवश्यक हो जाता है। निपात का मूल कारण जलाल्पता ही माना जाता है, इसलिए आवश्यकतानुसार तरलाधान अवश्य कराना चाहिए।

Adrenal cortical extracts या Doca. का व्यवहार १० से १५ मि० ग्राम की मात्रा में पेशी मार्ग से १२ घण्टे के अन्तर पर करना चाहिये। इससे निपात के कारण मर्माङ्गों के कार्य में अवरोध नहीं होने पाता तथा रक्त भार बढ़ता है।

उद्वेष्टन (Cramps)—कैलशियम ग्लूकोनेट (Calcium gluconate) १० सी० सी० सिरा द्वारा सूचीवेध के रूप में अथवा ग्लूकोज के घोल में मिलाकर देना चाहिये। उद्वेष्टन की प्रमुख शान्ति लवण-जल के प्रयोग से ही हो जाती है। कैलशियम के प्रयोग से ऐंठन में शीघ्र शान्ति होती है। गरम पानी में नमक डालकर शाखाओंमें सेंक करने से या नमककी पोटली से स्वेदन करने से भी कुछ लाभ होता है।

परम ज्वर (Hyperpyrexia)—विसूचिका में जलाल्पता एवं निपात के कारण त्वचा का ताप प्रायः हीन प्राकृत बना रहता है और वमन के अतियोग तथा तृष्णा के शमन के लिये बरफ इत्यादि चूसने के लिये देने के कारण जिह्वा मूल का ताप भी विश्वसनीय नहीं रह जाता। इस स्थिति में केवल गुदा के ताप का ही पुनः पुनः परीक्षण करते रहना आवश्यक है। ताप के १०५ F. से अधिक रहने पर बरफ से पानी ठण्डा कर आस्थापन बस्ति द्वारा मलाशय का प्रक्षालन करना (Rectal wash), सिर तथा नाभि पर बरफ की थैली रखना। ताप कम करके ८०-९०° ताप का लवण जल सिरा द्वारा प्रयोग करना चाहिये। इसके अतिरिक्त परम ज्वर की चिकित्सा में उल्लिखित व्यवस्था करनी चाहिये।

मूत्राघात (Anuria)—मूत्राघात का मुख्य कारण रक्त का अत्यधिक संकेन्द्रण,

मूत्र विषमयता एवं शरीर के क्षारीय द्रव्यों का वमन एवं अतिसरण के द्वारा उत्सर्गित हो जाना है। जलाल्पता एवं निपात की उचित व्यवस्था से मूत्राघात में प्रायः लाभ हो जाता है। वृक्क प्रदेश में स्वेदन करना, तुम्बी लगाना (Cupping) तथा सिरा द्वारा लवण जल के साथ में ग्लूकोज तथा जीवतिक्ति सी० १००० मि० ग्रा० मिलाकर देना चाहिये।

Caffein soda benzoate कैफीन सोडा बेंजोइट २ से ५ ग्रेन की मात्रा में पेशी द्वारा ४ से ६ घण्टे के अन्तर पर २-३ बार देना चाहिये।

मूत्र त्याग होने पर उसकी परीक्षा करानी आवश्यक है। मूत्र के साथ केवल जलीयांश निकलने से रक्त की अम्लता का शोधन नहीं हो पाता, जब तक उसमें यूरिक एसिड-यूरीया एवं दूसरे मूत्रद्वारा उत्सर्गित होनेवाले पदार्थ न मिलें। इनके मूत्र में मिले रहने पर मूत्र की विशिष्ट गुरुता अधिक रहती है। बहुत से रोगियों में Testosteron propeonate २५ से ५० मि० ग्रा० (Aquous) की मात्रा में पेशी मार्ग से २ से ५ दिन तक देने से अच्छा लाभ करता है।

आध्मान (Tympanitis)—वमन एवं अतिसार के शान्त होने के बाद या कुछ अवरोधक ओषधियों के प्रयोग के बाद आध्मान हो जाता है। इसकी निवृत्ति के लिये गुदा द्वारा फ्लेटस ट्यूब (Flatus tube) प्रविष्ट कराकर तारपीन के तेल को पानी में डालकर उदर पर सेंक करना चाहिये।

ज्वर अधिक न हो तो Atropine sulph $\frac{1}{100}$ ग्रेन तथा Strychnine $\frac{1}{60}$ ग्रेन मिलाकर पेशी द्वारा सूची वेध देना चाहिये।

आवश्यक होने पर Prostigmine, pitutrine, carbechol आदि का सूचीवेध द्वारा प्रयोग किया जा सकता है।

मूत्रविषमयता (Ureamia)—लवण जल का विलम्ब से प्रयोग या निपात के लक्षणों का सम्बन्ध रहने पर वृक्क में कार्यवाह सीमा तक रक्त निपीड के न रहने, रक्त में अम्लता के आधिक्य तथा लवण एवं क्षारों की अत्यधिक कमी के कारण मूत्रविषमयता होती है। रक्त निपीड तथा रक्त की विशिष्ट गुरुता के स्वाभाविक मर्यादा के निकट हो जाने पर भी मूत्र त्याग न होना या मूत्र होने पर भी उसमें केवल जलीयांश का होना, मूत्र की सापेक्ष गुरुता का जल की गुरुता के निकट बने रहना और रोगी की बेचैनी, अनिद्रा, अरुचि, हृल्लास तथा विषमयता आदि अन्य लक्षणों का उत्तरोत्तर बढ़ते जाना, इस उपद्रव का निदर्शक होता है।

उपचार—विषमयता के प्रतिकार के लिए गुनगुने पानी से शरीर पोंछना, वृक्क-स्थान पर तुम्बी लगाना, मल का शोधन कराना तथा मुख द्वारा डाभ का पानी १ चम्मच सोडा बाई कार्ब तथा १ औंस ग्लूकोज या मधु मिलाकर कई बार में पिलाना; पुनर्नवार्क, झाऊ का अर्क तथा मकोय का अर्क भी इसमें उपयोगी होता है।

अम्लरक्तता का लक्षण होने पर आवश्यक मात्रा में क्षारीय लवण जल का प्रयोग करना, ग्लूकोज के घोल के साथ, कैल्सियम, जीवतिक्ति सी० (Glucose 25%, 50 c. c. + ascorbic acid 500 to 1000 mg, calcium gluconate 10% 10 c. c.) मिलाकर सिरा द्वारा मन्दगति से प्रयोग करना लाभकारी माना जाता है। लवण जल की मात्रा आवश्यकता से अधिक होने पर रक्त को अति तरल बनाकर वृक्क की स्वाभाविक निस्यन्द क्रिया (Filtration) को बाधा पहुँचाती है। अधस्त्वचीय मार्ग तथा गुदा मार्ग से ग्लूकोज समलवण जल का प्रयोग बिन्दु-बिन्दु क्रम से करना चाहिए। मुख द्वारा क्षारीय मिश्रण देना चाहिये।

R/

Soda bi carb	gr 15
Soda citras	gr 15
Potas acetas	gr 20
Potas citras	gr 20
Elixir pyrabenzamine	dr. one
Extract glycerrhyza liquid	dr. one
Elixir B complex	dr. 2
Liquid glucose	dr. 2
Aqua dest.	oz one
	१ मात्रा

दिन में ३ बार।

इसके स्थान पर Alkacitrone या Alkasole 6 cc या Siocitra आदि में से कोई योग २ चम्मच द्विगुण मात्रा में ग्लूकोज तथा परिस्रुत जल मिलाकर प्रयोग कर सकते हैं।

सोडियम सल्फेट (Sodium sulphate)—इसका समबल घोल (Isotonic solution) सिरा द्वारा बिन्दु-बिन्दु क्रम से आधा पाइण्ट देने से मूत्रविषमयता में बहुत लाभ करता है। इसके अभाव में सोडियम लैक्टेट (Isotonic solution of sodium lactate) १० सी० सी० तथा सोडा बाई कार्ब का सन्तृप्त घोल (Saturated solutoin of soda bi carb) १० सी० सी० की मात्रा में सिरा द्वारा मन्दता से देना चाहिए।

इसके अतिरिक्त मूत्राघात में निर्दिष्ट कैफीन सोडा बेनजोएट एवं डोका (Doca) आदि का प्रयोग आवश्यकतानुसार करना चाहिए।

श्वसनी-फुफ्फुस पाक, विद्रधि या स्वचाशोथ आदि उपद्रवों का उचित प्रतिकार पेनिसिलीन एवं टेट्रासायक्लीन आदि के प्रयोग द्वारा करना चाहिए।

बलसंजनन—

यह बहुत गंभीर व्याधि है, रोगमुक्त होने के बाद भी बहुत दिनों तक क्षीणता एवं हृद्दौर्बल्य आदि का अनुबन्ध बना रहता है। वमन एवं अतिसार के कारण सारा पाचन यन्त्र अकार्यक्षम हो जाता है। क्रम से मण्ड, पेया, विलेपी, खिचड़ी आदि सुपाच्य-पथ्य की तथा प्रोटीन के पूर्वपाचित योग (Protein hydrolysate), सम्पूर्ण जीवतिक्ति (Multivites) तथा पूरक खनिज लवणों की व्यवस्था करनी चाहिए।

भोजनोत्तर हाइड्रोक्लोरिक एसिड, डायस्टेज तथा एंजाइम (Acid H cl dill, diastage & enzymes) आदि का विधिवत प्रयोग पाचन शक्ति की वृद्धि के लिए करना चाहिए।

निम्नलिखित योग भी बहुत लाभकारी हैं—

१. प्रवाल पञ्चामृत	१ र०
बृ० लोकनाथ	१ र०
नवायस लौह	२ र०
रससिन्दूर	१ र०
	१ मात्रा

ताम्बूल पत्र स्वरस १ चम्मच तथा मधु से। सवेरे-शाम।

२. यवनीरवाण्डव चूर्ण	६ मा०
	१ मात्रा

भोजन के आधा घण्टा पूर्व चूसने के लिए।

३. चित्रकादिवटी या रसोनादिवटी

२ गोली भोजन के आधा घण्टा बाद। ऊपर से २ तोला कुमार्यासव बराबर जल मिलाकर पिलाना।

स्वाभाविक रूप में कार्यक्षम होने में लगभग १ मास का समय लग जाता है।

Crude liver extract तथा Bcomplex को २-२ सी० सी० की मात्रा में मिलाकर सप्ताह में २-३ बार ८-१० सूचीवेध पेशी मार्ग से देने पर पर्याप्त लाभ होता है।

प्रतिषेध—

इसके प्रसार के पूर्व D. D. T. फेनॉल आदि के प्रयोग से मक्खियों का विनाश, जलशोधन के लिए पोटास परमैंगनेट या ब्लीचिंग पाउडर का व्यापक प्रयोग तथा मसूरी का सामूहिक प्रयोग कराना चाहिए। मसूरी की प्रारम्भिक मात्रा ½ सी० सी० तथा ८-१० दिन बाद में १ सी० सी० पेशी मार्ग से देने से ४-६ मास के लिए निरोध-क्षमता उत्पन्न होती है।

रोगाक्रमण काल में आहार-बिहार का नियन्त्रण, नींबू का पर्याप्त मात्रा में प्रयोग

तथा बाजार की मिठाई एवं दूसरे खाद्य-पेयों—लस्सी, कुल्फी एवं आइसक्रीम आदि—का परित्याग तथा फलों को पोटास के पानी में धोकर प्रयोग करना हितकर होता है।

आम प्रवाहिका

Amoebic Dysentery

इस व्याधि में Entamoeba hystolytica के उपसर्ग से बृहदन्त्र (Colon) में आन्तरिक व्रण उत्पन्न होने के कारण आम एवं रक्त का प्रवाहण एवं ऐंठन के साथ मल का उत्सर्ग होता है। प्रवाहिका के अतिरिक्त यकृत्शोथ (Hepatitis), यकृत्-विद्रधि (Hepatic abscess), फुफ्फुस विद्रधि (Lung abscess), स्नायु दौर्बल्य (Neurasthenia) आदि उपद्रव उत्पन्न होते हैं।

इस रोग का संचयकाल बहुत लम्बा—१ सप्ताह से ५-६ महीने तक का—हो सकता है। प्रायः वर्षाकाल में इसका प्रकोप अधिक होता है। वैसे वायुमण्डल ऋतु एवं देश-काल से इसका विशेष सम्बन्ध नहीं। अनियमित आहार-विहार, मद्यपान, गुरुपाकी भोजन तथा मिष्टान्न का अधिक सेवन करने से इसका प्रकोप बढ़ता है। युवावस्था के पुरुषों में स्त्रियों एवं बालकों की अपेक्षा आम प्रवाहिका का विकार अधिक होता है। प्रवाहिका सम्बन्धी अत्यधिक कष्ट होने पर भी विषमयता के लक्षणों का न मिलना इसकी प्रमुख विशेषता मानी जाती है। यह विकार बहुत चिरकालीन स्वरूप का है। एक बार आक्रमण होने पर प्रायः यावज्जीवन व्याधि का सम्बन्ध बना रहता है, किन्तु इसके तीव्र आक्रमण बहुत कम होते हैं।

इसके जीवाणु की दो मुख्य अवस्थायें होती हैं—

औद्भिदावस्था (Vegetative stage)—इस अवस्था में जीवाणु रुधिर कायाणु से पाँच गुना बड़ा तथा अपने कूटपादों (Pseudo podia) के सहारे गतिशील होता है। प्रायः इसके अन्तर्कायाणु रस (Protoplasm) में रुधिर कायाणु मिलते हैं। व्याधि की तीव्रावस्था जीवाणु के इसी रूप के कारण होती है।

कोष्ठावस्था (Cystic stage)—अनुकूल वातावरण न होने पर यह जीवाणु कोष्ठावस्था में अपने को बदल लेता है। इस अवस्था में वृत्ताकार कोष्ठ के भीतर बहुत वर्षों तक अपने को सुरक्षित रख सकता है और पुनः अनुकूल स्थिति आने पर औद्भिदावस्था में आ जाता है। कोष्ठावस्था में बृहदन्त्र के गूढ़ स्थानों में ही छिपा रहता है, किन्तु क्रियाशील औद्भिदावस्था में यकृत् या दूसरे अधिष्ठानों में भी मिल सकता है।

इस जीवाणु का संक्रमण मुख द्वारा ही होता है। खाद्य-पेय द्वारा संवाहित होने वाले

दूसरे विकारों के समान इसमें भी संवाहक के रूप में मक्खियों का मुख्य हाथ होता है। कोष्ठ (Cyst) द्वारा दूषित भोजन या जल के द्वारा इसका प्रवेश आमाशय मार्ग से आन्त्र में होता है। यहाँ पर इसके कोष्ठ का विदार होकर मूलरूप उत्पन्न होता है। इसके शरीर से एक विशेष प्रकार का किण्व (Ferment) निकलता है, जिसके प्रभाव से आन्त्र की श्लेष्मल कला नष्ट होकर व्रण बनता है। इस व्रण का मूल चौड़ा तथा मुख बहुत छोटा सुराही के समान होता है। यहीं पर जीवाणु मुख्य रूप से अपना अधिष्ठान बनाकर मल द्वारा प्रसार करता रहता है। औद्भिदावस्था का जीवाणु मल के साथ बाहर निकलने पर एक दो घण्टे के भीतर ही नष्ट हो जाता है, किन्तु कोष्ठावस्था पर घातकता का परिणाम शीघ्र नहीं होता, इसके कोष्ठ (Cyst) मिट्टी में मिलकर वर्षों तक जीवन-क्षम बने रहते हैं।

लक्षण—

इस रोग का प्रारम्भ बहुत मन्दगति से बिना ज्वर के होता है। इसके अत्यन्त चिरकालीन एवं विषमयतारहित होने के कारण रोगी को शय्या नहीं ग्रहण करनी पड़ती। इसमें अतिसार की अपेक्षा कोष्ठ-बद्धता का लक्षण अधिक मिलता है। अनियमित भोजन एवं विबन्ध के कारण आन्त्र में दूसरे दण्डाणुओं की वृद्धि हो जाने पर इसको अनुकूल वातावरण मिलता है, जिससे कुछ समय के लिये इसका तीव्र आक्रमण स्पष्ट हो जाता है। मल में आमांश तथा रक्त का अंश आता रहता है। उदर के दक्षिण भाग में वेदनाक्षमता मिलती है। उण्डुक (Coecum) तथा स्थूलान्त्र के दूसरे भाग (Transverse colon & sigmoid) जीर्ण उपसर्ग के कारण स्थूल तथा कड़े हो जाते हैं। कभी-कभी उण्डुकपुच्छ (Appendix) में व्रण उत्पन्न होकर शोथ के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। उदर में आध्मान, अजीर्ण तथा हीन पाचन के दूसरे लक्षण रहते हैं। दौर्बल्य, रक्ताल्पता, आलस्य एवं स्नायुदौर्बल्य के कारण रोगी शिथिलता का अनुभव करता है। मानसिक एवं शारीरिक परिश्रम करने की अनिच्छा, हृत्कम्प (Palpitation) एवं अवसाद के लक्षण होते हैं, जिससे रोगी अपने को अनेक व्याधियों से पीड़ित हुआ समझता है।

आमप्रवाहिका की व्यावहारिक दृष्टि से ३ अवस्थायें मिलती हैं—

तीव्र प्रवाहिका—इसमें उदर में तीव्र मरोड़ तथा मल में रक्त एवं आमांश की अधिक मात्रा में उपस्थिति, दिन भर में १५–२० बार मलोत्सर्ग की प्रवृत्ति, मलोत्सर्ग के पहले तथा बाद में देर तक मरोड़ का बना रहना, उदर में दवाने पर दोनों पार्श्वों में अधिक वेदना का बना रहना एवं अग्निमांद्य व अजीर्ण का कष्ट रहता है।

जीर्णावस्था—आम प्रवाहिका के जीर्णस्वरूप में मलोत्सर्ग की संख्या अधिक नहीं बढ़ती, ३-४ बार मलत्याग की प्रवृत्ति होती है, किन्तु मल त्याग के बाद रोगी को कोष्ठ-शुद्धि का अनुभव नहीं होता। मल चिकना, ढीला, बदबूदार तथा थोड़ी-थोड़ी मात्रा

में होता है। इस अवस्था में मुख्य रूप से शारीरिक दौर्बल्य, मानसिक अवसाद, आध्मान, विदाह तथा अग्निमांद्य एवं वातिक गुल्म के से लक्षण होते हैं। दूध एवं स्निग्ध आहार रोगी को सात्म्य नहीं होता। मन में अत्यधिक हीनता की भावना के कारण उत्तरदायित्वपूर्ण कार्यों से पलायन तथा आत्म-हत्या की भावना जागृत होती है। वास्तव में तीव्रावस्था की अपेक्षा जीर्णावस्था में रोगी अधिक अस्वस्थ रहता है।

मृदावस्था—बीच की अवस्था में औषधोपचार के बाद या व्याधि का स्वतः लाक्षणिकरूप से प्रशम हो जाने के बाद रोगी अपेक्षाकृत स्वस्थ अनुभव करता है, किन्तु उदर में आध्मान, अग्निमांद्य, विबन्ध का कष्ट बना रहता है।

रोगविनिश्चय—

रोग की चिरकालीन प्रवृत्ति, विषमयता एवं प्रसार का अभाव, मध्यम आयु के पुरुषों में आक्रमण की प्रवृत्ति, विबन्ध तथा प्रवाहिका का बीच-बीच में उपद्रव, ज्वर का अभाव, मल-त्याग की सख्या वृद्धि तथा मलोत्सर्ग के बाद भी मलाशय में मल के अवरोध का अनुभव, मानसिक अवसाद, आलस्य, दौर्बल्य, पाण्डुता, अजीर्ण एवं आध्मान सम्बन्धी हीन पाचन विकारों का अनुबन्ध, उदर के दक्षिण एवं वाम पार्श्व में दबाने पर मृदु-वेदना तथा कठोरता का अनुभव, रक्त में मध्यम स्वरूप का श्वेत कायाणूत्कर्ष, मल में चिकणता तथा आमांश एवं रक्त की बीच-बीच में उपस्थिति, मलोत्सर्ग के पहले एवं बाद में पेट में मरोड़ का अनुभव और मल में सूक्ष्मदर्शक से परीक्षण करने पर विशिष्ट-जीवाणु की उपस्थिति से इस व्याधि का पूर्ण निर्णय हो जाता है।

प्रायोगिक परीक्षण—

रक्त में स्वल्प मात्रा में श्वेतकायाणु की वृद्धि का उल्लेख पहले किया जा चुका है। सापेक्ष्य गणना में एक कायाणु (Monocytes) तथा क्वचित् लसकायाणु की वृद्धि मिल सकती है। मल-परीक्षा में प्रतिक्रिया अम्ल, प्रायः रुधिर कायाणुओं की उपस्थिति, मल में विशेष दुर्गन्धि और शॉरकट लीडन स्फटिक (C. L. Crystals) की उपस्थिति प्रायः मिलती है। कभी-कभी E. Hystolytica का कोष (Cyst) या अमीबा की उपस्थिति मिल सकती है।

सापेक्ष्य निदान—

दण्डाण्वीय प्रवाहिका, कृमिज-अतिसार, बृहदन्त्रशोथ, संग्रहणी आदि व्याधियों से इसका पार्थक्य करना चाहिये।

आम प्रवाहिका का विनिश्चय मुख्य रूप से लक्षणों एवं मल-परीक्षा पर निर्भर करता है। दण्डाण्वीय अतिसार में ज्वर, उदर-शूल, मल में जलीयांश की अधिकता, मल में रक्त की स्वतन्त्र रूप से उपस्थिति, अत्यधिक मरोड़ तथा रक्त में बहुकेन्द्री (Polymorph) की वृद्धि और एक कायाणुओं की स्वाभाविक संख्या; कृमिज अतिसार में ह्रास, उदर-शूल आदि लक्षणों के अतिरिक्त मल में विशिष्ट कृमियों की उपस्थिति

तथा रक्त में उषसिप्रियों (Eosinophils) की सापेक्ष्य वृद्धि तथा संग्रहणी में मल की बहुलता, मल में अपाचित घटकों का आधिक्य, शरीर की धातुओं का अत्यधिक क्षय, मुखपाक, रक्त में श्वेत कायाणुओं की संख्या अपरिवर्तित तथा रुधिर कायाणुओं में विशिष्ट परिवर्तन—रुधिर कायाणु का आकार स्वाभाविक से बड़ा तथा रंजक तत्त्व की कमी—आदि लक्षणों के आधार पर आम प्रवाहिका से इनका पार्थक्य करना चाहिये।

आम प्रवाहिका में मलाशय एवं अवग्रहान्त्र की परीक्षा विशेष यन्त्र (Sigmoidoscope) के द्वारा की जाती है—इसमें मलाशय एवं अवग्रहान्त्र में आम प्रवाहिका के विशेष प्रकार के व्रण तथा अमीबा की उपस्थिति से निदान की पुष्टि होती है।

उपद्रव तथा अनुगामी विकार—

यकृत-शोथ, यकृत् विद्रधि, फुफ्फुस तथा मस्तिष्क में विद्रधि, मिथ्या उण्डुकपुच्छ-शोथ (Pseudo appendicitis), अमीबिक कणिकार्बुद (Amoebic granuloma), आन्त्रनिच्छिद्रण (Perforation), अर्श, रक्तस्राव एवं पाण्डुता के उपद्रव होते हैं।

साध्यासाध्यता—

आम प्रवाहिका बहुत साधारण विकार प्रतीत होने पर भी एक बार रोगी को आक्रांत कर लेने पर आसानी से छोड़ता नहीं। आन्त्र की श्लेष्मल कला में बोतल या सुराही के समान व्रण बना कर स्थायी रूप से निगूढ़ रहता है। अनुकूल परिस्थिति आने पर बीच-बीच में इसका प्रकोप होता है। यह कोई मारक व्याधि नहीं है, किन्तु इसके कारण शारीरिक और मानसिक अवसाद से रोगी निरन्तर कष्ट पाता रहता है।

सामान्य चिकित्सा—

इस रोग की चिकित्सा में आहार का विशेष महत्त्व है। दूध प्रायः सात्म्य नहीं होता। इसलिये दही या मट्ठे का प्रयोग भोजन के साथ में करना चाहिये। चावल एवं दाल भी वात प्रकोपक होने के कारण कम अनुकूल होती हैं। पपीता, गूलर, कच्चा केला का शाक के रूप में प्रयोग विशेष लाभ करता है। फलों में पका हुआ बेल, पपीता, संतरा, अनार, सेव का प्रयोग करना चाहिये। आहार सुपाच्य एवं समय से करना चाहिये। स्निग्ध आहार—विशेषकर तला हुआ प्रतिकूल होता है। रोग की जीर्णावस्था में जीवतिक्ति तथा पूर्वपाचित प्रोभूजिनों के योग एवं दूसरे सुपाच्य बलकारक आहार द्रव्यों की योजना करनी चाहिये। मद्य, मिर्च-मसाले एवं तीक्ष्ण विदाही द्रव्य यकृत को विशेष रूप से हानि पहुँचाते हैं, जिससे यकृत शोथ की सम्भावना बढ़ती है। इनका त्याग करना चाहिये। मृदु व्यायाम—टहलना, नदी में तैरना या इसी श्रेणी का दूसरा श्रम का कार्य—आँतों की शिथिलता एवं यकृत की अकार्य क्षमता दूर करने में सहायक होता है। इसमें अतिसार की अपेक्षा विबन्ध का ही कष्ट अधिक

होता है और बिबन्ध आमांश के संचित होने में सहायता करता है। इसलिये बीच-बीच में मृदु कोष्ठ शोधक द्रव्यों का सेवन करते रहना अच्छा है। इस दृष्टि से दस पन्द्रह दिन में एक बार १ तोला इसबगोल की भूसी दूध या जल के साथ अथवा यष्ट्यादि चूर्ण या हरीतकी का सेवन किया जा सकता है। वर्षा के आरम्भ में—जो इसका स्वाभाविक प्रकोप काल है—१-२ तोला की मात्रा में एरण्ड तैल का विरेचन ले लेना हितकर होता है।

औषध चिकित्सा—

इस व्याधि में इमेटीन (Emetine), आयोडीन (Iodine derivatives) के योग, कुटज के योग (Kurchicin etc.), क्लोरोक्विन (Chloroquin) के योग, संखिया के योग तथा विशाल क्षेत्रक प्रतिजीवी वर्ग की ओषधियों का प्रयोग किया जाता है।

ईमेटीन (Emetine)—आम प्रवाहिका में अत्यधिक प्रभाव करने वाली उग्र औषध है। औद्भिदावस्था में इसके प्रयोग से चमत्कारिक लाभ होता है। किन्तु कोष्ठावस्था में विशेष कार्यक्षम नहीं होती। इसका मुख्य प्रयोग सूचीवेध द्वारा होता है। इसकी औषध तथा विषाक्त मात्रा में अधिक अन्तर नहीं होता, इसलिये कभी-कभी सामान्य मात्रा से भी हृदयावसाद, नाड़ीशोथ, अंगघात एवं हीन रक्त निपीड के उपद्रव हो जाते हैं। इसका सूचीवेध अत्यधिक पीड़ाकारक होता है। कभी-कभी सूचीवेध स्थान में कोषाओं का अपजनन होकर विद्रधि बन जाती है। बालकों एवं स्त्रियों में इसके विषाक्त परिणाम अत्यधिक होते हैं। इन सब दुष्परिणामों के बावजूद व्याधि की तीव्रावस्था में तथा यकृत शोथ, फुफ्फुस विद्रधि, यकृत विद्रधि आदि उपद्रव होने पर इससे श्रेष्ठ कार्य-क्षम औषध न होने के कारण इसका प्रयोग करना पड़ता है।

इमेटीन के प्रयोग के विशेष निर्देश—

१. इसके प्रयोग से आन्त्रगत व्रणों की अपेक्षा यकृत शोथ एवं यकृत विद्रधि में अधिक लाभ होता है। इसलिये व्याधि की तीव्रावस्था एवं इन उपद्रवों को छोड़ कर सामान्य चिकित्सा के लिये इमेटीन का प्रयोग न करना चाहिये।

२. यह संचायी स्वरूप की ओषधि है तथा हृदय के लिये विशेष हानिकारक होने के कारण ५-६ दिन से अधिक इसका लगातार प्रयोग न करना चाहिये।

३. इसके प्रयोग काल में हृल्लास, वमन, हृदय की अनियमितता, हीन रक्त निपीड, अत्यधिक मानसिक एवं शारीरिक दौर्बल्य आदि विषाक्तता के लक्षण उत्पन्न होने पर प्रयोग तुरत बन्द कर देना चाहिये।

४. मुख द्वारा प्रयोग करने पर वमन, अतिसार, दौर्बल्य, घबड़ाहट एवं हीन रक्त निपीड के लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं।

५. प्रयोग काल में रोगी को शय्या पर लेट कर पूर्ण विश्राम करना चाहिये। ग्लूकोज एवं मधुर फलों के रस तथा सोडा बाई कार्ब का सेवन करने से विषाक्तता नहीं होती।

६. उचित परिणाम की उपलब्धि के लिये इसका पूर्ण मात्रा में प्रयोग आवश्यक है तथा संचायी स्वरूप की औषध होने के कारण मात्रा का निर्धारण सूचीवेध की संख्या पर नहीं परन्तु प्रयुक्त औषध के मान पर निर्भर करता है।

७. इस औषध के साथ संखिया के योग न देना चाहिये। दोनों ही विषाक्त औषधियाँ हैं। संयुक्त रूप से देने पर हृदय सम्बन्धी दुष्परिणाम अधिक हो सकते हैं।

८. इसकी विषाक्तता को कम करने के लिये सूचीवेध के साथ में स्ट्रिक्नीन ग्रेन $\frac{1}{60}$ (Strychnine $\frac{1}{60}$ gr.) तथा जीवतिक्ति बी० $_1$ १०० मि० ग्रा० की मात्रा में मिलाकर देना चाहिये।

९. इमेटीन के योगों का मुख द्वारा प्रयोग करने पर खाली पेट न देना चाहिये। प्रायः प्रातः जलपान के बाद रात्रि में भोजन के बाद देने की प्रथा है। वमन एवं अतिसार के सम्भावित उपद्रव को ध्यान में रखते हुये इसकी दो गोली केवल रात में सोते समय निद्राकर एवं वमन विरोधी औषध के योग से देना अधिक व्यावहारिक होता है।

१०. इमेटीन प्रयोग के पहले एरण्ड तैल या लवण विरेचक (Mag sulph) का प्रयोग कर कोष्ठ शुद्धि कराने से औषध का परिणाम अच्छा होता है।

आयोडीन के योग—अमीबिक प्रवाहिका की लाक्षणिक निवृत्ति के लिये इस वर्ग की औषधियों का सर्वाधिक व्यवहार किया जाता है। इसके स्वतन्त्र तथा इमेटीन एवं कुटज के साथ मिले जुले योग भी प्रयुक्त होते हैं।

आयोडीन के निम्नलिखित योग मुख्यतया प्रयुक्त किये जाते हैं—

१. इमेटीन बिस्मथ आयोडाइड (Emetine bismuth iodide)—२ से ४ ग्रेन की मात्रा में कैप्स्यूल में भर कर पेथिडिन (Pethidine) २५ मि० ग्रा० या स्पाजमिण्डान (Spasmindon) या सोनर्गान (Sonergan) के साथ में सोते समय देना चाहिये। ४ चम्मच लिक्विड पैराफिन (Liq paraffin) के साथ भी इसका प्रयोग किया जाता है। इन औषधियों के सहायक प्रयोग का उद्देश्य आमाशय प्रक्षोभ एवं अतिसार के कष्ट को रोकना है। आम प्रवाहिका-जनित आन्त्र की विकृति में इससे अच्छा लाभ होता है। ८ से १२ दिन तक इसका प्रयोग किया जा सकता है।

कुर्ची बिस्मथ आयोडाइड (Kurchi bismuth iodide)—८ से १० ग्रेन की मात्रा में दिन में २ बार, ७ से १० दिन तक प्रयोग किया जाता है। इसके सेवन के १ घण्टा पूर्व सोडा-बाईकार्ब, सोडा साइट्रास एवं ग्लूकोज के साथ क्षारीय-मिश्रण बनाकर प्रयोग करने से गुण-वृद्धि होती है।

एनाबीन (Anabin), कूर्चीबाइड (Kurchibide), इनिओक्विन (Enioquin) आदि इस वर्ग के पेटेण्ट योग प्रयुक्त किये जाते हैं।

यात्रिन (Yatrin) या चिनियोफोन (Chiniofon) –इसका प्रयोग मुख द्वारा तथा अनुवासन बस्ति के रूप में गुदा मार्ग से किया जाता है।

मुख द्वारा ०.२५–.५ ग्राम की मात्रा में दिन में ३ बार, दस दिन तक देना चाहिये। गुदा मार्ग से २½ प्रतिशत का ६ औंस से १२ औंस की मात्रा में घोल बनाकर अनुवासन बस्ति (Retention enema) के रूप में प्रयोग कराकर ४ से ६ घण्टे तक बस्ति के निरोध कराने की चेष्टा करनी चाहिये। बस्ति प्रयोग के पहले सोडा-बाईकार्ब के घोल से आन्त्र का प्रक्षालन करने से अच्छे परिणाम होते हैं।

डाइडोक्विन (Didoquin)—३ से ६ ग्रेन की मात्रा में दिन में ३ बार १५ दिन तक देना चाहिये। इम्बेक्विन (Embequin), योडचिन (Yodchin) आदि इस वर्ग का पेटेण्ट कोई योग प्रयुक्त किया जा सकता है।

आक्सीक्विनोलिन (Oxyquinoline)—४ से ८ ग्रेन की मात्रा में दिन में ३ बार दस दिन तक, पुनः प्रयोग की अपेक्षा होने पर दस दिन का अन्तर देकर प्रयोग करना चाहिये। इसका गुदा मार्ग से अनुवासन बस्ति के रूप में भी प्रयोग किया जा सकता है। ६ से १० गोली (१५ से २५ ग्रेन) १५०–२०० सी० सी० जल में घुलाकर काम में लेते हैं। एन्टरोवायोफार्म (Entrovioform), एण्टेरो क्विनॉल (Entroquinol) आदि इस वर्ग की पेटेन्ट ओषधियाँ हैं।

सायोस्टेरान (Siosteron, Geigy)—इस योग में आयोडीन का अंश प्रच्यवित न होने का विशिष्ट गुण है। इससे आयोडीन की विषाक्तता होने की सम्भावना नहीं होती। २ गोली दिन में ३ बार, दस दिन तक दी जा सकती है।

क्लोरोक्विन (Chloroquin)—०.१५ ग्राम–.२ ग्राम की मात्रा में दिन में ३ बार दस दिन तक इसका प्रयोग किया जा सकता है। आम प्रवाहिका की आन्त्र-गत विकृतियों की अपेक्षा यकृत की विकृतियों में इसका अधिक प्रभाव होता है। रक्त रस की अपेक्षा इसका संकेन्द्रण यकृत एवं प्लीहा में ४०० से ६०० गुना अधिक होता है। इस दृष्टि से यकृत शोथ एवं यकृत विद्रधि में इमेटीन के बाद क्लोरोक्विन का ही महत्त्व होता है। कोष्ठावस्था में भी इसके प्रयोग से लाभ होता है।

व्यावहारिक निर्देश—

१. इस वर्ग की अधिकांश ओषधियों में आयोडीन की पर्याप्त मात्रा होती है। कुछ व्यक्ति आयोडीन के प्रति असहिष्णु होते हैं। सात्म्य न होने पर आयोडीन के योगों से शिरःशूल, चक्कर, कर्णनाद, नेत्रों-हाथ-पैरों में जलन, हृत्स्पन्द आदि कष्टकारक लक्षणों का अनुभव होता है। आहार-सेवन करने के बाद इन ओषधियों का प्रयोग करने से उक्त लक्षणों का प्रतिबन्ध होता है।

२. इनके प्रयोग से आम प्रवाहिका का लाक्षणिक उपशम होता है, स्थायी निवृत्ति नहीं। एक बार ८-१० दिन से अधिक लगातार न देकर आवश्यकता होने पर व्यवधान के साथ प्रयोग करना चाहिये।

३. चिरकालीन स्वरूप के विकार में हाइड्रोक्विन वर्ग की ओषधियाँ अधिक गुणकारी होती हैं।

४. व्याधि का मुख्य अधिकरण बृहदन्त्र होने के कारण मुख द्वारा प्रयोग की अपेक्षा गुदा मार्ग से अनुवासन बस्ति के रूप में इनका प्रयोग अधिक लाभ करता है।

५. इनके प्रयोग के पूर्व संचित आमांश का शोधन, मृदु र ... ओषधियों के प्रयोग से कोष्ठ शुद्धि करा लेने से अधिक स्थायी प्रभाव होता है।

६. जीर्ण आम प्रवाहिका में दण्डाण्वीय जीवाणुओं का उपसर्ग अवश्य रहता है। इसलिये उनके प्रतिकारार्थ शुल्बौषधियाँ एवं प्रतिजीवी वर्ग की ओष..यों का सहप्रयोग-करना चाहिये।

कुटज के योग (Kurchi Compounds)—

कुटज का प्रयोग आम प्रवाहिका में बहुत प्राचीन काल से होता आया है। आधुनिक अनुसन्धानों से भी उसकी विशिष्ट उपादेयता प्रमाणित हुई है। व्याधि की दोनों अवस्थाओं—औद्भिदावस्था व कोष्ठावस्था—में इसके प्रयोग से लाभ होता है। यकृत शोथ-यकृत विद्रधि आदि उपद्रवों में अभी इसका व्यापक प्रयोग नहीं किया जा सका। इसके आयोडीन के साथ के योगों का उल्लेख किया जा चुका है। दूसरी आम प्रवाहिका प्रतिरोधी ओषधियों के साथ इसके मिले-जुले योगों का प्रयोग अधिक किया जाता है। इसका मुख्य सत्त्व कोनेसीन (Conessine) है। सूचीवेध के रूप में इसका प्रयोग कूर्चीनिन हाइड्रोक्लोर (Kurchinine hydrochlor) के रूप में ½-ग्रे०—१ ग्रे० की मात्रा में ३ दिन तक अधःस्त्वक मार्ग से किया जाता है। इसका प्रयोग प्रवाही सत्त्व (Liqu. extract) के रूप में अधिक किया जा सकता है। २ ड्राम प्रवाही सत्त्व का प्रयोग बराबर मात्रा में ईसबगोल की भूसी मिलाकर, भोजनोत्तर, दोनों समय जीर्ण रोगियों में बहुत लाभ करता है। कुटज के योगों का व्यवहार निरापद होता है। जीर्ण रोगियों में पर्याप्त समय तक इसके प्रयोग से अधिक स्थायी लाभ होता है। किन्तु व्याधि की तीव्रावस्था में इसके द्वारा लाक्षणिक शान्ति कुछ विलम्ब से होती है।

संखिया के योग (Arsenicals)—

आम प्रवाहिका की कोष्ठावस्था में तथा आन्त्र के उपद्रवों में सोमल के योगों के प्रयोग से लाभ होता है। कुछ व्यक्ति सोमल के प्रति प्रकृत्या असहिष्णु होते हैं, प्रयोग करने के पूर्व मूत्र की शुक्लि (Albumin) के लिये परीक्षा तथा १-२ दिन स्वल्प मात्रा में प्रयोग कर सात्म्यता का निर्णय कर लेना चाहिये।

कारबरसान (Carbarsone, lilly) या एम्बियार्सन (Amibiarson, B.C.P.W,) दोनों तत्सम ओषधियाँ हैं; जिनका जीर्ण रोगियों में प्रयोग किया जाता है। •२५ ग्राम की मात्रा में कैप्सूल में भर कर भोजनोत्तर दिन में २ बार दस से १५ दिन तक प्रयोग करना चाहिए। इस ओषधि के साथ क्षारीय द्रव्यों का प्रयोग न करना चाहिए। इसका प्रयोग अनुवासन बस्ति के रूप में भी किया जाता है। ३० ग्रे० कारबरसान व २५ ग्रेन सोडा-बाई कार्ब को ६ औंस परिश्रुत जल में घोलकर रात्रि में सोने के पूर्व अनुवासन बस्ति के रूप में आँतों में काफी ऊंचाई तक पहुँचा कर देना चाहिए। बस्ति के पूर्व मलाशय का शोधन आस्थापन बस्ति के द्वारा करना तथा कम से कम दो घण्टे पूर्व भोजन कर लेना आवश्यक है। बस्ति प्रयोग के बाद तुरन्त निन्द्रा लाने वाली मेडोमिन (Medomin), ट्विनाल (Tuinol), एथेब्राल (Ethebrol) आदि किसी का प्रयोग कराने से तुरन्त निद्रा आकर बस्ति द्वारा प्रविष्ट औषध का आवश्यक समय तक निरोध हो सकता है। यह प्रयोग प्रति तीसरे दिन, कुल ५ से ७ बार तक करना चाहिए।

स्टोवार्सल (Stovarsol, M. B.)—४ ग्रेन की मात्रा में दिन में २-३ बार ७ से १० दिन तक। कारबरसोंन की अपेक्षा यह हीन वीर्य होती है।

सोमल के योगों का प्रयोग करने पर ज्वर, उदरशूल, अतिसार एवं मूत्र में शुक्लि की उपस्थिति आदि विषाक्त परिणाम हो सकते हैं। सावधानी के साथ इन लक्षणों की तरफ ध्यान रखते हुए निर्दिष्ट आवश्यक समय तक ही इन योगों का सेवन कराना चाहिये, अधिक नहीं। अनुवासन बस्ति के रूप में कारबरसोंन का प्रयोग करते समय मुख द्वारा सोमल के किसी योग का प्रयोग कुछ काल तक न करना चाहिए।

उक्त योगों के अलावा सोमल के दूसरे विशिष्ट योग अनेक आम प्रवाहिका नाशक ओषधियों के मिश्रण के रूप में प्रयुक्त किये जाते हैं। वायोसेप्ट (Viosept), बिसारेन (Bisaren), क्लोरेम्बिन (Chlorembin), डिस्ट्रिण्डान (Dystrindon), मिलिबिस (Milebis) आदि पेटेण्ट योग इस श्रेणी के उदाहरण हैं।

विशाल क्षेत्रक प्रतिजीवी द्रव्य (Antibiotics)—

पिछले कई वर्षों में इस वर्ग की ओषधियों का प्रयोग जीर्ण आम प्रवाहिका के आन्त्रगत उपद्रवों में तथा यकृत शोथ में व्यापक रूप में किया गया है। व्याधि की लाक्षणिक निवृत्ति तथा कुछ समय के लिये मल में जीवाणु की अनुपस्थिति से तात्कालिक परिणाम अच्छे ज्ञात हुए थे, किन्तु पुनरावर्तन की दृष्टि से इस क्रम से भी कोई विशेष प्रगति नहीं सिद्ध हो सकी। आन्त्र के दूषित व्रणों एवं आम प्रवाहिका के सहायक दूसरे दण्डाणुओं के उपसर्ग में इनसे अवश्य लाभ होता है। इन ओषधियों का प्रयोग मुख एवं अनुवासन बस्ति के रूप में किया जाता है। टेरामाइसिन तथा टेट्रासाइक्लिन का परिणाम इतर की अपेक्षा अधिक सन्तोषजनक रहा है। २५० मि० ग्रा० दिन में ३-४ बार ८ दिन तक।

अनुवासन बस्ति के रूप में ५०० मि० ग्रा० ४ ड्राम गिलसरीन एवं ४ ड्राम समबल लवण जल मिलाकर आन्त्र प्रक्षालन के बाद रबर नलिका से पर्याप्त भीतर तक धीरे-धीरे प्रविष्ट कराना चाहिये। यकृत शोथ में क्लोरोक्विन वर्ग की ओषधियों के साथ प्रयोग करने पर दोनों के स्वतन्त्र प्रभाव की अपेक्षा अधिक लाभ होता है।

शुल्वौषधियाँ (Sulpha drugs)—

आम प्रवाहिका में शुल्वौषधियों के प्रयोग से कोई लाभ नहीं होता, किन्तु जीर्ण रोगियों में प्रायः दण्डाण्वीय उपसर्गों का अनुबन्ध भी साथ में रहा करता है। आन्त्र के व्रणों में कोशाओं के अपजनन के कारण पूयजनक अनेक जीवाणु संचित हो जाते हैं। जिनके कारण ही आम प्रवाहिका के उग्र प्रकोप बीच-बीच में होते हैं। इसलिए प्रवाहिका की मुख्य ओषधियों के सहायक रूप में आँतों से अचूषित न होने वाली सल्फा गुआनाडीन, थैलाजोल आदि शुल्वौषधियों का प्रयोग करना चाहिये।

शोधन एवं पाचन—

इस व्याधि में विबन्ध के मुख्य रूप में रहने के कारण पेट में आध्मान एवं अजीर्ण का कष्ट पैदा होता है। आमाशयिक अम्ल की कमी तथा यकृत की अकार्य क्षमता भी कुछ अंशों में रहती है। इस दृष्टि से आमांशनाशक किसी भी औषध का पूर्ण गुण प्राप्त करने के लिए तथा रोगी को अधिक समय तक व्याधि से मुक्त रखने के लिये मल के शोधन तथा आहार के उचित परिपाक पर विशेष ध्यान देना चाहिए। पाचन के कार्य को सहायता देने के लिए डायस्टेस (Diastase), पेप्सिन (Pepsin), पपीते का सत्त्व (Ext. papain), पाचक किण्व (Digestive enzymes) आदि का प्रयोग करना चाहिये। एसिड हाइड्रोक्लोर डिल दस पन्द्रह बूँद की मात्रा में उचित माध्यम के साथ भोजनोत्तर देना चाहिए। मल के दैनिक शोधन के लिए ईसबगोल-बेल-हरीतकी आदि का प्रयोग करना चाहिए। आइसोजेल (Isogel), क्रीमाफेन (Cramefeen) एवं फ्रूट साल्ट आदि पेटेण्ट योगों में सात्म्यता के अनुरूप किसी का सेवन विबन्ध की निवृत्ति के लिये किया जा सकता है।

उक्त औषध-समूहों के अतिरिक्त रोगी के मनोबल एवं शारीरिक शिथिलता को दूर करने के लिए कुपीलु के योगों का स्वल्प मात्रा में प्रयोग लाभकर होता है। आम प्रवाहिका के जीर्ण विकारों में लिवर एक्स्ट्रैक्ट का सूची वेध से प्रयोग तथा फोलिक एसिड व लौह के योगों का पर्याप्त समय तक उपयोग करना चाहिए।

विशिष्ट क्रिया-क्रम—

आम प्रवाहिका के वेग की तीव्रता, मृदुता एवं मन्दता के आधार पर उक्त औषध संग्रहों का स्वतन्त्र या संयुक्तरूप में उपयोगी विशिष्ट प्रयोग का निर्देश किया जा रहा है।

तीव्रावस्था—

प्रथम प्रयोग—

१. इमेटीन १ ग्रे० + १/६० ग्रेन स्ट्रिकनीन + १०० मि० ग्रा० विटामिन B_1. पेशी मार्ग से प्रतिदिन, ५ दिन तक।

२. याट्रिन या आक्सी क्विनोलिन ·५ ग्राम + स्ट्रेप्टोट्रायड १ टिकिया दिन में ३ बार, १० दिन तक।

३. याट्रिन या इन्टरोवायोफार्म की अनुवासन बस्ति दस दिन तक।

उक्त क्रम से औषधियों का प्रयोग करने के बाद १५ दिन तक विराम कर पुनः निम्नलिखित व्यवस्था से प्रयोग करना चाहिये—

१. डायडोक्विन या सायोस्टेरॉन २ गोली दिन में ३ बार, आठ दिन तक।

२. तक्र-बस्ति प्रयोग—८ से १२ औंस की मात्रा में मट्ठे का अनुवासन बस्ति के रूप में दस दिन तक प्रयोग।

इस प्रयोग के १ सप्ताह बाद कुटज का प्रवाही सत्त्व २ ड्राम की मात्रा में द्विगुण ईसबगोल मिलाकर भोजनोत्तर दोनों समय १५ दिन तक देना चाहिये।

द्वितीय प्रयोग—

प्रथम प्रयोग के क्रम से औषधियों का व्यवहार करने पर बहुत कुछ स्थायी स्वरूप का सुधार होता है। उसके उपरान्त केवल कुछ समय तक नियमित आहार-विहार पर ध्यान रखने से रोगी दीर्घ काल तक रोगमुक्त रह सकता है। उक्त क्रम किसी कारण से व्यवहार्य न होने पर तीव्रावस्था के विकार में इस प्रकार उपचार होना चाहिये।

१. प्रथम दिन १ ग्रेन इमेटीन बिस्मथ आयोडाइड रात में सोने के पूर्व देकर सात्म्यता का परिज्ञान कर लेना चाहिये इसके बाद प्रति रात्रि २ ग्रेन इमेटीन बिस्मथ आयोडाइड + १ गोली सोनरिल के साथ में १२ दिन तक।

२. एण्टरोवायोफार्म २ गोली तथा टेरामायसिन २५० मि० ग्रा० दिन में ३ बार ७ दिन तक।

३. अनुवासन बस्ति द्वारा पूर्वोक्त क्रम से एक सप्ताह तक एण्टरोवायोफार्म का प्रयोग करना चाहिये।

४ कारबरसोन—१० दिन विराम के बाद अनुवासन बस्ति द्वारा ७ दिन तक।

तृतीय प्रयोग—

१. द्वितीय प्रयोग में इमेटीन बिस्मथ आयोडाइड मुख्य औषध है, जो सबको

सात्म्य नहीं होती। उक्त दोनों प्रयोग सम्भव न होने पर निम्नलिखित क्रम से औषध प्रयोग करना चाहिये—

१. टेरामाइसिन २५० मि० ग्रा० + कैमाफार्म २ टिकिया दिन में ३ बार, सात दिन तक।

२. आठवें दिन से कारबरसॉन दिन में २ बार भोजन के बाद, १५ दिन तक।

जीर्णावस्था—

व्याधि की तीव्रावस्था में विधिवत आमनाशक-औषधियों का प्रयोग न होने से जीर्णावस्था के लक्षण उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार के रोगियों में विशिष्ट आमप्रवाहिका हर औषधियों के प्रयोग के पहले निम्नलिखित योग एक सप्ताह तक देना चाहिये।

R/		
	Castor oil	dr. 2
	Gum acacia	qs.
	Tr. hyoscyamus	ms. 20
	Ext. kurchi liq	dr. 1
	Ext. glycerrhyza liq.	dr. 1
	Syp. aurantii	dr. 1
	Aqua menth pip	oz 1
		१ मात्रा

केवल प्रातःकाल या आवश्यक होने पर दिन में २ बार उक्त योग का प्रयोग करने से आन्त्र में संचित आमांश निकल जाता है तथा एरण्ड तैल के कारण आन्त्र में ऐंठन होकर मल की प्रवृत्ति होती है, जिससे आम प्रवाहिका का विशिष्ट जीवाणु अपने गुप्त स्थान से बाहर उत्सर्गित हो जाते हैं तथा व्रण काफी साफ और बड़े मुँहवाले हो जाते हैं। जिन पर आगे प्रयुक्त की जानेवाली विशिष्ट औषधियों का सटीक परिणाम होता है। इसमें एरण्ड तैल की मात्रा आवश्यकतानुसार बढ़ा देनी चाहिये।

प्रथम प्रयोग—

१. सायोस्टेरान १ गोली + डायडोक्विन १ गोली दिन में ३ बार, दस दिन तक।

R/	2.		
		Acid hydrochlor dil	ms. 10
		Glycerine acid pepsin	dr. 1
		Ext. kalmegh	ms. 20
		Mag. sulph	dr. 1
		Infusion zentian	oz 1
			१ मात्रा

भोजन के १५ मिनट पूर्व दोनों समय।

३. लिक्विड पैराफिन ४-८ ड्राम रात में सोते समय दूध के साथ।

द्वितीय प्रयोग—

१. क्लोरोक्विन १ गोली + एण्टोबेक्स (Entobex) १ गोली (इन दोनों के मिले योग के रूप में मेक्साफार्म (Mexaform) आता है) दिन में ३ बार, ८ दिन तक।

२. कारबरसॉन ८ से १२ ग्रेन की मात्रा में अनुवासन बस्ति के रूप में, किसी आशु-निद्राकर ओषधि के मुख द्वारा सह-प्रयोग से, दस दिन तक।

तृतीय प्रयोग—

मिलिबिस, बायोसेप्ट, क्लोरेम्बिन, विस्ट्रिनडान में से किसी एक की २ टिकिया दिन में २ बार, भोजन के बाद दस दिन तक।

२. चिनिओफोन या एण्टरोबायोफार्म की अनुवासन बस्ति, दस दिन तक।

उक्त प्रयोग में मिश्र ओषधियों के प्रयोग की स्पष्टता लक्षित हो रही होगी। वास्तव में स्वतंत्ररूप में अधिक मात्रा में किसी एक औषध की अपेक्षा संयुक्तरूप से अनेक सम कार्यशील द्रव्यों का एक साथ प्रयोग अधिक व्यापक प्रभाव करता है तथा किसी भी औषध का विषाक्त परिणाम भी नहीं होने पाता।

व्याधि की अत्यधिक तीव्र अवस्था में इमेटीन का $\frac{1}{2}$ ग्रेन प्रति ८ घण्टे पर दिन में ३ बार पेशी मार्ग से २ दिन तक तथा इसके बाद $\frac{1}{2}$ ग्रेन प्रातः सायम् (१२ घण्टे पर) पूर्ववत् २ दिन तक प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार ४ दिन प्रयोग करके ७ दिन का विराम देकर १ ग्रेन की मात्रा में १ बार ३ दिन तक पुनः सूचीवेध देना चाहिए। इस क्रम में इमेटीन की कुल ८ ग्रेन मात्रा प्रयुक्त होती है। इमेटीन प्रयोग में पूर्व निर्दिष्ट क्रम से पूर्ण सावधानी तो रखनी ही चाहिए। सहायक औषध के रूप में टेरामायसीन १ कैप्सूल तथा निवेम्बिन (Nivemben) की २ गोली दिन में ३ बार, ८ दिन तक देना चाहिए। यह क्रम पूर्ण होने के बाद यात्रिन या एण्टेरोबायोफार्म का १० दिन तक अनुवासन बस्ति के रूप में प्रयोग करना चाहिए। इसके १५ दिन बाद कारबरसॉन की १ गोली भोजनोत्तर २ बार, १५ दिन तक देना चाहिए।

उक्त निर्दिष्ट किसी एक क्रम से पूरा लाभ नहीं होता, दो-तीन मास के विराम के बाद पुनः एक या दो बार उपरोक्त विधि से इन ओषधियों का प्रयोग करना चाहिए। पूरे विधान से इमेटीन का सूचीवेध, मुख तथा गुदा मार्ग से ओषधियों के तीन चक्र पूरा करने पर आमप्रवाहिका का कष्ट प्रायः निर्मूल-सा हो जाता है। पर्याप्त मात्रा या अपर्याप्त समय प्रयोग करने से लाक्षणिक सुधार होता है, स्थायी लाभ नहीं होता।

आमप्रवाहिका का मध्यम स्वरूप का कष्ट रहने पर निम्नलिखित योग का ३-४ मास तक विशेष आहार का सेवन करते हुए प्रयोग करने पर बहुत अधिक लाभ होता है। अधिक समय लगने तथा आहार के नियंत्रण के अतिरिक्त इसमें कोई उपद्रव नहीं होता।

कच्चे बेल की गिरी	५ तो०
सोंठ	५ तो०
लोध की छाल	५ तो०
कुटज की छाल	१० तो०
कैथ (कपित्थ) का गूदा	५ तो०
अनार का फूल	५ तो०
अतीस	५ तो०
काला जीरा	५ तो०
काला नमक	५ तो०
सनाय की पत्ती	१० तो०
भुनी हुई छोटी हरड़	५ तो०
राल	५ तो०

इन सब को कूट छान कर ।।) भर से १ तोला की मात्रा में बकरी के दूध या दही के अनुपान से प्रातः तथा सायंकाल। इस औषध के सेवन काल में स्निग्ध तथा वायु प्रकोपक आहार का बचाव। दही या मट्ठे का विशेष प्रयोग तथा खोवा एवं खोए की मिठाइयों का निषेध रहना चाहिए।

लाक्षणिक चिकित्सा—

आम प्रवाहिका के सभी प्रमुख लक्षण मुख्य व्याधि के उपचार से ठीक हो जाते हैं। जीर्णता होने पर पाचन में विशेष विकृति हो जाती है तथा आँतों में शिथिलता होने के कारण वायु ऊर्ध्वगामी हो जाती है, जिससे हृदयप्रदेश में बेचैनी, हृत्स्पन्द, घबड़ाहट, मूर्च्छा तथा आध्मान आदि का कष्ट रहता है। इसके अतिरिक्त कई बार मल त्याग करने पर भी, आँतों में स्निग्ध मल के चिपके रहने तथा उनकी शिथिलता के कारण, पूरी तरह से मल को उत्सर्गित न कर सकने से उदर भारी-सा बना रहता है तथा विबंध का अनुभव होता है। अग्निमांद्य तथा अरोचक का कष्ट भी स्वतंत्र चिकित्सा की अपेक्षा रखता है। प्रमुख औषध द्रव्यों के साथ या स्वतंत्ररूप से इनका उपचार करना आवश्यक होता है।

अग्निमांद्य तथा अरोचक—

R/

Acid lactic	ms. 2
Acid hydrochlor dil	ms. 10
Glycerine acid pepsin	ms. 30
Tr. nux vomica	ms. 4
Tr. zentian co	ms. 30
Tr. card co	ms. 20
Syrup aurantii	dr. one
Aqua	oz. one
	१ मात्रा

भोजन के ½ घण्टा पूर्व, दोनों समय। इसके प्रयोग से आमाशय की क्रियाशक्ति बढ़ जाती है, क्षुधा जाग्रत करने तथा पाचन शक्ति बढ़ाने के लिये अच्छा योग है।

आम प्रवाहिका में जीर्ण विबंध तथा आमांश के प्रकोप के कारण पाचकाग्नि अवश्य न्यून हो जाती है। इस अवस्था में यह योग विशेष लाभकर होगा—

R/		
	Taka diastase	grs. 5
	Pancreatin	grs. 5
	Pepsin	grs. 5
	Allisatin	1 tab.
	Lacto peptin	grs. 5
	Menthol	gr. one
	Soda bicarb	gr. 10
		१ मात्रा

भोजन के बाद दोनों समय जल के साथ।

उक्त योगों के अतिरिक्त जीवतिक्ति बीकम्प्लेक्स तथा यकृत सत्त्व २ सी० सी० दोनों मिलाकर पेशी मार्ग से ८–१० सूचीवेध देने चाहिये। डायपेप्सीन (Diapepsin), डायजिप्लेक्स (Digeplex), विटाज़ाइम (Vitazyme), डायजेन्ज़ाइम (Digenzyme) आदि पेटेण्ट योगों का व्यवहार भी पाचकाग्नि की वृद्धि के लिये किया जा सकता है।

आध्मान—

आम प्रवाहिका का दीर्घकाल् तक अनुबन्ध रहने से आँतों में प्रक्षोभ की स्थिति पैदा हो जाती है। जिससे आमाशय में आहार पर्याप्त समय तक नहीं रुक पाता। अपरिपक्व आहार के बृहदन्त्र में पहुँचने के कारण उसमें सड़न होती है, जिससे वायु की अधिक मात्रा में उत्पत्ति होती है। इसके प्रतिकार के लिये पाचकाग्नि बढ़ाना तथा आमाशय एवं आँतों के क्षोभ का प्रशम करना तथा संचित वायु का शोधन करना चाहिये। निम्नलिखित योग से आँतों में संचित वायु का अनुलोमन तथा क्षोभ का शमन होता है।

R/		
	Soda bi carb	grs. 10
	Bismuth carb	grs. 5
	Tr. carminative	ms. 15
	Tr. hyoscyamus	ms. 15
	Tr. card co	ms. 15
	Syrup zinger	dr. one
	Aqua ptychotis	oz. one
		१ मात्रा

भोजन के बाद दिन में २ या ३ बार।

हिंग्वष्टकचूर्ण, लशुनादिवटी, अष्टकवटी, चित्रकादिवटी, वार्ताकुगुटिका आदि पाचन एवं वातानुलोमक योगों का प्रयोग भी लाभकर होता है। आध्मान में निम्नलिखित योग से विशेष लाभ होता है।

शूलवज्रिणी वटी	३ र०
क्षारराज	४ र०
त्रयोदशाङ्ग	४ र०
हिंगूग्रगंधादि चूर्ण	२ माशा
	१ मात्रा

भोजन के बाद गरम जल के साथ।

विबन्ध—

आम प्रवाहिका की जीर्णावस्था का लक्षण विबन्ध माना जाता है। नियमित रूप से कोष्ठ शुद्धि रहने पर आमांश का संचय नहीं हो पाता और व्याधि का प्रकोप भी जल्दी नहीं होता। पहले ईसबगोल, बेल, आइसोजेल आदि अनेक प्रयोग बताये गये हैं। इनके अलावा Petrolgar, agrol, angier's emulsion में से किसी योग का कुछ समय तक सेवन करने से विबन्ध में लाभ होता है। अनुकूल आने पर त्रिफला का प्रयोग हितकर होता है।

त्रिफला चूर्ण ३ से ६ माशा की मात्रा में दूध के साथ अथवा १ तोला त्रिफला १ छटाँक पानी में रात्रि में भिगो कर प्रातःकाल उसका जल पीना।

विबन्ध के लिये निम्नलिखित योग बहुत लाभकर सिद्ध हुआ है—

सौंफ	२ तो०
सनाय की पत्ती	२ तो०
मुलेठी	६ मा०
कुटकी	३ मा०
अमलतास का गूदा	५ तो०
गुलाब के फूल	३ मा०
उसारे रेवन	१ मा०
काला नमक	६ मा०
सूखा पुदीना	६ मा०
अजवायन	२ तो०

सबका चूर्ण बनाकर ३ से ६ माशा की मात्रा में सोते समय जल के साथ।

प्रमुख उपद्रव—

यकृत शोथ—

आम प्रवाहिका का बहुतायत से मिलने वाला प्रमुख उपद्रव है। प्रायः व्याधि के

समय अनियमित भोजन, अधिक स्निग्ध भोजन, चरपरे मसालेदार आहार का अधिक प्रयोग, मद्य का सेवन व तीव्र वेग की स्तम्भक ओषधियों के प्रयोग से प्रवाहिका तुरन्त रोक देने के कारण जीवाणु का यकृत में प्रवेश होकर शोथ उत्पन्न होता है। यकृत में शोथ होने पर यकृत प्रदेश में वेदना का अनुभव, दक्षिण स्कन्ध व कुक्षि में वेदना, ज्वर, हृल्लास, क्षुधा नाश एवं दौर्बल्य के लक्षण होते हैं।

इसके प्रतिकार के लिये मुख्यरूप से इमेटीन का प्रयोग होता है। १ ग्रेन की दैनिक मात्रा सात दिन तक। क्लोरोक्विन मिथ्रोनिन तथा जीवतिक्ति सी २५० मि० ग्रा० तीनों मिलाकर ३ बार दस दिन तक देना चाहिये। ग्लूकोज, जीवतिक्ति सी० बी० तथा पूर्व पाचित प्रोभूजिन का इस अवस्था में पर्याप्त मात्रा में प्रयोग कराना चाहिये। इमेटिन के साथ निम्नलिखित योग से पर्याप्त लाभ होता है—

R/		
	Nivaquin	tab. ½
	Ascorbic acid	mg. 250
	Meonine	tab. 1
	Pulv rhei co	gr. 4
	Brever's yeast	gr. 7
		१ मात्रा

दिन में ३ बार नीबू के शर्बत के साथ।

यकृत शोथ का बहुत दिनों तक अनुबन्ध रहने पर आन्तरिक कोषाओं की पर्याप्त विकृति हो जाती है। ऐसी अवस्था में निम्नलिखित क्रम चलाना चाहिये।

१. इमेटीन ½ ग्रेन सुबह शाम, दस दिन तक।

२. टेट्रासाइक्लिन २५० मि० ग्रा० + रेसाचिन ½ टिकिया दिन में ३ बार, ग्लूकोज के शर्बत के साथ।

३. ग्लूकोज २५% प्रतिशत ५० सी० सी० + जीवतिक्ति सी० ५०० मि० ग्रा० + निओमेथिडिन १० सी० सी० + बिकोजाइम (I. V.)—इन सबको मिलाकर सिरा मार्ग से बहुत धीरे-धीरे देना चाहिये। प्रायः सात से दस दिन का प्रयोग पर्याप्त होता है।

यकृत विद्रधि—

यकृत शोथ की बहुत दिनों तक चिकित्सा न होने पर यकृत कोषाओं का अपजनन होकर विद्रधि का रूप पैदा होता है। विद्रधि होने पर शीतपूर्वक प्रलेपक (Hectic temp) ज्वर, यकृत प्रदेश में पीड़ा, मन्द स्वरूप की विषमयता, धूसर वर्ण (पाण्डुर) की आकृति (Earthy), नेत्रों की पाण्डुता, मुद्गरवत् अंगुल्याग्र और दक्षिण स्कन्ध में संवाहितरूप के शूल का अनुभव तथा रक्त परीक्षा में श्वेत कायाणुओं की वृद्धि मिलती है।

जहाँ तक सम्भव हो विद्रधि का औषधोपचार द्वारा ही शमन करने की चेष्टा करनी

चाहिये। मुख्य रूप से यकृत के ऊपर की तरफ तथा नीचे बाएँ कोष्ठ में विद्रधि की उत्पत्ति होती है। सामान्यतया इमेटीन, क्लोरोक्विन, टेट्रासाइक्लिन आदि का यकृत शोथ की चिकित्सा में निर्दिष्ट क्रम से प्रयोग करने पर विद्रधि में भी लाभ हो जाता है। इन उपचारों से लाभ न होने पर पोटेन्स ऐस्पिरेटर या पिचकारी से पूय का संशोधन करना चाहिये। इससे भी लाभ न होने पर शल्य-कर्म द्वारा पूय का संशोधन कराना पड़ता है।

बल संजनन—

रोग मुक्त होने के बाद पर्याप्त समय तक आहार में तली हुई मसालेदार चीजों का परित्याग; रस वाले ताजे फल, पपीता, मट्ठा, दही का विशेष प्रयोग तथा नियमित जीवन व्यतीत करने से शीघ्र बल संजनन होता है। लौह, यकृत सत्त्व, सम्पूर्ण जीवतिक्ति आदि का कुछ समय तक प्रयोग पोषक एवं बलकारक होता है।

प्रतिषेध—

इस व्याधि का उपसर्ग खाद्य-पेय के माध्यम से तथा प्रसार जीवाणु दूषित मल के द्वारा होता है। मल की उचित सफाई फिनाइल या तीव्र विसंक्रामक द्रव से विशुद्धि कर जमीन के भीतर गाड़ना तथा बरतन एवं हाथों की सफाई के लिये मल सम्पृक्त मिट्टी का परित्याग करने से इस व्याधि का प्रसार नहीं हो पाता। गाजर, गोभी, आलू, टमाटर, पालक, मूली, बथुआ, चौलाई इत्यादि को बिना उबाले प्रयोग में न लें। दूसरे कच्चे फलों को पोटाश के घोल में एक घण्टा रख कर काम में लेना चाहिये। आहार में कच्ची चीजों तथा बासी भोजन एवं मिठाई का परित्याग तथा नीबू का पर्याप्त मात्रा में सेवन करना चाहिये।

जियारडिएसिस

Giardiasis

व्याधि निर्देश—

विशेष प्रकार के उलूक-मुख सदृश कृमि के उपसर्ग से विकारोत्पत्ति होती है। बहुत से व्यक्तियों में क्षुद्रान्त्र में सहवासी जीव के रूप में जिआर्डिया रहता है। क्वचित् इसके क्षोभ के कारण विकारोत्पत्ति होती है। उदर शूल, हृल्लास, प्रवाहिका तथा मल के साथ कभी-कभी आमांश की उपस्थिति, शारीरिक दौर्बल्य आदि आम प्रवाहिका सदृश लक्षण मिलते हैं। जिआर्डिया में उदरशूल, हृल्लास तथा पुनः पुनः प्रवाहिका का प्रकोप के लक्षण अपेक्षाकृत अधिक होते हैं। किन्तु रोगोत्पादक कारण का सही निदान मल परीक्षा के द्वारा विशेष कृमि की उपस्थिति से ही होता है।

चिकित्सा—

इसकी चिकित्सा में मुख्यरूप से दो औषधियाँ प्रयुक्त होती हैं। मेपाक्रिन और क्लोरोक्विन। दोनों के ही प्रयोग से इसमें लाक्षणिक निवृत्ति होती है। किन्तु पुनरावर्तन की सम्भावना बनी रहती है। एक डेढ़ मास के व्यवधान से २-३ बार प्रयोग करने से प्रायः स्थायी लाभ हो जाता है।

मेपाक्रिन (Mepacrine or atebrin)—१ गोली दिन में ३ बार, दस दिन या २ गोली दिन में ३ बार, ४ दिन तक। इस औषध के प्रयोग से वमन, मिचली तथा नेत्र एवं त्वचा में कामला सदृश पीत वर्ण की उपस्थिति तथा मूत्र में औषध के रङ्ग के उत्सर्गित होने के कारण मूत्र में अत्यधिक पीलापन होता है, जो औषध-प्रयोग बन्द करने के ८–१० दिन बाद स्वतः निवृत्त हो जाता है।

वमन एवं मिचली की शान्ति के लिये मेपाक्रिन को नीबू के शर्बत के साथ सेवन कराना चाहिये।

क्लोरोक्विन (Chloroquin)—इस वर्ग की ओषधियों में कैमाक्विन तथा रिसोचिन अधिक कार्यक्षम हैं। कैमाक्विन की २ गोली दिन में ३ बार ३ दिन तक देने से लाभ अधिक स्थायी होता है। किन्तु इस मात्रा में औषध का सेवन करने पर चक्कर, घबराहट, हीन रक्त निपीड, वमन, दाह इत्यादि का उपद्रव होता है। इस दृष्टि से १ गोली दिन में २ बार दस दिन तक प्रयोग का क्रम ही व्यावहारिक होता है।

उक्त दोनों ओषधियों के अतिरिक्त कारबरसान व डायडोक्विन का प्रयोग भी जिआरडिएसिस में लाभ करता है। मेपाक्रिन व कैमाक्विन के प्रयोग के बाद डायडोक्विन २ गोली दिन में ३ बार दस दिन तक अथवा कारबरसॉन १ कैप्स्यूल दिन में २ बार भोजन के बाद दस दिन तक देना चाहिये।

फ्लेगिल (Flegyl)—

यह औषध जियारडिएसिस में बहुत लाभकर सिद्ध हुई है। १ टिकिया ३ बार ७ दिन तक देने से स्थायी लाभ होता है। अभी यह नवीन प्रयोग है। अभी तक किसी हानिकर प्रभाव का परिज्ञान नहीं हो पाया।

विषमयता तथा पूयमयता
Septicaemia & pyemia

संक्रामक रोगों में विकारोत्पादक तृणाणुओं का शरीर में प्रवेश होने के बाद प्रवेश-स्थल में संचित होते हैं, इसके बाद उनका रक्त में प्रवेश होता है। तृणाणुओं की रक्त में उपस्थिति होने पर जब तक विकारोत्पत्ति नहीं होती, तृणाणुमयता (Bacteraemia) संज्ञा दी जाती है। किन्तु जब इनके कारण वैकारिक लक्षण शरीर में अभिव्यक्त

होते हैं तो उस अवस्था को दोषमयता (Septicaemia) कहा जाता है। इस वर्ग में मुख्य रूप से पूयोत्पादक तृणाणुओं का अन्तर्भाव किया जाता है। जब यह तृणाणुमयता शरीर के भिन्न-भिन्न अङ्गों में शोथ एवं विद्रधि आदि विकार उत्पन्न करती है तो उसे पूयमयता (Pyemia) कहते हैं।

लक्षण—

अनियमित स्वरूप का ज्वर—प्रायः प्रलेपक (Hectic) स्वरूप का—अत्यधिक शारीरिक दौर्बल्य किन्तु अवसाद के लक्षणों का अभाव, प्रस्वेद, नाड़ी की गति त्वरित, बीच-बीच में शीत एवं कम्प का अनुभव, शरीर में सर्वत्र पीड़ा—विशेषकर सन्धियों में तथा रक्ताल्पता के लक्षण मुख्यरूप से होते हैं। ज्वर के आरम्भ में अत्यधिक कम्प तथा शमन के समय प्रस्वेद होता है और प्रस्वेद के कारण ज्वर का दारुण मोक्ष होता है। ज्वर मुक्ति के बाद शरीर बिल्कुल निस्तत्त्व सा मालूम पड़ता है। क्वचित् हृल्लास, वमन, अतिसार एवं कामला आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। तन्द्रा-प्रलाप-आलस्य आदि के कारण रोगी देखने में अत्यधिक क्षीण मालूम पड़ता है। कभी-कभी पूयज-अन्तःशल्यता के कारण विस्फोट, फुफ्फुसपाक, पूयोरस, कोथ आदि उपद्रव शरीर के भिन्न-भिन्न अङ्गों में हो सकते हैं। अन्तः शल्यताजनित विस्फोट अल्प संख्या में, प्रायः रक्तवर्ग के, शरीर के किन्हीं अङ्गों में निकल सकते हैं। अन्त में कहीं-कहीं पर विद्रधियों की उत्पत्ति होती है। विद्रधि की उत्पत्ति व्याधि के परिपाक का लक्षण मानी जाती है अर्थात् इसके बाद उपसर्ग का प्रसार नहीं होता। रक्त परीक्षा में बहु-केन्द्री श्वेत कायाणुओं की वृद्धि पर्याप्त संख्या में होती है। सकल एवं सापेक्ष्य श्वेत कणों की गणना में निम्नलिखित संख्या मिला करती है।

सकल श्वेतकायाणु—१५-३०००० प्रतिघन मि० मी०, क्वचित इससे भी अधिक।

सापेक्ष्य—

बहुकेन्द्री	७५–१०० प्रतिशत
लसकायाणु	१०–२० प्रतिशत
उषसिप्रिय	१–२ %
एक कायाणु	१–२ %

व्याधि के अन्तिम दिनों में तथा विद्रधि उत्पन्न होने के पहले रोगी की आकृति बहुत कुछ आन्त्रिक-ज्वर के सदृश होती है। स्थानीय लक्षणों की उपस्थिति से व्याधि के निदान में बाधा नहीं पड़ती। विषमयता की गम्भीरता का अनुमान नाड़ी की गति से किया जाता है। गम्भीरता बढ़ने पर प्रलाप, अर्ध-चैतन्यता, मांस पेशियों में कम्प, मल-मूत्र का अनियन्त्रित उत्सर्ग, मस्तिष्क क्षोभ के लक्षण तथा आध्मान आदि लक्षणों की उत्पत्ति होती है।

वृद्ध एवं दुर्बल रोगियों में व्याधि की अत्यधिक गम्भीरता होने पर भी ज्वर एवं

सन्ताप के लक्षण अधिक नहीं होते अर्थात् व्याधि के प्रति उनके शरीर की प्रतिक्रिया हीनरूप में होती है। इस प्रकार की स्थिति वृद्ध पुरुषों, मधुमेह, मदात्यय, क्षय, जलोदर, यकृद्दाल्युदर, जीर्ण वृक्क शोथ एवं जीर्ण हृदय के विकारों से पीड़ित रोगियों में मिला करती है। ऐसी स्थिति में प्रायः रक्त में श्वेत कायाणुओं की वृद्धि बहुत कम होती है। व्याधि का प्रारम्भ किसी पूयकेन्द्र से हुआ करता है। मध्यकर्णशोथ, तुण्डिकेरीशोथ, पूयदन्त, उण्डुकपुच्छशोथ से पीड़ित होने या शरीर के किसी अंग में छोटी विद्रधि उत्पन्न होने के कुछ काल बाद उक्त वर्णित लक्षणों की उत्पत्ति होती है। अर्थात् शरीर में कहीं दूषित केन्द्र पहले से वर्तमान रहता है और तृणाणुओं की उग्रता, शरीर की प्रतिकारक शक्ति की हीनता या मिथ्याहार-विहार के कारण स्थानबद्ध दोषों का विषमयता के रूप में सारे शरीर में प्रसार होकर इस प्रकार के लक्षणों की उत्पत्ति होती है। दोषमयता एवं पूयमयता की अवस्था, गर्भपात, प्रसूति ज्वर, गर्भाशयशोथ, अस्थिमज्जाशोथ, उण्डुकपुच्छशोथ एवं औदरिक शल्य कर्म तथा दूषित पूय केन्द्र आदि के उत्तरकालीन विकार के रूप में अधिक उत्पन्न होती है।

कारणभूत जीवाणुओं की दृष्टि से स्तवक गोलाणु, माला गोलाणु, फुफ्फुस गोलाणु एवं आन्त्र दण्डाणु का इस व्याधि की उत्पत्ति में विशेष महत्त्व होता है। कारणों के आधार पर उत्पन्न लक्षणों में कुछ भिन्नता होती है।

स्तवक गोलाणुजन्य (Staphylococcal) विषमयता—इस तृणाणु के द्वारा विद्रधि, विषमयता, फुन्सी (Boil), प्रमेह पिड़िका (Carbuncle) आदि मूल पूति-केन्द्रों के बाद आकस्मिक रूप में दोषमयता के लक्षण होते हैं। प्रारम्भ के कुछ दिनों तक नाड़ी प्रायः मन्दगति से रहती है, बाद में त्वरित हो जाती है। वृक्क, सन्धियों एवं अस्थियों में दोषमयताजनित विद्रधियों की उत्पत्ति अधिक होती है।

माला गोलाणुजन्य (Streptococcal) विषमयता—इस प्रकार की विषमयता की व्याधि अधिक मिलती है। तीव्रज्वर, तन्द्रा, प्रलाप, अतिसार, अस्थियों एवं सन्धियों में तीव्र वेदना, शीघ्र हृदयता, विस्फोट, शोणित मेह एवं रक्ताल्पता आदि लक्षणों की शीघ्र उत्पत्ति होकर रोगी की अवस्था अल्पकाल में ही गम्भीर होने लगती है।

फुफ्फुस गोलाणुजन्य (Pneumococcal) विषमयता—यह विकृति मध्यकर्णशोथ एवं फुफ्फुसपाक के उपद्रव स्वरूप मिला करती है।

आन्त्र दण्डाणुजन्य (B. coli) दोषमयता—इस प्रकार का उपद्रव प्रायः गर्भपात एवं सूतिकाज्वर के बाद मिला करता है। ज्वरादि लक्षणों की पर्याप्त तीव्रता होने पर भी विषमयता के लक्षण अधिक नहीं होते।

दोषमयता के मूल कारण का सही ज्ञान अनेक बार की प्रायोगिक परीक्षाओं के द्वारा ही सम्भव है। सकल-सापेक्ष्य श्वेतकायाणु गणना, रक्तसंवर्ध एवं अन्य अनेक विशिष्ट परीक्षायें आवश्यक होती हैं। ऊपर बताये हुये पृथक्-पृथक् कारणों एवं लक्षणों

के आधार पर मूल कारण का भी कुछ अनुमान किया जा सकता है। प्रायोगिक परीक्षायें सर्वत्र सुलभ नहीं हैं तथा विषमयता के कारण रोगी की स्थिति कभी-कभी बहुत गम्भीर हो जाती है, इसलिये चिकित्सा प्रारम्भ करने में रोगी की पुरानी व्याधियों का इतिहास, उसके बलाबल का परिज्ञान एवं व्याधि की गम्भीरता के आधार पर ओषधियों का चुनाव करना चाहिये।

चिकित्सा—

सामान्य—शरीर की दुर्बलता के कारण यह अवस्था उत्पन्न होती है, इसलिये शारीरिक बल-वृद्धि एवं रोग प्रतिरोधक शक्ति की वृद्धि के लिये उचित योजना करनी चाहिये। शरीर के दूषित पूयकेन्द्रों की शुद्धता की तरफ विशेष ध्यान देना चाहिये। व्याधि की तीव्रावस्था में रोगी को पूर्ण विश्राम सुप्रकाशित-वात प्रविचारयुक्त कमरे में कराना चाहिये। पर्याप्त मात्रा में तरल पिलाना आवश्यक है। उबाला-जल ग्लूकोज या शहद मिलाकर, द्राक्षापानक, यवपेया, लाजमण्ड आदि द्रवभूयिष्ठ आहारों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग कराना चाहिये। प्रारम्भ से ही जीवतिक्ति एवं ओभूजिनों की पूर्ति की व्यवस्था करनी चाहिये। प्रस्वेद के साथ शरीर का लवणांश काफी मात्रा में निकल जाता है। उसकी पूर्ति के लिये गरम पानी में नीबू, नमक, मिश्री मिलाकर पिलाना चाहिये। कभी-कभी अतिसार व आध्मान के उपद्रव से रोगी का कष्ट बढ़ जाता है। धान्यपंचक कषाय कई बार पिलाने से इनका प्रतिकार होता है। ताप के अधिक होने पर परम ज्वर में वर्णित क्रम से व्यवस्था करनी चाहिये।

औषध चिकित्सा—शुल्बौषधियों एवं प्रतिजीवी वर्ग की ओषधियों के उचित प्रयोग से इस व्याधि का निराकरण किया जा सकता है। स्तबक गोलाणुजनित विषमयता में पेनिसिलीन का प्रभाव कम होता है तथा आन्त्र दण्डाणुजनित विषमयता में पेनिसिलीन व शुल्बौषधियों का प्रभाव विशाल क्षेत्रक ओषधियों की अपेक्षा कम होता है। इनके विशेष प्रयोग के लिये (पृष्ठ ४०२) पर निर्दिष्ट व्यवस्था का अनुसरण होना चाहिये।

विसर्प

Erysipelas

यह शोणांशिक मालागोलाणु (Heamolytic streptococci) के उपसर्ग के कारण उत्पन्न होनेवाला तीव्र स्वरूप का ज्वर है, जिसका प्रधान स्थानीय लक्षण चर्म शोथ होता है। त्वचा में क्षत या व्रण हो जाने पर शोणांशिक माला गोलाणु शरीर के भीतर प्रविष्ट हो जाते हैं, इस कारण शस्त्रकर्म के समय पूर्ण शुद्धता न रखने पर, स्त्रियों में प्रसव के समय अविशोधित यन्त्र-शस्त्रों का प्रयोग करने पर, सद्यःजात का नाल छेदन करने

पर, पूय विद्रधि का छेदन करते समय अकस्मात् अंगुलियों में क्षत हो जाने पर शल्य-कर्ताओं (Surgeons) के पीड़ित होने की सम्भावना अधिक रहती है। प्रायः २-३ साल की बाल्यावस्था में तथा ४०-५० के बाद वृद्धों में एवं पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में इसका आक्रमण अधिक देखने में आता है। यकृत-वृक्क आदि के जीर्ण विकारों से पीड़ित व्यक्ति, मद्यपी एवं मधुमेही व्यक्ति इससे अधिक पीड़ित होते हैं। मिथ्या आहार-विहार, हीन पोषण तथा अस्वास्थ्यकर स्थलों के निवासियों में भी इसका उपसर्ग अधिक होता है। रोमान्तिका, मसूरिका, आन्त्रिकज्वर, कालज्वर आदि हीन-क्षमकारक व्याधियों से मुक्त होने के बाद इसका प्रकोप अधिक हुआ करता है।

दूषित पूय केन्द्र (Septic focus) कर्ण, दन्त, नासिका, गला आदि अङ्गों में जिन व्यक्तियों के पूय केन्द्र रहते हैं, उनमें अनुकूल परिस्थिति आने पर बिसर्प का प्रकोप हो सकता है।

बिसर्प का मुख्य आक्रमण चेहरे पर तथा कभी-कभी पैरों में हुआ करता है। बालकों में नालच्छेदन के बाद नाल के चारों ओर तथा स्त्रियों में गुह्यांगों पर अधिक होता है।

शरीर के दूषित पूय स्थानों में सहवासी के रूप में रहनेवाले माला गोलाणु जब किसी प्रकार क्षत या विकार के मार्ग से त्वचा के भीतर प्रविष्ट हो जाते हैं तो वहाँ संवर्धित हो लसवाहिनियों द्वारा चारों ओर फैलकर त्वचा एवं अनु-त्वचा में विसर्पणशील-विस्फोट-युक्त-रक्तवर्ण का शोथ उत्पन्न करते हैं। विसर्प का मुख्य लक्षण एक स्थान से प्रारम्भ होकर शोथ आदि लक्षणों का विसर्पण होना है। अर्थात् केन्द्र स्थान में शोथ आदि लक्षण कम हो जाते हैं; किन्तु चारों ओर फैलते जाते हैं। शोणांशिक माला गोलाणुजनित विष लसवाहिनियों द्वारा सारे शरीर में फैलकर तीव्रज्वर, बेचैनी आदि विषमयता के लक्षण उत्पन्न करता है।

लक्षण

प्रायः ३ से ७ दिन के संचयकाल के उपरान्त आकस्मिक रूप में शीतपूर्वक तीव्रज्वर (१०५° तक) का आक्रमण होता है। प्रारम्भ में २-३ दिन तक ज्वर संतत स्वरूप का—प्रातःकाल १०३ सायंकाल १०५ या उससे अधिक—किन्तु ४-५ वें दिन से प्रायः ज्वर का स्वरूप सततक या अन्येद्युष्क के समान हो जाता है। ज्वरमोक्ष दारुण या अदारुण (Crisis or Lysis) किसी भी रूप में हो सकता है। बच्चों में ज्वराक्रमण के समय तीव्र आक्षेप, वमन, शिरःशूल एवं विषमयताजनित प्रलाप के कारण मस्तिष्क-सुषुम्ना ज्वर का सन्देह होने लगता है। नाड़ी त्वरित, वातपूर्ण सी, दबाने से आसानी से दब जानेवाली, जिह्वा अत्यधिक मलावृत, हृल्लास, वमन के अतिरिक्त मलावरोध, स्थानीय लसग्रन्थियों की वृद्धि, मूत्र की राशि अल्प तथा मूत्र शुक्लियुक्त आदि लक्षण होते हैं।

स्थानीय लक्षण—विसर्प का सर्वाधिक प्रयोग चेहरे में होने का उल्लेख किया जा

चुका है। ज्वराक्रमण के १०-१२ घण्टे बाद कपोल, मस्तक या नासिका पर छोटा-सा चमकीले रक्त वर्ण का, उष्ण स्पर्शवान्, पीड़ायुक्त, पीडनाक्षम और तना हुआ सा उभाड़ दिखाई पड़ता है। स्थान की मृदुता या कठोरता के आधार पर यह शीघ्र या धीरे-धीरे फैलता है। उभाड़दार रक्ताभ स्थान के चारों ओर का किनारा किञ्चित् कड़ा और फुन्सियों से आच्छादित रहता है। २-३ दिन में शोथ अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है जिससे चेहरा फूलकर आँखें बन्द हो जाती हैं तथा कान बाहर की ओर निकले-से मालूम होते हैं। ग्रीवा की लसग्रन्थियाँ फूल जाती हैं। रोगी को शोथ के कारण निगलने में भी कठिनाई का अनुभव होता है। क्वचित् चेहरे का विसर्प मुँह के भीतर गले एवं स्वर-यन्त्र में पहुँच कर श्वासावरोध उत्पन्न कर सकता है। केन्द्र स्थान से इधर-उधर प्रसारित होने पर प्रारम्भिक शोथ धीरे-धीरे कम होता जाता है और उस स्थान से भूसी-सी निकलने लगती है। रोगी की आकृति इतना बदल जाती है कि पहचानना मुश्किल होता है। इसी प्रकार के लक्षण पैर या दूसरे स्थान में प्रारम्भ होने पर भी हुआ करते हैं। रोगोत्पादक जीवाणुओं की तीव्रता, शरीर की प्रतिकारक क्षमता, जीर्ण व्याधियों का अनुबन्ध इत्यादि कारणों के आधार पर विसर्प के अनेक स्वरूप, सर्व शरीर-व्यापी-कर्दम विसर्प (Gangrenous) आदि हो सकते हैं। एक बार आक्रमण होने पर पुनः आक्रान्त होने की सम्भावना बनी रहती है। पूय-दूषित केन्द्र के निकट कई बार आक्रमण होने पर त्वचा मोटी होकर लसवाहिनियों में अवरोध-सा होकर श्लीपद के सदृश लक्षण पैदा हो जाते हैं। ज्वराक्रमण के पूर्व व्रण एवं क्षत का इतिहास, दूषित पूय-केन्द्रों की उपस्थिति, शीतपूर्वक तीव्र ज्वर का आक्रमण, स्थानीय शोथयुक्त विस्फोट की उत्पत्ति, विस्फोट का धीरे-धीरे चारों ओर गोलाई में फैलना, स्वस्थ त्वचा एवं शोथयुक्त त्वचा के मध्य में स्पष्ट रक्ताभ परिधि, प्रायः फुन्सियों से युक्त प्रसार के साथ ही प्रारम्भिक स्थान में शोथादि लक्षणों का शमन, स्थानीय लसग्रन्थियों की वृद्धि तथा विस्फोटों के द्रव का सवर्धन करने पर शोणांशिक मालागोलाणु की उपलब्धि से रोग का पूर्ण विनिश्चय हो जाता है।

सापेक्ष्य निदान—

विसर्प का पृथक्करण शीतपित्त, विचर्चिका, अनूर्जताजनित शोथ (Angio-neur-, otic oedema), मस्तिष्क सुषुम्नाज्वर आदि से करना चाहिये।

उपद्रव तथा अनुगामी विकार—

विद्रधि, कोथ (Gangrene), पुनरावर्तन की प्रवृत्ति, त्वचा का मोटापन, खालित्य, स्वरयन्त्र शोथ, श्वसनी-फुफ्फुसपाक, सव्रण अन्तर्हृच्छोथ, अन्तःशल्यता, (Embolism), पूयमयता, मस्तिष्कावरण शोथ आदि उपद्रव एवं अनुगामी विकार होते हैं।

साध्यासाध्यता—

विसर्प स्वयं मर्यादित रोग है। उपद्रव न होने पर दस-बारह दिन में स्वयं शान्त हो जाता है। अत्यधिक क्षीण-मधुमेह आदि से पीड़ित पुरुषों में तथा सद्योजात बच्चों में इसका प्रकोप गम्भीर स्वरूप का हो सकता है। अत्यधिक सन्ताप, श्यावता, तन्द्रा, प्रलाप, कोथ, अन्तःशल्पता आदि की उपस्थिति में यह घातक भी हो सकता है।

सामान्य चिकित्सा—

रोगी को पूर्ण विश्राम कराने के लिये आरामदेह शय्या पर लिटाना, कमरे को व्यर्थ की वस्तुओं से साफ रखना, शुद्ध वायु एवं प्रकाश की उचित व्यवस्था करना और उसके शरीर की नियमित रूप से सफाई का ध्यान रखना चाहिये। पीने के लिये पर्याप्त उबाला हुआ पानी, मधु एवं सर्जिकाक्षार मिलाकर ठण्डा किया हुआ जल, यवपेया, दूध आदि का प्रयोग किया जा सकता है। वमन की शान्ति के लिये बरफ के टुकड़े चूसने को देना रोगी को सुख पहुँचाता है। शिरःशूल एवं प्रलाप की शान्ति के लिये सिर पर बरफ की थैली रखना एवं मन्दोष्ण जल से सारा शरीर पोंछना हितकारक है। प्रारम्भ में ही मृदु विरेचक ओषधियों के प्रयोग से कोष्ठशुद्धि कराना शीघ्र रोगमुक्ति कराता है। यद्यपि यह तीव्र औपसर्गिक स्वरूप का ज्वर नहीं है, किन्तु विस्फोटों से निकली लसिका संक्रमित होने पर क्वचित रोगोत्पत्ति कर सकती है और रोगी में दूसरे व्यक्तियों से संक्रामक जीवाणुओं का प्रवेश होने पर फुफ्फुसपाक आदि गम्भीर उपद्रव हो सकते हैं। अतः रोगी को पृथक् कमरे में ही रखना श्रेयस्कर है। स्थानीय शुद्धि की व्यवस्था तथा दूषित पूयकेन्द्रों से पूय का निर्हरण व्यवस्थित रूप से कराना चाहिये।

औषध चिकित्सा—

विसर्प में शुल्वौषधियों एवं पेनिसिलिन तथा विशालक्षेत्रक प्रतिजीवी योगों का प्रारम्भ से उपयोग करने पर शीघ्र लाभ हो जाता है।

१. **शुल्वौषधियाँ**—सल्फा थियाजोल की आरंभिक मात्रा २ ग्राम (४ गोली), उसके बाद प्रति ४ घंटे पर १ ग्राम तीन दिन तक देना चाहिए। वमनादि के कारण मुख द्वारा प्रयोग संभव न होने पर इनके सूची वेध-योगों का प्रयोग किया जा सकता है। विशेष प्रयोग निर्देश पृष्ठ २७१ पर देखिए।

२. **पेनिसिलिन**—प्रथम २ दिन तक क्रिस्टलाइन पेनिसिलिन की ५ लक्ष मात्रा प्रति १२ घंटे पर, बाद में प्रोकेन पेनिसिलिन दिन में १ बार ४ दिन तक और उसके अनन्तर पेनिड्यूरे (Penidure A. P.) का प्रयोग किया जा सकता है। मुख द्वारा शुल्वौषधियाँ तथा सूची वेध द्वारा पेनिसिलिन का संयुक्त प्रयोग अधिक लाभकारी

होता है। कदाचित् मालागोलाणु किसी एक के प्रति सक्षम (Resistant) हुआ तो दूसरी के साहचर्य से उसकी सक्षमता का नाश हो जायगा।

विशाल-क्षेत्रक प्रतिजीवी औषधियाँ—आइलोटायसिन, ऑरियोमायसिन, टेरामायसीन, टेट्रासायक्लीन आदि का प्रयोग भी लाभकारी होता है, किन्तु शुल्बयोगों से लाभ हो जाने के कारण इन बहुव्यय साध्य द्रव्यों का उपयोग अनावश्यक ही होता है।

उक्त व्यवस्था के अतिरिक्त निम्न रक्तशोधक एवं ज्वर पाचनयोग भी साथ में देने से अधिक स्थायी लाभ होता है।

भूनिम्बादि क्वाथ—चिरायता, अडूसा, कुटकी, पटोलपत्र, हरड़, बहेड़ा, आमला, रक्त चन्दन और निम्बछाल को सम भाग लेकर, क्वाथ बनाकर, ७ दिन तक सेवन करने से विस्फोट, दाह एवं ज्वर का शमन होकर विसर्प का निर्मूलन होता है।

अमृतादि क्वाथ—गुडूची, अडूसा, पटोलपत्र, नागरमोथा, सप्तपर्ण छाल, खदिर छाल, कृष्णवेत्र, निम्बपत्र, हरिद्रा, दारुहरिद्रा को समभाग लेकर, क्वाथ बनाकर, १–२ तोला मधु मिलाकर प्रतिदिन प्रातःकाल १ सप्ताह तक देना चाहिए।

अन्य योग—

शुल्बौषधियाँ आदि का अविष्कार होने के पूर्व टिंक्चर फेरी परक्लोराइड का प्रयोग मुख्यतया होता था। किन्तु नवीन योग अधिक लाभकर हैं। अतः इसका प्रयोग प्रायः नहीं किया जाता है। शुल्बौषधियों का प्रयोग बन्द करने पर या उनके साथ ही सहायक औषधि के रूप में निम्न योग देना लाभकर होगा—

R/		
	Tr. ferri perchloride	m 15
	Tr. quinine ammonieta	m 15
	Extract kalmegh	m 20
	Extract sarsaparilla	dr. 1
	Infusion gentian	oz. 1
		१ मात्रा

दिन में ३ बार, पर्याप्त जल के साथ।

स्थानीय उपचार—

१. विसर्प-स्थान में अधिक दर्द या स्पन्दन होने पर कुष्ठ, सौंफ, देवदारु, नागरमोथा, वाराहीकन्द, धनियाँ, सहजने की छाल, अर्क मूल, बाँस की पत्ती और कटसरैया को पीसकर लेप करना चाहिए।

२. अत्यधिक दाह, जलन एवं रक्तवर्ण के विस्फोट होने पर कमल, मजीठ, पद्मकाष्ठ, खस, लाल चन्दन, मुलेठी और नील कमल इनको दूध के साथ पीसकर ठण्डा लेप करना चाहिए।

३. विस्फोटों में तरल का आधिक्य-खुजलाहट एवं शोथादि लक्षणों की प्रबलता में अमलतास के पत्ते, लिसोढ़े की छाल, शिरीष के फूल और मकोय को जल के साथ पीसकर लेप करने से लाभ होता है। विसर्प में अत्यधिक प्रसरणशीलता एवं विस्फोट दाह, ज्वरादि लक्षणों की तीव्रता होने पर दशाङ्ग लेप का प्रलेप करना चाहिए। सामान्यतया सभी प्रकार के विसर्पों में मक्खन के साथ मिलाकर दशाङ्ग लेप का व्यवहार अत्यधिक गुणकारी होता है।

अधिक शोथ होने पर ग्लिसरीन मैगसल्फ पेस्ट (Mag-mag) या सुमैग (Sumag), एन्टी फ्लोजिस्टीन प्रयुक्त किया जाता है।

निम्नलिखित योगों में से किसी का व्यवहार स्थानीय प्रलेप के रूप में शोथ एवं वेदना की शान्ति के लिए किया जा सकता है।

R/	Tr. ferri perchlor	dr. 1
	Ictheyol	dr. 1
	Glycerine	oz. 1

या

R/	Oil of clove	ms 10
	Oil eucalyptus	dr. 1
	Oil juniper	ms 30
	Liquid paraffin	oz 1
		031

इनके अतिरिक्त गरम जल में बोरिक एसिड या तारपीन का तेल डालकर सेंक करने से भी लाभ होता है।

स्थानीय प्रयोग के लिए शुल्बौषधियों के मलहम, पेनिसिलीन-ऑरियोमाइसिन आदि विशाल क्षेत्रक प्रतिजीवियों के मलहर, बैसट्रैसीन (Bacitracin) कार्टिजोन (Cortisone) आदि के मलहर अधिक गुणकारी होते हैं। वास्तव में पेनिसिलीन और शुल्बौषधियों के सार्वदैहिक उपचार के शीघ्र सफल होने के कारण स्थानीय उपचार का अधिक महत्त्व नहीं रह जाता। फिर भी व्याधि को छोटा न समझकर सभी प्रकार के साधन अपनाने चाहिएँ। नेत्रों के निकट विसर्प का अधिष्ठान होने पर प्रातः सायं नेत्रों को बोरिक के घोल से धोकर आर्जीराल १०% या मरक्युरोक्रोम २% या सल्फा सिटामाईड के योग (Gutamide-Locula) आदि डालने चाहिए।

रश्मि चिकित्सा—

विसर्पाक्रान्त स्थान के ऊपर क्ष रश्मियों (X rays) का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार नील-लोहितातीत किरणों (Ultraviolate rays) का प्रयोग भी १–२ मिनट तक प्रतिदिन या प्रति तीसरे दिन तीव्रता के अनुरूप होता है। इन किरणों

के प्रभाव से विसर्पकारक जीवाणु बहुत शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। रोग अधिक बढ़ा हुआ होने पर सार्वदैहिक चिकित्सा के साथ इस प्रकार के साधनों द्वारा स्थानीय उपचार भी करना ही चाहिये।

बल-संजनन—

विसर्प में पुनरावर्तन की सम्भावना अधिक होती है, अतः जिस उपचार से रोग का उपशम हुआ है, उसका प्रयोग ज्वरमुक्ति के बाद भी एक सप्ताह या दस दिन तक करते रहना चाहिए। दूषित पूय केन्द्रों में सहवासी स्वरूप के जीवाणुओं का क्षत या व्रण मार्ग से शरीर में प्रवेश होने पर विसर्प का मुख्यतया आक्रमण होता है, अतः इन दूषित केन्द्रों की स्थायी रूप से निर्मूलन की व्यवस्था चेष्टापूर्वक करनी चाहिये।

पञ्चामृत लौह गुग्गुलु या नवकार्षिक गुग्गुलु का प्रयोग अमृतादि क्वाथ (गुडूची, अडूसा, पटोलपत्र आदि का क्वाथ) या सालसारादिगण कषाय के साथ करने से पुनरावर्तन का निरोध होता है। आहार-विहार में अविदाही, रक्तशोधक, पित्तशामक एवं तिक्त रसवाले द्रव विशेष हितकारक होते हैं।

आत्मजनित (Autogenous) मसूरी के प्रयोग—विशेषकर दूषित पूय केन्द्रों से प्राप्त जीवाणुओं के संवर्धन से निर्मित—से भी लाभ होता है। दूषित पूय केन्द्रों की सफाई के अतिरिक्त क्षमता-वर्धक योगों का प्रयोग आवश्यक है। Milk c iodine, Cal.c iodine, Colloid mangnese एवं Multin आदि अविशिष्ट स्वरूप की क्षमतोत्पादक औषधें सूची वेध के रूप में दी जा सकती हैं।

आमवात

Rheumatic fever

आमवात एक विशिष्ट प्रकार का तीव्र औपसर्गिक ज्वर है, जिसमें चल सन्धिशोथ, अम्लगंधि प्रस्वेद एवं हृदय के उपद्रवों का अनुबन्ध मुख्यतया होता है।

इस रोग का मुख्य कारण असन्दिग्ध रूप में निर्णीत नहीं हो सका। तुण्डिकेरी शोथ, नासाशोथ एवं माला गोलाणुजन्य अन्य दूषित पूय केन्द्रों वाली व्याधियों में आमवात का उपद्रव अधिक मिला करता है। इन व्याधियों के कारण शरीर में वर्तमान उपसर्गरूप सूक्ष्मवेदनता (Sensitivity) उत्पन्न होती है। अनुकूल देश-काल-परिस्थिति एवं व्याधियों का आक्रमण होने के उपरान्त सहवासी माला गोलाणुओं का प्रसार होने पर, इस सूक्ष्मवेदनता के कारण आकस्मिकरूप में अर्थात् बिना सञ्चयकाल की मर्यादा के अनूर्जता सदृश आमवात के लक्षण उत्पन्न होते हैं। कुछ विद्वानों की दृष्टि में आत्मजनित

विष (Eudogenous intoxication) तथा आहार-विहारजनित (Exogenous) असात्म्यता इस रोग के उत्पादन में कारण होती है।

पाचक पित्त के अल्प बल होने के कारण या गुरु-मधुर-अम्ल आदि का अधिक सेवन करने के कारण महास्रोत में आमांश का सञ्चय होता है। पहले से ही विकृत हुआ वायु इस आमांश को सारे शरीर में प्रसारित करता है। श्लेष्मा एवं आम में समस्वरूपता होती है। 'वृद्धिः समानैः सर्वेषाम्' इस सिद्धान्त के आधार पर समान जातीय आमांश की उपस्थिति से श्लेष्मा के स्थानों में श्लेष्मा का उपबृंहण होता है। ऋतु-देश-काल आदि के प्रभाव से जिस श्लेष्मा-स्थान में पूर्व विकृति होती है, वहीं पर आमदोष का अधिष्ठान वायु की प्रेरणा से हो जाता है। इस प्रकार मुख्य दोष आमाश, आमांशोपबृंहित श्लेष्मा और प्रेरक दोष वायु माना जाता है। वायु के प्रभाव से ही शोथ की चञ्चलता, पुनरावर्तन की सम्भावना, अकस्मात् आक्रमण, वेदना आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। बाल्यावस्था में श्लेष्मा दोष की प्रधानता के कारण आमवात का आक्रमण प्रायः बाल्य एवं किशोरावस्था में ही होता है। क्वचित् दूसरे श्लेष्मा-स्थानों में भी व्याधि का प्रसार होने पर हृदयादि अंगों में रोग के दुष्परिणाम होते हैं।

दो वर्ष की अवस्था से कम की आयु के बच्चों में और ३० वर्ष के बाद इस रोग का प्रारम्भिक आक्रमण बहुत कम होता है। ७ से १२ वर्ष की अवस्था तक इसका सर्वाधिक आक्रमण होता है। पुरुषों की तुलना में स्त्रियों में यह अधिक हुआ करता है। शीत और समशीतोष्ण प्रदेशों में, आर्द्र, शीत जलवायु में, आनूप देशों में इसका प्रकोप अधिक होता है। इंगलैण्ड में सर्वाधिक प्रकोप आमवात का अब तक होता आया है। प्रायः प्रतिवर्ष १५ हजार बालक आमवात से जीवन्मुक्त हो जाते हैं। बहुत सी व्याधियों में कुलज प्रवृत्ति देखने में आती है। सम्भव है सम परिस्थितियाँ (पितामह, पिता और बालक तीनों ही प्रायः एक ही प्रकार का आहार-विहार सेवन करते हुये समवातावरण में रहा करते हैं) ही इसमें अधिक कारण हों। दारिद्र्य, अधिक जनाकीर्णता, आर्द्र कपड़ों को पहनना, नम भूमि पर सोना, भींगना, अधिक प्रस्वेद होने पर अकस्मात् तीव्र वात स्थान में बैठना एवं आकाश की मेघाच्छन्नता आदि आमवात का आक्रमण कराने में सहायक होती हैं। ऊपर दूषित-पूय केन्द्रों का उल्लेख किया जा चुका है। पूयदन्त, कर्णस्राव, तुण्डिकेरी शोथ इत्यादि जीर्ण विकारों के कारण आमवात का प्रकोप मुख्यतया होता है। रक्त में जीवतिक्ति सी० की कमी आमवात पीड़ित रोगियों में प्रायः मिलती है। सम्भव है यह कमी रोगोत्पादन में सहायक हो अथवा व्याधि के विशेष प्रभाव स्वरूप होनेवाला एक परिवर्तन हो, इसका अभी तक ठीक निर्णय नहीं हो सका।

आमवातजन्य शरीर की प्रतिक्रिया स्वरूप छोटी-छोटी गाँठे अस्काफ की ग्रन्थियाँ (Aschoff's nodules) उत्पन्न होती हैं, जिनमें अपजनन के बाद तान्त्वीभवन की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। इन ग्रन्थियों का मुख्य अधिष्ठान

श्लेष्मलकला, अधस्त्वक् धातु, संयोजक तन्तु आदि में होने के कारण आमवात के मुख्य दुष्परिणामसन्धि-हृदय-फुफ्फुसावरण आदि अंगों में उत्पन्न होते हैं।

लक्षण—

हल्की फुरफुरी के साथ तीव्र ज्वर, जो निरन्तर प्रस्वेद होने पर भी स्थायी रहता है, इसका मुख्य लक्षण है। तुण्डिकेरी शोथ से २-३ सप्ताह पूर्व पीड़ित होने का इतिहास बच्चों में अधिक मिलता है। कुछ रोगियों में—विशेषकर बच्चों में अवसाद, चिड़चिड़ापन, आक्षेप, शरीर के विभिन्न अंगों की पेशियों में अनैच्छिक संकोच आदि कोरिया (Corea) सदृश लक्षण भी आमवात का आक्रमण होने के पूर्व दिखाई देते हैं। ज्वराक्रमण के कुछ घण्टे बाद—क्वचित् साथ ही—सारे शरीर की सन्धियाँ पीड़ा एवं जकड़ाहटयुक्त हो जाती हैं। ज्वर प्रायः १०२ से १०४ तक २४ घण्टे में पहुँच जाता है। संतत अर्धविसर्गी या विसर्गी स्वरूप का ज्वर हो सकता है। काफी खट्टा एवं बदबूदार पसीना सारे शरीर से आता रहता है। अम्हौरी के सदृश घर्मविस्फोट (Sudamina) से सारे शरीर में निकल आते हैं। क्वचित् रक्त वर्णी या नीलाभ (Erythmatous or purpuric) विस्फोट भी निकला करते हैं। उचित चिकित्सा न होने पर ज्वर दीर्घकालानुबन्धि भी हो सकता है अथवा सन्धियों में ही दोष का पाचन हो जाने या कुछ काल के लिये ज्वर का उपशम होने के उपरान्त, हृदयादि दूसरे अंगों में दोषाधिष्ठान होने पर, ज्वर पुनः तीव्र हो जाता है। ज्वर के अतिरिक्त मलावृत-आर्द्र जिह्वा, भारीपन, तृष्णा, कोष्ठबद्धता, अम्ल प्रतिक्रिया युक्त गहरे रंग का अल्प मात्रा में मूत्र, त्वरितनाड़ी, सर्वाङ्ग की स्तब्धता, क्लान्ति आदि लक्षण भी उत्पन्न होते हैं। प्रायः दूसरे दिन शरीर की किसी सन्धि में स्थानीय वेदना के सर्वाधिक लक्षण व्यक्त होते हैं। कुछ समय बाद आरम्भिक सन्धिस्थान का कष्ट स्वतः कुछ कम हो जाता है और नवीन सन्धि पूर्णरूप से आक्रान्त हो जाती है। इस प्रकार आमवात के कारण शरीर की अनेक सन्धियों में युगपत् विकृति हो सकती है, किन्तु किसी में आक्रमण का प्रारम्भ, दूसरी में उपशम तथा तीसरी में चरमसीमा का कष्ट होगा। एक सी पीड़ा सभी सन्धियों में न होगी।

सन्धिशोथ—

शरीर की कोई भी सन्धि आमवात से पीड़ित हो सकती है, किन्तु जानु, गुल्फ, मणिबन्ध, स्कन्ध, वंक्षण (कटि), ग्रीवा एवं हस्त पादादि की अंगुल्यास्थि-सन्धियों में अनुक्रम से आक्रमण का बाहुल्य होता है। आक्रान्त सन्धिशोथयुक्त, रक्ताभ, स्पर्श में उष्ण, पीड़नासह एवं पीड़ायुक्त होती हैं। अत्यधिक पीड़ा के कारण थोड़ा भी हिलने-डुलने से रोगी को तीव्र वेदना होती है। इसीलिये रोगी स्तब्ध-सा बिस्तरे पर एक आसन से लेटा रहता है। बड़ी सन्धियों—जानु, गुल्फ एवं स्कन्ध आदि—की विकृति, अनेक सन्धियों में विभिन्न तीव्रतावाली विकृति, सन्धि विकृति के शोथ सदृश लक्षण,

पूयभवन का अभाव किन्तु सन्धि में द्रवांश का अत्यधिक सञ्चय (Synovial effusion) आदि विशेषताएँ आमवातिक सन्धिशोथ के कारण स्थानीय रूप में हुआ करती हैं। कशेरुक सन्धि, अंगुलि पर्व, अक्षक सन्धि आदि छोटी सन्धियों में शोथ का आक्रमण बहुत कम होता है। रोग मुक्ति के बाद सन्धियाँ पूर्णरूप से स्वस्थ हो जाती हैं। व्याधि का कोई लेश नहीं रहता, किन्तु अनेक पुनरावर्तनों के बाद सन्धियों में स्तब्धता, जीर्ण शोथ, सम्बद्ध मांस पेशियों का क्षय आदि स्थायी परिणाम भी हो सकते हैं। सन्धियों की स्थानीय विकृति एवं सम्बद्ध मांसपेशियों का अपजनन आमवाताभ सन्धिशोथ में अधिक होता है।

हृदय-विकृति—

आमवात का आक्रमण कुछ-न-कुछ हृदय पर अवश्य होता है। इसी कारण प्रारम्भ से ही हृदय की गति कुछ अधिक हुआ करती है तथा परीक्षण करने पर हृदयाभिस्तीर्णता (dilatation) भी स्पष्ट हो सकती है, हृद्विकृति, हृदयसर्वाङ्ग शोथ (Pancarditis) स्वरूप की ही होती है, किन्तु व्याधि की तीव्रता का केन्द्र हृदयावरण (Pericardium), हृत्पेशी (Myocardium) या अन्तर्हृत् (Endocardium) में होने पर हृदय के अनुगामी विकार इन अवयवों के आधार पर ही होते हैं। हृदयाग्र स्थान की प्रथम ध्वनि क्षीण तथा प्रवाही (First sound soft & blowing), सांकोचिक मर्मर ध्वनि (Systolic bruits) तथा रक्तनिपीड की कमी, लाल कणों के अधिक नाश के कारण पाण्डुता आदि लक्षण होते हैं। हृदय सम्बन्धी उपद्रवों के प्रारम्भ होते समय निम्न लक्षण हो सकते हैं। हृद्द्रव (Palpitatin), हृच्छूल (Pain in precardium), ज्वर वृद्धि, नाड़ी पूर्वापेक्षा अधिक त्वरित, बेचैनी, किञ्चित् श्वास कृच्छ्र आदि होने पर हृदय की विकृति का अनुमान लगाया जाता है।

अश्काफ की ग्रंथियाँ या आमवातिक ग्रंथियाँ (Aschoff's nodules)— छोटी-छोटी तान्तुक धातुप्रधान यह ग्रंथियाँ शरीर के दोनों पार्श्वों के समस्त स्थानों की अस्थियों या कण्डराओं पर मिलती हैं। जानु-गुल्फ-कूर्पर-एवं अंगुलि पर्व के समीप इन ग्रन्थियों की संख्या अधिक मिलती है।

प्रायोगिक निदान—

श्वेतकायाणुओं की संख्या १० से २० हजार तक, सापेक्ष्य अनुपात में बहुकेन्द्रियों की थोड़ी अधिकता, रुधिर कायाणुओं का अपकर्ष, रक्तावसादन गति की तीव्रता एवं सम्वर्धन से शोणांशिक मालागोलाणु (Streptococcus-heamolyticus) जीवाणुओं की उपस्थिति आदि परिणाम प्रायोगिक निदान से मिलते हैं।

मूत्र में अल्पमात्रा में शुक्लि सज्वरावस्था में मिला करती हैं तथा यूरेट (Urates) के क्रिस्टल अवक्षेप में प्रायः मिलते हैं।

बालकों का आमवात—

बाल्यावस्था में आमवात का प्रकोप अधिक होने पर भी उसका निदान प्रायः नहीं हो पाता। सन्धियों की विकृति अत्यल्प होने के कारण बच्चा जल्दी शय्या नहीं पकड़ता। प्रारम्भ से ही आमवात का निदान न होने के कारण तथा उचित ओषधियों एवं विश्राम का पालन न करने के कारण बालकों में आमवातज हृदय-विकृतियाँ अधिक उत्पन्न होती हैं। सन्धियों की अपेक्षा बच्चों की पेशियों—विशेषकर उदर, वक्ष एवं पिण्डलियों—में भ्रमण-शील वेदना होती रहती है। अस्काफ की आमवातिक ग्रन्थियाँ, त्वचा में रक्ताभ-नीलाभ विस्फोट बच्चों में अधिक होते हैं। ज्वर का आक्रमण प्रायः मध्यम स्वरूप का १०२°F से अधिक नहीं होता। बच्चों में आमवात के निदान की दृष्टि से तुण्डिकेरी शोथ का पूर्ववृत्त, शरीर में चल वेदना, हृद्द्रव, वक्ष-शूल या वेदना, विश्रान्ति के समय भी त्वरित नाड़ी, आमवातिक ग्रन्थियाँ एवं विस्फोट तथा हृदयजन्य विकृतियाँ महत्त्वपूर्ण होती हैं।

सापेक्ष्य निदान—

वातरक्त, पूयदोषज सन्धिशोथ, पूयमेहज सन्धिशोथ (Gonorrheal arthritis), तीव्र अस्थिमज्जाशोथ, आमवाताभ सन्धिशोथ (Rheumatoid arthritis), इन्फ्लुएञ्जा, संततज्वर, श्लीपदज्वर आदि व्याधियों से आमवात का पार्थक्य करना चाहिये।

रोग विनिश्चय—

आमवात का पूर्ववृत्त या तुण्डिकेरी दन्तमूल आन्त्रपुच्छ आदि अंगों में दूषित पूयकेन्द्रों का इतिवृत्त, शीत-आर्द्र-जलवायु में पूर्ण स्वस्थ व्यक्तियों में हल्के जाड़े के साथ ज्वर का आक्रमण, अम्लगन्धि-प्रस्वेद, चलसन्धिशोथ, आक्रान्तसन्धि पाण्डुर या रक्ताभ-वर्ण की शोथ-पीड़ा एवं सन्तापयुक्त, बालकों में पेशियों में भ्रमणशील पीड़ा, त्वचा पर विस्फोट एवं गाँठे, हृदयप्रदेश में बेचैनी तथा प्रथम हृदय-शब्द में मृदुता या मर्मर ध्वनि, रक्त में रुधिर कायाणुओं की कमी, श्वेत कायाणुओं की संख्या वृद्धि, रुधिर कायाणुओं का त्वरित अवसादन, मूत्र में अल्प शुक्ति एवं यूरेट्स की उपस्थिति और अन्त में सोडियम सैलिसिलेट या अन्य आमवातहर ओषधियों के उपशय से रोग का पूर्ण विनिश्चय हो जाता है।

उपद्रव व अनुगामी विकार—

आमवात के उपद्रव में हृदय के विकारों का सर्वाधिक महत्त्व है। दस वर्ष के बालकों में आमवात होने पर ८०% हृदय के उपद्रव से पीड़ित होते हैं। उत्तरोत्तर वय-वृद्धि के अनुपात में यह संख्या कम होती जाती है। द्विपत्रक कपाटों में स्थायी विकृति अधिक होती है। हृदय-विकृति के अतिरिक्त परम ज्वर, उदरावरण शोथ, फुफ्फुसावरण शोथ, कोरिया (Corea), नीलोहा (Purpura), वृक्कशोथ आदि उपद्रव भी होते हैं।

साध्यासाध्यता—

आमवात के स्वयं मर्यादित स्वरूप का रोग होने के कारण चिकित्सा न करने पर भी ४ से ६ सप्ताह में स्वयं ठीक हो जाता है। किन्तु विश्रामादि का पूर्ण ध्यान न रखने पर हृदय के उपद्रव अधिक कष्टकारक हो जाते हैं। कचित् उपद्रव होने पर ज्वर पुनः बढ़ भी जाता है। अपथ्य सेवन एवं शरीर के दूषित पूय-केन्द्रों के प्रभाव से इसकी पुनरावृत्ति प्रायः होती रहती है जिससे प्रथम आक्रमण के समय उत्पन्न आमवातिक हृद्-विकार कुछ न कुछ बढ़ते जाते हैं। हृदय का उपद्रव होने से आमवात से अपमृत्यु की सम्भावना प्रायः नहीं होती। हृदय विकृत हो जाने पर यावज्जीवन रोगी केवल अशक्त-सा हो जाता है तथा किसी न किसी उपद्रव के कारण दस-पन्द्रह वर्ष के भीतर ही मृत्यु हो सकती है।

सामान्य चिकित्सा—

दूसरी व्याधियों की अपेक्षा आमवात में पूर्ण विश्राम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण औषध है। आमवात की चिकित्सा में चिकित्सक का मुख्य ध्यान वेदना एवं बेचैनी का शमन, व्याधि का निराकरण, उपद्रवों का प्रतिषेध एवं पुनरावर्तन निरोध के लिये शारीरिक क्षमता बढ़ाने में होता है। सभी दृष्टियों से उष्ण-रूक्ष जलवायु वाले कमरे में, मुलायम शय्या पर रोगी को विश्राम कराना, यथाशक्ति मल-मूत्र के त्याग के लिये भी रोगी को—विशेषकर बालकों को—उठने न देना आवश्यक होता है। उष्ण एवं रूक्ष जलवायु वाले प्रदेशों में आमवात का आक्रमण प्रायः नहीं होता। अतः रोगी का कमरा रूक्ष एवं उष्ण रखना श्रेयस्कर है। प्रस्वेद के कारण रोगी के पहनने एवं ओढ़ने के कपड़े भींग जाते हैं तथा आलस्यवश भींगे कपड़े शीघ्र न बदलने पर हवा लगकर शीत का प्रकोप हो जाने के कारण रोग बढ़ सकता है। अतः सूखे तौलिये से बार-बार शरीर पोंछना, कमरा बन्द कर २-३ बार कपड़े बदलना आवश्यक है। रोगी को शय्या काठ की आरामदेह रहती है। क्योंकि हिलने-डुलने पर उसमें अधिक लचक न होने के कारण रोगी को कम से कष्ट होता है। उसके ऊपर का गद्दा मुलायम, मोटा तथा रोगी के कपड़े स्वेद सोखने वाले होने चाहिये। रोगी की सन्धियों को मोड़कर लेटने में अधिक सुख मिलता है। इसलिये गरम बालू की थैलियों में भर कर सन्धियों के अगल-बगल और नीचे रखकर, रोगी को जिस प्रकार शान्ति मिले, व्यवस्था करनी चाहिये। बालू के अभाव में गद्दी, तकिया आदि से भी काम लिया जा सकता है। बालकों में सन्धि-विकारों के कम होने तथा ज्वर की तीव्रता न होने के कारण पूर्ण विश्राम में बाधा उत्पन्न हो सकती है। किन्तु दृढ़तापूर्वक विश्राम कराने से भविष्य में होनेवाला गम्भीर हृदय का उपद्रव प्रतिषिद्ध हो सकता है, अतः इसमें छूट न देनी चाहिये। प्रतिदिन चेष्टापूर्वक हृदय एवं नाड़ी की परीक्षा करते रहना भी आवश्यक है।

मुख, गला एवं नासिका की सफाई का पूरा ध्यान रखते हुये दूषित पूय केन्द्रों का निरीक्षण करते रहना चाहिये तथा निदान हो जाने पर उनकी स्थानिक शुद्धि का उचित उपचार अविलम्ब करना चाहिये।

आमवात में कोष्ठबद्धता प्रायः रहती ही है। यदि मुख्य औषध के साथ में विरेचक औषध का व्यवहार किया जाय अथवा प्रारम्भ में ही एरण्ड तैल, पंचसकार चूर्ण, सिंहनाद गुग्गुल या मैगसल्फ-सोडासल्फ के द्वारा कोष्ठ शुद्धि कर ली जाय तो ज्वर-मोक्ष में शीघ्रता होती है।

प्रस्वेद अधिक आने तथा सन्ताप के कारण शरीर में तरलांश-द्रवांश की कमी हो जाती है। अतः आग्रहपूर्वक चतुर्थांशावशिष्ट कदुष्ण जल बार-बार पर्याप्त मात्रा में पीने को देना चाहिये। इससे दूषित विषों के शोधन में पर्याप्त सहायता मिलती है।

ज्वर की तीव्रता कम हो जाने पर लघुपाकी पोषक आहार दिया जा सकता है। किन्तु पथ्य देने में शीघ्रता करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि अरुचि, अग्निमांद्य एवं गुरु-पिच्छिल-विष्टम्भी-अम्ल आहार का अधिक सेवन करने के कारण ही आमवात की उत्पत्ति होती है। पंचकोलशृत यूष, परवल, करेला, सहजन आदि का यूष लहसुन एवं आदी मिलाकर देना विशेष हितकारक होता है। लाजमण्ड, पुराने चावल का भात, मुद्ग-मसूर यूष, छेना, जौ की रोटी, उष्णकाल में तृषा अधिक होने पर नींबू का रस, सन्तरा एवं मौसमी का रस, क्षारीय आहार आदि का व्यवहार किया जा सकता है।

औषध चिकित्सा

सोडा सैलिसिलेट—आमवात की यह उत्तम औषध है। इसका गुण प्रारम्भिक विरेचक औषध के उपरान्त देने पर अधिक व्यापक होता है। इसके अम्ल विपाकी होने के कारण संभाव्य अम्ल-विषमयता के प्रतिकार के लिये प्रारम्भ से ही सोडा बाईकार्ब मिलाकर प्रयुक्त करना चाहिये। इसकी प्रारम्भिक मात्रा प्रायः रोगी की सहनशीलता के अनुरूप १५ से २० ग्रे० होती है। प्रथम चार मात्रायें प्रति ३ घण्टे पर, इसके बाद ४ से ६ घण्टे के अन्तर पर देना चाहिये। प्रायः दूसरे दिन रोगी को पर्याप्त लाभ हो जाता है। कुछ रोगियों में सैलिसिलेट के प्रयोग के बाद वमन, अतिसार, कर्ण-नाद आदि का कष्ट हो जाता है। इसके शमन के लिये प्रारम्भ से ही टिंक्चर बेलाडोना का योग रखने से अच्छा रहता है अन्यथा सैलिसिलेट की मात्रा कम कर देनी चाहिये। इसका स्वाद बहुत अरुचिकर होता है, अतः टि. जिंजर आदि तीक्ष्ण स्वाद वाले घटक मिलाने चाहिये। सामान्यतया निम्नलिखित योग के रूप में इसका प्रयोग अच्छा होता है

R/	Soda salicylas	grs. 15
	Soda bi carb	grs. 10
	Pot citras	grs. 10
	Tr. belladonna	ms. 5
	Tr. card co	ms. 10
	Syrup zinger	dr. one
	Aqua chloroform	oz. one
		१ मात्रा

१ मात्रा प्रथम दिन २ घण्टे के अन्तर पर, दूसरे दिन ४ घण्टे तथा तीसरे दिन ६ घण्टे के अन्तर से देना चाहिये।

यदि इसके पूर्व विरेचन न दिया गया हो तो इसी योग में Soda sulph ३० ग्रे० या (Ext cascara sagarada) १५–३० बूंद मिला देना चाहिये। सिरप जिंजर के साथ ही विरेचन कार्य के लिये सनाय की पत्ती का फाण्ट (Infusion senna) प्रथम दिन मिलाया जा सकता है। बच्चों में सैलिसिलास की मात्रा आधी या उससे भी कम देनी चाहिये। ज्वर मुक्ति के बाद भी १० ग्रे० की मात्रा दिन में ३ बार, लगभग १ सप्ताह तक प्रयोग करना अच्छा है। प्रथम कुछ दिन तक दैनिक मात्रा ९०–१८० ग्रेन तक दी जा सकती है।

सैलिसिलेट बहुत व्यक्तियों को सह्य नहीं होता; अतः वमन, अवसाद, प्रलाप, शिरःशूल एवं कर्णनाद आदि दुर्लक्षण उत्पन्न होने पर इसके स्थान पर सैलिसिन या एस्पिरिन का व्यवहार करना चाहिये। कभी-कभी वानस्पतिक सैलिसिलेट (Natural salicylate) संश्लिष्ट (Synthetic) की अपेक्षा अधिक गुणकारी होता है। कुछ रोगियों में तथा अनेक बार पुनरावर्तन हो जाने के बाद केवल सैलिसिलेट उतना लाभ नहीं करता। ऐसी स्थिति में क्विनीन सैलिसिलेट ५-१० ग्रेन की मात्रा में दिन में ४ बार देना चाहिये। बच्चों को यह अधिक अनुकूल आता है। सैलिसिलेट के अतियोग से उत्पन्न विषाक्त परिणामों की शान्ति के लिये नीबू का रस या साइट्रिक एसिड (citric acid) ग्लूकोज और पोटैशियम साइट्रेट पर्याप्त जल में मिलाकर पिलाने से लाभ होता है।

मुख द्वारा सैलिसिलेट के पूर्ण प्रभावकारी होने के कारण दूसरे मार्गों से इसके प्रयोग की आवश्यकता नहीं पड़ती। यों शिरा मार्ग से भी सम लवण जल के साथ विरल बना कर १० ग्रेन की मात्रा में प्रयुक्त किया जा सकता है। पेशीगत सूची वेध अत्यधिक पीड़ाकर होने के कारण व्यवहार्य नहीं।

जीवतिक्ति सी—आमवात की उत्पत्ति एवं पुनराक्रमण में रक्त में जीवतिक्ति सी० का अभाव या न्यूनता अनेक कारणों में एक कारण मानी जाती है। अतः मुख्य ओषधियों के साथ जीवतिक्ति सी का व्यवहार किया जाता है। तीव्रावस्था में १५००

मि० ग्रा० प्रतिदिन तथा समान्यतया ५०० मि० ग्रा० प्रतिदिन अन्य औषधियों के साथ सूचीवेध के रूप में या मुख द्वारा प्रयोग करना चाहिए।

अन्य औषधियाँ—

इरगापाइरिन (Irgapyrine) या बुटाजोलिडीन (Butazolidine) और (Acetyl parazolidine group)—५ सी० सी० की मात्रा पेशीगत सूचीवेध के रूप में, व्याधि की तीव्रता एवं सहनशक्ति के आधार पर, दैनिक या तीसरे दिन देना चाहिये। सन्धि शोथ एवं ज्वरादि सभी लक्षणों का पूर्ण शमन त्वरित होता है। सैलि-सिलेट के कार्यक्षम न होने या प्रयुक्त न हो सकने की स्थिति में इसका व्यवहार किया जा सकता है। तीव्रता कम हो जाने पर मुख द्वारा एक टिकिया दिन में ३ या ४ बार १ सप्ताह तक देते रहने से पुनरावर्तन शीघ्र नहीं होता है। डेकापायरिन (Decapy-rine), नोवालजिन (Novalgin, bayer) यह भी उक्त वर्ग की औषध है। किन्तु इसके सूचीवेध का प्रयोग सिरा या पेशी द्वारा ५ सी० सी० की मात्रा में किया जाता है। सद्यःलाभकर होने के कारण सैलिसिलेट की तुलना में कुछ अंशों में यह योग अधिक चमत्कारी हो सकते हैं।

सैलिसिन तथा इरगापाइरिन का संयुक्त प्रयोग कुछ रोगियों में विशेष लाभ करता है। इस दृष्टि से निम्न योग उत्तम है—

R/	Succi salyl	tab. 1
	Irgapyrine	tab. 1
	Ascorbic acid	mg. 100
	Brever's yeast	gr. 15
		१ मात्रा

दिन में ३ बार, गरम जल के साथ।

आमवातिक ज्वर में हृदय विकारों का उपद्रव उत्पन्न हो जाने पर सैलिसिलेट से कोई लाभ नहीं होता। इस अवस्था में सोडियम सैलिसिलेट एवं सोडा बाई कार्ब का सोडियम अंश, इन औषधियों का व्यवहार करने पर शरीर में संचित होकर शैथिल्यमूलक हृद्विकार (Congestive heart failure) का उपद्रव हो सकता है।

एमिनोपायरीन (Aminopyrine or Pyramidon)—सैलिसिलेट का प्रयोग सात्म्य न होने पर या उससे पूर्ण लाभ न होने पर इसका व्यवहार २-४ ग्रेन की मात्रा में प्रति ४ घण्टे पर किया जाता है। रक्तकणों का नाश इस औषध से कभी-कभी औषध-मात्रा से ही होता है। अतः बीच-बीच में कण-गणना कराना आवश्यक होता है।

आमवातिक ज्वर की चिकित्सा में शुल्बौषधियों-पेनीसिलीन एवं अन्य विशाल क्षेत्रक प्रतिजीवी औषधों का विशेष महत्त्व नहीं है। मूत्र की राशि अल्प होने तथा शुक्ति की उपस्थिति होने के कारण शुल्बौषधियों का प्रयोग कुछ हानिकर ही रहता है। पेनिसिलीन

का अविशिष्ट स्वरूप की क्षमतोत्पादक ओषधियों (Omnadine etc.) के साथ प्रयोग करने से शरीर के दूषित पूय केन्द्रों में संचित जीवाणुओं का निराकरण हो सकता है। इस दृष्टि से पुनरावर्तन निरोध के लिए रोगमुक्ति काल में ३ सप्ताह तक उचित मात्रा में पेनिसिलीन का प्रयोग किया जा सकता है। आमवात जनित हृदय के विकार का अनुमान होने पर पेनिसिलीन या विशाल क्षेत्रक प्रतिजीवी वर्ग की ओषधियाँ (Terramycin, Tetracyclin) का प्रयोग कारणभूत उपसर्ग के शमन में सहायक होता है। सूचीवेध या मुख द्वारा इनका प्रयोग मुख्य औषध के साथ करने से उपद्रवों के प्रशम तथा पुनरावर्तन निरोध के लिए हितकर होता है। कभी-कभी एक व्याधि में दूसरी व्याधि का उपद्रव हो जाता है, ऐसी स्थिति में उपद्रव स्वरूप व्याधि के शमन के लिए सभी प्रकार की गुणकारी ओषधियों का प्रयोग करना चाहिए। शोणांशिक माला गोलाणु या किसी इतर तृणाणु का उपसर्ग या दूषित-पूय केन्द्र गत विकार की आमवात में कारणता होने पर Omnamycin या उपयोगिता के अनुसार विशाल क्षेत्रक प्रतिजीवी वर्ग की ओषधियों का नियमित प्रयोग करना चाहिए।

कार्टिजोन एसिटेट, प्रेडनोसोलिन और ए. सी. टी. एच. (Cortisone acetate, prednosoline & A. C. T. H.)—इन ओषधियों के प्रयोग, निषेध व विषाक्त प्रभावों का वर्णन पहले किया जा चुका है (पृष्ठ ३९२)। आमवातिक ज्वर में सामान्यतया इनके प्रयोग की आवश्यकता नहीं पड़ती। हृदय के उपद्रवों का निर्णय होने पर सोडियम सैलिसिलेट स्वतः निषिद्ध हो जाता है तथा दूसरी आमवातहर ओषधियों का हृदय-उपद्रव के शमन में कोई महत्त्व नहीं है। ऐसी स्थिति में उपद्रवों के प्रतिषेध तथा व्याधि की विषमयता कम करने के लिये आत्ययिक स्थिति में कार्टिजोन आदि का व्यवहार किया जाता है। इनके प्रयोग के कुछ घण्टे बाद से ही ज्वर, अवसाद, त्वरित नाड़ी, सन्धि शोथ आदि लक्षणों में पर्याप्त लाभ आरम्भ हो जाता है। कार्टिजोन का प्रयोग बन्द करने के पूर्व कुछ समय तक ए० सी० टी० एच० का सूचीवेध देना आवश्यक होता है।

लाक्षणिक चिकित्सा—

सन्धि शोथ—

सैलिसिलेट के सार्वदैहिक उपचार के अतिरिक्त सन्धियों में संचित द्रवांश के शोषण, वेदनाहरण एवं शोथ निर्मूलन के लिए स्थानिक उपचारों की अपेक्षा होती है। रोगी को उष्ण सेंक से पर्याप्त लाभ होता है। निम्नलिखित प्रयोग यथावश्यक कराये जा सकते हैं।

१. गरम बालू की पोटली से धीरे-धीरे सन्धि के चारों ओर पर्याप्त समय तक सेंक। आमवात में स्निग्ध सेंक की अपेक्षा उष्ण, अम्ल एवं क्षारीय सेंक अत्यधिक लाभ करते हैं।

२. नमक की पोटली तवे पर गरम कर सेंक करना।

बिजली का सेंक—लोहितातीत किरणों (Infra-red) तथा डायथर्मी का सेंक भी उपलब्ध होने पर शीघ्र लाभकारी होता है।

शंकर स्वेद—कपास के बीज, कुलथी, तिल, यव, एरण्ड के जड़ की छाल, अलसी, पुनर्नवामूल, सन के बीज—इनको सम मात्रा में मिलाकर, काँजी के साथ पीसकर, पोटली बना, गरम काँजी के बर्तन के ऊपर जाली के सहारे रखकर, भली प्रकार स्विन्न करके, सन्धि स्थानों का स्वेदन करना चाहिये। इसके प्रयोग से सन्धि-वेदना एवं शोथ में बहुत शीघ्र लाभ होता है।

तीव्र क्षोभक ओषधियों के प्रलेप से भी पर्याप्त शान्ति मिलती है। तारपीन का तेल १ चम्मच एक सेर उबलते जल में डालकर, उसमें मोटा कपड़ा भिगोकर, निचोड़ने के बाद सहता-सहता बाष्प-स्वेद करना चाहिये। कुछ चिकित्सकों की राय में विपरीत सेंक का क्रम अधिक गुणकारी होता है अर्थात् तीव्र क्षोभक औषधों एवं बाष्पादि से सेंक करने के बाद तुरन्त शीत द्रव्यों का स्थानीय प्रयोग करना। इस विधि से उष्ण एवं शीत प्रयोग करने पर जीर्ण सन्धि शोथ में निश्चित अच्छा लाभ होता है, किन्तु व्याधि की तीव्रावस्था में शीत प्रयोग सुखावह नहीं होता।

विन्टरग्रीन (Wintergreen) का तेल सन्धि के ऊपर लगाकर गरम रूई बाँधना चाहिये। निम्नलिखित लेप भी लाभ करते हैं—

१. सहजन की छाल, रास्ना, पुनर्नवा, प्रसारिणी, हींग, सौंफ और बच। इनको सिरका एवं काँजी के साथ पीसकर गरम कर सुखोष्ण लेप करना।

२. अहिफेन, वत्सनाभ, शुण्ठी, कुचला, करजीरी को धतूरा पत्र-स्वरस में पीसकर गरम कर सुखोष्ण लेप करना।

३. एण्टीफ्लोजिस्टीन का प्रयोग भी लाभकारी होता है। सन्धि शोथ एवं वेदना का शमन हो जाने के बाद भी कुछ समय तक सेंक, क्षोभक तैलों का मर्दन एवं गरम या ऊनी कपड़ों को लपेटना आदि स्थानीय उपचार करते रहना चाहिये। इससे स्थायी रूप में वेदनादि लक्षणों का पूर्ण शमन हो जाता है।

पाण्डुता या रक्ताल्पता—

आमवात का कष्ट पर्याप्त समय तक रहने तथा हृदय के उपद्रव हो जाने पर रुधिर कायाणुओं एवं शोणवर्तुलि का अधिक ह्रास हो जाता है। अतः लौह के योगों का भोजनोत्तर प्रयोग करना चाहिये।

लौहासव, फेरस सल्फेट, फेरोनिकम, फेरस ग्लूकोनेट आदि का प्रयोग किया जा सकता है। रोग की तीव्रता कम होने पर अधिक रक्ताल्पता के लिये यकृतसत्त्व का सूचीवेध, फेरीलेक्स, फेरो बी लिवर आदि प्रयुक्त होते हैं।

उपद्रवों की चिकित्सा—

फुफ्फुसावरण शोथ, फुफ्फुसपाक, उदर शूल, परम ज्वर आदि उपद्रवों का यथा निर्देश विशिष्ट उपचार करना चाहिये।

हृदयशोथ—

इसके पूर्व हृदयावरण, हृत्पेशी और हृदन्तःशोथ का उल्लेख किया जा चुका है। मुख्य चिकित्सा के अतिरिक्त इन उपद्रवों की कोई विशिष्ट चिकित्सा नहीं होती। सैलिसिलेट के स्थान पर कार्टिजोन वर्ग की औषधियों के प्रयोग का उल्लेख किया जा चुका है। वेदना शमन के लिये लाक्षणिक उपचार: श्वासकृच्छ्र, हृत्स्पन्द आदि के शमन के लिये विशेष व्यवस्था करनी पड़ती है। कभी-कभी हृदयावरण में तरल सञ्चित हो जाता है जो सैलिसिलेट आदि मुख्य औषधियों से ही शुष्क हो जाता है। क्वचित सूचीवेध द्वारा तरल को निकालने की भी जरूरत पड़ सकती है। मुख्यरूप से हार्दिक उपद्रवों के प्रतिषेध के लिये विश्राम सम्बन्धी निम्न नियम पालन करने चाहिये।

१. पूर्ण विश्राम—ज्वर मुक्ति के बाद कम से कम एक सप्ताह तक या स्वाभाविक रुधिर कायाणु अवसादन गति-स्वाभाविक नाड़ी गति तथा हृदयालेख (Electrocardiogram) आने तक पूर्ण विश्राम।

२. विहार—विश्राम के बाद बहुत शनैः शनैः स्वाभाविक हल्के काम करने चाहिये। बीच-बीच में पूर्ववत् विश्राम करना तथा नाड़ी त्वरित होने पर काम कम करना आवश्यक है।

३. पर्याप्त पोषक आहार—विशेषकर जीवतिक्ति सी०, बी०, ए०, प्रोभूजिन के योग, लौह आदि का प्रयोग।

बल संजनन

बल संजनन काल आमवात में बहुत लम्बा हुआ करता है। क्योंकि शीघ्रता करने पर हृदय के उपद्रव की सम्भावना और पुनरावर्तन की सम्भावना बनी रहती है। इस बीच में व्याधि-प्रकोपक दूषित पूय केन्द्रों आदि का भली प्रकार परीक्षण करके उचित व्यवस्था कर देनी चाहिये। पर्याप्त समय तक लेटे रहने के कारण रोगी के पैरों में चलने की शक्ति नहीं रहती। अतः प्रतिदिन प्रसारिणी तैल, महामाष तैल एवं नारायण तैल का शाखाओं में अभ्यंग के रूप में व्यवहार करना चाहिये।

सैलिसिलेट के प्रयोग तथा बहुत समय तक विश्राम के कारण रोगी की पाचन शक्ति बिगड़ जाती है। इसलिये औषध व्यवस्था करते समय महास्रोत को सुव्यवस्थित करने वाली औषधियाँ, पाचन, वातानुलोमक एवं शोधक द्रव्योंका अन्तर्भाव करना चाहिये। ताजे फल, दूध, मक्खन, मांसरस, अण्डा आदि पोषक एवं बलकारक आहार देने चाहिये। नील-लोहितातीत रश्मियों के प्रयोग से रोगोत्तरकालीन सन्धि-स्तब्धता एवं वेदना की शीघ्र शान्ति होती है। उष्ण एवं रूक्ष जलवायु वाले प्रदेशों में स्थानान्तरण सम्भव होने पर शीघ्र बलाधान होता है।

सामान्यतया निम्न योग लाभकारी होते हैं—

मल्ल चन्द्रोदय	१ र०
लौह भस्म	४ र०
कुपीलु सत्त्व	४ र०
प्रवाल भस्म	१ मा०
सितोपलादि	६ मा०
	८ मात्रा

प्रातः सायं मधु के साथ।

भोजनोत्तर अश्वगन्धारिष्ट या दशमूलारिष्ट २ तो० की मात्रा में जल के साथ।

2.	R/	Ferrous chloride	gr 3
		Quinine bihydrochlor	gr 2
		Tr. nux vomica	ms 5
		Liq. arsenicalis	ms 3
		Glycerine	ms 20
		Ext sennae	ms 30
		Aqua chloroform	oz one
			१ मात्रा

भोजनोत्तर।

इसके अतिरिक्त Easton's syrup एवं अन्य बलकारक पेटेन्ट योगों का व्यवहार भी किया जा सकता है।

पुनरावर्तन निरोध एवं जीर्ण आमवात की व्यवस्था—

ऊपर गौणांशिक मालागोलाणु का उपसर्ग पुनरावर्तन एवं रोगोत्पत्ति में मुख्य कारण कहा जा चुका है। अतः दूषित पूय केन्द्रों के मूलोच्छेद के लिये तुण्डिकेरी, दन्त एवं आन्त्र पुच्छ (Appendix) आदि का शस्त्र कर्म के द्वारा लेखन कराना चाहिये। आत्मजनित मसूरी (Autovaccine) का प्रयोग भी सम्भव होने पर कुछ लाभ करता है। ३ सप्ताह तक प्रोकेन पेनिसिलीन की ४ लाख मात्रा का दैनिक सूचीवेध तथा इसके अभाव में सल्फा डायजिन या सल्फा मेजाथिन की १ गोली दिन में ३ बार १५–२० दिन तक देना लाभकर माना जाता है।

आमवात में पुनरावर्तन, दूषित आमांश का संचय एवं वायु की दुष्टि प्रकोप के कारण होते हैं। इस दृष्टि से आमांश एवं वायु प्रतिषेधक आहार-विहार एवं औषध-व्यवस्था पुनरावर्तन निरोध के लिये सर्वोत्तम है। निम्न योगों का कुछ समय तक प्रयोग करने से पर्याप्त लाभ होता है।

१. त्रिवृतादि चूर्ण—निशोथ, सेंधा नमक, शुण्ठी—सम भाग ३ माशा की मात्रा में १ छटाँक काञ्जी के साथ। अभाव में उष्णोदक।

२. रास्ना सप्तक—रास्ना, गुडूची, अमलतास का गूदा, देवदारु, गोखरू, एरण्ड-मूल और पुनर्नवा—सम भाग, २ तोला की मात्रा में १६ गुने जल में पका कर, चतुर्थांश अवशिष्ट रहने पर छान कर, २ मा० शुण्ठी चूर्ण मिलाकर पीना चाहिये। इससे आमांश का शोधन, सन्धियों की स्तब्धता एवं वातप्रकोप का शमन होता है।

३. रसोनादि क्वाथ—रसोन मज्जा, शुण्ठी, निर्गुण्डी—सम भाग पूर्ववत् २ तोला की मात्रा में लेकर अष्टमांशावशिष्ट क्वाथ बना १ तो० की मात्रा में एरण्ड तैल मिलाकर पिलाने से आमवात का सर्वांश में शमन होता है।

४. वैश्वानर चूर्ण या विजय चूर्ण का व्यवहार भोजनोत्तर या प्रातःकाल करने से आमांश की उत्पत्ति नहीं होने पाती तथा पाचकाग्नि में वृद्धि हो जाने के कारण दीपन-पाचन शक्ति भी बढ़ जाती है।

५. संचित स्वरूप के पुराने आमांश को निकालने के लिये—विशेषकर सन्धियों एवं गूढ़ स्थलों में संचित दोष को—सिंहनाद गुग्गुलु रात्रि में भोजन के पूर्व उष्णोदक अनुपान से देना चाहिये।

६. आमवात में अवसाद, क्लान्ति, आलस्य आदि लक्षण होने पर एरण्ड तैल; सारे शरीर में स्तब्धता, मांस पेशियों में वेदना, चलने-फिरने में वेदना एवं अङ्गों की शिथिलता होने पर गुग्गुलु का प्रयोग और पुनरावर्तन, बल संधानन, दीपन, पाचन एवं वातानुलोमन के लिये रसोन प्रधान योगों का व्यवहार श्रेयस्कर होता है।

रोगी के शरीर में अधिक आमांश के संचय के लक्षण होने पर निम्न व्यवस्था करनी चाहिये—

१. आमावातारि गुग्गुलु १ माशा, अनुपान—रास्नादि क्वाथ में शुण्ठी चूर्ण एवं एरण्ड तैल १-२ तो० की मात्रा में मिलाकर।

२. हिंग्वष्टक चूर्ण ३ माशा = १ मात्रा, भोजन के साथ।

३. रसोनसुरा ६ माशा अश्वगंधारिष्ट २ तो० १ मात्रा, भोजनोत्तर जल से।

४. योगराज गुग्गुलु १-२ माशा तक, गरम पानी या दूध के साथ, रात्रि में।

एक सप्ताह बाद प्रातः क्वाथ में एरण्ड तैल बन्द कर रात में सोने समय सिंहनाद गुग्गुलु दिया जा सकता है। रास्नादि क्वाथ में आरग्वध की मात्रा रोगी की सहन शक्ति, कोष्ठ बद्धता एवं आमांश की मात्रा के आधार पर घटायी या बढ़ायी जा सकती है।

शरीर में मीठी-मीठी वेदना, आलस्य, सुस्ती, कटि शूल आदि होने पर निम्नलिखित क्रम रखना चाहिये—

१. प्रातः काल रसोन पिण्ड ३ मा० से ६ मा० तक, उष्णोदक के साथ। इसके अभाव में १-२ तोला रसोन को घी में भून कर सबेरे दूध के साथ।

२. अश्वगन्धारिष्ट २ तो० १ मात्रा, भोजनोत्तर जल के साथ।

३. वातारि गुग्गुलु २ मा० की मात्रा में, रात में सोते समय, दूध के साथ।

४. आमवातादि वज्र १ र० की मात्रा में सायंकाल अश्वगन्धा चूर्ण व मधु से ।

आहार में सहजन का शाक, रसोन, शुण्ठी, अजवाइन आदि का प्रयोग करना चाहिये। रोग मुक्ति के बाद कुछ समय तक एरण्ड पाक का सेवन पुनरावर्तन निरोध एवं बल संजनन की दृष्टि से उत्तम योग है ।

पूयमेह
Gonorrhoea

पूयमेह गुह्य गोलाणु (Gono cocci) के उपसर्ग से उत्पन्न होने वाला तीव्र स्वरूप का औपसर्गिक विकार है, जिसमें मूत्र के साथ पूय का स्राव एवं मूत्र-प्रजनन संस्थान में शोथ के लक्षण उत्पन्न होते हैं ।

गुह्य गोलाणु का उपसर्ग मुख्यतया उपसृष्ट व्यक्ति के साथ रति-सम्पर्क करने के बाद उत्पन्न होता है । पूय के साथ पर्याप्त मात्रा में गुह्य गोलाणुओं का उत्सर्ग होता है । वस्त्र, रुमाल आदि पूयश्लिष्ट उपकरणों के सम्पर्क से भी कदाचित् इसकी उत्पत्ति हो सकती है । मूत्र संस्थान के अतिरिक्त नेत्रकला, सन्धियाँ, हृदय एवं उदरावरण आदि शरीर के दूसरे अंगों में गुह्य गोलाणु-दोषमयता के कारण शोथ मूलक विकारों की उत्पत्ति होती है । इस रोग का संचय काल ३-७ दिन का होता है ।

इस व्याधि का गोलाणु एक रुग्ण व्यक्ति से दूसरे स्वस्थ व्यक्ति में प्रसरित होता है । स्राव के साथ उत्सर्गित होने पर अधिक काल तक शरीर से बाहर जीवित नहीं रह सकता । इसी कारण इसका संक्रमण साक्षात सम्पर्क के बिना नहीं हुआ करता ।

लक्षण—

गुह्य गोलाणु का उपसर्ग होने के ३-७ दिन बाद मूत्र द्वार पर पतला लसदार पूय लगा हुआ सा मालूम पड़ता है । पूय की मात्रा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है और बाद में गाढ़ा हल्के हरे या पीले रंग का पूय मूत्र मार्ग से निरन्तर उत्सर्गित होता रहता है । मूत्र मार्ग की श्लेष्मल कला क्षोभयुक्त तथा रक्त वर्ण की हो जाती है । रोगी को मूत्र त्याग के समय मूत्र की अम्ल प्रतिक्रिया के कारण अत्यधिक जलन एवं वेदना होती है । इस व्याधि के लक्षण प्रसार की दृष्टि से ३ वर्गों में बाँटे जा सकते हैं ।

१. प्रारम्भिक उपसर्ग के परिणाम—मूत्रमार्ग शोथ, स्त्रियों में गर्भाशय ग्रीवा शोथ तथा प्रजननेतर अंगों में—नेत्र कला आदि में—शोथ मूलक विकार होते हैं ।

२. स्थानिक प्रसार के परिणाम—पुरुषों में पौरुष ग्रंथि शोथ (Prostatitis), अधि वृषण शोथ (Epididymitis), शुक्राशय शोथ (Vesiculitis) तथा मूत्र मार्ग के परिसरीय अंगों में शोथ आदि लक्षण; स्त्रियों में बीजवाहिनी शोथ (Salpingitis) तथा बीज ग्रंथि शोथ (Salpingo-oophritis) और मूत्राशय

शोथ दोनों में हो सकता है। स्त्रियों में स्थानीय उदरावरण कला में प्रसार होने पर अधिश्रोणि उदरावरण शोथ (Pelvic peritonitis) के लक्षण मिलते हैं। उपसर्ग के दीर्घकालीन परिणामों के रूप में बीजवाहिनी कोष में अवरोध, निकट के अंगों के साथ संलग्नता और वन्ध्यात्व के उपद्रव होते हैं। पुरुषों में मूत्र मार्गावरोध (Stricture of urethra), ऊर्ध्वगामी गवीनी मुख शोथ (Pyelitis) आदि विकार होते हैं।

३. गुह्यगोलाणु दोषमयता (Gonococcal septicaemia) के परिणाम—अन्तः हृच्छोथ (Endocarditis), तारामण्डल शोथ (Iritis), सन्धि शोथ (Arthritis), पेशी शोथ (Myositis) तथा अस्थिकला शोथ (Periostitis), जीर्ण ज्वर आदि विकार उत्पन्न होते हैं। पूयमयता के कारण इन अधिष्ठानों में पूययुक्त विकार उत्पन्न होते हैं, जिनके स्राव में गुह्य गोलाणु मिल सकते हैं।

प्रायोगिक परीक्षा—

पूय स्राव की परीक्षा करने पर गुह्य गोलाणु, वृक्क की आकृति के दो जीवाणु आमने सामने, एक कोषा के भीतर मिलते हैं। यह ग्राम त्यागी (Gram negative) होते हैं। प्रायः बहुकेन्द्रिय श्वेतकायाणु के भीतर मिला करते हैं। स्राव में बहुकेन्द्रिय श्वेतकायाणु बहुत अधिक संख्या में तथा उपसिप्रिय अल्प संख्या में मिलते हैं। पूयमयता या दोषमयता की स्थिति में रक्त में बहुकेन्द्रिय श्वेतकणमयता मिलती है।

सापेक्ष निदान—

गुह्य गोलाणु के अतिरिक्त पूयजनक मालागोलाणु या स्तबक गोलाणु तथा पूय दण्डाणु के विकारों से भी मूत्र मार्ग में शोथ तथा पूय का उत्सर्ग सम्भव है, किन्तु अवैध रति सम्पर्क के इतिवृत्त तथा विशिष्ट स्वरूप के पूय के कारण निदान में अधिक बाधा नहीं होती।

रोग विनिश्चय—

अवैध मैथुन का इतिवृत्त, उपसर्ग के ३–७ दिन के भीतर मूत्रोत्सर्ग में दाह तथा मूत्र द्वार से विशिष्ट प्रकार के पूय का स्राव तथा पूय की ग्राम रंजन से परीक्षा करने पर ग्राम त्यागी अन्तः कोषीय युग्म रूप में गुह्य गोलाणुओं की उपस्थिति से रोग का निर्णय किया जाता है।

उपद्रव तथा अनुगामी विकार—

इस उपसर्ग की मूत्र-प्रजनन अंगों में ऊर्ध्वगामी प्रसार की विशेषता होती है, जिससे दोष के अधिष्ठान भेद से अनेक उपद्रव तथा उत्तरकालीन विकार उत्पन्न होते हैं।

तीव्र बाह्य मूत्र-स्रोतः शोथ (Acute ant. urethritis)—मूत्रोत्सर्ग में दाह तथा पीडा, निरन्तर पूय का स्राव, मूत्र-मार्ग का अवरोध तथा स्त्रियों में योनि-गुहा में शोथ तथा रक्तवर्णता होती है।

तीव्र अन्तः मूत्र स्रोतः शोथ (Acute post urethritis)—बार-बार मूत्रोत्सर्ग की इच्छा तथा मूत्र रोकने के सामर्थ्य का ह्रास, मूत्रोत्सर्ग के समय वंक्षण-श्रोणिगुहा-सीवनी तथा बाह्य मूत्र स्रोत में वेदना तथा अवरोध का अनुभव—विशेष कर मूत्रोत्सर्ग के अन्त में—तथा बलपूर्वक मूत्रोत्सर्ग की प्रवृत्ति, अत्यधिक वेदना के साथ मूत्र में अल्प मात्रा में रक्त का उत्सर्ग आदि लक्षणों की उपस्थिति से आन्तरिक मूत्रस्रोत के आक्रान्त होने का अनुमान होता है। यह अवस्था उपसर्ग के ७ से १४ दिन बाद उत्पन्न होती है और प्रायः २-३ मास बाद इसकी जीर्ण अवस्था उत्पन्न होती है।

जीर्ण अन्तः मूल स्रोतः शोथ (Chronic post urethritis)—मूत्रोत्सर्ग में अवरोध या रुक-रुक कर मूत्र प्रवाह, मूत्र द्वार से पतले पूय का उत्सर्ग, उदर तथा श्रोणिगुहा में संवाहित (Reflex) स्वरूप की वेदना तथा बेचैनी का अनुभव और शुक्रमेह एवं धातु दौर्बल्य के लक्षण जीर्णता होने पर उत्पन्न होते हैं। पुरुषों में पूयमेह का प्रकोप चिरकालीन हो जाने पर २ ग्लास परीक्षा से भी निर्णय में सहायता मिलती है। रोगी को २ स्वच्छ काँच के ग्लासों में मूत्र त्याग कराने पर यदि प्रथम ग्लास में—जिसमें मूत्र पहले त्यक्त किया गया है—गंदलापन या पूय संमिश्रण हो तो रोग की तीव्रावस्था का परिचय मिलता है तथा चिरकालीन अवस्था में दोनों ग्लास के मूत्र में तागे के समान छोटे-छोटे सूत्र के टुकड़े से फैले हुए दिखाई पड़ेंगे।

पौरुष ग्रन्थि शोथ (Prostatitis)—मूत्रोत्सर्ग के समय मूत्र स्रोत में अधिक वेदना के साथ सीवनी (Perinium) तथा कटि प्रदेश में तनाव और मन्द स्वरूप की वेदना होती है। कभी-कभी शीत एवं कम्प के साथ ज्वर भी हो जाता है।

अधिवृषण शोथ (Epididymitis)—अधिवृषण शोथ एवं वेदना युक्त हो जाता है। ऊपर की त्वचा रक्त वर्ण की तथा शुक्रवाहिनी एवं वृषण में भी शोथ का प्रसार होने पर उदर में तनाव का अनुभव, चलने-फिरने में वृषण के हिलने से वेदना की वृद्धि आदि लक्षण होते हैं। इनके अतिरिक्त मूत्राशय शोथ, स्त्रियों में बीजवाहिनी एवं बीज ग्रन्थि शोथ, श्रोणि गुहागत शोथ (Pelvic inflammation), उदरावरण शोथ, संधिशोथ, पीडाकर ध्वज हर्ष (Priapism), मूत्र स्रोत का संकोच (Stricture) आदि अनेक उपद्रव हो सकते हैं। आज कल सफल औषधियों के प्रभाव से पूर्वापेक्षा उपद्रव कम मिलते हैं।

साध्यासाध्यता—

यह कोई घातक व्याधि नहीं है, किन्तु प्रारम्भिक अवस्था में थोड़ी भी असावधानी—जैसा कि गुह्य रोग होने के कारण रोगी के छिपाने तथा घरेलू उपचार करते रहने से प्रायः होती ही रहती है—से जीवन भर के लिए व्याधि का कोई न कोई उपद्रव पुरानी स्मृतियों की याद दिलाता रहता है।

चिकित्सा—

सामान्य—मूत्र द्वार को गुनगुने नमक के पानी से साफ कर या थोड़ी देर तक डुबो कर रखना चाहिये। स्त्रियों में नमक के गरम जल में रुई भिगो कर सेंक व प्रक्षालन हितकर होता है। पूय स्राव की भली प्रकार सफाई रखना आवश्यक है अन्यथा हाथ या किसी वस्त्र के द्वारा नेत्र, मुख या दूसरे क्षतांगों में पूयजनक उपद्रव हो सकते हैं।

औषध चिकित्सा—

पूयमेह में प्रतिजीवी वर्ग की ओषधियों तथा शुल्बौषधियों का व्यापक प्रभाव होता है। उचित समय से इनका पूर्ण मात्रा में प्रयोग करने पर पूर्ण रूप में लाभ हो जाता है। शरीर के गम्भीर अंगों में गुह्यगोलाणु का प्रसार हो जाने पर बड़ी जटिलता उत्पन्न होती है। इस जीवाणु की सर्वाधिक विशेषता भीतरी कोषाओं में छिपे रहने की होती है, जहाँ पर इन ओषधियों का उचित मात्रा में संकेन्द्रण नहीं होता। इसलिये चिकित्सा का प्रारम्भ और पूरी मात्रा में प्रयोग व्याधि की तीव्रावस्था में ही प्रारम्भ कर देना चाहिये। कभी-कभी पूयमेह के साथ फिरंग का उपसर्ग भी होता है। यद्यपि फिरंग व पूयमेह दोनों में ही पेनिसिलीन के प्रयोग से लाभ होता है, किन्तु फिरंग की चिकित्सा में पेनिसिलिन के मध्यमसंकेन्द्रण वाले विशिष्ट योग बहुत लम्बे समय तक प्रयुक्त होते हैं। पूयमेह की चिकित्सा में पेनिसिलीन का अधिक मात्रा में थोड़े समय तक प्रयोग किया जाता है। इसलिये चिकित्सा प्रारम्भ करने के पूर्व फिरंग की उपस्थिति के लिये सावधानी पूर्वक अनुसंधान करना चाहिये तथा फिरंग के सह उपसर्ग का सन्देह होने पर चिकित्सा कार्य में पेनिसिलिन का प्रयोग न कर शुल्बौषधियों का ही विधिवत प्रयोग कराना चाहिये। जिन क्षेत्रों में पूयमेह तथा फिरंग काफी संख्या में मिलता हो वहाँ निम्नलिखित चिकित्सा क्रम अधिक उपयोगी माना जाता है।

प्रारंभिक मात्रा पी० ए० एम० (Penicillin aluminium monostearate) की ६ लाख यूनिट की मात्रा पेशी मार्ग से देकर ५–७ दिन तक स्ट्रेप्टोमायसीन आधा ग्राम की मात्रा में पेशीमार्ग से १२ घण्टे के अन्तर पर दिन में २ बार और साथ में सल्फाथियाजोल की २ टिकिया दिन में ४ बार ५–७ दिन तक देना। रक्त की परीक्षा ३ मास तथा ६ मास के अन्तर पर २ बार वासरमैन तथा कान (W. R, & Kahn's) की परीक्षा के लिए कराना चाहिए।

इन परीक्षाओं के अनुपस्थित रहने तथा फिरंग के दूसरे लक्षण न उत्पन्न होने पर दूसरी पूयमेह नाशक ओषधियाँ या पेनिसिलिन का पर्याप्त मात्रा में उपयोग किया जा सकता है। किन्तु पी० ए० एम० के रूप में पेनिसिलिन की मात्रा अपर्याप्त होती है। इससे एक बार लक्षणों का उपशम होकर सक्षम जीवाणुओं की वृद्धि हो सकती है। इस दृष्टि से फिरंग का संदेह होने पर पेनिसिलिन का प्रयोग न करके शुल्बौषधियों तथा दूसरी प्रतिजीवी वर्ग की ओषधियों का प्रयोग किया जाना चाहिए।

टेरामाइसिन, टेट्रासाइक्लिन, एरेथ्रोमाइसिन तथा लेडरमाइसिन आदि विशाल क्षेत्रक प्रतिजीवी वर्ग की ओषधियाँ भी पूयमेह में शीघ्र प्रभावकारी होती हैं। पूर्ण लाभ की दृष्टि से इन ओषधियों का पूरक सहयोग निम्नलिखित क्रम से लेना चाहिये।

शुल्वौषधियाँ—सल्फाथियाजोल, सल्फाडायजिन, एल्कोसिन, इर्गाफेन, गैन्ट्रोसिन, सल्फामेजाथिन, गोनाजोल आदि में से किसी का प्रयोग, प्रारम्भिक मात्रा २ टिकिया, बाद में एक टिकिया प्रति ४ घण्टे पर आठ दिन तक, बाद में ६ घण्टे पर ४ दिन तक देना चाहिये। शुल्वौषधियों के साथ में उचित मात्रा में सोडा बाई कार्ब तथा पर्याप्त जल का प्रयोग कराना आवश्यक है। सल्फाथियाजोल की मात्रा २ गोली प्रति ४ घण्टे पर देनी चाहिये।

पेनिसिलिन—क्रिस्टलाइन पेनिसिलिन ५ लाख यूनिट की मात्रा में प्रति ८ घण्टे पर ५ दिन तक या प्रोकेन पेनिसिलिन ३ लाख + क्रिस्टलाइन पेनिसिलीन १ लाख १२ घण्टे के अन्तर पर ५ दिन तक, बाद में प्रोकेन पेनिसिलिन प्रति दिन एक बार ५ दिन तक और अन्त में पेनिड्योर (Penidure) या डायमिडिन पेनिसिलिन का एक सूचीवेध देना चाहिये। इस प्रकार ११ दिन चिकित्सा चलती है।

उक्त प्रयोग से पूर्ण लाभ हो जाता है। किन्तु आज कल पेनिसिलिन का अव्यवस्थित क्रम से बहुत व्यापक प्रयोग होने के कारण जीवाणु पेनिसिलिन के प्रति प्रायः सक्षम होते जा रहे हैं। लक्षणों की पुनरावृत्ति या पुनरुपसर्ग का सन्देह होने पर आइलोटाइसिन (Ilotycin) एवं शुल्वौषधियों का संयुक्त प्रयोग करना चाहिये।

एरिथ्रोमाइसिन या आइलोटाइसिन (Ilotycin)—१०० मि० ग्रा० प्रातः शाम पेशीगत सूचीवेध के द्वारा ६ दिन तक, साथ में २०० मि० ग्रा० आइलोटाइसिन तथा २ गोली सल्फाथियाजोल दिन में ३ बार ८ दिन तक मुख द्वारा देना चाहिये।

टेट्रासाइक्लिन एवं टेरामाइसिन (Tetracyclin & Terramycin)—२५० मि० ग्रा० प्रति ४ घण्टे पर ४ दिन तक, ६ घण्टे पर तीन दिन तक कुल ३६ मात्रा की अपेक्षा होती है।

ऊपर बतायी हुई सभी ओषधियाँ गुह्यगोलाणु के उपसर्ग में स्थायी लाभ करती हैं। किन्तु जीर्ण अवस्था में गुह्यगोलाणुओं के गम्भीर अंगों में छिप जाने से इन ओषधियों का अंगों में उचित संकेन्द्रण न पहुँच सकने के कारण पूरा लाभ नहीं हो पाता और बार-बार इन ओषधियों का प्रयोग करने से जीवाणु भी सक्षम होते जाते हैं। इसलिये व्याधि के पुनरावर्तन में प्रयोज्य ओषधि में भी परिवर्तन करना चाहिये तथा जीर्ण रोगियों में प्रतिजीवी वर्ग की ओषधियों की अपेक्षा भौतिक उपचारों का मुख्य सहारा लेना चाहिये।

जीर्ण विकारों का उपचार—

व्याधि की जीर्णावस्था में उपसर्ग के भिन्न-भिन्न अधिष्ठान हो सकते हैं। इन सब की औषधि-चिकित्सा समान होने पर भी स्थानीय उपचार अलग-अलग किये जाते हैं।

संताप चिकित्सा—

पूयमेह का गोलाणु १०४° से अधिक तापक्रम में जीवित नहीं रहता। इस आधार पर स्थानीय एवं सार्वदेही रूप में १०४–१०५ तक संताप की उत्पत्ति की जाती है।

स्थानीय-उष्णकटि स्नान—इससे शरीर के भीतरी अंगों में ताप की अधिक वृद्धि नहीं हो पाती, केवल बाहरी अंगों में ही तापाधिक्य होता है। इसके साथ में उष्णजल की बस्ति देने से कुछ लाभ होता है।

डायथर्मी (Diathermy or Inductothermy)—बिजली की लघु तरंगों द्वारा आन्तरिक अंगों में पर्याप्त ऊष्मा पहुँचायी जा सकती है। पौरुष ग्रन्थि शोथ, मूत्राशय शोथ, गर्भाशय शोथ तथा बीजवाहिनी एवं बीजग्रन्थियों के शोथ में इससे पर्याप्त लाभ होता है। प्रति दूसरे या तीसरे दिन दस मिनट से आधा घण्टा तक, सहन शक्ति के अनुसार, पन्द्रह-बीस बार सेंक करना चाहिये।

विजातीय प्रोभूजिन चिकित्सा (Foreign protein therapy)—विजातीय प्रोभूजिनों के प्रयोग से ताप की वृद्धि शारीरिक प्रतिक्रिया के कारण होती है। हृद्रोग एवं दूसरे जीर्ण विकारों से पीड़ित दुर्बल रोगियों में इसका प्रयोग न करना चाहिए। मुख्य रूप से टी० ए० बी० मसूरी (T. A. B. Vaccine) का प्रयोग सिरा मार्ग से किया जाता है। जीवाणुओं की संख्या का प्रति सी० सी० मात्रा में उल्लेख रहता है। प्रारंभिक मात्रा २॥–३ करोड़ जीवाणुओं की होती है। उसके बाद प्रति चौथे दिन प्रतिक्रिया के आधार पर मात्रा-वृद्धि करते जाना चाहिए। ज्वर प्रायः शीतपूर्वक आता है और ४-५ घण्टे के बाद स्वतः शान्त हो जाता है। १०४–१०५ अंश तक ज्वर के आने पर मात्रा-वृद्धि नहीं की जाती तथा ४–५ मात्राएँ इसी शक्ति की दी जाती हैं। हमेशा सभी रोगियों में एक सी प्रतिक्रिया नहीं होती। प्रत्येक रोगी में औषध की मात्रा का निर्धारण प्रतिक्रिया के आधार पर करना होता है।

इसी प्रकार दुग्ध का सूचीवेध से प्रयोग (Lactolon, siolan or pyrogen & fat free milk) का ५ से १० सी० सी० की मात्रा में पेशी मार्ग से प्रयोग किया जाता है। इन उपचारों से कुछ सहायता मिलती है, व्याधि के उन्मूलन का सामर्थ्य इनमें नहीं होता। जीर्ण पूयमेह के लिए मसूरी का प्रयोग सिरा द्वारा, एक्रीफ्लावीन (Gonocrine etc) के घोल का प्रयोग आदि कई प्रयोग किए जाते हैं, किन्तु इनमें कोई लाभ नहीं होता।

उपद्रवों की चिकित्सा—

मूत्रस्रोत संकोच तथा दूसरे कष्टकारक लक्षण उग्रता के कारण उपद्रव स्वरूप ही होते हैं। कुछ प्रमुख उपद्रवों का उपचार लिखा जा रहा है।

मूत्रस्रोत शोथ—

मुख्य उपचार के अतिरिक्त गरम जल में सोडा बाई कार्ब डालकर सेंक करना चाहिए। निम्नलिखित योग से मूत्रत्याग का कष्ट, दाह, वेदना आदि लक्षण कम हो जाते हैं।

R/		
	Potas citras	gr. 20
	Potas bicarb	gr. 20
	Potas acetas	gr. 20
	Potas bromide	gr. 10
	Tr. belladonna	m. 5
	Tr. hyoscyamus	m. 15
	Syrup rose	dr. 1
	Aqua	oz. 1
		१ मात्रा

दिन में २-३ बार आवश्यकतानुसार।

आहार में मिर्च मसाले तथा अन्य विदाही द्रव्यों का परित्याग तथा कोष्ठशुद्धि रहने पर मूत्रावरोध एवं जलन का आंशिक प्रतिबन्धन होता है।

पौरुष ग्रन्थि शोथ तथा शुक्राशय शोथ—

पुराने विकार में पेनिसिलिन आदि आवश्यक मात्रा में देते हुए पौरुषग्रन्थि का मर्दन (Prostatic massage)—गुदा मार्ग से तर्जनी अँगुली भीतर पहुँचाकर हल्के-हल्के हाथ से पौरुष ग्रन्थि का चारों ओर से मर्दन करना चाहिए। सप्ताह में २ बार कुल १०-११ बार यह क्रिया करने से जीर्ण दोष के शोधन की सम्भावना बढ़ती है तथा छिपे हुए स्थानों से गुह्यगोलाणु भी बाहर आते हैं, जिससे विशिष्ट ओषधियों का उन पर घातक प्रभाव पड़ता है। गुदा मार्ग से डायथर्मी के उपयोग से भी पर्याप्त लाभ होता है।

अधिवृषण शोथ—

प्रायः स्थानीय शीतोपचार करने से लाभ होता है। वेदना की शान्ति के लिए कोडोपायरीन, सिबाल्जिन आदि का प्रयोग किया जा सकता है। आइलोटायसिन, टेरामायसीन को मुख द्वारा २००-२५० मि० ग्रा० की मात्रा में ४ बार ७ दिन तक देना चाहिए। स्थानीय प्रलेप के रूप में निम्न योग का प्रयोग करना चाहिए।

Ext. belladonna	dr. 1
Icthyol	dr. 2
Glycerine	dr. 5
	oz 1

रूई से वृषण पर लेप करके रूई लगाकर पट्टी बाँधना या वृषण को ऊँचा उठाकर लँगोटा बाँधना।

गर्भाशयग्रीवाशोथ (Cervicitis)—

सार्वदैही उपचार के अलावा अर्जिरॉल (Argyrol) के १०% घोल या एक्रोफ्लाविन के १ प्रतिशत ग्लिसरीन के घोल (Acriflavine in glycerine) का गर्भाशय पर प्रलेप दिन में २ बार करना चाहिए। नेबैसल्फ (Nebasulph) तथा सिबाजोल (Cibazole powder) के चूर्ण का योनि गुहा तथा गर्भाशय मुख तक उद्धूलन करने से भी लाभ होता है। इसी प्रकार का उपचार योनि मार्ग के उपद्रवों में भी लाभकर होता है। सोडा बाई कार्ब के उबाले हुए या परिस्रुत जल में बने घोल से शोधन करने के बाद पेनिसिलीन ५ लाख युनिट २० सी० सी० समलवण जल में घोल कर योनिमार्ग का प्रक्षालन करना चाहिए।

पूयमेहज नेत्राभिष्यन्द (Ophthalmianeonatorum)—

पेनिसिलिन का १:१००० से १:१०००० की शक्ति का घोल २-३ बूंद २-२ घण्टे पर ३-४ दिन डालने तथा दूसरे विशिष्ट उपचार करने से लाभ होता है। सिल्वर नाइट्रेट (Silver nitrate—1-2% का घोल भी पर्याप्त लाभ करता है।

सन्धि शोथ—

पूयमेह में इस उपद्रव की भी पर्याप्त प्रधानता होती है। हनुसन्धि शोथ पूयमेह के उपद्रव से ही उत्पन्न होता है। जानु, गुल्फ, मणिबन्ध, स्कन्ध तथा कटि सन्धियों में शोथ होता है। पूययुक्त शोथ के लक्षण होते हैं। मूल व्याधि के १-१॥ मास बाद यह उपद्रव होता है।

पेनिसिलिन तथा शुल्वौषधियों का पूर्ण मात्रा में प्रयोग, स्थानीय स्वेदन एवं उपनाह का प्रयोग तथा सन्धि में पट्टी बाँधकर पूर्ण विश्रामावस्था में रखना चाहिए। इरगापायरीन एवं दूसरी आमवात नाशक ओषधियों के प्रयोग की अपेक्षा नहीं। शोथ के लक्षणों का शमन हो जाने पर तैलाभ्यंग तथा स्वेदन करते हुए सन्धि व्यायाम—सन्धि की स्वाभाविक गति—कराना चाहिए। आमवाताभ सन्धि शोथ (Rheumatoid) से इसका पार्थक्य कभी-कभी बड़ी कठिनाई से हो पाता है। पूयमेहज सन्धि शोथ का उपद्रव पुरुषों में स्त्रियों की अपेक्षा अधिक (१० : १) तथा आमवाताभ सन्धि शोथ स्त्रियों में अधिक होता है।

स्थानीय उपचार—

व्याधि की तीव्रावस्था में स्थानीय उपचार नहीं किया जाता तथा स्त्रियों में भी प्रायः इस तरह के उपचार की (योनिमार्ग एवं गर्भाशय ग्रीवा के अतिरिक्त अङ्गों के लिए) कोई उपयोगिता नहीं होती। बाह्य जननेन्द्रियों की सफाई, हल्के पोटास के या सोडा बाई

कार्ब के घोल से प्रक्षालन आदि, किया जा सकता है। चिरकालीन स्वरूप के पुरुषों के मूत्र स्रोत शोथ के लिए निम्नलिखित क्रम से शोधन की व्यवस्था की जा सकती है—

१. स्राव अधिक आने पर पोटास का हल्का घोल (१ : १००००) १–२ पाइण्ट की मात्रा में उत्तरवस्ति के यन्त्र में भरकर रोगी को खड़ा करके. बस्तियन्त्र की ऊँचाई भूमि से ६' ऊँची रखकर, बस्तिनेत्र को मूत्र द्वार पर रखकर घोल को अपने भार से मूत्रस्रोत में जाने देना चाहिए। आसानी से यह प्रक्रिया की जा सकती है। दिन में २–३ बार ५–७ दिन तक प्रक्षालन करने से स्राव बन्द हो जाता है।

२. स्राव कम तथा उसमें गुह्यगोलाणुओं की संख्या अत्यल्प होने पर पूर्व निर्दिष्ट विधि से पौरुष ग्रन्थि का मर्दन करने के बाद मूत्र त्याग करना चाहिए। मूत्र की राशि बढ़ाने के लिए इस क्रिया के १ घण्टा पूर्व क्षारीय मिश्रण एवं १–१॥ पाव पानी पिलाना चाहिए। मूत्रोत्सर्ग के बाद ग्लिसरीन ४ सी० सी० पिचकारी में लेकर मूत्र मार्ग से प्रविष्ट कराकर जननेन्द्रिय को ऊपर उठाकर, नीचे से ऊपर की तरफ हल्के हाथ से सहलाना चाहिए, जिससे ग्लिसरीन ऊपर की ओर प्रविष्ट हो जाय। सप्ताह में २–३ बार यह क्रिया ३–४ सप्ताह तक की जा सकती है।

निर्देश—

रोगोन्मुक्ति के बाद २–३ मास तक पूर्ण ब्रह्मचर्यपूर्वक रहने का निर्देश होना चाहिए। पुरुष या स्त्री दोनों में किसी के पूयमेहाक्रान्त होने पर दोनों की विधिवत परीक्षा करनी चाहिए तथा सन्देह होने पर दोनों के उपचार की साथ ही व्यवस्था होनी चाहिए। प्रायोगिक परीक्षाओं तथा लाक्षणिक दृष्टि से १–१॥ मास तक जब तक, पूर्ण रूप से रोगमुक्ति का निर्णय न हो जाय, सयम पूर्वक जीवन बिताने की सलाह देना चाहिए। जीर्ण स्वरूप से पूर्ण मुक्ति का निर्णय पौरुष ग्रन्थि स्राव, मूत्रस्रोत स्राव एव गर्भाशय ग्रीवा स्राव के गुह्यगोलाणु रहित होने पर किया जा सकता है।

प्रतिषेध—

इस व्याधि से बचाव का प्रश्न सामाजिक मनोबल का प्रश्न है। उपसृष्ट जन सम्पर्क के बिना यह व्याधि नहीं होती। सच्चरित्रता इसका एकमात्र प्रतिबन्धन का आधार है। अस्तु, ऐसा होना सम्भव नहीं। इसलिए इस प्रकार के सम्पर्क की सम्भावना होने पर साबुन से जननेन्द्रियों की सफाई करके पोटास के घोल (१ : ५०००) से मूत्रस्रोत को धोकर प्रोटार्गल (२%) के घोल को मूत्रस्रोत में २०–३० बूँद प्रविष्ट कराकर ५–७ मिनट तक रोकना चाहिए। स्त्रियों में भी इसी प्रकार योनि मार्ग का शोधन करना चाहिए। सल्फाडायजीन या सल्फाथियाजोल की १ टिकिया ४ बार ७ दिन तक लेना चाहिए।

अनैतिक व्यवसाय में संलग्न स्त्रियों के स्वास्थ्य की—विशेषकर प्रजननांगों की—विधिवत परीक्षा तथा उचित उपचार करने से भी बहुत कुछ अंशों में प्रतिबन्धन हो सकता है।

फिरंग

Syphilis

उपसृष्ट व्यक्ति के साथ रति सम्पर्क करने पर फिरंग चक्राणु का प्रजननेन्द्रियों की श्लेष्मल कला या व्रणित त्वचा के द्वारा शरीर में प्रवेश होने के बाद व्यापक स्वरूप का विकार उत्पन्न होता है, जिससे प्रजननेन्द्रिय पर कठिन प्राथमिक व्रण (Hard chancre), सम्बद्ध लसग्रन्थियों की वृद्धि तथा अनेक प्रकार की दीर्घकालानुबन्धी सर्वाङ्गव्यापी विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं। माता या पिता के इस रोग से आक्रान्त होने पर सन्तति में भी इस रोग का संक्रमण होता है।

चक्राणु के रति सम्पर्क के समय प्रजननेन्द्रियों के माध्यम से शरीर के भीतर प्रविष्ट होने के बाद दस दिन से ९० दिन तक का—प्रायः ३-४ सप्ताह तक का—सञ्चयकाल होता है। आरम्भिक लक्षणों के रूप में चक्राणुओं के प्रवेश स्थल पर छोटा सा उत्कर्णिक विस्फोट (Papular rash) उत्पन्न होता है, जो धीरे-धीरे बढ़कर गोल या अण्डाकृतिक आकार में १-२ से० मी० परिधि का हो जाता है। विस्फोट प्रायः संख्या में एक—कभी-कभी एक साथ दो तीन की संख्या में भी—जननेन्द्रिय की त्वचा के नीचे बटन के समान कठिन दाने के रूप में होते हैं। इसमें कण्डू या वेदना का कोई कष्ट नहीं होता। पुरुषों में शिश्न मुण्ड (Glans penis) या शिश्नावरण (Prepuce) पर और स्त्रियों में भगोष्ठ (Labia) या गर्भाशयग्रीवा (Cervix) पर उत्पन्न होता है। इसका परिज्ञान देखने की अपेक्षा स्पर्श से अधिक स्पष्ट होता है। हाथ के नीचे बटन के समान कड़ी वेदनाहीन रचना का अनुभव होता है। कुछ समय बाद इसके ऊपर की त्वचा के नष्ट हो जाने से व्रण की उत्पत्ति होती है और इस व्रण से निरन्तर स्वल्प मात्रा में लसिकाभ (Serous) स्राव निकलता रहता है तथा वंक्षण की लस-ग्रन्थियों की वृद्धि होती है। इन लसग्रंथियों में दबाने से कोई पीड़ा नहीं होती। प्रायः दस पन्द्रह दिन के बाद इस प्राथमिक व्रण का धीरे-धीरे स्वतः रोपण हो जाता है। इसके बाद चक्राणुओं का आन्तरिक अङ्गों में प्रवेश हो जाता है। एक बार इस व्याधि से उपसृष्ट होने के बाद रोगी प्रारम्भिक दिनों में पूरी तौर से चिकित्सा न कराने पर जीवन भर किसी न किसी उपद्रव से पीड़ित रहता है तथा उसकी मृत्यु का कारण इसी व्याधि का कोई दीर्घकालीन परिणाम ही होता है। इस चक्राणु के उपसर्ग के कारण शरीर के भिन्न-भिन्न अङ्गों में व्याधि के विशिष्ट काल के बाद क्रम से विकार के लक्षण उत्पन्न होते हैं। इन्हीं स्थानगत, काल प्राप्त विशेषताओं के आधार पर, फिरङ्ग की ४ अवस्थायें मानी जाती हैं। वास्तव में इन अवस्थाओं की अलग-अलग कोई सीमा या मर्यादा नहीं है। किन्तु एक वर्ग के लक्षणों की विशिष्टता के आधार पर इन अवस्थाओं का पार्थक्य किया जाता है।

रति सम्पर्क के माध्यम से ही इसका संक्रमण होता है, किन्तु स्वल्प संख्यक

रोगियों में दूसरे माध्यमों से भी इसका प्रसार सम्भव है। फिरंग की प्रथम-द्वितीय-तृतीय अवस्था के लक्षणों से पीड़ित व्यक्तियों का रक्त दूसरे स्वस्थ व्यक्तियों में पहुँचने के बाद उनमें भी फिरंग का उपसर्ग पाया गया है तथा प्राथमिक व्रण से निकलने वाले लसिका स्राव से दूषित वस्त्रादि का क्षतयुक्त त्वचा से सम्पर्क होने पर फिरंग का संक्रमण हो सकता है। प्राथमिक व्रण का लसिका-स्राव हाथ की अङ्गुलियों में लगकर ओष्ठ के विदारों से बच्चे या दूसरे व्यक्तियों में संक्रमित हो सकता है। कुछ रोगियों में अवैध मार्गों से रति कर्म करने (मुख आदि) से भी जननेन्द्रियातिरिक्त अङ्गों में—ओष्ठ, जिह्वा आदि में—प्राथमिक व्रण उत्पन्न हो सकता है। उपसृष्ट व्यक्ति की संक्रामकता उत्तरोत्तर कम होती जाती है। प्रायः २–३ वर्ष बाद संक्रमण की सम्भावना नगण्य सी रहती है। किन्तु इस अवस्था में भी शुक्र के साथ सन्तति में फिरंग का प्रसार हो सकता है और बालक में आगे चलकर फिरङ्ग की उत्पत्ति हो सकती है। सभी ऋतुओं, सभी देशों एवं समस्त मानव जाति में इसकी समान रूप से संक्रामकता होती है। जिस समाज में फिरङ्ग का अधिक प्रसार है, उनमें इसके गम्भीर एवं व्यापक लक्षण कम उत्पन्न होते हैं। किन्तु नवागन्तुक व्यक्ति में संक्रमण होने पर प्रतिकारक शक्ति के अभाव के कारण उग्र स्वरूप के लक्षण पैदा होते हैं। पुरुष की अपेक्षा स्त्रियों द्वारा व्याधि का संक्रमण अधिक काल तक हो सकता है। फिरङ्ग पीड़ित स्त्री में गर्भ-धारणा होने पर गर्भ स्राव या गर्भपात हो जाता है। प्रायः प्रथम एक दो गर्भ-धारणाओं में गर्भ-स्राव (३ मास के पूर्व ही गर्भ-नाश), बाद की २–३ गर्भ-धारणाओं में गर्भपात तथा इसके बाद भी गर्भ-धारणा होने पर मृत शिशु का जन्म होता है। इस प्रकार व्याधि की घातकता उत्तरोत्तर कम होती जाती है और अन्त में स्वस्थ, किन्तु फिरङ्ग से उपसृष्ट, बालक का जन्म होता है, जो कुछ काल के बाद सहज फिरङ्ग के लक्षणों से ग्रस्त हो जाता है। पुरुष के द्वारा सन्तति में फिरंग के संक्रमण की सम्भावना ४–५ वर्ष के बाद प्रायः नहीं रहती। स्वस्थ गर्भिणी स्त्री में गर्भावस्था के छठे मास के पूर्व फिरंगोपसृष्ट पुरुष से सम्पर्क होने पर अपरा के माध्यम से गर्भस्थ शिशु में संक्रमण होता है।

इस प्रकार फिरंग पीड़ित रोगियों में २ वर्गों के रोगी होते हैं। फिरंगोपसृष्ट माता-पिता से उत्पन्न बालक, जिनमें व्याधि का संक्रमण रज-बीज या अपरा के माध्यम से, उनके जन्म के पूर्व ही, हो जाता है तथा दूसरे वर्ग के रोगी वे हैं जिनमें जन्म के बाद उपसृष्ट व्यक्ति के सम्पर्क से फिरंग की प्राप्ति होती है। अर्थात् प्रथम वर्ग के रोगी सहज—(Congenital)—फिरंग दोष के साथ उत्पन्न और दूसरे वर्ग के रोगी जन्मोत्तर फिरंग (Aquired) श्रेणी के होते हैं।

सहज फिरंग (Congenital syphilis)—

माता में गर्भस्राव—गर्भ पात-मृत शिशु प्रसव (Still birth) अथवा अनेक

सन्ततियों की बाल्यावस्था में ही मृत्यु का इतिहास आदि की उपलब्धि से माता के फिरंग पीड़ित होने का अनुमान होता है।

बाल्यावस्था में २ वर्ष की आयु में सहज फिरंग में प्राथमिक अवस्था के अलावा शेष लक्षण जन्मोत्तर काल के फिरंग की अवस्थाओं के समान होते हैं। प्रथम २ वर्ष की अवस्था तक फिरंग की द्वितीयावस्था के लक्षण मिलते हैं। नितम्ब हस्त-पाद तल तथा शाखाओं के आकुञ्चक पृष्ठ (Flexor aspect) पर ताम्रवर्ण के विस्फोटों की उत्पत्ति होती है। पीनस या नासा स्राव (Snuffles), अत्यधिक शोष (Marasmus) आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसके बाद भी जीवित रहने पर ४-५ वर्ष तक प्रायः कोई नवीन लक्षण नहीं उत्पन्न होते।

६-७ वर्ष की अवस्था में स्थायी दन्तोद्गम होने पर ऊर्ध्व मध्य कर्तनक (Central incisors) दन्तों में विशेष प्रकार की विकृति होती है। दोनों तरफ के दाँत एक दूसरे से कुछ दूरी पर, खूंटी के आकार के, मूल पतला तथा अग्र अर्ध चन्द्राकार—बीच में कटा हुआ सा होता है। इस प्रकार के दाँतों को हचिनसन के दाँत (Hutchinson's teeth) कहते हैं। इसके बाद १४ वर्ष तक फिर कोई नवीन लक्षण नहीं उत्पन्न होते। १४-१५ वर्ष की आयु में सन्धिकला शोथ (Synovitis), अस्थ्यावरण शोथ (Periosteitis), बाधिर्य, अन्तरालीय स्वच्छ मण्डल शोथ (Interstitial keratitis) आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। आयु की वृद्धि के साथ उत्तरोत्तर अस्थियों के लक्षण स्पष्ट होते जाते हैं। अवनत नासा सेतु (Depressed nasal bridge), निश्छिद्रित तालु (Perforated palate), सिर-कपाल की अस्थियों का उभाड़दार होना, सन्धियों में पीड़ा रहित शोथ, अन्तः जंघास्थि की खड्ग के समान आकृति आदि अनेक स्थायी विकार उत्पन्न होते हैं। संक्षेप में माता में गर्भपात का इतिहास, शैशवावस्था में नितम्ब हस्त-पाद तल आदि में ताम्र वर्ण के विस्फोट, पीनस, नेत्र में स्वच्छ मण्डल शोथ, हचिन्सन के दाँत, कपालास्थियों की चतुष्कोणाकृति एवं अधिक उभाड़दार विकृति, निश्छिद्रित तालु तथा अवनत नासासेतु आदि लक्षणों के आधार पर सहज फिरंग का अनुमान किया जाता है।

प्रायोगिक परीक्षण—

प्रथम ४-५ वर्ष की आयु तक रक्त परीक्षा में (W. R. या Kahn's) परीक्षाएँ अस्त्यात्मक परिणामवाली होती हैं, किन्तु वय के बढ़ने पर प्रायोगिक परीक्षाओं से निदान में कोई विशेष सहायता नहीं मिलती।

जन्मोत्तर फिरंग (Aquired syphilis)—

प्रथमावस्था के लक्षण—

उपसर्ग के प्रायः ३-४ सप्ताह बाद प्रजननेन्द्रिय की त्वचा या श्लेष्मल कला पर विशेष प्रकार की बटन के समान कड़ी ग्रन्थि सी उत्पन्न होती है, जो स्पर्श से अधिक

स्पष्ट प्रतीत होती है। इसमें वेदना या पीडनाक्षमता नहीं होती। विस्फोट प्रारंभ में कर्णिक स्वरूप का (Papular), बाद में भूरे से लाल रंग का, स्पर्श में कठिन ग्रन्थि के समान, जिसके बीच में छिछलापन-सा रहता है, उत्पन्न होता है। विस्फोट की आकृति गोल अण्डाकार, परिधि प्रायः एक-दो सेण्टीमीटर की, स्पर्श में कठोर, किनारे त्वचा के साथ संलग्न (Indurated) तथा शिथिल त्वचा में सुविधापूर्वक स्थानान्तरित किया जा सकने वाला होता है। इसकी ऊपरी सतह की त्वचा धीरे-धीरे व्रणित होने लगती है तथा ऊपर से रोहिणी के समान भूरे रंग की झिल्ली-सी उत्पन्न हो जाती है। व्रण बनने पर पतला सा स्वल्प मात्रा में स्राव निकलता रहता है। इससे रक्त या पूय का स्राव प्रायः नहीं होता। इस व्रण का मूल स्पर्श में अत्यधिक कठोर होता है, इसलिये इसे कठोर व्रण (Hard chancre) तथा अनुसन्धान कर्ता के नाम पर Hunterian chancre कहते हैं।

प्रजनेन्द्रिय से सम्बद्ध वंक्षणीय लस-ग्रन्थियाँ बढ़ी हुई तथा स्पर्श में बन्दूक के छर्रे के समान कठोर होती हैं। कभी-कभी प्रारम्भिक व्रण से द्वितीयक उपसर्गों का प्रसार लस-ग्रन्थियों में हो जाने के कारण उनका स्वरूप बद (Bubo) की तरह पूययुक्त-सा हो जाता है। लस-ग्रन्थियाँ व्रण के समान ही वेदनाहीन तथा असम्पृक्त स्वरूप की होती हैं।

प्रारम्भिक व्रण के स्राव की सूक्ष्म दर्शक से परीक्षा करने पर फिरंग चक्राणु की उपलब्धि (Dark field illumination से) हो सकती है।

द्वितीय अवस्था—

उपसर्ग के ३ मास उपरान्त इस अवस्था का प्रारम्भ होता है। रक्ताल्पता, विशेष प्रकार के विस्फोट, लस-ग्रन्थियों की व्यापक वृद्धि तथा श्लैष्मिक कला एवं अस्थियों में विशेष प्रकार की विकृति के लक्षण इस अवस्था में मुख्य रूप से होते हैं।

रक्ताल्पता—फिरंग की द्वितीय अवस्था में रक्ताल्पता एक महत्त्वपूर्ण लक्षण है, जिसके कारण दौर्बल्य, शिरःशूल, पाण्डुता आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। आमाशय एवं यकृत में फिरंगजन्य विकृति के कारण रक्ताल्पता का लक्षण उत्पन्न होता है।

विस्फोट—फिरंग के कारण रक्ताभ धूसर वर्ण या ताम्रवर्ण के विस्फोट व्यापक रूप में, शरीर के दोनों पार्श्वों के समस्त स्थानों में, निकलते हैं। विस्फोटों की अनेक अवस्थाएँ एक ही समय में शरीर के भिन्न-भिन्न भागों में मिल सकती हैं। विस्फोट कण्डुविरहित होते हैं। सबसे प्रथम इनकी उत्पत्ति मध्य शरीर के पार्श्व में होती है। उसके बाद ललाट, शाखाओं के आकुञ्चक पृष्ठ, नितम्ब, वक्ष, पृष्ठ एवं उदर आदि अंगों पर निकलते हैं। प्रारम्भ में इनका स्वरूप वर्णिक (Macular) तथा कुछ समय बाद कर्णिक (Papular) और बाद में पूययुक्त (Pustular) आदि रूपों में परिवर्तित हो जाता है।

गलतोरणिका (Fauces), गलशुण्डिका (Uvula), मृदु-तालु (Soft palate), तुण्डिकेरी (Tonsills) एवं ओष्ठ आदि अंगों की श्लेष्मलकला पर धूसर या श्वेत वर्ण के धब्बे उत्पन्न होते हैं।

मृदु-तालु, तुण्डिकेरी एवं ग्रसनिका (Pharynx) के दोनों पार्श्वों में रुधिर वर्ण के धब्बे मिलते हैं तथा कण्ठ में शुष्कता, रूक्षता तथा निगलने में स्वल्प वेदना का अनुभव होता है।

द्वितीयावस्था के प्रारम्भ में विस्फोटों की उत्पत्ति के साथ मध्यमस्वरूप का ज्वर, सर्वांग वेदना, बेचैनी, दौर्बल्य, शिरःशूल—विशेषकर सायंकाल अधिक बढ़ने वाला—गलशोथ (Sore throat) आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। निर्बलता एवं मानसिक दुश्चिन्ता एवं ज्वरादि उपद्रवों के कारण रोगी पर्याप्त बेचैन रहता है। मुख के कोण तथा दूसरे स्थानों की श्लेष्मल कला पर श्लैष्मिक धब्बे (Mucous patches) उत्पन्न होते हैं। वर्णयुक्त या व्रणित विस्फोट, त्वचा एवं श्लेष्मल कला की सन्धि पर तुण्डार्बुद (Condyloma) की उत्पत्ति, तालू पर आड़े-तिरछे व्रण तथा सिर एवं दूसरे अवयवों से रोमों का नाश (Alopecea) तथा लस ग्रन्थियों की व्यापक रूप में वृद्धि भी होती है। बढ़ी हुई लस ग्रन्थियाँ कठोर, वेदना रहित, पृथक्-पृथक् और निकट के अवयवों से असंलग्न होती हैं। तारा मण्डल शोथ, नखमूल शोथ, अस्थ्यावरण शोथ, संधिकला शोथ तथा यकृत एवं प्लीहा की वृद्धि आदि लक्षण भी उत्पन्न होते हैं। अस्थियों में, विशेषकर शाखाओं में, रात्रि में अधिक वेदना होती है। विस्फोट, लसग्रन्थियों की वृद्धि तथा बालों के गिरने से और पाण्डुता-रक्ताल्पता आदि के कारण रोगी की आकृति बहुत बदल जाती है।

तृतीयावस्था—

उपसर्ग के तीन वर्ष बाद यह अवस्था प्रारम्भ होती है। इस अवस्था में विकृतियाँ संख्या में अल्प, ग्रन्थिक स्वरूप की तथा दोनों पार्श्व के भिन्न-भिन्न स्थानों में निकलती हैं। इस अवस्था की मुख्य विकृति गोंदार्बुद (Gumma) की उत्पत्ति है। मटर के समान, वेदना रहित, साधारण कठिनतावाली विकृति के रूप में गोंदार्बुद का प्रारम्भ होता है। इसके भीतर गोंद के समान गाढ़ा निर्यास सा इकट्ठा रहता है। इनमें गम्भीर अन्तराभरण (Deep infiltration), पूयभवन (Suppuration) तथा व्रण वस्तु के निर्माण की प्रवृत्ति रहती है। द्वितीयक उपसर्गों के कारण प्रारम्भ से पूययुक्त भी हो सकते हैं। इनके विदीर्ण हो जाने के बाद विसर्पणशील (Serpiginous) व्रण की उत्पत्ति होती है। विसर्पण की प्रवृत्ति प्रायः केन्द्रापसारित रूप में होती है। प्रारम्भ में गोंदार्बुद प्रायः श्रोणि कपाल (Iliac crest) के किनारे, स्कन्धास्थि, हस्त-पाद तल, नासा, कपाल तथा सन्धियों के आच्छादक भागों में होते हैं। मुखगुहा में चर्वणक के पीछे-पार्श्व में श्वेतवर्णता (Leucoplakia) उत्पन्न होती है।

धीरे-धीरे मुख, जिह्वा, तालु, गलतोरणिका, कण्ठ-प्रसनिका, हृदय, फुफ्फुस, यकृत, मूत्र-प्रजनन संस्थान, मस्तिष्क, उरःफलक एवं दूसरी अस्थियों में गोंदार्बुद निकलते हैं। तालु में इसके कारण सिच्छिद्रण (Perforation) हो जाता है। यकृत, प्लीहा, वृक्क एवं आन्त्र में मण्डाभ अपजनन (Lardacious degeneration) हो जाता है। धमनियाँ मोटी तथा वक्र हो जाती हैं। धमनिकाओं में वृद्धि हो जाने के कारण रक्त प्रवाह का मार्ग अवरुद्ध-सा हो जाता है। महाधमनी (Aorta) में प्रायः धमन्यभिस्तीर्णता (Aneurysm) का परिवर्तन हो सकता है। आमवात का इतिवृत्त या द्विपत्रक कपाटों की विकृति के बिना महाधमनी कपाटों की विकृति एवं अकार्यक्षमता के लक्षण मिलने पर फिरङ्ग का संदेह किया जाता है। शरीर के किसी अंग में धीरे-धीरे बढ़ने वाला शोथ या उत्पन्न हुई ग्रंथि या गाढ़े स्राव वाले व्रण प्रायः फिरङ्ग के ही परिणाम होते हैं। जिह्वा पर बिसर्पणशील व्रणों की उत्पत्ति पर्याप्त महत्त्व की मानी जाती है। ४०–६० वर्ष की आयु में धमनिकाओं में रक्त स्कन्दन हो जाने के दुष्परिणाम प्रायः फिरङ्ग के कारण ही होते हैं।

तृतीयावस्था के व्रण अत्यन्त गहरे, छिन्न (Incised), व्रण के समान किनारे कटे हुये, इनका आधार अनियमित-सा होता है तथा इसमें पीत वर्ण का गाढ़ा स्राव भरा रहता है। व्रण धीरे-धीरे बढ़ते जाते हैं। पुराने व्रणों के सूखने पर गांठदार व्रण वस्तु बनती है और नये-नये व्रण पुराने से असम्बद्ध—प्रायः कुछ दूरी पर—निकलते जाते हैं।

चतुर्थावस्था—

उपसर्ग के १०–१२ वर्ष से बीस वर्ष पश्चात् तक इस अवस्था के लक्षण उत्पन्न होते हैं। वात नाडी संस्थान की अपजनन मूलक विकृतियाँ, फिरंगी खञ्जता (Tabes dorsalis) तथा फिरङ्गज सर्वांग-घात (General paralysis of insane) इस अवस्था की मुख्य व्याधियाँ हैं।

प्रायोगिक परीक्षाएँ—

रक्त—द्वितीय अवस्था में रक्त में श्वेत कणों की पर्याप्त वृद्धि—२० हजार घ०मि०मी० तक—उनमें भी मुख्यरूप से बहुकेन्द्रियों की वृद्धि होती है। किन्तु चिकित्सा करने के बाद या व्याधि में अधिक जीर्णता आने पर लसकायाणुओं की वृद्धि (६०–६५ प्रतिशत) हो जाती है।

विशिष्ट परीक्षा—वासरमैन प्रतिक्रिया (Wassermans reaction) तथा कान-कसौटी (Kahn's test)—द्वितीय एवं—तृतीय अवस्था में प्रायः उपस्थित मिलती है। सन्देह होने पर N. A. B. की उत्तेजक मात्रा ०·१५ ग्राम (Provocative dose) देने के एक सप्ताह बाद पुनः वासरमैन या कान की परीक्षायें करनी चाहिये। चतुर्थावस्था में मस्तिष्क सुषुम्नाद्रव की वासरमैन या कान परीक्षा तथा लैंगे की गोल्ड क्लोराइड (Lange's gold chloride) परीक्षा की जाती है।

प्रथम अवस्था में प्राथमिक व्रण के स्राव से, द्वितीय अवस्था में विस्फोटों से तथा तृतीय अवस्था में गोंदार्बुदों के स्राव की विशेष परीक्षा से चक्राणुओं की उपस्थिति मिल सकती है।

सापेक्ष निदान—

इसके लक्षणों में पर्याप्त भिन्नता होती है। अतः अवस्था क्रम से पार्थक्य की अपेक्षा होती है।

प्रथम अवस्था—परिसर्प (Herpetic vesicles), वंक्षणीय लसकणिकार्बुद (Lymphogranuloma inguinale), पामा (Scabies) तथा जननेन्द्रिय पर उत्पन्न होने वाले सामान्य व्रणों से पार्थक्य करना चाहिए।

द्वितीयावस्था—वर्णी शीत पित्त (Urticaria pigmentosa), सैबोरिया (Seborrhea), दद्रु, धोबीकण्डु (Tinea cruris), सोरियेसिस (Psoriasis), विस्फोट ज्वर तथा यक्ष्मा आदि से पार्थक्य करना चाहिए।

तृतीयावस्था—गोंदार्बुद की स्थानगत विशेषता के आधार पर अर्बुद, यक्ष्मा तथा लस ग्रंथियों की वृद्धि के इतर कारणों से पार्थक्य करना चाहिए।

रोग विनिश्चय—

उपसृष्ट व्यक्ति के साथ सहवास के बाद उत्पन्न प्रारम्भिक कठिन व्रण का इतिहास (जो प्रायः नहीं मिलता), अज्ञात कारण-जनित रक्ताल्पता, लस ग्रन्थियों की पीडा रहित व्यापक वृद्धि तथा उनका विशिष्ट स्वरूप, त्वचा तथा श्लेष्मल त्वचा पर ताम्र वर्ण के कण्डु विरहित विस्फोट, चिरकालीन गल शोथ, गोंदार्बुद, धमनियों में अवरोध, धमन्यभिस्तीर्णता (Aneurysm), महाधमनी कपाटों की—बिना किसी दूसरे कारण के तथा बिना गंभीर लक्षणों के—उत्पन्न अकार्यक्षमता आदि के द्वारा इसका अनुमान तथा रक्त परीक्षा द्वारा कान तथा वासरमैन कसौटी की उपस्थिति से इसके निदान की पुष्टि होती है।

उपद्रव तथा अनुगामी विकार—

यह बहुत जीर्ण स्वरूप की व्याधि है तथा शरीर के सभी अंगों को व्यापकरूप में आक्रान्त करती है। इसलिए उपद्रवों की भी कोई सीमा नहीं है। द्वितीय अवस्था में बढ़ी हुई लस ग्रन्थियों के स्थानीय प्रभाव से पीड़ित अंग के महत्व के आधार पर वातनाडी शूल, जलोदर, शोथ आदि तथा तृतीय अवस्था में गोंदार्बुदों के कारण उनके अधिष्ठान के अनुसार असंख्य विकार उत्पन्न होते हैं। धमन्यभिस्तीर्णता, धमनिकाओं का अवरोध, महाधमनी कपाटों की विकृति, धमनी घनास्रता (Arterial thrombosis), संधियों तथा अस्थियों के विकार आदि उत्पन्न होते हैं। चतुर्थावस्था में फिरंगी खंजता (Tabes dorsalis), फिरंगजसर्वांगघात (G. P. I.) एवं अन्य अनेक प्रकार के वात नाड़ियों के अंगघात आदि प्रमुख उपद्रव हैं। संततियों में व्याधि का संक्रमण भी एक उपद्रव ही मानना चाहिए।

साध्यासाध्यता—

नवीन औषधियों का विधिपूर्वक, पूर्ण मात्रा में, पर्याप्त समय तक, रोग के प्रारंभिक काल से प्रयोग करने से पूर्ण लाभ हो जाता है। विलम्ब से चिकित्सा प्रारम्भ करने पर भी लाभ होता है, किन्तु उत्तरकालीन उपद्रवों की कुछ संभावना रहती है। यह कोई घातक व्याधि नहीं है। बाद के उपद्रवों से घातकता उत्पन्न हो सकती है—किन्तु पूर्ण चिकित्सा न करने पर यावज्जीवन कष्ट देती रहती है तथा संतति में भी (यदि जीवित रहें) प्रसार करती है।

चिकित्सा—

सामान्य—इस व्याधि में सामान्योपचारों का कोई महत्त्व नहीं है। रोगी द्वितीय अवस्था में ज्वर, रक्त-क्षय एवं सर्वांग वेदना से कुछ बेचैन रहता है तथा आगे उपद्रवों के कारण उसे कष्ट होता है, अन्यथा उसका सामान्य स्वास्थ्य हमेशा कुछ अच्छा सा ही रहता है। प्रारम्भिक अवस्था में व्रण की सफाई, उसके उचित उपचार की व्यवस्था, कपड़े, बर्त्तन, शय्या आदि पृथक् रखना, बच्चों को दूर रखना, उनका चुम्बन-आश्लेष आदि घनिष्ठ सम्पर्क न करने देना आवश्यक है।

औषध चिकित्सा—

फिरङ्ग की चिकित्सा में संखिया, पारद, बिस्मथ तथा पेनिसिलिन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन सभी का फिरङ्ग चक्राणु पर घातक परिणाम होता है। आयोडीन के योग—मुख्य रूप से पोटास आयोडायड—का चक्राणु पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, किन्तु चक्राणु के संचय-स्थान में तान्तवीय कोषाओं का संचय होता है, जिनके कारण संखिया आदि औषधों का चक्राणु पर प्रभाव नहीं होता, उनका द्रावण एवं विघटन होने से चक्राणुओं की सुरक्षात्मक प्राचीर नष्ट हो जाती है तथा संखिया आदि का विघातक प्रभाव बिना बाधा के हो सकता है। इन औषधियों का विशिष्ट गुण-धर्म एवं प्रयोग-विज्ञान का उल्लेख किया जाता है।

संखिया या सोमल के योग—

सोमल के त्रिशक्तिक (Trivalent) तथा पंचशक्तिक (Pentavalent) योगों का फिरङ्ग चिकित्सा में प्रयोग होता है। त्रिशक्तिक योग बहुत उग्र स्वरूप के तथा बहुत प्रभावकारी होते हैं, फिरङ्ग की चतुर्थावस्था के अतिरिक्त सभी विकारों में इन्हीं का प्रयोग किया जाया है। पंचशक्तिक योगों का मुख्य प्रयोग फिरङ्गजनित वातनाडी संस्थान की विकृतियों में किया जाता है।

त्रिशक्तिक योग (Trivalent compounds)—

आर्सफेनामाइन वर्ग (Arsphenamine)
योग—सालवर्सन (Original '606 or Salvarsan, Bayer)
आर्सेनोबिलॉन (Arsenobillon, M. B.)
खार्सिवान (Kharsivan)

इनमें ३०–३४% सोमल का अंश होता है। इसकी १ मात्रा से २४ घण्टे के भीतर प्रायः ९०% चक्राणु विकृति केन्द्रों से गायब हो जाते हैं। विषाक्त परिणाम तथा प्रयोग में विशेष उपकरणों की अपेक्षा होने के कारण इनका प्रयोग अपने देश में अब नहीं किया जाता।

नियो आर्सफेनामाइन (Neo arsphenamines)—

योग—नियो सालवर्सन (Neo salvarsan, original 914, Bayer)

नोवार्सेनोबिलॉन (Novarsenobillon, M. B.)

नियो खार्सिवान (Neo kharsivan)

नोवोस्टैब (Novostab, Boot's)

इनमें १८–२१% सोमल का अंश रहता है। प्रथम वर्ग की अपेक्षा कम विषाक्त तथा कम प्रभावशाली होते हैं। इसी वर्ग की ओषधियों का आजकल फिरङ्ग चिकित्सा में अधिक प्रयोग किया जाता है। ०·१५, ०·३०, ०·४५, ०·६०, ०·७५ ग्राम की वर्द्धमान पूर्ण मात्रा में, सिरा द्वारा, सप्ताह में एक बार, शरीर भार के अनुपात में, ५ से ७ ग्राम की मात्रा तक, इनका प्रयोग किया जाता है। सिरा द्वारा प्रयुक्त होने पर प्रायः ४८ घण्टे के भीतर अधिकांश उत्सर्गित हो जाता है। इस कारण अधस्त्वक या पेशी मार्ग से इनका प्रयोग अधिक गुणकारक माना जाता है। सिरा मार्ग से प्रयुक्त ओषधि की आधी मात्रा का भी त्वचा या पेशी मार्ग से प्रयोग बहुत लाभकर होता है। किन्तु पेशी या अधस्त्वक मार्ग से देने पर अत्यधिक पीड़ा, दाह तथा प्रायः प्रयुक्त स्थल की कोषाओं का विनाश होकर विद्रधि का उपद्रव हो जाता है, इसलिए यह योग इस मार्ग से बहुत कम प्रयोग में लिए जाते हैं। इनको २–१० सी० सी० परिस्रुत जल या १२½% ग्लूकोज के घोल में मिला कर क्रमिक वर्द्धमान विधि से प्रयोग करना चाहिए।

सल्फार्सफेनामाइन (Sulpharsphenamine)—

योग—सल्फार्सेनॉल (Sulpharsenol)

मायो सालवर्सन (Myo salvarsan)

मेटार्सेनोबिलॉन (Metarsenobillon)

सल्फोस्टैब (Sulphostab)

सल्फार्सन (Sulpharsan)

सोमल की मात्रा इसमें भी १८–२१% होती है। यह नियो सालवर्सन वर्ग की ओषधियों से कम विषाक्त तथा कुछ हीन गुण वाली हैं। इनका पेशी, सिरा या अधस्त्वक मार्ग से प्रयोग किया जा सकता है। पेशी एवं त्वचा में इनके प्रवेश से अधिक कष्ट नहीं होता तथा सिरा की अपेक्षा पेशी मार्ग से अधिक गुण होने के कारण फिरंग चिकित्सा में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। १८, २४, ३०, ३६, ४२, ४८, ५४ तथा ६० सायटोग्राम (Cyt gram) की मात्रा में इनका शुष्क चूर्ण आता है, जिसको पूर्ववत् परिस्रुत जल या ग्लूकोज के घोल में मिलाकर प्रयुक्त किया जाता है। इसको २-४ सायटोग्राम की मात्रा में

८-१० सी० सी० परिस्नुत जल में घोलकर, सप्ताह में १ बार, सिरा द्वारा १०-१२ सप्ताह तक दिया जाता है।

ऑक्सोफेनार्सिन या आर्सेनोक्साइड (Oxophenarsine or arsenoxide)

योग-मैंफारसाइड (Mapharside, P. D. Co.)

नियोहालार्सिन (Neohalarsine, M. & B.)

यह समूह उक्त वर्गों से कम विषाक्त तथा उन्हीं के समान फिरङ्ग नाशक गुणवाला माना जाता है। इसका अमेरिका में बहुत व्यापक प्रयोग किया गया है तथा भारत में भी अब पर्याप्त प्रयोग हो रहा है। इसकी मात्रा ·०४ से ·०६ ग्राम की होती है। आठ से दस सी० सी० परिस्नुत जल में मिलाकर ३-४ मिनट प्रतीक्षा करके सिरा मार्ग से शीघ्रता से औषध का प्रवेश किया जाता है। सिरा के अतिरिक्त मार्ग से इसका प्रयोग नहीं होता। सप्ताह में १ या २ बार सूचीवेध दिया जा सकता है।

पंचशक्तिक योग (Pentavalent compounds)—

इस वर्ग के तीन मुख्य योग फिरङ्ग चिकित्सा में प्रयुक्त होते हैं।

१. ट्रिपार्सामाइड (Tryparsamide)—इसका प्रयोग मुख्य रूप से वातनाड़ी-संस्थानगत फिरङ्ग विकारों में किया जाता है।

२. एसेटार्सल (Acetarsol योग—Orarsan or storarsol or spirocid etc.)—इसका मुख द्वारा प्रयोग किया जाता है। सहज फिरङ्ग में और आम-प्रवाहिका में मुख्य रूप से प्रयुक्त होता है।

३. एसेटिलार्सन (Acetylarsan) ४. सॉलवर्सिन (Solvarsin) ५. एसिटार्सिन (Acetarsin)—इसका बना हुआ घोल पेशी, त्वचा या सिरामार्ग से प्रयोग किया जा सकता है। सहज फिरङ्ग, सगर्भावस्था का फिरङ्ग तथा अन्य व्याधियों में जहाँ सोमल के मृदु योगों की अपेक्षा होती है—उषसि प्रियता (Eosinophilia etc.) आदि में—इसका प्रयोग किया जाता है।

सोमल के योगों की उपयोगिता—प्रारम्भिक दोनों अवस्थाओं में इनके प्रयोग से चमत्कारिक लाभ होता है, किन्तु स्थायी प्रभाव के लिए साथ में विस्मथ या पारद के सह प्रयोग की आवश्यकता होती है। तृतीयावस्था के जीर्ण रोगियों में आयोडीन का पर्याप्त समय तक प्रयोग करते हुए इनका प्रयोग किया जाता है तथा भीतरी अवयवों में चक्राणुओं का केन्द्र होने के कारण पूर्व रूप से निराकरण नहीं हो पाता। चतुर्थावस्था में इनके प्रयोग से लाक्षणिक सुधार हो सकता है, चमत्कारी लाभ नहीं होता।

सोमल का निषेध—

यह विष द्रव्य है, अतः वृक्क, यकृत, नेत्र, कर्ण, त्वचा तथा हृदय के विकारों से पीड़ित, रक्तस्रावी प्रवृत्ति वाले फिरङ्ग के रोगियों में इनका प्रयोग न करना चाहिये। फिरङ्ग की अतिजीर्ण विकृतियों—आन्त्र निबन्धिनीगत फिरङ्ग विकार, महाधमनी विकार

(Meso-aortitis), महाधमनी कपाट के विकार (Aortic incompetence) आदि में भी इनका प्रभाव हानिकारक होता है।

सावधानी—

इनका प्रयोग करने के पूर्व यकृत-वृक्क आदि अङ्गों की सम्यक् परीक्षा कर लेना चाहिए। मूत्र की परीक्षा शुक्ति (Albumin) के लिए चिकित्सा प्रारम्भ करने के पूर्व तथा बीच-बीच में करते रहना आवश्यक है। बिल्कुल खाली पेट तथा भोजन के तुरन्त पहले या बाद में प्रयोग करने पर असात्म्यता के लक्षण उत्पन्न होते हैं और इनका सूचीवेध देने के १ घण्टा पूर्व २ औंस ग्लूकोज का शर्बत पिलाने से दुष्परिणाम कम होते हैं।

इनके असात्म्य होने पर अनेक प्रकार के दुष्परिणाम उत्पन्न हो सकते हैं, उन पर सावधानी से ध्यान रखना चाहिए।

सोमल के विषाक्त परिणाम—

स्थानीय—

कभी-कभी सिरा द्वारा इनका प्रयोग करने पर सिरा-घनास्रता (Thrombosis of vein) का उपद्रव और सिरा से बाहर घोल के निकल जाने पर स्थानीय शोथ के लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसके शमन के लिए सिरा के ऊपर हिरुडायड (Hirudoid) मलहम ३-४ बार हल्के हाथ से मलना तथा निकट की कोषाओं में ·८५ प्रतिशत लवण जल या सोडियम थायोसल्फेट (Sodium thio sulphate) का प्रकीर्ण निक्षेप (Infiltration) करना चाहिए।

व्यापक प्रतिक्रिया (Systanic reaction)—

तात्कालिक परिणाम—

सूचीवेध के समय या तुरन्त बाद से २४ घण्टे के भीतर हृल्लास, वमन, मुख में लहसुन के समान गन्ध का अनुभव, मसूड़ों तथा दाँतों में पीड़ा, मूर्च्छा, शीत पित्त आदि के परिणाम उत्पन्न होते हैं। शीतपूर्वक ज्वर, शिरःशूल, कटिशूल, जंघाओं में ऐंठन, ओठ के पास परिसर्पवत विस्फोट तथा अतिसार के लक्षण भी हो सकते हैं। इनके प्रतिषेध के लिये पाइरोजन विरहित ग्लूकोज के घोल में सोमल के योगों का प्रयोग बहुत धीरे-धीरे करना चाहिए। निम्नलिखित योग को १ दिन पूर्व से १ दिन बाद तक दिन में ३ बार पिलाने से इन उपद्रवों का प्रतिबन्ध होता है।

R/		
	Cal lactate	gr. 20
	Soda bi carb	gr. 20
	Glucose	dr. 1
	Aqua	oz. 1
		१ मात्रा

३ बार, ३ दिन तक।

इन उपद्रवों के शमन के लिए सोडियम थायो सल्फेट (Sodium thiosulphate) जीवतिक्ति सी० का प्रयोग तथा एड्रेनैलीन १:१००० का ½ सी० सी० की मात्रा में अधस्त्वक् मार्ग से सूचीवेध देना लाभकर होता है।

जेरिक हर्क्सहेमर प्रतिक्रिया (Jarisch-Herxheimer rectoin)—

हृदय में विकृति रहने पर सोमल के योगों के प्रयोग से फिरङ्ग के लक्षण अकस्मात् बहुत उग्र स्वरूप के हो जाते हैं। हृत्पेशी शोथ, हृदय धमनी शोथ (Coronary artritis), फिरङ्ग के त्वचा एवं श्लेष्मल कलागत विकृतियों में प्रकोप, ज्वर, वमन, अतिसार एवं मूत्र में शुक्लि की उपस्थिति आदि लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं। हृदय धमनी शोथ के कारण रक्त प्रवाह में अवरोध होकर घनास्रता एवं अन्तःस्फान (Thrombosis and infarct) का उपद्रव हो सकता है।

इसके उपचार के लिए जीवतिक्ति सी०, कैलसियम तथा ग्लूकोज का पर्याप्त मात्रा में प्रयोग, लाक्षणिक उपचार तथा भविष्य में सोमल को कम मात्रा में प्रयोग करना चाहिए। फिरङ्ग के लक्षणों की वृद्धि का १-२ दिन में स्वतः उपशम हो जाता है।

नायट्रिटॉयड प्रतिक्रिया (Nitritoid crisis)—

यह स्थिति ओषधि की अनवधानता (Anaphylaxis) के परिणाम से उत्पन्न होती है। सूचीवेध के समय ही रोगी को श्वास लेने में कष्ट, हृदय में पीड़ा तथा अवरोध का अनुभव, ओष्ठ-जिह्वा तथा आकृति में शोथ तथा रक्तवर्णता हो जाती है।

इन लक्षणों का अनुभव होते ही एड्रेनैलीन १ = १००० का ½ सी० सी० तथा इफेड्रिन ½ ग्रेन की मात्रा में मिलाकर या अलग से अधस्त्वक् मार्ग से सूचीवेध देना चाहिए। प्रारम्भिक मात्रा के समय भी यह परिणाम हो सकते हैं तथा इनका औषध की मात्रा से कोई सम्बन्ध नहीं होता। अतः सोमल के योगों का प्रारम्भ करने के १ घण्टा पूर्व निम्नलिखित उत्तेजक योग देना चाहिए। १-२ सूचीवेध के बाद अनवधानता की संभावना न रहने पर कोई आवश्यकता नहीं रहती।

R/		
	Soda bi carb	gr. 15
	Cal lactate	gr. 15
	Spt. chloroform	m. 10
	Spt. Ammon aromate	m. 10
	Spt. eatheris nitrosi	m. 10
	Tr. nux vomica	m. 7
	Tr. card co	m. 10
	Spt. vinum galacii	dr. one
	Syrup glucose	dr. one
	Aqua	oz. one
		१ मात्रा

विलम्बित प्रतिक्रियाएं—

१–२ दिन बाद से १–२ मास तक इस श्रेणी की प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न हो सकती हैं। शुक्लिमेह, मुखपाक, अवसाद, क्षुधा-निद्रा तथा शारीरिक भार का ह्रास, मध्यम तीव्रता का शिरःशूल, त्वचा की रक्तवर्णता एवं त्वक्-शोथ (Dermatitis), कामला, केन्द्रीयवात नाड़ी संस्थान के लक्षण, रक्त निकलियाँ, परिसरीय नाड़ी शोथ तथा कभी-कभी औपशयिक विरोधाभास (Therapeutic paradox) के लक्षण उत्पन्न होते हैं। इनमें प्रमुख प्रतिक्रियाओं का उपचार नीचे लिखा जा रहा है। शुक्लिमेह, अवसाद, मुखपाक, क्षुधा-निद्रानाश आदि का स्वतः २-४ दिन में शमन हो जाता है। किन्तु इन प्रतिक्रियाओं के उत्पन्न होने पर सोमल का प्रयोग बन्द कर देना चाहिए।

त्वक् शोथ—त्वचा में वर्द्धनशील त्वक् शोथ उत्पन्न होने पर त्वचा के पर्त के पर्त निकलने (Exfoliation) लगते हैं। इसके उपचार के लिए बी. ए. एल (B A L or Dimercaprol) का २ सी० सी० की मात्रा में दिन २ बार पेशी मार्ग से सूचीवेध दिया जाता है। ३-४ दिन तक प्रयोग करने से लाभ हो जाता है। कैलसियम थायोसल्फेट (Calcium thiosulphate या Ametox) को संतृप्त ग्लूकोज के घोल में (Concentrated glucose solution—50%) सिरा द्वारा दिन में २ बार ५–७ दिन तक प्रयोग करने से भी लाभ हो जाता है।

कामला (Jaundice)—सोमल के योगों का प्रयोग करने के २–३ मास बाद कामला की उत्पत्ति हो सकती है। मूत्र का हरिद्रावर्ण, मल में पित्त का अभाव तथा कामला के दूसरे लक्षणों से यकृत विकार का अनुमान होता है। कभी-कभी यकृत प्रदेश एवं कुक्षि में जलन एवं वेदना तथा हृल्लास-वमन आदि भी उत्पन्न होते हैं। इनके प्रतिकार के लिये सोमल चिकित्साकाल में तरल आहार, मिर्च, मसाले एवं चिकनी वस्तुओं का अल्प प्रयोग तथा जीवतिक्ति 'सी' मेथ्योनिन (मात्रा २ ग्राम से ३ ग्राम प्रतिदिन) तथा मक्खन निकाला हुआ दूध पर्याप्त मात्रा में सेवन कराना चाहिये। कामला की चिकित्सा के लिये सोडा बाई कार्ब, ग्लूकोज तथा मेथ्योनिन-मिथियोनिन के योग ग्लूकोज के साथ मिलाकर मुख द्वारा सेवन करना चाहिये और सोडा बाई कार्ब ४ प्रतिशत ४ सी० सी० + १२½ प्रतिशत ग्लूकोज २००सी. सी. + ५०० मि. ग्राम जीवतिक्ति सी मिलाकर सिरा द्वारा सूचीवेध ८-१० दिन तक प्रतिदिन देना चाहिये। इस सूचीवेध के साथ निओमेथिडिन भी मिला सकते हैं। कैलसियम थायो सल्फेट सिरा द्वारा तथा प्रेडनोसोलीन ५ मि. ग्रा. की मात्रा में मुख द्वारा तीन बार देने से कामला में शीघ्र लाभ हो जाता है।

केन्द्रीय वात नाड़ी संस्थान के विकार—शिरःशूल, मानसिक अवसन्नता, अपस्मारवत् आक्षेप, मूर्च्छा आदि उपद्रव सोमल की अधिक मात्रा के परिणाम माने जाते हैं।

पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में इस प्रकार के उपद्रव अधिक होते हैं। उपचार के लिये रोगी को सोडियम गार्डिनॉल, लार्गेक्टिल आदि शामक ओषधियों के प्रयोग से शिथिल रखना, कटिवेध करना, मैगसल्फ का विरेचन देना, रोगी को उपविष्टासन में रखना तथा सिरा द्वारा ५० प्रतिशत ५० सी० सी० ग्लूकोज का घोल जीवतिक्ति 'सी' ५०० मि० ग्रा० के साथ मिलाकर देना चाहिये।

विस्फोट—प्रायः लाल वर्ण के कणिक स्वरूप के विस्फोट त्वचा पर निकलते हैं। इनके प्रतिकार के लिये रोगी को पर्याप्त मात्रा में जल पिलाना। मैगसल्फ ४ ड्राम दिन में ३ बार देकर विरेचन कराना तथा मुख द्वारा पोटैशियम आयोडाइड ५ ग्रेन को मात्रा में दिन में २–३ बार प्रयोग कराना। कैलसियम थायोसल्फेट, कैलसीब्रोनेट तथा १२½ प्रतिशत ग्लूकोज का घोल ५० सी० सी० की मात्रा में मिलाकर सिरा द्वारा प्रतिदिन एक बार ४–५ दिन तक देना चाहिये। कान्ट्रामिन (Contramine) ४ ग्रेन की मात्रा में पेशी मार्ग से प्रति तीसरे दिन ४–५ सूचीवेध देना तथा बाह्योपचार के रूप में लोशियो कैलामिन, कैलेड्रिल (P.D.) या एन्थिकैल (M.B.) को सम्पूर्ण शरीर में लगाना तथा उग्रता के शान्त होने पर एरण्ड तैल, काडलिवर आयल आदि का अभ्यंग के लिये प्रयोग किया जा सकता है। B. A. L. के प्रयोग से भी विस्फोटों में पर्याप्त लाभ होता है। २ सी० सी० की मात्रा में दिन में एक या दो बार ५–६ दिन देना चाहिये।

बिस्मथ के योग (Bismuth Compounds)—

बिस्मथ के योगों का प्रयोग पेशीमार्ग से जलीय विलयन, तैलीय विलयन, जलीय मिश्रण तथा तैलीय मिश्रण (Solutions or suspensions) के रूप में किया जाता है। इसका प्रयोग धीरे-धीरे प्रचूषित होकर निरन्तर फिरङ्गनाशक गुण के लिये किया जाता है। इसलिये जलीय एवं तैलीय विलयनों के शीघ्र प्रचूषित होने के कारण इनका अधिक प्रयोग नहीं किया जाता। अघुलनशील मिश्रण (Insoluble suspensions) का ही अधिक प्रयोग किया जाता है। निम्नलिखित योग इस वर्ग के उदाहरण हैं।

बिस्ग्लूकोल	(Bisglucol)	Bismuth in dextrose solution with cresol
क्लोरोस्टैब	(Chlorostab)	Bismuth oxy chloride
बिसाक्सिल	(Bisoxyl)	
बिसैन्टाल	(Bisantol)	Bismuth salicylate
बिस्मोसान	(Bismosan)	
बिस्मोस्टैब	(Bismostab)	
बिबिस्मथाल	(Bibismthol	

बिस्मथ संचायी स्वरूप की ओषधि है। पेशी मार्ग से ओषधि का प्रयोग करने के बाद

धीरे-धीरे प्रचूषण होता रहता है। इसको पिचकारी में भरने के पूर्व शीशी को भली प्रकार हिलाकर नीचे जमी हुई औषधि को तरल में मिल जाने देना चाहिए तथा सुई भी कुछ मोटी और १-१½ इञ्च लम्बी होनी चाहिये। नितम्ब के बाहरी ऊपर के भाग में, काफी गहराई में सुई पहुँचाकर तथा पिचकारी का पिस्टन पीछे खींचकर, सिरा-बिद्ध न होने का निर्णय कर के, दवा का प्रवेश कराना चाहिए। यदि पिचकारी में भरने के पूर्व औषध की शीशी कुछ देर तक गरम पानी में रख दें तो तैलांश के पतला हो जाने से सूचीवेध में सुविधा होती है। पिचकारी में वायु स्वल्पांश में रहनी चाहिये, जिससे पेशी में दवा के प्रविष्ट हो जाने के बाद पिचकारी के भीतर की वायु भी अन्त में कुछ पेशी में चली जाय। ऐसा करने से बिस्मथ का कोई अंश सुई में लगा न रहेगा तथा अधस्त्वचीय वसा या त्वचा में बिस्मथ के रह जाने पर उसके प्रचूषित न होने से गांठ पड़ जाने या विद्रधि बनने का भय नहीं रहेगा। सूचीवेध के बाद उस स्थान को ५-७ मिनट तक मलना तथा बाद में नमक के गरम पानी से सेंक करना आवश्यक है। इनका प्रयोग भी प्रायः सप्ताह में एक बार किया जाता है। सोमल के योगों के समान इनके द्वारा त्वरित लाभ नहीं होता, किन्तु स्वल्प मात्रा में रक्त में उपस्थित इनकी राशि फिरङ्ग चक्राणुओं पर धीरे-धीरे घातक प्रभाव करती है। फिरङ्ग की द्वितीय अवस्था के अन्तिम काल तथा तृतीय अवस्था के उपचार में बिस्मथ का महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है। हृदय, वृक्क, यकृत आदि अंगों की विकृति के कारण सोमल का प्रयोग सम्भव न होने पर बिस्मथ तथा आयोडीन के योगों का मुख्यरूप से प्रयोग किया जाता है। सामान्यतया फिरङ्ग की चिकित्सा में सोमल एवं बिस्मथ के योगों का संयुक्त प्रयोग ही अधिक हितकर माना जाता है।

विषाक्तता—सोमल की अपेक्षा बिस्मथ में विषाक्त परिणाम बहुत कम होते हैं। मुखपाक, वृक्क शोथ, आंत्रशूल तथा क्वचित् विबन्ध आदि के परिणाम इसके प्रयोग से मिलते हैं। कभी-कभी मुख में मसूड़ों के किनारे पर—प्रायः कर्तनक दन्त के पीछे—नीलाभ रेखा-सी मालूम पड़ती है। पूयदन्त होने पर यह लक्षण उस स्थान पर पहले मालूम पड़ता है। किन्तु इस लक्षण से बिस्मथ का प्रयोग रोकने की अपेक्षा नहीं होती। मुख की श्लेष्मलकला का व्यापक क्षोभ होने पर इसका प्रयोग अवश्य बन्द कर देना चाहिये। अन्यथा कर्दमास्य (Cancrum oris) का उपद्रव उत्पन्न हो सकता है। शुक्लिमेह, अनिद्रा, शाखाओं में वातिक वेदनाएँ आदि लक्षण भी कभी-कभी उत्पन्न होते हैं। किन्तु इनके उपचार की आरम्भ में कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। मसूड़ों के किनारे उत्पन्न हुई रेखा चिकित्सा बन्द करने के बाद भी बहुत समय तक उपस्थित रह सकती है। किन्तु इससे किसी विकार की सम्भावना नहीं होती।

ऊपर लिखे हुये बिस्मथ के किसी योग का व्यवहार १ से २ सी० सी० की मात्रा

में, नितम्ब की पेशी में काफी गहराई तक सुई प्रविष्ट कर, सप्ताह में एक या दो बार के क्रम से १०-१२ सूचीवेध दिये जाते हे।

पारद के योग—

प्राचीनकाल से फिरङ्ग की चिकित्सा में पारद के योगों का प्रयोग होता आया है। विषाक्त परिणामों के कारण नई ओषधियों के आविष्कार से पारद का प्रयोग कम होता जा रहा है।

इसके निम्नलिखित योग मुख द्वारा प्रयुक्त किये जाते हैं—

१. Hydrarg cum creta १-२ ग्रेन दिन में २ बार।

२. Hydrarg iodide flavum $\frac{1}{16}$ ग्रे० से $\frac{1}{4}$ ग्रेन, दो बार।

३. Hydrarg perchlor $\frac{1}{4}$ ग्रे० दिन में २ बार।

४. Liquid hydrarg perchlor ३०-६० बूँद दिन में २ बार।

इनमें प्रथम तीन का प्रयोग Coated tablet के रूप में प्रायः अहिफेन या तत्सम किसी शामक ओषधि के साथ में तथा नं० ४ प्रायः पोटैशियम आयोडाइड के साथ मिश्रण के रूप मे प्रयुक्त होता है। इनको स्वल्पमात्रा से प्रारम्भ कर धीरे-धीरे बढ़ाते जाना चाहिये, जब तक अल्प विषमयता के परिणाम—मुख पाक आदि—उत्पन्न न हो जाय। उसके बाद धीरे-धीरे मात्रा घटा देनी चाहिये। औसतन ६ सप्ताह तक इसका प्रयोग लगातार किया जाता है। एक सप्ताह के विराम के बाद पुनः पूर्व क्रम से प्रयोग करना चाहिये। ३ बार इस क्रम से प्रयोग करने के बाद १ मास का विराम देकर पुनः पूर्ववत ३ क्रम पूरे करने चाहिये।

पारद के योगों का उपयोग करते समय उसके विषाक्त लक्षणों के शमन के लिए उपयुक्त द्रव्य मिलाकर सेवन कराना चाहिए। वटी या तरल मिश्रण के रूप में निम्नरूप में प्रायः इनका प्रयोग किया जाता है।

हचिन्सन की गोली (Hutchinson's pills)—

R/	Hydrarg c̄ creta	gr. 1
	Dover's powder	gr. 1
	Extract vulerian	gr. 4
		१ गोली

इस योग में डोवर्स पाउडर मिलाने से अतिसार, वमन आदि का प्रतिबंध होता है तथा वलेरियन योगवाही रूप में प्रयुक्त है।

दिन में ३-४ बार, कुछ आहार लेने के बाद, सप्ताह में ६ दिन, ४-६ सप्ताह तक। १०-१५ दिन के विराम के उपरान्त इसी क्रम से पुनः प्रयोग। कुल तीन क्रम।

बहुत से जीर्ण रोगियों में पारद तथा आयोडाइड का संयुक्त प्रयोग निम्न मिश्रण के रूप में अधिक सात्म्य होता है।

R/

Potas iodide	gr. 10
Liqour hydrarg per chlor	dr. 1
Tr. card co	ms. 15
Syrup aurentia	dr. 1
Aqua menthi pip	oz. 1

१ मात्रा

भोजन के आधा घण्टा बाद दोनों समय। १ पाव गरम दूध के साथ।

इसमें पोटास आयोडाइड की मात्रा प्रारम्भ में ५ ग्रेन प्रति बार देकर अनुकूल रहने पर धीरे-धीरे बढ़ाते हुए इसको ६० ग्रेन दैनिक मात्रा में दिया जा सकता है।

बाह्य प्रयोग—

पारद के योगों का मलहम के रूप में बाह्य प्रयोग—विशेषकर बच्चों में—अधिक किया जाता है। पारद मलहम (Mercurial ointment B. P.) ५ से १० ग्राम की मात्रा में २० मिनट तक जानु, जंघा, बाहु, वक्ष, पृष्ठ, पार्श्व में किसी अंग से प्रारम्भ कर, क्रम से सभी स्थानों की त्वचा पर हलके हाथ से मलकर धीरे-धीरे सुखाया जाता है। मर्दन करनेवाला व्यक्ति हाथ में रबड़ के दस्ताने पहन कर प्रयोग करता है। ६ दिन मलहम का लगातार प्रत्येक अवयव पर सप्ताह में १ बार के क्रम से प्रयोग कर, सातवें दिन स्नान करा कर, आठवें दिन से पुनः प्रयोग किया जाता है। १५–२० बार मलहम का प्रयोग करने के बाद ४–७ दिन का विराम देना चाहिए। इस प्रकार ६० से १२० बार तक कुल मलहम का प्रयोग रोगी की सात्म्यता के अनुसार करना पड़ता है।

पेशी मार्ग से प्रयोग के लिये अघुलनशील योगों का प्रयोग किया जाता है। मुख्य रूप से Inj. Hydrargyri, मात्रा १–१½ ग्रेन, Inj. Hydrarg subchlor, मात्रा ½ से ¾ ग्रेन, के अघुलनशील योग प्रयुक्त होते हैं। मुख द्वारा प्रयुक्त योगों की अपेक्षा सूचीवेध के योगों की विशिष्ट उपयोगिता नहीं होती। इस कारण मुख द्वारा तथा मलहम के रूप में ही उसका प्रयोग फिरङ्ग की सहायक औषधि के रूप में किया जाता है।

विषाक्तता—

चिकित्सा तथा विषाक्त मात्रा (Therapeutic or toxic dose) में अधिक अन्तर (१:२) न होने के कारण इसके प्रयोग से शीघ्र असात्म्यता के परिणाम होते हैं। मुखपाक, लालास्राव, वृक्क शोथ, बृहदन्त्र शोथ, त्वक् शोथ तथा अवसाद आदि लक्षण इसकी विषाक्तता से उत्पन्न होते हैं। इन तीव्र स्वरूप के लक्षणों के अतिरिक्त दुर्गन्धित श्वास, मसूड़ों में शोथ, लालास्राव तथा लालाग्रन्थियों का शोथ, क्षुधानाश, अतिसार आदि जीर्ण विषमयता के लक्षण भी उत्पन्न हो सकते हैं।

विषाक्त परिणामों के प्रतिबन्ध के लिये दाँतों के दूषित पूय केन्द्रों की सफाई, हिलते हुये दाँतों का निकालना तथा चिकित्सा काल में दिन में २ बार मुख की ब्रश द्वारा पूरी सफाई, पोटेसियम क्लोरेट के घोल से कुल्ला करना तथा हाइड्रोजन परआक्साइड से दाँतों को पोंछना और पूतिकेन्द्रों का अनुबन्ध रहने पर नियमित रूप से पेनिसिलिन या टेट्रासाइक्लिन के घोल का मसूड़ों पर प्रलेप करना चाहिये।

वृक्क शोथ के प्रतिबंध के लिये प्रति दिन मूत्र की परीक्षा शुक्लि के लिये करना तथा आहार में मुख्य रूप से दूध का प्रयोग करना चाहिये। आन्त्र शोथ तथा त्वचा के विकार बहुत कम उत्पन्न होते हैं। भोजन में मिर्च-मसाले, नमक तथा दूसरे क्षोभक द्रव्यों का कम से कम प्रयोग तथा घी, दूध, मक्खन, गरी का अधिक व्यवहार करने से इनका प्रतिबन्ध होता है।

मुखपाक हो जाने पर पारद का प्रयोग बन्द कर ६० ग्रेन पोटेशियम क्लोरेट ४ औंस उबाले हुये जल में मिला कर दिन भर में अनेक बार कुल्ला करने के लिये कहना चाहिये। निरन्तर लालास्राव, मसूड़ों का शोथ, मुख-दुर्गन्धि तथा अतिसार आदि विपाक्त प्रभावों के कारण रोगी आहार का सेवन ठीक से नहीं कर पाता। दूध एवं दूध में बने हुये पतले, सुपाच्य, पोषक-आहार की व्यवस्था करनी चाहिये। मसूड़ों पर लेप के रूप में २० प्रतिशत टैनिक एसिड का घोल लगाना चाहिये। माइस्टेक्लीन २५० मि० ग्रा० १ औंस गिलसरीन में मिला कर प्रलेप के रूप में मुख एवं दांतों पर लगाने से मुख पाक, लाला स्राव एवं दुर्गन्ध आदि लक्षणों में शीघ्र लाभ होता है। सोडियम या कैलसियम थायोसल्फेट, जीवतिक्ति सी. व ग्लूकोज सिरा द्वारा दिया जा सकता है।

दीर्घ काल तक पारद का प्रयोग करने से क्वचित् रक्ताल्पता भी हो जाती है। इसके लिये लौह तथा लिवर एक्स्ट्रैक्ट का उचित मात्रा में प्रयोग करना चाहिये।

पेनिसिलिन—

व्यापक उपयोगिता, न्यूनतम असात्म्यता, प्रयोग सुविधा तथा सुलभता आदि विशिष्ट गुणों के कारण पेनिसिलिन का फिरङ्ग चिकित्सा में सर्वाधिक उपयोग किया जाता है। प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं कुछ अंशों में चतुर्थावस्था में भी इससे लाभ होता है। प्रथम, द्वितीय अवस्थाओं में तो केवल इसी के प्रयोग से लाभ हो जाता है, किन्तु तृतीय एवं चतुर्थ अवस्थाओं में आयोडाइड तथा विस्मथ या पारद के सहयोग की अपेक्षा होती है।

फिरङ्ग चक्राणुओं पर पेनिसिलिन का तीव्र घातक परिणाम होता है। रक्त में बहुत स्वल्प मात्रा में इसकी उपस्थिति से चक्राणुओं का नाश हो जाता है। अधिक मात्रा की अपेक्षा स्वल्प मात्रा में अधिक दिनों तक रक्त में पेनिसिलिन का संकेन्द्रण करने वाले योग विशेष लाभकर सिद्ध हुए हैं। पेनिसिलिन जी० क्रिस्टलाइन, प्रोकेन पेनिसिलिन, प्रोकेन पेनिसिलिन इन आयल विथ एल्युमिनियम मोनोस्टियरेट (Procaine peni-

cillin in oil with aluminium monostearate), डायमिन पेनिसिलिन (Diamin penicillin) आदि पेनिसिलिन के योग फिरङ्ग में प्रयुक्त होते हैं। प्रारम्भ में ३–४ दिन तक स्वल्प मात्रा में इसका प्रयोग करके धीरे-धीरे मात्रा बढ़ानी चाहिए, जिससे फिरङ्ग की प्रतिक्रियाएँ न उत्पन्न हों। शीघ्र प्रचूषित होने वाले क्रिस्टलाइन योगों की अपेक्षा विलम्ब से प्रचूषित होने वाले एल्युमिनियम स्टियरेट के योग अधिक लाभकर होते हैं।

पेनिसिलिन के योगों का निम्नलिखित मात्रा क्रम से प्रयोग किया जाता है :—

क्रिस्टलाइन पेनिसिलिन (Penicillin G. crystallin sodium or potassium)—प्रारम्भिक २ दिन तक ५० सहस्र यूनिट १२ घण्टे के अन्तर पर पेशी मार्ग से देकर, प्रतिक्रिया न होने पर १ लाख यूनिट १२ घण्टे पर, २ दिन और सात्म्य होने पर ५ लाख यूनिट १२ घण्टे पर, १२ दिन तक। ६० से १२० लाख यूनिट की संयुक्त मात्रा पर्याप्त होती है।

प्रोकेन पेनिसिलिन (Procaine Penicillin) ४ लाख यूनिट की मात्रा में १५ से २० दिन तक।

पी० ए० एम० (P. A. M. or procaine penicillin in oil & aluminium monostearate—

३–१० लाख यूनिट की मात्रा में प्रतिदिन या प्रति तीसरे दिन पेशी मार्ग से, २० दिन तक।

डायमिन पेनिसिलिन (Daimin penicillin) Penidure longer action, Wyth, Diamin penicillin, Dumex

६–१२ लाख की मात्रा में प्रति चौथे-छठें दिन। कुल ६–१२ सूची वेध।

पेनिसिलिन वी.—इसका प्रयोग मुख द्वारा किया जाता है। छोटे शिशुओं या अनूर्जतामूलक प्रतिक्रिया वाले असहिष्णु व्यक्तियों में मुख द्वारा प्रयोग किया जा सकता है। ६०–१२५ मि० ग्रा० (१–२ लाख यूनिट) की मात्रा में दिन में ४ बार ६ घण्टे के अन्तर पर, २०–३० दिन तक।

पेनिसिलिन के पर्याप्त प्रभावकारी होने पर भी विस्मथ का सहयोग परिणाम की दृष्टि से अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है। प्रारंभ में सप्ताह में १–२ बार के क्रम से ४–५ विस्मथ के सूची वेध देने के बाद पेनिसिलिन तथा विस्मथ का साथ प्रयोग उचित मात्रा में करना चाहिए। जीर्ण विकारों में इनका प्रारंभ करने के ४–५ दिन पूर्व से आयोडाइड का प्रयोग करते रहना चाहिए। सगर्भावस्था के फिरङ्ग, सहज फिरङ्ग, फिरङ्गज महाधमनी विकार आदि में भी इससे सोमल एवं विस्मथ के संयुक्त प्रयोग की अपेक्षा अधिक लाभ होता है।

फिरङ्ग की विभिन्न स्थितियों में पी० ए० एम० पेनिसिलिन का प्रयोग निम्नलिखित मात्रा क्रम से किया जाता है।

प्रथम, द्वितीय अवस्था में पी० ए० एम० २४ लाख यूनिट प्रथम दिन तथा बाद में चौथे दिन ६ लाख यूनिट की मात्रा में ४ बार, कुल ४८ लाख। २–३ मास के विराम के बाद पुनः इस क्रम से प्रयोग करना चाहिए। प्रायः ९०% रोगियों में लाभ होता है।

तृतीय अवस्था में—विशेषकर त्वचा, श्लेष्मलकला तथा अस्थियों की विकृति में—पूर्व क्रम से प्रारम्भिक दिन २४ लाख, बाद में प्रति चौथे दिन के क्रम से ६ लाख की यूनिट के ६ सूची वेध।

हृदय एवं रक्त वाहिनियों के फिरङ्ग जनित विकारों में प्रारंभ में कुछ दिन तक आयोडायड तथा बिस्मथ का प्रयोग कराने के बाद पी० ए० एम० का प्रयोग ६ लाख की मात्रा में प्रति तीसरे दिन के क्रम से ६० लाख यूनिट तक दे कर, १ मास के विराम के बाद पुनः इसी प्रकार देना चाहिए। आयोडाइड के सहयोग से २–३ बार इस प्रकार से सेवन कराने पर लाभ हो जाता है।

वात नाड़ी संस्थान की विकृतियों में भी उक्त क्रम से ६०–१२० लाख की संयुक्त मात्रा का प्रयोग किया जाता है। विषम ज्वर चिकित्सा (Malaria therapy) के सहयोग से पूर्व प्रचलित चिकित्सा-क्रमों की अपेक्षा विशेष लाभ होता है।

सहज फिरङ्ग—

२ वर्ष की अवस्था तक के बालकों में १५ सहस्र यूनिट पी० ए० एम० प्रति पौण्ड शरीर भार के अनुपात से, प्रति दिन १ बार १० दिन तक अथवा २० सहस्र यूनिट प्रति पौण्ड के भारानुपात में प्रति तीसरे दिन ५ सप्ताह तक देना चाहिए। ४० सहस्र यूनिट प्रति पौण्ड के अनुपात से सप्ताह में एक बार, कुल ५ सप्ताह तक देने से भी संतोषजनक परिणाम मिले हैं। ७–८ वर्ष से अधिक वय के बच्चों में ६ लाख दैनिक मात्रा १० दिन तक या सप्ताह में ३ बार के क्रम से ५ सप्ताह तक देना चाहिए।

गर्भिणी फिरङ्ग—

गर्भ स्थिति के तीसरे मास से ६ लाख यूनिट की मात्रा सप्ताह में २ बार, ४–५ सप्ताह पर्यन्त अथवा १२ लाख यूनिट की १ मात्रा सप्ताह में १ बार, ५ सप्ताह तक।

रक्त में फिरङ्ग का दोष होने तथा बाह्य रूप अव्यक्त रहने पर (Latent) पेनिसिलिन के प्रयोग से बहुत लाभ नहीं होता, किन्तु ६ लाख यूनिट की मात्रा तीसरे दिन के क्रम से, कुल ६० लाख यूनिट देने से कान या वासरमैन परीक्षा के उपस्थित रहने पर भी उत्तरकालीन उपद्रवों का प्रतिबन्ध होता है।

पेनिसिलिन की प्रतिक्रियाएं—

जेरिश हर्क्सहेमर प्रतिक्रिया (Jarisch herxs hiemer reaction), त्वचा में अनूर्जतामूलक विस्फोट, शीत पित्त, लसीका रोग (Serum sickness) सदृश

लक्षण आदि कभी-कभी उत्पन्न होते हैं। हर्क्स हेमर प्रतिक्रिया का उपचार सोमल के योगों में निर्दिष्ट क्रम से तथा अनूर्जतामूलक लक्षणों का शमन एण्टी हिस्टामीन—सायनोपेन आदि अनूर्जता-नाशक ओषधियों के प्रयोग से करना चाहिए।

आयोडाइड—

फिरङ्ग चक्राणुओं पर इस वर्ग के द्रव्यों का कोई प्रभाव नहीं होता। किन्तु जीर्ण फिरङ्ग विकृतियों में चक्राणुओं के आश्रय स्थल के रूप में तान्त्विक धातुओं तथा असंपृक्त वसाम्लों (Unsaturated fatty acids) का संचय होता है। आयोडाइड के प्रभाव से इनका द्रावण हो जाता है, जिससे भीतर सचित चक्राणु निरावृत हो जाते हैं और उन पर फिरङ्ग-नाशक ओषधियों का विनाशक प्रभाव होता है। अर्थात् आयोडाइड तृतीय तथा चतुर्थ अवस्था में सहायक ओषधि के रूप में महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

मात्रा—पोटास आयोडाइड को ५ ग्रेन की मात्रा में दिन में ३ बार से प्रारम्भ कर उत्तरोत्तर सहनशक्ति की सीमा तक बढ़ाते जाना चाहिए। ६०–१२० ग्रेन तक दैनिक मात्रा औसतन कार्यक्षम मानी जाती है। तृतीयावस्था में इससे अधिक मात्रा दी जाती है। इसे खाली पेट न देकर कुछ भोजन करने के आधा घण्टा बाद गरम दूध में मिलाकर सेवन कराना चाहिए। इससे आयोडीन की विषाक्तता तथा आयोडाइड का अप्रिय स्वाद दोनों का प्रतिबन्ध हो जाता है। मुख द्वारा प्रयोग सम्भव न होने पर सोडियम आयोडाइड का १०% घोल सिरा द्वारा ६०–९० ग्रेन की दैनिक मात्रा में दिया जाता है। स्वरयंत्र शोथ, प्रपाचीय आमाशयिक व्रण तथा यक्ष्मा से पीड़ित व्यक्तियों में इसका प्रयोग न करना चाहिए। पोटास आयोडाइड का प्रयोग निम्न मिश्रण के रूप में थोड़े गरम दूध में मिलाकर सेवन कराया जाता है, शेष दूध ऊपर से पिलाया जाता है।

R/		
	Potas iodide	gr. 10
	Soda bi carb	gr. 10
	Spt. ammonia aromat	m. 15
	Spt. chloroform	m. 5
	Syrup aurentia	dr. 1
	Aqua menthip pip	oz 1
		१ मात्रा

३ बार।

व्यावहारिक निर्देश—

१. फिरङ्ग की चिकित्सा प्रारम्भ करने के पूर्व व्याधि की अवस्था, रोगी की सहनशक्ति, अवस्था तथा अनुबन्धित दूसरी व्याधियों का सम्यक् विचार करके योजना स्थिर करनी चाहिये। सोमल तथा बिस्मथ के योगों की मात्रा शरीर भार के अनुपात में स्थिर होती है तथा परिणाम सूची वेध की संख्या पर नहीं, प्रयुक्त औषध के प्रविष्ट

परिमाण पर निर्भर करता है। रोगी को लाक्षणिक निवृत्ति १-२ सप्ताह के औषधि प्रवेश से ही पूरे तौर पर हो जाती है, किन्तु पूरी व्यवस्था न करने से व्याधि का पुनरावर्तन होता है।

२. प्रारम्भिक क्रम के पूर्ण होने के ३ मास बाद रक्त परीक्षा कान तथा वासरमैन कसौटी की उपस्थिति के लिये करना आवश्यक है तथा पूरे चिकित्सा क्रम का कम से कम ३ बार प्रयोग व्याधि निर्मूलन के लिये अनिवार्य माना जाता है। रक्त में फिरङ्ग की अनुपस्थिति सिद्ध होने पर भी एक बार पुनः पूरे क्रम से ओषधियों का प्रयोग व्याधि की स्थायी निवृत्ति के लिये हितकर होता है।

३. सोमल, विस्मथ या पेनिसिलिन तीनों फिरङ्ग-नाशक ओषधियों का स्वतंत्र प्रयोग न कर के सोमल-विस्मथ या पेनिसिलिन-विस्मथ का प्रयोग व्याधि की अवस्था की दृष्टि से उचित होता है।

४. विस्मथ का फिरङ्ग की प्रथम अवस्था में अल्प, द्वितीय अवस्था में साधारण तथा तृतीय एवं चतुर्थ अवस्था में उत्तम परिणाम होता है और सोमल के योगों का प्रभाव प्रथम अवस्था में उत्तम, द्वितीय में मध्यम तथा तृतीय-चतुर्थ अवस्था में हीन श्रेणी का होता है।

५. फिरङ्ग की विलम्बी (Late) तथा सुप्त (Latent) अवस्थाओं में सोमल या अधिक मात्रा में पेनिसिलिन का प्रयोग आरम्भिक औषध के रूप में करने पर प्रतिक्रियात्मक परिणाम अधिक उत्पन्न होते हैं। इन अवस्थाओं में सोमल आदि के पूर्व विस्मथ के २-३ सूची वेध लगाना चाहिए।

६. फिरङ्ग-नाशक ओषधियों में पेनिसिलिन सभी दृष्टियों से उत्तम है। इसके पश्चात् विस्मथ का स्थान है। इसकी चिकित्स्य मात्रा तथा विषाक्त मात्रा में १:५० का अन्तर होता है और सोमल के योगों में यह अनुपात १.२० का तथा पारद में १.३ का अनुपात होता है।

७. सोमल तथा विस्मथ के योगों का फिरङ्ग चिकित्सा में प्रयोग करने पर सामान्यतः ३ वर्ष तक इनका सेवन कराना होता है। प्रायः प्रत्येक के १०-१५ सूची वेध सप्ताह में १ बार के क्रम से १०-१५ सप्ताह तक दे कर, ४ सप्ताह के विराम के बाद पुनः प्रयोग कराना चाहिए। कम से कम २ बार सारा प्रयोग करना पड़ता है और अन्तिम कोर्स के ३ मास बाद रक्त परीक्षा में फिरङ्ग की अनुपस्थिति मिलने पर पुनः ६ मास बाद परीक्षा करानी चाहिए। इस प्रकार ३०-६०-०३ अर्थात् सोमल के ३० सूची वेध, विस्मथ के ६० सूचीवेध तथा इनका लगातार ३ वर्ष तक प्रयोग, यह मान्य सिद्धान्त माना जाता है।

८. बालकों तथा स्त्रियों में सोमल के योगों का प्रयोग आवश्यक होने पर Acety-

larsan या Sulpharsenole का पेशी मार्ग से उचित मात्रा में प्रयोग किया जा सकता है, किन्तु मुख्यतया पेनिसिलिन का उपयोग ही उत्तम माना जाता है।

९. रोगी के उत्तम स्वास्थ्य तथा मनोबल का इस रोग से पूर्ण रूप में मुक्ति पाने में महत्व होता है तथा संयम न करने पर फिरङ्ग का नया आक्रमण भी हो सकता है—यह तथ्य विचारणीय है।

१०. पर्याप्त औषधोपचार करने के बाद लाक्षणिक लाभ हो जाने पर भी रक्त में कान तथा वासरमैन कसौटी के उपस्थित रहने पर सन्ताप चिकित्सा या मलेरिया चिकित्सा (Fever & malaria thrapy) का उपयोग कराना चाहिए।

११. पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में बिस्मथ, सोमल एवं आयोडाइड की मात्रा भार के अनुपात-क्रम से कुछ न्यून रखनी चाहिये।

औषधि व्यवस्था की दृष्टि से फिरङ्ग को निम्नलिखित शीर्षकों में बाँटना चाहिए—
सहज तथा गर्भावस्था का फिरङ्ग—

जन्मोत्तर फिरङ्ग—

प्रथम अवस्था—रक्त परीक्षा में कान तथा वासरमैन की उपस्थिति न रहने पर।

प्रथम अवस्था—कान तथा वासरमैन की उपस्थिति होने पर।

द्वितीय अवस्था—कान तथा वासरमैन परीक्षाओं के उपस्थित रहने पर।

तृतीय अवस्था—सुप्तावस्था।

व्यक्तावस्था या आन्तरिक अङ्गों की विकृति की अवस्था—रक्तवह संस्थान, यकृत एवं वृक्क आदि अंगों की फिरङ्गज विकृतियाँ।

चतुर्थावस्था—वात नाड़ी संस्थानगत विकृतियाँ, वात नाड़ी संस्थानगत उपद्रव—फिरङ्गी खञ्जता, फिरङ्गी सर्वांगघात आदि।

व्यावहारिक क्रियाक्रम—

सहज फिरङ्ग—

सहज फिरङ्ग की व्यवस्था जन्मोत्तर फिरङ्ग के समान ही होती है। जन्म के प्रारम्भिक वर्षों में उपचार करने पर सन्तोषजनक लाभ हो जाता है, किन्तु ७–८ वर्ष की आयु के बाद अंगों में स्थायी स्वरूप की विकृतियाँ उत्पन्न होने पर, रक्तगत फिरङ्ग के दोष के ठीक होने पर भी विशेष लाभ नहीं हो पाता।

एक वर्ष की आयु तक—

१. पेनिसिलिन ३०–६० मि० ग्रा० ६ घण्टे के अन्तर पर, २० दिन तक।

२. पारद का मलहम (Ung. Hydrarg)—एक चिकने कपड़े पर १ ग्राम की मात्रा में लगाकर, कपड़े का टुकड़ा मलहम की तरफ से पेट पर रख कर ६ घण्टे तक लगा रहना चाहिये। दूसरे दिन इसी प्रकार जांघ या पीठ पर पुनः प्रयोग किया जा सकता है। सप्ताह में ६ दिन के क्रम से ६ सप्ताह तक इस प्रयोग को करना

चाहिये तथा ३ सप्ताह के प्रयोग के बाद १ सप्ताह का विराम देना चाहिये। बालक की वय एक वर्ष से अधिक होने पर पूर्व क्रम एक बार पूरी तरह से पुनः करना चाहिये। ३-६ मास के विराम से औसतन इस प्रकार के ३ कोर्स पूरे करने चाहिये।

२ वर्ष से अधिक आयु होने पर—

ओषधियों की सारी व्यवस्था पूर्ववत् रहती है, केवल उनकी मात्रा बढ़ा देनी चाहिये। पेनिसिलिन ६० मि० ग्रा० दिन में ४ बार, २० दिन तक तथा पारद मलहम २ ग्राम की मात्रा में प्रतिदिन पूर्ववत् क्रम से। मुख द्वारा पेनिसिलिन का प्रयोग करने पर वमन, अतिसार आदि विपरीत अवस्थायें न रहने पर उचित प्रचूषण हो जाता है। मुख द्वारा प्रयोग संभव न होने पर प्रोकेन पेनिसिलिन १ लाख यूनिट की दैनिक मात्रा में, पन्द्रह दिन तक या पी० ए० एम० (P. A. M.) ३ लाख यूनिट की मात्रा में प्रति तीसरे दिन ५ सप्ताह तक या सप्ताह में २ बार ६ सप्ताह तक देना चाहिये।

५ वर्ष से अधिक अवस्था होने पर—

बालकों में वयस्कों के समान ही मात्रा का निर्धारण किया जाता है तथा पोटास आयोडायड का ५-१० ग्रेन की मात्रा में पर्याप्त समय तक प्रयोग करना आवश्यक होता है।

गर्भावस्था—

गर्भधारणा के बाद फिरङ्ग के दोष का अनुमान होने पर रक्त परीक्षाओं के द्वारा उसकी पुष्टि कर लेनी चाहिये। कदाचित् रक्त परीक्षा में फिरंग का दोष अनुपस्थित रहने पर व्याधि के पूर्व लक्षणों से तथा पति के रक्त की परीक्षा कराकर व्यवस्था करना चाहिये। गर्भावस्था में सोमल के योगों का प्रयोग प्रायः नहीं किया जाता। किन्तु एसिटिलार्सन ३ सी० सी० की मात्रा में या सल्फार्सेनाल का वर्धमान क्रम से प्रयोग करने पर कोई विषाक्त परिणाम उत्पन्न होते नहीं देखे गये। यदि फिरङ्ग की चिकित्सा में पेनिसिलिन का पहले प्रयोग हो चुका हो तो बाद की चिकित्सा के लिये इनका उपयोग किया जा सकता है।

पेनिसिलिन की ६ लाख यूनिट की दैनिक मात्रा १० दिन तक देने के बाद पेनिक्लोर के दीर्घकालीन योग की एक मात्रा ११वें दिन तथा २०वें दिन देनी चाहिये।

बिस्मोस्टैब या बिसग्लूकोल एक सी० सी० की मात्रा में, सप्ताह में एक बार के क्रम से, पन्द्रह सूचीवेध। ३ मास बाद इस क्रम का पुनः प्रयोग, रक्त परीक्षा में फिरङ्ग दोष के मिलने पर, किया जा सकता है।

फिरङ्ग की विशिष्ट चिकित्सा के अतिरिक्त गर्भिणी के लिये आवश्यक कैलसियम, लौह, जीवतिक्ति वर्ग आदि की उचित मात्रा में व्यवस्था करना चाहिये।

फिरङ्ग की प्राथमिक अवस्था में रक्त में दोषों के अनुपस्थित रहने पर—

१. क्रिस्टलाइन पेनिसिलिन—प्रारम्भिक मात्रा ५० हजार यूनिट; बारह घण्टे बाद

१ लाख यूनिट, दो दिन तक दिन में २ बार प्रयुक्त करते रहना चाहिये। बाद में ५ लाख यूनिट १२ घण्टे के अन्तर पर दस दिन तक। ग्यारहवें दिन पेनिड्यार या डायमिन पेनिसिलिन ६ लाख यूनिट की मात्रा में लगा देना चाहिये।

२. सल्फार्सेनाल १८ Ct. gm. की मात्रा से प्रारम्भ कर प्रति सप्ताह बढ़ाते हुये, ५ ग्राम की पूर्ण मात्रा आर्सेनोसॉलवेन्ट (Arseno solvent) में घोल बनाकर या १२॥ प्रतिशत ग्लूकोज ५ सी० सी० की मात्रा में मिलाकर पेशीगत सूचीवेध देना चाहिये।

तीन मास के अन्तर से कम से कम २ बार रक्त की पुनः परीक्षा कराना चाहिये तथा वासरमैन या कान की उपस्थिति मिलने पर पूरी व्यवस्था का पुनः प्रयोग करना चाहिए। रक्त में फिरङ्ग का दोष अनुपस्थित रहने पर कोई आवश्यकता नहीं।

प्रारम्भिक अवस्था में रक्त परीक्षाओं में फिरङ्ग के उपस्थित रहने पर या फिरङ्ग का पुनरावर्तन होने पर या फिरङ्ग की सुप्तावस्था में—

१. पी० ए० एम० ६ लाख यूनिट की दैनिक मात्रा पेशी मार्ग से १० दिन तक, ११वें १४वें १७वें दिन डायमिन पेनिसिलिन या पेनिड्योर।

२. बिसग्लूकोल—१ सी० सी० की १ मात्रा पेशी मार्ग से सप्ताह में १ बार, दस सप्ताह तक।

तीन मास के विराम के बाद पुनः रक्त परीक्षा कराना चाहिये तथा जब तक रक्त में फिरङ्ग के दोषों की अनुपस्थिति न सिद्ध हो, पूर्वोक्त क्रम से ३ मास का विराम देते हुये पूरे कोर्स का कई बार प्रयोग करना पड़ सकता है। रक्त में परीक्षाओं के अनुपस्थित रहने पर अन्त में एक कोर्स और अधिक दे देना चाहिये।

द्वितीय अवस्था—

१. एन० ए० बी० (N. A. B.) प्रारंभिक मात्रा—·३० × १ = ·३ ग्राम
·४५ × ६ = २·७ ग्राम
·६० × ६ = ३·६ ग्राम
योग ६·६ ग्राम

सप्ताह में एक मात्रा, सिरा द्वारा, बारह सप्ताह तक।

२. बिसग्लूकोल एक सी० सी० सप्ताह में १ बार, १५ सप्ताह तक।

३. पौटैशियम आयोडाइड १० से ३० ग्रेन की मात्रा में दिन में २ बार, २ मास तक।

उक्त क्रम से चिकित्सा पूर्ण होने के १ मास बाद P. A. M. ६ लाख की दैनिक मात्रा में १० दिन देकर पेनिड्योर या डायमिन पेनिसिलिन के प्रति चौथे दिन, ३ सूचीवेध देना चाहिये।

हर तीसरे महीने रक्त परीक्षा कराते रहना आवश्यक है तथा जबतक व्याधि का निर्मूलन न हो जाय, उक्त क्रम से ओषधि प्रयोग चलाते रहना चाहिये।

द्वितीय अवस्था के लक्षणों के शान्त हो जाने तथा तृतीय अवस्था के प्रारम्भिक लक्षणों के बीच में, पर्याप्त समय तक सुप्तावस्था रहती है। प्रारम्भिक-व्रण की उत्पत्ति के १-१॥ वर्ष बाद यह अवस्था आती है। तृतीय अवस्था के २-३ वर्ष बाद भी प्रायः यही स्थिति उत्पन्न होती है। इसमें सोमल या पेनिसिलिन का प्रयोग प्रारम्भ करने के पूर्व ३ सप्ताह तक आयोडाइड एवं विस्मथ का प्रयोग करना चाहिए। पूरी व्यवस्था निम्नलिखित क्रम से करना चाहिए।

१. विस्ग्लूकोल १ सी० सी० सप्ताह में २ बार, ४ सप्ताह तक।

२. पोटास आयोडाइड १५-३० ग्रेन की मात्रा में, दिन में २ बार।

इसका ४ सप्ताह तक प्रयोग होने के बाद प्रोकेन बेंजिल पेनिसिलिन—डायमिन या पेनिडयोर आदि—को ६ लाख यूनिट की दैनिक मात्रा में १५ दिन तक तथा प्रति तीसरे दिन के क्रम से १५ सूच्यावेध। विस्ग्लूकोल को २० सी० सी० की मात्रा के पूर्ण होने तक पेनिसिलिन के साथ प्रयोग करते रहना चाहिए तथा आयोडाइड का ३ मास तक प्रयोग कराना चाहिए।

इसके ३ मास बाद पेनिसिलिन को पुनः १५ दिन तक ६ लाख यूनिट की मात्रा में, ६ मास बाद पुनः इसी क्रम से और इसके बाद १ वर्ष के अन्तर से ३ कोर्स और देना चाहिए।

तृतीयावस्था—

यही व्यवस्था तृतीयावस्था में भी हितकर होती है। केवल आयोडाइड को बढ़ी हुई मात्रा (३०-६० ग्रेन दिन में २ बार) देना चाहिए। विस्मथ को ३ मास तथा ६ मास बाद पुनः प्रयुक्त करना चाहिए तथा उसके बाद केवल पेनिसिलिन का ही प्रयोग करना चाहिए, विस्मथ या आयोडाइड की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी।

चतुर्थावस्था—

चतुर्थ अवस्था की व्यवस्था में भी ओषधियाँ यही रहती हैं मात्रा में भी कोई अन्तर नहीं होता। इस अवस्था में वात नाड़ी संस्थान के विशेष उपद्रव उत्पन्न होते हैं तथा तृतीय अवस्था में भी हृदय, मस्तिष्क, वृक्क आदि में विशेष विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं, उन सबका पृथक्-पृथक् उपचार लिखा जा रहा है।

फिरङ्ग के रक्तवह संस्थानीय उपद्रव—

प्रारम्भिक उपसर्ग के १५-३० वर्ष के उपरान्त इस वर्ग के उपद्रव उत्पन्न होते हैं। महाधमनी के मध्यम स्तर में शोथ तथा अपजनन होने के कारण महाधमनी विस्तृति (Aortic dialtation), धमन्यभित्तीर्णता (Aneurysm), महाधमनी द्वार

की अकार्यक्षमता (Aortic incompetence), हृदय धमनी संकोच (Coronary stenosis) आदि विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं। ४०-५० वर्ष के निकट की आयु में हृदय धमनी या मस्तिष्क धमनी की घनास्रता, अर्द्धांग घात आदि उपद्रव प्रायः फिरङ्ग की अपर्याप्त चिकित्सा के कारण इस अवस्था में उत्पन्न होते हैं। फिरङ्ग के कारण उत्पन्न इस श्रेणी के हृदय के विकारों में हृदय काफी बड़ा (Cardiac enlargement) तथा हृदय मांसपेशी कुछ कठोर-सी हो जाती है। परिश्रम करने या सीढ़ी चढ़ने पर हृच्छूल (Coronray insufficiency & Angina pectoris) का अनुभव या क्षुद्रश्वास (Dyspnea on exertion) का अनुभव इन अवस्थाओं में मुख्य लक्षण होते हैं।

पूर्ण विश्राम, अल्प लवण तथा जीवतिक्ति ए० ई० सी० तथा बी० (A. E. C. & B.) का पर्याप्त मात्रा में प्रयोग, एमिनोफायलीन या यूफाइलिन (Aminophyllin or Euphyllin etc,) का .२५ ग्राम की मात्रा में सिरा द्वारा प्रयोग लाक्षणिक शान्ति के लिए किया जाता है। फिरङ्ग-नाशक ओषधियों का प्रयोग पूर्ण विश्राम करते रहने पर ही देना चाहिए तथा मात्रा में वृद्धि बहुत धीरे-धीरे करनी चाहिए।

पोटास आयोडाइड १०-२० ग्रेन की मात्रा में २ या ३ बार १ मास तक देने के बाद बिस्मथ के योग (मुख्यरूप में Bismuth tartrate) १-२ सी० सी० की मात्रा में सप्ताह में २ बार ४ सप्ताह और सप्ताह में १ बार ६ सप्ताह देना चाहिए। इसके बाद पी० ए० एम० ६ लाख यूनिट की मात्रा में २० दिन तक दैनिक रूप में देना चाहिए। पूरा कोर्स समाप्त होने के बाद ३ मास तक लक्षणों में उत्पन्न परिवर्त्तनों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करके, लाभ होने पर पुनः इसी क्रम से ३ मास के अन्तर पर २ कोर्स अथवा लाभ न होने पर मैफार्साइड या सल्फार्सेनॉल कम मात्रा में सावधानीपूर्वक देना चाहिए। इसके साथ भी बिस्मथ एवं आयोडाइड का प्रयोग चलता रहेगा।

दक्षिण हृदयातिपात (Congestive heart failure) के लक्षण होने पर आयोडाइड अधिक अनुकूल नहीं होता। ऐसी अवस्था में बिस्मथ तथा सोमल का संयुक्त योग—बिस्मारसेन (Bismarsen) या बिस्मोस्टेब (Bismostabe) अथवा सोडियम बिस्मथ टारट्रेट (Sodium bismuth tartrate) का प्रयोग २ सी० सी० की मात्रा में सप्ताह में १ बार, १५ सप्ताह तक करना चाहिये।

हृदय धमनी संकोच तथा महाधमनी की अभिस्तीर्णता में भी पूर्वोक्त क्रम से आयोडाइड तथा पेनिसिलिन का प्रयोग करते हैं। आयोडाइड के स्थान पर आयोडीन के दूसरे योग—एण्टोडॉन तथा आइडोगेनॉल (Entodone or Iodogenol) का २ सी० सी० की मात्रा में पेशी मार्ग से प्रयोग किया जाता है। कुछ अनुभवी चिकित्सकों की राय में इनके सह-प्रयोग से विशेष लाभ होता है।

फिरङ्गज वात नाड़ी संस्थान के विकार—

मस्तिष्कावरण में गोंदार्बुद या मस्तिष्कगत रक्तवाहिनियों में संकोच होने पर पोटास आयोडाइड की मात्रा बढ़ाई जाती है। १५ ग्रेन दिन में ३ बार देते हुये ६० ग्रेन दिन में ३ बार तक देना चाहिये। कुछ दिनों तक आयोडाइड का प्रयोग चलाने के बाद बिस्मथ का पूर्ववत् १२-१५ सप्ताह प्रयोग, सप्ताह में एक बार के क्रम से करना चाहिये। इसके बाद पेनिसिलिन (P. A. M.) का ६ लाख यूनिट में २०-३० दिन तक दैनिक प्रयोग करना चाहिये।

ट्रिपार्सामाइड (Tryparsamide)—

फिरङ्ग की वात-संस्थानीय व्याधियों में इस सोमल योग का विशेष उपयोग होता है। इसका प्रयोग कराते समय निम्न तथ्य ध्यान में रखने चाहिये।

१. इसका प्रयोग फिरङ्गी खञ्जता या व्यापक फिरङ्गज सर्वांग घात आदि अङ्गघात-रूपी उपद्रवों की उत्पत्ति के पूर्व हितकर होता है, बाद में नहीं।

२. इससे कभी-कभी मानसिक आघात होकर वातिक उन्माद, क्रोध, जोर से बोलना-चिल्लाना आदि लक्षण हो सकते हैं। परिचारकों को इन लक्षणों की सम्भाव्य उत्पत्ति की जानकारी रहनी चाहिये।

३. कुछ रोगियों में इसके ५ सूचीवेध के बाद दृष्टि वात नाड़ी क्षय (Optic atrophy) का उपद्रव उत्पन्न होता है। अतः इसका प्रयोग करने के पूर्व नेत्रों की सम्यक् परीक्षा करा लेना आवश्यक है।

४. इसके द्वारा मुख्य रूप से वात नाड़ी संस्थान की प्रसादिक नाड़ी फिरङ्ग (Parenchymatous neuro syphilis) विकृति में लाभ हो सकता है। शारीरिक बल-वृद्धि, पुष्टि तथा वातिक लक्षणों की निवृत्ति होने में ४-६ मास का समय लगता है।

५. इसकी १ से ३ ग्राम की मात्रा १० सी० सी० परिश्रुत जल में घुलाकर सिरा द्वारा सप्ताह में एक बार दी जाती है। सम्पूर्ण कोर्स में २५-३० ग्राम तक ट्रिपार्सामाइड का प्रयोग होता है।

६. पोटास आयोडाइड एवं विस्मथ का प्रयोग इसके साथ चलता रह सकता है।

फिरङ्गी खञ्जता (Tabes dorsalis)—

इसमें फिरङ्ग के कारण नाड़ी तन्तुओं (Neurones) तथा दूसरे नाड़ी संस्थान के अवयवों में अपजननमूलक परिवर्तन होते हैं।

१. विस्मथ २ ग्राम (प्रायः १ सी० सी० में १ ग्राम ओषधि रहती है)। पेशी मार्ग से सप्ताह में १ या २ बार, १५-२० सप्ताह तक।

२. ट्रिपार्सामाइड १-२ ग्राम की मात्रा में सप्ताह में १ बार, ३० ग्राम तक।

३. पोटास आयोडाइड २०-६० ग्रेन की मात्रा में ३ बार, ३ मास तक।

एक कोर्स पूरा होने के ३ मास बाद प्रायः दूसरा कोर्स प्रारम्भ कर देना चाहिये। इस प्रकार कम से कम २ वर्ष व्यवस्था चलाना आवश्यक होता है।

४. ट्रिपार्समाइड का प्रयोग हितकर न होने पर पेनिसिलिन (P. A. M.) का प्रयोग ६ लाख यूनिट की मात्रा में १० दिन तक करना चाहिये तथा पूर्ववत् ३-४ मास के विराम के बाद पुनः प्रयोग करना चाहिये।

प्रारम्भिक अवस्था में इस उपचार से लाभ हो जाता है। शेष लक्षणों का शामक उपचार करना चाहिये।

सन्ताप चिकित्सा—

फिरङ्गी खञ्जता तथा व्यापक नाड़ी सर्वाङ्गघात (G. P. I.) के रोगियों में तीव्र स्वरूप के सन्ताप का कुछ दिनों तक अनुबन्ध रहने पर बहुत लाभ होते देखा गया है। फिरङ्ग चक्राणु ताप को बहुत कम सहन कर पाता है। इस अनुभव के आधार पर अनेक रूप से ताप की वृद्धि द्वारा इन अवस्थाओं में उपचार किया जाता है।

विषम ज्वर चिकित्सा (Malarial therapy)—

घातक तृतीयक विषम ज्वर (Benign tertian) से पीड़ित व्यक्ति का रक्त ५ सी० सी० से १० सी० सी० की मात्रा में फिरङ्गी खञ्जता या व्यापक सर्वाङ्ग घात से पीड़ित रोगी के शरीर में प्रविष्ट किया जाता है। इस प्रकार विषम ज्वर के जीवाणु इन रोगियों के शरीर में पहुँच कर कुछ समय तक सम्वर्धित होने के बाद तीव्र स्वरूप का ज्वर उत्पन्न करते हैं। ज्वर १०४-१०५ के आस-पास, कम से कम ४-५ घण्टे प्रतिदिन के क्रम से ८-१० दिन तक आता रहे, तो परिणाम अच्छा होता है। भारतवर्ष में फिरङ्गी खञ्जता या इस श्रेणी के फिरङ्गज वात नाड़ी संस्थानीय विकार बहुत कम मिलते हैं। सम्भवतः अनेक प्रकार के सन्तापोत्पादक संक्रामक विकारों के परिणाम से कभी न कभी तीव्र स्वरूप के ज्वर ग्रस्त होते रहने के कारण फिरङ्ग के दोष का स्वतः शमन हो जाता होगा।

विजातीय प्रोभूजिन चिकित्सा (Foreign protein therapy)—

T. A. B. वैक्सिन का सिरा द्वारा प्रयोग, स्नेहांश विरहित दुग्ध का (Milk injections) पेशी मार्ग से प्रयोग आदि का उपयोग फिरङ्ग की इस अवस्था की चिकित्सा में सन्ताप वृद्धि के लिये किया जाता है। किन्तु सभी रोगियों में सन्ताप वृद्धि का परिणाम एक सा न होने के कारण तथा इनके प्रयोग-क्रम में विशेष प्रकार की सावधानी की आवश्यकता होने के कारण इनका व्यापक प्रयोग नहीं किया जा सकता।

डायथर्मी (Diathermy or Enductothermy)—

विद्युत द्वारा शरीर के भीतर उत्ताप की वृद्धि इस यन्त्र से होती है। किन्तु सारे शरीर में व्यापक रूप से एक काल में ताप वृद्धि न होने के कारण इसका बहुत सफल परिणाम नहीं होता।

उष्ण वाष्प स्वेद (Steam therapy)—

विशेष प्रकार के काठ के बक्स में रोगी को आकण्ठ बैठाकर भीतर से गरम वाष्प प्रविष्ट की जाती है। बक्स के भीतर का ताप १०४-१०५° अंश फारेनहाइट के आस-पास नियन्त्रित रक्खा जाता है। रोगी के मस्तक पर गरम वाष्प नहीं पहुँचायी जाती तथा अधिक बेचैनी होने पर मस्तक पर गीला कपड़ा रक्खा जाता है। पीने के लिये नमक, ग्लूकोज, नीबू मिला हुआ गरम पानी दिया जाता है। इस प्रकार ६-७ घण्टे रोगी को रखना चाहिये। इस प्रक्रिया से शरीर के भीतरी अङ्गों में ताप की वृद्धि होती है। किन्तु इतने समय तक उत्तप्त वाष्प में रह सकना सभी रोगियों के लिये सम्भव नहीं होता।

व्यापक फिरङ्गज सर्वाङ्ग घात (General paralysis of insane)—

पोटैसियम आयोडाइड, विस्मथ तथा पेनिसिलिन का पूर्व निर्दिष्ट क्रम से प्रयोग कराना चाहिये। सर्वाङ्गघात हो जाने पर इन औषधियों से विशिष्ट लाभ नहीं होता। किन्तु सन्ताप चिकित्सा के पूर्व इन औषधियों के कम से कम दो कोर्स प्रयुक्त कराना आवश्यक है। इसके बाद कम से कम २ कोर्स ट्रिपार्समाइड के देने चाहिये तथा पर्याप्त समय तक शारीरिक स्वास्थ्य की वृद्धि के लिये जीवतिक्ति वर्ग, लौह, प्रोभूजिनों के योगों का सेवन कराना चाहिये। इस प्रकार विशिष्ट उपचार तथा पुष्ट शरीर होने के बाद रोगी सन्ताप चिकित्सा से अधिक लाभान्वित होता है। ऊपर वर्णित सन्ताप की किसी विधि का सुविधानुसार उपयोग करना चाहिये।

परङ्गी

Yaws

विशिष्ट चक्राणु का शरीर के किसी क्षत द्वारा सम्पर्क होने पर सर्वाङ्ग में प्रसार होता है तथा फिरङ्ग के समान वात नाड़ी संस्थानीय विकृतियों के अतिरिक्त लक्षण उत्पन्न होते हैं।

यह उष्ण कटिबन्धक प्रदेशों में संसर्ग द्वारा प्रसारित होता है। जन्मोत्तर फिरङ्ग के समान इसके लक्षणों का क्रम भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में विभाजित किया जा सकता है।

प्राथमिक अवस्था—

उपसर्ग के ३ सप्ताह बाद शरीर के किसी भाग में उत्कर्णिक (Papular rash) विस्फोट निकलता है। प्रायः अधोशाखा में विस्फोट सर्वप्रथम प्रारम्भ होता है। प्राथमिक विस्फोट एक या अनेक हो सकते हैं। यह अत्यन्त चिरकालीन स्वरूप का १-१॥ वर्ष तक रहनेवाला, वेदना रहित तथा क्रमिक रूप से बढ़नेवाला होता है। इसके ऊपर

चाँदी के समान चमकीले पतले स्तर संचित होते रहते हैं। विस्फोटों के अतिरिक्त मध्यम स्वरूप का ज्वर, कम्प, शिरःशूल, सर्वाङ्ग वेदना, कटि शूल, अस्थियों एवं सन्धियों में रात्रि में तीव्र वेदना, अतिसार, विस्फोट से सम्बद्ध स्थानीय लस ग्रन्थियों की वृद्धि आदि लक्षण होते हैं।

द्वितीय अवस्था—

इस अवस्था में सर्वप्रथम शरीर के किसी अवयव की त्वचा पर हलके रंग के चाँदी के समान, चमकीले चकत्ते उत्पन्न होते हैं। बहुसंख्यक चकत्तों के कारण त्वचा शुष्क सी तथा सूखे आटे से लिप्त सी ज्ञात होती है। इसे निस्तरण (Disquamation) संज्ञा दी गई है।

प्राथमिक विकृति के ३ मास बाद स्तरित चकत्तों (Disquamated patches) पर सूक्ष्म कर्णिक विस्फोट उत्पन्न होते हैं। जो प्रायः शरीर के दोनों पार्श्वों के समान स्थानों में, अनावृत अंगों के बाहरी भाग पर अधिक निकलते हैं। सुई की नोक के बराबर छोटे से लेकर १ इंच तक की परिधि के विस्फोट हो सकते हैं। इनके ऊपरी भाग पर पीले रंग का गाढ़ा द्रव संचित होता है जो धीरे-धीरे सूखकर खुरण्ड के रूप में परिवर्तित हो जाता है। खुरण्ड के निकल जाने पर उस स्थान की त्वचा मोटी तथा गहरे रंग की (Hyper pigmented) हो जाती है। इन विस्फोटों में वेदना नहीं होती, किन्तु तीव्र स्वरूप के कण्डू का कष्ट रहता है।

तृतीय अवस्था—

इस अवस्था में त्वचा एवं अस्थियों पर विशेष प्रकार की विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं। द्वितीय अवस्था के कर्णिक विस्फोटों के ऊपर की त्वचा के विनष्ट होने पर व्रण उत्पन्न होते हैं। यह व्रण काफी बड़े, शरीर के विभिन्न अंगों पर व्यापक रूप से उत्पन्न होते हैं तथा त्वचा एवं निकट की धातुओं का अत्यधिक विनाश इनके द्वारा हो जाता है। हस्त, पादतल के पर्त के पर्त निकलते रहते हैं तथा पादतल पर प्रायः व्रण उत्पन्न हो जाते हैं।

परङ्गी चक्राणुओं के कारण अस्थियों में व्यापक स्वरूप की विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं। अस्थ्यावरण शोथ (Periosteitis), अस्थि शोथ (Osteitis), उपास्थि शोथ (Epiphysitis), अंगुल्यस्थि शोथ (Dactylitis) आदि शोथमूलक परिणाम उत्पन्न होते हैं। अग्र बाहु की अस्थियों एवं अन्तःजंघास्थि पर अस्थ्यावरणीय ग्रन्थियाँ (Periosteal nodes) उत्पन्न होती हैं, जिनमें अत्यधिक वेदना होती है। शरीर की दूसरी विकृत अस्थियों पर भी इस प्रकार की ग्रन्थियाँ बन सकती हैं। अन्तः जंघास्थि तलवार के समान उन्नतोदर (Convex) हो जाती है। नासा सेतु, तालु आदि अस्थियों में विकृति होने पर इन अस्थियों का विनाश होता है जिससे रोगी की वाणी सानुनासिक या विशेष प्रकार की ध्वनियुक्त हो जाती है।

प्रायोगिक परीक्षा—

प्रारम्भिक अवस्था में कर्णिक विस्फोटों से तथा द्वितीय अवस्था में रक्तमज्जा-लस ग्रन्थियों तथा प्लीहा से प्राप्त द्रव की परीक्षा से विशिष्ट चक्राणु मिल सकते हैं। फिरङ्ग के समान परङ्गी में भी रक्त परीक्षा में वासरमैन तथा कान की कसौटियाँ अस्त्यात्मक होती हैं।

रोग विनिश्चय—

इसका फिरङ्ग से पार्थक्य करना चाहिये। प्राथमिक विकृति की प्रजननेन्द्रियेतर अंगों में उत्पत्ति, उसका अत्यन्त जीर्ण स्वरूप, फिरङ्गोपसृष्ट व्यक्ति के साथ रतिकर्म के इतिहास का अभाव, द्वितीय अवस्था के विस्फोटों में तीव्र कण्डू तथा रजत वर्ण के पतले स्तरों का सञ्चय, बृहद् आकार वाले अत्यन्त व्यापक एवं विनाशकारी व्रणों की उपस्थिति आदि लक्षणों के आधार पर रोग विनिश्चय किया जाता है।

चिकित्सा—

फिरङ्ग-नाशक विशिष्ट ओषधियों—पेनिसिलिन, सोमल तथा विस्मथ के योगों—का प्रयोग परङ्गी चिकित्सा में पूर्ण लाभकारक होता है। इसमें अपेक्षाकृत कम समय तक चिकित्सा की आवश्यकता होती है और वात नाड़ी संस्थान या हृदय, मस्तिष्क, वृक्क आदि अंगों में विकृति न होने के कारण आयोडाइड की अधिक उपयोगिता नहीं होती।

वंक्षणीय लस कणिकार्बुद

Lymphogranuloma inguinale or climatic bubo

उपसृष्ट व्यक्ति के साथ सहवास के बाद उत्पन्न होने वाला विषाणुजनित विकार जिसमें जननेन्द्रियों तथा निकट के अंगों में विसर्प सदृश व्रण, सम्बद्ध लस ग्रन्थियों की शोथमूलक वृद्धि तथा सामान्य ज्वर के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में यह अधिक होता है तथा प्रायः सभी देशों में इसके रोगी मिलते हैं। लस ग्रन्थियों में व्यापक शोथ तथा पूयोत्पत्ति होने पर भी वेदना एवं विषमयता का विशेष कष्ट नहीं होता। उपसृष्ट होने के ७ से २१ दिन बाद स्थानीय लक्षण उत्पन्न होते हैं।

लक्षण—

प्रारम्भ में जननेन्द्रिय पर परिसर्प (Herpes) के समान छोटा-सा प्राथमिक व्रण (Primary sore) उत्पन्न होता है जो देखने में स्वच्छ तथा त्वचा के ऊपर

से चिपका हुआ-सा, परिधियुक्त होता है। व्रण की सतह श्वेत वर्ण की तथा परिधि के चारों ओर रक्त वर्ण का वलय (Zone) प्रायः रहता है। कुछ काल पश्चात् यह व्रण स्वयं भर जाता है।

प्रारम्भिक उपसर्ग के १–१॥ मास बाद कम्प के साथ अनियमित या अर्ध-विसर्गी (Remittent) स्वरूप का ज्वर प्रारम्भ होता है। वंक्षण की लस ग्रन्थियों तथा उनसे सम्पृक्त कोषाओं में शोथ उत्पन्न होता है। प्रारम्भ में इनके ऊपर की त्वचा का वर्ण रक्तिम होता है, कुछ काल बाद नीलाभ बैंगनी रंग का हो जाता है। लस ग्रन्थियों में पीडनाक्षमता (Tenderness) तथा पूयोत्पत्ति होती है। कुछ काल बाद लस ग्रन्थियाँ आपस में सम्पृक्त (Matted) हो जाती हैं तथा ऊपर की त्वचा का विदारण होकर व्रण का निर्माण होता है। शरीर के दूसरे अंगों की लस ग्रन्थियों की वृद्धि भी कचित् होती है, किन्तु वेदना नहीं होती। ज्वर एवं लस ग्रन्थियों की वृद्धि के अतिरिक्त सन्धियों एवं शरीर में पीड़ा, सन्धि शोथ तथा उनमें तरल का सञ्चय, वमन, कामला तथा शीत पित्त सदृश विस्फोट उत्पन्न होते हैं। मलाशय के निकट की लस ग्रन्थियों में पूयोत्पत्ति तथा विदारण होने के बाद भगन्दर या नाड़ी व्रण आदि उत्पन्न होते हैं। स्त्रियों में योनि-मलाशय भगन्दर तथा मलद्वार के पास विदारण करने वाला भगन्दर अधिक होता है। मलाशयिक लस ग्रन्थियों के शोथ के कारण मल मार्ग में संकोच (Stricture) उत्पन्न होता है, जिससे मलावरोध के लक्षण उत्पन्न होते हैं। रक्त में श्वेत कायाणूत्कर्ष का लक्षण मिलता है। ज्वर प्रायः ८–१० दिन बाद स्वतः शान्त हो जाता है। कभी-कभी आन्त्रिक ज्वर के समान या अनियमित स्वरूप का १–२ मास तक बना रह सकता है।

रोग विनिश्चय—

अवैध सहवास का इतिहास, जननेन्द्रिय पर उपरितन प्राथमिक व्रण (Superficial primary sore), वंक्षण की लस ग्रन्थियों की वृद्धि-शोथ तथा पूयोत्पत्ति के बाद विदार और उनमें पीड़ा की न्यूनता आदि लक्षणों के आधार पर इसका निदान किया जाता है। रतिजन्य दूसरे विकारों से इसका पार्थक्य उनकी विशिष्ट परीक्षाओं की अनुपस्थिति से करना चाहिए। इसकी उपस्थिति का निर्णय फ्रे हॉफ मान कसौटी (Frei-hoffmann test) तथा कालज्वर के समान फार्मेल्डेहाइड कसौटी (Formalde hyde test) के द्वारा प्राप्त अस्त्यात्मक (Positive) परिणामों के आधार पर किया जा सकता है।

चिकित्सा—

शुल्वौषधियों के प्रयोग से पूर्ण लाभ हो जाता है। प्रतिजीवी वर्ग की औषधियाँ भी प्रभावकारी मानी जाती हैं। सल्फाडायजीन या एल्कोसिन १–२ टिकिया की मात्रा

में ३ बार ८–१० दिन तक देना चाहिए। लसग्रन्थियों का विदार होने पर व्रणवत् उपचार करना चाहिए अन्यथा पूय सञ्चय के लक्षण उत्पन्न होने पर मोटी सुई द्वारा पूय का प्रचूषण (Aspiration) करना चाहिए। सन्धि शोथ का शमन शुल्व ओषधियों एवं स्थानीय सेंक आदि उपचारों द्वारा हो जाता है।

वंक्षणीय कणिकार्बुद

Granuloma inguinale or granuloma venereum

रति सम्पर्क द्वारा अज्ञात जीवाणु से उपसृष्ट होने पर अति जीर्ण स्वरूप के व्रणों की उत्पत्ति प्रजननेन्द्रियों पर होती है। मुख्यरूप से उष्ण प्रदेशों में इसका प्रसार होता है। पुरुषों तथा स्त्रियों में समान रूप से बाल्यावस्था के बाद इसका प्रकोप होता है। अभी तक इसके उत्पादक जीवाणु का सही निर्धारण नहीं हो सका। कुछ अनुसन्धान-कर्त्ताओं (Donovan & others) ने इसके व्रणों में अण्डाकार सूक्ष्म दण्डाणु—जो विशेषरूप में एक कायाणुओं में अधिष्ठित रहता है—की बहुत से रोगियों में उपलब्धि की है, किन्तु उसका पूर्ण परिज्ञान नहीं हो सका। इसका प्रसार दूषित जन-रति सम्पर्क के बाद ही होता माना जाता है।

उपसर्ग के १८ दिन से २१ दिन के भीतर, क्वचित् सम्पर्क के २-३ मास बाद में भी इसके परिणाम से जननेन्द्रिय की त्वचा तथा श्लेष्मलकला पर व्रण उत्पन्न होते हैं। व्रण पीडारहित, प्रसरणशील तथा अतिजीर्ण स्वरूप के होते हैं। इनमें रक्त वर्ण के कणिकार्बुद (Granulomata) उत्पन्न होते हैं, जिनको थोड़ा-सा भी दबाने पर रक्तस्राव होने लगता है। व्रण की परिधि स्पष्ट रहती है तथा धीरे-धीरे सम्पूर्ण जननेन्द्रिय पर फैलकर ऊरु, उदर तथा अण्डकोष की त्वचा पर भी उत्पन्न होते जाते हैं। इनका प्रसार साक्षात् सम्पर्क से त्वचा पर होता जाता है, लसवाहिनियों के द्वारा प्रसार न होने के कारण लसग्रन्थियों में शोथ नहीं होता। व्रणों से पर्याप्त मात्रा में दुर्गन्धित पूय का स्राव होता रहता है। पुराने व्रणों का स्वतः रोपण होकर व्रण धातु बनती है, किन्तु बीच-बीच में पुराने व्रण-स्थानों पर पुनः नवीन व्रण उत्पन्न होते रहते हैं। त्वचा के ऊपर इनका प्रसार महीनों में धीरे-धीरे, किन्तु श्लेष्मल कला पर बहुत शीघ्रता से होता है। उपचार न होने पर सीवनी, मलद्वार, मलाशय आदि समीप के सभी अवयवों में इसका प्रसार हो जाता है। श्लेष्मल कला के व्रणों का रोपण प्रायः नहीं होता, स्थायी स्वरूप के व्रण बने रहते हैं। व्रणों में वेदना का कोई कष्ट नहीं होता तथा रोगी के स्वास्थ्य में भी कोई परिवर्त्तन नहीं होता। द्वितीयक उपसर्गों के कारण लस-ग्रन्थियों में शोथ हो सकता है। व्रणवस्तु के कारण कभी-कभी लसवाहिनियों में अवरोध उत्पन्न होता है, जिससे श्लीपद के समान जननेन्द्रिय एवं वृषण आदि पर मिथ्या हस्ति-

चर्मण्यता (Pseudo-elephantiasis) उत्पन्न हो सकती है। व्रणों के दीर्घकालीन परिणामों के रूप में मलाशय-योनि भगन्दर (Recto-vaginal fistula), मूत्राशय शोथ (Cystitis) तथा गवीनी मुख शोथ (Pyelitis) आदि उपद्रव उत्पन्न होते हैं।

चिकित्सा—

पहले चिकित्सा में एण्टीमनी के योगों का उपयोग इस व्याधि में लाभकारी माना जाता था। काल ज्वर की अपेक्षा द्विगुण-त्रिगुण मात्रा की आवश्यकता होती थी। इधर प्रतिजीवी वर्ग की ओषधियों का—विशेषकर स्ट्रेप्टोमायसीन का—प्रयोग बहुत लाभकारी सिद्ध हुआ है, अब एण्टीमनी के योगों का कम प्रयोग किया जाता है। प्रतिजीवी वर्ग की ओषधियों से लाभ न होने पर उनका प्रयोग किया जा सकता है।

स्ट्रेप्टोमायसीन—

१ ग्राम १२ घण्टे के अन्तर पर दिन में २ बार, ८ से १० दिन तक।

टेरामायसीन एवं टेट्रासायक्लीन तथा क्लोरोमफेनिकाल के द्वारा भी लाभ होता है। २५० मि० ग्रा० दिन में ४ बार ८ दिन तक देना चाहिए। स्थानीय उपचार के लिए इन्हीं ओषधियों के मलहमों का प्रयोग किया जाता है। जीर्ण रोगियों में—व्रणवस्तु के संकोचजनित अवरोधमूलक परिणामों या भगन्दर आदि के उपद्रव में—शल्योपचार की अपेक्षा हो सकती है।

एण्टीमनी के योग—

एन्थियोमैलीन (Anthiomaline), स्टिबोफेन (Stibophen) एवं यूरिया स्टिबामाइन (Urea stibamine) का कालज्वर में निर्दिष्ट क्रम से ४ से ८ ग्राम की संयुक्त मात्रा में (कालज्वर में कुल मात्रा २·५ ग्राम तथा इस व्याधि में औसतन ५ ग्राम) प्रयोग कराना चाहिये। प्रायः १½-२ मास के विराम के बाद पुनः एक बार औषध का प्रयोग करना पड़ता है। सहन-शक्ति के अनुपात में मात्रा धीरे-धीरे बढ़ानी चाहिये तथा इन ओषधियों की विषाक्तता आदि के बारे में कालज्वर के प्रकरण में निर्दिष्ट नियमों पर ध्यान रखना चाहिये।

कुष्ठ

Leprosy

यह कुष्ठ दण्डाणु के उपसर्ग से उत्पन्न होने वाला चिरकालीन स्वरूप का विकार है, जिसमें त्वचा, वातनाड़ियाँ, श्लेष्मलकला, अस्थि आदि अङ्गों पर व्रण, ग्रन्थियाँ, परिसरीय वातनाडी शोथ, कोथ आदि विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं।

रोग का संक्रमण रोगी के साथ काफी लम्बे समय तक निकट सम्पर्क होने से उत्पन्न होता है। इसका संचयकाल कुछ मास से ५-६ वर्षों तक का माना जाता है। यह कुलज या सहज विकार नहीं है, किन्तु छोटे बच्चों में इसके प्रति विशेष अक्षमता होती है। जिससे उनमें उपसर्ग का संक्रमण शीघ्र हो जाता है। कुष्ठी माता-पिता के बच्चों का, जन्म होने के बाद अलग स्वास्थ्यकर वातावरण में परिपालन करने पर कुष्ठ की उत्पत्ति नहीं होती।

कुष्ठ दण्डाणु (Myco B. leprae) यक्ष्मा दण्डाणु के समानजाति का अम्लसाही, मद्यग्राही एवं ग्रामग्राही होता है। इस दण्डाणु की सर्वप्रथम उपलब्धि कुष्ठ पीड़ित व्यक्तियों के त्वचीय व्रणों से हैनसेन (Hansen) ने सन् १८४७ में किया। आविष्कारक वैज्ञानिक के नाम पर इसे हैनसेन दण्डाणु भी कहते हैं। उपसृष्ट व्यक्ति से निकट का सम्पर्क होने पर दूसरे व्यक्तियों में त्वचा या श्लेष्मलकला के मार्ग से दण्डाणुओं का शरीर में प्रवेश होता है। शरीर पर किसी आघात के कारण त्वचा में क्षत होने पर या नाक में बार-बार अङ्गुली करने की आदत से अङ्गुली में लगे हुये जीवाणु नासा की श्लेष्मलकला से शरीर में प्रविष्ट होते हैं। अक्षत त्वचा से इनका उपसर्ग सम्भव नहीं है। अस्वास्थ्यकर वातावरण में निवास, दारिद्र्यपूर्ण जीवन, हीन भोजन-वस्त्र एवं शरीर की स्वच्छता का अभाव तथा त्वचा के क्षतों या व्रणों के अधिक समय तक रहने से कुष्ठ दण्डाणुओं के उपसर्ग में सहायता मिलती है। बाल्यावस्था एवं युवावस्था में तथा स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में इसका उपसर्ग अधिक मिलता है। आनूप देशों में तथा आर्द्र एवं उष्ण वातावरण में इसका प्रसार अधिक होता है। शरीर में दण्डाणुओं के प्रवेश के बाद कभी-कभी व्याधि नहीं उत्पन्न हो पाती। जब किसी दूसरी व्याधि से शरीर दुर्बल हो जाता है, तब सुप्त उपसर्ग सक्रिय होकर विकारोत्पत्ति करता है।

शरीर में त्वचा या श्लेष्मल कला के मार्ग से प्रविष्ट होने के बाद—प्रवेश-स्थल पर कुछ समय तक संचित होने के बाद—इनका लसवाहिनियों के द्वारा वात नाड़ियों एवं दूसरे अधिष्ठानों में प्रसार होता है। रक्तवाहिनियों के द्वारा भी इनका प्रसार हो सकता है। विकृत स्थानों में कुष्ठ दण्डाणु अधिक मात्रा में गुच्छों के रूप (Clumps) में इकट्ठे होते हैं। नासा स्राव और ग्रन्थिका (Nodule) तथा त्वचा के जीर्ण व्रणों में पर्याप्त संख्या में मिला करते हैं।

कुष्ठ दण्डाणुओं का शरीर में प्रवेश होने के बाद शरीर की प्रतिकारक शक्ति के आधार पर महीनों या वर्षों में व्याधि के लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं। विकृति का त्वचा, वात नाड़ी, नेत्र, नासा तथा रोम एवं नखों आदि पर अधिष्ठान होने से व्याधि के स्थानीय विशिष्ट लक्षण उत्पन्न होते हैं।

त्वचागत विकृतियाँ—

कुष्ठजनित विकृतियों में शून्यता, विवर्णता तथा स्वेदाभाव एवं रूक्षता के लक्षण मुख्य रूप से उत्पन्न होते हैं। त्वचा के विकृत स्थल की मर्यादा रक्त वर्ण की होती है।

त्वचा जगह-जगह रक्त वर्ण की उभड़ी हुई मोटी सी हो जाती है। हस्त एवं पादतल की त्वचा का मोटापन अधिक स्पष्ट होता है। त्वचा में कुष्ठ के कारण उत्पन्न हुये विभिन्न परिवर्तनों का उल्लेख किया जाता है।

विस्फोट (Rash)—

वर्णिक (Macules), कर्णिक (Papules), ग्रंथिक (Nodules) के सदृश विस्फोट निकलते हैं। वर्णिक स्फोट त्वचा पर भद्दे के समान गोल या अण्डाकार होते हैं। त्वचा का वर्ण निकट की स्पष्ट त्वचा से कुछ हल्का हो जाता है। श्याम वर्ण के मनुष्यों में विकृत त्वचा या वर्ण प्रायः पाण्डु या ताम्र वर्ण का तथा इतर वर्ण वाले व्यक्तियों में प्रायः गुलाबी वर्ण होता है। क्वचित् वर्ण साधारण की अपेक्षा अधिक गहरा भी हो सकता है। विकृत स्थल में व्याधि की प्रारम्भिक अवस्था में संवेदना एवं स्वेद की कुछ वृद्धि हो सकती है। जिससे दूसरे स्थलों की अपेक्षा विकृत स्थान पर वस्त्र या हाथ का स्पर्श होने पर विचित्र प्रकार का प्रहर्षयुक्त अनुभव होता है। किन्तु कुछ दिनों बाद स्वेद का नाश हो जाता है, जिससे त्वचा विशेष प्रकार से रूक्ष एवं पतली सी ज्ञात होती है और धीरे-धीरे उत्तान एवं गम्भीर स्पर्श का ज्ञान भी नष्ट हो जाता है। कर्णिक विस्फोटों में त्वचा पर बहुत छोटे-छोटे उभार से उत्पन्न होते हैं। अग्र बाहु तथा शाखाओं में इस प्रकार की विकृति अधिक मिलती है। कभी-कभी विकृत स्थल के केन्द्र में वर्णिक स्वरूप का परिवर्तन तथा परिधि के आस-पास कर्णिक स्वरूप के छोटे-छोटे दाने मिलते हैं। ग्रंथिक स्वरूप के विस्फोट कर्णिक की अपेक्षा कुछ बड़े, त्वचा में हल्के उभार के सदृश व्यक्त होते हैं। कर्णपाली, आकृति, अग्र बाहु एवं अधो शाखा पर यह अधिक मिला करते हैं। इनके विशेष प्रकार के उभार से तथा बढ़ी हुई कर्णपाली, लम्बी नाक तथा उभारदार लटके हुए कपोलों से आकृति सिंह के समान (Liontiasis) प्रतीत होती है।

व्रण—

व्याधि के तीव्र प्रकोप में विकृत-स्थलों पर व्रण उत्पन्न होते हैं। हीनपोषणजन्य दुर्बलता में शाखाओं में थोड़ा-सा आघात लगने से सद्रविक विस्फोट (Vesicles) उत्पन्न होते हैं। कुछ काल बाद विस्फोट विदीर्ण हो कर व्रण बनता है। शाखाओं—विशेष कर पादतल—में शून्यता के कारण चिरकालीन स्वरूप के निश्छिद्रित व्रण (Perforating ulcers) उत्पन्न होते हैं। अस्थियों में कैलसियम की कमी हो जाने के कारण हाथ-पैर की अङ्गुलियाँ गिर जाती हैं तथा व्रण उत्पन्न होते हैं।

व्यापक अन्तराभरण (Diffuse infiltration)—

अनेक वर्णिक विस्फोटों के एक स्थान पर उत्पन्न होने से यह स्थिति होती है। विकृत त्वचा के भीतर कोषाओं का अधिक मात्रा में अन्तराभरण (Infiltration) होता है।

चर्मपत्र (Parchment) सदृश विकार—

विकृति का रोपण होने पर त्वचा चर्म पत्र के समान पतली, चमकदार तथा चिकनी हो जाती है।

वात नाडियों की विकृति—

विकृत वात नाडियाँ रज्जु के समान मोटी तथा वेदनायुक्त हो जाती हैं, दबाने से झुनझुनाहट (Tingling) के साथ चमक-सी पैदा होती है। कभी-कभी वात नाडियों में कुष्ठज विद्रधि भी उत्पन्न होती है। परिसरीय वात नाडियों का कुछ समय बाद अपजनन हो जाता है, जिससे सम्बद्ध पेशी समूह का शोष या क्षय हो जाता है। बहिः-प्रकोष्ठिका (Radial) वात नाडी मणिबन्ध के समीप, अन्तःप्रकोष्ठिका (Ulner) वात नाडी कूर्पर संधि के ऊपर बाहु के भीतरी पार्श्व में तथा उत्तानपादा (Superficial peroneal) वात नाडी गुल्फ संधि के समीप विकृत रूप में स्पर्शलभ्य होती है।

नेत्र विकृति—

स्वच्छमण्डल व्रण (Corneal ulcer), तारामण्डल शोथ एवं नेत्र की मांस-पेशियों का अंगघात आदि अनेक विकार-नेत्र में कुष्ठ दण्डाणुओं का अधिष्ठान होने पर उत्पन्न होते हैं।

नासा विकृति—

प्रारम्भ में नासा की श्लेष्मल कला में विकृति होती है। निरन्तर जीर्ण प्रतिश्याय के समान नासा स्राव होता रहता है। कुछ काल बाद नाक से काफी दुर्गन्ध आने लगती है। जीर्ण स्वरूप में नासापुट की मध्यभित्ति (Septum) तथा तालु की अस्थि गल जाती है। स्वर तंत्रिकाओं (Vocal chords) की विकृति के कारण ध्वनि सानुनासिक हो जाती है।

नख तथा रोम—

नख मोटे, चिपटे तथा नौका के समान हो जाते हैं। नखों पर चौड़ाई में बिदार उत्पन्न होने से स्वाभाविकता का नाश होता है। बाल हल्के रंग के, कुछ पतले और कम बढ़ने वाले तथा संख्या में भी कम हो जाते हैं।

विकृति की अधिष्ठानगत प्रधानता के आधार पर कुष्ठ के तीन मुख्य वर्ग किए जाते हैं—

१. यक्ष्म प्रकार (Tuberculoid)—

त्वचागत विशिष्ट लक्षणों के आधार पर इसके २ उपविभाग किए जाते हैं।

क-वर्णिक (Macular) विकृति—त्वचा पर एक या अनेक गोल अण्डाकृतिक या अस्पष्ट आकृतिवाले धब्बे उत्पन्न होते हैं। इनमें रंजकता की न्यूनता से हीनवर्णता,

स्पर्श की मन्दता, विकृत त्वचा से सम्बद्ध वात नाड़ी की स्थूलता या मोटाई में वृद्धि, त्वचा की—विशेष कर धब्बे के किनारों की त्वचा की—स्थूलता तथा रक्तवर्णता और स्वेद न होने के कारण त्वचा की रूक्षता या पर्त्तदार स्थिति, रोमनाश या रोमों की विवर्णता या भूरापन तथा उनमें वृद्धि का अभाव तथा कभी-कभी धब्बे के स्थानों पर व्रणों की उत्पत्ति आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

इस वर्ग में विकृति बहुत चिरकालीन स्वरूप की होती है। धब्बा तीनों भागों में विभक्त-सा ज्ञात होता है। धब्बे के केन्द्रीय भाग की त्वचा चर्मपत्र (Parchment) के समान पतली, चमकदार, चिकनी तथा पाण्डु वर्ण की हो जाती है। स्वेद के अभाव से रूक्षता तथा स्पर्श ज्ञान न होने से शून्यता प्रतीत होती है। मध्यवर्ती भाग में अनेक छोटी-छोटी आलपीन के समान ग्रन्थियों (Tubercles) के सम्मिलित रूप में रहने के कारण त्वचा कुछ उभड़ी हुई सी तथा कुछ रक्ताभ या गहरे रंग की होती है। बाह्य भाग में क्षुद्र ग्रन्थियाँ कम संख्या में तथा कुछ दूरी पर एक दूसरे से पृथक् रहती हैं।

ख—स्पर्शनाश या शून्यता का प्रकार (Anaesthetic form)—

इस वर्ग में त्वचीय स्पर्शज्ञान की विकृति होती है। सबसे प्रारम्भ में उष्णता की संवेदना का नाश होता है और उसके बाद स्पर्शज्ञान नष्ट हो जाता है और अन्त में वेदनाशून्यता उत्पन्न होती है। कभी-कभी वेदना-ज्ञान आंशिक रूप में बना रहता है। शाखाओं के धब्बे पूर्ण रूप से संवेदना-रहित होते हैं, किन्तु मध्य शरीर के विकृत-स्थलों पर मुख्य रूप से ताप-ज्ञान का नाश होता है तथा आकृति पर उत्पन्न हुए धब्बों में संवेदना की मन्दता हो सकती है, पूर्ण नाश नहीं होता। स्वेद का पूर्ण रूप से अभाव हो जाता है। विकृति के कारण नाड़ियों का अपजनन होने से सम्बद्ध मांसपेशियाँ सिकुड़ कर क्षीण हो जाती हैं। आक्रान्त वात नाड़ियाँ मोटी तथा वेदनायुक्त होती हैं। स्थानीय कोषाओं में जीवनी शक्ति का ह्रास होने के कारण व्रण (Trophic ulcers) उत्पन्न होते हैं। शाखाओं की अस्थियों—विशेष कर अङ्गुलियों—में कैलसियम की कमी के कारण विकृति उत्पन्न होती है तथा विकृत स्थलों पर व्रण भी उत्पन्न होते हैं।

इस वर्ग में त्वचा तथा वात नाड़ियों में उपसर्ग की तीव्रता कम होती है, किन्तु वात-नाड़ियों की विकृति के लक्षण अधिक मिलते हैं। व्याधि के प्रकोप के पूर्व मानसिक अवसाद, हल्की सर्दी एवं थकान का अनुभव तथा वात नाड़ियों में शूल के लक्षण उत्पन्न होते हैं। कभी-कभी वात नाड़ियों के ऊपर की त्वचा में दद्रु के समान विस्फोट उत्पन्न होते हैं। वात नाड़ियाँ धीरे-धीरे स्थूल हो जाती हैं तथा अंगुष्ठमूल के हस्ततलीय भाग की पेशियों का क्षय हो जाता है और अनामिका एवं कनिष्ठिका अंगुलि में संकोच उत्पन्न होता है। छोटी अस्थियों का शोषण होने के कारण अँगूठा तथा अँगुलियाँ नष्ट हो जाती हैं। नाखून में विकृति होती है तथा त्वचा पर निच्छिद्रित व्रण (Perforated ulcers) उत्पन्न होते हैं।

कुष्ठीय प्रकार (Lepromatous)—

रोगी की दुर्बलता तथा उपसर्ग की उग्रता के कारण कुष्ठ का प्रकोप व्यापक रूप का होता है। इस प्रकार में वर्णिक, कर्णिक तथा ग्रन्थिक प्रकार के विस्फोट, निच्छिद्रित व्रण (Perforated ulcer) तथा कोषाओं का व्यापक अन्तराभरण (Infiltration) आदि त्वचा के विकार एवं अनेक वात नाड़ियों की विकृति उत्पन्न होती है। ग्रन्थियाँ भी यत्र-तत्र उत्पन्न होती हैं तथा उनमें व्रण हो जाते हैं। आक्रमण के प्रारंभ में कुष्ठीय ज्वर, कम्प, प्रस्वेद, वर्द्धमानस्वरूप की दुर्बलता, अतिसार, नासास्राव या नासा श्लेष्मल-कला की शुष्कता तथा नासा से रक्तस्राव आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। प्रायः इन्हीं लक्षणों के साथ आकृति, नितम्ब, जंघा तथा अग्रबाहु पर हल्के रुधिर वर्ण के विस्फोट निकलते हैं। शीघ्र ही इनमें संवेदना की न्यूनता तथा स्वेदाभाव के लक्षण उत्पन्न होते हैं। ज्वरादि लक्षणों का शमन होने पर विस्फोटों का रंग कुछ श्यावारुण सा होता है, किन्तु शीघ्र ही ज्वर का पुनरावर्त्तन होता है और विस्फोट-स्थल पर पूर्ववत् उत्कर्णिक रूप उत्पन्न हो जाता है। दो-तीन बार इस प्रकार की प्रतिक्रिया होने के बाद इन्हीं स्थलों पर छोटी-छोटी ग्रन्थियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। व्यापक प्रसार की स्थिति में हाथ तथा पैर के बाहरी भाग पर इस प्रकार की ग्रन्थियाँ अधिक उत्पन्न होती हैं। भ्रू के बाहरी भाग के रोम नष्ट हो जाते हैं, स्तन-चूचुक बड़ा तथा मोटा हो जाता है, स्त्रियों के स्तन भी बढ़ जाते हैं। नासा, ग्रसनिका, स्वरयंत्र, नेत्र आदि अवयवों पर भी व्याधि का प्रसार हो सकता है तथा इन पर व्रण उत्पन्न हो जाते हैं। नासिका बढ़ी हुई, कर्ण-पाली मोटी तथा लटकी हुई और कपोल फूले हुए से होने के कारण आकृति सिंह के समान हो जाती है। ग्रन्थियों में व्रणोत्पत्ति तथा द्वितीय उपसर्गों के कारण पूयस्राव होता रहता है।

अविशिष्ट प्रकार (Atypical leproma)—

धब्बों के किनारे अस्पष्ट तथा उनमें उभाड़ का अभाव तथा स्वल्प संख्या में विस्फोटों की उत्पत्ति और कुष्ठ के दूसरे लक्षण होते हैं।

इन वर्गों के अतिरिक्त केवल वात नाडी में विकृति वाले रोगी भी मिलते हैं। इनमें शरीर पर कहीं धब्बे या विस्फोट नहीं रहते, केवल परिसरीय वात नाड़ियों में—विशेष-कर बड़ी वात नाड़ियों में—तन्तूत्कर्ष के लक्षण उत्पन्न होते हैं। वात नाड़ियाँ काफी कड़ी तथा मोटी हो जाती हैं। जीर्ण स्वरूप के परिसरीय वात नाडी शोथ के लक्षण प्रतीत होते हैं। मांस पेशियों का अत्यधिक क्षय होता है तथा स्थानिक अंगघात के लक्षण उत्पन्न होते हैं। बाहु के आन्तरिक भाग या जंघा के बहिर्भाग में शून्यता उत्पन्न होती है।

इसी प्रकार अनेक रोगियों में कुष्ठ के कई वर्गों के मिले-जुले लक्षण उत्पन्न होकर मिश्र स्वरूप (Mixed type) का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इसलिए निदान करते समय वर्गों की सीमा में ही निर्णय की चेष्टा न करनी चाहिए।

लक्षण—

विशेष प्रकार के विस्फोट त्वचा, की विवर्णता, संज्ञा नाश—विशेष कर ताप एवं स्पर्श-ज्ञान का अभाव, भ्रू-प्रान्त के रोमों का नाश, विकृति-स्थल में रोमों का नाश, हीनवर्णता या पतले और स्वल्प संख्या में रोमों की उपस्थिति, कर्णपाली का मोटापन एवं सिंहवत् आकृति, स्वेद का अभाव, वात नाड़ियों की स्थूलता तथा स्पर्श में रज्जु के समान कठोर प्रतीति, दुर्गन्धित नासास्राव, नासा की भित्ति एवं तल का निच्छिद्रण तथा सानुनासिक ध्वनि, परिसरीय वात नाडी शोथ या वात नाड़ियों का अङ्गघात और उससे उत्पन्न मांस-पेशियों का अपचय, आकुञ्चन, निच्छिद्रित व्रण एवं अस्थियों का विनाश आदि कुष्ठ के महत्त्वपूर्ण लक्षण माने जाते हैं। कुष्ठ दण्डाणुओं का वृषण ग्रन्थियों पर प्रसार हो जाने पर पौरुष शक्ति का नाश हो जाता है।

प्रायोगिक परीक्षा—

नासास्राव या नासा की श्लेष्मलकला के खुरण्ड की परीक्षा, विस्फोट स्थलों की त्वचा के ऊपरी पर्त्त को खुरच कर परीक्षा एवं कुष्ठ व्रणों के तल से प्राप्त कोषाओं की विशेष पद्धति से परीक्षा करने पर कुष्ठ दण्डाणुओं की उपलब्धि हो सकती है। अभी तक कुष्ठ दण्डाणुओं का प्राणिरोपण या प्रयोगशालीय सम्वर्द्धन संभव नहीं हो सका। व्याधि की सक्रिय अवस्था में प्रायः रक्तावसादनगति बढ़ी हुई मिलती है।

सापेक्ष्यनिदान—

फिरङ्ग, यक्ष्मजत्वक् पिडिका (Lupus vulgaris), परङ्गी (Yaws), प्राच्यव्रण (Oriental sore), त्वक् लिशमन्यता (Dermal leismaniesis), परिसरीय वातनाडी शोथ (Peripheral neuritis), वर्द्धमान मांसक्षय (Progressive muscular atrophy), सिरिंगोमायलिया (Syringomyelia), सोरिएसिस (Psoriesis) तथा श्वेत कुष्ठ (Leukoderma) आदि से इसका पार्थक्य करना चाहिए। त्वचा में रंजक तत्त्व की न्यूनता के कारण वर्णपरिवर्त्तन, स्वेद तथा रोमों की कमी, संज्ञानाश या क्वचित् परम स्पर्शज्ञता (Hyperaesthesia), वातनाड़ियों का रज्जुवत मोटापन, मांसपेशियों का स्थानिक रूप में क्षय तथा मुख्य रूप से कुष्ठ दण्डाणु की उपलब्धि से रोग का सापेक्ष निदान होता है।

रोग विनिश्चिय—

सामान्य विकृत-स्थलों के स्राव से दण्डाणुओं के न मिलने पर कुष्ठग्रंथि के भीतर से स्राव या उरःफलकवेध (Sternal puncture) के द्वारा प्राप्त स्राव की विशेष परीक्षा की जाती है। कुष्ठि कसौटी (Lepromin test) यक्ष्मप्रकार (Tuberculoid) कुष्ठ में अस्त्यात्मक, किन्तु कुष्ठीय प्रकार (Lepromatous) में नास्त्यात्मक रहती है। कुष्ठाक्रान्त व्यक्ति के साथ दीर्घकाल तक सम्पर्क का इतिहास भी कभी-कभी निदान में सहायक होता है।

उपद्रव तथा अनुगामी विकार—

वृषण ग्रन्थियों का अपजनन तथा नपुंसकता, नेत्रव्रण तथा दृष्टिनाश, अपोषणजव्रण (Trophic ulcers), अस्थिनाश तथा हस्त-पादांगुलियों का पूर्ण विनाश, मांसक्षय एवं शाखाओं की विकलांगता आदि कुष्ठ में उपद्रव एवं अनुगामी विकार उत्पन्न होते हैं। कुष्ठीय प्रकार हीन प्रतिक्रिया के कारण उत्पन्न होता है तथा उसमें उपद्रव अधिक होते हैं।

साध्यासाध्यता—

जीर्ण रोगियों में, विशेषकर कुष्ठीय प्रकार में, पूर्ण लाभ नहीं हो पाता। यक्ष्मि प्रकार में क्षय, फुफ्फुसपाक तथा वृक्क विकारों का उपद्रव होने पर असाध्यता बढ़ती है। कुष्ठ की साध्यता रोगी की विशिष्ट ओषधियों की सात्म्यता, रक्तावसादन गति की स्वाभाविक मर्यादा तथा शारीरिक पुष्टि पर निर्भर करती है।

चिकित्सा—

सामान्य—

क्षय के समान कुष्ठ की चिकित्सा की सफलता भी रोगी की शारीरिक क्षमता एव बल-पुष्टि पर निर्भर करती है। पोषक आहार, शुद्ध जल-वायु एवं स्वास्थ्यकर स्थानों में निवास तथा नियमित व्यायाम से शारीरिक क्षमता की वृद्धि होकर रोग-प्रतिकारक शक्ति बढ़ती है। कुष्ठपीडित जनपदों में अंकुशमुखकृमिविकार, विषमज्वर, कालज्वर, आमप्रवाहिका, श्लीपद, फिरङ्ग एवं हीन पोषण के रोग—बेरी-बेरी, स्कर्वी आदि—प्रायः मिलते हैं। कुष्ठग्रस्त रोगियों में इन व्याधियों का अनुसंधान करके उनकी समुचित चिकित्सा व्यवस्था करनी चाहिए।

इस रोग की विशिष्ट ओषधियों का प्रयोग शारीरिक पुष्टि एवं क्षमता की वृद्धि होने पर ही लाभकर होता है। रक्तावसादन गति की वृद्धि व्याधि की सक्रियता का परिचय देती है। जब तक कुष्ठी प्रतिक्रिया (Lepra reation) होगी, ओषधियाँ सात्म्य न होंगी तथा व्याधि का प्रसार होता जायगा। रोगी की मानसिक प्रसन्नता, रोगमुक्ति का विश्वास तथा चिकित्सा के प्रति पूर्ण आस्था रहने से शीघ्र लाभ होता है। 'रोग पूर्व जन्म के पापों का फल है' यह भावना निर्मूल कराना आवश्यक है—अन्यथा रोगी में हीनतामूलक विचार उत्पन्न होंगे तथा पर्याप्त समय तक चिकित्सा-व्यवस्था चला पाना संभव न होगा। रोगी सामाजिक अवमानना के भय से रोग की प्रारम्भिक अवस्था में चिकित्सक से परामर्श लेना नहीं चाहता तथा कुटुम्बियों से छिपाकर थोड़ी बहुत उपचार की व्यवस्था करता है। इससे पूर्ण लाभ नहीं होता तथा रोग का प्रसार भी बढ़ जाता है। इस विषय में प्रचारात्मक शिक्षण की व्यवस्था लाभप्रद सिद्ध होगी।

आहार में पर्याप्त मात्रा में घी, दूध, मक्खन, ताजे फल तथा दूसरे पोषक द्रव्यों की व्यवस्था होनी चाहिए। खुली धूप में प्रातःकाल हल्का व्यायाम, मानसिक एवं शारीरिक बलवृद्धि में बहुत सहायक होता है। इन सब की व्यवस्था करानी चाहिए।

कुष्ठीय प्रकार में शरीर की बाह्य शुद्धि विशेष महत्त्व रखती है। गरम पानी से स्नान, व्रणों की जीवाणुनाशक घोलों से सफाई तथा व्रण-बन्धन आदि की व्यवस्था रोगी को बतलानी चाहिए, जिससे वह स्वयं कर सके।

औषध चिकित्सा—

कुष्ठ की चिकित्सा में प्राचीन काल से तुवरक के योगों का व्यवहार होता आया है। यक्ष्मी प्रकार या वातिक कुष्ठ में अब भी तुवरक सर्वोत्तम औषध माना जाता है। नवीन आविष्कृत ओषधियों में सल्फोन वर्ग के द्रव्य मुख्य रूप से कृतम सिद्ध हुए हैं। इनके अतिरिक्त क्षयनाशक ओषधियों में थायो सेमी कार्बोजोन तथा फायटेबीन का भी कुछ कुष्ठ के रोगियों में सफलता के साथ प्रयोग किया गया है। रोग बाहर से कुष्ठीय या वातिक वर्ग का दिखाई पड़ने पर भी वास्तव में मिश्रगुणी ही व्यवहार में अधिक मिलता है। इसलिए औषध व्यवस्था में भी केवल एक वर्ग की औषध का प्रयोग न करके मिश्रित व्यवस्था का उपयोग करना चाहिए।

सल्फोन वर्ग की ओषधियाँ (Sulphones)—

इस वर्ग की ओषधियों में प्रोमीन (Promine), डायसोस (Diasone), (D. A. D. P. S.), सल्फेट्रोन (Sulphetrone) तथा एवलोसल्फोन (Avlosulphone) आदि का व्यवहार किया जाता है। प्रोमीन सूचीवेध की अपेक्षा मुख द्वारा अधिक विषाक्त प्रभाव करती है तथा २ वर्ष तक लगातार सूचीवेध द्वारा प्रयोग सम्भव भी नहीं होता। विषाक्त परिणाम भी पर्याप्त मात्रा में होते हैं। इस कारण कुष्ठ चिकित्सा में इसका प्रयोग अधिक नहीं किया जाता। १ ग्राम की मात्रा में, सिरा द्वारा सप्ताह में ६ दिन, प्रोमीन का प्रयोग किया जाता है। कुष्ठ के लक्षणों का शमन ६ मास से १ वर्ष तक प्रारम्भ होता है।

डायसोन (Diasone or diamino diphenyl sulphone)—

इसकी ०·३ ग्राम की टिकिया आती है। प्रथम सप्ताह $\frac{1}{3}$ गोली प्रतिदिन, दूसरे सप्ताह $\frac{2}{3}$ गोली या ·२ ग्रा० प्रतिदिन तथा प्रतिक्रिया या विषाक्तता के परिणाम न होने पर ·३ ग्रा० प्रतिदिन की मात्रा में ३ मास तक देना चाहिये। ३ मास से बाद १५ दिन का विराम देकर पुनः ·३ ग्रा० प्रतिदिन की मात्रा में प्रयोग करना चाहिये। इसी क्रम से २–३ वर्ष तक प्रयोग करने से लाभ हो जाता है।

सल्फेट्रोन (Sulphetrone)—$\frac{1}{2}$ ग्राम की टिकिया दिन में ३ बार, सप्ताह में ६ दिन, ३ मास तक इस क्रम से देने के बाद आगे प्रति मास २ सप्ताह दवा देकर एक

सप्ताह बन्द रखना चाहिये। इस प्रकार मास में ३ सप्ताह औषध का सेवन किया जायगा और एक सप्ताह बन्द रहेगा।

नोवोफोन (Novophone)—सल्फेट्रोन के समान ही यह भी औषधि है। २५ से १०० मि० ग्राम की दैनिक मात्रा में सप्ताह में ६ दिन के क्रम से २ वर्ष तक देना चाहिये।

एवलो सल्फोन (Avlo sulphone, I. C. I.) या सायो सल्फोन (Albert david) या सल्फाडियान (grimault)—५० मि० ग्रा० की एक मात्रा दिन में एक बार, सप्ताह में ६ दिन तक, अनुकूल होने पर इसकी मात्रा २ टिकिया क्वचित् ३ टिकिया भी दैनिक मात्रा में दी जा सकती है।

सल्फोन वर्ग की ओषधियाँ विषाक्त परिणामवाली होती हैं। अस्थि-मज्जा पर हानिकारक प्रभाव होने के कारण बहुत काल तक प्रयोग करने के बाद रुधिर कायाणुओं का निर्माण कम हो जाता है और इनके प्रयोग से लौह तथा जीवतिक्ति बी का आन्त्र द्वारा प्रचूषण नहीं हो पाता जिससे रक्त में लौहांश की कमी के कारण शोणवर्तुलि काफी कम हो जाती है और बी कम्प्लेक्स की न्यूनता के लक्षण उत्पन्न होते हैं। सभी रोगियों को एक ही मात्रा सात्म्य नहीं होती। हृल्लास, वमन, उदरशूल, अतिसार, चक्कर आदि असात्म्यता के परिणाम उत्पन्न होते हैं। इसलिये हमेशा छोटी मात्रा से प्रारम्भ कर, सात्म्यता के आधार पर, औषध की मात्रा धीरे-धीरे बढ़ानी चाहिये। इन ओषधियों के प्रयोग से कुष्ठदण्डाणु का विनाश होता है जिससे दण्डाणुओं का विष अधिक मात्रा में शरीर में प्रसरित होकर तीव्र स्वरूप की कुछ प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करता है। इस प्रकार की प्रतिक्रिया में नये-नये विस्फोट उत्पन्न होते हैं। दण्डाणुओं की गतिशीलता बढ़ती है तथा प्रतिक्रियाजनित ज्वरादि लक्षणों के कारण शारीरिक दुर्बलता की वृद्धि होती है। कभी-कभी विकृत वात नाड़ी में तीव्र ऐंठन या वेदना का अनुभव भी होता है। प्रतिक्रिया उत्पन्न होने पर ओषधि बन्द कर देना या स्वल्प मात्रा में प्रयोग करना चाहिये। ओषधि का सेवन खाली पेट न करने से असात्म्यता के तात्कालिक दुष्परिणाम कम होते हैं। प्रायः १५–२० ग्रेन सोडाबाई कार्ब, ४ चम्मच ग्लूकोज ४ औंस पानी में मिलाकर पिलाने से असात्म्यता के लक्षणों का शमन होता है। कैलसियम ग्लूकोनेट तथा कैलसियम पैण्टो थिनेट का प्रयोग कराने से असात्म्यता के लक्षण नहीं पैदा होते। कुष्ठ की चिकित्सा में इन ओषधियों का बहुत दीर्घ काल तक प्रयोग करना पड़ता है। इसलिये हर तीसरे-चौथे महीने रक्त की परीक्षा के द्वारा शोणवर्तुलि तथा रुधिरकायाणुओं का परिज्ञान करते रहना चाहिये। शोणवर्तुलि की मात्रा ७० प्रतिशत से कम होने पर, सल्फोन का प्रयोग बन्द करके, कुछ दिन तक रक्तवर्धक लौह एवं यकृत सत्त्व आदि का प्रयोग कर शोणवर्तुलि की मात्रा १००% के आस-पास ले आना चाहिये। आगे भी साथ में लौह तथा जीवतिक्ति बी. का प्रयोग पूरी चिकित्सावधि तक करना चाहिये। इस

वर्ग की अधिकांश ओषधियाँ संचायी स्वरूप की होती हैं। इसलिये लगातार प्रयोग न करके बीच-बीच में कुछ व्यवधान रखना आवश्यक होता है। इनके द्वारा कुष्ठीय (Lepromatous) प्रकार में पर्याप्त लाभ होता है। किन्तु वातनाड़ियों की विकृति या मांसपेशियों का शोथ आदि विकारों में इनकी अपेक्षा तुवरक के योग अधिक कार्यक्षम होते हैं। सल्फोन वर्ग की ओषधियों के प्रयोग के पूर्व रोगी के रक्त की परीक्षा के द्वारा शोणवर्तुलि एवं रक्तकणों आदि का परिज्ञान करना आवश्यक है। यदि इन ओषधियों के प्रारंभ के पूर्व १-२ मास तक लौह, जीवतिक्ति, यकृत सत्त्व एवं अन्य पोषक ओषधियों का प्रयोग करके रोगी का स्वास्थ्य उत्तम बना लिया जाय, तो इन ओषधियों की उचित मात्रा सात्म्य होती है—दुष्परिणाम नहीं होते तथा शरीर के सबल एवं पुष्ट होने के कारण कुष्ठीय प्रतिक्रिया नहीं होती, रोगी चिकित्साकाल में रक्तक्षय से पीड़ित नहीं होने पाता। इस प्रकार सभी दृष्टियों से कई गुना अच्छा लाभ होता है।

तुवरक के योग (Chaulmoogra & hydno-carpus preparations)—

कुष्ठ की चिकित्सा में तुवरक के योगों का प्रयोग बहुत प्राचीन काल से किया जाता रहा है। अब भी, अनेक ओषधियों के अनुसन्धान के बाद भी, इसकी महत्ता कम नहीं हुई है। मुख द्वारा प्रयोग करने पर हृल्लास, वमन, आध्मान, अतिसार आदि के लक्षण बहुत से रोगियों में उत्पन्न होने के कारण पर्याप्त मात्रा में सेवन कराना सम्भव नहीं हो पाता। आजकल इसके तैल या अनेक योगों के रासायनिक मिश्रण सूचीवेध के द्वारा प्रयुक्त किये जाते हैं। तुवरक तैल में विशेष प्रकार का स्नेहांश होता है। इसका प्रचूषण होने पर रक्त में पैत्तव (Cholesterole) की मात्रा बढ़ती है। जिसका आगे चलकर अधस्त्वचीय भागों में संचय होता है और त्वचा की रक्षात्मक शक्ति की वृद्धि होती है। तुवरक के द्वारा रक्त में स्नेहद्रावक तत्त्व (Lipase) की विशेष वृद्धि होती है, जिसका असर कुष्ठ दण्डाणुओं के स्निग्ध कोष्ठ के भेदन में होता है। साथ ही इसके द्वारा विजातीय कोषाओं के विनाश का कार्य भी पर्याप्त मात्रा में होता है। इस प्रकार तुवरक के प्रयोग से कुष्ठ दण्डाणु के सुरक्षात्मक—स्निग्ध आवरण आदि—साधनों का विनाश, शरीर की दूषित एवं विनष्ट कोषाओं का द्रावण, त्वचा की सुरक्षात्मक शक्ति की वृद्धि आदि अनेक परिणाम होते हैं, जिनके कारण अन्त में कुष्ठ दण्डाणु का पूर्ण विनाश हो जाता है।

मुख द्वारा प्रयोग—

१. तुवरक के बीजों को छीलकर, मन्द आँच में भूनकर, घी में भुनी हुई भांग ½ भाग तथा अर्ध भाग में शुण्ठी चूर्ण एवं १ भाग मिश्री मिला कर, ½—१ तोला की मात्रा में दिन में दो बार सेवन कराना चाहिये। अरुचिकर स्वाद एवं गन्ध के शमन के लिये इसका प्रयोग प्रातःकाल के जलपान के २ घण्टे बाद तथा रात में अन्त में सोते समय करना चाहिये। इसके अप्रिय स्वाद के प्रभाव को दूर करने के लिये इलायची, लौंग,

पान, पिपरमिण्ट आर्द्रक आदि में से किसी का प्रयोग किया जा सकता है। प्रायः ६ मास से १ वर्ष के प्रयोग से लाभ हो जाता है। आभ्यन्तरिक प्रयोग के लिये बीज या उसके तेल का प्रयोग—हमेशा नयी फसल के बीज का करना चाहिये। इनमें अप्रिय स्वाद एवं गन्ध अपेक्षाकृत कम रहती है।

२. तुवरक तैल—१ चम्मच से ४ चम्मच की मात्रा में धीरे-धीरे बढ़ाते हुये इसका प्रयोग किया जाता है। तेल को कैप्स्यूल में भरकर भी प्रयोग किया जा सकता है, किन्तु तेल को अधिक मात्रा में देना होता है, इसलिये कैप्स्यूल द्वारा प्रयोग व्यवहार्य नहीं है। ४ औंस दूध, छोटी इलायची, पानड़ी, शुण्ठी आदि के साथ क्षीरपाक विधि से पका कर इसी में तेल मिलाकर रात्रि में सोने के पूर्व देना चाहिये। मुख द्वारा तेल का प्रयोग करते समय रोगी के आहार काल में कुछ परिवर्तन करना पड़ता है। प्रातःकाल तेल का सेवन कराने से दिन भर मिचली एवं आध्मान आदि कष्ट बने रहते हैं, इसलिये प्रातःकाल भोजन ८-९ बजे तथा सायंकाल का भोजन ४-५ बजे करने के बाद रात्रि में ९ बजे के लगभग तेल का प्रयोग कराना चाहिये। सायंकालीन भोजन के परिपाक काल के बाद तेल का प्रयोग कराने से वमन नहीं होता। अरुचि या आध्मान का कष्ट होने पर सौंफ थोड़ी मात्रा में चूसने के लिये देना चाहिये। नीबू में नमक, काली मिर्च मिला गरम कर चूसने से भी लाभ होता है।

अभ्यङ्ग—

तुवरक तेल का प्रयोग अभ्यङ्ग के रूप में भी पर्याप्त लाभकर होता है। गुनगुने पानी में सोडा बाई कार्ब मिलाकर, कपड़ा भिगो सारा शरीर पोंछने के बाद तेल का अभ्यंग किया जाता है। धीरे-धीरे सहलाते हुये तेल को सुखाने की चेष्टा करनी चाहिये। तैलाभ्यंग के बाद १-२ घण्टे तक हल्की धूप में बैठने से तैलांश का प्रचूषण त्वचा द्वारा होने में सहायता मिलती है या नील लोहितातीत किरणों का १५ मिनट तक सेंक करने से भी लाभ होता है। तेल का अभ्यंग सप्ताह में २ बार किया जा सकता है।

सूचीवेध मार्ग से प्रयोग—

तुवरक का प्रयोग अन्तस्त्वचीय या पेशीगत सूचीवेध द्वारा किया जाता है। शुद्ध तेल की अपेक्षा इसके रासायनिक मिश्रण अधिक प्रयुक्त होते हैं। अन्तस्त्वचीय मार्ग से त्वचा की स्थानीय विकृतियों के उपचार के लिये तथा पेशी मार्ग से शरीर की प्रतिकारक शक्ति की वृद्धि एवं तुवरक तैल के व्यापक कुष्ठघ्न गुण के लिये इसका प्रयोग किया जाता है। अन्तस्त्वचीय मार्ग से प्रयोग करने पर कुष्ठ-प्रतिक्रिया प्रायः नहीं होती। किन्तु पेशी मार्ग से प्रयोग करने पर प्रतिक्रिया के लक्षणों के प्रति विशेष सावधानी रखनी चाहिये। स्वल्प मात्रा से प्रारम्भ करके धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिये। कम से कम प्रतिक्रिया के साथ जितनी मात्रा सात्म्य हो सके, उसी का प्रयोग अधिक समय तक करने से लाभ होता है। कदाचित् प्रतिक्रिया के लक्षण सूचीवेध के बाद उत्पन्न हो गये हों तो अग्रिम मात्रा अधिक समय के बाद एवं पूर्वापेक्षा अर्ध परिमाण में देनी चाहिये।

अन्तस्त्वचीय मार्ग से तुवरक का प्रयोग करने पर एक स्थान में प्रारम्भ में ½ सी० सी० की मात्रा विस्फोट के चारों तरफ परिधि में विकीर्ण (Infiltrate) करना चाहिये। विस्फोट के स्थान में सूचीवेध के पूर्व सूई की नोंक से स्थानीय संवेदना का ज्ञान करके, वेदनाशून्य स्थान के बाहरी किनारे से ओषधि का प्रवेश एक स्थान में १–२ बूँद की मात्रा में कराना चाहिये। जिस स्थान पर एक बार अन्तस्त्वचीय मार्ग से सूचीवेध किया गया हो, उसी स्थान पर पुनः प्रयोग ३–४ सप्ताह के विश्राम के बाद, प्रथम सूचीवेध की प्रतिक्रिया के पूरी तरह शान्त होने पर करना चाहिये तथा शरीर में अनेक स्थलों पर विकृति होने पर एक दिन २ से अधिक स्थानों में १ सी० सी० संयुक्त मात्रा से अधिक विकीर्ण (Infiltrate) नहीं करना चाहिये।

सूचीवेध के रूप में निम्नलिखित योगों का उपयोग किया जाता है—

तुवरक तैल तथा क्रियोजोट (Hydnocarpus oil 96% creosote 4%) ½ सी० सी० अधस्त्वक् (S. C,) मार्ग से सप्ताह में १ बार। प्रतिसूचीवेध ½ सी० सी० मात्रा बढ़ाते हुये २½ सी० सी० तक। तृतीय प्रकार में ५ सी० सी० तक। एक स्थान में २½ सी० सी० से अधिक मात्रा का सूचीवेध न दें। मात्रा अधिक होने पर एक ही दिन दो पृथक् स्थानों पर सूचीवेध दे सकते हैं। त्वचा में विकृति होने पर अन्तस्त्वचीय मार्ग से E. C. C. O. ½ सी० सी० से २ सी० सी० तक प्रयोग करें।

Hydnestryl, Smith stanistreet—मात्रा—१-२ बूँद प्रत्येक अन्तस्त्वचीय वेध में, अधिक से अधिक १५–२० बूँद एक विस्फोट के चारों ओर या ½ से १ सी० सी० की संयुक्त मात्रा में शरीर के अनेक स्थानों में। ½ से २ सी०सी० तक क्रम से बढ़ाते हुये पेशी मार्ग द्वारा। प्रारम्भ में कुछ दिन तक अन्तस्त्वक् मार्ग से प्रयोग करने के उपरान्त पेशी मार्ग से सप्ताह में २ बार ½ सी०सी० की मात्रा में प्रयोग करना चाहिये। प्रतिक्रिया न होने तक प्रति सप्ताह ½ सी० सी० की मात्रा पेशी मार्ग से बढ़ाते जाना चाहिये तथा प्रतिक्रिया के लक्षण उत्पन्न होने पर सात्म्य मात्रा में सप्ताह में १ बार या १० दिन में १ बार १ वर्ष तक देना चाहिये।

Moogrol (Burrows welcom & co.—ethyl esters of chaulmoogra)—सप्ताह में १ बार १–६ सी० सी० की मात्रा में पेशी मार्ग से। सूचीवेध से अधिक क्षोभ न होने देने के लिये इसी का दूसरा योग ०·५ प्रतिशत आयोडीन युक्त Iodised moogrol के नाम से आता है।

Alepol—Sodium hydnocarpate, B. W. & Co.—सिरा, त्वचा, अन्तस्त्वचा या पेशी मार्ग से सप्ताह में २ बार। प्रारम्भिक मात्रा १ सी० सी० से प्रारम्भ करके ५ सी० सी० तक दे सकते हैं। पेशी या सिरा द्वारा सूचीवेध के पूर्व २–३ सी०सी० परिस्रुत जल मिलाना चाहिये या सिरा द्वारा प्रयोग करते समय सूई द्वारा सिरावेध

करने के बाद औषधि प्रयोग के पूर्व ४–५ सी० सी० रक्त पिचकारी में खींच कर औषधि के साथ मिल जाने पर बहुत धीरे-धीरे देना चाहिये।

E. C. C. O. (Easter's of hydnocarpus oil, Creosote, Camphor & Olive oil compounds.)—

अन्तस्त्वचीय मार्ग से ½ सी० सी० मात्रा से प्रारम्भ कर ५ सी० सी० तक की मात्रा का व्यवहार अनेक स्थानों में प्रयोग के लिये किया जा सकता है। प्रयोग करने के पहले गरम पानी रखकर औषध को हल्का गरम कर लेना अच्छा है।

E. C. H. (Esters of hydnocarpus Creosote & Hydnocarpus oil)—यह बहुत अधिक गाढ़ा होता है। गरम करने के बाद भी अपेक्षाकृत कुछ मोटी सूई के प्रयोग के बिना सूचीवेध सम्भव नहीं। मात्रा–१ से २ सी० सी० एक स्थान पर अधस्त्वचीय मार्ग से। ३ से ४ सप्ताह के बाद उसी स्थान पर पुनःप्रयोग करना चाहिये।

Hydnocreol भी E. C. H. के समान योग है। उसी प्रकार प्रयुक्त होना चाहिये।

लेस्परा (Lespara, swastik pharma) :—

अपामार्ग तथा अन्य विशिष्ट वानस्पतिक उपादानों से निर्मित लेस्परा कुष्ठ में बहुत प्रभावशाली सिद्ध हुई है। इसके सेवन से मल की शुद्धि, आहार-शक्ति की वृद्धि तथा शारीरिक पुष्टि होती है। लाक्षणिक उपशम १ मास में होने लगता है। १ औंस की मात्रा में ३ बार सेवन करने का विधान है। रोग के निराकरण में १–१॥ वर्ष का सेवन आवश्यक माना जाता है। स्वतंत्र रूप से या सल्फोनस के साथ इसका प्रयोग किया जा सकता है।

टेबाफेन (Tebafen, giegy) :—

थायोसेमी कारबाजान तथा नियाजिड का योग है, जो यक्ष्मा के अतिरिक्त कुष्ठ में भी लाभकर होता है। १–३ टिकिया की दैनिक मात्रा में प्रयोग करना चाहिए। सामान्यतया १–२ टिकिया की दैनिक मात्रा पर्याप्त होती है। इसका सेवन भी १॥–२ वर्ष तक करना चाहिए।

चिकित्सा का व्यावहारिक क्रम—

यक्ष्मी प्रकार (Tuberculoid leprosy)—

१. Crude liver ext. २ सी० सी० पेशी मार्ग से, १०–१५ सूचीवेध।

२. Fersolate, Glaxo या Ferronicum, Sandoz या Ferromyn में से किसी की १ टिकिया दिन में २ बार भोजन के बाद।

३. Easton' syrup १ चम्मच Protein hydrolysate (Amynoxyl or Aminozyme) ४ चम्मच भोजन के ½ घण्टे बाद, दोनों समय, जल मिलाकर।

उक्त ओषधियों का १-१½ मास प्रयोग करने के बाद निम्नलिखित क्रम से कुष्ठ नाशक ओषधियों का प्रयोग करना चाहिये।

१. Avlosulphone या तत्सम किसी योग की १ टिकिया, Rubragran एक कैप्सूल, दिन में १ बार, सप्ताह में ६ दिन, प्रति ३ मास बाद १५ दिन का विराम। २-३ वर्ष तक।

२. Yeast tablet ४ तथा Hepatoglobin २ चम्मच भोजन के आधा घण्टे बाद दोनों समय।

३. Iodized moogrol or Hydnocreol २ सी० सी० से ५ सी० सी० की मात्रा में पेशी मार्ग से सप्ताह में १ बार १-१॥ वर्ष तक।

४. E. C. C. O. या E. C. H.—विस्फोटों की स्थानिक चिकित्सा के लिये अन्तस्त्वचीय मार्ग से आवश्यकतानुसार। ३ सप्ताह के बाद पुनः प्रयोग। २ वर्ष तक।

त्वचागत विकृतियों का शमन होने के बाद इसके प्रयोग की अपेक्षा नहीं।

५. Vit B_{12} ५०० माइक्रोग्राम, Vit B_1 १०० मि० ग्रा० और Crude liver ext १ सी० सी०, तीनों मिलाकर पेशीमार्ग से सप्ताह में २ दिन, प्रति ६ मास के बाद १० सूचीवेध देना चाहिये।

६. Cal gluconate १० सी० सी० तथा जीवतिक्ति C ५०० मि० ग्रा०, सिरा द्वारा सप्ताह में २ बार, प्रति ३ मास पर ६ सूचीवेध।

उक्त क्रम से प्रयोग करने पर सल्फोन का हानिकारक परिणाम नहीं होता तथा शारीरिक स्वास्थ्य एवं वातनाड़ियों की विकृति में भी पर्याप्त लाभ होता है। Avlo sulphone की अपेक्षा Sulphetrone अधिक सात्म्य होता है। हाल के परीक्षणों से सल्फेट्रोन का सान्तर प्रयोग अधिक हितकर सिद्ध हुआ है। इसे निम्नलिखित क्रम से देना चाहिये।

Sulphetrone—१ से २ टिकिया, Calcium pantothenate ५० मि० ग्रा०, Vit B Complex. (Plebex, Becozyme, vit B complex forte capsule) की १ टिकिया, तीनों साथ में दिन में ३ बार प्रति तीसरे दिन। सप्ताह में ३ दिन। ६ मास प्रयोग के बाद १ मास का विराम। इस क्रम से २-३ वर्ष तक। शेष पोषक एवं बलकारक ओषधियों का पूर्ववत् प्रयोग।

कुष्ठीय प्रकार—

शरीर के लिये पोषक, बलकारक रक्तवर्धक योगों का पूर्ववत् १-१॥ मास तक प्रयोग करने के बाद निम्नलिखित क्रम से सल्फोन का प्रयोग कराना चाहिये—

सल्फेट्रोन (Sulphetrone)—१ टिकिया दिन में ३ बार १ मास तक। २ टिकिया दिन में ३ बार २ मास तक। प्रतिक्रिया न होने पर ३ टिकिया दिन में ३ बार दो मास तक। ३ मास के बाद १५ दिन का विराम। इसके बाद ९ टिकिया की दैनिक

मात्रा के क्रम से २-३ वर्ष तक प्रयोग होना चाहिये। इसके साथ लौह, विटामिन बी काम्प्लेक्स तथा हेपेटोग्लोबीन आदि का आवश्यकतानुसार पर्याप्त प्रयोग करना चाहिये। कुछ रोगियों में सल्फेट्रोन की अपेक्षा एवलोसल्फोन अधिक अनुकूल आता है। सात्म्यता के आधार पर अधिक से अधिक २ टिकिया की दैनिक-मात्रा का प्रयोग किया जा सकता है।

तुवरक तैल—५-१० सी० सी० की मात्रा में पेशी मार्ग से या E. C. C. O. १ सी० सी० से ५ सी० सी० सप्ताह में एक बार पेशी मार्ग से २ वर्ष तक देना चाहिये।

सल्फोन के अनुकूल न होने पर थायोसेमी कार्बाजोन, टेबाफेन या फाइटेविन २७२ का, २ टिकिया दिन में ३ बार की मात्रा में १॥-२ वर्ष तक प्रयोग कराया जा सकता है।

व्यावहारिक निर्देश—

१. कुष्ठप्रतिकारक चिकित्सा के चलते हुये ४-६ मास के अन्तर से रक्तावसादन गति की वृद्धि का परीक्षण करना चाहिये। रक्तावसादन गति की वृद्धि से कुष्ठ दण्डाणु की सक्रियता का आभास मिलता है। चिकित्साकाल में ही नवीन विस्फोट या कुष्ठ ग्रन्थियाँ उत्पन्न होने पर व्याधि का प्रसार समझा जाता है। दोनों अवस्थाओं में प्रयुक्त हुई औषध से लाभ नहीं हो रहा है, ऐसा निश्चय किया जा सकता है और दूसरी उपयुक्त ओषधि का प्रबन्ध करना चाहिये।

२. सल्फोन वर्ग की ओषधियों से जीवाणुओं का नाश होता है तथा तुवरक के योगों से, कुष्ठदण्डाणु के सुरक्षात्मक कवचों का विनाश होने के बाद, शारीरिक सुरक्षात्मक शक्ति की वृद्धि से दण्डाणुओं का विनाश होता है। दोनों ओषधियों का साथ में प्रयोग करते रहने पर अधिक व्यापक लाभ की आशा की जा सकती है।

३. केवल वातनाड़ियों में कुष्ठीय विकृति रहने पर तुवरक तैल का (९६ प्रतिशत तुवरक तैल ४ प्रतिशत क्रिओजोट) २ सी० सी० से ८ सी० सी० तक की मात्रा में पेशीमार्ग से या अधस्त्वचीय मार्ग से प्रयोग करना चाहिये। पेशीक्षय, शून्यता तथा वातनाड़ियों की कठोरता आदि लक्षणों में एक वर्ष उपचार के बाद लाभ प्रारम्भ होता है। औसतन १॥-३ वर्ष का समय ठीक होने में लग सकता है। अन्तस्त्वचीय मार्ग से इस अवस्था में प्रयोग करने से कोई लाभ नहीं होता।

४. केवल त्वचा में विकृति के सीमित रहने पर E. C. C. O. या E. C. H. का प्रयोग अन्तस्त्वचीय मार्ग से २-३ बार करने के बाद अधस्त्वीय या पेशीमार्ग से तुवरक तैल का प्रयोग २ सी. सी. की मात्रा में, प्रति सप्ताह ½ सी. सी. बढ़ाते हुए, १० सी. सी. तक देना चाहिए। एक स्थान पर २॥ सी० सी० से अधिक मात्रा में ओषधि सूचीवेध

द्वारा नहीं प्रयुक्त करनी चाहिए। शेष मात्रा का प्रयोग दूसरे स्थानों में करना चाहिए। जिन स्थानों पर पहले सूचीवेध का प्रयोग किया गया हो, यथाशक्ति दूसरी बार सूचीवेध करते समय कम से कम १ इञ्च से अधिक की दूरी पर ही प्रयोग करना चाहिए अन्यथा ओषधि के प्रचूषित न होने या अधिक क्षोभक कुपरिणामों के कारण विद्रधि उत्पन्न हो सकती है।

५. अन्तस्त्वचीय मार्ग से ओषधि प्रयोग करने के पूर्व सोडा बाई कार्ब के गुनगुने घोल से स्थानीय स्वेदन-शोधन कराने के बाद २ विधियों से सूचीवेध का प्रयोग किया जा सकता है।

विकृत स्थान के छोटा होने पर ½ इञ्च लम्बी १२-१४ नं० (B.D. Luerlock) सूची से शून्य स्थल के किनारे १ मिलीमीटर गहराई तक प्रवेश कर १-२ बूंद ओषधि का एक स्थान पर निक्षेप करना चाहिये। उसी के पार्श्व में २ मि० मी० दूर दूसरा निक्षेप करना चाहिए और इसी क्रम से चारों ओर प्रयोग करना चाहिए। त्वचा की आकृति चींटियों के काटने से उत्पन्न हल्के उभाड़दार विस्फोटों के समान हो जाती है। थोड़ी देर तक खुला रखने के बाद उस स्थल को विशुद्ध रुई से ढक हलकी पट्टी बाँध देना अच्छा है।

विकृत स्थान के अधिक बड़ा होने पर लम्बी सुई को त्वचा के भीतर पूरे तौर से प्रविष्ट करा देना चाहिये तथा धीरे-धीरे सुई निकालते समय १ मि० मी० के अन्तर से १-१ बूँद ओषधि निक्षिप्त करते जाना चाहिए। इस प्रकार एक सीधी लकीर में अनेक स्थानों पर एक ही सूचीवेध से निक्षेप हो जायगा। इसी क्रम से कुछ अन्तर से ३-४ लकीरों में निक्षिप्त किया जा सकता है।

६. चिकित्साकाल में पाचन-शक्ति पर विशेष ध्यान रखना चाहिए। आवश्यक होने पर एसिड हाइड्रोक्लोरिक डिल १५ बूंद तथा ग्लीसरीन एसिड पेप्सिन १ चम्मच मिलाकर भोजन के बाद दोनों समय देना चाहिए।

७. कोष्ठशुद्धि—विशेषकर सल्फोन वर्ग की ओषधियों के सेवनकाल में—रहना आवश्यक है। संचायी स्वरूप की औषध होने के कारण विबंध रहने पर विषाक्त परिणाम अधिक होते हैं। यष्ट्यादि चूर्ण, छोटी हरड़ या त्रिफला का चूर्ण आवश्यक होने पर देना चाहिये।

कुष्ठप्रतिक्रिया (Lepra reaction)—

कुष्ठ की चिकित्सा में प्रतिक्रिया का विशेष महत्त्व है। कुष्ठदण्डाणुओं के व्यापक प्रसार या उनके विनाश से उत्पन्न विजातीय प्रोभूजिनों (Foreign proteins) के कारण यह प्रतिक्रिया होती है। औषध-सेवन-काल में प्रतिक्रिया उत्पन्न होने पर औषध की मात्रा कम कर देना या कुछ काल के लिए प्रयोग बन्द करके प्रतिक्रिया का उपचार आवश्यक

हो जाता है। आगे से औषध की मात्रा प्रतिक्रिया की सीमा में रखनी पड़ती है। ४-६ मास तक औषध का सेवन करा लेने पर प्रायः पेशी या अधस्त्वक् मार्ग से तुवरक के योगों का कुछ बढ़ी हुई मात्रा में प्रयोग करना पड़ता है, जिससे स्वल्पप्रतिक्रिया उत्पन्न होकर कुष्ठदण्डाणुओं के विनाश में तीव्रता आ जाती है। उत्तरोत्तर तुवरक के योगों की मात्रा बढ़ाते जाना हितकर होता है। शारीरिक स्वास्थ्य उत्तम होने पर प्रतिक्रिया के बाद कुष्ठविकृतियों का शीघ्र शमन हो जाता है। कदाचित् मुख्य ओषधि की पर्याप्त मात्रा से भी प्रतिक्रिया उत्पन्न न होने पर दूसरे प्रतिक्रियोत्पादक द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार शारीरिक स्वास्थ्य के उत्तम रहने पर, सन्तुलित रूप में प्रतिक्रिया की उत्पत्ति बीच-बीच में कराते जाना मुख्य चिकित्सा का ही अङ्ग माना जाता है। शरीर के दूषित पूय केन्द्र (Septic focus)—पूयदन्त, मध्यकर्ण शोथ, पूययुक्त नासा विवर के विकार तथा पूययुक्त व्रण आदि—की उपस्थिति में प्रतिक्रिया के अनुकूल परिणाम नहीं होते, अतः इनका उचित प्रतिकार पहले से ही करना चाहिए।

प्रतिक्रिया के लक्षण—शीतपूर्वक ज्वर की आकस्मिक रूप में उत्पत्ति, शिरःशूल, सर्वाङ्ग वेदना, हृल्लास, अतिसार, अरुचि एवं त्वचा पर नवीन विस्फोटों की उत्पत्ति से प्रतिक्रिया का अनुमान किया जाता है। ज्वर का अनुबन्ध कभी-कभी ३-४ सप्ताह तक बना रह सकता है। दूसरे स्पष्ट कारण न मिलने पर कुष्ठ प्रतिक्रिया का निदान किया जाता है। नवीन विस्फोटों के लेखन-स्राव से कुष्ठ दण्डाणु उपलब्ध हो सकते हैं। प्रायः आक्रान्त वातनाड़ियों में पीड़ा बढ़ जाती है। पुराने धब्बे भी रक्तवर्ण के हो जाते हैं।

उपचार—पूर्ण विश्राम, तरल आहार, कोष्ठशुद्धि तथा सोडा बाई कार्ब २०-६० ग्रेन की मात्रा में २-३ औंस जल में दूनी मात्रा में ग्लूकोज मिलाकर दिन में ३-४ बार सेवन कराना चाहिए। पोटासियम एण्टीमनी टार्टरेट (Potas anti. tartrate) का ०·२ ग्राम की मात्रा में ४ सी.सी. परिस्रुत जल में घोल बनाकर सिरा द्वारा प्रति तीसरे दिन प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार ३ सूचीवेध देने पर भी लाभ न होने पर ०·४ ग्राम की मात्रा में ५-६ सी० सी० परिस्रुत जल के साथ पूर्ववत् प्रति तीसरे दिन के क्रम से ३ सूचीवेध और दिए जा सकते हैं। इसके बाद भी पूर्ण लाभ न होने पर सल्फोन वर्ग की ओषधि का अल्प मात्रा में प्रयोग प्रारम्भ कर देना चाहिए। कुष्ठग्रन्थियों में अधिक वेदना होने पर मरकुरोक्रोम (Mercurochrome) का १% घोल ३ से १० सी० सी० की मात्रा में, क्रम से बढ़ाते हुए, सिरा द्वारा प्रतिदिन तीसरे दिन के क्रम से, ८-१२ सूचीवेध देने से लाभ हो जाता है।

प्रतिक्रिया के समय इन्फ्लुएंजा तथा आमवात के समान सर्वाङ्गवेदना तथा संधियों में पीड़ा होती है। इसके शमन के लिए निम्नलिखित योग दिन में ३-४ बार देना चाहिए तथा वेदनास्थान पर उष्ण सेंक तथा क्षोभक अभ्यंग का प्रयोग करना चाहिए।

R/		
	Soda salicylas	gr 10
	Soda bi carb	gr 30
	Potas bromide	gr 10
	Potas acetas	gr 15
	Tr. belladonna	m 7
	Tr. card co	m 15
	Tr. ginger	m 15
	Syrup aurentia	dr. 1
	Aqua	oz. 1
		१ मात्रा

इसके सेवन काल में शरीर ढक कर प्रस्वेद निकलने देना चाहिए। स्वेद के निर्गम से शीघ्र लाभ होता है।

वातनाडी शूल—

प्रतिक्रिया के समय या क्वचित् सामान्य अवस्था में ही विकृत वातनाडियों में तीव्र वेदना एवं स्पर्शासह्यता उत्पन्न हो जाती है। इन्फ्रारेड, डायथर्मी, बालू की पोटली या पिण्ड स्वेद के द्वारा हल्का उष्णोपचार करने से लाभ होता है। ताप संवेदना के नष्ट हो जाने के कारण रोगी ऊष्मा का अनुभव कदाचित् न कर सके—इस बात का ध्यान रखना चाहिए, अन्यथा जल जाने का भय रहता है। नोवाल्जिन (Novalgin) कोडोपायरीन (Codopyrin) मेथर्जिन (Methergin) आदि का लाक्षणिक शान्ति के लिए प्रयोग किया जा सकता है। कुछ रोगियों में वातनाडीशूल के उपचार में इफेड्रिन के प्रयोग से शीघ्र लाभ हो जाता है। १–२ ग्रेन की मात्रा में २–३ बार दिन में देना चाहिए। कठोर जिलेटिन के कैप्सूल में भरकर देने से—इसका धीरे-धीरे प्रचूषण होने से—बेचैनी, गर्मी, हृदय की धड़कन आदि कष्टकर परिणाम नहीं होते। इसी प्रकार एड्रेनलीन का प्रयोग भी अधस्त्वचीय सूचीवेध द्वारा किया जा सकता है

कैलसियम ग्लूकोनेट—इसके प्रयोग से प्रतिक्रिया के शमन में पर्याप्त सहायता मिलती है। ग्लूकोनेट की अपेक्षा कैलसियम ब्रोनेट (Calcium bronate) अधिक लाभकर सिद्ध हुआ है। २५% २५ सी० सी० ग्लूकोज के घोल में जीवतिक्ति सी० ५०० मि० ग्रा० की मात्रा में मिलाकर सिरा द्वारा ४–६ सूचीवेध देना चाहिए।

कार्टिसोन वर्ग—प्रतिक्रिया की अवस्था में इनके प्रयोग से इधर कुछ वर्षों से बड़े आशाजनक परिणाम मिले हैं। ज्वरादि लक्षणों का शीघ्र प्रशम हो जाता है। निम्नलिखित योग का १०–१५ दिन तक प्रयोग किया जा सकता है।

R/		
	Prednosoline	mg 5
	Cal pantothenate	mg 10
	Cal gluconate	gr 5
	Ascorbic acid	mg 100
	Histantine	1 tab.
		१ मात्रा

दिन में ३ बार, प्रतिक्रिया कम होते जाने पर केवल २ बार।

कैमाक्विन (Camaquin)—कुछ रोगियों में कैमाक्विन के प्रयोग से कुष्ठप्रतिक्रिया में त्वरित लाभ होते देखा गया है। यह विषमज्वर की प्रसिद्ध औषध है। १ टिकिया ३ बार ७ दिन तक सेवन कराना चाहिए। कभी-कभी इसके सेवन से चक्कर, उदरशूल तथा आमाशय क्षोभ का कष्ट होता है। मधुर पेय के अनुपान से या आहार के बाद सेवन करने पर यह कष्ट कम हो जाते हैं। सात्म्य न होने पर मात्रा घटाई जा सकती है।

स्थानीय उपचार—

त्वचा, नेत्र, प्रसनिका एवं स्वरयन्त्र आदि अवयवों पर व्रण बनने पर उनका जल्दी रोपण नहीं होता तथा द्वितीयक उपसर्गों के कारण व्रण बढ़ता जाता है। सामान्य व्रणों के समान स्थानीय शोधन कराना चाहिए किन्तु सांवेदनिक-शून्यता के कारण क्षोभक प्रतिदूषक द्रव्यों का प्रयोग हितकर नहीं होता। सल्फोन वर्ग के साथ में प्रोकेन पेनिसिलिन तथा स्ट्रेप्टोमायसीन का सूचीवेध द्वारा १० दिन तक प्रयोग तथा मुख द्वारा कार्टिजोन वर्ग की (Prednosoline आदि) औषध का दिन में २-३ बार प्रयोग करना चाहिए। स्थानीय प्रयोग के लिए व्रण की शुद्धि के बाद निबेसल्फ (Ne-ba-sulph), पोलीमिक्सिन तथा बेसिट्रेसिन के मलहम (Polymyxin with Bacitracin oint) अथवा केनालॉग एस० (Kenalog S. M. skin oint) का प्रयोग कराने से व्रण का रोपण बहुत शीघ्र हो जाता है। गले के भीतर स्वरयन्त्र आदि पर नियोमायसीन, टायरोथ्रायसीन आदि का घोल सीकर के रूप में (Spray) दिन में ३-४ बार प्रयुक्त किया जा सकता है। नेत्रगत व्रणों के लिये कार्टिजोन तथा प्रतिजीवी वर्ग की औषध के साथ में मिले हुए योगों का प्रयोग करना चाहिये।

अस्थियों का विनाश (Necrosis) रोकने के लिये नीललोहितातीत किरणों (Ultraviolate rays) का विकृत अस्थि एवं सारे शरीर पर १०-१५ मिनट तक प्रयोग कराने से लाभ होता है। साथ में बलकारक पोषक औषधियों तथा सल्फोन का पर्याप्त मात्रा में प्रयोग करना चाहिये।

अन्य औषधियाँ—

सल्फोन तथा तुवरक के योगों से प्रतिक्रिया न होने पर १-२ ग्रेन की मात्रा में पोटास आयोडाइड (Potas Iodide) का सेवन ३-४ दिन तक कराने से प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। स्वास्थ्य उत्तम होने तथा मुख्य औषधियों का सात्म्यतापूर्वक प्रयोग चलते रहने पर इसका सावधानी के साथ अल्पकालावधि प्रयोग किया जा सकता है।

इसी प्रकार टी. ए. बी. (T. A. B.) मसूरी का सिरा द्वारा, दुग्ध के योगों (Lactolan, siolan etc) को २-५ सी० सी० की मात्रा में पेशी द्वारा तथा रोगी के रक्त को २-१० सी० सी० की मात्रा में सिरा से निकाल कर पेशी मार्ग से (Auto heamotherapy) उपयोग किया जाता है।

कुछ प्राचीन प्रयोग—

कुष्ठ की चिकित्सा में तुवरक के प्राचीनकाल से प्रचलित प्रयोग का उल्लेख किया जा चुका है। भल्लातक तथा खदिर का प्रयोग भी पर्याप्त लाभकारक होता है। यदि सल्फोन एवं तुवरक के योगों के साथ में निम्नलिखित क्वाथ का ४–६ मास तक (शरद के प्रारम्भ से बसन्त के अन्त तक) सेवन कराया जाय तो अपेक्षाकृत शीघ्र लाभ होता है। प्रायः १–१॥ वर्ष से अधिक काल तक चिकित्सा की आवश्यकता नहीं पड़ती और विशिष्ट ओषधियों की सात्म्यता भी अधिक अच्छी तरह होती है। क्वाथ के सह प्रयोग से किसी प्रकार की हानि की सम्भावना नहीं है।

खदिरसार	१ तोला
मजीठ	½ तोला
दारुहरिद्रा	½ तोला
सारिवा	½ तोला
कुटकी	½ तोला
नीम की भीतरी छाल	½ तोला
वरुण की छाल	½ तोला
देवदारु	½ तोला
मुण्डी	½ तोला
चिरायता	½ तोला
पटोल पत्र	½ तोला
गुर्च	½ तोला
	१ मात्रा

आधा सेर जल में पकाकर, १–१½ छटाँक शेष रहने पर छानकर, १ तोला मधु मिलाकर प्रातःकाल पिलाना चाहिये।

शीत ऋतु में अमृतभल्लातक का योग ६ माशा से १ तोला की मात्रा में दूध के साथ, नमक विरहित भोजन करते हुये, २ मास तक सेवन कराना चाहिये। इससे शारीरिक पुष्टि होती है, पाचन शक्ति बढ़ती है तथा शारीरिक प्रतिकारक शक्ति के पर्याप्त बढ़ जाने से कुष्ठ में भी लाभ होता है। इससे कभी-कभी कण्डु का कष्ट उत्पन्न होता है, अतः धूप तथा आग का सेवन कुछ दिन बचाना तथा मक्खन-घी आदि का पर्याप्त सेवन कराना चाहिये और कण्डु के लक्षण उत्पन्न होने पर भल्लातक का सेवन बन्द कर देना चाहिये।

बलसंजनन—

वास्तव में कुष्ठ-चिकित्सा में बलसंजनन का सर्वाधिक महत्त्व होता है। प्रारम्भ से ही इसकी चेष्टा करते रहना चाहिये। कुष्ठ दण्डाणुओं का स्थायी रूप में निर्मूलन संभव

न रहने पर भी शारीरिक पुष्टि से रोग का शमन हो जाता है। सल्फोन एवं तुवरक के योगों का सेवन बन्द कर देने पर निम्नलिखित योग का ३-४ मास तक सेवन कराने से कुष्ठ के पुनरावर्तन की सम्भावना का प्रतिकार तथा बल-पुष्टि की वृद्धि होती है।

१.	रसमाणिक्य	१ र०
	स्वर्ण गैरिक	२ र०
	लौह भस्म	१ र०
	ताम्र भस्म	½ र०
	गन्धक रसायन	१ माशा
		१ मात्रा

प्रातः सायं मक्खन तथा मिश्री के साथ। ऊपर से दूध का अनुपान दिया जा सकता है।

२. खदिरारिष्ट १ औंस

भोजन के बाद दोनों समय बराबर जल मिलाकर।

३. आरोग्यवर्धिनी वटी ४ रत्ती

४. पञ्चतिक्त घृत गुग्गुलु २ माशा

दोनों साथ में रात्रि में सोते समय दूध के साथ।

प्रतिषेध—

कुष्ठ का विकार तीव्र संक्रामक नहीं है। फिर भी कुष्ठीय प्रकार (Lepromatous type) में तथा शरीर में व्रणों की उपस्थिति में संक्रमण का प्रसार हो सकता है। वातिक कुष्ठ में प्रायः औपसर्गिकता नहीं रहती। संक्षेप में कुष्ठी व्यक्ति से घनिष्ठ सम्पर्क का बचाव रखना, उसके कपड़े बिस्तर रुमाल आदि का प्रयोग न करना चाहिये। बाल्यावस्था में इसका संक्रमण अधिक होता है, इसलिये बालकों को विशेष रूप से पृथक् रखना चाहिये। हीन पोषण, दौर्बल्यकारक व्याधियों तथा गन्दी रहन-सहन से इसके उपसर्ग की सम्भावना बढ़ती है। खुली वायु में रहना; खूब शरीर मल कर स्नान करना, धूप में खुले शरीर कुछ समय तक रहना एवं पोषक आहार-विहार की व्यवस्था से इसका प्रतिषेध हो सकता है। घरेलू काम के लिये परिचारक, रसोइया, कपड़ा-बर्तन साफ करने वाले व्यक्तियों से भी इस व्याधि का प्रसार हो सकता है, अतः इन सबकी परीक्षा कर लेनी चाहिये।

कुष्ठ रोगियों के लिये कुष्ठाश्रमों की स्थापना, उनके उपयुक्त व्यवसाय की सुविधा तथा आर्थिकस्तर के सुधार से इसका प्रसार रोका जा सकता है। कुष्ठ कोई सहजात या पूर्वकर्मज व्याधि नहीं है—यह प्रचार भी रोगी के मनोबल के बढ़ाने, व्याधि को संकोच एवं लज्जावश न छिपाने तथा उचित उपचार की सुविधा से लाभ उठाने की प्रेरणा देगा और अन्त में समाज का यह भयंकर 'कोढ़' पूरी तरह से दूर किया जा सकेगा है।

धनुर्वात

Tetanus

विशिष्ट दण्डाणु के उपसर्ग से नाड़ी संस्थान के लक्षणों की प्रधानता, सामान्य स्वरूप का ज्वर, क्वचित् परम ज्वर, हनु की पेशियों की स्तब्धता एवं सर्वांग की पेशियों में ऐंठन धनुर्वात की मुख्य विशेषता है।

धनुर्वात का उत्पादक दण्डाणु बहुरूपी एवं गतियुक्त होता है। इसके दो स्वरूप परिस्थितियों की अनुकूलता एवं प्रतिकूलता के आधार पर होते हैं। प्रतिकूल परिस्थिति आने पर इसके क्षुल्लक (Spore) बनते हैं तथा अनुकूल परिस्थिति आने पर क्षुल्लकों का नाश होकर औद्भिदावस्था उत्पन्न होती है। यह दण्डाणु वातभी (Anerobe) अर्थात् प्राणवायु की उपस्थिति में संख्यावृद्धि एवं विषोत्पत्ति न उत्पन्न कर सकने की क्षमता वाला है तथा प्रतिकूल परिस्थिति आने पर सीमातीत प्रतिकारक शक्ति उत्पन्न कर सकता है। इसी कारण इसके क्षुल्लक अँधेरे और आर्द्र स्थान में दीर्घ काल तक पाये जा सकते हैं। शुष्कावस्था में भी वर्षों तक जीवनक्षम रहते हैं। जीवाणुनाशक घोलों से भी शीघ्र नष्ट नहीं होते तथा एक घण्टे तक पानी में उबालने पर भी जीवित रह सकते हैं। घोड़ा, बैल, मनुष्य, भेड़ इत्यादि जानवरों की आँतों में सहभोजी के तौर पर यह निवास करते हैं तथा उनके मल के साथ उत्सर्गित होते रहते हैं। इस दृष्टि से खेतों, बगीचों आदि खाद डाले हुये स्थानों में यह सदैव अधिक संख्या में पाये जाते हैं। सड़कों-गलियों एवं सार्वजनिक स्थानों में, जहाँ पर मनुष्येतर प्राणी भी पहुँच सकें, इनकी उपस्थिति की कल्पना की जा सकती है। यह जीवाणु अत्यन्त वीर्यशाली बहिर्विष उत्पन्न करता है, जो नाग के विष से बीस गुना अधिक घातक हो सकता है। यह विष क्षत के द्वारा प्रविष्ट होने पर ही विकारकारक होता है, मुख द्वारा नहीं। इस विष में शरीर की पेशियों में आक्षेप उत्पन्न कर स्तम्भित एवं धनुष के समान टेढ़ी अवस्था में रखने की शक्ति तथा रुधिर कायाणुओं के नाशन का सामर्थ्य विशेष रूप में होता है। मनुष्य के उपसर्गाक्रान्त होने पर उसके द्वारा व्याधि का संक्रमण स्वस्थ व्यक्तियों में नहीं हो सकता, क्योंकि धनुर्वात दण्डाणु प्रवेश स्थल में ही प्रायः सीमित रहा करते हैं तथा वहीं से उनका विष मस्तिष्क संस्थान में प्रसारित होकर सर्वांगव्यापी लक्षण उत्पन्न करता है।

इनका शरीर में प्रवेश हमेशा क्षुल्लकावस्था में ही त्वचा में क्षत होकर होता है, अक्षत त्वचा से कभी नहीं होता। इसलिये सड़क या सार्वजनिक स्थान-बाग-बगीचे इत्यादि स्थानों के अभिघातज क्षत, शल्यव्रण, फोड़े-फुन्सियाँ, मुँहासे, चेचक का टीका, मध्यकर्ण शोथ, पूयदन्त आदि कारणों से त्वचा या श्लेष्मल त्वचा में क्षत होने पर इनका प्रवेश शरीर में हो सकता है। सूचीवेध द्वारा औषध प्रयोग कराते समय,

पर्याप्त शोधन व्यवस्था का ध्यान न रखने पर, सूची के साथ यह शरीर में प्रविष्ट हो सकते हैं। क्विनीन के सूचिकाभरण के बाद बहुत से रोगियों में धनुर्वात उत्पन्न होते देखा गया है। क्विनीन या दूसरी ओषधियों द्वारा, जिनमें धातुनाशन का गुण विशेष रूप में होता है, सूचीवेध द्वारा प्रविष्ट होने पर स्थानीय कोषाओं का विनाश करती हैं, वहाँ इन दण्डाणुओं का प्रवेश होने पर धनुर्वात उत्पन्न हो सकता है। धातुओं का नाश एवं प्राणवायु का अप्रवेश धनुर्वात दण्डाणु के लिये उर्वर स्थिति मानी जाती है। प्रसव के बाद गर्भाशय-शोधन आदि के लिये अथवा गर्भपात के समय पूर्णतया शोधन संस्कार न करके यन्त्र-शस्त्रों आदि का उपयोग करने पर धनुर्वात के क्षुद्रकों का प्रवेश आसानी से गर्भाशय में हो सकता है। गर्भाशय की आभ्यन्तरिक स्थिति भी इनके संवर्धन के लिये बहुत अनुकूल होती है। सद्यःजात शिशु में नालच्छेदन करते समय यन्त्र-शस्त्रों की पूर्ण शुद्धता न रखने पर इसी प्रकार बहुत गम्भीर स्वरूप का उपसर्ग हो सकता है। शस्त्रकर्म में टाँका लगाने में ताँत (Catgut) एवं व्रणबन्धन में कपड़ा-रूई इत्यादि का प्रयोग होता है। ताँत बकरी के आँत से बनी होती है, जिसमें धनुर्वात दण्डाणु पहले से वर्तमान हो सकते हैं। थोड़ी बहुत देर उबालने पर भी इनमें रहने वाले जीवाणुओं का पूर्णतया विनाश नहीं हो सकता। शस्यकर्म के बाद इस प्रकार क्षुद्रकोपसृष्ट रूई-ताँत आदि के प्रयोग से धनुर्वात की उत्पत्ति के अनेक उदाहरण मिले हैं। धनुर्वात जगत्व्यापी होने पर भी मुख्यतया उष्णकटिबन्ध में अधिक हुआ करता है। शरीर में व्रण वा क्षत होने पर इनका प्रवेश होता है। धनुर्वात उत्पन्न होने के लिये शरीर में किसी प्रकार क्षत-त्वचा से केवल क्षुद्रकों का प्रवेश ही पर्याप्त नहीं होता, किन्तु धातुनाशन-रक्ताल्पता-प्राणवायु की कमी आदि संवर्धन की अनुकूल परिस्थिति भी आवश्यक होती है, अन्यथा रोगोत्पत्ति नहीं हो सकती। छिन्न-भिन्न, पिच्चित, विद्ध, अभिघातजन्य व्रण, धूलि-गोबर इत्यादि से दूषित व्रण, धातुनाशक क्विनीन-मार्फीन आदि रासायनिक द्रव्य एवं माला गोलाणु-मलाशयी दण्डाणु-वातिक कोथ (Gas gangrene) दण्डाणु आदि के द्वारा स्थानीय उपसर्ग होने पर धनुर्वात दण्डाणुओं की वृद्धि के लिये अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न होती है। जब तक व्रण स्वच्छ, चौड़े तथा नष्ट कोषाओं से पृथक् रहते हैं, तब तक प्रविष्ट हुये धनुर्वात के क्षुद्रक रोगोत्पत्ति नहीं कर सकते। कुछ रोगियों में प्रारम्भ में अनुकूल अवस्था न होने पर, व्रण-पूरण हो जाने के बाद अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न होने पर, महीनों बाद तक धनुर्वात के दण्डाणु रोगोत्पत्ति कर सकते हैं। इसीलिये धनुर्वात का रोगी कभी-कभी क्षत या व्रण का इतिहास नहीं दे पाता।

धनुर्वात दण्डाणु का विष प्रवेश-स्थान में संवर्धित होकर मुख्यतया मस्तिष्क कोशाणु में पहुँचता है। चेष्टावहा (Motor) नाड़ियों के द्वारा प्रकर्षित होकर अथवा रस एवं रक्तवाहिनियों द्वारा सारे शरीर में प्रसारित होते हुये और अन्त में मस्तिष्क

कोषाओं को पूर्णतया आक्रान्त करता है। प्रवेशस्थान की चेष्टावह नाड़ियों के नष्ट या अकार्यक्षम होने तथा उस अंग को कम हिलाने-डुलाने से रस एवं रक्त का प्रवाह शिथिल होकर विष का प्रचूषण अधिक नहीं होने पाता। इस प्रकार धनुर्वात दण्डाणु का प्रवेशस्थान मस्तिष्क से जितना दूर होगा, उतना ही लक्षणों की उत्पत्ति में विलम्ब होगा। मुख, ग्रीवा, कपाल आदि अंगों में चोट लगकर धनुर्वात की उत्पत्ति होने पर ३-४ दिन में ही रोगोत्पत्ति हो जाती है। किन्तु शाखाओं में रोगाधिष्ठान होने पर लक्षणोत्पत्ति १५-२० दिन में होती है। धनुर्वात की सर्वाधिक विशेषता मस्तिष्क कोषाणु (Neurones) के साथ स्थायीरूप में बद्ध हो जाना है अर्थात् एक बार विष मस्तिष्क कोषाणु तक पहुँच जाने पर विष रूप में पृथक् नहीं रह जाता। मस्तिष्क कोषायें उसे आत्मसात् करके रूपान्तरित कर देती हैं, जिससे प्रतिविष का उस पर कुछ भी असर नहीं होता। पर्याप्त मात्रा में मस्तिष्ककोषाओं के धनुर्वात विष का ग्रहण कर लेने पर प्रतिविष की अधिक से अधिक मात्रा भी निरर्थक हो जाती है। रोहिणी में ऐसी स्थिति नहीं होती। वहाँ शरीर की कोई धातु विष को आत्मसात् नहीं करती, किन्तु विष के हानिकारक परिणाम से पीड़ित होती है। इसलिये धनुर्वात की चिकित्सा में आक्रान्त अंग को अधिक से अधिक चेष्टाहीन रखते हुये धनुर्वात-विष को प्रसारित न होने देने के लिये व्यवस्था करना तथा शीघ्र से शीघ्र प्रतिविष लसीका का व्यवहार करना महत्त्वपूर्ण है।

धनुर्वात विष के प्रभाव से निरन्तर नाड़ियाँ प्रक्षुब्ध रहा करती हैं, जिससे सम्बन्धित पेशियाँ निरन्तर तनी हुई रहती हैं। पेशियों में तनाव के कारण ही कठोरता—स्तब्धता आदि परिणाम होते हैं। ऊर्ध्व नाड़ी कन्दाणु (U. M. N.) के विषाक्त होने के कारण अधः नाड़ी कन्दाणु (L. M. N.) स्वतंत्र हो जाता है। जिससे अल्पतम उत्तेजना होने पर भी पेशियों में अत्यधिक संकोच पैदा होता है। इसी लिये धनुर्वात में बार-बार उद्वेष्टन और आक्षेप (Spasm & convulsion) हुआ करते हैं। सारे शरीर की पेशियों में एक ही साथ तनाव एवं संकोच होने के कारण उनकी परस्परानुकूलता (Reciprocal innervation) नष्ट हो जाती है। शरीर के संकोचक एवं प्रसारक पेशी-समूह एक साथ संकोच एवं विस्फार की क्रिया में पूरी शक्ति से लगे रहते हैं। पेशी की सबलता के आधार पर शरीर की आकृति हो सकती है। यदि संकोचक पेशियाँ प्रबल हुईं तो शरीर संकुचित, प्रसारक प्रबल हुईं तो तना हुआ या सीधा, दोनों के समबल होने पर शरीर डण्डे के समान तना हुआ कठोर तथा सीधा होता है। इसी कारण कभी शरीर पीछे की ओर टेढ़ा होकर पृष्ठायाम (Opisthotonus), आगे की ओर टेढ़ा होकर अन्तरायाम (Orthotonus) अथवा कठोर व सीधा दण्डायाम की तरह बन जाता है। कभी-कभी पूर्व व्यायामों के प्रयोग से शरीर के एक पार्श्व की पेशियाँ अधिक प्रबल हो जाती हैं। एक ही हाथ से अधिक कार्य करने वाले व्यक्तियों में—लौहकार

स्वर्णकार आदि में—एक पार्श्व की पेशियाँ अधिक पुष्ट एवं प्रबल होती हैं। धनुर्वात पीड़ित होने पर इन व्यक्तियों में पार्श्वायाम (Emprosthotonus) अर्थात् पार्श्व में शरीर के संकुचित होने की स्थिति उत्पन्न होती है।

लक्षण—

रोग का संचय काल १०–१४ दिन का—क्वचित् ४ दिन से २१ दिन तक का—हो सकता है। सर्वप्रथम हनु में स्तब्धता प्रारम्भ होती है और हनुस्तम्भ (Lock-jaw) के कारण रोगी मुँह को खोल-फैला नहीं सकता। पेशियों की स्तब्धता धीरे-धीरे व्यापक होती जाती है। चेहरे की पेशियों पर परिणाम हो कर भौंहें एवं मुख के कोणों के बाहर खिंच जाने के कारण आकृति विकट हास्य सदृश (Risus sardonicus) हो जाती है। निगलने की पेशियों में स्तब्धता होने के कारण खाद्य-पेय निगलने में अत्यधिक कष्ट होता है। पृष्ठवंश की पेशियों में स्तब्धता होने पर शरीर धनुष के समान हो जाता है। धीरे-धीरे सर्वाङ्ग की मांसपेशियों में स्तब्धता, आक्षेप एवं उद्वेष्टन के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। उद्वेष्टन एवं आक्षेप के कारण सारे शरीर की मांसपेशियों में तीव्र वेदना, श्वासोच्छ्वास में कष्ट, उद्वेष्टन कम होने पर भी पेशियों में सतत खिंचाव (Tonic spasm) हुआ करता है। आवेगों का प्रारम्भ अत्यन्त छोटे कारणों से ही हो जाता है। हवा का झोंका चलने, जोर से बोलने, सुई लगाने, तेज प्रकाश लगने, शरीर का स्पर्श करने, पीने या खाने की चेष्टा करने मात्र से हो जाता है। पेशीसमूह की प्रबलता एवं निर्बलता के आधार पर शरीर की आकृति बनती है, पृष्ठायाम-अन्तरायाम-दण्डायाम-पार्श्वायाम आदि रूपों में आवेग के समय शरीर रह सकता है। संकोच अधिक प्रबल होने पर पैर सिर के निकट आ जाते हैं। बच्चों में यह स्थिति अधिक दिखाई पड़ती है। आवेग के समय हनुस्तब्धता के कारण दाँतों का बैठ जाना, श्वासकृच्छ्र, श्वासावरोध, सर्वाङ्गवेदना के कारण अत्यधिक कष्ट; प्रतिक्षेप-क्रियायें बहुत बढ़ी हुई, मल-मूत्रादि का अवरोध एवं नाड़ी तथा हृदय की त्वरित गति आदि लक्षण होते हैं। आवेग प्रत्येक आधे घण्टे के पश्चात् कुछ सेकण्डों के लिये आते हैं, किन्तु आवेग के बाद भी रोगी को शान्ति नहीं मिलती। पेशियाँ पूर्णतया शिथिल नहीं होतीं, रोग के अधिक तीव्र होने पर अन्तरावेगिक अवधि घटती जाती है। प्रायः ज्वर नहीं होता अथवा ९९-१०० तक क्वचित् ज्वर मिल सकता है। किन्तु तीव्रावस्था में संताप परम ज्वर की सीमा से भी अधिक—१०७–१०८ तक—हो सकता है तथा मृत्यु के बाद भी पर्याप्त समय तक शरीर का ताप ११०–११२ अंश तक बना रह सकता है।

प्रायोगिक परीक्षण—

धनुर्वात में प्रायोगिक परीक्षाओं से विशेष सहायता नहीं मिलती। दूषित व्रणों का स्राव या निर्लेख (Scrapings) का परीक्षण जीवाणु दर्शन के लिये किया जाता है,

किन्तु धनुर्वात होने पर भी जीवाणु की उपलब्धि प्रायः नहीं हो पाती। प्राणी रोपण एवं संवर्धन के द्वारा भी धनुर्वात दण्डाणु का निर्णय किया जा सकता है, किन्तु उपयोगिता की दृष्टि से चिकित्सक को मुख्यतया लाक्षणिक निदान के ऊपर ही आश्रित रहना पड़ता है।

सापेक्ष्य निदान—

जल-संत्रास, कुपीलु विषमयता (Strichnine poisoning), अपतानिका (Tetany) एवं गले-दाँत तथा हनु के विकारों से इसका पार्थक्य करना चाहिये। जलसंत्रास में पागल जानवरों-कुत्ते-शृगाल आदि के काटने का इतिहास, प्रलाप-मूर्च्छा-श्वसन एवं ग्रसन की पेशियों में आक्षेपों का प्राधान्य, मुख से लार गिरना, जल देखने पर निगलने की पेशियों में आक्षेपों का प्रारम्भ किन्तु हनुस्तम्भ का अभाव, आवेगों के बीच में पेशियों की शिथिलता आदि लक्षण मुख्यतया होते हैं। कुपीलु विष के कारण सर्वप्रथम शाखाओं में आक्षेप की उत्पत्ति होती है। धनुर्वात के समान हनुस्तम्भ पहले नहीं पैदा होता। आवेग के समय पेशी-समूह पूर्णतया शिथिल रहते हैं। गले-दाँत आदि में विकार होने पर रोगी को मुँह फैलाने में कष्ट हो सकता है, जिससे धनुर्वात के प्रारम्भिक लक्षण का भ्रम होता है। गले की लसग्रंथियों का परीक्षण शोथयुक्त अवस्थाओं के पार्थक्य के लिये करना चाहिये। हन्वस्थि का संधिविश्लेष (Dislocation of mandible) तथा कभी-कभी बुद्धिदन्त (Wisdom tooth) का पीछे की ओर पेशियों के भीतर ही विकास होने पर हनुस्तम्भ के लक्षण होते हैं।

रोग विनिश्चय—

सड़क बाग-बगीचे खेतों आदि में अभिघातजक्षत का इतिवृत्त, काँटा लगना—सुई गड़ जाना आदि का पूर्ववृत्त, प्रारम्भ में चबाने एवं निगलने में कठिनाई तथा हनुग्रह, उसके बाद सारे शरीर में आक्षेपों की उत्पत्ति, आवेगों के बीच में भी पेशियों में स्तब्धता, विकट हास्ययुक्त आकृति, अल्पतम क्षोभक कारणों से आक्षेपों की उत्पत्ति, अन्त तक रोगी के मन का स्वस्थ रहना (प्रलाप-मूर्च्छा आदि का अभाव) आदि लक्षणों के आधार पर धनुर्वात का निर्णय किया जाता है।

उपद्रव तथा अनुगामी विकार—

पेशियों में अत्यधिक ऐंठन होने के कारण उनका विदार, संधिविश्लेष, अस्थिभंग, जिह्वा-क्षत आदि उपद्रव होते हैं, निरन्तर संकोच होने के कारण स्वेदाधिक्य एवं श्वासावरोध का उपद्रव भी हो सकता है। आक्षेपों के कारण ही शरीर के अनेक अङ्गों में शय्याव्रण उत्पन्न हो जाते हैं। तीव्र स्वरूप के आक्रमण में परम ज्वर का उपद्रव भी चिन्ताजनक होता है। द्वितीयक जीवाणु के उपसर्ग के कारण श्वसनी-फुफ्फुसपाक की भी सम्भावना होती है। कुछ रोगियों में स्थानिक लक्षण ही अधिक मिले हैं।

साध्यासाध्यता—

धनुर्वात दण्डाणु का प्रवेश मस्तिष्क से जितना दूर होगा, व्याधि का सञ्चयकाल जितना लम्बा होगा तथा आवेगों के बीच का समय जितना अधिक होगा, उसी अनुपात में रोग साध्य होता है। घातक प्रकार में आवेग बहुत जल्दी-जल्दी आते हैं। मुख-गले एवं कपाल के व्रणों में धनुर्वात दण्डाणु के प्रवेश होने पर रोग प्रायः असाध्य होता है। प्रतिविष लसिका का प्रयोग जितना शीघ्र प्रारम्भ होगा, उतना ही लाभ होने की आशा रहती है। जीवाणु-प्रवेशस्थान का व्रण यदि भली प्रकार साफ किया जा सके तो नवीन बहिर्विष की मात्रा कम हो जाती है। बच्चों-वृद्धों एवं दुर्बल व्यक्तियों तथा प्रसूता स्त्रियों में भी व्याधि का आक्रमण गम्भीर स्वरूप का होता है। हनुग्रह एवं निगलने में अत्यधिक कष्ट होने के कारण रोगी का पोषण असम्भव हो जाता है। हीन पोषण के कारण शय्याव्रण आदि होकर रोग की असाध्यता बढ़ती है।

सामान्य चिकित्सा—

रोगी को अन्धेरे, प्रशान्त एवं निर्वात कमरे में रखना चाहिये, केवल शुद्ध वायु के आवागमन के लिये ऊपर के झरोखे खुले रक्खे जा सकते हैं। तीव्र प्रकाश-वायु के झोंके एवं खिड़कियों-दरवाजों के खुलने एवं बन्द होने से पेशियों की उत्तेजना बढ़ती है। इसलिये प्रकाश-वायु-ध्वनि का रोगी के कमरे में प्रवेश पूर्ण नियन्त्रित होना चाहिये। दूर की ध्वनि से भी आवेग आ सकता है। अतः रोगी के कान में रूई लगा कर ध्वनि सुनने में रुकावट करनी चाहिये। बोलने-हिलने-डुलने तथा सभी प्रकार की चेष्टाओं के प्रयासमात्र से आवेगों में वृद्धि होती है। उसी प्रकार पार्श्व परिवर्तन कराने, शय्या बदलने या वस्त्र ओढ़ाने आदि की क्रियाओं से आवेग बढ़ते हैं। आवेग आने पर शरीर को सभी पेशियों में उद्वेष्ठन एवं आकुञ्चन होते हैं, जिससे धनुर्वात का विष संचय-स्थान से नाड़ियों तथा रस एवं रक्तवाहिनियों द्वारा मस्तिष्क की ओर अधिक मात्रा में प्रचलित होता है। इसलिये सभी चेष्टाओं द्वारा आक्षेपों को मर्यादित करना आवश्यक है। आक्षेप के कारण मल-मूत्र का त्याग नियमित रूप से नहीं हो पाता, क्वचित् मल-मूत्रावरोध भी हो जाता है। मूत्रोत्सर्ग का नियमित रूप से ध्यान रखते हुये, अवरोध की सम्भावना होने पर, शलाका द्वारा मूत्रत्याग कराना चाहिये। विरेचक ओषधियों का प्रयोग आक्षेपों एवं निगलने की कठिनाई के कारण सम्भव नहीं होता, अतः स्निग्ध बस्ति देकर मलाशय में संचित मल का शोधन करते रहना चाहिये। आक्षेपों एवं पेशियों की स्तब्धता के कारण सारा शरीर छिलने-सा लगता है। अतः शय्या बहुत मुलायम तथा सारे शरीर के ऊपर उद्धूलन (Talcum dusting) एवं स्निग्ध लेप, विशेषकर घर्षण स्थानों पर, करना चाहिये। स्वेदन से मांसपेशियों में सञ्चित दोषों का परिमार्जन तथा वेदना की शान्ति होती है। अतः गरम पानी में कपड़ा भिगोकर बहुत सहता-सहता स्वेदन शाखाओं एवं पृष्ठवंश की

पेशियों के ऊपर करना चाहिये । कथित वातशामक तेलों का सुखोष्ण लेप (मालिश नहीं) एवं एरण्ड-निर्गुण्डपत्र आदि से स्वेदित कर ऊपर से लपेटने से अधिक लाभ होता है । अनुकूलता होने पर इस प्रकार के बाह्य उपचारों का प्रयोग करना चाहिये । शरीर का परिमार्जन एवं मुख-नासादि की शुद्धता में बड़ी कठिनाई होती है । फिर भी मुख, तालु, गले, नासा एवं कान की सफाई गुनगुने Dettol युक्त पानी में भिगोये कपड़े से पोंछकर करनी चाहिये । Boroglycerine या दूसरे शोधक द्रव्यों का प्रयोग बाद में किया जा सकता है । आक्षेप, हनुस्तम्भ एवं निगलने में कठिनाई के कारण पोषण में बड़ी असुविधा होती है । केवल पेय पदार्थ किसी प्रकार लिये जा सकते हैं । दूध, फलों का रस, यूष, हार्लिक्स, ओवल्टीन आदि पोषक तरल पदार्थ देने चाहिये । हनुग्रह एवं निगलने में अत्यधिक कठिनाई होने पर रोगी मुख द्वारा आहार सेवन करने में असमर्थ होता है तथा नासा द्वारा नली से पोषण करने में भी आक्षेपों में वृद्धि होती है । ऐसी स्थिति में क्लोरोफार्म के प्रयोग से मूर्च्छित कर, नासा द्वारा रबर की नली आमाशय में डालकर, प्रातः-सायं दूध एवं अन्य पोषक आहार पर्याप्त मात्रा में देना चाहिये तथा मूर्च्छितावस्था में ही मल-मूत्र की शुद्धि का उपचार भी आसानी से किया जा सकता है । तीव्र स्वरूप के आक्रमण में परम ज्वर का उपद्रव हुआ करता है । अतः ज्वर के प्रतिषेध के लिये प्रारम्भ से ही पर्याप्त मात्रा में जल पिलाते रहना और परम ज्वर होने पर गुदा द्वारा पोषण कराना और गुनगुने पानी से सारा शरीर पोंछना चाहिये ।

स्थानीय चिकित्सा—

धनुर्वात की चिकित्सा में स्थानीय उपचार का भी बहुत महत्त्व है । बहुत बार व्रण का कोई इतिहास नहीं मिलता । भली प्रकार पूछकर रोगाक्रमण के १-१॥ मास पूर्व के व्रण स्थानों की पूरी तरह परीक्षा करनी चाहिये । रोपित व्रणों को फिर से खोलकर उनका संशोधन करना बहुत आवश्यक है । व्रण की स्थानीय चिकित्सा करने से पूर्व आक्षेपहर ओषधियों का प्रयोग कर रोगी को शान्त एवं शिथिल अवस्था में रखना आवश्यक है, अन्यथा आक्षेपों की वृद्धि होने से स्थानीय विष प्रसारित हो जाता है । विष को मर्यादित करने के लिये शोधन करने से पहले व्रण के ½-१ इंच चारों ओर १५-२० हजार यूनिट प्रतिविष लसिका का सूचीवेध कई स्थानों में एक घण्टा पूर्व करना चाहिये । आवश्यक होने पर क्लोरोफार्म का प्रयोग किया जा सकता है ।

व्रण के शोधन में Hydrogen per oxide, Pot permangnate आदि प्राणवायु पैदा करने वाले घोलों का विशेष महत्त्व है । धनुर्वात दण्डाणु वातपी स्वरूप के होते हैं । यदि व्रणों का शोधन प्राणवायु उत्पादक द्रव्यों से किया जाय तो उनकी वृद्धि नहीं हो पाती । व्रण के भीतर तथा आस-पास प्राणवायु का प्रवेश सूचीवेध द्वारा भी कराने की प्रथा है । व्रण में मिट्टी, धूल-काँटों अथवा कुचले हुए धातुओं का अंश होने

पर खुरचकर भली प्रकार सफाई करनी चाहिये। व्रणों का शोधन करने के बाद कुछ समय तक केवल गॉज से ढककर रखना श्रेयस्कर है। पट्टी न बाँधना चाहिये। बाद में भी पट्टी बाँधने पर ढीला बन्धन ही लगना चाहिये। टिं० आयोडिन, कार्बोलिक एसिड आदि क्षोभक रक्तप्रवाहकारक ओषधियों में रूई भिगोकर व्रण का स्पर्श करना भी लाभकारी है। द्वितीय उपसर्गों की सम्भावना होने पर पेनिसिलीन का स्थानीय एवं सार्वदैहिक प्रयोग भी प्रतिविष लसिका के अतिरिक्त किया जा सकता है। शस्त्र-कर्म के बाद धनुर्वात की उत्पत्ति होने पर रूई या सीवन की ताँत के धनुर्वात दण्डाणु से दूषित होने का अनुमान करके, शीघ्र घाव को खोलकर हाइड्रोजन पर आक्साइड आदि से धोना चाहिये। बाद में बिना टाँका लगाये क्रम से घाव का रोपण (Healing by granulation) करना चाहिये। कर्णस्राव, पूयदन्त आदि पूयदूषित स्थानों की स्थानीय शुद्धता द्वितीयक उपसर्गों का प्रतिषेध करने के लिये अपेक्षित है।

कुछ अनुभवी चिकित्सक व्रण का पूर्वोक्त क्रम से शोधन करने के साथ प्रतिविष लसिका का शुष्क चूर्ण उसमें भरकर व्रणबन्धन करने की राय देते हैं। चूर्ण रूप में लसिका उपलब्ध होने पर इस प्रकार का स्थानीय प्रयोग उत्तम होगा।

औषध चिकित्सा—

धनुर्वात चिकित्सा के मुख्य तीन आधार होते हैं—

१. मस्तिष्ककोषाओं से अबद्ध, शरीर में प्रसारित, विष का निर्विषीकरण। इस कार्य के लिए प्रतिविष लसिका का प्रयोग किया जाता है।

२. विषोत्पत्ति एवं प्रसार का नियन्त्रण—इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए दूषित स्थान की पूर्वोक्त क्रम से सफाई तथा विष का प्रसार रोकने के लिए आक्षेप एवं अन्य हिलने-डुलने की क्रियाओं का परिसीमन और आक्षेपहर ओषधियों का प्रयोग किया जाता है।

३. लाक्षणिक उपचार—आक्षेप के अतिरिक्त मल-मूत्रावरोध, श्वासावरोध का उपचार, पोषण की उचित व्यवस्था एवं उपद्रवों के प्रतिषेधार्थ उपचार करना भी आवश्यक है।

प्रतिविष-लसिका—

धनुर्वात की यह उत्तम रामबाण औषध है, किन्तु इसका जितना शीघ्र प्रयोग किया जायगा, उतना ही अधिक लाभ होगा। मस्तिष्क कोषाणु के साथ धनुर्वात विष का संबंध हो जाने पर प्रतिविष-लसिका की कार्यक्षमता कुछ नहीं होती। अतः व्याधि का सन्देह होते ही लसिका का प्रयोग प्रारम्भ करना चाहिये। इसका प्रयोग प्रारम्भ में सिरा मार्ग से और बाद में पेशी-त्वचा आदि मार्गों से आवश्यकतानुसार किया जा सकता है। कुछ चिकित्सकों की राय में कटिवेध करके सुषुम्ना जल को निकालकर शरीर के तापक्रम की लसिका सुषुम्ना मार्ग से प्रविष्ट कराना अधिक लाभकारी है। सिरा एवं सुषुम्ना मार्ग से लसिका प्रयोग करते समय समलवण जल की समान मात्रा के साथ मिलाकर देना चाहिये। सामान्यतया प्रारम्भिक दिन लसिका का प्रयोग सिरा द्वारा तथा रोगाक्रमण के बाद

अधिक समय लसिका प्रयोग किये बिना बीत जाने पर सुषुम्ना मार्ग से भी कर देना चाहिये। बाद में पेशी या त्वचा मार्ग से प्रवेश किया जा सकता है।

मात्रा—कुछ चिकित्सक प्रतिविष लसिका की पूर्ण मात्रा एक ही साथ देने के पक्ष में हैं और आवश्यकता होने पर २-२ दिन बाद प्रारम्भिक मात्रा की आधी मात्रा का पुनः प्रयोग करने की राय देते हैं। प्रारम्भिक मात्रा हमेशा तीव्रता के अनुरूप अधिक ही होनी चाहिये। प्रतिविष लसिका की मात्रा अधिक हो जाने से कोई हानि नहीं होती, अपर्याप्त मात्रा में देने पर ही हानि होती है। मात्रा का निर्धारण शरीर-भार, अवस्था आदि के आधार पर कम, किन्तु व्याधि की तीव्रता के आधार पर अधिक होता है। सामान्य रोगियों में प्रारम्भिक मात्रा ६०००० से १०००००० यूनिट तक सिरा द्वारा, बाद में प्रतिदिन २०००० से ४०००० यूनिट तक पेशी मार्ग से, कुल २-२॥ लाख यूनिट देना पड़ता है। पेशीस्तब्धता, बाह्यायाम, श्वासावरोध आदि गम्भीर लक्षण होने पर लसिका की मात्रा बढ़ानी पड़ती है। प्रारम्भिक मात्रा २ लाख यूनिट सिरा द्वारा तथा ५० हजार यूनिट सुषुम्ना मार्ग से, दूसरे दिन १ लाख यूनिट सिरा द्वारा, तीसरे दिन से पेशी मार्ग से ३० हजार यूनिट की मात्रा प्रतिदिन रोग की लाक्षणिक निवृत्ति होने तक देना चाहिये। रोग का उपशम न होने पर २ लाख की प्रारंभिक मात्रा देने के बाद ४-५ दिन तक १ लाख यूनिट लसीका प्रतिदिन सिरा द्वारा ही देना चाहिये।

लसिका प्रयोग के कुछ नियम—

१. मस्तिष्क कोषाओं के साथ धनुर्वात दण्डाणुओं का बहिर्विष स्थायीरूप में बद्ध हो जाता है, बद्ध होने पर लसीका से कोई लाभ नहीं होता। अतः रोगविनिश्चय होते ही लसीका उपलब्ध सर्वाधिक मात्रा में देना चाहिए।

२. लसीका का सूचीवेध करने के पूर्व उसकी अल्प मात्रा उपत्वचा में देकर अनूर्जता आदि का परिज्ञान रोहिणी (पृ० ७०५) के समान कर लेना आवश्यक है।

३. एड्रेनालीन का १ : १००० शक्ति वाला घोल १ सी० सी० की मात्रा में सदैव प्रस्तुत रखना चाहिए। अनूर्जता या अनवधानता की सम्भावना होने पर तुरन्त प्रयोग करना चाहिए।

४. लसीका काँचकूपी से निकालने के पहले उसकी उत्पादन तिथि, कार्यक्षम अवधि भली प्रकार देख लेना चाहिए। अवधि बीतने के बाद लसीका हीनवीर्य हो जाती है।

५. अन्तरराष्ट्रीय (International) यूनिट अमेरिकन यूनिट से दूना लेना चाहिए। दोनों का मानदण्ड एक-सा नहीं है। अतः अमेरिका में निर्मित लसीका की मात्रा (यदि साथ के पत्रक में अन्तरराष्ट्रीय यूनिट का उल्लेख न किया गया हो) का निर्धारण भली प्रकार साथ का पत्रक पढ़कर करना चाहिए। साधन सम्पन्न विश्वसनीय निर्माताओं की ही लसीका का व्यवहार करना चाहिए। भारतीय लसीका ऊंचे मानदण्ड

की होती है। इसका निर्भयतापूर्वक व्यवहार किया जा सकता है। यदि लसीका काँच-कूपी के भीतर पूर्णतया पारदर्शक रूप में स्वच्छ हो तो प्रयुक्त कर सकते हैं। रूई के समान अवक्षेप होने पर या गँदला घोल होने पर प्रयुक्त न करना चाहिए।

६. सिरा द्वारा लसीका का प्रयोग सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। सम्भव होने पर कटिवेध करके सुषुम्ना मार्ग से भी कुछ मात्रा देना चाहिए। लक्षणों की तीव्रता कम होने पर ही पेशीमार्ग से प्रयोग किया जा सकता है। सिरा एवं सुषुम्ना द्वारा प्रयुक्त करने पर लसीका का ताप शरीर के ताप के समान रखने से प्रतिकूल लक्षणों की सम्भावना कम हो जाती है।

७. लसीका के अतिरिक्त आक्षेपहर अन्य उपचार भी भली प्रकार करना चाहिए।

लाक्षणिक उपचारः—

(१) आक्षेपः—आक्षेपों के कारण रोगी की शक्ति का अपव्यय होता है, विष का प्रसार एवं उपद्रवों की वृद्धि होती है, श्वसन एवं निगिरण आदि क्रियाओं में बाधा उत्पन्न होती है। इस दृष्टि से लसीका-चिकित्सा से अतिरिक्त आक्षेपहर लाक्षणिक उपचार का भी धनुर्वात चिकित्सा में बहुत महत्त्व होता है। निम्नलिखित औषधियाँ आक्षेपों का नियंत्रण करने के लिए प्रयुक्त होती हैं।

मैगसल्फ (Mag sulph):—इसका प्रयोग सिरा, पेशी एवं सुषुम्ना मार्ग से किया जा सकता है। आक्षेपों की तीव्रता का प्रशमन एवं विष का शमन-शोधन इसके प्रयोग से होता है। यह बहुत ही सुलभ तथा सस्ती औषध है। बना बनाया घोल काच-कूपी में भरा हुआ भी मिलता है। इस रूप में उपलब्ध न होने पर २५ प्रतिशत का ताजा घोल परिस्रुत जल में बना कर १५-२० मिनट तक उबाल कर ठण्डा होने पर (आवश्यक होने पर उबलने के पूर्व फिल्टर से छान सकते हैं) विश्वासपूर्वक प्रयुक्त किया जा सकता है।

मात्रा—

सिरा द्वाराः—१०-१५ सी० सी० की मात्रा में दिन में २ या ३ बार।

सुषुम्ना मार्ग सेः—५ सी० सी० (२५% घोल) प्रतिदिन या प्रति तीसरे दिन।

पेशी द्वाराः—१०-१५ सी० सी० (१२½ या २५%) प्रतिदिन दो बार।

क्लोरोफार्म (Chloroform)—आक्षेप अधिक होने पर क्लोरोफार्म का प्रयोग सुंघाने के लिए किया जाता है। हल्की बेहोशी हो जाय, इतनी मात्रा में सुँघाना चाहिए। कुछ अनुभवी अनुसन्धानकर्ताओं का इसके प्रयोग का विशेष आग्रह है। उनकी दृष्टि से क्लोरोफार्म मस्तिष्ककोषाओं में बद्ध विष को भी मुक्त कर देता है। इस प्रकार मुक्त विष का लसीका द्वारा निर्विषीकरण सम्भव होता है। अतः लसीका-प्रयोग के १ घण्टा पूर्व तीव्र स्वरूप के लक्षण होने पर क्लोरोफार्म सुँघाना चाहिए। दिन में

२-३ बार या आवश्यक होने पर ३-३ घण्टे पर इसका प्रयोग किया जा सकता है। इसके स्थान पर आक्षेपों के शमन के लिए गैस (Gas aneasthesia) का उपयोग उपलब्ध होने पर किया जा सकता है। सम्भव है, अन्य आक्षेपहर मूर्च्छाकारक ओषधियाँ भी इसी प्रकार लाभ करती हों। क्लोरोफार्म का कई बार प्रयोग होने पर श्वसन संस्थान के उपद्रवों की सम्भावना (विशेषकर श्वसनी फुफ्फुसपाक की) बढ़ जाती है। अतः गम्भीर स्वरूप के धनुर्वात में ही इसका अनेक बार प्रयोग करना चाहिए। एक-दो बार प्रयोग करने में कोई हानि नहीं होती। क्लोरोफार्म देते समय जीभ बाहर निकाली हुई, नकली दाँत पृथक् कर, गरदन एक पार्श्व में रखना चाहिए। श्लेष्मा-लार आदि रोगी के अन्तःश्वसन के साथ भीतर न चले जाय, इसका ध्यान रखना चाहिए। इसके सुंघाने का विशेष यन्त्र उपलब्ध न होने पर रूई या रूमाल भिगोकर नाक के निकट रखकर सुँघाने से भी काम चल जाता है।

मायानेसिन (Myanesin)—आक्षेपों का वेग अधिक तीव्र होने पर इस औषध का प्रयोग सिरा या पेशीमार्ग से किया जाता है। १० प्रतिशत घोल की १० सी० सी० मात्रा दिन में ३-४ बार व्याधितीव्रता के अनुपात में प्रयुक्त की जा सकती है। कुछ रोगियों में इसके प्रयोग से सिराघनास्रता (Venous thrombosis) एवं मूत्राघात का उपद्रव उत्पन्न होते देखा गया है। अतः बहुत सावधानी से आत्ययिक स्थिति में ही इसका प्रयोग करना चाहिये।

ट्यूबारीन (Tubarine)—मायानेसिन की अपेक्षा यह अधिक निरापद एवं आक्षेपहरण की दृष्टि से भी उत्कृष्ट होती है। प्रथम दिन ७.५ मि० ग्राम पेशीमार्ग से ८ घण्टे के अन्तर पर २ बार तथा दूसरे दिन से ५ मि० ग्राम दिन में २ या ३ बार पेशीमार्ग से आवश्यकतानुसार दिया जाता है। इसी का मोम एवं तैल का योग (Tubarine in wax or oil) भी मिलता है। इसकी सामान्यतया १-२ सी० सी० की मात्रा दिन में १ बार ही पर्याप्त होती है।

क्लोर प्रोमाजीन (Chlor promazine or largectil, M. B.)—प्रारम्भिक मात्रा २५ से ५० मि० ग्राम की मात्रा में पेशी द्वारा तथा बाद में २५ मि० ग्रा० मुख द्वारा ६-८ घण्टे पर देते रहने से आक्षेप एवं स्तब्धता का पर्याप्त प्रशम होता है। अपेक्षाकृत सुलभ तथा निरापद औषध है। इससे रक्तभार कुछ कम हो सकता है, इसका ध्यान रखना चाहिये।

पाराल्डेहाइड (Paraldehyde)—शामक एवं आक्षेपहर ओषधियों में यह भी बहुत निरापद तथा विशेष प्रभावकारी औषध है। मुख द्वारा १ ड्राम की मात्रा में प्रति ६ घण्टे पर दिया जा सकता है। किन्तु इसका स्वाद एवं गन्ध बहुत अप्रीतिकर है और आक्षेप आदि के कारण मुख द्वारा प्रयोग भी धनुर्वात में सम्भव नहीं होता,

अतः ५ सी० सी० की मात्रा में पेशी में अथवा २ सी० सी० की मात्रा में सिरा द्वारा सावधानी पूर्वक प्रयोग कर सकते हैं। २ से ४ ड्राम की मात्रा में १ औंस जैतून के तेल या ग्लिसरीन अथवा जल में मिलाकर गुदा द्वारा अनुवासन वस्ति के रूप में प्रति २ घण्टे पर प्रयोग किया जा सकता है। व्यावहारिक दृष्टि से इसका गुदा द्वारा प्रयोग सर्वोत्तम होता है।

क्लोरल हाइड्रेट (Chloral hydrate)—इसका मुख्य शामक गुण सुषुम्ना के पूर्व शृङ्गों पर होने के कारण चेष्टावहा नाड़ी तन्तुओं की क्रियाशीलता नियन्त्रित हो जाती है, जिससे आक्षेप एवं पेशियों की स्तब्धता में बहुत लाभ होता है। इस दृष्टि से धनुर्वात का आदर्श लाक्षणिक शामकयोग क्लोरल हाइड्रेट हो सकता है। किन्तु अधिक मात्रा में प्रयोग करने पर यह हृदयावसादक होता है, अतः पारेल्डिहाइड के कार्यक्षम न होने पर ही प्रयोग करना चाहिये। इसका प्रयोग मुख या गुदा द्वारा किया जा सकता है।

इनके अतिरिक्त Barbiturates वर्ग की औषधियाँ, विशेषकर सोडियम एमिटाल, ल्यूमिनाल आदि अथवा ब्रोमाइड का व्यवहार भी आवश्यकतानुसार किया जा सकता है। यह औषधियाँ बहुत मृदु स्वरूप की हैं, अतः सहायक रूप में ही इनका प्रयोग हो सकता है। मुख द्वारा प्रयोग करने के लिये निम्नलिखित मिश्रण आक्षेप शमन के लिये विशेष कार्यकारी होता है—

R/		
	Chloral hydrate	gr 15
	Pot bromide	gr 15
	Sodium gardenol	gr $\frac{1}{2}$
	Ext. valerian	dr 2
	Syrup glucose	dr 2
	Aqua	oz one
		१ मात्रा

प्रति ६ से ८ घण्टे पर आवश्यकतानुसार।

गुदा द्वारा प्रयोग करने के लिये निम्नलिखित योग उत्तम है—

R/		
	Chloral hydrate	gr 20
	Pot bromide	gr 20
	Paraldehyde	dr 2
	Starch	dr 4
	Normal saline	oz 2
		१ मात्रा

प्रति ६ घण्टे से ८ घण्टे पर गुदा द्वारा अनुवासन बस्ति (High rectal retention enema) के रूप में।

अहिफेन के योग—आक्षेप एवं तीव्र सर्वांग वेदना के शमन के लिये क्वचित् अहिफेन के योगों का व्यवहार किया जाता है। अहिफेन श्वसनकेन्द्र का अवसादन करती है। अतः श्वासावरोध के भय से इसका उपयोग बहुत कम किया जाता है। मार्फिन के साथ एट्रोपिन मिलाकर दूसरी शामक ओषधियों द्वारा लाभ न होने पर प्रयोग किया जा सकता है।

एवर्टिन (Avertin or Tribromo ethanol)—इस नई औषध का प्रयोग मस्तिष्कक्षोभजन्य सभी उपद्रवों में व्यापक रूप में किया जाता है। इसका प्रयोग मुख या गुदा द्वारा किया जा सकता है। धनुर्वात में गुदामार्ग ही अधिक व्यावहारिक है। इस औषध का गुण बहुत शीघ्र नष्ट हो जाता है, अतः २-३ घण्टे के अन्तर पर प्रयोग करते रहना चाहिये। इसकी प्रारम्भिक मात्रा २५-५० मि० ग्रा० प्रति किलोग्राम शरीर भार के अनुपात में तथा धारक मात्रा (Maintenance dose) १० मि० ग्रा० की मात्रा में ३-४ घण्टे पर देना चाहिये। इसके प्रयोग से कुछ समय के लिये रोगी मूर्च्छित सा हो सकता है, किन्तु इससे कुछ चिन्ता नहीं करनी चाहिये। क्लोरोफार्म का प्रयोग सम्भव न होने पर एवर्टिन का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक आसानी से हो सकता है। मल-मूत्रादि का शोधन, नासा द्वारा पोषण एवं सूचीवेध द्वारा लसिका आदि का प्रयोग करने के आधा घण्टा पूर्व एवर्टिन का प्रयोग करना चाहिये।

ईथर (Ether)—बहुत सस्ती तथा आसानी से उपलब्ध औषध होने के कारण दूसरी ओषधियाँ उपलब्ध न होने पर ईथर को १ सी० सी० प्रति पौण्ड शरीरभार के अनुपात में समान मात्रा में जैतून का तेल मिलाकर गुदा मार्ग से दे सकते हैं।

फ्लेक्सिडिल (Flaxedil)—इसके प्रयोग से पेशियों की स्तब्धता तथा आक्षेप का शीघ्र शमन होता है और वेदना की भी शान्ति होने के कारण रोगी को खाते, पीते, मल-मूत्रादि करते समय आक्षेपजन्य कष्ट नहीं होता। यह औषध विशेष वीर्यशाली है तथा अधिक मात्रा हो जाने पर श्वासावरोध का उपद्रव हो सकता है। अतः जब तक चिकित्सक इसके प्रयोग से पूर्णतया परिचित न हो तथा प्राणवायु सुंघाने आदि का साधन न हो, इसका प्रयोग न करना ही उचित है। सामान्य मात्रा १ मि० ग्रा० प्रति किलोग्राम शरीरभार के अनुपात से सिरा द्वारा। आवश्यकतानुसार ३-४ घण्टे के बाद पुनः दे सकते हैं, क्योंकि इसका असर १-२ घण्टे से अधिक नहीं रहता।

धनुर्वात की चिकित्सा में निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिये—

१. आक्षेपहर लाक्षणिक ओषधियों के प्रयोग से शरीर का हिलना-डुलना अल्पतम होने देना चाहिये तथा शय्याव्रण आदि के प्रतिषेध के लिए प्रति ½-१ घण्टा के अन्तर पर आसन परिवर्तन कराना चाहिए।

२. पोषण एवं जल के प्रयोग के बारे में पूरा ध्यान रखना तथा नियमित रूप से पोषक आहार एवं तरल की दैनिक व्यवस्था करनी चहिए। मुख एवं गले की सफाई भली प्रकार रखना, जिससे फुफ्फुस आदि अङ्गों में द्वितीयक औपसर्गिक जीवाणुओं का प्रवेश न हो सके। मल एवं मूत्र के शोधन के लिए मूत्रशलाका एवं ग्लिसरीन सिरिञ्ज का आवश्यकतानुसार प्रयोग करना चाहिए।

३. धनुर्वात का निदान होते ही ६०००० से १००००० यूनिट शक्ति की प्रतिविष लसिका का सिरा द्वारा सूचीवेध करना तथा दूषित व्रण आदि का परिज्ञान करके स्थानीय उपचार विधिवत् करना आवश्यक है। सम्भव होने पर कटिवेध द्वारा सुषुम्नामार्ग से भी २०००० यूनिट लसिका का प्रयोग किया जा सकता है।

४. गरीब रोगियों में या किसी कारण लसिका प्रयोग सम्भव न होने पर २५ प्रतिशत मैगसल्फ का घोल १५-२० मिनट उबालकर सुषुम्ना-सिरा-पेशी आदि मार्गों से देना चाहिए।

५. रोग का आक्रमण तीव्र स्वरूप का न होने पर एवर्टिन आदि तीव्र आक्षेपहर ओषधियों के प्रयोग की आवश्यकता नहीं पड़ती। किन्तु रोगाक्रमण के ३ दिन बीत जाने पर आक्षेप आदि लक्षणों के अधिक होने पर एवर्टिन का प्रयोग करना चाहिए। श्वासावरोध के प्रतिकार के लिए दिन में २ बार एट्रोपिन १/१०० ग्रेन पेशीगत सूचीवेध के रूप में तथा प्राणवायु को सुंघाने के रूप में प्रयोग करना चाहिए। एवर्टिन का प्रयोग आक्षेप एवं पेशियों की स्तब्धता कम करने के लिए आवश्यकतानुसार अनेक बार किया जा सकता है।

६. रक्त की क्षारीयता बनाये रखने के लिये मुख द्वारा सोडा बाईकार्ब, सोडासाइट्रास आदि क्षारीय द्रव्यों का प्रयोग पर्याप्त ग्लूकोज आदि के साथ करना चाहिये। पेशियों में निरन्तर संकोच होने के कारण ग्लूकोज का सात्म्यीकरण बढ़ जाता है, अतः इन्सुलिन को २० यूनिट की मात्रा में प्रातः-सायं सूचीवेध से ग्लूकोज के पूर्व देना चाहिये। इससे यकृत में संचित ग्लाइकोजेन ग्लूकोज के रूप में परिवर्तित होकर शरीर-कोषाओं के लिये उपलब्ध हो जाता है तथा कोषाओं के सात्म्यीकरण की शक्ति भी बढ़ जाती है।

संक्षेप में प्रतिविष लसिका, आक्षेपहर एवर्टिन आदि ओषधियाँ, श्वसनोत्तेजक एट्रोपिन-प्राणवायु आदि का प्रयोग, पोषक आहार-विहार एवं स्थानीय उपचार धनुर्वात की चिकित्सा के मुख्य अंग हैं।

उपद्रवों की चिकित्सा—

श्वासावरोध, शय्याव्रण, परमज्वर, मूत्रावरोध आदि विशिष्ट उपद्रवों का उचित प्रतिकार करना चाहिये। पूयदूषित लार आदि के अन्तःश्वसन के साथ फुफ्फुस में पहुँच जाने पर श्वसनी-फुफ्फुसपाक आदि होते हैं। इनके प्रतिकार के लिये मुख-नासा-

गले आदि की शुद्धता के अतिरिक्त डायमिडिन पेनिसिलीन या Penidure आदि अनेक दिनों तक कार्यक्षम रहने वाले पेनिसिलीन के योगों का व्यवहार अथवा आरियोमाइसिन-टेट्रासायक्लीन-टेरामाइसिन आदि का दैनिक सूचीवेध के रूप में प्रयोग किया जा सकता है। संताप की वृद्धि धनुर्वात दण्डाणु के विष को सारे शरीर में प्रसरित कराने तथा परिणामस्वरूप व्याधि की तीव्रता बढ़ाने में कारण होती है। तापाधिक्य से बलक्षय भी बहुत होता है। परम ज्वर के प्रकरण (पृष्ठ ८६२) में निर्दिष्ट उपक्रम की योजना आवश्यकतानुसार करनी चाहिए।

बलसंजनन—

रोग-मुक्ति के बाद भी पर्याप्त समय तक उत्तेजनशीलता बनी रहती है। आक्षेप एवं स्तब्धता के कारण पेशियों में ऐंठन एवं वेदना का कष्ट भी रोग-मुक्ति के बाद बहुत दिनों तक रह सकता है। मृत्युभय, आक्षेपकष्ट एवं पोषण आदि की असुविधाओं के कारण रोगी अत्यधिक क्षीण हो जाता है। बलसंजनन के लिये व्यवस्था करते समय इन बातों पर ध्यान रखना चाहिये। पूर्वपाचित प्रोभूजिनों के योग, जीवतिक्तियों के संकेन्द्रण (High concentration of vitamins) आदि का प्रयोग किया जा सकता है। पर्याप्त मात्रा में ताजे फल, दूध, अण्डा, मांसरस, मक्खन आदि पोषक आहारों का अग्निबल के अनुसार प्रयोग करना चाहिये। बलसंजनन एवं वातप्रकोप के शमन के लिये निम्नलिखित उपचार भी लाभदायक है।

कृष्णचतुर्मुख	१ र०
बृहद् वातचिन्तामणि	१ र०
नवायसलौह	४ र०
अश्वगंधा चूर्ण	१ माशा
	१ मात्रा

प्रातः-सायं मधु से।

दशमूलारिष्ट	१ तो०
अश्वगंधारिष्ट	१ तो०
	१ मात्रा

भोजनोत्तर जल से।

१. चन्दनबलालाक्षादि तैल, शतावरी तैल, बला तैल या प्रसारिणी तैल का अभ्यङ्गार्थ प्रयोग।

विशेष पोषण के लिये जीवनीय घृत, छागलादि घृत आदि का सेवन भी कराया जा सकता है।

प्रतिषेध—

धनुर्वात दण्डाणु सड़क, बाग-बगीचे तथा सार्वजनिक स्थानों पर पर्याप्त मात्रा में रहा करते हैं। इन स्थानों में गिरने या अन्य कारणों से शरीर में क्षत होने पर गोबर-मिट्टी आदि का सम्पर्क होने पर धनुर्वात प्रतिषेध के लिये विशेष सावधानी रखनी चाहिये। पिच्चित या भिन्न-विद्ध व्रणों की सफाई, सड़ी-गली धातुओं का शोधन तथा हाइड्रोजन पर आक्साइड के प्रयोग से व्रण की सफाई करके स्थानीय चिकित्सा में बतलाये गये क्रम से व्यवस्था करनी चाहिये। धनुर्वात प्रतिबन्धन के लिये प्रतिविष लसिका १५०० से ३००० यूनिट मात्रा में पेशी मार्ग से देना चाहिये। ८–१० दिन के भीतर व्रण के पूर्णतया ठीक न होने पर पुनः लसीका को प्रयुक्त करना चाहिये। सिर, मुख एवं गले के अभिघातों में मिट्टी-धूल आदि का सम्पर्क आशंकित होने पर प्रतिविष लसिका का व्यवहार अवश्यमेव करना चाहिये। व्याधि की चिकित्सा की अपेक्षा प्रतिबन्धन अधिक आसान तथा विश्वसनीय होता है। इस दृष्टि से इस गम्भीर व्याधि के प्रतिषेध के लिये यथाशक्ति आकस्मिक अभिघात या व्रण के बाद प्रतिविष लसिका का प्रयोग करना आवश्यक है।

विषाभ (Toxoid—toxin treated with formalin)—इसके प्रयोग से दीर्घकालीन प्रतिकारक क्षमता उत्पन्न होती है तथा कोई अनिष्टकारी परिणाम भी नहीं होते। १ सी० सी० की मात्रा में विषाभ का मांसगत सूचीवेध १–१॥ मास के अन्तर से २ बार करना चाहिये। ६ से १५ मास के बीच में १ सी० सी० की मात्रा में पुनः प्रयोग करने पर ६–१० वर्ष के लिये सक्रिय क्षमता उत्पन्न हो जाती है। रोहिणी तथा कुकास (Diphtheria-whooping cough vaccine) के साथ ही धनुर्वात विषाभ के योग प्रयोग के लिये मिलते हैं। यदि इसका प्रतिबन्धक रूप में प्रयोग ७–८ मास की आयु में किया जाय तथा ६–७ वर्ष की अवस्था में पुनः प्रयोग कर दिया जाय तो प्रायः किशोरावस्था तक के लिये तीनों व्याधियों से बचाव हो जाता है।

जलसन्त्रास

Hydrophobia or Rabies

पागल कुत्ते-भेड़िया, लोमड़ी, गीदड़ आदि जानवरों के काटने से मनुष्यों में संक्रान्त होने वाला तीव्र स्वरूप का औपसर्गिक रोग है, जिसमें निगिरण-कष्ट, उद्वेष्टन तथा कुत्ते के समान भोंकने की ध्वनि होती है।

इस रोग का मुख्य उत्पादक कारण पागल कुत्तों, भेड़िया आदि के लालारस में उत्सर्गित होने वाला एक विषाणु होता है। अभी तक इस विषाणु की प्रकृति आदि का

सही ज्ञान नहीं हो सका। गीदड़, लोमड़ी आदि के काटने पर निश्चयपूर्वक उनके पागल होने का अनुमान करना चाहिये, क्योंकि सामान्यतया ये प्राणी मनुष्यों से डरते एवं दूर रहा करते हैं। इन पागल जानवरों के काटते समय दंश-स्थान पर उनकी लार गिरती है, जिसमें रोगोत्पादक विषाणु पर्याप्त संख्या में रहते हैं। विषाणुओं का शरीर में प्रवेश बिना त्वचा के क्षत के नहीं हो सकता है। छिले हुये स्थान पर चाटने से भी विषाणुओं का प्रवेश सम्भव है। रोगाक्रान्त होने के बाद मनुष्यों की लार में भी विषाणु उत्सर्गित होते रहते हैं, किन्तु उनकी संख्या बहुत अधिक नहीं होती। इसीलिये पागल मनुष्यों के काटने पर क्वचित् रोगोत्पत्ति होती है। विषाणुओं का शरीर में प्रवेश होने के बाद उनका विष परिसरीय वातनाड़ियों द्वारा सुषुम्ना से होकर केन्द्रीय मस्तिष्क में पहुँचकर मस्तिष्ककोषाओं के साथ बद्ध हो जाता है। रोग का सञ्चयकाल दंशस्थान में परिसरीय नाड़ियों की अधिकता या अल्पता, मस्तिष्क से दंशस्थान की दूरी के आधार पर कम या अधिक हो सकता है। मुख, कपाल, सिर, ग्रीवा आदि अंगों में दंश होने पर रोग शीघ्र उत्पन्न होता है। सामान्यतया इसका सञ्चयकाल १ मास से ३ मास तक, क्वचित् १--२ वर्ष का भी होता है।

विषाणुओं का शरीर में प्रवेश उनकी वृद्धि एवं मस्तिष्ककोषाओं के विषाक्रान्त होने के बाद सुषुम्ना जल की राशि बढ़ती है। मस्तिष्कगत वाहिनियों का विस्फार तथा मस्तिष्ककोषाओं में नेगरी पिण्डों (Negri body) की उत्पत्ति होती है। जल सन्त्रास-पीड़ित मृत मनुष्यों में ९८ प्रतिशत से अधिक संख्या में नेगरीपिण्ड मस्तिष्क में मिले हैं। अब तक किसी दूसरी व्याधि में इस प्रकार की विकृति नहीं मिली। पागल कुत्तों के मस्तिष्क में भी नाड़ी कोषा के भीतर पर्याप्त संख्या में नेगरीपिण्ड मिलते हैं। इन परिवर्तनों के अतिरिक्त मस्तिष्क में और कोई विशेष विकृतियाँ नहीं होतीं।

लक्षण—

रोग के लक्षण पागल कुत्ते के काटने के २ सप्ताह बाद से २ साल के भीतर कभी भी उत्पन्न हो सकते हैं। इसके लक्षणों की ३ अवस्थायें होती हैं—

१. आक्रमण की अवस्था—दंश स्थान पर जलन, लाली, पीड़ा एवं पीडनाक्षमता होती है। इन स्थानीय लक्षणों के अतिरिक्त मध्यम स्वरूप का ज्वर, निगलने में कठिनाई, पेशियों में ऐंठन, प्रकाश व शब्द का सहन न होना, निद्रानाश, शिरःशूल, बेचैनी, औदासीन्य, भय आदि मानसिक लक्षण उत्पन्न होते हैं। नाड़ी त्वरित तथा रोगी के नेत्र अधिक चंचल होते हैं। मस्तिष्क की परम सूक्ष्म वेदनता के कारण अल्पतम उत्तेजना से रोगी अत्यधिक उत्तेजित हो जाते हैं। इस अवस्था की अवधि २-३ दिन की होती है।

२. उत्तेजना की अवस्था—मस्तिष्क की सूक्ष्म वेदनता (Hypersensitivity), बेचैनी एवं ज्वर इस अवस्था में बढ़ जाता है। ज्ञानेन्द्रियों को थोड़ा भी उत्तेजना के

कारण का अनुभव होने पर मुख-प्रसनिका एवं स्वरयन्त्र की पेशियों में पीड़ा और उद्वेष्टन का प्रारम्भ होता है। रोगी गले की पीड़ा और ऐंठन के कारण मुँह में उत्पन्न लार को भी निगल नहीं सकता, बार-बार थूकता रहता है। शनैः शनैः ग्रीवा की पेशियों की सूक्ष्मवेदनता अधिक बढ़ जाती है, जिससे रोगी के पानी देखने, नाम सुनने या स्मरण मात्र से गले की मांसपेशियों में आक्षेप उत्पन्न होने लगते हैं और रोगी जल से, आक्षेपों की उत्पत्ति के कारण, डरने लगता है। इसी कारण इस रोग का नामकरण जलसंत्रास किया गया है। जल के अतिरिक्त वायु का झोंका, प्रकाश, शब्द आदि किसी भी उत्तेजना से इसी प्रकार गले में आक्षेप उत्पन्न होने लगते हैं। कुछ समय बाद गले की पेशियों के अतिरिक्त श्वसन की पेशियों और अन्त में सारे शरीर की पेशियों में आक्षेप होने लगते हैं। प्रारम्भ में पेशियों में आक्षेप की अवधि १-२ मिनट, किन्तु बाद में १५-२० मिनट तक की होती है। सारे शरीर में आक्षेप होने पर धनुर्वात के समान पेशियों में स्तब्धता, उद्वेष्टन और बाह्यायाम, अन्तरायाम आदि लक्षण होते हैं। आक्षेपों के कारण रोगी कोई खाने-पीने की वस्तु नहीं ले सकता। ग्रीवा की पेशियों में आक्षेपमूलक विकृति होने के कारण कुत्ते के समान विशेष प्रकार की ध्वनि रोगी के मुँह से निकलती रहती है। इस अवस्था की अवधि भी २-३ दिन की होती है।

३. अन्तिम अवस्था—क्रमशः नाड़ियों का अपजनन होने के कारण उद्वेष्टन बन्द होने लगते हैं। सर्वप्रथम अधोहनु की पेशियों का अंगघात होने लगता है। बाद में क्रमशः शाखाओं, श्वसनाङ्गों आदि की पेशियों का अङ्गघात होकर रोगी की मृत्यु हो जाती है। क्वचित् हृदय का काम रुक जाने से भी मृत्यु हो सकती है। अन्तिम अवस्था में ज्वर अत्यधिक—१०५-१०७ तक बढ़ जाता है। नाड़ी-श्वास अनियमित, क्षीण व त्वरित होती है। मानसिक स्थिति अन्त तक विशेष परिवर्तित नहीं होती। कुछ रोगियों में मिथ्याभय, प्रलाप एवं उन्माद आदि के लक्षण भी उत्पन्न होते हैं।

सापेक्ष्य निदान—

धनुर्वात, कुपीलु-विषाक्तता तथा अपसन्त्रास (Hysterical phobia) से जलसन्त्रास का पार्थक्य करना चाहिये।

रोगविनिश्चय—

पागल कुत्ते के काटने का इतिहास तथा पागल कुत्ते का जल्द ही मर जाना इस व्याधि के निर्णय में सहायता देता है। जलसन्त्रास आदि लक्षण उत्पन्न होने पर रोगविनिश्चय में कठिनाई नहीं होती तथा विनिश्चय होने पर कोई लाभ नहीं होता, क्योंकि अभी तक रोग का शमन करने वाली कोई भी औषध ज्ञात नहीं है। इस कारण जलसन्त्रास का विनिश्चय पागल कुत्ते आदि का विनिश्चय करने में ही है। संक्षेप में निम्नलिखित लक्षण कुत्तों या तत्सदृश अन्य जानवरों में इस रोग से पीड़ित होने पर होते हैं।

कुत्ता प्रारम्भ में घर वाले व्यक्तियों से अधिक प्रेम प्रदर्शित करता तथा उनके अङ्गों को बार-बार चाटने की कोशिश करता है। काल्पनिक वस्तुओं के पीछे दौड़ना-भूकना, जानवरों-कुत्तों एवं मनुष्यों को दौड़कर अकस्मात् काटना आदि परिवर्तन या वह दीवाल या लकड़ी को ही काटता रहता है। पागल होने पर उसके भूंकने की ध्वनि में विशेष परिवर्तन हो जाता है। उसकी भूख बढ़ जाती है, जिससे घास, लकड़ी, पत्थर इत्यादि अखाद्य वस्तुयें खा जाता है। उसका मुख फैला हुआ तथा निरन्तर लार गिरती रहती है। धीरे-धीरे कुत्ते के शरीर में एंठन, कम्प एवं क्षोभ के लक्षण बढ़ते जाते हैं। वह पूँछ लटकाये हुये निरन्तर भागता-दौड़ता रहता है, अन्त में पैर एवं जबड़े आदि की मांस-पेशियों का घात होकर एक-दो दिन में कुत्ता मर जाता है। पागलपन की अवधि ५ से ७ दिन, क्वचित् अधिक से अधिक १० दिन तक की, होती है। कुत्तों में जलसन्त्रास का लक्षण नहीं होता। वह इच्छानुसार पानी पीता है। किसी कुत्ते के काटने पर उसको मारना नहीं चाहिये। बाँध कर सुरक्षित स्थान में रखना चाहिये। वास्तविक रूप में पागल होने पर विशेष प्रकार के लक्षणों की उत्पत्ति होकर सात-आठ दिन के भीतर कुत्ता मर जाता है। मरने पर उसके आमाशय में लकड़ी, पत्थर का टुकड़ा, घास आदि पदार्थ भी मिलते हैं और उसके मस्तिष्क की सूक्ष्म परीक्षा करने पर निगरी के पिण्ड पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं।

साध्यासाध्यता—

पागल कुत्ते के काटने के बाद ही प्रतिबन्धक चिकित्सा न करने पर यह रोग पूर्णतया असाध्य होता है।

सामान्य चिकित्सा—

स्थानीय चिकित्सा—दंशस्थान का उत्पीडनकर रक्त यथाशक्ति, निकालकर शुद्ध कार्बोलिक एसिड अथवा नाइट्रिक एसिड का केवल दंशस्थान पर स्पर्श कराना, निकट की त्वचा को बचाने के लिये वेसलिन दंश-स्थान के चारों ओर लगाकर आल-बाल बना देना चाहिये। उसके बाद तुरन्त पानी से धो कर या साबुन के घोल से साफ करना चाहिये। इसके अभाव में लोहे को गरम कर दंश स्थान का दाह करना आवश्यक है। कुत्ते के काटने के बाद जितना शीघ्र स्थानीय चिकित्सा होगी, रोगप्रसार का प्रतिबन्ध उतना ही अधिक होता है। इस दृष्टि से कुत्ता पागल है कि नहीं, इसका विचार किये बिना ही, स्थानीय चिकित्सा नियमित रूप से तुरन्त करनी चाहिये।

मसूरी का प्रयोग—जलसंत्रास के लिये विशेष पद्धति से बनायी हुई मसूरी त्वचागत (प्रायः उदर की त्वचा में) सूचीवेध से २ सी० सी० की मात्रा में प्रतिदिन २ सप्ताह तक (कुल १४ से २१ सूचीवेध तक) लगानी चाहिये। पहले इस प्रकार की मसूरी कसौली और कुन्नूर पर ही लगाई जाती थी। वहाँ का जलवायु इस व्याधि के

प्रतिषेध के लिये भी विशेष लाभकारी होता है। अधिक गहरा घाव लगने या मस्तक-ग्रीवा पर दंश होने पर कसौली आदि स्थानों पर रोगी को भेजना उत्तम है। साधारण क्षतों के लिये, विशेषकर शाखाओं में दंश होने पर, प्रान्त के बड़े-बड़े शहरों में प्रधान सरकारी चिकित्सालयों में टीका का प्रबन्ध राज्य की ओर से किया गया है। रोगियों को इन स्थानों में जाकर टीका लगवाने के लिये निर्दिष्ट करना तथा पागल कुत्ते के काटने का प्रमाणपत्र उनको देना आवश्यक है। टीका लगवाने के बाद परिश्रम करना, अधिक चलना-फिरना, व्यायाम करना, गुरुभोजन एवं मद्यपान आदि का निषेध करना चाहिये। टीका से उत्पन्न क्षमता प्रायः १-१॥ वर्ष तक रहती है।

परम क्षम लसिका (Hyper immune serum)—प्रायोगिक अनुभवों के आधार पर परम क्षम लसिका का प्रयोग बहुत उत्साहवर्धक सिद्ध हुआ है। कपाल आदि स्थानों में क्षत या दंश होने पर परम क्षम लसिका का व्यवहार अलर्कप्रतिषेधक मसूरी के साथ करना विशेष लाभदायक है। यद्यपि यह व्यवस्था अभी तक प्रायोगिक रूप में चल रही है, किन्तु सफलता मिलने पर सम्भव है, मसूरी की मात्रा या सूचीवेध की संख्या पर्याप्त कम हो जाय।

औषध चिकित्सा—

जलसन्त्रास उत्पन्न हो जाने के बाद इस रोग की कोई औषध नहीं। केवल लाक्षणिक उपचार ही रोगी के कष्ट को कम करने के लिये यथाशक्य किया जाता है। रोगी को पृथक् कमरे में रखना, उसके लार से दूषित कपड़ों को उबाल कर साफ करना तथा परिचारकों को बड़ी सावधानी के साथ रोगी के पास जाना चाहिये। प्रायः ५-७ दिन के भीतर रोगी की मृत्यु हो जाती है। ग्रीवा की मांस-पेशियों का आक्षेप, स्तब्धता आदि के शमन के लिपे एवर्टिन, पैरेल्डिहाइड, क्लोरोफार्म आदि आक्षेपहर वेदनाशामक ओषधियों का व्यवहार धनुर्वात प्रकरण में बताये हुये क्रम से यथावश्यक किया जा सकता है।

प्रतिषेध—

जलसन्त्रास-पीड़ित व्यक्तियों के परिचारकों को बहुत सावधानी रखनी पड़ती है। रोगी की लार में विषाणु पर्याप्त मात्रा में रहते हैं तथा उन्माद और मिथ्या भय के कारण रोगी कभी-कभी परिचारकों को काट भी सकता है। अतः रोगी को आक्षेपहर-शामक ओषधियों के प्रयोग के द्वारा पूर्णतया शान्त रखना और रोगी के पास जाते समय उसकी इच्छा एवं चेष्टा की तरफ ध्यान रखना आवश्यक है। पागल कुत्ते, शृगाल, बिल्ली आदि से बचने के लिये पहले निर्देश किया जा चुका है।

पारिभाषिक शब्दकोश

हिन्दी-अंग्रेजी

अ

अंगुलाग्र मुद्गरवत Clubbing of finger
अंगुल्यस्थि शोथ Dactylitis
अंशुकेत Merozoite
अंशुघात Sun stroke
अंसफलकीय रेखा Scapular line
अकणिककणोत्कर्ष Polycythemia
अकणिककायाणूत्कर्ष Agranuloleucocytosis
अक्षतन्तु Axon
अक्षिसर्वांगशोथ Panopthalmitis
अग्न्याशय Pancreas
अघातक तृतीयक Benign tertian
अचयिक Aplastic
अजारकता Anoxia
अण्डवाहिनी Spermatic cord
अतिबल लवणजल Hypertonic saline
अतिसार दण्डाणु B. Dysentery
अत्यधिकशोप Marasmus
अत्यार्त्तव Metropathia haemorrhagica
अर्दित Facial paralysis
अधरनाड़ी कन्दाणु Lower motor neuron
अधस्तल समाधिक्य Hypostatic congestion
अधस्त्वक शोथ Cellulitis
अधिवृक्क Adrenals
अधिवृषण शोथ Epididymitis
अधोजिह्वी Sublingual
अधोहन्वी Submaxillary
अर्धचेतना Semiconsciousness
अर्धान्धता Hemianopia
अर्धावभेदक Hemicrania
अननुकूलन Lack of accomodation
अनन्तवात Glaucoma
अनवधानता Anaphylaxis

अनार्त्तव Amenorrhoea
अनुतीव्र तृणाण्विय अन्तर्हृच्छोथ Subacute bacterial endocarditis
अनुतीव्र सौषुम्नापजनन Sub acute combined degeneration of spinal cord
अनूर्जता Allergy
अनूर्जतानाशक Antihistaminics
अन्तःकिण्व Enzyme
अन्तःप्रलेपक Adsorbant
अन्तःशल्यता Embolism
अन्तःस्फान Infarct
अन्तरायाम Orthotonus
अन्तस्त्वचीय Subcutaneous
अन्त्रपुरस्सरणगति Peristalsis
अपचयिक रक्तक्षय Aplastic anaemia
अपजनन Degeneration
अपतानिका Tetany
अपरस Eczema
अपरासत्व Placental extract
अरोचक Anorexia
अपवृक्कता Nephrosis
अपाय Injury
अपोषणज व्रण Trophic ulcers
अप्रोभूजिन भूयाति Non-protine nitrogen
अभिलाग Adhesion
अमूत्रता Anuria
अम्लसह दण्डाणु Acid fast bacilli
अम्लोत्कर्ष Acidosis
अम्लोत्कर्ष प्रतिषेध Prevention of Ketosis
अल्प कायाणुमयता Oligocythemia
अल्प-प्रोभूजिनमयता Hypoproteinaemia
अल्प चूर्णमयता Hypocalcemia
अल्पमधुमयता Hypoglycemia
अल्प रक्तमयता Oligemia

अल्प वर्णता Hypochromia
अल्पवर्णिक रक्तक्षय Hypochromic anaemia
अल्पाम्लता Hypoacidity
अल्फा शोणांशिक Str. viridans
अवटुका Thyroid
अवटुकाग्रन्थि कार्यातियोग Thyrotoxicosis
अवनत नासासेतु Depressed nasal bridge
अवरोधज कामला Obstructive jaundice
अवरोहावस्था Remission
अवसाद Shock
अवसादन गति E. S. R.
अश्वमेहिक अम्ल Hippuric acid
अष्ठीला वृद्धि Senil hypertrophy of prostate
असहनशीलता Idiosyncrasy
अस्थिकोटर शोथ Sinusitis
अस्थिगतसमस्थाय Metastasis in the bones
अस्थिमृदुता Osteomalacia
अस्थिवक्रता Rickets
अस्त्यात्मक Positive
अस्थ्यावरण शोथ Periosteitis
अस्थ्यावरणीय ग्रन्थियाँ Periosteal nodes

आ

आंत्रपुच्छ शोथ Appendicitis
आक्षेपक Convulsion
आत्मजनित मसूरी Autogenous Vaccine
आध्मान Flatulence
आन्त्रनिबन्धिनीय Mesenteric
आन्त्रान्तर प्रवेश Intussusception
आन्त्रावरोध Intestinal obstruction
आन्त्रिक ज्वर Typhoid Fever
आन्त्रिक दण्डाणु B. Typhosus
आमवातज ज्वर Rheumatic Fever
आमवाताभ सन्धिशोथ Rheumatoid arthritis
आमवातिक ज्वर Rheumatic Fever
आमाशय नलिका Stomach tube or Ryle's tube
आमाशय विस्फार Acute dilatation of stomach
आमाशय शोथ Gastritis
आमाशयान्त्र शोथ Gastroenteritis
आर्द्रध्वनि Basic rales

इ

इन्द्रलुप्त Alopecia

ई

ईषत् अम्ल Ph

उ

उच्च रक्त निपीड Hypertension
उण्डुक Caecum
उदकमेह Diabetes insipidus
उदरबंध Abdominal bandage
उद्घर्षण Friction
उत्तेज्यता Irritability
उद्धूलन Dusting
उन्नतोदर Convex
उरःफलक Sternum
उद्भेदिक Vesicle
उद्वर्णिक Macular
उत्कर्णिक Papules
उद्वेष्टन विरोधी Antispasmodic
उपनाह Poultice
उपसर्ग Infection
उपसर्गी अन्तर्हृच्छोथ Infective endocarditis
उपान्त्रिकज्वर दण्डाणु B. Paratyphosus
उष्मकरी अर्हा Caloric Value
उषसिप्रिय Eosinophil
उषसिप्रियता Eosinophilia
उष्ण कटि स्नान Hot hip bath
उष्णबाष्प प्रकोष्ठ Hot humid air chamber
उष्णीष Pons
उष्मघात Heat stroke

ऊ

ऊर्ध्वनाड़ी कन्दाणु Upper motor neuron

ऋ

ऋजु लवणजल Hypotonic saline

ए

एक कायाणु Monocytes
एक कायाणूत्कर्ष Monocytosis
एक कायाण्विक श्वेतमयता Monocytic leukaemia

ऐ

ऐंठन Spasm

औ

औदरिक दुर्घटनायें Catastrophies

क

कक्षीयरेखा Axillary line
कटिकशेरुक कण्टक Spinous process
कटिबेध Lumbar puncture
कण्ठनाड़ी पाटन Tracheotomy
कन्दुक बस्ति Ball enema
कर्कटार्बुद Cancer
कर्णगूथ Wax
कर्णिका Papule
कर्दमास्य Cancrumoris
कामला देशना Icterus Index
कायाणूपवृत्ति Cytotropism
काल ज्वर Kala-azar
कालमेह ज्वर Black water fever
किलाटीभवन Caseation
किण्व Ferment
किण्वबीज या खमीर तत्व Yeast
कुकास Whooping cough
कुकास दण्डाणु H. Pertusis
कुल्या Sacule
कुशायें Splints
कुष्ठ दण्डाणु B. Lepra
कूर्पर सन्धि Elbow joint
कृष्णमसूरिका Black small pox
कृत्रिमवातोरस Artificial Pneumothorax
कृत्रिमवातोरस A. P.
कृमिनाशक बस्ति Anthelmentic enemata
केन्द्राभिमुख Centripital
केन्द्रीय हृदयातिपात Central heart failure
कोथ Gangrene
कोशिका शोथ Cellulitis
कोषगत समवर्त्त Cellular metabolism
क्रिन्यिर्यी Creatinine
क्लीबापकर्ष Neutropenia
क्ष किरण X ray
क्षयजत्वक विकार Lupus vulgaris
क्षारप्रिय Basophil
क्षारप्रियता Basophilia
क्षारमर्यादा Ph value
क्षारातु Sodium
क्षारातु नीरेय Nacl
क्षारीय लवणजल Alkaline Saline
क्षारोत्कर्ष Alkalosis
क्षुद्रप्लेग Pestis minor
क्षुद्रश्वास Dyspnoea on exertion
क्षुल्लक Spore
क्षुल्लकेत Sporozoite

ख

खंजता Ataxia

ग

गजचर्म Chronic eczema
गण्डूष Gargles
गतिविषमता Motion sickness
गदोद्वेग Nervousness
गन्धश्यामिक Thiocyanic
गर्भापस्मार Eclampsia
गर्भाशयग्रीवा शोथ Cervicitis
गलतोरणिका Fauces
गलशोथ Sore throat
गुदभ्रंश Prolapse rectum
गुदविदार Anal fissures
गुह्यगोलाणु Gonococci
गोन्दार्बुद Gumma
ग्रन्थिक ज्वर Plague

ग्रन्थिक सन्निपात Plague
ग्रसनिका शोथ Pharyngitis
ग्रहीता Recepient
ग्राही बस्ति Astringent enemata
ग्रैवेयपर्शुका Cervical rib

घ

घनता Consolidation
घनास्र कायाणु Thrombocytes
घनास्रकायाणूत्कर्ष Thrombocytosis
घनास्र कायाण्वपकर्ष Thrombocytopenia
घनास्रि सिराशोथ Thrombophlebitis
घनास्र Thrombus
घनास्रोत्कर्ष Thrombosis
घातक विषम ज्वर Malignant tertian
घातक विसर्प Pemphigus

च

चतुर्थक ज्वर Quartan fever
चयापचयिक रक्तक्षय Aplastic anaemia
चर्मपत्र Parchment
चर्मान्तर्य कसौटी Intradermal test
चुर्णातु Calcium
चूर्णीभवन Calcification
चेष्टावहा Motor

छ

छिन्नश्वास Cheyne stroke's respiration

ज

जघन कपालिकखात Iliac fossa
जठर व्रण Peptic ulcer
जन्मोत्तर फिरंग Aquired syphilis
जल सन्त्रास Hydrophobia or Rabies
जल शीर्ष Hydrocephalus
जलाल्पता Dehydration
जलोरस Hydrothorax
जानु प्रतिक्षेप Knee jerk
जारक धारिता Oxygen capacity
जीर्ण अन्तरालीय Interstitial
जीर्ण पक्वाशय शोथ Chronic colitis
जीर्णश्वसनी शोथ Chronic Bronchitis
जीवनिक्ति Vitamin
जीवाणु Protozoa
ज्वरातिसार Bacillary dysentery

त

तन्तुपिच्छी Flagellate
तन्त्वाभ फुफ्फुस Fibroid lung
तन्त्वि Fibrin
तन्त्विजन Fibrinogen
तन्द्राभ ज्वर Typhoid Fever
तन्द्रिक ज्वर Typhus Fever
तमकश्वास Bronchial Asthma
ताडन Percussion
तिक्ताति Ammonia
तीव्र पीत यकृत्क्षय Acute yellow atrophy of liver
तीव्रसिराशोथ Phlebitis
तुण्डार्बुद Condyloma
तुण्डिकेरी शोथ Tonsillitis
तुम्बीप्रतिस्वनन Skodiac resonance
तृणाणु द्रावण Bacteriolysis
तृणाणुभक्षक कोष Phagocytic cell
तृणाणुस्तंभक Bacteriostatic
तृतीयक ज्वर Benign tertian
तृष्णा Thirst
तैलोरस Oleothorax
त्रिशक्तिक योग Trivalent compound
त्वग्दाह Pellagra
त्वक् मसूरिका Chickenpox

द

दग्ध Burn
दण्डक ज्वर Dengue fever
दण्डाणवीय प्रवाहिका Bacillary dysentery
दन्तचक्रसम श्वसन Cog-wheel respiration
दहातु Potassium
दाता Donor
दाह Burning
दुग्धाम्ल Lactic acid

दृष्टि असामर्थ्य Refractory troubles
दृष्टिमण्डल Retina
दोषमयता Septicemia
द्रोणी या कटाह Tub
द्विजारेय CO_2
द्विपत्रक संकोच Mitral stenosis
द्वैदृष्टि Diplopia

ध

धनुर्वात Tetanus
धमनी जरठता Arteriosclerosis
धमनी शोथ Arteritis
धमन्यभिस्तीर्णता Aneurysm
धोबीकण्डु Tinea cruris

न

नाड़ी फिरंग Neuro syphilis
नाड़ीशोथ Neuritis
नासाकोटर का जीर्ण शोथ Chronic Rhinitis
नासाधार Base of Nasal cavity
नासाप्राशन Nasal feeding
नास्त्यात्मक Negative
निच्छिद्रण Perforation
निद्रानाश Sleeplessness
निद्रारोग Trypanosomiasis
निद्रालसी मस्तिष्कशोथ Encephalitis lethargica
निनीलिन्य Indican
निम्बूकाम्ल Citric acid
निर्मोक Cast
निर्यास Exudate
निर्लेख Scraping
निर्हरण Aspiration
निलय Ventricle
निच्छिद्रित तालु Perforated palate
निस्तरण Disquamation
नीलपूय दण्डाणु B. Pyocyaneus
नीलोहा Purpura
नीरेय Chloride
नेत्रघात Occular paralysis
नेत्र प्रचलन Nystagmus
न्यष्ठीला कोष्ठ Nuclear lobe

प

पंचशक्तिक योग Pentavalent compound
पयोलस Chyle
पयोलस जलोदर Chylous ascites
पयोलस वृषणवृद्धि Chylous hydrocele
परङ्गी Yaws
परम क्षम लसिका Hyperimmune Serum
परम चूर्णमयता Hypercalcemia
परमज्वर Hyperpyrexia
परम प्रोभूजिनमयता Hyperproteinaemia
परम पैत्तवमयता Hypercholeslerolemia
परम मधुमयता Hyperglycemia
परम रक्तमयता Hypervolemia or Plethora
परावटुक Parathyroid
परिसर्प Herpes zoaster
परिसृत Infiltrate
पर्युदर शोथ Peritonitis
पर्शुकाच्छेदन Thoracoplasty
पर्शुकान्तरालीय नाड़ीशूल Thoracic neuralgia
पलित मज्जाशोथ Poliomyelitis
पादतल प्रतिक्षेप Planter reflex
पामा Scabies
पायस Chyle
पायस प्रवाहिका Chylous diarrhoea
पायसमेह Chyluria
पार्श्वायाम Emprosthotonus
पाषाणगर्दभ Mumps
पिचकारी बस्ति Glycerine syringe
पिच्चित आघात Contusion
पिच्छिल बस्ति Emollient enemata
पित्तमयता Cholaemia
पित्तरक्ति Bilirubin
पित्तरक्तिमयता Bilirubinaemia
पिस्सूतन्द्रिक Murine typhus
पीडनाक्षमता Tenderness

पीड़ाकर ध्वजहर्ष Priapism
पीतस्नायु Ligamenta flora
पीनस या नासास्राव Snuffles
पूतिकेन्द्र Septic focus
पूय Pus
पूयजनक माला गो० Str. pyogenes
पूयदन्त Pyorrhoea
पूयदोष Septic focus
पूयस्रवन Suppuration
पूयमय Pastular
पूयमेहजनेत्राभिष्यन्द Opthalmia neonatorum
पूयापवृक्कता Pyonephrosis
पूयोरस Empyema
पूर्व कक्षीय रेखा Anterior axillary line
पूर्व घनास्रि काल Prothrombin time
पूर्वचर्वणक दन्त Premolor teeth
पूर्वविस्फोट Prodromal rash
पृष्ठायाम Opisthotonus
पेश्युत्पादन Petrissage
पैत्तव Cholesterol
पोथकी Trachoma
पोषक बस्ति Rectal Drip
पोषणिका Pituitary
पौरुषग्रन्थि Prostate
पौरुषग्रन्थि स्राव Prostatorrhea
प्रकम्प Tremors
प्रकम्प Vibration
प्रक्षोभ Irritability
प्रचूषक Aspirator
प्रणिधान Transfusion
प्रतिक्रिया Reaction
प्रतिक्षोभक नियोग Counter irritants
प्रतिजीवक द्रव्य Antibiotics
प्रति तृणाण्वीय Antibacterial
प्रतियोगी Antibodies
प्रतिश्यायी सूक्ष्म गोलाणु M. Catarrhalis
प्रतिविष Antivenum
प्रत्यावर्त्तित Reflex
प्रधमनयंत्र Aerosol
प्रबल वमन Projectile vomiting
प्रभूतमज्जार्बुद Multiple myelomata
प्रलाप Delirium
प्रलेप Paints
प्रलेपक Hectic
प्रबृद्ध निपीड Intracranial pressure
प्रशीतक कोष्ठ Refrigerated room
प्रशीताद Scurvy
प्रसमूहन Agglutination
प्रसेकी कामला Catarrhal jaundice or Epidemic jaundice
प्राच्यव्रण Oriental Sore
प्रावेगिक श्वासकृच्छ्र Paroxysmal dyspnoea
प्रोद्दीपक Provocative
प्लेग दण्डाणु B. Pestis

फ

फक्क Ricket
फिरंग कुन्तलाणु T. Pallida
फिरंगज सर्वाङ्ग घात General paralysis of insane
फिरंगी खञ्जता Tabes dorsalis
फुफ्फुस गोलाणु Diplococci Pneumonine
फुफ्फुसनिपात Collapse of lungs
फुफ्फुसपाक Lobar pneumonia
फुफ्फुसान्तरालीय Mediastinal
फुफ्फुसावरणशोथ Pleurisy or Pleuritis
फौफ्फुसिक तन्तूत्कर्ष Fibrosis of lungs

ब

बस्तिपात्र Enema pot
बहुकायाणुमयता Polycythemia
बहुाकारी Polymorphs
बीजग्रंथिशोथ Oophritis
बीजवाहिनीशोथ Salpingitis
ब्रीहिमुखयंत्र Trocar and cannula

भ

भगसंधानिका Symphysis pubis
भगोष्ठ Labia
भास्विक अम्ल Phosphoric acid
भ्रम Vertigo
भ्राजातु Mgo

म

मज्जाभश्वेतमयता Myloid leukaemia
मण्डाभ Amyloid
मत्स्यतैल Cod liver oil
मधुमेह Diabetes mellitus
मलमाला गोलाणु Strepto foecalis
मलशोधक बस्ति Purgative enemata
मलाशययोनि भगन्दर Rectoveginal Fistula
मलाश्रयी दण्डाणु B. Coli
मलिमसि Melanin
मसूरिका Small pox
मसूरी Vaccine
मसूरीकरण Vaccination
मस्तिष्क की प्राणगुहा भूमि Floor of the 4th ventricle
मस्तिष्कगत रक्तस्राव Cerebral haemorrhage
मस्तिष्क गोलाणु Meningo cocci
मस्तिष्क शोथ Encephalitis
मस्तिष्कस्कन्द Brain stem
महाधमनी Aorta
महाप्राचीरा पेशी Diaphragm
महाप्राचीरा वातनाड़ी Phrenic nerve
महाश्वास Status asthmaticus
मिह Urea
मिहभूयाति Urea nitrogen
मिहिक अम्ल Uric acid
मुंहासा Acne
मूत्रकृच्छ्र Dysuria
मूत्रनिरोध Retention of urine
मूत्रपित्ति Urobilin
मूत्रमार्गशोथ Urethritis
मूत्ररुधिर Uroerythrin
मूत्राघात Anuria
मूत्राशयशोथ Cystitis
मृत शिशु प्रसव Still birth
मृदु तालु Soft palate
मोच Sprain

य

यकृतसत्व Liver extract
यक्ष्मज विद्रधि Cold abscess
यक्ष्मादण्डाणु B. Tuberculosis
यक्ष्मामसूरी Tuberculin
यक्ष्मि Tubercle

र

रंग Colour
रक्त चक्रिकायें Blood Platelets
रक्तचूर्णातु Blood calcium
रक्तदूष्यता Bacteraemia
रक्तद्रावण Haemolysis
रक्त नीरेय Blood Chlorides
रक्तपित्त Purpura haemorrhagica
रक्तपूरण Blood transfusion
रक्त भास्वर Blood Phosphorus
रक्तरस Plasma
रक्तवाहिनीयों में संकीर्णता Vasoconstriction
रक्तशर्करा Blood suger
रक्तसंचय Congestion
रक्तसंहति Coagulation of Blood
रक्तसंहतिकाल Coagulation time
रक्तस्रावणकाल Bleeding time
रक्तस्रावी Haemorrhagic
रक्तस्रावी घनास्र कायाणुमयता Thrombocythaemia
रक्तस्रावी विस्फोट Petechial rashes
रसपुष्प Calomel
राशि Total quantity
रासायनिक योगवाही Catalytic agents
रासायनिक संतुलन Electrolytic equilibrium
रुधिरकायाणु R. B. C.
रोहिणी दण्डाणु B. Diphtheriae

ल

लसकायाणु Lymphocytes
लसकायाणूत्कर्ष Lymphocytosis
लसमांसार्बुद Lymphosarcoma
लसवाहिनी Thoracic duct
लसवाहिनी शोथ Lymphangitis
लसापकर्ष Lymphopenia
लसाभ श्वेतमयता Lymphoid Leukaemia
लसिकाभ Serous
लसिकामेह Lymphuria
लसिका रोग Serum Sickness
लासक Chorea
लोहक Magnesium
लोहित ज्वर Scarlet fever
लोहितातीत किरण Infrared ray
लौह Iron

व

वंक्षणीय कणिकार्बुद Granuloma inguinala
वंक्षणीय लस कणिकार्बुद Lymphogranuloma inguinale
वंक्षणीय लसिकावृद्धि Lymphogranuloma Veneraeum
वमन Vomiting
वर्णिक Erythmatous
वर्तुलि Globulin
वर्त्मघात Ptosis
वसाकुल Lardacious
वसाम्ल Fatty acid
वाचकध्वनि Vocal resonance
वाचक लहरी Vocal fremitus
वातकर्दम Gas gangrene
वातकर्दम दण्डाणु C. Welchi
वातनाडीशूल Neuralgia
वातबलासक Beri Beri
वातरक्त Gout
वातश्लैष्मिक ज्वर Influenza
वातानुलोमक Carminative
वातानुलोमक नली Flatus tube
वातानुलोमक बस्ति Antispasmodic enemata
वातिक अवसन्नता Neurasthenia
वातिक उन्माद Melancholia
वायुकोष Alveoli
वायुकोष विस्फार Emphysema
वाष्पविशोधित Autoclaved
बाह्यस्तर Parietal layer
विचर्चिका Psoriasis
विदीर्ण ओष्ठ Hairlip
विदीर्णतालु Cleft palate
विद्युतदाह Electric cauterization
विद्रधि Abscess
विमेद Total lipids
विरुद्धोपक्रम Contrast
विवर Cavitation
विशिष्ट गुरुता Specific gravity
विषम ज्वर Malaria
विषाणु Virus
विसंक्रमित Sterilized
विसर्पणशील Serpiginous
विसूचिका Cholera
विसूचिका दण्डाणु B. Cholerae
विस्थापन Displacement
वीयशोणांशिक Str. Haemolyticus
वृक्क जरठता Nephrosclerosis
वृक्कपूर्व Prerenal
वृक्कशोथ Nephritis
वृक्कालिन्द शोथ Pyelitis, Pyelonephritis
वृक्कोत्तर Post renal
वृक्कय Renal
वृक्कय शर्करामेह Renal glycosuria
वृषणशोथ Orchitis
वेदनाशामक बस्ति Sedative enemata
वेपथुमत अंगघात Paralysis agitans
वेपनाणु Vibrio
वैनाशक रक्तक्षय Pernicious anaemia
व्यवाय कायाणु Gamatocytes
व्रणयुक्त बृहदंत्र प्रदाह Ulcerative colitis

श

शरीर समवर्त्त Metabolism
शामकस्नान Bland bath
शिथिल अंगघात Flacid paralysis
शिरःशूल Headache
शिश्नमुण्ड Glans penis
शिश्नावरण Prepuce
शिश्निका Clitoris
शीतपित्त Urticaria
शीतल परिवेष्टन Cold packing
शीतल प्रोंच्छण Cold sponging
शीर्षण्य निपीड Intracranial tension
शीर्षण्य वातनाड़ी Cranial nerves
शुक्ता Acetone
शुक्रमेह Spermatorrhea
शुक्राशय शोथ Vesiculitis
शुक्रोत्पादक कला Seminiferous epithilium
शुक्लवर्णी स्तवक Staph-albus
शुक्लि Albumin
शुल्वारिक Sulphuric
शुल्वीय Sulphate
शुल्वौषधि Sulpha drugs
शेषान्त्र Ilium
शैशवीय अंगघात Infantile paralysis
शोणवस्तुलि Haemoglobin
शोणवस्तुलिमयता Haemoglobinaemia
शोणांशिक कामला Haemolytic jaundice
शोणांशिक रक्तक्षय Haemolytic anaemia
शोणितप्रियता Haemophilia
श्यामाकीय यक्ष्मा Miliary tuberculosis
श्यावता Cyanosis
श्रवण वातनाड़ी Auditory nerve
श्रुतिपटह Tympanic membrane
श्रुतिसुरंग Eustachian
श्रोणिफलकशिखा Iliac crest
श्रोणिगुहागत शोथ Pelvic inflamation
श्लीपद Filaria
श्लेषक पट्टी Sticking plaster
श्लेषजन Collagen
श्लैष्मिक धब्बे Mucus patches
श्लैष्मिक शोफ Myxoedema
श्वसनक ज्वर Influenza
श्वसनी फुफ्फुसपाक Broncho Pneumonia
श्वित्र Leucoderma
श्वेतकायाणु W. B. C.
श्वेतमयता Leukaemia
श्वेतापकर्ष Leucopenia

स

संकेन्द्रित Concentrated
संकेन्द्रित रक्त Compact blood cells
संघट्टन Concussion
संधिधराकलाशोथ Synovitis
संश्लेष Synthesis
संश्लेषण Synthesis
संस्कारित जीवित जीवाणुजन्य Atenuated living bacteria
संकल प्रोभूजिन Total Protein
सन्तुलनशक्ति Equilibrium
समलवण जल Normal saline
सम्पृक्त motted
सव्रणशुक्ल Corneal ulcer
सहजफिरंग Congenital syphilis
सापेक्षगुरुता Specific gravity
सावरण मस्तिष्कशोथ Meningo encephalitis
सार्षपस्नान Mustard bath
सिकतामेह Crystaluria
सिराभिस्तीर्णता Vasodilatation
सीवनी Perinium
सुरभिजाराम्ल Oxyacids
सुषुम्ना नलिका Spinal cord
सुषुम्नाशीर्ष Medulla
सूक्ष्म दर्शक यन्त्र Microscope
सूक्ष्मश्लीपदी Microfilaria

सूक्ष्मवेदनता Sensitiveness
सूत्रकृमि Thread worm
सैकतिक अम्ल Silicic acid
सोपानक्रमवृद्धि Step ladder
रोमान्तिका Measles
सौत्रिक शोथ Fibrositis
स्तब्धता Shock
स्तब्धतायुक्त अंगघात Spastic paralysis
स्तरिक Scaly
स्थूलांत्र दण्डाणु B. Coli
स्नायुदौर्बल्य Neurasthenia
स्पर्शासह्यता Hyperesthesia
स्वच्छमण्डल शोथ Keratitis
स्वरतंत्रिका Vocal cord
स्वरयन्त्र Larynx
स्वरयन्त्र शोथ Laryngitis
स्वर्णवर्णी स्तबक गोलाणु Staph. aureus

ह

हनुस्तम्भ Lockjaw
हस्तिचर्मता Elephantiasis
हारिद्ररोग Chlorosis
हिक्का Hiccough
हिमदग्ध Frost bite
हृदयपेशी शोथ Carditis
हृदयालेख Electrocardiogram
हृद्धमनी घनास्रता Coronary thrombosis
हृद्द्रव Palpitation
हृल्लास Nausea

पारिभाषिक शब्दकोश

अंग्रेजी-हिन्दी

A

Amenorrhoea अनार्त्तव
Appendicitis आंत्रपुच्छ शोथ
Aneurysm धमन्यभिस्तीर्णता
Aorta महाधमनी
A. P. कृत्रिम वातोरस
Aquired syphilis जन्मोत्तर फिरंग
Anorexia अरोचक
Antibodies प्रतियोगी
Arteritis धमनी शोथ
Auditory nerve श्रवण वातनाड़ी
Antispasmodic उद्वेष्टन विरोधी
Acid fast bacilli अम्लसह दण्डाणु
Antibiotics प्रतिजीवक द्रव्य
Ataxia खंजता
Aplastic anaemia अपचयिक रक्तक्षय
Anuria मूत्राघात
Aplastic अपचयिक
Ammonia तिक्ताति
Alkalosis क्षारोत्कर्ष
Acidosis अम्लोत्कर्ष
Anuria अमूत्रता
Anoxia अजारकता
Acute yellow atrophy of liver तीव्र पीत यकृच्छोथ
Albumin शुक्ति
Agranulocytosis अकणिक कायाणूत्कर्ष
Antispasmodic enemata वातानुलोमक बस्ति
Anthelmentic enemata कृमि नाशक बस्ति
Astringent enemata ग्राही बस्ति
Anal Fissures गुदविदार
Adrenals अधिवृक्क
Allergy अनूर्जता
Anaphylaxis अनवधानता
Antihistaminics अनूर्जतानाशक
Adsorbant अन्तः प्रलेपक
Alveoli वायुकोष
Aerosol प्रधमन यंत्र
Acute dilatation of stomach आमाशय विस्फार
Autoclaved वाष्पविशोधित
Adhesion अभिलाग
Artificial Pneumothorax कृत्रिम वातोरस
Abdominal bandage उदर बंध
Aspiration निर्हरण
Aspirator प्रचूषक
Axon अक्षतन्तु
Aorta महाधमनी
Alkaline saline क्षारीय लवणजल
Alopecia इन्द्रलुप्त
Acne मुहासा
Aplastic anaemia चयापचयिक रक्तक्षय
Antivenum प्रतिविष
Autogenous Vaccine आत्मजनित मसूरी
Antibacterial प्रति तृणाण्वीय
Agglutination प्रसमूहन
Atenuated living bacteria संस्कारित जीवित जीवाणु
Anterior axillary line पूर्वकक्षीय रेखा
Axillary line कक्षीय रेखा
Abscess विद्रधि
Arteriosclerosis धमनी जरठता
Acetone शुक्ता
Amyloid मण्डाभ

B

Burn दग्ध
Blood Platelets रक्त चक्रिकायें
B. Pestis प्लेग दण्डाणु
Blood chlorides रक्त नीरेय
B. Typhosus आन्त्रिक दण्डाणु
Blood Phosphorus रक्तभास्वर
B. Paratyhosus उपान्त्रिक ज्वर दण्डाणु
Bilirubinaemia पित्तरक्तिमयता
Burning दाह
Beri Beri वातबलासक
Bacteriostatic तृणाणुस्तंभक
Bacteriolysis तृणाणु द्रावण
Basic rales आर्द्रध्वनि
B. Diphtheriae रोहिणी दण्डाणु
Benign tertian अघातक तृतीयक
B. Tuberculosis यक्ष्मा दण्डाणु
B. Lepra कुष्ठ दण्डाणु
B. Coli मलाश्रयी दण्डाणु
B. Dysentery अतिसार दण्डाणु
Black water fever कालमेह ज्वर
B. Cholerae विसूचिका दण्डाणु
Bleeding time रक्त स्रवणकाल
Basophilia क्षारप्रियता
Basophil क्षारप्रिय
Blood suger रक्त शर्करा
Bacillary dysentery दण्डाणवीय प्रवाहिका
Blood Calcium रक्त चुर्णातु
Bilirubin पित्तरक्ति
Ball enema कन्दुक बस्ति
Base of Nasal cavity नासाधार
Brain Stem मस्तिष्क स्कन्द
Black small pox कृष्णमसूरिका
Bland bath शामकस्नान
Bronchial Asthma तमकश्वास
Blood transfusion रक्तपूरण
Broncho Pnenmonia श्वसनी फुफ्फुस पाक
Bacteraemia रक्त दूष्यता

C

Contusion पिच्चित आघात
Chronic Bronchitis जीर्ण श्वसनी शोथ
Convex उन्नतोदर
Chorea लासक
Condyloma तुण्डार्बुद
Coagulation of Blood रक्त संहति
Congenital Syphilis सहज फिरंग
Cleft palate विदीर्ण तालु
Citric acid निम्बूकाम्ल
Catalytic agents रासायनिक योगवाही
Calcification चूर्णीभवन
Collagen श्लेषजन
Cellular metabolism कोषागत समवर्त्त
Convulsion आक्षेप
Carminative वातानुलोमक
Collapse of lungs फुफ्फुस निपात
Crystaluria सिकतामेह
Compact blood cells संकेन्द्रित रक्त
Central heart failure केन्द्रीय हृदयातिपात
Cast निर्मोक
Cheyne stokes respiration छिन्नश्वास
C. welchi वातकर्दम दण्डाणु
Coagulation time रक्त संहतिकाल
Calcium चुर्णातु
Chloride नीरेय
Co_2 द्विजारेय
Cancer कर्कटार्बुद
Chlorosis हारिद्ररोग
Chyle पयोरस
Coronary thrombosis हृद्धमनी घनास्रता
Colour रंग
Chronic Rhinitis नासाकोटर जीर्णशोथ
Catastrophies औदरिक दुर्घटनायें
Creatinine क्रियेयी
Caecum उण्डुक
Chronic colitis जीर्ण पक्वाशय शोथ

Cholaemia पित्तमयता
Cholesterol पैत्तव
Caloric value उषंकरी अर्हा
Clitoris शिश्निका
Counter irritants प्रतिक्षोभक नियोग
Congestion रक्तसंचय
Cyanosis श्यावता
Cold abscess यक्ष्मज विद्रधि
Cog-wheel respiration दन्तचक्रसम श्वसन
Cavitation विवर
Caseation किलाटीभवन
Cervical rib ग्रैवेयपर्शुका
Cod liver oil मत्स्य तैल
Clubbing of finger मुद्गरवत अंगुलाग्र
Calomel रसपुष्प
Consolidation घनता
Corneal ulcer सव्रणशुक्ल
Catarrhal jaundice or Epidemic jaundice प्रसेकी कामला
Cellulitis कोशिका शोथ
Concentrated संकेन्द्रित
Cold sponging शीतल प्रोञ्छण
Cold packing शीतल परिवेष्टन
Chicken pox स्वङ्कमसूरिका
Centripital केन्द्राभिमुख
Contrast विरुद्धोपक्रम
Cellulitis अधस्त्वक शोथ
Cerebral haemorrhage मस्तिष्कगत रक्तस्राव
Cervicitis गर्भाशयग्रीवा शोथ
Carditis हृदयपेशी शोथ
Chronic eczema गजचर्म
Cholera विसूचिका
Cytotropism कायाणूपवृत्ति
Chyle पयोलस
Concussion संघट्टन
Cranial nerves शीर्षण्य वातनाड़ी
Cystitis मूत्राशय शोथ
Cancer कर्कटार्बुद
Chylous ascites पयोलस जलोदर
Chyle पायस
Chylous hydrocele पयोलस वृषण-वृद्धि
Chylous diarrhoea पायस प्रवाहिका
Chyluria पायसमेह
Cancrum oris कर्दमास्य

D

Dusting उद्धूलन
Dactylitis अंगुल्यस्थि शोथ
Disquamation निस्तरण
Dyspnoea on exertion क्षुद्रश्वास
Depressed nasal bridge अवनत नासा सेतु
Delirium प्रलाप
Degeneration अपजनन
Diplococci Pneumoniae फुफ्फुस गोलाणु
Dysuria मूत्रकृच्छ्र
Dehydration जलाल्पता
Diabetes insipidus उदकमेह
Displacement विस्थापन
Diaphragm महाप्राचीरा पेशी
Donor दाता
Diplopia द्वैदृष्टि
Diabetes mellitus मधुमेह
Dengue fever दण्डक ज्वर

E

Emprosthotonus पार्श्वायाम
Encephalitis lethargica निद्रालसी मस्तिष्कशोथ
Electrolytic equilibrium रासायनिक संतुलन
Equilibrium सन्तुलन शक्ति
Eustachian श्रुतिसुरंग
Enzyme अन्तःकिण्व
Eczema अपरस
Emphysema वायुकोष विस्फार
E. S. R. अवसादन गति
Eclampsia गर्भापस्मार
Eosinophilia उषसिप्रियता
Eosinophil उषसिप्रिय
Emollient enemata पिच्छिल बस्ति

Enema pot बस्तिपात्र
Elbow joint कूर्परसन्धि
Exudate निर्यास
Erythmatous वर्णिक
Empyema पूयोरस
Epididymitis अधिवृषण शोथ
Electrocardiogram हृदयालेख
Encephalitis मस्तिष्क शोथ
Electric cauterization विद्युतदाह
Elephantiasis हस्तिचर्मता
Embolism अन्तःशल्यता

F

Friction उद्वर्षण
Fibrositis सौत्रिकशोथ
Fibrosis of lungs फौफ्फुसिक तन्तूत्कर्ष
Fauces गलतोरणिका
Flatulence आध्मान
Frost bite हिमदग्ध
Fibrinogen तन्तिवजन
Fatty acid वसाम्ल
Facial paralysis अर्दित
Flacid paralysis शिथिल अंगाघात
Fibroid lung तन्त्वाभ फुफ्फुस
Fibrin तन्त्वि
Ferment किण्व
Floor of the 4th. Ventricle मस्तिष्क की प्राणगुहा भूमि
Flatus tube वातानुलोमक नली
Filaria श्लीपद
Flagellate तन्तुपिच्छी

G

Gargles गण्डूष
Granuloma inguinale वंक्षणीय कणिकार्बुद
General paralysis of insane फिरंगज सर्वाङ्गघात
Gumma गोंदार्बुद
Gastroenteritis आमाशयान्त्र शोथ
Gout वातरक्त
Glaucoma अनन्तवात
Gonococci गुह्यगोलाणु
Gamatocytes व्यवाय कायाणु
Gangrene कोथ
Globulin वर्त्तुलि
Glycerine syringe पिचकारी बस्ति
Glans Penis शिश्नमुण्ड
Gastritis आमाशय शोथ
Gas gangrene वातकर्दम

H

Hyper immune serum परम क्षम लसिका
Hydrophobia or Rabies जलसन्त्रास
Hydrocephalus जलशीर्ष
Hypochromic anaemia अल्पवर्णिक रक्तक्षय
Hypocalcemia अल्प चूर्णमयता
Hypercalcemia परम चूर्णमयता
Hypercholesterolemia परम पैत्तवमयता
Hairlip विदीर्ण ओष्ठ
Headache शिरःशूल
Hemicrania अर्धावभेदक
Hiccough हिक्का
Hyperpyrexia परमज्वर
H. Pertusis कुकास वृण्डाणु
Hypervolemia or Plethora परम रक्तमयता
Hippuric acid अश्वमेहिक अम्ल
Hypochromia अल्पवर्णता
Haemoglobin शोण वर्त्तुलि
Haemoglobinaemia शोण वर्त्तुलिमयता
Hypo acidity अल्पाम्लता
Hyperproteinaemia परम प्रोभूजिनमयता
Hypoproteinaemia अल्प प्रोभूजिनमयता
Hyperpyrexia परमज्वर
Heat stroke उष्मघात
Hypoglycemia अल्प मधुमयता

Hot hip bath उष्ण कटिस्नान
Hyperglycemia परम मधुमयता
Hectic प्रलेपक
Hydrothorax जलोरस
Haemorrhagic रक्तस्रावी
Herpes zoaster परिसर्प
Hot humid air chamber उष्णवाष्प प्रकोष्ठ
Hypertonic saline अतिबल लवणजल
Hypertension उच्च रक्त निपीड
Hypotonic saline ऋजु लवणजल
Haemolytic anaemia शोणांशिक रक्त क्षय
Haemolysis रक्त द्रावण
Haemophilia शोणितप्रियता
Hemianopia अर्धान्धता
Haemolytic jaundice शोणांशिक कामला
Hyperesthesia स्पर्शासह्यता
Hypostatic congestion अधस्तल रक्ताधिक्य

I

Intracranial tension शीर्षण्य निपीड
Infarct अन्तः स्फान
Iron लौह
Influenza श्वसनक ज्वर
Indican निनीलिम्य
Interstitial जीर्ण अन्तरालीय
Icterus Index कामला देशना
Infective endocarditis उपसर्गी अन्तर्हृच्छोथ
Intestinal obstruction आंत्रावरोध
Idiosyncrasy असहनशीलता
Irritability उद्दीप्यता
Intussusception आन्त्रान्तर प्रवेश
Iliac crest श्रोणिफलक शिखा
Infantile paralysis शैशवीय अंगघात
Irritability प्रक्षोभ
Infiltrate परिसृत
Iliac fossa जघन कपालिक खात
Infection उपसर्ग
Infra red ray लोहितातीत किरण
Ilium शेषान्त्र
Influenza वातश्लैष्मिक ज्वर
Injury अपाय
Intracranial pressure प्रवृद्ध निपीड
Intradermal test चर्मान्तर्य कसौटी

K

Keratitis स्वच्छ मण्डल शोथ
Knee jerk जानु प्रतिक्षेप
Kala-azar काल ज्वर

L

Lock jaw हनुस्तम्भ
Lymphangitis लसवाहिनी शोथ
Lymphogranuloma inguinale वंक्षणीय लस कणिकार्बुद
Lymphocytosis लसकायाणूत्कर्ष
Leucopenia श्वेतापकर्ष
Leucocytosis श्वेत कायाणूत्कर्ष
Lmphocytes लसकायाणू
Lactic acid दुग्धाम्ल
Lymphogranuloma veneraeum वंक्षणीय लसिकावृद्धि
Leukaemia श्वेतमयता
Lymphoid Leukaemia लसाभ श्वेतमयता
Lardacious वसाकुल
Labia भगोष्ठ
Ligamenta Flora पीतस्नायु
Laryngitis स्वरयन्त्र शोथ
Lumbar puncture कटिवेध
Lower motor neuron अधरनाड़ी कन्दाणु
Lobar pneumonia फुफ्फुसपाक
Liver extract यकृत सत्व
Larynx स्वर यन्त्र
Lupus vulgaris क्षयज त्वक विकार
Leucoderma श्वित्र
Lack of accomodation अननुकूलन
Lymphosarcoma लसमांसार्बुद
Lymphuria लसिकामेह

M

Motor चेष्टावहा

Marasmus अत्यधिक शोष
Magnesium लोहक
Myxoedema श्लैष्मिक शोफ
Motion sickness गतिविषमता
Mitral stenosis द्विपत्रक संकोच
Meningococcoi मस्तिष्क गोलाणु
Malaria विषम ज्वर
Malignant tertian घातक विषमज्वर
Merozoite अंशुकेत
Mg O आजातु
Metabolism शरीर समवर्त्त
Melanin मलिमसि
Myloid leukaemia मज्जामश्वेतमयता
Monocytic leukaemia एक कायाणि-कश्वेतमयता
Monocytosis एककायाणूत्कर्ष
Monocytes एककायाणु
Miliary tuberculosis श्यामाकीय यक्ष्मा
Motted सम्पृक्त
Mediastinal फुफ्फुसान्तरालीय
Mesenteric आन्त्रनिबन्धिनीय
Medulla सुषुम्नाशीर्ष
Measles रोमान्तिका
Mustard bath सार्षप स्नान
Mumps पाषाणगर्दभ
Meningo encephalitis सावरण मस्तिष्क शोथ
Metropathia haemorrhagica अन्यार्त्तव
Microscope सूक्ष्म दर्शक यन्त्र
M. Catarrhalis प्रतिश्यायी सूक्ष्म गोलाणु
Murine typhus पिस्सूतन्द्रिक
Metastasis in the bones अस्थिगत समस्थाय
Multiple myelomata प्रभूतमज्जार्बुद
Macular उद्वर्णिक
Melancholia वातिक उन्माद
Microfilaria सूक्ष्म श्लीपदी

N

Nystagmus नेत्र प्रचलन
Neutropenia क्षीबापकर्ष
Nausea हृल्लास
Nervousness गदोद्वेग
Nephrosis अपवृक्कता
Nephritis वृक्कशोथ
Nacl क्षारानुनीरेय
Neurasthenia वातिक अवसन्नता
Non-Protein Nitrogen अप्रोभूजिन भूयाति
Nephrosclerosis वृक्क जरठता
Normal saline समलवण जल
Nasal feeding नासा प्राशन
Neuro syphilis नाडीफिरंग
Nuclear lobe न्यष्टीला कोष्ठ
Neurasthenia वायुदौर्बल्य
Neuritis नाडीशोथ
Neuralgia वातनाडी शूल
Negative नास्त्यात्मक
Neuro syplulis नाडी फिरंग

O

Opisthotonus पृष्ठायाम
Orthotonus अन्तरायाम
Oligocythemia अल्प कायाणुमयता
Oriental sore प्राच्यव्रण
Oligemia अल्परक्तमयता
Oxyacids सुरभि जाराम्ल
Oxygen capacity जारक धारता
Osteomalacia अस्थि मृदुता
Oleothorax तैलोरस
Occular paralysis नेत्रघात
Obstructive jaundice अवरोधज कामला
Oophritis बीजग्रन्थि शोथ
Opthalmia neonatorum पूयमेहज नेत्राभिष्यन्द
Orchitis वृषण शोथ

P

Prostatorrhoea पौरुषग्रन्थि स्राव
Prostate पौरुषग्रन्थि
Percussion ताडन
Petrissage पेशयुन्मर्दन

Phlebitis तीव्रसिराशोथ
Paints प्रलेप
Parchment चर्मपत्र
Peritonitis पर्युदर शोथ
Periosteal nodes अस्थ्यावरणीय ग्रन्थियाँ
Polymorphs बह्वाकारी
Polycythemia बहुकायाणुमयता
Mucous patches श्लैष्मिक धब्बे
Perforated palate निश्छिद्रित तालु
Potassium दहातु
Periosteitis अस्थ्यावरण शोथ
Pancreas अग्न्याशय
Plasma रक्तरस
Phagocytic cell तृणाणुभक्षक कोष
Palpitation हृद्द्रव
Pellagra त्वग्राह
Protozoa जीवाणु
Pemphigus घातक विसर्प
Paroxysmal dyspnoea प्रावेगिक श्वासकृच्छ्र
Prerenal वृक्कपूर्व
Purpura नीलोहा
Prothrombin time पूर्व घनास्त्रिकाल
Phosphoric acid भास्विक अम्ल
Peptic ulcer जठर व्रण
P h ईषतअम्ल
Pus पूय
Purgative enemata मलशोधक बस्ति
Parathyroid परावटुक
Pituitary पोषणिका
Prevention of Ketosis अम्लोत्कर्ष प्रतिषेध
Prolapse rectum गुदभ्रंश
Phrenic nerve महाप्राचीरा वातनाड़ी
Polycythemia अकणिक कणोत्कर्ष
Pharyngitis ग्रसनिका शोथ
Pons उष्णीष
Pleurisy or Pleuritis फुफ्फुसावरण शोथ
Premolar teeth पूर्वचर्वणक दन्त

६५ का० G.

Poliomyelitis पलितमज्जा शोथ
Placental extract अपरासत्व
Prodromal rash पूर्वविस्फोट
Papules उद्वर्णिक
Panopthalmitis अक्षिसर्वांग शोथ
Pustular पूयमय
Poultice उपनाह
Prepuce शिश्नावरण
Priapism पीड़ाकर ध्वजहर्ष
Pelvic inflamation श्रोणीगुहागत शोथ
Perinium सीवनी
Ph value क्षारमर्यादा
Psoriasis विचर्चिका
Pernicious anaemia वैनाशक रक्तक्षय
Purpura haemorrhagica रक्तपित्त
Positive अस्त्यात्मक
Parietal layer बाह्यस्तर
Provocative प्रोद्दीपक
Plague ग्रन्थिक सन्निपात
Ptosis वर्त्मपात
Paralysis agitans वेपथुमत अंगघात
Pyorrhoea पूयदन्त
Planter reflex पादतल प्रतिक्षेप
Projectile vomiting प्रबल वमन
Pestis minor क्षुद्रप्लेग
Plague ग्रन्थिक-ज्वर
Petechial rashes रक्तस्रावी विस्फोट
Pyonephrosis पूयापवृक्कता
Pyelitis, Pyelonephritis वृक्कालिन्द शोथ
Peristalsis अन्त्रपुरस्सरणगति
Post renal वृक्कोत्तर
Perforation निश्छिद्रव्रण
Pentavalent compound पंचशक्तिक योग
Papule कर्णिका

Q

Quartan fever चतुर्थक ज्वर

R

Rectovaginal fistula मलाशय योनि भगन्दर

R. B. C. रुधिरकायाणु
Refractory troubles दृष्टि असामर्थ्य
Retina दृष्टिमण्डल
Rheumatic fever आमवातज ज्वर
Renal वृक्कय
Reaction प्रतिक्रिया
Rheumatoid arthritis आमवाताभ सन्धिशोथ
Rectal drip पोषक बस्ति
Rickets अस्थिवक्रता
Reflex प्रत्यावर्त्तित
Retention of urine मूत्रनिरोध
Refrigerated room प्रशीतक कोष्ठ
Rheumatic fever आमवातिक ज्वर
Ricket फक्क
Recepient ग्रहीता
Renal glycosuria वृक्कयशर्करामेह
Remission अवरोहावस्था

S

Scraping निर्लेख
Sprain मोच
Spermatorrhoea शुक्रमेह
Spore चुल्लक
Scabies पामा
Serpiginous विसर्पणशील
Suppuration पूयभवन
Sorethroat गलशोथ
Soft palate मृदुतालु
Snuffles पीनस या नासास्राव
Sodium क्षारातु
Still birth मृतशिशु प्रसव
Spasm ऐंठन
Sleeplessness निद्रानाश
Seminiferous epithilium शुक्रोत्पादक कला
Subacute combined degeneration of spinal cord अनुतीव्र सौषुम्नापजनन
Synthesis संश्लेषण
Status asthmaticus महाश्वास
Staph. aureus स्वर्णवर्णी स्तबक गोलाणु
Staph. albus शुक्लवर्णी स्तबक
Str. Viridans अल्पशोणांशिक
Str. Haemolyticus बीयशोणांशिक
Strepto foecalis मलमालागोलाणु
Str. pyogenes पूयजनक माला
Sporozoite चुल्लकेन
Spastic paralysis स्तब्धतायुक्त अंगघात
Specific gravity सापेक्ष गुरुता
Silicic acid सैकतिक अम्ल
Sulphate शुल्वीय
Sulphuric शुल्वारिक
Specific gravity विशिष्ट गुरुता
Senile hypertrophy of Prostate अष्ठीला वृद्धि
Subacute bacterial endocarditis अनुतीव्र तृणाण्वीय अन्तर्हृच्छोथ
Sun stroke अंशुघात
Sedative enemata वेदनाशामक बस्ति
Stomach tube or Ryles tube आमाशय नलिका
Serum sickness लसिका रोग
Sensitiveness सूक्ष्मवेदनता
Sticking plaster श्लेषक पट्टी
Sterilized विसंक्रमित
Spinal duct सुषुम्ना नलिका
Spinous process कटिकशेरुक कण्टक
Symphysis pubis भगसंधानिका
Sacule कूलया
Scapular line अंसफलकीय रेखा
Scarlet fever लोहित ज्वर
Splints कुशायें
Skodiac resonance तुम्बीप्रतिस्वनन
Small pox मसूरिका
Scaly शल्किक
Sternum उरःफलक
Submaxillary अधोहन्वी
Sublingual अधोजिह्वी
Spermatic cord अण्डवाहिनी
Serous लसिकाभ
Salpingitis बीजवाहिनी शोथ
Syntheses संश्लेष
Septic focus पूतिकेन्द्र
Subcutaneous अन्तस्त्वचीय
Shock अवसाद, स्तब्धता
Sinusitis अस्थिकोटर शोथ
Scurvy प्रशीताद

Semiconsciousness अर्धचेतना
Step ladder सोपानक्रमवृद्धि
Sulpha drug शुल्वौषधि
Sptic focus पूयदोष
Septicaemia दोषमयता
Synovitis संधिधराकला शोथ

T

Thrombocytopenia घनास्त्रकायाण्वपकर्ष
Thrombocytosis घनास्त्रकायाणूत्कर्ष
Thrombus घनास्त्र
Thrombocytes घनास्त्र कायाणु
Thrombophlebitis घनास्त्रि सिराशोथ
Thread worm सूत्रकृमि
Thoracoplasty पर्शुकाच्छेदन
Thoracic neuralgia पर्शुकान्तरालीय नाड़ीशूल
Tetanus धनुर्वात
Trophic ulcers अपोषणजव्रण
Tenderness पीडनाक्षमता
Tinea cruris धोबीकण्डु
Tabes dorsalis फिरंगी खञ्जता
T Pallida फिरंग कुन्तलाणु
Thirst तृष्णा
Thyrotoxicosis अवटुकाग्रन्थि कार्याति-योग
Tympanic membrane श्रुतिपटह
Transfusion प्रणिधान
Trachoma पोथकी
Thrombocythaemia रक्तस्रावी घनास्त्र कायाणुमयता
Typhoid Fever तन्द्राभ ज्वर, आंत्रिकज्वर
Typhus fever तन्द्रिक ज्वर
Thiocyanic गंधश्यामिक
Total Protein सकल प्रोभूजिन
Total quantity राशि
Trypanosomiasis निद्रारोग
Tetany अपतानिका
Total lipides विमेद
Thyroid अवटुका
Tub द्रोणी या कटाह
Trocar and cannula व्रीहिमुख यन्त्र
Tuberculin यक्ष्मामसूरी
Tubercle यक्ष्मि
Tracheotomy कण्ठनाड़ी पाटन
Tonsillitis तुण्डिकेरी शोथ
Tremors प्रकम्प
Thrombosis घनास्त्रोत्कर्ष
Thoracic duct लसवाहिनी
Trivalent compound त्रिशक्तिक योग

U

Urticaria शीतपित्त
Uroerythrin मूत्ररुधिर
Urea मिह
Urea nitrogen मिहभूयाति
Uric acid मिहिक अम्ल
Ulcerative colitis व्रणयुक्त बृहदंत्र प्रदाह
Upper motor neuron उर्ध्वनाड़ी कन्दाणु
Urethritis मूत्रमार्ग शोथ
Urobilin मूत्रपित्ति

V

Vomiting वमन
Vitamin जीवतिक्ति
Vertigo भ्रम
Wax कर्णगूथ
Vasodilatation सिराभिस्तीर्णता
Virus विषाणु
Ventricle निलय
Vocal cord स्वरतंत्रिका
Vaccination मसूरीकरण
Vesicle उद्‌विक
Vasoconstriction रक्तवाहिनियों में संकीर्णता
Vesiculitis शुक्राशय शोथ
Vibrio वेपनाणु
Virus विषाणु
Vaccine मसूरी
Vocal fremitus वाचक लहरी
Vocal resonance वाचक ध्वनि

W

W. B. C. श्वेतकायाणु
Whooping cough कुकास

X

X ray क्ष किरण

Y

Yaws परङ्गी
Yeast किण्वबीज या खमीर सत्व

अनुक्रमणिका : हिन्दी

अनुक्रमणिका : अंग्रेजी